।।ओ३म् ।।

# दयानन्द–दिवाकर

आत्मकथनों के वक्ता : **स्वामी दयानन्द सरस्वती (स्वयं)**
बँगला और मराठी भाषा में वक्ता के आत्मकथनों के लेखक : **अनेक अनाम**
बँगला और मराठी भाषाओं में वक्ता के कथनों के लिखित विवरणों के आर्यभाषा में अनुवादक :
**पं॰ दीनबन्धु वेदशास्त्री और पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक**
स्वामी दयानन्द के जीवनचरित्र के अन्वेषक : **आर्यपथिक पं॰ लेखराम और बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय**
आर्यभाषा में जीवनचरित्र के लेखक : **पं॰ घासीराम एम॰ ए॰**

*


*सङ्कलन एवं सम्पादन :*

**इं॰ आदित्यमुनि वानप्रस्थ**

(पूर्व नाम– इं॰ आदित्यपाल सिंह आर्य)


*


*प्रकाशक :*

**गङ्गा प्रकाशन मन्दिर**

एच–१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर
कोलार रोड; **भोपाल–४६२०४२ (म॰ प्र॰)**
मोबाइल: 09425605823,09425302023,09425603623,07746027306

# दयानन्द–दिवाकर

(Dayananda-Divakar)
*Compiled by:*
Er. Adityamuni Vanaprastha
Formerly known as Aditya Pal Singh Arya

*इस रूप में प्रथम संस्करण*– चैत्र शुक्ला प्रतिपदा (सायन पञ्चाङ्गानुसार) संवत् २०७८ वि०
तदनुसार १४ मार्च, २०२१ ई० (रविवार)
*प्रतियाँ*– ६०० (सजिल्द)
*मूल्य*– ६०० रु० (छः सौ रुपए)*
*पृष्ठ संख्या*– ७५२

*प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :*
**गङ्गा प्रकाशन मन्दिर**
एच–१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर
कोलार रोड; **भोपाल–४६२०४२ (म० प्र०)**
मोबाइल: 09425605823,09425302023,09425603623,07746027306

*अन्य प्राप्ति स्थान*–
१– सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, महर्षि दयानन्द भवन; ३/५, रामलीला मैदान, **नई दिल्ली**–११०००२
२– आर्ष गुरुकुल महाविद्यालय, नर्मदापुरम् (खर्राघाट); **होशङ्गाबाद**–४६१००१ (म० प्र०)

*मुद्रक :*
**वैदिक प्रेस**
9/2595, गली नम्बर–17
कैलाश नगर, दिल्ली–110031
फोन : 011–22081646, 9968449771, 9650474581

* यदि आप इस ग्रन्थ के लेखन, प्रकाशन और प्रेषण का मूल्य ६०० रु० देने में समर्थ हैं तो आप उसे मेरे (पूर्वनाम आदित्यपाल सिंह ) के निम्न बैंक खाते में भेजकर मुझे सूचित कर सकते हैं–
केनरा बैंक शाखा का नाम– कोलार रोड ब्राँच– भोपाल–४६२०४२; बचत खाता क्रमाङ्क – 2626101013409
IFS Code: CNRB0002626
Bhim/UPI App No. 7746027306; Paytm A/C No. 9425605823

# प्राक्कथन

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में जन्मे और कार्यरत रहे आर्यसमाज के संस्थापक, महान समाज सुधारक एवं वेदोद्धारक आदित्य ब्रह्मचारी स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सम्बन्ध में १८७३ ई० में कलकत्ता (अब कोलकाता) में और १८७५ ई० में पूना (अब पुणे) में तथा १८७९-८० ई० में बम्बई (अब मुम्बई) में जो कुछ बताया अथवा थियोसोफिस्ट पत्र में प्रकाशित कराया वह १८७५ ई० से लेकर १९७५ ई० तक ही ही धीरे-धीरे प्रकाश में आ सका था। इसीलिए उनके अब तक के लिखे गए सभी जीवनचरित्रों में उनके जीवन के प्रारम्भिक ३८-४० वर्षों की घटनाएँ अपने समग्र रूप से वर्णित नहीं हो सकी थीं और इसीलिए वे सब जीवनचरित्र प्राय: अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण ही बने रहे। इन सब अवसरों पर उन्होंने अपना जन्मस्थान और माता-पितादि अपने परिजनों का परिचय तथा अपनी जन्मतिथि भी स्पष्टरूप से नहीं बताई थी, जिससे उनके इन जीवनचरित्रों में अब तक भी इनके विभिन्न विरोधाभासी विवरण प्राप्त हो रहे हैं।

१९८७ ई० और २०१० ई० में हमने स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रारम्भिक जीवन को उनके **'अपना जन्मचरित्र'** के रूप में उक्त तीनों अवसरों पर कहे गए वा लिखे/लिखाए गए आत्मकथात्मक विवरणों को जब एक साथ सङ्कलित करके सम्पादित और प्रकाशित किया तो मुझे पूना में कहे गए अथवा बम्बई के थियोसोफिस्ट नामक अँग्रेजी मासिक पत्र में प्रकाशित किए गए विवरणों में अनुवादजन्य और वक्ता के बोलने की गति से लेखकों के न लिख पाने की असमर्थता के कारण हुई अनेक त्रुटियों का परिज्ञान हुआ था जिनका समावेश अभी तक भी उनके किसी भी जीवनचरित्र में नहीं हो सका है। इसी बीच हमने स्वामी दयानन्द सरस्वती की जन्मतिथि भी राजकोट निवासी स्व० पं० श्री श्रीकृष्ण शर्मा को प्राप्त ऋषि की एक जन्मकुण्डली को दो ज्योतिषियों से प्रमाणित कराके २० सितम्बर, १८२५ ई० (भाद्रपद शुक्ला नवमी संवत् १८८१ वि० गुजराती) के रूप में और जन्मस्थान तथा उनके पिता का नाम भी उनके जीवनी के गवेषक स्व० बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा अन्तिमरूप से निर्धारित किया जा चुका है। तब अब यह आवश्यक हो गया है कि अब स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रारम्भिक ३८-४० वर्षों का पूर्ण और यथातथ्य जीवन चरित्र लिखकर प्रकाशित किया जाए। चूँकि यह कार्य पिछले बत्तीस वर्षों में भी किसी ने नहीं किया है, इसलिए मुझे ही अब इस कार्य में भी अपनी ८२ वर्ष पार की अवस्था में जब मेरा बायाँ हाथ लकवाग्रस्त, नेत्र-ज्योति मन्द, २००८ ई० से ही एक हृदयरोगी अवस्था और चलने-फिरने की अपनी असमर्थता में करने में प्रवृत्त होना पड़ रहा है। मुझे नहीं पता कि यह कार्य मेरे इस शेष जीवन में पूरा भी हो पाएगा अथवा नहीं, फिर भी मैं ईश्वर की महती कृपा को ध्यान में रखकर आज दिनाङ्क १८ दिसम्बर, २०१९ ई० तदनुसार बुधवार पौष कृष्णा ७ संवत् २०७६ वि० को इसे अपने कम्प्यूटर पर *'दयानन्द-दिवाकर'* शीर्षक से लिखने में प्रवृत्त हो रहा हूँ। परमात्मा इसमें मेरा सहायक हो।

इस ग्रन्थ में मैं *'अपना जन्मचरित्र'* में ही प्रस्तुत किए गए विवरणों को अपने वर्ष १९८३ ई० में प्रकाशित शोधपत्र *'ऋषि दयानन्द के हरिद्वार से मथुरा तक के साढ़े पाँच वर्ष'* को आधार बनाकर प्रस्तुत करूँगा ताकि इनके लेखन में अपनी इस ८२ वर्ष पार की वय में मुझसे किसी प्रकार का स्खलन न होने पावे।

**-आदित्यमुनि वानप्रस्थ**
(पूर्वनाम आदित्यपाल सिंह आर्य)

*पुरुषार्थ सदनम्*
एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर
कोलार रोड; **भोपाल-४६२०४२** (म० प्र०)

# पश्चात् कथन

२१ सितम्बर, २०१४ ई० को मैंने अपनी स्वास्थ्य सम्बन्धी जिन समस्याओं के कारण तब लेखनाधीन अपने ग्रन्थ *'वैदिक गणित की वास्तविकता'* का लेखन अधूरा ही छोड़कर उसे अधूरा ही एक वर्ष बाद २०१५ ई० में प्रकाशित कर दिया था, उनके बने रहते हुए ही मैंने ऋषि दयानन्द के *'अपना जन्मचरित्र'* के द्वितीय संस्करण के अपने सम्पादकीय वक्तव्य में सितम्बर, २०१० ई० में यह भी लिख दिया था कि "ऋषि दयानन्द विषयक मेरी यह कृति मेरे जीवन के ७३ वर्ष पूर्ण हो जाने के बाद प्रकाशित हो रही है, अत: इसे ऋषि दयानन्द विषयक मेरी अन्तिम कृति ही मानकर चलना चालिए, क्योंकि जुलाई, २००८ ई० में हुए हृदयाघात और सितम्बर, २००९ में हुए पक्षाघात के बाद अब मैं इस स्थिति में नहीं रह गया हूँ कि अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार *'दयानन्द दिवाकर'* नाम से ऋषि दयानन्द का एक विस्तृत जीवन-चरित्र लिखकर आर्यजनों की सेवा में प्रस्तुत कर सकूँ जिसमें इस पुस्तक के सभी निष्कर्षों का समावेश किया गया हो। अब यह दायित्व मैं किसी भावी जीवनीकार पर ही छोड़ता हूँ क्योंकि अब तक मेरी दृष्टि में ऋषि दयानन्द का ऐसा कोई जीवनचरित्र नहीं आया है जिसे इस पुस्तक के निष्कर्षों का समावेश करते हुए लिखा गया हो। अत: अभी तक प्रकाशित ऋषि दयानन्द के समस्त जीवन चरित्र अधूरे ही हैं और वे तब तक अधूरे ही बने रहेंगे जब तक कि कोई भावी जीवनीकार उसे नए सिरे से लिखकर प्रकाशित नहीं कराएगा।"

लेकिन जब फरवरी, २०१९ ई० में मैंने अपना पिछले १८ वर्षों से लेखनाधीन आत्मकथात्मक ९२८ पृष्ठीय ग्रन्थ *'सिंहावलोकन'* प्रकाशित करके सबको प्रेषित कर दिया तो देहरादून के हमारे भाई श्री मनमोहन कुमार आर्य ने मुझसे लिखितरूप से पुन: यह अनुरोध किया कि मैं अब *'दयानन्द-दिवाकर'* ग्रन्थ को भी लिखकर प्रकाशित कर दूँ क्योंकि इस कार्य को जब किसी ने अब तक भी नहीं किया है तो भविष्य में भी कोई नहीं करेगा। ऐसी स्थिति पर विचार करके ही मैं इस कार्य को करने में गत वर्ष १८ दिसम्बर, २०१९ ई० से प्रवृत्त हो गया था। लेकिन हमारी स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ तो तब से अब तक और भी बद से बदतर ही हो गईं थीं, ऐसी स्थिति में हमने यह रास्ता निकाला कि मेरे पास जो *'अपना जन्मचरित्र'* की सीडी उपलब्ध है, उसे ही अपने कम्प्यूटर पर पुन: लोड करके उसके टाइप किए हुए मैटर में ही कुछ मामूली से संशोधन करके उसे ऋषि दयानन्द की आत्मकथा के स्थान पर उनके आरम्भिक जीवन चरित्र का स्वरूप प्रदान किया जाए। अत: मैंने अब यही किया है जिससे मुझे अपनी ओर से बहुत कम ही लिखना और जोड़ना पड़ा है।

आगे का ऋषि का जीवन चरित्र जो ऋषि जीवनी के गवेषकों ने खोजकर लिखा और प्रकाशित किया है, उनमें से मुझे मेरठ के पं० घसीराम एम० ए० द्वारा लिखित और प्रकाशित *'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित'* ही विस्तृत और व्यवस्थित रूप से लिखा हुआ प्रतीत हुआ क्योंकि इसमें बाबू श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा खोजे गए जीवन चरित के साथ ही साथ पं० लेखराम आर्य मुसाफिर और स्वामी सत्यानन्द की खोजों का भी समावेश किया हुआ है जिससे वह अब तक का सर्वाधिक प्रामाणिक और विस्तृत जीवन चरित्र बन गया है। अत: मैंने अपने इस दयानन्द-दिवाकर ग्रन्थ में भी इसी का अनुशरण करते हुए ऋषि का स्वामी विरजानन्द के पास अध्ययनार्थ मथुरा आने से लेकर उनके देहावसान तक के विवरणों के लिए उपयोग किया है। इसमें मैंने भी स्थान-स्थान पर अपनी खोज और विश्लेषण से प्राप्त कुछ निकर्षों का समावेश कर दिया है। ऐसा करते हुए इस जीवन-चरित के पूर्व सम्पादकों द्वारा इङ्गित की गई कुछ त्रुटियों को यथापूर्व बने रहने देने के स्थान पर उन्हें मैंने वहीं सुधार दिया है। इसी प्रकार इसमें जो ईस्वी सन् की तारीखें वा देशी विक्रम संवत् की तिथियाँ दी गईं थीं, उनका परिमार्जन भी मैंने अपने द्वारा ३० वर्ष पूर्व प्रकाशित *'दयानन्द जीवनकाल पञ्चाङ्ग'* के अनुसार मिलान करके कम से कम प्रत्येक स्थान पर स्वामीजी के आगमन और वहाँ से

प्रतिगमन की तारीख और तिथि एक साथ दे दी है ताकि भविष्य में किसी भी पाठक को किसी प्रकार का कोई भी भ्रम न रहे। ऐसा ही मैंने कुछ विशेष घटनाओं यथा आर्यसमाज की स्थापना वा शास्त्रार्थादि दिवस के लिए भी किया है।

यह दयानन्द-दिवाकर ग्रन्थ वैसा तो नहीं बना पाया है जैसा मैंने १७ वर्ष पूर्व १६ नवम्बर, २००३ को लिखे *गए 'ऋषि दयानन्द के अज्ञात जीवन की समस्या और उसका समाधान'* नामक अपने ग्रन्थ के प्राक्कथन में इस प्रकार व्यक्त किया था कि "इस प्रकार इस पुस्तक का यह संस्करण मेरे उस दृष्टिकोण का अधिकृत दस्तावेज है, जिस रूप में मैं दयानन्द के सम्पूर्ण जीवन को देखता हूँ। मैं अपने इसी दृष्टिकोण के साथ महर्षि का एक सम्पूर्ण एवं विस्तृत जीवन चरित्र '*दयानन्द-दिवाकर*' के नाम से लिखने का अपने शेष जीवन में निश्चय रखता हूँ, परन्तु हमारी व्यस्तताओं ने इसके लिखने के लिए अभी तक अनुकूल अवसर उत्पन्न नहीं होने दिया है, जिसका प्रमुख कारण मेरे द्वारा आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्यप्रदेश व विदर्भ, नागपुर के मासिक मुखपत्र '*आर्यसेवक*' के सम्पादन, प्रकाशन एवं वितरण के दायित्व का निर्वहन करना रहा है। आशा है इसके २७-२८ दिसम्बर, २००३ ई० को सम्पन्न हो रहे शताब्दी समारोह के बाद मुझे नागपुर अथवा भोपाल में बैठकर इस कार्य को करने का अवसर मिल सकेगा और कोई प्रकाशक इसके प्रकाशन के लिए स्वेच्छा से आगे आएगा। परमेश्वर मेरी इस इच्छा को मेरे इस जीवन में मूर्त्तरूप प्रदान करे।"

मेरी पूर्व योजनानुसार यह ग्रन्थ मौलिक रूप से लिखने के लिए मुझे अपने पुस्तकालय में पिछले ६५ वर्षों में संग्रहीत हो गए ऋषि दयानन्द के जीवन चरित्र सम्बन्धी समस्त साहित्य को और इतने ही वर्षों में संग्रहीत हो गए विभिन्न आर्यपत्रों की सैकड़ों वार्षिक जिल्दों का भी आलोडन करना पड़ता जिसके लिए मेरी वर्त्तमान वृद्धावस्था में न तो मेरे नेत्र ही और न मेरा शेष शरीर ही सक्षम था तथा इसमें जितना समय लगना अपेक्षित था सम्भवत: उतना अब मेरा जीवन भी शेष नहीं बचा था, अत: कुछ न होने से कुछ हो जाना ही अच्छा समझकर मैंने इसे उसके वर्त्तमान स्वरूप में प्रस्तुत कर दिया है। इससे कम से कम मेरी उस इच्छा की पूर्ति तो हो ही गई है जिस रूप में मैं ऋषि के जन्म से लेकर देहावसान तक के उनके समस्त जीवन को देखता हूँ।

स्व० पं० क्षितीश वेदालङ्कार (सम्पादक आर्यजगत् साप्ताहिक पत्र, नई दिल्ली) के अनुसार मेरे इस ग्रन्थ में भी कहने के लिए 'मेरा अपना कुछ भी नहीं है, परन्तु प्रत्येक अनुच्छेद और प्रत्येक पृष्ठ पर मेरी अनुसन्धान-प्रियता की छाप स्पष्ट परिलक्षित हो रही है।'

इस प्रकार इस पश्चात्-कथन के साथ यह ७५२ पृष्ठीय '*दयानन्द-दिवाकर*' ग्रन्थ आज मङ्गलवार दिनाङ्क २४ नवम्बर, २०२० ई० तदनुसार मार्गशीर्ष शुक्ला १० संवत् २०७७ वि० (सायन पञ्चाङ्गानुसार) को लेखनारम्भ के ठीक ११ मास और ६ दिन बाद मेरी ८३ वर्ष पार की वय में पूर्ण हो रहा है।

अग्ने! नय सुपथा

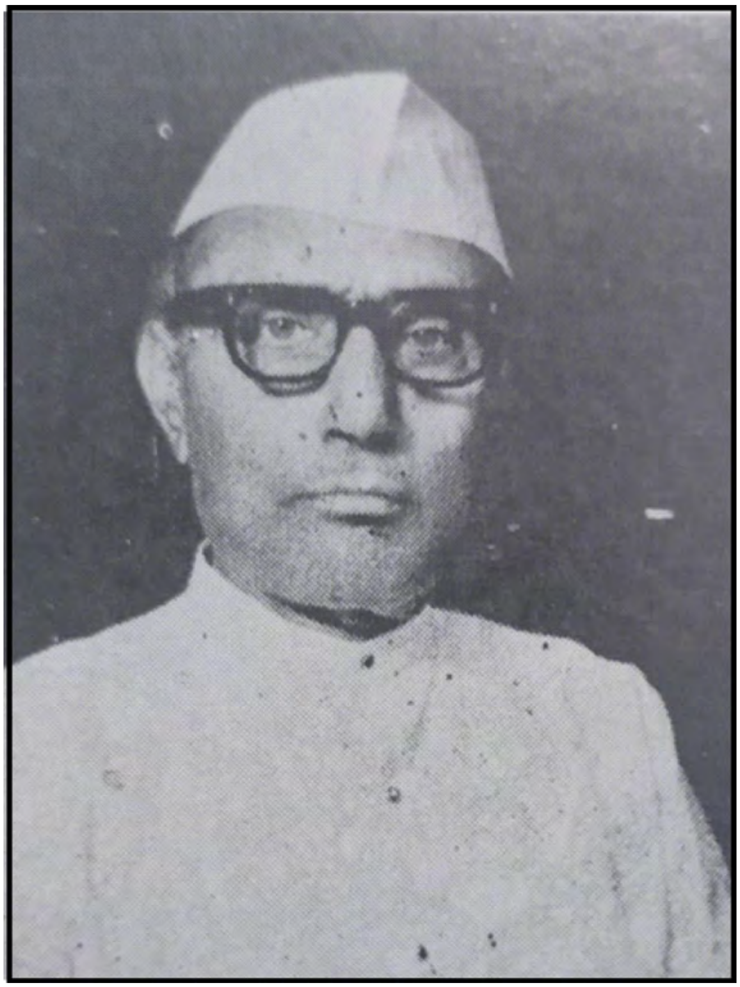
*पुरुषार्थ सदनम्* **-आदित्यमुनि वानप्रस्थ**
एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर (पूर्वनाम आदित्यपाल सिंह आर्य)
कोलार रोड; **भोपाल-४६२०४२** (म० प्र०)

इस ग्रन्थ का एक बार पूर्ण ईक्ष्य-वाचन और संशोधन का कार्य मेरे द्वारा २५ नवम्बर, २०२० ई० से आरम्भ करके ९ जनवरी, २०२१ ई० तक प्रेस कापी तैयार करने के रूप में पूर्ण किया गया है।

*-आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

# समर्पण

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा नई दिल्ली के यशस्वी पूर्व प्रधान



**श्री रामगोपाल शालवाले (संन्यस्त नाम स्वामी आनन्दबोध सरस्वती)**

को

जो आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती का उनके १८५७ ई० के भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में योगदानयुक्त जीवनचरित्र को लिखाने और प्रकाशित करने की आकांक्षा रखे हुए ही इस संसार से विदा हो गए! *(दृष्टव्य- पृष्ठ - ७४०)*

**- आदित्यमुनि वानप्रस्थ**

## *अगले पृष्ठों में-*

**अध्याय- एक : दिवाकरोदय से पूर्व की गहन तमिस्रा, दिवकरोदय से पूर्व की ऊषा** — ११ से १२ तक
- दिवाकरोदय — १२ से १५ तक
- बालक का नामकरण संस्कार — १५ से १६ तक
- मूलशङ्कर का विद्यारम्भ संस्कार, मूलशङ्कर का यज्ञोपवीत संस्कार — १६ से १७ तक
- मूलशङ्कर का शिवरात्रि व्रत — १८ से २० तक
- मूलशङ्कर की अगली शिक्षा — २१से २२ तक
- मूलशङ्कर का अपने कुछ परिजनों की मृत्यु से साक्षात्कार — २२
- अग्रिम शिक्षा के लिए मूलशङ्कर का काशी भेजने का निवेदन — २२ से २३ तक
- जमींदारी के एक गाँव में मूलशङ्कर का अध्ययन — २३
- मूलशङ्कर के विवाह की अन्तिम चर्चा — २३ से २५ तक

**अध्याय- दो : दिवाकर का विस्तृत आकाश में विचरण** — **२६ से ४५ तक**

सायले शहर में (२७), कोटकाँगढ़ में (२८), सिद्धपुर के मेले में (२८), अहमदाबाद में (२९), बड़ौदे में (३०), काशी (वाराणसी) में (३१), नर्मदा-तट भ्रमण (३४),महिष्मती से धर्मराय तीर्थ (४२), धर्मराय तीर्थ से चाणोद (४३), चाणोद में संन्यास ग्रहण (४४)

**अध्याय- तीन : योगविद्या शिक्षा के छः वर्ष** — **४६ से १३१ तक**
- व्यासाश्रम में — ४६ से ५६ तक
- सीनौर में — ५६
- पुनः चाणौद और अहमदाबाद में — ५७ से ८४ तक
- स्वामी ज्वालानन्द पुरी के उपदेश का सारांश — ८४ से ८७ तक
- श्रीमत् स्वामी शिवानन्द गिरि का उपदेश — ८७ से १२५ तक
- आबू पर्वत पर — १२५ से १३१ तक

**अध्याय- चार : दिवाकर का वाह्य जगत् में विचरण** — **१३२ से १८२**

आबू से हरिद्वार (१३२), स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए व्यापक आन्दो-लन (१३३), अजमेर के अनुभव (१३३), मारवाड़ के अनुभव (१३४), जयपुर के अनुभव (१३४), दिल्ली के अनुभव (१३५), वेल्लोर विद्रोह (१३७), बैरकपुर विद्रोह (१३८), हरिद्वार में (१४०), साधु-सङ्गठन (१४९), शङ्कराचार्य के उत्तराधि-कारियों से भेंट (१५०), वैष्णव सम्प्रदायियों से भेंट (१५१), कुम्भ मेले की शोभा-यात्रा (१५३), कश्मीर से लद्दाख की यात्रा (१५७), उत्तराखण्ड भ्रमण (१६२), टिहरी में (१६२), श्रीनगर में (१६३), शिवपुरी में (१६४), केदार की ओर (१६४), तुङ्गनाथ के पहाड़ पर (१६५), ओखीमठ में (१६६), जोशीमठ में (१६६), बद्रीनारायण में (१६६), रामपुर की ओर (१६८), रामपुर में (१६९), गङ्गोत्री से गङ्गासागर और पुरी पर्यन्त (१६९), मानसरोवर, कैलाश एवं तिब्बत की यात्रा (१६९), ऋषिकेश से मानसरोवर (१६९), मानसरोवर से कैलाश (१७०),

कैलाश से ल्हासा (१७०), ल्हासा से तिब्बत (१७२),
ल्हासा से दार्जिलिङ्ग (१७३), पूर्वोत्तर भारत व नेपाल-भ्रमण (१७४),
दार्जिलिङ्ग से नाटोर (१७५), नाटोर से बैरकपुर (१७५), बैरकपुर से
कलकत्ता (१७३), कलकत्ता से गङ्गासागर (१७६), गङ्गासागर से नवद्वीप
(१७७), नवद्वीप से कामरूप (१७७), कामरूप से परशुराम कुण्ड (१७८),
परशुराम कुण्ड से नेपाल (१७८), नेपाल से पुनः कलकत्ता में (१७९),
दक्षिण भारत की ओर (१८०)

**अध्याय- पाँच : सन् १८५७ (संवत् १९१४) की क्रान्ति १८३ से १९१ तक**

**अध्याय- छः : गङ्गोत्री से रामेश्वर और लङ्का पर्यन्त १९२ से २०६ तक**

दक्षिण भारत की ओर (२००), धनुष्कोटि से लङ्का (२०१), लङ्का से
धनुष्कोटि (२०१), धनुष्कोटि से कन्याकुमारी (२०२), नाना साहब
कन्याकुमारी में (२०३), कानपुर की चर्चा (२०३), स्वामी दयानन्द
की सम्मति पर नाना साहब की स्वीकृति (२०४), स्वामी दयानन्द का
भावी कार्यक्रम (२०५), कन्याकुमारी से मथुरा (२०६)

**अध्याय- सात : मथुरा में गुरुविरजानन्द की शरण में २०७ से २१६ तक**

मथुरा से आगरा २१३

**अध्याय- आठ : दिवाकर की विस्तृत गगन (कार्यक्षेत्र) में तपन २१७ से ६३६ तक**

सन् १८६४-६५ई० : आगरा से धौलपुर पुनः ग्वालियर, ग्वालियर से आबू पर्वत और वहाँ से पुनः ग्वालियर वापसी २१७ से २१८ तक

सन् १८६५ ई० : ग्वालियर से करौली, करौली से खुशहालगढ़ २१८ से २१९ तक

सन् १८६५-६६ ई० : खुशहालगढ़ से जयपुर २१९ से २२१ तक

सन् १८६६ ई० : बगरू, दूदू, किशनगढ़, अजमेर, पुष्कर, अजमेर, किशनगढ़, दूदू, बगरू, अचरौल, जयपुर, आगरा, मथुरा २२१ से २२८ तक

सन् १८६७ ई० : मेरठ, हरिद्वार, हृषीकेश, हरिद्वार, कनखल, लँढेरा, शुक्रताल, मीराँपुर, मुहम्मदपुर, परीक्षितगढ़, गढ़मुक्तेश्वर, कर्णवास, फर्रुखाबाद, अनूपशहर, गढ़मुक्तेश्वर, अनूपशहर, चासी, धारपुर, रामघाट, कर्णवास, अहार, चासी, रामघाट, बेलौन २२८ से २३७ तक

सन् १८६८ ई० : कर्णवास, गढ़ियाघाट, सोरों, कासगंज, कर्णवास, अम्बागढ़, सरदोल, शाहबाजपुर, कादिरगंज, नारदौली, काकोड़ा, नारदौली, कायमगंज, कम्पिल, शुकरुल्लापुर, फर्रुखाबाद २३७ से २५० तक

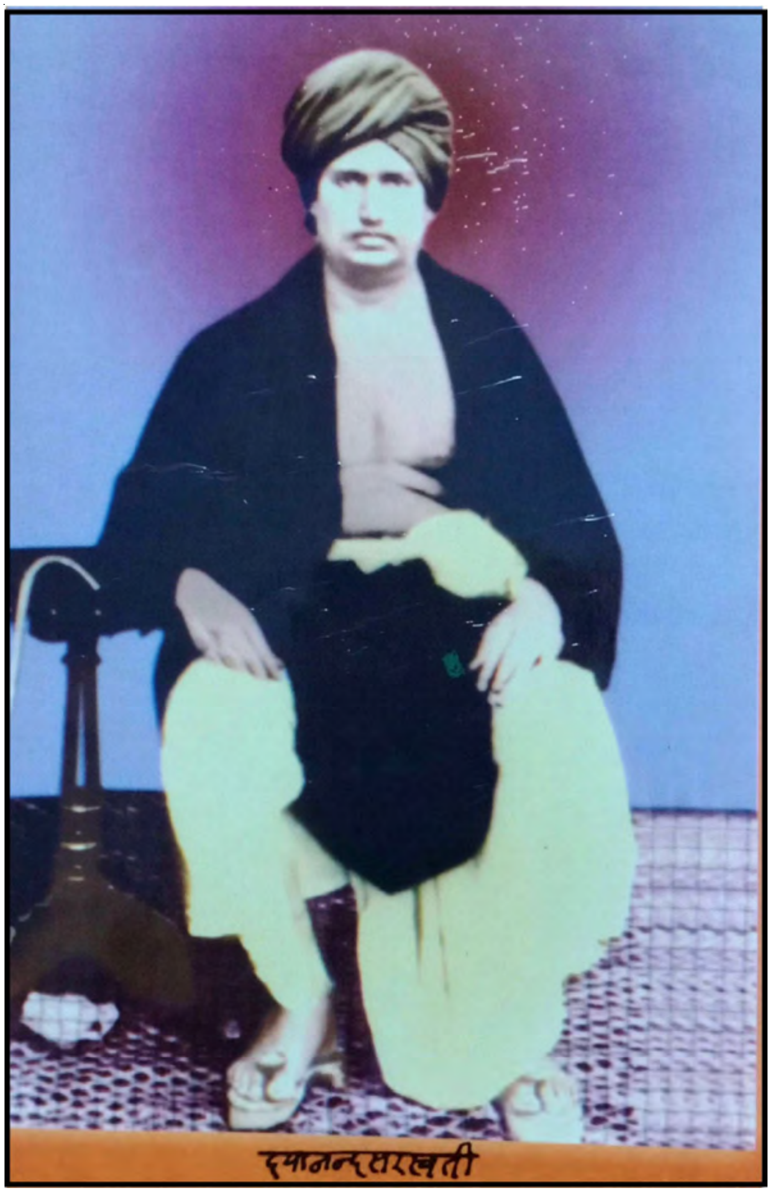
सन् १८६९ ई० : फर्रुखाबाद, रामगढ़, श्रङ्गीरामपुर, जलालाबाद, कन्नौज, कानपुर, शिवराजपुर, प्रयाग, रामनगर, काशी, मिर्जापुर २५० से २८३ तक

सन् १८७० ई० : मिर्जापुर, प्रयाग, मिर्जापुर, काशी, कासगंज, बलराम, चकेरी, हनोट, अनूपशहर, रामघाट, चासी, छलेसर, अतरौली, बिजौली, सोरों, कासगंज, रामघाट, कर्णवास, अनूपशहर, कर्णवास २८३ से ३०० तक

सन् १८७१-७२ ई० : कर्णवास, फर्रुखाबाद ३०१ से ३०२ तक

सन् १८७२ ई० : काशी, मुगलसराय, डुमराऊँ, आरा, पटना, मुँगेर, भागलपुर, कलकत्ता ३०२ से ३१३ तक

सन् १८७३ ई० : कलकत्ता, हुगली, वर्द्धमान, भागलपुर, पटना, छपरा, आरा, डुमराऊँ, मिर्जापुर, प्रयाग, कानपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद, कासगंज, छलेसर, अलीगढ़ ३१३ से ३४४ तक
सन् १८७४ ई० : अलीगढ़, हाथरस, मुरसान, मथुरा, वृन्दावन, मथुरा, मुरसान, काशी, प्रयाग, जबलपुर, नासिक, मुम्बई, सूरत, भड़ौच, अहमदाबाद, निम्राद, राजकोट ३४४ से ३९१ तक
सन् १८७५ ई० : राजकोट, अहमदाबाद, मुम्बई, पूना (पुणे), सतारा, पूना (पुणे), मुम्बई, बड़ौदा ३९१ से ४२५ तक
सन् १८७६ ई० : बड़ौदा, सूरत, बालसर, बसीनरोड, मुम्बई, इन्दौर, फर्रुखाबाद, काशी, जौनपुर, अयोध्या, लखनऊ, शाहजहाँपुर, बरेली, मुरादाबाद, छलेसर, दिल्ली ४२५ से ४४७ तक
सन् १८७७ ई० : दिल्ली, मेरठ, सहारनपुर, शाहजहाँपुर, चाँदपुर, शाहजहाँपुर, सहारनपुर, लुधियाना, लाहौर, अमृतसर, गुरुदासपुर, अमृतसर, जालन्धर, लाहौर, फीरोजपुर, लाहौर, रावलपिण्डी, जेहलम ४४७ से ४९५ तक
सन् १८७८ ई० : जेहलम, गुजरात, वजीराबाद, गुजरावाला, लाहौर, मुलतान, लाहौर, अमृतसर, रुड़की, अलीगढ़, मेरठ, दिल्ली, अजमेर, पुष्कर, अजमेर, मसूदा, नसीराबाद, जयपुर, रिवाड़ी ४९५ से ५४६ तक
सन् १८७९ ई० : रिवाड़ी, दिल्ली, ज्वालापुर, हरिद्वार, देहरादून, सहारनपुर, मेरठ, अलीगढ़, छलेसर, मुरादाबाद, बदाऊँ, बरेली, शाहजहाँपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद, कानपुर, प्रयाग, मिर्जापुर, दानापुर, काशी ५४६ से ६१५ तक
सन् १८८० ई० : काशी, लखनऊ, कानपुर, फर्रुखाबाद, मैनपुरी, मेरठ ६१५ से ६३६ तक
**अध्याय– नौ : दिवाकर का अस्ताञ्चल की ओर प्रस्थान ६३७ से ७२५ तक**
सन् १८८० ई० : मुजफ्फरनगर, मेरठ, देहरादून, मेरठ, आगरा ६३७ से ६४१ तक
सन् १८८१ ई० : आगरा, भरतपुर, जयपुर, अजमेर, मसूदा, रायपुर, ब्यावर, मसूदा, बनेड़ा, चित्तौड़, इन्दौर, मुम्बई ६४१ से ६६६ तक
सन् १८८२ ई० : मुम्बई, खण्डवा, इन्दौर, रतलाम, जावरा, चित्तौड़, उदयपुर ६६६ से ६७५ तक
सन् १८८३ ई० : उदयपुर, शाहपुरा, अजमेर, जोधपुर, आबू, अजमेर ६७५ से ७२३ तक
एक मर्मस्पृक् ललित उद्‌गार ७२३ से ७२५ तक
*परिशिष्ट*– एक –स्वामी दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा ७२६ से ७३० तक
दो –स्वामी दयानन्द सरस्वती की जन्मपत्री का फलादेश ७३१
तीन – अज्ञात जीवनी (कलकत्ता-कथ्य) की पृष्ठभूमि ७३२ से ७३८ तक
चार – सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली का पत्र ७३९
पाँच – स्वामी दयानन्द सरस्वती का स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश: ७४० से ७४४ तक
छ: – स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय ७४५ से ७४७ तक
सात – स्वामी दयानन्द सरस्वती का हस्तलेख और हस्ताक्षर ७४८
आठ – स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन विषयक हमारे प्रकाशन ७४९ से ७५२ तक




## स्वामी दयानन्द सरस्वती

**जन्म :** (टङ्कारा, गुजरात में)- भाद्रपद शुक्ला ९, संवत् १८८१ वि० (गुजराती)
तदनुसार मङ्गलवार दिनाङ्क २० सितम्बर, १८२५ ई० (ब्राह्ममुहूर्त में ३:३० बजे)
**देहावसान :** (अजमेर में)- कार्तिक कृष्णा ३०, संवत् १९४० वि० (उत्तर भारतीय)
तदनुसार मङ्गलवार दिनाङ्क ३० अक्टूबर, १८८३ ई० (दीपावली के दिन सायंकाल ६ बजे)
**जीवनकाल :** ५८ वर्ष ४१ दिन (कुल २१,२२५ दिन)

अध्याय-एक

# दिवाकरोदय से पूर्व की गहन तमिस्रा

भारत में कोई ४,९०० वर्ष पूर्व हुए महाभारत युद्ध तक भारत में ही नहीं अपितु सारे संसार में ही केवल एक वैदिक-धर्म और आर्यों का ही चक्रवर्ती साम्राज्य रहा था। महाभारत युद्ध के पश्चात् वैदिक-धर्म और उसके अनुयायी आर्यों में विकार आने प्रारम्भ हो गए थे जिसके फलस्वरूप अनेक सम्प्रदाय बनते चले गए जिन्होंने भारत देश को मूर्तिपूजादि के गहरे कूप में गिरा और अनेक दुर्व्यसनों में फँसा दिया। यह विकृत हुआ वैदिक या सनातन धर्म ही आज भारत देश में पौराणिक-धर्म के रूप में विद्यमान है। इसी दौरान कोई २,३०० वर्ष पूर्व बौद्ध और जैन मतों का प्रादुर्भाव महात्मा गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी से हुआ जो अनीश्वरवादी होने के कारण मूर्तिपूजादि के जन्मदाता बने। उधर पश्चिम में ईसामसीह ने कोई १,८०० वर्ष पूर्व अपना ईसाई मत और मुहम्मद साहब ने कोई १,२०० वर्ष पूर्वअपना इस्लाम मत चला दिया। इन सबकी शाखा-प्रशाखारूप आज भारत और विश्व भर में हजारों सम्प्रदाय अस्तित्व में आ चुके हैं जो एक दूसरे को मिटाकर अपना विस्तार करने में निरन्तर जुटे हुए हैं। इन्हीं मुस्लिमों और ईसाइयों ने भारत देश में भी आकर अपने छल-बल से उसे पादाक्रान्त कर उस पर लगभग आठ सौ वर्षों तक राज्य किया और भारतवासियों को प्रताड़ित किया। इनके संसर्ग में आने से भारतवासियों का न केवल खानपान और वेशभूषा ही बदल गई अपितु भारतवर्ष में हिंसा का साम्राज्य भी स्थापित हो गया। ऐसे में एक ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो-

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।**

की घोषणानुरूप इस धरती पर जन्म लेकर पुनः वैदिक धर्म की स्थापना कर सके।

## दिवाकरोदय से पूर्व की ऊषा

भारत में वेद विरोधी बौद्ध और जैन मतों का प्रबल प्रचार होने से कई एक प्रदेश प्रायः वेद-भ्रष्ट हो गए थे। यथा-

**अङ्ग-बङ्ग कलिङ्गेषु सौराष्ट्र-मगधेषु च।**
**तीर्थ-यात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हति।।**

अर्थात् तीर्थयात्रा के उद्देश्य के बिना दूसरे उद्देश्य से अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, सौराष्ट्र और मगध प्रदेश [१] में जाने से प्रायश्चित का भागी बनना पड़ता है।

सौराष्ट्र को वेद-भ्रष्टता के पाप से बचाने के लिए ईसा की दशवीं शती में अनहलवाड़ा पाटन के वेदभीरु महाराजा मूलराज सोलङ्की ने उत्तर भारत के कोई एक सहस्र वेदज्ञ ब्राह्मणों को लाकर सौराष्ट्र देश में बसाया था जो बाद में सारे गुजरात प्रान्त में ही फैलकर बस गए थे। इन्हीं औदीच्य बाह्मणों के एक कुल में सिद्धपुर में लाकर बसाए गए तिवाड़ी ब्राह्मणों के वंश में श्री संघजी तिवारी के पुत्र श्री मेघ जी त्रिवेदी और उनके भी पुत्र श्री डोसाजी हुए थे जो संस्कृत भाषा के असाधारण विद्वान् थे और जिनके पास प्रचुर मात्रा में संस्कृत का साहित्य विद्यमान था। इन्हीं डोसाजी के पुत्र श्री लालजी हुए थे जिनकी मृत्यु सं० १८९० वि० में हुई थी। यही लाल जी तिवारी बाद में सिद्धपुर छोड़कर जामनगर राज्य के कौशिया ग्राम में आ बसे थे। लालजी के पुत्र श्री कर्शनजी त्रिवाड़ी या त्रिवेदी

१- **अङ्ग** अर्थात् वर्तमान उत्तर बिहार, **बङ्ग** अर्थात् वर्तमान प० बङ्गाल और बाँग्लादेश, **कलिङ्ग** अर्थात् उड़ीसा, **सौराष्ट्र** अर्थात् वर्तमान गुजरात राज्य तथा **मगध** अर्थात् वर्तमान दक्षिण बिहार।

हुए जो सौराष्ट्र के मोर्वी राज्य में डेमी नदी के तटवर्ती टङ्कारा कस्बे में निवास करते थे। कर्शनजी लालजी त्रिवाड़ी एक धनाढ्य, जमींदार, कुसीदजीवी, राज्य के राजस्व अधिकारी (अर्थात् कलेक्टर[२]) और प्रभावशाली सामवेदी औदीच्य शैव ब्राह्मण थे। कौशिया ग्राम का बहुत बड़ा भू-भाग उनके स्वामित्व में था। २१ वर्षीय कर्शनजी लालजी तिवारी का विवाह एक १२ वर्षीया वैष्णवी ब्राह्मणी अमूवा अथवा अमृताबाई के साथ हुआ था जो टङ्कारा से पाँच कोश की दूरी पर बसे एक गाँव में जन्मी थी। परन्तु आगे जब इस दम्पती की वय क्रमश: ३५ वर्ष[३] और २६ वर्ष तक की हो गई थी, तब तक भी इनके कोई सन्तान नहीं हुई थी। अत: कर्शनजी लालजी त्रिवाड़ी का दूसरा विवाह जब उनकी ही प्रथम पत्नी अमृताबाई की चौथी १५ वर्षीया छोटी बहन के साथ करने का विचार चल रहा था, तभी एक मास के अन्दर यह पता चल गया था कि अमृताबाई स्वयं ही गर्भिणी है। अत: दूसरे विवाह का यह विचार ही त्याग दिया गया था।

चूँकि श्री कर्शनजी लालजी त्रिवाड़ी एक धनाढ्य जमींदार और राजस्व अधिकारी थे। अत: उनके साथ सदैव ही सैनिक, अङ्गरक्षक और सिपाही रहा करते थे। वे संस्कृत व्याकरण और वेद से भी अभिज्ञ थे।

# दिवाकरोदय

इन्हीं श्री कर्शनजी लालजी त्रिवाड़ी की प्रथम सन्तान के रूप में एक बालक का जन्म गुजरात में प्रचलित कार्तिकीय संवत् के अनुसार भाद्रपद शुक्ला नवमी संवत् १८८१ वि० तदनुसार २० सितम्बर १८२५ ई० मङ्गलवार को ब्राह्ममुहूर्त में ३-३० बजे हुआ।[४] उस समय आकाश में धनुराशि और मूलनक्षत्र का चतुर्थ चरण चल रहा था। इसलिए पण्डितों ने इस बालक का नाम धनु राशि के अनुरूप धनेश जी त्रिवेदी और नक्षत्र के अनुरूप मूलशङ्कर

---

२- 'सन् १८७३ ई० में जब दयानन्द कलकत्ता में थे, तो उन्होंने प्रसङ्गवश बातों-बातों में श्रीयुत मन्मथनाथ चौधरी, बी० एल० महाशय से कहा था कि जो तुम्हारे कलक्टर करते हें, वही कार्य हमारे पिता किया करते थे।'

-**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृष्ठ-४१-४२)

३- 'जिस समय हमारा जन्म हुआ था तो हमारे पिता की आयु ३०-३५ वर्ष थी और हमारी माता भी बालिका न थी।'

-**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-२, पृष्ठ-२२९)

४- स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पुणे में अपने पूर्वचरित्र सम्बन्धी पन्द्रहवें प्रवचन में ४ अगस्त, १८७५ ई० (श्रावण शुक्ला ३) को कहा था कि 'इस समय मेरा वय ४९-५० वर्ष का होगा।' इस कथन के समय चूँकि गुजराती संवत् १९३१ वि० और उत्तर भारतीय चैत्री संवत् १९३२ वि० विद्यमान था जो उस समय विद्यमान सन् १८७५ ई० की अपेक्षा से क्रमश: ५६ और ५७ वर्ष अधिक हैं। इसीलिए इससे ४९-५० वर्ष पूर्व अर्थात् ४ अगस्त, १८२५ ई० और ४ अगस्त, १८२६ ई० के मध्य की किसी तिथि में दयानन्द का जन्म हुआ होने से उस समय अर्थात्-

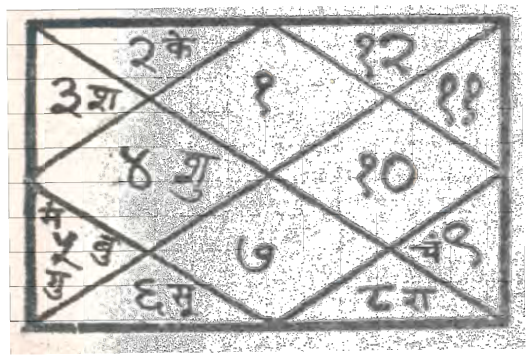
(अ) ४ अगस्त, १८२५ ई० को गुजराती संवत् १८८१ वि० और उत्तर भारतीय चैत्री संवत् १८८२ वि० हुआ, और

(ब) ४ अगस्त, १८२६ ई० को गुजराती संवत् १८८२ वि० और उत्तर भारतीय चैत्री संवत् १८८३ वि० हुआ।

अत: थियोसोफिस्ट पत्रिका में प्रकाशनार्थ २६ अगस्त, १८७९ ई० (अर्थात् भाद्रपद शुक्ल ९) को अपने जन्मदिन पर ही लिखकर २७ अगस्त, १८७९ ई० को बरेली से मुम्बई भेजे गए अपने जन्मचरित्र में भी उन्होंने जो यह लिखा था कि 'संवत् १८८१ के वर्ष में मेरा जन्म हुआ था।' तब भी उनका आशय यही था कि यहाँ प्रयुक्त हुआ १८८१ वि० का संवत् गुजराती संवत् १८८१ वि० ही है। इसीलिए ४ अगस्त १८२५ ई० और ४ अगस्त, १८२६ ई० के मध्य की २० सितम्बर, १८२५ ई० की जन्मतिथि ही सही है, न कि इनसे बाह्य की सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली द्वारा १९६७ ई० से प्रचारित १२ फरवरी, १८२५ ई० शनिवार (उत्तर भारतीय फाल्गुन कृष्णा १०, अथवा दक्षिण भारतीय माघ कृष्णा १०) की एक काल्पनिक जन्मतिथि।

घोषित कर रखा था।

पं० श्रीकृष्ण शर्मा को बालक मूलशङ्कर की जो जन्म-कुण्डली उनके पश्चात्वर्ती परिवारी जनों से प्राप्त हुई थी, वह इस प्रकार थी-



'इसके अनुसार महर्षि की जन्म तारीख १९-९-१८२५ की मध्यरात्रि के पश्चात् तारीख २०-९-१८२५ के प्रात: काल पूर्व ३ बजकर ३० मिनट पर है।'

इसको जब हमने दिल्ली के ज्योतिषी श्री कृष्णकुमार जोशी[5] को बिना किसी तिथि को दिए हुए ही ३० जनवरी, २०१८ ई० में दिखाया तो इसे उन्होंने १९ सितम्बर, १८२५ ई० की होना बताया था जिससे मूलशङ्कर की यह जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ला ९ सत्य प्रमाणित हो जाती है जो तिथि उस दिन १९ सितम्बर से आरम्भ होकर अगले दिन २० सितम्बर तक रही थी। इस सम्बन्ध में आगे पूछने पर उन्होंने हमें यह भी बताया था कि जन्म समय रात्रि ३-३० मानने पर जैसा कि आपके पास उपलब्ध जानकारी से पुष्ट होता है और जन्म १९/२० सितम्बर, १८२५ कार्तिकादि संवत् १८८१ कर्क लग्न मूल नक्षत्र व अन्य सभी ग्रहों की स्थिति आदि सम्बन्धित दस्तावेजों से सामञ्जस्य स्थापित करके बालक मूलशङ्कर की बनाई गई संशोधित जन्मकुण्डली निम्न प्रकार है:-

बलित तालिका | जन्म विवरण | पंचांग | अष्टक व

| जन्म विवरण | |
|---|---|
| नाम | Maharshi Dayanand |
| दिनांक | 20/09/1825 |
| समय | 03:30:00 |
| स्थान | Tankara |
| लिंग | पुरुष |
| अयनांश | लाहिरी (021°25'24") |
| डीएसटी | 0 |
| मंगल दोष | नहीं |
| राशि | धनु |
| आयु | 192 व 4 मा 10 दि |
| दशा भोग्य | के 0 व 1 मा 5 दि |

लिका | जन्म विवरण | पंचांग | अष्टक वर्ग | कारकांश

| पंचांग | |
|---|---|
| पक्ष | शुक्ल |
| तिथि | नवमी |
| नक्षत्र(च) | मूल (4) |
| हिन्दू दिन | सोमवार |
| अंग्रेजी दिन | मंगलवार |
| योग | सौभाग्य |
| करण | बालव |
| सूर्य उदय | 06.34.37 |
| सूर्य अस्त | 18.47.16 |

पारम्परिक | लग्न | नवमांश | चन्द्र | चलित



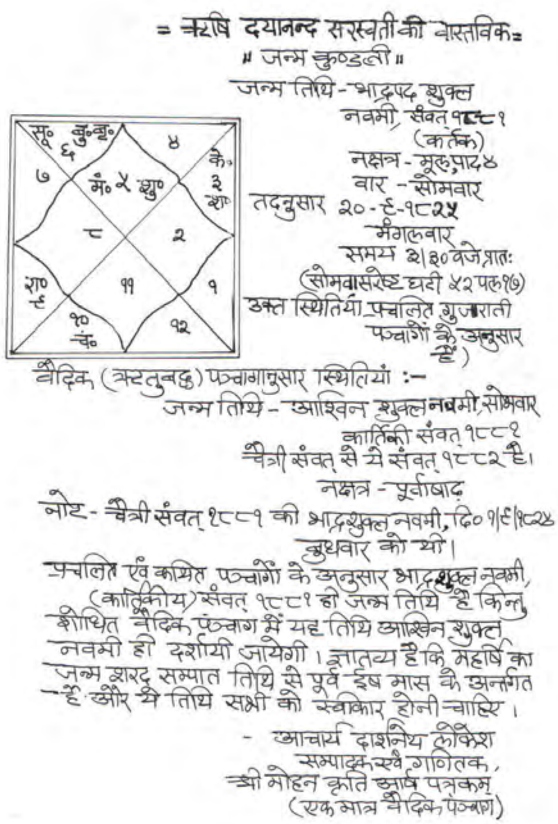

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| सू | 05°12'37" | च | 13°08'45" | मं | 00°21'59" |
| बु | 28°36'09" | गु | 10°10'13" | शु | 25°35'31" |
| श | 00°20'02" | रा | 24°25'46" | के | 24°25'46" |
| यू | 24°43'39" | ने | 17°32'05" | प्लू | 12°05'47" |

---

इस सम्बन्ध में आर्यसमाज टङ्कारा के भूतपूर्व मन्त्री और आर्यमिशनरी स्व० पं० श्री श्रीकृष्ण शर्मा ने अपने ग्रन्थ- '*महर्षि दयानन्द स्मारक का इतिहास*' में लिखा है कि 'महर्षि मूलशङ्कर की जो जन्मकुण्डली उनके पारिवारिक जनों से प्राप्त हुई है उसके अनुसार महर्षि की जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ला नवमी ही है, परन्तु स्व० श्री पं० अखिलानन्द जी ने इस तिथि को ग्रहण करते हुए अपने '*दयानन्द दिग्विजय*' नामक सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ में महर्षि का जन्म चैत्री संवत् १८८१ वि० लिया है जो वास्तव में सौराष्ट्र और गुजरात में प्रचलित कार्तिकी संवत् से छ: मास पीछे है। महर्षि की जन्मकुण्डली के अनुसार उनका जन्म कार्तिकी संवत् १८८१ वि० की भाद्रपद शुक्ला नवमी को प्रात:काल ३ बजकर ३० मिनट पर मूल नक्षत्र, धनुराशि में हुआ था। अत: नक्षत्र पर से उनका बाल्यनाम मूलशङ्कर था। परन्तु राशि नाम धनेश त्रिवेदी था।'

५- पता- ११४, प्रताप विहार पार्ट-१, दिल्ली-११००८६

पूर्वोक्त दोनों ही जन्म कुण्डलियाँ उस समय प्रचलित निरयन पञ्चाङ्गों के अनुसार हैं। इनमें परस्पर दृष्यमान कुछ अन्तर होने पर भी तिथि के सन्दर्भ के लिए उक्त दोनों जन्म-कुण्डलियाँ एक ही हैं, अलग-अलग नहीं हैं। लेकिन २१वीं शताब्दी के आरम्भ से आचार्य दार्शनेय लोकेश[६] ने अपना जो ऋतुबद्ध सायन वैदिक पञ्चाङ्ग प्रचलित किया है, उसके अनुसार उन्होंने मुझे इसी समय की यही जन्मकुण्डली निम्न प्रकार से बनाकर भेजी है:-




उन्होंने मुझे लिखा है कि 'मैं इसलिए इस २०/९/१८२५ ई० (प्रचलित और तात्कालिक पञ्चाङ्गों के कार्तिकादि संवत् १८८१ के भाद्रपद शुक्ल नवमी, मङ्गलवार) की तिथि को महर्षि के जन्मदिन के रूप में निर्धारण की प्रामाणिकता देख रहा हूँ क्योंकि इसमें पूरी ग्रह स्थितियों का समायोजन देखा जा रहा है। अन्य लोग केवल मूल नक्षत्र की चर्चा करके ही निष्कर्ष पर पहुँचने की कोशिश करके रह जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि मूल संज्ञक नक्षत्र तो एक महिने में छः होते हैं। जबकि समूची ग्रह संयोजन की स्थिति एक और केवल एक ही होती है। इसलिए सभी आर्यजनों को अब किसी तरह से महर्षि की जन्मतिथि के निर्धारण में शङ्का नहीं रहनी चाहिए। देश और दुनिया के आर्यजनों को मेरा कहना है कि यह समस्या अब सर्वदा और सभी के लिए स्वीकार्यरूप से हल हो चुकी है। वैदिक पञ्चाङ्ग में इस तिथि को आश्विन शुक्ला नवमी को दर्शाया जाएगा और सभी देश वासियों को इस तिथि को '*दयानन्द-नवमी*' के रूप में मनाना चाहिए।'

उक्त जन्म-कुण्डली के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य विवरण निम्न प्रकार हैं:-

लग्न- ५ (४/१४/३/४९), सूर्य- ६ (५/२६/३८/३), चन्द्र १० (९/३/५०/३१), नक्षत्र- पूर्वाषाढ़, मङ्गल- ५ (४/२१/४६/५९), बुध- ६ (५/२०/२/१०), बृहस्पति- ६ (५/१/३४/२), शुक्र- ५ (४/१७/०/४५), शनि- ३ (२/२१/४५/२७) और राहु- ९ (८/१५/३३/१९)।

बालक मूलशङ्कर के रूप में पुत्रलाभ होने पर उसके माता-पिता दोनों ही आनन्दित और प्रसन्न हुए थे। इसके लिए उसकी माता जी ने बहुत पहले से ही मनौती मना रखी थी कि सन्तान लाभ होने पर विष्णु भगवान् के नाम पर एक हजार ब्राह्मणों को भोजन कराऊँगी, सन्तान के वजन के अनुरूप सोना-चाँदी ब्राह्मणों को दान दूँगी। अतः ऐसा ही बालक की छठी पर अर्थात् भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी, सोमवार दिनाङ्क २६ सितम्बर, १८२५ ई० को किया भी गया था। सोना-चाँदी के अन्दर इस बालक की माता जी के आभूषण और पिता जी के मुहर सम्मिलित थे। इस अवसर पर मोर्वी नगर के सेठ श्री सुन्दरजी

६- पता-सी-२७६, गामा-१, ग्रेटर नोएडा-२०१३०८ (उ० प्र०)

शिवजी ने भी अपनी ओर से भेंट स्वरूप टङ्कारा महल के ह्वीवटदार (राजस्व अधिकारी) श्री कर्शनजी लालजी त्रिवेदी के घर (सौगात- झबला के रूप में) ११६ रुपया का सामान भेजा था।

## बालक का नामकरण संस्कार

इस बालक के जन्म के सौ दिन बाद अर्थात् २९ दिसम्बर, १८२५ ई० ( गुजराती मार्गशीर्ष कृष्णा ४, गुरुवार) को उसका नामकरण संस्कार उसके पितामह श्री लालजी तिवारी और कुलपुरोहित के सहयोग से किया गया था।[७] इस समय एक विवाद पैदा हो गया था। बालक का पिता चाह रहा था कि पुत्र का नाम उनके आराध्य शिव जी के नाम का सङ्केत करता हुआ हो और माता चाह रही थीं कि पुत्र का नाम उनके आराध्य विष्णु भगवान् के नाम के अनुसार हो। इससे बालक के माता-पिता दोनों के मध्य ही मतभेद पैदा हो गया था। इस दृश्य को देखकर सभी आमन्त्रित व्यक्ति स्तम्भित रह गए थे। तब बालक के नाना जी ने विचार करके उस समय इस बालक के दो नाम रखवा दिए थे जो उसके माता-पिता दोनों की ही इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करते थे। ये दो नाम मूलशङ्कर (अथवा मूलजी) और दयाराम (अथवा दयालजी) रखे गए थे। इनमें से पहला शिव का और दूसरा विष्णु का द्योतक था क्योंकि पौराणिक जगत् में राम को विष्णु का अवतार ही माना जाता है। बाद में यह बालक इन्हीं नामों से उसके माता-पिता और अन्यों द्वारा उनकी अपनी-अपनी इच्छानुसार सम्बोधित किया जाने लगा।

आगे जब बालक मूलशङ्कर धीरे-धीरे बड़ा होने लगा, तब उसके पिता जी ने उसकी देखभाल के लिए एक रत्नाबाई नाम की धायी रख दी थी[८] जो उसे स्नान कराती, खिलाती-पिलाती और बाहर घुमाने ले जाया करती थी। जब एक वर्ष बाद भाद्रपद शुक्ला ९ अर्थात् १० सितम्बर, १८२६ ई० (रविवार) को मूलशङ्कर का पहला जन्मदिन का उत्सव मनाया गया था तब ब्राह्मणों को भोजन कराने, गरीब-दु:खियों को अन्न-वस्त्र देने और नृत्य-सङ्गीत आदि का शोर-गुल चल रहा था, तब मूलशङ्कर की माता ने इस बालक को बाहर घुमा लाने के लिए रत्नाबाई को आदेशित किया। रत्नाबाई बालक की धायी माँ थी। आदर, यत्न और स्नेह के साथ उसको खिलाती-पिलाती थी। बालक की रुग्णावस्था में रत्नाबाई को नींद नहीं आती थी, खाना-पीना भी छोड़ देती थी, बालक की शैया के पास आँखों में आँसू लेकर उपस्थित रहती थी। बालक के प्रति उसका माता के समान स्नेह और ममता लगी रहती थी। किन्तु इस दिन उसका चञ्चल मन कुछ विकृत हो गया था। हजारों रुपयों के आभूषण पहने हुए इस बालक को अपनी गोद में लेकर वह डेमी नदी के किनारे एक निर्जन स्थान पर पहुँच गई थी। वहाँ पर वह बालक के शरीर के सारे ही आभूषण उतारकर और उन्हें कपड़े के अपने आँचल में बाँधकर तथा बालक के मुख को अन्तिम बार चूमकर जैसे ही वह उसे नदी में फेंक देने के लिए उसमें उतरी तब वह उसे फेंक नहीं सकी, क्योंकि ऐसा करते हुए यह बालक अनायास ही हँसने लगा था। सो बालक के मुख पर इस अस्वाभाविक हँसी को देखकर रत्नाबाई का हृदय परिष्कृत हो गया था! अत: वह बालक को पुन: चूमती हुई नदी के पानी से बाहर निकली और भीगे कपड़े पहने हुए ही उसने उसे उसकी माताजी के सम्मुख लाकर छोड़ दिया[९]। इस दृश्य को देखकर रत्नाबाई के पीछे बहुत से लोग हो लिए थे। रत्नाबाई ने विलाप करते हुए उन सबके सम्मुख सब हाल कह सुनाया और

---

७- 'जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ११वें दिन, वा १०१वें अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो, नाम धरे। -**संस्कार विधि:** (नामकरण संस्कार प्रकरण)

८- 'प्रसूता का दूध छ: दिन तक बालक को पिलावे। पश्चात् धायी पिलाया करे। परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान-पान माता-पिता करावें।' -**सत्यार्थप्रकाश** (द्वितीय समुल्लास)

९- राजा भोज और उसके चाचा मुञ्ज की कथा भी कुछ ऐसी ही है।

आँचल में बँधे हुए आभूषणों को खोलकर बालक की माता के सम्मुख रख दिए और एक बार बालक को पुनः अपनी गोदी में लेकर उसे चूमा तथा- 'मैं प्रायश्चित करूँगी, मैं प्रायश्चित करूँगी' - ऐसा चिल्लाती हुई वह वहाँ से भाग गई। इस समय तक बालक के पिता कर्शनजी भी वहाँ आ गए थे। उन्होंने भी यह सब वृत्तान्त सुना और सबने एक स्वर में कहा कि 'रत्नाबाई पागल हो गई है। उसका इलाज होना चाहिए।' अतः रत्नाबाई को वापस लाने के लिए तीन सिपाही भेजे गए किन्तु वह कहीं नहीं मिली। तीन दिन बाद यह समाचार अवश्य मिला कि उसने दो कोस की दूरी पर एक पुराने मन्दिर में गले में फाँसी लगाकर आत्महत्या कर ली है। अतः बालक के पिता कर्शनजी तिवाड़ी ने पण्डितों के परामर्श पर उसका श्राद्ध, शान्ति और बालक की जीवन-रक्षा के लिए पूजा-पाठ किया था और पीछे बोधगया तक जाकर उसके उद्धार के लिए पिण्डदान किया था।

इस प्रकार बालक मूलशङ्कर अपने माता-पिता को सन्तान-लाभ का सुख और दुःख देते हुए बड़ा होने लगा। उसके माता-पिता उसके जन्म से पहले भगवान् से केवल एक ही सन्तान की प्रार्थना किया करते थे। परन्तु उसके जन्म के बाद पिता जी शिवजी से कार्तिकेय और गणपति जैसे पुत्रों की और माता जी विष्णु भगवान् से लक्ष्मी और सरस्वती जैसी कन्याएँ माँगने लगी थीं। सो मूलशङ्कर की पीठ पर चौथे वर्ष में अर्थात् संवत् १८८५ (गुजराती) में किसी दिन उसकी एक पीठ पर की छोटी बहन पैदा हुई जिसका बाद में नाम रत्नबा रखा गया।

## मूलशङ्कर का विद्यारम्भ संस्कार

पञ्चम वर्ष की आयु में अर्थात् संवत् १८८६ (गुजराती) में बालक मूलशङ्कर के पिता कर्शनजी तिवारी ने उसका fo| kjEÒ I ladkj fd ; kÉk[१०]। इसके लिए उसके पिता जी ने उसे कृष्णवर्ण के प्रस्तर पर चा-खड़ी से स्वर और व्यञ्जन वर्ण लिखाए थे। इस उपलक्ष्य में पूजा-पाठ और ब्राह्मण भोजन भी हुआ था। इस समय बालक मूलशङ्कर के पिता और अन्य अभिभावक जन उसे कुल परम्परागत धर्माचरण के साथ ही साथ धर्मशास्त्र-पाठ और भिन्न-भिन्न स्तवन-श्लोक और रामायण, महाभारत, पुराणादि की कहानियाँ भी स्मरण कराने लगे थे। साथ ही साथ वह वेदमन्त्र भी कण्ठस्थ करने लगा था। बालक मूलशङ्कर के साथ ही साथ ऐसी ही शिक्षा उसके अपर भ्राताओं अर्थात् चाचा-ताऊ के पुत्रों को भी दी जा रही थी, परन्तु अपर बहनों को ऐसी शिक्षा देने का उस समय चलन नहीं था। माता जी के पास ये सब भाई-बहन मिलकर रामायण और महाभारत की कहानियाँ सुना करते थे जो कहा करती थीं कि लड़कियों के लिए लिखना पाप है और पढ़ना पुण्य है। इसीलिए मूलशङ्कर की माता जी को भी लिखना नहीं आता था पर वह पढ़ अवश्य लेती थीं। इस रूप में विद्याभ्यास करते हुए बालक मूलशङ्कर के जीवन के तीन वर्ष बीत गए, जब वह सितम्बर, १८३३ ई० में आठ वर्ष का हो गया था। इस समय तक मूलशङ्कर के एक छोटे भाई (वल्लभ जी) का भी गुजराती संवत् १८८९ में कभी जन्म हो चुका था।

## मूलशङ्कर का यज्ञोपवीत संस्कार

अष्टम वर्ष की आयु में अर्थात् संवत् १८८९ (गुजराती) में बालक मूलशङ्कर के यज्ञोपवीत संस्कार का प्रबन्ध हुआ था।[११] इसके उपलक्ष्य में एक सौ वेदज्ञ औदीच्य ब्राह्मण निमन्त्रित किए गए थे। इन ब्राह्मणों ने एक दिन

---

१०- 'जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी। उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे-कैसे वर्त्तना, इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य भी अर्थ सहित कण्ठस्थ करावें जिससे सन्तान किसी धूर्त के बहिकाने में न आवें और जो धर्म-विरुद्ध, भ्रान्तिजाल में गिराने वाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश कर दें, जिससे भूत-प्रेतादि मिथ्या बातों का विश्वास न हो।' -**सत्यार्थप्रकाश** (द्वितीय समुल्लास)

११- 'जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो उससे आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ के ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय

पहले ही आकर प्रारम्भिक यज्ञ और वेदपाठ आरम्भ कर दिया था। बालक मूलशङ्कर के पिता ने उसके लिए सोने का तीन तार वाला यज्ञोपवीत बनवाया था।[१२] प्रत्येक ब्राह्मण को भोजन के बाद एक-एक वस्त्र, लोटा और दस-दस रुपये की दक्षिणा दी गई थी। यज्ञोपवीत-संस्कार के बाद बालक मूलशङ्कर को दस दिन के लिए घर में ही बन्द रहना पड़ा था और ये दस दिन उसे गायत्री-मन्त्र के जप और सन्ध्योपासना में ही बिताने पड़े थे। १० दिन बाद जब वह यज्ञोपवीत धारण करके बाहर निकला तब उसकी झोली में सभी ने कुछ न कुछ भिक्षास्वरूप प्रदान किया था। भिक्षादाताओं में बड़ौदा और पूना के दो राजकर्मचारी भी ब्रह्मचारी के पिता कर्शनजी तिवारी के बन्धुओं के रूप में इस कार्यक्रम में उपस्थित हुए थे। इन दोनों ने और ब्रह्मचारी के पिता जी ने भी उसकी झोली में कई एक मुहरें डाली थीं और उसकी माता जी ने फल तथा कच्चे चावल डाले थे। इसके बाद बालक मूलशङ्कर दिन में तीन बार सन्ध्योपासना और गायत्री-मन्त्र का जाप करने लगा था।

बालक मूलशङ्कर के पिता ने स्वयं ही उसे यजुर्वेद की संहिता का आरम्भ कराके उसमें से प्रथम रुद्राध्याय पढ़ा दिया था। उसके कुल में चूँकि शैव मत था, इसलिए उसके पिता जी उसे उसकी भी शिक्षा दिया करते थे और कहते थे कि तू पार्थिव-पूजन अर्थात् मिट्टी का लिङ्ग बानकर पूजा किया कर, पर माता मना किया करती थी कि वह प्रातःकाल ही भोजन कर लेता है इसलिए इससे यह पूजा नहीं हो सकेगी। परन्तु पिता जी के हठ के कारण वह उसने करनी आरम्भ कर दी थी। पिता जी ने उसे इस शिवपूजा की नियम-विधि-व्यवस्था की भी शिक्षा दी थी। शिवपूजा के लिए भिन्न-भिन्न उपासना, व्रतधारण और उपवासादि की जानकारी भी उसे दे दी गई थी। इस प्रकार वह दस वर्ष की अवस्था में ही शिवपूजन करने लगा था। पिता कर्शनजी तिवारी अपने इस बालक मूलशङ्कर को कुछ-कुछ व्याकरण का विषय और वेदों का पाठमात्र भी कराया करते थे। इस प्रकार चौदहवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक अर्थात् गुजराती संवत् १८९४ के अन्त तक यजुर्वेद संहिता सम्पूर्ण और शेष अन्य तीनों वेदों के चयनित अंशों का भी पाठ पूरा हो गया था। शब्द-रूपावली आदि छोटे-छोटे व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गए थे। पिता जी जहाँ-जहाँ शिव पुराणादि की कथा होती थी, वहाँ-वहाँ वे बालक मूलशङ्कर को भी अपने साथ ले जाकर उसे सुनवाया करते थे। इस समय तक मूलशङ्कर की एक और छोटी बहन प्रेमबा का जन्म गुजराती संवत् १८९४ में कभी हो चुका था। बालक मूलशङ्कर के घर में भिक्षा की आजीविका नहीं थी क्योंकि उसके पिता जी जमींदार थे और वे लेन-देन से अपनी आजीविका चलाते थे।[१३]

---

के और जन्म वा गर्भ के बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें।' –**संस्कारविधिः** (उपनयन संस्कार प्रकरण)

१२- सोने के तीन तार वाले यज्ञोपवीत का विधान अथर्ववेद (५/२८/१) में इस प्रकार है-

**नव प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।**
**हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि।।**

'प्राचीनकाल में धातुओं के तारों से बने हुए यज्ञोपवीत को भी पहिनने की परिपाटी थी। सोने के तीन, चाँदी के तीन और लोहे के तीन तारों से युक्त यज्ञोपवीत सौ वर्ष की दीर्घायु के लिए होता है।'

–**पं॰ श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर** कृत **'दीर्घायु कैसे प्राप्त हो'** पुस्तक की भूमिका

१३-'कर्शन जी के परिवार में सांसारिक दृष्टि से किसी प्रकार की कमी वा क्लेश नहीं था, क्योंकि वह स्वयं धनशाली व्यक्ति थे। उनका लेन-देन का कारबार था। परन्तु यह कारबार परिमित धनराशि पर निर्भर न था। पोपट रावल के घर में कर्शन जी के लेन-देन का बहीखाता विद्यमान है, उसके देखने से विदित हुआ कि वह एक समय में कई-कई सहस्र रुपया दूसरों को ऋण दे सकते थे।'

–**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र** (भाग-१, पृष्ठ-४१)

## मूलशङ्कर का शिवरात्रि व्रत

मूलशङ्कर को उसकी चौदहवीं वर्ष की अवस्था में अर्थात् गुजराती संवत् १८९५ वि० में १२ फरवरी, १८३९ ई० (मङ्गलवार) को उसके पिता जी ने शिवरात्रि का व्रत रखने के लिए आदेशित किया कि इसके लिए उसे कठोर उपवास करना है। परन्तु माता ने इसका प्रतिवाद किया जिससे माता और पिता में परस्पर कलह उत्पन्न हो गई थी। अन्ततः माता जी को इस प्रकरण में अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी थी जिससे मूलशङ्कर को व्रत धारण करना ही पड़ा था। इस व्रत के सम्बन्ध में अपने पिता जी से पूछने पर उन्होंने मूलशङ्कर को बताया था कि 'शिवरात्रि में चार प्रहर तक जागते हुए चार बार (प्रथम प्रहर में दूध के द्वारा, द्वितीय प्रहर में दधि के द्वारा, तृतीय प्रहर में घृत के द्वारा और चतुर्थ प्रहर में मधु के द्वारा) पूजा करने से शिव जी स्वयं आकर दर्शन देंगे।' अतः मूलशङ्कर परम श्रद्धा-भक्ति के साथ इस पूजा को करने के लिए तैयार होकर जगत् के प्रलयकर्ता शिवजी के दर्शन के लिए लालायित हो गया था।

मूलशङ्कर के पिता जी एक जन्मजात् कट्टर शैव ब्राह्मण थे और माता जी जन्मजात् एक कट्टर विष्णु भक्त ब्राह्मणी थीं। गुजरात प्रान्त के महाराष्ट्र के शासनाधीन होने से, वहाँ महाराष्ट्र प्रान्त के सर्वप्रधान धर्म शैव मत का व्यापक प्रचार-प्रसार था। वीठल रामदेव जी ने सारे गुजरात प्रान्त में ही सैकड़ों शिव मन्दिरों की स्थापना की थी। मूलशङ्कर के पिता जी ने भी डेमी नदी के किनारे एक ऐसा ही बड़ा शिव मन्दिर बनवाया था।[१४]

मूलशङ्कर के पूर्वजों ने कुल के नियम बना रक्खे थे कि उनके कुल में जन्म लेने वाले पुत्रों को पाँच वर्ष की आयु में देवनागरी अक्षरों का परिचय, वर्णमाला का लेखन और पठन की शिक्षा पूरी होनी चाहिए। आठ वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत संस्कार होने के साथ ही वेदाध्ययन और मृण्मय-शिवलिङ्ग पूजा का अभ्यास भी शुरू होना चाहिए। चौदह वर्ष की आयु में शिव-चतुर्दशी के उपलक्ष्य में व्रतधारण करके शिवपूजा की दीक्षा लेनी चाहिए। कर्शन जी तिवारी इस कुल परम्परा के अनुसार ही अपने पुत्र मूलशङ्कर का धार्मिक जीवन निर्मित करना चाहते थे परन्तु उसकी माता जी ने इसमें यह कहकर बाधा डाल दी थी कि चौदह वर्ष की अवस्था में शिवपूजा का उपवास रखना बालक मूलशङ्कर के लिए बहुत ही कष्टदायक होगा। परन्तु पिता जी ने शिव-चतुर्दशी के व्रत धारण के महात्म्य को त्रयोदशी के दिन ही अर्थात् माघ कृष्णा १२[१५] सोमवार ११ फरवरी, १८३९ ई० को दिन में सुनवा दिया था जो उसे बहुत ही रुचिकर लगा था। अतः वह व्रतधारण और सहर्ष दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गया था। इस योग्य उसकी चौदह वर्ष की अवस्था भी हो गई थी।

अतः अगले दिन शिव चतुर्दशी की रात्रि में अर्थात् मङ्गलवार दिनाङ्क १२ फरवरी, १८३९ ई० को ही टङ्कारा कस्बे के बाहर डेमी नदी के किनारे कर्शन जी तिवारी द्वारा निर्मित शिव मन्दिर में पूजा करने और दर्शन करने के लिए बहुत से रईस और उनके पुत्र तथा अन्य जन समुदाय एकत्रित हो गया था। अपने पिता जी के साथ बालक मूलशङ्कर भी वहाँ पहुँच गया था। इस प्रकार सभी ने व्रतधारण किया। अब पूजा और दीक्षा लेनी बाकी थी। बालक मूलशङ्कर ने भी प्रथम प्रहर की पूजा की। दूसरे प्रहर की पूजा करके पुजारी लोग बाहर निकल करके सो गए। पर चूँकि मूलशङ्कर ने पहले से ही यह सुन रखा था कि सोने से पूजा का फल नहीं होता है, इसलिए वह शिव जी के

---

१४- 'यद्यपि यह देवालय बड़ा नहीं है, परन्तु टङ्कारा में प्रायः हर घर में छोटे-छोटे देवालय हैं, उनकी तुलना में यह बड़ा है। अनन्तर इस देवालय के आस-पास और भी देवालय बन गए हैं, परन्तु उस समय यही एक देवालय था। इसके चारों ओर खुला स्थान है। शिवरात्रि में इसी देवालय में ही शिवार्चना की थी।' -**पं० युधिष्ठिर मीमांसक**

१५- गुजरात में अमान्त मास की व्यवस्था प्रचलित होने से वहाँ शिवरात्रि का यह पर्व माघ मास के कृष्ण पक्ष में मनाया जाता है।

दर्शन की लालसा में अपनी आँखों पर जल के छींटे मारमार कर भी जागता रहा यहाँ तक कि उसके पिता जी भी सो गए। अन्य व्रतधारी और पुजारी भी एक-एक करके सो गए थे, तब मूलशङ्कर को शङ्का हुई कि जिसकी उसने कथा सुनी थी, क्या यह यही शिव है वा कोई अन्य? क्योंकि वह तो मनुष्य की तरह एक देवता है जो बैल पर चढ़ता, चलता-फिरता, खाता-पीता, हाथ में त्रिशूल धारण करता, डमरू बजाता, वर और शाप देता और कैलाश का मालिक है, इत्यादि प्रकार का महादेव कथा में सुना था। पर जब वह बालक मूलशङ्कर को वैसा नहीं लगा तो उसने अपने पिता जी को जगाकर पूछा कि यह कथा का महादेव है वा कोई दूसरा? तब बालक के पिता जी ने मूलशङ्कर से कहा कि तू ऐसा क्यों पूछता है? तब मूलशङ्कर ने कहा कि कथा का महादेव तो चेतन है, पर यह तो अपने ऊपर चूहों को चढ़ने दे रहा है जो उसके ऊपर चढ़कर उछलकूद करते, उस पर विष्ठा और पेशाब करते तथा चढ़ावा तक खा रहे हैं? तब उसके पिता जी ने कहा कि कैलाश पर जो महादेव रहते हैं, उसकी मूर्ति बना और उसमें उस महादेव की भावना करके पूजन करने से कैलाश के महादेव प्रसन्न हो जाते हैं। पिता जी से ऐसा सुनकर बालक मूलशङ्कर का चित्त खिन्न और मन संशयग्रस्त हो गया। इस समय उसे जोर की भूख भी लग रही थी, अत: पिता जी को कहकर वह घर जाने के लिए उद्यत हो गया। तब उसके पिता जी ने सिपाही के साथ उसे घर जाने की आज्ञा दे दी और कहा कि घर जाकर भी भोजन न करना। परन्तु मूलशङ्कर ने घर पहुँच कर अपनी माता को कहा कि उसे बहुत भूख लगी है। तब माता जी ने उसे कुछ मिठाई लाकर खाने के लिए दे दी जिसे खाकर वह रात्रि में एक बजे सो गया और सबेरे देर से उठा। उठने पर मूलशङ्कर ने देखा कि उसके माता-पिता में प्रचण्ड झगड़ा हो रहा है। इससे वह भयभीत होकर रोने लगा। उसके पिता जी भी उसके अकल्याण से भयभीत होकर रोने लगे। कर्शनजी भी भूखे थे परन्तु वे अपनी भूख की अवस्था में ही घर से बाहर चले गए। जाते समये वे एक सिपाही को भी अपने साथ लेते गए।

बालक मूलशङ्कर के व्रतभङ्ग का प्रायश्चित क्या है, इसका विधान जानने के लिए टङ्कारा से दो कोस की दूरी पर एक स्मृति-शास्त्र के पण्डित के पास उसके पिता जी पहुँच गए जिसने अगल-बगल के कुछ अन्य पण्डितों से परामर्श करके यह व्यवस्था दी कि 'यह महापाप उस नाबालिग लड़के को नहीं, अपितु आप उसके पिता को ही लगा है। पुराण के पूजा-धर्म की अवज्ञा की गई है, इसके लिए एक ही प्रायश्चित है कि आपके घर में एक-एक करके एक-एक दिन १८ पुराणों और १८ उपपुराणों का पाठ हो, पाठक ब्राह्मणों के भोजन और दक्षिणा की व्यवस्था हो।[१६]' यह भी तय हो गया कि आगामी शुक्लपक्ष की द्वितीया तिथि से ही पुराणों का यह पाठ होगा। तब बालक के पिता जी ने पण्डितों के हाथ से पानी पीकर अपने उपवास का पारण कर लिया था।

बाद में कर्शनजी तिवारी डेमी नदी में स्नान करके १३ फरवरी, १८३९ ई० को सायंकाल घर पर वापस लौटे और सबको प्रायश्चित का विवरण सुना दिया। इस प्रायश्चित्त का नाम 'महापापघ्न' प्रायश्चित्त है।

अगले दिन १४ फरवरी, १८३९ ई० (गुरुवार) को अमावस्या के दिन मूलशङ्कर के घर पर ३६ पुराणपाठी ब्राह्मणों का आगमन हुआ। सङ्कल्प-पाठ के साथ उन सबका वरण किया गया और भोजन करवाके दक्षिणाएँ दी गईं। तृतीय दिवस फाल्गुन शुक्ला द्वितीया तिथि से अर्थात् १६ फरवरी, १८३९ ई० (शनिवार) से पुराण-पाठ आरम्भ होना था। तब बालक

---

१६- पण्डितों ने पुराणपाठ की यह व्यवस्था याज्ञवल्क्य-स्मृति के निम्न श्लोक के परिपालन में दी प्रतीत होती है-

**देशं कालं वय: शक्तिं पापं चावेक्ष्ययत्नत:।**

**प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यंस्याद् यत्रचोक्तानिष्कृति:।।**

अर्थात् जिस अपराध पर धर्मशास्त्र में कोई प्रायश्चित नहीं कहा गया हो, वहाँ देश, काल, अवस्था, शक्ति और पाप का तारतम्य देख सोच-विचार के सामयिक विद्वान् लोग नए प्रायश्चित्त की कल्पना कर लें।

मूलशङ्कर ने पण्डितों से जाकर पूछा कि 'मैं भी तो पुराण-पाठ सुन सकूँगा?' पण्डितों ने इसकी उसे सहर्ष स्वीकृति दे दी। एक वृद्ध पण्डित ने मूलशङ्कर को आशीर्वाद दिया- 'वत्स! तुम यशस्वी बनो।' पिता जी ने पण्डितों से प्रार्थना की कि 'पुराणों के अश्लील अंशों को छोड़ दिया जाय।' अतः पण्डितों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया था।

तीसरे दिन से अर्थात् १६ फरवरी, १८३९ ई० से यह पुराण-पाठ आरम्भ हो गया। इसका क्रम इस प्रकार रहा था-

प्रथम ६ दिन सात्विक महापुराणों का पाठ हुआ। यथा- (१) विष्णु पुराण, (२) भागवत पुराण[१७], (३) नारदीय पुराण, (४) गरुड़ पुराण, (५) पद्म पुराण और (६) वराह पुराण। दूसरे ६ दिन राजसिक पुराणों का पाठ हुआ। यथा- (१) ब्रह्म पुराण, (२) ब्रह्माण्ड पुराण, (३) ब्रह्मवैवर्त पुराण, (४) मार्कण्डेय पुराण, (५) भविष्य पुराण और (६) वामन पुराण। तीसरे ६ दिन तामसिक पुराणों का पाठ हुआ। यथा- (१) शिव पुराण, (२) लिङ्ग पुराण, (३) स्कन्द पुराण, (४) अग्नि पुराण, (५) मत्स्य पुराण और (६) कूर्म पुराण। शेष १८ दिनों में १८ उपपुराणों का पाठ हुआ। यथा- (१) सनत्कुमार पुराण, (२) नृसिंह पुराण, (३) वायु पुराण, (४) शिवधर्म पुराण, (५) आश्चर्य पुराण, (६) नारद पुराण, (७) नन्दिकेश्वर पुराण, (८) उशना पुराण, (९) कपिल पुराण, (१०) वरुण पुराण, (११) साम्ब पुराण, (१५) देवी पुराण, (१६) पराशर पुराण, (१७) मरीची पुराण और (१८) सौर पुराण[१८]।

प्रतिदिन पुराण-पाठक को एक मुहर, एक वस्त्र, एक लोटा और दक्षिणा के साथ भोजन कराया जाता था। ३६ दिन के बाद दूसरे दिन अर्थात् २४ मार्च, १८३९ ई० को ३६ पुराण-पाठी पण्डितों ने एकत्रित होकर दक्षिणा के साथ भोजन किया और सबको आशीर्वाद दिया। कर्शन जी तिवारी उस दिन महापाप से मुक्त होकर प्रसन्न थे। बालक मूलशङ्कर भी ३६ दिनों तक अपने पिता के पास बैठकर प्रातः सायं नियमित रूप से पुराणों की कहानियाँ सुनता रहा था[१९]। इनमें कर्शन जी के निर्देशानुसार पुराणों के अश्लील अंशों को छोड़ दिया जाता था, उनका केवल उल्लेखमात्र ही कर दिया जाता था। जैसे गोपियों के वस्त्र-हरण या रासलीला या शिवजी का मोहिनी मूर्ति धारण या कार्तिकेय का जन्म लाभ इत्यादि। इस रूप में कर्शन जी ने अपने कुल-धर्म की रक्षा की थी और मूलशङ्कर ने पुराणों का रहस्य जान लिया था जिससे वह उनका सदैव के लिए विरोधी बन गया था।

आगे के लिए मूलशङ्कर ने अपने चाचा जी को यह सारी कथा कह सुनाई थी कि अध्ययन के कारण उससे ~~ऐसे उपवास आदि भविष्य में नहीं हो~~ सकेंगे सो उन्होंने भी कर्शन जी को समझा दिया था।

१७- आप आश्चर्य करेंगे कि पूरा-पूरा भागवत जिसमें १८ हजार श्लोक हैं, लेकिन उसे एक दिन में पढ़ने वाले लोग विद्यमान हैं। एकादशी के दिन नेपाल के सज्जन हैं, एक नहीं अनेक; जो प्रातःकाल बैठते हैं और रात्रि में १० बजते-बजते पूरा पाठ कर डालते हैं। बताइए, जिस भागवत को कहने और पढ़ने में हमें कितना समय लगता है, उसको एक दिन में २४ घण्टे के भीतर ही पूरा करने वाले लोग आज भी विद्यमान हैं।

-**पं० बलदेव उपाध्याय** (काशी) का ८ मई १९८५ ई० के साक्षत्कार के समय का कथन।

१८- पुराणों की यह नामावली **पौराणिक कोष** (राणाप्रसाद शर्मा कृत, वाराणसी ज्ञान मण्डल लिमिटेड, प्रथम संस्करण सं० २०२८ वि०) के पृष्ठ ३१२-३१३ से मेल खाती है। परन्तु इसी पुस्तक के पृष्ठ ६२ पर उपलब्ध उपपुराणों की सूची में कुछ भिन्नता है। भिन्न पाँच उपपुराण ये हैं- दुर्वासा, मानव, आदित्य, भार्गव, वाशिष्ठ, जबकि इनके स्थान पर उपर्युक्त विवरण में वायु, आश्चर्य, कल्कि, देवी एवं मरीची उपपुराणों के नाम हैं।

१९- पिता जी जहाँ-जहाँ शिवपुराणादि की कथा होती थी, वहाँ-वहाँ मुझको पास बैठाकर सुनाया करते थे।

-**महर्षि दयानन्द सरस्वती** की '*अपने जन्मचरित्र*' में स्वीकारोक्ति

## मूलशङ्कर की अगली शिक्षा

प्रायश्चित के बाद मूलशङ्कर के पिता ने उसकी अगली शिक्षा पर ध्यान दिया जो स्वयं एक वेदज्ञ पण्डित थे। उनसे मूलशङ्कर ने पहले शुक्ल यजुर्वेद के सब के सब मन्त्र पढ़कर कण्ठस्थ कर लिए थे। यद्यपि उसके परिवार के लोग सामवेदी ब्राह्मण थे, किन्तु सस्वर सामवेद पढ़ाने के लिए ब्राह्मणों की अनुपलब्धता के कारण उनमें शुक्ल यजुर्वेद पढ़ने की रीति प्रचलित हो गई थी। कर्शन जी ने मूलशङ्कर को चौदह वर्ष की आयु में वेदाङ्ग पढ़ाने के लिए छः पण्डित नियुक्त कर दिए थे। इनसे मूलशङ्कर ने लगातार चार वर्षों तक क्रमशः (१) याज्ञवल्क्य की शिक्षा, (२) कात्यायन का कल्प, (३) भट्टोजि दीक्षित का व्याकरण, (४) यास्क का निरुक्त, (५) पिङ्गल का छन्दः और (६) पाराशर के ज्योतिष का अध्ययन किया था। इनके साथ-साथ जैमिनि का पूर्व-मीमांसा-दर्शन और धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्र अध्ययन के लिए एक याज्ञिक और आहिताग्नि मराठी पण्डित को भी कर्शन जी ने नियुक्त कर दिया था। इन सबका अध्ययन करते हुए मूलशङ्कर गुजराती संवत् १८९९ में १८ वर्ष का हो गया था।[२०] इसी अध्ययन के दौरान गुजराती संवत् १८९७ में कभी मूलशङ्कर के सबसे छोटे भाई नवलशङ्कर का जन्म उसकी वय के सोलहवें वर्ष में हो चुका था। इस समय तक मूलशङ्कर अपने माता-पिता का १८ वर्षीय ज्येष्ठ पुत्र था। उससे छोटी १४ वर्ष की एक बहन, उससे छोटा १० वर्ष का एक भाई था और उससे भी छोटी पाँच वर्षीया एक बहन तथा सबसे छोटा दो वर्ष का एक भाई और था। इस प्रकार कुल मिलाकर मूलशङ्कर के माता-पिता के पाँच सन्तान थे। मूलशङ्कर इन सबसे बड़ा और उसके पीछे जन्मे दो भाई और दो बहनें उससे छोटी थीं।

मूलशङ्कर के माता-पिता दोनों नातिदीर्घ देह वाले और गौरवर्ण के थे। पिता कर्शन जी तिवारी तेजस्वी और कोमल हृदय वाले थे। माता सरल, सीधी-सादी एक सन्नारी थी। ये दोनों ही धर्मभीरु थे। माता की मिष्टभाषा और मिष्टाचरण से सब भाई-बहन मुग्ध रहते थे। मूलशङ्कर की माता जी ने इन सब भाई-बहनों को रसोई बनाना सिखा दिया था और उनके पिता जी ने भी दण्ड, बैठक लगाना और कुश्ती लड़ना सिखा दिया था।[२१] ब्राह्ममुहूर्त में उठना, यथासमय शौच जाना, नहाना, भगवान की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करना, भोजन करना, विश्राम करना और स्वाध्याय करना भी सिखाया था। रात्रि जागरण नहीं करना, कुसङ्ग नहीं करना, कलह-विवाद नहीं करना; देव, द्विज, अतिथि और गुरुजों के प्रति विनम्र-भाव रखना; प्रणाम नमस्कारादि करना, रोगी की सेवा-शुश्रूषा करना और घर के सभी कार्य अपने हाथों से ही करना- इत्यादि कार्यों का इन सब भाई-बहनों को अभ्यास कराया गया

---

२०- व्याकरण को पढ़के यास्कमुनिकृत निघण्टु और निरुक्त छः वा आठ महीने में सार्थक पढ़ें और पढ़ावें। अन्य नास्तिककृत अमरकोशादि में अनेक वर्ष व्यर्थ न खोवें।

तदनन्तर पिङ्गलाचार्यकृत छन्दोग्रन्थ, जिससे वैदिक, लौकिक छन्दों का परिज्ञान, नवीन-रचना और श्लोक बनाने की रीति भी यथावत् सीखें। इस ग्रन्थ और श्लोकों की रचना तथा प्रस्तार को चार महीने में सीख, पढ़-पढ़ा सकते हैं और वृत्तरत्नाकर आदि अल्प बुद्धि प्रकल्पित ग्रन्थों में अनेक वर्ष न खोवें।....

तदनन्तर पूर्व मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त अर्थात् जहाँ तक बन सके, वहाँ तक ऋषिकृत व्याख्या सहित अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्यायुक्त छः शास्त्र को पढ़ें-पढ़ावें। -**सत्यार्थप्रकाश** (तृतीय समुल्लास)

२१-यहाँ जिन भाई-बहनों का उल्लेख है, वे प्रायः मूलशङ्कर के अपर भाई-बहन ही हैं क्योंकि मूलशङ्कर के एक भाई और एक बहन को छोड़कर अन्य दो छोटे भाई-बहन ऐसे नहीं हुए थे जो भोजन पका सकें तथा कुश्ती लड़ सकें। इन्हीं अपर भाई-बहनों की दृष्टि से अपने पूना-प्रवचन में स्वामी दयानन्द ने ४ अगस्त, १८७५ ई० को कहा था कि *'मेरे घराने में अब पन्द्रह घर हो गए होंगें।'*

था। मूलशङ्कर के पिता जी मसालेदार तम्बाकू पीते या तम्बाकू वाला पान खाते थे। लेकिन उन्होंने अपने इन सब बच्चों को इनका निषेध कर रक्खा था। मूलशङ्कर की माता जी सब बच्चों को रामायण-महाभारत की कहानियाँ सुनाया करती थीं। इस प्रकार इन सबका पारिवारिक जीवन सुख और शान्ति के साथ बीतता था।

## मूलशङ्कर का अपने कुछ परिजनों की मृत्यु से साक्षात्कार

मूलशङ्कर की ९ वर्ष की आयु में उसके पितामह लालजी तिवारी की मृत्यु गुजराती संवत् १८९० में हो गई थी। इस समय जब सभी परिजन विलाप करने लगे तब मूलशङ्कर भी रोया था, परन्तु उसे मृत्यु के विषय में कोई ज्ञान नहीं था। इसके बाद उसकी १८ वर्ष की वय में उसकी जो १४ वर्षीया छोटी बहन रत्नबा थी उसको भी हैजा हुआ। उस समय कहीं रात्रि में नाच हो रहा था। मूलशङ्कर अपने कुछ परिजनों के साथ उसे देखने में तल्लीन था। तभी उसके घर से आकर एक सेवक ने इसकी सूचना दी। तब सब लोग नाच देखना छोड़कर तत्काल घर पर पहुँचे और वैद्यादि को बुलाकर उसका औषधोपचार कराया, परन्तु चार घण्टे के अथक प्रयास के बाद भी उसकी वह बहन नहीं बचाई जा सकी। तब जब सभी परिजन रोने लगे तो मूलशङ्कर के हृदय को ऐसा धक्का और भय लगा कि इसी प्रकार वह भी एक न एक दिन मर जाएगा। इससे उसे रोना नहीं आया क्योंकि इस समय वह केवल यह सोच रहा था कि उसकी बहन कहाँ किसके पास चली गई है? उसने लोगों से जब इसके बारे में पूछा तो उन्होंने उसे कहा कि 'तुम्हारी बहन प्रेत हो गई है। तुम एकाकी कहीं नहीं जाना, वह तुमसे भेंट कर सकती है।' इस निषेध के बाद भी मूलशङ्कर उसकी खोज में एकाकी भ्रमण करने लगा। वह डेमी नदी के किनारे श्मशान भूमि पर जाकर वहाँ घण्टों बैठा रहता और नाम ले-लेकर उसे जोर-जोर से पुकरता रहता था। लेकिन उसे उसकी इस चीख-पुकार का कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता था। आगे श्राद्ध के दिन जब उसके पिता ने उसका पिण्डदान कर दिया तब अन्यों ने उससे कहा कि अब उसकी बहिन का उद्धार हो गया है। अब कभी उससे तुम्हारी भेंट नहीं हो सकेगी। यह सब सुनकर मूलशङ्कर रो पड़ा था। उसका यह रोना रुक नहीं रहा था, क्योंकि उसे अब तक यह समझ आ चुका था कि अब उसकी उससे कभी भेंट नहीं हो सकेगी।

अगले एक वर्ष बाद ही मूलशङ्कर की १९ वर्ष की अवस्था में उससे अति स्नेह करने वाले उसके धर्मात्मा और विद्वान् चाचा की भी गुजराती संवत् १९०० में मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु से मूलशङ्कर को मृत्यु का स्वाभाविक और अवश्यम्भावी स्वरूप स्पष्ट हो गया था जो जीवन भर के लिए दृढ होकर उसके हृदय में बैठ गया कि मृत्यु के साथ ही साथ यहाँ का सब कुछ समाप्त हो जाता है। 'मृत्यु से बचने के लिए कोई उपाय है कि नहीं?'-यह पूछने पर सभी ने उसे कहा था कि 'योगविद्या ही एकमात्र उपाय है जिससे मनुष्य जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूट सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।' इससे मूलशङ्कर का मन योगविद्या और योगियों के प्रति आकृष्ट हो गया था। अत: जब उसने अपने पिता जी से यह पूछा कि 'योगविद्या कहाँ और किससे मिलती है?' तब इस प्रश्न को सुनकर मूलशङ्कर के पिता घबरा गए। उन्होंने उसे कुछ जबाव नहीं दिया, अपितु उसकी माता जी को कह दिया कि उस पर कड़ी नजर रक्खो, उसके लक्षण अच्छे नहीं हैं। फिर मूलशङ्कर योग और योगियों के बारे में स्थानीय पण्डितों, ज्ञानियों और साधुओं से पूछताछ करने लगा। इस समय तक वह २० वर्ष का हो चुका था जब उसे निर्जन स्थानों में एकाकी विचरण करना अच्छा लगने लगा था, भीड़-भाड़ अच्छी नहीं लगती थी।

## अग्रिम शिक्षा के लिए मूलशङ्कर का काशी भेजने का निवेदन

मूलशङ्कर ने अपने जीवन के इक्कीसवें वर्ष में अपने पिता जी से निवेदन किया कि 'मुझे काशी भेज दीजिए ताकि मैं व्याकरण, ज्योतिष और वैद्यक आदि सीख-पढ़ आऊँ?' तब उसके पिता जी और अन्य कुटुम्बी जनों ने

उससे कहा कि 'जो कुछ पढ़ना हो वह सब यहीं पढ़ो, इसके लिए हम तुम्हें काशी नहीं भेजेंगे, क्योंकि अगले साल तुम्हारा विवाह भी होना है[२२]।' उनका उसे कहना था कि 'अधिक पढ़ाकर हमें क्या करना है, अब जितना पढ़ लिया है, उतना ही पर्याप्त है।' इस पर उसने पुनः निवेदन किया कि जब काशी पढ़कर आ जाऊँ, तब ही विवाह होना ठीक है। अपने ज्येष्ठ पुत्र का ऐसा निश्चय जानकर उसकी माता जी भी विपरीत हो गई और कहने लगीं कि हम तुम्हें काशी कदापि नहीं भेजेंगे और अभी ही तुम्हारा विवाह करेंगे। तब मूलशङ्कर ने सोचा कि अब इन सबके सामने रहना अच्छा नहीं है। उधर मूलशङ्कर के पिता जी के बन्धुओं ने भी उन्हें परामर्श दिया कि 'अब देर नहीं करना चाहिए, लड़के का विवाह कर दो, नहीं तो फिर पश्चाताप करना पड़ेगा, लड़का संन्यासी बनने वाला है।' माता-पिता को उनका यह परामर्श अच्छा लगा, अतः मूलशङ्कर के लिए एक अच्छी लड़की ढूँढने के लिए जगह-जगह परिचितों को पत्र लिखे गए। फलस्वरूप मूलशङ्कर को देखने और पूछताछ करने के लिए भी लोग आने लगे।

मूलशङ्कर ने अपने पिता जी से अति विनीत भाव से पुनः निवेदन किया कि 'मेरा अध्ययन अभी तक असम्पूर्ण ही है, अतः विवाह के प्रश्न को अभी कुछ समय टाले रखना ही उचित होगा क्योंकि अभी तक मेरा उपनिषद् और वेदान्त-दर्शन पढ़ना बाकी है। वेदान्त-दर्शन पढ़ने के लिए काशी ही सर्वोत्तम स्थान है। अतः आप मुझे अनुमति प्रदान करें कि मैं वेदान्त-दर्शन पढ़ने के लिए काशी को चला जाऊँ।' इस प्रस्ताव को सुनकर मूलशङ्कर की माता विलापकर कहने लगीं कि 'काशी साधु-संन्यासियों का स्थान है। मेरा लड़का वहाँ जाकर साधु-संन्यासी बन जाएगा। फिर घर पर कभी वापस नहीं आएगा।' मूलशङ्कर के पिता जी ने भी गम्भीर होकर कहा कि वे उसे काशी नहीं भेजेंगे, क्योंकि यहाँ उनकी जमींदारी और कृषि-व्यापार कर्म की देखभाल कौन करेगा? मूलशङ्कर को भी उनके इस आदेश का उल्लंघन करना कठिन हुआ।

## जमींदारी के एक गाँव में मूलशङ्कर का अध्ययन

कर्शनजी की जमींदारी में तीन कोश की दूरी पर स्थित एक ग्राम में एक प्रसिद्ध पण्डित रहता था, जो मूलशङ्कर के पिता का सुपरिचित भी था। अतः मूलशङ्कर ने उससे वेदान्त पढ़ने का अपना प्रस्ताव अपने पिता के सम्मुख रखा। कर्शन जी ने कुछ सोच-विचार करके इसकी उसे स्वीकृति दे दी। अतः मूलशङ्कर वहाँ उन पण्डित जी से वेदान्त पढ़ने के लिए पहुँच गया। अब उसके माता-पिता दोनों यह समझकर निश्चित हो गए कि इससे कम से कम काशी जाने का विचार तो स्थगित हो गया। मूलशङ्कर भी वहाँ जाकर मनोयोग पूर्वक उन पण्डित जी से वेदान्त पढ़ने लगा। ऐसा करते हुए ही जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, बन्धन-मुक्ति, वासना-कामना, आसक्ति-अनासक्ति आदि विषयों पर आलोचना करते समय मूलशङ्कर के मुख से अचानक यह निकल गया कि 'मैं विवाह नहीं करूँगा।' इस बात को सुनकर उन पण्डित जी ने मूलशङ्कर के पिता जी को इस बात की सूचना दे दी।

## मूलशङ्कर के विवाह की अन्तिम चर्चा

मूलशङ्कर के विवाह न करने के निश्चय की सूचना पाकर उसके पिता जी ने टङ्कारा से एक नौकर उसके पास इस आदेश के साथ तत्काल भेज दिया कि 'तुम एक मुहूर्त के लिए भी अब वहाँ नहीं ठहरो और तुरन्त घर आ जाओ।' इस आदेश को पाकर मूलशङ्कर अपने गुरुजी के साथ अपने पिता के सम्मुख आकर उपस्थित हो गया।

२२- मूलशङ्कर के पिता का विवाह भी उनकी २१ वर्ष की वय में ही हुआ था। अतः उनके ज्येष्ठ पुत्र मूलशङ्कर का विवाह भी उसकी इसी वय में करने का निश्चय परिवारी जनों का था।

मूलशङ्कर के पिता जी ने दु:खित होकर तब उसके गुरुजी से कहा कि 'अति शैशव में मेरे इस हतभाग्य पुत्र को आभूषणों की लालसा में नौकरानी इसे डेमी नदी में फेंक देने वाली थी किन्तु आभूषणों सहित इसे घर पर छोड़कर वह सदैव के लिए चली गई। दो वर्ष की उम्र में फिर उन्हीं आभूषणों की लालसा में चोर इसको चुराकर कहीं ले गए और दो दिन बाद आभूषणों को अपने पास रखकर इसे घर पर छोड़ गए थे।[२३] मानों भगवान् इसको अपने माता-पिता से अलग नहीं करना चाहता था। हर्ष के कारण हमने तब इसके शरीर के वजन के तुल्य सोने-चाँदी का दान, ब्राह्मण-भोजन, पूजा-पाठ, हवन-यज्ञादि कराया था। लेकिन इस निष्ठुर पुत्र में हम माता-पिता दोनों के प्रति दया का लेशमात्र भी नहीं है। अत: अब से हम इसको कभी घर से बाहर नहीं रखेंगे। इसका विवाह निश्चित हो गया है, लेकिन सुनते हैं कि वह नहीं करेगा और किसी दिन घर छोड़कर संन्यासी हो जाएगा। हमारे लिए यह असहनीय होगा। इसको छोड़कर हम दोनों माता-पिता जीवित नहीं रह सकेंगे।'

मूलशङ्कर की माताजी ने भी गुरुजी से कहा था कि 'इसके विवाह के लिए कन्या के पिता को वचन दे दिया गया है। लड़की रूपवती, गुणवती और सुशीला है। अब कन्या अरक्षणीया हो गई है। विवाह के लिए एक महिने का और समय ले लिया गया है। इस महिने के अन्दर ही इसका विवाह करना जरूरी है।'

माताजी ने मूलशङ्कर से कहा कि 'बेटे! तुमने बहुत कुछ पढ़ लिया है। अब और अधिक पढ़ने की जरूरत ही क्या है? हमारे घर में किसी वस्तु का अभाव नहीं है।'

फिर कर्शनजी ने कहा कि 'इसके अन्दर बचपन में ही परलोक की चिन्ता आ गई थी। मेरे घर पर जो भी साधु-संन्यासी, भिक्षुकादि आते थे, उनसे यह पूछा करता था कि मरने के बाद मैं क्या बन जाऊँगा? पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि भी मरने के बाद क्या बन जाते हैं? सो यदि तुम लोग नहीं बताओगे तो मैं स्वयं ही मरकर जान लूँगा।' एक दिन इसने इस बात को जानने के लिए लड़कपने में अपने वस्त्रों में आग लगा ली थी। लेकिन तब यह भगवत्कृपा से बच गया था। आज यह हम सबको फिर छोड़ना चाहता है, लेकिन वह अकेला नहीं जा सकेगा, हम उसके साथ ही साथ जाएँगे। मेरी जमींदारी, धन-दौलत, व्यापार, घर-बार यह सब उसके लिए ही तो है। उसके छोटे-छोटे भाई-बहनों का पालन-पोषण और शिक्षा भी उसके ही जिम्मे है। वह यह सब कुछ ग्रहण करे। मेरी आयु तो अब साठ वर्ष के ऊपर हो गई है[२४]। हम कुछ समय बाद ही काशी जाकर श्री विश्वनाथ जी की शरण में पड़े रहेंगे। वह विवाह कर ले। उसकी विवाहित स्थिति को देखकर ही हम दोनों शान्ति से मर सकेंगे।'

कर्शन जी यह सब कहते-कहते रोने लगे। माता भी रोने लगी। मूलशङ्कर अपने आँसुओं को रोककर और अपनी स्थिति को सम्हालते हुए अगले तीन दिनों तक घर में ही रहा। माता-पिता के वचनों को उसने धीर, स्थिर और शान्त भाव से सुन लिया था, लेकिन उसके शिर पर तो मानों वज्रपात ही हो गया था क्योंकि उसके अन्दर घर-बार छोड़ने के लिए वैराग्य भाव अत्यन्त प्रबल हो गया था। अपने पितामह, बहन और चाचा की मृत्यु के

२३- सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण-कर्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने, चाँदी, माणिक, मोती, मूँगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि का भय तथा मृत्यु का भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादिकों का मृत्यु दुष्टों के हाथ से होता है। -**सत्यार्थप्रकाश** (तृतीय-समुल्लास)

२४- इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषि दयानन्द के पिता का जन्म सम्भवत: संवत् (१८८१+२१-६०=१८४२ वि० में हुआ था जैसा कि **'ऋषि दयानन्द की प्रारम्भिक जीवनी'** के अन्वेषक *प्रो० दयालजी भाई आर्य* (प्राध्यापक, आयुर्वेदिक कालेज, जामनगर) ने **वेदवाणी**, जनवरी, १९८६ ई० के पृष्ठ -१४ पर स्वीकार किया है।

दृश्यों ने उसे नया जीवन दिया था। उसने बार-बार पण्डितों से पूछा था कि 'मृत्यु से बचकर अमृतलाभ करने का मार्ग क्या है?' तब सबने उसे यही कहा था कि 'योगविद्या का लाभ, योगियों का उपदेश ग्रहण और तदनुसार साधना करने से ही मुत्यु पर विजय-लाभ होता है।'

अत: मूलशङ्कर सब कुछ छोड़-छाड़कर योगियों की सङ्गति और योगविद्या प्राप्त करके मनुष्य समाज में उसका प्रचार करना चाहता था। इसके लिए वह दृढ़-सङ्कल्पित था। इस समय तक अर्थात् भाद्रपद शुक्ला ९ गुजराती संवत् १९०२ वि० {तदनुसार ३१ अगस्त, १८४६ ई० (सोमवार)} तक वह २१ वर्ष का हो गया था।

मूलशङ्कर ने बहुत शान्त भाव से अपने माता-पिता को कह दिया था कि 'मैं विवाह नहीं करूँगा। मेरे और भी दो भाई हैं, आप लोग उन पर ही अपनी आशा रखिए, घर में रहना अब मेरे लिए कठिन है।'

इस समय मूलशङ्कर के गुरु जी ने उसके माता-पिता को कहा था कि 'आप लोग इस पर कड़ी दृष्टि रक्खें, धीरे-धीरे इसकी बुद्धि ठीक हो जाएगी।' अत: उसके पिता जी ने उस पर निगरानी रखने के लिए रक्षक नियुक्त कर दिया। फिर माता-पिता ने उसे संसार-धर्म का उपदेश दिया परन्तु मूलशङ्कर अपने निश्चय पर अटल बना रहा। मूलशङ्कर की माता ने उसके मन को पिघलाने के लिए उसकी मंगेतर और उसकी माता को भी बुलवा लिया [२५]। तब इन लोगों ने उसे कुछ आभूषण उपहार में दिए थे। पर उसने बहुत विनम्रता के साथ उन आभूषणों को उन्हें वापस कर दिया था और नमस्कार करके कन्या तथा उसकी माता को कह दिया था कि 'आप लोग मेरे जीवन के व्रत-साधन में बाधा न डालें अपितु हमें इसमें सफलकाम होने के लिए आशीर्वाद देवें।' इस प्रकार विवाह का यह प्रसङ्ग मूलशङ्कर की ओर से समाप्त हो गया था।

---

२५- 'जब वे समक्ष हों, तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता-पिता आदि भद्रपुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें, सो भी सभा में लिखके एक-दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें। जब दोनों में दृढ़ प्रेम विवाह करने में हो जाय, तब से उनके खानपान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए।'

- **सत्यार्थप्रकाश** (चतुर्थ समुल्लास)

अध्याय-दो

# दिवाकर का विस्तृत आकाश में विचरण

जब मूलशङ्कर ने यह निश्चित जाना कि अब उसके माता-पिता उसका विवाह किए बिना कदाचित् न छोड़ेंगे तब वह गुपचुप उस समय जब उसका रक्षक एक दिन सायंकाल अन्यमनस्क हो रहा था, सदैव के लिए घर छोड़ने के लिए तैयार होकर कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से आरम्भ होने वाले गुजराती संवत् १९०३ वि० (अर्थात् २१ अक्टूबर, १८४६ ई० बुधवार) के बाद शौच जाने के बहाने से नङ्गे पैर निकल पड़ा और 'एक मित्र के यहाँ गया हूँ'- ऐसा सिपाही से घर पर कहला दिया। इस समय मूलशङ्कर के पास पहनी हुई एक ही धोती थी। दोनों हाथों की चार अँगुलियों में चार सोने की अँगूठियाँ थीं। कानों में और हाथों में दो-दो अन्य अलङ्कार भी थे। उसके कपड़े के आँचल में सौ रुपये भी बँधे हुए थे। इस प्रकार वह सदैव के लिए अपने माता-पिता, भाई-बहन, घर-बार को छोड़कर एकमात्र भगवान् के आश्रय ही अपने को सौंपकर अँधेरे में द्रुतगति से डेमी नदी के किनारे-किनारे चलने लगा। लगभग चार कोस चलने के बाद उसने एक छोटे से गाँव के अन्त में नदी के किनारे एक श्मशान घाट देखा। वहाँ एक छोटी सी निर्जन कुटिया थी जिसमें उसने रात्रि-विश्राम के लिए प्रवेश किया। यहाँ वह सारी रात जगा हुआ निश्चिन्त होकर भविष्य की कार्यसूची बनाता रहा। आधी रात बीतने के बाद कई ठग अचानक उस कुटिया में प्रवेश करके उसे सरकारी गुप्तचर समझकर उस पर कटारों से वार करने के लिए उद्यत हो गए। तब उसने उन्हें अपना सही परिचय दिया जिससे उन्होंने उसे पहचान भी लिया और अपने दल में सम्मिलित होने के लिए उसे कहा। परन्तु मूलशङ्कर के इसके लिए तैयार न होने पर उन लोगों ने उसकी अँगुलियों से दो अँगूठियाँ लेकर उसको छोड़ दिया और वटमारी से उन्होंने जो कुछ भी संग्रह किया था, वह सब वहाँ बैठकर परस्पर बाँटकर वे वहाँ से चले गए। जाने से पहले मूलशङ्कर के उनसे यह पूछने पर कि 'योगविद्या सीखने के लिए योगी कहाँ मिलते हैं?' उन्होंने मूलशङ्कर को बताया था कि 'सिद्धपुर के मेले में जाने से वहाँ योगी मिलेंगे।'

दूसरे दिन सबेरा होने पर मूलशङ्कर ने भी अपनी अगली यात्रा आरम्भ कर दी। इस दिन उसने दिन भर में पन्द्रह कोस से भी अधिक का रास्ता पार किया। मार्ग में उसकी जान-पहचान वाला कोई उसे मिल न जाए, इसलिए वह प्रधान-प्रधान मार्गों को छोड़कर मैदान, जंगल आदि निर्जन स्थानों से होकर ही चलता और मार्ग में मिलने वाले मन्दिर आदि पर रुककर कुछ विश्राम और जलपान कर लेता रहा था। रात्रि में वह एक हनुमान मन्दिर में ठहरा।[२६]

तीसरे दिन मार्ग में किसी राजकर्मचारी ने मूलशङ्कर को रोककर उसकी तलाशी ली थी। तब किसी आदमी के यह कहने पर कि 'यह अवधूत साधु है, यह किसी मठ-मन्दिर या आश्रम में नहीं रहता है, केवल मनमाना भ्रमण करता है।' उसके पास जो रुपये थे, कानों और हाथों में जो आभूषण थे, इन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। इसलिए उस राजकर्मचारी ने उसे आगे जाने दिया। इस राजकर्मचारी से मूलशङ्कर को यह भी पता चला था कि एक नव-जवान अपने घर से भागा हुआ है, उसके सन्धान के लिए उसके पिता कई एक अश्वारोही सैनिकों के साथ घूम रहे हैं। मूलशङ्कर को तब यह अनुमान लगाने में देर नहीं लगी कि उसके पिता जी ही उसे इस प्रकार ढूँढने के लिए निकले हुए हैं। अतः उसने समीप के एक श्मशान

---

२६- प्रा० दयाल जी आर्य, जामनगर के मासिक **'वेदवाणी'** (बहालगढ़) के जनवरी, १९८७ ई० के अङ्क में प्रकाशित एक लेख के अनुसार यह हनुमान मन्दिर 'लुण सारिया' गाँव का 'राणी माँ ना हनुमान्' मन्दिर था।

पर जाकर अपने सारे शरीर पर ही भस्म पोत ली ताकि उसकी पहचान सरलता पूर्वक न हो सके। अब उसे चिन्ता केवल अपने पास के अलङ्कारों और रुपयों की ही रह गई थी जिससे उसके मन में इस बन्धन के कारण उद्वेग और अशान्ति बढ़ रही थी।

तभी कुछ समय बाद भिक्षुक-ब्राह्मणों का एक झुण्ड उसे मिला। वे सब मन्त्रपाठ करने के साथ ही साथ उसे आशीर्वाद देने और कहने लगे कि 'बच्चा! कितने दिन से साधु बन गया है? देखने में तो राजपुत्र सा प्रतीत होता है। अरे! कुछ त्याग करना चाहिए। बिल्कुल मुक्त हो जाओगे, शान्ति मिलेगी, दो नावों में पैर मत रक्खो। अलङ्कार, रुपए आदि जो कुछ तुम्हारे पास है, वह सब भगवान् की सेवा में हमको भिक्षा में अर्पण कर दो। हम लोगों ने भी ऐसा ही किया है। भगवान् की सेवा के लिए हम लोग भिक्षा माँगते हैं। तुम भी हमारे साथ सम्मिलित हो जाओ, शान्ति मिलेगी।' चूँकि उनके इस उपदेश का प्रथमांश ही मूलशङ्कर को अच्छा लगा था। अतः उसने अपनी शेष दो अँगूठियाँ और कान तथा हाथों के अलङ्कार तथा सौ रुपये भी उन्हें दे दिए। परन्तु मूलशङ्कर उनके इस झुण्ड में सम्मिलित नहीं हुआ। इससे अब वह अपने को हल्का अनुभव करने लगा।

## सायले शहर में

मार्ग में मूलशङ्कर ने शैलानगर[२७] के अधिवासी लालाभगत[२८] नाम के प्रसिद्ध विद्वान् और योगी के विषय में सुना था। अतः भ्रमण करता हुआ वह उन्हीं की सेवा में पहुँच गया। उनके पास उसने योगसाधना करके अपने शरीर और मन की शुद्धि के लिए कई एक आसनों और मुद्राओं की शिक्षा ली थी। एक दिन उन्होंने उससे कहा कि 'योगी बन जाना या योग- साधना में सिद्धि आदि का लाभ करना मानसिक और शारीरिक स्थिति के अनुसार ही होता है। तुम इस समय किसी आश्रम में नहीं हो। तुम न ब्रह्मचारी, न गृहस्थ, न वानप्रस्थ और न संन्यासी ही हो।' अतः उसे उन्होंने ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश का परामर्श दिया। वहाँ निर्मल चैतन्य नाम के एक ब्रह्मचारी से मूलशङ्कर का परिचय हुआ था। अतः मूलशङ्कर ने उससे ही ब्रह्मचर्याश्रम की दीक्षा देने के लिए प्रार्थना की जिसके लिए वह भी सहमत हो गया।

ब्रह्मचारी निर्मल चैतन्य ने मूलशङ्कर को समझा दिया था कि 'आचार्य शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित चार मठ हैं- हिमालय में जोशी मठ, दक्षिण में श्रृङ्गेरी मठ, पूर्व में श्रीक्षेत्र में गोवर्धन मठ और पश्चिम में द्वारिका में शारदा मठ। चारों मठों में ब्रह्मचारियों की उपाधियाँ पृथक्-पृथक् हैं। जैसे उत्तर मठ की आनन्द, दक्षिण मठ की चैतन्य, पूर्व मठ की प्रकाश और पश्चिम मठ की स्वरूप। इनमें से तुम आज से शुद्धचैतन्य ब्रह्मचारी हुए।' इस समय ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य ने अपने पास एकमात्र शेष पूर्व की किनारेदार रेशमी धोती त्यागकर तीन रुपयों से सादी धोती का एक गैरिक वस्त्र खरीदकर धारण कर लिया। इस प्रकार उसने अपने बाह्य बन्धनों को तोड़ दिया और अब से उसका परिचय- 'मैं दक्षिण मठ का ब्रह्मचारी हूँ।' मात्र यही रह गया था।

---

२७- 'शैला रामचन्द्र के मन्दिर के कारण प्रसिद्ध है, जिसे लालाभक्त ने बनवाया था। लालाभक्त एक बनिया जाति का साधु था। यह उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जीवित था। भक्त के मन्दिर से प्रतिदिन पथिकों, साधुओं और अन्यों को सदाव्रत दिया जाता था। भक्त की प्रसिद्धि इतनी बढ़ गई थी कि लोग शैला को साधारणतया भक्त का ग्राम कहा करते थे।' -**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृष्ठ-६३)

२८- 'लालाभक्त चार भाई थे- रामभक्त, टीकमभक्त, लालाभक्त और गोपालभक्त। इनमें से रामभक्त ही योगविद्या से अभिज्ञ प्रसिद्ध थे। लालाभक्त मोरवी के ख्यातनामा जीवा मेहता के वंशज थे।'

-**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृष्ठ-६३)

## कोटकाँगढ में

सायले शहर से ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य अहमदाबाद के पास कोटकाँगढ़ जो कि एक छोटा सा राज्य है, वहाँ आया। यहाँ उसकी उसके जन्मस्थान के समीप रहने वाले बहुत से वैरागियों में से एक उसके परिवार से सुपरिचित किशोरी नाम के वैरागी से अहमदाबाद के निकट भेंट हुई। उसने उससे पूछा कि 'तुम यहाँ कहाँ से आए और कहाँ जाओगे?' उसके ऐसा पूछने पर ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य ने उसे बता दिया कि वह घर से आया है और कुछ देश-भ्रमण करना चाहता है। उसने फिर उससे पूछा कि तुमने काषाय वस्त्र धारण करके क्या घर छोड़ दिया है? तब ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य ने उसके इस प्रश्न का भी यह उत्तर दिया कि 'हाँ, मैंने घर छोड़ दिया है और कार्तिकी के मेले में सिद्धपुर जाऊँगा।' इस वैरागी ने इस भेंट के बाद ब्र० शुद्धचैतन्य के पिता को पत्र लिखकर सूचित कर दिया कि 'आपका पुत्र मुझे कोटकाँगढ़ में मिला था और वह वहाँ से सिद्धपुर के मेले में जाने की कह रहा था।'

## सिद्धपुर के मेले में

यह कार्तिक महीने का समय था। कार्तिक महीने की पूर्णिमा पर ही सिद्धपुर में मेला लगता है।[२९] वहाँ भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों से योगी और योगसिद्ध पुरुषों का आगमन होता है। इसका प्राचीन नाम 'श्रीस्थल' था। यह प्राचीन काम्यक वन के अन्तर्गत आता है। यहाँ महर्षि कर्दभ का आश्रम था। सांख्यदर्शन सूत्रकार कपिल का यह जन्मस्थान है। गुर्जर देश के राजा मूलराज सोलङ्की का कार्य यहाँ सिद्ध होने से इसका नाम सिद्धपुर पड़ा था[३०]। यह तीर्थ स्थान सरस्वती नदी के किनारे पर है। गुर्जर राज मूलराज सोलङ्की और सिन्धुराज जयसिंह ने यहाँ सरस्वती नदी के किनारे पर (सिद्धपुर नामक तीर्थ स्थान में) रुद्र-महालय नाम का विशाल मन्दिर बनवाया था। अलाउद्दीन खिलजी ने इसको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। अब वह मस्जिद रूप में है। सिद्धपुर में अति प्राचीन बहुत से मन्दिर हैं। वहाँ नाना देशों से योगी, योगसिद्ध साधक लोग मेले में आते हैं। 'सिद्धपुर में योगी पुरुषों से मृत्युञ्जय करने के बारे में शृद्धचैतन्य के मन की शङ्काओं का समाधान हो जाएगा।' इसी सङ्कल्प के साथ वह यहाँ कोटकाँगढ़ से आया था।

सिद्धपुर के मेले में आकर ब्र० शुद्धचैतन्य नीलकण्ठ महादेव मन्दिर के स्थान पर ठहरा जहाँ एक दण्डी स्वामी और कुछ ब्रह्मचारी पहले से ही ठहरे हुए थे। उनका सत्सङ्ग करते हुए मेले में अन्यत्र भी जहाँ कहीं कोई महात्मा और पण्डित सुन पड़ा, वह उन सबके पास गया और उनका सत्सङ्ग किया। उधर कोठकाँगढ़ में शुद्धचैतन्य को जो वैरागी मिला था, उसका पत्र पाकर उसके पिता जी भी चार सिपाहियों के साथ सिद्धपुर के मेले में आकर और खोजकर उसे नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर में पण्डितों के बीच में बैठे हुए धर दबोचा और उससे कहने लगे कि 'तू हमारे कुल में कलङ्क लगाने वाला पैदा हुआ है।' तब शुद्धचैतन्य ने अपने पिता की ओर देखकर और उठकर उनके चरण-स्पर्श किए तथा नमस्कार करके उनसे कहा कि 'आप क्रोधित मत होइए। मैं किसी के बहकावे में

---

२९- यह तिथि संवत् १९०३ वि० में ३ नवम्बर, १८४६ ई० (मङ्गलवार) को पड़ी थी।

३०- **'उदीच्य-प्रकाश'** ग्रन्थ में लिखा है कि उत्तर भारत से बुलाए गए सहस्र ब्राह्मणों में से मूलराज ने इक्कीस ब्राह्मणों को छाँटकर और असनों पर बिठाकर उनका पूजन-सत्कार किया था। इन आसनों पर बैठे हुए ब्राह्मणों में से चौथे आसन पर जो बैठे थे, वह त्रिवाड़ी उपाधिकारी, सामवेदी, दालभ्य गोत्री, पञ्चप्रवर और कौथुमी शाखा के थे। इसीलिए कर्शनजी त्रिवाड़ी (स्वामी दयानन्द के पिता) के सिद्धपुर आए हुए पूर्व पुरुषों में से पूर्वोक्त ब्राह्मण को प्रधान पुरुष समझना चाहिए। सामवेदी त्रिवाड़ी उपाधिधारी ब्राह्मणों की कुलदेवी महागौरी, कुलदेवता दिवेश्वर महादेव, गणपति विघ्नविनायक और भैरव कालभैरव हैं।' —**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृष्ठ-४०)

आकर यहाँ चला आया था। मैंने अब तक बहुत दु:ख पाया है और अब घर आने वाला ही था कि आप आ गए हैं, यह अच्छा हुआ, अब मैं आपके साथ ही घर को चलूँगा।'

ब्र० शुद्धचैतन्य का यह स्पष्टीकरण भी उसके पिता जी के क्रोध को शान्त नहीं कर सका। अत: उन्होंने उसके गेरुए वस्त्र उतरवाकर और तूबें को छीनकर तोड़-फार कर फेंक दिया और अपनी पगड़ी देकर उससे बोले कि 'ले इसे पहन ले।' पुन: वे उससे अनेक कटु वचन कहकर बोले कि 'तू अपनी माता की हत्या लिया चाहता है।' इस पर शुद्धचैतन्य ने अपने पिता से कहा कि 'अब मैं घर को चलूँगा।' इस प्रकार शुद्धचैतन्य अपने पिता और सिपाहियों के साथ मेले की भीड़-भाड़ से बचते हुए चलने लगा। सिद्धपुर के मेले से कोस भर दूर पहुँचकर पिता ने सिपाहियों को आदेश दिया कि 'क्षण भर के लिए भी इसको अकेला मत छोड़ना और इस पर रात्रि में भी पहरा रखना।' रास्ते में शुद्धचैतन्य कैदी की भाँति उन सबके साथ चला जा रहा था। इस समय उसके पिता का दृढ़ सङ्कल्प था कि वे उसे घर संसार के कारागार में कैदी बनवाकर ही रखेंगे जबकि शुद्धचैतन्य का दृढ़ सङ्कल्प था कि वह कभी भी इनका कैदी नहीं बनेगा। इसलिए उसने मार्ग में खाना खाना भी छोड़ दिया था। केवल पानी और दूध पीकर ही वह यह मार्ग तय करने लगा जिससे सिपाही लोग निश्चिन्त हो गए कि अब वह घर को ही चलेगा। लेकिन वह तो अपने पिता की इस कैद से मुक्त होने का अवसर तलाश रहा था।अत: तीसरी रात को जब उसके पिता जी और सिपाही लोग गहरी निद्रा के आगोश में थे तब वह लघुशङ्का के बहाने पानी भरा हुआ लोटा लेकर धीरे-धीरे सबकी दृष्टि से ओझल होकर द्रुतगति से चलने लगा और गाँव के बाहर आधे कोस पर एक बगीचे में स्थित एक मन्दिर के शिखर की गुफा में एक वृक्ष के सहारे चढ़कर और जल के भरे हुए लोटे के साथ छिपकर बैठ गया। जब चार बजे का समय हुआ तो उसने उन्हीं सिपाहियों में से एक को वहाँ के माली से कुछ पूछताछ करते हुए सुना, तब तो शुद्धचैतन्य और भी दुबक कर छुप गया। उन सिपाहियों के इस प्रकार ढूँढकर चले जाने के बाद भी शुद्धचैतन्य उसी मन्दिर के शिखर पर दिन भर भूखा बैठा रहा। जब अँधेरा हुआ तब सात बजे रात्रि में शिखर पर से उतरकर सड़क को छोड़कर चलते-चलते अहमदाबाद पहुँच गया।

## अहमदाबाद में

अहमदाबाद पहुँचकर शुद्धचैतन्य ने स्नान किया और कुछ चने खाकर पेटभर पानी पिया।[३१] अहमदाबाद आकर वह योगियों की खोज में जुट गया। अहमदाबाद में मन्दिरों की कमी नहीं है। वैष्णव, तान्त्रिक और जैनों के बड़े-बड़े मन्दिर हैं। सब ही मन्दिरों में आडम्बर अधिक है। साधु-संन्यासियों के भोजन के लिए अभाव और कठिनाई नहीं है। किसी योगी के मिलने के लिए उसने इन मन्दिरों में सन्धान किया था पर वह उसे नहीं मिला। पास में ही साबरमती नदी है। इस नदी के तट पर बहुत से एकान्त और निर्जन आश्रम या कुटीर उसने देखे। एक आश्रम में एक योगिराज बाबा नाम के एक तान्त्रिक साधु उसे मिले। योगविद्या सीखने की शुद्धचैतन्य की इच्छा को सुनकर इस तान्त्रिक साधु ने हर्ष प्रकट किया। उन्होंने ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य के स्वल्प भोजन के लिए एक दूसरे

३१- सिद्धपुर से अहमदाबाद लगभग १०० कि०मी० दक्षिण में स्थित है और वहाँ से टङ्कारा के मार्ग में मेहसाना और वीरमगाँव पड़ते हैं जिसके लिए सिद्धपुर से अहमदाबाद की ओर चलना पड़ता है। इस प्रकार दो दिन से कुछ अधिक की यात्रा के उपरान्त शुद्धचैतन्य अहमदाबाद के काफी निकट पहुँच गया था। इसीलिए वह अपने पिता की कैद से मुक्त होकर भी कम समय में ही (एक गाँव में चौथी रात बिताकर) अहमदाबाद पहुँचने में सफल हो गया था। गृहत्यागोपरान्त सिद्धपुर आते हुए भी वह इसी प्रकार अहमदाबाद के निकट कोटकाँगढ़ होकर ही वहाँ पहुँचा था, इसलिए विपरीत यात्रा के समय भी उसका अहमदाबाद के निकट आना सम्भव हुआ था।

आश्रम में प्रबन्ध कर दिया था और खड्ग धारेश्वर बाबा जी के आश्रम में वह योग सीखने लगा। यहाँ शुद्धचैतन्य लगभग एक मास अर्थात् गुजराती मार्गशीर्ष संवत् १९०३ वि० भर तदनुसार १९ नवम्बर से १८ दिसम्बर, १८४६ ई० तक रहा। यहाँ उसे पता चला कि वैषयिक कार्यों के लिए योग तेरह प्रकार के हैं और पारमार्थिक कार्यों के लिए वे चतुर्विध हैं। तेरह प्रकार के वैषयिक योग के आदि उपदेष्टा थे- उशना, बृहस्पति, इन्द्र, पुनर्वसु और अग्निवेश। पारिमार्थिक योग के आदि उपदेष्टा थे- हिरण्यगर्भ, महेश्वर, शिवानी, कपिल, पञ्चशिख, जनक, वशिष्ठ, दत्तात्रेय, जैगीषव्य, याज्ञवल्क्य और पतञ्जलि।

तेरह प्रकार के वैषयिक योगों के अवलम्बन से नीति, धनुर्वेद, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, शिल्प, कृषि, वाणिज्य और कला-कौशलों के शास्त्रों की रचना हुई और पार्मार्थिक योग-साधन के लिए चार प्रकार के पथ आविष्कृत हुए हैं। मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग और हठयोग- ये चतुष्पथ हैं। राजयोग के लिए पतञ्जलि का *'योग-सूत्र'* सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

खड्ग-धारेश्वर बाबा से शुद्धचैतन्य को योगविद्या के सम्बन्ध में बहुत से ग्रन्थों का परिचय मिला था जिसके लिए वह उनका सदैव कृतज्ञ बना रहा। लेकिन वह वहाँ अधिक दिनों तक नहीं रह सका। एक दिन बाबा जी उसको योगविद्या की साधना का प्रथम पाठ सिखाने के लिए अति सबेरे साबरमती नदी के किनारे ले गए और उसके हाथ में 'सिद्धि' नाम की वस्तु खाने के लिए दी। पूछने पर पता चला कि यह मन्त्र से शुद्ध की हुई भाँग ही सिद्धि है। तब शुद्धचैतन्य के शिर पर तो मानों वज्रपात ही हो गया! इसलिए वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ। तभी बाबा जी भी उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। एक राजकर्मचारी ने उसे पकड़ लिया और थाने में बन्द कर दिया। बाबा जी पहले ही वहाँ से भाग गए थे। शुद्धचैतन्य की सब बातें सुनकर थानेदार को उस पर दया आ गई और ऐसे बाबाओं से दूर रहकर बड़ौदा जाने की उसे सलह दी, क्योंकि वहाँ अच्छे-अच्छे मठ थे। अत: उसने उन्हें 'तथास्तु' कहकर बड़ौदा की राह पकड़ी।

## बड़ौदे में

अहमदाबाद से शुद्धचैतन्य बड़ौदा आया। मार्ग में वह किसी भी गृहस्थ के घर में नहीं गया। मठ-मन्दिरों में जाने पर ही प्रसाद के नाम पर उसे भोजन मिलता रहा था। मार्ग में उसे तीन रुद्राक्ष और त्रिशूलधारी साधु मिल गए थे जो देश-भ्रमण की विद्या में बहुत प्रवीण थे।

बड़ौदा पहुँचकर इन सबने चैतन्य मठ में आश्रय लिया। चैतन्य मठ वेदान्त-प्रचार का प्रसिद्ध केन्द्र था। उसके भोजन के लिए यहाँ अच्छा प्रबन्ध था। अधिकांश संन्यासी यहाँ शङ्कराचार्य के एकान्ताद्वैतवादी थे, लेकिन शुद्धचैतन्य का वहाँ सभी सम्प्रदायों के संन्यासियों और सिद्धान्तों से परिचय हुआ था। उसे वहाँ बहुत से गुरु मिले थे जो सब ही उसे पुत्र की दृष्टि से देखते थे। सभी ने उसे वेदान्त के भिन्न-भिन्न भाष्य पढ़ाए थे। स्वामी मुक्तानन्द से आचार्य शङ्कर का शारीरिक भाष्य, विवरण टीका, भामती टीका; मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि; अभिमुक्तात्म की इष्टसिद्धि; विद्यारण्य की पञ्चदशी; सदानन्द का वेदान्तसार; आनन्दगिरि का न्याय-निर्णय; गोविन्दानन्द की रत्नप्रभा; प्रकाशानन्द की सिद्धान्त-मुक्तावली और मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि पढ़ने का उसे यहाँ अवसर मिला था।

स्वामी जीवानन्द ने उसे वेदान्त-दर्शन पर भास्कराचार्य का भेदाभेदभाव, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद और कृष्णचैतन्य का आचिन्त-भेदाभेदभाव पढ़ाए थे। वेदान्त-दर्शन पढ़ने के लिए चैतन्य मठ में उसको लगभग एक वर्ष अर्थात् पौष शुक्ल पक्ष संवत् १९०३ वि० से मार्गशीर्ष (शुक्ल पक्ष) संवत् १९०४ वि०

तदनुसार १९ दिसम्बर, १८४६ ई० से २१ दिसम्बर, १८४७ ई० तक का समय मिला था। उसके साथ तीस और ब्रह्मचारी वेदान्त पढ़ते थे। निर्मलानन्द, ब्रह्मानन्द, ज्ञानानन्द, विपुलानन्द, कृपानन्द, विश्वानन्द, विभानन्द, प्रेमानन्द और अभेदानन्द- ये इन सबके गुरु थे। ये सब लोग ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य सहित सभी ब्रह्मचारियों को वेदान्त पढ़ाते थे और वेदान्त के विभिन्न विषयों पर परस्पर आलोचना का अवसर देते थे। जीव और ब्रह्म के एकत्व पर ही अधिक आलोचना होती थी जिससे शुद्धचैतन्य को भी ऐसा निश्चय हो गया था कि 'मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् जीव-ब्रह्म एक हैं।'

इसी समय गौरीदेवी [३२](काशी की रहने वाली एक साधुमाता) द्वारिका से वापस काशी जाती हुई चैतन्य मठ में बड़ौदा आई थी। तीन दिन चैतन्य मठ में रहते हुए उसने वेदान्त पर सभी ब्रह्मचारियों की आलोचना सुनी थी। वहाँ से जाते समय उसने सभी ब्रह्मचारियों से कहा था कि यहाँ बड़ौदा में वेदान्त पर आलोचना नाममात्र की ही होती है। मेरी काशी में तो वेदान्त के दिग्गज पण्डित हर महिने वेदान्त पर आलोचना करते हैं। आगामी वार्षिक सभा में वहाँ भारत के विभिन्न प्रान्तों से पण्डित लोग और विभिन्न मठों के साधु-संन्यासी लोग आएँगे, अत: उसे सुनने के लिए वहाँ पहुँचना चाहिए। तब दक्षिण मठ का ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य अपने अन्य तीन साथी ब्रह्मचारियों- उत्तर मठ के विभवानन्द, पूर्व मठ के कृपाप्रकाश और पश्चिम मठ के भक्ति स्वरूप के साथ वाराणसी के लिए प्रस्थित हो गए। शुद्धचैतन्य को बड़ौदा में किसी योगसिद्ध साधु पुरुष का सन्धान नहीं मिला था। वाराणसी में इनका सन्धान अवश्य मिलेगा, इस आशा से वह सम्भवत: पौष शुक्ल पक्ष संवत् १९०४ वि० (जनवरी, १८४८ ई० में) किसी समय वाराणसी पहुँच गया था।

## काशी (वाराणसी) में

वाराणसी में आकर ये लोग दशाश्वमेध घाट के निकट साधु आवास में ठहरे थे। भोजन का प्रबन्ध जयपुराधीश के राजगृह[३३] में था। वेदान्त विषय पर आलोचना भिन्न-भिन्न स्थानों पर होती थी। उन सब आलोचनाओं से शुद्धचैतन्य ने समझ लिया था कि अन्यान्य दर्शन शास्त्रों में भी अधिकार रखना चाहिए और व्याकरण शास्त्र को और अच्छी तरह पढ़ना चाहिए। उसने यह भी देख लिया था कि वाराणसी में तीर्थ-यात्रियों का अन्त नहीं है, पण्डितों का भी अन्त नहीं है और साधु-संन्यासियों का भी अन्त नहीं है। वह और अन्य तीनों ब्रह्मचारी वाराणसी आकर उपनिषद्, दर्शन और व्याकरण पढ़ने लगे। पण्डित रामनिरञ्जन शास्त्री[३४] से वैशेषिक और न्याय, पं० विशम्भर तर्करत्न से सांख्य और योग, पण्डित हरप्रसाद विद्यारत्न से पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा तथा पं० रासमोहन सिद्धान्तवागीश से व्याकरण पढ़ने लगे। बाद में अन्य तीन ब्रह्मचारी ब्र० शुद्धचैतन्य का साथ छोड़कर प्रयाग चले गए। शुद्धचैतन्य अकेला ही वाराणसी में रहकर पण्डितों से भिन्न-भिन्न व्याकरण के पाठ पढ़ने

---

३२- हस्तलिखित आत्मकथा में यह प्रसङ्ग कुछ इस प्रकार वर्णित हुआ है कि 'फिर वहीं बड़ौदे में एक बनारसी बाई वैरागी का स्थान (=बनारस का) सुनकर उसकी (काशी) में जाके, एक सच्चिदानन्द परमहंस से भेंट करके, अनेक प्रकार की शास्त्र विषयक बातें हुईं।'

३३- यह राजगृह मानमन्दिर (वाराणसी) के परिसर में स्थित था, जहाँ विद्यार्थियों के रहने एवं भोजन की व्यवस्था जयपुर राज्य की ओर से रहती थी।

३४- 'पण्डितवर ज्वालादत्त शर्मा ने हमसे कहा था कि दयानन्द ने काशी में रामनिरञ्जन शास्त्री से कुछ काल तक कौमुदी और न्याय शास्त्र पढ़ा था।' -**देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय** बँगला **'दयानन्द-चरित'** का भाषानुवाद (पृ० ११६)

लगा। पण्डित निखिलेश शास्त्री से उसने कात्यायन का वार्तिक, पं० रुद्रदेव विद्यालङ्कार से वाक्यपदीय, पं० सोमदेव तर्करत्न से वामन और जयादित्य की काशिका, पं० महादेव शास्त्री से जिनेन्द्रबुद्धि का न्यास, पं० विमलेन्दु काव्यनिधि से हरदत्त की पदमञ्जरी, पं० शशिकान्त भट्ट से रामचन्द्र की प्रक्रिया कौमुदी और पं० महावीर शर्मा बोपदेव का मुग्धबोध पढ़ा था। व्याकरण को उसने दो-तीन बार भिन्न-भिन्न पण्डितों से पढ़ा था। गृहस्थ पण्डित लोग उसको स्नेह और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। पं० विमलेन्दु काव्यनिधि और पं० रामनिरञ्जन शास्त्री[३५] उसको दर्शनशास्त्र पढ़ाने के लिए बड़े ही उत्सुक थे। उसने इन दोनों से न्याय और वैशेषिक दो बार तथा सांख्य और योग तीसरी बार पढ़ा था। काशी के बहुत से पण्डित उससे शङ्का-समाधान के लिए भी आते थे। वह पण्डित हरदेव शास्त्री से मनस्तत्व के बारे में भी पाठ पढ़ा करता था।

उसका मन इन विद्याओं को पढ़ने में रमा करता था किन्तु रात्रि को शैया ग्रहण करने पर योगियों का सन्धान करने के लिए उसके मन में दूसरे प्रकार के ही भाव जागृत हो जाते थे। कभी-कभी उसे विचार आता था कि पाण्डित्य का भार वहन करने से लाभ नहीं है। यदि मृत्यु को जय करने का कार्य ही शेष रह गया, तो देश-भ्रमण और विद्या-ग्रहण उसके लिए व्यर्थ हैं। जो घर-बार और माता-पिता को छोड़कर आया, वह सब किस कार्य में आया? -यह चिन्ता उसे दिन-रात सताने लगी।

इस दुश्चिन्ता के कारण उसका चित्त चञ्चल और अशान्त हो गया था। इससे उसने काशी छोड़कर अन्यत्र जाने का अपना विचार पक्का कर लिया था। अत: वह काशी के सब पण्डितों से विदाई और आशीष माँगने लगा। यह देखकर सबने ही दु:ख प्रकट किया। वह अपने गुरुओं का प्रिय शिष्य था। परमहंस स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती ही उसके काशी के एकमात्र आश्रय थे और द्वार-बंगाधीश ही उसके आर्थिक सहायक थे। इन दोनों की कृपा से ही उसने काशी में रहकर ज्ञानोपार्जन का यह सुयोग पाया था। उसके अन्यत्र जाने के विचार से इन दोनों ने ही दु:ख प्रकट किया था। इन लोगों ने चाहा था कि वह कुछ समय तक और काशी में रहे और शेष शास्त्रों का भी अध्ययन करे। इन्होंने उसे काशी में ही योगसिद्ध साधकों को और ढूँढ़ने की प्रेरणा भी की थी। अत: शुद्धचैतन्य ने काशी छोड़कर अन्यत्र जाने का विचार कुछ समय के लिए त्याग दिया था और उसने अन्यान्य शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ कर दिया था-

**उपनिषद् पाठ**- पं० अच्युतानन्द शास्त्री ने उसे ११ प्राचीन और पं० बलदेव शिरोमणि ने उसे १०१ नवीन उपनिषद् पढ़ाए थे।

**स्मृतियों का पाठ**- पं० रत्नाकर शिरोमणि से उसने प्राचीन और पं० महेशचन्द्र स्मृतिरत्न[३६] से उसने नवीन स्मृतियों

---

३५- 'पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार स्वामी दयानन्द ने अपने अध्ययनकाल के प्रारम्भिक दिनों में पं० रामनिरञ्जन शास्त्री से कुछ समय तक अध्ययन किया था। इन्होंने कालान्तर में संन्यास ले लिया और चतुर्थाश्रमी होने पर अपना नाम स्वामी महादेवाश्रम रक्खा, किन्तु लोग इन्हें रामनिरञ्जन स्वामी के नाम से ही पुकारते और जानते थे। इनका जन्म १८४२ वि० (१७८५ ई०) में बिहार प्रान्त के हथुआ राज्य के निकटवर्ती किसी ग्राम में पं० रामधन मिश्र के यहाँ हुआ था। पर्याप्त वर्षों तक ये हथुआ नरेश छत्रधारी शाह के राज पण्डित के रूप में रहे। कालान्तर में ये काशी आ गए और दीर्घकाल तक यहाँ निवास किया। मार्गशीर्ष अमावस्या १९२७ वि० (१८७० ई०) को इनका ८५ वर्ष की आयु में निधन हुआ।' -**डॉ० भवानीलाल भारतीय**

मासिक वेदवाणी (बहालगढ़), मार्च, १९८५ (पृ० ४७)

३६- पं० सत्यचरण लाहिड़ी (सत्यलोक, डी-२२/३, चौषट्टी घाट, वाराणसी) जो प्रसिद्ध योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी (१८२८-१८९५ ई०) के ८१ वर्षीय पौत्र (सन् १९८५ ई० में) हैं, ने हमें ८ मई, १९८५ ई० को बताया था कि उन्होंने काशी के पं० महेशचन्द्र स्मृतिरत्न का नाम बचपन में (किसी प्रसङ्ग में किसी से) सुना था।

का अध्ययन किया था।

**बौद्ध दर्शनों का पाठ**– भिक्षु तथागत धर्मपाल से उसने महायानी बौद्ध सम्प्रदाय के माध्यमिक और योगवाद सिद्धान्त तथा राहुल मणिभद्र से हीनयान बौद्ध सम्प्रदाय के वैभाषिक और सौतान्त्रिक के सिद्धान्त पढ़े थे[३७]।

**जैन दर्शनों का पाठ**– साधु युगलकिशोर पारेख से ब्र० शुद्धचैतन्य ने दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के उमास्वामिकृत 'तत्वार्थाधिगम' सूत्र और श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के हरिभद्रकृत 'लोकतत्व-निर्णय' आदि ग्रन्थों का विस्तृत पाठ पढ़ा था[३७]।

**तन्त्र शास्त्रों का पाठ**– तान्त्रिक साधु बेताल भैरव बाबाजी ने ब्र० शुद्धचैतन्य को तन्त्र शास्त्रों के योग, क्रिया और चर्या को, शैवों के आगम को, शाक्तों के शक्ति तन्त्र को, वैष्णवों के विष्णु तन्त्र और बौद्ध-जैनियों के अवैदिक तन्त्र को पढ़ाया था।

**चार्वाक और बार्हस्पत्य दर्शनों का पाठ**– पण्डित विभूतिभूषण तर्क-वागीश से 'सर्वदर्शन संग्रह' और पं० क्षेमकरण दर्शनशास्त्री से बृहस्पति और चार्वाक के 'नास्तिकवाद', संजय के 'संशयवाद', केश कम्बली के 'जड़वाद', कश्यप के 'औदासीन्यवाद', गोपाल के 'अदृष्टवाद' और काकुद-कात्यायन के 'पञ्च-भौतिकवाद के पाठ उसने पढ़े थे।

**मनस्तत्वों का पाठ**– और अन्त में परमहंस सच्चिदानन्द स्वामी ने उसे मनस्तत्व विषय पर कपिल के सांख्य प्रवचन सूत्र के ईश्वर-कृष्ण की सांख्यकारिका और पतञ्जलि के योगदर्शन के साधनपाद सूत्रों के व्यवहारिक पाठ पढ़ाए थे।

इन सब शास्त्रों के अध्ययन से ब्र० शुद्धचैतन्य के अन्दर विभिन्न शास्त्रों के पाठ की प्रबल इच्छा और तुलना- आलोचना की रुचि उत्पन्न हो गई थी और उसका चित्त पहले से बहुत शान्त हो गया था। काशी के बड़े-बड़े विद्वान् साधु-साधक तपस्वियों के सत्सङ्ग से और विभिन्न शास्त्रों की विचार-धाराओं से परिचय प्राप्त होने से वह अपने जीवन में बहुत ही धन्य और कृतार्थ अनुभव करने लगा था और उसके हृदय में सिंह सदृश बल आ गया था तथा ज्ञानालोक से चित्त उद्भासित हो गया था। फिर वह काशी के विभिन्न मठ-मन्दिरों और आश्रम-तपोवनों में योग-सिद्ध पुरुषों का सन्धान करने लगा। तीर्थयात्रियों की भीड़-भाड़ में और विभिन्न साम्प्रदायिक कोलाहलों में योग-सिद्ध पुरुषों को ढूँढ़ निकालना उसके लिए कठिन था। इस स्थिति में परमहंस सच्चिदानन्द स्वामी ने उसे योगियों के सन्धान के लिए नर्मदा नदी के तटवर्ती तीर्थस्थानों में जाने के लिए प्रेरणा दी और यह भी कहा कि चाणोद, कर्णाली और व्यासाश्रमादि स्थानों में अवश्य जाना चाहिए। तदनुसार काशी से प्रस्थान की कोई तिथि {सम्भवतः संवत् १९०५ वि० (गुजराती संवत् १९०४) के भाद्रपद मास (सितम्बर, १८४८ ई०) की वर्षा ऋतु कालीन} निश्चित की गई।

परमहंस सच्चिदानन्द स्वामी के प्रबन्धानुसार ब्र० शुद्धचैतन्य के काशी से प्रस्थान से पहले दिन उसके सब ही ज्ञानदाता गुरुजन उसे आशीर्वाद देने के लिए दशाश्वमेध घाट पर एकत्र हो गए थे। गुरुओं को दक्षिणा देने के लिए द्वार-बंगाधीश (दरभंगा नरेश) ने उसके पास ५०० रुपये भेज दिए थे। सब गुरुओं ने उसके ललाट पर चन्दन का टीका लगाकर और शिर पर हाथ रखकर मन्त्रोच्चार के साथ आशीर्वाद दिया था। शुद्धचैतन्य ने सबके चरणों का स्पर्श करके प्रणाम किया। इनमें बौद्ध, जैन और नास्तिक गुरु भी थे। उसने ५०० रुपये अपने इन गुरुओं को दक्षिणा के रूप में समर्पित कर दिए। परमहंस सच्च्दिानन्द सरस्वती ने सब गुरुओं की ओर से उसे आशीर्वाद दिया था-

---

३७- 'काशी में जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों के पठन-पाठन की परम्परा रही है और उसके यहाँ केन्द्र भी हैं। इसलिए इस पुस्तक (योगी का आत्मचरित्र) में वर्णित जैन एवं बौद्ध गुरु भी कल्पित नहीं हैं। **-डॉ० बल्देव उपाध्याय**
लेन नं० १७, रवीन्द्रपुरी, गुरुधाम कालोनी; वाराणसी-१

'ब्रह्मचारिन्! सौम्य शुद्धचैतन्य! पवित्र काशीधाम से सौभाग्य के कारण तुम बहुत ही मूल्यवान् ज्ञान-सम्पद् को प्राप्त हुए हो। लेकिन तुम्हारे अन्दर योगविद्या सीखने की प्रबल इच्छा उद्दीप्त हो रही है। हम लोग उस आग को बुझाना नहीं चाहते हैं। हम लोग तुम्हें नहीं छोड़ रहे हैं, तुम ही हम सबको छोड़कर जा रहे हो। हम लोग तुम्हारा आत्मिक उत्कर्ष चाहते हैं।

तुम यहाँ से नर्मदा (रेवा) नदी के किनारे जाने के लिए प्रस्थान करो, वहाँ नदी के दोनों तटों पर आश्रम बनवाकर बहुत से योगी पुरुष रहा करते हैं। नर्मदा नदी में स्थान-स्थान पर दूसरी बहुत सी नदियों के सङ्गम-स्थल मिलेंगे, भिन्न-भिन्न साधन-क्षेत्र और तीर्थ-स्थल मिलेंगे, किन्तु हिंस्र-पशु जंगलों में विचरण करते हैं। वृक्षों में फल मिलेंगे, सरोवर में जल मिलेगा, वृक्षों के नीचे और ऊपर सोने के स्थान मिलेंगे, वनचर मनुष्य तुमको आश्रय देंगे। जैसे वहाँ तपोवन और आश्रम हैं, ऐसे ही वहाँ चोर और डाकुओं के भी आश्रयस्थल हैं। अपने साथ में डण्डा और थैली रखो तथा मन में ईश्वर भक्ति रखो, विपदाएँ आएँगी, लेकिन तुम पार हो जाओगे।'

गुरुओं का यह आदेश और आशीर्वाद ब्र० शुद्धचैतन्य ने स्वीकार किया। अपने सभी गुरुओं के चरण-स्पर्श कर वह प्रस्थान करने की तैयारी करने लगा। वह अपने परम हितैषी द्वार-बंगाधिपति से विदायी लेने के लिए गया। वे उसके प्रति स्नेह और श्रद्धा का भाव रखते थे। उसके प्रस्थान के कारण वे सन्तप्त थे। उन्होंने उससे कहा- 'तुम अपने प्रयोजन के अनुसार रुपये-पैसे और सामग्री जो-जो जितनी चाहो, यहाँ से लेकर जाओ।' शद्धुचैतन्य ने उनसे कहा- 'आपकी कृपा से काशी से अमूल्य ज्ञान-सम्पदा मुझे मिली है, मेरी लिए यही बहुत है।' लेकिन वे माने नहीं। इसलिए उसने विवश होकर एक लोटा, एक कम्बल, एक अँगोछा और एक डण्डा उनसे लेकर काशी से नर्मदा नदी की ओर प्रस्थान किया।

## नर्मदा-तट भ्रमण

काशी से चलकर ब्र० शुद्धचैतन्य पैदल ही विन्ध्याचल की ओर अग्रसर होने लगा और बिलासपुर होकर अमरकण्टक पहुँच गया[३८]। विन्ध्याचल और सतपुड़ा पर्वतों के बीच में महाकाल नाम का एक पर्वत है। उसके अमरकण्टक नामक श्रृङ्ग के विराट कुण्ड से नर्मदा नदी निकली है, इस कुण्ड का नाम कोटि-तीर्थ है। अमरकण्टक में प्राचीन और नवीन बहुत से मन्दिर हैं। यहाँ मार्कण्डेय ऋषि, भृगु ऋषि और कपिल ऋषि के प्रसिद्ध आश्रम हैं। आगे कबीरदास जी का सामयिक विश्राम स्थान कबीर-चौतरा है। कपिलधारा और दुग्धधारा नाम के दो जलप्रपात इसके समीप ही हैं। ज्वाला नदी का उद्गम, नीलगङ्गा का सङ्गम और चक्रतीर्थ भी समीप ही हैं। थोड़ी दूर पर आचार्य शङ्कर द्वारा स्थापित ऋण मुक्तेश्वर मन्दिर और कुकुरमठ मिलते हैं।शोणभद्र नदी (सोन नदी) का उद्गम भी यहाँ से दूर नहीं है। ब्र० शुद्धचैतन्य इन सब स्थानों पर ही योगसिद्ध साधकों के सन्धान में गया था, परन्तु इन सब ही स्थानों पर वे उसे नहीं मिले। सर्वत्र उसे पुजारी लोगों की ही भीड़भाड़ दिखी थी।

नर्मदा नदी मध्यप्रदेश और गुजरात होती हुई अरबसागर की खाड़ी काम्बे में मिल जाती है। नर्मदा लगभग एक सौ योजन लम्बी है[३९]। ब्र० शुद्धचैतन्य धीरे-धीरे नर्मदा नदी के उत्पत्ति-स्थल की ओर से अग्रसर होने लगा।

---

३८- यदि ब्र० शुद्धचैतन्य काशी से चलकर पहले चुनार आया और वहाँ से निरन्तर दक्षिण दिशा में चलकर बिलासपुर पहुँचा हो तो उसे मार्ग में घोड़ावल (जिला- मिरजापुर), बैढन (जिला- सीधी), सेमरिया (जिला- रीवा), मझगाँव (जिला- सतना), सोनहट, बैकुण्ठपुर (जिला- सरगुजा), बरबसपुर, काठघोड़ा, रतनपुर ( जिला- बिलासपुर) पड़े होंगे या वह इन स्थानों के निकट से होकर गुजरा होगा।

३९- अर्थात् १०० x४x२ =८०० मील। नर्मदा की वास्तविक लम्बाई ८१५ मील (या १३१० कि० मी०) है।

अमरकण्टक से वह मण्डला आया जहाँ पुराने मन्दिर बहुत हैं। नर्मदा के उस पार व्यासाश्रम है, जहाँ जाकर वह वहाँ के महन्त श्रीमान् कर्मानन्द स्वामी से मिला जिन्होंने उसे सात दिन तक हठयोग का उपदेश दिया था। उनके उपदेश का सारांश यह था-

'हठयोग के अभ्यास से योगी शीत-ऊष्म, क्षुधा-तृष्णा, निद्रा-आलस्य, जरा और वार्धक्य पर विजय-लाभ करता है; उसे अटूट स्वास्थ्य, मानसिक बल और आत्म-संयम की शक्ति प्राप्त होती है। हठयोगी का आहार स्वल्प होता है और आहार छोड़कर भी हठयोगी महिनों रह सकता है। इसलिए तुम हठयोग का स्वाध्याय और अभ्यास करो।'

ब्र० शुद्धचैतन्य ने उनका यह उपदेश शिरोधार्य किया और उनसे आसन और मुद्राओं का अभ्यास सीखा। त्राटक, नाड़ी-शुद्धि, नेति-क्रिया (नासापान), वस्ति-क्रिया, धौति-क्रिया और प्राणायाम का भी अभ्यास किया[४०]। मण्डला में रहते हुए ब्र० शुद्धचैतन्य ने हृदयनगर, मधुपुरा घाट, सीता-रपटन, लुकेश्वर और नन्दिकेश्वर घाट में जाकर भी योगियों की खोज की थी। हृदय नगर बंजर नदी के किनारे पर है। यह नदी नर्मदा से मिल गई है और दो नदियाँ सुरपन और मटियारी बंजर नदी के साथ मिल गई हैं, इसलिए इसका नाम त्रिवेणी है[४१]। मधुपुरा घाट का दूसरा नाम घोड़ा घाट है। यहाँ मार्कण्डेय ऋषि का आश्रम है। योगिनी गुफा नामक स्थान भी इस स्थान के पास ही है। यहाँ बहुत से साधुओं से ब्र० शुद्धचैतन्य की भेंट हुई। उनमें उसे योगी पुरुष कोई भी नहीं मिला। नन्दिकेश्वर घाट से थोड़ी दूरी पर हिंगना नदी नर्मदा से मिलती है। योगियों के सन्धान में यहाँ भी ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य कई बार गया, परन्तु केवल भक्त साधु लोग ही उसे मिले, योगी साधक कोई नहीं मिला। मण्डला से वह देवगाँव, सिन्धरपुर और देवकुण्ड भी गया। श्रृङ्गी ऋषि का आश्रम सिन्धरपुर में है। देवकुण्ड में उसने जलप्रपात देखा। बहुत ऊपर से यहाँ जल गिरता है। देवगाँव के पास नर्मदा में बड़नेर नदी और देवकुण्ड के पास नर्मदा में खरमेर नदी मिलती है। इन सब स्थानों पर भी उसे कोई योगी साधक नहीं मिला।

मण्डला से ब्र० शुद्धचैतन्य जबलपुर आया। इसका दूसरा नाम जाबालिपत्तन है। यहाँ जाबालि ऋषि का आश्रम था। यहाँ से वह योगियों की खोज में तिलवारा घाट[४२], मुकुट क्षेत्र, त्रिशूल घाट, लमेटी घाट, गोपालपुर घाट, भेड़ा घाट, जलेरी घाट और बेल पटार घाट आदि स्थानों पर भी गया था। भेड़ाघाट के पास धुआँधार जलप्रपात है।

---

४०- 'एक बार स्वामी जी के पैरों पर फुंसियाँ निकल आईं। उन्होंने कहा कि उदर में कुछ विकार है। अत: वह तीन-चार मनुष्यों को साथ लेकर यमुना पर न्योली क्रिया करने के लिए चले गए। वहाँ जल में बैठकर तीन बार मलद्वार से जल खींचा और बाहर आकर नाभिचक्र को घुमाकर उसे बाहर निकाल दिया जिससे उदर शुद्ध हो गया। इससे वह कुछ निर्मल हो गए। डेरे पर आकर दाल-भात खाया और अपने साथियों से कहा कि हमने यह क्रिया नर्मदा किनारे एक कनफटे योगी से सीखी थी।'

-**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० १०८)

यह घटना केवल इसी यात्रा की हो सकती है। दूसरी यात्रा के समय (१८५८ ई० अथवा संवत् १९१५ वि०) तक तो स्वामी दयानन्द सरस्वती ने राजयोग का पर्याप्त अध्ययन और अभ्यास कर लिया था और (नर्मदा-स्रोत की ओर आते हुए) गङ्गा में बहकर आ रहे एक शव को चीड़-फाड़ और देखकर हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों को मिथ्या पाकर उन्हें गङ्गा में प्रवाहित कर दिया था। तब वे भला नर्मदा-स्रोत की इस दूसरी यात्रा में इस प्रकार के हठयोगियों के चक्कर में क्यों पड़ते?

४१- नर्मदा और बंजर नदी के संगम पर ही मण्डला (मध्यप्रदेश का एक जिला केन्द्र) स्थित है। हृदयनगर उससे पाँच मील दक्षिण में बंजर नदी के तट पर है जिसे १६६४ ई० में हृदयशाह ने बसाया था। मटियारी और सुरपन नदियाँ बंजर नदी के पूर्व में हैं और हृदयनगर में उससे मिलकर त्रिवेणी सङ्गम बनाती हैं।

४२- भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का ५२वाँ अधिवेशन मार्च, १९३९ ई० में यहीं हुआ था जो त्रिपुरी अधिवेशन के नाम से प्रसिद्ध है।

त्रिशूलघाट में त्रिशूलतीर्थ, लमेटी घाट में नर्मदा में सरस्वती नदी का सङ्गम, भेड़ाघाट में भृगु का आश्रम और रामनगरा में मुकुट क्षेत्र को उसने देखा। जलेरीघाट में एक साधु से उसे पता चला कि जबलपुर के आसपास कोई योगी पुरुष नहीं है।

जबलपुर से ब्र० शुद्धचैतन्य ब्रह्माण्डघाट[४३] आया। यहाँ नर्मदा के अन्दर द्वीप है और सप्तधारा तीर्थ है[४४]। वहाँ से वह पिठोरा-गदारु, पिपरियाघाट, हरणी-सङ्गम, बुधघाट, सहस्रावर्त तीर्थ, सौगान्धिक तीर्थ, सप्तर्षि वन, अण्डिया घाट, शाङ्करी गङ्गा-सङ्गम, कश्यपाश्रम, शक्कर नदी सङ्गम[४५], जनकेश्वर तीर्थ, धर्मशिला, दुग्धी नदी सङ्गम[४६], साईंखेड़ा[४७] और खाण्डे नदी पर गया। इसका नाम केउधान घाट है। इनके अन्दर लगभग सभी तीर्थों का शुद्धचैतन्य ने भ्रमण किया, लेकिन वहाँ उसे कोई अनुभवी योगी पुरुष नहीं मिला।

केउधान घाट से योगियों के सन्धान में ब्र० शुद्धचैतन्य आगे बढ़ा और होशङ्गाबाद आया जहाँ बहुत से मन्दिर हैं। इससे पूर्व नर्मदा के दक्षिणी तट पर तवा नदी का सङ्गम है[४८]। इसके आगे सूर्यकुण्ड है। यहाँ से आगे गौघाट में १६ योगिनियों और दो सिद्ध पुरुषों के स्थान हैं। यह तान्त्रिक और वाममार्गियों का प्रधान केन्द्र है। नौदनेर में कालभैरव और महाकालेश्वर शिव के मन्दिर हैं। शुद्धचैतन्य ने सुना था कि यहाँ भी कभी-कभी नरबलि होती है। इसके आगे महर्षि भृगु का भृगु-कच्छ आश्रम है। इसके आगे मारू नदी के सङ्गम में पाण्डवों की तपोभूमि है। इसका नाम पाण्डुदीप पड़ा। यहाँ से आगे नर्मदा के दक्षिण तट पर कणकनदी का सङ्गम है। इसके आगे आकाशदीप तीर्थ है। इसके आगे कुब्जा नदी का और आगे अञ्जनी नदी का सङ्गम है। यहाँ शाण्डिल्य ऋषि का आश्रम और गौरी तीर्थ है। इससे आगे गोमुख-घाट है और हत्याहरण नदी का सङ्गम है। यहाँ से आगे नर्मदा के अन्दर पहाड़ पर भीमकुण्ड है। इससे आगे इन्दना नदी का और गंजाल नदी[४९] का सङ्गम है। आगे गोनी नदी के सङ्गम में जमदग्नि ऋषि की तपोभूमि है। आगे बागदी का सङ्गम है। यह स्थान नर्मदा नदी का नाभिस्थल कहा जाता है[५०]। यह कालभैरव की तपोभूमि है। कुछ आगे दाँतोनी नदी का सङ्गम है। इसके आगे पनघाट में गौतम ऋषि की तपोभूमि है[५१]।

गौतम ऋषि की तपोभूमि के समीप ही धर्मपुरी है और मानधारा का जलप्रपात है। इसी के आगे जंगल के अन्दर कालभैरव की गुफा है। वहाँ किन्हीं योगी और सिद्ध पुरुषों के होने की आशा शुद्धचैतन्य ने छोड़ दी थी।

इस प्रकार नर्मदा के दोनों तटों में अन्यान्य बहुत सी उपनदियाँ आकर मिलती हैं। नदियों के सङ्गम-स्थलों में बहुत से तीर्थ हैं। प्राचीनकाल से ऋषि-मुनियों के नाम पर बहुत से आश्रम बन गए हैं। साधु-तपस्वी लोगों के

---

४३- यह नरसिंहपुर जिले में नर्मदा पर स्थित एक घाट है जो आजकल बरमानघाट के नाम से प्रसिद्ध है। यह नर्मदा और शेर नदी के सङ्गम पर है।

४४- ब्रह्माण्डघाट से थोड़ी दूरी पर नर्मदा दो धाराओं में बँट गई है जिससे बीच में एक द्वीप सा बन गया है। चट्टानों के कारण नर्मदा आगे जाकर कई धाराओं में विभक्त हो जाती है।

४५- शक्कर नदी दक्षिण दिशा की ओर से (गाडरवारा की ओर से) आकर नर्मदा में मिलती है।

४६- शक्कर नदी के सङ्गम स्थल से कुछ आगे दुग्धी नदी का नर्मदा से सङ्गम होता है। यह नदी भी दक्षिण दिशा से ही आकर नर्मदा नदी में मिली है।

४७- साईंखेड़ा होशङ्गाबाद जिले में है।

४८- होशङ्गाबाद से पहले ही तवा नदी नर्मदा से मिलती है जिस पर बीसवीं सदी में प्रसिद्ध तवा बाँध बाँधा गया है।

४९- गंजाल नदी पर मैंने अपनी सेवारम्भ के समय १९५९ ई० में हरदा में रहते हुए सर्वेक्षण किया था।

५०- नर्मदा का यह नाभि-स्थल हण्डिया (हरदा-निमावर मार्ग पर) के निकट है जो होशङ्गाबाद (अब हरदा) जिले में है। मैं स्वयं यहाँ के निकटवर्ती ग्राम हीरापुर में १९५९-६१ ई० में रहा हूँ।

५१- इस अनुच्छेद में वर्णित नदियाँ नर्मदा की छोटी-छोटी सहायक नदियाँ है जो होशङ्गाबाद और हरदा जिलों में स्थित हैं।

साधना करने के लिए और साधना-शिक्षा देने के लिए यहाँ साधन-क्षेत्र भी बन गए हैं। काशी में परमहंस सच्चिदानन्द स्वामी से यहाँ के चाणोद, कर्णाली, व्यासाश्रम और आबू-पर्वतादि साधन-क्षेत्रों के विषय में शुद्धचैतन्य ने बहुत कुछ सुन रक्खा था। इनमें आबू-अरावली का श्रृङ्ग विशेष था। अत: इन स्थानों के प्रति उसका विशेष आकर्षण था। घने जंगलों के अन्दर वह सकरे और छोटे-छोटे रास्तों से चलकर ही यहाँ तक आया था। कभी-कभी ऐसा रास्ता आगे जाकर समाप्त भी हो जाता था। तब स्थानीय लोग उसे बता देते थे कि किस तरफ से और किस रास्ते से जाने पर उसे कौन सा तीर्थ वा आश्रम मिल जाएगा। यहाँ दोपहर के समय भी घने जंगलों में अँधेरा रहता है। भूख-प्यास लगने से या शाम हो जाने पर उसे बहुत कठिनाई होती थी। जाते-जाते बड़े-बड़े साँप, हाथी[५२], शेर, रीछ, बराह, जोंक, जहरीले कीट-पतङ्गों के झुण्ड और बड़े-बड़े माँसभक्षी पक्षी मिल जाते थे। लेकिन उनमें से किसी ने भी उसे हानि नहीं पहुँचाई। इस प्रकार वह नदी के इस पार से उस पार जाया-आया करता था। कहीं-कहीं घाट उतराई के लिए नाँव का प्रबन्ध भी नहीं होता था। तब वह लकड़ी के एक टुकड़े के सहारे पर ही नदी पार कर लिया करता था। जहाँ कुछ भी प्रबन्ध नहीं होता था वहाँ ब्र० शुद्धचैतन्य तैरकर ही नदी पार कर लिया करता था। फलस्वरूप उसका लोटा, कम्बल और डण्डा बहुत पहले ही छूट गए थे जिससे वह द्वार-बंगाधीश की दी गई स्नेह, श्रद्धा, प्रेम-प्रीति की इन निशानियों से भी मुक्त हो गया था।

ब्र० शुद्धचैतन्य के इस भ्रमण की एक विशेष घटना यहाँ विशेषरूप से उल्लेखनीय है। एक दिन जब शाम होने वाली थी, सामने नदी थी। अमावस्या की अँधेरी रात आने वाली थी। इसे वह किस रूप में बिताएगा, वह यही सोच रहा था कि देखते-देखते और सोचते-सोचते अँधेरा हो गया। तभी दूर से हर्षध्वनि की आवाज आने लगी। धीरे-धीरे भीड़ नदी के किनारे पहुँच गई। उसने दूर से देख लिया कि एक दश वर्ष के बालक को लोग नहला रहे हैं। सब पुरुष हर्ष के कारण नाच रहे हैं और स्त्रियाँ गाने गा रही हैं। एक माता बार-बार उस लड़के को पकड़ने के लिए आती थी, किन्तु लोग उस माता को धकेल देते थे। यह क्या बात है, यह जानने के लिए शुद्धचैतन्य वहाँ पहुँच गया। तब उसे वहाँ बताया गया कि 'आज अति पुण्य मौनी-अमावस्या[५३] है। कालभैरव की गुफा में आज मध्यरात्रि को कालभैरव[५४] की सेवा में इस निष्पाप, निर्दोष और शुभ लक्षणयुक्त ब्राह्मण बालक को बलिवेदी पर चढ़ाया जाएगा जिससे इसके माता-पिता को पुजारियों की ओर से ५० (पचास) रुपये प्राप्त हुए हैं। पिता कालभैरव की कृपा को अनुभव करके धीर, स्थिर और शान्त है किन्तु मूर्ख

---

५२- 'मध्यप्रदेश के अन्तिम हाथी बिलासपुर जिले के उत्तरी पहाड़ी वनों में गत सदी (बीसवीं) के प्रारम्भ के बीस-तीस वर्षों तक पाए जाते रहे हैं। सन् १८६० (संवत् १९१७ वि०) में जिला भ्रमण पर आए केप्टन जे०फारसायथ के अनुसार यहाँ लगभग तीन सौ हाथी थे जो करीब बारह सौ वर्गमील विस्तृत घने साल वनों में स्वच्छन्द विचरते थे। मातिन और उपरोडा के बीच से उत्तर-दक्षिण दिशा में बहने वाली हसदेव और उसकी सहायक नदियाँ उन हाथियों के झुण्ड की प्रमुख आश्रय थीं। उसके बाद के आने वाले वर्षों में यह बियावान क्षेत्र हाथी विहीन हो गया और उसके साथ ही मध्यप्रदेश का एक गौरव समाप्त हो गया जिसकी अब स्मृति ही यहाँ-वहाँ (चन्दबरदायी के ***'पृथ्वीराज रासो'*** और ***'आइने अकबरी'*** इत्यादि में बची है। -दैनिक **नई दुनिया**, इन्दौर (८ फरवरी, १९८५ ई०)

महाराजा सरगुजा द्वारा लखनपुर के पास से सन् १९३० ई० में अन्तिम हाथी के पकड़ लेने के साथ ही इस क्षेत्र से हाथियों के वंश का लोप हो गया।। अन्य जानवर तो अब भी पाए जाते हैं परन्तु उनके वंश भी लुप्त होने की ओर अग्रसर हैं।

५३- **मौनी-अमावस्या** (अर्थात् माघ कृष्णा ३०) संवत् १९०५ की यह तिथि २४ जनवरी, १८४९ ई० (बुधवार) को पड़ी थी। इस प्रकार ब्र० शुद्धचैतन्य को काशी से चलकर धर्मपुरी तक पहुँचने में लगभग चार महीने का समय लगा था।

५४- **काल-भैरव** शिव जी के प्रमुखगण हैं जो ब्र० शुद्धचैतन्य के कुल के भी भैरव हैं।

और अभागिनी माता ने कालभैरव की इतनी बड़ी कृपा को नहीं समझा। प्रति वर्ष केवल एक बार इस मौनी अमावस्या की पुण्य तिथि में कालभैरव को इस रूप में एक-एक सुलक्षणयुक्त ब्राह्मण बालक भेंट के रूप में दिया जाता है। इसमें रोने की क्या बात है? आज मध्यरात्रि को ही यह बालक बलिदान के साथ-साथ मनुष्य देह छोड़कर गन्धर्व-लोक को चला जाएगा। '

इस बात को सुनते ही शुद्धचैतन्य के मन में तीन चिन्ताएँ उत्पन्न हो गई-

**पहली**- 'मेरी माता ने मुझ पुत्र को केवल खोकर ही देहत्याग किया था। अपने पुत्र का यह बलिदान देखकर यह माता कैसे जीवित रहेगी?'

**दूसरी**- 'इस सामाजिक महापाप के दण्ड भोग के लिए ही हमारी पुण्य मातृ-भूमि धीरे-धीरे विदेशी वणिकों के शासन में जा रही है। '

**तीसरी**- 'धर्म के नाम पर ऐसे-ऐसे महापाप ऋषि-मुनियों के देश में कैसे चालू हो गए?'

ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य से यह करुण और भयङ्कर दृष्य देखा नहीं गया। कालभैरव का यह स्थान धर्मपुरी[५५] से लगभग दो योजन की दूरी पर जंगल के अन्दर रास्ते के पास बारंगा नाले के साथ-साथ है। धर्मपुरी फलघाट के सम्मुख नर्मदा नदी के उत्तर तट पर है। फतेहगढ़[५६] से कोई एक योजन दूरी पर ही यह स्थान है।

बलिदान की शोभायात्रा के अन्दर जाकर रक्त चन्दन से अनुलिप्त रुद्राक्षमाला-परिहित प्रधान पुरोहित से शुद्धचैतन्य ने कहा कि 'कृपया आप इस बालक को छोड़ दीजिए, इसके बदले मुझे ही ले लीजिए। मैं भी ब्राह्मण का बालक हूँ। ' पुरोहित ने कहा कि 'यह सौभाग्य सबको नहीं मिलता। इस बालक को नहीं छोड़ सकता हूँ, क्योंकि यह कालभैरव को पहले ही उत्सर्ग किया जा चुका है। तुम भी चल सकते हो, वहाँ पुरोहित-राज कापालिक की आज्ञा होगी तो इस बालक को छोड़ दूँगा और तुमको बलि पर चढ़ा दूँगा। ' ब्र० शुद्धचैतन्य सहर्ष राजी होकर शोभायात्रा में शामिल होकर चलने लगा। लड़के की माता के कण्ठ से आबाज अति रुदन के कारण बन्द हो गई थी। केवल पगली की तरह शोभायात्रा में शामिल होकर आ रही थी। शोभायात्रा कालभैरव की गुफा के सम्मुख पहुँच गई, जहाँ भयङ्कर भीड़भाड़ थी। सात कपड़े की पट्टियाँ सिर पर बाँधकर करीब पचास आदमी कटारी हाथ में लेकर नाच रहे थे। करीब सौ स्त्री-पुरुष शराब पी-पीकर वहाँ गाना गा रहे थे। शुद्धचैतन्य के बारे में पुरोहित और कापालिक के अन्दर जब बातचीत हो गई तो उन्होंने शुद्धचैतन्य से कहा कि 'अगर तुम राजी हो तो तत्काल भैरव की सेवा में तुमको बलिदान किया जाएगा। ' अत: शुद्धचैतन्य राजी हो गया और पुत्र शोकातुर जननी को उसका पुत्र वापस दे दिया गया। तब पुत्र का आलिङ्गन करके माता बेहोश होकर गिर पड़ी।

ब्र० शुद्धचैतन्य को पुरोहितों ने स्नान करवाया, वदन में रक्त चन्दन लगवाया। फूलों की माला पहिनाकर और उसके सिर पर हाथ रखकर पुरोहित मन्त्रपाठ करने लगा। कपाल में कुमकुम लगवाया गया। खड्ग की पूजा की गई। कालभैरव की गुफा के सम्मुख काठ की वेदी पर शुद्धचैतन्य के सिर को रखवाकर पुरोहित लोग मिलकर मन्त्रपाठ करने लगे। चारों तरफ से 'कालभैरव बाबा की जय' का उद्घोष होने लगा। शुद्धचैतन्य ने उपस्थित जन समूह को एक बार देखकर अपनी आँखें बन्द कर लीं और बलिदान के लिए तैयार हो गया। पुरोहित ने कान में मुख लगाकर मन्त्र पढ़ा-

---

५५- धर्मपुरी जिला-धार में नर्मदा के उत्तरी तट पर स्थित है। इस स्थान को हमने स्वयं खरगौन में रहते हुए (सन् (१९६४-६७ ई०) में देखा है। इसके ठीक उत्तर में २३ कि० मी० की दूरी पर प्रसिद्ध पर्यटन -स्थल माण्डू (माण्डवगढ़) है। जहाँ से नर्मदा एक रजत-धारा सी दिखाई पड़ती है। रानी रूपमती माण्डवगढ़ से इसे प्रतिदिन देखा करती थी।

५६- मुगल साम्राज्य के समय जंगलों में अनेक छोटे-छोटे किलों का निर्माण किया गया था, उन्हीं में से यह एक हो सकता है।

**ओम् नर त्वं बलि रूपेण मम भाग्यादुपस्थितः।**
**प्रणामि ततस्त्वां वै गच्छ त्वं गन्दर्भ-सदनम्।।**
**यज्ञार्थे पशवः सृष्टा यज्ञार्थे पशुघातनम्।**
**यज्ञे च मरणे त्वं हि ध्रुवं गन्ता त्रिविष्टपम्।।**

इस मन्त्र को पढ़कर पुरोहित ने खड्ग को घातक के हाथों में दे दिया और शुद्धचैतन्य की आँखों को कपड़े की पट्टी से अच्छी तरह से कसकर बाँध दिया गया। अब केवल बलिदान ही शेष था, लेकिन तभी अचानक बन्दूकों से गोलियाँ छूटने की तीन भयङ्कर आबाजें आईं, जिससे आदमी लोग चिल्लाने लगे-'भागो! भागो! भाग जाओ! मराठी फौज आ गई है।' अतः सभी जंगल के अन्दर भाग गए। केवल शुद्धचैतन्य ही अकेला बलिदान के लक्कड़ में बँधा हुआ वहाँ पड़ा रहा। तभी चार बन्दूधारी सिपाही वहाँ आ गए और उन्होंने उसे मुक्त कर दिया। शुद्धचैतन्य ने उस समय वहाँ सुना था कि वे लोग अमावस्या की रात्रि में नरबलि बन्द करवाने के लिए घूमा करते हैं। ये लोग मराठी फौज के सिपाही हैं[५७]। वह माता डर के मारे लड़के को साथ लेकर जंगल के अन्दर छिपी हुई थी। शुद्धचैतन्य ने वहाँ जाकर माता को आशा बँधाई कि अब इन फौजी सिपाहियों से डरने का कोई कारण नहीं है। उसने इन सिपाहियों से सब बातें अनुपूर्व से कह दी थीं और माता से, लड़के से तथा शुद्धचैतन्य से भी इन्होंने सब कुछ सुन लिया था। वे लोग वहाँ ही रहे। सबेरे दो सिपाही माता को और लड़के को साथ लेकर उनके घर पहुँचाने के लिए रवाना हो गए। दो सिपाहियों ने शुद्धचैतन्य को भी अपने साथ लेकर धर्मपुरी में छोड़ दिया। वहाँ से शुद्धचैतन्य मानधारा पहुँचा जहाँ नर्मदा नदी का एक प्रपात है। वहाँ स्नान करके वह प्रभु-चिन्तन करने लगा। उसने प्रभु को स्मरण किया कि 'हे प्रभो! मुझसे कौन सा कार्य होगा जिसके लिए तुमने मुझको बलिवेदी से भी बचा लिया? देश, समाज और धर्म की अवस्था पर वह विचार करने लगा। उसने समझ लिया था कि देश-सेवा, समाज-सेवा, जाति-सेवा के लिए योग्यता की आवश्यकता है। उसे स्मरण आया कि वह किसलिए नर्मदा के किनारे आया है। योगसिद्ध साधकों के सन्धान में वह दोनों किनारों पर प्रत्येक आश्रम पर गया था क्योंकि नदी-सङ्गम पर आश्रमों में योगी लोग रहते हैं। ये ही इनकी साधना के लिए सर्वोत्तम स्थान समझे जाते हैं। प्रभु ने उसकी परीक्षा की है और भी परीक्षाएँ सामने हैं।'

शुद्धचैतन्य दृढ़चित्त होकर नर्मदा के प्रवाह के अनुसार पूर्व दिशा की ओर जाने लगा[५८]। रास्ते में उसे बहुत से साधुओं का सङ्ग मिला। उनके अनुभवों को सुनकर उसने पारमार्थिक-जगत् सम्बन्धी लाभ भी उठाया। प्राकृतिक दृश्यों से उसका मन-बुद्धि-चित्त भी निर्मल होने लगा। हिंस्र-पशु भी साधुओं को पहचानते हैं। ये पशु साधुओं को किसी तरह की

---

५७- ये इन्दौर के महाराजा तुकोजीराव होलकर (द्वितीय) के सिपाही थे जिन्होंने २७ जून, १८४४ ई० से लेकर १७ जून, १८८६ ई० तक (४१ वर्ष, ११ माह, २० दिन) राज किया था। इस राज्य की स्थापना २६ मई, १७२८ ई० को पेशवा बाजीराव (प्रथम) के सरदार मलहारराव होलकर ने की थी। इसीलिए इस राज्य की गणना मराठा राज्य के अन्तर्गत होती चली आई है। इन्दौर से (महाराजा होलकर के छापेखाने से) पं० धर्मनारायण के सम्पादकत्व में १८४९ ई० में **'मालवा अखबार'** नामक साप्ताहिक पत्र निकला था जो १८७२ तक चला। उसकी पुरानी फाइलों का अध्ययन करने से उस समय घटने वाली ऐसी घटनाओं पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। २२ अक्टूबर, १८५० (मङ्गलवार) के अङ्क में उस समय के मनुष्यों की क्रूरता का परिचय हमें उस समय मिलता है जब हम उसमें पढ़ते हैं कि 'आहिस्ते-आहिस्ते सवारी वहाँ पहुँची जहाँ एक भैंसा बँधा हुआ था। उस पर लोग तलवारें मारने लगे और निशान के हाथी ने उसका काम तमाम किया।'

५८- सामान्यतया नर्मदा स्रोत से आरम्भ करके उसके तट पर पूर्व से पश्चिम की ओर ही चलना पड़ता है, परन्तु ऐसा करते हुए केवल एक ही तट एक बार में देखा जा सकता है। अतः दूसरे तट को देखने के लिए एक तट से दूसरे तट पर जाकर कभी-कभी विपरीत दिशा में (पश्चिम से पूर्व की ओर) भी चलना पड़ता है।

हानि नहीं पहुँचाते हैं। परन्तु शिकारी लोगों को देखते ही पशु बिगड़ जाते हैं। बन्दूक या बारूद की गन्ध पाकर ही ये पशु शिकारियों को मारने के लिए सङ्घबद्ध हो जाते हैं। जङ्गल के निवासी भी बहुत ही सरल, अतिथि-सेवा-पारायण और कृतज्ञ होते हैं। इस भरोसे पर शुद्धचैतन्य नर्मदा नदी के आदि से अन्त तक योगियों के सन्धान में तत्पर रहा।

**व्याध, हिंस्र-पशुओं और पक्षियों की करुणा**- नर्मदा के तटों पर योगियों के सन्धान में घूमते हुए शुद्धचैतन्य को व्याध, हिंस्र-पशु और पक्षियों की करुणा भी प्राप्त हुई थी। ऐसी दो-तीन घटनाओं का उसने अपने आत्मचरित्र में उल्लेख किया है-

गहरे वन के अन्दर जाते हुए एक दिन उसे मार्ग नहीं दिखाई दिया, रात्रि का अँधेरा छा चुका था। निश्चेष्ट होकर वह धीरे-धीरे चलने लगा और अँधेरे में एक गड्ढे में गिर गया। उसकी दाहिनी टाँग में चोट लग गई थी, अत: वह उस गड्ढे में ही पड़ा रहा। उसकी कातर आवाज को सुनकर वन में रहने वाले व्याध लोगों ने आकर उसे बाहर निकालकर अपने यहाँ तीन दिन तक रक्खा और नानाविध औषधियाँ (जड़ी-बूटियाँ) लगाईं तथा उसके खाने के लिए फलों का प्रबन्ध किया। इस प्रकार यथा-शक्ति उसकी सेवा की। पुन: उसके पूर्ण स्वस्थ हो जाने पर उन्होंने उसे उसके ठीक रास्ते पर पहुँचा दिया।

एक दिन वह क्षुधार्त्त होकर जंगल के अन्दर एक पेड़ के नीचे बैठा हुआ था। वहाँ उसे दो दिन तक भोजन नहीं मिला था। फलवाले वृक्ष भी उसे नहीं दिखाई दिए थे और कोई पुरुष भी नहीं दिखाई दिया था। तब तीसरे दिन भूख के कारण वह अशक्त होकर पेड़ के नीचे ही लेट गया। क्षुधा-पिपासा के कारण उसके प्राण निकलने से हो गए। तभी दो भालू उसके पास पहुँचे, जिन्हें देखकर उसने अपने जीवन की आशा ही छोड़ दी थी, परन्तु वे दोनों भालू तो उसके शरीर को सूँघकर ही चले गए और कुछ देर बाद उनमें से एक भालू मुँह में मधु मक्खियों का छत्ता लाकर उसके पास छोड़ गया। चूँकि छत्ता मधु से पूर्ण था अत: उसने भरपेट मधु को चाट लिया जिससे उसके शरीर में शक्ति आ गई और वह धीरे-धीरे आगे चल पड़ा।

एक दिन जंगल के रास्ते पर चलता हुआ वह परिश्रान्त होकर एक पेड़ के नीचे लेट गया और सो गया। जब किसी आवाज के कारण उसकी नींद खुली तो उसने देखा कि एक साँप उसके सिर पर अपना फन उठाए फुफकार रहा है। ऐसे में वह क्या करे, उसे कुछ समझ में नहीं आ रहा था। तभी एक पक्षी झपट करके आया और उस साँप को उठाकर ले गया। इन तीनों घटनाओं से उसे मालूम हुआ कि भगवान् की करुणा सब जीवों के अन्दर विद्यमान है और उसकी यह करुणा विचारातीत है[५९]।

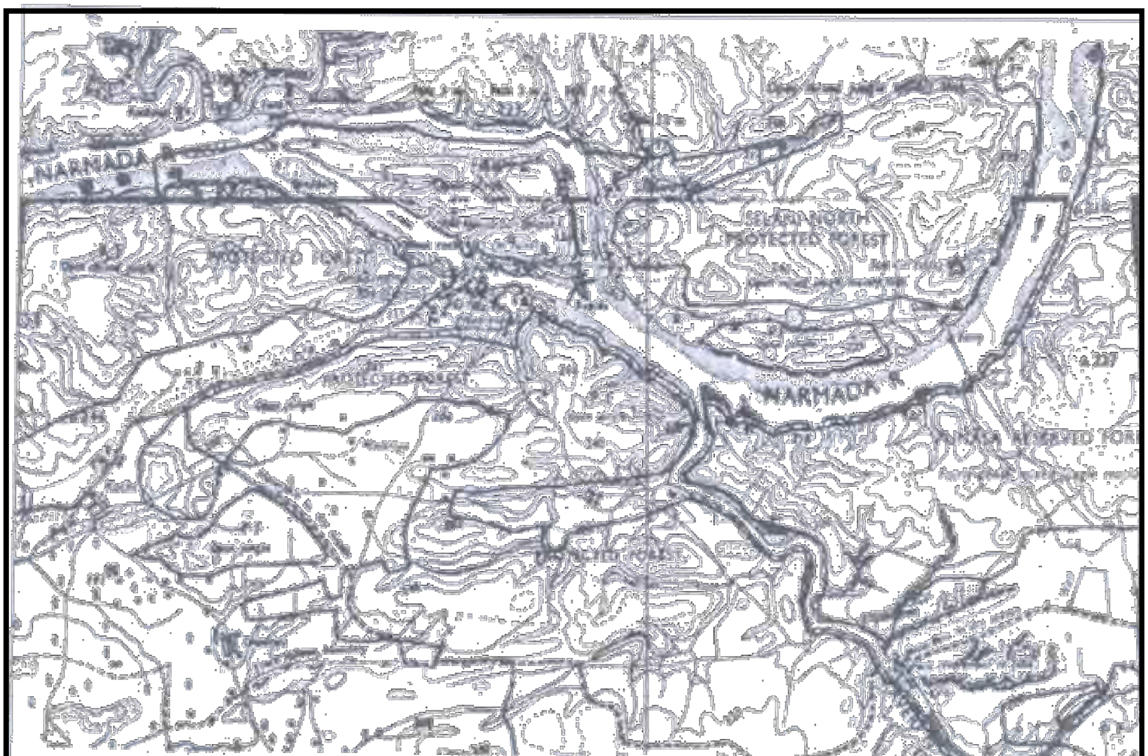
---

५९- इन सब घटनाओं ने ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य के हृदय पर परमात्मा के कृपालु स्वरूप की जो अमिट छाप छोड़ी, उसी का परिणाम था कि जब वह दूसरी बार संवत् १९१५ (सन् १८५८ ई०) में स्वामी दयानन्द सरस्वती के रूप में नर्मदा-स्रोत की ओर आते हुए मार्ग में ग्रामीणों ने जब उन्हें जंगली जानवरों से आत्मरक्षा के लिए एक डण्डा दिया तो उसे उन्होंने तुरन्त फेंक दिया और कहा कि 'मेरी सुरक्षा के बारे में आप लोग अधिक चिन्तित न हों, क्योंकि मैं (परमात्मा से) रक्षित हूँ।' थियोसोफिस्ट के सम्पादक के अनुसार 'ऐसे अवसरों पर स्वामी जी अपनी यात्रा के अत्यन्त रोचक प्रसङ्गों का वर्णन करना छोड़ देते हैं क्योंकि वे नहीं चाहते कि जिस व्यक्ति ने उसकी जान बचाई थी, उसके नाम अथवा उस घटना का उल्लेख किया जाए। वे इसे अपने मित्रों को तो बता देते हैं, परन्तु घटनाओं का प्रकाश करना उन्हें स्वीकार नहीं।' इसीलिए ऐसी घटनाओं का वर्णन स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यदि १८७३ ई० में कलकत्ता में कर दिया और आगे १८७९ में अपने हस्तलिखित जन्मचरित्र में नहीं किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पूना-प्रवचन में तो वे सार्वजनिक तौर पर ४ अगस्त, १८७५ ई० को ऐसा कर भी नहीं सकते थे। उनका कहना था कि 'मैंने आज तक अकेले ही भ्रमण किया है और आगे भी करूँगा। कई बार मेरे प्राण-हरण की चेष्टा की गई, परन्तु सर्वरक्षक परमात्मा ने सर्वत्र मेरी रक्षा की है, भविष्य में भी वही करेगा।'

मण्डलेश्वर जाने का सन्धान ब्र० शुद्धचैतन्य को किसी साधु से मिला था। मार्ग में नर्मदा के अन्दर एक टापू पड़ता है। महाराज मान्धाता ने यहाँ तपस्या की थी। इसी से इस टापू का नाम मान्धाता पड़ गया है। इसके एक ओर नर्मदा और दूसरी ओर नर्मदा से निकली हुई कावेरी बहती है। कावेरी आगे जाकर नर्मदा में ही मिल गई है[६०]। इस टापू में बहुत से मन्दिर हैं। इस स्थान का नाम ओङ्कारेश्वर भी है। कोटि तीर्थ और चक्र तीर्थ भी समीप

–**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० १७३)

६०- नर्मदा में मिलने वाली छोटी-छोटी नदियों में से कुछ नाम ऐसे भी हैं जो अन्यत्र उन्हीं नामों की बड़ी-बड़ी नदियों के हैं। इन्हीं में से एक कावेरी नदी है। अत: हम इस विवरण की सत्यता के लिए इस स्थान का एक स्थल मानचित्र नीचे दिए दे रहे हैं-




मान्धाता अथवा ओंकारेश्वर में नर्मदा पर एक त्रिभुजाकार टापू निर्मित हो गया है जो नर्मदा और कावेरी नदियों से घिरा हुआ है। ऊपर से देखने पर इसका नत-प्रक्षेप 'ॐ' के आकार की तरह का दिखाई पड़ता है। इसीलिए इस स्थान का नाम ओंकारेश्वर पड़ा है।

इस मानचित्र से स्पष्ट है कि कावेरी नदी दक्षिण में आकर नर्मदा में मिलती है। पहाड़ी नदी होने के कारण इसमें प्रवाह इतना अधिक तेज होता है कि वह नर्मदा के प्रवाह को पार करके दूसरी ओर चला जाता है। फलस्वरूप यहाँ टापू बन गया है।

हैं। नौका से पार होकर यहाँ आना होता है। योगियों के सन्धान में शुद्धचैतन्य इन सब स्थानों पर गया-आया, लेकन वह सफलकाम नहीं हुआ। कावेरी धारा के आरम्भ में पशुपतिनाथ तीर्थ है और अन्त में कावेरी-नर्मदा के सङ्गम पर कुबेर की तपोभूमि है। वहाँ से थोड़ी दूर पर च्यवन ऋषि का आश्रम है। कुबेर की तपोभूमि के आगे सप्त- मातृका तीर्थ है। वाराही, चामुण्डा, ब्राह्मणी, वैष्णवी, इन्द्राणी, कौमारी और माहेश्वरी- इन सप्त मातृकाओं के पृथक्-पृथक् मन्दिर हैं। इन सब ही मन्दिरों में तान्त्रिक साधुओं से शुद्धचैतन्य का वार्तालाप हुआ था। इनकी पञ्चमकार की साधन-प्रणाली उसके लिए बहुत ही भयावह और अश्लील थी। वहाँ ६४ योगिनियों और ५२ भैरवों के मन्दिर भी हैं [६१]और मन्दिरों में बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ भी हैं। वहाँ से ब्र० शुद्धचैतन्य नर्मदा के सर्वश्रेष्ठ जलप्रपात के पास गया। वहाँ से कोटेश्वर और नीलगढ़ तीर्थ समीप हैं। वहाँ से आगे जाते हुए उसने नागेश्वर कुण्ड, भस्मटोला, विमलेश्वर, गोमुखघाट और गङ्गेश्वर तीर्थ में योगियों का सन्धान किया था। वहाँ से आगे मतङ्गमुनि का आश्रम है और नर्मदा के साथ चोरल नदी का सङ्गम है। वहाँ से मर्दाना और पिपलेश्वर होता हुआ वह मण्डलेश्वर तीर्थ पहुँच गया जहाँ उसकी भेंट कई योगियों और वैष्णव साधकों से हुई। मण्डलेश्वर के प्रमुख योगी आनन्दी बाबा ने उसे राजयोग सीखने के लिए परामर्श दिया था। उन्होंने उसे धारणा, ध्यान और समाधि की सिद्धि के लिए अति आवश्यक तत्वों के सम्बन्ध में भी उपदेश देकर आगे अग्रसर होने के लिए कहा था। अत: वह मण्डलेश्वर में कई दिन रहकर महिष्मती की ओर चल दिया।

**महिष्मती से धर्मराय तीर्थ**- महिष्मती का आधुनिक नाम महेश्वर है। महेश्वर नगर से थोड़ी दूरी पर महेवरी नदी नर्मदा से मिलती है। ज्ञानवादी शङ्कराचार्य से कर्मवादी मण्डनमिश्र का यहाँ ही शास्त्रार्थ हुआ था। प्राचीनकाल में चन्द्रवंशीय राजा महिष्मान् ने इस नगर को बसाया था। माहेश्वरी सङ्गम में ज्वालेश्वर शिव का मन्दिर है। इसके आगे सहस्रधारा नामक स्थान है। वहाँ उसकी मुक्तेश्वर बाबा से भेंट हुई थी। उनके साथ वह बहुत दूर तक घूमता-घामता पर्वत के ऊपर माण्डवगढ़ में पहुँचा गया था। इसके साथ ही वह पर्वत और वनों के अन्दर जाता हुआ पगारा, धर्मपुरी और खलघाट [६२] में भी गया था। कुब्जा नदी का सङ्गम, दधीच आश्रम, साटक नदी का सङ्गम, कारम और बुटी नदी का सङ्गम, कसरावद, बोधपाड़ा, चिखल्दा, राजघाट, कोटेश्वर, मेघनाद नाम के स्थान, गोई नदी का सङ्गम और धर्मराय तीर्थ तक दोनों ने साथ-साथ भ्रमण किया था [६३]। धर्मराय तीर्थ के पास हिरणफाल तीर्थ के मार्ग की निम्न घटना ब्र० शुद्धचैतन्य को स्मरण रही-

'जङ्गल के अन्दर दोपहर के समय एक पेड़ के नीचे वे दोनों विश्राम कर रहे थे। अचानक वन्य वाराहों का एक विशाल झुण्ड भयङ्कर गर्जन करता हुआ उन दोनों के चारों ओर आ गया। मुक्तेश्वर बाबा डर के मारे चिल्लाते हुए पेड़

---

इसलिए इस टापू (मान्धाता या ओङ्कारेश्वर) के उत्तर की ओर की नदी भी कावेरी ही कही जाती है जो आगे चलकर नर्मदा में ही मिल जाती है जैसा कि उक्त चित्र से स्पष्ट है। *'मध्यप्रदेश की नदियाँ'* (लेखक- शम्भुदयाल गुरु) नामक ग्रन्थ में लिखा है कि 'स्थानीय रूप से विश्वास किया जाता है कि कावेरी का जल नर्मदा के जल से उसके वास्तविक सङ्गम-स्थल पर नहीं मिलता वरन् उसके आर-पार बहता हुआ द्वीप के उत्तर की ओर घूमकर द्वीप के नीचे नर्मदा से सङ्गम करता है। इसलिए भक्तजन वास्तविक सङ्गम-स्थल की अपेक्षा इस स्थल पर स्नान करना पसन्द करते हैं।'

६१- इन मन्दिरों का निर्माण १५५५ ई० में हुआ था।

६२- यह प्रसिद्ध आगरा-बम्बई राजमार्ग पर स्थित नर्मदा का एक घाट है।

६३- इनमें से अधिकांश स्थान खरगोन (पश्चिम निमाड़) के जिले में पड़ते हैं, जहाँ मैं वर्ष १९६४-६७ ई० में अपनी शासकीय सेवा के दौरान रह चुका हूँ। नर्मदा नदी के किनारे राजघाट में बड़वानी राज्य की राजधानी थी।

पर चढ़ गए और उन्होंने शुद्धचैतन्य को भी अपने पीछे पेड़ पर चढ़ने के लिए कहा। पर पेड़ पर शीघ्र चढ़ना उसे नहीं आता था। अतः वह निरुपाय होकर पेड़ के नीचे ही खड़ा रह गया। तभी जंगलों में रहने वाले लोग उसके लिए चिल्लाने लगे। साधु बाबा तो पेड़ पर चढ़ गए थे, परन्तु उनकी बहुत मजबूत लाठी नीचे ही छूट गई थी जिसे अपने हाथों में लेकर शुद्धचैतन्य बचने की आशा छोड़कर लाठी खड़ी करके वाराहों के सम्मुख खड़ा हो गया। वह बार-बार लाठी से भूमि पर आघात करके खड़ा रहा। फलस्वरूप वाराहों का झुण्ड चुपचाप क्षण भर रुककर विकृत और भयङ्कर आवाज करता हुआ वहाँ से भागकर चला गया। तब जंगल के रहने वाले स्त्री-पुरुष वहाँ पेड़ के नीचे जमा होने लगे और उससे पूछने लगे कि वह कौन सा मन्त्र जानता है, जिसके कारण वन के हिंस्र-पशु भी डर के मारे भाग जाते हैं। साधु बाबा भी धीरे-धीरे पेड़ पर से नीचे उतर आए और सबसे कहने लगे कि यह साधु बहुत गुणी है। उनसे इस बात को सुनकर जंगल के शतशः स्त्री-पुरुष अपना-अपना भविष्य का हाल जानने के लिए, औषधि-उपचार के लिए और विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिए शुद्धचैतन्य के पास आकर उसे घेरने लगे। अतः अगले दिन प्रातःकाल वह अकेला ही वहाँ से भाग चला। तब उसने देखा कि मुक्तेश्वर बाबा भी उसके पीछे-पीछे ही दौड़े चले आ रहे हैं। इस प्रकार वे दोनों पुनः एक साथ होकर आगे चल पड़े। '

**धर्मराय तीर्थ से चाणोद**- धर्मराय तीर्थ के पास ही हिरणफाल का जंगल है [६४]। जंगल के अन्दर से नर्मदा का प्रवाह है। ब्र० शुद्धचैतन्य और मुक्तेश्वर बाबा ने जंगल के अन्दर प्रवेश किया और पैदल चलते हुए दोनों असुरों की तपोभूमि हिरणफाल में पहुँच गए। वहाँ उन्होंने एक और तपस्वी साधु को देखा। इस तपस्वी साधु ने इन दोनों से कोई बात नहीं की क्योंकि वह मौनी था। केवल सङ्केत से उस दिन इनके वहाँ रहने का प्रबन्ध कर दिया थाऔर खाने के लिए फलदार वृक्ष तथा रात बिताने के लिए एवं भगवान् का चिन्तन करने के लिए एकान्त वृक्ष तल दिखा दिया था। तब इन दोनों ने रात को फल खा लिए। आधी रात को इन्होंने देखा कि उस तपस्वी मौनी साधु ने जोर-जोर से लगातार शब्द करना आरम्भ कर दिया है। उसी समय वहाँ के रहने वाले चार आदमियों ने आकर इन्हें बताया कि ये मेंढक बाबा [६५] हैं, अब पानी बरसने वाला है और बाघ भी गुर्राने वाले हैं, हम लोग डरे नहीं। ऐसा कहकर वे लोग चले गए। थोड़ी देर बाद प्रबल पानी बरसने लगा, चारों तरफ बाघ भी गुर्राने लगे और पानी जब तक बरसता रहा तब तक वे तपस्वी भी शब्द करते रहे। जब पानी बन्द हो गया तब वे तपस्वी भी मौन हो गए और बाघ भी शान्त हो गए। दूसरे दिन सबेरे उस तपस्वी को प्रणाम करके ये दोनों आगे को चल दिए। वहाँ से ये लोग शूलपाणि तीर्थ [६६] आए। यहाँ से वे वन और पहाड़ों के कठिन मार्ग को पकड़ कर नर्मदा के किनारे-किनारे चलने लगे। पास में ही भृगुतुङ्ग पर्वत और मार्कण्डेय गुफा है। थोड़ी दूर पर नर्मदा के किनारे रणछोड़ जी का प्राचीन जीर्ण मन्दिर है। वहाँ से वे कपिल तीर्थ, मोक्षगङ्गा का नर्मदा से सङ्गम, बड़गाँव, पिपरिया, मार्कण्डेय आश्रम, गरुड़ेश्वर, वाल्मीकि आश्रम, वनखोड़ा घाट, इतनी नदी का सङ्गम, मोखड़ी, भोगकुल्या सङ्गम, चक्रतीर्थ, भीमकुल्या सङ्गम

६४- **हिरणफाल**- यह धार जिले में नर्मदा का एक जलप्रपात है।

६५- **मेंढक बाबा**- यह उनका उपनाम पड़ गया था क्योंकि वे मेंढकों की आवाज निकालने में प्रवीण थे। इसकी विधि यह है कि मुँह बन्द करके अन्दर गहरी साँस भरकर नाक से '**ॐ३...** ' की ध्वनि निकालते हुए बारी-बारी से दोनों नथुनों को खोलें और बन्द करें तो वर्षा ऋतु में मेंढकों के बोलने की सी ध्वनि निकलती है। ऐसा वे तब करते थे जब उन्हें वातावरण में उत्पन्न हुई आर्द्रता के स्पर्श से वर्षा होने की अनुभूति होती थी। यह शीतकालीन वर्षा रही होगी। मैंने यह विधि स्वयं अपने कुल-पुरोहित से अपने यौवन काल में सीखी थी।

६६- शूलपाणि-घाटी के कोल-भील प्रायः यात्रियों को लूट लेते हैं।

और गमोण तीर्थ आ गए थे। यहाँ से वे एक-एक स्थान पर दो-तीन बार भी गए थे और भिन्न-भिन्न स्थानों पर आया-जाया करते थे। यहाँ से मुक्तेश्वर बाबा ब्र० शुद्धचैतन्य से अलग होकर कहीं अन्यत्र चले गए थे। शूलपाणि का वन भी यहाँ समाप्त हो गया था।

यहाँ पहुँचकर सब ही से ब्र० शुद्धचैतन्य ने चाणोद, कर्णाली, सीनोर जाने का रास्ता पूछा था। चाणोद, कर्णाली, सीनोर, व्यासाश्रम प्रभृति स्थानों के प्रति उसका आकर्षण पूर्व से ही था क्योंकि उसके गुरु परमहंस स्वामी सच्चिदानन्द ने काशी में उसकी विदाई के समय इन स्थानों पर योगसिद्ध पुरुषों के सन्धानार्थ उसे जाने का निर्देश दिया था। अत: वह पूछताछ करके चाणोद पहुँच गया। उस समय उसकी अवस्था २३ वा २४ वर्ष की थी [६७]।

## चाणोद में संन्यास ग्रहण

चाणोद में एक नामी धर्मक्षेत्र नर्मदा के किनारे है। यहाँ सप्ततीर्थ विद्यमान हैं। ये हैं- चण्डादित्य, चण्डिका देवी, चक्रतीर्थ, कपिलेश्वर, ऋण-मुक्तेश्वर, पिङ्गलेश्वर और नन्दाह्रद। इन तीर्थों में साधु, योगी, साधक और संन्यासी रहते हैं। प्रत्येक पूर्णिमा और विशेष पुण्य-तिथि पर यहाँ प्रत्येक तीर्थ में मेला लगा करता है। ब्र० शुद्धचैतन्य यहाँ योगी, मुक्त पुरुष और साधकों का सन्धान करने लगा। वह यहाँ एक वेदान्ती साधु स्वामी परमानन्द परमहंस से वेदान्त सार, वेदान्त परिभाषा और वेदान्त चिन्तामणि पढ़ने लगा। उन्होंने उसे कहा था कि ब्रह्म, जीव और जगत् के बारे में पूर्ण निश्चय का अनुभव आ जाने के बाद ही मुक्ति की पिपासा आ जाएगी। तब तक वेदान्त के वास्तविक रूप की आलोचना होनी चाहिए। उनसे उसने नव्य वेदान्त के बहुत से अन्य ग्रन्थों का भी थोड़े महिनों में अध्ययन कर लिया। उस समय उसे भिक्षान्न से या कभी-कभी स्वयं भोजन पकाकर अपना जीवन-निर्वाह करना पड़ता था जिससे इन दोनों कार्यों में ही उसका पर्याप्त समय नष्ट हो जाता था। इसके साथ ही अब तक वह 'शुद्धचैतन्य ब्रह्मचारी' के नाम से ही जाना जाता था जिस नाम को भी वह और अधिक प्रसिद्ध करना नहीं चाहता था, क्योंकि उसे अपने घरवालों का बहुत भय था। अत: उसकी इस स्थिति पर विचार करके स्वामी परमानन्द परमहंस ने उसे संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने का परामर्श दिया, क्योंकि संन्यासी बन जाने पर खाने-पीने के लिए उसे अपने हाथ से रसोई नहीं बनानी पड़ेगी। अत: उसने संन्यास ग्रहण करने का अपना विचार पक्का कर लिया।

संन्यास देने के लिए ब्र० शुद्धचैतन्य को किसी योग दीक्षित मराठी अथवा गुजराती साधु की अपेक्षा थी। ठीक इसी समय चाणोद के समीप कुछ कम कोश की दूरी पर जंगल में बने एक मकान में एक पूर्णानन्द सरस्वती नाम के मराठी संन्यासी का अपने शिव चैतन्य नाम के ब्रह्मचारी के साथ श्रृङ्गेरी मठ से द्वारिका मठ की ओर जाते हुए पदार्पण हुआ। बहुत विचार के बाद उन्होंने ब्र० शुद्धचैतन्य के निवेदन पर उसे संन्याश्रम में दीक्षित कर दिया। तब से ब्र० शुद्धचैतन्य का नाम **स्वामी दयानन्द सरस्वती**[६८] हो गया। यहाँ से ये दोनों साधु (पूर्णानन्द सरस्वती और शिव चैतन्य) अपने-अपने गन्तव्य

---

६७- फाल्गुन संवत् १९०५ वि० के मध्य तक (अर्थात् गुरुवार फाल्गुन शुक्ला १४ तदनुसार ८ मार्च, १८४९ ई० तक) चाणोद पहुँच जाने से उस समय ब्र० शुद्धचैतन्य की आयु लगभग २३।। वर्ष की थी।

६८- सम्भवत: संवत् १९०५ (गुजराती) के ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष (मई-जून, १८४९ ई० में) ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य (पूर्व नाम दयाराम अथवा मूलशङ्कर) ने अपनी २४ वर्ष की आयु पूर्ण होने से कुछ पहले ही संन्यास ग्रहण कर लिया और अपनी माता जी द्वारा दिए गए अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध हुए नाम के प्रथम शब्द को यथावत् रखते हुए ही **दयानन्द सरस्वती** नाम ग्रहण कर लिया। अपना यह नाम उन्हें इतना प्रिय था कि उन्होंने इसे अपने ग्रन्थों - सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि:, पञ्च-

स्थानों को चले गए और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी आगे व्यासाश्रम के लिए प्रस्थान किया।

---

महायज्ञविधिः, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, आर्याभिविनयः, वेदान्तिध्वान्तनिवारणम् और गोकरुणानिधिः में इससे सम्बन्धित अनेक श्लोक लिखे हैं। यथा-

१- *दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,*
*सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यशरणा।*
*तदाख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रिपरमा;*
*सको दान्तश्शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः।।१।।*
*सत्यार्थप्रकाशाय ग्रन्थस्तेनैव निर्मितः।*
*वेदादिसत्यशास्त्राणां प्रमाणैर्गुणसंयुतः।।२।।* –सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) के हस्तलेख पर

२- *दयाया आनन्दो विलसति परो ब्रह्मविदितः,*
*सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया।*
*इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा हीशशरणा-*
*ऽस्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः।।* – *संस्कारविधिः*

३- *दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,*
*सरस्वत्यस्याग्रे निवसति सदा सत्यनिलया।*
*इयं ख्यातिर्यस्य प्रकटसुगुणा वेदशरणा-*
*ऽस्त्यनेनेदं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः।।* – पञ्चमहायज्ञविधिः

४- *दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,*
*सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा।*
*इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमनना-*
*ऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः।।* – ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

५- *दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,*
*सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यविमला।*
*इयं ख्यातिर्यस्य प्रलसितगुणा ब्रह्मशरणा-*
*ऽस्त्यनेनेदं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः।।* – आर्याभिविनयः

६- *दयापूर्वोपेतं परमपरमाख्यातुमनघाः*
*गिरायानं जानन्त्यमतिमतविध्वंसविधिना।*
*स वेदान्तश्रान्तानभिनवमतभ्रान्तमनसः*
*समुद्धर्तुं श्रौतं प्रकटयति सिद्धान्तमनिशम्।।* – वेदान्तिध्वान्तनिवारणम्

७- *तनोतु सर्वेश्वर उत्तमं बलं*
*गवादिरक्षं विविधं दयेरितः।*
*अशेषविघ्नानि निहत्य नः प्रभुः*
*सहायकारी विदधातु गोहितम्।।* – गोकरुणानिधिः

''जो पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय = विषय-भोग की कामना से रहित, परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो, वह ब्रह्मचर्याश्रम ही से संन्यास लेवे।''

– **सत्यार्थप्रकाश** (पञ्चम समुल्लास)

अध्याय-तीन

# योग-विद्या-शिक्षा के छः वर्ष

**[ चैत्री संवत् १९०५ वि० से १९११ वि० पर्यन्त ]**

## व्यासाश्रम में

शुकेश्वर तीर्थ नर्मदा के दक्षिणी तट पर है और उत्तरी तट पर व्यास तीर्थ है। यहाँ व्यास जी के नाम पर व्यासाश्रम है। नर्मदा की एक धारा आश्रम के उत्तर की ओर भी बह रही है, इसलिए यह आश्रम द्वीप में परिणत हो गया है। इसके अगल-बगल चारों तरफ झंझर, ओरी, कोहिबभू, अनसूया आदि तीर्थ हैं। चाणोद से अनसूया तक नौका से आना-जाना पड़ता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इन सब ही तीर्थों में योगियों के सन्धान में घूमे थे और अन्त में निराश होकर वे व्यास तीर्थ में पहुँच गए थे [६९]।

वहाँ पहुँचने के साथ ही एक साधु-''तुम दयानन्द सरस्वती हो''- ऐसा कहकर उन्हें व्यासाश्रम में ले गया। तब स्वामी दयानन्द सरस्वती चकित हो गए क्योंकि वे नहीं समझ सके कि उसको इनका नाम कैसे मालूम हो गया था। उसने रहने के लिए उनको एक कुटिया दे दी और खाने के लिए आश्रम के फलवान वृक्ष दिखा दिए। वहाँ एक अतिवृद्ध साधु को दिखाकर उन्होंने कहा-''इनकी सेवा का भार तुम्हारे ऊपर रहा। ये तुम्हें योगविद्या की शिक्षा देंगे और बीच-बीच में मैं तुम्हारी विद्या की परीक्षा लूँगा। मन को शान्त रखो। '' साधु बाबा का नाम स्वामी योगानन्द था। इनके साथ रहते हुए स्वामी दयानन्द योगविद्या सीखने लगे।

### दिनचर्या

उन्होंने दयानन्द की दिनचर्या का कार्यक्रम इस प्रकार बनवा दिया था-

**रात्रि** के तृतीय प्रहर में शैय्या से उठकर सूर्योदय तक धारणा और ध्यान में बैठे रहना।

**सवेरे** नित्यकर्म और नैमित्तिक कर्म के बाद योगशास्त्रों का स्वाध्याय करना और अल्प समय के लिए शङ्का-समाधान करना।

**दोप्रहर** में आहारादि के बाद विश्रामान्त में क्रिया योग का अभ्यास करना।

**अपराह्नः** में वन-भ्रमण और वृक्ष-मूल में बैठकर भगवच्चिन्तन और

**सायं** को नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अन्त में धारणा, ध्यान और क्रिया योग का अनुशीलन।

दोप्रहर का आहार भिक्षान्न से और सायं का आहार फलों के द्वारा; रुग्णावस्था में पूर्ण विश्राम ग्रहण करना।

सर्वदा वाक्-संयम, बृहस्पतिवार को मौन धारण और एकान्तवास।

किसी अशुभ इच्छा या कुचिन्ता के आने पर गुरु के पास बोल देना और प्रतिदिन गुरु के निर्देशानुसार आसन-प्राणायाम-मुद्रादि का अभ्यास करना।

---

६९- स्वामी दयानन्द सरस्वती जून, १८४९ ई० के मध्य में अर्थात् गुजराती संवत् १९०५ के ज्येष्ठ मास के कृष्ण पक्ष में किसी समय व्यासाश्रम आ गए थे।

## क्षुधा पर विजयलाभ

दैनन्दिन कार्यक्रम का अभ्यासी हो जाने पर गुरुजी ने दयानन्द को क्षुधा पर विजय लाभ के लिए उपदेश दिया–

''क्षुधा मनुष्यों का परम मित्र है, लेकिन क्षुधा को संयत नहीं रखने से वह शत्रु बन जाती है। योगी या योग के शिक्षार्थी को तो इस पर विजय-लाभ करना ही होगा। क्षुधा एक तरह की इच्छा है, इसके द्वारा शरीर के क्षय की पूर्त्यर्थ खाद्य की जरूरत समझी जाती है। इस क्षय-पूर्ति के बिना देह यातना भोगता है और शरीर से प्राण निकल जाता है। जिस वस्तु से शरीर का पोषण असम्भव हो, उसके भी ग्रहण से क्षुधा की निवृत्ति देखी जाती है। लेकिन देखा जाता है कि बहुत बीमार आदमी बिना भोजन के मासाधिक काल तक रह जाते हैं। बिना भोजन के बहुत से उन्मादी सुदीर्घ काल तक रह जाते हैं और बहुत शोक-ग्रस्त व्यक्तियों को क्षुधा लगती भी नहीं। खाद्यों से हम लोगों को जो प्राण वायु मिलता है और जिसके द्वारा हम लोग जीवित रहते हैं वह प्राण-वायु मिट्टी, पानी, आग, हवा और आसमान से यथेष्ट मिल सकता है। योगी प्राणायाम के यथायथ साधन से भी शरीर की क्षय-हानि को पूर्ण कर सकते हैं। जितने परिमाण के खाद्य को आदमी ग्रहण करते हैं, शक्ति के अभाव के कारण पाकाशय उससे सम्पूर्ण प्राण-शक्ति को लिए बिना उसे छोड़ देता है। लेकिन प्राणायाम से शक्ति-वृद्धि होने पर योगी पञ्च भूतों से भी अपनी जरूरत के अनुसार प्राण-वायु लेकर जीवित रह सकता है।

दैनन्दिन श्रमादि के द्वारा देह के उपादानों का क्षय होता है। आहार आदि के द्वारा उसकी पूर्ति हो जाती है। अल्प श्रम होने से आदमी अल्प-भोजी होता है। श्रम अधिक होने से अधिक-भोजी होता है। श्रमादि की स्वल्पता से शरीर का स्वल्पक्षय और स्वल्पाहार का प्रयोजन होता है। अन्तःकरण सात्विक आनन्द से, चिरतृप्ति से, मन में सन्तोष रहने से और शरीर निश्चल रहने से देह का क्षय नहीं होता है। सुदीर्घ चिन्तन के द्वारा भी क्षुधा की निवृत्ति होती है। दुश्चिन्ता से शरीर का क्षय ज्यादा होता है और प्रगाढ़ आनन्दपूर्ण चिन्तन के द्वारा शरीर की वृद्धि होती है। आनन्दस्वरूप परमात्मा में अपने को नियमित रूप से उपासना के अन्दर निमज्जित रखने से शरीर और मन अपक्षय से बचकर सदा प्रफुल्लित कमल के रूप में रहते हैं।''

यह उपदेश लेने के बाद स्वामी दयानन्द ने अच्छी तरह से इस पर विचार किया और कोई एक महिने के बाद इसको क्रियात्मक रूप से ग्रहण करने के लिए ही इच्छा की थी। तब गुरुजी ने उनको रोक दिया था। तीन महिनों के बाद शीत ॠतु आने पर [७०] गुरु जी ने इसके लिए नियम बनवा दिए–

१– दिन के अन्दर प्रचुर परिमाण में जल पीना।
२– दिन में पूर्णाहार और रात में स्वल्पाहार करना।
३– पीछे महीने में दो दिन उपवास रखना।
४– पीछे सप्ताह में एक दिन उपवास रखना।
५– पीछे केवल फलाहार या दुग्ध पान करना।
६– पीछे क्रमानुसार सप्ताह में एक दिन, दो दिन, तीन दिन केवल जल पीकर रहना।

७०– जून १८४९ के मध्य में दयानन्द व्यासाश्रम आए, जुलाई के मध्य में उन्होंने एक माह बाद गुरुजी के उपदेश को क्रियात्मक रूप से ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की और अगले तीन महिनों के पश्चात् हेमन्त ॠतु के आने पर (१६ अक्टूबर, १८४९ के पश्चात्) गुरुजी द्वारा इसके लिये नियम बनवा दिये गए। इस प्रकार कार्तिक सं० १९०६ (गुजराती) का शुक्ल पक्ष आ गया।

७- पीछे सप्ताह भर ही केवल जल पीकर और वायु सेवन कर प्रबल ध्यान और प्राणायाम के साथ आसन में बैठे रहना, और

८- अति छोटे आँगन के अन्दर भ्रमण करने के नियम बनाये गये थे।

स्वामी दयानन्द इन नियमों पर बहुत दिनों तक प्रतिष्ठित रहे थे। बाद में भी यह क्रिया उनके आयत्व में रही थी। धारणा, ध्यान और समाधि का इन्हीं नियमों के द्वारा उन्हें अभ्यास हो गया था। क्षुधा उनको क्लेश नहीं देती थी।

बाद में व्यासाश्रम में जितने भी योग-शिक्षार्थी आते रहे, गुरुजी उनकी शिक्षा का भार दयानन्द पर ही छोड़ देते रहे थे। एक घटना उन्हें याद आती रही थी-

मध्यभारत के किसी प्रसिद्ध राजा के पुत्र ने पूरे प्रबन्ध के साथ नर्मदा के किनारे सपत्नीक शिकार खेलने के लिए जंगल में प्रवेश किया [७१]। दो दिन के बाद किसी कारणवश राजपुत्र और राजवधू के अन्दर द्वेष, अभिमान और रोष पैदा हो गया था। राजा ने अपने सैन्य और भृत्यों में से बहुत थोड़े रखकर शेष सभी को राजधानी जाने के लिये आदेश दे दिया था और थोड़े से सैनिक, भृत्य और दासियाँ वधूरानी के साथ कई दिन तक वन के अन्दर ही रहे। बीच-बीच में राजपुत्र और वधूरानी दोनों व्यासाश्रम में उपदेश लेने लगे। एक दिन दोनों ही आपस में झगड़ा करके मध्यरात्रि में मीमांसा के लिए व्यासाश्रम में पहुँच गए थे। गुरुजी ने मीमांसा का भार दयानन्द के ऊपर छोड़ दिया था। स्वामी दयानन्द ने वधूरानी के अन्दर अपराध पाया और राजपुत्र से क्षमा माँगने के लिए उसको विवश किया। इसलिए वधूरानी दयानन्द के प्रति विद्वेष का भाव रखने लगी।

तीन-चार दिन के बाद दयानन्द के चरित्र पर कलङ्क आरोपण के लिए राजवधू मध्य रात्रि को पाँच दासियों के साथ कई हजार रुपयों के जेवरों से भरी हुई एक पेटिका लेकर उनकी कुटिया में पहुँच गई और बहुत ही विनीत भाव से उस पेटिका के साथ करीब १७-१८ वर्ष की परम सुन्दरी दासी को कई एक दिन आश्रम में रखने के लिए छोड़कर तुरन्त चली गई। तब दासी रोती हुई कहने लगी-"वधूरानी ने किसी अपराध के कारण मुझे राजपुत्र के तम्बू से निकाल दिया है। इस पेटिका के अन्दर करीब साठ हजार रुपयों के जेवर हैं। आपके चरणों में इस पेटिका के साथ मैं अपने को समर्पण करती हूँ। आप मुझको लेकर किसी दूसरे स्थान को चलिए, एक मुहूर्त भी देर न करें।" ऐसा कहती हुई वह आँखों से आँसू बहाने लगी।

तब दयानन्द ने प्रभु का स्मरण किया और कहा-"प्रभो! यह मेरे लिये तुमने कौन सी परीक्षा रख दी है? तुम ही मुझे बचाओ।" दयानन्द की आँखों में भी आँसू आ गए और वह तुरन्त गुरु जी को जोर-जोर से चिल्लाकर पुकारने लगे।

गुरुजी ने दूसरी कुटिया से आवाज दी-**"मा भेतव्यं, मा भेतव्यम् एषोऽहमागतः**- डरो मत, डरो मत, मैं आ रहा हूँ।"

गुरुजी आ गए। जेवर की पेटिका वहीं पड़ी हुई थी। लेकिन दासी वहाँ नहीं थी। दासी वहाँ से अचानक भाग गई थी। तब दयानन्द ने गुरुजी को सब वृतान्त बता दिया।

तब तक चार बन्दूकधारी सिपाहियों के साथ राजपुत्र भी वहाँ पहुँच गए और कहने लगे-"हम इन महात्मा दयानन्द संन्यासी को वधूरानी के कलङ्क-चक्र से बचाने के लिए आए हैं।"

दयानन्द ने कहा-"हाँ राजकुमार, दयालु प्रभु ने मुझे बचा लिया। यह रही दासी की पेटिका।"

---

७१- मध्यभारत में छोटे-बड़े २६ राज्य सम्मिलित थे। यह राजपुत्र इन्हीं में से किसी एक राज्य का था।

राजपुत्र ने कहा–"हाँ महाराज! यह पेटिका मेरी ही है। राजवधू के परामर्श से दासी चोरी से ले आई थी, आप इसको स्वीकार कीजिए।"

दयानन्द ने इस पेटिका को स्वीकार करके गुरुजी के चरणों में भेंट कर व्यासाश्रम के कार्य के लिये दे दिया। इस घटना के अन्दर दयानन्द ने प्रभु की अपार-लीला भाव का सन्दर्शन किया [७२]।

## श्वास और दीर्घजीवन

गुरुजी ने अनाहार के बारे में कहा–

**नाश्नन्ति दर्दुराः शीते फणिनः पवनाशनाः।**

**कूर्माश्चैवांगगोप्तारो, दृष्टान्ता योगिनो मताः।।**

अर्थात् योगी लोग मानते हैं- "शीतकाल में मेंढक खाते नहीं, साँप वायु का भक्षण करते हैं और कछुए अपने अङ्गों को छिपा के रखते हैं।" योगी लोग इन सब जीवों के अनुकरण से समाहित हो सकते हैं। उन्होंने अनुसन्धान किया था कि जिन प्राणियों की श्वास-संख्या जितनी कम और अल्पायत (कम लम्बी) होती है, वे प्राणी उतने ही अधिक समय तक जीवित रहते हैं, और जिन प्राणियों की श्वास संख्या जितनी अधिक होती है, वे प्राणी उतने ही अल्प समय तक जीवित रहते हैं। ये लोग इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि मनुष्य यदि अपने श्वास को कम कर सके तो अपने निर्दिष्ट जीवन काल से भी अधिक काल तक जीवित रह सकता है [७३]।

## आसन-शिक्षा

गुरु जी ने कहा–"चित्त स्थिर करने के लिये योग के भिन्न-भिन्न अङ्गों की साधना करना आवश्यक है। शरीर को स्थिर करने में आसन का प्रयोजन है [७४]। आसन सिद्ध न होने से धारणा, ध्यान या समाधि कुछ भी सम्भव नहीं है। शरीर स्थिर होने से चित्त स्थिर होता है। चित्त से शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है। चित्त में जिस भाव का उदय होता है, शरीर में वही भाव प्रकट होता है। विभिन्न आसनों की सिद्धि से चित्त के भावों का भी परिवर्तन होता है। जिन आसनों के अभ्यास से चित्त में उच्च भावों का उदय होता है, वे आसन ही योग-सम्बन्धी आसन हैं। योग के अनुकूल आसनों के अभ्यास से चित्त में निम्न भावनायें प्रकट नहीं होतीं, अपितु शुद्ध भाव प्रकट होते हैं। शरीर की स्थिरता से चित्त की स्थिरता आती है। चित्त स्थिर होने से प्राण वायु भी स्थिर हो जाता है।

आसन दो प्रकार के हैं–

---

७२- इस घटना और ऐसी ही कुछ एक अन्य घटनाओं के फलस्वरूप दयानन्द ने स्त्री जाति का मुख देखना तक छोड़ दिया था। मथुरा में स्वामी विरजानन्द से विद्याध्ययन करते हुए जब एक स्त्री ने उनकी ध्यानावस्था में उनके चरण-स्पर्श कर लिए तो उन्होंने इसके लिये प्रायश्चित किया और आगे स्त्रियों को कहा कि वे उनके उपदेश में न आया करें अपितु अपने पतियों से उपदेश ग्रहण किया करें जिन्हें ही वे उपदेश देंगे।

७३- "मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण, चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।" - **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (वेदसंज्ञा विचार विषय)

७४-**"स्थिरसुखमासनम्"** -**योगदर्शन** (२/४६)

"जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो, उसको आसन कहते हैं; अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे।"

- **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना प्रकरण)

**प्रथम**–किसी वस्तु से निर्मित आसन। जैसे–कुशासन, मृगचर्मासन, व्याघ्र–चर्मासन, लोमासन या कार्पास–वस्त्रासन। बिना आसन के मिट्टी पर बैठकर किसी प्रकार की साधना नहीं करनी चाहिए। मिट्टी पर सो जाने से या बैठने से पृथ्वी हमारी शक्ति को खींच लेती है। किसी वस्तु से निर्मित आसन पर बैठने से पार्थिव आकर्षण से हमको कोई हानि नहीं पहुँचती।

**द्वितीय**– देह को किसी कौशल से विन्यस्त रखना। दैहिक आसन बहुत प्रकार के हैं। जिस आसन में अभ्यस्त होने से शरीर निश्चल और सुखकर मालूम होता है, वही आसन उसके लिये हितकर होता है। अधिकांश साधकों के लिये मुक्त–पद्मासन ही बहुत अच्छा है[७५]। जितनी कम आयु से आसन का अभ्यास होता है, उतना ही अच्छा रहता है। अधिक आयु में आसन का अभ्यास कठिन हो जाता है क्योंकि पैरों की हड्डियाँ मोटी हो जाने से पैरों को मोड़ने में कष्ट होता है।

सभी आसनों में मेरुदण्ड को सीधा रखना होता है। मेरुदण्ड के अन्दर सुषुम्णा नाड़ी है। उस नाड़ी पथ से शक्ति ऊपर उठती है। मेरुदण्ड के निम्नतम स्थान से शक्ति ऊपर उठकर मस्तक के अन्दर सहस्रार तक पहुँच जाती है। साधकों की उन्नति के साथ–साथ शक्ति ऊर्ध्वगामिनी होती है। जितनी विषयासक्ति कम हो जाएगी और वैराग्य की वृद्धि होगी, वह शक्ति उतनी ही ऊपर की तरफ जाएगी। साधना की उन्नति इस पर ही निर्भर करती है। मेरुदण्ड सीधा रखने से सुषुम्णा सीधी और टेढ़ा रखने से टेढ़ी होती है। सुषुम्णा सीधी रहने से शक्ति सीधी आवागमन कर सकती है। जिसकी सुषुम्णा टेढ़ी हो वह उच्च भावना या उच्च धारणा भी नहीं कर सकता। समाधि लाभ तो असम्भव ही है।

## प्राणायाम–शिक्षा

गुरुजी ने उपदेश दिया– आसन का अभ्यास होने पर शीतोष्ण, क्षुधा–तृष्णा, सुख–दुःखादि द्वन्द चित्त को प्रभावित कर पराभूत नहीं कर सकते हैं [७६]।आसन जय होने से प्राणायाम सम्भव होता है। प्राणायाम–शिक्षा के साथ–साथ नाड़ी–शुद्धि भी करनी चाहिए।

प्राणायाम के तीन अङ्ग हैं–पूरक, रेचक और कुम्भक। नासारन्ध्र से श्वास वायु का ग्रहण 'पूरक' है। नासारन्ध्र से उस वायु को छोड़ देने का नाम 'रेचक' है और पूरक के बाद रेचक न करके निःश्वास को बन्द रखने का नाम 'कुम्भक' है। कुम्भक दो प्रकार के होते हैं–पूरकान्तक कुम्भक और रेचकान्तक कुम्भक। कुम्भक का दूसरा नाम गति–विच्छेद है[७७]।

बाहर श्वास–प्रश्वास का गति–विच्छेद करना होता है। अन्दर भी चित्त की गति का विच्छेद करना होता है। चित्त

---

७५– स्वामी दयानन्द सरस्वती मुक्त–पद्मासन ही लगाया करते थे।

७६– **''ततो द्वन्द्वानभिघातः''** – **योगदर्शन** (२/४८)

''जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है और न सर्दी–गर्मी अधिक बाधा करती है।'' – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना प्रकरण)

७७– प्राणायाम के तीन (वा चार) अङ्ग है–''एक 'बाह्यविषय' अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना, दूसरा 'आभ्यान्तर' अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय, उतना रोके, तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' अर्थात् एक ही बार जहाँ का तहाँ प्राण को यथाशक्ति रोके देना। चौथा 'बाह्याभ्यन्तराक्षैपी' अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे, तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें, तो दोनों की गति रुक कर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन होते हैं। बल–पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्म रूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इसमें मनुष्य शरीर में वीर्य–वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा।'' – **सत्यार्थप्रकाश** (तृतीय समुल्लास)

सर्वदा चञ्चल है। चित्त की चञ्चलता ही चित्त की गति है। श्वास-प्रश्वास स्थिर हो जाने से प्राण शक्ति का गति-विच्छेद होता है और चित्त की चञ्चलता दूर होने से चित्त का गति-विच्छेद होता है। चित्त की स्थिरता ही चित्त का गति-विच्छेद है। इसलिए कुम्भक के समय भीतर भी चित्त को स्थिर रखना चाहिए। प्राणशक्ति ही चित्त को चञ्चल करती है, इसलिए चित्त को स्थिर करना और प्राणशक्ति को स्थिर करना एक ही बात है। बाहर कुम्भक के द्वारा प्राणशक्ति को स्थिर करना और अन्दर चित्त को स्थिर करके प्राणशक्ति को स्थिर करना, प्राणशक्ति को दोनों ओर से स्थिर करना है। इसलिए प्रथमत: आसन का अभ्यास करके शरीर को स्थिर करना और इसके बाद ध्यान का अभ्यास करके मन को स्थिर करना चाहिए।

शरीर और मन को स्थिर करने से ही कुम्भक अभ्यास ठीक होता है। मन और शरीर को स्थिर न करके कुम्भक का अभ्यास करने से अनिष्ट होता है। इसलिए जो लोग अत्यन्त संसारी और विषयसेवी हैं, उनका कुम्भक करना अपने को खतरे में डालना है। मन के चाञ्चल्य के साथ भी कुम्भक नहीं करना चाहिए। जो लोग त्रिताप से प्राप्त वैराग्य के साथ और विषयासक्ति छोड़कर चित्त को स्थिर करके कुम्भक का अभ्यास करते हैं, उनको बहुत ही सुफल मिलता है। प्रथम प्राणायाम शिक्षार्थी को आसन-अभ्यास के साथ नाडी शुद्धि भी करनी चाहिए[७८]।

## नाडी-शुद्धि

नाडी-शुद्धि किसे कहते हैं? हमारे मेरुदण्ड के अन्दर तीन नाडियाँ हैं- इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा। ये नाडियाँ आध्यात्मिक हैं, आधिभौतिक नहीं। आध्यात्मिक विषय सूक्ष्म तत्व है, स्थूलतत्व नहीं है। बहिरिन्द्रिय के द्वारा स्थूलतत्व का ज्ञान होता है और अन्तरिन्द्रिय के द्वारा सूक्ष्मतत्व का ज्ञान होता है।

प्राणायाम से पहले नाडी-शुद्धि करने का विधान है, आसन में नियमित रूप से बैठकर प्रथमत: दक्षिण नासारन्ध्र को बन्द करके वाम नासारन्ध्र के द्वारा यथाशक्ति वायु को खींचना। जितना अधिक वायु खींचा जाए उतना ही अच्छा है। जबरदस्ती वायु खींचने से बीमारी हो सकती है। वाम नासारन्ध्र से यथाशक्ति वायु खींचने के बाद ही दक्षिण नासारन्ध्र द्वारा यथाशक्ति रेचक करना चाहिए। पूरक करने के बाद ही तुरन्त रेचक करना, बीच में कुम्भक नहीं करना। रेचक समाप्त होने के साथ-साथ ही दक्षिण नासारन्ध्र के द्वारा पूरक करना और वाम नासारन्ध्र से रेचक करना। इस प्रकार प्रतिदिन आसानी से जब तक सम्भव हो करना। पूरक और रेचक के समय वायु को धीरे-धीरे खींचना और धीरे-धीरे छोड़ना। नासारन्ध्र के सम्मुख रुई धरने से रुई न सञ्चालित हो, इस प्रकार धीरे-धीरे वायु को खींचना और छोड़ना। वायु को झट अचानक नहीं खींचना और नहीं छोड़ना चाहिए। खींचने के समय और छोड़ने के समय समान गति रखनी चाहिए। इस प्रकार की नाडी-शुद्धि के समय दूसरी कुछ चिन्ता नहीं लाना चाहिए। इसी क्रिया में ही मन लगाना चाहिए। श्वास-प्रश्वास में ही मन को निबद्ध रखना चाहिए।

बहुत दिन तक नाडी-शुद्धि का अभ्यास करने से आसनजय होता है, शरीर लघु होता है, तामसिक भाव हट जाता है, मन में आनन्द आता है, उच्च विषय के चिन्तन करने की और धारणा करने की शक्ति आती है और दूसरे बहुत प्रकार के उपकार होते हैं। खास करके इससे फेफड़े में बल आने लगता है और फेफड़े प्राणायाम करने के लायक बन जाते हैं।

नाडी-शुद्धि करने के समय निम्न विषयों के प्रति ध्यान रखना चाहिए-

१- ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना।

२- सात्विक और परिमित आहार करना।

---

७८- ''प्रथमं नाडी शोधनं कर्त्तव्यम्। तत: प्राणायामेऽधिकार:'' – **श्वेताश्वर उपनिषद** (२/८) पर शाङ्कर भाष्य

३- निर्जन घर में रहकर अभ्यास करना।

४- कसे कपड़े नहीं पहनना।

५- घर को हवादार व साफ सुथरा रखना।

६- यथारीति आसन लगाकर बैठना।

७- वायु को यथाशक्ति धीरे-धीरे खींचना व छोड़ना।

८- श्वास-प्रश्वास पर मन को एकाग्र करना।

९- मन में बाहर की चिन्ता को नहीं आने देना।

१०- पेट के अन्दर मल व दूषित वायु को नहीं रहने देना।

असंयमी, अत्यन्त इन्द्रियभोगी व ब्रह्मचर्यहीन व्यक्ति नाडी-शुद्धि क्रिया करने से अति कठिन रोगों से आक्रान्त होंगे। कुम्भक अभ्यास से पहिले आसन स्थिर, मन स्थिर और नाडी शुद्धि होने से बहुत अच्छा होता है क्योंकि आसन-जय, चित्तस्थिरता और प्राणायाम के अन्दर गहरा सम्बन्ध है [७९]।

प्राणशक्ति को विश्राम देना भी प्राणायाम है। हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्गों के सदैव कर्मों में लगे रहने के कारण इनको विश्राम न देने से हमें कष्ट होता है, इनको विश्राम देने से हमें सुख होता है। शरीर चञ्चल रहने से चित्त चञ्चल होता है। शरीर स्थिर होने से चित्त भी स्थिर होता है। प्राण चञ्चल रहने से और स्थिर रहने से चित्त भी चञ्चल और शान्त होता है। प्राण और शरीर के साथ चित्त का निकट सम्बन्ध है। शरीर और चित्त को स्थिर करने से प्राण स्वयं स्थिर हो जाता है। आसन और चित्त सम्यक् स्थिर हो जाने से प्राण की गति का विच्छेद अर्थात् विराम होता है। जो श्वास-प्रश्वास विरामहीन रूप से चला करता है उसके अन्दर विराम और विश्राम आ जायेगा। साधारण मनुष्य दिनरात श्वास-प्रश्वास लेकर रहते हैं लेकिन साधक दिनरात कुम्भक करके भी रहते हैं। प्राण के विराम होने से कुम्भक होता है। चित्त को स्थिर करने की साधना आभ्यन्तर साधना है। चित्त को स्थिर न करके जो केवल नाक टीप {रोक के} ही कुम्भक करता है उसके हृत्पिण्ड, फेफड़े, पाकस्थली आदि यन्त्र कठिन रोगों से आक्रान्त हो जाते हैं [८०]।

## त्रिदेव-तत्त्व

वात (वायु), पित्त (अग्नि) और कफ (श्लेष्मा या वरुण) ये तीन देवता शरीर के अन्दर रहते हैं। प्राणायाम से सब देवता तुष्ट होते हैं।

---

७९- "जो विद्वान् योगी लोग और ध्यान करने वाले हैं, वे यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं। जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं, अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं, वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं। हे उपासक लोगों! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को विस्तार करो।" – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना प्रकरण)

८०- **"तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:"** – **योगदर्शन** (२/४९)

"जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको 'श्वास' और जो भीतर से बाहर आता है, उसको 'प्रश्वास' कहते हैं। उन दोनों के जाने-आने को विचार से रोके, नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को 'प्राणायाम' कहते हैं।" – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना प्रकरण)

## (१) वायु-तत्व

प्राणशक्ति को संयत करना भी प्राणायाम है। शक्ति का नाम ही प्राण है। प्राण पाँच अंशों में विभक्त होकर शरीर को चलाता है। पञ्च प्राणों के रहने के पाँच स्थान हैं। यथा हृदय में प्राण, गुह्यदेश में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान और सारे शरीर में व्यान रहता है।

१- **प्राण का कार्य**- श्वास का ग्रहण और त्याग, हृदय-परिचालन, खाद्य वस्तुओं को पाक स्थली में प्रेरणा करना, धमनी के द्वारा सारे शरीर में रक्त सञ्चार, शिरा और स्नायुओं को कर्मिष्ठ रखना आदि।

२- **अपान का कार्य**- प्राणवायु के आकर्षण के साथ श्वास-प्रश्वासक्रिया में सहायता पहुँचाना, मलमूत्रादि को अधोदेश से निःसारित करना, माताओं के देहों से सन्तान-प्रसव कराना आदि।

३- **समान का कार्य**- जठराग्नि को सक्रिय रखना, पाकस्थली से अर्धजीर्ण खाद्यों को ग्रहणी नाड़ी में ले जाना, जीर्ण खाद्यों का सार और अजीर्ण खाद्यों को पृथक्-पृथक् कर देना। प्राण और अपान वायु की समता, रक्षा करना आदि।

४- **उदान का कार्य**- शब्द करना, बात-चीत करना, गाना, मन-बुद्धि-स्मृति शक्तियों को बढ़ाना, साधकों के मन को अतीन्द्रिय राज्य में ले जाना आदि।

५- **व्यान का कार्य**- शरीर में रक्त का सर्वत्र शीघ्रता से सञ्चालन करना, शरीर में सङ्कोचन-प्रसारण करना, मस्तिष्क में रक्त-प्रवाहित करना, देह से पसीना आदि निःसारण करना आदि।

प्राणायाम से ये पाँच प्राण और इनके साथ पाँच उपप्राण-नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय शरीर में सक्रिय और सतेज होते हैं। मन, बुद्धि, चित्त यथार्थ रूप से तत्पर हो जाते हैं। तन्द्रा, आलस्य व जड़ता का नाश हो जाता है। सदा सर्वदा शरीर नीरोग, स्वास्थ्यवान्, कर्मठ और मन तेजस्विता से पूर्ण हो जाते हैं।

## (२) पित्त-तत्त्व

देहस्थ शहरी-गठनकारी अग्नि ही पित्त नाम से अभिहित है। पित्त पाँच भागों में विभक्त है-पाचक पित्त, रञ्जक पित्त, साधक पित्त, आलोचक पित्त, भ्राजक पित्त। पित्त शरीर में रहता हुआ निम्न कार्य करता है- शारीरिक शक्ति, शारीरिक ताप रक्षा, दृष्टि शक्ति विधान, क्षुधा-तृष्णा को जागृत करना, शरीर की मृदुता की रक्षा करना, शरीर की उज्जवलता की रक्षा, मेधा वृद्धि में सहायता और शरीर को मनोरम व सुन्दर बनाना।

१- **पाचक-पित्त का कार्य**- पाचक पित्त अग्न्याशय में उत्पन्न होता है। खाद्य वस्तुओं को जीर्ण करना, खाद्यों के सार-भाग को रस में परिणत करना, मूत्र-पुरीष, पसीना, थूक, सर्दी आदि असार अंशों को रसांश से अलग कर देना, शरीर में उचित प्रकार से तापवृद्धि करके रोगविष नष्ट कर देना, तापमान की समता की रक्षा करके देह-रक्षाकारी और देह-पोषणकारी जीव कोषों की उत्पत्ति में सहायता करना आदि पाचक पित्त के कार्य हैं। पाचक पित्त के दोषयुक्त होने से अजीर्ण, अम्ल, कोष्ठबद्धता, उदामय आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

२- **रञ्जक-पित्त का कार्य**- रञ्जक पित्त यकृत् में उत्पन्न होता है। पाचक पित्त जीर्ण अंशों के सारांश रस को समान वायु की सहायता से यकृत् में भेज देता है। यकृत् रञ्जन पित्त की सहायता से उस रस का शोधन करता है। उस शोधित खाद्य रस में और कुछ रञ्जक पित्त मिल जाने से खाद्य रस रक्तवर्ण में रञ्जित होकर खून बन जाता है। खाद्य रस को रक्तवर्ण में रञ्जित करने से इसका नाम रञ्जक पित्त पड़ गया है। रञ्जक पित्त का बाकी अंश उदरस्थ खाद्य वस्तु को जीर्ण करने में लग जाता है। रञ्जक पित्त दूषित होने से रक्तहीनता, कामला रोग आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

**३– साधक–पित्त का कार्य**– साधक पित्त के प्रभाव से ही मानव देह में उत्साह और उद्यम की सृष्टि होती है। दु:साध्य कार्यों को सुसाध्य करने के लिए इससे ही प्रेरणा मिलती है। पाचक पित्त और रञ्जक पित्त का सूक्ष्मांश ही साधक पित्त के रूप में रूपान्तरित होता है। मन को प्रबल इच्छाशक्ति सम्पन्न करने में यह साधक पित्त ही विशेष रूप से मदद करता है। यह साधक पित्त ही बुद्धि, धृति और स्मृति के वर्द्धन में सहायता पहुँचाता है। साधक पित्त दोषयुक्त होने से मूर्छा–रोग, संन्यास–रोग, मस्तिष्क–विकृति आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

**४– आलोचक पित्त का कार्य**– पित्त का जो सूक्ष्मांश चक्षुओं में रहता हुआ दृष्टि–शक्ति में रूपान्तरित होता है, उसका नाम ही आलोचक पित्त है। साधकों को अतीन्द्रिय दर्शन या दिव्य दृष्टि–लाभ भी इस आलोचक पित्त की सहायता से होता है। आलोचक पित्त दोषयुक्त होने से आँखों की दृष्टि–शक्ति घट जाती है और आँखों में मोतियाबिन्द भी हो जाता है।

**५– भ्राजक पित्त का कार्य**– पित्त का जो सूक्ष्मांश या सारभाग देह में दीप्ति के रूप में प्रकाश पाता है, वह शरीर में वर्ण की आभा पैदा करता है, उसका नाम ही भ्राजक पित्त है। यह भ्राजक पित्त ही चर्म में रहता हुआ रोग–विष और रोग–कीटाणुओं के आक्रमण से शरीर के चर्म की रक्षा करता है। इस भ्राजक पित्त के दोषयुक्त होने से विविध चर्मरोग और गात्र विवर्णता आ जाते हैं।

पित्त अम्ल को पैदा करता है। जिस खाद्य को जीर्ण होने में पित्त की सहायता का प्रयोजन होता है उस खाद्य को जीर्ण करके पित्त खुद भी जीर्ण हो जाता है। पित्त के द्वारा जीर्ण खाद्य ही अम्ल रस में परिणत हो जाता है। देह का स्वस्थ रक्त हमेशा ही लवणाक्त रहता है। इस पर भी कुछ अंश अम्ल रस है। पित्त के द्वारा जीर्ण खाद्य ही रक्त को प्रयोजनीय अम्लरस देकर रक्त की देह–पुष्टि के विधान करने की शक्ति को ठीक रखता है। यह पित्त खाद्य वस्तु को यदि जीर्ण न कर सके, तो अजीर्ण खाद्य के साथ यह पित्त खुद भी विकृत हो जाता है। इस विकृत पित्त से देह में अम्लविष पैदा होता है और देह रोगाक्रान्त हो जाता है।

## (३) श्लेष्मा तत्त्व

रसप्रधान पञ्चभूतों का सारांश ही श्लेष्मा है। देह की सब ग्रन्थियों को और देह के सब धातुओं को यह श्लेष्मा ही पोषण करता है। यह श्लेष्मा ही विशेष रूप से जीर्ण होकर लवण रस में परिणत हो जाता है। श्लेष्मा ही देह के बलस्वरूप ओज: धातु नाम से अभिहित है। श्लेष्मा ही देह–रक्षण, देह–गठन और देह–पोषण करता है। रस, रक्त, माँस, मेद:, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन धातुओं का साररूप यह ही तेज या ओज है। ओज देह स्थिति का कारण है। देह में ओज वृद्धि होने से देह की तुष्टि, पुष्टि बल का उदय होता है। श्लेष्मा भी पाँच भागों में विभक्त होकर देहों को धारण कर रहा है।

श्लेष्मा के पाँच भाग ये हैं :-

१– क्लेदन श्लेष्मा

२– अवलम्बन श्लेष्मा

३– रसन श्लेष्मा

४– स्नेहन श्लेष्मा

५– शोषण श्लेष्मा

**१– क्लेदन श्लेष्मा के कार्य**– क्लेदन श्लेष्मा अन्नों को रस में जारित करके उसको क्लिन्न अर्थात् चूर्ण और गन्धित करता है। खाद्य वस्तुओं को उदर में प्रविष्ट करने के साथ–साथ पाकस्थली के धमनी गात्र की क्षुद्र–क्षुद्र ग्रन्थियों

से यह रस निकल कर खाद्य वस्तुओं को जीर्ण और फेनमय करता है। यह क्लेदन श्लेष्मा ही पाकस्थली का पाचक रस है। अग्निताप से जल उत्तप्त होकर अन्न को जिस रूप में सिद्ध करके कोमल और नरम करता है, ठीक उसी तरह पाचक पित्त के ताप से यह पाचन रस या क्लेदन श्लेष्मा उत्तप्त होकर अन्न को क्लिन्न और आर्द्र करता है और अन्न को रस के रूप में परिणत होने में मदद करता है। अन्न से भी एक प्रकार का पाचक रस निकल कर अजीर्ण या अर्धजीर्ण अन्न को जीर्ण करने में मदद करता है, यह ही क्लेदन श्लेष्मा है। यह क्लेदन श्लेष्मा दूषित होने से अजीर्ण अग्नि-मान्द्य और रक्त की कमी आदि रोगों को उत्पन्न करती है।

२- **अवलम्बन श्लेष्मा के कार्य**- लौहयन्त्र तैलचर्चित न होने से गतिमान् नहीं होता है, तैल चर्चित रहने पर ही लौहयन्त्र के एक अङ्ग के साथ दूसरे अङ्ग का घर्षण नहीं होता है। अवलम्बन श्लेष्मा का शैत्यगुण पित्त के उत्ताप से भी देह यन्त्रों को बचाता है। अवलम्बन श्लेष्मा सम्पूर्ण शरीर में रहता है, लेकिन वक्षःस्थल ही उसके रहने का प्रधान स्थान है। हृदय-यन्त्र और फेफड़ा इस अवलम्बन श्लेष्मा से सिक्त रहता है। इसलिए वक्षः अस्थियों से इनका संघर्षण नहीं होता है। वायु ही इस अवलम्बन श्लेष्मा को देह के सर्वांशों में भेज देता है और देह-यन्त्रों को सिक्त करके सञ्चालन करता है। अवलम्बन श्लेष्मा दूषित होने पर शरीर में आलसता और जड़ता आ जाती है।

३- **रसन श्लेष्मा का कार्य**- रसना-स्थान अर्थात् जिह्वा को केन्द्र करके जिस श्लेष्मा की उत्पत्ति होती है, उसी का नाम रसनश्लेष्मा है। इसका दूसरा नाम ''बोधक श्लेष्मा'' है। साधारण भाषा में इसका नाम ''लार'' या ''लाल'' है। यह लाला ग्रन्थि-निःसृत रस है। यह रसन श्लेष्मा ही जिह्वा में रसास्वादन को जगाता है। यह अन्न की परिपाक क्रिया में मदद करता है। दूषित होने से अक्षुधा की सृष्टि होती है। सब खाद्य ही स्वादहीन मालूम पड़ता है।

४- **स्नेहन या तर्पक श्लेष्मा**- यह श्लेष्मा अपने रसस्राव द्वारा सब इन्द्रियों की तृप्ति, तुष्टि और पुष्टि करती है। देह की ग्रन्थियाँ रक्त के सारांश रस को जीर्ण करके ही सुपुष्ट होती हैं। इन सुपुष्ट ग्रन्थियों से ही स्नेहन या तर्पक श्लेष्मा क्षरित होती है। यह तर्पक श्लेष्मा ही सब देह-यन्त्रों की पुष्टि करती है। इस तर्पक श्लेष्मा के आंशिक अभाव से भी देह का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। सब देह यन्त्रों पर ही तर्पक श्लेष्मा का विशेष प्रभाव है। चक्षु और कर्णेन्द्रियादि तर्पक श्लेष्मा से अपनी-अपनी पुष्टि ले लेते हैं। इस श्लेष्मा का अभाव हो जाने से दृष्टि-शक्ति और श्रवण-शक्ति का ह्रास हो जाता है। तर्पक श्लेष्मा का प्रधान केन्द्र या कर्म स्थान मस्तिष्क है। तर्पक श्लेष्मा को ही सोमधारा या अमृतधारा बोला जाता है। मस्तकस्थित और मस्तकक्षरित इस सोमधारा के द्वारा ही देहस्थ सब धातु सदा प्राणवान रहते हैं। यह स्नेह या तर्पक श्लेष्मा ही सूक्ष्म रूप से सब चर्मस्थानों में व्याप्त रहकर स्थानों को नीरोग रखती है। श्लेष्मा के दोषयुक्त होने से स्मृति-शक्ति और श्रवण शक्ति ह्रास को प्राप्त होती है।

५- **शोषण श्लेष्मा का कार्य**- देह की सब अस्थि-सन्धियाँ या अन्य-सन्धियाँ जिस रसधारा से सदा प्लावित रहती हैं, उसी का नाम शोषण श्लेष्मा है। इसके रहने से अस्थि-अस्थियों में संघर्षण नहीं होता है। यह श्लेष्मा अस्थियों के सन्धि स्थानों में स्नायु और माँस पेशियों को सबल, स्वस्थ और सरस रखता है। इसलिए अङ्ग-प्रत्यङ्ग बगैरह यथोचित रूप से संचालन करने में असुविधा नहीं होती। इस शोषण श्लेष्मा के दूषित होने से अस्थि-सन्धि-स्थानों में रोगविष संचित होता है और वहाँ वात रोग का आक्रमण होता है।

## त्रिदोष

केवल वायु, केवल पित्त या केवल श्लेष्मा के दूषित होने से जिस रोग की उत्पत्ति होती है, वह एक दोषज रोग है। इसकी चिकित्सा सहज है। वायु पित्त-वायु-श्लेष्मा या पित्त-श्लेष्मा के प्रकोप से जो रोग उत्पन्न होता है उसका आरोग्य

लाभ एक दोषज से कठिन होता है। त्रिधातु के प्रकोप से जो रोग उत्पन्न होता है, वह बहुत ही मारात्मक होता है।

## श्वास-प्रश्वास एवं आयु

स्वामी योगानन्द ने कहा था-मनुष्येतर प्राणी पशु, पक्षी, सर्प आदि भी प्राणायाम करते हैं। मनुष्यों ने उनसे ही प्राणायाम को सीखा है। श्वास-प्रश्वास के साथ जीवों की आयु का निकट सम्बन्ध है। श्वास-प्रश्वास जिस प्राणी का जितना कम होता है, उसकी आयु उतनी ही अधिक हो जाती है और श्वास-प्रश्वास जितना अधिक होगा, उतनी ही आयु कम हो जाती है। प्राचीन योगियों ने समय का परिमाण और श्वास-प्रश्वास की संख्या के अनुपात से आयु का हिसाब निकाला था। आधुनिक योगियों ने एक मिनिट के समय को इकाई मानकर हिसाब प्रकाशित किया है[८१] :-

| **प्राणी** | **श्वास-प्रश्वास की प्रति मिनट संख्या** | **आयु के वर्ष** |
|---|---|---|
| १- कछुआ | ४/५ | १५०/१५५ |
| २- सर्प | ७/८ | १२०/१२२ |
| ३- हस्ती | ११/१२ | १००/१२० |
| ४- मनुष्य | १२/१३ | १००/१५० |
| ५- घोड़ा | १८/१९ | ४८/५० |
| ६- बिल्ली | २४/२५ | १२/१३ |
| ७- छाग (बकरा) | २३/२४ | १२/१३ |
| ८- कुत्ता | २८/२९ | १३/१४ |
| ९- बन्दर | ३१/३२ | २०/२१ |
| १०- कबूतर | ३७/३८ | ८/९ |
| ११- शशक | ३८/३९ | ८/९ |

मनुष्य एक दिन-रात में १८ हजार ७ सौ २० बार श्वास-प्रश्वास निर्वाह करता है। प्रति मिनट में १३ बार श्वास-प्रश्वास के हिसाब से २४ घण्टे अर्थात् १४४० मिनट में १८,७२० श्वास-प्रश्वास लेता है। इससे कोई-कोई योगी कहते हैं कि प्राचीन काल में मनुष्यों के श्वास-प्रश्वास का परिमाण आजकल से कम था, इसलिए आयु अधिक होती थी। आजकल श्वास-प्रश्वास का परिमाण अधिक होने के कारण आयु का परिमाण कम होता जा रहा है। आजकल भी प्राणायाम का अभ्यास मनुष्यों में जितना होता रहेगा उतनी ही आयु बढ़ती रहेगी[८२]।

### सीनौर में

स्वामी योगानन्द सरस्वती के साथ व्यासाश्रम में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने रह कर विद्या के विभिन्न अङ्गों के बारे में शिक्षा ग्रहण की थी। व्याकरण के जटिल प्रश्नों के समाधान के लिए किसी अच्छे वैयाकरण के पास जाना जरूरी समझ

---

८१- पं० लेखराम आर्यपथिक द्वारा सङ्कलित स्वामी दयानन्द के जीवन-चरित्र के तृतीय भाग के अध्याय-८ (सत्यार्थप्रकाश पर एक दृष्टि) में भी इसी प्रकार की एक तालिका दी गई है।

८२- ''जो आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुण ग्रहण के लिए तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें और वे सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें, वैसे तुम भी बढ़ाओ।'' – **सत्यार्थप्रकाश** (तृतीय समुल्लास)

कर उन्होंने स्वामी दयानन्द को सीनौर में पं० कृष्ण शास्त्री नाम के चित्पावन दक्षिणी ब्राह्मण के पास भेज दिया था जिसके पास रहकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने व्याकरण की उच्चतर शिक्षा प्राप्त की थी [८३]।

## पुनः चाणोद और अहमदाबाद में

सीनौर में प्रसिद्ध वैयाकरण पं० कृष्ण शास्त्री से व्याकरण शास्त्र का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के बाद और क्रियात्मक रूप से योगविद्या सीखने के लिए स्वामी दयानन्द सीनौर से चाणोद पहुँच गए थे। उन्हें पता लगा था कि वहाँ स्वामी ज्वालानन्द पुरी और स्वामी शिवानन्द गिरि नामक दो योगी पुरुष रहते हैं। दोनों ने ही उन्हें योगविद्या सिखाने के लिए शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया था। पहले स्वामी ज्वालानन्द ने उन्हें क्रियात्मक रूप से हठयोग की शिक्षा दी थी और स्वामी शिवानन्द ने उन्हें क्रियात्मक रूप से राजयोग की शिक्षा दी थी। इन दोनों की योग-शिक्षा के पाठ पर ही स्वामी दयानन्द का भावी यौगिक जीवन चालू रहा था। इन दोनों के प्रति ही वे अपने जीवन भर आभारी रहे थे। उन्होंने उसे कठोर परीक्षाओं में रखा था और उत्तीर्ण होने पर शिष्य के रूप में ग्रहण कर लिया था। सीनौर से आकर स्वामी दयानन्द ने तीन वर्ष का काल चाणोद और अहमदाबाद में योगशिक्षा के लिए बिताया था [८४]। तत्पश्चात् और तीन वर्ष का काल आबू पर्वत में रह कर योग-सिद्ध पुरुषों की सङ्गति में बिताया था [८५]। इस छः वर्ष के काल को वे अपने जीवन का सर्वोत्तम अंश समझते रहे थे। योग-विद्या की शिक्षा और अनुभव के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण देना उसकी इच्छा के प्रतिकूल था। तथापि कलकत्ते के शिक्षित, ज्ञानी और भक्त लोगों के ऐकान्तिक मनोभाव और आग्रह को देखकर उन्होंने इसका संक्षिप्त वर्णन इस निर्देश के साथ किया था कि 'मेरी मृत्यु होने से पूर्व उनका प्रकाशन नहीं होना चाहिए [८६]।'

---

८३- स्वामी दयानन्द व्यासाश्रम में स्वामी योगानन्द सरस्वती से अनुमानतः कार्तिक संवत् १९०६ वि० के शुक्ल पक्ष तक (अर्थात् ३१ अक्टूबर, १८४९ तक) योग की शिक्षा प्राप्त कर कृष्ण शास्त्री से व्याकरण पढ़ने के लिये कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष के प्रारम्भ में अर्थात् नवम्बर, १८४९ ई० के आरम्भ में सिनौर चले गये और वहाँ तीन महिने तक व्याकरण का अध्ययन करके माघ संवत् १९०६ के कृष्ण पक्ष (२८ जनवरी १८५० ई० के बाद) में पुनः चाणोद आ गए।

८४- यह काल चैत्री संवत् १९०५ से चैत्री संवत् १९०८ तक (फाल्गुण से फाल्गुण तक) का सम्भावित है।

८५- यह काल चैत्री संवत् १९०८ से चैत्री संवत् १९११ तक (फाल्गुण से फाल्गुण तक) का सम्भावित है।

८६- **'योग विद्या-शिक्षा के छः वर्ष'** शीर्षक इस तृतीय अध्याय के समस्त विवरणों को मार्च, १८७३ ई० में स्वामी दयानन्द ने अपने योग शिष्य पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती को लिखाया था जो उनके सानिध्य में पर्याप्त समय तक रहे थे। इस विषय में स्वामी दयानन्द की मान्यता थी कि-''मैं इन तमाशे की बातों को देखना-दिखलाना उचित नहीं समझता। चाहे वे हाथ की चालाकी से हों, चाहे योग की रीति से हों, **क्योंकि योग के किए-कराये बिना किसी को भी योग का महत्व वा उसमें सत्य प्रेम कभी नहीं हो सकता,** वरण सन्देह और आश्चर्य में पड़कर उसी तमाशे दिखलाने वाले की परीक्षा और सब सुधार की बातों को छोड़ तमाशे देखने को सब दिन चाहते हैं और उसके साधन करना स्वीकार नहीं करते। जैसे सिनेट साहब को मैंने न दिखलाया और न दिखलाना चाहता हूँ, चाहे वे राजी रहें, चाहे नाराज हों, क्योंकि जो मैं इसमें प्रवृत्त होऊँ तो सब मूर्ख और पण्डित मुझसे यही कहेंगे कि हमको भी कुछ योग के आश्चर्य (जनक) काम दिखलाइये, जैसा उसको आपने दिखलाया। ऐसी संसार की तमाशे की लीला मेरे साथ भी लग जाती, जैसी मैडम एच० पी० ब्लेवेट्स्की के पीछे लगी है।''-**स्वामी दयानन्द के एच०एस० कर्नल ओल्काट साहेब तथा एच० पी० ब्लेवेट्स्की के नाम १४ जुलाई १८८० के पत्र से उद्धृत**

# हठ-योग

यह पहले ही बता दिया गया है कि योग चार प्रकार के हैं- १-हठ योग २-राज योग, ३-मन्त्र योग और ४-लय योग। इनमें हठयोग से शरीर और मन स्वस्थ और सतेज होकर दूसरे योगों के लिए उपयोगी बन जाते हैं[८७]। हठ योग के साधन से योगी क्षुधा-तृष्णा, निद्रा-आलस्य, शीतोष्ण, आधि-व्याधि, रोग-शोक, जरा-वार्धक्य आदि द्वन्द्व-समूह पर विजय-लाभ करते हैं। हठ-योगी 'त्राटक-योग' के अभ्यास से दूर दृष्टि, सूक्ष्म दृष्टि और अव्याहत दृष्टियों को बढ़ाते हैं। 'कुम्भक योग' के द्वारा योगी लोग बहुत दिन तक निराहार तथा नीरोग होकर रह सकते हैं। इन सब यौगिक विभूतियों का स्वामी दयानन्द ने स्वयं अनुभव किया है। हठ योग दो प्रकार का है-गोरक्ष मुनि का छः अङ्ग वाला योग और मार्कण्डेय मुनि का आठ अङ्ग वाला योग। उभय प्रकारों का उद्देश्य कैवल्य-लाभ ही है।

**हठ-योग के पाठ**-शरीर को नीरोग और दृढ़ रखने के लिए गुरुजी ने स्वामी दयानन्द को इन सब क्रियाओं की शिक्षा दी थी- धौति, नेति, वस्ति, श्वास-परिवर्तन, आतप-स्नान, जल-स्नान, नासा-पान, जल-पान, कुम्भकयोग, त्राटक-योग, आसन और मुद्रा[८८]।

**धौति-क्रिया**- धौति से शरीर को पूर्णतया नीरोग और स्वास्थ्यवान् किया जा सकता है। वायु-धौति, अग्नि-धौति, जल-धौति और वस्त्र-धौति के अभ्यास साधारणतः प्रचलित हैं। रोगियों वा भोगियों के लिए इनका अभ्यास करना कठिन है। इससे उदर और वक्षः स्वच्छ होते हैं।

**नेति-क्रिया**- नासा के द्वारा नेति-क्रिया की जाती है। नेति-क्रिया से कण्ठ और ललाट निर्मल होते हैं।

**वस्ति-क्रिया**- योगी लोग जल-वस्ति, स्थल-वस्ति आदि के द्वारा पाक-स्थली के और आन्त्र के दूषित और सञ्चित मल को निकाल देते हैं[८९]।

---

८७- ''योग के सम्बन्ध में स्वामी जी ने जो विचार प्रकट किए वे सरल, स्पष्ट तथा योग विषयक भारतीय दृष्टिकोण का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वामी जी के इस कथन की ओर ध्यान देना होगा कि **जब तक कोई मनुष्य हठयोग की साधना नहीं कर लेता, उसका राजयोग की ओर बढ़ना सम्भव नहीं है** और यदि कोई व्यक्ति राजयोग की साधना की ओर पूर्ण सफलता के साथ अग्रसर है तो यह अनुमान करना चाहिए कि उसने पूर्व जन्म में हठयोग की साधना की है। मेरे इस विचार का समर्थन सभी पठित हिन्दुओं ने किया है, तथापि पाठक इसकी सत्यता का स्वयं निर्धारण करें।''

- **कर्नल हेनरी स्टील आल्काट के स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज विषयक संस्मरण** (मासिक **वेदवाणी**, बहालगढ़; जनवरी १९८६ ई०, पृ० ५७)

८८- ''हठयोग का प्रकार एकदम बहुत तमाशा है। उसमें '**वस्ति**' अर्थात् गुदा के रास्ते से पानी चढ़ाकर संशोधन करना। '**त्राटक**' अर्थात् पलक बिना झपके टकटकी लगाकर देखना। '**नेति**' अर्थात् नासिका में सूत्र डालकर मुख से निकालना। '**धोती**' अर्थात् लम्बे से लम्बा धोती का टुकड़ा (मुख के रास्ते) पेट में डालकर फिर बाहर निकालना। इस प्रकार तमाशा रचने को खटपट (प्रयत्न) करके कभी योग सिद्ध होवे तो साधो। परन्तु इन कामों से तो रोग ही पैदा होते हैं।''

- **पूना-प्रवचन** (११वाँ प्रवचन)

यद्यपि स्वामी दयानन्द ने हठयोग की क्रियाएँ स्वयं सीखीं और उनको वे अपने उत्तरवर्ती जीवन में भी आवश्यकता पड़ने पर व्यवहार में लाते रहे तथा पूर्वोक्त पाद-टिप्पणी क्र ८७ के अनुसार उन्होंने उनका समर्थन भी किया, परन्तु हठयोग की कुछ क्रियाओं को हानिप्रद पाकर ही उनका बाद में उपर्युक्तानुसार खण्डन किया।

८९- द्रष्टव्य- पृष्ठ-३५ की पाद टिप्पणी क्रमाङ्क- ४०

**श्वास–परिवर्तन**– किसी रोग का आक्रमण समझने के बाद इडा नाडी के श्वास को पिङ्गला नाडी और पिङ्गला नाडी के श्वास को इडा नाडी में लाने से ही आक्रमणकारी रोग बन्द हो जाता है। वाम नासा–रन्ध्र से इडा नाडी को और दक्षिण नासा–रन्ध्र से पिङ्गला नाडी को सूक्ष्म प्राण पहुँचता है।

**आतप–स्नान**– धूप में अनावृत शरीर को परिमित और नियमित रूप से रखने से चर्मरोगादि और कुष्ठ जैसी व्याधियों तक का विनाश हो जाता है।

**जल–स्नान**– जलाशय में विशेष कर के स्रोतस्विनी नदी में नियमानुसार अवगाहन स्नान करने से शरीर नीरोग, स्वच्छ और स्निग्ध हो जाता है।

**नासा–पान**– उषः काल में प्रशस्त और गम्भीर पात्र में जल रखकर जल पात्र को मुख के समीप रख कर नासारन्ध्रों को उसमें डुबा के नासारन्ध्रों से ही धीरे–धीरे जल आकर्षण कर भीतर को लेना और पी लेना ही नासा–पान है। इससे शरीर के अन्दर रोगों के जीवाणु नासारन्ध्र तक टिक नहीं सकते हैं और शरीर नीरोग रहता है।

**जल–पान**– सबेरे निद्रा–भङ्ग होने के साथ ही साथ मुख धोकर यथा–शक्ति केवल पानी ही पी लेना, पिपासा हो तो दोपहर का खाना खाने से कुछ पहले पानी लेना, खाना खाने के कुछ देर बाद पानी पी लेना और रात को भी सोने से पहले नियमित पानी पी लेना ही जलपान है। इससे भी शरीर नीरोग रहता है।

**त्राटक योग**– उदयकालीन चन्द्र–सूर्य के प्रति, प्रतिबिम्ब में अपनी आँखों के प्रति, दूसरे की आँखों की दृष्टि के प्रति पलकहीन और अविच्छिन्न दृष्टि रखना ही 'त्राटक योग' है। इससे एकाग्रता, धारणा शक्ति और दृष्टि–शक्ति की वृद्धि होती है। गुरु जी ने स्वामी दयानन्द को इसी प्रकार सम्पूर्ण क्रिया योग की शिक्षा दी थी।

**आसन**– योगाभ्यास और रोगनिवारण के लिए आसन बहुत प्रकार के हैं। योगाभ्यास के लिए प्रधान आसन चौरासी या बत्तीस प्रकार के हैं। इनमें से पद्मासन और सिद्धासन सहज योगाभ्यास के लिए उपयोगी हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि के लिए पद्मासन, सिद्धासन और अर्ध पद्मासन ही ग्रहणीय हैं।

गुरु जी से स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार सौ प्रकार के आसन सीख लिए थे– अर्ध कूर्मासन, गोमुखासन, चक्रासन, जानुशीर्षासन, त्रिकोणासन, धनुरासन, पाद–हस्तासन, पद्मासन (मुक्त और बद्ध), पवन मुक्तासन, पश्चिमोत्तानासन, वज्रासन, भुजङ्गासन, मत्स्येन्द्रासन, मयूरासन, शवासन, शयन पश्चिमोत्तान आसन, शलभासन, शशाङ्गासन, सुप्त–वज्रासन, हलासन आदि। इनसे मन अचञ्चल होता है।

**मुद्रा**– मुद्राएँ स्वरूपतः आसनों के ही प्रकार–भेद हैं। शरीर के स्नायु तन्तु और माँसपेशियों को सबल बनाना आसनों का काम है और अन्तःस्रावी और बहिःस्रावी ग्रन्थियों को सक्रिय और सबल रखना मुद्राओं का काम है। मुद्राएँ भी बहुत प्रकार की हैं। गुरुजी ने स्वामी दयानन्द को लगभग पचास प्रकार की मुद्राएँ सिखायी थीं। उनमें से ये प्रधान हैं–

अश्विनी मुद्रा, उड्डयन मुद्रा, उड्डयनबन्ध मुद्रा, विपरीत–करणी मुद्रा, मत्स्य मुद्रा, शीर्षासन मुद्रा (मस्तक मुद्रा), महाबन्ध मुद्रा, महामुद्रा, मूलबन्ध मुद्रा, योग मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, सर्वांगासन मुद्रा और सहजशीर्षासन मुद्रा। मुद्राओं से शरीर साधना के लिये उपयोगी बन जाता है।

**कुम्भक योग**– राजयोग के अनुसार प्राणायाम के तीन अङ्ग हैं– पूरक, कुम्भक और रेचक। हठयोग में कुम्भक स्वतन्त्र क्रिया के रूप में ही गिना गया है। प्राण शक्ति को कैवल्य लाभ के साधन में उपयोगी बनाना ही कुम्भक योग है। प्राण शक्ति की वृद्धि और मन के नियन्त्रण का भी कुम्भक योग से सम्बन्ध है।

गुरुजी के उपदेश, निर्देश और नियन्त्रण में रहते हुए स्वामी दयानन्द ने कुम्भक योग का अभ्यास किया था। प्राणायाम सुसिद्ध होने से शरीर रोगमुक्त रहता है। गुरु के पास रहकर नियमित रूप से प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास करने से अतिशीघ्र प्राणायाम का फल मिल जाता है। निःश्वसित वायु का स्वाभाविक परिमाण और प्रश्वसित वायु का भी स्वाभाविक परिमाण जानना आवश्यक है। भीतर गए हुए वायु को आबद्ध रखने का भी परिमाण साथ-साथ जानना जरूरी है। अन्यथा नितान्त अस्वाभाविक रूप से पूरक, रेचक या कुम्भक करने से प्राण-शक्ति की वृद्धि के स्थान पर प्राण के नाश का ही भय रहता है। देह से द्वादश अंगुलि तक श्वास जाय तो यह स्वाभाविक है। चलने के समय षोडश अंगुलि तक, भोजन के समय विंश अंगुलि तक, दौड़ने के समय चतुर्विंशति अंगुलि तक, निद्रा के समय ३० अंगुलि तक ही प्राणवायु की स्वाभाविक गति है। इसमें अस्वाभाविक गड़बड़ी होने से आयुक्षय होता है। प्रथम सिद्धार्थी का इस पर ध्यान रखना जरूरी है।

; kskH; k d s e; ¼v ÉkZ-d EÒd ; ¨xkH; k d s e; ½प्रातःस्नान, उपवास, अतिरिक्त शारीरिक परिश्रम, एक समय आहार और स्वल्पाहार, ये योगियों के लिए निषिद्ध हैं। लेकिन ध्यान और समाधि सीखने के समय निषिद्ध नहीं हैं। शुद्धचेता और एकाहारी होकर कोई-कोई योगी प्रतिदिन केवल जल-मिश्रित दुग्ध का पान करने से भी बल प्राप्त करते हैं। स्वामी दयानन्द भी योग-शिक्षा के सुदीर्घ काल में दुग्धपान करके ही सबल और स्वस्थ रहे थे। योगी के लिए सब प्रकार का नशा सर्वथा वर्जनीय है। नशाबाज योगियों ने तीन बार विभिन्न स्थानों में स्वामी दयानन्द को भी नशाबाज बनाने के लिए प्रयत्न किया था। लेकिन वे इस विषय पर बहुत ही कठोर रहे और उन्होंने उनकी सङ्गत को ही छोड़ दिया था। योग-शिक्षार्थी और योगियों के लिए आमिष-आहार भी सम्पूर्णतया वर्जनीय है। स्वामी दयानन्द के गुरुजी ने उनको उनके दिनरात साथ-साथ रहकर ही हठ-योग की शिक्षा दी थी। पितृगृह के बाद उनका देह और मन अपने गुरुओं के प्रभाव से योग-शिक्षा और योग-साधन के लिए सर्वथा उपयोगी बन गया था। इसलिए वे उनके प्रति चिर-ऋणी रहे। वे प्रतिदिन उनके श्वास की गति की भी जाँच किया करते थे।

**मन्त्र-योग**- गुरुजी ने उनको मन्त्रयोग का पाठ पढ़ाया था और शिक्षा दी थी। प्रणवादि मन्त्रों के नियमित और दीर्घकाल तक जप करने से मन लीन हो जाता है। मन्त्र-योग का यही उद्देश्य है। इससे भी मोक्ष लाभ होता है। भृगु, कश्यपादि ऋषि लोग इस मन्त्र-योग के उपदेष्टा हैं। स्वामी दयानन्द बहुत दिनों तक प्रतिदिन दो बार छः -छः हजार गायत्री मन्त्र जप करके खाना खाता थे।

**लय-योग**- वेदव्यासादि कई-एक ऋषि लय-योग के उपदेष्टा हैं। इनके कथन के अनुसार हमारे शरीरों में तीन मुख्य शक्तियाँ हैं-ऊर्ध्वशक्ति, मध्य-शक्ति और अधः शक्ति। ऊर्ध्वशक्ति के निपातन से और अधः शक्ति के संकोचन से मध्य-शक्ति का उद्‌बोधन होता है। इस प्रक्रिया से सात्विक आनन्द का प्रवाह उपलब्धि में आता है। इस उपलब्धि के लिए शरीर के इन चक्रों में ध्यान करना होता है-स्वाधिष्ठान चक्र, नाभिचक्र, हृदयचक्र, कण्ठ चक्र, तालु चक्र, भूः चक्र, ब्रह्मरन्ध्र चक्र और अन्तिम ब्रह्म चक्र। इनमें ध्यान से आनन्द मिलने लगता है। इसके अभ्यास से भी मोक्षलाभ होता है। स्वामी दयानन्द के गुरुजी ने उन्हें इस लय-योग के बारे में साधन-विषयक बहुत गुप्त रहस्य का भी उपदेश दिया था जिससे उन्हें स्नायविक शक्ति केन्द्रों का पता लग गया था।

लेकिन उन्हें केवल राज-योग पर ही पूर्ण विश्वास था [९०]। दूसरे योगों को उन्होंने आनुषंगिक योग ही समझ लिया था। मन्त्र योग, लय योग, राज योग और हठ योग- इन चार प्रकार के योग-पथों का भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न

---

९०- यह स्वामी दयानन्द के उत्तरवर्ती उपदेशों से सिद्ध है।

महायोगी लोगों ने आविष्कार किया था। हर प्रकार के योग में ही लय का सम्बन्ध है। लय के बिना योग होता ही नहीं। किसका लय? चित्त का लय। पतञ्जलि ने चित्त के लय पर बहुत ही जोर दिया है [९१]। योग का सुफल और अलौकिक क्षमता नि:संदिग्ध है। योगी लोग बहुज्ञ, दीर्घजीवी और सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं। निराहार से या श्वास-रोध से भी इनकी जीवन-रक्षा होती है-यह सब बातें नितान्त अविश्वसनीय नहीं हैं। हठ-योग की सभी क्रियाओं को उनके गुरुजी ने उन्हें सिखाया था।

**राज-योग**- हठयोग-शिक्षा के बाद स्वामी दयानन्द के गुरु स्वामी ज्वालानन्द पुरी ने उनको राजयोग की शिक्षा के लिए स्वामी शिवानन्द गिरि को समर्पित कर दिया। स्वामी दयानन्द ने सफलता के साथ उनसे राजयोग का पाठ आरम्भ कर दिया था।

राजयोग आठ अङ्गों में विभक्त है-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि [९२]। ऋषि पतञ्जलि ने इसके पाठों को चार भागों में विभक्त किया है- समाधिपाद, साधन पाद, विभूति पाद और कैवल्य पाद। इन सबका परिचय स्वामी दयानन्द को पहले से ही था।

इससे पहिले स्वामी दयानन्द ने काशी में बड़ौदा से आकर विभिन्न दर्शनशास्त्रों और सिद्धान्तों को बिना ग्रन्थों के मौखिक रूप से ही सुनकर और आलोचना- शङ्का-समाधानों के द्वारा ही कुछ न कुछ समझ लिया था। अब उनके गुरु ने पतञ्जलि के राजयोग और उसके साथ व्यास भाष्य [९३], वाचस्पति की तत्व विशारदी टीका, भोज की राजमार्तण्डवृत्ति, विज्ञानभिक्षु का योगवार्तिक भाष्य आदि ग्रन्थों के सारांश को उन्हें समझा दिया था। स्वामी दयानन्द ने विशेष रूप से उनसे कैवल्य, मोक्ष या मुक्ति लाभ के लिए ही उपदेश माँगा था। उन्होंने तदनुसार उनको योगदर्शन के क्रियात्मक रूप की ही शिक्षा देनी आरम्भ कर दी थी।

**आहार**- सर्वप्रथम उन्होंने आहार के सम्बन्ध में उपदेश दिया और स्वामी दयानन्द के लिए परिमित हितकर और पवित्र वस्तुओं के आहार के लिए प्रबन्ध करवा दिया था। साथ-साथ योग के लिए निर्जन कुटिया में रहने का प्रबन्ध भी कर दिया था। स्वामी दयानन्द के गुरु जी उनके ऊपर तीव्र दृष्टि रखने लगे। बिन्दुमात्र भ्रम और प्रमाद होने से वे उसका संशोधन करवा देते थे। अब से उन्होंने स्वामी दयानन्द के पथ्य के लिए केवल दुग्ध का प्रबन्ध करवा दिया और अन्य सब स्वल्पाहार बन्द करवा दिए। उन्होंने भी अतिशीघ्र उत्साहपूर्वक इसको सहन कर लिया और वर्षों के लिए दुग्धपान मात्र को अपने अभ्यास के अन्दर डाल लिया था और इस पर ही जीवन-धारण किया था। उनके गुरुजी प्रति सप्ताह श्वास-प्रश्वास के अनुसार उनके शरीर की परीक्षा लेते थे।

---

९१- **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'** - **योगदर्शन** (१/२)

"चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटाके शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फँसके उससे दूर हो जाना।"

- **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना प्रकरण)

९२- **"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि"** - **योगदर्शन** (२/२९)

"(यम-नियम०) अर्थात् एक (यम), दूसरा (नियम), तीसरा (आसन), चौथा (प्राणायाम), पाँचवाँ (प्रत्याहार), छठा (धारणा), सातवाँ (ध्यान) और आठवाँ (समाधि) ये सब उपासना योग के अङ्ग कहाते हैं। और आठ अङ्गों का सिद्धान्त-रूप फल संयम है।" - **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना प्रकरण)

९३- "......पतञ्जलि मुनिकृत (योग) सूत्र पर व्यासमुनिकृत भाष्य.....पढ़ें-पढ़ावें।" - **सत्यार्थप्रकाश** (तृतीय-समुल्लास)

योग विद्या की शिक्षा के बारे में स्वामी दयानन्द के गुरुजी का उन्हें द्वितीय उपदेश था:-

**स्थान और आसन**- योग साधना के लिए कुटीर, कानन, पर्वत-गुफा वा किसी मठ का ही आश्रय लेना होगा, यह बात नहीं है। ये सब स्थान अनुकूल हैं, इसमें सन्देह नहीं है लेकिन मन के अनुकूल कोई निरुपद्रव स्थान मिलने से वहाँ भी योगाभ्यास किया जा सकता है। कुशा के ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर कपड़ा रखकर उसके ऊपर सिद्धासन या पद्मासन लागाकर अभ्यास करना चाहिए। केवल मिट्टी पर कभी योगासन नहीं लगाना चाहिए; क्योंकि पृथिवी माता प्रति क्षण शरीर की शक्ति को खींच रही है। स्वामी दयानन्द आजीवन आसन के बारे में यह नियम पालन करते रहे। ग्रीवा, मस्तक और मेरुदण्ड को समान रूप से सरल रखके बैठे हुए धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास प्रतिदिन नियमित समय पर ही होना चाहिए।

**अष्टाङ्ग योग के पहिले पाँच अङ्ग**- १-यम, २-नियम, ३-आसन, ४-प्राणायाम, ५-प्रत्याहार-बहिरङ्ग साधना हैं और बाकी तीन अङ्ग-६-धारणा, ७-ध्यान, ८-समाधि अन्तरङ्ग साधना हैं। बहिरङ्ग साधना के द्वारा चित्त निर्मल हो जाता है। चित्त जितना निर्मल होगा, सिद्धि उतनी ही शीघ्र होगी। मलिन चित्त से ध्यान होना ही असम्भव है। चित्त में रजोमल रहने से चित्त चञ्चल रहता है और तमोमल से ध्यान के समय निद्रा आ जाती है।

प्रथम धारणा है। अधिक समय की स्थायी धारणा का नाम ध्यान है और ध्यान के गाढ तथा गम्भीर होने का नाम समाधि है।

यम पाँच हैं- १-अहिंसा, २-सत्य, ३-अस्तेय, ४-ब्रह्मचर्य, ५-अपरिग्रह [९४]। नियम भी पाँच हैं- १-शौच, २-सन्तोष, ३-तप:, ४-स्वाध्याय, ५-ईश्वर-प्रणिधान [९५]। ये दोनों यम और नियम मानवधर्म की भित्ति हैं। सभी के लिए इन दोनों की आवश्यकता है [९६]। जब पाँच यम जाति, काल, स्थान के उपलक्ष्य से आहत और विच्छिन्न नहीं होते हैं, तब उनका नाम सार्वभौम महाव्रत होता है [९७]।

शारीरिक और मानसिक शौच यानी पवित्रता के साधन से शरीर स्वस्थ होता है और चित्त प्रसन्न रहता है। योगसाधन के लिये यह भी आवश्यक है। स्वामी दयानन्द अपने गुरुजी के उपदेशानुसार इनके अभ्यास के लिए तत्पर हो

---

९४- **''अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:''** -**योगदर्शन** (२/३०)

''अर्थात् (अहिंसा) वैरत्याग; (सत्य) सत्य मानना, सत्य बोलना, और सत्य ही करना; (अस्तेय) अर्थात् मन, वचन, कर्म से चोरी त्याग; (ब्रह्मचर्य) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम; (अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता, स्वत्वाभिमानरहित होना-इन पाँच यमों का सेवन सदा करें।'' -**सत्यार्थप्रकाश** (तृतीय समुल्लास)

९५- **''शौचसन्तोषतप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:''** -**योगदर्शन** (२/३२)

''(शौच) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता, (सन्तोष) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके उतना करना, हानि-लाभ में हर्ष वा शोक न करना, (तप) अर्थात् कष्ट-सेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान, (स्वाध्याय) पढ़ना-पढ़ाना, (ईश्वर-प्रणिधान) ईश्वर की भक्ति-विशेष में आत्मा को समर्पित रखना-ये पाँच नियम कहाते हैं।'' -**सत्यार्थप्रकाश** (तृतीय समुल्लास)

९६- ''यमों के बिना केवल नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों का सेवन छोड़के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है।''

-**सत्यार्थप्रकाश** (तृतीय समुल्लास)

९७- **''जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम्''** - **योगदर्शन** (२/३१)

गए थे।

## क्रिया-योग

महर्षि पतञ्जलि के राजयोग के अनुसार क्रिया-योग का विधान है। स्वामी दयानन्द के गुरुजी ने उन्हें इसके रहस्य के विषय में उपदेश दिया था। क्रिया-योग तीन हैं- १-तप, २-स्वाध्याय और ३-ईश्वर प्रणिधान [९८]।इनके अभ्यास से हमारे तीनों शरीरों की शुद्धि होती है। हमारे शरीर के तीन अङ्ग हैं- (१) स्थूल शरीर, (२) सूक्ष्म शरीर और (३) कारण शरीर [९९]। तप के द्वारा हमारे शरीर व इन्द्रियों की परिशुद्धि होती है। स्वाध्याय के द्वारा हमारे मन, अहङ्कार और बुद्धि की परिशुद्धि होती है और ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा चित्तशुद्धि होती है। यानी चित्त के रजस्तमोमल विदीर्ण हो जाते हैं। स्वामी दयानन्द प्राणपण से इस शुद्धि-कार्य में लग गए थे। गुरुजी ने कहा- हम लोगों ने जिन उपकरणों के साथ जन्म लिया है उन सबकी परिशुद्धि न होने से सम्यक् ज्ञान या अपरोक्ष अनुभूति नहीं होगी। प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलेगी। इस साधना में जिनकी चेष्टा जितनी प्रबल होगी उनकी सफलता उतनी ही द्रुतगति से होगी। इस साधना का नाम ही क्रिया-योग है।

हमारे तीन शरीरों में पाँच कोष हैं। (१) अन्न द्वारा निर्मित स्थूल शरीर अन्नमय कोष है। प्राण, मन, बुद्धि द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीर में क्रमानुसार (२) प्राणमय (३) मनोमय (४) विज्ञानमय कोष हैं। (५) अस्मिता द्वारा निर्मित कारण देह का नाम ही आनन्दमय कोष है [१००]। जीवात्मा इन पाँच कोषों के आवरण से आबद्ध है। पञ्चकोषों से मुक्ति ही जीवात्मा की मुक्ति है। सर्वोपरि अन्नमय कोष है। उसके अन्दर प्राणमय और उसके अन्दर मनोमय कोष है। उसके अन्दर विज्ञानमय कोष और उसके अन्दर आनन्दमय कोष है।

---

९८- **''तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानामि क्रियायोगः''** - **योगदर्शन** (२/१)

''योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा, ध्यान, समाधिरूप संयम) के बल को प्राप्त हो अनेक प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करके अनेक शिर, नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है, अनेक पदार्थों व धनों का स्वामी भी हो सकता है। उसका हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिए।''

- **ऋ० द० कृत यजुर्वेद भाष्यम्** (१७/७१)

९९- ''तीन शरीर हैं- एक **'स्थूल'** जो यह दीखता है। दूसरा-पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि, इन सत्तरह तत्वों का समुदाय **'सूक्ष्म शरीर'** कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं-एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है। दूसरा स्वाभाविक, जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप हैं। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। तीसरा **'कारण'**- जिसमें सुसुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है। वह प्रकृति रूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है। चौथा तुरीय शरीर वह कहाता है जिसमें संस्कारजन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है।''

-**सत्यार्थप्रकाश** (नवम समुल्लास)

१००- ''एक **'अन्नमय'** -जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। दूसरा **'प्राणमय'**-जिसमें प्राण अर्थात् जो भीतर से बाहर आता, अपान जो बाहर से भीतर आता, समान जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता, उदान जिससे कण्ठस्थ अन्न-पान खैंचा जाता और बल पराक्रम होता है, व्यान जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है। तीसरा **'मनोमय'**-जिसमें मन के साथ अहंकार, वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पाँच कर्म इन्द्रियाँ हैं। चौथा **विज्ञानमय'** जिसमें बुद्धि, चित्त श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका, ये पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है। पाचवाँ **'आनन्दमयकोश'**-जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिकानन्द आनन्द और आधार कारण रूप प्रकृति है। ये 'पाँच-कोश' कहाते हैं। इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।''

-**सत्यार्थप्रकाश** (नवम-समुल्लास)

**तप**– स्थूल शरीर के संस्कार के लिए तप, सूक्ष्म शरीर के संस्कार के लिए स्वाध्याय और कारण शरीर के संस्कार के लिए ईश्वर-प्राणिधान का प्रयोजन है। केवल धर्मानुष्ठान के लिए ही इसकी आवश्यकता नहीं है। सभी कार्यों में सबको ही इस संस्कार या तप का प्रयोजन है, क्योंकि इस संस्कार पर ही सबके शरीर और मन का स्वास्थ्य निर्भर करता है [१०१]। क्रिया-योग ही इस संस्कार कार्य का एकमात्र उपाय है। इसके अभाव के कारण मनुष्य संस्कारहीन शरीर और मन के द्वारा पाप कृत्य करते हैं। असंस्कृत जीवन अतीव दुर्बल और पापिष्ठ है। तप ही संयम, कठोरता, सहिष्णुता और दृढ़ संकल्प है, इसी के द्वारा स्थूल देह शुद्ध होता है।

**स्वाध्याय**– के द्वारा सूक्ष्म देह संस्कृत या शुद्ध होता है। इससे प्राण, मन और बुद्धि की मलिनता दूर होती है। वेदादि मोक्षशास्त्र पाठ, गायत्री प्रणवादि मन्त्रों का नियमित पाठ ही स्वाध्याय है। प्राण, मन और बुद्धि की गति साधारणत: बाहर की तरफ है। इनकी आसक्ति बाहर के विषयों में अधिक है। इस विषयासक्ति का नाम ही मलिनता है। इसलिए इनकी गति को अन्तर्मुखी करने की आवश्यकता है। स्वाध्याय ही इस कार्य में एकमात्र उपाय है। चित्त को अन्तर्मुखी करने के लिए स्वाध्याय-रूप क्रियायोग की परम आवश्यकता है।

**ईश्वर-प्रणिधान**– के द्वारा सांसारिक बन्धन से चित्त मुक्त होकर परमात्मा की तरफ धावित होता है। परमात्मा में सर्वकर्मों के फल अर्पण करके निष्काम भाव से कर्म करना ही ईश्वर-प्रणिधान है [१०२]। इससे चित्त के संस्कार-समूह का नाश हो जाता है। असंख्य जीवनों के असंख्य कर्म संस्कार चित्त में जमा रहते हैं। हमारे विभिन्न शरीरों में आबद्ध होकर सुख और दु:ख के भोग इसी से होते हैं। ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा हमारे संचित कर्म-संस्कार दुर्बलता और क्षय को प्राप्त होते हैं। साधना के लिए ईश्वर-प्रणिधान जरूरी है। इसके द्वारा साधक कर्म-संस्कारों की मलिनता से मुक्त हो जाते हैं और परमानन्द-प्राप्ति के लिए परमात्मा की तरफ आकृष्ट हो जाते हैं।

क्रियायोग के द्वारा चित्त में किसी नई शक्ति की सृष्टि नहीं होती है। हमारे अन्दर असीम शक्ति छिपी हुई रहती है। क्रियायोग से इसका उद्‌बोधन होता है और आत्मविश्वास की सृष्टि होती है। जिस शक्ति से हम लोग शुभ कार्य करते हैं, उसी शक्ति से ही हम लोग अशुभ कार्य भी करते हैं। साधारणत: मनुष्य प्रतिदिन अशुभ कार्यों के द्वारा अपने को अध:पतित करता है। इन अशुभ कार्यों के संस्कार विनष्ट करने के लिए क्रियायोग जरूरी है। गुरुजी ने स्वामी दयानन्द को क्रियायोग के प्रति जो प्रेरणा दी थी, वे उसका अनुसरण आगे भी सदैव करते रहे।

## नाडी-शुद्धि

स्वामी दयानन्द के गुरु जी ने उन्हें कहा कि राजयोग में भी नाडी-शुद्धि का प्रयोजन है। मेरुदण्ड के अन्दर इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा नाडी हैं। इनकी शुद्धि ही नाडी-शुद्धि है। प्राणायाम करने से पहले नाडी-शुद्धि कर लेनी चाहिए। आसन में यथाविधि बैठकर पहले दाहिनी नासा की श्वास-क्रिया रोक के बायीं नासा से यथा-शक्ति वायु को खींच लेना चाहिए। वायु को जितना अधिक खींचोगे उतना ही अच्छा है। लेकिन ज्यादा जबरदस्ती खींचने से बीमार पड़ जाओगे। साथ-साथ बायीं नासा की श्वास-क्रिया को बन्द करके दाहिनी नासा से यथाशक्ति वायु को छोड़ते रहना, इसी का नाम पूरक

---

१०१- "शान्त विद्वान् लोग वन में तप-धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षा-चरण करते हुए जंगल में बसते हैं, वे जहाँ नाशरहित पूर्ण-पुरुष हानि-लाभ-रहित परमात्मा है, वहाँ निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं।" –**सत्यार्थप्रकाश** (पञ्चम समुल्लास)

१०२- **"ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा"** – **योगदर्शन, व्यासभाष्य** (२/१)

के बाद रेचक है। पूरक करके साथ–साथ ही रेचक करना, कुम्भक नहीं करना अर्थात् भीतर बन्द करके नहीं रखना। रेचक पूरा होने के बाद ही दाहिनी नासा के द्वारा पूरक करना और बायीं नासा से रेचक करना। इसी प्रकार प्रतिदिन आराम से जब तक कर सकते हो, करो। पूरक और रेचक के समय वायु को धीरे–धीरे खींचना और छोड़ना। नासा के सम्मुख रुई रखने से भी उसका सञ्चालन नहीं हो। वायु को झट एक ही बार में वेग के साथ नहीं खींचना और न ही छोड़ना। खींचने के समय और छोड़ने के समय धीरे–धीरे ताल से खींचना और छोड़ना। इस नाडी–शुद्धि के समय दूसरे किसी विषय की चिन्ता नहीं करना। श्वास और प्रश्वास में ही मन को संलग्न रखना और चित्त को आबद्ध रखना। इस नाडी–शुद्धि के अभ्यास को बहुत दिन तक करने से आसन–जय होगा अर्थात् एक आसन में बहुत देर तक आराम से रह सकोगे। तमो–भाव नष्ट हो जायेगा अर्थात् आलस्य और तन्द्रा नहीं सतायेगी। इससे शरीर लघु होगा, मन में आनन्द आयेगा, चित्त प्रसन्न रहेगा, उक्त विषय पर चिन्ता और धारणा की शक्ति बढ़ जायेगी। इससे फेफड़े में बल आयेगा और फेफड़े में प्राणायाम के लायक शक्ति आ जायेगी।

नाडी–शुद्धि के समय निम्न विषयों का ध्यान रखना जरूरी है, अन्यथा कठिन रोगों के शिकार बन जाओगे। इन विषयों का उल्लंघन करने से पीछे पश्चात्ताप करना पड़ेगा। वे विषय ये हैं –

१– पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य रक्षित हो,

२– साधना का अभ्यास एकान्त में हो,

३– साधना का घर वायु–सञ्चालन युक्त हो, साफ–सुथरा हो,

४– आहार सात्विक और परिमित हो,

५– साधना का घर एकान्त में और निर्जन हो,

६– देह में कपड़े कस के पहने हुए नहीं हों, ढीले हों,

७– बैठने का आसन ठीक हो,

८– नासा–रन्ध्रों से वायु को धीरे–धीरे खींचना और छोड़ना हो,

९– नासा–रन्ध्रों से वायु खींचना और छोड़ना ताल के साथ हो,

१०– मन की एकाग्रता श्वास–प्रश्वास पर ही रहे,

११– मन में दूसरी चिन्ता न रहे,

१२– उदर में दूषित मल या वायु जमा न रहे,

१३– cãp; Zhu O;fä ukMh&'kf) dhp"Vk u djsa vU;Fkk osfofoèk jksxksa sv kØkUr gksr k;xsaA

14& dEHkd dsvH;kl dsfy, bl I siwZ ghv kl u dksfLFkj j[kukeu dksfLFkj djukv kSj ukMh&'kf) dk vH;kl t:jhgSA

## राजयोग का प्राणायाम

राजयोग के अनुसार भी प्राणायाम तीन प्रकार के हैं– बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति [१०३]।

१– प्राण वायु को प्रश्वास के साथ बाहर धारण करके रखना बाह्यवृत्तिक प्राणायाम है [१०४]।

---

१०३– द्रष्टव्य– पूर्व पृष्ठ–५० की पाद टिप्पणी क्र० ७७

१०४– **''बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः''** – **योगदर्शन** (२/५०)

२- प्राण-वायु को श्वास के साथ भीतर धारण करके रखना ही आभ्यन्तरवृत्तिक प्राणायाम है [१०४]।

इन दोनों प्राणायामों को अच्छे रूप से नाडी-शुद्धि होने के बाद ही करना चाहिए और इन प्राणायामों को अच्छे रूप से करने के बाद ही स्तम्भ वृत्तिक प्राणायाम करना चाहिए।

३- श्वास-प्रश्वास को रोक कर कुछ धीरे-धीरे पूरक और कुछ रेचक के साथ फेफड़े के कार्य को रोकने से स्तम्भवृत्ति हो जायेगी। स्तम्भवृत्तिक प्राणायाम का अभ्यास धीरे-धीरे होना चाहिए[१०४]। इस प्रकार स्वामी दयानन्द के गुरु जी उन्हें अपने अत्यन्त समीप बैठाकर सर्व प्रकार की प्राणायाम-शिक्षा देते थे।

**प्राणायाम-परिदर्शन**- बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भ इन तीन प्राणायाम वृत्तियों को ध्यान में रखकर इनकी स्थिति को क्रमश: दीर्घ से सूक्ष्म की तरफ ले जाना और इसके कौशल को स्थान (देश), काल और संख्या के अनुसार उत्कर्ष की तरफ ले जाना-इसी का नाम प्राणायाम-परिदर्शन है।

**देश (स्थान)-परिदर्शन**- देश दो प्रकार के हैं-बाह्य देश और आभ्यन्तर देश। बाह्य देश का दूसरा नाम आधिभौतिक देश और आभ्यन्तर देश का दूसरा नाम आध्यात्मिक देश है। स्वाभाविक प्रश्वास के समय प्रश्वास-वायु नासिका से करीब १२ अंगुल तक बाहर जाता है। नाडी-शुद्धि के अभ्यास से प्रश्वास-वायु क्रमश: १२ अंगुल से ११, १०, ९, ८ और इसी रूप से अन्त में नासिका से बाहर आयेगा ही नहीं। नासिका के अन्दर ही प्रश्वास-वायु समाप्त हो जायेगा। इसी रूप से प्रश्वास में वायु के प्रति दृष्टि रखने का नाम बाह्यदेश परिदर्शन है। फिर श्वास लेने के समय जब श्वास-वायु हमारे वक्ष:स्थल की तरफ आता है, उस पर ध्यान रखने से उसी का नाम आध्यात्मिक परिदर्शन है।

**काल-परिदर्शन**- प्रणव मन्त्र या गायत्री मन्त्र का जप करते हुए जो काल का परिमाण हिसाब में रखा जाता है उसी का नाम काल-परिदर्शन है। पूरक में ४ बार, कुम्भक में १६ बार और रेचक में ८ बार मन्त्र जप करना या पूरक में ६ बार, कुम्भक में २४ बार और रेचक में १२ बार मन्त्र जप करना। इसका अनुपात है- १:४:२। साधक अपनी शक्ति के अनुसार जप करें। जप पूरक में जितने बार होगा, कुम्भक में उसके चार गुणा होगा और रेचक में उसका द्विगुणा जप होगा। इसी का नाम काल-परिदर्शन है।

**संख्या-परिदर्शन**- यह काल-परिदर्शन के ही अनुरूप है। इसमें जप की संख्या नहीं रखनी है परन्तु श्वास-प्रश्वास की संख्या रखनी है।

स्वामी दयानन्द के गुरु जी ने उनको सावधन कर दिया था कि प्राणायाम का अभ्यास बहुत ही सावधानी से और धीरे-धीरे करना चाहिए। सद्‌गुरु के उपदेश के अनुसार इसका अभ्यास होना चाहिए, जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए।

---

१०४- ''यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है अर्थात् एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति और चौथा जो बाहर-भीतर रोकने से होता है अर्थात् जो कि इस सूत्र का विषय है। वे चार प्राणायाम इस प्रकार के होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले, तब उसको बाहर ही रोक दे, इसको प्रथम प्राणायाम कहते हैं। जब बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके, उतना भीतर ही रोक दे, इसको दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर ले जाय, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके, उसको जहाँ का तहाँ, ज्यों का त्यों एक दम रोक दे। और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ २ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर आवे, तब उसको भीतर ही थोड़ा २ रोकता रहे, इसको बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं। और इन चारों का अनुष्ठान इसलिए है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे।''- **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

यथा-शक्ति धीरे-धीरे पूरक, कुम्भक और रेचक करना और धीरे-धीरे इनकी संख्या और काल को बढ़ाना। इस रूप से धीरे-धीरे दीर्घ काल के अन्दर अभ्यास करने से जो प्राणायाम की सिद्धि होती है, उसका नाम दीर्घ-प्राणायाम है। प्राणायाम में जब श्वास-प्रश्वास बाहर आता ही नहीं, नासिका के अन्दर ही रहता है और कुम्भक करने में अधिक कष्ट नहीं होता है- तब उसका नाम सूक्ष्म प्राणायाम है।

**विषयाक्षेपी प्राणायाम**- देश, काल और संख्या के प्रति दृष्टि रख कर बहुत दिन प्राणायाम करते-करते जब साधक अभ्यस्त हो जाते हैं तब देश, काल और संख्या के प्रति दृष्टि न रखने से भी प्राणायाम सुचारु रूप से साधित होता है। इसी का नाम विषयाक्षेपी प्राणायाम है[१०५]।

**प्राणायाम से लाभ**- स्वामी दयानन्द के गुरु जी ने प्राणायाम-शिक्षा के प्रारम्भ में ही प्राणायाम की उपकारिता को वर्णित किया था। तमोगुण के आधिक्य के कारण सत्वगुण के प्रकाश और रजोगुण की कर्मशीलता पर आवरण आ जाता है। प्राणायाम के प्रभाव से शरीर और इन्द्रियों का जाड्य और आलस्य छूट जाता है, तमोगुण का कार्य तन्द्रा और निद्रालुता भी नष्ट हो जाती है। स्वल्प निद्रा के कारण तब कष्ट नहीं होता है। देह कर्मपटु होता है, मन मोह-शून्य होता है और बुद्धि स्वच्छ होती है। विचार-शक्ति और विवेक-शक्ति की वृद्धि होती है, विवेक-शक्ति की वृद्धि से तत्त्व-ज्ञान और सूक्ष्म दर्शन का उदय होता है, मिथ्या और विपर्य ज्ञान का लोप होता है और शुद्ध ज्ञान का उदय होता है[१०६]।

**चित्त की निर्मलता**- स्वर्णादि धातुओं में मल या खोट मिश्रित रहने से उसकी उज्ज्वल आभा आवृत हो जाती है और देखने में मलिन लगती है और उसको अग्नि में दग्ध करने से मल दग्ध हो जाता है और सुवर्णादि धातुओं की स्वाभाविक उज्ज्वलता प्रकाशित होती है। ठीक इसी प्रकार हमारा विवेक मोह के आवरण से आवृत होकर आभाशून्य हो जाता है। प्राणायाम के द्वारा मोह का आवरण नष्ट हो जाता है। प्राणायाम से हमारे शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्त की मलिनता और अशुद्धि भी कट जाती है और विशुद्धि के भाव का उदय होता है[१०७]। स्वाभाविक स्थिति में हमारी इन्द्रियों में मलिनता रहती है इसलिए ये इन्द्रियाँ दुर्बल हैं। यह मलिनता कट जाने पर ये प्रबल हो जाती हैं और इनको प्रकृति के सूक्ष्म उपादान दर्शन करने की शक्ति मिलती है। तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि के तन्मात्रादि दर्शन करने की शक्ति भी मिलती है। दूर-दर्शन और दूर-श्रवणादि की शक्ति भी उत्पन्न होती है। जब तक मलिनता रहेगी तब तक दूरदर्शनादि अतीन्द्रिय शक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। प्राणायाम के द्वारा यह मलिनता क्षीण हो जाती है और सूक्ष्म तत्त्वों का दर्शन होता है। स्वामी दयानन्द के गुरुजी की कृपा से उनहें इसका फल प्राप्त हुआ था।

## गति-विच्छेद

नासिका के द्वारा श्वास को भीतर लेने का नाम ''पूरक'' और उसको छोड़ने का नाम ''रेचक'' है। पूरक के बाद रेचक न करना या रेचक के बाद पूरक न करना, इसका नाम ''गति-विच्छेद'' है[१०८]। गति-विच्छेद में श्वास-प्रश्वास बन्द

---

१०५- **''बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः''** - **योगदर्शन** (२/५१)
द्रष्टव्य-पूर्व पाद टिप्पणी क्र० ७७ एवं १०४ के अन्तिमांश।

१०६- द्रष्टव्य-पूर्व पृष्ठ-५० की पाद-टिप्पणी क्र० ७७ का अन्तिमांश।

१०७- **''ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्''** - **योगदर्शन** (२/५२)
''इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का ढाँकने वाला आवरण जो अज्ञान है, वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है।'' - **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषयः)

१०८- **''तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः''** -**योगदर्शन** (२/४९)

किया जाता है। एक का नाम ''पूरकान्तक कुम्भक'' और दूसरे का नाम ''रेचकान्तक कुम्भक'' है। श्वास-प्रश्वास का गति-विच्छेद बाहर होता है और चित्त का गति-विच्छेद भीतर होता है। चित्त सर्वदा चञ्चल है। चित्त की चञ्चलता का नाम ही चित्त की गति है। श्वास-प्रश्वास स्थिर होने से प्राणशक्ति का गति-विच्छेद होता है और चित्त स्थिर होने से चित्त का गति-विच्छेद होता है। जिस समय कुम्भक होगा ठीक उसी समय भीतर चित्त को भी स्थिर रखना है। प्राण-शक्ति ही चित्त को चंचल करती है। चित्त को स्थिर करना और प्राण-शक्ति को स्थिर करना एक ही बात है। बाहर कुम्भक के द्वारा प्राण-शक्ति को स्थिर किया जाता है और भीतर चित्त को स्थिर करके प्राण-शक्ति को स्थिर किया जाता है। ध्यान के द्वारा चित्त को स्थिर रखना या चित्त को बिलकुल शून्यवत् रखना जरूरी है। कुम्भक के समय अगर चित्त में चञ्चलता रहे अर्थात् चित्त चारों तरफ घूमता-फिरता रहे तो विविध चिन्ताएँ आकर चित्त पर आक्रमण करती हैं। इसलिए इससे सुफल के बदले कुफल ही होगा और इससे अनिष्ट की सम्भावना है। इसलिए बाहर जैसे कुम्भक करना ऐसे ही भीतर भी चित्त को पूर्णतया स्थिर रखना है। तब ही योगाङ्ग प्राणायाम हो जायेगा। प्राण-शक्ति को दोनों तरफ से ही रोकना-गतिहीन करना पड़ेगा। गुरुजी के निर्देशानुसार साधन से स्वामी दयानन्द को इसका सुफल मिला।

इसलिए पहले आसन-स्थिर करके शरीर स्थिर करने का और ध्यान-अभ्यास करके मन स्थिर करने का नियम है। शरीर को और मन को स्थिर करके तब कुम्भक अभ्यास करने का नियम है। शरीर और मन को स्थिर न करके अगर कुम्भक किया जाय तो अनिष्ट होता है। मन की चञ्चलता में कभी कुम्भक नहीं करना चाहिए। बहुत से मनुष्य इस विषय में बहुत ही भूल करते हैं। वे लोग समझते हैं कि किसी भी तरह से बहुत समय तक कुम्भक करते रहने से ही सर्वसिद्धि मिल जाएगी। लेकिन चित्त स्थिर करने के बिना कुम्भक करके बहुतों को विपरीत फल ही मिलता है।

## यम-नियमों की साधना

पाँच यम और पाँच नियमों को स्वामी दयाननद के गुरु जी ने मनुष्य धर्म की नींव बताकर वर्णन किया था। फिर उन्होंने यम और नियमों को तपस्याओं के अङ्गीभूत कह कर उनका वर्णन किया था। यम और नियम के साधन से मन की स्वेच्छाचारिता की निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति होती है। इनकी साधनाओं की बाधायें भी बहुत हैं। बाधाओं के निवारणार्थ उपाय भी बहुत हैं। यम-साधना इस प्रकार की है-

**(१) अहिंसा-साधना**- मन-वचन-कर्म द्वारा किसी को हानि नहीं पहुँचाना और किसी के प्रति द्रोह-भाव न रखना ही अहिंसा है[१०९]। सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अद्रोह अहिंसा के सहायक हैं। मैत्री (सुखी के प्रति), करुणा (दु:खी के प्रति), मुदिता (पुण्यवान् के प्रति) और उपेक्षा (पापी के प्रति) की साधना से अहिंसा-साधना की उन्नति होती है [११०]। अहिंसा-साधना करने में स्वार्थ त्याग की आवश्यकता है। दूसरे के शरीर के माँस को खाकर अपने शरीर की पुष्टि

---

द्रष्टव्य-पूर्व पृष्ठ- ५२ की पाद टिप्पणी क्र०-८०

१०९- **''तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह:''** &; ksxn'kZu O;kl Hkk"; (२/३०)

११०- **''मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्''** - **योगदर्शन** (१/३३)

''इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं, उन सबों के साथ मित्रता करना, दुखियों पर कृपादृष्टि रखनी, पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता, पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही रखना। इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है।''

- **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

''**मैत्री**-सुखीजनों में मित्रता, **करुणा**-दु:खीजनों पर दया, **मुदिता**-पुण्यात्माओं से हर्षित होना, **उपेक्षा**-दुष्टात्माओं में न प्रीति और न वैर करना।'' - **सत्यार्थप्रकाश** (नवम-समुल्लास:)

करने से अधिक दूसरी हिंसा नहीं है। जो दूसरे के प्रति हिंसा करता है, दूसरे लोग भी उसकी हिंसा करेंगे। उसको बन्धु नहीं मिलेगा। सब कोई उसके शत्रु बन जाते हैं। **''अहिंसा परमोधर्म:''**। अहिंसा पालन करके चित्त को शुद्ध करना चाहिए।

हिंसा तीन प्रकार की है--कृता, कारिता और अनुमोदिता। क्रोध, लोभ और मोह से हिंसा उत्पन्न होती है। हिंसा अनन्त दु:ख और अज्ञानता का कारण है। हिंसा के इन दोषों को सोचकर हिंसा को त्याग देना चाहिए[१११]।

**कृता–हिंसा**– जिस हिंसा को मनुष्य स्वयं करता है। जैसे पशुवध, पक्षीवध आदि।

**कारिता–हिंसा**– खुद न करके जो हिंसा दूसरे के द्वारा करायी जाती है। जैसे अपने नौकरों के द्वारा पशुवध, पक्षीवध आदि।

**अनुमोदिता–हिंसा**– दूसरे की हिंसा की प्रशंसा करना। जैसे कसाईखाने या मन्दिर में पशुवध को देखकर प्रसन्नता प्रकट करना।

इन तीन प्रकार की हिंसाओं में प्रत्येक हिंसा भी तीन–तीन प्रकार की है–क्रोधपूर्वक, लोभपूर्वक, मोहपूर्वक। जैसे क्रोध से किसी का वध करना, धनैश्वर्य के लालच से किसी को जान से मार देना और पुण्य के मोह से मन्दिर में बकरी–भैंसों का बलिदान देना।

देखा जाता है कि कोई–कोई मनुष्य वृद्धावस्था में कठिन असाध्य रोग से आक्रान्त होकर छटपटाते हैं। ये लोग प्रतिक्षण मृत्यु को ही चाहते हैं। किन्तु इनके प्रति मृत्यु देवता की दया नहीं होती है। दीर्घकाल तक ये लोग असहनीय रोग–यन्त्रणाओं को सहन करके भी जीवित रहते हैं। इस जीवन में हो या पूर्व जीवनों में हो, ये लोग घोरतर हिंसा–कार्य करके इस स्थिति को प्राप्त होते हैं। हिंसा का फलभोग जब तक पूरा नहीं होता तब तक इनकी मृत्यु नहीं होती।

अहिंसा प्रतिष्ठित होने से सब प्राणी योगी के प्रति वैरभाव को छोड़ देते हैं। व्याघ्रादि हिंस्र पशु भी उनके प्रति हिंसाभाव को छोड़ देते हैं। ऋषि–मुनियों के आश्रमों में हरिण–शिशु और व्याघ्र–शिशु एक साथ खेलते हैं। अहिंसा–साधना की सिद्धि के कारण योगी के आश्रम का वातावरण अहिंसामय हो जाता है[११२]।

**(२) सत्य–साधना**– मन, वचन, आचरण से सत्य के पालन से ही सत्य–साधना होती है। सत्य प्रतिष्ठित होने से योगी वाक्–सिद्ध होते हैं। उनके वाक्य अमोघ होते हैं। सत्य–प्रतिष्ठित योगी अन्याय से शक्ति के बाहर व्यर्थ सङ्कल्प भी नहीं करते हैं। उनके आशीर्वाद और अभिशाप दोनों ही सफल होते हैं अर्थात् जिस प्राणी को कर्मफलानुसार दु:ख मिलेगा, योगी के मुख से उसके प्रति अभिशाप ही निकलता है और जिस प्राणी को कर्मफलानुसार सुख मिलेगा, योगी के मुख से उसके प्रति आशीर्वाद ही निकलता है। मिथ्या वाक्य भी अगर दूसरे के लिए हितकर हो, तब वह मिथ्या वाक्य भी सत्य वाक्य बन जाता है। और सत्य वाक्य भी दूसरे के लिए अहितकर होता है, तो वह सत्य वाक्य भी मिथ्या बन जाता है। योगी आशीर्वाद से दूसरे को शुभ फल दे सकते हैं। योगी इच्छा करने से बीमारों की कठिन पीड़ा भी दूर कर सकते हैं। महापापी के अन्दर शुभ इच्छा के द्वारा पुण्य का सञ्चार कर सकते हैं। योगी सर्वदा विचारपूर्वक दूसरे के लिए हितकर वाक्य ही बोलते हैं, अल्प वाक्य प्रयोग करते हैं और कभी–कभी मौन भी धारण करते हैं। सत्यप्रतिष्ठित योगी ज्यादा वाक्य नहीं बोलते हैं और वाचालता भी छोड़ देते हैं। सत्यस्वरूप परमात्मा के ध्यान में ही योगी अधिक समय बिताते हैं,

---

१११– **''वितर्का हिंसादय: कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दु:खाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्''** – **योगदर्शन** (२/३४)

११२– **''अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:''** –**योगदर्शन** (२/३५)

''जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है, तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है किन्तु उसके सामने वा उसके सङ्ग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है।'' –**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

सत्य धर्म के प्रचार में भी अपने जीवन को समर्पित करना चाहते हैं, ऐसे योगी का सब लोग विश्वास करते हैं[११३]।

**(३) अस्तेय साधना**- लोभ के कारण दूसरे की किसी वस्तु को चोरी करके लेना ''स्तेय'' है, और इसके विपरीत ''अस्तेय'' है। अधर्म से उपार्जित अर्थ से धर्मोपार्जन नहीं होता है। बिना बताये दूसरे की वस्तु को ग्रहण करना भी 'स्तेय' है। जिस वस्तु में अधिकार नहीं है, उस वस्तु को किसी उपाय से लेना भी 'स्तेय' है। इस रूप से पुरोहित या यजमान का एक-दूसरे को प्राप्ति के विषय में धोखा देने से, दूसरे की नौकरी करते हुए नौकर का स्वामी के कार्य को ठीक रूप से न करने से, व्यवसायी का व्यवसाय में धोखा देने से, चिकित्सक का रोगी को चिकित्सा कार्य में धोखा देने से, शिक्षक-छात्रों, गुरु-शिष्यों में एक दूसरे को धोखा देने से भी स्तेय हो जाता है। इन सब के विपरीत-प्रतिकूल व्यवहार ही अस्तेय है। स्तेय का फल अविश्वास और भीति है और अस्तेय प्रतिष्ठित होने से प्रकृति के सब रत्न ही साधक के सम्मुख उपस्थित होते हैं। काय, मन, वाक्य से दूसरे के धन के अपहरण की मनोवृत्ति न रहने से जगदीश्वर साधक को सर्व आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करते हैं। अस्तेय प्रतिष्ठित होने से साधक को देखकर ही दाता दान करके अपने को धन्य समझते हैं। अस्तेय-साधक सब के विश्वास-पात्र और प्रियपात्र बन जाते हैं और स्तेय के द्वारा मनुष्य दूसरे के अविश्वास, भय और घृणा के पात्र बन जाते हैं[११४]।

**(४) ब्रह्मचर्य-साधना**- काम-भावना के साथ कुछ-कुछ स्मरण करना, बात करना, देखना, गुप्त-मन्त्रणा करना, सङ्कल्प करना, श्रवण करना और व्यभिचार कर्म करना-यह सब के सब ब्रह्मचर्य-विरोधी हैं। इसके विपरीत शुद्ध भाव से और काम-वर्जित भाव से सब कुछ करना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने से शारीरिक और मानसिक बल-लाभ होता है और धर्मभाव वर्द्धित होता है। सत्त्व, आयु, यश, कीर्ति, उत्साह, उद्यम, उच्चाशा, त्याग, शान्ति और आनन्द की वृद्धि होती है। अन्यथा इन सब गुणों के विपरीत दुर्गुणों की वृद्धि से मनुष्यता का लोप और पशुत्व की वृद्धि होती है, सब ही घृणा और अवमानना का व्यवहार करते हैं। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने से साधक महाशक्तिशाली होते हैं। साधक के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल की वृद्धि होती है। इन्द्रियों की तेजोवृद्धि होने से सूक्ष्म और अलौकिक विषयों का प्रत्यक्ष होता है। प्रकृष्ट रूप से तत्त्वज्ञान की उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य-हीन मानवों के शरीर निर्बल और विभिन्न रोगों के गृह बन जाते हैं। इनके मन निस्तेज, उत्साह-हीन, उच्चाशाहीन और अकर्मण्य हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य-हीनता से जीवन पशुओं के स्तर से भी नीचे उतर जाता है। व्यक्ति अर्द्धमृत और अन्त में विनष्ट ही हो जाता है[११५]।

---

११३- **''सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्''** -**योगदर्शन** (२/३६)

''सत्याचरण का ठीक-ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है, तब वह जो-जो योग्य काम करता और करना चाहता है; वे-वे सब सफल होते हैं।''

- **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय)

११४- **''अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्''** - **योगदर्शन** (२/३७)

''जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तब उसको सब उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं और चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के बिना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना।'' - **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

११५- **''ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः''** - **योगदर्शन** (२/३८)

''ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करें, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खें, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता-पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और पर-स्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन, कर्म, वचन से त्याग देवे, तब दो प्रकार से वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है-एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त

**(५) अपरिग्रह–साधना**– केवल शरीरादि की रक्षा के लिए जिन–जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, तदतिरिक्त वस्तुओं का त्याग करना अपरिग्रह है। अधिक वस्तुओं की इच्छा अच्छी नहीं है। प्रयोजनातिरिक्त वस्तुओं के ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। अधिक भोग्य वस्तु सम्मुख रहने से योगसिद्धि नहीं होती है। आवश्यकता से अतिरिक्त वस्तुओं का सञ्चय करना महापाप है। स्तूपीकृत धन और भोग्य वस्तु दूसरे अभाव–ग्रस्त व्यक्तियों को दे देना चाहिए। क्योंकि जगत् की सब वस्तुएँ ही भगवान् की हैं। दूसरे को वञ्चित करके किसी वस्तु का भोग और अपव्यवहार महापाप है। अर्थ के तुम रक्षक हो, भक्षक नहीं हो। प्रभु के अर्थ को प्रभु के कार्यों में खर्च करो। जिसका अभाव है उसके अभाव को मिटा दो, तब अपरिग्रह–सिद्धि होगी। मुमुक्षु लोग प्रयोजनातिरिक्त विषयों को सर्वतोरूप से छोड़ देते हैं। इससे भोग्य वस्तुओं के मानसिक बन्धन से मुक्त होकर वे लोग चित्त को निर्मल बना लेते हैं। चित्त के निर्मल होने से उनके चित्त में पूर्व–पूर्व जीवन v kjSHkfo"; t Uekd kKku t kxr gksk gS[११६]।

नियमों की साधना इस प्रकार है:–

**(१) शौच–साधना**– शौच दो प्रकार के हैं– आभ्यन्तर शौच और बाह्य शौच। शौच का तात्पर्य शुचिता है, पवित्रता है। बाह्य शौच से शरीर शुद्ध और स्वस्थ रहता है और आभ्यन्तर शौच से मन शुद्ध और स्वस्थ रहता है। मिट्टी और जल से बाह्य शौच साधित होता है और शुद्ध आहार और सत् चिन्ता और पवित्र मनोभाव ग्रहण करने से आभ्यन्तर शौच साधित होता है। पवित्र वस्त्रों के परिधान, सज्जनों के सङ्ग और सत् वातावरण में साधकों को रहना चाहिए। राजसिक और तामसिक आहार और वातावरण का परित्याग करना चाहिए। किसी प्रकार के उत्तेजक या मादक द्रव्य का सेवन नहीं करना चाहिए। अनेक साधु भ्रान्ति के कारण चित्त स्थिर करने के नाम पर मादक द्रव्यों का व्यवहार करते हैं। इससे चित्त अपने वश में कभी नहीं रहता है। चित्त को वश में रखना ही तो योग का उद्देश्य है। इसलिए मादक द्रव्य योग–साधन के लिए सम्पूर्ण विघ्नकर हैं। भूल से भी मादक द्रव्यों का व्यवहार नहीं करना चाहिए।

शौच साधन से मल, मूत्र, स्वेद, श्लेष्मा से परिपूर्ण शरीर से आसक्ति धीरे–धीरे हट जाती है। शौच–साधना से शारीरिक मल के साथ मानसिक मल भी धीरे–धीरे विदूरित होते हैं। चित्त–मल दूर होने से मन भी शान्त होता है। मन में शान्ति न रहने से किसी कार्य में मन निविष्ट नहीं रह सकता। मन शान्त रहने से चित्त एकाग्र होता है। शुद्ध और एकाग्र–चित्त होने से ही इन्द्रिय–जय सम्भव है। जितेन्द्रिय नहीं होने से चित्त धारणा, ध्यान और समाधि–लाभ की योग्यता प्राप्त नहीं करता। इन तीनों से ही आत्मदर्शन की योग्यता आती है[११७]।

---

आनन्द में रहता है।'' – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

११६– **''अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोध:''** – **योगदर्शन** (२/३९)

''अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और मुझको क्या करना चाहिए अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा, इत्यादि शुभगुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है।'' – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

११७– **''शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्ग:''** –**योगदर्शन** (२/४०)

''**शौच**–अर्थात् पवित्रता करनी, सो भी दो प्रकार की है। एक भीतर की और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास, सत्सङ्ग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से शरीर, स्थान, मार्ग, वस्त्र, खाना, पीना आदि शुद्ध करने से होती है।''

''पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच से भी जब अपना शरीर और उसके सब अवयव बाहर–भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सबके शरीर मल आदि से भरे हुए हैं। इस ज्ञान से योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने

**(२) सन्तोष–साधना**– सन्तोष से उत्कृष्ट सुख–लाभ होता है। तृष्णा–क्षय नहीं होने से सन्तोष–साधन नहीं होता है। सन्तोष परम धन है। लाखों रुपयों से भी इसको खरीद नहीं सकते हैं। सन्तोषी भिक्षुक जीर्ण वस्त्र पहनता हुआ, एक टुकड़ा रोटी खाता हुआ और भग्न कुटीर में रहता हुआ जिस शान्ति की उपलब्धि कर सकता है, राज–राजेश्वर केवल भोग–सुख में वेष्टित होता हुआ ऐसी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता है। सन्तोष, तृप्ति और आसक्ति–हीनता ही सन्तोष ला सकती है और सन्तोष ही शान्ति को ला सकता है। विषयासक्त धनी या गरीबों के लिए सन्तोष और सुख स्वप्नवत् हैं। विषयासक्ति सर्वसुख का कण्टक है। अपनी स्थिति में सन्तुष्ट रहते हुए उत्कर्ष–लाभ के लिए प्रयत्न करना चाहिए। पूर्व जीवन के संस्कार के अनुसार इस जीवन की स्थिति मिल गई है। पूर्व जीवनों में हमने जिनके उपकार किये हैं, आज वे लोग हमारा उपकार कर रहे हैं। जिसको हमने प्रताणित किया है, वे लोग हमको प्रताणित कर रहे हैं। पूर्व जन्मों में जिसके ऋण को नहीं चुकाया, आज उन्होंने ही ऋण आदाय के लिए हमारे घर में सम्बन्धी के रूप से जन्म लिया है। मेरे पूर्वजन्म–कृत कर्मों के फल के अनुसार मुझको इस जन्म में सब कुछ मिल गया है। संस्कारानुयायी कर्मफल सुख या दु:ख मुझको भोगना ही पड़ेगा। फल की कामना के साथ कर्म करने से सुख के या दु:ख के संस्कार लेकर ही जन्म ग्रहण करूँगा। भोग रहने से तदनुसार देह और सुख–दु:ख मिलेगा। प्राणपण से और यथाशक्ति कर्त्तव्यपालन करना और चित्त में सन्तोष रखना ही परम कल्याण है। सन्तोष महामूल्यवान् वस्तु है। जिनके अन्दर सन्तोष है उनको अभाव नहीं है, वे सर्वदा सुखी हैं। विषय–तृष्णा ही सन्तोष का परम शत्रु है। सन्तोष की परम यत्न से रक्षा करनी चाहिए[११८]।

**(३) तप: साधना**– भोगवृत्ति ही शरीर और इन्द्रियों में मलिनता लाती है। वैराग्य–वृत्ति ही इसकी शुद्धि करती है। बाहर की दृष्टि से सबके शरीर और इन्द्रिय एक से मालूम पड़ते हैं। लेकिन इसके अन्दर सात्विक, राजसिक, तामसिक संस्कार छिपे हुए हैं। इन संस्कारों के अधीन होकर हम लोग मन, वचन, देह से कार्य करते हैं। तामसिक प्रकृति को राजसिक बनाना और राजसिक को सात्विक बनाना ही तप है। सात्विक संस्कार–युक्त आदमी देव–प्रकृति के होते हैं। राजसिक प्रकृति के आदमी मनुष्य–प्रकृति के होते हैं। और तामसिक प्रकृति के आदमी पशु–प्रकृति के होते हैं। पशु–प्रकृति के मनुष्यों को मनुष्य–प्रकृति का होना और मनुष्य–प्रकृति को देव–प्रकृति का होना ही परम तप है। आत्मिक शुद्धि के लिए तप जरूरी है। सबसे अच्छा तप मन और ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह करना ही है। इन्द्रियों का स्वेच्छाचार निवारण करना, शीत–ग्रीष्म, क्षुधा–तृष्णा, सुख–दु:ख, सम्पद्–विपद्, जय–पराजय आदि को सहन करना तितिक्षा है। यह तितिक्षा परम तप है। भोग–विलास, आलस्य–तन्द्रा, सुख–स्वच्छन्दता के प्रभाव से अपने को मुक्त करना परम तप है और असंयत इन्द्रियों को संयत बनाना परमोत्कृष्ट तप है। षड् रिपुओं को वश में रखना सर्वोत्कृष्ट तप है। इनकी साधना से मानव देवत्व का लाभ करते हैं[११९]।

**(४) स्वाध्याय–साधना**– नियमित रूप से वेदाध्ययन, मोक्ष–शास्त्रों का पाठ और आत्मानुसन्धान करने के लिए

---

में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है।''

''शौच से अन्त:करण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है।'' – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

११८– **''सन्तोषादनुत्तमसुखलाभ:''** –**योगदर्शन** (२/४२)

''सन्तोष से जो सुख मिलता है, वह सबसे उत्तम है और उसी को मोक्षसुख कहते हैं'' – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

११९– **''कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस:''** – **योगदर्शन** (२/४३)

''तप से उनके शरीर और इन्द्रियाँ अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोग रहित रहते हैं।''

– **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

स्वामी दयानन्द के गुरु जी का कठोर आदेश था। उन्होंने कहा था कि ''दो-एक दिन खाना नहीं खाने से ज्यादा हानि नहीं होगी, लेकिन जिस स्वाध्याय के द्वारा आत्मपुष्टि होती है, उसको एक दिन भी किसी कारणवश बन्द रखने से तुम्हारी अधिक हानि हो जाएगी। स्वाध्याय से इष्ट देवता का दर्शन होगा। इष्ट देवता परमात्मा तुम्हारे अन्दर छिपे हुए हैं[१२०]। स्वाध्याय के साधन से तुम उनका स्वरूप-ज्ञान कर सकोगे। प्रमाद से एक दिन के स्वाध्याय से भी अपने को वञ्चित न करो[१२१]। अभ्यास का गुण असाधारण है। चित्त में जो कुछ अभ्यास करोगे, चित्त उसी में प्रतिष्ठित हो जायेगा। निरन्तर जिसका सङ्ग करोगे, वह तुम्हारा अपना बन जायेगा। स्वाध्याय के द्वारा तुम परमात्मा का सङ्ग करते रहो, तो सत्यद्रष्टा ऋषि-मुनियों का सङ्ग भी कर सकोगे। निरन्तर स्वाध्याय के द्वारा उन सबको और भगवान् को अपना सङ्गी-साथी बना लो, जीवन सार्थक हो जायेगा। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिए मनुष्य दूसरे के सङ्ग को ढूँढते हैं। तुम्हारे चिर-साथी भगवान् तुम्हारे लिए अनन्त ज्ञान और आनन्द का भण्डार लेकर बैठे हुए हैं। धर्म ग्रन्थ वेद के अन्दर उनके अनन्त अपार ज्ञान की विभूति के दर्शन करते रहो। ज्ञानामृत-पान करते रहो। असंख्य जीवनों की क्षुधा-तृष्णा मिट जायेगी। शास्त्रग्रन्थों के अन्दर रहते हुए ऋषि-मुनि लोग तमसावृत जगत् के अन्दर भटकते हुए तुमको गन्तव्य स्थान का सन्धान बतला देंगे। दुःखी अन्तःकरण को सान्त्वना देंगे, शोकार्त, दुःखार्त, निराश जीवन को अमृतधारा से सञ्जीवित कर देंगे। ''

स्वामी दयानन्द के गुरु जी के ये अमूल्य उपदेश उनके कानों में और अन्तःकरण में आजन्म प्रतिध्वनित हाते रहे हैं। वे उपदेश आज भी जीवित, जागृत एवं प्रेरणा देने वाले हैं। त्यागी-भोगी, संसारी-ब्रह्मचारी, बालक-बालिका, युवक-युवती, वृद्ध-वृद्धा सभी के लिए स्वाध्याय परम साधना है; यह परम कल्याणकर है।

योग-शास्त्र के क्रिया योग ये हैं-तपः, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान[१२२]। स्वाध्याय-क्रिया तपः और ईश्वर-प्रणिधान के बीच में है। स्वाध्याय दोनों को पुष्ट करता है। प्राण, मन और बुद्धि की गति सर्वदा ही बाहर की ओर है। बाह्य विषयों के प्रति ये बड़े ही आसक्त रहते हैं। यह विषयासक्ति ही मलिनता है; सब कोई स्वाध्याय के प्रभाव से ही मन, बुद्धि और प्राण को अन्तर्मुखी कर सकते हैं। सूक्ष्म देह के संस्कार के लिए स्वाध्याय बहुत ही उपयोगी है। बाहर का सुख अस्थायी और मलिन है और भीतर का सुख स्थायी और निर्मल है। भीतर के सुख का सन्धान एकमात्र स्वाध्याय के द्वारा ही मिल सकता है।

मन्त्र-जप भी स्वाध्याय का एक अङ्ग है। प्रणव अर्थात् ओङ्कार का और गायत्री मन्त्र का अर्थभावना के साथ जप करना ही जप है[१२३]। जप करते-करते ध्यान की स्थिति आ जाती है और आगे समाधि की तन्मय स्थिति भी आ जाती

---

''यथार्थ शुद्धभाव, सत्यमानना, सत्य बोलना, सत्य करना, मन को अधर्म में न जाने देना, बाह्य इन्द्रियों को अन्यायाचरणों में जाने से रोकना अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन से शुभकर्मों का आचरण करना, वेदादि सत्य विद्याओं का पढ़ना-पढ़ाना, वेदानुसार आचरण करना आदि उत्तम धर्मयुक्त कर्मों का नाम '**तप**' है। धातु को तपा के चमड़ी को जलाना '**तप**' नहीं कहाता।'' - **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

१२०- **''स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः''** - **योगदर्शन** (२/४४)

''स्वाध्याय से इष्टदेवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साझा होता है। फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है।" -**ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** (उपासना विषयः)

१२१- **''स्वाध्यान्मा प्रमदः, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्**- प्रमादरहित होके पढ़-पढ़ा, प्रमाद से पढ़ने-पढ़ाने को कभी मत छोड़।'' - **सत्यार्थप्रकाश** (तृतीय समुल्लास)

१२२- द्रष्टव्य-पृष्ठ ६३ की पाद टिप्पणी क्र० ९८

१२३- ''गायत्री मन्त्र का अर्थ-विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुति, प्रार्थनोपासना करे।'' - **संस्कार विधिः** (गृहाश्रम प्रकरणम्)

है। यह तन्मय अवस्था ही समाधि की सूचना है। जिसके चित्त में रजोगुण अधिक है उसकी तन्मय स्थिति अल्पक्षण स्थायी होती है। जप में अभ्यस्त होने से रजोगुण की मात्रा कम हो जाती है, सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ती है। अभ्यस्त योगी का जप श्वास-प्रश्वास के साथ भी चल सकता है। इससे भी समाधि का रास्ता खुल जाता है। स्वाध्याय के अंग-ग्रन्थपाठ और जप दोनों ही समान उपयोगी हैं, एक दूसरे के परिपूरक हैं। यह स्वाध्याय सबका चिर-साथी है। स्वाध्याय से प्राण, मन, बुद्धि की मलिनता कट जाती है।

**(५) ईश्वर प्रणिधान-साधना**- सब कार्यों के फल को भगवान् में अर्पण कर देना ही ईश्वर-प्रणिधान है। ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि होती है। छोटा शिशु जैसे स्नेहमयी जननी की गोद में लेटकर निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है, साधक उसी प्रकार अपनी अहङ्कार-भावना को छोड़कर सब भगवान् में समर्पण करके पूर्णतया निश्चिन्त और निर्भय हो जाता है। सङ्ग हमारी उन्नति और अवनति का कारण है। स्थूल विषय का सङ्ग करने से हम स्थूल विषय के प्रति आकृष्ट होकर प्रवृत्तिपथ में धावित होते हैं। सूक्ष्म विषय का सङ्ग करने से हमारा मन प्रवृत्ति के पथ को छोड़कर निवृत्ति के पथ पर पहुँच जाएगा। भगवान् परम सूक्ष्म तत्त्व है, इसलिए समाधि योग से उनका सङ्ग करने से भगवान् की उपलब्धि होगी। इस समाधि-लाभ का प्रथम सोपान ईश्वर-प्रणिधान है। ईश्वर-प्रणिधान से सामयिक उद्वेग, अशान्ति, दुश्चिन्ता एक क्षण के लिए भी ठहर नहीं सकते, यह स्वयं स्वामी दयानन्द का अनुभव रहा है[१२४]।

## प्रत्याहार-साधना

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय-चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्-अपने-अपने विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श के साथ स्वाभाविक रूप से ही संयुक्त होते हैं। जब यह संयोग बन्द हो जाता है और इन्द्रियगण चित्ताकार हो जाते हैं, तब इसका नाम प्रत्याहार है। चित्त की इच्छानुसार ही इन्द्रियाँ विषयों से संयुक्त होती हैं। चक्षु रूप से, कर्ण शब्द से, नासिका गन्ध से, जिह्वा रस से और चर्म स्पर्श से संयुक्त होते हैं, केवल तब जब मन चाहता है। मन एक समय में केवल एक ही इन्द्रिय को विषय में संयुक्त कर सकता है। दूसरी इन्द्रियाँ तब अपने-अपने विषयों से वियुक्त रहती हैं। इस प्रकार सब इन्द्रियों (अर्थात् पाँचों इन्द्रियों) के विषयों से वियुक्त होने पर प्रत्याहार सम्भव होता है। इन्द्रियगण के जब निष्कर्म की स्थिति में आ जाने से चित्त में इन्द्रियाँ लय को प्राप्त हो जाती हैं, तब इन्द्रियगण मन के स्वरूप को प्राप्त हो जाती हैं और उनके लिए अलग से कोई कार्य नहीं रहता। इन्द्रियगण के विषयों से प्रत्यावर्तन करने का नाम ही 'प्रत्याहार' है[१२५]। प्रत्याहार बाहर से भी होता है और भीतर से भी होता है।

चित्त में धारणा-शक्ति प्रबल होने से हम लोग किसी एक विषय पर दीर्घ समय तक एकाग्रता के साथ रह सकते हैं। बाहर से प्रत्याहार का साधन होने से अधिक फल लाभ नहीं होता है। चक्षु बन्द करने से रूप दर्शन क्रिया बन्द होती है, यह कच्चा प्रत्याहार है। कच्चा प्रत्याहार टूट जाता है, लेकिन पक्का प्रत्याहार टूटता नहीं। प्राणायाम के बाद प्रत्याहार

---

१२४- **''समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्''** - **योगदर्शन** (२/४५)

''पूर्वोक्त (ईश्वर) प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है।''

''ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होने से मनुष्य समाधि-योग को शीघ्र प्राप्त होता है।''

-**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

१२५- **''स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:''** - **योगदर्शन** (२/५४)

''प्रत्याहार उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलाने वाला है।'' - **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना प्रकरण)

का साधन सम्भव होता है। प्रत्याहार-सिद्धि से इन्द्रिय संयम की सिद्धि होती है। इन्द्रिय संयम के बिना सर्व प्रकार की साधना ही विफल हो जाती है। स्वामी दयानन्द ने गुरु जी के उपदेश से उन्होंने प्रत्याहार साधना शुरू कर दी थी और यथासमय इसकी उन्हें सिद्धि भी मिल गई थी। इसकी सिद्धि में सभी को देर लगती है, स्वामी दयानन्द को भी इसमें काफी देर लगी थी।

इस रूप से स्वामी दयानन्द के गुरु स्वामी शिवानन्द जी गिरि ने राजयोग की उन्हें शिक्षा प्रत्याहार तक क्रमानुसार दी थी। इस प्रकार स्वामी दयानन्द के दोनों गुरुओं स्वामी ज्वालानन्द पुरी और स्वामी शिवानन्द गिरि ने उन पर असीम कृपा की थी जिनके प्रति वे सदैव ही आभारी रहे थे। दोनों ने एक महीने तक आबू पर्वत में रहने के लिए उनके ऊपर आश्रम का भार छोड़कर चाणोद से प्रस्थान किया। यहाँ एक महीने एकान्त में रहकर साधना के लिए उन्हें समय मिला। गुरुओं का आदेश था कि "एक महीने की समाप्ति पर स्वामी धर्मानन्द के यहाँ आ जाने पर उनके ऊपर आश्रम का भार छोड़कर अहमदाबाद में वहाँ के दुग्धेश्वर मन्दिर में आकर हम दोनों से मिलना। वहाँ हम लोग तुम्हें धारणा, ध्यान और समाधि के विषय में शिक्षा देंगे।"

स्वामी दयानन्द तदनुसार चाणोद आश्रम में ही रहे और एकान्त जीवन पाकर हठ-योग और राज-योग के अनुसार साधना करने लगे। इस एकान्त साधना से बहुत ही लाभ हुआ। महर्षि पतञ्जलि की उक्ति ठीक ही है कि जिनकी सङ्गति में हम लोग सदैव रहते हैं, उन्हीं के दोष या गुण हमारे अन्दर आने लगते हैं। निरन्तर भगवत्-चिन्तन करने से चित्त भगवत्-भाव में रूपान्तरित हो जाता है। मन्त्रों के अर्थों का चिन्तन करके निरन्तर जप और ध्यानादि करने से हमारी बुद्धि विषयों को छोड़कर ईश्वराभिमुखी होती है। इस बुद्धि या चेतना का नाम 'प्रत्यक्-चेतना' है। इस प्रत्यक्-चेतना के आने पर योग-साधना के अन्तराय और विघ्न नष्ट हो जाते हैं।

**योग-साधना के अन्तराय**- योग-साधना के अन्तराय नौ प्रकार के हैं- व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व और अनवस्थितत्व [१२६]। ये अन्तराय साधना में विघ्न डालते हैं। चित्त में विक्षेप लाते हैं और चित्त को स्थिर नहीं होने देते हैं। चित्त को स्थिर करना ही साधना है। ये नौ प्रकार के अन्तराय रहने से चित्त स्थिर नहीं हो सकता, अपितु चञ्चल होता है। इन अन्तरायों और विघ्नों को हटाने के लिए स्वामी दयानन्द ने बहुत प्रकार से सोच-विचार करके कुछ उपाय निश्चित कर लिये थे। ये उपाय उन्हें बहुत ही उपयोगी मालूम पड़े थे।

१- **व्याधि**- शारीरिक अस्वस्थता का नाम व्याधि और मानसिक अस्वस्थता नाम आधि है। व्याधि के साथ आधि

---

१२६- **"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः"**
- **योगदर्शन** (१/३०)

"वे विघ्न नव प्रकार के हैं- एक (व्याधि) अर्थात् धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना; दूसरा (स्त्यान) अर्थात् सत्य कर्मों में अप्रीति; तीसरा (संशय) अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे, उसका यथावत् ज्ञान न होना; चौथा (प्रमाद) अर्थात् समाधि साधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत न होना; पाँचवाँ (आलस्य) अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना; छठा (अविरति) अर्थात् विषय-सेवा में तृष्णा का होना; सातवाँ (भ्रान्तिदर्शन) अर्थात् उल्टे ज्ञान का होना, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना; आठवाँ (अलब्धभूमिकत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना और नववाँ (अनवस्थितत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना। ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासना योग के शत्रु हैं।" -**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषयः)

का निकट सम्बन्ध है। शरीर अस्वस्थ होने पर मन भी अस्वस्थ हो जाता है। शरीर और मन अस्वस्थ होने पर साधना असम्भव है। स्वास्थ्यकर, पुष्टिकर और सुस्वादु आहार परिमित रूप से ग्रहण करने से शरीर स्वस्थ होता है और भगवत्-सङ्गति और स्तवन-स्तुति से मन स्वस्थ होता है।

२- **स्त्यान**- साधना कर्त्तव्य है और आवश्यक है, इसको जानते हुए भी साधना में बहुत व्यक्ति तत्पर नहीं होते हैं, क्योंकि साधना के लिए इच्छा उत्पन्न नहीं होती है। इसी का नाम स्त्यान है। कठोर पुरुषार्थ, अध्यवसाय और मानसिक बल के प्रयोग से स्त्यान को हटाना चाहिए।

३- **संशय**- जिस कार्य में संशय है, उस कार्य को उत्साह और उद्यम के साथ करना कठिन है। इसलिए प्रथमत: संशय-भञ्जन की आवश्यकता है। शास्त्रों के उपदेश, गुरु के आदेश, विवेक-बुद्धि से आलोचना आदि के द्वारा सन्देह-भञ्जन होता है।

४- **प्रमाद**- समाधि-लाभ के लिए गुरु से जो कुछ साधना-प्रणाली जानी जाती है, वह सब कुछ भूल जाना, साधना को छोड़ देना और पुन: विषय-भोग में लिप्त हो जाना, इसी का नाम प्रमाद है। ऐसी भूल कभी न हो, आत्म-विस्मृति न हो, इसलिए अनुताप आने से ही साधना-भङ्ग के कारण कौन-सा सर्वनाश हुआ, इस पर बार-बार चिन्तन करना और इसके प्रायश्चित्त के लिए दो दिन उपवास के बाद दृढ़-सङ्कल्प के साथ साधना का अभ्यास प्रारम्भ कर देना कर्त्तव्य है।

५- **आलस्य**- शरीर में दोष होने से ही आलस्य आ जाता है। शरीर साधना करना नहीं चाहता है। आसन आदि के अभ्यास में अप्रवृत्ति आती है। लेटे हुए रहना ही अच्छा मालूम पड़ता है। मन में भी ऐसे आलस्य का आ जाना, भगवत् विषयक चिन्तन करना कठिन होना, ध्यानादि में भी अप्रवृत्ति आना-तमोगुण की वृद्धि से शरीर और मन की इस रूप की अवस्था होने से, तमोगुण का प्रभाव जानो और इस आलस्य को हटाने के लिए किसी निर्जन स्थान में बैठकर एक हजार बार गायत्री मन्त्र का जप करना पर्याप्त है।

६- **अविरति**- विषय-भोग से विरति न होना अविरति है। विषय-भोग में मग्न हो जाना भी अविरति है। अविरति त्याग करने के लिए विषय का विषम फल बार-बार चिन्तन करके साधन में व्रती हो जाना चाहिए। विषय-भोग के सङ्कल्प छोड़ने से विषयासक्ति कम हो जाती है।

७- **भ्रान्ति-दर्शन**- भूल का अनुभव होना ही भ्रान्ति-दर्शन है। सत्य को मिथ्या समझना और मिथ्या को सत्य समझना भ्रान्ति-दर्शन है। शरीर को आत्मा समझना, नश्वर शरीर को चिरस्थायी समझना, दूसरे सम्बन्धी जनों को चिर-साथी समझना भ्रान्ति-दर्शन है। साधन करने से अन्तर्दृष्टि का लाभ होता है और इससे ही भ्रान्ति-दर्शन दूर होता है।

८- **अलब्ध-भूमिकत्व**- योग-साधना करते-करते किसी उच्चतर स्थिति में पहुँचने में असमर्थ होना अलब्ध-भूमिकत्व है। पुरुषार्थ और अध्यवसाय व्यर्थ नहीं होता है। इस पर पूर्ण विश्वास रखकर ही साधना में लगे रहने से ही यथासमय उत्कर्ष समक्ष आ जायेगा।

९- **अनवस्थितत्व**- किसी उच्चतर स्थिति को प्राप्त करने पर भी उसमें दीर्घकाल तक चित्त उन्नत और स्थिर नहीं रहता, उससे फिर नीचे आ जाता है। अध्यवसाय के साथ फिर उच्च स्थिति में ले जाने के लिए दृढ़ सङ्कल्प धारण करने से यह हट जाएगा।

स्वामी दयानन्द ने आश्रम में एक महीने तक एकान्तवास का सुयोग पाकर इन सब साधन-विरोधी स्थितियों पर बहुत गम्भीर रूप से चिन्तन किया था। ये सब रज: और तम: प्रभाव से ही आते हैं और चित्त को इतस्तत: विक्षिप्त कर

देते हैं तथा चित्त को एकाग्र नहीं होने देते। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था कि ईश्वरोपासना और योगाङ्गों के सम्यक् अनुष्ठान से ही साधक इस स्थिति से पार पा सकता है।

## योग–साधना के विघ्न

इन ९ अन्तरायों के अलावा चित्त में विक्षेप उत्पादनकारी ४ प्रकार के विघ्न और हैं। ये विघ्न भी साधक को उत्कर्ष से वञ्चित रखते हैं। ये ४ विघ्न इस प्रकार हैं :– दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व और श्वास–प्रश्वास [१२७]।

**१– दुःख**– आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक–इन तीन दुःखों का नाम ही त्रिताप है। शारीरिक और मानसिक पीड़ा का नाम ही आध्यात्मिक दुःख है। दूसरे प्राणी से प्राप्त दुःख का नाम ही आधिभौतिक दुःख और प्राकृतिक दुर्योग से प्राप्त दुःख का नाम आधिदैविक दुःख है [१२८]।

**२– दौर्मनस्य**– त्रिविध दुःख या ताप से पीड़ित होकर साधक कभी–कभी किंकर्तव्य–विमूढ़ हो जाता है। चित्त दुःख के कारण अभिभूत हो जाता है। इसी का नाम दौर्मनस्य है।

**३– अङ्गमेजयत्व**– त्रिविध दुःख या ताप के कारण साधक का शरीर कभी–कभी कम्पित होने लगता है, मन अस्थिर हो जाता है, शरीर भी अस्थिर हो जाता है। इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार के कम्पन साधक को अभिभूत करते हैं।

**४– श्वास–प्रश्वास**– दुःख के कारण साधक के श्वास–प्रश्वास भी चञ्चल हो जाते हैं। इनके चञ्चल होने से योग–साधना चल हो जाती है। प्राणायाम के द्वारा यह श्वास–प्रश्वास का क्लेश दूर हो जाता है।

## उपाय–समूह

इन सब अन्तरायों और विघ्नों को दूर करने के लिए बहुविध उपाय हैं। ऋषि पतञ्जलि ने एक तत्त्व के अभ्यास का आदेश सर्वप्रथम दिया है–

**१– एक तत्त्व का अभ्यास**– इन दोनों– अन्तरायों और विघ्नों के निवारण के लिए किसी अभिमत, मनोरम या प्रीतिकर तत्त्व का ध्यान करना चाहिए। ध्यान के समय मन दूसरी किसी वस्तु के प्रति धावित न हो। इसको ध्येय वस्तु में ही आबद्ध रखना चाहिए। इन्द्रियों की किसी विषय–वस्तु (शब्द–स्पर्श–रूप–रस गन्ध) पर ध्यान करना निरापद नहीं है। इससे विषय–वस्तु के प्रभाव के कारण मन चञ्चल भी हो सकता है। भगवान् के गुणों पर ध्यान जमाना ही निरापद है। लेकिन स्थूल से सूक्ष्म की तरफ जाने का ही विधान है। भगवान् द्वारा रचित इस विराट्, विशाल और विस्मयकर विश्व के समग्र स्थूल रूप में ध्यान करने का विधान है, मनुष्य रचित किसी वस्तु पर ध्यान से विपरीत फल होता है [१२९]। एक तत्त्वाभ्यास में भगवत्–तत्त्व ही सर्वोत्तम है। इससे शारीरिक यन्त्र और क्रियाएँ एकतान में आती हैं। शरीर और इन्द्रियों के

---

१२७– **''दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः''** –**योगदर्शन** (१/३१)

''दुःख की प्राप्ति, मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कम्पन, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना, जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। ये सब क्लेश अशान्त चित्त वाले को प्राप्त होते हैं, शान्त चित्त वाले को नहीं।'' –**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषयः)

१२८– ''इस संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं। एक–**'आध्यात्मिक'** जो आत्मा, शरीर में अविद्या, राग–द्वेष, मूर्खता और ज्वर पीड़ादि होते हैं। दूसरा–**'आधिभौतिक'** जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होते हैं। तीसरा–**'आधिदैविक'** अर्थात् जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अतिउष्णता, मन और इन्द्रियों की अशान्ति से होता है।'' – **सत्यार्थप्रकाश** (प्रथम समुल्लास)

१२९– ''जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है, तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना, अन्यत्र न करना, यह ऐसी बात है

द्वारा भगवान् के आदिष्ट कर्म करने से और उनके प्रति लक्ष्य रखने से एक तत्त्वाभ्यास हो जायेगा। आसन, मुद्रा और प्राणायामादि के द्वारा शरीर, मन और श्वास-प्रश्वासादि को स्थिर करने से चित्त का विक्षेप नष्ट हो जाता है। भगवान् के प्रति श्रद्धा भक्ति नहीं रखने से ईश्वर तत्त्व या एक तत्त्व लाभ करना कठिन है। जो कुछ हो, ईश्वर में एक तत्त्वाभ्यास करना ही सर्वोत्तम है[१३०]।

**२- चित्त की प्रसन्नता**- चित्त की प्रसन्नता आने से भी मन स्थिर हो जाता है। चित्त की प्रसन्नता के लिए ऋषि पतञ्जलि ने विधान किया है-मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना करो। इससे मन एकाग्र होकर स्थिर हो जाता है। दूसरे के सुख से अपने अन्दर सुख बोध करना मैत्री है। दूसरे का दु:ख देखकर अपने अन्दर दु:ख का बोध करना करुणा है। दूसरे के पवित्र कार्य को देखकर आनन्द का अनुभव करना मुदिता और दूसरे के पाप-कार्य को देखकर उपेक्षा करना मानो तुमने देखा ही नहीं। इस प्रकार मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा से भी मन सुस्थिर हो जाता है। इनके अभ्यास से चित्त धीरे-धीरे शान्त और सुस्थिर होता है[१३१]।

**३- प्रच्छर्दन और विधारण**- भीतर के वायु को कौशल से बाहर कर देना प्रच्छर्दन है। इससे और प्राण को संयत करने से चित्त स्थिर होता है। प्रच्छर्दन का कौशल यह है-

१- श्वास को धीरे-धीरे भीतर लेना।

२- प्रश्वास को धीरे-धीरे छोड़ते रहना।

३- उस समय शरीर को सम्पूर्ण स्थिर और शिथिल रखना।

४- मन के अन्दर कोई चिन्ता न रखना।

५- मन को सङ्कल्पहीन रखना और मन में शून्यवत् भावना रखना। इसी का नाम रेचन है।

रेचन के बाद वायु को झटपट पूरण न करना, बाहर ही कुछ समय धारण करना, मन को शून्यवत् रखना, इसी का नाम विधारण है। सहज भाव से पूरण करना, धारण करना और रेचन करना ही कौशल है। इससे भी मन की स्थिरता आ जाती है[१३२]।

---

कि जैसे चक्रवर्ती राजा को सब राज्य की सत्ता से छुड़ा के एक छोटी सी झोपड़ी का स्वामी मानना। देखो, यह कितना बड़ा अपमान है? वैसा तुम (= मूर्तिपूजक) परमेश्वर का भी अपमान करते हो।'' -**सत्यार्थप्रकाश** (एकादश-समुल्लास)

१३०- **''तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:''** - **योगदर्शन** (१/३२)

''उनके छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है कि जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्म तत्व है, उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञा-पालन में पुरुषार्थ करना है; वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शत्रु है, अन्य कोई नहीं। इसलिए सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासना योग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिससे वे सब विघ्न दूर हो जायँ।'' - **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

१३१- द्रष्टव्य-पूर्व पृष्ठ-६८ की पाद टिप्पणी क्र०-११०

१३२-**''प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य''** -**योगदर्शन** (१/३४)

''जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर की वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके, उतना बाहर ही रोक दें। पुन: धीरे-धीरे भीतर ले के पुनरपि ऐसे ही करें। इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण स्थिर होने से मन, मन स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप, अन्तर्यामी, व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न

४– **ज्योति–ध्यान**– मन के अन्दर स्वच्छ अनन्त आकाश के सदृश विराट् और विशाल ज्योति का ध्यान करना। 'मेरा सभी दिशाएँ ज्योति से परिपूर्ण हैं'– इस भावना में दृढ़ रूप से अभ्यस्त होने से मन में परम शान्ति का आविर्भाव होगा और उसके प्रभाव से मन शान्त और सुस्थिर हो जाएगा [१३३]।

५– **महापुरुषों का चिन्तन**– वीतराग महापुरुषों के पवित्र मनोभावों की धारणा करने की प्रचेष्टा से चित्त अनासक्त हो जाता है और इस भाव के ध्यान करने से भी चित्त सुस्थिर हो जाता है [१३४]।

६– **चित्त का वशीकरण**– जब योगी अपने चित्त को परमाणु से लेकर महत् तत्त्व तक किसी वस्तु में स्थापन करने के लिए समर्थ हो जाता है, तब उसे वह असाधारण क्षमता प्राप्त होती है, मानो सब वस्तुओं पर उसका अधिकार हो गया हो [१३५]।

चित्त को सुस्थिर करने से ९ प्रकार के अन्तराय और ४ प्रकार के विघ्न दूर हो जाते हैं, जो सब साधना को नष्ट कर देते हैं। इसलिए इनके विनाश के लिए इन सब प्रणालियों और पद्धतियों का ऋषियों ने आविष्कार किया है। आज तक भारतीय आध्यात्मिक साधना इन सब नियमों पर ही चल रही है।

## चित्त–पाठ

साधकों के लिए अपने और दूसरे के चित्तों का पाठ करना आवश्यक है। चित्तों में नाना प्रकार के संस्कार पड़े हुए हैं। उन संस्कारों से ही कामना और वासना की उत्पत्ति होती है। जिसने पूर्व जीवनों में बहुत असत् कार्य या सत् कार्य किया है, उसके चित्त में उन सत् या असत् कार्यों का संस्कार जमा हुआ है। उनके मन में उन सत् या असत् कार्यों की वासना उठेगी। हर एक मनुष्य के मन में जो–जो वासनायें हैं, वे सब चित्त के संस्कार से आती हैं। जिसने पूर्व जीवन में चोरी के संस्कारों का संग्रह करके रखा है, इस जन्म में उसमें चोरी की इच्छा जमा होगी और वह चोर बनेगा। पूर्व जन्मों में जिन्होंने दान किया था, उनके चित्त में उस दान का संस्कार जमा हुआ है और इस जन्म में उसमें दान का संस्कार जगेगा और वे दान करेंगे। चित्त के संस्कार के अनुसार बाध्य होकर लोग विभिन्न कार्य करते हैं। हम लोग यदि इस जीवन में सत् कार्य करते हैं तो पर जीवन में हमारे अन्दर सत् कार्य करने की वासना उत्पन्न होगी।

---

हो जाना चाहिए। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारम्बार मग्न करना चाहिए।'' – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषयः)

इसी प्रकार का विवरण **'सत्यार्थप्रकाश'** के तृतीय समुल्लास में द्रष्टव्य है।

१३३– **''विशोका वा ज्योतिष्मती''** – **योगदर्शन** (१/३६)

''इसमें यह देखना चाहिए कि हृदय में धारणा चित्त की लिखी है। इससे निर्मल प्रकाश स्वरूप चित्त होता है। जैसा सूक्ष्म विभु० प्रकाश है, वैसी ही योगी की बुद्धि होती है। तत्र नाम अपने हृदय में विशाल स्थिति के होने से बुद्धि की जो शुद्ध प्रवृत्ति, सोई बुद्धि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि––इन्हों की जैसी प्रभा, वैसे ही योगी की बुद्धि समाधि में होती है। तथा अस्मितामात्रा अर्थात् यह मेरा स्वरूप है, ऐसा साक्षात्कार स्वरूप का ज्ञान जब बुद्धि को होता है, तब चित्त निस्तरंग अर्थात् निष्कम्प समुद्र की नाईं एकरस व्यापक होता है तथा शान्त, निरुपद्रव, अनन्त अर्थात् जिसकी सीमा न होवे, यही मेरा स्वरूप है अर्थात् मेरा आत्मा है, सो विगत अर्थात् शोकरहित जो प्रवृत्ति वही विषयवती प्रवृत्ति कहाती है। उसको अस्मितामात्र प्रवृत्ति कहते हैं तथा ज्योतिष्मती भी उसी को कहते हैं। योगी का जो चित्त है, सोई चन्द्रादित्य आदिक स्वरूप हो जाता है।'' – **हुगली शास्त्रार्थ** (प्रतिमा पूजन विचार)

१३४– **''वीतरागविषयं वा चित्तम्''** – **योगदर्शन** (१/३७)

१३५– **''परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः''** – **योगदर्शन** (१/४०)

योगी साधकों को चाहिए कि चित्त में जब-जब, जिन-जिन वासनाओं का उदय हो, तब-तब उनके प्रति ध्यान रखें। इस रूप से धीरे-धीरे उनके अन्दर चित्त-दर्शन का अभ्यास आ जाएगा। तब वे आसानी से समझ सकेंगे कि पूर्व जन्म में हम कौन सी प्रकृति के जीव थे। इस रूप से चित्त पाठ करना बहुत आनन्ददायक है। अपने चित्त के पाठ के साथ ही दूसरे के चित्त का पाठ भी करते जाना चाहिए।

ऐसे चित्त-पाठ में अभ्यस्त हो जाने से तब कौन किस प्रकृति का है, उसको आसानी से समझ सकोगे और उसके प्रति यथा-योग्य व्यवहार कर सकोगे। इस जन्म के कार्यों का विचार करके हम अगले जन्म में क्या होंगे, इस बात को भी समझ सकेंगे।

## भगवत्-तत्त्व

साधना के लिए ईश्वर-विषयक किसी तत्त्व को लेकर अभ्यास करने से हमारे सब के सब विक्षेप नष्ट हो जाएँगे और चित्त निर्मल और एकाग्र हो जाएगा। चित्त की स्थिरता और एकाग्रता ही साधना की मूल वस्तु है। प्रतिक्षण चित्त की संस्कार-वृत्ति के उदय के प्रति ध्यान रखने से एक तत्त्वाभ्यास सुगम हो जाता है। यह भी उत्तम साधना है। भगवत्तत्त्व सर्वतत्त्वों से ऊपर है। प्रकृति के चतुर्विंशति तत्त्वों के किसी एक तत्त्व को लेकर साधना करने से ही तत्त्वाभ्यास का फल मिलेगा। लेकिन भगवान् के असंख्य तत्त्वों या स्वरूप को लेकर योग-साधना करने से चरम फल अतिशीघ्र मिल सकता है। इस प्रकार प्रकृत-भोगी और प्रकृत-भक्त एक ही पथ के पथिक बन जाते है[१३६]।

**योग-विद्या का गुरुत्व**- स्वामी दयानन्द के गुरुदेव श्रीमत् '*स्वामी ज्वालानन्द पुरी*' ने उनको योग-विद्यार्थी शिष्य के रूप में प्राप्त कर जो उपदेश दिया था, वह उन्हें जीवनपर्यन्त हृदय में उज्जवल रूप से विद्यमान रहा है। उन्होंने कहा था-''चित्तवृत्ति का निरोध करना ही योग है[१३७]। यह योग-साधन ही मानव-जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। योग-साधन के लिए ही हमको मनुष्य-जीवन मिला है। पशु-वृत्ति चरितार्थ करने से लिए मनुष्य-जीवन नहीं है। मनुष्य-जीवन अति दुर्लभ है। अनेक सुकृतों और भगवान् की कृपा से हमको मनुष्य जीवन मिला है, अत: मानवदेह से मानवोचित कार्य करना ही आवश्यक है। पशुवृत्ति से पशुवृत्ति की तृप्ति नहीं होती है, अपितु इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है जिससे अधिक से अधिक कष्ट मिलता है।''

''चित्तवृत्ति क्या है? चित्त के स्रोत का नाम ही चित्तवृत्ति है। कामना ही चित्तवृत्ति है। जिसका चित्त जितना चञ्चल है उसको उतना ही कष्ट मिलता है।

''चित्तवृत्ति क्या है? चित्त के स्रोत का नाम ही चित्तवृत्ति है। कामना ही चित्तवृत्ति है। जिसका चित्त जितना चञ्चल है उसको उतना ही कष्ट मिलता है। जिसके चित्त में कामना नहीं है, वह ही सुखी है। विषय वासना ही दु:ख का मूल हेतु है। जिसमें जितना वैराग्य है, वह उतना ही सुखी है। विषयों में आसक्ति-हीन होना ही वैराग्य है। विषयासक्ति से ही संस्कार बनता है। संस्कार ही दु:ख-कष्ट का मूल है। हम लोग अनादि काल से संस्कारों का सञ्चय कर रहे हैं। संस्कार के अनुसार

---

१३६- द्रष्टव्य- पूर्व पृष्ठ ७८ की पाद टिप्पणी क्र०-१३०

१३७- **''योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:''** -**योगदर्शन** (१/२)

''चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के शुभगुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा के विरुद्ध बुराइयों में फँस के उससे दूर हो जाना।'' - **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

अनादिकाल से हम लोगों ने लाखों प्रकार के देहों को धारण किया है और कर रहे हैं। संस्कारों को दूर करने के लिये ही साधना की आवश्यकता है और इस साधना का नाम ही योग-साधना है। योग-साधना के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करना ही मूल साधना है।''

''विषयासक्ति ही पाप है। विषयासक्ति ही हमको पाप की तरफ ले जाती है। विषयासक्ति के कारण रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध हमारे अन्दर चित्त में छाप दे देते हैं और वह छाप अनन्तकाल के लिए रह जाती है। वह छाप ही संस्कार है। अनन्तकाल से यह छाप सञ्चित हो रही है। इसी का नाम कर्माशय, हृदयग्रन्थि या अविद्या का बन्धन है। इस कर्माशय से ही वासना का उद्रेक होता है। उस वासना के आधीन होकर ही हमारी इन्द्रियाँ परिचालित होती हैं। इस वासना का प्रतिरोध करना साधना का विशेष अङ्ग है। संस्कार के क्षय होने से ही चित्त-शुद्धि होती है और चित्त-शुद्धि होने से ही चित्तवृत्ति का निरोध होता है। इसी का नाम योग है।''

''मानव-जीवन योग-सिद्ध न होने से मानव-जीवन बेकार बन जाता है। दयानन्द! तुमने योग-साधना के द्वारा इस मानव-जीवन को सार्थक और धन्य करने के लिए ही संन्यासाश्रम ग्रहण किया है। तुम्हारा जीवन योग-विद्या के द्वारा धन्य हो जायेगा।''

**योग-साधना की प्रस्तुति**- स्वामी दयानन्द के गुरुदेव श्रीमत् 'स्वामी शिवानन्द गिरि' ने उन्हें योग-शिक्षार्थी शिष्य रूप में पाकर जो उपदेश दिया था, वह आजीवन उसके हृदय में उज्ज्वल रूप से विद्यमान रहा था। उन्होंने उसे कहा था-''दयानन्द! योग-विद्या-शिक्षा के लिए ही तुमने पितृगृह को छोड़ा है। यह तो वैराग्य का परिचय है, लेकिन केवल वैराग्य से ही योग-विद्या का लाभ नहीं होता है। इसके साथ अभ्यास भी चाहिए। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही योग अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध होता है। अभ्यास के बिना कोई कार्य सफल नहीं होता। कार्य में जितना कठोर अभ्यास करोगे उस कार्य की सिद्धि उतनी ही शीघ्र सफल होगी। बार-बार निष्ठा और श्रद्धा के साथ कार्य की सफलता के लिये यत्न करना ही अभ्यास है। अभ्यास के ऊपर कार्य की सिद्धि निर्भर करती है। अभ्यास से जो सिद्ध नहीं हुआ हो, ऐसा कोई कार्य नहीं है। जो विद्यार्थी उत्तमरूप से विद्याभ्यास करता है वह उत्तम रूप से विद्यालाभ करता है; इसी प्रकार योग-अभ्यास उत्तम रूप से करने से उत्तम योगी बन जाओगे।''

''योगाभ्यास ही श्रेष्ठ अभ्यास है। योग-साधन के बिना परम सुख-प्राप्ति का दूसरा उपाय नहीं है। धैर्य के साथ अभ्यास करना है। बहुत से शिक्षार्थी कुछ काल तक साधना और अभ्यास करने के बाद धैर्य खो बैठते हैं और योग-साधना छोड़-छाड़ कर चले जाते हैं। योग-साधन चाहे जितना भी कठिन हो इसको छोड़ना नहीं। कार्य चाहे जितना ही कठिन हो, अभ्यास करते-करते वह सुगम हो जाता है। बालक हो, युवक हो या वृद्ध हो तुमको अष्टाङ्ग योग-साधन करना ही पड़ेगा। सुख और शान्ति के लाभ का दूसरा रास्ता नहीं है। जो वृद्ध हो गया है और अन्त तक व्यर्थ समय नष्ट किया है, उसके लिए भी चिन्ता का कोई कारण नहीं है। आयु अगर एक दिन के लिए भी बाकी रहे तो भी योग-साधना से विमुख नहीं होना चाहिए[१३८]। एक दिन के लिए योग-साधन करने के बाद भी अगर मृत्यु हो जाय, तो भी वह श्रेयष्कर है, क्योंकि तुम उत्कृष्ट योगी के वंश में जन्म लोगे। मृत्यु काल से भी अगर योग-साधना की प्रबल आकांक्षा रहे तो दूसरे जन्म में तुम निश्चित रूप से ही उत्तम और अनुकूल देह लाभ करोगे। प्रभु तुम्हें ऐसा अवसर दे देंगे कि तुम सत्सङ्ग में रहकर योग-साधन में सिद्धि-लाभ करोगे।''

१३८- स्वामी दयानन्द ने अपने इस कथन को उस समय चरितार्थ कर दिखाया जब वे मृत्यु से पूर्व भी योगाभ्यास में प्रवृत्त हुए और ''हे दयामय ! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर!! तेरी यही इच्छा है, तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो। आहा!!! तैने अच्छी लीला की।'' कहते हुए दीपावली सं० १९४० वि० के दिन मङ्गलवार को अपने प्राण त्याग कर दिए।

"हताश या निराश नहीं होना चाहिए। भगवान् के ऊपर सब न्यस्त करके योग-साधना में व्रती हो जाओ। वृद्ध के लिए एक ही बात है। इतने दिन आयु को वृथा नष्ट कर दिया है। जीवन की आधी आयु निद्रा में खो दी, शेष आधी को बाल्यकाल के लड़कपन में, यौवन को सब सम्बन्धियों के कृतदासत्व में खो दिया। अब वृद्धावस्था में रोग, शोक और जरा से आक्रान्त होकर, शरीर और मन का बल खोकर दुश्चिन्ता में चारों तरफ निराशा का अन्धकार देख रहे हो। लेकिन डरो मत, मन में साहस रखो। भगवान की शरण में आ जाओ, पाप कार्यों को बिल्कुल छोड़ दो। इस मुहूर्त से ही योगाभ्यास में प्रयत्नशील हो जाओ, तुम्हारा मङ्गल होगा।"

"दयानन्द! केवल मात्र योगाभ्यास से ही काम नहीं चलेगा। इसके साथ ही साथ वैराग्य भी चाहिए[१३९]। विषयों के प्रति वैराग्य नहीं होने से मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य या परमानन्द नहीं मिलता। वैराग्य के बिना केवल अभ्यास से योग की सिद्धि नहीं होती है। इन्द्रियों को यदि विषयों से निवृत्त नहीं कर सकोगे, विषय-लालसा से इन्द्रियों को यदि संयत नहीं कर सकोगे तो योग-साधना कठिन हो जाएगी। इन्द्रियों को संयत रखो, पशु वृत्तियों को छोड़ दो, योग में सिद्धि-लाभ करोगे।"

**एक महीने की एकान्त साधना**- स्वामी दयनन्द के दोनों गुरुओं के आबू पर्वत पर चले जाने के बाद उसको एक महिने के लिए चाणोद आश्रम में अकेले ही रहना पड़ा। इस एक महिने में उसको एकान्त और निरसङ्ग साधना में निमग्न रहने का अवसर मिल गया था। अष्टाङ्ग राजयोग के बहिरङ्ग साधन- यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार के अभ्यास और अनुशीलन में ही यह एक मास बीत गया। दुग्धेश्वर मन्दिर में जाकर उन लोगों से अन्तरङ्ग-साधना- धारणा, ध्यान, समाधि की शिक्षा ग्रहण की जाएगी, ऐसा ही तय हुआ था। श्रीमान् स्वामी ज्वालानन्द पुरी ने उसे हठ योग की शिक्षा देने के समय कहा था कि यम-नियम साधना के द्वारा योगविद्या का बीज रोपा जाता है-आसन, प्राणायाम के द्वारा वह अङ्कुरित होता है, प्रत्याहार के द्वारा वह पुष्पित होता है और धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा वह फलवान् होता है। हठयोग के द्वारा इसके वृक्ष की स्थिति में आवेष्टनी के रूप में शारीरिक और मानसिक क्लेश से साधकों को बचाया जाता है। स्वामी दयानन्द तदनुसार दिन और रात के अधिकांश समय में योग-साधना में ही व्यस्त रहते रहे थे।

**एक दिन की घटना**- चाणोद में रहने के समय स्वामी दयानन्द दिन में केवल जल-मिश्रित दूध पी लेते थे और रात को थोड़े फल खा लेते थे। इसके अतिरिक्त वे और कुछ नहीं लेते थे। सब आश्रमवासियों के लिए अगल-बगल के गाँवों के रहने वाले लोग दूध भेज देते थे। दोनों गुरुओं के चले जाने के बाद ग्रामवासियों ने समझा कि अब आश्रम में कोई आदमी नहीं है, इसलिए उन्होंने दूध लाना बन्द कर दिया था। पहिले दिन तो केवल जल पीकर और फल खाकर ही स्वामी दयानन्द ने दिन काट दिया था। दूसरे दिन एक दुग्धवती गाय कहीं से भागकर उनकी कुटिया के सम्मुख खड़ी होकर रम्भाने लगी। पीछे से वहाँ गाय के स्वामी दो भाई भी पहुँच गये। गाय के स्वामियों ने कहा कि "इस गाय का दूध प्रतिदिन आश्रमवासियों की सेवा में भेजा जाता था। हम लोगों ने सुना था कि आप लोग सब के सब कहीं चले गये हैं, इसलिए ही कल दूध नहीं भेजा गया था। आज सबेरे ही गाय भाग गई। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते यहाँ आकर गाय को देखते हैं। हम घर जाकर आपकी सेवा में दूध भिजवा देंगे।" लेकिन गाय आश्रम को छोड़कर घर जाना नहीं चाहती थी। हम सबने समझ लिया कि कल हमने दूध नहीं पिया था, इसलिए आज हमको दूध पिलाकर ही गाय घर को जाएगी। बछड़ा वहाँ लाया गया, दूध दुहा गया और मुझको दूध पिलाने के बाद गाय बछड़े को लेकर मालिकों के साथ अपने घर चली गई। तब से आश्रम में जब तक स्वामी दयानन्द रहे, तब तक प्रतिदिन उनके लिए दूध का प्रबन्ध हो गया था। तब उन्हें स्मरण आया कि "प्रभो

---

१३९- **"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्"** -**योगदर्शन** (१/१५)

जिसका कोई नहीं है, उसके तुम तो हो[१४०]।''

**दूसरी घटना**– चाणोद के आश्रम से थोड़ी दूर नर्मदा के किनारे एक दिन स्वामी दयानन्द बैठे हुए प्रकृति माता की शोभा को देख रहे थे। नदी के उस पार से एक नाव यात्रियों से भरी हुई इस पार आ रही थी। जब इस पार आने में थोड़ी ही दूरी शेष थी, तभी अचानक तूफान आ गया। यात्री लोग चिल्लाने लगे। यात्रियों के डर के मारे हिलने-डुलने के कारण घाट से थोड़ी दूर पर नदी के अन्दर पानी नाव से ऊपर उठने लगा और देखते-देखते नाव पानी से भर गई। नाव नीचे मिट्टी में अटक गई, नाव के ऊपर से पानी जोर से बहने लगा। तूफान व तरङ्गों के कारण कोई भी यात्री नीचे नहीं उतर सका। सबके सब चिल्लाने लगे और माताएँ छोटे-छोटे शिशु-सन्तानों को अपनी-अपनी छाती से जोर से चिपटाती हुईं रोने लगीं। नाव के माँझी लोग पानी में कूद पड़े और नाव को खींचने लगे। लेकिन नाव मिट्टी में धँस गई थी। स्वामी दयानन्द प्रकृति माता के इस भयङ्कर दृश्य को और अधिक देर तक नहीं देख सके क्योंकि यह भयङ्कर करुण दृश्य था। माताएँ सन्तानों को छोड़ना नहीं चाहती थीं। स्वामी दयानन्द के आँखों में आँसू आ गये और वे पानी में कूद पड़े तथा–**''ओं बलमसि बलं मयि धेहि''**– बोलकर नाव को खींचकर आधी नाव को मिट्टी से ऊपर उठा दिया। सब यात्री लोग व माँझी लोग चकित रह गये। उन्होंने तब स्मरण किया–''प्रभो! तुमने मेरे अन्दर इतनी शक्ति रखी है, यह मुझे मालूम ही नहीं था! इस शक्ति से तुम्हारी सेवा कैसे होगी, बता दो!'' यजुर्वेद (१९/९) के इस मन्त्र को तो उन्होंने लड़कपन में ही पढ़ा था, परन्तु इसके महात्म्य को वे आज ही समझ सके। तदनन्तर स्वामी दयानन्द नदी के किनारे से शीघ्र चल पड़े और सबकी दृष्टि से ओझल हो गये।

**तीसरी घटना**– चाणोद से स्वामी दयानन्द कर्णाली के सोमनाथ के मन्दिर में किसी योगी साधु से मिलने के लिए आये थे। वहाँ मेला लगा हुआ था। मेले के बाहर उन्होंने देखा कि एक कोढ़ी पड़ा हुआ है। कोई कह रहा था कि यह तो मर गया है और कोई कहता था कि यह अब भी जिन्दा है। पता चला कि मन्दिर के अन्दर कोढ़ी का प्रवेश निषिद्ध है और यह अनजाने में वहाँ घुस गया था। मन्दिर में पुलिस वालों ने उसको मारते-मारते बाहर निकाल दिया। यहाँ तक आकर बेचारा गिर पड़ा। कोई कहता था कि उसके पैरों में रस्सी बाँधकर नदी के किनारे छोड़ दो। कोई कहता था कि इसको पानी में बहा दो, मछलियाँ खा लेंगी और कोई कहता था कि उसको खुले मैदान में फेंक दो, चिड़ियाँ, जानवर खा लेंगे। परन्तु स्वामी दयानन्द ने समझ लिया कि यह आदमी अब तक भी जिन्दा है, क्योंकि वह पानी पीने के लिए ओठों से सङ्केत कर रहा था। उसके सारे शरीर से खून, पीप व कीड़े निकल रहे थे। इस अवस्था में किसी ने उसे सहायता नहीं दी। नदी से कपड़ा भिगोकर स्वामी दयानन्द जब उसके मुँह में थोड़ा-थोड़ा पानी डालने लगे तब उसने आँखे खोलीं, लेकिन वह कुछ बोल नहीं सका। इसी समय सरकारी पुलिस भी वहाँ पहुँच गई। पुलिस ने कहा–''मेले के बाहर चिकित्सा का स्थान है। वहाँ ले जाने का प्रबन्ध हो तो अच्छा है।'' इस खतरनाक बीमार को ले जाने का कोई प्रबन्ध न था। उसको इस रूप में छोड़ कर चला जाना भी स्वामी दयानन्द के लिए असम्भव हुआ। तब उन्हें फिर यजुर्वेद (१९/९) का मन्त्र याद आया– **''ओं सहोऽसि सहो मयि धेहि**– प्रभो तुम सहन-स्वरूप हो, मुझमें सहन-शक्ति की स्थापना करो।'' इस मन्त्र से प्रभु को स्मरण करके स्वामी दयानन्द ने कोढ़ी को पीठ पर उठाकर मेले के बाहर चिकित्सा-केन्द्र में भरती करवा दिया। विदाई के समय कोढ़ी ने अस्पष्ट आवाज में उनसे कहा–''बाबा! मुझे मरने का आशीर्वाद दो।'' इस कथन के साथ ही उसने देह को छोड़ दिया। पुलिस और चिकित्सक ने कहा–''बाबा जी! अब जो करना होगा, हम लोग कर लेंगे। आप कृपया चले जाइये।'' वहाँ से आकर नदी में स्नान करके स्वामी दयानन्द सोमनाथ के मन्दिर में योगी-साधुओं से बातचीत करके दूसरे दिन चाणोद पहुँच गये।

---

१४०- ''जङ्गल में चरके अपने बच्चे और स्वामी के लिए दूध देने के नियत स्थान पर, नियत समय चले आवें।''

–**गोकरुणानिधिः**

स्वामी दयानन्द ने समझ लिया था कि दुग्धेश्वर मन्दिर में दोनों गुरुओं के मिलने से पहले आश्रम छोड़कर कहीं नहीं जाना चाहिए क्योंकि सर्व-साधारण की समस्याओं के अन्दर अपने को डालना उचित नहीं है। तब से उन्होंने वहाँ रहने के अन्तिम दिन तक चाणोद आश्रम में रह कर ही निष्ठा के साथ वे योग-साधना में ही मग्न रहे, क्योंकि बाहर के साथ सम्बन्ध रहने से साधना में ढीलापन आ जाता है। इस प्रकार क्रिया-योग, प्राणायाम, आसन, मुद्रा, धौती, नेति, वस्ति आदि क्रियाओं का अभ्यास करते हुये स्वामी दयानन्द ने महीने के शेष दिन बिता दिये।

**दुग्धेश्वर मन्दिर में**- निर्धारित दिन पर स्वामी दयानन्द अहमदाबाद आए और यथासमय श्मशान घाट के दुग्धेश्वर मन्दिर में पहुँचकर दोनों गुरुओं-स्वामी ज्वालानन्द पुरी और स्वामी शिवानन्द गिरि के चरणों में उपस्थित हो गए । दोनों गुरुओं ने उन्हें आशीर्वाद दिया। चाणोद आश्रम के सब ही समाचार उन्होंने उनको सुना दिये। स्वामी ज्वालानन्द पुरी ने कहा-''अब स्वामी शिवानन्द गिरि तुम्हें संयम की क्रियात्मक शिक्षा देंगे। संयम में तीन साधनायें हैं-धारणा, ध्यान, समाधि। योग-साधना के बहिरङ्ग साधन- यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार हैं और संयम अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि योग-साधना के अन्तरङ्ग साधन हैं।''

## स्वामी ज्वालानन्द पुरी के उपदेश का सारांश

**प्रथम अङ्ग धारणा**-धारणा, ध्यान और समाधि- ये तीनों मिलकर संयम साधनाएँ हैं। ये ही तीनों मिलकर योग की अन्तरङ्ग साधनाएँ हैं। धारणा का तात्पर्य चित्त को एक स्थान में रखना है। अर्थात् चित्त के अन्दर मात्र एक ही विषय का चिन्तन करना। चित्त में बहुत देर तक एक ही विषय को रखना और दूसरे विषय को नहीं आने देना धारणा है[१४१]। किसी एक ही विषय का चिन्तन करते-करते चित्त में थोड़ी देर बाद दूसरे विषय के आ जाने से समझना चाहिए कि धारणा नहीं हुई, धारणा भङ्ग हो गई। धारणा न होने से ध्यान नहीं होगा। ध्यान नहीं होने से समाधि नहीं होगी। पहले धारणा है उसके बाद ध्यान है और ध्यान के बाद समाधि है। चित्त जब बहुत विषयों में न दौड़ता हुआ एक ही विषय में आबद्ध होता है, तब उसका नाम धारणा है। प्रत्याहार-साधना अच्छी प्रकार हो जाने से धारणा ठीक से और अतिशीघ्र होती है। प्रत्याहार-साधना से चित्त केवल एक ही विषय में लग सकता है।

हम लोग चित्त को बाहर या भीतर किसी भी स्थान पर आबद्ध रख सकते हैं। बाहर का स्थान सूर्य, चन्द्र, समुद्र, वृक्ष लताएँ हैं और अन्तरङ्ग विषय नाभि, हृदय, कण्ठ, वक्ष, जिह्वाग्र, नासिकाग्र, भ्रूमध्य व शिरोदेश आदि हैं[१४२]। ईश्वर निर्मित किसी दृश्य वस्तु या शब्द, ज्योति आदि में धारणा का अभ्यास करना आसान है। किसी वस्तु पर पलकहीन दृष्टि रखने का नाम त्राटक योग है। जब तक चक्षुओं में कष्ट अनुभव न हो, तब तक दृष्टि स्थिर रखनी चाहिए। यथाशक्ति दीर्घकाल दृष्टि न रखकर जबरदस्ती दृष्टि रखने से आँखों की बीमारी हो जाती है। बहुत से मनुष्य कहते हैं कि जब तक आँखों में आँसू नहीं निकलें तब तक दृष्टि स्थिर रखनी चाहिए, लेकिन यह नियम खतरनाक है। चक्षु क्लान्त होने पर आँखें बन्द करके उसी दृश्य का चिन्तन करना चाहिए। प्रातःकाल में या जाड़े के समय या ठण्डे समय में त्राटक योग का अभ्यास करना चाहिए। प्रतिदिन आँखों में शीतल पानी से छींटे देने चाहिए।

---

१४१- **''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा''** - **योगदर्शन** (३/१)

''जब उपासनायोग के पूर्वोक्त पाँचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अंग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है। 'धारणा' उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके, ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उसका विचार करना।''

- **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषयः)

जो लोग शब्द योग से धारणा का अभ्यास करते हैं वे लोग कानों में अँगुलियों को डालकर चित्त को स्थिर करते हैं। कानों के अन्दर झीं-झीं की आवाज सुनाई देती है। वे लोग एकाग्र मन से उस आवाज को सुनते हैं। दूसरे विषय में ध्यान नहीं देते। धीरे-धीरे सूक्ष्मतर शब्द सुना जाता है और आगे अभ्यास करने से आह्वान ध्वनि सुनी जाती है। इसी का दूसरा नाम 'बिन्दु' है।

इसी प्रकार किसी विषय में धारणा का अभ्यास करना चाहिए। इससे पहले चित्त को निर्मल करके, किसी एक योगासन को आयत्त करके, प्राणगति अर्थात् श्वास-प्रश्वास को काबू में करके, शीत-ग्रीष्मादि-द्वन्द्व-सहिष्णु होकर किसी योगासन में सीधे होकर बैठना चाहिए। इसके बाद इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से प्रत्याहार करके उनको चित्त में समर्पित कर देना, इसके बाद चित्त को किसी स्थूल या सूक्ष्म वस्तु में धारण करना। ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जिससे उस वस्तु से चित्त हट न जाए। चित्त को बाँधने में समर्थ होने से और इसके स्थायी रूप से रखने में समर्थ होने से ही आगे जाकर वह धारणा ध्यान बन जाएगी।

**(२) द्वितीय अङ्ग ध्यान**- धारणा में एकतानता आने से ही उसका नाम ध्यान है [१४२]। खण्ड-खण्ड प्रत्यय या ज्ञानवृत्ति का नाम ही धारणा है। धारणा जल बिन्दुओं की तरह खण्ड-खण्ड ज्ञान है और ध्यान तेल धारा की तरह एक स्रोत से प्रवाहित एकतान या अखण्ड ज्ञान है। चित्त में चंचलता आने से धारणा खण्ड-खण्ड हो जाती है। ध्यान में चित्त की चञ्चलता नहीं रहती है और चित्त स्थिर हो जाता है। ध्यान होने से ही समझा जाएगा कि चित्त स्थिर हो गया। चित्त में आवरण और विक्षेप संस्कार जितने कम रहेंगे उतना ही ध्यान ठीक रूप से होगा। आवरण और विक्षेप आकर ही ध्यान को और समाधि को तोड़ देते हैं। एक तरफ से चिन्ता के संस्कारों को क्षीण करना और दूसरी तरफ ध्यान का अभ्यास करना आवश्यक है। धारणा के समय धारणीय विषय में यदि प्रत्यय की या चित्तवृत्ति की एकतानता आ जाय तब ही उसका नाम ध्यान है। जिस वस्तु में तुमने बहिरिन्द्रियों को निरोध करके अन्तरिन्द्रियों को धारण किया है, उस वस्तु का ज्ञान अगर व्यवधानहीन, अनवच्छिन्न और प्रवाहाकार होकर प्रवाहित होता है, तब उस रूप का मनोवृत्ति प्रवाह ध्यान नाम से अभिहित होता है।

**(३) तृतीय अङ्ग समाधि**-ध्येय विषय का अर्थ-मात्र निर्भास, स्वरूप शून्य ध्यान ही समाधि है। जप, धारणा, ध्यान, समाधि एक ही हैं। अविरत जप करते-करते जप के गाढ़ और गम्भीर होने से धारणा होती है। अविरत धारणा का अभ्यास करते-करते और धारणा के गाढ़ और गम्भीर होने से ध्यान होता है। अविरत ध्यान का अभ्यास करते-करते ध्यान के गाढ़ और गम्भीर होने से समाधि होती है। **धारणा** में 'मैं ध्याता', 'मेरा ध्यान' और 'मेरे ध्येय इष्ट-देव' ये तीनों रहते हैं। **ध्यान** में 'मैं ध्याता' और 'मेरे ध्येय' ये दो रहते हैं। **समाधि** में 'मैं ध्याता' यह भी नहीं रहता केवल 'ध्येय' ही रहता है। समाधि में अस्मित्व लीन हो जाता है, ध्येय में अस्मित्व लय को प्राप्त होता है। तब ध्येय विषय मात्र ही निर्भास होता है। ध्यान, ध्येय अलग नहीं रहता, एक हो जाता है। यह चित्त की सर्वोत्कृष्ट स्थिर अवस्था है। समाधि के बिना

---

१४२- **''तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्''** -**योगदर्शन** (३/२)

''धारणा के पीछे उसी स्थान में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ, इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना। इसी का नाम 'ध्यान' है। इन सात अङ्गों का फल समाधि है।''

– **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषयः)

आत्मसाक्षात्कार भी नहीं होता है[१४३]।

**संयम का स्वरूप**– एक ही विषय पर धारणा, ध्यान और समाधि एक के बाद दूसरा अव्याहत गति से लगातार सम्पन्न होने से उसको राजयोग की भाषा में संयम कहा जाता है। संयम बोलने से धारणा, ध्यान और समाधि एक के बाद दूसरा निरन्तर सम्पन्न होता है, यह समझना चाहिये[१४४]।

**संयम–साधन से प्रज्ञालोक लाभ**– संयम परिपक्व होने से प्रज्ञालोक अर्थात् प्रज्ञा के आलोक का लाभ होता है[१४५]। प्रज्ञालोक अर्थात् प्रज्ञा का आलोक अर्थात् समाधि जात–प्रज्ञा का आलोक है। यह आलोक प्रकाशित होने से लौकिक ज्ञान और शक्ति लाभ होते हैं। चिन्तनीय विषय सब कुछ जाना जाता है। स्थूल दृष्टि से हम एक ही स्थान की एक ही वस्तु के स्वरूप को जान सकते हैं किन्तु समाधि ज्ञान से हम उस वस्तु के समग्र स्वरूप को जान सकते हैं। हम किसी व्यक्ति की वर्तमान कार्य–प्रणाली और आचार व्यवहार को देख कर उसके विषय में अति अल्प ही जान सकते हैं। प्रज्ञालोक के द्वारा हम उसी व्यक्ति के समग्र स्वरूप को और पूर्वापर स्थिति को बहुत कुछ जान सकते हैं। इच्छा करने से ही जब संयम आ जाएगा तब ही संयम–जय हो गया, यह कहा जा सकता है।

उस संयम को जय करने से अर्थात् श्वास–प्रश्वासादि को ऐसे स्वाभाविक या सम्पूर्णरूपेण आयत्त करने से सर्वभासक आलोक या बुद्धि का प्रकाश आ जाता है। यानी ज्ञान की शक्ति–विशेष का प्रादुर्भाव होता है।

**संयम, उसका जय और उससे प्रज्ञा नामक ज्ञानालोक की प्राप्ति**– इन तीनों बातों के अन्दर बहुत कुछ गुप्त तथ्य विद्यमान हैं। इनके प्रकृत तथ्य और शिक्षा–कौशल को केवल योगी लोग ही जानते हैं। प्राचीन योग भाषा के ''संयम'' शब्द को आजकल की भाषा में ''इच्छा शक्ति'' कह सकते हैं। पतञ्जलि के राजयोग में पहले धारणा, इसके बाद ध्यान और इसके पश्चात् समाधि है। इस प्रक्रियात्रय के साथ तेजस्विनी निर्मला बुद्धि की सार, स्थानीया इच्छाशक्ति अवश्य ही चाहिए। योगी शिक्षा द्वारा और अभ्यास से उन तीनों प्रक्रियाओं को जय कर लेते हैं। इसी का नाम स्वात्मीकरण है।

**संयम से स्वात्मीकरण क्या है**– स्वाभाविक रूप से कार्य करने का नाम आयत्तीकरण या स्वात्मीकरण है। श्वास–प्रश्वास जैसे स्वाभाविक और स्वात्मीकृत्य कार्य करने में क्लेश नहीं होता है। ऐसे ही यदि संयम बिना क्लेश के सम्पन्न होता है, तब जानना चाहिये कि 'समय–सिद्धि' हो गयी है। एवंविध संयम–सिद्ध योगी का सङ्कल्प या इच्छा–प्रयोग

---

१४३– **''तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः''** – **योगदर्शन** (३/३)

''जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, उसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जानके, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को 'समाधि' कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला, जिस मन से, जिस चीज का ध्यान करता है, वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहाँ तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होके फिर बाहर को आ जाता है।'' –**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषयः)

१४४– **''त्रयमेकत्र संयमः''** –**योगदर्शन** (३/४)

''जिस देश में धारणा की जाय, उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उनमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है।'' –**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषयः)

१४५– **''तज्जयात्प्रज्ञालोकः''** –**योगदर्शन** (३/५)

अमोघ है। **''संयमात् प्रज्ञालोक:''** इस सूत्रभाव को देख कर यह नहीं समझना चाहिए कि संयम से केवल ज्ञान-विकास ही होता है, दूसरा कुछ नहीं होता है। उनके सङ्कल्प से सब कुछ सिद्ध होता है जो कुछ जीवों के लिए सम्भव है। ज्ञान-शक्ति की वृद्धि होने से क्रियाशक्ति भी बढ़ जाती है, यह तो अव्यभिचारी नियम है। भूतजय, प्रकृति वशित्व, अणिमादि ऐश्वर्य संयम प्रभाव की अज्ञात शक्ति से साबित होते हैं संयम के द्वारा इच्छाधिकार पूर्ण होता है। संयम के अन्दर महाशक्ति छिपी हुई है।

संयम-साधन के समय योगी प्रथम स्थूल विषयों पर संयम प्रयोग करें। पीछे धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विषयों पर संयम-प्रयोग करें। स्थूल अवलम्बन छोड़कर पहले ही सूक्ष्म अवलम्बन नहीं लेना चाहिए। योग शास्त्रों में क्रमिक भूमियों के नाम सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार हैं। योगी संयम के द्वारा विविध ऐश्वर्य और अलौकिक क्षमता प्राप्त करते है[१४६]। लेकिन किस विषय के लिए कैसे संयम का प्रयोग होना चाहिए, कहाँ किस प्रकार का संयम हो, कौन से संयम के कौन से फल हैं, उनको और विविध चित्त परिणामों के विभिन्न विकार-भावों को भी प्रत्यक्षवत् अधिगत कर लेना चाहिए। चित्त व्युत्थान में, निरोध में और एकाग्रता में किस रूप से रहता है, इसके परिणाम और परिवर्तन किस प्रकार के होते हैं, यह सब कुछ निपुणता के साथ लक्ष्य करना चाहिए। निरोध-काल की चित्तावस्था या चित्त परिणाम जानना बहुत ही जरूरी है। इन सूक्ष्म तत्त्वों की शिक्षा बहुत ही ध्यान से ग्रहण करनी चाहिए।

## श्रीमत् स्वामी शिवानन्द गिरि का उपदेश

योग विद्या की शिक्षा के लिये एकाग्रता का प्रयोजन है। एकाग्रता सीखने से पहले चित्त को निर्मल बनाना चाहिये। मलिन चित्त योग विद्या-शिक्षा के लायक नहीं है। सूक्ष्म वस्तु ग्रहण करने में मलिन चित्त असमर्थ होता है, स्थिर और समाहित नहीं होता है और विक्षिप्त होता है। स्वच्छ शीशा अगर मलिन हो जाए तो उसमें दूसरी वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ेगा। आकर्षण में सूक्ष्म चुम्बक में भी मलिनता रहने से आकर्षण करने की क्षमता से वह वञ्चित हो जाता है। ठीक उसी तरह चित्त मलिन रहने से वह स्थिर रहने और सूक्ष्म तत्त्व के ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। रज: तम: गुणों से उत्पन्न ईर्ष्या और द्वेषादि ही चित्त की मलिनताएँ हैं। मलिनता उन्मार्जित न होने से चित्त प्रकाशमय और उज्जवल नहीं होता है। इसलिए ही पहले चित्त को मलिनता से मुक्त करके तब समाधि के अभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए।

**चित्त को निर्मल करो**- चित्त निर्मल होने से एकाग्र-शक्ति की वृद्धि होगी। दूसरे का सुख देख कर सुखी हो जाओ, ईर्ष्या मत करो; अर्थात् मुदित साधन का अभ्यास करो। दूसरे के सुख में सुखी होने का अभ्यास करने से तुम्हारे चित्त से ईर्ष्या-मल दूर होगा। जैसे तुम सर्वदा अपने दु:खों का निवारण करना चाहते हो, ऐसे ही तुम दूसरे के दु:खों को दूर करने की इच्छा करते रहो। दूसरे के दु:ख में दु:खी होने की शिक्षा लेने से तुम्हारे अन्दर विद्वेष-मल नहीं रहेगा। दूसरे के प्रति अपकार करने की इच्छा भी तुम्हारे अन्दर नहीं रहेगी। अपने पुण्य में या अपने शुभानुष्ठान में जैसे हर्षयुक्त होते हो वैसे ही दूसरे के शुभ अनुष्ठान में हर्षयुक्त हो जाओ। दूसरे के पुण्य में और शुभानुष्ठान में हर्षयुक्त होने से तुम्हारे मन में असूया-मल नष्ट हो जाएगा। दूसरे के पाप देख कर उसके प्रति द्वेष मत करो। पाप के प्रति द्वेष करो। घृणा को पाप के प्रति रखो, पापी के प्रति नहीं। सर्वतोरूप से उदासीन रहो, तब तुम्हारे चित्त से अमर्ष-मल दूर हो जाएगा। सुखी के प्रति मैत्री, दु:खी के प्रति करुणा, पुण्यवान् के प्रति मुदिता या प्रेम और पापी के प्रति उपेक्षा या औदासीन्य रखो। हर एक राजस और तामस वृत्ति के विरुद्ध सात्त्विक-वृत्तियों का उदय होगा। इस रूप से तुम्हारा चित्त धीरे-धीरे निर्मल हो जाएगा और अच्छी तरह एकाग्र-शक्ति-सम्पन्न हो जाओगे।

---

१४६- **''तस्य भूमिषु विनियोग:''** -**योगदर्शन** (३/६)
**''सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्''** -**योगदर्शन** (१/४५)

**चित्त को एकतान करो**– प्राण वायु को आकर्षण करके धारण करना और वर्जन करना इस प्रक्रिया के द्वारा भी चित्त को एकतान किया जा सकता है। पहले गुरु के उपदेश और शास्त्र विधि के अनुसार नासिका से बाहर के वायु को आकर्षण djds ifjfer : i ls ml dks Hkhrj ghe/kkj.k djks v kSfu;fer : i ls ml dks NksM+ nsA bl h dk uke izk.kk;ke gS[१४७]। प्राण+आ+यम् प्राण को सम्यक् संयत अर्थात् इच्छानुसार निरोध करना। प्राण यदि इच्छाधीन हो जाए तब तो चित्त को आसानी से अनाकुल और स्थिर किया जा सकता है। क्योंकि सब ही इन्द्रिय–कार्य प्राण के आधीन हैं। प्राण ही श्वास–प्रश्वासरूप गति को अवलम्बन करके सब देह–यन्त्रों को परिचालित कर रहा है। विभिन्न इन्द्रियों को भिन्न–भिन्न कार्यों में प्रेरणा दे रहा है। खाद्य वस्तुओं को रक्ताकार में परिवर्तित करके प्रत्येक देह–यन्त्र के स्वास्थ्य, बल और स्वभाव की रक्षा कर रहा है। प्राण ही इन्द्रिय चक्र, नाडी चक्र और मन का परिचालक है और प्राण ही मन की चञ्चलता का प्रधान कारण है। प्राण की गति से मन की गति, प्राण के निरोध से मन का निरोध और प्राण की स्थिरता से मन की स्थिरता होती है। प्राण–गति के दोष से मन की गति दोष–युक्त होती है। प्राण–गति यदि अवरुद्ध हो जाए तो मन के दोष भी निवारित हो जाते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि जो कुछ मनो–दोष, जो कुछ विक्षेप–सब प्राणदोष के दोष से उत्पन्न होते हैं। इस गूढ़ रहस्य को भारतीय योगी लोगों ने आविष्कृत किया था। इसीलिए उन्होंने प्राणायाम का उपदेश दिया है। यह प्राणायाम यदि सुसिद्ध हो जाए, आयत्त हो जाए तो मन के सब विक्षेप दूर हो जाते हैं। निर्दोष और निर्विक्षेप चित्त अपने आप ही सुप्रसन्न, सुप्रकाशित और एकाग्र हो जाता है।

**निर्दोष चित्त से दिव्यज्ञान–लाभ**– चित्त निर्मल हो जाने से उसको प्रत्येक विषय में नियुक्त किया जा सकता है और उसको यथेच्छ तन्मय किया जा सकता है। उससे सभी वस्तुओं का साक्षात्कार हो सकता है। यदि चन्द्र या सूर्य में निर्मल चित्त को स्थापन करोगे तो चन्द्र में या सूर्य में ही वह तन्मय हो जाएगा और चन्द्र तत्त्व या सूर्य तत्त्व का साक्षात्कार कर सकोगे। इसी का नाम दिव्यज्ञान और इसी का नाम योगज–प्रज्ञा है। शिक्षार्थी योगी लोग पहले देह के प्रति मनोनिवेश करते हैं और वे लोग दैहिक तत्त्वों की मानस चक्षु से बहुत सी उपलब्धि करते हैं। इसी प्रकार नासाग्र में चित्त संयम करके दिव्य–गन्ध, जिह्वाग्र में चित्त संयम करके दिव्यरस ज्ञान, ताल्वग्र में दिव्य रूप, जिह्वा के मध्य में दिव्य स्पर्श और जिह्वा–मूल में दिव्य शब्द के अनुभव होते हैं[१४८]। इसी रूप से जिस किसी वस्तु में या स्थूल विषय में चित्त संयम करके योगी लोग उस विषय का दिव्यज्ञान प्राप्त करते हैं। इसको स्वयं अनुभव करके ये लोग धीरे–धीरे सूक्ष्मादपि सूक्ष्म विषय में भी चित्त संयम करके उस विषय के सूक्ष्म तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हैं[१४९]।

**विशोका ज्योति का अनुभव**– उदर–कन्दर के ऊपर की ओर हृदय–पिञ्जर के भीतर एक माँस–पिण्ड है, उसका आकार लगभग कमल के सदृश है इसलिए उसका नाम हृत्पद्म है। इस हृत् कमल को रेचक प्राणायाम के द्वारा ऊर्ध्वमुख

---

१४७– द्रष्टव्य– पूर्व पृष्ठ–५२ की पाद टिप्पणी क्र० ८०

१४८– **''विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी''** –**योगदर्शन** (१/३५)

''इससे प्रतिमापूजन कभी नहीं आ सकता क्योंकि इन्हीं में देवबुद्धि करना नहीं लिखा। किन्तु जैसे वे जड़ हैं, वैसे ही योगी लोग उनको जानते हैं। और बाह्य–मुख जो वृत्ति, उसको भीतर मुख करने के वास्ते योगशास्त्र की प्रवृत्ति है। बाहर के पदार्थ का ध्यान करना योगी लोगों को नहीं लिखा क्योंकि जितने सावयव पदार्थ हैं, उनमें कभी चित्त की स्थिरता नहीं होती। और जो होवे तो मूर्तिमान् धन, पुत्र, दारादिक के ध्यान में सब संसार लगा ही है, परन्तु चित्त की स्थिरता किसी की भी नहीं होती।'' –**हुगली शास्त्रार्थ** (प्रतिमापूजन विचार)

१४९– **"सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्"** –**योगदर्शन** (१/४५)

भावना करके उसके पीछे चित्त को धारण करने से एक प्रकार की ज्योति या आलोक का अनुभव होता है। उस ज्योति की तुलना नहीं है। वह उस तरङ्गहीन और निःशब्द समुद्र के समान प्रशान्त और मनोरम है, निर्मल और सुशुभ्र है। उसमें सूक्ष्म रूप से क्षण-क्षण में सूर्य-प्रभा, चन्द्र-प्रभा, मणि-प्रभा और अन्यान्य अनेक प्रभाएँ स्फुरित होने में देखी जाती हैं। इस आलोक या ज्योति के मनोगोचर होने से किसी प्रकार का शोक नहीं रहता है। इसलिए इस आलोक को ''विशोका'' कहा जाता है [१५०]। इस विशोका ज्योति का दूसरा नाम बुद्धि सत्त्व और चैतन्य प्रदीप्त अस्मिता (सात्त्विक अहङ्कार) है। चित्त हृत्कमल के अन्दर बुद्धि-सत्त्व के ध्यान में निमग्न होने से अति शीघ्र सम्प्रज्ञात समाधि या अति उत्कृष्ट योग उत्पन्न होता है [१५१]।

**एकाग्रता शिक्षा**- जिह्वामूल, जिह्वाग्र, ताल्वग्र, हृत्पद्म, तत्कर्णिकागत नाडी चक्र और उसके पीछे के बुद्धिसत्त्व में चित्त संयम करने से जैसी एकाग्रता सिद्ध होती है, ऐसे वीतराग महापुरुषों के चित्तों में संयोग करने से भी एकाग्रता आ जाती है [१५२]।

एकाग्रता सीखने के लिए किसी मन पसन्द वस्तु या विषय पर ध्यान करना चाहिए [१५३]। इससे तुम्हारे चित्त में एकाग्रता शक्ति की वृद्धि होगी और इसके अनन्तर ध्येय पदार्थ में चित्त की स्थिरता का अभ्यास करना चाहिए और उसमें अभ्यस्त होने पर तुम जहाँ इच्छा हो एकाग्र हो सकोगे। अन्तर्जगत् के नाडी चक्र हों या बहिर्जगत् के सूर्य-चन्द्र हों, स्थूल हों या सूक्ष्म हों, सर्वदा और सर्वत्र ही चित्त को तन्मय कर सकोगे। लेकिन ऐसी वस्तु या ऐसे विषय पर चित्त-संयम मत करो जिसको देखने से या चिन्तन करने से मन चञ्चल होता है। इस रूप से किसी वस्तु या विषय पर चित्त स्थिर होने से सूक्ष्म परमाणु से लेकर बृहत्तम परमात्मा तक सब विषय ही योगी के लिए ग्रहणीय, प्रकाशित और वशीभूत होते हैं [१५४]।

**निर्मल चित्त**- वृत्तिहीन चित्त स्फटिक मणि के समान तन्मय भाव को धारण करता है। जिस रङ्ग की वस्तु में स्फटिक रखा जाता है, उसी रङ्ग से वह रञ्जित हो जाती है। ठीक इसी तरह निर्मल चित्त जिस वस्तु में या विषय में अर्पित होता है, उसी वस्तु में चित्त समासक्त, स्थिर और तन्मय हो जाता है [१५५]।

**एकाग्रता-शिक्षा के नियम**- एकाग्रता-शिक्षा का नियम यह है कि पहले इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ के अवलम्बन से

---

१५०- **''विशोका वा ज्योतिष्मती''** -**योगदर्शन** (१/३६)

१५१- ''कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर, भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्द-स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।''

- **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषयः)

१५२- **''वीतरागविषयं वा चित्तम्''** -**योगदर्शन** (१/३७)

१५३- **''यथाभिमतध्यानाद्वा''** -**योगदर्शन** (१/३९)

''यहाँ तक शरीर में जितने चित्त के स्थिर करने के वास्ते स्थान लिखे हैं, इन्हीं में से किसी स्थान में योगी चित्त को धारण करे। जिस स्थान में अपनी अभिमति (हो), उसमें चित्त को ठहराए।'' - **हुगली शास्त्रार्थ** (प्रतिमापूजन विचार)

१५४- **''परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः''** -**योगदर्शन** (१/४०)

१५५- **''क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः''** -**योगदर्शन** (१/४१)

एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए। ज्ञेय वस्तु दो प्रकार के हैं-स्थूल और सूक्ष्म। पहले स्थूल में और पीछे सूक्ष्म में अभ्यास होना चाहिए। पहले स्थूल वस्तु में चित्त को स्थिर करना चाहिए। उसमें अभ्यस्त होने के बाद क्रमानुसार मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि अभ्यन्तरीण वस्तु का अवलम्बन करना चाहिए। इन्द्रियों में चित्त स्थिर हो जाने के बाद अस्मिता में या जीवात्मा में एकतान होना चाहिए। अन्त में परमात्मा में मनोलय करना चाहिए। इस प्रकार परम्परा-क्रम से अग्रसर होना चाहिए। झट परमेश्वर में समाहित होना असम्भव है। जब देखोगे कि तुम्हारा चित्त कहीं भी प्रतिहत नहीं होता है, सर्वत्र ही स्थिर हो जाता है, तब तुम जानोगे कि तुम्हारा चित्त वशीभूत हो गया है। तब तुम्हारे चित्त को वशीभूत करने के लिए विशेष उपाय का अवलम्बन नहीं करना पड़ेगा। किसी प्रकार का अनुष्ठान भी नहीं करना होगा।

**सवितर्का समापत्ति**- एकाग्र चित्त से विषय चिन्ता करने से जो तन्मय-भाव आ जाता है, उसी का नाम समापत्ति है[१५६]। स्थूल वस्तु का अवलम्बन कर ध्यान करने से दो प्रकार की समापत्ति होती है- १-सवितर्का २-निर्वितर्का। जहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीन एक साथ मिले हुए रहते हैं वहाँ सवितर्का समापत्ति है। यह मिश्रित ज्ञान है। यह विशुद्ध निर्मल ज्ञान नहीं है। ''तर्क'' का अर्थ शब्दमय चिन्ता है। ''वितर्क'' का अर्थ विशेष रूप से चिन्ता है। ''गौ'' यह शब्द केवल शब्दमात्र ही है। इसका अर्थ या ज्ञान सम्पूर्ण पृथक् है। ''गौ'' शब्द का आश्रय वाग्यन्त्र है क्योंकि यह शब्द वाग्यन्त्र के द्वारा उच्चारित होता है। ''गौ'' शब्द का अर्थ (पदार्थ) चतुष्पाद पशु है और यह गोशाला में रहता है। इसका आश्रय स्थल गोशाला है। ''गो'' शब्द से जाना जाता है कि यह दूध देती है या भारवहन करती है। यह ज्ञान हमारे चित्त में रहता है। ''गो'' शब्द का आश्रय-स्थल वाग्यन्त्र है। अर्थ का आश्रय-स्थल गोशाला है और ज्ञान का आश्रय-स्थल चित्त है। शब्द-अर्थ और ज्ञान सम्पूर्ण स्वतन्त्र हैं। लेकिन यह सब स्वतन्त्र होने पर भी हम लोग तीनों को मिश्रित रूप से व्यवहार करते हैं। इन तीनों को एक ही विषय समझ लेते हैं। इस रूप से तीनों विषयों को अर्थात् शब्द, अर्थ, ज्ञान को एक समझकर जो ध्यान या चिन्ता की जाती है, उसी का नाम सवितर्का समापत्ति है।

**निर्वितर्का समापत्ति**- हमारी स्मृति में शब्द और अर्थ के एक साथ मिले रहने से उस स्मृति से हमारा वस्तु-विषयक यथार्थ ज्ञान नहीं होता। लेकिन अगर हम शब्द को स्मृति से हटा सकते हैं तो हमारी स्मृति के शुद्ध होने से हमारे अन्दर अर्थ-विषय का शुद्ध ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। शब्द, अर्थ एक साथ मिलाके जो ध्यान होता है, वह सवितर्का; और केवल अर्थ का जो ध्यान होता है उसका नाम निर्वितर्का समापत्ति है[१५७]। निर्वितर्का समापत्ति में स्थूलभूत का सूक्ष्म ज्ञान होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (सूक्ष्म) भूत हैं। हम लोग साधारणत: स्थूलभूतों को ही ग्रहण करते हैं। इनके सूक्ष्मांश गृहीत नहीं होते हैं। निर्वितर्का समापत्ति में स्थूल भूतों के सूक्ष्मतम अंश का प्रत्यक्ष होता है। स्थूल भूतों का यह सबसे ज्यादा सूक्ष्मांश है। इसी का नाम तन्मात्रा है। यथा शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा और गन्ध-तन्मात्रा। इन सब तन्मात्राओं से स्थूलभूतों की सृष्टि हुई है। तन्मात्र ज्ञान ही सत्य ज्ञान है और स्थूल भूतों का ज्ञान भ्रान्तिज्ञान है। हम लोग स्थूल भूतों को जिस रूप से देखते हैं वास्तव में रूप से वे ऐसे नहीं हैं। ये तो सब तन्मात्राओं का समष्टिज्ञान है।

इस प्रकार के भ्रान्ति-दर्शन के कारण ही हम लोग विषयों में आसक्त होते हैं। जब यह भ्रान्ति-दर्शन हट जाता है और सत्य दर्शन होता है, तब विषयों में आसक्ति भी कम हो जाती है। सूक्ष्म भूतों के दर्शन से जो सुख और आनन्द होते हैं, वे स्थूल भूतों के दर्शन के सुख और आनन्द से कोटि गुणा अधिक हैं। इसलिए ठीक-ठीक विषयासक्ति छोड़ने के लिए

---

१५६- **''तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पै: संकीर्णा सवितर्का समापत्ति:''** -**योगदर्शन** (१/४२)

१५७- **''स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का''** -**योगदर्शन** (१/४३)

ध्यान और समाधि के द्वारा सूक्ष्मभूत दर्शन जरूरी है। इस रूप से तन्मात्र दर्शन को निर्वितर्क समापत्ति कहा जाता है। हमारी स्मृति परिशुद्ध न होने से यह सूक्ष्म-दर्शन नहीं होता है। स्मृति के अन्दर शब्द और अर्थ ये उभय ज्ञान रहने से स्मृति मलिन रहती है। इसलिए अभ्यास के द्वारा केवल अर्थ मात्र की ही चिन्ता की जा सकती है और वह अर्थ-चिन्ता गम्भीर होते-होते अर्थ की तन्मात्रा का दर्शन होता है। केवल शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से जो ज्ञान होता है, वह भी यथार्थ ज्ञान नहीं है और केवल अर्थ से जो ज्ञान होता है वह भी यथार्थ ज्ञान नहीं है तथा इन्द्रियज प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान से जो ज्ञान होता है वह भी यथार्थ ज्ञान नहीं है अपितु ध्यान और समाधि से जो ज्ञान होता है, वही यथार्थ ज्ञान है।

धर्म के बारे में भी एक ही बात है। धर्म के बारे में केवल श्रवण और मनन करने से यथार्थ धर्म का ज्ञान नहीं होता gS è; ku v kjS I ekfèk I s j kFkkn' kZ gksus s FkkFkZ eZ dk Kku gksrk gS èkeZKku fufnè; kI u I sghBhd &Bhd gksrk gS

**सविचार और निर्विचार समापत्ति**– स्थूल अवलम्बन से सवितर्का समापत्ति और निर्वितर्का समापत्ति होती है, लेकिन सूक्ष्म अवलम्बन से सविचार और निर्विचार समापत्ति होती है [१५८]। इन चारों समापत्तियों सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा समापत्तियों का एक नाम है-सबीज समाधि [१५९]।

**सबीज समाधि**– इनमें सवितर्क समाधि निकृष्ट है, उससे निर्वितर्क समाधि श्रेष्ठ है। उससे सविचारा समाधि और उससे भी निर्विचारा समाधि श्रेष्ठतर है। इस उत्कृष्ट निर्विचारा की योग-साधना में अभ्यस्त और सिद्ध होने से ही चित्त का स्वच्छ स्थिति प्रवाह दृढ़ होता है। इससे किसी प्रकार का दोष क्लेश या मालिन्य नहीं रहता है। सर्वप्रकाशक चित्त-सत्व तब नितान्त निर्मल होता है। आत्मा तब जानी जाती है। इसी का नाम अध्यात्म विज्ञान है [१६०]।

**ऋतम्भरा प्रज्ञा**– समाधिज ज्ञान आने से जो उत्कृष्ट और निर्मल प्रज्ञा या ज्ञानालोक आविभूर्त होता है, उसी का नाम "समाधि प्रज्ञा" है। यह प्रज्ञा केवल ऋत अर्थात् सत्य को ही प्रकाशित करती है [१६१]। उस समय बिन्दु मात्र भी भ्रम नहीं रहता है। योगी लोग इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा सब वस्तुओं का यथावत् साक्षात्कार करते हैं और चरम स्थिति निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होते हैं और निर्विकल्प समाधि प्राप्त होकर मुक्त होते हैं।

**निर्बीज समाधि**– यह सम्प्रज्ञात वृत्ति भी जब अवरुद्ध हो जाती है तब सर्वनिरोधात्मक निर्बीज समाधि उत्पन्न होती है [१६२]। दीर्घ समय तक योगी निरोध का अभ्यास करते हैं। इस अभ्यास के बल से योगी का वह शेष अवलम्बन मात्र भी अवरुद्ध या विलीन हो जाता है। चित्त जिस बीज का अवलम्बन कर रहा था, अब वह भी नष्ट हो जाता है। इसलिए अब निर्बीज समाधि हो गई। निर्बीज समाधि जब परिपक्व स्थिति को प्राप्त होती है, तब ही चित्त अपने उत्पत्ति-स्थान प्रकृति का आश्रय करता है। प्रकृति स्वतन्त्र होगी और सच्चित्-प्रकाश-पुरुष भी प्रकृति के इस बन्धन से मुक्त होगा। जन्म-मरण और सुख-दुख भोग नहीं होगा। भोगायतन शरीर भी तब नहीं रहेगा।

समाधि-सिद्धि के लिए क्रिया-योग का अनुष्ठान आवश्यक है। अध्यवसाय के साधन करने से सिद्धिलाभ अनिवार्य है।

## चित्त-भूमियाँ

---

१५८- **"एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता"** –योगदर्शन (१/४४)

१५९- **"ता एव सबीज: समाधि:"** –योगदर्शन (१/४६)

१६०- **"निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:"** –योगदर्शन (१/४७)

१६१- **"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा"** –योगदर्शन (१/४८)

१६२- **"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज: समाधि:"** –योगदर्शन (१/५१)

चित्त के स्वभावानुसार हम सुख-दु:ख का अनुभव करते हैं। हम सत्त्व-गुण से सुख का, रजोगुण से दु:ख का और rekxq.kl seksg dk vuqHko djrs gSa fpÙk&Hkwfe;k ik¡p izdkj dh gSa f{kIr] ew<] fof{kIr] ,dkxz vkSj fu#) [१६३]।

**(१) क्षिप्तभूमिक चित्त**– यह सदा चञ्चल है। जिसका चित्त जितना अधिक चञ्चल होता है, वह उतना ही अधिक पाप करता है और दु:ख का अनुभव करता है। चित्त में रज: और तम: गुण अधिक होने से चित्त क्षिप्त होता है। क्षिप्त चित्त या मन किसी एक विषय पर स्थिर नहीं रह सकता, एक ही विषय पर मन रखने से क्षिप्त चित्त को सुख नहीं मिलता। सुख के लिए वह पहले एक विषय ले लेता है और फिर थोड़ी देर बाद ही दूसरे विषय को ले लेता है। फिर वहाँ भी सुख न पाकर दूसरे विषय को ले लेता है। क्षिप्त-चित्त मनुष्य कभी उन्नति नहीं कर सकता।

**(२) मूढभूमिक चित्त**– ये लोग निर्बोध होते हैं। ये लोग किसी कार्य में भी उन्नति नहीं कर सकते हैं। इनकी बुद्धि मलिन होती है। देह के सुख को ही ये लोग सुख समझते हैं, परमार्थिक ज्ञान ये लोग नहीं रखते हैं। पशु-जीवन को ही ये लोग अच्छा समझते हैं। पशुवृत्ति, आहार, निद्रा काम, क्रोधादि लेकर ही ये लोग जीवन चलाते हैं। जगत् में मूढ़भूमिक चित्त वाले मनुष्य अधिक हैं।

**(३) विक्षिप्तभूमिक चित्त**– ये लोग क्षिप्त और मूढ़ से श्रेष्ठ हैं। ये अपने चित्त को अधिक समय तक किसी विषय पर संयुक्त रख सकते हैं। ये लोग साधारण श्रेणी के साधक होते हैं। ये लोग साधना करके एकाग्रचित्त हो सकते हैं और क्रमश: चित्त को निरुद्ध करके कभी जीवन को सफल भी कर लेते हैं। ये लोग ही मानव श्रेणी के होते हैं। इनकी संख्या बहुत ही अल्प है।

**(४) एकाग्रभूमिक चित्त**– जो चित्त 'एक' को अवलम्बन करके रहता है, उसी को एकाग्र कहा जाता है। साधन, भजन, गृहकर्म, ग्रन्थपाठ, समाज सेवा, राजनीति, साहित्य सेवा आदि सब कार्यों में लगे लोग एकाग्र-चित्त हैं। ऐसे लोगों की संख्या कम है।

**(५) निरुद्धभूमिक चित्त**– एकाग्र-चित्त में जो एक-मात्र अवलम्बन था, निरोधभूमिक चित्त में वह भी नहीं रहता है। जब चित्त के अन्दर चिन्ता भी नहीं उठती है तब उसको निरोध-चित्त कहा जाता है। निरोध-चित्त ही मुक्ति की ओर धावित होता है।

चित्त की इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं के अन्दर पूर्व तीन प्रकार के चित्तों के साथ योग का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। परवर्ती दो चित्त एकाग्र और निरुद्धभूमिक चित्त ही योगानुकूल हैं।

**प्रणव जपोपासना**– प्रणव-मन्त्र अर्थात् ओंकार का जप और साथ-साथ उसके अर्थ का ध्यान करना ही उपासना है। योगी लोग साधारणत: ईश्वर की दूसरी तरह उपासना नहीं करते हैं। केवल प्रणव-मन्त्र का वाचिक और मानसिक जप और उसका अर्थ ध्यान करते हैं। जब ये लोग वैषयिक कार्य करते हैं तब भी उनका जप और ईश्वरोपासना बन्द नहीं होती है। प्रणव-मन्त्र के जप और प्रणव-मन्त्रार्थ का ध्यान करते-करते उनका चित्त उसी में निविष्ट और एकाग्र हो जाता है और क्रमश: समाधि भी आ जाती है। सर्वदा प्रणव जप और प्रणवार्थ करते-करते जब चित्त निर्मल हो जाता है तब उनको प्रत्यक्-चैतन्य अर्थात् शरीरान्तर्गत आत्मा के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। तब किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता और निर्विघ्न रूप से समाधि-लाभ होता है।

---

१६३- **''क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमय:। तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूत: समाधिर्न योगपक्षे वर्तते।''** – **व्यासभाष्य** (योगसूत्र १/१ पर)

प्रणव अर्थात् ओंकार का जप ही सर्वश्रेष्ठ जप है[१६४]। प्रणव का वाच्य ईश्वर है और ईश्वर का वाचक अर्थात् नाम प्रणव ओम् है। हम लोग स्थूल शब्द के प्रति प्रीति रखते हैं। इसलिए स्थूल शब्द के द्वारा उनको पुकारते हैं। स्थूल मन्त्र शब्द के उच्चारण और मन्त्रार्थ की चिन्ता करते-करते हमारा स्थूल के प्रति आकर्षण कम हो जाता है और क्रमश: सूक्ष्म की धारणा-शक्ति वर्धित होती है। सूक्ष्म के लिए धारणा शक्ति नहीं रहने से सूक्ष्म भगवद्भाव का ग्रहण असम्भव है। सूक्ष्म भगवान् के ध्यान के लिये अति सूक्ष्म रूप से प्रणव ओंकार का जप और मन्त्रार्थ ध्यान का विधान रखा गया है। जप और अर्थ-चिन्तन से चित्त निर्मल और शुद्ध होता है, हम सूक्ष्म ध्यान के अधिकारी होते हैं।

केवल भगवद्भाव जानने से ही जीवन चरितार्थ नहीं होता है। भगवद्भाव में तन्मय होने से ही जीवन कृतार्थ होगा। मन्त्र-जप करने से इष्ट देवता तुष्ट होता है यह तो साधारण मनोभाव है। इष्टदेव हमारे प्रति चिर-प्रसन्न है। मलिन चित्त में भगवान् के प्रसन्न भाव की धारणा नहीं होती है। चित्त जितना शुद्ध होता जाएगा उतना ही उसको प्रसन्नता का अनुभव होता रहेगा। जप करके जिसको आनन्द का अनुभव नहीं होता, जान लो उनका मन मलिन और चञ्चल है। विषयासक्ति ही मलिनता है। विषयासक्ति जितनी कम होती जाएगी, ईश्वरभक्ति उतनी ही बढ़ती जाएगी। जब विषयासक्ति नहीं रहेगी तब ईश्वरभक्ति पूर्ण हो जायेगी। तब ईश्वर में मन निमग्न हो जाएगा और समाधि-लाभ होगा।

पहले-पहले जप और ध्यान टूट जाता है। इसमें निराशा का कोई कारण नहीं है। धैर्य के साथ जप और उसके अर्थ-भावना या ध्यान करने से आत्म-चेतना का उदय होगा। इसी का नाम है-"प्रत्यक् चेतनाधिगम"[१६५]। तब विषय-भोग में अरुचि आ जाएगी। पीछे विषय-भोग में कष्ट होगा। मन्त्र का जप, ईश्वर का ध्यान और समाधि-साधना ही तब अच्छी लगेगी। विषय के प्रतिकूल और चैतन्य के अनुकूल रूप में जब चित्त धावित होता है, तब ही उसका नाम "प्रत्यक्-चेतना" है।

ओंकार जप ही श्रेष्ठ जप है। ओंकार के जप में शारीरिक चाञ्चल्य बिल्कुल नहीं होता है जिससे शरीर निश्चल और स्थिर होने से ध्यान या समाधि की स्थिति शीघ्र आ जाती है।

व्यञ्जन वर्ण के उच्चारण में हमें दन्त ओष्ठ आदि की सहायता लेनी पड़ती है अर्थात् उन सब स्थानों में क्रियायें होती हैं। क्रिया होने से ही वह सब स्थान चञ्चल होते हैं।

मानसिक जप से उन सब स्थानों में क्रिया नहीं होती, यह बात ठीक है। लेकिन भीतर में मानसिक स्रोत की क्रिया और चञ्चलता जरूर रहती है।

१- ओंकार के जप में वह चञ्चलता भी नहीं रहती है।

२- ओंकार-जप एकतान के रूप में आसानी से होता है। दूसरा जप एकतान से नहीं होता।

३- स्वर वर्ण का जैसे एकतान से उच्चारण होता है, व्यञ्जन वर्ण का वैसा उच्चारण असम्भव है। व्यञ्जन वर्ण

---

१६४- **"तज्जपस्तदर्थभावनम्"** –**योगदर्शन** (१/२८)

"इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ-विचार सदा करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेम-भक्ति सदा बढ़ती जाय।" –**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**

१६५- **"तत: प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"** –**योगदर्शन** (१/२९)

"फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है (तत: प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और (अन्तराय) उसके अविद्यादि क्लेशों तथा रोग रूप विघ्नों का नाश हो जाता है।" – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**

के उच्चारण में अत्यधिक वाक् शक्तियों का व्यय होता है।

४- ओंकार के अन्त में ''म्'' है। वह भी बिना प्रयत्न के एकतान से उच्चारित होता है।

इसलिए चित्त को एकतान करने के लिए ''ओम्'' शब्द सबसे श्रेष्ठ है। इसके उच्चारण में दन्त या ओष्ठादि की सहायता की अपेक्षा नहीं है।

इन सब कारणों से ओंकार का जप सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है।

यह जप श्वास-प्रश्वास के साथ भी किया जा सकता है। प्रति श्वास और प्रश्वास के साथ जप करने में भी अर्थ-भावना की आवश्यकता है।

जिसके साथ हम दीर्घकाल तक रहते हैं, वह अपना हो जाता है। ओंकार-जप और अर्थ-भावना से ईश्वर का सङ्ग होता है और दीर्घकाल तक जपोपासना करने से ईश्वर अपना बन जाता है, अर्थात् ईश्वर के साथ प्रेम और प्रीति का सम्पर्क स्थापित हो जाता है। जिसके सङ्ग में हम लोग रहते हैं, उसके गुण भी हमें प्राप्त होते हैं। हमारा चित्त यदि भगवत्-चिन्तन में निमग्न रहे और भगवान् के नाम और उसके मर्मार्थ का स्मरण करे अर्थात् निरन्तर जप करे तो हमारी चेतना विषयों को छोड़कर ईश्वराभिमुखीन हो जाएगी। यह ही ''प्रत्यक्-चेतना'' है।

## पञ्चक्लेश

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश-ये पञ्च क्लेश ही मनोधर्म हैं। ये मनोधर्म मिथ्या-ज्ञान ही हैं। यह पाँच प्रकार का क्लेश नामक मिथ्या-ज्ञान जिससे सञ्चित नहीं हो सके और सञ्चित मिथ्या-ज्ञान जिससे दग्ध हो सके इसके लिए यत्न करना ही योग-साधकों के लिए सर्वप्रधान कर्त्तव्य है।

पञ्च क्लेशों में अविद्या नामक प्रथम क्लेश परवर्ती चार क्लेशों की उत्पत्ति का स्थल या मूल है। ये सब क्लेश सदा एक रूप से नहीं रहते हैं। कोई प्रसुप्त रूप में, कोई सूक्ष्म रूप में, कोई विच्छिन्न रूप में और कोई उदार या स्पष्ट रूप में चित्त-क्षेत्र में रहता है।

**क्लेश की प्रसुप्त अवस्था**-लीन भाव में, शक्ति रूप में या प्रसुप्त रूप में रहना-ये सब एक ही बात है। बीज के अन्दर वृक्ष-शक्ति जिस प्रकार प्रसुप्त-लीन होकर या छिपके रहती है, उसी प्रकार रहने का नाम ही प्रसुप्त अवस्था है। प्रकृति-लय और विदेह-लय योगियों के चित्त में क्लेश रहता है, लेकिन वह बीज में वृक्ष-शक्ति जिस प्रकार रहती है, उसी प्रकार रहता है। बीज से जैसे अंकुरोद्गम होता है, योगियों के प्रसुप्त क्लेश से ऐसे ही पुनः संसार का अंकुरोद्गम होता है।

**क्लेश की तनू अवस्था**- सूक्ष्म और तनू एक ही बात है। सूक्ष्म शब्द का अर्थ यहाँ संस्कार का अभाव है। यह तनू क्लेश दग्ध बीज की तरह शक्तिहीन है।

**क्लेश की विच्छिन्न अवस्था**- विच्छिन्न और विच्छेद-प्राप्त एक ही बात है। किसी एक वस्तु के प्रबल होने से दूसरी वस्तु का ह्रास हो तो उसका नाम विच्छिन्न अवस्था है। लोभ के समय क्रोध अभिभूत रहता है। क्रोध की वह विच्छिन्न अवस्था है।

**क्लेश की उदार अवस्था**- उदार और परिपूर्ण एक ही बात है। विस्पष्ट या उज्ज्वल स्थिति में जब क्लेश रहता है तब उसकी उदार अवस्था है। उदार अवस्था में क्लेश ठीक रूप से अपने कार्य को करता है।

योगी क्रिया-योग के द्वारा उन पाँच प्रकार के क्लेशों को दग्ध बीज की तरह शक्ति-हीन कर देते हैं[१६६]। तब तो वे

१६६- **''अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशः पञ्च क्लेशाः''** -**योगदर्शन** (२/३)

अनर्थ नहीं करते हैं। योगी इनको शक्ति–हीन करके तब योग या समाधि–साधन में लग जाते हैं। चित्त के पञ्च क्लेशों को शक्ति–हीन करने से ही योगी होना सम्भव है।

**१–अविद्या क्लेश**– अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, दुःख को सुख और अनात्म–वस्तु को आत्मा समझना अविद्या है। किसी वस्तु के प्रकृत स्वरूप को न जानना और उल्टा–पलटा दूसरा कुछ अन्य ही समझना अविद्या है। जैसे शरीर अनित्य है लेकिन इसको नित्य समझना; शरीर विविध रूप से अशुचि है, लेकिन उसको शुचि समझना; विषय–भोग दुःखदायक है, लेकिन उसको सुखदायक समझना; और शरीर आत्मा नहीं है, लेकिन उसको आत्मा समझना–ये सबके सब अविद्या क्लेश हैं। जीवों को यह अविद्या क्लेश विविध प्रकार के क्लेश प्रदान करते हैं। अविद्या जीवों के लिए अनर्थ का बीज है[१६७]।

**२–अस्मिता क्लेश**– आत्मा का नाम दृक्–शक्ति और बुद्धि–तत्व का नाम दर्शन–शक्ति है। यह चित् स्वरूप (आत्मा) बुद्धि–तत्व से प्रतिबिम्बित होता है। आत्मा ही यहाँ दृक–शक्ति या दृष्टा है और बुद्धि–वृत्तियाँ उनके प्रकाश या प्रतिबिम्बपात का आधार हैं। इसलिए इसका नाम दर्शन–शक्ति है। इसका दूसरा नाम बुद्धि–तत्व है। आत्मा और बुद्धि को (अर्थात् दृक्–शक्ति और दर्शन–शक्ति को) एक ही समझना अस्मिता है। चैतन्य और बुद्धि को एक समझना, लौह को और, अग्नि के सहवास के कारण उसकी उष्णता को, एक समझना ही (ऐक्य बोध या तादात्म्य–अध्यास रस) अस्मिता क्लेश है। साधारण अहं (मैं) बोध का नाम 'अस्मिता' है। आत्मा और बुद्धि को रञ्जित स्फटिकवत् अर्थात् रङ्ग और स्फटिक की तरह एक रूप से समझ लेना अस्मिता है। बुद्धि में या चित्त में 'आत्मा' का बोध आरोपित करना और 'मैं और मेरा' इत्याकार प्रतीति करने का नाम अस्मिता है[१६८]। इस अस्मिता से राग नामक क्लेश की उत्पत्ति होती है।

**३–राग क्लेश**– सुख के अनुशय या अनुवृत्ति का नाम राग है। साक्षात्कार यानी प्रत्यक्ष रूप से हो या परम्परा अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से हो, एक बार सुख का अनुभव होने से बार–बार उसकी याद आती है। उसके पुनः भोग के लिए इच्छा उत्पन्न होती है और उस इच्छा की पूर्ति के लिए अनेकविध चेष्टा करनी होती है।

---

**''अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्''** –**योगदर्शन** (२/४)

''पूर्व लिखी हुई चित्त की पाँच वृत्तियों को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत रहने से, नीचे लिखे हुए पाँच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वे क्लेश ये हैं–

एक अविद्या, दूसरा अस्मिता, तीसरा राग, चौथा द्वेष और पाँचवाँ अभिनिवेश। उनमें से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषाणादि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फँसा के जन्म–मरणादि दुःख–सागर में सदा डुबाती है। परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से अविद्या विच्छिन्न अर्थात् छिन्न–भिन्न होके प्रसुप्ततनु = नष्ट हो जाती है, तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते है। – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (मुक्ति विषयः)

**''ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः''** –**योगदर्शन** (२/१०)

**''ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः''** –**योगदर्शन** (४/३०)

१६७– **''अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या''** –**योगदर्शन** (२/५)

द्रष्टव्य–**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (मुक्ति विषयः) में ऋ०द० की व्याख्या

१६८– **''दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता''** –**योगदर्शन** (२/६)

''दूसरा क्लेश अस्मिता कहाता है। अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना; अभिमान और अहंकार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को 'अस्मिता' जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इसकी निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है। – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (मुक्ति विषयः)

इस प्रकार की कामना या आसक्ति का नाम ही 'राग' है[१६९]। इस प्रकार के राग के प्रबल रहने तक योगी होना कठिन है। इस राग से आगे द्वेष उत्पन्न होता है।

**४-द्वेष क्लेश**- दु:ख के अनुशय या अनुवृत्ति का नाम द्वेष है। सुख के समान दु:ख का भी अनुशय या अनुवृत्ति होती है। पूर्वानुभूत दु:ख की याद होने के साथ-साथ- दु:खदायक वस्तु के प्रति वितृष्णा-अनिच्छा या अनभिलाषा उत्पन्न होती है। इसका नाम ही द्वेष है[१७०]। जिस वस्तु से एक बार दु:ख हुआ है उस वस्तु के प्रति द्वेष आयेगा ही। क्रोध, हिंसा और प्रतारणा (विप्रलिप्सा) का भाव भी उत्पन्न होगा। ये सब के सब द्वेषभाव के रूपान्तर मात्र ही हैं। द्वेषभाव से जो हो नहीं, ऐसा अकार्य नहीं है। इसलिए जब तक द्वेषभाव रहेगा तब तक योगी होने की सम्भावना नहीं है। द्वेष से ही अभिनिवेश की उत्पत्ति होती है।

**५-मृत्युभय (अभिनिवेश) क्लेश**- बार-बार मरण-दु:खों के अनुभव के कारण चित्त में उन सब दु:खों का संस्कार बद्धमूल हो जाता है। इस अनुभव का नाम ही 'स्वरस' है। इस स्वरस के रहने के कारण ज्ञानी-अज्ञानी निर्विशेष से सब ही के अन्दर मरण-दु:ख की छायास्वरूप या अनुवृत्ति-स्वरूप भाव विशेष निहित है। इस दुर्लक्षणवृत्ति-विशेष का नाम ही अभिनिवेश है।

किसी प्रकार के दु:ख के अनुभव होने से उस दु:खप्रद वस्तु के प्रति विद्वेष और वह दु:ख फिर अनुभव में नहीं आ जाए, इस प्रकार की इच्छा और उसके प्रतिरोध के लिए प्रचेष्टा उत्पन्न होती है। इस प्रकार की इच्छा को हम अभिनिवेश कह सकते हैं। लेकिन योगी लोग इसको अभिनिवेश न कहकर मरण-विषयक अनिच्छा को ही अभिनिवेश कहते हैं, क्योंकि दु:खों की चरम सीमा ही मृत्यु है।इसलिए जीवों में मरण-भीति अत्यधिक है। हम सबों के चित्तों में ''मैं न मरूँ'' ऐसी सूक्ष्म-वृत्ति निरन्तर छिपी हुई है।

प्राणी लोग शरीर, इन्द्रिय और चित्त पर ''अहं'' ''मैं'' सम्पर्क स्थापित करके रहते हैं। वे धन सम्पद् पर भी ''ममत्व'' ''मेरे'' का सम्पर्क स्थापित करके रह रहे हैं। इन सबों से ये विच्छिन्न होना नहीं चाहते हैं। सदा ही इस भाव के साथ रहते हैं कि ''मैं न मरूँ'' या ''मेरे धन सम्पद् का विनाश न हो''। विशेष करके मरण-दु:ख की अनुवृत्ति प्राणी मात्र के अन्दर है, इसी का नाम अभिनिवेश है। यह अभिनिवेश पञ्चम क्लेश है। क्योंकि इसके रहने से जीव दुष्कर कार्य नहीं कर सकते हैं और दु:साहसिक कार्य करने में साहस नहीं करते हैं। क्योंकि ''मेरा किसी प्रकार मरण न हो'' इस प्रकार की चिन्ता से वे सदा ही त्रस्त रहते हैं।

ऋषि पतञ्जलि और दूसरे ऋषि लोग स्वत:-सिद्ध मरण-त्रास को देखकर भी उससे पूर्व जन्म-सम्बन्ध का अनुमान करते हैं। प्रश्न होता है कि ''कैसे मालूम हुआ कि पूर्व जन्म है?'' उत्तर दिया जाता है ''अनुमान प्रमाण से मालूम

---

१६९- **''सुखानुशयी राग:।''** -**योगदर्शन** (२/७)

''तीसरा (सुखानु०) राग, अर्थात् जो २ सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है, इसका नाम 'राग' है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग, वियोग, संयोग-वियोगान्त हैं, अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब इसकी निवृत्ति हो जाती है।'' - **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (मुक्ति विषय:)

१७०- **''दु:खानुशयी द्वेष:''** -**योगदर्शन** (२/८)

''चौथा 'द्वेष' कहाता है अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो, उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है। - **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (मुक्ति विषय:)

हुआ [१७१]।"

मरण त्रास या मरण के प्रति विद्वेष केवल मनुष्यों को है, ऐसा नहीं। कृमि-कीटादि प्राणियों को भी है। नवजात शिशु को भी है। निगूढ़तम वासनाओं के स्रोत से वहमान जीव इसको स्पष्ट रूप से नहीं समझते हैं। यदि यह ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता तो अवश्य ही समझ लेते। लेकिन यह अनुभव इन्द्रियों से हुआ नहीं। यह केवल अन्तर्निहित गूढ़तम संस्कार-बल से ही उत्पन्न होता है। इसके कारण के अज्ञात रहने के कारण जीव स्पष्ट रूप से समझ नहीं सकते हैं कि मैं पहले भी मरा था और इसकी कठोर यन्त्रणा भी मैंने भोगी थी।

**सुख-दुःख विवेक**- योगी लोग कैवल्य या मोक्ष-लाभ से ही (परम सुख या कैवल्य लाभ से ही) दुःख ताप से मुक्त होके परम शान्ति का लाभ होता है, ऐसा मानते हैं। योगी लोग सब अस्थायी वस्तुओं में ही दुःख-दर्शन करते हैं। ये लोग सब वस्तुओं के अन्दर सत्व गुण के सुख, रजोगुण के दुःख और तमोगुण के मोह और इन तीनों गुणों में परस्पर विरोध दर्शन करते हुए सब वस्तुओं में दुःख-दर्शन करते हैं। प्रत्येक सुखकर वस्तु के लाभ की प्रचेष्टा में, भोग-काल में समाप्त होने की चिन्ता में और समाप्त होने के बाद लोग दुःख का ही दर्शन करते हैं। इनके मतानुसार केवल अयोगी, अविवेकी और अज्ञानी ही मोह में मूढ़ और भ्रमान्ध होकर ही किसी वस्तु में सुख और किसी वस्तु में दुःख का दर्शन करते हैं। योगी लोग कहते हैं कि जो लोग नहीं जानते हैं कि इसमें जहर है, वे लोग तो इसको खा लेते हैं; लेकिन जिनको मालूम है वे उसको कभी नहीं खायेंगे। योगी और ज्ञानी-विवेकी लोग प्रत्येक वस्तु को दुःख का कारण समझ कर इसको दुःखद ही समझते हैं। अविवेकी जिसको सुख समझते हैं, विवेकी उसको दुःख ही समझते हैं।

परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख से जो ओत-प्रोत मिश्रित सुख है, उसको योगी लोग मन का विकार या सुख नामक वस्तु को दुःख ही समझते हैं [१७२]।

इस सुख नामक मनोविकार को या सुख नामक दुःख को पाकर भोगी स्थायी रूप से इसको नहीं रख सकते हैं। सुख का अवसान हुआ, इसको सोचने से ही दुःख आ गया। भोग के कारण दुःख आएगा ही। "भोगे रोग-भयम्" अत्यन्त भोग से रोग आक्रमण करेगा। इससे भी दुःख है। इसी का नाम "परिणाम दुःख" है।

"यह सुख यदि नष्ट हो जाए"- इस प्रकार की दुश्चिन्ता, उद्वेगादि के ताप से भी दुःख आ जाता है। इसी के आनुषंगिक रूप से और विविध पाप-मनोवृत्ति, राग-द्वेष, क्रोधादि भी मन में भविष्यत् घोर दुःख के बीज वपन कर देते हैं। इसी का नाम योगशास्त्र के अनुसार "ताप-दुःख" है।

सुख-भोग करने के साथ-साथ उसका संस्कार चित्त में आबद्ध हो जाता है। यह संस्कार फिर भोगों की तरफ चित्त को खींच लेता है। इसलिए ही बार-बार पूर्वानुभूत सुख के तुल्य सुख-भोग के लिए चित्त में इच्छा उत्पन्न होती है। जब तक वह नहीं मिलता है तब तक चित्त व्याकुल रहता है और दुःख बढ़ ही जाता है, इसी का नाम "संस्कार-दुःख" है। इस रूप से दुःख तीन रूप के गिने जाते हैं और सुख-भोग ही इन दुःखों के कारण हैं। योगी लोग इन सब सुखों को छद्मवेशी दुःख ही समझ लेते हैं।

---

१७१- **"स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः"** -**योगदर्शन** (२/९)

"पाँचवाँ 'अभिनिवेश' क्लेश है जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं। सो पूर्व जन्म के अनुभव से होती है और इससे पूर्व जन्म भी सिद्ध होता है।"

- **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (मुक्ति विषयः)

१७२- **"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः"** -**योगदर्शन** (२/१५)

**योग वृक्ष**– योगाचार्यों ने अष्टाङ्ग योग साधना की वृक्ष के साथ तुलना की है। यम और नियम के अनुष्ठान से इसका बीज उत्पन्न होता है, आसन और प्राणायाम से यह अंकुरित होता है, प्रत्याहार से यह पुष्पित होता है और इसके बाद धारणा, ध्यान और समाधि की साधना से यह योग–वृक्ष फलवान् होता है। योग के आठ अङ्गों के परस्पर के सम्बन्ध इसी प्रकार घनिष्ठ [१७३] हैं।

**प्रत्याहार की उपयोगिता**– यम, नियम, आसन और प्राणायाम के द्वारा शरीर और मन के शुद्ध और सुसंस्कृत हो जाने से प्रत्याहार नामक योगाङ्ग की साधना सरल और सहज हो जाती है। इन्द्रिय–संयम के लिए प्रत्याहार की साधना आवश्यक है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्– ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ क्रमानुसार रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच विषयों के प्रति धावित और आसक्त होती हैं। इनकी आसक्ति को नष्ट कर देना या विमुख कर देना ही प्रत्याहार का कार्य है [१७४]। प्रत्याहार–साधना में सिद्धि आने के बाद धारणा, ध्यान और समाधि निर्विघ्न रूप से सम्पन्न होती हैं।

**संयम साधना**– धारणा, ध्यान और समाधि–इन तीनों मानस–प्रक्रियाओं को किसी एक अवलम्बन में से प्रयोग करने का नाम संयम है [१७५]। संयम–सिद्ध योगी साधकों का संकल्प या इच्छा प्रयोग अमोघ और अव्यर्थ है। संयम–शक्ति से ये लोग दु:साध्य संयम करते हैं। मन के अन्दर कितनी महती शक्ति छिपी हुई है–इनको ज्ञात है।

**धारणा की साधना**–चित्त को किसी स्थान में आबद्ध रखने का नाम ही धारणा है [१७६]। किसी पवित्र और अनुद्वेग–कर स्थान में किसी योगासन से बैठकर धारणा का अभ्यास करो। अन्त:करण–रागद्वेष शून्य बन जाए। इन्द्रियों को विषयों से आकर्षित करके चित्त के पास समर्पण कर दो। चित्त को अब नासाग्र में, सूर्य में, हृदय में या नाडी–चक्रों में से किसी एक में या किसी मनोगत स्थान में, वस्तु में या विषय में धारण करो। चित्त को इस रूप धारण करो जिससे चित्त उससे स्खलित न होने पावे। प्रतिदिन बार–बार चित्त को धारण करो। इससे धारणा नामक योगाङ्ग आयत्त में आ जाएगा। इसी का नाम धारणा है।

**ध्यान–साधना**– उस धारणीय वस्तु में यदि तुम्हारी एकतानता आ जाए तो उसी का नाम ध्यान है [१७७]। जिस वस्तु में तुमने अपनी बहिरिन्द्रियों (चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्) को निरोध करके अन्तरिन्द्रिय–चित्त को धारण किया है, उस वस्तु का ज्ञान यदि अविच्छिन्न गति से और प्रवाहाकार से प्रवाहित होता हो, तब उस मनोवृत्ति प्रवाह का नाम ही ध्यान है।

**समाधि–साधना**– वह ध्यान जब केवल ध्येय वस्तु को ही प्रकाशित करता है। ''मैं ध्याता हूँ'', ''मेरा कार्य ध्यान है'' आदि सब कुछ लुप्त हो जाता है, तब उसका नाम समाधि है।

---

१७३– ''तदयं योगो यमनियमादिभि: प्राप्तबीजभाव: आसनप्राणायामैरकुरित:, प्रत्याहारेण पुष्पितो, ध्यान–धारणा–समाधिभि: फलिष्यतीति।'' –**भोजवृत्ति:**

१७४– **''स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:''** – **योगदर्शन** (२/५४)
''प्रत्याहार उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलाने वाला है।'' – **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (उपासना विषय:)

१७५– **''त्रयमेकत्र संयम:''** – **योगदर्शन** (३/४)
द्रष्टव्य–पूर्व पृष्ठ–८६ की पादटिप्पणी क्र० १४४

१७६– **''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा''** – **योगदर्शन** (३/१)
''द्रष्टव्य– पूर्व पृष्ठ–८४ की पादटिप्पणी क्र० १४१

१७७– द्रष्टव्य–**''तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्''** – **योगदर्शन** (३/२) पर व्यास भाष्य

**धारणा–ध्यान–समाधि का भेद**– धारणा में 'धारणा रूप क्रिया', 'धारणा रूप क्रिया का कर्त्ता मैं हूँ' और 'धारणा की वस्तु'–इन तीनों का ही बोध रहता है। ध्यान में 'मैं ध्यान करता हूँ' और 'ध्येय वस्तु दूसरा है' यह भाव रहता है। समाधि में सब कुछ लुप्त होकर केवल 'ध्येय वस्तु' ही रहती है। 'मैं ध्याता हूँ'–यह भी लुप्त हो जाता है। धारणा से ध्यान और ध्यान से समाधि का क्रमानुसार अभ्यास करना चाहिए। संयम–साधना में किसी एक ही विषय पर धीरे से क्रमानुसार धारणा, ध्यान और समाधि का प्रयोग किया जाता है।

**संयम साधना का क्रम**– योग–साधक प्रथमत: स्थूल–स्थूल विषयों पर संयम प्रयोग का अभ्यास करते रहें। उसके आयत्त हो जाने के बाद क्रमानुसार सूक्ष्म–सूक्ष्म विषयों पर संयम–अभ्यास करना चाहिए। चित्त जब स्थूल में तन्मय होता है और उस समय साथ में विकल्प ज्ञान भी रहे, तब उस तन्मयता का नाम ''सवितर्क'' है[१७८] और यदि विकल्प ज्ञान नहीं रहता है, तब उस तन्मयता का नाम ''निर्वितर्क'' है[१७९] अर्थात् स्थूल अवलम्बन में तन्मय होने से ही उसका नाम ''सवितर्क'' और विकल्प ज्ञान न रहने से ही उसका नाम ''निर्वितर्क'' है। सवितर्क समाधि का अवलम्बन स्थूल महाभूत और इन्द्रिय गण हैं। सविचार समाधि का अवलम्बन मन, बुद्धि, अहङ्कार और पञ्च तन्मात्रायें हैं[१८०] सानन्द समाधि[१८१] का अवलम्बन शुद्ध सत्त्वगुण है जो अन्त:करण का प्रकाश है जिससे बुद्धि निर्मल होती है और जिसके साथ नाममात्र रजोगुण dkfo{ks vkSr ekeksd kdkv koj.kfey kgq, kgS I kfLer kI ekfèk[१८२] में अवलम्बन विशुद्ध सत्त्वगुण है।

**अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग योग**– योग के अन्दर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार बहिरङ्ग साधना के रूप में और आगे संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) अन्तरङ्ग साधना के रूप में हैं[१८३]। बहिरङ्ग साधना से शरीर की जड़ता की निवृत्ति, इन्द्रियों की तीक्ष्णता और चित्त की निर्मलता प्राप्त होती है। इसके आगे संयम के द्वारा चित्त को सूक्ष्मादपि सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम पदार्थ में प्रयोग किया जाता है।

**एकाग्रता परिणाम**– किसी ध्येय वस्तु का अवलम्बन करने से पहले जो तदाकार वृत्ति का जन्म होता है उसका विलोप होते–होते यदि फिर तदाकार दूसरी वृत्ति का जन्म होता हो उस संलग्न रूप से उत्पन्न अतीत और वर्तमान लुप्त और उज्जवल दोनों वृत्तियों को 'एकाग्रता–परिणाम' समझना चाहिए[१८४]। यहाँ वृत्ति का अभिप्राय ज्ञानांश है। एक वृत्ति के बाद दूसरी वृत्ति उदित होने से दोनों के स्थितिकाल का संकलन ६ क्षण है। एक निमेष का चतुर्गुण काल क्षण है। एकाग्रता–काल अविच्छिन्न रूप से १२ गुणित होने से धारणा काल (६ x १२ = ७२ क्षण) होता है। अविच्छिन्न धारणा काल को १२ गुणित करने से ध्यान काल (७२ x१२ = ८६४ क्षण) हैं। अविच्छिन्न ध्यान काल को १२ गुणित करने से (८६४ x १२ = १०,३६८ क्षण) समाधि–काल है और समाधि काल को १२ गुणित करने से (१०३६८ x १२ = १२४४१६ क्षण) ही सम्प्रज्ञात योग काल है। अब अनुमान किया जा सकता है कि वृत्ति प्रवाह को स्थिर रखने में या समाधि लाने में कितने समय की आवश्यकता है।

---

१७८– द्रष्टव्य–**''तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पै: संकीर्णा सवितर्का समापत्ति:''** – **योगदर्शन** (१/४२) पर व्यास भाष्य

१७९– द्रष्टव्य–**''स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का''** – **योगदर्शन** (१/४३) पर व्यास भाष्य

१८०– द्रष्टव्य–**''सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्''** – **योगदर्शन** (१/४५) पर व्यास भाष्य

१८१– ''**आनन्दो ह्लाद:**'' –**व्यासभाष्य** (१/१७)

१८२– ''**एकात्मिका संविदस्मिता**'' – **व्यासभाष्य** (१/१७)

१८३– **''त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्य:''** – **योगदर्शन** (३/७)

१८४– **''तत: पुन: शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणाम:''** – **योगदर्शन** (३/१२)

**समाधि परिणाम**– विविध और बहुत प्रकार की वृत्तियों के लोप होने के बाद चित्त में केवल मात्र एक वृत्ति का प्रवाह आने से उसका नाम हुआ 'समाधि-परिणाम''[१८५]। बहुत विषयों के प्रति धावित होना और मात्र एक ही विषय में धावित होना दोनों ही चित्त के स्वधर्म हैं। एक ही विषय में चित्त को आबद्ध रखना ही समाधि-अभ्यास है।

## संयम-साधना में पञ्चविधि ज्ञान का प्रयोजन

(१) संयम-साधना में परिणामत्रय का ज्ञान जरूरी है। पञ्चभूतों में और इन्द्रियादि भौतिक वस्तुओं में तीन परिणाम हैं- १-धर्म-परिणाम, २-लक्षण-परिणाम, ३-अवस्था-परिणाम [१८६]।

मान लो पाँच भूतों में मिट्टी एक भूत है। पिण्डकार में कुछ मिट्टी पड़ी हुई है। इसमें तीन परिणाम हैं। यहाँ पिण्डत्व इसका धर्म-परिणाम है। जब यह घटाकार बन जाएगा तब इसमें घटाकारत्व-धर्म आ जाएगा। यह इसका धर्म-परिणाम है। अतीत, वर्तमान और भविष्यत् कालत्रय में इस घट का अति सूक्ष्म जो परिवर्तन मालूम पड़ता है-उसका नाम लक्षण-परिणाम है।

जब इसका अवस्था-भेद देखा जाता है-जैसे नूतनत्व, पुरातनत्व, उज्ज्वलत्व, मलिनत्व, क्षय-प्राप्ति; तब इसका नाम अवस्था परिणाम है। पाँच भौतिक शरीरों में जन्म शैशव, बाल्य, कैशोर, यौवन, जरा, मृत्यु भी अवस्था परिणाम हैं।

(२) संयम-साधना में आभ्यन्तर परिणाम-सप्तक का ज्ञान जरूरी है। पाँच भौतिक जगत् के पञ्च भूतों में और इन्द्रियादि भौतिक वस्तुओं में जैसे तीन परिणाम हैं, ऐसे ही आभ्यन्तर वस्तु चित्त में परिणाम बहुत प्रकार के हैं[१८७]। सुख, दुःख, लाभ, हानि, सौभाग्य, दौर्भाग्य, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के परिणाम चित्त में प्रत्यक्ष रूप में अनुभवयोग्य हैं। लेकिन १-निरोध परिणाम, २-कर्म (पाप-पुण्य) परिणाम, ३-कर्म-जन्य संस्कार परिणाम, ४-जीवन-परिणाम, ५-क्रिया-परिणाम, ६-शक्ति-परिणाम और ७- काल-परिणाम- ये सात परिणाम साक्षात् अनुभव के बाहर होने पर भी चित्त, मन, बुद्धि पर पर प्रभाव डालते हैं।

(३) संयम-साधना में धर्मत्रय का ज्ञान जरूरी है [१८८]। जो कुछ धर्म या शक्तिविशेष का आश्रय है, वह धर्मी है। प्रत्येक प्राकृतिक द्रव्य ही १-शान्त २-उदित और ३-अव्यपदेश्य- इन तीनों धर्मों के साथ युक्त है। जैसे बीज और अंकुर हैं। १-अंकुर में बीजत्व 'शान्त' धर्म है। २-बीज अपने अंकुर रूप कार्य का सृजन करके अस्तमित या 'शान्त-धर्म' में आ गया है, अंकुर का अब 'उदित-धर्म' है। ३-अंकुर में वृक्षत्व छिपा हुआ है। वह वृक्षत्व अंकुर में 'अव्यपदेश्य धर्म' में है। पीछे 'उदित धर्म' में आ जाएगा।

(४) संयम-साधना में पञ्च मनोवृत्तियों का ज्ञान जरूरी है। मनुष्यों की मनोवृत्तियाँ पाँच भागों में विभक्त हैं- १-क्षिप्त, २-मूढ़, ३-विक्षिप्त, ४-एकाग्र, ५-निरुद्ध।

(क) **क्षिप्त**- बाह्य-वस्तुओं की कामना में जब मन अस्थिर और चञ्चल रहता है। मन किसी एक विषय में निविष्ट नहीं रहता। विषय से विषयान्तर में दौड़ता है। सन्तुष्ट नहीं रहता है। सदा ही अति व्यस्त रहता है। ये ही मन की क्षिप्त मनोवृत्तियाँ हैं।

---

१८५- **''सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः''** – **योगदर्शन** (३/११)
१८६- **''एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः''** – **योगदर्शन** (३/१३)
१८७- **''क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः''** – **योगदर्शन** (३/१५)
१८८- **''परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्''** – **योगदर्शन** (३/१६)

रजोवृत्ति और तमोवृत्ति अभिभूत हो जाती है। केवल शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल प्रकाशमय सुखकर और उज्ज्वल ज्ञान-दीप्तिमयी सात्विक वृत्ति का ही उदय होता है। यह ही मन की एकाग्र वृत्ति है।

(ङ) **निरुद्ध**- एकाग्र वृत्ति में चित्त का कोई न कोई अवलम्बन रहता ही है। लेकिन निरुद्ध वृत्ति में किसी प्रकार का भी अवलम्बन नहीं रहता तब चित्त अपनी कारणीभूत प्रकृति में प्रलीन रहता है और मानों कृतकार्य हो गया, इस रूप से निश्चेष्ट रहता है। वह केवल मात्र संस्कार भावापन्न ही रहता है। उसमें तब किसी प्रकार का विसदृश परिणाम भी नहीं देखा जाता है। चित्त की इन पाँच स्थितियों के अन्दर क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त चित्तवृत्तियों का योग के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। केवल एकाग्र और निरोध चित्तवृत्तियों को योग साधन में व्यवहार किया जा सकता है। निरुद्ध वृत्ति ही योग साधन के लिए सर्वोत्तम वृत्ति है। क्षिप्ति, मूढ़ और विक्षिप्त वृत्तियों को दूरीभूत करने के बाद ही निरुद्ध वृत्ति का उदय हो सकता है।

(५) संयम-साधना में व्युत्थान और निरोध परिणामों का ज्ञान जरूरी है। (क) चित्त में क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त- इन राजसिक परिणामों का ही नाम ''व्युत्थान परिणाम'' है। चित्त की प्रज्ञात स्थिति भी व्युत्थान परिणामों में सम्मिलित है और विशुद्ध सत्त्व परिणाम एकाग्र और निरोध ही ''निरोध-परिणाम'' है। चित्त की स्थिरता या निर्वृत्तिक अवस्था ही ''निरोध-परिणाम'' है।

**अवस्था भेद से योग चतुर्विध है**- (१) प्राथम-कल्पिक (२) मधुमती भूमिक (३) प्रज्ञा-ज्योति और (४) अतिक्रान्ति-भावनीय[१८९]। योग शिक्षा में जो लोग नये हैं योग जिनका दृढ़ नहीं हुआ है, जो थोड़े दिनों से ही संयम-साधना में (धारणा-ध्यान-समाधि की साधना में) प्रवृत्त हुए हैं, वे लोग किसी प्रकार के ऐश्‍वर्य, सिद्धि, विभूति, सिद्ध पुरुषों के भाव या ज्ञानी पुरुषों के दिव्य भाव-कुछ भी अनुभव नहीं करते हैं। ये लोग ''प्राथम-कल्पिक'' स्थिति में हैं।

(२) इस प्राथम स्थिति का अतिक्रमण करके योग साधक द्वितीय 'मधुमती भूमिक' में आ जाते हैं। तब वे लोग 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' लाभ करते हैं।

(३) पाँच भौतिक वस्तु और इन्द्रियों को जय करके जब वे लोग परवर्ती सिद्धि सर्वज्ञातृत्वादि लाभ के लिए प्रयत्न करते हैं तब इनको ''मधु-भूमिक'' योगी बोला जाता है। ठीक इसी समय अपने अन्दर कुछ न कुछ अतीन्द्रिय शक्ति का अनुभव होता है। ''देवताओं के प्रलोभन'' नाम से यह शक्ति अभिहित होती है। इस प्रलोभन को अतिक्रमण करके साधना में ही तत्पर रहने से योगी तृतीय स्थिति ''प्रज्ञा ज्योति'' में पहुँच जाते हैं।

(४) वे लोग अत्यधिक विवेक ज्ञान सम्पन्न होते हैं अर्थात् पुरुष प्रकृति के भेद निर्णय में तत्पर हो जाते हैं। विवेक ज्ञान के अवान्तर फलों के प्रति वे लोग अनासक्त रहते हैं। समाधिकाल में भी किसी प्रकार का विघ्न नहीं उठता है और वे जीवन्मुक्तों की स्थिति में आ जाते हैं। वे लोग ही चौथी स्थिति ''अतिक्रान्त भावनीय'' में पहुँच जाते हैं।

**योग लभ्य विभूतियाँ**- इन चार स्थितियों के ''प्राथम कल्पिक'' योगी लोग किसी प्रकार की अतीन्द्रिय शक्ति का अनुभव नहीं करते हैं अर्थात् कोई सिद्ध पुरुष या देवता के या दिव्य गुण का दर्शन नहीं पाते हैं। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्थितियों के योगी लोग ही भिन्न-भिन्न अतीन्द्रिय शक्तियों के अनुभव और उनका लाभ करते हैं। योगी लोग इसको ही ''देवदर्शन और सिद्ध पुरुष दर्शन'' बोलते हैं। इन्हीं शक्तियों से त्रिविध योगियों के अन्दर बहुत योगी प्रलुब्ध और विस्मित हो जाते हैं।

---

१८९- द्रष्टव्य- **''स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्''** - **योगदर्शन** (३/५१) पर व्यास भाष्य

इस प्रकार की विभूतियों को या ऐश्वर्यों को देख कर जो योगी प्रलुब्ध और विस्मित होते हैं उनका यौगिक उत्कर्ष से पतन हो जाता है। योग विद्या के और साधना के एकमात्र उद्देश्य का नाम ही कैवल्य-लाभ या मोक्ष-लाभ है। यौगिक विभूतियाँ विघ्नों के रूप में या परीक्षा के रूप में आ जाती हैं। यहाँ ही बहुत योगियों का योगभङ्ग और पतन होता है। विस्मय आ जाने से मोक्ष या कैवल्य-लाभ से पहले ही कृत-कृत्यता बोध आ जाता है, किसी को सङ्ग और भोगेच्छा भी आ जाती है। रामायण, महाभारत या पुराणों में इस प्रकार के दृष्टान्त बहुत हैं। विस्मय भी विघ्न है। इसको भी वर्जित करना चाहिए। किसी तरह से लुब्ध या मुग्ध नहीं होना चाहिए। तब मोक्ष का कैवल्य-भाव होगा। अन्यथा संसार, सुख-दुःख, बन्धन, जन्म-मृत्यु सब कुछ ऐसे ही बने रहेंगे।

स्मरणातीत काल से योगी लोगों ने भिन्न-भिन्न स्थान और विषयों पर संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) के प्रयोग से असंख्य प्रकार की विभूतियों के अनुभव किए थे [१९०]। ऋषि पतञ्जलि ने अपने राजयोग सूत्रों के विभूति-पाद में बहुत विभूतियों को, उनके प्राप्ति के उपायों को, संयम-प्रयोगों को लिपिबद्ध किया था। उन्हीं का प्रचार साधारण में होता है। इन सब के अतिरिक्त बहुत प्रकार की सिद्धि, विभूति या ऐश्वर्यों का अनुभव योगी साधकों के समाज के अन्दर प्रचलित हैं[१९१]।

**जप-धारणा-ध्यान-समाधि के वैशिष्ट्य**-ये चारों एक ही वस्तु हैं। प्रणव-मन्त्र का जप अविराम गति से करने के बाद जप गाढ़ होकर धारणा रूप में आ जाता है। उसी प्रकार धारणा करने से धारणा गाढ़ होकर ध्यान रूप में आ जाती है। उसी प्रकार ध्यान करने से ध्यान गाढ़ होकर समाधि रूप में आ जाता है। जप में सब कुछ रहते हैं। जपक्रिया के बाद धारणा में धारणा-क्रिया, धारणा-कर्ता और धारणा का विषय-इन तीनों विषयों का ज्ञान रहता है। ध्यान में ध्यान-कर्ता मैं और मेरा ध्येय दोनों रहते हैं। समाधि में केवल ध्येय विषय ही रहता है और ध्याता का अस्मित्व ध्येय में विलीन हो जाता है। यह चित्त का सर्वोत्कृष्ट स्थैर्य है।

**प्रत्याहार और धारणा का भेद**-धारणा का अर्थ है चित्त की एक ही विषय में धारणा करना अर्थात् चित्त के अन्दर केवल एक ही विषय का चिन्तन करना। प्रत्याहार की साधना में इन्द्रियों को विषयों के सम्बन्ध से पृथक् कर देने से ही धारणा सम्भव होती है। खण्ड-खण्ड ज्ञान-वृत्ति का नाम धारणा है और अखण्ड एकतान ज्ञान-वृत्ति का नाम ध्यान है। समाधि सम्पूर्ण तन्मय भाव है। समाधि से ही आत्म-दर्शन होता है।

---

१९०- **''जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः''** - **योगदर्शन** (४/१)

''स्वयं योगाभ्यास कर सिद्धियों को देख लेवे। इससे उत्तम बात दूसरी कोई भी नहीं है।'' - **ऋ० द० का कर्नल अल्काट को १४ जुलाई १८८० का पत्र**

१९१- ''कलकत्ते के कई एक विज्ञ और प्रभावशाली पुरुषों ने स्वामी दयानन्द से पातञ्जल योगदर्शन की युक्तियुक्त व्याख्या के साथ विभूतियों का वर्णन सुनने की प्रार्थना की थी। इसलिए इन सब विभूतियों पर उन्होंने ही स्वयं इस निवेदन के साथ प्रकाश डाला था कि "आप लोगों में से बहुत से व्यक्ति इन सबको जादू-विद्या, भोज-विद्या, डाकिनी-विद्या या कुहुक-विद्या भी समझ लेंगे, इसमें मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है।

मेरे परम मित्र पण्डित प्रवर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से भी अनुरोध-पत्र आया है- 'योग-साधना के विषय में आपके अनुभव में जो कुछ है, आप करीब-करीब सब कुछ ही बोलने की कृपा करें क्योंकि किताबों में ज्ञान का रहस्य मिलता है, साधना का नहीं।' विद्यासागर जी का यह अनुरोध मुझे सहर्ष स्वीकार है। मैं यथाशक्ति इसका वर्णन करूँगा।

मैंने चाणोद, कर्णाली, व्यासाश्रम और अहमदाबाद के निकट श्मशान के दुग्धेश्वर मन्दिर में भिन्न-भिन्न योगी गुरुओं से २४-२५ वर्ष की आयु से २७-२८ वर्ष की आयु तक तीन वर्ष का काल योग-विद्या की शिक्षा और अभ्यास में बिताया था। पीछे ३०-३१ वर्ष की उम्र तक का तीन वर्ष का समय आबूशैल पर योगव्रत धारण करके योग की साधना

धारणा, ध्यान और समाधि से सम्प्रज्ञात समाधि होती है। सम्प्रज्ञात समाधि में कोई न कोई विषय अवलम्बन के रूप में रहता है। सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का विषय या बीज रहता है, अतः उसका नाम सबीज समाधि है।

जिस समाधि में वह नहीं रहता है उसका नाम निर्बीज समाधि है। धारणा, ध्यान और समाधि निर्बीज समाधि का बहिरङ्ग है और केवल पर-वैराग्य ही निर्बीज समाधि का अन्तरङ्ग है।

सबीज साधना नहीं करने से निर्बीज साधना भी सम्भव नहीं है। यदा-कदा किसी विषय पर स्वल्प मात्रा में भी आसक्ति रहेगी और जब तक विषय-चिन्तन रहेगा तब तक सबीज है। और जब साधक सम्पूर्ण रूप से विषयासक्ति-हीन हो जाएगा, स्वल्प मात्रा में भी विषयासक्ति नहीं रहेगी, यानी पर वैराग्य होगा तब ही उनकी निर्बीज समाधि सम्भव है।

**संस्कार और प्रत्यय**- चित्त के अन्दर संस्कार रहते हैं। संस्कार से प्रत्यय की उत्पत्ति होती है। संस्कार और प्रत्यय एक नहीं हैं। संस्कार भण्डार के रूप में हैं और प्रत्यय उसमें सन्निहित रहता है। संस्कार रहने से ही प्रत्यय नहीं उठता है। प्रत्यय उठने के कारण और स्थितियाँ होनी चाहिए। सद्योजात शिशु के अन्दर काम क्रोधादि के संस्कार हैं। लेकिन उनसे काम-क्रोधादि के प्रत्यय नहीं उठते हैं। अवस्था-वृद्धि के साथ-साथ वे प्रत्यय आ जाते हैं। मन या चित्त से ही भिन्न-भिन्न समय में या भिन्न-भिन्न प्रत्ययों का उदय होता है। चित्त में पापों का प्रत्यय उठता है और पुण्यों का संस्कार रहने से पुण्यों का प्रत्यय उठता है जिसके अन्दर क्रोध का संस्कार है और सदा ही क्रोध के संस्कार उठते हैं। क्षमा-गुण का अवलम्बन करने से उसके अन्दर क्षमा के संस्कार सञ्चित होते रहेंगे और क्षमा के संस्कार चित्त के अन्दर रहते हुए क्रोध के संस्कारों को विनष्ट करेंगे। इसी का नाम देवासुर संग्राम है। हमारे अन्दर सदा देवासुर संग्राम चल रहा है। कभी देवों का जय होता है और कभी असुरों का जय होता है। जागरण में और स्वप्न में यह युद्ध चालू है।

**निरोध और व्युत्थान का युद्ध**-प्रत्ययों के उठने का नाम ही व्युत्थान है और उनके दबे हुए रहने का नाम ही निरोध है। निरोध और व्युत्थान संस्कार दोनों ही चित्त में रहते हैं। समाधि-अभ्यास के द्वारा निरोध संस्कारों को वर्धित करना और व्युत्थान संस्कारों को विनष्ट करना चाहिए। निरोध और व्युत्थान परस्पर विरोधी हैं। निरोध का परिमाण अधिक होने से व्युत्थान कम होता है और व्युत्थान का परिमाण अधिक होने से निरोध कम हो जाता है[१९२]। व्युत्थान-संस्कार से समाधि भङ्ग होती है और निरोध-संस्कार से समाधि गाढ़ होती है। निरोध परिमाण पूर्ण होने से व्युत्थान परिणाम निःशेष रूप से विनष्ट हो जाता है और व्युत्थान संस्कार क्षय प्राप्त होने से चित्त संस्कार-शून्य होता है। इस रूप से चित्त संस्कार-शून्य होने से ही चित्त-लय प्राप्त होगा जिसे योगी लोग चाहते हैं। ये सब संयम साधना की प्रस्तुति मात्र ही हैं।

## योग की विभूतियाँ

**संयम का बल**- किसी विषय पर से धारणा, ध्यान और समाधि के प्रयोग करने से संयम बनता है। संयम ही प्रकृत योग बल है। इसी संयम से ही अतीन्द्रिय शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। दुःसाध्य कर्म साधित होता है और कैवल्य या मुक्ति तक मिलती है। योग की विभूतियाँ या ऐश्वर्य संयम से ही आ जाते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग दर्शन के विभूतिपाद

और तपस्या बिताया था। मेरे प्रति गुरुओं की बहुत ही कृपा थी। मैं योग के बारे में जो कुछ कहूँगा, उनकी ही दी हुई शिक्षा और साधना से जो कुछ मैंने अनुभव पाया है, उसी को मैं कहूँगा।'' – **ऋ० द० का कथन**

स्वामी दयानन्द के इस कथन से पूर्व पृष्ठ-५७ की पादटिप्पणी क्र० ८४ एवं ८५ की पुष्टि होती है। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि उनकी जन्म तिथि भाद्रपद शुक्ला ९, संवत् १८८१ वि० (गुजराती) ही है जैसा कि पाद-टिप्पणी क्र० ४ में उल्लिखित हुआ है। पृष्ठ- ४४ की पाद टिप्पणी क्र० ६८ भी इसकी पुष्टि करती है।

१९२- **''व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधलक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः''** -**योगदर्शन** (३/९)

में संयम लभ्य विभिन्न विभूतियों के वर्णन किए हैं जिसकी साधना अभ्यास के लिये बहुत ही कठोरता के साथ मेरा पाद
में संयम लभ्य विभिन्न विभूतियों के वर्णन किए हैं जिसकी साधना अभ्यास के लिये बहुत ही कठोरता के साथ मेरा तीन वर्ष का काल आबू शैल पर बीत गया था [१९३]।

**प्रज्ञालोक की प्राप्ति**–महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि संयम को जय करने से प्रज्ञालोक (प्रज्ञा+आलोक) मिलता है [१९४]। यह परीक्षित सत्य है। संयम जब परिपक्व और स्वाभाविक हो जाता है तब समाधि–प्रज्ञा का आलोक मिलता है। इस आलोक के प्रकाशित होने से अलौकिक ज्ञान और शक्ति–लाभ होता है। चिन्तनीय विषयों का पूर्ण ज्ञान आ जाता है। स्थूल दृष्टि से या स्थूल ज्ञान से हम लोग वस्तुओं के आंशिक स्थूल तत्त्वों को जान सकते हैं, किन्तु समाधि ज्ञान के सूक्ष्म ज्ञान से हम लोग वस्तुओं के बारे में स्थूल–सूक्ष्म सब कुछ जान सकते हैं। उपस्थित आचार–व्यवहार, कार्य प्रणाली को देखकर हम लोग किसी मनुष्य के बारे में स्वल्प ही जान सकते हैं लेकिन समाधि जात सूक्ष्म दृष्टि से हम लोग उसके जीवन के अन्तः–बाह्य, प्रकाशित–अप्रकाशित सब कुछ जान सकते हैं। चिकित्सक बीमारों को, शिक्षक छात्रों को, विचारक अभियुक्त व्यक्तियों को या विक्रेता क्रेताओं को कुछ न कुछ मनः–संयम के प्रयोग से दूसरे व्यक्तियों से अधिक समझ लेते हैं। यह संयम जब इच्छाधीन किया जा सकता है तब ही समझा जाएगा कि संयम जय हो गया है। इसी का नाम प्रज्ञालोक है। संयम–साधन से यहाँ ज्ञानालोक परिपूर्ण रूप से आ जाता है।

**भूत–भविष्यत् का ज्ञान–लाभ**– हम लोग वर्तमान को देखकर कुछ न कुछ अतीत और भविष्यत् की अवस्था जान लेते हैं। जिनकी बुद्धि जितनी सूक्ष्म और स्थिर होगी, वे उतने ही सूक्ष्म विचार से अधिकतर निश्चित सिद्धान्त में पहुँच जायेंगे। संयम साधक योगी का चित्त अत्यधिक स्थिर और सूक्ष्म होने के कारण वे अतीत और भविष्यत् को अत्यधिक अनुभव कर सकते हैं। पतञ्जलि के मतानुसार वस्तुओं के त्रिविध परिणाम– (धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम) को और व्यक्तियों के चित्त के सप्त परिणाम, (निरोध परिणाम, कर्म परिणाम, संस्कार परिणाम, क्षण परिणाम, जीवन परिणाम, क्रिया परिणाम और शक्ति परिणाम) को समझकर उन पर संयम प्रयोग करने से अर्थात् चित्त में धारणा, ध्यान, प्रवाह और समाधि की स्थिरता की उत्कट शक्ति को एक साथ प्रयोग करने से उस वस्तु या व्यक्ति के पूर्व वृत्तान्त और भविष्यत् की सम्भाव्य घटनायें प्रत्यक्षवत् प्रतिभासित होंगी [१९५]।

**सर्व जीवों के शब्द और भाषाओं का ज्ञान–लाभ**– ऋषि पतञ्जलि ने कहा है कि शब्द, अर्थ और प्रत्यय के परस्पर अध्यास के कारण स्मृत्ति में सङ्कर होती है, परन्तु इन तीनों के प्रविभागों में संयम करने से सर्व जीवों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है [१९६]।

ऋषि का कहना यह है कि हम लोग सब मनुष्यों की, पशु, पक्षी सर्प–कीट–पतङ्गादि सर्वजीवों की भाषाओं को समझ सकते हैं। यदि हम लोग उन भाषाओं के शब्द अर्थ प्रत्ययों को अलग–अलग करके उन सब में संयम का प्रयोग करें, तब जैसे मनुष्य मनुष्यों की भाषाओं को वैसे ही सर्प आदि प्राणियों की भाषा को पृथक्–पृथक् समझ सकते हैं। व्यक्ति सामान्यतया दूसरे की भाषा को नहीं समझते हैं, केवल मनोभावों और गतिविधियों से थोड़ा बहुत समझ लेते हैं। अब प्रश्न

---

१९३– ''अपनी व्यक्तिगत अभिज्ञता और अनुभूति से ही मैं उनमें से कई एक विभूतियों और ऐश्वर्यों का वर्णन करूँगा। मैंने पहले ही आपसे अनुरोध किया था कि मेरी मृत्यु तक इसका प्रकाशन नहीं होना चाहिए।'' **ऋ० द० का कथन**

१९४– **''तज्जयात्प्रज्ञालोकः''** – **योगदर्शन** (३/५)

१९५– **''परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्''** – **योगदर्शन** (३/१६)

१९६– **''शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्''** – **योगदर्शन** (३/१७)

आता है साधारण व्यक्ति दूसरे प्राणियों की भाषा क्यों नहीं समझता है? और संयम प्रयोग करने से योगी लोग कैसे समझ लेते हैं?

पतञ्जलि ने इसमें हेतु दिखाया है कि सामान्य व्यक्ति शब्दों के साथ अर्थ और प्रत्ययों में अलग-अलग संयम प्रयोग करके उच्चारित शब्दों के अभिप्रायों की नहीं समझ पाते हैं।

अब शब्द, अर्थ और प्रत्यय का अभिप्राय समझना चाहिए-

**शब्द**- एक प्रकार की ध्वनि जो कि श्रोत्र रूप इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य पदार्थ है।

**अर्थ**- उस श्रोत्र रूप इन्द्रिय से ग्राह्य पदार्थ की जाति, गुण और क्रियादि का विषय।

**प्रत्यय**- उस पद-अर्थ के आकार से पदार्थ प्राप्त ज्ञान।

शब्द, अर्थ और प्रत्यय (= ज्ञान) भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन ये एक ही विषय-जैसे हमारे मन में उदित होते हैं।

**(१) शब्द**- मान लो 'गौ' एक शब्द है। यह वाग् यन्त्र से उच्चारित हुआ और कर्ण ने उसको ग्रहण किया। इस शब्द का आश्रय स्थल हमारा वाग् यन्त्र ही है।

**(२) अर्थ**- इसका अर्थ एक चतुष्पद् प्राणी है। चार पैर, दो श्रृङ्ग और एक पुच्छ वाला है। गौशाला इसका आश्रय स्थल है।

**(३) ज्ञान**- प्रत्यय (ज्ञान) भी एक भिन्न तत्त्व है और इसका आश्रय स्थल चित्त है।

इन तीन विषयों को हम लोग पृथक्-पृथक् नहीं लेते हैं। एक साथ एक ही विषय के समान ले लेते हैं। यह तीनों विषयों का मिश्रित ज्ञान है। इस रूप से लेने से किसी एक विषय का सुस्पष्ट ज्ञान हमको नहीं मिलता है। हमारा यह ज्ञान शब्द, अर्थ और प्रत्यय के बारे में सुस्पष्ट या स्फुट ज्ञान नहीं है। इसमें से किसी एक का स्फुट ज्ञान पाने के लिए केवल उस पर ही संयम का प्रयोग करना पड़ेगा। एक के स्फुट ज्ञान से अपर दोनों को छोड़ देना होगा। तब ही उस विषय में पूर्ण और स्फुट ज्ञान होगा।

भाषा से भाव का प्रकाश होता है। प्रत्येक जीव भाषा या शब्द के द्वारा मनोभाव का प्रकाश करता है और समजातीय जीव उसको समझ लेता है। भाषा या शब्द की भिन्नता होने पर भी भाव की भिन्नता नहीं है। संयम सिद्ध योगी संयम के द्वारा सब प्राणियों के ही मनोभाव समझ लेते हैं। मनोभाव ही भाषा का रूप ग्रहण करके निकलता है। मनोभाव अव्यक्त है, मामूली आदमी उसको नहीं जानता है। भाषा व्यक्त और मनोभाव अव्यक्त, अप्रकाशित है। अव्यक्त में स्थिति तमोभाव है। रजोगुण के द्वारा यह उत्तेजित होता है और सत्त्वगुण के द्वारा प्रकाशित होता है।

भाव की भिन्नता नहीं है, भाषा की भिन्नता है। सबके वाग् यन्त्र भी समान नहीं हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न प्राणी वाग् यन्त्रों के अनुसार अपनी-अपनी भाषा का उच्चारण करते हैं। इन शब्दों को छोड़कर केवल अर्थमात्र में संयम प्रयोग के द्वारा हम लोग सब प्राणियों के मनोभावों को जान सकते हैं। शब्द और अर्थ या प्रत्यय को मिश्रित रूप से ग्रहण करने से हम लोग मनोभाव को नहीं जान सकते हैं। चित्त शब्द-पथ से शब्दों के उत्पत्तिस्थान वाग् यन्त्र में जाता है और आगे वाग् यन्त्र की क्रिया के उत्पत्तिस्थान मन में प्रवेश करता है। इस रूप से मनोभाव जाना जाता है। श्रोता इस रूप से वक्ता के मनोभाव को पूर्णतया जान सकते हैं। साधारण मनुष्य की सूक्ष्म दर्शन शक्ति नहीं है, लेकिन योगी की सूक्ष्म दर्शन शक्ति है। योगी शब्द मात्र में संयम प्रयोग करके और वर्णादि की सहायता के बिना ही अपर के मन में जो पद विद्यमान है उसको जान सकते हैं। अपर अपने मनोभाव को वर्णों के द्वारा प्रकाश नहीं भी करे, तथापि योगी उसकी मनोगत चिन्ता को और कर्ण ने उसको

ग्रहण किया। इस शब्द का आश्रय स्थल हमारा वाग् यन्त्र ही है।

**(२) अर्थ**– इसका अर्थ एक चतुष्पद् प्राणी है। चार पैर, दो श्रृंग और एक पुच्छ वाला है। गौशाला इसका आश्रय स्थल है।

**(३) ज्ञान**– प्रत्यय (ज्ञान) भी एक भिन्न तत्त्व है और इसका आश्रय स्थल चित्त है।

इन तीन विषयों को हम लोग पृथक्-पृथक् नहीं लेते हैं एक साथ एक ही विषय के समान ले लेते हैं यह तीनों विषयों का मिश्रित ज्ञान है। इस रूप से लेने से किसी एक विषय का सुस्पष्ट ज्ञान हमको नहीं मिलता है। हमारा यह ज्ञान शब्द, अर्थ और प्रत्यय के बारे में सुस्पष्ट या स्फुट ज्ञान नहीं है। इसमें से किसी एक का स्फुट ज्ञान पाने के लिए केवल उस पर ही संयम का प्रयोग करना पड़ेगा। एक के स्फुट ज्ञान से अपर दोनों को छोड़ देना होगा। तब ही उस विषय में पूर्ण और स्फुट ज्ञान होगा।

भाषा से भाव का प्रकाश होता है। प्रत्येक जीव भाषा या शब्द के द्वारा मनोभाव का प्रकाश करता है और समजातीय जीव उसको समझ लेता है। भाषा या शब्द की भिन्नता होने पर भी भाव की भिन्नता नहीं है। संयम सिद्ध योगी संयम के द्वारा सब प्राणियों के ही मनोभाव समझ लेते हैं। मनोभाव ही भाषा का रूप ग्रहण करके निकलता है। मनोभाव अव्यक्त है, मामूली आदमी उसको नहीं जानता है। भाषा व्यक्त और मनोभाव अव्यक्त, अप्रकाशित है। अव्यक्त में स्थिति तमोभाव है। रजोगुण के द्वारा यह उत्तेजित होता है और सत्त्वगुण के द्वारा प्रकाशित होता है।

भाव की भिन्नता नहीं है, भाषा की भिन्नता है। सबके वाग् यन्त्र भी समान नहीं हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न प्राणी वाग् यन्त्रों के अनुसार अपनी-अपनी भाषा का उच्चारण करते हैं। इन शब्दों को छोड़कर केवल अर्थमात्र में संयम प्रयोग के द्वारा हम लोग सब प्राणियों के मनोभावों को जान सकते हैं। शब्द और अर्थ या प्रत्यय को मिश्रित रूप से ग्रहण करने से हम लोग मनोभाव को नहीं जान सकते हैं। चित्त शब्द-पथ से शब्दों के उत्पत्तिस्थान वाग् यन्त्र में जाता है और आगे वाग् यन्त्र की क्रिया के उत्पत्तिस्थान मन में प्रवेश करता है। इस रूप से मनोभाव जाना जाता है। श्रोता इस रूप से वक्ता के मनोभाव को पूर्णतया जान सकते हैं। साधारण मनुष्य की सूक्ष्म दर्शन शक्ति नहीं है, लेकिन योगी की सूक्ष्म दर्शन शक्ति है। योगी शब्द मात्र में संयम प्रयोग करके और वर्णादि की सहायता के बिना ही अपर के मन में जो पद विद्यमान है उसको जान सकते हैं। अपर अपने मनोभाव को वर्णों के द्वारा प्रकाश नहीं भी करे, तथापि योगी उसकी मनोगत चिन्ता को समझ लेते हैं। इस प्रकार योगी शब्द, अर्थ और प्रत्यय को प्रविभाग से संयम में लाकर सभी प्राणियों के उच्चारित शब्दों के अर्थ-ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। योगी धारणा, ध्यान और समाधि को क्रमानुसार तीक्ष्ण और तीव्र रूप से प्रयोग करके अर्थात् संयम के द्वारा सभी प्राणियों के शब्द या भाषाओं को समझ लेते हैं।

**पूर्व जन्मों का ज्ञान-लाभ**– महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि संस्कारों के साक्षात्कार होने से पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है [१९७]। संस्कार ज्ञान और कर्मों की छाप है। हमने पूर्व जीवनों में जो कुछ किया है और जो कुछ जाना है उन सब कर्मों के और ज्ञानों के संस्कार हमारे चित्त में संस्कार के रूप में या अति सूक्ष्म बीजाकार में उपस्थित हैं। उन संस्कारों के कारण वासनाओं का उदय होता है और वासनाओं से कर्म और ज्ञान होते हैं। पुण्य कार्य करने से पुण्य संस्कार, निर्मल ज्ञान से निर्मल ज्ञानों का संस्कार, पापमय कर्म करने से पापों का संस्कार और मिथ्या ज्ञान लेने से मिथ्या ज्ञानों का संस्कार हमारे अन्दर जमा होने लगता है। जन्म-जन्मान्तरों में ये संस्कार हमारे सूक्ष्म शरीर के साथ चलते हैं।

इन संस्कारों को हम आँखों से नहीं देख सकते हैं। तब किस प्रकार महर्षि पतञ्जलि के कथनानुसार संस्कारों का साक्षात्कार होगा? ये बहिरिन्द्रियों से नहीं देखे जाते हैं लेकिन अन्तरिन्द्रिय अर्थात् अन्तःकरण के द्वारा इन संस्कारों का

---

१९७- **''संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्''** –**योगदर्शन** (३/१८)

साक्षात्कार हो सकता है। प्रयत्न करने से हम सब कोई पूर्व जन्मों के संस्कारों को समझ सकते हैं। संस्कारों से हमारे अन्दर वासनाओं का उदय होता है। काम, क्रोध या लोभ की वासनाओं के प्रभाव से मनुष्य काम, क्रोध या लोभ के कार्य करते हैं। इन सब कार्य-प्रणालियों को देखकर हम लोग समझ सकते हैं कि मेरे अन्दर या दूसरे के अन्दर कौन सी वासनायें प्रबल हैं। ये सब वासनायें हम सब के चित्तों से ही निकलती हैं, शरीर चित्त की वासनाओं के अनुसार कर्म करता है, शरीर चित्त के अधीन है। चित्त ही हमारे शरीर में कर्मों का कर्ता है। कोई चोरी करते हैं, कोई दान करते हैं, कोई कलह करते हैं, कोई विनयी हैं, कोई क्रोधी हैं-इससे पता चलता है कि पूर्व जीवन में कौन कैसा था या किसके अन्दर कौन सा संस्कार प्रबल था। पूर्व जीवनों के संस्कारों के अनुसार हमारे यहाँ के जीवन चलते हैं। यहाँ की कार्य-प्रणाली हमारे संस्कारों से है।

जिनके अन्दर जो-जो संस्कार प्रबल हैं, उनके ऊपर प्रबल रूप से संयम के प्रयोग करने से योगी उन संस्कारों के बारे में पूर्ण ज्ञान पायेंगे और संस्कार के बारे में पूर्ण ज्ञान मिलने से ही योगी पूर्व जन्मों के बारे में ज्ञान पायेंगे। उनको पूर्व जन्मों के कार्य, स्थान, वर्ण, आश्रमादि सब विषयों के दर्शन होने से पूर्व-पूर्व जन्मों के पाप-पुण्य, सुख-दुःखों के बारे में भी जानकारी हो जाएगी। ये लोग ही जाति-स्मर बोले जाते हैं। कोई-कोई जाति-स्मर रूप से ही जन्म लेते हैं।

**पर-चित्त का ज्ञान**- पतञ्जलि ने कहा कि प्रत्यय पर संयम के प्रयोग करने से दूसरे के चित्त के बारे में ज्ञान होगा [१९८]। खण्ड-खण्ड ज्ञानों के नाम प्रत्यय हैं। चित्त से प्रत्यय की उत्पत्ति होती है। अपने चित्त से और दूसरे के चित्त से भी प्रत्यय की उत्पत्ति होती है। पहले अपने चित्त के प्रत्यय पर संयम के प्रयोग का अभ्यास अच्छी तरह करने से दूसरे के चित्त पर संयम का प्रयोग किया जा सकता है। दूसरे के चित्त पर संयम का प्रयोग करने से उसके मनोभाव समझ में आ जाते हैं। साधारण मनुष्य दूसरे के आकार, इङ्गित गतिविधि, चाल-चलन, कथा-वार्ता, काम-काजों को देखकर उसके मनोभावों को जान लेते हैं। इस तरह से जाने हुए मनोभाव अस्पष्ट हैं। लेकिन योगी लोग दूसरे के चित्त से उत्पन्न प्रत्ययों को संयम के प्रयोग से उसके मनोभावों को सुस्पष्ट रूप से जान सकते हैं।

साधारण मनोभाव को जान लेने पर भी उसकी भाव्य और चिन्तनीय वस्तु अज्ञात ही रह जाती है। इसलिए उसके मनोभावों पर भी संयम का प्रयोग करने से उसकी मनोभावनाओं की केन्द्रीय भाव्य और चिन्तनीय वस्तु अर्थात् अवलम्बन का ज्ञान भी आ जाएगा [१९९]।

**अन्तर्धान की शक्ति**- पतञ्जलि ने कहा है कि कायिक रूप के प्रति संयम के प्रयोग करने से काया की ग्राह्य शक्ति स्तम्भित होती है। दूसरे की चक्षु इन्द्रिय की दृष्टिशक्ति, कर्ण की श्रवण शक्ति, नासिका की गन्धन शक्ति, जिह्वा की रसन शक्ति और त्वक् की स्पर्शन-शक्ति की ग्रहण शक्ति भी बेकार बन जाती है। योगी की काया दूसरे के लिए इन्द्रियातीत बन जाती है [२००]। यही योगियों का सम्पूर्ण संयम बल से अदृश्य, अश्रोतव्य, अगन्धनीय, अनास्वादनीय या अस्पर्शनीय होना है या अपने को अन्तर्धान करना है। जब शरीर और इन्द्रियों के साथ दूसरे का सम्पूर्ण सम्बन्ध छिन्न हो जाता है, तब ही योगी का पूर्ण अन्तर्धान है। संयम सिद्ध योगी की अपने शरीर के रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध पर संयम के प्रयोग करने से उन सब रूप-रसादि से इन्द्रिय ग्राह्य शक्तियाँ स्तम्भित हो जाती है। बाहरी मनुष्यादि प्राणियों के चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् रूप ज्ञानेन्द्रियों की रूप-रसादि को ग्रहण करने की शक्तियाँ बेकार हो जाती हैं। इसलिए वे योगी को किसी भी इन्द्रिय के द्वारा अनुभव नहीं कर सकते हैं। इसी का नाम योगी का अन्तर्धान होना है। यह इन्द्रजाल नहीं है अपितु यथार्थ है [२०१]।

---

१९८- **''प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्''** - **योगदर्शन** (३/१९)

१९९- **''न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्''** -**योगदर्शन** (३/२०)

२००- **''कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्''** -**योगदर्शन** (३/२१)

२०१- जादूगर लोग इसी क्रिया को 'अल्ट्रा वायलट रे' से बने रङ्ग का प्रयोग कर सम्पन्न करते हैं।

योगी लोग स्वकीय कायागत रूप रसादि के प्रति चक्षु-जिह्वादि से ग्रहणीय गुणों के प्रति निषेधात्मक संयम का प्रयोग करते हैं अर्थात् हमारे शरीर के रूप स्पर्शादि कुछ नहीं है-एतत् प्रकार ध्यान प्रवाह को उत्थापित करते हैं। उनकी इस प्रकार की अन्तर्धानीय शक्ति-सम्पन्न भावना के प्रभाव से दूसरे की इन्द्रिय-शक्ति स्तब्ध होकर क्रियाहीन हो जाती है अर्थात् वे रूपादि विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती हैं।

**मृत्यु और मृत्यु के दिन को जानना**- पतञ्जलि ने कहा कि सोपक्रम या निरुपक्रम कर्मों में जो कि पूर्व जन्मार्जित धर्माधर्म हैं, उन पर संयम प्रयोग करने से या अरिष्ट दर्शन से अपरान्त का अर्थात् मृत्यु का ज्ञान होता है। कर्म दो प्रकार के हैं-सोपक्रम और निरुपक्रम। जो कर्म फलदान के लिए प्रवृत्त हुए-वे सोपक्रम कर्म हैं। जो कर्म अब भी फल देने में प्रवृत्त नहीं हुए-वे निरुपक्रम हैं।

इन सोपक्रम और निरुपक्रम कर्मों के संस्कार लेकर ही मनुष्यों ने जन्म लिया है और उन उन संस्कारों के अनुसार जन्म, आयु और भोगों को प्राप्त किया है। जिस प्रकार के संस्कार हैं, उसी प्रकार के भोग और आयु भी होंगे। इन सब सोपक्रम और निरुपक्रम कर्मों के ऊपर संयम के प्रयोग करने से हमारे जीवनकाल के अपरान्त का अर्थात् मृत्यु का ज्ञान मिलेगा। आयु के दो अन्त हैं-एक जन्म और दूसरा मृत्यु। जन्म के दिन से आयु आरम्भ होती है और मृत्यु के दिन निःशेष हो जाती है। चित्त में रहने वाले दो प्रकार के कर्मों पर संयम के प्रयोग करने से योगी को मृत्यु का ज्ञान हो जाता है अर्थात् किस स्थान पर किस काल में और किस स्थिति में मृत्यु होगी, योगी यह जान सकता है।

अरिष्टों को देखने से भी मृत्यु का ज्ञान होता है [२०२]। जो लोग योगी नहीं हैं वे लोग सोपक्रम निरुपक्रम कर्मों पर संयम के प्रयोग करने की प्रणाली को नहीं जानते हैं। साधारण लोग भी अरिष्टों को जान सकते हैं और उनसे मृत्यु को जान सकते हैं। अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं-आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक।

अरि अर्थात् शत्रुओं से हमारे भय के जो कारण हैं, वे ही हमारे अरिष्ट हैं। अरिष्ट मृत्यु के पूर्व-लक्षण हैं। अपने शरीर, मन और आत्मा के बारे में अरिष्ट आध्यात्मिक हैं। दूसरे प्राणियों के बारे में अरिष्ट आधिभौतिक हैं। आकाश, ग्रह, नक्षत्रादि के बारे में अरिष्ट आधिदैविक हैं। गुरुजी ने स्वामी दयानन्द को लगभग एक सौ प्रकार के अरिष्टों के बारे में जानकारी दी थी-

## विशेष-विशेष अरिष्टों के नमूने

(१) दृष्टि ऊपर हो गई, सुस्थिर नहीं है, रक्त वर्ण हो गई, परिवर्तित हो गई है, मुख के अन्दर उष्मा नष्ट हो गई है या नाडी ठण्डी हो गई है। इन सब लक्षणों से मालूम होता है कि मृत्यु अतिनिकट है। साधारणतः कठिन रोगियों में ये लक्षण आ जाते हैं।

(२) जिसका देहस्थ वायु स्तम्भित हो गया है। मर्म-स्थान छिन्न-भिन्न हो गये हैं। जल-स्पर्श असहनीय मालूम होता है, तब उसकी मृत्यु आगत है, यह समझना चाहिए।

(३) आसन्न मृत्यु व्यक्ति अरुन्धती (जिह्वा), ध्रुव (नासाग्र), विष्णुपद (भ्रूमध्य) और मातृ-मण्डल (आँखों के मोती) को नहीं देख सकते हैं और उत्तराकाश की अरुन्धती और ध्रुव नक्षत्र को भी नहीं देख पाते हैं।

(४) श्वास वायु यदि नासापथ छोड़कर मुख से निकलता हो- यह भी रोगी की निकट मृत्यु का लक्षण है।

---

२०२- **''सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संगमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा''** - **योगदर्शन** (३/२२)

(५) नासिका बैठ गई है, कान नीचे झूल गए हैं, बायीं आँख से आँसू निकल रहे हैं, ये भी आसन्न मृत्यु के लक्षण हैं।

(६) दस दिन तक नासा के दोनों रन्ध्रों से या रवि नाड़ी से श्वास समान रूप से प्रवाहित हो तो डेढ़ महीने में ही मृत्यु होने वाली है और जब रवि या सूर्य नाड़ी दक्षिण में और चन्द्र नाड़ी वाम में हो, तो भी।

(७) दो दिन तक रवि नाड़ी से श्वास प्रवाहित होना भी एक वर्ष के अन्दर मृत्यु की सूचना देता है।

(८) एक अहोरात्र वाम नासिका से श्वास प्रवाहित होने से आयु तीन वर्षों के अन्दर समाप्त होती है।

(९) स्वभाव के वैपरीत्य और शरीर के विपर्यय आने से मृत्यु निकट है- ऐसा समझना चाहिए।

(१०) जो दीप-निर्वाण का गन्ध नहीं पाता है। रात को आग देखने से डर जाता है, दूसरे की आँखों में अपना प्रतिबिम्ब नहीं पाता है- उसकी मृत्यु भी सन्निकट है।

(११) जो कर्ण-द्वय में चाप देने (दोनों हाथ रखने) से भीतर के शब्द नहीं सुन पाता है और आँखों पर चाप देने से भी चाक्षुष ज्योति को नहीं देख सकता है, उसकी मृत्यु भी निकट है।

(१२) स्नान करने के साथ-साथ जिसकी छाती में पानी तुरन्त सूख जाता है, वह केवल दस दिन और जीवित रहेगा- यह समझना चाहिए।

(१३) कपोत, रक्तपाद पक्षी, गृध्र, काक, उलूक या कोई दूसरा माँसाहारी पक्षी शिर पर गिरता हो तो यह भी आसन्न मृत्यु की सूचना है [२०३]।

(१४) कोई कारण मालूम नहीं है लेकिन कृश व्यक्ति स्थूल हो रहा है और स्थूल व्यक्ति कृश हो रहा है- यह भी आसन्न मृत्यु का ही लक्षण है।

(१५) जो व्यक्ति मूत्र या मल रक्त वर्ण या शुभ्र वर्ण पानी बमन करता हो या उस प्रकार वमन के स्वप्न भी देखता हो तो यह भी आसन्न मृत्यु का सूचक है।

(१६) जो आकाश में छाया-पथ, ध्रुव नक्षत्र, शुक्र ग्रह या अरुन्धती को नहीं देख पाता है, वह एक वर्ष से अधिक काल जीवित नहीं रहता है।

(१७) जो सूर्य मण्डल को किरण माला से परिव्याप्त नहीं देखता है या अग्नि को सूर्यवत् देखता है, उसकी मृत्यु एकादश मास के अन्दर होती है।

गुरुओं द्वारा वर्णित इन सब अरिष्ट-लक्षणों में कुछ कुसंस्कार और रूढ़ियाँ भी सम्मिलित हैं- ऐसा प्रतीत होता है [२०४]।

**योगबल से देहत्याग**- योगी लोग अरिष्ट लक्षणों को देखकर ही समाधि-बल से देहत्याग के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी का नाम इच्छा-मृत्यु है। धार्मिक ब्राह्मण लोग योगासन में बैठे हुए देह को छोड़ना चाहते हैं [२०५]। वीर, धार्मिक क्षत्रिय योद्धा लोग युद्ध-भूमि में आसन्न और अनिवार्य मृत्यु को समझ कर ही समाधि-योग से देह को छोड़ देते हैं। क्षत्रिय राजा

२०३- यह रूढ़िमात्र ही है। काक के मेरे शिर पर १९८७ ई० में झपटने से भी मेरी अब तक मृत्यु नहीं हुई। - *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

२०४- स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित ये अरिष्ट उनके गुरुओं द्वारा प्रदत्त उपदेश के रूप में हैं, जिनमें से कुछ को उन्होंने बाद में विस्तृत अध्ययन एवं विचारों के परिपक्व हो जाने पर अमान्य कर दिया था।

२०५- इसी इच्छा मृत्यु का वरण स्वयं स्वामी दयानन्द ने दीपावली सं० १९४० वि० के दिन 'ईश्वर तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो-अहा! तैने अच्छी लीला की।' कहते हुए अजमेर में किया था।

लोग राज्यभार से मुक्त होकर महाप्रस्थान में चले जाते हैं और निर्जन वनप्रदेशों में तपस्या के बाद योगबल से देहों को छोड़ देते हैं। साधारण गृहस्थ लोग व्याधियों से प्रपीड़ित होकर या दुर्घटनाओं से आसन्न मृत्यु समझ कर उसी प्रणाली से देह को छोड़ना चाहते हैं। जो लोग इस प्रणाली को नहीं जानते वे भगवान् के स्वरूप-चिन्तन, भगवान के नाम या मन्त्र का जप करते हुए देहों को छोड़ देते हैं। बाकी दूसरे लोग मुह्यमान या अचेतन होकर देहों को छोड़ते हैं।

रामायण, महाभारत और पुराणों में इस प्रकार से देह छोड़ने का बहुत उल्लेख है। युद्ध भूमि में भीष्म, द्रोण और भूरिश्रवा का योग-बल से देह छोड़ने को तैयार होना आदि इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। प्राचीनकाल में 'किस रूप से मृत्यु होना चाहिये' इसके बारे में शिक्षा-प्रचलित थी। आज कल इच्छा-मृत्यु की शिक्षा अप्रचलित और बन्द हो गई है। आज भी कोई-कोई योगी मृत्यु से बहुत पहले ही मृत्यु के लिए तैयार हो जाते हैं। आबू-शैल में स्वामी दयानन्द ने भी पाँच योगियों को मृत्यु के लिए प्रस्तुत हुआ देखा था और दो योगियों के योगासन पर ही देहत्याग को भी देखा था।

इस उद्देश्य से योगी लोगों के लिए निर्जन पर्वत गुहा, वन-प्रदेश, भू-विबर या उपद्रव शून्य स्थान देहत्याग की स्थिति के अनुकूल हैं। पर्वत गह्वर या भू-विवरों में उष्णता और शैत्य की दृष्टि से वायु सर्वदा परिवर्तनशील नहीं है। शरीर और मन की स्थिति वायु-प्रवाह के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती है। भू-विवर आत्मरक्षा और योग-साधना के लिए सर्वोत्तम हैं। इच्छा-मृत्यु भी वहाँ सुगम है।

कुम्भक के बल से या वायु की वेग वृद्धि से योगी समाहित या बाह्य-ज्ञान-शून्य हो जाते हैं। उस समय लगातार कुम्भक करने से समाधि आ जाती है। बाहर की संज्ञा उनकी लुप्त हो जाती है। निःश्वसित वायु को पुनः-पुनः ग्रहण करने से भी अचैतन्य-अवस्था आ सकती है। क्षुत्-पिपासा, सुख-दुःख वर्जित रहते हुये इसी स्थिति में योगी देह को छोड़ सकते हैं। योगी यह ध्यान रखते हैं कि बद्धवायु देह को प्रभावित नहीं कर सके। शरीर से परित्यक्त विष-वायु को अतिद्रुत बार-बार ग्रहण करने से भी योगी को अतिशीघ्र अचैतन्य अवस्था आ सकती है। ठीक मृत्यु के समय देखा जाता है कि योगी को चेतना आ गई है। अपनी इच्छा से वे प्राणों को देह से निकाल देते हैं। मृत्यु से योगी को शारीरिक या मानसिक कष्ट नहीं होता है। मृत्यु योगी के वश में आ जाती है। देह छोड़ते समय योगी को अपार आनन्द मिलता है [२०६]।

योगी योग-बल से इस प्रणाली के द्वारा प्राणायाम के कला-कौशल के साथ देह-त्याग करते हैं। आबूशैल में स्वामी दयानन्द के समाधि-योग-शिक्षा के गुरु स्वामी मोक्षानन्द महाराज ने उनके सम्मुख इसी प्रकार से ही देह को छोड़ दिया था।

**योगबल से देह-त्याग आत्म-हत्या नहीं है**- योग-बल से देह-त्याग करने से योगी को आत्महत्या का पाप लगता है वा नहीं, यह प्रश्न भी मेरे पास आया है। पहली बात तो यह है कि आत्मा की हत्या होती ही नहीं। आत्मा अमर है। मनो-विकार के कारण अपने जीवन के गुरुतर कर्तव्य-भार से बचने के लिए या किसी मानसिक विकार या दुर्बलता के कारण देह छोड़ने की चेष्टा या देह को छोड़ना-यह तो पाप अवश्य है। लेकिन देह से जो कुछ पूरा करना था सबका सब पूरा करके या महत्तर उद्देश्य-सिद्धि के लिये पूर्ण वैराग्य के साथ परमगति लाभार्थ देह को समाधि योग से छोड़ने की आप्त-पुरुषों ने निन्दा नहीं की है, बल्कि प्रशंसा ही की है। आप्त-पुरुषों के आचार या वाक्य ही हमारे लिये प्रमाण हैं। श्रुति या स्मृति भी इसकी विरोधी नहीं है।

**मनोबल-लाभ**- पतञ्जलि ने कहा है कि सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्री-भावना, दुःखी व्यक्तियों के प्रति करुणा-भावना, पुण्यवान् व्यक्तियों के प्रति आनन्द-भावना और पापी व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा-भावना रखने से अत्यधिक बल-लाभ होता

---

२०६- स्वामी दयानन्द के अन्त समय में भी ऐसा ही घटा होने से उनका महान योगी होना सिद्ध हो जाता है।

है [२०७]। इन चारों भावनाओं के प्रति संयम का प्रयोग करने से मैत्री-बल, करुणा-बल, आनन्द-बल और उपेक्षा-बल के लाभ होते हैं। इन चारों बलों से योगी जगद्वासी सर्व प्राणियों के हृदयों का जय कर सकते हैं। योगी प्राणियों के सुख-दाता सहृदय मित्र बनते हैं और इच्छा-मात्र से ही प्राणियों के मुख्य-मुख्य दुःखों को दूर कर सकते हैं। इन भावनाओं की संयम-सिद्धि से मन में असीम बल का सञ्चार होता है। पाप से मन दुर्बल होता है। जिसके मन में पाप है उसके देह में बल रहने पर भी मन दुर्बल रहता है। जिसके मन में पाप नहीं है, वह कभी कहीं से और किसी से भी भीत नहीं होता है, वह सर्वदा निर्भय रहता है। मन में दुर्बलता रहने से मन में शान्ति भी नहीं रहती है। मन सदा ही अशान्ति से पूर्ण रहता है। मन में राग, द्वेष, हिंसादि नीच भावनायें रहने से मन कभी सुख को प्राप्त नहीं होता है। मन की इन नीच भावनाओं को दूर करने के लिए योगी मैत्री, करुणा और मुदिता, भावनाओं पर संयम के प्रयोग करते हैं। कोई-कोई योगी उपेक्षा पर संयम नहीं करते हैं क्योंकि उपेक्षा भावना का विषय बन ही नहीं सकता। मनुष्य जिस विषय के सम्पर्क में रहेगा उसका चित्त उसमें ही अभ्यस्त हो जाएगा और उस विषय में रहना ही उसको अच्छा लगेगा। सर्वदा सत् चिन्ता, सदिच्छा को चित्त में रखने से चित्त सत् हो जाता है और असत् चिन्ता और असदिच्छा चित्त में उठती ही नहीं। इसलिए योगी मैत्री आदि सद्भावनाओं पर संयम प्रयोग करके चित्त को सत्, शुभ और पवित्र बना लेते हैं और मन को असीम बल का अधिकारी कर लेते हैं।

**शारीरिक बल-लाभ**- पतञ्जलि ने कहा है कि योगी हस्ती, व्याघ्र, सिंह, अश्व, वायु आदि बलशाली सत्त्वों के बलों पर संयम के प्रयोग करके, चित्त को तन्मय भावों से परिपूरित करके उन-उन बलिष्ठ तत्त्वों के बलों से शरीर को बलवान् करते हैं [२०८]। शरीर में बल नहीं रहता है, चित्त का बल ही बल है। चित्त के बल से ही शरीर बलवान् होता है और बल-साध्य कर्म करता है। यदि योग-बल से चित्त में बलशाली सत्त्वों के बल को आहरण किया जाए तो बलहीन भी बलशाली बन जाता है, इसमें सन्देह नहीं है।

**दिव्य-चक्षु-लाभ**- पतञ्जलि ने कहा है कि ज्योतिष्मती प्रवृति रूप आलोक को (अन्तःकरण के सार-स्वरूप सात्त्विक प्रकाश को) यदि सूक्ष्म, व्यवहित (अन्तरालवर्ती व्यवधानयुक्त), और विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) वस्तुओं में संयम प्रयोग किया जाय तो वे सूक्ष्म, व्यवहित या विप्रकृष्ट वस्तुएँ यथार्थरूप से प्रकाशित (ज्ञान) हो जाएँगी [२०९]। चक्षुओं की दृष्टि से जैसे वस्तु प्रकाशित है वैसे ही ज्योतिष्मती प्रवृत्ति से या सात्त्विक आलोक से चक्षुओं की दृष्टि से अन्तर्हित वस्तुएँ भी प्रकाशित होती हैं। अतिसूक्ष्म परमाणु आदि क्षुद्र वस्तु, भूमध्यस्थ या अन्तरालवर्ती गुप्त वस्तु या अति दूरवर्ती वस्तुओं में भी इस अन्तःकरणस्थ, अनन्य साधारण ज्ञानशक्ति यानी ज्योतिष्मती आलोक के प्रयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इसी का नाम कभी-कभी योगी लोग 'दिव्य चक्षु' बताते हैं [२१०]।

**जगत् चक्र का ज्ञान-लाभ**- पतञ्जलि ने कहा है कि सूर्य में संयम का प्रयोग करने से चतुर्दश भुवनों का ज्ञान होता है [२११]। चन्द्र में संयम प्रयोग करने से ताराओं में गुच्छाकार में अवस्थिति सम्बन्ध में ज्ञान होता है [२१२] और ध्रुव नक्षत्र में संयम प्रयोग करने से ताराओं की गति का ज्ञान होता है [२१३]। इन सब सिद्धियों को योगी लोग बाह्य-सिद्धि कहते हैं। इसके

२०७- **''मैत्र्यादिषु बलानि''** -**योगदर्शन** (३/२३)
२०८- **''बलेषु हस्तिबलादीनि''** -**योगदर्शन** (३/२४)
२०९- **''प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्''** -**योगदर्शन** (३/२५)
२१०- स्वामी दयानन्द को यह दिव्य-दृष्टि प्राप्त थी, ऐसा उनके जीवन की अनेक घटनाओं से प्रतीत होता है।
२११- **''भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्''** -**योगदर्शन** (३/२६)
२१२- **''चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्''** -**योगदर्शन** (३/२७)
२१३- **''ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्''** -**योगदर्शन** (३/२८)

पश्चात् अध्यात्म-सिद्धि के बारे में भी पतञ्जलि ने कहा है।

**शरीर तत्त्व का ज्ञान-लाभ**- पतञ्जलि ने कहा है कि नाभि-चक्र में संयम के प्रयोग करने से काय-व्यूह अर्थात् शारीरिक संस्थान का ज्ञान लाभ होता है[२१४]। शरीर में जहाँ जो कुछ है सबका सब मालूम हो जाता है। यथा-**त्रिगुण**-सत्त्व, रज: और तम:; **त्रिदोष**-वायु, पित्त और श्लेष्मा; **त्रिदेह**-स्थूल, सूक्ष्म और कारण; **त्रिताप**-आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक; **त्रि-स्थिति**-उत्तम, मध्यम और अधम; **त्रि-गति**-ऊर्ध्व, मध्य और अध:; **चार स्थिति**-जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य; **चार अवस्था**-जन्म, वृद्धि, स्थिति और क्षय; **चार काल**-बाल्य, यौवन, जरा और वार्द्धक्य; **चार अन्त:करण**-मन:, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार; **चतुर्वर्ग**-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; **पञ्च-भूत**-क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम; **पञ्च तन्मात्रायें**-रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध; **पञ्च ज्ञानेन्द्रिय**-चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्; **पञ्च कर्मेन्द्रिय**-वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ; **पञ्च प्राण**-प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान; **पञ्च कोश**-अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय; **छ: रिपु**-काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य; **षट्चक्र**-स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार; **सप्त-धातु**-त्वक्, रक्त, माँस, स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र या रज:; **अष्ट-योगाङ्ग**-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि; **नव द्वार**-दो चक्षु, दो नासा रन्ध्र, दो कर्ण रन्ध्र, मुख, मलद्वार और मूत्र द्वार; **दशेन्द्रिय**-पंच कर्मेन्द्रिय और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय; **दश प्राण**- प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय; **एका-दशेन्द्रिय**-पंच ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मानसेन्द्रिय।

इसके उपरान्त यह ज्ञान भी मिलता है कि मानव-शरीर में अस्थि संख्या ३६०, ग्रन्थि २१०, स्नायु ९००, पेशी ५०० (लेकिन स्त्रियों की ५२०), शिरा असंख्य (लेकिन प्रधान शिरा ७००), रोम-केशादि ३२ लाख से ऊपर, भुक्त अन्न के परिपाक से उत्पन्न रस ५ अञ्जलि, रक्त ८ अञ्जलि, जलीय भाग १० अञ्जलि, पुरीष ७ अञ्जलि, श्लेष्मा ६ अञ्जलि, पित्त ५ अञ्जलि, मूत्र ४ अञ्जलि, वसा (माँस का सार) ३ अञ्जलि, मेद: (सूक्ष्मास्थियों में रक्तवर्ण पदार्थ) ३ अञ्जलि, मज्जा (स्थूलास्थियों में तैलवत् पदार्थ) १ अञ्जलि, मस्तिष्क अर्धांजलि, रेत: अर्धांजलि हैं। अञ्जलि शब्द का अर्थ यहाँ अर्ध सेर है। १२ अञ्जलि रक्त से अर्धांजलि मात्र शुक्र उत्पन्न होता है। यह सब का सब ज्ञान नाभि-चक्र में संयम के प्रयोग करने से अति सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में मिलता है।

**क्षुधा और तृष्णा पर जयलाभ**-पतञ्जलि ने कहा है कि जिह्वा-तन्तु के मूल स्थान में अर्थात् गले गह्वर में कण्ठ नामक जो कूपाकार स्थान है, जहाँ प्राण-वायु के संघर्ष होने से क्षुधा और तृष्णा का अनुभव होता है, वहाँ संयम के प्रयोग करने से क्षुधा या तृष्णा कुछ भी नहीं रहती है[२१५]। योगी लोग समाहित होकर सुदीर्घ काल तक रहते हैं। इस प्रक्रिया की सहायता से वे आहार और पानीय वर्जित होकर रह सकते हैं, और शरीर भी नष्ट नहीं होता है। स्वामी दयानन्द के अनुभव में भी यह थी।

**शरीर और मन की स्थिरता**-पतञ्जलि ने कहा है कि कण्ठ-कूप के नीचे वक्ष-प्रदेश में अत्यन्त दृढ़ा कूर्म नाम की नाड़ी है। उसमें संयम के प्रयोग करने से शरीर और मन की स्थिरता आ जाती है[२१६]। चित्त को कूर्म नाड़ी में प्रविष्ट रखकर योगी लोग सुदीर्घ काल तक शरीर और मन को स्थिर करते हैं और इसका अभ्यास हो जाने से शरीर और मन समाधि के अनुकूल बन जाते हैं।

---

२१४- **''नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्''** -**योगदर्शन** (३/२९)

२१५- **"कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्ति:"** -**योगदर्शन** (३/३०)

२१६- **''कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्''** -**योगदर्शन** (३/३१)

**सिद्ध पुरुषों के दर्शन–लाभ**–पतञ्जलि ने कहा है कि मूर्द्ध ज्योति में संयम का प्रयोग करने से सिद्ध पुरुषों का दर्शन मिलता है [२१७]। मस्तक कपाल के ठीक मध्य स्थान में ब्रह्म–रन्ध्र नाम का अतिसूक्ष्म छिद्र है, उसका नाम सुषुम्ना पथ भी है। सुषुम्ना नाड़ी से हृदय की सात्विक ज्योति या स्वच्छ बुद्धि–तत्त्व का प्रकाश वहाँ जाकर जमा होता है। उसी जमी हुई तेजोमयी, प्रकाशमयी, निर्मला मूर्द्ध–ज्योति में संयम का प्रयोग करने से सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है। स्वामी दयानन्द के गुरु जी ने उन्हें कहा था कि संयम–सिद्ध योगी लोग, अदृश्यचर और अन्तरिक्षवासी सिद्ध पुरुषों के दर्शन करते हैं और उनके साथ वार्तालाप भी करते हैं। पर स्वामी दयानन्द इस तत्त्व को अपने अनुभव में नहीं ला सके थे। दूसरी–दूसरी इन सब वर्णित विभूतियों के अन्दर की बहुत सी विभूतियाँ उनके अनुभव के अन्दर आ गई थीं। ज्ञान–दृष्टि से, ऋषि–मुनियों के ग्रन्थों के साधनों से हम सभी के दर्शन करते हैं, चर्म चक्षु से नहीं।

**प्रातिभ–ज्ञान से वस्तु–ज्ञान–लाभ**– प्रतिभा–प्रसूत ज्ञान का नाम प्रातिभ ज्ञान है। योगी लोग संयम के बिना ही प्रातिभ ज्ञान के द्वारा प्रकृति और प्राकृतिक वस्तुओं के ज्ञान का लाभ करते हैं। प्रातिभ ज्ञान पर संयम करके भी सब कुछ जान लेते हैं [२१८]। किसी घटना की सूचना से ही उसके साथ सम्बन्धित घटनाओं के बारे में मन के अन्दर झट जिस ज्ञान का आविर्भाव होता है उसी का नाम प्रातिभ ज्ञान है। तथ्य–विषयक ज्ञान का नाम भी प्रातिभ है और पूर्व जन्मों से सञ्चित ज्ञान का नाम भी प्रातिभ है। शास्त्रों में प्रातिभ ज्ञान के ''ऊह'' और ''तर्कणा'' नाम भी हैं। प्रातिभ ज्ञान पर संयम करके योगी लोग दूसरे प्रकार के तारक ज्ञान का लाभ करते हैं। जो ज्ञान संसार–तारक है उसी का नाम तारक ज्ञान है। जिस ज्ञान के द्वारा निस्तार मिलता है, जिससे संसार–समुद्र पार करना सम्भव होता है उसी का नाम तारक ज्ञान है। यह ज्ञान प्रसंख्यान नामक वैराग्य ज्ञान का अर्थात् प्रकृति पुरुष के भेद–ज्ञान का पूर्व रूप है उसी का नाम तारक ज्ञान या प्रातिभ ज्ञान है [२१९]। प्रातिभ ज्ञान दूसरे के उपदेश से नहीं होता है। उपदेश के बिना ही जो ज्ञान है वह भी प्रातिभ ज्ञान है।

**चित्तज्ञान–लाभ**– पतञ्जलि ने कहा है कि हृदय में संयम धारण करने से चित्त के बारे में ज्ञान का उदय होता है [२२०] अर्थात् अपने चित्त के संस्कार और दूसरे के चित्तस्थ अभिप्राय समझ में आते हैं। चित्त के ज्ञान से इस जीवन का और पूर्व जीवनों का सम्यक् परिचय मिल जाता है।

**आत्म–साक्षात्कार–लाभ**– बुद्धि और आत्मा सर्वथा भिन्न है। आत्मा बुद्धि नहीं है और बुद्धि भी आत्मा नहीं है। इन दोनों की भिन्नता का ज्ञान न होने के कारण सुख–दुःखादि भोगों को पुरुष यानी आत्मा अपना समझ लेता है। भोग दूसरे के हैं। पुरुष एक पदार्थ है और पुरुष का भोग दूसरा पदार्थ है। पतञ्जलि ने कहा है कि इस भेद–भाव या भिन्नता के प्रति संयम का प्रयोग करने से आत्म–साक्षात्कार यानी आत्म–ज्ञान–लाभ होता है [२२१]।

प्रकाशरूप सुखादि–स्वभाव बुद्धि नामक अन्तःकरण द्रव्य का दूसरा नाम सत्त्व है और उसके चेतयिता चैतन्य पदार्थ का नाम पुरुष है। सत्त्व और पुरुष एक नहीं हैं, भिन्न हैं। लेकिन इन दोनों पदार्थों की भिन्नता मामूली ज्ञान से या बोध से मालूम नहीं होती है। इसलिए ही सुख–दुःखादि का भोग होता है। बुद्धि सत्त्व ही भिन्न–भिन्न आकारों में परिणत होता है। पुरुष उसी में प्रतिबिम्बित होता है। इसलिए बुद्धि के भिन्न–भिन्न परिणाम भी पुरुषवत् प्रतीयमान होते हैं अर्थात् चैतन्य

---

२१७– **''मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्''** –**योगदर्शन** (३/३२)
२१८– **''प्रातिभाद्वा सर्वम्''** –**योगदर्शन** (३/३३)
२१९– **''तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्''** –**योगदर्शन** (३/५४)
२२०– **''हृदये चित्तसंवित्''** –**योगदर्शन** (३/३४)
२२१– **''सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थ– संयमात्पुरुषज्ञानम्''** –**योगदर्शन** (३/३५)

तुल्य या चैतन्याकार प्राप्त होते हैं। ऐसे ही चैतन्य-प्रतिबिम्बित बुद्धि वृत्ति भी चैतन्य-तुल्य या चैतन्याकार जानी जाती है।

इस तरह के अभेद या तुल्याकार प्राप्त होने का नाम भोग है। यह भोग बुद्धि का ही परिणाम है, बुद्धि का ही धर्म है। लेकिन पर अर्थात् पुरुष उसका निमित्त कारण है। इसलिए यह भोग पुरुषार्थ नहीं है। यह है परार्थ। इस भोग नामक परार्थ-प्रत्यय के अतिरिक्त दूसरा एक स्वार्थ-प्रत्यय है। सत्व या बुद्धि-तत्व जब कर्तृभाव को छोड़कर अर्थात् ''मैं, मेरा'' आदि आकारों में परिणत न होकर केवल मात्र आत्म चैतन्य से व्याप्त रहता है, निर्मल निस्तरङ्ग, निर्विकार बुद्धि-सत्व में जब केवल मात्र चैतन्य का ही प्रतिबिम्ब विराजित रहता है तब उसको आत्मावलम्बन या स्वार्थ प्रत्यय कहा जा सकता है। योगी लोग उस आत्मावलम्बन में या तादृश स्वार्थ प्रत्यय में संयम का प्रयोग करके पुरुष-विषयक ज्ञान या आत्म-साक्षात्कार या आत्मदर्शन लाभ करते हैं।

भोग पुरुष का बन्धन है। भोग से पुरुष की आत्म-स्मृति नष्ट हो जाती है। पुरुष अपनी स्वतन्त्रता को भूल जाता है। पुरुष तब अपने को प्रकृति से अभिन्न समझ लेता है। पुरुष तब समझ लेता है-''मैं शरीर हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ, मैं मन हूँ, मैं बुद्धि हूँ''आदि-अदि। पुरुष जब-जब भोग में आसक्त रहता है तब-तब स्वात्म बोध नहीं रहता है। भोग की आसक्ति छोड़ने से, भोगों से विरत होने से पुरुष को प्रकृति से भिन्नता का प्रत्यय आ जाता है। पुरुष तब अपनी भूल को समझ सकते हैं और इस शुद्ध भाव पर संयम के प्रयोग करके आत्म-स्वरूप की उपलब्धि करते हैं। पुरुष तब दृष्ट स्वरूप होते हैं। प्रकृति तब दृश्य मात्र है और पुरुष साक्षिमात्र है। द्रष्टा और दृश्य का अभिन्न प्रत्यय ही संसार, भोग या बन्धन है और भिन्न प्रत्यय ही मुक्ति, मोक्ष या कैवल्य है।

बुद्धि के अन्दर तीन गुण हैं- सत्व, रज: और तम:। जब रज: गुण की चञ्चलता को और तम: गुण के मोहावरण को अभिभूत करके सत्व गुण अत्यन्त प्रकाशशील होता है तब इसका नाम विवेक प्रत्यय है। यह बुद्धि का चरम सात्विक परिणाम है। विवेक प्रत्यय आत्मदर्शन का सहायक है। आत्मदर्शन से ही मुक्ति होती है। मुक्ति ही मानव-देहधारी आत्मा का चरम लक्ष्य है।

**दिव्य ज्ञान-लाभ**- पतञ्जलि ने कहा है कि उस आत्म-दर्शन से पहले विविध सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं। प्रथमत: प्रातिभ-ज्ञान का उदय होता है। प्रातिभ-ज्ञान के बारे में पहले भी कहा गया है। प्रातिभ-ज्ञान के द्वारा सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट (अतिदूरस्थ) और भूत, भविष्यत्, वर्तमान-सब कुछ जाना जाता है। इसके बाद अद्भुत श्रवण-शक्ति का जन्म होता है। इसके प्रभाव से योगी लोग दिव्य शब्द को सुन सकते हैं। स्पर्श-ज्ञान का नाम वेदना है। योगियों का यह वेदना-ज्ञान इतना अधिक और उत्कृष्ट होता है कि ये लोग दिव्य-स्पर्श भी ग्रहण कर सकते हैं। चाक्षुष-ज्ञान का नाम आदर्श या दर्शन है। यह दर्शन-शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि इच्छा करने से ही योगी लोग इससे दिव्य रूप दर्शन कर सकते हैं। रसनाज्ञान का नाम स्वाद या आस्वादन है। यह इतना प्रबल हो जाता है कि योगी लोग इसके द्वारा दिव्य रस-समूह का आस्वादन ले सकते हैं। गन्ध-ज्ञान का नाम वार्ता और संवित्ति है। यह इतनी बढ़ जाती है कि योगी लोग दिव्य गन्धों का अनुभव कर सकते हैं[२२२]।

बुद्धि से आत्मा भिन्न है यह भिन्नता का ज्ञान आता है। पहले इन्द्रियों से केवल स्थूल विषयों का ज्ञान होता था। अब इन्द्रियगण के मलिनता-हीन होने से सूक्ष्म-ज्ञान का आविर्भाव होता है। जब तक मन के अन्दर हिंसा-द्वेषादि अपवित्र मलिन भाव रहेंगे तब तक बुद्धि की विचार-शक्ति और मन की चिन्तन-शक्ति विशुद्ध नहीं होगी। बुद्धि मलिन होने से उसके

---

२२२- **''तत: प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते''** -**योगदर्शन** (३/३६)

अधीन मन और दूसरे इन्द्रियादि भी (मलिन) रहते हैं। यमनियमादि योगांगों के पालन से बुद्धि, मन और इन्द्रियादि निर्मल और शुद्ध होते हैं। तब इनके अन्दर प्रकृष्ट सूक्ष्म ज्ञान और सूक्ष्म-दर्शनादि शक्तियों का जन्म होता है।

**समाधि के विघ्न और उपसर्ग**-इन सब सूक्ष्म दर्शनों का नाम सिद्धि है। व्युत्थान के समय अर्थात् भोगकाल में यह सब सिद्धियाँ हैं, लेकिन ये सब समाधि के परमशत्रु हैं[२२३]। नियमानुसार साधना करने से हर एक साधक कुछ न कुछ सिद्धिलाभ करते हैं। अधम साधक इस प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करके अपने को कृत कार्य समझ लेते हैं और केवल सिद्धि-भोग में ही उन्मत्त हो जाते हैं। वे लोग कैवल्य को प्राप्त नहीं होते हैं। लेकिन इन सब सिद्धियों को अति तुच्छ समझ कर जो साधक इनके प्रति ध्यान न देकर साधना और समाधि के प्रति ही अग्रसर होते हैं वे साधक ही कैवल्य, मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त होते हैं। क्योंकि स्थूल विषय जैसे बन्धन हैं, सूक्ष्म विषय भी वैसे ही बन्धन हैं। जब समाधि का उत्कर्ष प्राप्त होता है। तब ये सब सिद्धियाँ परम विघ्न और उपसर्ग भासती हैं। ये सब उपस्थित होने से मोक्ष-दायक समाधि दृढ़ नहीं रहती है। ये सब सिद्धियाँ समाधि की परमशत्रु हैं। असमाधि के समय ये सब उपद्रव, उपसर्ग और विघ्न हैं। कैवल्य-लाभेच्छु योगियों को इन सब सिद्धियों से सावधान रहना चाहिए।

**पर-शरीर में प्रवेश**-पतञ्जलि का कहना है कि जिस कारण से चित्त एकमात्र इस शरीर में ही आबद्ध है, उस कारण को हटा देने से अर्थात् चित्त के बन्धन को ढीला कर देने से और चित्त के प्रचार-स्थान (शरीरस्थ नाड़ी समूह) को जानने से चित्त को योगी दूसरे के शरीर में प्रविष्ट कर सकता है[२२४]। सर्वत्र गमन करना उसका स्वभाव है। कर्म अर्थात् धर्माधर्म के कारण से ही ऐसा सर्वगामी चित्त केवलमात्र एक ही निर्दिष्ट शरीर से बँधा हुआ है। सर्वगामी चित्त केवल मात्र अपने उपार्जित कर्मों में फँसकर ही असर्वगामी बन गया है। संयम या समाधि के द्वारा चित्त-बन्धन धर्माधर्मों को अगर शिथिल कर दिया जाय तो चित्त अपने स्वभाव सर्वगामित्व की स्वाधीन शक्ति को प्राप्त होता है।

इसके साथ ही चित्त के संचरणमार्ग अर्थात् गतिविधि के पथ को अच्छी तरह जानना चाहिए। चित्त और प्राण कब कौन से रास्ते अर्थात् कौन-कौन सी नाड़ियों से किस प्रकार संचरण करता है किसी योगवित् से अच्छी तरह जानना चाहिए। यदि संचरणमार्ग जाना हुआ रहे तो इसको निश्चित रूप से इच्छानुसार स्थानों में प्रेरित किया जा सकता है।

योगी लोग सबसे पहले संयम के प्रयोग से चित्त के बन्धन को शिथिल कर देते हैं। चित्त, मन और प्राणों के संचरण के पथ नाड़ी समूह को संयम के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जानकर योगी लोग उसे नाड़ी-पथ से बाहर निकाल कर इच्छानुसार दूसरे के शरीर में प्रवेश कराके उसमें अपने शरीर जैसे सुख-दुःखादि को अनुभव करते हैं। शरीर के सब ही इन्द्रिय चित्त के अनुगामी हैं। चित्त के दूसरे शरीर में प्रवेश करने से उसके साथ चित्त की अनुगामिनी सब इन्द्रिय भी उस शरीर में प्रविष्ट होती हैं। योगी अपने शरीर को छोड़कर दूसरे के शरीर में अपने मन, प्राण और इन्द्रियों को संस्थापित करके इच्छानुसार आहार-विहारादि कर सकते हैं[२२५]।

२२३- **''ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः''** -**योगदर्शन** (३/३७)

२२४- **''बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः''** -**योगदर्शन** (३/३८)

२२५- ''एक दिन कर्नल ने स्वामी जी से कहा कि उन्हें और मैडम को इस बात में शङ्का है कि स्वामी शङ्कराचार्य ने अपने आत्मा को एक राजा के शरीर में, जो उसी दिन मरा था, प्रविष्ट कर दिया था। स्वामी जी ने कहा कि यह विचित्र बात है कि मैडम के समान योगप्रवीण व्यक्ति को इस विषय में सन्देह हो। उन्होंने फिर कहा कि मैं प्रथम कोटि का योगी नहीं हूँ, केवल मध्यम कोटि का हूँ। परन्तु मैं अपनी चेतनशक्ति को शरीर में किसी भी भाग में केन्द्रित कर सकता हूँ। तो यह सम्भव है कि एक उच्च कोटि का योगी इससे एक पग आगे बढ़कर अपने आत्मा को दूसरे शरीर में प्रविष्ट कर सके।'' - **महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र** (भाग-२, पृष्ठ २४६-२४७)

**इच्छा–मृत्यु और शरीर की लघुता**–पतञ्जलि का कहना है कि प्राणों के उदान कार्य को अपने अधीन करने से जल, कर्दम, कण्टकादि के ऊपर से यातायात भी सुगम होता है और मृत्यु भी इच्छानुसार होती है [२२६]।

शरीर के इन्द्रिय गण दो प्रकार के कार्य करते हैं-बाहर के कार्य और भीतर के कार्य। रूप–रसादि का ग्रहण बाहर के कार्य हैं और जीवन को अक्षत रखना ीतर के कार्य हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपना विशेष कार्य करती है और सब इन्द्रियाँ मिलकर एक साधारण कार्य भी करती हैं। सब इन्द्रियाँ सम्मिलित रूप से आभ्यन्तरीण कार्य–विशेष जीवन धारण नामक विशिष्ट कार्य का निर्वाह कर रही हैं। जीवनकार्य इन्द्रिय–समष्टि की क्रियासमष्टि मात्र ही है। पृथक्–पृथक् इन्द्रिय के द्वारा जो पृथक्–पृथक् कार्य होते हैं, उन सबके पृथक्–पृथक् नाम भी हैं।

इनमें जिस क्रिया के द्वारा हृदय से मुख–नासिका तक श्वास–प्रश्वास वायु की क्रिया साधित होती है, उसी क्रिया का नाम ''प्राण'' है। जिस क्रिया के द्वारा परिचालक वायु नाभि से पादाङ्गुलितक रस रक्तादि को वहन करके परिव्याप्त करता है, उसी क्रिया का नाम ''अपान'' है। जो क्रिया नाभि–देश को वेष्टन करके भुक्त वस्तुओं के परिपाक मलमूत्रादि के पृथक्करण और रक्तादि का उत्पादन करके यथास्थान ले जाती है, उसी का नाम ''समान'' है। जो क्रिया ग्रीवा से मस्तक–चूड़ा तक सब दैहिक उपादानों को ऊपर की ओर धारण करके स्थिर है, उसी क्रिया का नाम ''उदान'' है। जो क्रिया सर्व शरीर की शिराओं में संचरण करके बल–रक्षा करती है, उसी का नाम ''व्यान'' है।

इन सब इन्द्रिय–क्रियाओं के अन्दर अर्थात् प्राण–पंचक के अन्दर जिस क्रिया का नाम ''उदान'' है, उस पर संयम का प्रयोग करके उसको अपने अधीन करने से दूसरी क्रियाओं के अवरोध हेतु उद्गत–स्वभाव ''उदान'' अत्यन्त प्रबल होता है और सम्पूर्ण शरीर अत्यन्त हलका हो जाता है। इसलिए योगी 'उदान' पर संयम–धारण करके जल, पंक, कंटक किसी में भी नहीं धसते। इस 'उदान' जय नामक क्रिया का योगी आसन पर बैठे हुए अभ्यास करते हैं और शरीर हलका होने के कारण आसन से ऊपर शून्य में भासमानवत् उठ जाते हैं और कभी–कभी बैठे हुए शून्य में घूमते हैं [२२७]।

पृथ्वी हमारे शरीर को सर्वदा नीचे की ओर आकर्षित करती है। जिस क्रिया की सहायता से चलने के समय हम लोग शरीर को उठा सकते हैं वह 'उदान' ही है। 'उदान' से ही हम लोग पृथ्वी से पैर को ऊपर उठा सकते हैं। 'उदान' से शरीर अत्यन्त लघु होता है। योगी जल के ऊपर चल सकते हैं और कण्टकों के ऊपर बैठ और शयन भी कर सकते हैं [२२८]।

२२६– **''उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च''** –**योगदर्शन** (३/३९)

२२७– ''एक जन भगवानदास को महाराज की योगक्रिया देखने की बड़ी इच्छा थी। एक दिन उसने छिपकर देखा (जब वह उषाकाल में ध्यानावस्थित थे) कि महाराज भूमि से छः इन्च ऊपर शून्य में स्थित हैं।''

– **महर्षि दयानन्द का जीवन–चरित्र** (भाग–२, पृष्ठ २१०)

''पण्डित ठाकुरप्रसाद जी के हृदय में स्वामी जी की योगमुद्रा देखने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। एक दिन स्वामी जी के सेवकों को पूछकर वे उस कुटिया के द्वार पर जा खड़े हुए जिसके भीतर श्री स्वामी जी ध्यानावस्थित थे। यद्यपि द्वार बन्द थे परन्तु किवाड़ों के छिद्रों में से महाराज की आकृति स्पष्ट दीख पड़ती थी। ठाकुरप्रसाद जी बहुत देर तक महाराज के दर्शन करते रहे। उन्होंने यह भी देखा कि महाराज का आसन धीरे–धीरे भूमि से ऊपर उठकर अधर में अवस्थित हो गया। उस समय उनकी मुद्रा की अद्भुत छवि थी। उनके मुखमण्डल पर एक प्रकाशमय चक्र बना हुआ था।''

– **श्रीमद्दयानन्द प्रकाश** (काशी काण्ड, आठवाँ सर्ग)

२२८– ''एक दिन अपने निवास के उद्यान से बहुत अन्तर पर सहजानन्द जी ने देखा कि स्वामी जी जल पर पद्मासन लगाए, योग मुद्रा में कमल दल की भाँति विराजमान हैं। गुरुदेव की इस मनोहर योग–मुद्रा ने उनके मन में एक गहरा भक्तिभाव उत्पन्न कर दिया। उस शान्त समय में, उस शून्य प्रदेश में, उस शान्त सरोवर के ऊपरी भाग पर वे प्रशान्तात्मा ऐसे सुन्दर

''उदान'' की सहायता से मृत्यु के समय अपनी इच्छा से प्राण को शरीर से निकाल सकते हैं। मृत्यु के कारण योगी को शारीरिक या मानसिक किसी तरह का कष्ट नहीं होता। आनन्द के साथ देह को विसर्जन कर सकते हैं। ये सबके सब ''उदान'' पर संयम के प्रयोग करने से सम्भव होता है।

**तेजोमय शरीर-लाभ**-पतञ्जलि ने कहा है कि ''समान'' वायु पर संयम के प्रयोग करने से तेजोमय शरीर लाभ होता है [२२९]। हम लोग जो कुछ भोजन करते हैं जठराग्नि उसको जीर्ण या परिपक्व कर देता है और समान-वायु उस परिपक्व या जीर्ण अन्नरस में समानता भी लाता है। शरीर में जहाँ जैसा आवश्यक है, वह वहाँ वैसे ही शरीर यन्त्र का परिपोषण करता है। प्रयोजन के अनुसार यह समान-वायु जठराग्नि को सर्व शरीर में भेज कर शरीर में उष्णता की सृष्टि करता है। इसलिए ही इसका नाम ''समान'' वायु है। इस समान वायु पर संयम का प्रयोग करने से अग्नि योगी के अपने वश में आ सकता है। योगी लोग तब इच्छानुसार शरीर को उज्जवल या तेजोमय कर सकता है और प्रयोजन आने पर अपने देह को उस योगाग्नि से भस्मीभूत भी कर सकता है।

कभी-कभी देखा जाता है कि मृत्तिका से एक तरह की उष्मा निकलती है। ठीक उसी तरह शरीर में भी ऐसी उष्मा विद्यमान है। वह मन और इन्द्रियों का क्रिया-प्रवाह या बहिःस्फुरण है। समान वायु पर जयलाभ होने से अर्थात् समान वायु पर संयम के प्रयोग करने से उस उष्मा का स्फुरण वृद्धि को प्राप्त होता है और परिशुद्ध होता है। साधारण मनुष्य उस योगी को तेजस्वी या अग्निमय रूप में अनुभव करते हैं।

**दिव्य श्रोत्र लाभ**-पतञ्जलि ने कहा है कि श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध पर संयम धारण करने से दिव्य श्रोत्र का लाभ होता है [२३०]। यह उपलक्षण से कहा गया है। इसी रूप से अन्यान्य इन्द्रियों में भी दिव्य गुण आ सकते हैं। शब्द-तन्मात्र से आकाश उत्पन्न हुआ है। शब्द-तन्मात्र के सात्त्विक अंश से ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र, राजसिक अंश से कर्मेन्द्रिय वाक् और तामसिक अंश से 'प्राण' उत्पन्न हुए हैं।

इसी प्रकार स्पर्श-तन्मात्र से उत्पन्न हुआ वायु और उस स्पर्श तन्मात्र के सात्त्विक अंश से ज्ञानेन्द्रिय त्वक्, राजसिक अंश से कर्मेन्द्रिय पाणि और तामसिक अंश से 'उदान' उत्पन्न हुये हैं।

इसी प्रकार रूप-तन्मात्र से तेज वा अग्नि उत्पन्न हुआ है। उस रूप तन्मात्र के सात्त्विक अंश से ज्ञानेन्द्रिय चक्षु, राजसिक अंश से कर्मेन्द्रिय पाद और तामसिक अंश से 'व्यान' उत्पन्न हुए हैं।

इसी प्रकार रस तन्मात्र से अप् उत्पन्न हुआ है। उस रस तन्मात्र के सात्विक अंश से ज्ञानेन्द्रिय रसना (जिह्वा), राजसिक अंश से कर्मेन्द्रिय पायु और तामसिक अंश से 'अपान' उत्पन्न हुए हैं।

इसी प्रकार गन्ध-तन्मात्र से पृथिवी उत्पन्न हुई है। उस गन्ध तन्मात्र के सात्विक अंश से ज्ञानेन्द्रिय नासिका, राजसिक अंश से कर्मेन्द्रिय उपस्थ और तामसिक अंश से 'समान' उत्पन्न हुए हैं।

इससे हम लोग समझ सकते हैं कि पञ्च-तन्मात्र से ही पाँचों भूत, पाँचों ज्ञानेन्द्रिय, पाँचों कर्मेन्द्रिय और पाँचों प्राणों की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार पञ्च तन्मात्र से पाँचों भूत, पाँचों ज्ञानेन्द्रिय, पाँचों कर्मेन्द्रिय और पाँचों प्राणों के अन्दर परस्पर

---

स्वरूप, ऐसे तप्त सुवर्ण-वर्ण और मनोहर दिखाई देते थे, मानो सागर में सूर्योदय हो रहा हो।''

– **श्रीमद्यानन्द प्रकाश** (राजस्थान काण्ड, तीसरा सर्ग)

इस घटना का उल्लेख '**महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र** (भाग-२, पृष्ठ ३०६)' पर भी मिलता है।

२२९- **''समानजयाज्ज्वलनम्''** – **योगदर्शन** (३/४०)

२३०- **''श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्''** – **योगदर्शन** (३/४१)

अति निकट सम्बन्ध है।

जितने विभिन्न जीव हैं सभी की श्रोत्रेन्द्रियों के साथ आकाश का संयोग है, स्पर्शेन्द्रियों के साथ वायु का, चक्षुरिन्द्रियों के साथ अग्नि का, रसनेन्द्रियों के साथ जल का और नासिकेन्द्रियों के साथ क्षिति का संयोग है। श्रोत्रेन्द्रियाँ बहुत हैं, लेकिन आकाश एक है। इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रियाँ बहुत हैं, लेकिन वायु एक है। चक्षुरिन्द्रियाँ बहुत हैं, लेकिन अग्नि एक है। रसनेन्द्रियाँ बहुत हैं, लेकिन जल एक है और नासिकेन्द्रियाँ बहुत हैं, लेकिन क्षिति एक है।

पाँच भूतों के साथ इन्द्रियों का आधार-आधेय सम्बन्ध है। योगी लोग इस तत्व को जान कर इन सब इन्द्रियों पर संयम का प्रयोग करके दिव्य अर्थात् अलौकिक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ग्रहण करते हैं। इन सब इन्द्रियों के स्थूल और सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने की उनमें शक्ति है। राग-द्वेषादि के द्वारा इन्द्रियगण मलिन और असंयत रहते हैं। इस स्थिति में सूक्ष्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ज्ञान नहीं आता। इन्द्रिय और पञ्चभूतों के सम्बन्ध पर संयम धारण करके योगी दिव्य-शक्ति लाभ करते हैं। जैसे चुम्बक लौह का सम्बन्ध है। चुम्बक लोहे का आकर्षण करता है, ऐसे ही विषय इन्द्रियों का आकर्षण करता है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों विषयों को ग्रहण करने की शक्ति इन्द्रियों की है। साधारण मनुष्य स्थूल विषयों का ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु योगी लोग सूक्ष्म विषयों का भी ग्रहण कर सकते हैं।

**दिव्य या अलौकिक शक्ति**- योगी शब्द-आकाश-श्रोत्र, स्पर्श-वायु-त्वक्, रूप-अग्नि-चक्षु, रस-जल-जिह्वा और गन्ध-क्षिति-नासिका- इनके परस्पर सम्बन्धों पर स्थिर चित्त से धारणा, ध्यान, समाधि अर्थात् संयम का प्रयोग करके दूरवर्ती और सूक्ष्म विषयों का ग्रहण कर सकते हैं[२३१]। ये लोग दूरवर्ती अन्तराल के और गुप्त स्थानों के दृश्य देख सकते हैं, बातचीत सुन सकते हैं, स्पर्श का अनुभव कर सकते हैं, गन्ध ग्रहण कर सकते हैं और खाद्य वस्तु का आस्वादन कर सकते हैं[२३२]। इसी शक्ति का नाम अतीन्द्रिय शक्ति और दिव्य-शक्ति या अलौकिक शक्ति भी है।

**आकाश भ्रमण**-पतञ्जलि ने लिखा है कि काया और आकाश में जो सम्बन्ध है उसके प्रति संयम का प्रयोग करने से योगी रुई जैसा हलका बन सकता है और ऐसा अल्प भार होने के कारण वह आकाश में आवागमन कर सकता है[२३३]। जहाँ शरीर है वहाँ ही आकाश है। आकाश इस भौतिक देह को रहने का अवकाश या स्थान दे रहा है। शरीर व्याप्य और आकाश व्यापक है। आकाश इस देह को अपने सब स्थानों में ही आश्रय दे सकता है। आकाश से वायु, अग्नि, जल और क्षिति की उत्पत्ति हुई है। काया के साथ इन सब ही का क्रमानुसार सम्बन्ध है। योगी लोग इस प्रकार के सम्बन्ध के प्रति संयम का प्रयोग करते हैं, जिससे वह सम्बन्ध उनके इच्छाधीन हो जाता है अर्थात् उस सम्बन्ध पर योगी का जय हो जाता है। काया को तब ये लोग रुई जैसी लघु भावना से अनुध्यान करते हैं और रुई से भी लघु वस्तु का ध्यान करने लगते हैं। तब संयम-बल से योगी का देह अत्यन्त लघु बन जाता है। तब ये लोग क्लेश के बिना ही आकाश में गमनागमन भ्रमणादि कर सकते हैं। यह आकाश-गति अति अल्पकाल के अन्दर ही सिद्ध नहीं होती। योगी धीरे-धीरे क्रमशः सीखते हैं। पहले ये लोग जल के ऊपर भ्रमण करना सीखते हैं, फिर मकड़ी के धागे के अवलम्बन से, फिर सूर्य रश्मि के अवलम्बन से अति ऊपर आकाश में सञ्चरण और विचरण करना सीख लेते हैं।

**बहुज्ञता सिद्धि**-पतञ्जलि मुनि ने कहा है कि बाह्य वस्तु अकल्पिता मनोवृत्ति रूप महाविदेहा में संयम के प्रयोग

---

२३१- **''प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्''** - **योगदर्शन** (३/२५)

२३२- **''ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते''** - **योगदर्शन** (३/३६)

२३३- **''कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम्''** - **योगदर्शन** (३/४२)

करने से प्रकाश का आवरण क्षय को प्राप्त होता है [२३४]।

वृत्ति दो प्रकार की है-कल्पिता और अकल्पिता। योगी देह के अन्दर रहता हुआ बाहर के किसी विषय में जब संयम करता है तब उस का नाम कल्पिता वृत्ति है। "मैं देह नहीं हूँ, मैं आकाश हूँ"- इस प्रकार आकाश-भावना सर्वोत्तम कल्पिता वृत्ति का क्रमशः अभ्यास करने से चित्त देह में नहीं रहता है। चित्त तब आकाश में ही रहता है और आकाशमय हो जाता है। यह ही अकल्पिता वृत्ति है। योगी लोग कल्पिता वृत्ति को "विदेहा धारणा" कहते हैं और अकल्पिता वृत्ति को "महाविदेहा धारणा" कहते हैं। यह महाविदेहा धारणा सिद्ध हो जाने से चित्त के प्रकाश के आवरण का क्षय होता है। रजः और तमो गुण और उन दोनों गुणों के कार्य से जिन आवरणों ने चित्त की प्रकाशशक्ति को आवृत्त कर रखा था, वे नष्ट हो जाते हैं। सब विषयों को प्रकाशित करना चित्त का स्वभाव है। "महाविदेहा धारणा" से चित्त का आवरण नष्ट हो जाता है। चित्त तब विश्व संसार को प्रकाशित कर सकता है। योगी तब बहुज्ञ बन जाते हैं।

शरीर में योगी का 'अहं-मैं' ज्ञान नहीं है। लेकिन चित्त बाहर के विषयों में निमग्न है। चित्त की इस अवस्था का नाम ही "महाविदेहा" है। चित्त की इस स्थिति पर संयम का प्रयोग करने से क्रमशः प्रकाश का आवरण अर्थात् स्वच्छ और व्यापक ज्ञान-शक्ति का प्रतिबन्धक आवरण क्षय को प्राप्त होता है।

साधक जब ध्यान-धारणा का अभ्यास करते हैं तब वे दृढ़तर सङ्कल्प को धारण करके इस धारणा या कल्पना को ले लेते हैं-"देह के प्रति जो मेरा यह अहं-ज्ञान है, वह नष्ट हो जाए और मेरा चित्त बाहर की वस्तु में ही विराजित रहे।" बार-बार वे इस कल्पना या चिन्ता को करते हैं। वह चिन्ता या कल्पना प्रबल होने से चित्त बाहर की वस्तु में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी का नाम "कल्पित विदेहा" है। क्रमशः जब देह के प्रति अहं वृत्ति का अभाव होता है तब चित्त स्वतः ध्येय वस्तु में ही प्रतिष्ठित होता है। इसी प्रकार के चित्त का नाम "अकल्पिता महाविदेह" है। इस अकल्पिता महाविदेह नाम के मनोभाव या धारणा पर संयम के प्रयोग करने से सर्व प्रकाशक चित्त का आवरण या आच्छादन जिसके रहने से चित्त अल्पज्ञ होके रहा अर्थात् सब कुछ प्रकाशित नहीं कर सका, वह आवरण दूर हो जाता है। योगी तब सब या बहुत कुछ जान सकते हैं।

**भूत-जय**- पतञ्जलि ने कहा है कि क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम-इन पाँच भूतों की स्थूल, सूक्ष्म, स्वरूप, अन्वय और अर्थवत्त्व-ये पंचविध रूप या अवस्था विशेष हैं। इनके प्रति संयम के प्रयोग से भूतजय होता है अर्थात् पंच महाभूत वशीभूत होते हैं [२३५]।

**प्रथम स्थूलावस्था**-पञ्च भूतों की वर्तमान या परिदृश्यमान अवस्था का नाम स्थूलावस्था है। आकाश का शब्द, वायु के शब्द और स्पर्श; अग्नि के शब्द स्पर्श और रूप; जल के शब्द, स्पर्श, रूप और रस और क्षिति के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-ये सब आकार और गुणयुक्त अवस्थाएँ पञ्चभूतों के स्थूल रूप हैं।

**द्वितीय स्वरूपावस्था**-क्षिति कठिन और कर्कश है; जल स्निग्ध, तरल और शीतल है; तेज दहनशील है; वायु प्रवहमान और शोषणकारी है तथा आकाश स्थान-दायक (व्यापक) है। ये सब पञ्चभूतों की स्वरूपावस्थाएँ हैं।

**तृतीय सूक्ष्मावस्था**-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-ये तन्मात्रायें या परमाणु ही पञ्चभूतों की सूक्ष्मावस्थायें हैं।

**चतुर्थ अन्वयित्वावस्था**-पञ्चभूत ही सत्व, रजः और तमोगुणों से परिव्याप्त हैं अर्थात् प्रकाश, प्रवृति, स्थिति इन

---

२३४- **"बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः"** - **योगदर्शन** (३/४३)

२३५- **"स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः"** - **योगदर्शन** (३/४४)

तीनों धर्मों से युक्त हैं। यह पञ्चभूतों की अन्वय अवस्था है।

**पञ्चम अर्थवत्त्वावस्था**- भोग या अपवर्ग प्रदान के सामर्थ्य से युक्त पंचभूत ही हैं। यह इनकी अर्थवत्वावस्था है।

भूतों की इन पञ्च अवस्थाओं के क्रमानुसार स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वयित्व और अर्थवत्वों के प्रति संयम के प्रयोग करने से पञ्चभूतों पर जय-लाभ होता है। पञ्चभूत योगी के अपने इच्छानुगामी अर्थात् आज्ञाकारी बन जाते हैं और वशीभूत होते हैं और पञ्चभूतों के सत्व, रज: और तमोगुण क्रमानुसार सुख, दु:ख, मोह के कारण नहीं बनते हैं।

**अष्ट ऐश्वर्य, काय-सम्पत्, काय-धर्मों की अनभिघात-सिद्धियाँ**-पतञ्जलि ने कहा है कि भूत जय होने से अणिमादि अष्ट महासिद्धि, कायसम्पत् और कायिक धर्मों का अनभिघात अर्थात् अविनाश होता है[२३६]।

**अष्ट-ऐश्वर्य**-१-अणिमा, २-लघिमा, ३-महिमा (गरिमा), ४-प्राप्ति, ५-प्राकाम्य, ६-वशित्व, ७-ईशित्व और ८-यत्रकामावसायित्व ईश्वर में स्वत: सिद्ध अष्ट महासिद्धियाँ हैं। ये गुण या महाशक्तियाँ साधना-बल से योगी में भी प्रविष्ट होती हैं। इसलिए इन शक्तियों का नाम ऐश्वर्य है। भूत-जयी होने से उन ऐश्वर्यों की उत्पत्ति होती है। इनका दूसरा नाम अष्ट महासिद्धियाँ है। भूत-जय से ये सब महागुण योगियों के अन्दर आ जाते हैं।

पहले प्रकृति के पञ्चविध रूप या अवस्थाओं के सम्बन्ध में ये सिद्धियाँ वर्णन की गई हैं। यदि प्रकृति के स्थूल रूप में संयम का प्रयोग किया जाय तो प्रथम चार सिद्धियाँ-अर्थात् अणिमासिद्धि, लघिमासिद्धि, महिमा (गरिमा) सिद्धि और प्राप्ति सिद्धि आयत्व में लाई जा सकती हैं।

यदि प्रकृति की स्वरूप अवस्था में संयम का प्रयोग किया जाय तो प्राकाम्य नाम की महासिद्धि आयत्व में आ जाती है। यदि प्रकृति की सूक्ष्मावस्था में संयम का प्रयोग किया जाय तो वशित्व नाम की महासिद्धि आयत्व में आ जाती है। यदि प्रकृति की अन्वयावस्था में संयम का प्रयोग किया जाय तो ईशित्व नाम की महासिद्धि आयत्व में आ जाती है। यदि प्रकृति की 'अर्थवत्वावस्था' में संयम का प्रयोग किया जाये तो ''यत्रकामावसायित्व'' नाम की चरम सिद्धि आयत्व में आ जाती है।

## अष्ट महासिद्धियों का परिचय

**(१) अणिमा**-शरीर आयतन में बृहद् होने पर संयम के प्रयोग से परमाणु तुल्य बन जायगा। **(२) लघिमा**-शरीर अत्यन्त भारी होने पर भी रुई तुल्य लघु हो जाता है। **(३) महिमा या गरिमा**-शरीर लघु होने पर भी पर्वताकार स्थूल हो जाता है। **(४) प्राप्ति**-दूरस्थ वस्तु का निकट प्राप्त होना **(५) प्राकाम्य**-इच्छा का अनभिघात होना अर्थात् सङ्कल्प इच्छा कठिन से कठिन इच्छा को कार्य रूप में परिणत कर देना। **(६) वशित्व**-भूत और भौतिक वस्तुओं को भी अपने वश में लाना। **(७) ईशित्व**-भूत और भौतिक वस्तु या प्राणियों पर प्रभुत्व करने की शक्ति। **(८) यत्रकामावसायित्व**-सत्य सङ्कल्प-लाभ, भूत और भौतिक वस्तुओं में या किसी प्राणी में इच्छानुसार शक्ति-सञ्चार कर देना। यह चरमशक्ति ऐश्वर्य या विभूति है। इससे दु:साध्य साधन होता है।

**नवम महाशक्ति**-पञ्च महाभूत का जय करने से काय-सम्पत् नाम की नवम महासिद्धि की प्राप्ति होती है। रूप, लावण्य, बल-दृढ़ता और वेग-शक्ति आदि गुणों का शरीर में आ जाना-इसी का नाम काय-सम्पत् है[२३७]।

**दशम महासिद्धि**-भूत-जय होने से काय-सम्पत् का अनभिघात नाम की महासिद्धि की प्राप्ति होती है। इससे

---

२३६- **''ततोऽणिमादिप्रादुर्भाव: कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च''** - **योगदर्शन** (३/४५)

२३७- **''रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्''** - **योगदर्शन** (३/४६)

शरीर की पूर्ति, रूप और शक्ति का परिवर्तन नहीं होता है। शरीर अविनश्वर मालूम होता है। इसी का नाम काया-अनभिघात-धर्म नाम की महासिद्धि है।

**इन्द्रियों को वशीभूत करना**-पतञ्जलि ने कहा है कि पञ्च महाभूतों की तरह इन्द्रियों की भी पाँच अवस्थायें हैं-ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व।

(१) चक्षु, कर्ण, नासा, जिह्वा और त्वक् जब अपने-अपने विषय वस्तु को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त हो जाते हैं, तब यह इन्द्रियगण की ''ग्रहण'' नाम की प्रथम अवस्था है।

(२) इन्द्रियगण जब विषयों को प्रकाशित कर देते हैं, तब इसका नाम द्वितीय ''स्वरूप अवस्था'' है।

(३) जब इन्द्रियगण के साथ सात्विक अहङ्कार अन्तर्निहित रहता है, तब इसका नाम तृतीय 'अस्मिता अवस्था'' है।

(४) इन्द्रियों का मूल कारण गुणत्रय सत्व, रजः, तम है। जब गुणत्रय के साथ यह इन्द्रियगण युक्त रहता है, तब इसका नाम चतुर्थ ''अन्वय अवस्था'' है।

(५) इन्द्रियों के कार्यों में इन्द्रियों का कोई स्वार्थ नहीं है। इन्द्रियगण पदार्थ हैं। इन्द्रियगण पुरुष के भोग या अपवर्ग के लिए हैं। यह भोग या अपवर्ग ही इनकी पञ्चम अवस्था ''अर्थवत्त्व'' है [२३८]।

पुण्यार्थी योगी इन्द्रियों की इन पञ्च विध रूप या अवस्थाओं पर संयम प्रयोग करके इन्द्रियों को वशीभूत या जय कर सकते हैं। इन्द्रियों के ऊपर योगी का सम्पूर्ण आधिपत्य होने के कारण इच्छामात्र से ही वे उत्कृष्ट या अपकृष्ट इन्द्रियों की सृष्टि कर सकते हैं। ये लोग इस शक्ति से अन्धे को चक्षुदान, बधिर को कर्णदान, खंज को पददान, गूंगे को वाक्शक्ति दान कर सकते हैं।

**मनोजय से त्रि-शक्ति लाभ**-पतञ्जलि ने कहा है कि इन्द्रिय जय होने से योगी इन त्रिशक्तियों को लाभ करते हैं-मनोजवित्व, विकरण-भाव और प्रधान-जय (प्रकृति-जय) [२३९]।

(१) मनोजवित्व-मन की तरह द्रुतगति, (२) विकरण-भाव-देह की अपेक्षा न रखकर इन्द्रिय गण को बाहर के विषयों के साथ संयुक्त कर देना और (३) प्रधान जय-समग्र प्रकृति के ऊपर विजय प्राप्त होना।

**प्रथमा शक्ति 'मनोजवित्व'**-लाभ होने से योगी मन की नाईं बाधाहीन होकर सर्वत्र जा सकता है, इन्द्रिय-जय होने पर शरीर में भी बाधाहीन अव्याहत गति शक्ति आ जाती है। साधारण व्यक्ति जहाँ नहीं जा सकते, योगी वहाँ जा सकते हैं। मन की जैसी द्रुतगति शक्ति है, योगी के अन्दर ऐसी द्रुतगति शक्ति आ जाती है।

**द्वितीया-शक्ति 'विकरण-भाव'**-लाभ होने से योगी में विगत देह होने पर भी, देह-शून्य होने पर भी, देहाभिमान न रहने पर भी चक्षुरादि इन्द्रियों का करणत्व अर्थात् ज्ञानोत्पादन-सामर्थ्य प्रबल रहता है। विकरण-सिद्धयोगी लोग दूरस्थ वस्तुओं को जानने के लिए शरीर के साथ वहाँ नहीं जाते हैं अपितु एक ही स्थान में रहते हुए वे दसों दिशाओं की दूर स्थित और अतीत-वर्तमान तथा अनागत वस्तुओं को जान सकते हैं [२४०]।

---

२३८- **''ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः''** - **योगदर्शन** (३/४७)

२३९- **''ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च''** - **योगदर्शन** (३/४८)

२४०- ''वह (= राजनाथ) थोड़ी दूर चला होगा कि उसे अपने आगे सड़क के बीच में एक सर्प पड़ा हुआ दिखाई दिया। उसने यह सोचा कि लौट जाय, परन्तु पीछे फिर कर जो देखा तो उधर दूसरा सर्प पड़ा था। अब तो वह बहुत घबराया। परन्तु वहाँ खड़े रहने से भी भय था और आगे बढ़ने में भी। अतः उसने आगे बढ़ना ही स्थिर किया और सर्प के पास पहुँचकर

**तृतीया-शक्ति 'प्रधानजय'**-लाभ होने से इन्द्रियों की 'अन्वय' नामक चतुर्थ रूप या अवस्था पर संयम धारण करके योगी भी इन्द्रियों के मूल कारण प्रकृति को वशीभूत या आज्ञाकारिणी कर सकते हैं, अर्थात् उस पर योगी का सम्पूर्ण आधिपत्य हो जाता है। इन्द्रियों के पाँच रूपों को या अवस्थाओं को जय करने से इन तीन शक्तियों-मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय की प्राप्ति होती है। इन त्रिविध शक्तियों का नाम 'मधुप्रतीका' है। मधु के सर्व अंगों में जैसे अमृतरस रहता है, इस सिद्धि के भी सर्वाङ्गों में अमृतरस रहता है।

**सर्व वस्तुओं पर आधिपत्य लाभ और सर्व वस्तु जानने का परिणाम**- पतञ्जलि ने कहा है कि सत्त्व अर्थात् महत्तत्व नामक बुद्धि (मन) और पुरुष अर्थात् शुद्ध चिदात्मा-इन उभयों के पार्थक्य अर्थात् भेद ज्ञान के प्रति संयम प्रयोग करने से सर्वभावों पर अर्थात् वस्तुओं पर योगी आधिपत्य और सर्व वस्तुओं के विषय में ज्ञान-इन दो क्षमताओं का लाभ करते है [२४१]।

पुरुष (जीवात्मा) बुद्धि नहीं है और बुद्धि भी पुरुष नहीं है, ये दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। साधारणतः लोग इन दोनों को एक ही जानते हैं। चित्त में जब तक रजस्तमोमल रहेगा, तब तक यह भेद दर्शन नहीं होगा।

चित्त के मल साफ हो जाने से और चित्त में विषय-कामनाओं के नहीं उठने से समझ लेना चाहिए कि चित्त शुद्ध हो गया। तब विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है। इस विवेक ज्ञान के द्वारा हम बुद्धि और पुरुष (आत्मा) का भेद समझ सकते हैं। इस भिन्नता के ज्ञान पर संयम के प्रयोग करने से सर्व वस्तुओं पर आधिपत्य लाभ और सर्व वस्तुओं के विषय में ज्ञान-लाभ सिद्ध होता है।

सब विषयों का अतीत, वर्तमान और भविष्यत् ज्ञान एक साथ एक क्षण के अन्दर उत्पन्न होने से यहाँ उस ज्ञान का नाम 'सर्वज्ञातृत्व' है। उसमें एक (अतीत) के बाद दूसरे (वर्तमान) और उसके बाद तीसरे (भविष्यत्) के ज्ञान का उदय नहीं होता। सर्वज्ञातृत्व में भूत, वर्तमान, भविष्यत् का ज्ञान एक ही साथ उदित होता है।

जैसे अचञ्चल और निस्तरङ्ग स्थिर जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब स्पष्ट देखा जाता है, इसी प्रकार स्थिर चित्त में बुद्धि और पुरुष (आत्मा) का भेद-ज्ञान सुस्पष्ट होता है। चित्त में कामना रहने से चित्त चञ्चल होता है। कामना-शून्य चित्त स्थिर है। रजः और तमोमल से कामना की उत्पत्ति होती है। इसलिए चित्तस्थ रजस्तमोमल साफ होने से चित्त निर्मल और स्थिर होता है। स्थिर चित्त में ही विवेक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के निर्मल चित्त में बुद्धि और पुरुष का भेद-ज्ञान उत्पन्न होता है और उस भेद-ज्ञान पर संयम धारण करने से "ज्ञान-रूपा-सिद्धि-सर्वज्ञातृत्व" और "क्रिया रूपा सिद्धि सब वस्तुओं पर आधिपत्य सिद्धि" मिल जाती है।

इसी सिद्धि का नाम योगशास्त्र में "विशोका-सिद्धि" है। इस सिद्धि की प्राप्ति से किसी वस्तु का शोक नहीं रहता है। इस सिद्धि में किसी वस्तु के खो जाने का मिथ्या ज्ञान नहीं रहता है और इसलिए ही इसका नाम विशोकासिद्धि है।

---

आँखें बन्द करके और छलाँग मारकर सर्प के ऊपर से कूद गया और दौड़ता-हाँफता आगे बढ़ा। मार्ग में रेल का फाटक पड़ता था, वहाँ पहुँचकर ही दम लिया। जब थोड़ी देर दम ले लिया तो आगे को चला और स्वामी जी के पास पहुँच गया। उस समय स्वामी जी बैठे हुए थे और बाग के कुछ माली भी उनके पास बैठे थे। स्वामी जी ने उसे देखकर कहा कि क्या मार्ग में तू डरा था और क्या तूने सर्प देखा था? राजनाथ को बड़ा आश्चर्य हुआ कि स्वामी जी ने यह सब वृत्त कैसे जान लिया?" – **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृष्ठ २५१)

स्वामी दयानन्द के विभिन्न जीवन-चरित्रों में ऐसे अनेक प्रसङ्ग उपलब्ध होते हैं।

२४१- **"सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च"** – **योगदर्शन** (३/४९)

## कैवल्य-लाभ या मुक्ति-लाभ (मोक्ष-लाभ)

विशोका सिद्धि का लाभ होने पर यदि उसके प्रति योगी का वैराग्य उत्पन्न होता है, तो उस योगी के बुद्धिमालिन्य की मूल कारण अविद्या नष्ट हो जाती है। तब ही कैवल्य अर्थात् स्वरूप-प्रतिष्ठारूप स्थिति प्रवाह का लाभ होता है[२४२]। उस समय उस प्रकार के योगी पर प्रकृति का अधिकार नहीं रहता है।

विवेक-ज्ञान या विवेक-ख्याति अति उच्च स्थिति है। इस उच्च स्थिति के साथ भी कैवल्य की तुलना करने से विवेक ख्याति तुच्छ समझी जाएगी। विवेक-ख्याति बुद्धि-सत्त्व का धर्म है, बुद्धि-सत्त्व विकारशील है और इसलिए तुच्छ और हेय है। बुद्धि-सत्त्व विकारशील है, लेकिन पुरुष अधिकारी है। पुरुष उस बुद्धि-सत्त्व से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार की प्रज्ञा के उदय होने से पुरुष का अनादि अनन्त काल से संचित संस्कार बीज दग्ध हो जाता है। बीज दग्ध हो जाने से वह प्रसव-क्षमताहीन होता है। उससे नये संस्कार की उत्पत्ति नहीं होती है। योगी चिरकारल के लिए संसार-ताप से मुक्त हो जाते हैं। तब बुद्धि लय-प्राप्त होता है और पुरुष से प्रकृति के गुणों का अत्यन्त विच्छेद हो जाता है। इसी का नाम कैवल्य है।

विशोका-सिद्धि के सर्वज्ञातृत्व और सर्वभावाधिष्ठातृत्व-लाभ अति उच्च स्थितियाँ हैं। उससे भी वैराग्य होने से अर्थात् उस विवेक-ख्याति के प्रति भी आसक्ति-हीन होने से दोष-बीज, अविद्या आदि का बन्धन और धर्माधर्म रूप कर्म-बन्धन नष्ट हो जाते हैं[२४३]। तब ही पुरुष को स्वरूप में स्थिति का लाभ होता है। यह ही सर्वोच्च गति और स्थिति है। इससे ऊपर और कुछ है। इसी का नाम मुक्ति या मोक्ष है। इसी का नाम अमृतत्त्व-लाभ है।

### चार प्रकार के योग और योगी

स्थिति से योग और योगी चार प्रकार के हैं। योग के प्रारम्भ से पूर्णता-प्राप्ति तक आलोचना करने से योग के और योगी के चार विभाग देखे जाते हैं। इसके अनुसार भिन्न-भिन्न नामों का प्रचलन है- प्राथम-कल्पिक, मधु-भूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्त-भावनीय। इन सबों के आभास पहले भी दिये गये हैं।

योग-शिक्षा के विषय में जो लोग बिल्कुल नये हैं और जो लोग योग में अविचलित और दृढ़ नहीं हुए हैं, जिनके संयम में या समाधि में किसी प्रकार की सिद्धि भी नजर नहीं आती है, केवल मात्र अति अल्प मात्र ज्ञान का विकास अनुभव में आया हो-इस प्रकार के योगी का शास्त्रीय नाम ''प्राथम कल्पिक'' है।

जो लोग प्राथम-कल्पिक अवस्था का अतिक्रम करके मधुमती नाम की द्वितीय स्थिति को प्राप्त हुए हैं, ऋतम्भरा

---

२४२- **''तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्''** -**योगदर्शन** (३/५०)

''अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिए यथावत् प्रयत्न करे, क्योंकि उसके नाश के बिना मोक्ष कभी नहीं हो सकता।'' - **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (मुक्तिविषय:)

**''पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति''** - **योगदर्शन** (४/३४)

''अर्थात् कारण के सत्त्व, रजस् और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके स्वरूप-प्रतिष्ठा = जैसा जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके शुद्ध स्वरूप परमेश्वर के स्वरूप, विज्ञान, प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्य = मोक्ष कहते हैं।''

- **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** (मुक्तिविषय:)

२४३- **''प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधि''** - **योगदर्शन** (४/२९)

**''ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः''** -**योगदर्शन** (४/३०)

नाम की प्रज्ञा लाभ करके भूत और इन्द्रियों को वशीभूत किये हैं और सर्वभावों के अधिष्ठातृत्व और सर्व-ज्ञातृत्व लाभ के लिए यत्नशील हैं-इस प्रकार के योगी का नाम "मधुभूमिक" है।

जो लोग मधुभूमिक अवस्था का अतिक्रमण करके विभूति या ऐश्वर्य लाभ के लिए प्रलुब्ध नहीं हैं और स्वार्थ संयम में यत्नवान् हैं-इस प्रकार के योगी का नाम "प्रज्ञाज्योति" है।

जो लोग इस प्रज्ञाज्योति स्थिति को अतिक्रमण करके अत्यधिक विवेक ज्ञान के अधिकारी हुए हैं, जो लोग विवेक ज्ञान के स्थूल फल के लिए लोभी नहीं हैं और समाधि काल में जिनको किसी प्रकार की विघ्न-बाधा बिलकुल नहीं पड़ती है और जो जीवन्मुक्त हैं, इस प्रकार के योगी का नाम "अतिक्रान्तभावनीय" है।

दिव्य भोगों में प्रलुब्ध होने से और योग प्रभावों के प्रति विस्मित होने से कैवल्य या मोक्ष-लाभ में विघ्न होता है। विभूतियों में प्रलुब्ध होने से योग भङ्ग होता है और पतन होता है। विस्मय आ जाने से योगी को कृतकृत्यता का बोध आता है। विषयभोगेच्छा और विषय भोग, विस्मय या आश्चर्य-ये सब योग के लिए विघातक हैं। सच्चे योगी विभूतियों से डरते हैं।

योगबल से बुद्धि निर्मल होने से, बुद्धि के रजोगुण और तमोगुण निर्जित होने से या बुद्धि-मालिन्य रहित होने से बुद्धि में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता है। तब बुद्धि स्थिर, धीर और निश्चल हो जाती है। बुद्धि की इस स्थिति का नाम "सत्त्व-शुद्धि" है। सत्त्व-शुद्धि हो जाने से नित्य आत्मा का कल्पित भोग तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार की भोग-निवृत्ति का नाम "आत्म-शुद्धि" है। यहाँ तक पहुँचने से कैवल्य, मुक्ति या मोक्ष का लाभ होता है।

इस श्रेयोलाभ के लिए ही स्वामी दयानन्द ने काशी से आकर चाणोद, व्यासाश्रम और अहमदाबाद (दुग्धेश्वर मन्दिर) में श्रीमत् स्वामी योगानन्द, ज्वालानन्दपुरी, शिवानन्द गिरि आदि योगाचार्य गुरुओं से योग-शिक्षा के विषय में क्रियात्मक रूप से परिचय लाभ किया था। उन्होंने योग-शिक्षा के बाद इन लोगों से योग-साधना के लिए उपदेश की प्रार्थना की थी। इन्होंने स्वामी दयानन्द को योग-साधना के लिए आबू पर्वत में जाने के लिए परामर्श दिया था और वहाँ इसके बारे में सब प्रबन्ध भी करवा दिया था।

**योग-शिक्षाओं का विषय**-जो-जो प्रधान शिक्षायें योग के विषय में विभिन्न स्थानों में विभिन्न समयों पर गुरुओं से स्वामी दयानन्द को मिली थीं और तीन वर्षों के श्रम के बाद जिन पर अब उन्हें साधना का प्रयोजन था वे शिक्षा-विषय निम्न प्रकार के थे:-

**साधना के विषय**-क्रिया योग, अविद्यादि पञ्चक्लेश, अस्मितादि के भेद, अविद्यादि क्लेशों का विवरण, स्थूल और सूक्ष्म रूप से क्लेशों का नाश, दृष्ट और अदृष्ट-जन्म-वेदनीय क्लेश, जाति और भोगों की उत्पत्ति, अवश्यम्भावी परिणाम (परिताप), योगी की दृष्टि से सबके सब दु:ख ही भविष्यत् दु:ख ही परित्याज्य है, देह दु:ख का कारण, दृश्य का स्वरूप, गुणों का विभाग और विशेषता पुरुष का स्वरूप, दृश्य के द्वारा पुरुषार्थ-सिद्धि, दृश्य का सम्पूर्ण उच्छेद नहीं होता है प्रकृति और पुरुष के संयोग का फल संयोग का हेतु अविद्या है और उसके विनाश से ही कैवल्य लाभ, विवेक ज्ञान से दु:ख का विनाश, विवेक ज्ञान की भूमि, ज्ञान-दीप्ति का उपाय, यम नियमादि अष्टाङ्ग योग, यमों के भेद, नियमों के भेद, अहिंसादि यमों के भेद, शौचादि नियमों के भेद हिंसादि वितर्क-विनाश के उपाय और विवरण, अहिंसादि सिद्धि का फल, आसन-प्रकरण, प्राणायाम-प्रकरण और प्रत्याहार-प्रकरण।

**उत्साह और अग्रगति**-गुरुओं की कृपा से स्वामी दयानन्द का धारणा, ध्यान और समाधि की शिक्षा का पाठ समाप्त हुआ। इसके बाद ही साधना का प्रश्न आया। धारणा ध्यान समाधि की शिक्षा में उन्हें आशातीत रूप से फल मिला

था। गुरुओं ने उन्हें उत्साह दिया और उनकी अग्रगति के पथ को खोल दिया। इन गुरुओं ने उन्हें कहा था कि शिक्षा और साधना एक वस्तु नहीं है। अनुकूल स्थिति में साधना होनी चाहिए। आश्रमों में एकाधिक व्यक्ति सङ्ग में रहते हैं। यहाँ तो देखादेखी एकाधिक शिक्षार्थी मिलजुल करके शिक्षा के पाठ समाप्त कर सकते हैं लेकिन साधना के पाठ के लिए निर्जन एकान्त और निःसङ्ग वातावरण चाहिए। भीड़-भाड़ से सर्वथा अलग होके रहना चाहिए। इसलिए साधनेच्छु योगी पर्वतों के कन्दरों में, भू-विवरों में या निर्जन वनों के वृक्षों की छायाओं में आश्रम लेते हैं। स्वामी दयानन्द तब बहुत ही आनन्दित हुए थे जब गुरु लोगों ने उन्हें कहा-"तुम योग-शिक्षा में बहुत ही तेज निकले। साधना में भी तुम आशातीत सिद्धि लाभ करोगे इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह तो हमारा आशीर्वाद है। तुम्हारे लिए साधना का अनुकूल स्थान आबू पर्वत है। आबू अरावली पर्वत का श्रृङ्ग है। वहाँ साधना का अनुकूल स्थान है। वहाँ वसिष्ठाश्रम, गौतमाश्रम और भृगु आश्रम हैं। LFkku&LFkku ij dqM gSa budsv frfjä xksihpUn dhxQk] Hkrz̀gfj xQk] jkexQk vkSj vcqZnk xQk, agSa[२४४]। वहाँ साधना के लिए गुफायें मिल जाती हैं। जनता की भीड़-भाड़ से दूरवर्ती गुफा ही साधना के लिए सर्वथा अनुकूल रहती है। भक्त तीर्थयात्री लोग गुफाओं के सभी साधकों के लिए खाद्य और आहार्य वस्तुएँ पहुँचा देते हैं। वहाँ जाकर योग की साधना और तपस्या आरम्भ कर दो। बीच-बीच में हम लोग वहाँ तुम्हारी साधना देखने के लिए आयेंगे।"

## आबू पर्वत पर

स्वामी ज्वालानन्द पुरी के साथ स्वामी दयानन्द सबसे विदाई लेकर अहमदाबाद होते हुए[२४५] आबू पर्वत के लिए रवाना हो गये। मानपुर से आगे उन्हें हृषिकेष का मन्दिर मिला। दो कुण्ड और चन्द्रवती नगर के ध्वंसावशेष भी देखने को मिले थे। अम्बरीश के आश्रम से स्वामी तर्पणानन्द उनके साथ सम्मिलित हो गये थे। तीनों ने एक साथ पर्वतारोहण प्रारम्भ कर दिया। आबू पर्वत में कर्णिका तीर्थ, पंगुतीर्थ, अग्नितीर्थ, पिंडारकतीर्थ, नागतीर्थ और कपिलतीर्थों के उन्होंने दर्शन किए। गुरुजी ने उनकी साधना के लिए उन्हें कई एक गुफाओं को दिखाया था। उनमें गोपीचन्द गुफा, भर्तृहरि गुफा, चम्पा गुफा, रामगुफा और अर्बुदा गुफा उल्लेखनीय थीं। स्वामी दयानन्द की योग-साधना के लिए गुरुजी ने उन्हें योग-शिक्षा का प्रदत्त पाठ फिर स्मरण करवा दिया-'जो शिक्षा योग के विषय में मिली है, उसके लिए कई वर्ष लग गए, लेकिन यह पाठ पाठ ही है, यदि इस पाठ को क्रियात्मक योग-साधना द्वारा व्यवहार में नहीं लाया जाए। जो पाठ मिले हैं उन पर साधना के स्थान के लिए पर्वत श्रृङ्ग आबू ठीक है तथा साधना समय के लिए और तीन वर्ष ठीक है।' स्वामी दयानन्द ने इसे सहर्ष स्वीकार किया।

आबू शिखर लगभग चार योजन लम्बा और आधा योजन चौड़ा है। वहाँ सभी आश्रमों, मन्दिरों और गुफाओं में अपनी साधना के अनुकूल स्थान खोज करके स्वामी दयानन्द ने रामकुण्ड सरोवर के समीप रामगुफा[२४६] को उपयुक्त और अनुकूल साधन-क्षेत्र चुन लिया था और वहाँ ही अपनी योग-साधना आरम्भ कर दी थी। दिनचर्या गुरुजनों के निर्देशानुसार ही रखी गई थी। दिनचर्या में उनकी प्रवर्तक विधि और निवर्तक विधि निम्न प्रकार की थी :-

---

२४४- आबू पर्वत पर स्थित इन स्थानों की जानकारी के लिए पाठक भारत सरकार के 'सर्वे आफ इण्डिया' विभाग द्वारा प्रकाशित 'गाइड-मैप' देखें।

२४५- पूर्व पृष्ठ ५७ एवं ८४ के अनुसार स्वामी दयानन्द अहमदाबाद से दुग्धेश्वर-मन्दिर गए थे, अतः वापसी में वे अहमदाबाद आए। अहमदाबाद से आबू १९० कि० मी० उत्तर में है।

२४६- ; g LFkku uD[kh rkyk c dsnf{k.k&if'pe esa gSA Lokeh n;kuUn dh mÙkjkf/kdkfj.kh ^**परोपकारिणी सभा**' को इस स्थान पर एक उपयुक्त स्मारक बना देना चाहिए।

**निवर्तक और प्रवर्तक विधि**– एक प्रहर रात बीतने पर ही दो प्रहर काल में सो जाना, चतुर्थ प्रहर के प्रारम्भ में ही नींद से उठना, प्रातःकालीन शौचादि कर्म से निवृत्त हो जाना और लवणाक्त (नमकीन) पानी भरपेट पीकर दिन के प्रथम प्रहर में साधना में बैठ जाना। उदीयमान सूर्य सम्मुख रखना अच्छा है। पूरे दो प्रहर काल तक क्रमानुसार धारणा-ध्यान-समाधि नामक संयम साधना में निमग्न हो जाना समाधि साधना है [२४७]।

समाधि जब तक रहे– यदि दो प्रहर काल से अधिक भी रहे तो उसको रहने देना, समाधि से पहले या धारणा ध्यान से पहले समाधि काल की अवधि के सम्बन्ध में सोचना बन्द रखना, समाधि की सीमा जितनी बढ़ जाए, उतनी ही अच्छी है।

**समाधि टूटने के बाद**– प्राकृतिक दृश्य देखने के लिए निकल जाना, मनुष्य निर्मित शिल्प-सम्भार जितने कम देखोगे उतना ही अच्छा है। आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पहाड़, नद-नदी, वृक्ष-तरु, गुल्म-लता, फल-फूल और पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि के सौन्दर्य देखना।

**परिधान**–परिधान के लिए दो लँगोटियाँ, दो अन्तर्वास और दो बहिर्वास बहुत हैं। इससे कम हो तो और भी अच्छा है [२४८]।

**स्नान**–इच्छानुसार एक बार या एकाधिक बार वर्तमान या पूर्व-जीवन के संस्कारों के अनुसार अशुभ या कुत्सित स्वप्न देखने से नींद टूटने के साथ-साथ ही स्नान करना।

**उपवास**–दिन भर उपवास करना और रात को नमकीन पानी पी लेना, दूध तक नहीं पीना और फल-फूल नहीं खाना।

---

२४७– ''सदा स्त्री-पुरुष १० दश बजे शयन और रात्रि के पिछले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान का उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो, तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिए युक्त आहार-विहार, औषध-सेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्ध के लिये ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिससे परमेश्वर की कृपा दृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें। तत्पश्चात् शौच, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकान्त जंगल में जाके योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर सूर्योदय पर्यन्त अथवा घड़ी-आध घड़ी दिन चढ़े तक घर में आके सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथा विधि उचित समय में किया करें।'' – **संस्कार विधिः** (गृहाश्रम विधिः)

''स्वामी जी एक प्रहर रात्रि रहती थी कि उठकर योगाभ्यास करने बैठ जाते थे और दो घड़ी दिन चढ़े तक ध्यानावस्थित रहते थे। जब वह ध्यान करके बाहर आते तो उनके नेत्र रक्त वर्ण के होते थे। वह धीरे-धीरे दो घड़ी तक नेत्रों पर जल-सिञ्चन करते, तब उनके नेत्रों की लालिमा दूर होती थी। इसके पश्चात् वह शौचादि से निवृत्त होकर भोजन करते और फिर आगन्तुकों से वार्त्तालाप करने बैठ जाते थे।''

– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग १, पृष्ठ २३३)

''वह तीन बजे के लगभग उठा करते थे और प्रातःकाल तक योगाभ्यास करते रहते थे। फिर वह शौचादि से निवृत्त होते थे। तत्पश्चात् वह स्नान करते थे और देह पर भस्मी रमाते थे। ९ बजे वह दर्शकों से मिलते थे और १२ बजे तक उनसे बातचीत करते रहते थे।'' – **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग १, पृष्ठ २७४-२७५)

२४८– हरिद्वार कुम्भ संवत् १९२४ के पश्चात् से पुनः कलकत्ता पहुँच (संवत् १९२९) पर्यन्त स्वामी दयानन्द ने केवल एक लँगोटी से ही अपना काम चलाया था।

**सम्बल**–दो तृणासन, दो कम्बल, एक लोटा, एक दण्ड यह सम्बल रहें।

**भोजन**–भोजन के लिए सोचना नहीं, तीर्थ यात्रियों से या भक्त लोगों से भेंट आ जाने पर अपनी एक दिन की आवश्यकतानुसार उनमें से खाने की वस्तु रख लेना और शेष वापस दे देना। यदि वे वापस न लें तो वह वस्तु पशु–पक्षी, कीट–पतङ्ग या दूसरे प्रार्थी मनुष्यों को दे देना [२४९], दूसरे दिन के लिए कुछ भी संचय न करना। किसी दिन आहार्य वस्तुओं की भेंट नहीं आने से किसी से भी नहीं माँगना [२५०], नमकीन पानी पी लेना या फल खा लेना, फल नहीं मिलने से फल की पत्तियों को ही पीसकर खा लेना।

**वाक्संयम**–किसी तीर्थ यात्री से प्रयोजनातिरिक्त बातचीत नहीं करना।

**दृष्टि**–पुरुष हो या स्त्री हो किसी के प्रति एक निमेष के लिए भी तीव्र या तीक्ष्ण दृष्टि से नहीं ताकना, व्यकुल न हो जाना [२५१]।

**चरण वन्दना**–किसी को भी पाद–स्पर्श नहीं करने देना [२५२]।

**आशीर्वाद**–किसी का भी मस्तक स्पर्श करके आशीर्वाद नहीं देना।

**एकान्त**–किसी को साधना के स्थान में आश्रय नहीं देना [२५३]।

---

२४९– ''एक दिन पण्डित गणेश प्रसाद, सम्पादक *'भारत सुदशा प्रवर्त्तक'* को श्री महाराज के पास सामाजिक कार्य करते हुए रात्रि के ९ बज गए। श्री महाराज ने यह जानकर कुछ फल और मिष्ठान्न खाने को प्रस्तुत किए। पण्डित जी ने आपत्ति की कि हम गृहस्थों को आप जैसे महात्माओं की सेवा करनी चाहिए न कि आपकी खाद्य सामग्री को ग्रहण करना। इस पर श्री महाराज ने कहा कि यह सामग्री गृहस्थ लोगों के घर से आई है और मेरी आवश्यकता से अधिक है। श्री रामचन्द्र तक ने वनस्थ मुनियों के कन्द–मूल–फलादि ग्रहण किए थे। अतः आपको संकोच न होना चाहिए और आग्रहपूर्वक पण्डित जी को फल और मिष्टान्न खिलाए।'' – **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (भाग २, पृष्ठ २४०)

२५०– ''एक दिन स्वामी जी का कहार गङ्गा–तट पर जो लकड़ी की टाल थी, उस पर सूखी लकड़ी माँगने चला गया। स्वामी जो को इसकी खबर न थी। टाल वाले ने पूछा कि लकड़ी किसके लिए चाहिए? कहार ने कहा कि स्वामी जी के लिए। टाल वाले ने कहा कि हम नहीं जानते कौन स्वामी है। जब कहार वापस आया तो स्वामी जी ने राजनाथ विद्यार्थी से कहा कि इसके जूते लगाओ। राजनाथ को आश्चर्य हुआ कि स्वामी जी ऐसी आज्ञा क्यों दे रहे हैं? उसने स्वामी जी से पूछा कि इसने क्या अपराध किया है? तो उन्होंने कहा कि यह टाल पर ईंधन की भिक्षा माँगने गया था।''

– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (भाग १, पृष्ठ २५३)

२५१– मुम्बई में एक बालक को स्वामी जी ने उपदेश देते हुये कहा कि ''यदि मार्ग में कोई स्त्री तुम्हें मिल जाय तो उसकी ओर दृष्टि जमा कर मत देखो, अपनी दृष्टि नीची कर लो, नहीं तो उस स्त्री की आकृति तुम्हारे मन में घुसकर एक प्रकार की उष्णता उत्पन्न करेगी और तुम्हें धातु–क्षीणता का रोग हो जायेगा जिससे तुम्हारा बहुत अनिष्ट होगा।''

–**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (भाग २, पृष्ठ २९१)

२५२– ''एक दिन का वर्णन है कि स्वामी जी यमुना के पुलिन पर ध्यान में मग्न बैठे थे। एक स्त्री स्नान करके आई। उसने देखा कि सामने एक परमहंस पद्मासन लगाए समाधिस्थ हैं। श्रद्धावती देवी ने भक्ति भाव से अति निकट आकर स्वामी जी के चरण कमलों पर सिर रखकर नमस्कार किया। भीगे हुए शीतल वस्त्र का स्पर्श अनुभव करके स्वामी जी ने ज्यों ही नेत्र खोले तो उन्होंने पैरों पर माई का सिर पड़ा देखा। वे चौंक पड़े और 'माता–माता' कहते हुये सहसा उस स्थान से उठ गये। श्री स्वामी जी स्त्री–स्पर्श नहीं किया करते थे, परन्तु उस दिन एक स्त्री ने ध्यान–दशा में उनके पाँव पर सिर रख दिया, इसलिये वे वहाँ से उठ गोवर्द्धन की ओर जा निर्जन एकान्त स्थान में स्थित एक टूटे–फूटे मन्दिर में तीन दिन और तीन रात निराहार ध्यान और चिन्तन में लीन रहे।'' – **श्रीमद्दयानन्द प्रकाश** (वैराग्य काण्ड, नववाँ सर्ग)

२५३– ''रात्रि में महाराज योगाभ्यास किया करते थे और इसी कारण वह अपने सोने के कमरे के पास रात्रि को किसी को नहीं

**असङ्ग**–दूसरे की किसी व्यवहृत वस्तु को भेंट के रूप में नहीं लेना।

**निमन्त्रण**–किसी के स्थान में जाने के लिए अनुरोध या निमन्त्रण स्वीकार नहीं करना।

**मौन**–जहाँ तक हो सके आकार–इङ्गित से ही बातचीत करनी और वृथा वाक्य प्रयोग नहीं करना। पत्र या साधना से सम्बन्ध रहित पुस्तकादि नहीं रखना या पढ़ना।

**पत्र–व्यवहार**– किसी को पत्र लिखने का सुयोग या पता नहीं देना और लिखित कागज या हस्ताक्षर नहीं देना या नहीं लेना। किसी से पत्र या रुपये डाक से आने से स्वीकार नहीं करना।

**रोग में**– बीमार पड़ने पर केवल उपवास करना, किसी से भी सेवा, यत्न या शुश्रूषा नहीं लेनी। सम्पूर्ण रूप से उपास्य परम प्रभु की शरण में रहना।

यहाँ स्वामी दयानन्द को दो उपदेष्टा मिल गए थे–स्वामी कैवल्यानन्द और स्वामी धर्मानन्द।

इन सब निवर्त्तक (निषेध) और प्रवर्त्तक (विधान) विधियों का स्वामी दयानन्द ने आबू पर्वत श्रृङ्ग के साधन–क्षेत्र पर तीन वर्ष तक दयालु भगवान् की कृपा से अक्षरश: पालन किया था। तीन वर्ष के मध्य वे कभी बीमार नहीं पड़े और न उन्हें कभी आहार के बिना ही रहना पड़ा था। कभी–कभी उन्हें रात को माता–पिता की स्मृति अवश्य जागती थी। गुरुओं के आदेशानुसार स्वामी दयानन्द तब श्वास–प्रश्वास के ताल के साथ प्रणव–मन्त्र का जप करते थे जिससे उनकी स्मृति लुप्त हो जाती थी। प्रथम वर्ष में ही इस प्रकार की बाधाएँ उन्हें आयीं थीं।

**गुरुजनों का निरीक्षण**–स्वामी दयानन्द के गुरुजनों में से कोई न कोई उनकी स्थिति को देखने के लिए और अपने–अपने साधन सम्बन्धी कार्यों के लिए आ जाते थे। दूसरे वर्ष में गुरुजनों ने आकर हर्ष प्रकट करके कहा था–

''दयानन्द ! अब तुम परीक्षा–सागर के सम्मुखीन हुए हो। तुम्हारे अन्दर धीरे–धीरे विभूतियों का प्रकाश आ रहा है। अतीन्द्रिय शक्तियों का आविर्भाव ही विभूतियों का प्रकाश है। धारणा ध्यान समाधि का अभ्यास पूर्ववत् ही चालू रखना। अगली बार जब हम तुमसे मिलेंगे, तब तुम्हारी उपलब्ध विभूतियों का हिसाब लेंगे। याद रखो, विभूतियों के आने के साथ–साथ ही बहुत से साधकों का पतन हो जाया करता है। विभूतियों के मोह में किसी प्रकार से अपने को धन्य समझकर बहुत लोग साधारण व्यक्तियों को इन्द्रजाल या भोज–विद्या दिखाकर अर्थोपार्जन में या इन्द्रियों के भोगों में आबद्ध हो जाते हैं। योगी साधना के जिस स्तर में पहुँचकर विभूतियों को प्राप्त करते हैं उस स्तर से कोई–कोई गिर जाते हैं। उनकी साधना व्यर्थ बन जाती है। तुम अति सावधान रहना। कुछ विभूति या अलौकिक शक्ति की उपलब्धि हो जाने पर उसको परीक्षा ds i esl e> ysukA ;kn j[kks x#tuksa dks NksM+dj vU; fdlh ls Hkh bl ds ckjs esa dqN iwNk u djuk[२५४]।

---

सोने देते थे जिससे उनके कृत्य में विघ्न न पड़े।''  –**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (भाग–२, पृ० २३०)

२५४– ''प्रयाग से मिस्टर सिनेट सम्पादक 'पायोनियर' का पत्र महाराज के पास आया था जिसमें उन्होंने महाराज से मिलने की इच्छा प्रकट की थी। पत्र में साक्षात् करने का उद्देश्य यह लिखा था कि यदि आप मुझे योग की वह आश्चर्यजनक शक्तियाँ दिखा सकें जो हिन्दू शास्त्रों में वर्णित हैं, तो मैं उनके विषय में सभ्य जगत् में तुमुल आन्दोलन उत्थापित करूँगा। सिनेट साहब ने सम्भवत: महाराज के योगाचार्य होने की बात कर्नल और मैडम से सुनी थी। पत्र आने पर महाराज ने एक मिनट सोचा और फिर यह उत्तर लिखाया कि आप काशी आने का कष्ट न उठावें। मैं स्वयं ही प्रयाग आकर आपसे मिलूँगा। महाराज ने कहा था कि सिनेट साहब हमारे पास केवल योग की अद्भुत शक्ति देखने के लिये ही आना चाहते हैं, अत: जब वह आकर उन्हें न देखेंगे तो हताश होकर लौट जाएँगे और मेरे प्रति भी क्षुण्ण होंगे।''

–**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (भाग–२, पृ० २२७)

दयानन्द! तुमने माता-पिता और घर-बार छोड़ दिया था, केवल योग-विद्या सीखने के लिए ही न! योग विद्या अनन्त-अपार है। हमसे भी बहुत बड़े-बड़े योगी बहुत संख्या में भारतवर्ष के वन-जंगल, पहाड़-पर्वत, आश्रम-तपोवन, पर्वत-कन्दर और भूविवरों में हैं। ये लोक-चक्षुओं के अन्तराल में रह कर योग साधना और कठोर तपस्या कर रहे हैं। लेकिन वे सब कुछ साधन-मात्र ही हैं। साध्य-वस्तु कुछ दूसरी ही है। उस एकमात्र साध्य-वस्तु का नाम कैवल्य है। कैवल्य का दूसरा और तीसरा नाम मुक्ति या मोक्ष है। यदि मोक्ष की प्राप्ति न हुई तो विभूतियाँ किसी काम की नहीं। विभूतियाँ तुम्हारी दासी बनकर तुम्हारे अधीन होके रहें। ये शक्तियाँ परार्थ के लिए या जीव सेवा में प्रयुक्त करो। अविद्या से मुक्त होना ही तुम्हारी मुक्ति है और इस मुक्ति से ही मृत्युञ्जय बनो। इस मृत्युञ्जय के लिए ही तुमने घरबार छोड़ा था। कैवल्य प्राप्ति के लिए आगे हिमालय की ओर गुरुजनों को ढूँढ़ना [२५५]।''

गुरुजनों का आदेश और उपदेश स्वामी दयानन्द ने शिरोधार्य किया और एक वर्ष फिर से उन्होंने ध्यान-धारणा-समाधि में अर्थात् संयम में ही व्यतीत किया। तब उन्होंने निश्चय किया कि एक वर्ष और यहाँ रहकर पुनः सारे भारतवर्ष और हिमालय में भी घूम-घूमकर योगियों का सन्धान करूँगा। अतः आगे ठीक एक वर्ष के काल में उन्होंने अति सावधान रहकर गुरुजनों की प्रतीक्षा में समाधि-साधना की थी। एक वर्ष बाद उनके दोनों गुरु आबू पर्वत-शिखर पर आये थे और आकर उनके निकट पहुँच गये थे। पूछे जाने पर स्वामी दयानन्द ने अपने अनुभव में और उपलब्धि में आयी हुई विभूतियों को उन्हें बताया था। महर्षि पतञ्जलि के राजयोग के अनुसार भिन्न-भिन्न विषयों पर संयम धारण करने से अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधि के प्रयोग करने से विभिन्न अतीन्द्रिय शक्तियों का प्रकाश आ जाता है-यह सब उन्होंने उन्हें बताया। तब स्वामी दयानन्द के अनुभव में जो-जो शक्तियाँ आयी थीं, उनका उन्होंने वर्णन किया था। जैसे-

भूत और भविष्यत् का ज्ञान।
सब प्राणियों की भाषाओं का ज्ञान।
पूर्व जन्मों का स्मरण।
दूसरों के चित्तों का ज्ञान।
अन्तर्धान होना।
अपने रूप, शब्द, स्पर्शादि को भी अन्तर्हित करना।
मृत्युकाल को जान लेना।
बलवान् पशुओं के अनुरूप बल प्राप्त होना।
सूक्ष्म अन्तराल में आवृत और अति दूरवर्ती वस्तुओं को देखना।

---

''और जो मैंने सिनट साहब से कहा था, वह ठीक है, क्योंकि मैं इन तमाशे की बातों को देखना-दिखलाना उचित नहीं समझता-चाहे वे हाथ की चालाकी से हों, चाहे योग की रीति से हों। क्योंकि योग के किए-कराए बिना किसी को भी योग का महत्व वा इसमें सत्य प्रेम कभी नहीं हो सकता, वरण सन्देह और आश्चर्य में पड़कर उसी तमाशे दिखलाने वाली की परीक्षा और सब सुधार की बातों को छोड़ तमाशे देखने को सब दिन चाहते हैं और उसके साधन करना स्वीकार नहीं करते। जैसे सिनट साहेब को मैंने न दिखलाया और न दिखलाना चाहता हूँ, चाहे वे राजी रहें, चाहे नाराज हों क्योंकि जो मैं इसमें प्रवृत्त होऊँ तो सब मूर्ख और पंडित मुझसे यही कहेंगे कि हमको भी कुछ योग के आश्चर्य (जनक) काम दिखलाइए, जैसा उसको आपने दिखलाया। ऐसी संसार की तमाशे की लीला मेरे साथ भी लग जाती जैसी मैडम एच०पी० ब्लेवस्तिकी के पीछे लगी हैं।'' **- ऋ० द० के १४ जुलाई १८८० के पत्र से**

२५५- गुरुओं के इसी आदेश के पालन में स्वामी दयानन्द ने काश्मीर, उत्तराखण्ड एवं तिब्बत के पर्वतीय क्षेत्रों में ऐसे योगियों का अनुसन्धाान किया था। इसका विवरण पाठक-गण यथा स्थान आगे पढ़ेंगे।

लोक-लोकान्तर भुवनों को जानना।
नक्षत्रों को जानना।
नक्षत्रों की गतियों को जानना।
क्षुधा और तृष्णा को जय करना।
शरीर और मन को स्थिर करना।
सिद्ध पुरुषों को देखना और उनसे बातचीत करना।
वैराग्य लाभ का सहायक ज्ञान प्राप्त होना।
स्वचित्त और परचित्त का ज्ञान।
आत्म-ज्ञान।
दिव्य-ज्ञान या सूक्ष्म-ज्ञान लाभ करना।
चित्त का दूसरे शरीर में प्रवेश करना।
शरीर को अत्यन्त हलका करना।
इच्छा-मृत्यु।
शरीर को ब्रह्म तेज से उज्जवल करना।
सूक्ष्म इन्द्रियशक्ति लाभ।
आकाश-गमन की शक्ति।
चित्त के आवरण का नाश।
महाभूतों को वशीभूत करना।
महाभूत वशीभूत होने से अष्ट महासिद्धि (अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व और सत्य सङ्कल्पता)।
काय-सम्पत् (रूप, लावण्य, बल और दृढ़ता)।
शरीर का अटूट भाव।
इन्द्रिय-संयम।
अव्याहत गति शक्ति लाभ।
पुरुष और प्रकृति का भेद-ज्ञान।
बन्धन से मुक्ति।
अलौकिक द्रव्य-विवेक-ज्ञान।
सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु-ज्ञान।
सब वस्तुओं के भेद-ज्ञान।
विवेक-ज्ञान (पुरुष-प्रकृति का भेद ज्ञान और कैवल्य लाभ)।

गुरुजनों से जब स्वामी दयानन्द ने कहा कि इन सब विभूतियों में से अधिकांश विभूतियाँ उनके अनुभव के अन्दर आ गई हैं [२५६] तो किसी गुरु ने क्षुधा-पिपासा के बारे में उनसे पूछा था। तब उन्होंने कहा था कि आबू शिखर पर

२५६- स्वामी दयानन्द के विभिन्न जीवन-चरित्र पढ़ने से इनमें से अनेक विभूतियों का लाभ उन्हें होने का परिज्ञान होता है। विस्तारभय से यहाँ उनका विवरण देना सम्भव नहीं है। वैसे अजमेर में उन्होंने स्वयं भी कहा था कि **''क्या आप समझते**

क्षुधा-पिपासा उनके लिए समस्या के रूप में नहीं रही है। वे अब अन्न-जल के बिना ही महीनों तक रह सकते हैं [२५७]। पतञ्जलि ने कहा है कि कण्ठ-कूप के नीचे उरः प्रदेश में कूर्म नामक नाड़ी है। वह नाड़ी अत्यन्त दृढ़ है। वहाँ चित्त संयम करने से शरीर और मन की स्थिरता आ जाती है। बहुत बार उन्होंने अनुभव किया था कि गले में गड्ढे के रूप में जो कुआँ सा स्थान है, उसमें संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) करने से उनकी भूख और प्यास दोनों की निवृत्ति हुई थी। इसी प्रकार और भी बहुत सी विभूतियों के बारे में उनके अनुभव हैं।

आबू शिखर पर आये हुए गुरुओं और वहाँ के रहने वाले गुरुजनों ने हर्ष प्रकट करके सब ही ने तरह-तरह के उपदेश स्वामी दयानन्द को दिये थे ''तुम द्वितीय श्रेणी के योगी बन गये हो [२५८]। दयानन्द! तुम इन योग की शक्तियों को अपने शारीरिक या मानसिक स्वार्थ-साधन में प्रयोग नहीं करना। परार्थ में और जगत् के हित के लिए ही इन विभूतियों का व्यवहार करो [२५९]। कैवल्य लाभ के लिए जो विभूति है, केवल वही विभूति तुम्हारे लिए है। शेष विभूतियाँ जगत् की सेवा के लिए हैं। इनका अपव्यवहार करने से इनका लोप हो जाएगा। अब आबू-पर्वत के सीमाबद्ध स्थान को छोड़कर बाह्य जगत् में प्रवेश करो। धर्म ही सेवा का एकमात्र साधन है। इस धर्म-बल के साथ धर्म जगत् को देखो। हरिद्वार का कुम्भ मेला अति निकट है। वहाँ आर्यावर्त के मुख्य-मुख्य साधु-संन्यासी एकत्र हो जाते हैं। वहाँ का दृश्य देख लो, धर्म जगत् का हाल अनुभव में आ जाएगा।''

धर्म सेवा के लिए दूसरे दिन वे लोग वहाँ से चले गये। स्वामी दयानन्द भी आबू छोड़कर हरिद्वार के कुम्भ के मेले में जाने के लिए तैयार होने लगे। वहाँ के अन्य बहुत से साधक और संन्यासी भी मेले में जाने के लिए तैयार हो गए थे। अतः स्वामी दयानन्द भी उनके साथ ही सम्मिलित हो गए थे।

---

**हैं कि हम इतना बड़ा कार्य योगसिद्धि के बिना ही कर रहे हैं।''** योग की इन सिद्धियों के विषय में स्वामी दयानन्द ने अपना एक व्याख्यान ५ जून १८८० को फर्रुखाबाद में दिया था। हुगली शात्रार्थ में भी उन्होंने अणिमादिक सिद्धियों को स्वीकारा है।

२५७- ''मैं लगातार कई दिन तक मध्याह्न में तप्त-रेणु में पड़ा रहा हूँ और हिमाच्छादित पर्वतों में और गङ्गा तट पर नग्न और निराहार सोया हूँ।'' -**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-२, पृ० २५२)

२५८- ''मैं प्रथम कोटि का योगी नहीं हूँ, केवल मध्यम-कोटि का हूँ।'' -**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-२, पृ० २४६)

२५९- द्रष्टव्य-पिछले पृष्ठ की पाद टिप्पणी क्र०२५६

अध्याय- चार

# दिवाकर का वाह्य जगत् में विचरण

## हरिद्वार का कुम्भ-मेला

### आबू से हरिद्वार

योग-शिक्षा और योग साधनों में स्वामी दयानन्द ने छ: वर्ष बिताए थे लेकिन आगे दूसरे और योग-सिद्ध महापुरुषों और तपस्वियों के सत्सङ्ग लाभ के लिए उनके अन्दर प्रबल आग्रह हुआ। आबू पर्वत के साधुओं ने उन्हें हरिद्वार में होने वाले कुम्भ मेले में सम्मिलित होने के लिए परामर्श दिया था। यह मेला वैशाख संवत् १९१२ में होने वाला था [२६०]। अत: स्वामी दयानन्द हरिद्वार जाने के लिए तैयार होने लगे। उन्हें विदाई देने के दिन आबू-पर्वत के परिचित साधु-सज्जन-पुजारी लोग लगभग सभी उनसे मिले। उनमें विमलशाह जैन मन्दिर के दो साधु, पङ्कुतीर्थ, अग्नितीर्थ, पिण्डारक तीर्थ, भृगु आश्रम, रामकुण्ड, नागतीर्थ, अचलगढ़, यज्ञेश्वर आदि स्थानों के साधु-पुजारी-तपस्वी लोग सम्मिलित थे।

स्वामी दयान्द ने सभी से कृतज्ञतापूर्ण भाव से विदाई लेकर मारवाड़, अजमेर, जयपुर, अलवर, दिल्ली और मेरठ आदि होते हुए पैदल हरिद्वार की यात्रा की थी। रास्ता लगभग सत्तर योजन का था [२६१]। वे प्रतिदिन कम से कम पाँच योजन रास्ता अतिक्रम करते थे [२६२]। अति सबेरे उठकर वे यात्रा करते थे। मार्ग में तालाबादि मिलने पर स्नानादि और सन्ध्या, उपासना, प्राणायामादि कर लेते थे और बड़े-बड़े वृक्षों के नीचे रात्रि को आश्रय लेते थे। हाट-बाजारों में या गाँव में या रास्ते में उन्हें किसी न किसी व्यक्ति से खाने की वस्तुएँ मिल जाया करती थीं। उनमें से अपने खाने के योग्य वस्तुएँ वे ले लेते थे और शेष गरीब दुखियों को दे देते थे [२६३]। संन्यासी का वेष देखकर गाँवों के और हाट-बाजारों के रहने वाले लोग कठिन रोगों की औषधि के लिए या सुख-दु:ख जानने के लिए उन्हें घेर लेते थे। बाध्य होकर वे आत्मरक्षा के लिए मौन धारण

२६०- कुम्भ मेले का प्रमुख स्नान चैत्र मास के अन्त में अथवा वैशाख के प्रथम दिन कि जिस दिन बृहस्पति कुम्भ राशि पर और सूर्य मेष राशि पर हो, होता है। वैसे मेला इससे पूर्व शिवरात्रि (फाल्गुण कृ० १४) से ही आरम्भ हो जाता है और प्राय: दो महीने तक चलता है।

२६१- ७० योजन अर्थात् ७० x ४ x २ = ५६० मील या ९०० कि०मी०। सीधी रेखा में यह दूरी लगभग ८०० कि०मी० है किन्तु जिस मार्ग से स्वामी दयानन्द गए थे उससे यह दूरी ९०० कि०मी० हुई। उल्लेखनीय है कि एक योजन में ४ कोस होते हैं, परन्तु एक कोस में दो मील ही माने जाते थे, इसके लिए स्वामी दयानन्द के जन्मचरित्र के 'कोस' शब्द का '**थियोसोफिस्ट**' में उस समय छपा अनुवाद देखें।

२६२- पाँच योजन अर्थात् ५ x ४ x २ = ४० मील

''आप इस समय आश्चर्य करते हैं कि मैं इतनी दूर तक वायु-सेवन के लिये जाता हूँ, परन्तु अवधूत दशा में चालीस-चालीस मील चलना मेरे लिए कोई बात न थी।'' – **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-२, पृ० २५२)

''स्वामी जी बहुत जल्दी चलते थे। वे आगरे में जब प्रथम बार आकर सेठ गुल्लामल के बाग में ठहरे थे तो एक से अधिक बार आगरे से मथुरा १८ कोस तीन घण्टे में पहुँच गए थे-**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-२, पृ० २६५)

२६३- उस समय जनता में धर्म-भावना अपनी चरम सीमा पर थी। तीर्थ यात्रियों को भोजन देना एक पुण्य कार्य समझा जाता था। स्वामी दयानन्द अपनी आवश्यकता से अधिक प्राप्त खाद्य सामग्री वितरित कर दिया करते थे, इस विषय में पाद-टिप्पणी क्र० २४९ (पृ० १२७) और कुम्भ मेला संवत् १९२४ का निम्न प्रसङ्ग द्रष्टव्य हैं-

''बहुत से श्रद्धालुजन फल, मेवा, मिष्ठान्न, पकवान महाराज के लिए लाते थे। सायंकाल तक वह अच्छी मात्रा में इकट्ठे

कर लेते थे। दिन हो या रात हो, निर्जन स्थानों में ही वे विश्राम करते थे।

इसी रूप से वे पुष्कर पहुँच गए थे और वहाँ योग–सिद्ध पुरुषों के बारे में सन्धान करने लगे थे। पुष्कर तीर्थ पञ्चतीर्थों में से एक है और पञ्च सरोवरों में से भी एक है। पञ्चतीर्थ ये हैं-पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गया, गङ्गा और प्रभास। पञ्च–सरोवर ये हैं- मान–सरोवर, पुष्कर–सरोवर, बिन्दु–सरोवर, नारायण–सरोवर और पम्पा–सरोवर। पुष्कर तीर्थ में पुष्कर–सरोवर तीन हैं- ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ। ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीनों क्रमानुसार इनके देवता कहे जाते हैं। पुष्कर को छोड़कर अन्यत्र ब्रह्मा का मन्दिर मिलना कठिन है। ज्येष्ठ पुष्कर सरोवर से थोड़ी दूर पर प्रधान मन्दिर ब्रह्मा का ही है।

पुष्कर में स्वामी दयानन्द सिद्ध–योगियों के विषय में अनुसन्धान करने लगा था। किसी जटिया बाबा के परामर्शानुसार नागपर्वत की गुफाओं में ढूँढते हुए उन्होंने भर्तृहरि गुफा में एक मौनी बाबा को देखा, पर उससे उनकी बातचीत नहीं हो सकी। क्योंकि उन्होंने अतिशीघ्र वहाँ से उनको हटने के लिए निषेधात्मक सङ्केत कर दिया था। स्वामी दयानन्द ने गुफा से बाहर आने पर देखा कि दो बृहदाकार अजगर सर्प मौनी बाबा की सङ्कीर्ण गुफा के अन्दर धीरे–धीरे प्रवेश कर रहे हैं। गुफा से बाहर एक पहाड़ी भील ने कहा कि वह दोनों अजगर मौनी बाबा के साथ ही उस गुफा में रहा करते हैं। वहाँ किसी दूसरी पर्वत की चोटी पर एक साधु ने स्वामी दयानन्द को कहा कि "तुम्हारा मनोरथ पुष्कर में पूर्ण नहीं होगा। हरिद्वार के कुम्भ–मेले में शत–सहस्र साधु–योगी–तपस्वी हिमालय से नीचे उतर आएँगे। उन्हीं में से किसी के सङ्ग में रहते हुए हिमालय–भ्रमण करना ही अच्छा है। हिमालय के कन्दरों में साठ हजार से भी अधिक साधु–योगी–तपस्वी रहते हैं। तिब्बत तक में भी ये लोग रहते हैं। मान–सरोवर और ल्हासा तक भी भ्रमण करना चाहिए। वहाँ हजारों साधु योगी तपस्वी लोगों के दर्शन मिलते हैं।" साधु जी की इस बात को शिरोधार्य करके स्वामी दयानन्द पुष्कर छोड़कर हरिद्वार की ओर बढ़ने लगे। पुनः अजमेर आकर एक नांगा बाबा के साथ वे तारागढ़ नाम के गिरि–दुर्ग पर पहुँचे। वहाँ से अजमेर नगर की शोभा उन्हें बहुत ही सुन्दर मालूम हुई। पर वहाँ उन्हें किसी साधु तपस्वी से भेंट होने की आशा नहीं थी। अनासागर के तट पर यज्ञ करते हुए ८–१० साधुओं को उन्होंने देखा था। ये लोग सबके सब गाँजा पीते थे और अग्नि में घृत की आहुतियाँ देते थे। वहाँ से नांगा बाबा उन्हें 'ढाई दिन के झोपड़े' में ले आये थे। स्वामी दयानन्द ने उक्त स्थान को हिन्दू या बौद्ध भजनालय के रूप में देखा था, लेकिन अब वहाँ मुसलमानों का भजन स्थान बन गया है, ऐसा देखा। भारत के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज, जयचन्द्र, संयोगिता–स्वयंवर और शाहबुद्दीन गौरी के बारे में नांगा बाबा ने बहुत सी कहानियाँ सुनाते–सुनाते मुझे जयपुर होकर दिल्ली जाने की सड़क दिखा दी।

## स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए व्यापक आन्दोलन

**अजमेर के अनुभव**– पुष्कर–अजमेर आने–जाने के समय स्वामी दयानन्द को कुछ नये अनुभव प्राप्त हुये थे। रास्ते में, मन्दिरों में, बाजारों में, दुकानों में, नहाने के घाटों में, अतिथिशालाओं में-सर्वत्र स्वदेश की और स्वधर्म की रक्षा के लिये आन्दोलन और आलोचना व्यापक रूप से चल रही थी [२६४]। धनी–गरीब, ज्ञानी–मूर्ख, वृद्ध–नवजवान, स्त्री–पुरुष सभी के मुखों से यही सुनाई देता था कि विदेशी पादरियों द्वारा ईसाई धर्म के व्यापक प्रचार और प्रलोभन से स्वधर्म की रक्षा

---

हो जाते थे। महाराज वह सब पदार्थ दीन–दरिद्रों को बाँट देते थे, अपने लिए कुछ भी न रखते थे।"

– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (भाग–१, पृ० १३६)

२६४– "स्वधर्म के लिये उठो और स्वराज्य की स्थापना करो'–इस तत्व ने भारत के इतिहास में कितने दैविक चमत्कार किये हैं? श्री समर्थ स्वामी रामदास ने भी २५० वर्ष पूर्व मराठों को यही आह्वान दिया था–

**धर्मासाठी मरावें। मरोनी अवध्यांसि मारावें।।**

करनी चाहिये, विदेशी राहु के ग्रास से स्वदेश की रक्षा करनी चाहिए। इन सब चर्चाओं और आन्दोलन से मालूम होने लगा था कि विदेशी और विधर्मियों की सर्वग्रासी कूटनीतियों से बचने के लिये जनसाधारण कोई रास्ता ढूँढ़ रहे थे। विदेशियों और विधर्म के प्रति भय और घृणा के भाव का धीरे-धीरे विस्तार हो रहा था [२६५]।

**मारवाड़ के अनुभव**–अजमेर आने से पहले मारवाड़ से भी स्वामी दयानन्द को यह अनुभव मिला था कि जनता स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा और पुनरुद्धार के लिये किसी शक्तिशाली और धार्मिक राजा को ढूँढ़ रही थी। उपयुक्त नेता और सञ्चालक मिलने से वह युद्ध करने के लिए तैयार थी। उसका विश्वास था कि ईसाई-राज और ईसाई-धर्म से बचने के लिये हिन्दू और मुसलमान एक साथ मिलकर युद्ध करने के लिये तैयार हो जायेंगे और समय आने पर प्राण भी दे देंगे।

**जयपुर के अनुभव**– पुष्कर से जयपुर आकर वहाँ स्वामी दयानन्द ने गलतातीर्थ, गालब ऋषि की तपोभूमि, सूर्य-मन्दिर और मुसलमान बादशाह के आक्रमण से बचाने के लिये वृन्दावन से लाई गई गोविन्दजी की मूर्ति के मन्दिर में योगी, तपस्वी और साधकों का अनुसन्धान किया था। यहाँ का गोविन्दजी का मन्दिर प्रसिद्ध है। कहते हैं कि वल्लभाचार्य को यमुना किनारे एक मूर्ति मिली थी, जिसकी प्रतिष्ठा वृन्दावन में की गई थी। मुसलमान बादशाह औरंगजेब के आक्रमण से बचाने के लिए यह मूर्ति और गोविन्ददेव की मूर्ति वृन्दावन से जयपुर लाई गई थी। प्राचीन राजधानी और राजस्थान की अम्बर नगरी से पूर्व गलता टीला है। उसमें गालब ऋषि की तपोभूमि में एक साधु रहते थे। योग-साधना के बारे में स्वामी दयानन्द ने उनसे उपदेश करने की प्रार्थना की थी जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया था क्योंकि स्वामी दयानन्द उनकी तन्त्र साधन-प्रणाली को स्वीकार करने में असमर्थ थे। फिर वे जयपुर से दिल्ली के लिए प्रस्थित हो गए।

इस प्रकार दिल्ली के एक दूसरे ही वातावरण में स्वामी दयानन्द पहुँच गए थे। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ था कि दिल्ली

---

**मारिता-मारिता ध्यावें। राज्य आपुले।।**

वस्तुत: सत्तावन के क्रान्ति-समर का यही तात्त्विक कारण था। इस क्रान्ति युद्ध का यही मन:शास्त्र था, जिस दूरबीन से इस युद्ध के स्पष्ट तथा सत्य स्वरूप के दर्शन होते हैं, वह यही दूरबीन थी। **स्वराज्य** और **स्वधर्म** की स्थापना के जिन पावन उद्देश्यों के लिए यह क्रान्ति समर छेड़ा गया था, उनकी पावनता को इस युद्ध में मिली पराजय भी भङ्ग नहीं कर पाई।'' – **१८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य समर** (प्रथम खण्ड, स्वधर्म और स्वराज्य)

२६५- ''(फरवरी) १८५६ में अयोध्या (अवध) का राज्य अंग्रेजों द्वारा हड़पे जाते ही विदेशी दासता का शूल अकस्मात् ही जनमानस में कसमसाने लगा। नाना साहब की दूर-दृष्टि तो इससे बहुत दिन पहले से ही स्वतन्त्रता के रम्य एवं पुनीत दर्शन कर चुकी थी और परकीयों की दासता की घानी में पिसने से उठती हुई दुर्गन्ध को उन्होंने भली-भाँति अनुभव कर लिया था।''

''इस भाँति दिल्ली के दीवाने-आम और ब्रह्मावर्त (बिठूर) के राजमहलों में स्वातन्त्र्य-युद्ध का गुप्त संगठन सुदृढ़ होता जा रहा था। इन दोनों राजवाड़ों द्वारा हिन्दुस्तान भर में क्रान्ति की शक्ति को एकत्रित और संगठित करने के जो महान् प्रयत्न चल रहे थे, वे इतने गुप्त और सतर्कतापूर्ण ढँग से चल रहे थे कि अँगेजों सरीखे चतुर लोगों को भी सत्तावन में हुई इस क्रान्ति का तोपों की गड़गड़ाहट होने से पहले तक किंचितमात्र भी पता न लग सका।''

''सैकड़ों उपदेशक, फकीर एवं संन्यासी एक विशिष्ट व्रत को ग्रहण कर प्रत्येक प्रान्त में गुप्त रूप से क्रान्ति युद्ध का प्रचार करने में संलग्न थे। उनके लिए भिक्षाटन के बहाने प्रत्येक घर में जाना भी सुलभ था। साथ ही शत्रुओं के मन में भी उनके प्रति किसी प्रकार की शंका जाग्रत नहीं हो पाती थी। ये स्वदेश-भक्त संन्यासी प्रत्येक गृह-द्वार पर जाकर पराधीनता के अभिशाप का नितान्त ही मार्मिक भाषा में विवरण प्रस्तुत करते और साथ ही साथ भावी स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में भी जन-मानस में आशा का पावन दीप प्रज्वलित करते थे। ये लोक-समूह की सुप्त-भावनाओं को जगा रहे थे। उनके मन में आशा के सुमन खिला रहे थे। विशेष रूप से सेना में तो उनके द्वारा और भी महत्वपूर्ण कार्य किया जा रहा था।''

नगरी महासमाधि में निमग्न है। एक ब्रह्मचारी ने उन्हें पृथ्वीराज का लालकोट दिखाया। वह तब धूल में रञ्जित था। उन्होंने वहाँ योगमाया मन्दिर भी देखा [२६६]। पृथ्वीराज इसी साधन भूमि में बैठे हुये योग-साधन सीखते थे। उसी के एकांश में तब एक बुतखाना था। मुसलमानों ने इसका नाम बुतखाना अर्थात् पौत्तलिक भजनालय रखा हुआ था। इसके समीप ही लगभग डेढ़ हजार वर्षों का पुराना एक धातु-स्तम्भ है। सुना जाता है कि राजा धब ने इसको बनवाया था। पृथ्वीराज के द्वारा निर्मित कुतुब स्तम्भ को भी देखा। इस असम्पूर्ण स्तम्भ के निर्माण कार्य को कुतुबुद्दीन ने पूरा किया था। इसलिए इसका नाम कुतुबमीनार पड़ा [२६७]। वहाँ से दिल्ली के पुराने किले को भी उन्होंने देखा। यह ही प्राचीन इन्द्रप्रस्थ है। यहाँ युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का प्राचीन गौरव चिन्ह है। यहाँ स्वामी दयानन्द को किसी साधु का दर्शन नहीं मिला था। लेकिन यमुना के किनारे उनकी कई एक साधुओं से भेंट हुई थी जो सभी हरिद्वार के मेले में जाने वाले थे। अतः स्वामी दयानन्द भी इनमें ही सम्मिलित हो गए।

**दिल्ली में नया अनुभव**–अजमेर, मारवाड़, जयपुर और अलवर सभी स्थानों में जनसाधारण के अन्दर प्रबल रूप

---

''मस्जिदों और देवालयों में तथा भिक्षा के निमित्त द्वार-द्वार जाकर स्वातन्त्र्य-चेतना को प्रस्फुटित करने के लिए ये मौलवी, पण्डित, फकीर और संन्यासी अहर्निश प्रयत्नशील थे तो नगरों में स्थानीय प्रचारक भी जी जान से अपने कार्य में जुटे हुए थे। **बड़े-बड़े तीर्थ-क्षेत्रों में तो भारत के विभिन्न प्रदेशों के लोग एकत्रित होते हैं।** वस्तुतः एक प्रकार से तो ये तीर्थ-क्षेत्र देश भर के लोगों के एकत्रित होने के स्थल थे, जहाँ प्रतिदिन राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित होते थे। मस्जिद में तो स्थानीय व्यक्ति ही आ पाते थे **किन्तु तीर्थस्थलों में तो सभी स्थानों के लोगों का सङ्गम होता है।** अतः इन तीर्थस्थलों को भी राजकीय महत्व प्राप्त हो गया था। यहाँ ये क्रान्तिकारी जनता के मन में फिरङ्गियों के देशी राज्य को हड़प लेने के सम्बन्ध में जो मौन तथा अप्रकट निषेध था उसे अँग्रेजों के प्रति तीव्र विद्वेष में बदल देते थे। **गङ्गा जी के पावन तट पर स्थित इन तीर्थस्थलों से भी नव-चैतन्य व्याप्त हो गया था। यहाँ गङ्गा स्नान के उपरान्त क्रान्ति युद्ध में शत्रुरक्त से कण्ठ स्नान करने का पावन व्रत भी क्रान्ति समर के सफल प्रचारक आने वाले तीर्थ यात्रियों को ग्रहण कराते। क्रान्ति के ये पण्डित इस भाँति प्रत्येक तीर्थस्थल में भ्रमण करने में लगे हुए थे।''**

– **१८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य समर** (प्रथम खण्ड, गुप्त सङ्गठन)

इन विभिन्न उद्धरणों से स्पष्ट है कि १८५५ के हरिद्वार कुम्भ में देश भर के विभिन्न प्रदेशों से गङ्गा स्नान के लिए पधारने वाले जन-समुदाय में क्रान्ति का प्रचार करने के लिए एक सर्वोत्तम अवसर क्रान्तिकारियों को अनायास ही उपलब्ध हो गया था।

२६६– ''योगमाया का मन्दिर बहुत प्राचीनकाल से स्थित है। योगमाया श्रीकृष्ण जी की बहिन थी। उसी के नाम पर इस मन्दिर का नाम योगमाया मन्दिर है। वर्तमान पुरोहित के बाबा और उनके भी बाबा चानचक बाबा के नाम से प्रसिद्ध थे। उनके साथ त्रिशूल वाला बाबा, फावड़े वाला बाबा और बाबा झण्डे वाला रामपुरी भी रहते थे। चानचक बाबा बड़े थे और अन्य छोटे थे। दिल्ली के प्रसिद्ध प्राचीनकाल से चले आ रहे रईस छुन्नामल वालों का कहार बलवीर इन बाबाओं की बड़ी सेवा करता था और इनका परम भक्त था। योगमाया मन्दिर के अति निकट एक पुस्तकालय है जिसे दिल्ली के भूतपूर्व चीफ कमिश्नर श्री रन्धावा ने बनवाया था और जिसका उद्घाटन स्व० श्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने किया था। इस पुस्तकालय के इर्द-गिर्द इन पाँचों की समाधियाँ प्राचीन काल से अब तक विद्यमान हैं।''

– **सार्वदेशिक साप्ताहिक** (२० सितम्बर १९७०) में श्री प्रेमचन्द्र शास्त्री के लेख से

२६७– आचार्य उदयवीर शास्त्री ने अपने लेख **'महरौली का ज्योतिः स्तम्भ-कुतुबमीनार'** में यह सिद्ध किया है कि यह हिन्दुओं द्वारा निर्मित एक ज्योतिस्तम्भ ही था जिसका प्रयोग २७ नक्षत्रों की गतिविधियों के अध्ययन में किया जाता था।

द्रष्टव्य-**'परोपकारी'** अजमेर (जुलाई १९८६) का अङ्क

से स्वामी दयानन्द को चाञ्चल्य का अनुभव हुआ था। दिल्ली में इस चाञ्चल्य का अनुभव उन्हें अत्यन्त अधिक हुआ था। मार्ग में, बाजारों में, दूकानों में, पथचारी यात्रियों में, साधु-संन्यासियों में, धनी-गरीबों में या राज-कर्मचारियों में मुख्य रूप से केवल एक ही चर्चा चल रही थी कि अब सहन करना कठिन है। अब तो जीवनों की बाजी लगाकर भी स्वदेश और स्वधर्म का उद्धार करना चाहिये। ऐसे समय में जब स्वामी दयानन्द सहित दस साधु यमुना के किनारे सारे दिन के बाद भोजन कर रहे थे, उसी समय एक छोटे से लड़के ने इन सबकी ओर सङ्केत करके अपनी माता जी से कहा-"माता जी, हमारा देश और धर्म विदेशी ईसाई-अँगरेज और ईसाई-पादरियों के अत्याचारों और शैतानी के कारण डूब रहा है और हमारे देश के ऐसे लाखों साधु बाबा केवल पेट पूजा में ही व्यस्त हैं। देश और धर्म की रक्षा के बारे में ये लोग कुछ परवाह नहीं करते हैं। इनके लिये पेट ही भगवान है और भगवान ही पेट है।" लड़के के इन वाक्यों को सुनकर सभी साधु एक साथ मिल करके लड़के को अभिशाप देने लगे और गाली-गलौच करने लगे। लड़के की माता साधुओं के अभिशाप के कारण भयभीत होकर रोने लगी। तब स्वामी दयानन्द ने लड़के की माता से विनम्र भाव से कहा-"माताजी! लड़के की बातें सम्पूर्ण सच्ची हैं। आपका लड़का देवदूत-सा मालूम पड़ता है। कम से कम इस लड़के की बातों से मेरी आँखें तो बिल्कुल खुल गई हैं।" लड़के का पैतृक परिचय लेने से स्वामी दयानन्द को मालूम हुआ कि उस समय से लगभग ३८ वर्ष पहले इस लड़के के पितामह अलीगढ़ के जमींदार साहसी वीर योद्धा दयाराम हाथरस किले की रक्षा करने के लिये लार्ड हेस्टिंग्स के अविराम गोलावर्षण के सम्मुख युद्ध करके वीरगति को प्राप्त हुये थे। जब स्वामी दयानन्द ने लड़के के सिर पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद दिया तब लड़का भी खुशी के मारे रोने लगा था।

उस समय जब स्वामी दयानन्द अपने साथी साधुओं के साथ लाल किले के सम्मुख बैठे हुए हरिद्वार जाने के लिये सोच रहे थे, तभी अचानक एक साधु आकर कहने लगा-"आप लोग जाइये, हरिद्वार जाकर स्नान कर शुद्ध बन जाइये। हमारी पवित्र मातृभूमि को विदेशी राहु ने ग्रास कर लिया, धीरे-धीरे हमारे देश की सुख-शान्ति, शिक्षा-सभ्यता, धर्म-संस्कृति, सम्पद्-ऐश्वर्य को भी यह हजम करने लगा है, हमारे धर्म को ग्रास करके विधर्मी पादरी हमारे सहज सरल देशवासियों पर ईसामसीह के धर्म को लाद रहे हैं। हमारे स्वधर्मी भाई-बहनों को विधर्मी बनाकर देश-द्रोही के रूप में बदल देते हैं। स्वदेश को विदेशियों के पञ्जे से मुक्त करना जितना कठिन है उससे हजारों गुणा कठिन है विधर्म के पञ्जे से स्वधर्मियों को मुक्त करना। जब तक स्वदेश और स्वधर्म पर राहु और केतु का ग्रास रहेगा, तब तक हम गङ्गा-स्नान से शुद्ध होने में विश्वास नहीं करते हैं।"

इस साधु से स्वामी दयानन्द की एकान्त में बहुत समय तक बातचीत हुई थी। स्वामी दयानन्द के मुख से अनुकूल बातचीत सुनकर वह साधु बहुत ही प्रसन्न हुआ था। आगे जाकर स्वामी दयानन्द को मालूम पड़ा कि वह एक मराठी पण्डित साधु के वेश में घूम रहे हैं और इस रूप के लगभग एक सौ पण्डित साधुओं के वेश में घूम-घूमकर साधुओं में नई प्रेरणा लाने की कोशिश कर रहे हैं[२६८]। स्वामी दयानन्द अवपने पूर्व निश्चयानुसार अपने साथी साधुओं के साथ हरिद्वार की ओर प्रस्थित हो गए। निश्चय हुआ था कि वे लोग मेरठ होते हुए हरिद्वार जाएँगे। अत: ये लोग जैसे-जैसे आगे बढ़ते गए वैसे-वैसे ही हरिद्वार जाने वाले यात्री उनके साथ अधिक संख्या में जुटते गए थे जो स्वदेश और स्वधर्म के उद्धार के लिए व्यग्र और उत्सुक मालूम पड़ रहे थे।

हरिद्वार कुम्भ मेले के यात्री ये सब साधु लोग यथा समय दिल्ली से मेरठ पहुँच गए। तीर्थयात्रियों के अन्दर सैकड़ों गृहस्थ स्त्री-पुरुष भी थे। (मेरठ से लगभग चार योजन की दूरी पर पाँडवों की प्राचीन राजधानी हस्तिनापुर है। गङ्गा नदी

---

२६८- प्रतीत होता है कि ये सतारा के रङ्गोबापू जी द्वारा भेजे गए पण्डितगण थे।

वहाँ से धीरे-धीरे हटती जा रही है।) वहाँ से ये लोग गढ़ मुक्तेश्वर गए थे, जहाँ मन्दिरों की संख्या बहुत है। लगभग सौ-शती स्तम्भों के ध्वंसावशेष वहाँ उपस्थित हैं। मेरठ के पास ही परशुराम की जन्म-भूमि और जमदग्नि का आश्रम है। ऋषि वाल्मीकि का आश्रम भी वहाँ ही था। वहाँ के पुराने आश्रमों में स्वामी दयानन्द को योग-सिद्ध पुरुषों का सन्धान नहीं मिला था।

इन यात्री साधुओं और अन्यों में से बहुतों को पता लगा कि इन तीर्थयात्रियों के अन्दर बहुत से सरकारी कर्मचारी और बनावटी वेश वाले राजकर्मचारी गुप्त रूप से रहते हैं जिनका सीधे-सीधे यात्रियों को पता नहीं था। सरल यात्रियों के अन्दर गुप्तचर राजकर्मचारी अँग्रेज वणिक्-शासन के बारे में प्रसङ्ग शुरू कर देते थे। तीर्थयात्रियों के पीछे-पीछे कभी-कभी घुड़-सवार श्वेताङ्ग सैनिक भी तीर्थयात्रियों की रक्षा के बहाने से आते थे। तीर्थयात्रियों के अन्दर कभी-कभी अँग्रेज वणिक्-शासकों के अनाचार, अत्याचार और स्वैराचारों के बारे में तरह-तरह की चर्चायें चलती थीं। गुप्तचर लोग ही इन चर्चाओं के प्रवर्तक हुआ करते थे। एक दिन देखा गया कि एक व्यक्ति को सरकारी कर्मचारियों ने पकड़ लिया है। उसकी पत्नी एक छोटे शिशु को गोदी में लिए हुए उस गोरे सरकारी कर्मचारी के पैरों पर गिर पड़ी। लेकिन श्वेताङ्ग कर्मचारी ने शिशु को माता की गोद से छीनकर ले लिया और गङ्गा की तीव्र धारा में फेंक दिया। पुत्र-शोक के कारण करुण-क्रन्दन करती हुई माता भी गङ्गा में कूद पड़ी। पिता भी गङ्गा में कूदने के लिए तैयार हो गया। लेकिन दो सिपाहियों ने बन्दूकों के हत्थों से उसको मारते-मारते अचेत कर दिया। गोद का शिशु-पुत्र और शिशु की माता गङ्गा में बहती हुई कहाँ चली गयी-भगवान् ही जानते हैं। सरकारी कर्मचारी के पीछे बन्दूकधारी पलटन बहुत संख्या में थी। गृहस्थ तीर्थयात्री चारों तरफ भाग गए थे। अँग्रेजी शासन और प्रजा-पालन के बारे में स्वामी दयानन्द के जीवन में यह पहला प्रत्यक्ष अनुभव था। अत: सब साधु लोग दलबद्ध न रहकर चार-चार, पाँच-पाँच के समूहों में रहकर हरिद्वार की ओर चलने लगे। उस समय इन सब साधुओं के मस्तिष्क में यह चिन्ता बहुत प्रबल और क्रियाशील हो रही थी कि "दु:खिनी, पराधीन भारत-माता की सेवा में हमको आयुष्काल और शक्ति के अनुसार कुछ न कुछ अंश समर्पित कर देना चाहिए।"

किन्तु गुप्तचर कर्मचारियों के सन्देह करने के भय के मारे कोई भी साधु किसी साधु से बातचीत करना निरापद नहीं समझता था। इस प्रकार की घटनाओं को और इन सबका प्रतिविधान सोचते हुए ये सब तीर्थयात्री विभिन्न दलों में विभक्त होकर हरिद्वार की ओर यात्रा कर रहे थे। कभी-कभी ये सब पुराने जान-पहचान के साधु लोग किसी-किसी निरापद स्थान पर एकत्र होकर देश की दुर्दशा पर विचार करते थे।

देश की इन स्थितियों को देखते हुए, गेरुवे कपड़े पहनकर, अपनी-अपनी मुक्ति और पारमार्थिक कल्याण के लिए देश भर में घूमना उन्हें बहुत ही लज्जाकर और ग्लानिकर मालूम होने लगा। लेकिन देशवासी जन-समुदाय को सचेत और सङ्गठित कैसे किया जाए-यह विचार उनके मस्तिष्क में आने लगा।

**वेल्लोर विद्रोह**-दक्षिण भारत में किसी वृद्ध साधु ने कहा कि गवर्नर जनरल कार्नवालिस के बाद के अस्थायी रूप के दो-एक वर्ष बाद ही उसी पद पर स्थायी रूप से जार्ज वार्लो आये थे। लगभग पचास वर्ष पूर्व की बातें हैं[२६९]। देशी

---

२६९- "१० जुलाई १८०६ को दिन के दो बजे वेल्लोर छावनी के हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने इकट्ठे होकर अपने सेनापति कर्नल फ्रेंकफोर्ट के बँगले को घेर लिया। गोली की आवाज से फ्रेंकफोर्ट की नींद खुल गई। बाहर आकर देखा तो सिपाहियों की रोष भरी आँखें दिखाई दीं। वह उन्हें दबाने का यत्न कर रहा था कि गोली आकर लगी जो घातक सिद्ध हो गई। इतने में अँग्रेज सेना इकट्ठी हो गई और सिपाहियों के हथियार ले लिए। विद्रोह के नेताओं को दण्ड देकर मामले को निपटा दिया गया ताकि अधिक चर्चा से छूत का रोग दूर तक न फैल जाए।"

सैन्य पर कैसे-कैसे अत्याचार होते थे और आज भी होते हैं, वे वर्णनातीत हैं। मद्रास के गवर्नर उस समय लार्ड बेटिंक थे। उन्हीं की अनुमति लेकर सेनापति जनफ्रैडक ने फौजी पोशक के बारे में अचानक आदेश जारी कर दिया था-

''सब फौजों को कम्पनी की दी हुई नयी टोपी पहननी पड़ेगी। (उस टोपी का ऊपर का भाग गाय के चमड़े से और नीचे का भाग सूअर के चमड़े से बना हुआ था।) सभी को दाढ़ी और मूँछ सफा कर देने पड़ेंगे; कोई कपाल में तिलक, चन्दन, भस्मादि की छाप नहीं लगा सकेगा, सिर पर कोई चोटी नहीं रख सकेगा, कोई हिन्दू या मुसलमान विश्राम के निर्दिष्ट समय के अतिरिक्त सन्ध्या, उपासना या नमाज के लिये अन्य समय नहीं दे सकेगा, गले में कोई जनेऊ या माला नहीं पहन सकेगा और विश्राम के समय के अतिरिक्त किसी अन्य समय में भगवान् या खुदा ताला का नाम उच्चारण नहीं कर सकेगा।''

इस आदेश से लगभग सब ही हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों के अन्दर जाति और धर्म के ऊपर आघात होने के कारण विक्षोभ पैदा हो गया था।

सर्वप्रथम इस अन्याय और धर्म-विघातक आदेश के विरोध में वेल्लोर के सिपाहियों ने विद्रोह की घोषणा की थी। उन लोगों ने उस आदेश का पालन करने से इन्कार कर दिया था। इन सिपाहियों को सामरिक कानून के अनुसार फौजी नियम-श्रृङ्खला तोड़ने के अपराध के कारण गोलियों से मृत्यु-दण्ड दिया जाये-ऐसी राय दी गई थी। साथ ही साथ देशी सिपाहियों ने ११३ अँग्रेज फौजियों को और दो सामरिक कर्मचारियों को थोड़े समय के अन्दर ही गोलियों से मार दिया था। उन विद्रोहियों का गोरे सैनिक बल द्वारा दमन करना कठिन था। अत: आर्काट से विशाल सैन्य वाहिनी बुलवा कर अमानुषिक रूप से विद्रोह का दमन किया गया था।

विद्रोहियों को हथकड़ी और बेड़ी लगवाकर दो दिन भूखा और नङ्गा रखा गया था। तीसरे दिन विद्रोही सैन्यों के नेताओं के जीवित शरीर से चमड़ी निकालकर उन चर्महीन मृत देहों को ठेला-गाड़ी पर रखकर सैन्यावास में जुलूस निकाला गया था। मृत अपराधियों के अन्दर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। इस रूप से वेल्लोर का विद्रोह दमन किया गया था। इसके बाद ही बेंटिंक और फ्रेड्रिक को स्वदेश जाने का आदेश मिल गया था। इन तीर्थ-यात्रियों के अन्दर वेल्लोर विद्रोह के बारे में सुनाने वाले व्यक्ति के मामा भी दण्ड-प्राप्त फौजी नेताओं के अन्दर सम्मिलित थे।

**बैरकपुर-विद्रोह**- नदिया के एक वृद्ध साधु ने कहा कि वेल्लोर जैसी एक घटना आज से लगभग तीस वर्ष पहले बंगाल के बैरकपुर में भी घटी थी [२७०]। वहाँ के सैन्यावास में सैनिकों को झट ब्रह्मदेश में युद्ध करने के लिए आदेश मिला था। इससे उनके अन्दर विक्षोभ पैदा हो गया था। उनको मासिक वेतन भी बहुत ही कम दिया जाता था। इसके उपरान्त समुद्र पार होके विदेश जाने से उनके खाद्याखाद्य का विभेद नहीं रहेगा और वे लोग धर्म-भ्रष्ट और जाति-भ्रष्ट हो जायेंगे, घर से भी ये लोग निकाले जायेंगे। सिपाही लोगों में सम्मिलित रूप से लगभग दो सौ फौजियों ने सरकार से प्रार्थना की- ''हम सब लोग जाति रक्षा, धर्म रक्षा, आचार-रक्षा के लिए ही समुद्र के उस पार ब्रह्मदेश में युद्ध के लिये नहीं जाना चाहते हैं। हमारे प्रति वहाँ जाने के लिए जो आदेश दिया गया है, उसको निरस्त कर दिया जाए।''

---

- **भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त** (भाग-१, पृ० १३३)

२७०- ''३० अक्टूबर १८२४ के दिन रेजीमेंट को परेड में आने की आज्ञा दी गई। सिपाही आए परन्तु बुगचे साथ नहीं लाए। कारण पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि उनके बुगचे पुराने और बोसीदा हो गए हैं, वे बाहर ले जाने के योग्य नहीं हैं। सिपाहियों ने अपनी अन्य शिकायतें भी कह दीं। इसे सिपाहियों का अक्षम्य अपराध समझा गया और परेड समाप्त कर दी गई। अपराध को ऐसा महत्वपूर्ण समझा गया कि अँग्रेज कमाण्डर-इन-चीफ सर एडवर्ड पैजेट को सारा समाचार भेजकर आदेश माँगा गया कि अब क्या किया जाय?''

बैरकपुर से कलकत्ता केवल दो योजन की दूरी पर है। वहाँ सामरिक ढँग से उत्तर आ गया था। तदनुसार सैन्यावास के अन्दर कुचकावाच के मैदान में सभी प्रार्थनाकारियों को बेड़ी और हथकड़ी लगवाकर खड़े करके एक साथ गोरे सैन्यों से गोलियों से मरवा दिया गया था और उनके शव-देहों को सप्ताह भर गङ्गा नदी के तीर पर प्रदर्शनी के रूप में रखा गया जहाँ माँस-भक्षी पशु-पक्षियों ने शवों के माँस को खा लिया, शेष रह गए सैकड़ों कङ्काल। उस कङ्काल राशि को गङ्गा नदी में फेंक दिया गया। मृत व्यक्तियों के बन्धु-बान्धव लोग दूर-दूर से शवों को देखने के लिये आते थे। मृत, गलित, खण्ड-खण्ड माँस-राशियों के अन्दर से अपने आदमियों को पहचानना असम्भव था। सन्ध्या से पहले ही जनता को गङ्गा किनारे से हटाने के लिये गोरे सैन्य लोग घोड़े पर सवार होके आते थे। जनता हटने में देर करती तो बन्धु-बान्धवों के शोक के कारण रोती हुई जनता पर वे बन्दूकों से गोलियाँ छोड़ते थे। इन गोलियों से बहुत संख्या में पुरुष, स्त्री, शिशु और पथिक भी घायल होकर मर जाते थे।

**सौ वर्षों का शासन**-सारे देश भर में विदेशी शासन का हाल सुनते हुए स्वामी दयानन्द सहित सब साधु और यात्रीगण धीरे-धीरे कुम्भ मेला हरिद्वार की ओर अग्रसर होने लगे और पूरे देश का हाल सभी की ज्ञान-दृष्टि के सम्मुख आने लगा कि कोई सुखी नहीं है, सभी अँग्रेज-शासन से दु:खी हैं-यह मालूम होने लगा। जनसाधारण के इन दु:खों के कारण एक नहीं बहुत हैं। सौ वर्षों के अन्दर देश की धर्म-नीति, सामरिक-नीति, अर्थ-नीति, शासन-नीति और राजनीति उलट गई है। विभिन्न प्रकार की दुर्नीतियों ने समाज के शरीर को पंगु और असार कर दिया है।

**प्रजा-विद्रोह का आभास**-आबू शैल-शिखर से हरिद्वार तक पैदल जाते समय विभिन्न स्थानों के सैकड़ों आबाल-वृद्ध, नर-नारियों से वार्तालाप करने का स्वमी दयानन्द को अवसर मिला था जिससे ज्ञात होता था कि जनसाधारण प्रजा के अन्दर स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा करने के लिये प्रबल प्रचेष्टा हो रही है। सौ वर्ष पहले के "प्लासी के युद्ध" का बदला लेने के लिए लगभग सभी तैयार हो रहे थे। इनमें धनी-निर्धन, राजा-प्रजा, सरकारी-गैरसरकारी, साधु-संन्यासी एवं भिखमङ्गे-कङ्गाल तक सब कोई सम्मिलित थे। जान देने के लिए भी सैकड़ों पुरुष तैयार हो गये थे।

**गुप्त समितियों की स्थापना**-लगभग सभी शहरों में गुप्त समितियाँ स्थापित की गई थीं। गुप्त प्रचार-कार्य और सङ्गठन भी चालू हो गये थे। मन्दिरों और मस्जिदों में गुप्त परामर्शों के कार्य सुचारु रूप से चलते थे। मुख्य-मुख्य व्यक्तियों के घरों में नियमानुसार कार्य-केन्द्र स्थापित हो गए थे। क्रान्तिकारी नेतागण मध्य रात्रियों में आलोचनार्थ समवेत होते थे। मुख्य-मुख्य समाचारों को मुख्य-मुख्य स्थानों पर भेजने के लिए गुप्त पत्रवाहक दौड़ा करते थे। क्रान्तिकारी लोगों में आपस में वार्तालाप के लिए साङ्केतिक और गुप्त भाषाओं का प्रयोग होता था। गुप्त समितियों के कवियों के रचित स्वदेश और स्वधर्म-भक्ति मूलक सङ्गीतों के द्वारा भिख-मङ्गे लोग भीख माँगते थे। वीर पुरुषों की जीवनियों की कहानियाँ कविताकार से प्रचारित होती थीं। हाट-बाजारों में प्रचार-पत्रों और प्रचीर-पत्रों का वितरण होता था [२७१]।

---

- **भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त** (भाग-१, पृ० १९६-१९७)

२७१- "एक सिपाही से दूसरे सिपाही तक पहुँचने वाले पत्र तो इस गुप्त रीति से लिखे जा रहे थे, परन्तु इस क्रान्ति के सङ्गठन के नेताओं के पत्र नितान्त ही महत्वपूर्ण थे। अत: उनके लिखने में नितान्त ही सावधानी बरती जाती थी। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाले संगठनकर्त्ताओं में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अनेक प्रवासी भी स्वतन्त्र रूप से कार्य में लगे हुए थे। अब तक जो भी पत्र लिखे जा रहे थे, वे बड़ी ही रहस्यमयी भाषा में बिना किसी व्यक्ति को सम्बोधित किए ही लिखे जाते थे। किन्तु जब अँग्रेज अधिकारी अपनी शङ्काओं के कारण प्रत्येक पत्र को ही खोलकर पढ़ने लग गए तब अपनी योजनाओं का किञ्चित् मात्र भी रहस्य शत्रुओं को पता न लग जाए, इस दृष्टि से क्रान्तिकारी दल के

**क्रान्ति की अग्नि शिखा**–देश भर में इस प्रकार की गम्भीर स्थिति और वातावरण देखने से आभास होता था कि अति निकट भविष्य में ही किसी न किसी समय क्रान्ति की अग्निशिखा प्रबल और व्यापक रूप से प्रज्वलित हो जाएगी। प्रजा–विद्रोह के होमानल से सब प्रकार के अन्याय, अधर्म, अत्याचारों के पूँजी–भूत सभी जञ्जाल एक साथ ही जलकर अत्यल्प समय के अन्दर ही स्वाहा हो जायेंगे। अँग्रेज सरकार को यह सब मालूम होने पर भी केवल बन्दूकों के बल पर ही इस स्थिति की उपेक्षा की गई थी।

## हरिद्वार में

आबू पर्वत से आये हुए स्वामी दयानन्द सहित सभी साधु–संन्यासी संवत् १९११ के वर्ष के अन्त में हरिद्वार के कुम्भ के मेले में पहुँच गए थे। उनके साथ रास्ते में जितने भी अन्य गृहस्थ यात्री आये थे, स्वामी दयानन्द ने उन सब से ही अपने को अलग कर लिया था। उन्होंने अपने को अन्य सब संन्यासियों से भी अलग कर लिया था। कुम्भ–स्नान की तिथि से बहुत दिन पहले ही तीर्थ यात्री लोग सैकड़ों, हजारों और लाखों में आने लगे। हरिद्वार विराट नर–समुद्र में परिणत हो गया था। स्वामी दयानन्द का यह पहली ही बार हरिद्वार आना हुआ था। वे कुम्भ–स्नान से बहुत पहले ही हरिद्वार पहुँच गये थे [२७२]। निश्चित रूप से सब ही जगह घूम–घूमके सब कुछ उन्होंने अनुभव कर लिया था। सिद्ध योगी साधकों का अनुसन्धान करना ही उनका मुख्य कार्य था।

**आशय**– हिमालय के चारों धाम–केदार, बदरी, गङ्गोत्तरी और यमुनोत्तरी जाने के रास्ते हरिद्वार से ही आरम्भ होते हैं। हरिद्वार में पाँच महातीर्थ हैं–गङ्गाद्वार, कुशावर्त, विल्वकेश्वर, नील पर्वत और कनखल। योग–साधना और योगियों की सङ्गत में रहना–इन दोनों कार्यों के लिये स्वामी दयानन्द ने नील पर्वत [२७३] को चुन लिया था। तीर्थयात्रियों की भीड़–भाड़ वहाँ बहुत कम रहती है। यह स्थान लगभग एक कोश की चढ़ाई पर है, इसलिए यह स्थान दुर्गम ही है। वे यहाँ अधिकांश

---

इन कार्यकर्ताओं ने आँकड़ों अथवा रेखाओं की भाषा में ही जिसे साँकेतिक भाषा का ही नाम दिया जा सकता है, ये पत्र लिखने आरम्भ कर दिए।''

''इस गुप्त क्रान्तिकारी सङ्गठन के पुरोधाओं ने सम्पूर्ण राष्ट्र को कितनी सावधानी सहित एकता के सूत्र में बाँधा था, उनके समक्ष अपना लक्ष्य कितना सुस्पष्ट था, यह उनकी इसी नीति–निपुणता से ही स्पष्ट हो जाता है।

जनक्षोभ को और अधिक भड़काने की दृष्टि से लखनऊ में उत्तेजक व क्रान्तिकारी भित्तिपत्रक लगाए गए थे। इन भित्तिपत्रकों में यही आह्वान दिया गया था कि सभी भाई एक साथ उठें और हिन्दुस्तान में स्वराज्य की स्थापना करें। प्रात:काल होता था और नगर के सभी चौराहों पर एक नया भित्तिपत्रक व हस्तपत्रक दृष्टिगोचर होने लगता था।''

– **१८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य समर** (प्रथम खण्ड, गुप्त सङ्गठन)

२७२– आबू से हरिद्वार तक की ७० योजन की यात्रा स्वामी दयानन्द की चलने की गति को दृष्टिगत रखते हुए मात्र १४ दिन की बैठती है, परन्तु चूँकि मार्ग में वे कुछ स्थानों पर घूमते–घामते और ठहरते हुए ही हरिद्वार पहुँचे थे, इससे अनुमान होता है कि इस यात्रा में उन्हें तीन सप्ताह लगे होंगे और वे कुम्भ के मेले में फाल्गुण सं० १९११ के शुक्ल पक्ष (१७ फरवरी से ३ मार्च १८५५) के अन्त में अथवा चैत्र मास के कृष्ण पक्ष के प्रारम्भ में पहुँच गए होंगे, ११ अप्रैल १८५५ (वैशाख कृष्ण ९, सं० १९१२ वि०) को नहीं, जैसा कि पं० लेखराम पार्यपथिक ने लिखा है। क्योंकि इस दिनाँक तक तो कुम्भ मेला समाप्ति की ओर अग्रसर हो चुका था। सन् १८६७ के कुम्भ मेले में भी स्वामी दयानन्द इसी प्रकार फाल्गुण शुक्ल प्रतिपदा (७ मार्च १८६७) को एवं सन् १८७९ के कुम्भ मेले में फाल्गुण शुक्ल ६ (२७ फरवरी, १८७९) को हरिद्वार पहुँचे थे।

२७३– चण्डी का मन्दिर नील पर्वत पर स्थित है। इसे हमने संवत् २०४३ के कुम्भ के मेले के अवसर पर २१ अप्रैल १९८६ को देखा है। अब यहाँ तक एक सड़कनुमा मार्ग बन गया है जिससे बहुत घूमकर पहुँचना पड़ता है। वापसी की (उतार की) यात्रा

समय साधना में ही बिताते थे। उनका अवशिष्ट समय योगियों की सङ्गत में एवं साधना के अनुशीलन में लग जाता था। बाहर के दर्शनार्थी उनके खाने के लिये जो कुछ भेज देते थे उससे उनका भरण-पोषण हो जाता था। किसी दिन यदि कुछ भी नहीं मिला तो उस दिन वे केवल पानी पीकर ही रह जाते थे। यह आदत उन्हें बहुत पहले से ही पड़ गई थी।

**क्रान्तिकारी नेताओं का आगमन**–नील पर्वत पर स्वामी दयानन्द ने वहाँ के चण्डीस्थान के संन्यासी रुद्रानन्द से सुना था कि भारत-व्यापी प्रजा-जागरण और विप्लव-प्रचेष्टा के और भविष्यत् क्रान्ति-युद्ध के नायक, नेता और कर्णधार लोग अतिशीघ्र साधु-संन्यासियों के दर्शन और देश की परिस्थिति समझाने के लिये हरिद्वार के मेले में आ रहे हैं। ये लोग नील पर्वत पर भी आएँगे। अत: उनके अन्दर भी उनके दर्शन के लिये और फिर उनसे वार्तालाप करने के लिये प्रबल इच्छा उत्पन्न हो गई थी।

अब तीन दिन बाद ही पाँच अज्ञातनामा और अपरिचित सज्जन स्वामी दयानन्द के अति सङ्कीर्ण कुटीर के सम्मुख आकर पूछने लगे-"आबू-शैल से आये हुए महात्मा जी कहाँ हैं? हम लोग उनसे मिलना चाहते हैं[२७४]।" तब स्वामी दयानन्द ने उन्हें अपना परिचय दे दिया। उन लोगों ने भी उन्हें अपना-अपना परिचय दिया।

उनमें से प्रथम थे-द्वितीय बाजीराव पेशवा के दत्तक पुत्र धून्धूपन्त (नाना साहब); द्वितीय थे-उनके बन्धु बाला साहब; तृतीय थे-अजीमुल्ला खाँ; चतुर्थ थे-तात्याटोपे और पञ्चम थे-जगदीशपुर के जमींदार बाबू कुँवर सिंह। ये पाँचों सज्जन प्रणिपात करके उनके सम्मुख बैठ गए[२७५]।

**नाना साहब ने कहा**– "महात्मा जी! विदेशी और विधर्मी अँग्रेज आकर स्वदेश और स्वधर्म को धीरे-धीरे ग्रास कर रहे हैं। इसका किसी तरह से निवारण करना चाहिए और इसे किस तरह से रोकना चाहिये-इसके बारे में आपकी क्या

---

पैदल मार्ग से करना सरल और कम समय लेने वाली है। कुम्भ के पिछले मेले क्रमशः सन् १८५५, १८६७, १८७९, १८९१, १९०३, १९१५, १९२७, १९३८, १९५०, १९६२, १९७४, १९८६, १९९८ एवं २०१० ई० में हरिद्वार में आयोजित हुए थे।

२७४- जब ये क्रान्तिकारी चण्डी के मन्दिर पर आए तो संन्यासी रुद्रानन्द ने उन्हें बताया कि आबू पर्वत से आए एक महात्मा जी आप लोगों से मिलने की प्रबल इच्छा रखते हैं, जो अमुक कुटी में ठहरे हुए हैं। इसी जानकारी के आधार पर इन लोगों ने स्वामी दयानन्द सरस्वती की कुटी पर जाकर ऐसा पूछा।

२७५- ukukl kgc x› kds jeHkä FkSfo".kqkV/xkSM kd`r **'माझा प्रवास'** में लिखा है कि 'गङ्गा तट पर आकर नाना साहब ने श्री गङ्गे का पूजन किया, लाल साड़ी और जरी की हरी चोली गङ्गा माता को अर्पण कर, हाथ जोड़कर प्रार्थना की- 'गङ्गे, भागीरथी, मातृश्री! आज तक तुमने हमारी रक्षा की, आज तुम्हारी ही इच्छा से तुम्हारा वियोग हो रहा है। अस्तु, तुम्हारी जो इच्छा हो वह करो। हम दीन पुरुष तुमसे क्या प्रार्थना कर सकते हैं?' यह कहकर साथ आए ब्राह्मणों को नमस्कार कर नाव पर पैर रखा।"

इसी प्रकार कुँवरसिंह भी गङ्गा का इतना भक्त था कि एक बार जब गङ्गा पार करते हुए उसके बाएँ हाथ की कलाई में शत्रु की गोली लगी तो उसने दाएँ हाथ से तलवार का वार कर घायल हाथ को कुहनी से काटकर भागीरथी की जलधाारा में भेंट चढ़ा दिया और श्रद्धावनत हो ये वचन कहे-"गङ्गा मैया, अपने प्यारे पुत्र की यह भेंट स्वीकार करो।"

ऐसे गङ्गाभक्तों और उनके आश्रितों का गङ्गा तट (हरिद्वार) पर लगने वाले कुम्भ जैसे महत्वपूर्ण मेले में सम्मिलित होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। तथापि नीचे लिखे प्रमाणों से भी उनके १८५५ में वहाँ पहुँचने की सम्भावना बनती है-

**नाना साहब**-"जब नाना साहब को सरकार से खानदानी पेंशन पाने की सारी आशा १८५३ ई० तक जाती रही, **तब वे कई बार दिल्ली और कालपी गए थे** और १८ अप्रैल, सन् १८५७ ई० को वे लखनऊ गए थे, जहाँ से वे सन्दिग्ध

राय है? हम लोग हरिद्वार में आये हुए मुख्य-मुख्य साधु-संन्यासियों से इस बात पर अभिमत ले रहे हैं।''

**स्वामी दयानन्द का अभिमत**-किसी विदेशी राजा को किसी दूसरे देश पर शासन करने का अधिकार नहीं है। अँग्रेज विदेशी हैं, इसलिए भारत पर उनको शासन करने का अधिकार नहीं है। विदेशी शासक विदेशी शासितों का शोषण करके ही अपनी समृद्धि करते हैं, अँग्रेजों की समृद्धि भारत के शोषण पर ही है। किसी वन्य, बर्बर, असभ्य देश पर किसी सुसभ्य जाति का शासन उस देश के कल्याण के लिये हो सकता है। परन्तु भारत असभ्य देश नहीं है और अँग्रेज भारतीयों से अधिक सुसभ्य भी नहीं हैं। वे केवल हिंस्र पशु की तरह हठधर्मी से शासन चला रहे हैं जिसको भारतवर्ष नहीं चाहता है। भारत जैसे न्यायप्रिय, सुसभ्य और पुराने देश को पद दलित करना महापाप है और इसको सहन करना और भी अधिक महापाप है। भारत जब प्राणपण से चाहेगा कि हम अँग्रेजों को नहीं चाहते हैं, तब ही अँग्रेज भारत का शासन छोड़ने के लिये

---

परिस्थिति में लौटे थे। इसके अलावा बिठूर (जहाँ नाना साहब रहते थे) कानपुर से केवल बारह मील की दूरी पर था। यहाँ पीर अली के कुछ सहयोगी रहते थे, जो किसी गुप्त उद्देश्य से पटना आए थे। इन सारी परिस्थितियों के एक साथ सङ्गठित होने से स्वभावत: यह विचार मन में उठता है कि १८५७ ई० के खुले विद्रोह के आरम्भ होने के कुछ समय पहले से ही उपर्युक्त क्षुब्ध और असन्तुष्ट व्यक्तियों में मेल-जोल और परस्पर सहयोग हो गया था।''

– **कुँवरसिंह-अमरसिंह** (डॉ० कालीकिङ्कर दत्त कृत, पाँचवाँ अध्याय)

**अजीमुल्ला खाँ**-''वापिस आकर मैं (अर्थात् अलीमुहम्मद) सन् १८५५ तक भिन्न-भिन्न राजदरबारों में नौकरी करता रहा। **इसी साल अजीमुल्ला खाँ के साथ फिर इंग्लैण्ड गया।** १८५५ में हमने कुस्तुन्तुनिया (टर्की की राजधानी) होकर वापिस भारत आने का इरादा किया। १८ जून १८५५ को अँग्रेजी सेना का हमला और फिर हारना हमने देखा। हमारे भावों में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ। वापिस कुस्तुन्तुनिया गए। वहाँ कई आदमियों से हमारा परिचय हुआ। उन्होंने अपने आपको रूस का अफसर बताया। उन्होंने कहा कि यदि आप लोग भारत में गदर कर सकें तो हम आपको यथेष्ट सहायता दे सकते हैं।''

– **सन् १८५७ के गदर का इतिहास** (पं० शिवनारायण द्विवेदी कृत, पृ० १२३३)

उक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि अजीमुल्ला खाँ कुम्भ मेले में सम्मिलित होकर ही दोबारा इँग्लैण्ड गया था। किन्तु कुछ इतिहासकारों ने उसकी दो बार की इँग्लैण्ड की यात्राओं को मिलाकर एक बार का ही बना दिया है जिससे सन् १८५३ के अन्त में उसके वापस भारत आने की बात तिरोहित हो गई है।

**कुँवरसिंह**-''सी०टी० मेटकफ ने **'टू नेटिव नैरेटिव्स ऑफ दी म्यूटिनी** (सन् १८९८ ई०)' के अपने अनुवाद की भूमिका में लिखा था कि 'नाना साहब के साथ बाबू कुँवरसिंह का अनवरत पत्र-व्यवहार जारी था और उन्होंने (नाना साहब ने) भी अपनी ओर से बिहार के राजाओं को प्रभावित करने का प्रयत्न किया था।'' टेलर के उत्तराधिकारी पटना के कमिश्नर ई०ए० सेम्युअल्स ने २५ सितम्बर १८५८ को बँगाल सरकार के पास रिपोर्ट भेजी कि ''उन्होंने (बाबू कुँवरसिंह ने) वास्तविक विद्रोह के आरम्भ होने के बहुत पहले से ही तय कर लिया था कि वे विद्रोह करेंगे। (शाहाबाद के) मजिस्ट्रेट को उन पर पूरा शक था और उन्होंने अपने उस सन्देह को छिपाने का भी कोई प्रयास नहीं किया।''

सन् १८५५ ई० में छोटे लाल (लेफ्टिनेन्ट गवर्नर) के बिहार आने पर उन्हें एक गुमनाम पत्र मिला जिसमें लिखा गया था कि ''मुजफ्फरपुर, आरा, छपरा, अजीमाबाद (पटना), साहबगंज, भागलपुर आदि नगरों और उन जिलों के जमींदारों और राजा लोगों ने अपना एक दल कायम किया है। इस दल का एक आदमी पटियाला के राजा के पास, एक सन्थालों के पास, एक नेपाल के राजा के पास और **एक दिल्ली के बादशाह के पास भेजा गया है।** यह भी मालूम हुआ है कि पञ्जाब की जनता से मिलकर पटियाला के राजा अपने सैनिकों का सङ्गठन भी बना रहे हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दुस्तान की समस्त जनता अपने धर्म की रक्षा हेतु कहीं एक जगह या हर जिले में लड़ने के लिए थोड़े ही काल के भीतर चींटियों की तरह जमा हो जाएगी। इस तरह लाचार होकर हिन्दुस्तान के लोगों ने लड़ाई की तय्यारी की है।''

– **कुँवरसिंह-अमरसिंह** (डॉ० कालीकिङ्कर दत्त कृत, पृ० ११८, ११६, ९१)

बाध्य होंगे [२७६]।

**द्वितीय सज्जन बाला साहब ने जिज्ञासा की**–"हमारे अपने दोष या त्रुटियाँ क्या हैं जिससे हमारी ऐसी दुर्दशा है? इस पर आपका क्या अभिमत है?"

**स्वामी दयानन्द का अभिमत**–युधिष्ठिर–दुर्योधन, जयचन्द–पृथ्वीराज, मानसिंह–प्रतापसिंह में जो भ्रातृकलह आत्म–विरोध था, वही भारत के सर्वनाश का मुख्य कारण है। आगे चलकर हम देखते हैं कि जब मुगल साम्राज्य का पतन हुआ तब मराठा और सिख–दोनों की शक्ति पृथक् रूप से या समवेत रूप से भारतवर्ष पर शासन चलाने के लिये यथेष्ठ ही थी। लेकिन दोनों के अन्दर आत्म–विरोध के कारण भारत अँग्रेजों के हाथों में चला गया। यह अनैक्यता और आत्म–विरोध ही हमारी दुर्दशा का कारण है [२७७]।

**तृतीय सज्जन अजीमुल्ला खाँ ने कहा**–"महात्मा जी! भारत के व्यापक प्रजा–विद्रोह के बारे में आपका क्या अभिमत है?"

**स्वामी दयानन्द का अभिमत**–मैंने जहाँ तक देखा है यह भविष्यत् के गणविद्रोह का आभास मात्र ही है। यह विद्रोह साम्प्रदायिक या सङ्कीर्ण नहीं है। इसमें धनी–गरीब, कृषक–प्रजा, शिक्षित–अशिक्षित सब लोग सम्मिलित हैं। यह गण–जागरण भारत को नयी जीवनी शक्ति से सञ्जीवित करेगा। धर्म की भित्ति पर यह आन्दोलन जब तक रहेगा इसका भविष्यत् तब तक उज्ज्वल है। शिशु और नारियों पर जब तक आघात नहीं पहुँचेगा तब तक इसका स्वरूप धार्मिक ही रहेगा। इस गण–जागरण में हिन्दू–मुसलमान सम्मिलित हो रहे हैं। दिल्ली के बादशाह और बिठूर के पेशवा–दोनों ही इसमें सम्मिलित हो गये हैं। यदि हिन्दू जनता अँग्रेजों को हटाकर पेशवा को राजा बनाना चाहे या मुसलमान जनता अँग्रेजों को हटाकर दिल्ली के बादशाह को ही भारत का बादशाह बनाना चाहे तब तो गण–जागरण व्यर्थ बन जायेगा। पेशवा और

---

२७६– "अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्यों की तो कथा ही क्या किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों से पदाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ते हैं। **कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है,** अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराए का पक्षपात शून्य प्रजा पर पिता–माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।" – **सत्यार्थप्रकाश** (अष्टम समुल्लास)

२७७– "**विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण**–आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना–पढ़ाना, वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई–भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें, जो पाँच सहस्र वर्ष के पहले हुई थीं, उनको भी भूल गए? देखो, महाभारत–युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते–पीते थे। आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया; परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःख–सागर में डुबा मारेगा? उसी दुष्ट–दुर्योधन गोत्र–हत्यारे, स्वदेश–विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाए।" – **सत्यार्थप्रकाश** (दशम समुल्लास)

"महाराज कहते थे कि....... मद्य, माँस का प्रचार हो गया और सत्य–धर्म से पतित हो गए और इसी कारण अन्य लोग आकर यहाँ राज्य करने लगे।" – **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (भाग–२, पृ० १०१)

बादशाह में प्रतिद्वन्द्विता ही है।

पञ्जाब का प्रबल पराक्रान्त सामरिक सिख-सम्प्रदाय शायद पेशवा- परिचालित इस आन्दोलन में भाग नहीं लेगा, बल्कि इसमें बाधा ही डालेगा। क्योंकि अँग्रेज और अफगान युद्ध में पेशवा ने दूसरे का राज्य हड़पने के लिये अंग्रेज को पाँच लाख रुपये ऋण-स्वरूप दिये थे। इसके बाद ही अँग्रेज और सिख-युद्ध में पेशवा ने अंग्रेज पक्ष को एक हजार पदातिक सेना और एक हजार अश्वारोही सैन्य सहायता के लिये भेज दिये थे। पेशवा के इस गर्हित आचरण को शायद सिख लोग इतनी जल्दी भूलेंगे नहीं।

नेपाल के सम्बन्ध में भी बात ऐसी ही है। नेपाल की राजधानी के रक्षार्थ नेपाली लोगों ने अँग्रेजों के साथ प्राणपण से युद्ध किया था। भारतीय साधारण प्रजा से उस समय कुछ भी सहायता नहीं मिली थी। नेपाली लोगों ने इस बात को भुलाया नहीं है।

फिर भी इस भावी गणयुद्ध का परिणाम शुभ है। प्लासी-युद्ध के एक सौ वर्ष बाद यह गण-युद्ध होने वाला है। फिर आगे एक सौ वर्षों तक यह युद्ध चलता ही रहेगा। तब युद्ध-जय अवश्यम्भावी होगा। बहुत कुछ आहुतियाँ अब भी शेष हैं [२७८]।

**चतुर्थ सज्जन तात्याटोने ने पूछा**-''महात्मा जी! भारतवर्ष-व्यापी जिस प्रजा-विद्रोह का आभास आपकी दृष्टि में आ गया है, उसके कारणों के बारे में आपका क्या अभिमत है?''

**स्वामी दयानन्द का अभिमत**-इस सम्भाव्य प्रजा-विद्रोह के मूल कारणों को हम भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। यथा-धर्म-नीतिक, समाज-नीतिक, राज-नीतिक, अर्थ-नीतिक, युद्ध-नीतिक और प्रत्यक्ष।

**धर्म-नीतिक कारण**-भारत के करोड़ों हिन्दू और मुसलमानों को नरक से बचाने के लिये और सीधे स्वर्ग में भेजने के लिये हजारों श्वेताङ्ग पादरी विदेशों से भारत-भूमि में-ऋषि-मुनियों के देश में आए हैं। इनका पालन-पोषण और अमीरी, भारत के गरीब प्रजाओं के कष्ट-प्रदत्त राजस्व से होती है। इनकी राजकीय स्थिति और प्रभाव जज-मजिस्ट्रेटों से कम नहीं है। गरीब-दुःखी, असहाय-अनपढ़ और भोले-भाले लोगों को आर्थिक प्रलोभन से ईसाई बनाना ही इनका प्रधान कार्य है। अस्पताल, जेलखाने, सरकारी कार्यालय, विचारालय आदि विभागों की नियुक्तियों में इनका असीम प्रभाव है। हिन्दू धर्म और मुस्लिम धर्म के बारे में कटूक्तियों और निन्दावाद का प्रचार करना ही इनका धर्म-प्रचार है। अकाल-पीड़ित स्थानों में और गरीब गाँवों में आर्थिक सहायता के बल पर हिन्दू-मुसलमान नवयुवकों को ईसाई या भारत-विद्वेषी बनाना ही इनका उद्देश्य है। बड़े-बड़े मेधावी, कवि, साहित्यिक, वैज्ञानिक नवयुवकों को पादरियों ने भारत-द्रोही बना दिया है, यह

---

२७८- (१) ''स्वामी जी की यह बड़ी प्रबल इच्छा थी कि देश स्वतन्त्र हो जाय।''

(२) ''महाराज कहा करते थे कि भारत का बहुत सा धन विलायत जाता है, परन्तु यह बन्दूक की गोली के समान कार्य करेगा, क्योंकि जितना धन जाएगा, अंग्रेज उतने ही आलसी और भोगी (विलासप्रिय) होकर अपदस्थ होंगे।''

(३) ''स्वामी जी ने कहा था कि यदि भारतवासी योग्य बन जावेंगे तो विदेशी लोग स्वयं ही उनसे कह देंगे कि अब तुम योग्य हो गए हो, तुम अपना शासन प्रबन्ध स्वयं करो।''

- **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० २८०, ३३२, ३९६-३९७)

(४) ''इसी प्रकार यहाँ भी यदि अधिक अन्याय करेंगे तो राज्य अधिक न रहेगा जैसा कि उन्होंने लखनऊ के बलवे (झगड़े) में कुछ अंग्रेजों की हत्या के बदले में अनाथ और निरपराध हिन्दुस्तानियों को मार डाला।''

- **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (पं० लेखराम कृत, पृ० ३५५)

असहृयनीय है।

**समाज–नीतिक कारण**–लगभग एक सौ वर्ष पहले से ही सैकड़ों, हजारों अँग्रेज व्यवसायी, राजकर्मचारी, धर्म–प्रचारक के रूप में भारतीयों के सम्पर्क में आये हैं लेकिन उन्होंने अपने को भारतीयों से सर्वथा अलग करके रखा है। mudsfy ; sHkkjr dk cdkbZ kjSl cdN ?kkkdsk= v kjS ?kkkdhoLrqgS[२७९]। इससे अँग्रेज और भारतीयों के अन्दर महान् व्यवधान उत्पन्न हो गया है, जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में भारतीय जनसाधारण के अन्दर प्रबल विद्रोह का भाव उत्पन्न हो गया है।

**राज–नीतिक कारण**–अँग्रेजों ने राज्य विस्तार के लिये युद्ध–नीति ग्रहण की है जिससे पञ्जाब और पेगु (ब्रह्म देश) पर अधिकार कर लिया है। सिक्किम को एकांश युद्ध–नीति से ही लिया गया है। स्वत्व–विलोप नीति से सतारा, सम्बलपुर, झाँसी, भागलपुर, उदयपुर, नागपुर, जैतपुर, करौली इत्यादि राज्यों पर भी अधिकार कर लिया है। कई एक राज्यों के राजपरिवारों को भत्ता देने का वचन दिया गया, फिर उसको भी बन्द कर दिया गया। राज–प्रासाद लुण्ठन किया गया, स्त्रियों को अपमानित किया गया। अराजकता का बहाना बनाकर भी कई एक राज्यों का ग्रास किया गया। इन सब जबरदस्ती और दस्युवृत्तियों के कारण, अत्याचार और अविचार के कारण जनसाधारण का मन विषाक्त, घृणा, विद्वेष और प्रतिहिंसा–परायण बन गया है। इसका सहन करना असम्भव हो गया है। प्रजा–विद्रोह का यह मुख्य कारण है।

**अर्थ–नीतिक कारण**–अँग्रेज शासन के एक सौ वर्षों के अन्दर देश से अपरिमित सोना, चाँदी, मणि–माणिक्य–रत्नादि, सुप्रसिद्ध कोहिनूर–स्यमन्तक आदि अमूल्य मणि आँग्ल–देश में भेज दिये गए[२८०]। यन्त्र शिल्प के प्रवर्तन से कुटी–शिल्प, स्वदेशी शिल्पों की जगह विदेशी शिल्पों की आमद अधिक रूप से हुई है। जिसके कारण देश की समृद्धि विनष्ट हो गई और अन्नाभाव दुर्भिक्षादि बार–बार आने लगे। प्रजाओं के लुण्ठन के लिये घर–घर चौकीदारी–कर, शिक्षा–कर, पथ–कर, जल–कर, आय–कर, शिल्प–कर और गवादि पशुओं के भूमि चारण–कर आदिकों की क्रमवृद्धि प्रचालित हुई है[२८१]।

---

२७९– अब भी सब कोई अपने को प्रभु–शासक समझ करके सभी को शासित के रूप में देखते हैं। नेटिव, नीग्रो, ईडियट, ब्लडी–वास्टर्ड, फूल, डाग, विच आदि शब्द इन्होंने यहाँ के रहने वालों के लिये अविष्कृत किये हैं और यत्र–तत्र प्रयोग करते रहते हैं। इनके लिये बड़ौदा के गायकवाड़ और हैदराबाद के निजाम देशी राजे, राजा राजेन्द्रलाल मित्र और सत्यव्रत सामश्रमी देशी पण्डित, महेन्द्रलाल सरकार और ग़ङ्गाधर कविराज ये सब देशी चिकित्सक हैं। राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी देशी संस्कारक हैं तथा वेद–उपनिषद् भी देशी धर्मग्रन्थ हैं। – **स्वामी दयानन्द का कथन**

२८०– ''जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि 'पारसमणि' पत्थर सुना जाता था, वह बात तो झूंठी है, परन्तु आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।'' – **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

इँग्लैण्ड पहले इतना निर्धन था कि उसे १८०० ई० में अपनी प्रजा पर प्रकाश कर लगाना पड़ा था। उस समय बिजली तो थी नहीं, खिड़कियों से जो प्राकृतिक प्रकाश आता था, उसी पर कर लगाया गया था। इसलिए लोगों ने बाद में छोटी–छोटी खिड़कियाँ लगाना आरम्भ कर दिया ताकि कर–भार अपेक्षाकृत कम पड़े।

*द्रष्टव्य* – The Life of Queen Victoria by Duke of Argyll,published in London in 1908, page-3

२८१– ''सन् १८७३ ई० में जब दयानन्द कलकत्ता में थे, तो उन्होंने प्रसङ्गवश बातों-बातों में श्रीयुत मन्मथनाथ चौधरी, बी०एल० महाशय से कहा था कि जो तुम्हारे कलक्टर करते हैं, वही कार्य हमारे पिता किया करते थे।'' (द्रष्टव्य–पाद टिप्पणी क्र० २, पृ० १२) और कलक्टर का कार्य विभिन्न करों की वसूली करना ही होता है। इसलिए स्वामी दयानन्द को को पता था कि उस समय कौन–कौन से कर लगे हुए थे। इनमें से नमक और पौन रोटी पर लगे तथा स्टाम्प के रूप में लिए जाने वाले करों का उन्होंने **सत्यार्थप्रकाश** (प्रथम संस्करण, १८७५) में विरोध किया ही है।

जनसाधारण अन्नाभाव से अर्ध-मृत हो रहा है। प्रजा-विद्रोह अन्नाभाव के कारण स्वाभाविक गति से ही आ रहा है।

**युद्ध-नीतिक कारण**-अनपढ़-मूर्ख जनसाधारण को शिक्षा-दीक्षा से वञ्चित करके बाल्य-किशोर-यौवन अवस्था में अधिक वेतन के प्रलोभन से युद्ध-शिक्षा के लिये भेज दिया जाता है। राज्य-विस्तार में ये लोग ही परम सहायक हैं। इनके प्रति विदेशी सामरिक कर्मचारियों का व्यवहार अमानवोचित है। इनके वेतन से पच्चीस गुणा अधिक वेतन मामूली अँग्रेज सैनिकों को मिलता है। जब इच्छा हो, जहाँ इच्छा हो युद्ध के लिये ये लोग भेजे जाते हैं। गन्तव्य स्थान का नाम तक भी नहीं बताया जाता है। युद्ध-भूमि में मृत्यु होने पर घर में समाचार भी नहीं पहुँचाया जाता है। सामरिक जाति-यह नाम रखकर स्वास्थ्यवान् तरुण एकमात्र पुत्र को भी परवाने के बल पर पकड़कर सामरिक कर्मचारी ले जाते हैं। छावनी में धर्म कृत्य करना, धार्मिक चिह्नादि को धारण करना अवैध और निषिद्ध है। इस पर तनिक भी आपत्ति करने से सामरिक विचार के अनुसार गोलियों से मृत्यु-दण्ड दिया जाता है। आज से पचास वर्ष पूर्व वेल्लोर में और तीस वर्ष पूर्व बैरकपुर में इस प्रकार के अत्याचार और सामरिक दण्डों का विधान हुआ था। दण्ड-प्राप्त सैनिकों का प्राप्य शेष वेतन घर में नहीं भेजा जाता है। प्राण-दण्ड का समाचार तक नहीं भेजा जाता है। बहुत दिनों तक घर में पत्र आदि नहीं आने से अनुमान कर लिया जाता है कि सामरिक कानून से प्राण-दण्ड मिला होगा। इस स्थिति को सहन करना कठिन हो गया है। प्रजा-विद्रोह का यह भी कारण है।

**प्रत्यक्ष कारण**-कृष्णाङ्ग जातियों के प्रति प्रतिदिन और सदैव जो व्यवहार सभी जगह देखे जाते हैं, पशुओं के प्रति भी ऐसा निर्दय और निर्लज्ज व्यवहार नहीं देखा जाता है, जो कि अधिक दिनों तक सहन करना कठिन है। इन सब कारणों से प्रजा-विद्रोह अवश्यम्भावी प्रतीत हुआ है।

**पञ्चम सज्जन कुँवरसिंह ने पूछा**-"स्वामी जी महाराज! युद्ध में जय अथवा पराजय अनिश्चित होती है। मैं आपसे पूछता हूँ कि हमारा यह प्रजा-जागरण या गण-युद्ध सफल होगा या विफल होगा?"

**स्वामी दयानन्द का अभिमत**-स्वतन्त्रता युद्ध कभी विफल नहीं होता है। भारत धीरे-धीरे सौ वर्षों के अन्दर परतन्त्र बन गया है, अत: इसको स्वतन्त्र बनाने में भी सौ वर्ष और लग जाएँगे। तब भारत पूर्ण स्वतन्त्र बनकर फिर से जगत् पर अपने गौरव को प्रकाशित करेगा [२८२]। इस स्वतन्त्रता-प्राप्ति में बहुत से अमूल्य जीवनों की आहुतियाँ डाली जाएँगी।

स्वामी दयानन्द हरिद्वार के कुम्भ मेले में दो उद्‌देश्यों की पूर्ति के लिये आए थे-

**प्रधान उद्‌देश्य**-योग-सिद्ध साधकों का सन्धान करना। इससे उन्हें पारमार्थिक कल्याण की प्राप्ति होगी।

**गौण उद्‌देश्य**-कुम्भ मेले में भारत के और तिब्बत के सभी साधु और महन्त लोग अपने-अपने शिष्य-सम्प्रदायों

---

२८२- "एक दिन महाराज ने व्याख्यान में कहा था कि लोग कहते हैं कि अँग्रेज लोग धनी और देशी निर्धन होते जाते हैं। इसकी चिन्ता न करनी चाहिए, क्योंकि अँग्रेज जितने अधिक धनी होते जायेंगे, उतने ही इन्द्रियाराम होते जायेंगे। इससे वह आलसी होंगे और आलस्य से निर्बल। देशी लोग जितने ही निर्धन होंगे उतने ही परिश्रमी बनेंगे और परिश्रम से बलवान बनेंगे, इससे देशी लोग लाभ में रहेंगे।"

"एक दिन महाराज ने कहा कि कुछ काल से परदेशी राजाओं ने हमारे देश से इतना धन हरण कर लिया है कि अब वह सर्वथा धनहीन हो गया है, परन्तु इस देश की वसुन्धरा इतनी उपजाऊ है कि अधिकार (स्वराज्य) पाने से थोड़े काल में ही देश को पुन: धानधान्य से पूरित कर देगी।" - **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-२, पृ० १०५, २०८)

के साथ समवेत होते हैं[२८३]। भारत में लाखों साधु हैं परन्तु उनके अन्दर संगठन नहीं है। अतः सभी को अपने-अपने गुरुओं के आधीन सङ्गठित करना आवश्यक है। स्वामी दयानन्द इन सभी गुरुओं से मिलना और देश की इस दयनीय स्थिति में सुधार के लये वे उनको प्रेरणा देना चाहते थे। इन क्रान्तिकारी नेताओं का प्रजा-विद्रोह तो प्रत्यक्ष रूप में रहेगा और उसका फल भी प्रत्यक्ष ही होगा, क्योंकि ये लोग मुख्य रूप से पार्थिव जीवन ही बिताते हैं। लेकिन साधु लोग अपार्थिव और पारमार्थिक जीवन बिताते हैं जिसका स्वरूप और फल सम्पूर्ण अप्रत्यक्ष हैं। अप्रत्यक्ष फल के लिये साधु-संन्यासियों को सङ्गठित करना बहुत ही कठिन कार्य है। इनकी संख्या कई एक लाख है। स्वामी दयानन्द इन त्यागी साधुओं को संगठित करने के लिये प्राणपण से प्रयत्न ककरना चाहते थे।

भारत की इस दुर्दशा को हटाने से भारत इतने विराट् और विशाल जन-बल को प्राप्त हो जाये तो यह सौभाग्य की बात है[२८४]। भारत के प्रजा-विद्रोह और साधु-सङ्गठन के सफल होने से देश का सर्वांगीण कल्याण होगा[२८५], इसमें सन्देह नहीं है। साधु-संगठन की परिकल्पना को छोड़ देने से वे तत्काल ही इनके साथ प्रजा-विद्रोह में सम्मिलित हो सकते थे। परन्तु स्वामी दयानन्द हरिद्वार के कुम्भ मेले से मानसरोवर, कैलाश और तिब्बत की ओर योगी-साधुओं के सन्धान में जाना चाहते थे जहाँ असंख्य साधु-संन्यासी हिमालय की विभिन्न ऋषि पल्लियों में और पर्वत-कन्दरों में रहकर योग-साधना करते हैं और कोई-कोई तो साधना के आसनों बैठे-बैठे ही अपने जीवनों को छोड़ देते हैं।

आगन्तुक पाँचों सज्जनों ने एक ही स्वर में स्वामी दयानन्द से अनुरोध किया कि वे योगियों के सन्धान में और साधुओं के संगठन में तत्पर रहें। प्रजा-विद्रोह के कार्य में सैकड़ों-सहस्रों, मनुष्य पेशावर से कलकत्ता तक और मेरठ से कर्णाटक तक नियुक्त हुए हैं, लेकिन साधु-सङ्गठन के कार्य में कोई भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

**कमल पुष्प और चपाती**-अजीमुल्ला खाँ ने प्रश्न किया था-''हमारी यह प्रजा-विद्रोह की वाणी किस रूप से और द्रुतगति से सामरिक और असामरिक जनता में गुप्त रूप से प्रचारित हो सकती है, इसके बारे में हम आपसे उपदेश चाहते हैं।''

स्वामी दयनन्द ने इस कार्य के बारे में बहुत ही प्राचीन सनातन पद्धति को बतला दिया था। सामरिक जनता में प्रचार के लिये कमल पुष्प और असामरिक जनता में प्रचार के लिये चपातियों का व्यवहार होता है। किसी सैन्यावास में किसी एक सैन्य के पास कमल पुष्प को हाथ में देकर व्यापक युद्ध-घोषणा की तारीख बता दी जाये तो निःशब्दपूर्वक एक हाथ से दूसरे हाथ तक कमल पुष्प भी चलता रहेगा और क्रान्ति की वाणी का भी प्रचार होता रहेगा। इससे किसी को सन्देह भी पैदा

---

२८३- ''उन दिनों भूटानी, तिब्बती व्यापारी भी माल की अदला-बदली के लिए आया करते थे। वे अपने यहाँ से ऊन, नमक लाया करते थे और इधर से चावल, वस्त्र, आटा, गेहूँ जैसी वस्तुएँ ले जाते थे।''

- **उत्तराखण्ड के वन-पर्वतों में ऋषि दयानन्द** (पृ० १८)

२८४- ऐसा प्रतीत होता है कि इसी पृष्ठभूमि में स्वामी दयानन्द ने जुलाई १८७९ ई० से आर्य समाज, फर्रुखाबाद से **'भारत दुर्दशा प्रमर्दक'** नामक मासिक समाचार पत्र निकलवाया था जिसका नाम बदलकर बाद में **'भारत-सुदशा-प्रवर्त्तक'** कर दिया गया था।

२८५- ''यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं। वे पक्षपात छोड़ 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' अर्थात् जो-जो बातें सब के अनुकूल सबमें सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से बर्तें-बर्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने, जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है।''

- **सत्यार्थप्रकाश** (भूमिका)

नहीं होगा। इस रूप से एक सैन्यावास से दूसरे सैन्यावास तक संवाद निःसन्दिग्ध रूप से और सरलता से पहुँच जाएगा।

असामरिक जनता में प्रजा-विद्रोह की वाणी उसी रूप से प्रचारित करने के लिये किसी गाँव में प्रवेश कर किसी व्यक्ति को व्यापक विद्रोह की ठीक तारीख बता देने के बाद एक व्यक्ति को चपाती दे देनी चाहिये। वह उसे एक टुकड़ा लेने के बाद दूसरे व्यक्ति के हाथ तक पहुँचा देगा। इस रूप में टुकड़े हो-होकर चपाती समाप्त हो जाने पर अगला व्यक्ति नई चपाती बनवाके उसी रूप से दूसरे हाथों में दे देगा। इस प्रणाली से गाँव से गाँवों तक एवं शहर से शहरों तक व्यापक विद्रोह का समाचार प्रचारित हो जाएगा।

fdl hxbr okkh; ki fo=l ekpkj dsipkj dsfy; s g v R;Ur i kphu i zkkyh gS[२८६]। अजीमुल्ला खाँ ने स्वामी दयानन्द की बतायी हुई इस प्रणाली के द्वारा सारे भारत में सर्वत्र क्रान्ति के समाचार को पहुँचाने का प्रबन्ध किया था। 'जिनके हाथों में चपाती या कमल पुष्प आ जाएगा और यदि वे इसको दूसरे हाथों में नहीं देंगे तो भयङ्कर पाप के भागी बन जाएँगे'-इस स्वाभाविक भय से ही प्रचार-कार्य चालू रहा। इस सांकेतिक अन्यथा गुप्त प्रणाली के प्रवर्तक बहुत पुराने जमाने के व्यक्ति थे। आजकल भी यह प्रणाली चालू है[२८७]।

इस सुदीर्घ चर्चा के बाद पाँचों सज्जन प्रणाम करके चले गए[२८८]। श्रीमन्त नाना साहब ने मुझको हिमालय भ्रमण

---

२८६- द्रष्टव्य- The Oxford History of India by Vincent A. Smith.

२८७- ''सर्वखाप पञ्चायत सोरम जिला मुजफ्फरनगर से श्री निहालसिंह आर्य (दिल्ली) को प्राप्त ११ पन्नों से यह तथ्य उजागर हुआ है कि सन् १८५५ के प्रारम्भ में (सम्भवतः मार्च १८५५ के पूर्वार्द्ध में) एक सभा हरिद्वार में हुई थी जिसमें बहादुरशाह जफर का पुत्र फिरोजशाह, राव साहब मराठा, बाला साहब मराठा, रंगोबाबू, अजीमुल्ला खाँ और रमजान बेग उपस्थित थे। कुल उपस्थिति १५०० के लगभग थी। इस सभा का व्यय टिहरी (गढ़वाल) के राजा ने दिया था। इस सभा में ब्रिटिश सरकार के हिन्दुस्तानी सैनिकों एवं प्रजा में विद्रोह की भावना का प्रसार करने के लिए कमल फूल और चपातियों के वितरण की योजना स्वामी ओमानन्द ने स्वामी पूर्णानन्द और अन्य साधुओं से मिलकर (जिनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती भी सम्मिलित रहे होंगे) तय्यार की थी। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने जो योजना अजीमुल्ला खाँ को बताई थी, वह स्वीकार कर ली गई।

२८८- कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि स्वामी दयानन्द ने इन क्रान्तिकारियों से वार्तालाप किस प्रकार किया था? क्या भाषा के माध्यम की समस्या इसमें बाधक न हुई होगी? इसका उत्तर यह है कि इससे पूर्व वे आबू पर्वत पर तीन वर्ष तक रहे थे, इसलिए उन्हें उत्तर भारतीयों की भाषा (हिन्दी) बोलने का काम चलाऊ अभ्यास हो गया था, भले ही उसे लिखने का न हुआ हो, क्योंकि आज भी हम यह देखते हैं कि दक्षिण भारतीय लोग हिन्दी में बातचीत तो कर लेते हैं, परन्तु लिखना नहीं जानते। इसमें जन्म चरित्र में आगे अलखनन्दा नदी स्रोत एवं नर्मदा स्रोत के यात्रा प्रसङ्ग भी प्रमाण हैं जिनमें उन्होंने क्रमशः दो पहाड़ी पुरुषों और एक जंगली वृद्ध पुरुष से वार्तालाप करने का उल्लेख किया है। हरिद्वार कुम्भ संवत् १९२४ वि० (सन् १८६७ ई०) तक भाषा बोलने का उनका यह क्रम लगातार १२ वर्षों तक चलता रहा। तदनन्तर ही उन्होंने यह प्रण किया कि ''जब तक हमारी इष्टसिद्धि न होगी, गङ्गा तट पर विचरण और **संस्कृत भाषण करेंगे।''** द्रष्टव्य-**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र**, (भाग-१ पृ० १३७)

स्पष्ट है कि यदि स्वामी दयानन्द पहले भी केवल संस्कृत ही बोलते थे, तो उन्हें यह प्रतिज्ञा करने की आवश्यकता ही नहीं थी। वैसे उनकी संस्कृत भी इतनी सरल हुआ करती थी कि संस्कृत से सर्वथा अपरिचित व्यक्ति भी उसे समझ लेते थे।

के बाद कानपुर (बिठूर) [२८९]आने के लिये आमन्त्रण दिया था और मैंने उनका यह आमन्त्रण स्वीकार कर लिया था [२९०]।

## साधु–सङ्गठन

अब स्वामी दयानन्द ने हरिद्वार के कुम्भ मेले के उपलक्ष्य में योग–सिद्ध साधकों के सन्धान में और साधुओं के संगठन के सम्बन्ध में ध्यान दिया। कुम्भ–मेले में भारत के और तिब्बत के लाखों साधुओं का समागम होता है।

ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि राजा हर्षवर्धन के राज्य काल में कुम्भ–मेले का प्रवर्तन प्रयाग–क्षेत्र में हुआ था। प्रति १२ वर्ष बाद उन्होंने प्रयाग में हिन्दू और बौद्ध साधुओं के सम्मेलन का आह्वान किया था। तब से कुम्भ योग में हरिद्वार में, प्रयाग में, नासिक में और उज्जयिनी में संन्यासियों के महा–सम्मेलन होते हैं।

**हरिद्वार में**–चैत्र संक्रान्ति (महाविषुव संक्रान्ति) में कुम्भ–स्नान होता है। ब्रह्मकुण्ड में मुख्य स्नान होता है। शिवरात्रि में प्रथम स्नान [२९१], चैत्र अमावस्या में द्वितीय स्नान ओर महाविषुव संक्रान्ति में तृतीय या प्रधान स्नान होता है।

**प्रयाग में**–पौष संक्रान्ति (मकर–संक्रान्ति) में प्रयाग [२९२] के त्रिवेणी सङ्गम में कुम्भ मेले का स्नान होता है। यह ही प्रथम या प्रधान स्नान है। द्वितीय स्नान परवर्ती अमावस्या में और तृतीय स्नान वसन्त–पञ्चमी में होता है।

**नासिक में**–चातुर्मास्य में आषाढ़ शुक्ला एकादशी से कार्तिक शुक्ला एकादशी तक नासिक में कुम्भ–मेला लगता है। इस मेले का प्रथम स्नान श्रावण मास में बृहस्पति के साथ मङ्गल के और शुक्र के साथ सिंह राशि के मिलन से या

---

२८९– **बिठूर**–कानपुर से डेढ़ योजन की दूरी पर पश्चिम की ओर गङ्गा के पश्चिम उपकूल में बिठूर है। ब्रह्माजी ने यहाँ यज्ञ किया था इसलिए इसका नाम ब्रह्मावर्त्त है। नाना साहब बाजीराव पेशवा के दत्तक पुत्र थे। इनका प्रकृत नाम धून्धूपन्त था। द्वितीय बाजीराव ने अँग्रेज सरकार को आत्मसमर्पण किया था और वार्षिक आठ लाख रुपये से सन्तुष्ट होकर बिठूर में अँग्रेजों के नजरबन्दी के रूप में रहने लगे थे। द्वितीय बाजीराव की मृत्यु के बाद अँग्रेज सरकार ने वह वार्षिक आठ लाख रुपये देना बन्द कर दिया था। यही नाना साहब प्रजा–विद्रोह के अन्यतम नेता थे। – **स्वामी दयानन्द का कथन**

२९०– श्री निहालसिंह आर्य (दिल्ली) के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती १८५५–५६ में ११ बार नाना साहब से मिले थे और हो सकता है कि वे अपनी उत्तराखण्ड एवं कैलाश, मानसरोवरादि की यात्रा आरम्भ करने से पूर्व और ११ अक्टूबर १८५५ (आश्विन अमावस्या) की हरिद्वार के पहाड़ में आयोजित सभा में सम्मिलित होने के उपरान्त कानपुर (बिठूर) गए हों और इस प्रकार नाना साहब को दिया गया अपना वचन निभाया हो।

२९१– वर्ष १८५५ ई० के कुम्भ मेले में शिवरात्रि का स्नान १५ फरवरी, १८५५ ई० को हुआ था। अत: बहुत सम्भव है कि स्वामी दयानन्द इस तिथि से कुछ पहले ही हरिद्वार आ गए हों।

२९२– **प्रयाग**–तीर्थराज प्रयाग इलाहाबाद में है और दूसरे निम्न छ: प्रयाग हिमालय में हैं :–

(१) **देव–प्रयाग**–भागीरथी और अलकनन्दा के मिलन–स्थान में है।

(२) **रुद्र–प्रयाग**–अलकनन्दा के साथ मन्दाकिनी के मिलन–स्थान में है।

(३) **शैव–प्रयाग**–केदारनाथ जाने के रास्ते में त्रियुगी नारायण और गौरी–कुण्ड के अन्दर मन्दाकिनी के साथ शैव–गङ्गा या काली–गङ्गा के मिलन–स्थान में है।

(४) **कर्ण–प्रयाग**–बदरी के रास्ते में अलकनन्दा के साथ विष्णु–गङ्गा के मिलन–स्थान में है।

(५) **नन्द–प्रयाग**–अलकनन्दा के साथ मन्दाकिनी के मिलन–स्थान में है।

(६) **विष्णु–प्रयाग**–अलकनन्दा के साथ विष्णु–गङ्गा के मिलन–स्थान में है।

स्वामी दयानन्द इन छ: प्रयागों में भी योग–सिद्ध साधकों के सन्धान में गए थे। उनका दूसरा उद्देश्य साधु–सङ्गठन था।

कुम्भयोग में होता है। यह ही प्रथम स्नान है। भाद्र की अमावस्या में यहाँ द्वितीय स्नान और कार्तिक की शुक्ला एकादशी में तृतीय स्नान होता है। संन्यासी लोग नासिक से ढाई योजन की दूरी पर गोदावरी के उत्पत्ति स्थान (लम्बकेश्वर) में रहकर कुशावर्त घाट में स्नान करते हैं।

**उज्जैन में**–उज्जयिनी का कुम्भ मेला वैशाखी पूर्णिमा को कुम्भलग्न में होता है। यहाँ यह एकमात्र ही प्रथम और प्रधान स्नान होता है।

**अर्ध–कुम्भ**–प्रति ६ वर्ष बाद हरिद्वार में और प्रयाग में अर्ध–कुम्भ मेला होता है [२९३]।

सुना जाता है कि हर्षवर्धन कुम्भ–मेलों के स्थानों में विराट् महायज्ञों के अनुष्ठान करते थे, सर्वस्व दान किया करते थे। इन्हीं स्थानों में ही साधु–संन्यासी और ज्ञानियों के सम्मेलनों के कारण कुम्भ–मेलों का प्रवर्तन हुआ था। इन सम्मेलनों में लक्ष–लक्ष साधु–संन्यासियों की शोभायात्रा एक अपूर्व दृश्य है। स्वामी दयानद तीन बार हरिद्वार के कुम्भ–मेले में सम्मिलित हुआ थे [२९४]। हरिद्वार कुम्भ मेले में यह मेरी प्रथम उपस्थिति थी। अब मैंने विभिन्न नेताओं और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के नेताओं से अपने दो विषयों पर विचार–विमर्श के लिये भेंट की थी।

## शङ्कराचार्य के उत्तराधिकारियों से भेंट

शङ्कराचार्य ने संन्यासियों को एकताबद्ध करने के लिये और उनसे जगत् की उन्नति कराने के लिये भारत की चारों सीमाओं में संन्यासियों के चार मठ स्थापित किये थे। उत्तर में बदरीनारायण–क्षेत्र में **ज्योतिर्मठ**, दक्षिण के क्षेत्र में **श्रृङ्गेरी मठ**, पश्चिम के द्वारावती क्षेत्र में **शारदा मठ** और पूर्व के पुरुषोत्तम क्षेत्र में **भूगोवर्धन मठ** स्थापित करके उन मठों के सञ्चालनार्थ चार शिष्यों को प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किया था। संन्यासियों को उन्होंने दस सम्प्रदायों में विभक्त करके उनको चार मठों के अन्तर्गत कर दिया था। आज भी संन्यासी लोग उन चार मठों के अन्तर्गत दस नामों में से ही किसी न किसी नाम से अपना परिचय देते हैं [२९५]।

**संन्यासी**–श्रृङ्गेरी मठ के संन्यासियों के नाम–सरस्वती, पुरी और भारती ये तीन। गोवर्धन मठ के–वन और आरण्य

---

२९३– जिस समय स्वामी दयानन्द कुम्भ मेले विषयक ये विवरण २२ से ३१ मार्च १८७३ के मध्य कलकत्ता में लेखकों को लिखा रहे थे, उस समय हरिद्वार में सन् १८७३ का अर्ध–कुम्भ का मेला चल रहा था।

२९४– स्वामी दयानन्द के इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है, वे सन् १८७३ ई० से पूर्व हरिद्वार में सम्पन्न सन् १८५५ ई० एवं १८६७ ई० के कुम्भ मेलों में तो उपस्थित हुए ही थे, इसके अतिरिक्त वे जब मथुरा में स्वामी विरजानन्द के पास अध्ययन कर रहे थे, तब भी वहाँ से सन् १८६१ के अर्ध–कुम्भ में सम्मिलित हुए थे।

२९५– ''शङ्कराचार्य कोई सम्प्रदाय के पुरुष नहीं थे किन्तु वेदोक्त चार आश्रमों के बीच संन्यासाश्रम में थे। उनके विषय में लोगों ने सम्प्रदाय की नाईं व्यवहार कर रक्खा है। दशनाम लोगों ने पीछे से कल्पित कर लिए हैं। जैसे किसी का नाम देवदत्त होय तो उसके अन्त में दश प्रकार के शब्द रखते हैं। देवदत्ताश्रम, देवदत्त तीर्थ, देवदत्तानन्द सरस्वती और इसी का दूसरा भेद देवदत्तेन्द्र सरस्वती, देवदत्त गिरी, देवदत्तपुरी, देवदत्त पर्वत, देवदत्त सागर, देवदत्तारण्य, देवदत्त वन, देवदत्त भारती–ये दश नाम रच लिए हैं। फिर इनमें श्रृङ्गेरी, शारदा, भूगोवर्धन और ज्योति–मठ–ये चार प्रकार के मठ मानते हैं।''

–**सत्यार्थप्रकाश** (प्रथम संस्करण)

''दक्षिण में श्रृङ्गेरी, पूर्व में भूगोवर्द्धन, उत्तर मे जोशी और द्वारिका में शारदा मठ बाँधकर शङ्कराचार्य के शिष्य महन्त बन और श्रीमान् होकर आनन्द करने लगे क्योंकि शङ्कराचार्य के पश्चात् उनके शिष्यों की प्रतिष्ठा होने लगी।''

– **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

ये दो। शारदा मठ के-तीर्थ और आश्रम ये दो और ज्योतिर्मठ के-गिरी, पर्वत और सागर ये तीन नाम हैं।

**ब्रह्मचारी**–श्रृङ्गेरी मठ के ब्रह्मचारी **चैतन्य**, गोवर्धन मठ के ब्रह्मचारी **प्रकाश**, शारदा मठ के ब्रह्मचारी **स्वरूप** और ज्योतिर्मठ के ब्रह्मचारी **आनन्द** हैं।

शङ्कराचार्य के चारों मठों से सम्बन्धित हजारों संन्यासी और ब्रह्मचारी कुम्भ-मेले में उपस्थित हुए थे। स्वामी दयानन्द ने इनके चारों शङ्कराचार्यों से और प्रधान-प्रधान संन्यासियों से केवल साधु-सङ्गठन के लिये उपदेश, परामर्श और सहयोग माँगा था। उनकी प्रार्थना थी–''आप में से कई एक संन्यासी आ जाइये। हम लोग सारे भारतवर्ष में कम से कम एक हजार संन्यासी सङ्गठित और सम्मिलित हो जायें।

हमारे उद्देश्य रहेंगे-(१) वेद प्रतिपादित धर्म का उद्धार और प्रचार करना, (२) सामाजिक आदर्श और मर्यादा को देशवासियों के सम्मुख स्थापित करना, (३) देश को विदेश और विदेशियों के प्रभाव से मुक्त करना, (४) देश के मङ्गल के लिये मन और जीवन समर्पित कर देना।

आप में से ही कोई न कोई इस कार्य के सञ्चालक, कर्णधार बन जाइये।''

**उनके मनोभाव**–स्वामी दयानन्द की इस प्रार्थना पर चारों मठों के चारों शङ्कराचार्य और बड़े-बड़े संन्यासियों ने इस आशय पर अपने मनोभावों को इस रूप से प्रकट कर दिया–''हम ब्रह्मवादी संन्यासी हैं, अद्वैतवादी हैं। हमारे लिये ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। राष्ट्र, समाज, परिवार, जीवन, जगत् और ये सब स्वतन्त्रता-परतन्त्रता, वर्ण-आश्रम, हमारा-तुम्हारा भाव सब कुछ मिथ्या हैं। मिथ्या के लिये हम कुछ भी करना व्यर्थ समझते हैं।''

स्वामी दयानन्द उन्हें केवल यह कहकर चले आये थे–''दुःख की बात है कि आपके भोजन के लिये अन्न, पीने के लिये पानी, रहने के लिये स्थान, सर्दी के लिये कम्बल, हवा के लिये पंखा और सेवा के लिये शिष्य ही एकमात्र सत्य स्पष्ट हो रहे हैं, शेष सभी कुछ मिथ्या मालूम पड़ते हैं[२९६]।''

## वैष्णव सम्प्रदायवादियों से भेंट

इसके बाद निराश होकर स्वामी दयानन्द वैष्णव-सम्प्रदाय के प्रधान-प्रधान नेताओं के पास गए थे क्योंकि ये लोग भी कुम्भ मेले में हजारों की संख्या में एकत्र हुए थे। ये लोग द्वैतवादी और वैष्णव-भक्त थे।

२९६- ''जब कभी शास्त्रार्थ करते हैं तो अपने मत अर्थात् शङ्कराचार्योक्त का स्थापन और चक्रांकित आदि के खण्डन में प्रवृत्त रहते हैं। वेदमार्ग की उन्नति और यावत् पाखण्ड मार्ग हैं, तावत् के खण्डन में प्रवृत्त नहीं होते। ये संन्यासी लोग ऐसा समझते हैं कि हमको खण्डन-मण्डन से क्या प्रयोजन? हम तो महात्मा हैं। ऐसे लोग भी संसार में भाररूप हैं। जब ऐसे हैं तभी तो वेदमार्ग विरोधी वाममार्गादि साम्प्रदायी, ईसाई, मुसलमान, जैनी आदि बढ़ गए, अब भी बढ़ते जाते हैं, और इनका नाश होता जाता है, तो भी इनकी आँख नहीं खुलती। खुले कहाँ से, जो कुछ उनके मन में परोपकार बुद्धि और कर्त्तव्यकर्म करने में उत्साह होवे? किन्तु ये लोग अपनी प्रतिष्ठा (और) खाने-पीने के सामने अन्य अधिक कुछ भी नहीं समझते और संसार की निन्दा से बहुत डरते हैं......

देखो, तुम्हारे सामने पाखण्ड मत बढ़ते जाते हैं। ईसाई, मुसलमान तक हो जाते हैं। तनिक भी तुमसे अपने घर की रक्षा और दूसरों का मिलाना नहीं बन सकता। बने तो तब जब तुम करना चाहो। जब लों वर्तमान और भविष्यत् में उन्नतिशील नहीं होते, तब लों आर्यावर्त्त और अन्य देशस्थ मनुष्यों की वृद्धि नहीं होती। जब वृद्धि के कारण वेदादि सत्यशास्त्रों का पठन-पाठन, ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के यथावत् अनुष्ठान (और) सत्योपदेश होते हैं, **तभी देशोन्नति होती है।**''

–**सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

वैष्णवों के अन्दर सम्प्रदाय बहुत हैं। शङ्कराचार्य के समय में भी बहुत प्रकार के वैष्णव वर्त्तमान थे। अब मात्र रामानुजी, विष्णुस्वामी माध्व और निम्बार्की सम्प्रदाय ही प्रबल हैं। इन सम्प्रदायों का वैरागी या वैष्णव नाम से परिचय दिया जाता है। ये लोग द्वैतवादी हैं और अद्वैतवाद के विरोधी हैं। अवतारों की उपासना करना ही इनकी साधना है। सत्ययुग के नारायण, त्रेतायुग के श्रीरामचन्द्र, द्वापरयुग के श्रीकृष्ण और कलियुग के श्री चैतन्य देव की उपासना करना ही इनकी मुख्य साधना है। रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य और चैतन्यदेव ही इनके स्व-स्व सम्प्रदायों के अवलम्बन हैं। रामायेत, रामानुजी और गौड़ीय वैष्णव नामों से भी इनका परिचय होता है। दक्षिण भारत में रामानुजी वैरागी या श्री-वैष्णव अधिक संख्या में हैं। इस प्रकार अयोध्या और चित्रकूट में रामायेत वैष्णव, वृन्दावन अंचल में श्रीकृष्ण के उपासक, बंगाल और उड़ीसा में गौड़ीय वैष्णव, आसाम में शंकरदेव के उपासक शंकर वैष्णवों की संख्या अधिक है। वैष्णव या वैरागी सम्प्रदायों के अन्दर चार मठधारी सम्प्रदाय हैं- (१) रामानुजाचार्य का श्री-सम्प्रदाय, (२) मध्वाचार्य का ब्रह्म-सम्प्रदाय, (३) वल्लभाचार्य का वल्लभचारी या रुद्र सम्प्रदाय और (४) सनक सनन्दन-सनातन सनत्कुमार का निम्बार्क सम्प्रदाय।

उत्तर भारत में रामानुजी से रामानन्दी वैष्णव अधिक प्रभावशाली हैं। रामानुज के शिष्य देवानन्द, देवानन्द के शिष्य हरिनन्द, हरिनन्द के शिष्य राघवानन्द और राघवानन्द के शिष्य रामानन्द थे। इसलिए परम्परागत रूप से रामानुज से रामानन्द चतुर्थ शिष्य थे। इन सभी के अन्दर दो श्रेणिया हैं- उदासीन और गृहस्थ। गृहस्थ वैष्णव लोग उदासीनों के या गृहस्थ वैष्णव गुरुओं के निर्देशानुसार संसार धर्म का पालन करते हैं। उदासीन वैष्णव तीर्थ-पर्यटन, भिक्षा या देव-पूजा या मठों के महन्त बनकर आजीविका चलाते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों में इनके आश्रय-स्थल हैं और गृहस्थ वैष्णवों की सहायता से पुष्ट मठ, मन्दिर, देवोत्तरभूमि या अतिथि-शालायें इनके अवलम्बन हैं।

इन वैष्णव सम्प्रदायों के बड़े-बड़े गोस्वामी, महन्त, गुरु और साधु-संन्यासी हरिद्वार के कुम्भ मेले में सम्मिलित हुए थे। मैंने सभी की सेवा में उपस्थित होकर देश, राष्ट्र और समाज की शोचनीय दशा के प्रति दृष्टि आकर्षण करके अपनी दोनों प्रार्थनाओं को पूर्ववत् रखा था। इन्होंने भी दूसरे ढंग की भाषा का प्रयोग करके मुझको निराश कर दिया था।

**उनके मनोभाव**-उन सबके कहने का सारांश यह था-''हमारे ये शरीर श्रीराम या श्रीकृष्ण के भजन के लिए हैं, दूसरे कार्य के लिए नहीं हैं। दूसरे कार्य का करना, भगवान् के स्थान में देश, समाज, राष्ट्र की सेवा करना महापाप है। मानव शरीर व्यर्थ कार्य के लिए नहीं है। महाप्रभु की सेवा और चिन्तन से मुक्ति मिलेगी, देश-समाज-राष्ट्र की वैषयिक चिन्ता से भगवद्-भक्ति ढीली हो जाएगी, मुक्ति-लाभ या गोलोकवैकुण्ठ में जाने के मार्ग में प्रबल बाधायें आ जाएँगी। मानव-जीवन इतना सस्ता नहीं है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करके तब भक्ति-साधना के एकमात्र अवलम्बन भजन के लिए शरीर मिला है। इन शरीरों को देश-समाज-राष्ट्र की भजन-विरोधी सेवा के लिए समर्पण करना बुद्धिमानों का कार्य नहीं है।''

वैष्णव-गुरुओं से निराश होकर लौटते समय मैंने केवल यह वाक्य कहा था-''जिस देश में ऐसे भक्तों की संख्या vR;fèk gS]ml nsèk dk loZuk'k fuf'pr gS[२९७]।''

२९७- ''जितने पूर्वोक्त शैव, वैष्णव, शाक्तादिक पाखण्ड लिखे हैं, उनको कभी प्रचलित न होने दें; क्योंकि ये सब पाखण्ड हैं, तीनों काण्ड में नहीं हैं, उनसे विरुद्ध ही हैं। **इन पाखण्डों के चलने से राजा और राज्य नष्ट हो जाते हैं।** सो अत्यन्त प्रयत्नों से इन पाखण्डों का अङ्कुर भी न रहने देवें। जैसे कि आजकल आर्यावर्त देश में मण्डली की मण्डली फिरती है, लाखों पुरुषों ने विरक्तता का स्वाङ्ग धारण किया है; यह मिथ्या जाल ही हैं। इन लाखों पुरुषों में कोई एक पुरुष विरक्त कहलाने योग्य है, शेष सब पाखण्ड में रम रहे हैं। इनकी राजा यथावत् परीक्षा करे। सत्यवादी, जितेन्द्रिय, सब विद्याओं में निपुण और

वैष्णव सम्प्रदाय की शाखा–स्वरूप अन्य बहुत सम्प्रदाय हैं। स्वामी दयानन्द इन सम्प्रदायों के नेताओं से भी मिले थे और सभी की सेवा में साधु–सङ्गठन के उद्देश्य का निवेदन किया था और प्रेरणा दी थी। परन्तु सभी ने ही उन्हें एक जैसी ही निराशाजनक बातें कही थीं। उन सम्प्रदायों के नाम ये थे– रामानुजी, रामाईत, कबीर–पन्थी, दादू–पन्थी, रैदासी, सेन–पन्थी, रुद्र–सम्प्रदाय, मीराबाई, तुलसीदास, विट्ठलभक्त, चैतन्य सम्प्रदाय, स्पष्टदायक सम्प्रदाय, रामवल्लभी, साहब–धर्मी, बाउल, दरवेश, आउल, कर्ताभजा, न्याड़ा, सहजिया, खुशि–विश्वासी, गौरवादी, राधा–वल्लभी, सखी सम्प्रदाय, चरणदासी, हरिश्चन्द्री, सरपन्थी, माधवीपन्थी, वैरागी, नागा और ललिता। इनमें बङ्गाल के वैष्णव सम्प्रदाय अधिक हैं। इनके लिये साधु–सङ्गठन का अर्थ समझना ही कठिन हुआ था।

## कुम्भ मेले की शोभा–यात्रा

हिन्दू धर्म के विभिन्न साम्प्रदायिक रूप देखने के लिये स्वामी दयानन्द ने कुम्भ मेले के स्नान–यात्रियों की शोभा–यात्रा को भी देखा था। उसका स्वरूप निम्न प्रकार का था–

**दिग्विजय डङ्का**–शङ्कराचार्य के लिये जय ध्वनि, एक नागा संन्यासी घोड़े पर सवार होकर दो नगाड़े पीटते हुए जाता है।

**दिग्विजय का झण्डा**–शङ्कराचार्य की विजय–पताका लेकर एक नागा संन्यासी गेरु पताका लेकर घोड़े पर सवार होकर जाता है।

**कसरत**–नागा संन्यासी लोग पदातिक और अश्वारोही सैन्यों के रूप में युद्ध–भूमि में जाने के ढङ्ग से अग्रसर होते हैं।

**निदर्शन**–भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों के और अखाड़ों के पताका–प्रदर्शन।

**ऐक्यतान वादन**–युद्ध कालीन समवेत वाद्यध्वनि।

**गैरिक पताका**–हाथी के ऊपर बैठे हुए संन्यासी के हाथों में त्याग के प्रतीक अति बृहत् गैरिक पताका की धारणा।

**विजय पताका**–युद्ध में जय लाभ का निदर्शन हाथी के ऊपर जरीदार मखमल की बड़ी नीले रङ्ग की पताका।

**दण्डधारी**–नागा संन्यासियों की सोने–चाँदी से मण्डित दण्डों को धारण करके विजय–गौरव के ढङ्ग से अग्रगति।

**धूनाधारी**–युद्ध कालीन उत्साह–व्यञ्जक धूप–धूना के साथ अग्रगति।

**बल्लम पूजा**–बल्लमों (भालों) से शत्रु–जय, बाद में बल्लमों की पूजा। भारत–वर्ष के हजारों लाखों नर–नारियों के सम्मुख त्यागी नागा साधु–संन्यासियों का विजय पर्व उन्मादन के साथ सामरिक ताल से पादक्षेप बहुत ही विस्मय के कारण हैं।

''पराधीन भारत में भी इतना हर्ष? क्या ये लोग भूल गए हैं कि हमारी मातृ–भूमि विदेशियों के हाथों में परतन्त्र है और पितृ–पुरुषों का धर्म विदेशियों से पद–दलित है? क्या इन लोगों को मालूम नहीं है कि विदेशी राहु ने हमारी देश–जननी को ग्रास कर लिया है और अब सर्वग्रास के लिए तैयार हो गया है? क्या इन लोगों को मालूम नहीं है कि देश में अदूर भविष्य में जो क्रान्ति आने वाली है, उसमें मात्र एक हजार साधु–संन्यासी त्यागी–महात्मा भी भाग लें और अपने–अपने जीवनों की आहुतियों के रूप में अर्पण कर दें तो देश सर्वनाश से बच जाए?'' स्वामी दयानन्द ने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि जब तक कुम्भ मेला चलता रहेगा, वे देश, जाति, धर्म–रक्षा के लिये मुख्य–मुख्य सब ही को प्रेरणा देते रहेंगे। इन सबको सङ्गठित रूप से मातृभूमि की सेवा और रक्षा के लिए सदा तैयार रहने के लिए वे अनुरोध करेंगे [२९८]।

---

शान्त्यादिक गुण जिसमें हों, उसको तो विरक्त ही रहने दें। इससे जितने विपरीत हों, उनको यथायोग्य हल–ग्रहणादिक कर्मों esa jkt kyxkneSa bl Ø;oLFkk dks vo'; djsa vU;Fkk dHkh l[kq u gksxkA** –**सत्यार्थप्रकाश** (प्रथम संस्करण)

२९८– ''जो उन्नति करना चाहो, तो 'आर्यसमाज' के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिए, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा। क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी

गृहस्थ नर-नारी और भिन्न-भिन्न राज-पुरुषों का भी यहाँ आगमन हुआ है। इन्हें भी इस कार्य में सहयोग देने के लिए वे अनुरोध करेंगे और इसके बाद योग-सिद्ध साधकों के सन्धान के लिए हिमालय और तिब्बत में भ्रमण करेंगे।

**कुम्भ मेले की भीड़-भाड़ में निराशा**-कुम्भ स्नान के लिए बहुत पहले ही हजारों-हजार तीर्थयात्री हरिद्वार पहुँच गए थे। भीड़ से बचने के लिए स्वामी दयानन्द ने चण्डी पहाड़ पर आश्रय लिया था। हरिद्वार आने के बाद उन्हें हिन्दू जगत् के विभिन्न सम्प्रदायों की स्थिति और जनता के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था। वे यथासाध्य प्रधान-प्रधान सभी सम्प्रदायों से मिले थे और उनके गुरुओं और मुख्य पुरुषों के साथ बात-चीत की थी। उनका उद्देश्य था-स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए उनके भीतर उत्साह पैदा करना, परस्पर विरोधी सम्प्रदायों के साधुओं को सङ्गठित करके उस उत्साह को क्रियात्मक रूप में परिणत करना। परन्तु उन्होंने स्वामी दयानन्द को अपने इस उद्देश्य से भ्रष्ट करने का ही प्रयत्न किया, जिससे विभिन्न सम्प्रदायों के गुरुओं से वे निराश हुए थे।

**निराशा में आशा**- बहुत से सम्प्रदायों के नेता स्वामी दयानन्द के उद्देश्यों के विरोधी बनकर उनके विरुद्ध घूम-घूमकर प्रचार भी करने लगे थे और उनके रहने के स्थान पर आकर उनके ऊपर आक्रमण और अत्याचार के लिए जनता को भड़काने लगे थे। इसका सुफल यह हुआ कि साधु-संन्यासी, यति और गृहस्थ तीर्थ-यात्री उन जैसे पाखण्डी को देखने के लिए कौतूहली होकर चण्डी के पहाड़ पर आने लगे थे। धीरे-धीरे दिन-प्रतिदिन उनके दर्शनार्थी तीर्थ-यात्रियों की संख्या बढ़ने लगी थी। दर्शनार्थी तीर्थ-यात्रियों के सम्मुख खड़े होकर उन्होंने प्रतिदिन प्रात: और मध्याह्न: में स्वदेश और स्वधर्म की रक्षार्थ उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया था। उनके जीवन में जनता के सम्मुख व्याख्यान देने का सूत्रपात यहीं से हुआ था। सभी पुरुष-स्त्री खड़े होकर उपदेश सुनकर चले जाते थे। सरकारी कर्मचारी और शान्ति-रक्षक भी वहाँ आया-जाया करते थे। इससे उनके लिए दो समस्यायें भी उत्पन्न हो गयीं थीं। एक तो यह कि जनता उन्हें प्रणाम करने लगी और दूसरी यह कि वह पैसे भी उन्हें भेंट में देने लगी थी।

स्वामी दयानन्द ने कई-एक बार हाथ जोड़कर प्रार्थना की-"मुझको ये दोनों ही नहीं चाहिए। मेरे भोजन के लिए प्रतिदिन स्वल्प वस्तु की आवश्यकता होती है और पैसे की तो बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं है। मुझे प्रणाम भी नहीं चाहिए। मैं एक मामूली संन्यासी हूँ।" परन्तु सवामी दयानन्द की इस प्रार्थना को जनता में से किसी ने भी नहीं सुना।

एक सज्जन ने कहा-"हम लोग आपको कुछ नहीं देते और आपको प्रणाम भी नहीं करते। अपने प्राचीन ऋषि-मुनि और पूर्वजों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हैं, इसके सिवाय और कुछ नहीं। जो कुछ पैसे आपकी भेंट के लिए दिए जाते हैं, इसको भी रोकना नहीं चाहिए। यह भी हमारी जाति का अन्यतम सद्गुण है। यह भी प्राचीन धर्म-गुरुओं के प्रति श्रद्धा का प्रदर्शन मात्र है। आप इसको जहाँ चाहें, व्यय कर देना।" इस बात पर स्वामी दयानन्द निरुत्तर और मौन हो गए थे।

**राजा गोविन्दनाथ राय**-गोविन्दनाथ राय उत्तरी बङ्गाल में नाटोर की प्रसिद्ध रानी भवानी के वंशज थे। यह रानी सिराजुद्दौला के शासनकाल तक आधे बङ्गाल की शासन-कर्त्री थी, परन्तु अँग्रेजों ने धीरे-धीरे सब ही राज्य ग्रास कर लिया था जिससे ये लोग असहाय बन गए थे। अब ये लोग जमींदार मात्र हैं। राजा गोविन्दनाथ राय कुम्भ-स्नान के लिए हरिद्वार आए थे। आप अचानक रात्रि की शान्त, नीरव और निर्जन स्थिति में चार कर्मचारियों के साथ मशाल हाथ में लेकर स्वामी दयानन्द के पास आकर प्रणिपात करके बैठ गए और योग-विद्या के बारे में उनका उपदेश माँगा। स्वामी दयानन्द ने उनको

पालन होता है, आगे होगा; उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। इसलिए जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता। यदि इस समाज को यथावत् सहायता देवें तो बहुतअच्छी बात है क्योंकि समाज का सौभाग्य बढ़ाना समुदाय का काम है, एक का नहीं।" -**सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

उपदेश दे दिया और उन्होंने विदा-बेला में उनके सम्मुख ग्यारह सौ एक रुपये की थैली भेंट के रूप में रख दी थी। स्वामी दयानन्द ने उन्हें समझाया कि उनके लिए यह रुपया हानिकारक हो जाएगा। उनके लिए यहाँ कुछ भी अभाव नहीं है परन्तु उन्होंने रुपया वापस नहीं लिया बल्कि प्रयोजनानुसार कुछ और गुरु-दक्षिणा के रूप में देने के लिए कहा था। उन्होंने सुना था कि स्वामी दयानन्द तिब्बत जाने का विचार रखते हैं, जिससे उन्होंने उनसे कहा कि ''तिब्बत जाना अति कठिन और खतरनाक है। आप कभी उत्तर बङ्गाल में मेरे स्थान नाटोर तक आने की कृपा करें। हम आपके साथ अपने विश्वस्त किसी एक पहाड़ी व्यक्ति को सङ्गी और साथी के रूप में कर देंगे।'' परन्तु स्वामी दयानन्द का सङ्कल्प था-काश्मीर जाकर हिमालय में भ्रमण करने का, फिर ल्हासा होकर दार्जिलिङ्ग तक आने का और सम्भव हो तो गङ्गासागर भी जाने का। इसलिए इस सङ्कल्प को ही उन्होंने दृढ़तर कर लिया था।

**रानी लक्ष्मी बाई और गङ्गा बाई**- एक-दो दिन के बाद ही झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और उनकी सहचरी गङ्गाबाई [२९९] ने तीन कर्मचारियों के साथ वहाँ आकर प्रणिपात किया। परिचय पूछने पर लक्ष्मीबाई आँखों में आँसू भरकर ओजस्विनी वाणी में कहने लगी-''मैं निःसन्तान और विधवा हूँ। मेरे पतिदेव की मृत्यु के बाद मेरे श्वसुर-कुल के वैध राज्य को अँग्रेजों ने मेरे निःसन्तान होने के बहाने से अपना राज्य घोषित कर दिया, जिससे मेरे पतिदेव के राज्य से मेरा अधिकार चला गया और अँग्रेजों का अधिकार बन गया। सुनते हैं कि अँग्रेज सेनापति बहुत अधिक संख्या में फौज लेकर मेरी झाँसी को छीनने के लिए आ जाएगा।''

आँखों से आँसू बहाती हुई झाँसी की महारानी ने कहा-''महात्मा जी! मैं जिन्दा रहती हुई अपने श्वसुर-कुल के इस राज्य को दुश्मनों को नहीं दूँगी। मैं लड़ाई करती हुई मर जाऊँगी, लेकिन झाँसी को चुपचाप लुटेरे डाकुओं को नहीं दूँगी। मेरे लिए इस प्रकार के मरण को वरण करना ही कल्याणकर है। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं हँसती हुई युद्ध में मर जाऊँ [३००]।''

लगभग बीस वर्ष की एक तरुणी [३०१] के मुख से ऐसी बातें सुनकर स्वामी दयानन्द की समझ में आ गया कि भारतवर्ष में अभी तक भी वीर रमणियाँ मौजूद हैं, भारत वीर-शून्य नहीं है।

रानी से स्वामी दयानन्द ने कहा कि ''नश्वर शरीर को कोई भी स्थायी नहीं कर सकता है। स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए जो अपने अस्थायी शरीर को दे देते हैं, वे कभी नहीं मरते। चिरकाल के लिए वे पूजा पाएँगे। हम भगवान् से आपके लिए शुभ और कल्याण की प्रार्थना करते हैं।''

उन्होंने भी एक हजार एक रुपया स्वामी दयानन्द के सम्मुख रखकर सम्मान दिखाया। नाटोर के राजा से जैसा स्वामी दयानन्द ने कहा था, उन्हें भी वैसा ही उन्होंने कहकर रुपये लेने से असहमति प्रकट की, लेकिन इन्होंने भी नहीं माना। इस समस्या से मुक्त होने के लिए स्वामी दयानन्द ने भगवान् से प्रार्थना भी की थी, परन्तु जनता ने सुनी नहीं। सभी अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार रुपये-पैसे देने लगे थे। इनका सदुपयोग कैसे हो, वे यही सोचने लगे। वे चली गईं।

---

२९९- नाना साहब की माँ का नाम भी गङ्गाबाई था।

३००- ''२७ दिसम्बर १८५४ ई० को डलहौजी ने झाँसी राज्य को अँग्रेजी राज्य में मिला लिया। झाँसी की रानी अपनी प्रार्थना के अस्वीकार होने पर बहुत रोष में भर गयी। उस समय उनकी अवस्था १९ वर्ष की थी। उनके सामने पेशवा की मृत्यु के पश्चात् नाना धूँधूपन्त की ८ लाख की पेंशन बन्द होने का उदाहरण उपस्थित ही था। फलतः उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा-'मेरा झाँसी नहीं देऊँगी'-अर्थात् मैं अपनी झाँसी न दूँगी।'' - **संघर्षकालीन नेताओं की जीवनियाँ** (पृ० १७९)

३०१- रानी लक्ष्मीबाई (बचपन का नाम मनुबाई) का जन्म १९ नवम्बर १८३५ को हुआ था। अतः मार्च १८५५ में उसकी आयु १९ वर्ष ४ माह थी।

**नाना साहब आदि का पुनरागमन**–नाना साहब और नये अपरिचित तीन–चार सज्जन सात–आठ दिन के बाद फिर स्वामी दयानन्द से मिलने के लिए आए थे। वे सब कर्मशील और व्यस्त थे।

नाना साहब ने कहा–''हम लोग सारे भारतवर्ष में भ्रमण के लिए भिन्न–भिन्न दिशाओं में चले जायेंगे। अतिशीघ्र निर्दिष्ट तिथि में हम लोग चुने हुए स्थानों में सुस्पष्ट विद्रोह का युद्ध आरम्भ कर देंगे। तिथि अब तक ठीक नहीं हुई है। सङ्गठन में हम लगे हुए हैं। आपसे आशीर्वाद लेने के लिए हम यहाँ आये हैं। हम जहाँ भी रहेंगे, आपको यथासम्भव सूचित करते रहेंगे।''

स्वामी दयानन्द ने उन्हें कहा–''जो आशीर्वाद मैं आप लोगों को दूँगा, आप लोग उसको अवश्य लेंगे–इसका ठीक–ठीक आश्वासन दीजिए। आशीर्वाद मैं अवश्य दूँगा।''

उन्होंने कहा–''आपका आशीर्वाद हमारे लिए शिरोधार्य है।''

स्वामी दयानन्द ने राजा गोविन्दनाथ राय और रानी लक्ष्मीबाई द्वारा प्रदत्त रुपये और जनसाधारण द्वारा प्रदत्त फुटकर पाँच सौ तैंतीस रुपये कुल छब्बीस सौ पैंतीस रुपये नाना साहब के हाथ में स्वदेश रक्षा के लिए दे दिए। इन्हें उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

तब स्वामी दयानन्द ने कहा कि–''जनसाधारण का नेतृत्व करना और आग लेकर खेल करना–ये दोनों ही खतरनाक हैं। साधारण सी भूल से भी सर्वनाश हो जाता है। हमारे पास भेंट के रूप में जो कुछ एकत्र हो जाएगा, सब कुछ आपके पास स्वदेश–रक्षा के लिए ही आशीर्वाद के रूप में भेजते रहेंगे।''

फिर ये लोग प्रसन्न होकर चले गए। स्वामी दयानन्द भी हिमालय में योगी और साधकों को ढूँढ़ने की तैयारी में लग गए।

**क्रियात्मक रूप से योग साधना**–हरिद्वार में कुम्भ मेले के बाहर निर्जन जंगल और पहाड़ी अञ्चलों में स्वामी दयानन्द ने मुख्य–मुख्य स्थानों में अपना अधिकांश समय योग–साधना में बिताते थे। इस उपलक्ष्य में उन्होंने पाँच योग–साधकों के सङ्ग में आने का सुयोग–लाभ किया था। उनका उन्होंने क्रियात्मक योग देखा। इनके नाम थे–स्वामी मोक्षानन्द तीर्थ, चिदानन्द ब्रह्मप्रकाश आरण्य, स्वामी दिव्यानन्द तीर्थ, स्वामी भक्तिविलास पाञ्चरात्र और स्वामी निर्वाणानन्द पुरी। इनके प्रति स्वामी दयानन्द कृतज्ञ रहे। इन्होंने उन्हें क्रियात्मक रूप से योग–साधना के बारे में बहुत कुछ उपदेश भी दिया था।

**साधु जनता में जागृति**–नाना साहब और रानी लक्ष्मी बाई के प्रचार के कारण साधु लोग स्वामी दयानन्द के साथ वार्तालाप की इच्छा से एक–एक करके सैंकड़ों की संख्या में शङ्का–समाधान के लिए आने लगे। स्वधर्म–रक्षा के लिए विहित कार्यक्रम जानने के लिए भी वे लोग उनके पास आते थे। स्वामी दयानन्द ने सबसे ही अनुरोध किया था–

''आप लोग अपने–अपने सम्प्रदायों के अन्तर्भुक्त रहकर ही स्वधर्म–रक्षा के लिए तैयार हो जाइये। जनसाधारण के अन्दर धर्म–रक्षा के लिए नया उत्साह उत्पन्न कीजिये। धर्म हमारे पूर्वजों की और ऋषि–मुनियों की कीर्ति और दान है। अहिन्दू नर–नारियों के प्रभाव से जाति और धर्म को और कतिपय विदेशी पादरी या मौलवियों की धोखेबाजी से ऋषियों के वंशजों को बचाइये। धर्म की प्राथमिक शिक्षा के प्रथम पाठ का जनसाधारण में प्रचार कीजिये। प्रयोजनानुसार धर्म–रक्षा के लिए और जाति के कल्याणार्थ जीवन दे देना परम पुण्य कार्य है। जगह–जगह धर्म–प्रचार के लिए केन्द्रों की स्थापना कीजिये। साधुओं के जीवन में दोनों ही पुण्य कार्य हैं। प्रथम–एकान्त जीवन में आत्मिक उन्नति के लिए योग–साधना करना और दूसरा–सामूहिक जीवन के उत्कर्ष के लिए वेद–प्रतिपादित धर्म का प्रचार करना। इन दोनों में ही हमारा पारमार्थिक

कल्याण निहित है। आप लोग इन केन्द्रों के अधीन रहकर सङ्गठित हो जाइये। स्वदेश हमारी माता है और स्वधर्म हमारा पिता है। दोनों की रक्षा के लिए तत्पर रहिये और स्वेच्छा से जो साधु लोग इस व्रत को धारण करें उनके नामों की तालिका बनाते रहिये।''

साधु लोगों ने कहा–''हम लोगों ने आपसे प्रेरणा पाते ही अपनी इच्छा से पहले ही लगभग ढाई सौ साधुओं के नामों की तालिका बना ली है। आप जब चाहेंगे, ये लोग एक साथ स्वदेश–रक्षा के लिये जुट जायेंगे।''

स्वामी दयानन्द ने कहा–''उत्तर–दक्षिण और पूर्व–पश्चिम भारत में जितने सैन्यावास मौजूद हैं, वहाँ सुविधा के अनुसार कमलपुष्प और चपाती की बहु प्राचीन पद्धति से सैन्य और नागरिकों के अन्दर स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए प्रेरणा और जागृति पैदा कर देना आवश्यक है।'' तब वे लोग स्वामी दयानन्द की बातें शिरोधार्य करके चल दिये और बोले कि सबके साथ सम्बन्ध रखकर ही चलेंगे।

स्वामी दयानन्द ने केवल इङ्गित से उन्हें बोल दिया था कि ''उत्तर भारत में मेरठ की ओर, पूर्व भारत में बैरकपुर की ओर और दक्षिण भारत में वेल्लोर की ओर अवश्य जाना चाहिये। केवल आप लोग दिल्ली के योगमाया मन्दिर के पुरोहित त्रिशूल बाबा से सम्पर्क रखियेगा। वहाँ से नियमित समाचार मिलेगा और आप लोगों के समाचार भी हमको वहाँ से अवश्य मिलने चाहिये [३०२]।''

## काश्मीर और लद्दाख की यात्रा

[ वैशाख (शुक्ल पक्ष) से फाल्गुण संवत् १९१२ वि० पर्यन्त ]

**हरिद्वार से ऋषिकेश**– जब मेला हो चुका [३०३] और साधु लोग चले गए तब स्वामी दयानन्द भी हरिद्वार से ऋषिकेश की ओर प्रस्थित हो गए। हिमालय में भ्रमण करना और योगियों से योग–साधना के बारे में उपदेश ग्रहण करना और साधुओं को सङ्गठित करना ही उनका उद्देश्य था। कहीं–कहीं उन्हें योगियों से मिलने का अवसर भी मिल जाता था [३०४]।

**ऋषिकेश से श्रीनगर**– ऋषिकेश से परिव्राजक साधुओं में सम्मिलित होकर वे लक्ष्मण झूला आए। वहाँ से वे टिहरी आकर श्रीनगर तक पहुँच गए थे। केदारघाट के योगी साधुओं के साथ मिलकर उन्होंने तीन सप्ताह का समय योगाभ्यास में वहाँ व्यतीत किया था [३०५]।

---

३०२– ^^x›kr Vij Hkz.kdkdkj.kLokeht h; g crkr sFksfd x›kdkt yok, qo'kq) vkSmi dkjhgS& **वहाँ साधु–सन्तों का समागम और देश की स्थिति का परिज्ञान होता है।''**

– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (भाग–१, पृ० ३१६)

प्रतीत होता है कि गङ्गातट पर विचरण करते हुए स्वामी दयानन्द उन्हीं साधुओं से मिलकर देश का समाचार लेते थे जिनका उनसे हरिद्वार के इस कुम्भ के मेले में सम्पर्क और परिचय हुआ था।

३०३– कुम्भ मेला १४ अप्रैल १८५५ (तदनुसार वैशाख कृष्णा १३ संवत् १९१२ वि०) को समाप्त हुआ था।

३०४– स्वामी दयानन्द ने अपने जन्म–चरित्र का यहाँ तक का विवरण हस्तलिखित ६ पृष्ठों में लिखाकर **'थियोसोफिस्ट'** पत्रिका के प्रवेशाङ्क में प्रकाशनार्थ भेजा था जिसमें से प्रथम पाँच पृष्ठों में से प्रत्येक में सत्ताइस पंक्तियाँ थीं और छठे पृष्ठ पर मात्र सत्रह पंक्तियाँ। ऐसी दशा में या तो उन्हें अपना यह प्रथम लेख हरिद्वार कुम्भ मेले पर ही समाप्त करा देना चाहिए था अथवा ऋषिकेश के आगे तक का कुछ विवरण और लिखा देना चाहिए था। परन्तु यहाँ तक आकर रुक जाने का रहस्य यही है कि इसके आगे का कुछ विवरण वे छिपाना चाहते थे जैसा कि अगले विवरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

३०५– आगे श्रीनगर (उत्तराखण्ड) से लेकर श्रीनगर (काश्मीर) तक जाने का विवरण या तो स्वामी दयानन्द ने स्वयं ही नहीं

**श्रीनगर से अमरनाथ**– श्रीनगर से अमरनाथ जाना स्वामी दयानन्द ने आवश्यक समझा था, क्योंकि उन्होंने सुन रखा था कि अमरनाथ में कोई न कोई योग-सिद्ध पुरुष सदा ही रहते हैं [३०६] जिनमें योग-बल से देहत्याग करने की शक्ति है और कैवल्य-लाभ की सहज शक्ति भी उनमें सदा ही है। अगल-बगल बहुत से योग-सिद्ध पुरुषों के स्वेच्छा-मृत्यु के बाद जीर्ण कङ्काल वहाँ ही पड़े रहते हैं। तिब्बती साधु लोग उन कङ्कालों के टुकड़ों को तिब्बत में ले जाते हैं। तिब्बत के साधु लोग उन टुकड़ों को बाजार में बेच देते हैं।

अमरनाथ जाने के लिए स्वामी दयानन्द तैयार हो गए थे क्योंकि वहाँ साधु-दर्शन होगा, ऐसा उन्होंने सुना था। बेताल-सिद्ध नाम के किसी योग-सिद्ध पुरुष के बारे में भी सुना था। पहलगाँव, चन्दनवाड़ी, शेषनाग और पञ्चतरणी होते हुए स्वामी दयानन्द अमरनाथ पहुँच गए थे [३०७]। वहाँ किसी गुफा में सरदी के कारण शुक्ला प्रतिपदा से बरफ जमते-जमते पूर्णिमा में छह हाथ चौड़ा और तीन हाथ ऊँचा बरफ का शिवलिङ्ग बन जाता है [३०८]। उसी का नाम अमरनाथ शिवलिङ्ग है। कृष्णा प्रतिपदा से वह शिवलिङ्ग क्षय को प्राप्त होते-होते अमावस्या में नाम मात्र ही रहता है। यह अमरनाथ शिवलिङ्ग का महात्म्य कहा जाता है।

वहाँ स्वामी दयानन्द को बेताल-सिद्ध बाबा का दर्शन मिला था। उन्होंने उनको मोक्ष लाभ का अति सरल उपाय यह बतलाया था कि किसी नव-जात पुं-शिशु को चोरी करके लाना और अमावस्या की मध्य रात्रि में श्मशान भूमि में उस

---

लिखाया अथवा वह पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री जी को मिला नहीं।

श्रीनगर (उत्तराखण्ड) से श्रीनगर (काश्मीर) तक के पैदल मार्ग में क्रमशः टिहरी, उत्तरकाशी, नारकण्डा, जोगेन्द्रनगर, धर्मशाला, चम्बा, भद्रावा, किश्तवार और अनन्तनाग पड़ते हैं।

द्रष्टव्य- '**कादम्बिनी**' के नवम्बर १९८३ (दीपावली विशेषाङ्क) में पृ० १९३ पर छपा पदयात्रियों के यात्रा मार्ग का चित्र।

काश्मीर जाते हुए स्वामी दयानन्द हरसिल में दो माह तक ठहरे थे। इसका प्रमाण वहाँ के एक ब्राह्मण के घर से स्व० महात्मा आनन्द स्वामी जी को मिला था। स्वामी सच्चिदानन्द योगी ने भी इसकी जानकारी प्राप्त की थी।

३०६- वास्तव में अमरनाथ में योगियों के रहने की सम्भावना नहीं है, ऐसा स्वामी प्रणवानन्द जी ने, जो १५ दिन वहाँ रहे थे, हमें बताया था। वहाँ तो आदमी अकड़ जाता है। जो हो, स्वामी दयानन्द ने इसीलिए यहाँ 'सुना था'-ऐसा कहा है।

३०७- ''तब भीम ने निश्चय कर लिया कि यही भैंसा (महादेव) है। भीम उसके पकड़ने को दौड़ा, तब वह भैंसा पृथिवी में गुप्त हो गया। उसका सिर नैपाल में निकला जिसका नाम पशुपति रक्खा है। तथा उसका पग काश्मीर में निकला, जिसका नाम **अमरनाथ** रक्खा और चूतड़ वहीं निकला जिसका नाम केदार है और जंघा जहाँ निकली, उसका नाम तुङ्गनाथादिक रक्खा है। ऐसे पञ्च केदार लोगों ने रच लिए हैं।

इसमें विचारना चाहिए कि नेपाल में भैंसे का श्रङ्ग, नाक, कान कुछ नहीं दीख पड़ता है, **काश्मीर में खुर भी नहीं दीख पड़ते।** ऐसे ही अन्यत्र भी भैंसे का कुछ चिन्ह नहीं दीख पड़ता, सर्वत्र पाषाण ही दीख पड़ता है।''

– **सत्यार्थप्रकाश** (प्रथम संस्करण)

''काश्मीर से लेकर नेपाल की सीमा तक हिमालय का जो उच्च प्रदेश है, वहीं देव लोक था और **उस समय आज की तरह उस स्थान पर बर्फ नहीं पड़ती थी**, ऐसा विदित होता है। प्राचीन समय में यदि इतनी बर्फ पड़ती होती तो देव लोगों की देवलोक में स्थिति कैसे होती? इस देवलोक में भद्र पुरुष प्रत्येक स्थान पर राज्य करते थे। इस विषय में आज तक भारतखण्ड में प्रमाण मिलता है।''

–**पूना-प्रवचन** (दशवाँ प्रवचन)

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने काश्मीर और अमरनाथादि स्थान देखे हुए थे।

३०८- श्रावणी पूर्णिमा को यह दृश्य देखने के लिए तीर्थयात्री अमरनाथ पहुँचते हैं। सन् १८५५ ई० में यह अवसर २७ अगस्त (सोमवार) को आया था।

जीवित शिशु पर बैठे हुए चामुण्डा देवी के बीजमन्त्र का एक लाख, एक हजार, एक सौ एक बार जप करने से अतिशीघ्र मोक्ष मिल जाता है।'' स्वामी दयानन्द उनकी इस साधन-प्रणाली को सुनकर ही वहाँ से चले आए थे।

**अमरनाथ से श्रीनगर**- अमरनाथ से श्रीनगर आकर स्वामी दयानन्द ने सुना था कि बौद्ध साधु लोग विभिन्न स्थानों पर परिभ्रमण करके तिब्बत जा रहे हैं। साधुओं के लिए राजनैतिक विधि-निषेध बहुत ही ढीला है। स्वामी दयानन्द भी बहुत ही प्रयत्न करके बौद्ध-साधु-तीर्थयात्रियों में सम्मिलित हो गए थे। श्रीनगर से वे क्षीर-भवानी के मन्दिर में योगी साधुओं के सन्धान में गये थे, लेकिन वे वहाँ से निराश होकर चले आये थे।

**श्रीनगर से गन्दरबल**-बौद्ध साधुओं के साथ स्वामी दयानन्द डेढ़ योजन दूरी पर गन्दरबल नामक-स्थान में आए थे। क्षीर-भवानी मन्दिर यहाँ से समीप ही है। गन्दरबल से वे तुलमुल आए। इस गाँव के प्रान्त भाग में ही क्षीर-भवानी का मन्दिर है। बौद्ध साधुओं ने उनके लिये लेह शहर के मन्त्री और कार्गिल शहर के तहसीलदार के नाम पर परिचय पत्रों का प्रबन्ध कर दिया था। अत: स्वामी दयानन्द साधुओं के साथ सिन्धु नदी के तट का अवलम्बन करके पैदल तिब्बत की ओर प्रस्थित हो गये [३०९]।

**गन्दरबल से कङ्गन**-गन्दरबल से स्वामी दयानन्द नुन्नुर, जोजिला आदि स्थानों पर होकर कङ्गन नामक स्थान पर पहुँचे। सिन्धु नदी के तट देश में अखरोट, नासपाती, सेब, बादाम और अङ्गूर आदि के असंख्य पेड़-पौधे थे। भगवान् की सुन्दर सृष्टि को देखते हुए तिब्बत के अन्तर्वर्ती स्थानों की ओर स्वामी दयानन्द अग्रसर होने लगे। मार्ग में बौद्ध साधुओं से उनकी धर्म-विषयक चर्चा भी हुआ करती थी। स्वामी दयानन्द हमेशा ही कहा करते थे कि गौतम-बुद्ध ने कभी अलग से धर्म-सम्प्रदाय स्थापित करना नहीं चाहा था। परन्तु उनके अनुयायी कतिपय व्यक्तियों की प्रबल चेष्टा से बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना हुई थी और इनकी मृत्यु के बाद महायान और हीनयान आदि उप-सम्प्रदायों का उद्भव हुआ था। स्वामी दयानन्द कहा करते थे कि गौतम बुद्ध एक शुद्ध हिन्दू संन्यासी थे। उनकी इस बात को सुनकर कुछ बौद्ध साधु उनसे रुष्ट हो गये थे और कोई-कोई उनके प्रति सन्देह भी करने लगे थे।

**कङ्गन से मटयन**-स्वामी दयानन्द के साथी लोगों ने कङ्गन से गुण्ड, हायान, गञ्जन, सोना मार्ग, द्रास, सिरबल, बालतल आदि स्थान अतिक्रमित किये थे। बालतल से जोजिला नामक गिरिपथ पार होने से ही तिब्बत राज्य शुरू हो जाता है। यह गिरिपथ ही मध्य एशिया से भारत आने-जाने का प्राचीन पथ था। इस रास्ते से परिचय पत्र लेकर स्वामी दयानन्द तिब्बत के पहले गाँव मटयन में पहुँच गये थे। अब ये सब लोग हिमालय पार तिब्बत में थे।

**मटयन से कार्गिल**-मटयन से पानदास, दुनुदुलयाँग, तासगाम, शमसा खुर्बु, पड़ाव आदि ग्रामों से होकर स्वामी दयानन्दादि सब लोग कार्गिल नामक शहर पहुँच गए थे। यहाँ से लेह शहर लगभग १५ योजन है। लेह लद्दाख राज्य का प्रधान शहर है। कार्गिल में लगभग सभी धर्मावलम्बी निवास करते हैं।

**कार्गिल से लेह शहर**-कार्गिल लद्दाख और काश्मीर का मध्यवर्ती स्थान है। कार्गिल से स्वामी दयानन्द को मुलबेक चम्बा नामक गाँव में जाना था। पर्वत पर आरोहण करके बहुत ही ऊँचे रास्ते से करीब तीन योजन रास्ता चलने में १२ घण्टे का समय लगता है। प्राणवायु वहाँ बहुत ही विरल है, इसलिये जाना कठिन है। प्रात:काल प्रस्थित होके स्वामी दयानन्दादि सभी लोग रात को वहाँ पहुँच गए थे। कार्गिल से लगभग ढाई योजन की दूरी पर उन्हें लामाओं के मठ और बौद्ध स्तूप दृष्टिगोचर हुए। दो योजन चलने पर बोध खर्बु नामक गाँव में वे लोग पहुँचे। वहाँ प्रत्येक गाँव में मृत व्यक्तियों

---

३०९- उस समय लद्दाख प्रदेश पर तिब्बत का आधिपत्य था। बाद में जम्मू के महाराजा गुलाबसिंह के वीर सेनापति जोरावरसिंह ने इसे अपने अधीन कर लिया था।

का श्मशान-भस्म कोटा में रखा जाता है और मृत व्यक्तियों का नाम प्रस्तर-खण्ड में लिखकर रख दिया जाता है। लद्दाख के राजा लोग प्राचीन काल में इन प्रस्तरों के लिये प्राचीर निर्माण कर देते थे और पुण्य सञ्चय करते थे। स्वामी दयानन्द ने ऐसे बहुत से प्रस्तरों को देखा था। इस रूप में नुरला नामक गाँव अतिक्रमित करने के बाद उन्हें लिकिर गोम्पा दृष्टिगोचर हुआ था। लिकिर पर्वत बहुत ऊँचा है। बौद्धों के लिये यह बहुत ही पवित्र स्थान है। सोने के सिंहासन पर सोने की बुद्ध मूर्ति है। वज्रपाणि, लोकेश्वरी, वज्रतारा, अवलोकितेश्वर, शाक्यथुब्बा, मञ्जुश्री आदि बौद्ध देव-देवियों की मूर्तियाँ शोभित हैं।

इसके बाद स्वामी दयानन्द न्यीमू की ओर अग्रसर हुए। वहाँ से लद्दाख राज्य के प्राचीन सर्वश्रेष्ठ शहर वजगो का ध्वंसावशेष उन्होंने देख लिया था। इसके बाद वे न्यीमू में पहुँच गए थे। न्यीमू से बौद्ध लोग लेह शहर आते हैं और आगे सुप्रसिद्ध हिमिस मठ को जाते हैं। न्यीमू ग्राम से आकर नदी पार होकर स्वामी दयानन्द पितक नामक स्थान में आए थे। वहाँ पहाड़ पर फियाँ नामक गोम्पा है। इस उपत्यका में लेह शहर, स्तोक गाँव और सिन्धु नदी सदृश मूल्यवान् सम्पद हैं। इसके बाद ही स्वामी दयानन्द लेह शहर में पहुँच गए थे [३१०]। लद्दाख के अधिवासी लगभग सब के सब कृषिजीवी थे। धनी लोगों को छोड़कर सब गरीब परिवारों में एक ही परिवार के सब भाई मिलकर एक ही स्त्री से विवाह कर लेते हैं।

लद्दाख प्रान्त के लगभग सब ही गोम्पा, मठ, मन्दिरों में स्वामी दयानन्द ने किसी न किसी सिद्ध-योगी पुरुष से मिलना चाहा था। त्यागी संन्यासियों का भी उन्होंने अनुसन्धान किया था। परन्तु दुर्भाग्यवश उनको ऐसा कोई भी नहीं मिला। योगी नाम सुनकर जिन-जिन से उन्होंने वार्तालाप किया था, वे सब कोई प्रेत-पूजा के तन्त्र-मन्त्रों को ही योग-विद्या के उपाय समझते हैं। यहाँ साधु-संन्यासी बोलने से बुद्ध-मन्दिर के पुरोहित ही समझे जाते हैं। बाहर से कोई भी वहाँ जाय तो वह सन्देह का पात्र बन जाता है। मुसलमानों को मठ-मन्दिर, मूर्ति और विहार ध्वंस करने के कारण शत्रु ही समझते हैं। विदेशी ईसाइयों को खृष्टान राज्य विस्तार करने के अग्रदूत समझते हैं। स्वामी दयानन्द को भी इन्होंने पहले-पहले गुप्त ईसाई ही समझ लिया था। वहाँ से उन्होंने हिमिस गोम्पा के बारे में सुना था। तिब्बत की सर्वश्रेष्ठ गोम्पा बोलने से हिमिस गोम्पा ही समझी जाती है। स्वामी दयानन्द लद्दाख प्रान्त के लेह शहर को छोड़कर हिमिस गोम्पा जाने के लिये तैयार हो गए। उनके साथ जितने बौद्ध साधु आए थे वे सब एक वर्ष के लिये लद्दाख में ही रह गए थे।

**लेह शहर से हिमिस गोम्पा**-यह गोम्पा लेह शहर से तीन योजन पूर्व दिशा में है। बगल में ही स्योक नामक गाँव में लद्दाख के शेष राजवंशधर बहुत ही विलासिता और कर्जे से बँधे हुए रहते हैं। पहाड़ी मार्ग छोड़कर स्वामी दयानन्द मैदान के रास्ते से हिमिस की ओर प्रस्थित हो गए। उनके साथ दो बौद्ध साधु और थे। इस प्रकार ये सब लोग वहाँ पहुँच गए थे [३११]। इनके पहुँचने पर वहाँ के भिक्षु लोग बहुत ही प्रसन्न हुए थे।

**लद्दाख प्रदेश में**-लामा स्वामी दयानन्द को देखकर बहुत आदर के साथ हिमिस मठ दिखाने के लिये उहें भीतर ले गया था। लगभग पाँच-छ: बीघा भूमि पर उन्होंने बहुत कुछ देखा था। वहाँ डेढ़ सौ भिक्षु अपने-अपने अलग-अलग कक्षों में रहा करते हैं। ऊँचे घर में मठाधीश (खेम्पो) रहते हैं जो तिब्बती भाषा के अतिरिक्त थोड़ी-थोड़ी हिन्दी और अँग्रेजी

---

३१०- श्रीनगर से लेह ४३४ कि० मी० दूर है।

३११- मध्य सितम्बर १८५५ तक स्वामी दयानन्द हिमिस गोम्पा पहुँच गए थे जिस समय कि यहाँ फसल काटी जाती है। ''इसके बाद लम्बी शीत ऋतु प्रारम्भ हो जाती है। कहीं पानी नहीं रहता, धरती जम जाती है। छह महीने की अवधि तक सारी प्रकृति सुप्त हो जाती है, मानो काल भी सो जाता है। अपवाद रूप से सूर्य प्रकट होता है जो मामूली सी ऊष्मा देता है।''
– **साप्ताहिक हिन्दुस्तान** (२९ मई से ४ जून १९८३)

भाषा भी जानते हैं। उनसे तिब्बत और बौद्ध धर्म के बारे में स्वामी दयानन्द का वार्तालाप हुआ था। उनके मुख से उन्हें आश्चर्यजनक समाचार मिला था।

तिब्बत के लामाओं ने कहा कि ''ईसा किसी प्रकार कबर से मुक्त होकर छिपते-छिपते काश्मीर में आये थे[३१२]। वे तथागत बुद्ध या गौतम बुद्ध की तरह ईसा-बुद्ध नाम से प्रचरित थे। जीव बहुत जीवनों में साधना करते-करते बोधि-सत्त्व बन जाते हैं और वे साधना करते-करते आगे जाकर बुद्ध बन जाते हैं। ईसा इसी रूप से बुद्ध बन गये थे। ईसा बहुत शिष्यों के साथ काश्मीर के मठ में रहते थे। उनके दर्शन के लिये देश-देशान्तर से भक्त लोग आया करते थे और उनके शिष्य बनकर जीवनों को धन्य मानते थे। उस समय तिब्बत के रहने वाले, जिन्होंने ईसा को अपनी आँखों से देखा था और जिन वणिक् लोगों ने दण्ड प्राप्त ईसा को वध-स्तम्भ पर देखा था, उन्हीं के मुख से सुन-सुनकर ईसा की मृत्यु से तीन-चार वर्षों बाद सर्वप्रथम ईसा की जीवनी पाली भाषा में लिखी गई थी। न मालूम वह पुस्तक कहाँ है? कोई कहते हैं कि ईसा योगी-संन्यासी के रूप में भारत के आबू पर्वत में भी आए थे[३१३]।''

**हिमिस गोम्पा से श्रीनगर**-वहाँ से लेह, लिकिर गोम्पा, कार्गिल और शालीमार बाग होकर एक बौद्ध साधु के साथ स्वामी दयानन्द श्रीनगर चले आए थे[३१४]।

---

३१२- ''परन्तु जब मैं (अर्थात् पादरी जान राबसन) ख्रीस्त के पुनरुत्थान पर पहुँचा तो उन्होंने (अर्थात् दयानन्द सरस्वती ने) मुझे फिर रोका और पूछा कि क्या ख्रीस्त का शरीर फिर उठा था, क्योंकि उन्होंने ऐसी घटना पहिले कभी नहीं सुनी थी।... बहुतों ने दण्डी जी (अर्थात् स्वामी दयानन्द सरस्वती) से असन्तोष प्रकट किया कि उन्होंने जब ख्रीस्त-धर्म का मर्मस्थल उनके सम्मुख रखा गया तो उस पर आक्रमण करने से आनाकानी की।..... पुनरुत्थान की साक्षी का तो अब सर्वथा भाँडा फूट गया है और सिद्ध हो गया है कि वह इन्द्र-जाल सर्वांग में पीछे से गढ़ा गया है। वास्तव में ख्रीस्त का सूली पर प्राण-वियोग नहीं हुआ था और वह जीवित ही कब्र से निकाल दिया गया था।'' - **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० १२५-१२६)

३१३- ''यीशु एक उस समय के जङ्गली मनुष्यों में से कुछ अच्छा था। न वह करामाती, न ईश्वर का पुत्र और न विद्वान् था, क्योंकि जो ऐसा होता तो ऐसा दुःख क्यों भोगता?'' -**सत्यार्थप्रकाश** (त्रयोदश समुल्लास)

''ईसा महापुरुष अवश्य थे, परन्तु यह बात मिथ्या है कि वह सब के पाप अपने ऊपर लेकर चले गये।''

-**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० २४४)

३१४- अर्थात् काश्मीर के श्रीनगर में। आगे फिर स्वामी दयानन्द ने यहाँ से पुनः श्रीनगर पहुँच पर्यन्त अपनी यात्रा का विवरण नहीं लिखाया, जिसका कारण यह है कि वे ११ अक्टूबर १८५५ को (आश्विन माह की अमावस्या को) हरिद्वार के पहाड़ पर अगले गणयुद्ध की तय्यारी विषयक एक सभा में सम्मिलित हुए थे जिसका सोरम की सर्वखाप पञ्चायत में इस प्रकार का विवरण मिलता है-

*''११ अक्तूबर सन् १८५५ ई० में हरिद्वार के पहाड़ में एक मजलिस बुलाई गई जिसमें हिन्दू-मुसलमान साधु लोगों की शिरकत थी। इसमें ५६५ साधु जिसमें मुसलमान १९५ थे, बाकी हिन्दू धर्म या मजहब के हर फिरके के साधु-सन्त थे। कई के नाम ऐसे हैं- पूर्णानन्द*, अन्धे साधु विरजानन्द, अखिलानन्द, दयानन्द- गोल मुँह वाले नौजवान थे। भोलानन्द, मीरानन्द, लज्जानन्द, श्याम गिरि गोसाईं, रामगिरि गोसाईं, पूर्णदास उदासी, गौरीनाथ, समुन्द्रनाथ, महन्त उदमी सिख, भगवानदास वैरागी, ४ नागे बाबा। गर्ज हर फिरके के। असफाकउल्ला, मौलवी नसरत अली, मौलवी साई साबिर शाह, मीरहसन जलाली फकीर, गुलामदीन फकीर, पण्डित शोभाराम, रामदास भाट, रहतुराम जोगी, मोहनलाल जाट हरियाणा की पंचायत व मन्त्री सर्वखाप का, तिलकरामादि त्यागी हरियाणा के उपमन्त्री, शोभाराम कायस्थ उपमन्त्री, मामचन्द राजपूत उपप्रधान, सगवा भङ्गी उप सेनानायक, शिवराम जाट प्रधान सेनापति, भगवत गुर्जर उप सेनापति।''*इस सभा में स्वामी पूर्णानन्द (इनका दूसरा नाम पूर्णाश्रम स्वामी था) और साईं फखरुद्दीन ने भाषण दिए थे और देशोत्थान की प्रेरणा

# उत्तराखण्ड भ्रमण

[ चैत्र (कृष्ण पक्ष) से कार्तिक संवत् १९१३ वि० पर्यन्त ]

## टिहरी में

फिर वहाँ से [३१५] एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु स्वामी दयानन्द के साथ आए। ये सब लोग टिहरी में आए[३१६]। वहाँ बहुत साधु और राजपण्डितों से उनका समागम हुआ। वहाँ एक पण्डित ने एक दिन उन्हें और ब्रह्मचारी को अपने घर में भोजन करने के लिये निमन्त्रण दिया। पूर्व निर्धारित समय पर उसका एक मनुष्य भी उन्हें बुलाने को आया। तब स्वामी दयानन्द और ब्रह्मचारी उसके घर भोजन करने को गये। जब उसके घर के द्वार में घुसकर उन्होंने देखा तो एक ब्राह्मण माँस को काट रहा था। उसको देखकर जब वे भीतर को गये तब बहुत से पण्डितों को एक शामयाने के भीतर बैठे हुए देखा और

---

दी थी। इससे पूर्व एक सभा ५ अक्तूबर १८५५ (आश्विन कृष्ण १०) को भी गढ़गङ्गा के मेले के अवसर पर हुई थी परन्तु इसमें स्वामी दयानन्द काश्मीर से वापस न आ पाने के कारण सम्मिलित नहीं हो सके थे।

११ अक्तूबर १८५५ से लेकर मार्च १८५६ तक स्वामी दयानन्द कहाँ रहे और क्या करते रहे-यह अन्वेषणीय है। इस विषय में पृष्ठ-१४९ की पाद टिप्पणी क्र० २९० द्रष्टव्य है।

* ''परन्तु अधिक सम्भव यह मालूम होता है कि दयानन्द को विरजानन्द के अपूर्व पाण्डित्य का समाचार उत्तराखण्ड की यात्रा से पूर्व ही ज्ञात हो गया था। श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के मन्त्री मथुरा निवासी स्वर्गीय पं० मोहन लाल विष्णुलाल पण्ड्या ने देवेन्द्र बाबू से कहा था-'पढ़ने के लिए मैं (= दयानन्द) पहले हरिद्वार में पूर्णाश्रम स्वामी के पास गया था, परन्तु उस समय बहुत वृद्ध हो गए थे और उन्होंने मौन व्रत धारण कर रक्खा था। इसलिए वह मुझे पढ़ाने पर सहमत नहीं हुए। जब मैंने बहुत आग्रह किया तो उन्होंने एक कागज पर लिख दिया कि यदि तुम मथुरा में जाकर विरजानन्द से पढ़ो तो तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा।'' – **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० ९३-९४)

३१५- पूर्व प्रसङ्गानुसार 'वहाँ से' का तात्पर्य 'ऋषिकेश से' है।

३१६- उत्तराखण्ड की यात्रा का यहाँ से प्रारम्भ हो रहा अगला विवरण न्यूनातिन्यून आठ माह का है (पं० हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार ने इसे ९ माह का माना है।) और यह सर्वज्ञात तथ्य है कि बद्रीनाथ मन्दिर के पट प्रतिवर्ष २० नवम्बर को या इससे पूर्व बन्द कर दिए जाते हैं क्योंकि वहाँ ''शीतकाल में नवम्बर मास में बर्फ पड़ने लगती है। बद्रीनाथ के रहने वाले इधर नीचे जोशीमठ की ओर आ जाते हैं। बद्रीनाथ मन्दिर के मुख्य पुजारी 'रावल जी' तथा मन्दिर के प्रबन्धक व कर्मचारीगण सभी जोशीमठ आ जाते हैं और यहाँ ही मई के प्रथम सप्ताह तक पूजा करते हैं। इस स्थान में एक प्राचीन मन्दिर विद्यमान है। उसी में बद्रीनाथ के नाम से पूजा होती है।'' – **उत्तराखण्ड के वन-पर्वतों में ऋषि दयानन्द** (पृ० ४०-४१)

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वामी दयानन्द द्वारा उत्तराखण्ड की इस यात्रा का आरम्भ २० मार्च के आसपास किया गया होगा तभी वे २० नवम्बर से कुछ पूर्व बद्रीनाथ पहुँचकर वहाँ के महन्त रावल जी से भेंट और चर्चा कर पाए होंगे। परन्तु ऐसा करना १८५५ ई० में तो १४ अप्रैल तक कुम्भ मेले में ही सम्मिलित रहने और बाद में कुछ दिन ऋषिकेश में बिताने के कारण सम्भव ही नहीं था। अतः निश्चित रूप से ही उत्तराखण्ड की यह यात्रा १८५६ ई० (संवत् १९१२-१३ वि०) में की गई है। इस समस्या के समाधान के रूप में पं० हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार को यह कल्पना करनी पड़ी कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि १९११ के आरम्भ में ही वे उत्तराखण्ड में पहुँचे और बीच में १९१२ के कुम्भ पर हरिद्वार में भी गए।''
–**महर्षि दयानन्द सरस्वती** (पृ० ३०)

पं० जी की यह कल्पना स्वयं स्वामी दयानन्द के लेख (द्रष्टव्य-इसी पुस्तक का पृष्ठ १४० और पाद टिप्पणी क्र० २७२) के विरुद्ध और व्यतिक्रम के रूप में है।

वहाँ बकरे का माँस, चमड़ा और उसके शिर देखकर के पीछे को लौट पड़े। तब एक पण्डित देखकर बोला कि आइये। तब स्वामी दयानन्द ने उसे उत्तर दिया कि 'आप अपना काम कीजिये, हम बाहर जाते हैं।' ऐसा कहकर वे अपने स्थान पर चले आये। तब वह निमन्त्रणकर्ता पण्डित भी उनको बुलाने के लिए आया। उससे स्वामी दयानन्द ने कहा कि 'तुम सूखा अन्न भेज दो, हमारा ब्रह्मचारी बना लेगा।' इस पर वह पण्डित बोला कि 'आपके लिये ही तो सब पदार्थ बनाये हैं।' स्वामी दयानन्द ने उनसे कहा कि 'आपके घर में मुझसे भोजन कदापि न किया जावेगा, क्योंकि आप लोग माँसाहारी हैं और मुझको माँस देखने से ही घृणा आती है।' इस पर उस पण्डित ने अन्न भेज दिया। पीछे वहाँ कुछ दिन ठहर कर पण्डितों से पूछा कि इस पहाड़ देश में कौन-कौन से शास्त्र के ग्रन्थ देखने को मिलते हैं, वे उन्हें देखना चाहते हैं। तब उन्होंने कहा कि व्याकरण, काव्य, कोष, ज्योतिष और तन्त्र ग्रन्थ बहुत मिलते हैं। तब स्वामी दयानन्द ने कहा कि 'और ग्रन्थ तो मैंने देखे हुए हैं परन्तु तन्त्र ग्रन्थ देखना चाहता हूँ [३१७]।' तब उन्होंने छोटे-बड़े कई ग्रन्थ स्वामी दयानन्द को दिये। जब स्वामी दयानन्द ने उनको देखा तो बहुत भ्रष्टाचार की बातें उनमें देखीं कि माता, कन्या, भगिनी, चमारी, चाण्डाली आदि से सङ्गम करना, नग्न करके पूजना। मद्य, माँस, मच्छी, मुद्रा अर्थात् ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्य्यन्त एकत्र भोजन करना और नग्न स्त्रियों से मैथुन करना- इन पाँच मकारों से मुक्ति का होना आदि लेख उनमें देख स्वामी दयानन्द के चित्त को बड़ा खेद हुआ कि जिनने ये ग्रन्थ बनाये हैं वे कैसे नष्टबुद्धि थे।

## श्रीनगर में

फिर वहाँ से स्वामी दयानन्द श्रीनगर को जाकर केदारघाट पर मन्दिर में ठहरे और वहाँ भी उनका तन्त्र ग्रन्थों का देखना और पण्डितों से इस विषय में संवाद होता रहा। इतने में एक गङ्गागिरि नामक साधु, जो कि सब दिन [३१८] पहाड़ में ही रहता था, उससे उनकी भेंट हुई और योग विषय में उससे कुछ बातचीत होने से उन्हें विदित हुआ कि यह साधु अच्छा है। कई बार उससे बातें हुईं। स्वामी दयानन्द ने उससे पूछा, उसने उन्हें उत्तर दिया। उसने स्वामी दयानन्द से जो पूछा, उसका उत्तर स्वामी दयानन्द ने उसे दिया। दोनों प्रसन्न होकर दो महिने तक वहाँ रहे [३१९]।

---

३१७- स्वामी दयानन्द के इस कथन का यह आशय कदापि नहीं है कि उन्होंने तन्त्र ग्रन्थों को टिहरी पहुँचने से पूर्व काशी में कतई देखा ही नहीं था। इसका आशय तो मात्र इतना ही है कि उन्होंने इस विषय के थोड़े से ही ग्रन्थ देखे थे। अत: वे कुछ ग्रन्थ और देखना चाहते थे। अधिकाधिक जानने की इसी जिज्ञासावश उन्होंने आगे जाकर श्रीनगर में भी तन्त्र ग्रन्थों को देखा।

३१८- अर्थात् सदैव, न कि यह कि दिन भर पहाड़ पर रहना और रात्रि में नीचे उतरकर मैदान में आना-जैसा कि '**थियासोफिस्ट**' का अनुवाद है।

३१९- इन दो महीनों में गङ्गागिरि साधु के साथ श्रीनगर के निकटवर्ती स्थानों पर भ्रमण करना भी सम्मिलित है जिसका उल्लेख आगे कलकत्ता कथ्य में इस प्रकार किया गया है कि 'श्रीनगर में शैवतान्त्रिकों से परिचय हुआ था। यहीं स्वामी गङ्गागिरि से स्वामी दयानन्द की घनिष्ठ मित्रता हो गई थी। इन दोनों ने एक साथ लगभग दो महीने भिन्न-भिन्न तीर्थों में भ्रमण किया था।

धनुष तीर्थ होके ये दोनों साढ़े तीन योजन दूरी पर अगस्त्याश्रम गए थे। इसके पहले रुद्रप्रयाग भी होके आए थे, जो अलखनन्दा और मन्दाकिनी का सङ्गम स्थल है। ऋषिकेश से रुद्र प्रयाग ११ योजन और केदारनाथ १८ योजन है। रुद्रप्रयाग से अगस्त्याश्रम पौन योजन और अगस्त्याश्रम से गुप्त-काशी भी पौन योजन की दूरी पर है। मन्दाकिनी के उस पार सामने ही ऊखीमठ है। रामपुर भी निकट ही है। रामपुर से त्रियुगीनारायण आधा योजन से कम है। यहाँ चार कुण्ड हैं-ब्रह्मकुण्ड, रुद्रकुण्ड, विष्णुकुण्ड और सरस्वती कुण्ड। गौरीकुण्ड रामपुर से आधा योजन है। इन सब तीर्थ स्थानों में भ्रमण करके'। ये दो माह ग्रीष्म ऋतु अर्थात् अप्रैल-जून १८५६ ई० तदनुसार चैत्र शुक्ल पक्ष के प्रारम्भ से ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष (संवत् १९१३ वि०) के अन्त तक के रहे होंगे।

## शिवपुरी में

जब वर्षा ऋतु आई तब आगे स्वामी दयानन्द रुद्रप्रयागादि देखते हुए अगस्त मुनि के स्थान पर पहुँचकर उसके उत्तर पहाड़ पर एक शिवपुरी स्थान है, वहाँ जाकर उन्होंने वहाँ चार महिने निवास करके [३२०]

## केदार की ओर

पीछे उन साधु और ब्रह्मचारी को शिवपुरी में ही छोड़कर स्वामी दयानन्द अकेले ही केदार की ओर चलते हुए गुप्तकाशी में पहुँचे। गुप्तकाशी में कुछ दिन रहकर वहाँ से वे आगे चलकर त्रियुगीनारायण के स्थान और गौरीकुण्ड और भीमगुफा को देखते हुए थोड़ी ही दिनों में उन्होंने केदार में पहुँचकर निवास किया [३२१]।

## केदारनाथ में

वहाँ कई एक साधु, पण्डे और केदार के पूजारी जङ्गम मत के थे [३२२]। उनसे स्वामी दयानन्द का समागम हुआ। तब तक पाँच छ: दिन के पीछे वे साधु और ब्रह्मचारी भी वहाँ आ गये थे। वहाँ का स्वामी दयानन्द ने सब चरित्र देखा। फिर उनकी इच्छा हुई कि इन बर्फ के पहाड़ों में भी कुछ घूमकर देखें कि वहाँ कोई साधु-महात्मा रहता है वा नहीं? परन्तु वहाँ जाने का मार्ग कठिन और उन पहाड़ों पर अतिशीत भी था। अत: वहाँ के निवासियों से उन्होंने पूछा कि इन पहाड़ों में कोई साधु-महात्मा रहता है वा नहीं? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि कोई नहीं रहता है। अत: केदारनाथ में २० बीस दिन रहकर स्वामी दयानन्द पीछे को अकेले ही लौटे [३२३] क्योंकि वह ब्रह्मचारी और साधु दो दिन रहकर शीत से घबराकर प्रथम ही चले गये थे।

---

३२०- वर्षा ऋतु के ये चार महीने जून से सितम्बर १८५६ ई० [ ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष के प्रारम्भ से आश्विन कृष्ण पक्ष (संवत् १९१३ वि०) के अन्त तक ] के रहे होंगे। **'आर्य समाज का इतिहास'** के लेखक डॉ० सत्यकेतु विद्यालङ्कार का मानना है कि इस अवधि में स्वामी दयानन्द मथुरा की उस सभा में भी सम्मिलित हुए थे जिसे स्वामी विरजानन्द जी ने सम्बोधित किया था और जिसमें नाना साहब, अजीमुल्ला खाँ, रंगूबापू और बहादुरशाह जफर का एक शहजादा भी उपस्थित हुआ था। यह सभा मथुरा के तीर्थगाह में संवत् १९१३ वि० के भाद्रपद माह के प्रारम्भ में (सम्भवत: कृष्ण जन्माष्टमी पर २३ अगस्त १८५६ को) हुई थी।

*द्रष्टव्य* – **आर्य समाज का इतिहास** (भाग-१, पृष्ठ ६९४-६९७)

**'थियासोफिस्ट'** में वर्षा ऋतु के इन चार महीनों को 'Autumn' और 'Cold season' का बना दिया गया है जिससे जीवनी लेखक भ्रमित हो गए।

३२१- यहाँ 'केदार' से अभिप्राय 'केदारनाथ' से है, न कि श्रीनगर के 'केदारघाट' से। **'थियासोफिस्ट'** पत्रिका में इस स्थल का अनुवाद ठीक न होने से स्वामी दयानन्द के सभी प्रारम्भिक जीवनी लेखकों ने इस स्थल का त्रुटिपूर्ण विवरण ही लिखा है। पाठकों की जानकारी के लिए हम अगले पृष्ठ पर उत्तराखण्ड का एक मानचित्र दे रहे हैं ताकि वे उन विवरणों की त्रुटियाँ पहचान सकें-

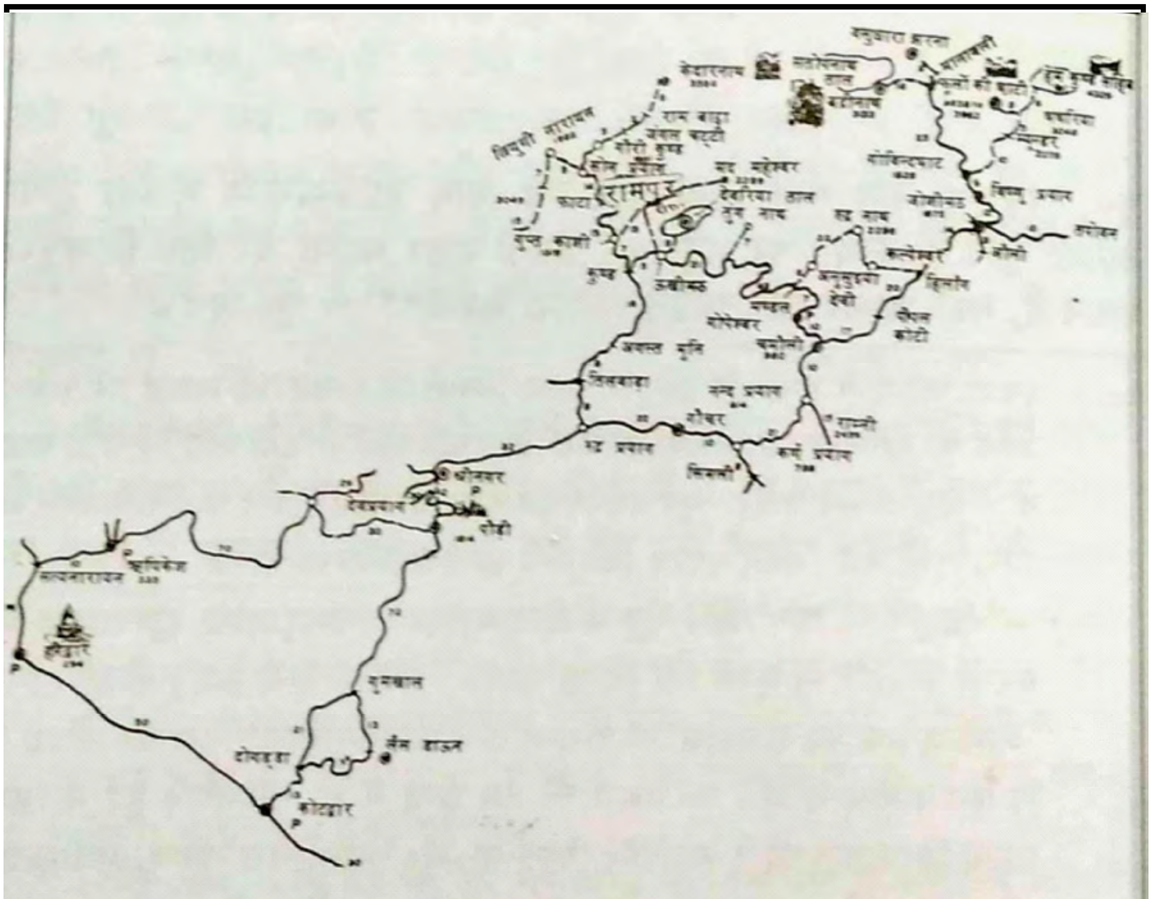
३२२- **''केदार का स्थान**- वहाँ भूमि बहुत अच्छी है परन्तु वहाँ भी एक जमे हुए पत्थर पर पुजारी वा उनके चेलों ने मन्दिर बना रक्खा है। वहाँ महन्त, पुजारी, पण्डे 'आँख के अन्धे और गाँठ के पूरों' से माल लेकर विषयानन्द करते हैं।''

–**सत्यार्थप्रकाश** (ग्यारहवाँ समुल्लास)

३२३- उल्लेखनीय है कि केदारनाथ मन्दिर के पट प्रतिवर्ष २५ अक्तूबर के आस-पास बन्द कर दिये जाते हैं और यहाँ के पुजारी तथा अन्य कर्मचारी ऊखीमठ में आकर छ: माह का शीतकाल बिताते हैं।

## तुङ्गनाथ के पहाड़ पर

फिर स्वामी दयानन्द वहाँ से चलकर तुङ्गनाथ के पहाड़ पर चढ़ गए। उसका मन्दिर, पुजारी और बहुत सी मूर्तियाँ आदि की सब लीला को देखकर वे तीसरे प्रहर वहाँ से नीचे को उतरे। उतरते समय उन्हें बीच में से दो मार्ग मिले- एक पश्चिम की ओर और दूसरा पश्चिम और दक्षिण के बीच की ओर को जाता था। जो जङ्गली मार्ग था, स्वामी दयानन्द उस पर ही बढ़ गए जहाँ आगे दूर जाकर उन्होंने देखा कि आगे जङ्गल, पहाड़ और बहुत गहरा सूखा नाला है जिसमें आगे मार्ग बन्द हो रहा है। अत: उन्होंने विचार किया कि अब यदि वे इस पहाड़ पर चढ़े तो रात हो जावेगी। पहाड़ का मार्ग भी कठिन है अत: वे वहाँ पहुँच नहीं सकते। ऐसा विचार करके वे उस नाले में बड़ी कठिनता से घास और वृक्षों को पकड़-पकड़ करके नीचे को उतरकर नाले के किनारे पर चढ़कर देखा तो पहाड़ और जङ्गल है, कहीं मार्ग नहीं है। तब तक सूर्य्य भी अस्त होने को आया। तब उन्होंने विचारा कि जो रात हो जावेगी तो वहाँ जल, अग्नि आदि कुछ भी नहीं होगी, तब फिर वे क्या करेंगे? ऐसा विचार करके वे आगे को बढ़े। जङ्गल में चलते हुए उन्हें अनेक ठोकरें और काँटे लगे, शरीर के वस्त्र भी फट गये। बड़ी कठिनता से किसी प्रकार पहाड़ के पार जब वे उतरे तब उन्हें सड़क मिली। पर तब तक अँधेरा भी हो गया था। फिर सड़क पर चलते हुए उन्हें एक स्थान मिला। जब उन्होंने वहाँ के लोगों से पूछा कि यह कहाँ की सड़क है? तब उन्हें बताया गया कि ओखीमठ की।



## ओखीमठ में

फिर वहाँ रात्रि को रहकर क्रम से स्वामी दयानन्द गुप्तकाशी आए। वहाँ थोड़ा ठहर कर वे ओखीमठ में जाकर उसमें भी ठहरकर उन्होंने देखा तो बड़ी भारी पोप लीला और बड़े भारी कारखाने देखे। वहाँ के महन्त ने उनसे कहा कि 'यदि तुम हमारे चेले हो जाओ, यहाँ रहो, तो लाखों के कारखाने तुम्हारे हो जावेंगे। मेरे पीछे तुम्हीं महन्त होगे।' इस पर स्वामी दयानन्द ने उसको उत्तर दिया कि 'सुनो! ऐसी मेरी इच्छा होती तो अपने माता, पिता, बन्धु, कुटुम्ब और घर आदि ही क्यों छोड़ता? क्या तुम्हारा स्थान और तुम उनसे भी अधिक हो सकते हो? मैंने जिसलिये ये सब छोड़े हैं, वह बात तुम्हारे पास किञ्चिन्मात्र भी नहीं है।' तब उनने पूछा कि वह क्या बात है? स्वामी दयनन्द ने उत्तर दिया कि 'सत्य, विद्या, योग, मुक्ति और अपने आत्मा की पवित्रता आदि गुणों से धर्म्मात्मता पूर्वक उन्नति करना है।' तब महन्त ने कहा कि 'अच्छा! तुम कुछ दिन यहाँ रहो।' दयानन्द ने उनको कुछ उत्तर न दिया और प्रातःकाल उठके मार्ग में चलकर जोशीमठ को पहुँचकर वहाँ dst ¨nf{kkh'kkL=hvkSIk/kk hFksmul sfeydj ogkjosBgjs[३२४]।

## जोशीमठ में

[३२५] जोशीमठ में बहुत से योगियों एवं विद्वान् संन्यासियों से स्वमी दयानन्द की भेंट हुई जिनसे निरन्तर वार्तालाप कर योग-विद्या के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द को बहुत सी जानकारी प्राप्त हुई।

## बद्रीनारायण में

उनसे विदा होकर स्वामी दयानन्द बद्रीनारायण आ गए। विद्वान् रावल जी उस समय इस मन्दिर के मुख्य महन्त थे। स्वामी दयानन्द उनके पास कुछ दिनों तक रहे[३२६]। वहाँ उन्होंने उनसे परस्पर वेदों और दर्शनों पर चर्चा की। जब स्वामी

---

३२४- पृष्ठ १६२ से यहाँ तक का जन्म चरित्र का लेख स्वामी दयानन्द द्वारा स्वहस्त से अपेक्षाकृत छोटे अक्षरों में दो पृष्ठों में लिखा हुआ है जिनमें क्रमशः २८ एवं २३ पंक्तियाँ हैं एवं अन्त में २४ वीं पंक्ति में हस्ताक्षर हैं। इन दो पृष्ठों के हस्तलेख पर पृष्ठ संख्या अङ्कित नहीं है जबकि प्रथम किस्त (द्रष्टव्य टीप क्र० ३०४, पृष्ठ १५७) में पृष्ठ संख्या १ से ६ तक क्रमानुसार पड़ी हुई है। इस प्रकार पृष्ठ संख्या न डालना यह इङ्गित करता है कि इन दोनों किश्तों के मध्य कुछ विवरण छिपाया गया है।

३२५- यहाँ से आगे अन्त तक जन्म चरित्र का हस्तलेख अप्राप्य है, जबकि इससे पूर्व की दो किस्तों के हस्तलेख परोपकारिणी सभा, अजमेर के पुराने बस्तों से सन् १९७५ ई० में मिल गए थे और सभा ने उन्हें अपने मासिक मुखपत्र '**परोपकारी** (मार्च १९७५ ई०)' में ब्लाक बनवाकर छाप दिया था। बाद में ये पुस्तक के रूप में '**महर्षि दयानन्द की आत्मकथा**' शीर्षक से तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती की निर्वाण-शताब्दी की स्मृति में १९८३ ई० में प्रकाशित '**दयानन्द ग्रन्थमाला** (द्वितीय खण्ड)' में भी मुद्रित किए गए। परन्तु तीसरी किस्त का हस्तलेख अद्यावधि अप्राप्त रहा। हमने इसकी प्राप्ति के लिए '**आडियार लाइब्रेरी, मद्रास**' और '**परोपकारिणी सभा, अजमेर**' को पत्र लिखवाकर पूछ-ताछ की थी; परन्तु निराशा ही हाथ लगी थी। ऐसी देशा में जैसा कुछ '**थियोसोफिस्ट**' के नवम्बर १८८० के अङ्क में अँग्रेजी में छपा था, उसी का पुनः आर्यभाषा में स्वयं हमने अनुवाद करके आगे दिया है, **क्योंकि इसके वर्त्तमान में उपलब्ध अनुवाद पर्याप्त त्रुटिपूर्ण हो गए थे और उनमें अनेक स्थानों पर प्रक्षेप भी थे।** उल्लेखनीय है कि '**थियोसोफिस्ट**' के अक्तूबर १८७९, दिसम्बर १८७९ एवं नवम्बर १८८० के अँकों में छपी आत्मकथा की तीनों किस्तों के फोटोस्टेट हमने आडियार लाइब्रेरी, मद्रास से प्राप्त करके अपने पास सुरक्षित कर लिए हैं।

३२६- ''बद्रीनाथ में रहकर मैंने गायत्री का जपानुष्ठान किया था। रात्रि में जब तेल न रहता था तो मैं बाजार के दीपकों के प्रकाश में पढ़ा करता था।'' – **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-२, पृ० २५२)

दयानन्द ने उनसे पूछा कि क्या उनकी जानकारी में इधर कोई सच्चा योगी भी रहता है, तो स्वामी दयानन्द को उनसे यह निराशाजनक जानकारी प्राप्त हुई कि इस समय तो वहाँ कोई नहीं रहता है, परन्तु सुना है कि कभी-कभी ऐसे योगी उनके मन्दिर को देखने आते हैं। तब स्वामी दयानन्द ने निश्चय किया कि वे ऐसे योगियों की पूरे देश में और विशेषकर पहाड़ों में खोज करेंगे।

एक दिन सूर्योदय के होते ही स्वामी दयानन्द अपनी यात्रा पर चल पड़े और पर्वत की उपत्यका में चलते हुए वे अलकनन्दा नदी के तट पर जा पहुँचे। उस नदी को पार करने की उनके मन में किञ्चित् भी इच्छा न थी क्योंकि नदी के उस पार उन्हें माना [३२७] नामक एक बड़ा गाँव दिखाई पड़ा। अत: पर्वत की उपत्यका में चलते हुए स्वामी दयानन्द नदी के किनारे-किनारे जङ्गल की ओर बढे। वहाँ पहाड़ और मार्ग दोनों ही बर्फ से ढके हुए थे। काफी कठिनाई के बाद वे अलकनन्दा के स्रोत पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने को चारों ओर से ऊँची-ऊँची पहाड़ियों से घिरा हुआ पाया और जब स्वामी दयानन्द को अपने उस स्थान से सर्वथा अपरिचित होने का भान हुआ तो उसी क्षण उनकी गति मन्द पड़ गई। आगे मार्ग सर्वथा लुप्त हो गया था और पगडण्डी तक का कोई चिह्न उन्हें दिखाई नहीं दे रहा था। उस समय वे सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिये? अन्तत: उन्होंने नदी को पार कर मार्ग पूछने का निश्चय किया। उस समय उनके पहने हुए वस्त्र बहुत हलके और थोड़े थे और शीत प्रबल था जो शीघ्र ही उनके लिए असह्यनीय हो गया था। भूख-प्यास का अनुभव कर उन्होंने बर्फ का एक टुकड़ा निगलकर अपनी भूख मिटानी चाही परन्तु इससे उन्हें तृप्ति नहीं हुई। फिर स्वामी दयानन्द ने नदी को पार करना आरम्भ किया।

कुछ स्थानों पर नदी बहुत गहरी थी और कुछ पर उथली, परन्तु एक हाथ से कम गहरी कहीं न थी। उसका पाट आठ से दश हाथ चौड़ा था। नदी बर्फ के छोटे-छोटे और नुकीले टुकड़ों से परिपूर्ण थी जिनने स्वामी दयानन्द के नङ्गे पाँवों में चुभकर उन्हें घायल कर दिया था। इससे उन्हें रक्तस्राव होने लगा। शीत के कारण उनके पाँव भी सुन्न हो गए थे और रक्त-स्रावी घावों ने उन्हें कुछ समय के लिये अचेत सा कर दिया था। बर्फ पर एकाधिक बार फिसलने से उनके पैर भी उखड़ने लगे थे और वहीं बर्फ में गिरकर मर जाने की उनकी अवस्था हो गई थी। परन्तु यदि वे बर्फ पर एक बार गिर जाते तो चूँकि उनका शरीर पहले से ही सुन्न हो गया था, अत: दोबारा उठना उनके लिये कठिन हो जाता। इस विचार से किसी प्रकार पर्याप्त प्रयास और संघर्ष करके वे दूसरे किनारे पर सुरक्षित पहुँच गए। वहाँ उनकी अवस्था जीवित की अपेक्षा मृतवत

---

''बद्रीनारायण में ठग विद्या वाले बहुत से बैठे हैं। 'रावल जी' वहाँ के मुख्य हैं। एक स्त्री छोड़ अनेक स्त्री रख बैठे हैं।'' -**सत्यार्थप्रकाश** (ग्यारहवाँ समुल्लास)

३२७- ''माना ग्राम भारत और तिब्बत की सीमा का इस ओर का अन्तिम ग्राम है। इस ग्राम से लगभग १४ मील तक भारतीय क्षेत्र चला गया है। उस १४ मील के बीच कोई ग्राम नहीं, केवल 'वसुधारा' एक झरना है जहाँ साहसी यात्री अथवा पर्यटक ही जाने का साहस करते हैं। माना ग्राम से डेढ़ मील की दूरी पर सरस्वती नदी की धारा बहती है। इस पर पर्वतीय शिला इस प्रकार से गिरी है कि उसने सरस्वती नदी पर एक प्राकृतिक पुल बना दिया है जिस पर भूटानी, तिब्बती एवं भारतीय व्यापारी अपने घोड़े-खच्चरों के साथ बराबर आते जाते हैं।.......

मना ग्राम के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि यहाँ मई से अक्तूबर के अन्त तक लगभग छ: मास तक ही यहाँ के रहने वाले निवास करते हैं। नवम्बर के प्रारम्भ में वे नीचे की ओर जोशीमठ में आ जाते हैं। कुछ इससे भी नीचे पीपलकोटी तक उतर आते हैं। वे अपने घरों को बन्द करके आवश्यक सामान के साथ तथा अपने पशुओं को लेकर छ: मास के लिए उन स्थानों में आते हैं, जहाँ बर्फ नहीं पड़ती। माना ग्राम लगभग ११,००० फीट की ऊँचाई पर है, अत: वहाँ का भाग छ: मास तक हिममय ही रहता है।'' -**उत्तराखण्ड के वन पर्वतों में ऋषि दयानन्द** (पृ० ५०-५१, ५२)

थी, तथापि उन्होंने अपने शरीर के ऊपरी भाग को सर्वथा नङ्गा कर लिया और जो कुछ वस्त्र उनके पास थे, उनको उन्होंने अपने पैरों पर घुटनों तक लपेट लिया। वहाँ पर वे सर्वथा थके हुए और क्षुधार्त्त होकर आगे चलने में अशक्त हो खड़े रहकर किसी की सहायता की प्रतीक्षा करने लगे, परन्तु वहाँ उसके कहीं से मिलने की उन्हें आशा न थी। अन्ततः जब उन्होंने अपने चारों ओर देखा तो उन्हें दो पहाड़ी पुरुष आते हुए उन्हें दिखाई पड़े। उन्होंने आगे आकर अपने काशीसम्ब [३२८] से उन्हें प्रणाम किया और अपने साथ उनके घर चलने को कहा, जहाँ भोजन मिलने की भी बात उन्होंने कही थी। उनके कष्टों को सुनकर उन्होंने कहा कि वे उन्हें सदपत में, जो एक तीर्थस्थल है, पहुँचा देंगे। परन्तु स्वामी दयानन्द ने उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे चलने में सर्वथा असमर्थ थे। उनका यह निमन्त्रण अत्यन्त आग्रहपूर्ण होते हुए भी स्वामी दयानन्द अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और उनकी इच्छानुसार उनके साथ जाने का साहस नहीं जुटा सके।

स्वामी दयानन्द ने उन्हें कहा कि उन्हें यहाँ मर जाना स्वीकार है–ऐसा कहकर स्वामी दयानन्द ने उनकी बातों पर ध्यान देना भी बन्द कर दिया। इस समय उन्हें विचार आया कि यदि वे सकुशल वापस लौट सके तो अपना अध्ययन पूरा कर सकेंगे [३२९]। तब वे दोनों व्यक्ति वहाँ से चले गये और पहाड़ियों में लुप्त हो गये। वहाँ कुछ विश्राम कर स्वामी दयानन्द पीछे को लौटे [३३०]। वसुधारा पर जो कि एक पवित्र स्नान–स्थल है, कुछ क्षण रुककर माना ग्राम के निकट से होते हुए उस रात वेआठ बजे बद्रीनारायण पहुँचे। वहाँ रावल जी और उनके साथियों ने उन्हें देखकर अचम्भित होकर पूछा कि आज सबेरे से अब तक तुम कहाँ रहे? तब स्वामी दयानन्द ने उनको सब वृत्तान्त कह सुनाया। उस रात किञ्चित् भोजन करके जब उन्हें कुछ स्फूर्ति आई तो वे सो गए और दूसरे दिन प्रातः उठकर उन्होंने रावल जी से आगे जाने की आज्ञा ली और रामपुर की ओर चल पड़े।

## रामपुर की ओर

उस दिन सायंकाल वे एक संन्यासी की कुटिया पर, जो एक बड़ा योगी था, पहुँचे और रात वहीं बितायी। वह तपस्वी उस समय विद्यमान योगियों में एक बहुत बड़ा सिद्ध पुरुष माना जाता था। तब स्वामी दयानन्द ने धार्मिक विषयों पर उसके साथ लम्बी चर्चा की। पुनः अपने निश्चय पर वे पहले से भी अधिक दृढ़ होकर अगले दिन प्रातःकाल वहाँ से आगे को चले। मार्ग में अनेक पर्वतों और वनों को पार करके तथा चिल्किया घाटी से उतरकर वे अन्ततः रामपुर पहुँच गए [३३१]।

---

३२८– **'आर्यजगत्'** के सम्पादक पं० क्षितीश जी वेदालङ्कार के अनुसार (जिन्होंने इस क्षेत्र की यात्रा की हुई है।) यह अभिवादन की तिब्बती लोगों की रीति है। इससे प्रतीत होता है कि ये तिब्बत के रहने वाले पहाड़ी पुरुष थे।

३२९– इससे पूर्व स्वामी दयानन्द की मार्च १८५५ में स्वामी पूर्णानन्द से भेंट हो चुकी थी जिन्होंने मथुरा जाकर स्वामी विरजानन्द जी से अध्ययन करने का परामर्श दिया था। स्वामी दयानन्द का यह विचार उसी ओर सङ्केत करता है।

३३०– ''यहाँ स्वामी जी अपनी यात्रा की अत्यन्त रोचक घटनाओं में से एक प्रसङ्ग को वर्णित करने से छोड़ देते हैं क्योंकि वे नहीं चाहते कि जिस व्यक्ति ने उनकी जान बचाई थी, उसके नाम का अथवा उसका उल्लेख किया जाय। वे इसे अपने मित्रों को तो बताते हैं, परन्तु घटनाओं का प्रकाश करना उन्हें स्वीकार नहीं।'' – **सम्पादक, थियासोफिस्ट**

३३१– स्वामी दयानन्द ने पृष्ठ–१६३ पर उल्लिखित स्वामी गङ्गागिरि के साथ बिताए दो महीनों के अनन्तर जो यात्राएँ कीं उनमें वे उनके साथ नहीं थे किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द रामगिरि के स्थान रामपुर से वापस लौटते हुए जब ऋषिकेश आए तो उन्होंने मार्ग में अपने पूर्व परिचित गङ्गागिरि को श्रीनगर से साथ ले लिया जो सदैव पहाड़ पर रहने से पहाड़ी यात्राओं के अत्यन्त अभ्यस्त थे। उसको साथ लेने का कारण अलखनन्दा स्रोत का पूर्व वर्णित प्रसङ्ग बना जब स्वामी दयानन्द ने अपने को सर्वथा एकाकी पाया। आगे कलकत्ता कथ्य में जिस विस्तृत यात्रा का विवरण दिया गया है वह जन्मचरित्र में की गई प्रतिज्ञा कि **''मैं ऐसे योगियों की पूरे देश में और**

## रामपुर में

वहाँ पहुँचकर तब स्वामी दयानन्द ने प्रसिद्ध रामगिरि के स्थान पर निवास किया। यह पुरुष पवित्राचार और आध्यात्मिक जीवन के कारण अति प्रसिद्ध था किन्तु तब स्वामी दयानन्द ने उसको असाधारण स्वभाव वाला मनुष्य पाया। वह सोता नहीं था अपितु रातभर सम्भाषण करता रहता था- कभी-कभी बहुत जोर से और अपने आप से ही। तब स्वामी दयानन्द ने प्रायः जोर की चीख भी सुनी, फिर आर्त्तनाद भी; यद्यपि उसके साथ उसके कमरे में कोई भी नहीं होता था। आश्चर्यचकित होकर तब स्वामी दयानन्द ने उसके शिष्यों एवं अनुयायियों से पूछा तो पता चला कि यह तो उसका स्वभाव है। कोई उन्हें यह नहीं बता पाया कि उसके इस अस्वाभाविक आचरण का क्या अभिप्राय है? बाद में उससे ही चर्चा करने पर उन्हें पता चला कि वास्तव में वह क्या बात थी। इस प्रकार तब स्वामी दयानन्द को अच्छी तरह से निश्चय हो गया कि वह जो साधना कर रहा है, वह वास्तविक योग नहीं है। वह तो उसमें केवल आंशिक रूप से ही दक्ष था। यह वह योग नहीं था, जिसकी तब स्वामी दयानन्द को तलाश थी।

इन सब तीर्थ-स्थानों में भ्रमण करके स्वामी दयानन्द और सवामी गङ्गागिरि ऋषिकेश में पहुँच गए थे।

# गङ्गोत्री से गङ्गासागर और पुरी पर्यन्त

### [ मार्गशीर्ष संवत् १९१३ से आषाढ़ संवत् १९१४ वि० पर्यन्त ]

## मानसरोवर, कैलास एवं तिब्बत की यात्रा

**ऋषिकेश से मानसरोवर**-अनुकूल ऋतु में [३३२] ऋषिकेश से प्रस्थित होकर स्वामी दयानन्द अपने साथी स्वामी गङ्गागिरि के साथ देहरादून आये [३३३]। वहाँ से यमुनोत्तरी, उत्तरकाशी और गङ्गोत्तरी [३३४] आये थे। वहाँ से डेढ़ योजन दूरी पर गोमुखी [३३५] है। शीतकाल में यह स्थान बरफ से आच्छन्न हो जाता है। वहाँ (गङ्गोत्तरी में) केदारगङ्गा में आकर गोमुखी से बहती हुई गङ्गा मिल गई है। गौरीकुण्ड इसी का नाम है। गोमुखी से उतरकर तीन दिन की यात्रा में गङ्गोत्तरी मिलती है। गङ्गोत्तरी से त्रियुगीनारायण तीन योजन और केदारनाथ ढाई योजन की दूरी पर हैं। वहाँ से आगे गुप्तकाशी और अगस्त्य मुनि हैं। उसी से आगे बदरीनाथ और जोशीमठ हैं। यहाँ से नीती घाटी होकर तीर्थ यात्री लोग मानसरोवर और कैलास जाते हैं[३३६]।

---

**विशेषकर पहाड़ों में खोज करूँगा** (द्रष्टव्य पृ० १६३)।'' के परिपालन में ही की गई है जबकि जन्मचरित्र के अगले विवरणों से इस प्रतिज्ञा की पूर्ति नहीं होती। उल्लेखनीय है कि श्रीनगर रामपुर के दक्षिण-पश्चिम में है, जहाँ मन्दाकिनी पुनः अलखनन्दा नदी के किनारे-किनारे चलकर पहुँचा जाता है। श्रीनगर से आगे ऋषिकेश है।

332& dySk ,oaekul jkoj dh; k=kij lkgl h; k=hik; %uoEcj ekl esa izFkku djrs gSaA

333& _f"kd'kl sngjknwu vkusdk mYys[k i© eg'kZ n ek;ohv kfy eQkt y }kjk ^**महर्षि दयानन्द : कब कहाँ?**' नामक पुस्तक में किया गया है।

३३४- "**मैं एक बार गङ्गोत्री से चलकर गङ्गासागर तक** और एक बार गङ्गोत्री से रामेश्वर तक गया था।''

– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-२, पृ० २५२)

३३५- ''**गोमुखी**-गोमुख का आकार टका लेने वालों ने बनाया होगा और वही पहाड़ पोप का स्वर्ग है। वहाँ **उत्तरकाशी** आदि स्थान ध्यानियों के लिए अच्छा है, परन्तु दूकानदारों के लिए वहाँ भी दुकानदारी है।''

– **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

३३६- नीती घाटी को जून से नवम्बर तक पार किया जा सकता है। यहाँ से कैलास दृष्टिगोचर होता है। जोशीमठ से नीती घाटी तक धौली गङ्गा के किनारे-किनारे मार्ग जाता है।

वसुधारा, सतोपन्थ [३३७], भागीरथी-अलकनन्दा का उद्गम, स्वर्गारोहण शिखर, अलकापुरी शिखर [३३८] और मानसोद्भव तीर्थ [३३९] आ गये थे। वहाँ से हम दोनों मानसरोवर जाने वाले तीर्थ यात्री लोगों से मिल गये थे। इस यात्रा में तीन सप्ताह से भी कुछ अधिक समय तिब्बत में ही भ्रमण करना पड़ा था। गुप्तचर लोग भी यात्री लोगों में सम्मिलित हो जाते थे। यह यात्रा बहुत ही कठिन और दुष्कर थी। सभी जगह मठ-मन्दिर हैं लेकिन योग-शिक्षक कहीं नहीं मिले।

**मनसरोवर से कैलास**-तिब्बत के अन्दर लगभग चार योजन पैदल आने पर इन लोगों को मानसरोवर और राक्षसताल नाम के दो सरोवर मिले। पार्वत्य सङ्कीर्ण भूमि से संयुक्त होकर भी दोनों सरोवर '**मानसरोवर**' नाम से ही प्रसिद्ध हैं [३४०]। इसके किनारे योग-साधकों के स्थान (गोम्पा) हैं। वहाँ से लगभग दो योजन की दूरी पर कैलास है। कैलास की आकृति बृहत् शिवलिङ्ग जैसी है। कैलास की परिक्रमा चार योजन की है। कैलास में ऐसे स्थान हैं, जिनमें साधक योगस्थ बनकर बैठे हुए हैं। उनमें से कोई-कोई जीर्ण कङ्काल के रूप में हैं और कई एक तो मृत देह के रूप में भी देखे गये थे। वहाँ साधना में निमग्न योगी लोग किसी को योग-विद्या की शिक्षा देने के लिये तैयार नहीं थे।

**कैलास से ल्हासा**-कैलास से मानसरोवर के किनारे आकर [३४१] स्वामी दयानन्द और स्वामी गङ्गागिरि ल्हासा जाने के लिये तैयार हो गये थे। वहाँ से व्यापारी कारोबार की सामग्री पशु-वाहनों से ढोकर करीब अस्सी योजन [३४२] दूरी पर ल्हासा में जाते हैं स्वामी दयानन्द और स्वामी गङ्गागिरि भी उन व्यापारियों में सम्मिलित होकर ल्हासा की ओर जाने लगे थे [३४३]। मार्ग में

---

३३७- स्वामी दयानन्द ने अपने जन्मचरित्र में (पूर्व पृष्ठ-१६८ पर) इसे सदपत कहा है जो त्रुटिपूर्ण है।

३३८- ''विष्णु बैकुण्ठवासी थे अर्थात् उनकी राजधानी का स्थान बैकुण्ठ था। महादेव कैलासवासी थे। कुबेर की अलकापुरी नगरी थी। इन सब बातों का केदारखण्ड में वर्णन किया गया है। **मैं स्वयं भी इस प्रदेश में घूमा हूँ** और एक बार 'बर्फ में अपना देह गलाकर [संसार से] मुक्त हो जाऊं'- इस हेतु से प्राचीन अलकापुरी जिस पर्वत पर थी, वहाँ तक गया था। परन्तु वहाँ मर जाना कोई पुरुषार्थ नहीं। 'ज्ञान सम्पादन करके पुरुषार्थ और परोपकार करना चाहिए'- ऐसा मन में विचार लेकर लौट आया। अब विदित हुआ कि वास्तव में जीवात्मा का मरण ही नहीं होता है।'' -**पूना-प्रवचन** (१०वाँ प्रवचन) इस उद्धरण का उत्तरवर्ती प्रसङ्ग जन्मचरित्र में पृ० १६८ पर वर्णित हो चुका है।

३३९- **मानसोद्भव तीर्थ**-अर्थात् जहाँ मनुष्योत्पत्ति हुई।

''**प्रश्न**-मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई?

**उत्तर**-त्रिविष्टप अर्थात् जिसको तिब्बत कहते हैं।'' -**सत्यार्थप्रकाश** (अष्टम समुल्लास)

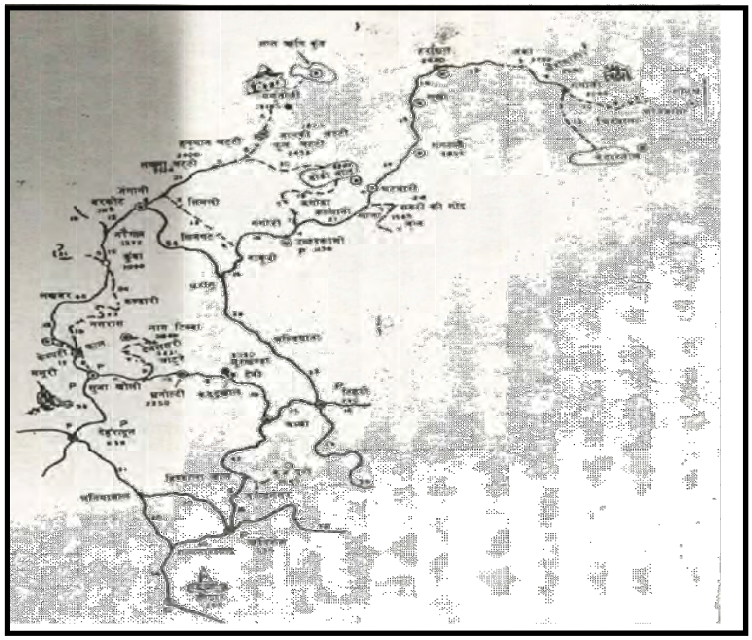
इस अञ्चल में ऐसी लोक-कथाएँ प्रचलित हैं जिनसे यह जाना जाता है कि आदि सृष्टि तिब्बत में हुई। स्वामी दयानन्द ने इन्हें अपनी इस यात्रा में सुना, समझा और फलस्वरूप उपर्युक्तानुसार लेख किया। अधिक जानकारी के लिए पाठक 'TIBET AND THE TIBETANS by Tsung-Lien Shen and Shen-Chi-Liu (Stanford University Press, STANFORD, California)' नामक ग्रन्थ देखें।

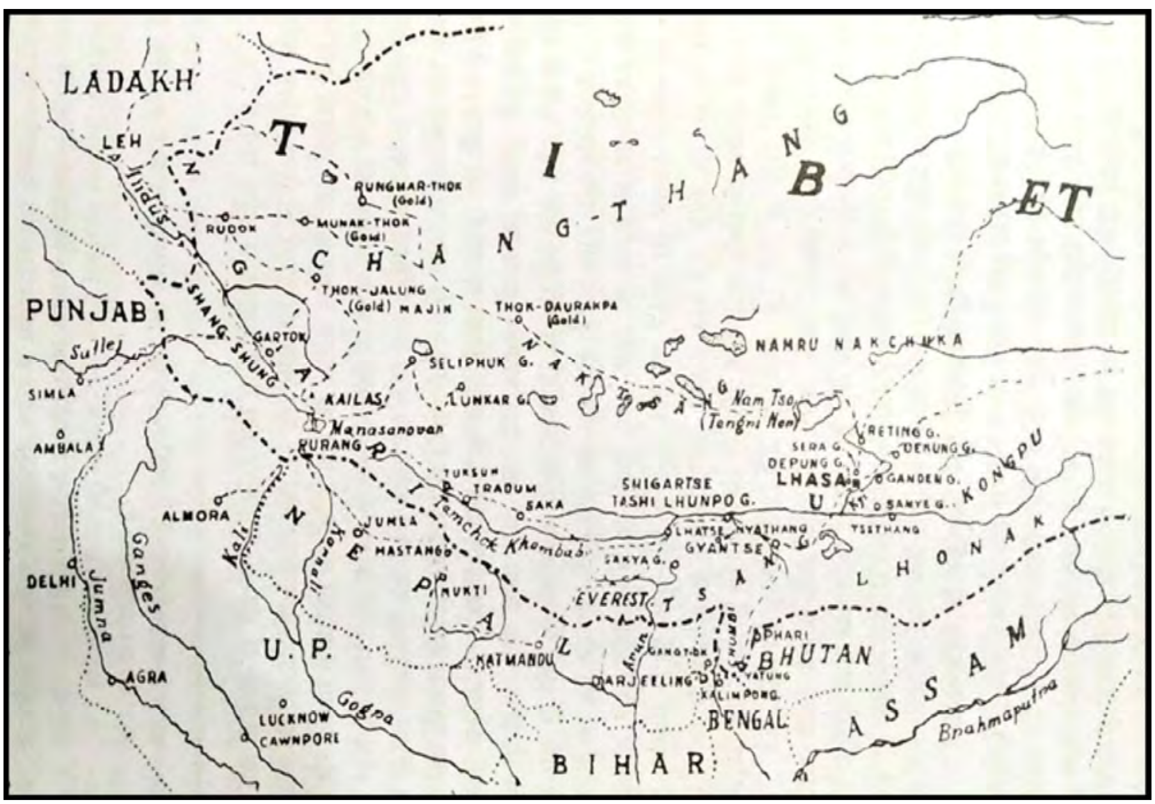
३४०- मानसरोवर के पश्चिम में राक्षसताल है। दोनों के मध्य एक पहाड़ी है।

३४१- सम्भवतः परखा (तसम) आकर, जहाँ से ल्हासा की यात्रा आरम्भ होती है।

३४२- ८० योजन अर्थात् ८० x ४ x २ = ६४० मील अथवा १०२८ कि०मी०। एक सीधी रेखा में नापने से यह दूरी ९२५ कि०मी० आती है। परन्तु पर्वतीय टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग होने के कारण यह दूरी १०२८ कि०मी० होनी सम्भव है।

३४३- पाठकों की जानकारी के लिए हम अगले पृष्ठ पर भारत और तिब्बत के उन क्षेत्रों के मानचित्र दे रहे हैं जिनमें से होकर स्वामी दयानन्द ने यह यात्रा की थी। इसमें यात्रा-पथ मानचित्र में बिन्दुओं (........ ) से दर्शाया गया है। तिब्बत के अन्य यात्रा-पथ भी चित्र में दिखाए गए हैं।






*मानसरोवर से ल्हासा तक और ल्हासा से दार्जिलिङ्ग की ओर का सम्भावित यात्रा-पथ*

ये दोनों भगवान् के भजन गाते थे और विश्राम स्थलों में सत्सङ्ग लगाते जाते थे। बौद्ध भिक्षु लोगों से स्वामी दयानन्द का विवाद हो जाता था क्योंकि वे लोग केवल बुद्ध को ही सब कुछ मानते थे और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। कारोबारी गृहस्थ बौद्ध लोग उनसे कभी-कभी सहमत भी हो जाते थे। इससे बौद्ध भिक्षु लोग स्वामी दयानन्द के प्रति और उनके साथी स्वामी गङ्गागिरि के प्रति रुष्ट हो गये थे और उनके प्रति उनकी शत्रुता बढ़ती ही जा रही थी।

**प्राण-दण्ड से दण्डित और निर्वासन**-किसी बड़े शहर में[३४४] वहाँ के धर्म गुरु लामा के पास स्वामी दयानन्द और स्वामी गङ्गागिरि दोनों के विरुद्ध धर्म-निन्दा और बुद्ध के प्रति तिरस्कार करने की नालिश कर दी गई थी। अत: ये दोनों गिरफ्तार होके अन्धेरे कारागार में कैद कर दिए गए थे। तीसरे दिन लामा के विचार से इन दोनों को प्राण-दण्ड सुनाया गया। विचार-समय स्वामी दयानन्द से पूछा गया था-''क्या 'बुद्ध' आदमी है या केवल 'बुद्ध' ही हैं?'' उन्होंने जवाब दिया था-''बुद्ध महापुरुष हैं, बुद्ध हैं और आदमी हैं। '' गङ्गागिरि का उत्तर भी ऐसा ही था। फलत: दोनों के प्रति ही प्राण-दण्ड का आदेश दिया गया था। दोनों के शरीरों में सैकड़ों जोंक लगाये गये थे। दोनों ही अलग-अलग वध-स्थानों में ले जाए गये थे और दोनों के उपाय भी अलग-अलग ही थे। गङ्गागिरि की 'याक' नाम के किसी वन्य प्राणी के चमड़े से आच्छादित करके सिलाई की गई थी और मृत्यु तक वह दिन भर धूप में और रात्रि भर ठण्ड में भूखे रखे गये थे और स्वामी दयानन्द को मृत्युदण्ड प्राप्त शवदेहों से परिपूर्ण एक गहरे कुएँ में भूखा मरने के लिए फेंक दिया गया था। इस भयङ्कर दृश्य को देखकर वहाँ की देवियाँ रोने लगीं। दूसरे दिन देवियों ने दयार्द्र होकर गङ्गागिरि को छुटकारा दे दिया था और स्वामी दयानन्द को कुएँ से निकालने के लिये उन्होंने मोटी रस्सी ऊपर से गिरा दी थी। तीसरे दिन स्वामी दयानन्द उस रस्सी को पकड़कर ऊपर आ गए थे। देवियों की दया से उद्धार प्राप्त कर चौथे दिन ये दोनों अन्यान्य व्यवसायियों के साथ ल्हासा की ओर प्रस्थित हो गये। पुरुषों ने इनको कानून के बल पर मारना चाहा था और देवियों ने करुणा के बल पर इन्हें जीवन-दान दिया था[३४५]। इस बात को इनके लिए भूलना कठिन था। इस रूप से दो महीनों के अन्दर ये दोनों ल्हासा में पहुँच गये थे [३४६]।

**ल्हासा और तिब्बत**-ल्हासा नगरी अति सुन्दर है। लेकिन नगरी में बाहर वालों के आने-जाने के लिये कठोर रूप से निषेध था। केवल साधुओं के लिए कानून में कुछ ढीलापन था। ल्हासा शहर करीब एक योजन लम्बा है, चारों ओर पर्वतों से घिरा हुआ है और क्विचू नदी के दक्षिणी किनारे पर अवस्थित है। शहर के मध्य स्थान की उच्चभूमि पर झियो नाम का चतुष्कोण मन्दिर है। इसकी छत सोने से आच्छादित है। मन्दिर में बहुत प्रकार की मूर्तियाँ हैं। उनमें दो मूर्तियाँ ही प्रधान हैं-एक शाक्य मुनि की और दूसरी 'पल देन लामो' की, जो कि भारत की 'काली माता' है। मूर्तियों के शरीर मूल्यवान सोने और मणि-मुक्ताओं से अलंकृत हैं। यहाँ के मनुष्य कहते हैं कि भारत के शाक्यमुनि यहाँ आये थे। पहाड़ के पाद देश में तिब्बत के राजगृह हैं। यहाँ के राजा का नाम 'गिय लिवो' है। दूसरे उच्च पर्वत-शिखर पर 'पोटाला या चाई' नामक प्रासाद में तिब्बतियों के सर्वप्रधान धर्म गुरु लामा रहते हैं। इनका नाम 'कियामकुर्रि वोचि' है। ये ही तिब्बत के सर्वेसर्वा हैं। ल्हासा नगर के उत्तर में 'गियां बुमोचि' नामक महावीर का स्मृति-स्तम्भ है। यहाँ इन्होंने एक लाख चीनी शत्रुओं का वध करके देश की स्वतन्त्रता की रक्षा की थी। तिब्बत के शासनविधानानुसार बड़े लामा ही राजा हैं। 'गियापबो' इनके प्रधानमन्त्री हैं। ये भी लामा हैं। तिब्बत में सब भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं।

---

३४४- यह बड़ा शहर शिगार्त्सी है जहाँ पञ्चनलामा का अधिकार होता है और वही यह दण्ड देने का अधिकारी है।

३४५- ''कई बार मेरे प्राण-हरण की चेष्टा की गई, परन्तु सर्वरक्षक परमात्मा ने सर्वत्र मेरी रक्षा की।''

-**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० १७३)

३४६- दो महीनों की यह समयावधि ऋषिकेश से ल्हासा तक की समझनी चाहिए। इस प्रकार स्वामी दयानन्द नवम्बर १८५६ के मध्य में ऋषिकेश से चलकर लगभग दो महीनों के समय में जनवरी १८५७ में (अर्थात् माघ में) ल्हासा पहुँच गए थे।

तिब्बत में तीन तरह की भाषाओं का प्रचलन है–बोध–काई, खाम–काई और दोयाग–काई। ल्हासा में राजधानी की बोध–काई में ही धर्म ग्रन्थादि लिखित हैं। यहाँ बौद्ध–धर्म प्रचलित है। बौद्ध–धर्म भी यहाँ दो तरह का है। एक 'नाँवा' और दूसरा 'चिंबा'। लामा को छोड़कर सब ही के शव 'धोतो' नाम के पर्वत पर ले जाये जाते हैं और शवों को टुकड़े –टुकड़े करके काटकर सम्बन्धी लोग माँस भुक् चील, गीध, कौवे आदि पक्षियों को देने के लिये फेंक देते हैं। ल्हासा शहर के सब मठ, मन्दिर और धर्म गुरु लामाओं के आवास स्थानों को स्वामी दयानन्द ने देख लिया था। योगी साधकों की भी उन्होंने खोज की थी। ''ओं मणि पद्मे हुं'' मन्त्र के जप करने वाले साधु ही तिब्बत में योगी साधु नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रकृत योगी साधकों का दर्शन उन्हें नहीं मिला। अत: स्वामी दयानन्द ल्हासा छोड़कर दार्जिलिङ्ग जाने के लिए तैयार हो गये थे।

**ल्हासा से दार्जिलिङ्ग**–ल्हासा से बहुत तिब्बती वणिक् कस्तूरी, चमरी–पुच्छ और मूल्यवान् प्रस्तर बेचने के लिये दलबद्ध रूप से दार्जिलिङ्ग आते हैं और इनके साथ लामा लोग और भिक्षु लोग भी तीर्थ–भ्रमण के लिये दार्जिलिङ्ग पहुँच जाते हैं। स्वामी रुद्रानन्द भी स्वामी दयानन्द के साथ आये थे[३४७]। ल्हासा से क्विचू नदी पार होकर ये लोग दक्षिणी किनारे पर नेथाङ्ग नामक स्थान में आये थे। वहाँ से ये लोग त्स्यांगपो नदी के उत्तरी तट पर पहुँच गये थे। च्याकसाम नामक गाँव के बगल में दुर्गम प्रस्तराकीर्ण पथ से आकर नदी पार होने के लिये उन्होंने पुल देखा। पुल और अधिक भयङ्कर था। दोनों ओर दो मजबूत रस्सियों के साथ तख्ते बन्धे हुए थे। सब ही तख्ते दैर्ध्य में और चौड़ाई में छोटे और संकीर्ण थे। तख्ते लम्बी रस्सी के साथ झूलते हुए बन्धे हुए थे। इसलिए एक से अधिक व्यक्ति एक साथ उस पर से नदी को पार नहीं कर सकता था। लोहे की जञ्जीर दोनों तरफ स्तूपीकृत शिलाराशि के अन्दर प्रोत्थित काष्ठ दण्ड के साथ बन्धी हुई थी। पुल लम्बाई में एक सौ कदम था। इसके पार जाने के बाद इन दोनों ने विश्राम करके कायरो नाम की पहाड़ी घाटी को अतिक्रमित किया। घाटी से उस पार जाकर उन्होंने काम्बापर्त्सि नामक स्थान में आकर विश्राम किया। ल्हासा से यहाँ आने में चार दिन लग गये थे। ग्रामों में फल–मूल जो कुछ मिलता था, खा लेते थे। इस रूप से ये लोग दार्जिलिङ्ग प्रस्थित हो गए थे[३४८]।

काम्बापर्त्सि से दूसरे दिन स्वामी दयानन्द और स्वामी रुद्रानन्द ने न्यांकर्त्सि में पहुँचकर विश्राम किया। बगल में पाल्ति नाम का एक सरोवर है। इसकी आकृति घोड़े के खुर जैसी है। एक छोटे पर्वत से यह सरोवर घिरा हुआ है। रास्ते में इतना बड़ा सरोवर इन्होंने अन्य कोई नहीं देखा था। पर्वत के ऊपर दोरजिफ्यामो नाम का मन्दिर है और वहाँ आदमियों का निवास स्थान भी है।

तीन दिन में न्यायकर्त्सि गाँव से उपसिगाँव में आकर इन लोगों ने चीनी लोगों का उपनिवेश देखा[३४९]। वहाँ प्रवेश

---

३४७– ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी गङ्गागिरि ल्हासा से वापस चले गए क्योंकि वे सदैव पहाड़ पर ही रहा करते थे। ल्हासा से स्वामी दयानन्द ने एक अन्य स्वामी रुद्रानन्द के साथ अगली यात्रा की जिनसे चण्डी के पहाड़ पर परस्पर परिचय हुआ था। *पठितव्य*– पूर्व पृष्ठ– १४१

३४८– ''पिता का वचन सुनकर शुकाचार्य पाताल से मिथिलापुरी की ओर चले। प्रथम मेरु अर्थात् हिमालय से ईशान, उत्तर और वायव्य देश में जो देश बसते हैं, उनका नाम हरिवर्ष था। अर्थात् हरि कहते हैं बन्दर को, उस देश के मनुष्य अब भी रक्तमुख अर्थात् वानर के समान भूरे नेत्र (वाले) होते हैं। जिन देशों का नाम इस समय 'यूरोप' है, उन्हीं को संस्कृत में 'हरिवर्ष' कहते थे। उन देशों को देखते हुए और जिनको हूण–यहूदी भी कहते हैं, उन देशों को देखकर चीन में आए। **चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी को आए।**'' – **सत्यार्थप्रकाश** (दशम समुल्लास)

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द को चीन से भारत आने वाले इस मार्ग की जानकारी थी, जबकि 'महाभारत' के सम्बन्धित श्लोकों का ऐसा शाब्दिक अर्थ नहीं है।

३४९– 'बिना स्वत: यात्रा किए ऐसा सङ्केत कर पाना सर्वथा असम्भव है क्योंकि इस उपनिवेश का उल्लेख किसी भी भौगोलिक

करने की अनुमति स्वामी दयानन्द को नहीं मिली थी। स्वामी रुद्रानन्द भी वहाँ नहीं जा सके थे। यहाँ ये लोग समभूमि के रास्ते से बहुत आराम के साथ आ गये थे।

उपसिगाँव से नियङ्ग नदी के किनारे दो समान्तराल पहाड़ों के ऊपर गियांग्त्से नामक अति मनोरम छोटे नगर को इन लोगों ने देखा। इसके पूर्वी ओर के पहाड़ पर एक बड़ा किला है और पश्चिमी ओर के पहाड़ पर एक गोम्पा है जिसमें पाँच सौ लामा अर्थात् धर्म गुरु निवास करते हैं। यह चुरतान अर्थात् धर्म मन्दिर है जिसमें धर्म ग्रन्थ, मूर्तियाँ और विभिन्न देव देवियों के पूजनार्थ उपकरण भी हैं।

गियांग्त्से से तीन दिन में फारि नामक स्थान में ये लोग रांगिको डूलाङ्गकारपो, कालात्सो, कालाशहर, छुटिआ आदि स्थानों को अतिक्रम करके पहुँच गये थे। रास्ते में उन्होंने गर्म पानी का एक झरना देखा, कालाशहर के बगल में कालात्सो नामक सुन्दर सरोवर को भी देखा। राह्म नामक एक अन्य सरोवर को भी देखा जिसका जल कई एक महीनों तक पक्की बरफ के रूप में रहता है। फारि में किला है। वहाँ से तिब्बतियों का पवित्र गिरि-श्रृङ्ग चामोलार दिखाई देता है।

फारि से दो दिन में स्वामी दयानद और स्वामी रुद्रानन्द चुम्बी नामक स्थान में आये। चुम्बी में सिक्किम के राजा गर्मी के समय में रहते हैं। यहाँ से थोड़ी दूर पर दो नदियाँ मिल गई हैं। उस मिश्रित जलधारा का नाम ही आमो नदी है। रास्ते में दो छोटे गाँवों में (रुपाखा नाम के गाँव की गोम्पा में और दोंकारा गाँव में) दो योग-साधक महापुरुषों के उन्होंने दर्शन किए थे।

इन दोनों साधकों के नाम इनको मालूम नहीं हुए। बौद्ध साधु नाम से ही इन दोनों का उन्हें परिचय हुआ था। पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार विभूतिपाद में जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सब इन दोनों के आयत्त्व में आ गयी थीं। इनकी प्रार्थना पर उन्होंने इनको क्रियात्मक रूप में कुछ प्रदर्शन भी किया था। कैवल्य-लाभ के बारे में इनके उपदेश बहुत ही उपादेय थे। स्वामी दयानन्द और स्वामी रुद्रानन्द ने पहले यह समझा था कि तिब्बत भूमि के दुर्गम स्थानों में भ्रमण करना बेकार ही रहा है लेकिन इन दो साधकों की सङ्गत में आकर इनका सारा परिश्रम सार्थक हो गया था।

चुम्बी से इउक तक ये लोग पार्वत्य दृश्य देखते हुए और स्थान-स्थान पर विश्राम करते हुए पहुँच गए थे। यहाँ तक ही तिब्बत की सीमा है। इससे आगे भारत की सीमा आरम्भ होती है। तिब्बतीय गुप्तचरों ने बहुत कुछ पूछ-ताछ करके इन दोनों को छोड़ दिया था। स्वामी रुद्रानन्द के पास दतौन-काष्ठ काटने के लिए एक छोटी सी कुल्हाड़ी थी, उसको भारत में गुप्तचरों ने लाने नहीं दिया था। इस प्रकार ये लोग अब भारत पहुँच गये थे।

## पूर्वोत्तर भारत व नेपाल-भ्रमण

इउक से प्रस्थित होकर बौद्ध साधुओं के साथ स्थान-स्थान पर विश्राम करते हुए स्वामी दयानन्द और स्वामी रुद्रानन्द करीब पन्द्रह दिन के अन्दर दार्जिलिङ्ग पहुँच गये थे। रास्ते में नाथा, चुमाकेन और पीडाँग आदि गाँवों में भ्रमण करके योग साधकों का उन्होंने अनुसन्धान किया था। जिलेप नामक उच्च पर्वतश्रृङ्ग को पार करके वे नाथा गाँव में आए थे। चुमाकेन गाँव में बौद्ध भिक्षु लोगों ने तिब्बत का भ्रमण वृत्तान्त इनसे उत्साह और कौतूहल के साथ सुना। वहाँ से पीडाङ्ग होकर वे कालिम्पोङ्ग पहुँचे। यहाँ हाट और बाजार दोनों हैं। रविवार को यहाँ पैठ लगती है। इस पैठ में तिब्बत से व्यवसायी

---

ग्रन्थ में अनुपलब्ध है और यह वस्तुतः वहाँ विद्यमान है।' यह अभिमत स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती ने प्रगट किया था। इस विषय में **साप्ताहिक आर्यजगत्** (नई दिल्ली) के ऋषि बोधाङ्क (२६ फरवरी १९८४) में उसके सम्पादक पं० क्षितीश वेदालङ्कार का सम्पादकीय लेख **'नया ऋषिबोध'** द्रष्टव्य है।

लोग मूल्यवान् पशमीना, कपड़े, कस्तूरी, पत्थर और हाथी के दाँत बिक्री करके नमक खरीद कर ले जाते हैं। कालिम्पोङ्ग में दो ईसाई पादरियों से उनका वार्तालाप हुआ था। ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म के बारे में उनका विश्वास है कि करीब दो सौ वर्षों के अन्दर-अन्दर भारत के सब के सब शिक्षित पुरुष-नारियाँ ईसाई धर्म की शरण में आ जायेंगे। कालिम्पोङ्ग और दार्जिलिङ्ग दोनों स्थानों में ही इनका प्रबल प्रभाव इन्होंने देखा था। दार्जिलिङ्ग की भुटिया बस्ती में हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म के बारे में इन्होंने शङ्का-समाधान किया [३५०]। दार्जिलिङ्ग को इन्होंने तिब्बत और भारत के मध्य में व्यवसाय केन्द्र और पहाड़ी जातियों के अन्दर ईसाई धर्म-प्रचार के केन्द्र के रूप में देखा था। वहाँ के शिक्षित बंगाली लोगों में, पहाड़ी जातियों में ईसाई धर्म का अबाध और प्रबल प्रचार भारत देश और जाति के लिये हानिकारक है-इस तत्व को इन्होंने अच्छे रूप से समझ लिया था। सब ही सज्जनों ने इनकी इस बात को स्वीकार भी कर लिया था परन्तु उसका क्रियात्मक रूप नहीं देखा गया था।

**दार्जलिङ्ग से नाटोर**- दार्जिलिङ्ग में नाटोर के राजा के उच्चतम कर्मचारी से इनका परिचय हो गया। (हरिद्वार में भी नाटोर के राजा से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हुआ था। इन्होंने ही स्वामी दयानन्द को बाहर जाने के लिए अपना आग्रह प्रकट किया था।) इनका नाम था-रतनमणि लाहिड़ी। लाहिड़ी महोदय के साथ स्वामी दयानन्द नाटोर आ गए थे। राजपरिवार के सब मनुष्य उनसे सन्तुष्ट थे। राजगृह में स्वामी दयानन्द ने सात दिन तक राजधर्म और प्रजाधर्म के बारे में उपदेश दिया था। योगविद्या के बारे में उनसे क्रिया योग की शिक्षा के लिए राजा बहादुर ने प्रार्थना की थी। अतः स्वामी दयानन्द ने तपः, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान के सम्बन्ध में उन्हें शिक्षा प्रदान की थी जिससे ये सब अपने को धन्य समझने लगे थे।

**नाटोर से बैरकपुर**- स्वामी दयानन्द वहाँ से गङ्गासागर जाने के लिये तैयार हो गये थे और स्वामी रुद्रानन्द जी के साथ उन्होंने वहाँ के लिए प्रस्थान कर दिया था। सिलिगुड़ी होकर ये लोग बैरकपुर पहुँच गये थे [३५१]। गङ्गा के किनारे ये लोग एक बट वृक्ष के नीचे बैठ गये और अनेक लोग उनसे उपदेश लेने के लिये आने लगे। वहाँ के सैन्यावास के फौजी व्यक्तियों ने अति गुप्त रूप से इनसे कुछ कहना चाहा था। पर इस रूप से बातचीत करना इन्हें पसन्द नहीं आया था क्योंकि सैन्यावास में प्रवेश करना बाहर के व्यक्तियों के लिए निषिद्ध है। अतः ये लोग सैन्यावास के सम्मुख एक बड़े वट वृक्ष के नीचे धूनी

३५०- ''मैडम ब्लैवेट्सकी ने अपनी पुस्तक **'फ्राम दि केव्ज एण्ड जंगल्स आफ हिन्दोस्तान'** में लिखा है कि एक समय महाराज बंगाल के एक छोटे से ग्राम में बलपूर्वक खण्डन कर रहे थे कि एक मतान्ध शैव ने एक कृष्ण सर्प उनकी विवस्त्र टाँगों पर फेंक कर कहा कि अब वासुकी देवता स्वयं ही प्रगट कर देगा कि हम में से कौन सचाई पर है। सर्प उनकी टाँग से लिपट गया था। उन्होंने एक झटके से ही उसे अलग फेंककर अपनी एड़ी से उसके शिर को कुचल डाला और बड़ी शान्ति से उस शैव को उत्तर दिया कि अच्छा इसे ही निर्णय करने दो। तुम्हारा देवता तो बहुत शिथिल रहा, मैंने ही इस विवाद का निर्णय कर दिया और श्रोताओं को सम्बोधन करके कहा कि अब जाओ और सबसे कह दो कि कैसी आसानी से झूठे देवता नष्ट हो जाते हैं।

इस घटना में कितना तथ्य है, हम नहीं कह सकते। इसमें असम्भव बात तो कोई प्रतीत नहीं होती। **यदि यह सत्य हो तो यह उस समय की हो सकती है जब महाराज ने गङ्गोत्री से गङ्गासङ्गम तक विचरण किया था,** परन्तु उन दिनों तो वह खण्डन-मण्डन करते सुने नहीं गए।''-**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-२, पृ० २५०-२५१)

उपर्युक्त घटना इसी भुटिया बस्ती की होनी सम्भावित है।

३५१- ल्हासा से बैरकपुर पहुँचने में स्वामी दयानन्द को डेढ माह का समय लगा। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे यहाँ फरवरी १८५७ के अन्त में अथवा मार्च १८५७ के प्रारम्भ (फाल्गुण सं० १९१३ वि०) में पहुँच गए थे।

लगाकर बैठ गये थे [३५२]। सब ही प्रकार के मनुष्य इनसे उपदेश और आशीर्वाद माँगने के लिए आने लगे। सब ही का ये लोग संक्षिप्त परिचय लिया करते थे। एक मङ्गल पाण्डे [३५३] ने और दो फौजी मनुष्यों ने स्वयं को फौजी कहकर अपना परिचय दिया था और रोते हुए कहा था-''महाराज! सरकार ने एक विचित्र तरह की कारतूस व्यवहार करने के लिए भेजी है। सुना जाता है-इसमें गाय और सूअरों की चरबी मिली हुई है। उसको दाँतों से काटकर लगाना पड़ता है। हम समझते हैं कि हिन्दु और मुसलमान दोनों का धर्म भ्रष्ट करने के लिए ही ऐसा प्रबन्ध किया गया है। प्राण देने के लिए हम बहुत से फौज के सिपाही तैयार हो गये हैं। हमारे पास कमल पुष्प और चपाती भी क्रान्ति के दूत के रूप में आकर धर्म युद्ध में तैयार रहने के लिए प्रेरणा दे गये हैं। जब युद्ध के लिए सङ्केत आ जायेगा, हम लोग हथियारों के साथ उतर पड़ेंगे। हम लोग प्रकट विद्रोह की निश्चित दिनाङ्क की प्रतीक्षा में हैं। मराठी नेता के या कुँवरसिंह के आदेश पर ही युद्ध प्रारम्भ हो जायेगा। आप हम सबको आशीर्वाद दीजिये, जिससे हम सबको धर्म युद्ध में शत्रुओं के प्राण लेने या अपने प्राण देने के लिए शक्ति मिल जाये।''

इन्होंने स्वामी दयानन्द को प्रणाम किया और उन्होंने उन्हें आशीर्वाद दिया-''जीना और मरना दोनों ही धर्म के लिए हैं। साथ-साथ धर्म युद्ध में भी नियम और परम्परा की रक्षा करो। इससे विपरीत होने पर बड़े-बड़े जहाज भी डूब जाते हैं। भगवान् आपके हृदयों में शक्ति प्रदान करें।''

**बैरकपुर से कलकत्ता**- स्वामी दयानन्द बैरकपुर से कलकत्ता आकर शोभा बाजार के राजा के भवन में तीन दिन रहे थे। सायंकाल उनका उपदेश गृहस्थाश्रम-धर्म के बारे में होता था। उसमें केवल कर्मचारी व्यक्ति ही आया करते थे। राजा बहादुर के पास स्वामी दयानन्द ने गङ्गासागर जाने की इच्छा प्रकट की थी। उन्होंने तीन कर्मचारियों को उनके लिए नियुक्त कर दिया था। तब सब लोग एक साथ मिलकर जलपथ से गङ्गासागर प्रस्थित हो गये थे।

**कलकत्ता से गङ्गासागर**- कलकत्ता से गङ्गासागर करीब आठ योजन दूरी पर है। अब वह स्थान द्वीप के रूप में है। वहाँ अति अल्प संख्यक साधु सदैव रहते हैं। जहाँ अब मेला लगता है वहाँ ही समुद्र के साथ गङ्गा का पुराना मिलन-स्थान है। गङ्गा वहाँ से हट गई है और समुद्र से मिलने के लिए एक छोटी सी धारा ही देखी जाती है। मकर संक्रान्ति में और कार्तिक पूर्णिमा पर वहाँ हजारों नरनारी स्नान के लिए एकत्रित हो जाते हैं। सारे भारत से भी साधु-संन्यासी और वैरागी लोग वहाँ एकत्र होते हैं। स्वामी दयानन्द तो यहाँ केवल योगी साधक पुरुषों के सन्धान में आये थे परन्तु उनकी यह आशा पूरी नहीं हुई थी। यहाँ केवल स्नान के द्वारा पुण्य लेने के अपने गौरव के लिए साथ ही अपनी-अपनी साधनाओं के

---

३५२- इस समय तक स्वामी दयानन्द एक साधारण संन्यासी ही थे। इस घटना के भी पौने चार वर्ष बाद जब वे मथुरा में स्वामी विरजानन्द के पास पहुँचे तब तक वे रुद्राक्ष की माला पहनते, भस्म लगाते, कौपीन बाँधते, अचरा छाती पर रखते, सिर पर मुँडासा बाँधते और बहुत बड़ी लाठी हाथ में रखते थे। इसलिए इस अवसर पर उनका धूनी लगाना कोई अप्रत्याशित कृत्य नहीं था। -(द्रष्टव्य पं० लेखराम कृत जीवन-चरित्र)

३५३- **मङ्गल पाण्डे**- ''मङ्गल पाण्डे उत्तरप्रदेश में बलिया के रहने वाले थे। वे इंग्लैंड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना में एक सिपाही थे। उन्होंने उन बन्दूकों को चलाने से मना कर दिया था जिनके कारतूसों में पशु की चर्बी होती थी। बहरामपुर में उनके साथियों ने भी ऐसा ही किया।

कलकत्ता के निकट बैरकपुर में २९ मार्च १८५७ (रविवार) को उनके इस विरोध ने सरकार के विरुद्ध खुले विद्रोह का रूप धारण कर लिया था। पाण्डे और उनके साथियों को कम्पनी के सिपाहियों ने घेर लिया। उन्होंने गोली मारकर आत्महत्या करने का प्रयास किया। इससे वे गम्भीर रूप से घायल हो गये। उनका कोर्ट-मार्शल किया गया और ८ अप्रैल, १८५७ को बैरकपुर में उन्हें फाँसी दे दी गई।'' -**अपना देश** (१ अगस्त १९८४ के अङ्क से)

प्रदर्शन के लिए और केवल मेला दर्शन के लिए ही लोग एकत्रित होते हैं। स्वामी दयानन्द ने वहाँ योगी साधक ढूँढा था किन्तु एक ही योगी-साधक उन्हें मिल सका जो अल्प समय के लिये ही आये थे परन्तु किसी से भी उन्होंने बातचीत नहीं की [३५४]।

**गङ्गासागर से नवद्वीप**- स्वामी दयानन्द के साथ स्वामी रुद्रानन्द महाराज पूर्ववत् थे। दोनों कलकत्ते में पहुँचकर नवद्वीप और शान्तिपुर गये थे। कार्तिकी पूर्णिमा में वहाँ मेला लगता है। नवद्वीप में सैकड़ों तान्त्रिक मूर्तियाँ पूजी जाती हैं और भवतारिणी के मन्दिर के प्राङ्गण में सब मूर्तियाँ एकत्रित की जाती हैं। मादक द्रव्यों का व्यवहार भी उसी दिन अधिक रूप से होता है। वैष्णव-भक्त लोग भक्ति-भाव से तीर्थ यात्रा के लिए वहाँ जाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु का वैष्णव मत और श्री कृष्णानन्द आगम-वागीश पण्डित का तान्त्रिक मत आज भी प्रतिद्वन्द्विता के रूप में वहाँ पर्वोत्सवों में देखा जाता है।

**नवद्वीप से कामरूप**- गङ्गासागर और नवद्वीप होकर कलकत्ता वापस आने के बाद कामरूप-कामाख्या जाने का स्वामी दयानन्द का विचार बना क्योंकि सुना जाता था कि वहाँ तान्त्रिक योगियों के लिए यह स्थान सिद्ध पीठ और पवित्र तीर्थ है। शोभा-बाजार के राजा ने कामाख्या जाने के लिए भी जल-पथ-यात्रा का उनके लिए प्रबन्ध कर दिया था। स्वामी रुद्रानन्द महाराज कलकत्ते से पुष्कर तीर्थ-यात्रा के उद्देश्य से वापस चले गये थे। स्वामी दयानन्द नौका-पथ से चारों व्यक्तियों के साथ कामरूप चल दिए। कई एक दिन की यात्रा के बाद ये लोग पाण्डुतीर्थ में पहुँच गये। ब्रह्मपुत्र नदी के समीप ही कामाख्या पहाड़ है। पहाड़ के पास ही गौहाटी (राजा भगदत्त की राजधानी) और ब्रह्मपुत्र नदी के केन्द्रस्थ गर्भ में छोटे पहाड़ पर उमानन्द शिव का मन्दिर है। चार सौ वर्ष पहले कामाख्या [३५५] के इस मन्दिर को काला पहाड़ ने तोड़ दिया था। पुराने टूटे हुए मन्दिर के चिह्न: तब वहाँ मौजूद थे।

वर्तमान मन्दिर का कूचविहार के राजाओं ने ही पूर्ववत् निर्माण किया था। नये मन्दिर के उद्घाटन के दिन मन्दिर के सम्मुख १५१ (एक सौ इक्यावन) ब्राह्मण बालकों का बलिदान दिया गया था। कामरूप, गोपालपाड़ा, नवगाँव और शिवसागर जिलों से इन सब बालकों का संग्रह हुआ था। अर्थ-लोभ से और पुण्य की आशा से माता-पिताओं ने इन सब बालकों को बलिदान के लिये बेच दिया था। तब से विभिन्न पर्वों पर उस मन्दिर के सम्मुख नरबलि देने की प्रथा प्रारम्भ हो गई थी। कामरूप के अन्तर्गत कूचविहार के कोच राजा नर नारायण ने कामाख्या देवी के लिये इष्टक-मन्दिर निर्माण करवाकर एक सौ चालीस मनुष्यों की नरबलि के साथ मन्दिर का उद्घाटन-उत्सव सम्पन्न किया था। छिन्न मुण्डों को अलग-अलग ताम्र पात्रों में रखकर देवी के सम्मुख रखा गया था। उनके भतीजे रघुदेव ने भी सन् १५८३ में हयग्रीव-मन्दिर का पुनर्निर्माण करके ब्राह्मणों को भूसम्पत्ति दान देकर उसके बदले ७०० (सात सौ) ब्राह्मणों का संग्रह करके बलिदान दिया था। इन छिन्न मुण्डों को भी अलग-अलग ताम्र पात्रों में देव मूर्ति के सामने रखा गया था। आसाम के जयन्तिया राज्य में भी नरबलि का प्रचलन था। अँग्रेज-राजदूत को भी पकड़कर जयन्तिया राजा ने जयन्ती देवी की मूर्ति के सम्मुख बलिदान

---

३५४- यदि स्वामी दयानन्द ने ऋषिकेश से अपनी यह यात्रा डेढ़-दो माह और पहले आरम्भ की हो तो हो सकता है कि वे मकर-संक्रान्ति के अवसर पर लगने वाले इस मेले में भी सम्मिलित हुए हों। परन्तु ऐसा करने के लिए इस पुस्तक के पृष्ठ -१६२ में वर्णित उनकी उत्तराखण्ड की यात्रा में कलकत्ता कथ्य के अनुसार कुछ फेर-बदल करना होगा, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

३५५- **कामाख्या में**-"अन्धे लोग भेड़ के तुल्य एक के पीछे दूसरे चलते हैं। कूप-खाड़े में गिरते हैं, हट नहीं सकते। वैसे ही एक मूर्ख के पीछे दूसरे चलकर मूर्तिपूजा रूप गढ़े में फँसकर दु:ख पाते हैं।" -**सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)
स्वामी दयानन्द का यह लेख उनके कामाख्या मन्दिर के देखे होने का प्रमाण है।

दिया था। इसी के कारण जयन्तिया राज्य को अँग्रेजों ने छीन लिया था। इस रूप से सुविधा के अनुसार ब्रिटिश प्रजाओं को पकड़-पकड़कर बलिदान दिया जाता था। आसाम के खासी पहाड़ में नरबलि की प्रथा प्रचलित थी [३५६]।

कामाख्या पहाड़ का पूर्वनाम मयूर पहाड़ था। महाभारत युग के राजा भगदत्त के पिता नरकासुर ने उस पहाड़ को तन्त्रधर्म का केन्द्र बनाया था। तब से मयूर-पहाड़ पञ्च-मकार के आधिक्य के कारण कामाख्या-पहाड़ बन गया है।

वहाँ योग-साधन-प्रणाली सीखने के लिये स्वामी दयानन्द उस पहाड़ के ऊपर कामाख्या-मन्दिर में जाने वाले थे। रास्ते में उनके साथ दो और साथी जुट गये। एक-गौहाटी के कमलाकान्त फुकान और दूसरे-लोहित कुमार बरुआ। पहाड़ पर चढ़ते समय वहाँ के सुप्रसिद्ध योगी महाकाल बाबा की चर्चा चल रही थी। कामाख्या मन्दिर में पहुँचने से पहले ही उन्हें उनका आश्रम मिल गया। पहाड़ के एक सङ्कीर्ण कक्ष में बाबा जी आसन लगाकर बैठे हुए थे। उनकी आँखें बन्द थीं। गले में भी मोटी रुद्राक्ष की माला थी। व्याघ्र-चर्म से घर के भीतर का भाग आच्छादित था। घर के भीतर नर-मुण्डों के कपाल झूल रहे थे। उनके दाहिनी ओर थाली में छाग-माँस आहुति के लिए रखा हुआ था। बायीं ओर एक टोकरी में छिली हुई लीचियों का समूह मालूम पड़ रहा था। पीछे उन्हें मालूम हुआ कि यह आगन्तुक भक्तों के लिए प्रसाद रूप में देने के लिए बकरों की आँखें रखी गई हैं। बाबा के सम्मुख होमकुण्ड प्रज्वलित किया गया। भक्त लोग आश्रम कक्ष को भीतर-बाहर पूर्ण कर रहे थे। माँस का आहुतिदान प्रारम्भ हो गया। भृङ्गारपात्र से डाली हुई शराब को मिट्टी के पात्रों में भर-भर कर भक्तों में परोसना भी प्रारम्भ हुआ। इस समय स्वामी दयानन्द ठिठक गए। एक भक्त ने उनसे कहा-''तुम्हारा परम सौभाग्य है, जो आज शनिवार की पूर्णाहुति के दिन तुम अचानक यहाँ पहुँच गये हो।''

स्वामी दयानन्द के साथियों ने कहा-''आज दिवारात्र यहाँ ही रहा जाये। पूर्ण पञ्चमकार के अर्थात् मत्स्य, माँस, मुद्रा, मद्य और मैथुन का पूर्ण सौभाग्य लेकर तब यहाँ से चलना।''

इस बात को सुनकर स्वामी दयानन्द को लज्जा, भय और क्रोध आया। उन्होंने मिट्टी के पात्रों को छीन कर फेंक और तोड़ दिया। परोसने वाले चिल्लाने लगे। तब स्वामी दयानन्द अति वेग से नीचे उतरने लगे। भक्त लोग उन्हें पकड़ने के लिये पगला-पगला कहते हुये पीछे दौड़ने लगे। स्वामी दयानन्द ने देखा कि आठ-दस आदमी उनका पीछा कर रहे हैं। तब वे नीचे पड़े हुये वृक्ष की मोटी डाल को लेकर खड़े हो गए। इससे वे लोग डर के मारे भाग गये और स्वामी दयानन्द ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे पण्डुघाट में पहुँच गए।

**कामरूप से परशुराम कुण्ड**- पाण्डुघाट से शिवसागर के एक पण्डित ने स्वामी दयानन्द की सब बातें सुनकर दु:ख प्रकट किया। उन्होंने स्वामी दयानन्द को योगी-साधकों के पते दिये। मालूम हुआ कि शिवसागर के मुक्तिनाथ मन्दिर में जोरहट के जटिया बाबा के आश्रम में और आसाम की पूर्वोत्तर सीमा पर परशुराम कुण्ड के पास झुण्ड के झुण्ड योग-विद्या शिक्षा देने वाले योगी-साधक लोग रहते हैं। स्वामी दयानन्द उन स्थानों पर भी गए।

**परशुराम कुण्ड से नेपाल**- पश्चिम आसाम से पूर्व-आसाम तक का अतिक्रमण करके स्वामी दयानन्द ने अकेले ही उन सब स्थानों में योगी और साधकों के सन्धान में परिभ्रमण किया था लेकिन वे सफलकाम नहीं हुए थे क्योंकि ये लोग सबके सब कामाख्या वाली योग-साधना में ही निपुण थे। अत: स्वामी दयानन्द ने निराश होकर सदिया में आकर दो दिन विश्राम किया। वहाँ एक नेपाली ब्राह्मण सिपाही से उनका परिचय हुआ। उसने उन्हें नेपाल जाने का परामर्श दियाऔर कहा कि नेपाल में योग-सिद्ध पुरुष बहुत से मिल जायेंगे। इसी आशा पर स्वामी दयानन्द ने उत्तरी-आसाम का अतिक्रमण करके

---

३५६- इस विषय की जानकारी के लिए पाठक 'Imperial Gazettere of India, Eastern Bengal & Assam' तथा 'History of Cooch Bihar' देखें।

मिथिला में प्रवेश किया। इस प्रकार स्वामी दयानन्द समस्तीपुर, दरभङ्गा, बेतिया आदि का अतिक्रमण करके नेपाल में पहुँच गए थे। आगे धीरे-धीरे काठमाण्डू होकर वे पशुपतिनाथ [३५७] पहुँचे। इस यात्रा में दो स्थानों पर उनकी तलाशी भी ली गई थी। काठमाण्डू से करीब बीस योजन दूरी पर मुक्तिनाथ और वहाँ से दो योजन की दूरी पर विभिन्न स्थानों पर भी वे गए थे। इन सब स्थानों में करीब-करीब सब ही साधु-संन्यासी गाँजा, भाँग और शराब पीते हैं। इनके मतानुसार ये सब नशीले पदार्थ योग-विद्या-शिक्षा के लिये आवश्यक हैं। स्वामी दयानन्द नेपाल में आकर भी निराश ही हुए। तब वे एक वैरागी साधु के परामर्शानुसार कलकत्ता और नवद्वीप के प्रसिद्ध पण्डितों और साधुओं से मिलने के लिए पुनः कलकत्ता आने के लिये तैयार हो गए और उन्होंने परिव्राजक साधुओं के साथ नेपाल से बङ्गाल के लिए प्रस्थान कर दिया था [३५८]।

**नेपाल से पुनः कलकत्ता में**- स्वामी दयानन्द ने कलकत्ता आते हुए मिथिला की हालत भी जान ली थी। मिथिला के रहने वाले अधिकांश बहुत ही निर्धन, दुःखी और सरल थे। इनमें भक्त साधक ही बहुत थे परन्तु योगी बहुत ही कम थे। स्वामी दयानन्द ने कलकत्ता आकर यहाँ के आदिम मालिक सावर्ण चौधरी के वंशधरों [३५९] के आग्रह से उनके गृह में आश्रय लिया। यह स्थान बेहाला की ओर कलकत्ता के दक्षिण में है। उन्होंने उन्हें बाहर कहीं भी जाने का निषेध कर दिया था। किसी पर्व के उपलक्ष्य में उन्होंने नवद्वीप और कलकत्ता के चुने हुए साधक और पण्डित लोगों को स्वामी दयानन्द के साथ वार्तालाप के लिये निमन्त्रण भेजा था। निर्दिष्ट दिन में लगभग पच्चीस साधु और पण्डित इस वार्तालाप में सम्मिलित हुए। स्वामी दयानन्द की भ्रमण की कहानियाँ और भ्रमण के उद्देश्य को सुनकर उन सबने हर्ष प्रकट किया था। एक वृद्ध पण्डित

३५७- **पशुपतिनाथ (नेपाल)**- ''पशुपति' एक मन्दिर और 'पञ्चमुखी' मूर्ति का नाम धर रक्खा है। जब कोई न पूछे, तब ऐसी लीला बलवती होती है। परन्तु जैसे तीर्थ के लोग धूर्त धनहारे होते हैं, वैसे पहाड़ी (= नेपाली) लोग नहीं होते। **वहाँ** (= नेपाल) **की भूमि बड़ी रमणीय और पवित्र है।**'' – **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

स्वामी दयानन्द का यह लेख उनके 'पशुपतिनाथ' के मन्दिर के देखे होने का प्रमाण है और नेपाल की भूमि की रमणीयता तथा पवित्रता के लिए जो प्रमाण-पत्र स्वामी दयानन्द ने दिया है, वह वे बिना उसे देखे नहीं दे सकते थे। इस विषय में पूर्व पृ० १५८ की पाद टिप्पणी क्र० ३०७ भी द्रष्टव्य है।

३५८- नेपाल से कलकत्ता (बङ्गाल) आते हुए स्वामी दयानन्द मुँगेर होकर आए थे। इसी से वे इस स्थान के विषय में पूर्व से परिचित थे। यथा-

''स्वामी जी ४ अक्टूबर सन् १८७२ (आश्विन शुक्ल १ संवत् १९२९ वि०) के प्रातःकाल (सूर्योदय से पूर्व अर्थात् तिथि परिवर्तन से पूर्व) मुंगेर पहुँचे और बिना किसी से पूछे हुए एक ओर को चल दिये, **मानो वह उस स्थान से जहाँ उन्हें ठहरना था, पहले से परिचित थे।** कुछ दूर चलकर एक साधु के आश्रम पर पहुँच गये जिसमें दो कमरे थे, कुआँ था, फुलवारी थी और गङ्गा की धारा भी निकट ही थी। साधु उस समय आश्रम में न था। वहाँ पहुँचकर स्वामी जी ने राजनाथ विद्यार्थी और कहार से आश्रम में ही आसन लगाने की आज्ञा दी और वहाँ ही ठहर गए।''

– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० २५३)

उपर्युक्त उद्धरण स्वामी दयानन्द के कलकत्ता-कथ्य की इन यात्राओं की प्रामाणिकता में एक जबरदस्त प्रमाण है। स्वामी दयानन्दजिस साधु के आश्रम में उसकी अनुपस्थिति में भी ठहर गए थे, वह उनका पूर्व परिचित ही था क्योंकि नेपाल से कलकत्ता आते हुए वे उसी के पास पहले रुके थे।

३५९- **आदिम मालिक सावर्ण चौधरी के वंशधर**-''इन्द्रदमन' वही है जिसके कुल में अब तक कलकत्ते में हैं। वह धनाढ्य राजा और देवी का उपासक था। उसने लाखों रुपये लगाकर मन्दिर बनवाया था-इसलिए कि आर्यावर्त्त देश के भोजन का बखेड़ा इस रीति से छुड़ावें, परन्तु वे मूर्ख कब छोड़ते हैं?'' – **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

कलकत्ता की ठाकुरवाड़ी के संग्रहालयाध्यक्ष श्री समर एन० भौमिक ने मुझे २९ अप्रैल १९८५ को बताया था कि सत्यार्थप्रकाश में वर्णित 'इन्द्रदमन' एवं कलकत्ता-कथ्य में वर्णित 'आदिम मालिक सावर्ण चौधरी' एक ही व्यक्ति है।

ने कहा-''आपने भारत के पूर्व, पश्चिम, उत्तर दिशाओं के प्रधान-प्रधान सब ही तीर्थ-स्थानों में भ्रमण किया है। देशवासियों को और देश को आपने अच्छी तरह जान लिया है। अब शेष रहा दक्षिण देश। दक्षिण देश का भ्रमण करके आप किसी स्थान पर साधना के लिए बैठ जायें या जो कुछ कर्त्तव्य समझें उसका पालन करें[३६०]।" स्वामी दयानन्द ने यहाँ सुना था कि दक्षिण देश के तीर्थ यात्री लङ्का तक भी तीर्थ दर्शन के लिए जा सकते हैं। कलकत्ता में रहते हुए और चारों ओर देखकर स्वामी दयानन्द के अनुभव में आया था कि अँग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा के लिये बङ्गाल में साधारण रूप से और कलकत्ता में विशेष रूप से विद्यालयों की स्थापना हो रही है। बहुतों को कदाचित् ज्ञात नहीं है कि अप्रत्यक्ष रूप से ये सब विद्यालय गिरजाघर का रूप धारण करेंगे और प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा केन्द्र के रूप में ही रहेंगे। इससे दास-मनोभाव की वृद्धि होगी[३६१]।

## दक्षिण भारत की ओर

**कलकत्ता से पुरी**- कलकत्ता से तीर्थ-यात्रियों के साथ स्वामी दयानन्द पुरी की ओर प्रस्थित हो गए। कलकत्ता से पुरी लगभग चालीस योजन की दूरी पर है। धीरे-धीरे वे पुरी में पहुँच गये। पहले पुरी के जगन्नाथ मन्दिर की पूजा सँभार महाराष्ट्र-भोंसले वंशीय नागपुर के राजाओं के हाथों में था। अँग्रेजों से सन्धि होने के बाद यह पूजा-सँभार भोंसले से छूटकर अँग्रेजों पर आ गया था। अँग्रेजों ने परिस्थिति के अनुसार इस जगन्नाथ-मूर्ति की पूजा का भार खुरदा के राजा पर छोड़ दिया था। जगन्नाथ की सेवा और पूजादि कार्यों में तब बत्तीस हजार रुपए वार्षिक खर्च होता था। वह खर्च चलाने के लिए मन्दिर की भू-सम्पत्ति को महन्त लोग जमींदारी के रूप में भोग रहे हैं।

पुरी में भारत के सब ही धर्म-सम्प्रदायों के अपने-अपने मठ-मन्दिर और संन्यासी उपस्थित हैं। आचार्य शङ्कर द्वारा स्थापित गोवर्धनमठ आज भी पुरी में विद्यमान है। किसी समय बौद्ध लोगों ने पुरी में प्राधान्य से विस्तार किया था। जगन्नाथ के मन्दिर में बौद्ध की शरण वाणी मूर्ति के रूप में स्थापित हुई थी। वे तीन शरण वाणियाँ ये हैं- **''बुद्धं शरणं गच्छामि'', ''धम्मं शरणं गच्छामि''** और **''संघं शरणं गच्छामि।''** बुद्ध, धर्म और संघ ये तीन शरीर जगन्नाथ के मन्दिर में काष्ठ-निर्मित तीन देवताओं के रूप में देखे जाते हैं। **'बुद्ध'** जगन्नाथ के रूप में प्रथम, **'धर्म'** सुभद्रा के रूप में द्वितीय और **'संघ'** बलराम के रूप में तृतीय प्रतिष्ठित हो रहे हैं।

बौद्ध-तान्त्रिकों के प्राधान्य से जगन्नाथ के मन्दिर गात्र में मिथुन शिल्प का भी प्राधान्य हो रहा है। विभिन्न हाव-भावों की अति कुत्सित और अश्लील मूर्तियाँ आज भी मन्दिर-गात्र में स्थायी रूप से रखी हुई हैं।

पुरी में सर्वत्र खाद्याखाद्य व्यापार में कट्टरपन नहीं है। बाजार में पकाये हुए अन्न को सब कोई स्पर्श करते हैं और

---

३६०- स्वामी दयानन्द द्वारा भारतवर्ष की यह यात्रा उसी भावना से की जा रही थी जिस भावना से कि ५८ वर्ष बाद महात्मा गाँधी ने अफ्रीका से लौटकर १९१५ ई० से देश-दर्शन की अपनी यात्रा आरम्भ की थी। इसे **'पथिक'** नामक काव्य ग्रन्थ में निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है-

*एक बार सम्पूर्ण देश का प्रथम भ्रमण मैं कर लूँ।*
*सुख-दुःख का जो हेतु प्रजा का उसे ध्यान में धर लूँ।।*
*तब मैं करूँ कर्म-पथ निश्चित जो ध्रुव सत्य विदित हो।*
*धर्म-नीति के संरक्षण में जीव-मात्र का हित हो।।*

३६१- इन विद्यालयों की स्थापना लार्ड मैकाले की नवीन शिक्षा-नीति के अन्तर्गत की जा रही थी जो १८३१ ई० में इस कार्य के लिए इँग्लैण्ड से भारतवर्ष बुलाया गया था।

खरीद लेते हैं। किसी के पकाये हुए अन्न को जो चाहे खा सकता है [३६२]। इस उदारता ने सीमा का भी अतिक्रमण कर दिया है। किसी के जूठे अन्न को जो चाहे सो खा सकता है और यह कार्य पुण्य समझा जाता है [३६३]।

लेकिन आज भी बहुत से हिन्दुओं के लिये मन्दिर में प्रवेशाधिकार नहीं है। उनके लिए मन्दिर के प्रवेश द्वार पर 'पतित-पावन ठाकुर' नाम से एक चित्र रखा गया है। इस चित्र के दर्शन करके मुख्य मन्दिर में प्रवेश के सम्पूर्ण पुण्य को ये लोग लूट लेते हैं। जगन्नाथ की रथ-यात्रा और स्नान-यात्रा के रहस्य तो बहुत ही विस्मयकर और हास्यकर हैं। रथ-यात्रा आदि उत्सवों में सब ही जातियाँ जगन्नाथ को स्पर्श करती हैं और उनकी पूजा करती हैं। इससे सर्व-साधारण के पाप जगन्नाथ में घुसकर जगन्नाथ को अपवित्र बना देते हैं और जगन्नाथ खुद पतित और जाति-भ्रष्ट बन जाते हैं। इसलिए जगन्नाथ की स्नान-यात्रा से वे पवित्र बनाए जाते हैं। सर्वसाधारण के पाप धुलकर जगन्नाथ के शरीर से निकल जाते हैं जिससे जगन्नाथ का पातित्य नष्ट हो जाता है [३६४]। मूर्ति-पूजा के विविध विषयों में अर्थनीति का प्रभाव सर्वत्र ही दृष्ट होता

---

३६२- द्रष्टव्य- पूर्व पाद टिप्पणी क्र० ३५९

३६३- ''जब रसोई बनती है, तब कपाट बन्द करके रसोइयों के बिना अन्य किसी को न जाने न देखने देते हैं। भूमि पर चारों ओर छ: और बीच में एक चक्राकार चूल्हे बनाते हैं। उन हण्डों के नीचे घी, मट्टी और राख लगा, छ: चूल्हों पर चावल पका, उनके तले माँजकर उस बीच के हण्डे में उसी समय चावल डाल {उसके ऊपर उन छ: हण्डों को रख} छ: चूल्हों के मुख लोहे के तवों से बन्द कर, दर्शन करने वालों को जो कि धनाढ्य हों, बुलाके दिखलाते हैं। ऊपर-ऊपर के हण्डों से चावल निकाल, पके हुए चावलों को दिखला, नीचे के कच्चे चावल निकाल दिखाके उनसे कहते हैं कि 'कुछ हण्डों के लिए रख दो।' आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे' रुपए, अशर्फी धरते और कोई-कोई मासिक भी बाँध देते हैं।

शूद्र नीच लोग मन्दिर में नैवेद्य लाते हैं। जब नैवेद्य हो चुकता है, तब वे शूद्र नीच लोग जूँठा कर देते हैं। पश्चात् जो कोई रुपया देकर हण्डा लेवे, उसके घर पहुँचाते और दीन गृहस्थ और साधु-सन्तों को लेके शूद्र और अन्त्यजपर्यन्त एक पंक्ति में बैठ जूँठा एक-दूसरे का भोजन करते हैं। जब वह पंक्ति उठती है, तब उन्हीं पत्तलों पर दूसरों को बैठाते जाते हैं। (यह) महा अनाचार है।'' – **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

३६४- ''यह जगन्नाथ में वाममार्गियों ने भैरवी चक्र बनाया है क्योंकि सुभद्रा-श्रीकृष्ण और बलदेव की बहिन लगती है। उसी को दोनों भाइयों के बीच में स्त्री और माता के स्थान (में) बैठाई है। जो भैरवी चक्र न होता तो यह बात कभी न होती।..... जब बहुत से लोग दर्शन को आते हैं, तब **इतना बड़ा मन्दिर है कि जिसमें दिन में भी अन्धेरा रहता है और दीपक जलाना पड़ता है।**'' इत्यादि – **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने जगन्नाथ मन्दिर का सजीव और रोचक खण्डन किया है, जो उनके उसे देखे होने का प्रमाण है। इस पर यह कहा जा सकता है कि ये बातें उन्होंने उस व्यक्ति से जान-समझकर लिखी होंगी, जिसने बारह वर्ष पर्यन्त जगन्नाथ की पूजा की थी और जो विरक्त होकर मथुरा में उनसे मिला था। वस्तुत: उसका उल्लेख स्वामी दयानन्द को केवल कलेवर बदलने के प्रसङ्ग में ही करना पड़ा, क्योंकि यह कृत्य उसी वर्ष में किया जाता है जब आषाढ़ मास लौंध का महीना होता है, प्रतिवर्ष नहीं। चूँकि स्वामी दयानन्द पुरी में आषाढ़ शुक्ल २, संवत १९१४ वि० (२३ जून १८५७ ई०) से होने वाले रथयात्रा के उत्सव में सम्मिलित हुए थे, जिस वर्ष कि आषाढ़ मास लौंध का महीना नहीं था। अत: कलेवर बदलने सम्बन्धी जानकारी के लिए ही उस व्यक्ति का उल्लेख उन्हें करना पड़ा। उल्लेखनीय है कि आषाढ़ का महीना ८, ११ एवं १९ वर्षों के अन्तर पर लौंध का महीना होता है। इस दृष्टि से कलेवर बदलने का यह कार्य सन् १८५५, १८७४ एवं १८९३ ई० में किया गया था। अत: १२ वर्ष तक पुजारी के रूप में रहने वाले उस व्यक्ति ने १८५५ में कलेवर बदलने की घटना को देखा होगा और उसी आधार पर उसने उसके विषय में स्वामी दयानन्द को बताया होगा। जगन्नाथ के मन्दिर का बड़ा होना, उसमें दिन में अन्धेरा रहना और उसकी निवृत्ति के लिए दीपक का जलाया जाना नेत्रों के ही विषय हैं।

है। व्यवसाय-नीति पर ही इसी ढङ्ग से पण्डा लोगों ने तीर्थ स्थानों में मूर्तिपूजा को बनाए रखा है। पुरी में पण्डे लोगों का राज्य है। स्नान-यात्रा और रथ-यात्रा के बाद पण्डों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अत्याचार के कारण कोई योगी या साधक पुरी में नहीं ठहर सकता [३६५]।

यहाँ से प्रस्थान करने से पूर्व स्वमी दयानन्द ने जगन्नाथ मन्दिर के मालिक या खुरदा के राजा से प्रार्थना की थी-''राजन्! आप हमारे धर्म-रक्षक क्षत्रिय राजा हैं। आप हमारे धर्म को बचाइए। विदेशी वणिक् और विधर्मी ईसाई पादरी एक साथ मिलकर हमारे देश का सर्वनाश कर रहे हैं। ये लोग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से ही सत्यानाश कर रहे हैं। हम संन्यासी और साधु लोग देश में सर्वत्र देशवासियों को सचेत करने के लिए एकता-बद्ध हो रहे हैं। आप अपनी प्रजा को सचेत करने के साथ ही केवल नियन्त्रण का भार लीजिए। सैकड़ों संन्यासी आपके अधीन कार्य करेंगे। ये लोग आपकी प्रजा के अन्दर स्वधर्म की रक्षा और देश के प्रति भक्ति-भाव का प्रचार करेंगे। अगर इस कार्य के लिए आप असमर्थ हों तो जगन्नाथ मन्दिर की वार्षिक आय से कुछ अंश व्यय के लिए अपने किसी विश्वस्त व्यक्ति के हाथों में जमा कर दीजिये।''

राजा ने धीर, स्थिर होकर सब सुना और कहा-''महाराज! इस विषय पर हमसे कभी दुबारा अनुरोध नहीं करना। इस प्रकार के दोनों कार्य ही विधि-विरोधी हैं। हम इसमें भाग नहीं ले सकेंगे। एक पैसा भी इसमें से हम व्यय नहीं करेंगे। आप मुझको क्षमा करें।" तब स्वामी दयानन्द निराश होकर वहाँ से चले आए[३६६]।

---

इसलिए स्वामी दयानन्द ने इस मन्दिर को देखा हुआ था, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।

३६५- रथयात्रा का उत्सव प्रतिवर्ष आषाढ़ शुक्ला द्वितीया से प्रारम्भ होकर ९ दिवसों तक चलता है।१८५७ ई० में यह अवधि २३ जून से १ जुलाई तक रही थी। यहाँ पर आगे '**मैं पुरी से नासिक की तरफ रवाना हो गया।**' ऐसा वाक्य लेखकों ने अपनी ओर से पूर्वापर तारतम्य स्थापित करने की दृष्टि से बढ़ा दिया प्रतीत होता था। क्योंकि पुरी और नासिक दक्षिण भारत में पूर्व और पश्चिमी दिशाओं में एक सीधी रेखा में भी परस्पर १२४० कि०मी० की दूरी पर स्थित हैं जिसकी यात्रा का कोई विवरण न होने से, यह वाक्य प्रक्षिप्त है, ऐसा स्वयमेव सिद्ध हो जाता है।

३६६- १० मई १८५७ को मेरठ में अचानक विद्रोह प्रारम्भ हो गया और वहाँ से यह विद्रोह ११ मई को दिल्ली में प्रवेश कर गया। फिर उत्तरोत्तर सारे देश में उसकी लपटें फैलने लगीं। इसकी जानकारी स्वामी दयानन्द को भी पुरी पहुँचने से पूर्व अथवा वहाँ पहुँचकर हो गई होगी। ऐसी स्थिति में उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे दक्षिण भारत की अपनी यह यात्रा बीच में ही स्थगित करके उत्तर भारत में आ जाते। वस्तुत: उन्होंने ऐसा ही किया जैसा कि अगले अध्याय में प्रतिपादित किया गया है।

अध्याय- पाँच

# सन् १८५७ (संवत् १९१४) की क्रान्ति

## { श्रावण से कार्तिक संवत् १९१४ पर्यन्त }

[३६७, ३६८]अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य-प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों से पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दु:ख भोगना पड़ता है।

कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।

-**सत्यार्थप्रकाश** (अष्टम समुल्लास)

**विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण**- आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषादि कुलक्षण, वेद-विद्या का अप्रचार आदि

---

३६७- चूँकि स्वामी दयानन्द स्वयं इस काल की अपनी गतिविधियों के विषय में मौन रहे हैं, इसलिए हम उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उनके ही ग्रन्थों एवं प्रवचनों से कुछ उद्धरण देकर तथा जीवन-चरित्रों में वर्णित प्रसङ्गों को उद्धृत करके इस अध्याय की पूर्ति कर रहे हैं।

३६८- इस काल में स्वामी दयानन्द उत्तर भारत में थे, इसकी पुष्टि में हम दो प्रसङ्ग आगे दे रहे हैं-

(१) ''संवत् १९१४ की यह दुर्दशा स्वामी दयानन्द से देखी न गई। उन दिनों भारतीयों का बहुत जन-धन लूटा जा रहा था। ऐसे विकट क्षणों में भारतीयों का मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में तैंतीस वर्षीय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अश्वारोही बनकर देश का भ्रमण किया। तब विदेशी शासकों की प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की थीं-वे जहाँ धन लूटने में लगे थे, वहाँ अकड़पूर्वक रहते हुए चुपचाप भारत छोड़ जाने के लिए कलकत्ता की ओर भी बढ़ रहे थे। रोहतक में भालौठ ग्राम के चौधरी शेरसिंह के दादा नान्हेंराम और सेहरी खाण्डा ग्राम के दो भाई भाड़े पर अपनी गाड़ी उत्तरप्रदेश में चलाते थे। जब उन्होंने एक नगर से माल अपनी गाड़ी में भर लिया, तो बेगार लेने वाले अँग्रेजों ने गाड़ियाँ वहीं रिक्त करवा लीं और लूट का धन उन गाड़ियों में भर दिया। जब गाड़ियाँ कुछ दूर पहुँची, तो सम्मुख से आते हुए एक पुरुष ने गाड़ी वालों को चुपके से कहा-'एक स्थान पर अँग्रेज बैलों को भी मारकर खा गए हैं, तुम्हें ईश्वर बचाए।' थोड़ी दूर चलकर दो भाइयों में से बड़ा भाई तो अवसर देखकर भाग निकला। गाड़ियाँ आगे चलती रहीं। कुछ दूर पहुँचने पर श्वेत वस्त्रों में दो मानव, जिनका विशाल शरीर था, जिन दो में एक का गोल मुख और बलिष्ठ दिव्य देह था, श्वेत घोड़ों पर आरूढ़ हुए मिले। कहने लगे-'तुम समय पाकर गाड़ियाँ छोड़कर भाग जाओ, आगे बचने की आशा नहीं है।' इस पुन: कथन पर अब उन्हें पूर्ण आशङ्का हो उठी। सायंकाल की बेला थी। विश्राम करने के ब्याज से उन्होंने एक तालाब पर गाड़ियाँ रोकीं। नान्हेंराम ने पलायित युवक के १२ वर्षीय छोटे भाई से कहा-'जब मैं भूसा लेने ग्राम की ओर चलूँ, तुम रोने लगना।' उसने वैसा ही किया और अँग्रेजों ने उसे भी साथ जाने की अनुमति दे दी। नान्हेंराम जी ने अँग्रेजों के रुपयों की एक थैली बगल में दबाकर कन्धे पर चादर डाल ली और बालक को लेकर ग्राम की ओर चले गये। रात ही रात वे १५ कोस चले। आगे

कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है।

क्या तुम लोग महाभारत की बातें, जो पाँच सहस्र वर्ष के पहिले हुई थीं, उनको भी भूल गए? देखो, महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे। आपस की फूट से कौरव-पाँडव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा, वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दु:खसागर में डुबा मारेगा? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्रहत्यारे, स्वदेशविनाशक नीच के दुष्टमार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दु:ख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करें कि यह राजयोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।......

---

कोस चले। आगे जाकर उन्होंने घोड़ी मोल ली। दोनों घोड़ी पर बैठ रोहतक आ गए। बैल और गाड़ियाँ, घोड़ी बेचकर खरीद लीं। फिर सीधे अपने ग्राम चले आए। सम्पूर्ण घटना घर आ सुनाई *।

स्वामी दयानन्द उन दिनों राज्य विप्लव में सम्मिलित होने के कारण अति प्रसिद्ध थे। घटना का बोध होने पर पण्डित बस्तीराम ने कहा-'दो अश्वारोहियों में गोल मुख वाले तो स्वामी दयानन्द थे। उन्होंने परिस्थितिवश श्वेत वस्त्र धारण कर रक्खे थे **।''

– **भारत की एक विभूति : महर्षि दयानन्द सरस्वती** (जीवन कथा) (पृ० ३१-३२)

* भालौठ (रोहतक) निवासी आर्यसमाज के प्रधान श्री शेरसिंह जी का वक्तव्य, जो उन्होंने अपनी दादी से सुना था।

** पण्डित बस्तीराम ने स्वामी दयानन्द जी के अनेक बार दर्शन किए थे।

(२) ''महर्षि दयानन्द १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के अधिनायक ही नहीं वरन् योद्धा भी थे। श्री स्वामी जी उन दिनों एक अपने जैसे ही बलिष्ठ ब्रह्मचारी के साथ श्वेत घोड़े पर सवार रहते थे और तलवार हाथ में रहती थी। यह बात स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज को सर्वखाप पंचायत के प्रधान के भ्राता जी से विदित हुई। घुड़सवार स्वामी जी ने बताया था कि पीछे अँग्रेज सिपाही आ रहे हैं। कहीं छुप जाओ, वरना मार दिये जावोगे। इसी जाट को पुन: मिलने पर उस व्यक्ति ने गदर की बात पूछी, पर ऋषि ने बताया कि हम सब बातें बता नहीं सकते, नही तो फाँसी के तख्ते पर लटका दिए जायेंगे। गदरोपरान्त महाराज पुन: मिले और मुस्करा दिये तथा अन्य बातें बताने से इन्कार कर दिया।''

– **सार्वदेशिक साप्ताहिक** (३१ जनवरी १९७१, पृ० ८)

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी अजमेर (१९८३) के अवसर पर जब हमने इस विषय में परोपकारिणी सभा के प्रधान स्वामी ओमानन्द जी महाराज से पूछ-ताछ की, तो उन्होंने इन घटनाओं को सत्य बताया था और कहा था कि पहली घटना की खोज तो उन्होंने ही स्वयं की थी।

इन घटनाओं में अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है क्योंकि ऐसे संस्कार स्वामी दयानन्द में विद्यमान थे, यह निम्न प्रसंगों से स्पष्ट हो जाएगा-

(क) ''टंकारा में देवचन्द भगवान नामक एक वैश्य निवास करते थे जिनका देहान्त अब से थोड़े ही वर्ष पहले (संवत् १९७१ अथवा सन् १९१४ ई० में) हुआ है। उनका जन्म संवत् १८८१ में हुआ था और ऋषि दयानन्द ने भी इसी संवत् में जन्म ग्रहण किया था। इससे उसकी आयु प्राय: ९० वर्ष की थी। उसने उनसे कहा था-'भाऊ के समय में एक ब्राह्मण कर्मचारी थे। उनका नाम कर्शनजी तिवाड़ी था। उनका घोड़ा दरबार में बँधा करता था। उनका एक पुत्र दयाराम था। वह उनके घोड़े को प्रतिदिन दो बार नदी पर जल पिलाने ले जाया करता था। दयाराम को लोग दयाल-दयाल भी कहा करते थे। फिर वह एक दिन घर छोड़कर निकल गया।''

– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-२ का परिशिष्ट-१, पृ० ३७७)

(ख) ''जब मैं पितृगृह में रहता था तो एक समय ऐसा हुआ कि हमारे एक पड़ौसी ने हमारे एक खेत पर अधिकार कर लिया। जब पिताजी ने मुझे यह बात सुनाई तो मुझे इतना आवेश आया कि तलवार लेकर गया और आक्रमणकारी पड़ौसी और उसके आदमियों को मैंने अकेले ही भगा दिया। अब भी यदि दश-पन्द्रह गुण्डे मुझ पर आक्रमण करेंगे तो उनके लिए मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ।''

जब से विदेशी माँसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं को मारने वाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं, तब से क्रमश: आर्यों के दु:ख की बढ़ती होती जाती है क्योंकि 'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'। जब वृक्ष का मूल ही काट दिया जाय, तो फल-फूल कहाँ से हों? –**सत्यार्थप्रकाश** (दशम समुल्लास)

## तब क्या करना चाहिए ?

| | |
|---|---|
| **इदानीं सभायां कस्य विषयस्योपरि विचारो विधातव्य:?** | इस समय सभा में किस विषय पर विचार करना चाहिए? |
| ; q) L; A | युद्ध अर्थात् लड़ाई का। |
| rs l g ; q) ad Ùk∅, au ok\ | उसके साथ युद्ध करना चाहिए वा नहीं? |
| ; fn d Ùk∅, ]a r fgZd Fke\~ | यदि करना चाहिए, तो कैसे? |
| ; fn l èkekRek r nk r qu d Ùk∅, eA | यदि वह धर्मात्मा हो तब तो उससे युद्ध करना योग्य नहीं। |
| **पपिष्ठश्चेत्तर्हि तेन सह योद्धव्यमेव।** | और जो पापी हो तो उसके साथ युद्ध करना ही चाहिए। |
| **सोऽन्यायेन[३६९] प्रजां सततं पीडयति, अतो महापापिष्ठ:।** | वह अन्याय[३६९] से प्रजा को निरन्तर पीड़ा देता है, इस कारण से बड़ा पापी है। |
| **एवं चेत्तर्हि शस्त्रास्त्रप्रक्षेपयुद्धकुशला बलिष्ठा** | यदि ऐसा है तो शस्त्र-अस्त्र फेंकने वा चलाने में और |

---

(ग) ''कर्णसिंह महाराज को इसी प्रकार गालियाँ देने लगा। महाराज पद्मासन लगाए सुनते और हँसते रहे। कहते हैं कि उसने महाराज पर तलवार चलाई। तब महाराज ने गरजकर उसके हाथ से तलवार छीन ली और पृथ्वी पर टेककर तोड़ दी और कहा कि कहे तो यह तलवार तेरे शरीर में घूँस दूँ।''

(घ) ''तुम यह मत समझो कि हम केवल साधु या फकीर हैं। यह मत समझना कि तुम हमारा यथोचित सम्मान न करके हमारे काम की अवहेलना कर सकोगे और जो कुछ तुम्हारा हमसे ठहरा है, उससे फिर सकोगे। यदि ऐसा करोगे तो हम एक ही थप्पड़ में तुम्हारे बत्तीसों दाँत तोड़ डालेंगे।''

– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० २१७, १५९, ४९)

उक्त घटनाओं से स्वामी दयाननद के घुड़सवारी करने एवं तलवार चलाने में अभ्यस्त होने तथा अपने विरोधियों के प्रति उग्रता से पेश आने का सङ्केत मिलता है।

पीछे हमने जो दो घटनाएँ दी हैं, वे दिल्ली के आसपास की उस समय की हैं, जब २१ सितम्बर १८५७ को उसका पतन हो गया और दिल्ली पुन: अँग्रेजों के अधिकार में चली गई। इसके उपरान्त अँग्रेजों ने दिल्ली की भयङ्कर लूट का सिलसिला जारी कर दिया था। इससे जाना जाता है कि स्वामी दयानन्द पुरी से जुलाई १८५७ के आरम्भ में चलकर (अथवा अश्वारोही बनकर) उत्तर भारत में पहुँचकर दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्र में सक्रिय रहे थे। उस समय उनका अश्वारोही बनना एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्र गमनागमन के उद्देश्य से और तलवार धारण करना युद्ध के उस वातावरण में आत्म-रक्षार्थ हो सकता है।

३६९- ''अँग्रेज लोग अपने मनुष्यों पर अत्यधिक कृपा दृष्टि रखते हैं। यदि कोई गोरा या फिरङ्गी किसी देशी की हत्या कर दे और वह न्यायालय में कह दे कि मैंने शराब पी हुई थी तो उसको छोड़ देते हैं। यह एक बड़ा अन्याय है। यही दशा बिलकुल दुर्योधन की थी। जब उसकी आँखें अपने नियत स्थान से निकल कर मस्तक पर चली गईं तो राज्य का सत्यानाश हो गया। इसी प्रकार यहाँ भी यदि अधिक अन्याय करेंगे तो राज्य अधिक न रहेगा जैसा कि उन्होंने लखनऊ के बलवे (झगड़े) में कुछ अँग्रेजों की हत्या के बदले में अनाथ और निरपराध हिन्दुस्तानियों को मार डाला।''– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (पं० लेखराम कृत, पृ० ३५५)

| | |
|---|---|
| **कोशधान्यादिसामग्रीसहिता सेना युद्धाय प्रेषणीया।** | युद्ध में कुशल, बड़ी लड़ने वाली, खजाना और अन्नादि सामग्री सहित सेना युद्ध के लिए भेजनी चाहिए। |
| **सत्यमेव, अत्र वयं सर्वे सम्मतिं दद्मः।** | सच है, इसमें हम सब लोग सम्मति देते हैं। |
| **इदानीं कस्या दिशि कैः सह युद्धं प्रवर्त्तते?** | इस समय किस दिशा में किस-किस के साथ युद्ध हो रहा है? |
| **पशिचमायां दिशि यवनैः सह हरिवर्षस्थानाम्[३७०]।** | पशिचम दिशा में मुसलमानों के साथ हरिवर्षस्थ अर्थात् अँग्रेज लोगों का[३७०]। |
| **पराजिता [३७१] अपि यवना अद्याप्युपद्रवं न त्यजन्ति। अयं खलु पशुपक्षिणामपि स्वभावोऽस्ति यदा कश्चिद् तद्गृहादिकं ग्रहीतुमिच्छेत् तदा यथाशक्ति युध्यन्त एव [३७२]।** | हारे हुए[३७१] मुसलमान लोग अब भी उपद्रव नहीं छोड़ते। यह तो पशु-पक्षियों का भी स्वभाव है कि जब कोई उनके घर आदि को छीन लेने की इच्छा करता है तब यथाशक्ति युद्ध करते अर्थात् लड़ते ही हैं[३७२]। |

– **संस्कृतवाक्यप्रबोधः** (राजसभा प्रकरणम्)

## युद्ध कैसे लड़ें ?

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जावे, तब अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध और यात्रा की सब सामग्री यथाविधि करके, सब सेना, यान, वाहन, शस्त्रास्त्रादि पूर्ण लेकर, सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओर के समाचारों को देने वाले पुरुषों को गुप्त स्थापन करके शत्रुओं की ओर युद्ध करने को जावे।

तीन प्रकार के मार्ग **अर्थात् एक स्थल = भूमि में, दूसरा जल = समुद्र वा नदियों में, तीसरा आकाश-मार्गों को शुद्ध बनाकर; भूमि मार्ग में रथ, अश्व, हाथी; जल में नौका और आकाश में विमानादि यानों** से जावे। और पैदल, रथ, हाथी, घोड़े, शस्त्र-अस्त्र और खान-पानादि सामग्री को यथावत् साथ ले बलयुक्त पूर्ण करके किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके शत्रु के नगर के समीप धीरे-धीरे जावे।

जो भीतर से शत्रु से मिला हो और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रक्खे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे, उसके आने-जाने में, उससे बात करने में अत्यन्त सावधानी रक्खें क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मित्र पुरुष को बड़ा शत्रु समझना चाहिये।

**सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखावे और आप सीखे तथा अन्य प्रजाजनों को सिखावे। जो**

---

३७०- ''जिस समय यह पुस्तक (= **संस्कृतवाक्यप्रबोधः**) लिखी गई थी उस समय अफगानों के साथ अँग्रेजों का युद्ध हो रहा था। अफगानों के साथ दूसरी लड़ाई सन् १८७८-७९ में तथा तीसरी १८७९-८१ तक हुई थी। सम्भवतः यहाँ अफगानों की तीसरी लड़ाई की ओर संकेत है क्योंकि यह पुस्तक सन् १८८० के फरवरी वा मार्च में लिखी गई थी।''
– **पं० युधिष्ठिर मीमांसक**

३७१- ''सन् १८७८-७९ के युद्ध में अफगान पराजित हो गए थे, परन्तु उन्होंने कुछ समय पीछे ही अफगानिस्तान में स्थित अँग्रेज रेजीडेण्ट Louis Cavagnari को मार डाला था। इस पर तीसरी लड़ाई आरम्भ हुई।'' – **पं० युधिष्ठिर मीमांसक**

३७२- ''ऋषि दयानन्द ने यहाँ परोक्ष रूप से गहरी राजनीति का परिचय दिया है और अफगानों की दूसरी लड़ाई में अफगानों से बलात् छीने हुए क्वेटा और विलोचिस्तान की ओर संकेत करके भारत के प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध (सन् १८५७) को युक्त बताया है और आगे भी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते रहने का संकेत किया है।'' – **पं० युधिष्ठिर मीमांसक**

**पूर्व-शिक्षित योद्धा होते हैं, वे ही अच्छे प्रकार लड़-लड़ा जानते हैं। जब शिक्षा करे,** तब **'**दण्डव्यूह**'** = दण्ड के समान सेना को चलावे, **'**शकट**'** = जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान, **'**वराह**'** = जैसे सूअर एक-दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं और कभी-कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं जैसे, **'**मकर**'** = जैसे मगर पानी में चलते हैं, वैसे सेना को बनावे। **'**सूचीव्यूह**'** जैसे सुई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है, वैसी शिक्षा से सेना को बनावे। [ और जैसे **'**गरुड़**'** = ] नीलकण्ठ ऊपर-नीचे झपट मारता है, इसी प्रकार सेना को बनाकर लड़ावे।

जिधर से भय विदित हो, उसी ओर सेना को फैलावे। सब सेना के पतियों को चारों ओर रखके **'**पद्मव्यूह**'** अर्थात् पद्माकार चारों ओर से सेनाओं को रखके मध्य में आप रहे।

सेनापति और बलाध्यक्ष अर्थात् आज्ञा के देने और सेना के साथ लड़ने-लड़ाने वाले वीरों को आठों दिशाओं में रक्खे। जिस ओर से लड़ाई होती हो, उसी ओर सब सेना का मुख रक्खे। परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबन्ध रक्खे। **नहीं तो पीछे वा पार्श्व से शत्रु की घात होने का सम्भव होता है।**

जो गुल्म अर्थात् दृढ़ स्तम्भों के तुल्य, युद्धविद्या से सुशिक्षित, धार्मिक, स्थित होने और युद्ध करने में चतुर, भयरहित और जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो, उनको चारों ओर सेना के रक्खे।

जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो, तो मिलकर लड़ावे। और कम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवे। **जब नगर, दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो,** तब 'सूचीव्यूह' अथवा 'वज्रव्यूह**'** = **जैसे दुधारा खड्ग दोनों ओर [ काट करता है, वैसे ]** युद्ध करते जायें और प्रविष्ट भी होते चलें। **वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावें।**

**जो सामने शतघ्नी = तोप वा भुशुण्डी = बन्दूक छूट रही हो, तो 'सर्प-व्यूह' = अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले जायें। जब तोपों के पास पहुँचे, तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्हीं तोपों से वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारें। अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें। बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहें। एक बार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ लें अथवा भगा दें।**

जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथ, घोड़े और पदातियों से और जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका और थोड़े जल में हाथियों पर, वृक्ष और झाड़ी में बाण तथा स्थल बालू में तलवार और ढाल से युद्ध करें-करावें।

जिस समय युद्ध होता हो, उस समय लड़ने वालों को उत्साहित और हर्षित करें। जब युद्ध बन्द हो जाय, तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो वैसे वक्तृत्वों से सबके चित्त को **खान-पान, अस्त्र-शस्त्र, सहाय और औषधादि से** प्रसन्न रक्खे। **व्यूह के बिना लड़ाई न करे न करावे।** लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि ठीक-ठीक लड़ती है वा कपट रखती है।

किसी समय उचित समझे, तो शत्रु को चारों ओर से घेरकर रोक रक्खे और इसके राज्य को पीड़ित कर, शत्रु के चारा, अन्न, जल और ईन्धन को नष्ट [ वा ] दूषित कर दे।

शत्रु के तालाब, नगर के प्रकोट और खाई को तोड़-फोड़ दे। रात्रि में उसको त्रास = भय देवे और जीतने का प्रयास करे।

जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे, तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे। और **उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त**

**राजनीति है, उसके अनुसार चलके न्याय से प्रजा का पालन करना होगा। ऐसे उपदेश करे और ऐसे पुरुष उसके पास रक्खे कि जिससे पुन: उपद्रव न हो** और जो हार जाय उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे। **और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो। जो उसको बन्दीगृह करे, तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रक्खे। जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे।**

क्योंकि संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति और देना प्रीति का कारण है। और विशेष करके समय पर उचित क्रिया करना। और उस पराजित के मनोवांछित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है। **और कभी उसको चिड़ावे नहीं, न हँसी और ठट्ठा करे। न उसके सामने 'हमने तुझको पराजित किया है' ऐसा भी कहे। किन्तु 'आप हमारे भाई हैं' इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करे** [३७३]। – **सत्यार्थप्रकाश** (षष्ठ समुल्लास)

राजपुरुषों का युद्ध समय में भी चौका लगाकर रसोई बनाके खाना अवश्य पराजय का हेतु है। किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है।

इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पकाकर खावें। परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त देश भर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया है। –**सत्यार्थप्रकाश** (दशम समुल्लास)

आर्य लोगों को 'कवायद क्या है?' यह विदित न था-ऐसा बहुत से अँग्रेजी पढ़े हुए लोग कहते हैं, परन्तु यह कहना पागलपन का है। कारण-मकरव्यूह, बलाकाव्यूह, सूचीव्यूह, शूकरव्यूह, शकटव्यूह, चक्रव्यूह इत्यादि कवायद के नाना प्रकार प्राचीनकाल में आर्य लोगों को विदित थे और सैन्य में भी भिन्न-भिन्न टोलियों पर दशेश, शतेश, सहस्रेश ऐसे अधिकारी रहते थे और उस समय उनके हथियार अर्थात् शक्ति, असि, शतघ्नी, भुशुण्डी-ये होते थे। **अँग्रेज लोगों में अब तक 'व्यूह कैसे रचना'-इसका पूर्ण ज्ञान नहीं है** [३७४]। थोड़ी सी कवायद करते हैं, उतने ही से वे प्राचीन आर्य लोगों की अपेक्षा कुशल हैं-ऐसा तुम्हें प्रतीत होता है। सारांश-**'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते'**-यह कहावत सत्य है।......

पहले समय में जो कोई युद्ध में मरता तो उसके लड़के-बालकों को वेतन मिलता था और युद्ध-प्रसंग में जो लूट मिलती, तो उसे नियत समय पर व्यवस्था से बाँट देते थे [३७५]। सैन्य की योग्य व्यवस्था के सम्बन्ध में उस समय बहुतेरे कार्यों की ओर ध्यान दिया करते और समस्त ऐश्वर्य की मूल कारण सेना है, यह जानकर सेना के लोगों को किसी प्रकार की चिन्ता न होवे, इस विषय में अधिकारी लोग उस समय बहुत दक्ष होते थे। यदि सेना में कोई बीमार पड़ता तो उसकी विशेष चिन्ता की जाती थी।......

---

३७३- यद्यपि स्वामी दयानन्द ने युद्ध विद्या का यह विषय **मनुस्मृति** के १४ श्लोकों को आधार बनाकर लिखा है तथापि स्थूलाक्षरों में मुद्रित बातें श्लोकार्थों से अतिरिक्त लिखी हैं जो उनके जीवन में निकट से देखे गए एकमात्र १८५७ के इस युद्ध में प्राप्त अनुभव पर ही आधारित हैं।

३७४- यह उल्लेख भी स्वामी दयानन्द द्वारा अँग्रेजों का युद्ध प्रसङ्ग निकट से देखे होने का प्रमाण है जो १८५७ के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं हो सकता।

३७५- इस विषय में कलकत्ता-कथ्य के इस ग्रन्थ के पृष्ठ-१४६ पर वर्णित **'युद्ध-नीतिक कारण'** द्रष्टव्य हैं। युद्ध-प्रसङ्ग में लूट के वितरण की यह व्यवस्था भी इस ग्रन्थ के पूर्व पृष्ठ-१८३ की पाद-टिप्पणी क्र० ३६८ में वर्णित दिल्ली की लूट में हुई अनियमितता की ओर सङ्केत करती है।

इन दिनों हमारे राजा लोगों को खुशामदियों की चण्डाल चौकड़ी ने घेर रक्खा है। तो फिर सहज ही राजाओं में सारे दुर्गण वास करें, इसमें आश्चर्य ही क्या है? **यह हमारे आर्यावर्त्त का दुर्दैव है।**

–**पूना–प्रवचन** (नववाँ प्रवचन)

## हमारी विद्याएँ नष्ट कर दी गईं

देखो! चारों ओर जाति–विभाग होकर हम निर्बल हो गए हैं। पहले आर्य लोगों में शतघ्नी अर्थात् तोपें भी थीं और भुशुण्डी अर्थात् बन्दूकें भी थीं। यह सब हमारा बल किधर चला गया? आग्नेय अस्त्रादिकों का लोप कैसे हुआ?

..... पूर्वकाल में भिन्न–भिन्न विद्याएँ भारत–खण्ड में वेदों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध थीं। जैसे विमान विद्या, अस्त्र विद्या इत्यादि। इन विद्याओं के पुस्तक नष्ट हो गये तो वे विद्याएँ भी नष्ट हो गईं। मुसलमानों ने लकड़ी को जलाने की जगह पुस्तकों को जलाया। जैनियों ने भी ऐसा ही अनर्थ किया। सन् १८५७ के साल के लगभग जब दङ्गा–फसाद हुआ, उस समय किसी एक यूरोपियन ने अमृतराव पेशवा के भारी पुस्तकालय को जला दिया–ऐसी लोक में किंवदन्ती है। इससे कितनी विद्या नष्ट हो गई, इस पर विचार करो। – **पूना–प्रवचन** (पाँचवाँ प्रवचन)

जैनों ने और मुसलमानों ने इस देश को बहुत बिगाड़ा है, सो आज तक बिगड़ता ही चला आता है। आजकल अँग्रेज के राज्य होने से उन (जैन और मुसलमान) राजाओं के राज्य की अपेक्षा सुख हुआ है क्योंकि अँग्रेज लोग मत–मतान्तर की बात में हाथ नहीं डालते और जो पुस्तक अच्छा पाते हैं, उसकी भलीभाँति रक्षा करते हैं। जिस पुस्तक पर पहले सौ रुपये लगते थे, छापा होने पर वह पुस्तक पाँच रुपये में मिलता है। परन्तु अँग्रेजों ने भी एक काम अच्छा नहीं किया जो कि चित्रकूट पर्वत पर महाराजा अमृतराव जी के पुस्तकालय को जला दिया। उसमें करोड़ों रुपयों के लाखों अच्छे–अच्छे पुस्तक नष्ट हो गये। आर्यावर्त्त वासी लोग यदि इस समय सुधर जायें तो सुधर सकते हैं और जो पाखण्ड में ही रहेंगे तो इनका अधिक से अधिक नाश होगा, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि आर्यावर्त्त देश के बड़े–बड़े राजा और धनाढ्य लोग यदि ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या का प्रचार, धर्म से सर्व व्यवहारों का करना और वेश्या तथा परस्त्री गमनादिकों का त्याग करें तो देश के सुख की उन्नति हो सकती है। – **सत्यार्थप्रकाश** (प्रथम संस्करण)

---

३७६– १८५७ की इस राज्य क्रान्ति ने स्वामी दयानन्द को प्रभावित किया था वा नहीं, यह इसी से सिद्ध होता है कि उस समय ऐसे व्यक्ति जिनकी आयु १९ वर्ष या इससे अधिक थी और जो आगे चलकर किसी न किसी क्षेत्र में प्रसिद्धि को प्राप्त हुए, उन सब में [अर्थात् प्रसन्न कुमार टैगोर (१८०३–६८), राधानाथ सिकदार (१८१३–७०), सर सय्यद अहमद खाँ (१८१७–९८), देवेन्द्र नाथ टैगोर (१८१७–१९०५), पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासागर (१८२०–९१), प्यारे चरण सरकार (१८२३–७५), **स्वामी दयानन्द सरस्वती** (१८२५–८३), माइकेल मधुसूदन दत्त (१८२४–७३), दादाभाई नैरोजी (१८२५–१९१७), राजनारायण बोस (१८२६–१९००), दीनबन्धु मित्र (१८२९–७३), तारक नाथ पालित (१८३१–१९१४), प्रेमचन्द रायचन्द (१८३१–१९०७), डॉ० महेन्द्रलाल सरकार (१८३३–१९०४), क्रिस्तोदास पाल (१८३४–८४), रामकृष्ण परमहंस (१८३६–८६), रामकृष्ण भंडारकर (१८३७–१९२५), केशवचन्द्र सेन (१८३८–८४), बंकिमचन्द्र चटर्जी (१८३८–९४) इत्यादि ] से आगे चलकर जो व्यक्ति स्वराज्य का एकमात्र प्रणेता और प्रवक्ता बना, वह स्वामी दयानन्द ही था अन्य कोई नहीं। ऐसा इसीलिए हुआ कि इस गण युद्ध के स्वामी दयानन्द एक द्रष्टामात्र ही नहीं थे अपितु उसमें उनकी सक्रिय भागीदारी भी थी।

उपर्युक्त महापुरुषों में से बंकिमचन्द्र चटर्जी एवं डॉ० महेन्द्रलाल सरकार के कार्यों में जो स्वदेश भक्ति दिखाई पड़ती है, उसका श्रेय इनकी स्वामी दयानन्द से १८७२–७३ में कलकत्ता में भेंट को जाता है।

## देशोन्नति और स्वदेशी-प्रेरणा

देखो, (अँग्रेज लोग) अपने देश के बने हुए जूते को कार्यालय = आफिस और कचहरी में जाने देते हैं, और इस देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लेओ कि अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान, प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते।

देखो, कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज तक वे लोग मोटे कपड़े आदि पहिरते हैं जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे। परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा और तुममें से बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया। इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान ठहरते हैं। अनुकरण का करना किसी बुद्धिमान का काम नहीं।

हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। – **सत्यार्थप्रकाश** (ग्यारहवाँ समुल्लास)

## परमेश्वर से प्रार्थना

**इषे पिन्वस्व। ऊर्जे पिन्वस्व। ब्रह्मणे पिन्वस्व। क्षत्राय पिन्वस्व। द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्म। अमेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय।** – **यजुर्वेद** (३८/१४)

हे सर्वसौख्यप्रदेश्वर! हमको 'इषे' उत्तमान्न के लिए पुष्ट कर। अन्न के अपचन वा कुपच के रोगों से बचा तथा विना अन्न के दु:खी हम लोग कभी न हों। हे महाबल! 'ऊर्जे' अत्यन्त पराक्रम के लिए हमको पुष्ट कर। हे वेदोत्पादक! 'ब्रह्मणे' सत्यवेद विद्या के लिए बुद्धयादि बल से सदैव हमको पुष्ट और बलयुक्त कर। हे महाराजाधिराज परब्रह्मन्! 'क्षत्राय' अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिए शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर। **अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों**[३७७]। हे स्वर्गपृथिवीश! 'द्यावापृथिवीभ्याम्' स्वर्ग (परमोत्कृष्ट मोक्ष सुख), पृथिवी (संसार सुख)-इन दोनों के लिए हमको समर्थ कर। हे सुष्ठु धर्मशील! तू धर्मकारी हो तथा धर्म-स्वरूप ही हो। हम लोगों को भी कृपा से धर्मात्मा कर। 'अमेनि' तू निर्वैर है, हमको भी निर्वैर कर तथा कृपादृष्टि से 'अस्मे' (अस्मभ्यम्) हमारे लिए 'नृम्णानि' विद्या, पुरुषार्थ, हस्ती, अश्व, सुवर्ण, हीरादि रत्न, उत्कृष्ट राज्य, उत्तम पुरुष और प्रीत्यादि पदार्थों को धारण कर, जिससे हम लोग किसी पदार्थ के विना दु:खी न हों। हे सर्वाधिपते! ब्राह्मण (पूर्ण विद्यादि सद्‌गुणयुक्त) क्षत्र (बुद्धि, विद्या तथा शौर्यादि गुणयुक्त) 'विश' अनेक विद्योद्यम, बुद्धि, विद्या धन और धान्यादि बलयुक्त तथा शूद्रादि भी सेवादि गुणयुक्त उत्तम हमारे राज्य में हों। इन सबका धारण आप ही करो जिससे अखण्ड ऐश्वर्य हमारा आपकी कृपा से सदा बना रहे। –**आर्याभिविनय:** (२/३१)

## इस युद्ध का स्मरण

जब संवत् १९१४ (सन् १८५७ ई०) के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर, मूर्तियाँ अँग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्तियाँ कहाँ गई थीं। प्रत्युत वाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं (अर्थात् अंग्रेजों को) को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके (अर्थात् अँग्रेजों के) धुर्रे उड़ा देता और ये (अर्थात्

---

३७७- स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों (**आर्याभिविनय**, **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**, **गोकरुणानिधि** एवं **वेदभाष्य** आदि) में ऐसे विचार सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। विस्ताराशङ्कावश सबका सङ्कलन कर उन्हें यहाँ प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं है। परन्तु इनकी जानकारी के लिए पाठक स्व० इं० वी० उपेन्द्रराव (ई-६/१५८, प्राइवेट सेक्टर, अरेरा कालोनी, भोपाल-४६२ ०१६) की अँग्रेजी पुस्तक 'Dayananda-The Great Patriot and Nation Builder' (अप्रकाशित) को कभी पढ़ सकेंगे।

अँग्रेज) भागते फिरते (अर्थात् भारतवर्ष छोड़कर चले जाते)। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक (अर्थात् द्वारिका जी के रणछोड़ जी) मार खाय, उसके शरणागत (अर्थात् भक्तजन) क्यों न पीटे जायें[३७८]?

–**सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

## एक अँग्रेज की राय

व्याख्यान के अन्त में स्वीडिंग साहब ने उठकर महाराज की भूरि–भूरि प्रशंसा की और कहा कि यदि राजा और प्रजा का एक दूसरे के प्रति ऐसा ही व्यवहार हुआ होता जैसा कि विद्वान् व्याख्याता ने वर्णन किया है तो सिपाही–विद्रोह का हत्याकाण्ड ही न होता और राजा और प्रजा को वह विपत्तियाँ न सहनी पड़तीं, जो उन्हें सहनी पड़ीं।

–**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (भाग–२, पृ० १७६)

---

३७८– "Meanwhile the Waghers had continued their activities and many turbulent characters had begun to follow the example of Widha Manik, underterred by his fate. When in A.D. 1817 the British had handed over Okhamandal to the Gaekwad of Baroda, those leading Waghers who had been deprived of their lands were given pensions. But in A.D. 1857 some interference was made by the Gaekwad's Government regarding those pensions, and the angered recipients, only too glad of an excuse, created a disturbance which was not suppreesed until after the arrival of British troops in the district under Lieutenant Barton. **In the following year more discontented Waghers seized the fort at Dwarka, and were not driven out until British troops again attacked them.** It was now decided that the Gaekwad's Government should prosecute its own operations against the disturbers of the peace, and Lieutenant Barton withdrew his detachment. The Baroda troops now invested Wasai, and after a desultory siege the Waghers finally came to terms. But in A. D. 1859, encouraged by the events of the Mutiny, they rose enmasse and under the leadership of Jodho Manik seized the whole of the Okhamandal Peninsula. The Gaekwad's representative now wisely placed the affairs of the district entirely into the hands of the British. And a body of troops under Colonel Honner was sent to subdue the rising. The Waghers entered Kathiwad and took up a position on the Abpura Hills, from which after some fighting they were dislodged in December of the same year".

- **The History of Kathiawad from the Earliest Times**
*By Capt. H. Wilberforce-Bell (page 214-215) published in 1980*
*By Ajay Book Service, Darya Ganj; New Delhi-2*

**सत्यार्थप्रकाश** के प्रथम संस्करण में इस घटना का उल्लेख नहीं था। द्वितीय संस्करण के पृष्ठ–३२० पर जब इस घटना का विवरण २७ अगस्त १८८३ तक मुद्रित होकर स्वामी दयानन्द के पास जोधपुर में पहुँचा तो ३२० पृष्ठ की अधूरी छपी पुस्तक की एक प्रति उनसे ५ रु० मूल्य देकर खरीद ली गई जबकि बाद में सम्पूर्ण पुस्तक का मूल्य २।।) रु० ही (डाक व्यय सहित) रक्खा गया था। इसके कुछ दिनों के अन्दर ही उन्हें विष देकर अँग्रेजों द्वारा षड़यन्त्रपूर्वक मरवा डाला गया।

द्रष्टव्य–**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (पं० लेखराम कृत, पृ० ३८५)

अध्याय-छः

# गङ्गोत्री से रामेश्वर और लङ्का पर्यन्त

## [ मार्गशीर्ष १९१४ से कार्तिक (कृष्ण पक्ष) १९१७ वि० पर्यन्त ]

उससे [३७९] चलकर स्वामी दयानन्द काशीपुर आए और वहाँ से द्रोणसागर, जहाँ उन्होंने सारा हेमन्त ऋतु [३८०] व्यतीत किया [३८१]। फिर वहाँ से वे मुरादाबाद होते हुए सम्भल जा पहुँचे। फिर गढ़मुक्तेश्वर होकर गङ्गातट पर आ गए। इस समय

---

३७९- यद्यपि पूर्व प्रसङ्गानुसार 'उससे' का अभिप्राय 'रामगिरि के स्थान रामपुर' से है तथापि इस अध्याय के प्रयोजन के लिए इसे 'गङ्गोत्री से' माना जा सकता है क्योंकि स्वामी दयानन्द के अनुसार 'वे एक बार गङ्गोत्री से चलकर गङ्गासागर तक और एक बार **गङ्गोत्री से रामेश्वर तक गए थे।**' इस विषय में पूर्व पृ० १६९ की पाद-टिप्पणी क्र० ३३४ द्रष्टव्य है। उल्लेखनीय है कि गङ्गोत्री से रामपुर लगभग ४० कि०मी० और काशीपुर लगभग २०० कि०मी० दक्षिण में स्थित है।

जन्मचरित्र के पूर्व प्रसङ्ग (इस ग्रन्थ का पृष्ठ १६९) और यहाँ से आरम्भ हो रहे इस प्रसङ्ग के मध्य ठीक एक वर्ष का अन्तराल है क्योंकि इससे पूर्व भी स्वामी दयानन्द ने अपनी रामपुर पहुँच पर्यन्त एक-एक दिन की यात्रा का विवरण दिया था और यहाँ से आगे भी अपेक्षाकृत निकटवर्ती स्थानों का उल्लेख करके अगला विवरण दिया है परन्तु रामपुर से काशीपुर की मध्यवर्ती यात्रा का कोई विवरण नहीं दिया जबकि ये स्थान एक सीधी रेखा में भी परस्पर १६० कि० मी० दूर स्थित हैं और वास्तविक मार्ग से यह दूरी २०० कि०मी० तक हो सकती है। प्रतीत होता है कि दिल्ली की पराजय के उपरान्त स्वामी दयानन्द अन्य क्रान्तिकारियों के साथ अक्तूबर १८५७ में (कार्तिक सं० १९१४ वि०) गङ्गोत्री की ओर चले गये थे और वहीं से (गङ्गोत्री से) रामेश्वर तक की यह यात्रा उन्होंने आरम्भ की।

कलकत्ता कथ्य में इस यात्रा (अर्थात् गङ्गोत्री से नासिक तक की) का विवरण न लिखाने का कारण यही था क्योंकि स्वामी दयानन्द की यह यात्रा भी मूलतः १८५७ की क्रान्ति से ही सम्बन्धित ही थी, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट हो जाएगा, परन्तु जन्मचरित्र में इसे उन्होंने बाद में अत्यन्त सावधानी पूर्वक १८५७ की क्रान्ति में अपनी संलग्नता के उल्लेखों को छोड़कर लिखा दिया। इस प्रकार कलकत्ता कथ्य और जन्म चरित्र के अलग-अलग विवरणों द्वारा पाठकों में यह भ्रान्ति उत्पन्न हो गई कि स्वामी दयानन्द संवत् १९१४ के वर्ष (१८५७ ई०) में उत्तर भारत में नहीं थे।

३८०- पं० भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित **जन्म-चरित्र** में इस स्थल पर 'शरद ऋतु' लिखा मिलता है जो इसलिए त्रुटिपूर्ण है क्योंकि **'थियोसोफिस्ट'** में यहाँ पर 'Winter' शब्द आया है और स्वामी दयानन्द ने **'संस्कृत वाक्य प्रबोध'** कें 'मिश्रित प्रकरण-१' में 'जाड़े में कहाँ रहा था?' इसका अनुवाद 'हेमन्ते क्व स्थितः?' किया है। अतः हमने यहाँ हेमन्त ऋतु (अर्थात मार्गशीर्ष-पौष = नवम्बर-दिसम्बर, १८५७ ई०) देना अधिक उपयुक्त समझा है। इसके उपरान्त अगली यात्रा आरम्भ करने का कारण कानपुर का तीसरा युद्ध (२८ नवम्बर से ६ दिसम्बर १८५७ ई० तक का) बना क्योंकि इस युद्ध में कैम्पवेल ने बिठूर पहुँचकर नानासाहब के राजमहल को ध्वस्त कर दिया था और वहाँ के सभी मन्दिरों को नष्ट कर सब कुछ लूट लिया था। अतः यह समाचार पाकर स्वामी दयानन्द जनवरी १८५८ में कानपुर की ओर चल पड़े।

३८१- पं० लेखराम आर्यपथिक ने इस स्थान पर अपनी असावधानीवश अस्थान पर यह उल्लेख किया है कि "हिमालय पर्वत पर पहुँच कर देह-त्याग करना चाहिए, ऐसी इच्छा हुई। परन्तु मन में यह विचार कर आ गया कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् ही देह छोड़नी चाहिए।" वस्तुतः यह प्रसङ्ग अलखनन्दा स्रोत का ही है जो पहले ही जन्म चरित्र और पूना-प्रवचन में (पूर्व पृ० १६८ पर) वर्णित हो चुका है। **'थियोसोफिस्ट'** में छपे अँग्रेजी जन्म-चरित्र में भी यह प्रसङ्ग यहाँ पर वर्णित नहीं है। इसी प्रकार पं० लेखराम ने आगे विभिन्न तिथियाँ और संवत् भी प्रक्षिप्त कर दिए हैं जो **'थियोसोफिस्ट'** में नहीं हैं।

उनके पास अन्य धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त शिवसंहिता, हठ [योग] प्रदीपिका, योगबीज और घेरण्ड–संहिता नामक पुस्तकें थीं जिन्हें वे अपनी यात्रा में पढ़ा करता थे। इनमें से कुछ पुस्तकें नाड़ीचक्रान्त एवं नाड़ीचक्रों से सम्बन्धित थीं जिनमें इनके अति विस्तृत विवरण दिए गए थे परन्तु वे उन्हें समझ नहीं पाते थे। फलस्वरूप इनकी यथार्थता के विषय में उन्हें सन्देह रहने लगा था। अपने इस सन्देह की निवृत्ति हेतु वे कुछ समय से यत्नशील भी थे, परन्तु अब तक उन्हें कोई अवसर प्राप्त नहीं हो पाया था। एक दिन दैवयोग से नदी में उन्होंने एक शव को बहते हुए देखा जिससे उन्हें वह अवसर प्राप्त हो गया, जब वे इन पुस्तकों में वर्णित शरीर रचनाशास्त्र एवं मनुष्यों के आन्तरिक अङ्गों से सम्बन्धित सिद्धान्तों की यथार्थता सम्बन्धी अपने सन्देहों की निवृत्ति कर सन्तुष्ट हो सकते थे। अत: उन्होंने तत्काल पुस्तकों को वहीं एक ओर रखकर कपड़े उतारे और दृढ़–सङ्कल्पित होकर नदी में कूद पड़े और शीघ्र ही उस शव को खींचकर किनारे पर ले आए। तत्पश्चात् एक बड़े चाकू से सावधानीपूर्वक उत्तम रीति से, जितनी उनमें क्षमता थी, स्वामी दयानन्द ने उस शव को चीरकर देखना आरम्भ किया। नाभि से पसलियों तक शरीर को काटकर कमल (हृदय) को निकाला और उसका ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया। इसी प्रकार शिर और ग्रीवा के भी एक भाग को काटकर उन्होंने सावधानीपूर्वक उनका पुस्तकों के विवरणों से मिलान किया। तब यह पाकर कि वे उनसे नहीं मिलते, उन्होंने उन पुस्तकों को वहीं फाड़कर टुकड़े–टुकड़े करके शव के साथ ही नदी में प्रवाहित कर दिया। उस समय से उन्हें निश्चय हो गया कि वेदों, उपनिषदों, पातञ्जल एवं सांख्य से भिन्न समस्त योग विषयक एवं शास्त्र विषयक ग्रन्थ झूठे हैं [३८२]। इसी प्रकार कुछ काल गङ्गातट पर विचरण करते हुए वे फर्रुखाबाद जा पहुँचे। तदनन्तर श्रृङ्गीरामपुर से आगे बढ़कर जब उन्होंने छावनी के पूर्व ओर की सड़क से कानपुर में प्रवेश किया [३८३], तब विक्रमाब्द [३८४] समाप्त हो रहा था।

३८२– इस विषय में पृष्ठ–३५ की पाद–टिप्पणी क्र० ४० द्रष्टव्य है।

३८३– इस वाक्य का वास्तविक तात्पर्य जानने के लिये हम यहाँ एक मानचित्र दे रहे हैं–




३८४– अर्थात् १५ मार्च सन् १८५८ ई० (संवत् १९१४)। हमारी धारणा है कि स्वामी दयानन्द ने यहाँ वही लिखा होगा जो हमने

**अगले पाँच महीनों**[३८५] में वे ***कानपुर और इलाहाबाद के मध्यवर्ती*** अनेक स्थानों पर गए[३८६]। भाद्रपद के प्रारम्भ में वे मिरजापुर आए, जहाँ वे ब्रिन्दाचल अशूलसजी के स्थान (= मन्दिर, समाधि, वेदी) के निकट [३८७] प्राय: एक महीने तक रहे। फिर आश्विन मास के प्रारम्भ में बनारस पहुँचकर (वरुणा एवं गङ्गा के सङ्गम पर स्थित) एक गुफा [३८८] में उन्होंने

---

ऊपर दिया है, परन्तु '**थियोसोफिस्ट**' के सम्पादक ने आर्य भाषा का अँग्रेजी में अनुवाद छापते समय पूर्व पृष्ठ-१४० पर आए संवत् १९११ की श्रृङ्खला में यहाँ संवत् १९१२ प्रक्षिप्त कर दिया। अथवा यह भी हो सकता है कि स्वामी दयानन्द ने यहाँ संवत् १९१४ ही लिखा हो परन्तु अनुवादक ने '४' को '२' पढ़ लिया हो, जैसा कि हस्तलेख में कभी-कभी '४' और '२' की एक जैसी बनावट से हो जाया करता है।

385- In Central India, south of Ganges, where the heat touched 115 degrees in the shade, it was worse. Under Major General Sir Hugh Rose a force of four thousand five hundred men fought a crushing **five-month** campaign against the rebels- marching more than a thousand miles in heat so terrible that the dead lay mummified, capturing one hundred guns, two fortresses, two cities, twenty forts, fighting sixteen actions. When the elephants, their feet red-raw gave up with tears of pain coursing down their cheeks, it was Rose's men who hauled the guns.

extract from *'The Indian Mutiny'* by Richard Collier published in 1963
Chapter- XLIII Ganges Valley (After 3rd December 1857)

३८६- अर्थात् १६ मार्च से ९ अगस्त, १८५८ ई० पर्यन्त। इस कालावधि में इस क्षेत्र में और उसके आस-पास निम्न घटनाएँ घटीं-

२१ मार्च को लखनऊ में लड़ाई समाप्त हो गई। फिर समस्त विद्रोही दिल्ली के शाह के बेटे शाहजादा फीरोज, बिठूर के नाना साहब, फैजाबाद के मौलवी और अवध की बेगम हजरत महल के नेतृत्व में बरेली की ओर कूच कर गए। २२ मार्च को कुँअर सिंह ने आजमगढ़ पर अधिकार कर लिया। १ अप्रैल को तात्याटोपे बेतवा-तट पर अँग्रेजों से पराजित हुए। ३-५ अप्रैल को अँग्रेजों ने झाँसी के किले पर अधिकार कर लिया और रानी लक्ष्मीबाई वहाँ से पलायन कर गईं। ६ मई को बरेली पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया। ७ मई को कूँच में ह्यूरोज ने विद्रोहियों को हराया। २४ मई को काल्पी में रानी लक्ष्मीबाई, बाँदा के नबाव और नाना साहब के भतीजे रावसाहब की ह्यूरोज से पराजय हुई। इन लोगों ने बाद में ग्वालियर जाकर १ जून को वहाँ अपना अधिकार जमा लिया। १७ जून को रानी लक्ष्मीबाई युद्ध करती हुईं लश्कर की पहाड़ी पर वीरगति को प्राप्त हुईं। तात्याटोपे वहाँ से बच निकले। २० जून को ग्वालियर पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया। जुलाई, अगस्त, सितम्बर में कैम्पवेल, होप ग्रान्ट और वालपोल ने प्रमुख विद्रोहियों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर मार डाला और उन तमाम दुर्गों पर अधिकार कर लिया जिनके स्वामित्व पर झगड़ा था। बेगम हजरत महल ने कुछ आखिरी लड़ाइयाँ लड़ीं, फिर वह नाना साहब के साथ राप्ती नदी पार कर नेपाल राज्य में चली गईं। अँग्रेजों ने **इलाहाबाद और कानपुर के मध्य** भारी कत्लेआम किया। गाँव के गाँव जला दिए गए और पेड़ों पर अनेक लोगों को लटकाकर फाँसी दे दी गई। स्वामी दयानन्द ने यहाँ यह सब देखा-सुना और क्रान्ति की असफलता देख दक्षिण की ओर चले जाने का निश्चय कर लिया क्योंकि भारत का वह भूभाग क्रान्ति से प्राय: अछूता रहा था।

३८७- स्थान के उल्लेख में यहाँ कुछ त्रुटि हुई है क्योंकि '**थियोसोफिस्ट**' के लिए अँग्रेजी में अनुवाद करते समय अन्यत्र भी ऐसा हो गया है। यथा-श्रृङ्गीरामपुर के लिए Sreenjeeram. यहाँ का मुद्रित पाठ है-I stopped for a month or so near the shrine of Brindachal Asoolasjee.

३८८- इस गुफा का नाम 'आनन्द गुफा' है जहाँ स्वामी दयानन्द आश्विन संवत् १९१५ वि० के प्रारम्भ में ( अर्थात् ८ अक्टूबर, १८५८ के बाद) पहुँचे।

डेरा डाला, जो उस समय ब्रह्मानन्द सरस्वती [३८९] के स्वामित्व में थी। वहाँ वे काकाराम [३९०], राजाराम [३९१] और अन्य

३८९- इनका शुद्ध नाम ब्रह्मानन्द सरस्वती (पूर्व नाम रामेश्वर दवे) था किन्तु अनुवाद करते समय जब रोमन अक्षरों में इसे Brumananda Saraswati लिखा गया तो कम्पोजीटर ने r को h और m को n पढ़कर तथा na को छोड़कर Bhunanda Saraswati बना दिया क्योंकि हस्तलेख में कभी-कभी r को h और m को n पढ़ लिया जाता है। आजकल आत्मकथाओं में यह भूमानन्द सरस्वती हो गया है।

३९०- **काकाराम शास्त्री** (सं० १८१०-१९१७ वि०) **:** काकाराम शास्त्री के पिता का नाम पं० दिलाराम शास्त्री था जो मूलत: ग्राम-भम्भर, तहसील-रियासी (जम्मू) के रहने वाले थे। काकाराम की कुल परम्परागत शिक्षा वहीं हुई। बालक काकाराम की शास्त्र-नैपुण्यता से प्रभावित होकर इनके पिता इन्हें देशाटन कराते हुए १६ वर्ष की आयु में काशी ले आए जहाँ दशाश्वमेध घाट पर आकर उन्होंने अपना डेरा जमाया। इसके बाद एक संन्यासी ने प्रसन्न होकर अपने शिष्य बाबू बुद्धसिंह खत्री से, जिनका मकान मणिकर्णिकेश्वर महादेव के सामने, जो मणिकर्णिका घाट के ऊपर था, इन्हें रहने के लिए एक कमरा दिलवा दिया। कालान्तर में वह मकान और १५०० रु० की राशि उस व्यक्ति ने इन्हें ही भेंट में दे दी। जब महाराजा काश्मीर श्री गुलाबसिंह जी काशी आए तो उन्होंने इनसे काश्मीर चलने का अनुरोध किया, परन्तु इसे इन्होंने स्वीकार न किया। तब महाराजा ने १,००,००० रु० इन्हें एक मन्दिर और मकान के निर्माणार्थ प्रदान किया जिससे यह मन्दिर वसन्त पंचमी, संवत् १८६७ में बनकर तय्यार हो गया। शेष रुपया इन्होंने काशीराज के पास जमाकर मन्दिर में पूजनादि की स्थायी व्यवस्था कर दी। आज भी यह मन्दिर और मकान पं० काकाराम के वंशजों के पास हैं और २५ रु० महीना पूर्व महाराजा काश्मीर से एतदर्थ प्राप्त होते हैं।

काश्मीर नरेश ने जम्मू-काश्मीर में इन्हें जागीरें भी प्रदान की थीं। तिब्बत सरकार ने भी जमीन और पासपोर्ट लिखकर दिया जो मखमल के ऊपर तिब्बती भाषा में लिखा हुआ है। सं० १८४७ में नेपाल के महाराजा शमशेर जंगबहादुर ने भी इन्हें भूमि प्रदान की और गुरु माना जिसका पट्टा लिखा हुआ है। आपके बहुत से शिष्य पढ़कर विद्वान् निकले जिन्होंने देश-देशान्तर में नाम किया। अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए संवत् १९१७, मि० आश्विन मास, शुक्लपक्ष ८, शनिवार (२२ सितम्बर, १८६० ई०) को इनका देहावसान हो गया।

– **श्री सारस्वत स्मारिका २०४० वि०** (सम्पादक पं० बालकृष्ण कपूरिया) के आधार पर

३९१- **राजाराम शास्त्री** (सं० १८६२-१९३२ वि०) **:** काशी में गोविन्द शर्मा नामक एक श्रौतविद्याविज्ञ, तपस्वी, दाक्षिणात्य, चित्तपावन ब्राह्मण निवास करते थे। उनके तीन पुत्रों में से पं० राजाराम शास्त्री तृतीय थे। इनकी मृत्यु भाद्र कृष्ण तृतीया संवत् १९३२ वि० को हुई थी और उस समय यदि इनकी आयु ७० वर्ष भी मान ली जाय तो उनका जन्म अनुमानत: संवत् १८६२ वि० में हुआ होगा। ये संस्कृत के प्रौढ़ विद्वान् होने के साथ ही साथ व्यवहारिक योगविद्या के भी निष्णात मनीषी थे। पाणिनीय व्याकरण में वे पौराणिक जगत् में महाभाष्यकार पतञ्जलि के नूतन अवतार माने जाते थे। दश वर्ष की आयु में ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। तब इन्होंने संस्कृत के अध्ययन में अपने को लगा दिया। इनके गुरुओं में पं० हरिशास्त्री रानडे, पं० दामोदर शास्त्री, पं० काशीनाथ शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं।

इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर म्योर साहब ने इन्हें आजमगढ़ में जज के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया जहाँ वे ५ वर्षों तक हिन्दू स्मृतियों के आधार पर मुकद्दमों का निर्णय करते रहे। इस कार्य से मुक्त होकर वे ग्वालियर गए और तात्कालीन महाराजा की सभा के पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित कर ग्वालियर नरेश द्वारा बहुमूल्य वस्त्र तथा द्रव्यराशि के द्वारा सम्मानित होकर वहाँ कई महीनों तक रहे। संवत् १९१२ वि० (सन् १८५५ ई०) में ये ग्वालियर से काशी वापस आ गए और अपने छात्रों को पढ़ाने लगे तथा **'विधवोद्वाह शंका-समाधि:'** नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ से प्रभावित होकर काशी राजकीय पाठशाला के तत्कालीन अध्यक्ष वेलेन्टाइन ने इन्हें १८५६ ई० में कालेज में सांख्य शास्त्र का अध्यापक नियुक्त कर लिया। बाद में ग्रिफिथ साहब ने शास्त्री जी की पदोन्नति धर्मशास्त्र के प्राधानाध्याक के पद पर

शास्त्रियों से मिले, परन्तु वहाँ केवल बारह दिन ही रहे। फिर उन्हें जिसकी खोज थी [३९२], उसके निमित्त उन्होंने अपनी अगली यात्रा आरम्भ की। फिर चण्डालगढ.[३९३] पहुँचकर वे दुर्गाखोह के मन्दिर [३९४] में दश दिन तक रहे। यहाँ उन्होंने चावल खाने सर्वथा छोड़ दिए थे, केवल दूध पर ही निर्वाह करते हुए वे योग-विद्या अध्ययन और योगाभ्यास में दिन-रात तत्पर रहे। दुर्भाग्य से यहाँ उन्हें भाँग पीने की लत लग गई थी जिसके प्रभाव से कभी-कभी वे सर्वथा बेसुध हो जाते थे। इसी अवस्था में एक दिन मन्दिर से निकलकर वे चण्डालगढ़ के निकट एक गाँव में आए जहाँ उनकी भेंटउनके एक पुराने नौकर से हुई। वहाँ गाँव के दूसरी ओर कुछ दूरी पर एक शिवालय था, जिसमें स्वामी दयानन्द रात्रि व्यतीत करने के निमित्त गए। भाँग के नशे में वे वहाँ गाढ़ निद्रा में निमग्न हुए और उस रात एक स्वप्न देखा। उन्हें लगा कि उन्होंने महादेव और उनकी पत्नी पार्वती को देखा। वे परस्पर वार्तालाप कर रहे थे और उनकी चर्चा का पात्र वे ही थे। पार्वती महादेव से कह रही थीं कि स्वामी दयानन्द विवाह अवश्य हो जाना चाहिए, परन्तु शिवजी उनसे सहमत नहीं थे। पार्वती ने भाँग की ओर सङ्केत किया [३९५]। जागने पर इस स्वप्न ने उन्हें बहुत उद्विग्न कर दिया। उस समय वर्षा हो रही थी। अत: मन्दिर के मुख्य प्रवेश द्वार के सामने वाले बरामदे में उन्होंने आश्रय लिया जिसमें वृषभेश्वर नन्दी की विशाल प्रतिमा थी। उसकी पीठ पर स्वामी दयानन्द न अपने वस्त्र और पुस्तकें रखकर वे वहीं बैठकर ध्यानमग्न हो गए। अचानक उनकी दृष्टि उस प्रतिमा के

---

१८६३ ई० में कर दी। इसी काल में बालशास्त्री ने इनसे धर्मशास्त्र का अध्ययन किया जिन्होंने आगे चलकर स्वामी दयानन्द से हुए प्रसिद्ध काशी शास्त्रार्थ में भाग लिया। बाद में इन्होंने स्वेच्छा से कालेज से सं० १९२६ वि० में (१८६९ ई०) सेवानिवृत्ति ले ली और योगाभ्यास करते हुए अपना शेष जीवन बिताने लगे।

वैदुष्य के साथ-साथ अपनी बलिष्ठ देहयष्टि के लिए भी ये प्रसिद्ध थे। ये अखाड़े में उतरकर पहलवानों से मल्लयुद्ध भी किया करते थे तथा अपने दाँव-पेंचों का प्रदर्शन कर दर्शकों को मन्त्रमुग्ध कर देते थे।

फर्रुखाबाद में जब मेरठ के पं० श्रीगोपाल से स्वामी दयानन्द का शास्त्रार्थ सन् १८६९ में हुआ तो काशी के इन्हीं पं० राजाराम शास्त्री ने मूर्तिपूजा के समर्थन में अपने पास पूर्व से उपलब्ध एक व्यवस्था पं० श्रीगोपाल को प्रदान की थी। पुन: जब स्वामी दयानन्द काशी में पहुँचे तो उन्होंने पं० राजाराम शास्त्री को शास्त्रार्थ के लिए आहूत किया और एक प्रश्न लिखकर उनके पास भेजा। पं० राजाराम शास्त्री ने प्रश्न को देखकर कहा कि मध्य में एक छुरी रख लो। यदि हम इसका उदाहरण-प्रत्युदाहरण कर देंगे तो नासिका छेदन कर लेंगे। इस उत्तर को सुनकर स्वामी जी ने कहा कि एक नहीं दो छुरी रखनी चाहिए, शास्त्र की जगह शस्त्र ही सही। अन्ततोगत्वा १६ नवम्बर १८६९ को काशी का प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ।

– **काशी की पाँडित्य परम्परा** (लेखक पं० बलदेव उपाध्याय) के आधार पर

३९२- इस कथन में कुछ रहस्य छिपा हुआ प्रतीत होता है क्योंकि आगे नासिक से स्वामी दयानन्द के साथ कृपाराम ब्रह्मचारी ने भी दक्षिण की यात्रा की है और पृष्ठ-१८३ की पाद-टिप्पणी क्र० ३६८ में उनके साथ विप्लव के दिनों में उनके जैसे एक बलिष्ठ ब्रह्मचारी के श्वेत घोड़े पर सवार होकर घूमने का भी उल्लेख हुआ है। अत: यह बहुत सम्भव है कि यह दूसरा घुड़सवार साधु कृपाराम ब्रह्मचारी ही हो जिससे ही पूर्व निर्धारित कार्यक्रमानुसार नर्मदा स्रोत पर मिलने का निश्चय हुआ हो।

३९३- इसका प्रचलित नाम 'चुनारगढ़' है। आल्हा-ऊदल के जमाने में इसे चण्डालगढ़ कहा जाता था।

३९४- इस मन्दिर को हमने डॉ० वेदव्रत के साथ १० मई १९८५ ई० को देखा था। यह मन्दिर बस्ती से काफी दूर दो पहाड़ों के सन्धि स्थान पर एक पहाड़ी नदी या नाले के दोनों ओर स्थित है जिसके मध्य एक कुण्ड भी बना हुआ है जिसमें सदैव पानी भरा रहता है। वर्षा ऋतु में यह स्थान बड़ा ही रमणीक बन जाता है और उस समय नाले में सतत प्रवाह रहता है। योगाभ्यासियों के लिए यहाँ एक-दो गुफाएँ भी हैं।

३९५- वाममार्गियों के तन्त्रग्रन्थादि शिव-पार्वती के संवाद के रूप हैं। चूँकि इस घटना से पूर्व स्वामी दयानन्द ने टिहरी एवं श्रीनगर में (द्रष्टव्य पृष्ठ-१६२-१६३) तन्त्र ग्रन्थों का अध्ययन किया था। अत: भाँग की मादकता में उन्हें इस प्रकार का स्वप्न आया।

भीतरी हिस्से पर पड़ी जो खोखली थी [३९६]। उसमें उन्होंने एक मनुष्य को छिपकर बैठा हुआ देखा। इस पर जब उन्होंने अपना हाथ उसकी ओर बढ़ाया तो वह डरकर अपने छिपने के स्थान से बाहर कूदकर ग्राम की ओर भाग गया। पुन: वे स्वयं उस प्रतिमा में घुस गए तथा शेष रात उसमें सोते हुए व्यतीत की। सबेरा होने पर एक वृद्धा वहाँ आई और प्रतिमा के अन्दर उनके होने की अवस्था में ही वृषभेश्वर नन्दी की पूजा की। थोड़ी देर बाद वह पुन: गुड़ और एक पात्र में दही लेकर आई और (भ्रम से उन्हें ही नन्दीश्वर समझकर) उसने उनकी पूजा की तथा गुड़ और दही उन्हें अर्पित कर प्रार्थना की कि वे उन्हें स्वीकार करें। सो उन्होंने भी उसे निराश नहीं किया और क्षुधार्त्त होने के कारण वे वह सारा नैवेद्य खा गए। दही के अत्यन्त खट्टा होने के कारण भाँग के लिए वह एक अच्छा निदान सिद्ध हुआ जिससे उनका नशा उतर गया और उन्हें आराम मिला। फिर उन्होंने पर्वतों की दिशा में उस ओर कि जिस ओर नर्मदा-स्रोत होने का अनुमान था, अपनी यात्रा आरम्भ की। स्वामी दयानन्द ने किसी से भी अपना मार्ग नहीं पूछा [३९७] अपितु वे दक्षिण दिशा की ओर बढ़ते हुए चले गये। शीघ्र ही घने वन से आच्छादित एक निर्जन प्रदेश में वे जा पहुँचे जहाँ झाड़ियों के बीच-बीच में कहीं-कहीं असमान दूरी पर उन्हें कोई-कोई झोपड़ी दृष्टिगोचर हो जाती थी। ऐसे ही एक स्थान पर उन्होंने थोड़ा सा दूध पिया और आगे को चल दिए। परन्तु पाव कोश चलने पर उनकी गति बिल्कुल अवरुद्ध हो गई क्योंकि मार्ग अचानक अदृश्य हो रहा था जिससे कुछ सकरी पगडण्डियों में से (जो कहाँ को जा रही हैं, यह जाने बिना) उनमें से किसी एक को चुनने के सिवाय अन्य कोई विकल्प उनके पास नहीं रह गया था। शीघ्र ही वे एक गहन वन में प्रविष्ट हुए जो जङ्गली बेरों के वृक्षों तथा घनी एवं ऊँची-ऊँची घासों से पटा हुआ पड़ा था। वहाँ मार्ग का कोई चिह्न: तक न था। तब अकस्मात् एक बड़ा काला रीछ उनके सामने आ गया और उसने एक बार भयङ्कर गर्जना की एवं अपनी पिछली टाँगों के बल खड़े होकर उन्हें खाने के निमित्त अपना मुँह खोला। तब वे कुछ देर तक निश्चल खड़े रहे। फिर अपनी पतली छड़ी उसे मारने के लिए उठाई जिससे वह रीछ डरकर भाग गया। उसकी गर्जना इतनी जोरदार थी कि वे ग्रामीण जिनसे वे कुछ समय पूर्व ही मिले थे, उसे सुनकर बड़ी-बड़ी लाठियाँ और अपने कुत्तों को लेकर उनकी सहायता को दौड़े आये। उन्होंने स्वामी दयानन्द को उनके साथ वापस लौटने के लिए बहुतेरा समझाया और कहा कि यदि वे आगे बढ़े तो उन्हें बहुत ही भयङ्कर सङ्कटों का सामना करना पड़ेगा क्योंकि उस जङ्गल की पहाड़ियों में रीछ, भैंसे, हाथी, व्याघ्र एवं अन्यान्य क्रूर एवं हिंसक प्राणी निवास करते हैं। स्वामी दयानन्द ने उन्हें कहा कि उनकी सुरक्षा के बारे में वे लोग चिन्तित न हों क्योंकि वे (परमात्मा से) रक्षित हैं [३९८]। स्वामी दयानन्द नर्मदा-स्रोत पहुँचने के लिए व्यग्र थे। अत: वे किसी भी सङ्कट से भयभीत होकर अपना निश्चय बदलने के लिए तय्यार नहीं थे। तब यह देखकर कि उनकी चेतावनियों का उन पर कोई प्रभाव नहीं हो रहा है, उन्होंने स्वामी दयानन्द को उनकी पतली छड़ी से कुछ

---

३९६- **'दयानन्द जीवन-चरित्र और समालोचना** (संवत् १९५५)' के लेखक जगन्नाथदास के अनुसार ऐसा मन्दिर कहीं नहीं होता जिसका नन्दी पोला रहता हो। अत: ११ मई १९८५ को हमने और डॉ० वेदव्रत आलोक ने दुर्गाखोह के मन्दिर और चुनारगढ़ के आस-पास ऐसे शिव मन्दिर की पर्याप्त खोज की। परन्तु हम उसे खोज पाने में असमर्थ रहे। वहाँ के जानकार लोगों ने भी ऐसे किसी नन्दी वाले मन्दिर की वर्त्तमान में विद्यमानता से अनभिज्ञता प्रकट की। कदाचित् अब ऐसा मन्दिर नष्ट हो चुका हो अथवा यह भी हो सकता है कि स्वामी दयानन्द ने अन्योक्ति अलङ्कार का सहारा लेकर अपनी १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य समर में संलग्नता का इस प्रकार सङ्केत दिया हो।

३९७- चूँकि स्वामी दयानन्द पहले भी एक बार नर्मदा-स्रोत की यात्रा कर चुके थे (द्रष्टव्य-पूर्व पृष्ठ ३४), अत: उन्हें किसी से मार्ग पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इस विषय में इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में दिया गया मेरा मन्तव्य भी पठितव्य है।

३९८- नर्मदा-स्रोत की पिछली यात्रा के समय स्वामी दयानन्द को परमात्मा की कृपालुता का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था, अत: आत्मविश्वासपूर्वक उन्होंने ऐसा कथन किया। इस विषय में पूर्व पृष्ठ-४० की पाद-टिप्पणी क्र० ५९ द्रष्टव्य है।

मोटी लाठी आत्मरक्षार्थ देकर उनसे विदा ली, परन्तु स्वामी दयानन्द ने इस लाठी को भी वहीं फेंक दिया।

उस दिन स्वामी दयानन्द ने बिना रुके तब तक यात्रा की जब तक कि अन्धकार न छा गया। घण्टों तक उन्हें मानव-निवास का कहीं कोई चिह्न: तक दृष्टिगोचर न हुआ। दूर-दूर तक कोई गाँव भी नहीं मिला, अकेली झोपड़ी भी नहीं और न कोई मानव प्राणी ही। स्वामी दयानन्द ने अपनी आँखों से बहुधा जो कुछ देखा, वे थे असंख्य वृक्ष-मुड़े हुए एवं टूटे हुए, जिन्हें जङ्गली हाथियों ने जड़ से उखाड़कर भूमि-सात कर दिया था जिससे पहले से ही कठिन मार्ग और भी अवरुद्ध हो गया था। आगे चलने पर स्वामी दयानन्द ने अपने को एक अत्यन्त घने एवं अभेद्य जङ्गल में फँसा हुआ पाया जिसमें बेर के वृक्ष तथा अन्य कटीले झाड़-झंखाड़ भरे पड़े थे जिनसे निकल पाना उन्हें दुष्कर प्रतीत हुआ। फिर भी कुछ दूर पेट के बल आगे सरकते हुए तथा कुछ दूर घुटनों के बल रेंगते हुए स्वामी दयानन्द ने इस नए अवरोध पर विजय पाई। परन्तु इसके लिए उन्हें अपने वस्त्रों को फट और चमड़ी को छिल जाने देना पड़ा। इस प्रकार लहू-लुहान होकर तथा थककर वे उस वन से बाहर आए। उस समय तक घना अँधेरा छा गया था तो भी वह उनकी यात्रा को रोक न सका। आगे बढ़ते हुए उन्होंने अपने को ऊँची चट्टानों एवं घनी वनस्पतियों से युक्त पहाड़ियों में घिरा हुआ पाया किन्तु वहाँ मानव बस्ती के चिह्न: स्पष्टतया दिखाई पड़ रहे थे। शीघ्र ही कुछ झोपड़ियाँ, जिनके चारों ओर उपलों के ढेर, निर्मल जल वाली सरिता के तट पर चरती हुई बकरियों के झुण्ड और दीवारों के छिद्रों से टिमटिमाती और स्वागत सी करती हुई रोशनियाँ दिखाई पड़ीं। रात्रि वहीं बिताने और अगले दिन प्रात: तक आगे न जाने का निश्चय करके स्वामी दयानन्द ने एक बड़े वृक्ष के नीचे शरण ली जो एक झोपड़ी के ऊपर फैला हुआ था। वहाँ सरिता में अपने हाथ-मुँह और रक्तस्रावी पैरों को धोकर वे सन्ध्या करने को बैठे, तभी ढोल (Tomtom[३९९]) बजने से उनका ध्यान भङ्ग हुआ। कुछ देर बाद स्वामी दयानन्द ने किसी रात्रिकालीन धार्मिक उत्सव[*] की तैयारी हेतु घरों से निकले हुये पुरुषों, महिलाओं एवं बच्चों को तथा उनका अनुगमन करती हुई गायों एवं बकरियों के एक समूह को देखा। तब इस अपरिचित स्वामी को वहाँ पाकर वे सब उनके चारों ओर इकट्ठे हो गये। फिर उनमें से एक वृद्ध पुरुष ने उनसे पूछा कि तुम कहाँ से आए हो? तब स्वामी दयानन्द ने बताया कि वे बनारस से आए हैं और नर्मदा-स्रोत की ओर जा रहे हैं। स्वामी दयानन्द का यह उत्तर सुनकर वे सब उन्हें सन्ध्या करने हेतु अकेला छोड़कर चले गये। फिर आधा घण्टे पश्चात् उनका एक मुखिया अपने दो पहाड़ी पुरुषों के साथ उनके पास आकर बैठ गया। वह उन्हें प्रतिनिधि बनकर अपने झोपड़ों में बुलाने के लिये आया था, परन्तु स्वामी दयानन्द ने उनका यह निमन्त्रण ठुकरा दिया (क्योंकि वे सब मूर्तिपूजक थे [४००])। तब उसने स्वामी दयानन्द के पास अग्नि प्रज्वलित करने और उन दो पुरुषों को रात भर उनकी सुरक्षा करते रहने का निर्देश दिया। यह जानकर कि स्वामी दयानन्द भोजन में केवल दूध लेते हैं, उस दयावान् मुखिया ने उनसे उनका कमण्डलु माँगा और उसे दूध से भरकर वापस ले आया जिसमें से थोड़ा स्वामी दयानन्द ने उस रात पी लिया। तब वह उन्हें उन प्रहरियों की सुरक्षा में छोड़कर चला गया। फिर वे उस रात सबेरे तक गहरी नींद

---

३९९- कर्नल हेनरी स्टील आल्काट के अनुसार यह एक बाजा है जिसे आदिवासी लोग बजाया करते हैं। सुरेन्द्रनाथ सेन ने अपने ग्रन्थ 'Eighteen Fifty-Seven' के पृष्ठ १५४ पर लिखा है कि-

"On one occasion, some young boys, who, perhaps, in mere sport had flaunted the rebel colours and gone about beating tom-toms, were tried and sentenced to death."

* कर्मा नृत्य जो आश्विन माह में होता है।

४००- उस रात आदिवासियों द्वारा जो धार्मिक-उत्सव किया जाने वाला था, उसमें मूर्तिपूजा की प्रधानता को देखते हुए स्वामी दयानन्द ने उनके साथ न जाने का निश्चय किया था। वैसे मूर्तिपूजकों के यहाँ का भोजन स्वीकार करने अथवा मन्दिरों में ठहरने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी।

सोए। फिर उठकर वे सन्ध्यादि करके अपनी अगली यात्रा पर चल पड़े[४०१]। (क्रमश:[४०२])

---

४०१- इस प्रकार स्वामी दयानन्द नर्मदा-स्रोत पहुँचकर जाते-जाते नासिक तक पहुँच गए, जहाँ से अगली यात्रा का विवरण कलकत्ता-कथ्य में उपलब्ध है। जिस समय अर्थात् कार्तिक संवत् १९१५ वि० के आरम्भ में (अक्तूबर १८५८ के अन्त में) स्वामी दयानन्द नर्मदा-स्रोत की ओर बढ़ रहे थे, उसी समय तात्याटोपे ने नर्मदा पार करके नागपुर की ओर बढ़ने का निश्चय किया। अत: उसने २५ अक्तूबर १८५८ को खुरई (सागर) में मिचेल को परास्त कर ३१ अक्तूबर को अपनी सेना के मुख्य अङ्ग सहित नर्मदा को सुरीला घाट से जो होशंगाबाद से ४० मील नर्मदा के चढ़ाव की ओर होशंगाबाद और नरसिंहपुर के मध्य में है, पार किया और वह तेजी से नागपुर की ओर बढ़ा। नवम्बर के पूर्वार्द्ध में उसने ताप्ती नदी को पार किया और मुल्ताई तक पहुँच कर नागपुर में अँग्रेजों को एकत्र देखकर उधर जाना व्यर्थ समझा और पश्चिम की ओर ताप्ती की घाटी में चला गया। फिर १९ नवम्बर १८५८ को वह खरगाँव (वर्त्तमान में खरगोन) आ गया जहाँ पर होल्कर की सेना की एक टुकड़ी कुछ अश्वारोहियों, पदातियों और दो तोपों सहित उससे आ मिली। मेजर सदरलैंड ने उसका पीछा जारी रक्खा और २५ नवम्बर १८५८ ई० को उसे राजपुर में परास्त करके तोपें छीन लीं। २६ नवम्बर १८५८ ई० को तात्या ने नर्मदा को पार कर छोटा उदयपुर की ओर बढ़ना आरम्भ किया जो बड़ौदा से केवल ५० मील दूर है। यहाँ ब्रिगेडियर पार्क ने उन्हें १ दिसम्बर १८५८ को परास्त किया। १० दिसम्बर १८५८ को तात्या बाँसवाड़ा पहुँच गए जहाँ वे चारों तरफ से घिर गए। किसी तरह वे २३ दिसम्बर को प्रतापगढ़ और २४ दिसम्बर को मन्दसौर पहुँचे। २९ दिसम्बर को जीरापुर में कर्नल बेंसन से युद्ध हुआ। वहाँ परास्त होकर भागने पर ब्रिगेडियर सोमरसेट ने उन्हें छपरा बड़ाद में ३१ दिसम्बर १८५८ को परास्त किया जिससे उनकी सारी सेना तितर-बितर हो गई। तात्या इस पराजय के उपरान्त भागकर १ जनवरी १८५९ को कोटा राज्य के इंदरगढ़ में मानसिंह से मिले और नाहरगढ़ में जनवरी १८५९ के प्रारम्भ में ही फीरोजशाह से मिले। (वहाँ से वे नाना साहब के पास नेपाल चले गए और मानसिंह ने एक दूसरे व्यक्ति को पूर्व निर्धारित योजनानुसार तात्याटोपे बताकर पकड़वा दिया।)

इधर स्वामी दयानन्द ने छोटा उदयपुर के ठीक दक्षिण में २५० कि०मी० की दूरी पर स्थित नासिक पहुँचकर अपनी अगली यात्रा जारी रक्खी। इस प्रकार तात्याटोपे उत्तर की ओर तथा स्वामी दयानन्द दक्षिण की ओर चले गए। इससे पूर्व १ नवम्बर १८५८ को महारानी विक्टोरिया की क्षमादान की प्रसिद्ध घोषणा इलाहाबाद में लार्ड केनिंग ने एक दरबार के v k;kstu }kjk dh] ftl eas dgk x;k Fkk fd & "To all those in arms against the Government, we hereby promise unconditional pardon, amnesty and oblivion of all offences against overselves, our crown and dignity, on their return to their homes and peaceful persuits…. When by the blessings of providence, internal tranquility shall be restored, it is our earnest desire to stimulate the peaceful industry in India, to promote works of public utility and improvement and to administer its Government for the benefit of all our subjects resident therein. In their prosperity will be our strength, in their contentment our security, and in their gratitude our best reward….

Firmly relying ourselves on the truth of Christianity and acknowledging with gratitude the solace of religion, we disclaim alike the right and the desire to impose our convictions on any of our subjects. We declare it to be our royal will and pleasure that none be any wise favoured, none molested or disqualified by reason of their religious faith and observances; but that all shall alike enjoy the equal and impartial protection of the law, and we do strictly charge and enjoin all those who may be in authority under us that they abstain from all interference with the religious belief or worship of any of our subjects on pain of our highest displeasure."

इस घोषणा की प्रतिक्रियास्वरूप स्वामी दयानन्द ने आगे चलकर अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में जो कुछ लिखा, वह पीछे पृष्ठ-१८३ पर दिया जा चुका है।

४०२- '**थियासोफिस्ट**' के नवम्बर १८८० के अङ्क में इस लेख के अन्त में लिखा है-(To be continued.) जबकि 'परोपकारिणी

**दक्षिण भारत की ओर**– स्वामी दयानन्द और साधु कृपाराम ब्रह्मचारी दोनों एक-एक करके नासिक, श्रृंगेरी [४०३], बँगलौर, महीशूर (मैसूर)[४०४], काँची, त्रिचिनापल्ली, मदुरा, रामेश्वर [४०५], धनुष्कोटि और कन्याकुमारी तक और इन सब तीर्थों के अगल-बगल के तीर्थों में भी गए[४०६]। सब ही स्थानों पर बड़े-बड़े मन्दिरों में वार्षिक लाखों रुपये जनसाधारण के भक्तिपूर्ण

---

सभा, अजमेर' द्वारा प्रकाशित स्वामी दयानन्द की आत्मकथा में लिखा है कि– (Here the autobiography ends.T.) जो कि एक भयङ्कर त्रुटि है। वस्तुत: स्वामी दयानन्द इसके आगे अपनी उस यात्रा का विवरण लिखाना चाहते थे जो आगे कलकत्ता-कथ्य में वर्णित है। परन्तु अपनी अनेक व्यस्तताओं के कारण वे ऐसा नहीं कर सके। इसके साथ ही उनका कर्नल अल्काट और मैडम ब्लेवस्टिकी से मतभेद भी हो गया था जिससे वे अपनी यह आत्मकथा लिखने से उपरत हो गए थे। इसके आगे पं० लेखराम ने अपनी ओर से यह लिख दिया है कि *"सारांश यह कि नर्मदा के उद्‌गम स्थान से लौटकर मैं विद्या प्राप्त्यर्थ मथुरा में आया, नर्मदा तट पर तीन वर्ष तक यात्रा की और भिन्न-भिन्न महात्माओं से सत्सङ्ग करता रहा।"* चूँकि स्वामी दयानन्द का ऐसा कथन न तो उनके जन्म-चरित्र में ही उपलब्ध है और न पूना-प्रवचन में ही, इसीलिए बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को लिखना पड़ा कि *"नर्मदा के उत्पत्ति-स्थान के दर्शन के पश्चात् उन्होंने क्या किया, कहाँ-कहाँ गए, किस-किस नये योगाभ्यास के उद्‌देश्य से किस-किस योगी के पास गए। वस्तुत: उस पहाड़ी ग्राम के वृक्ष के नीचे रात्रि भर विश्राम करके जब अगले दिन वह सन्ध्योपासना के पीछे आगे जाने को उद्यत हुए उसके पीछे का उनका जीवन न केवल हमारे लिए ही अन्धकार में छिपा हुआ है, बल्कि संसार के लिए भी अज्ञात है।"* अब कलकत्ता-कथ्य के रूप में कुछ विवरण उपलब्ध हुआ है, जो इस ग्रन्थ में दे दिया गया है। इसीलिए पं० दीनबन्धु जी वेदशास्त्री ने कलकत्ता-कथ्य को **'अज्ञात जीवनी'** का नाम दिया था।

४०३– **श्रृंगेरी**–श्रृंगेरी मठ के पूर्णानन्द सरस्वती ने ही स्वामी दयानन्द को चाणोद में संन्यासाश्रम में दीक्षित किया था और उनका नाम दयानन्द सरस्वती रक्खा था। इससे वे शङ्कराचार्य की संन्यासी परम्परा में श्रृंगेरी मठ से ही सम्बन्धित थे। अत: उनका वहाँ जाना स्वाभाविक और पारम्परिक भी था।

४०४– **मैसूर**–*'आर्यसमाज का इतिहास'* के प्रथम भाग के तेईसवें अध्याय में 'सन् १८५७ के विस्फोट में साधु-संन्यासियों का योगदान' में एक घटना का उल्लेख किया गया है कि मैसूर में पकड़े गए सीतारम बाबा ने मेजर एच० पी० देवराँ और कैप्टन जे० एल० पिअर्स की कमीशन के सम्मुख १८ से २५ जून, १८५८ को दी गई ५८ पृष्ठों की अपनी गवाही में कहा था कि "अँग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का सञ्चालन दस्सा बाबा द्वारा किया जा रहा है, जो नाना साहब का गुरु है। वह बहुत वृद्ध है, उसकी आयु १२५ वर्ष की है और वह काँगड़ा से परे कालीधर का निवासी है। उसका एक शिष्य दीनदयाला है जो दक्षिण भारत में काम कर रहा है। दीनदयाला द्वारा ही दस्सा बाबा ने तिरुपति के शिवराम बाबा को पत्र भेजे हैं। माइसूर आदि दक्षिण के विविध स्थानों के जागीरदारों व राजाओं को पत्र भेजे गए हैं, जिनमें उत्तर भारत में विद्रोहियों की विजयों का उल्लेख करते हुए उन्हें भी विद्रोह में शामिल होने के लिए प्रेरित किया गया है।" इस उल्लेख में दस्सा बाबा से अभिप्राय दशनामी संन्यासी स्वामी पूर्णानन्द से है और दीनदयाला स्वामी दयानन्द का ही छद्मनाम है क्योंकि उनका बचपन का नाम दयालजी था और वे उत्तराखण्ड की अपनी यात्रा में उनसे पूर्व पाद टिप्पणी क्र० २८७ एवं ३१४ के अनुसार मिल चुके थे।

४०५– **रामेश्वर**–"(रामेश्वर के) मन्दिर में भी (= जगन्नाथ के मन्दिर के समान) दिन में अँधेरा रहता है। दीपक रात-दिन जला करते हैं। जब जल की धारा छोड़ते हैं, तब उस जल में बिजुली के समान दीपक का प्रतिबिम्ब चलकता है और कुछ भी नहीं। न पाषाण घटे, न बढ़े, जितना का उतना रहता है। ऐसी लीला करके बिचारे निर्बुद्धियों को ठगते हैं।"

– **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

स्वामी दयानन्द का यह उल्लेख उनके रामेश्वर के मन्दिर को भी देखे होने का प्रमाण है। मेरठ में उन्होंने कहा भी था कि वे एक बार गङ्गोत्री से रामेश्वर तक गए थे। (द्रष्टव्य– पूर्व पाद टिप्पणी क्र० ३३४)

४०६– स्वामी दयानन्द के दक्षिण में जाने के अन्य प्रमाण निम्न हैं–

(अ) "जैसे दाक्षिणात्य लोगों की स्त्रियाँ वस्त्र धारण करती हैं, वैसा ही पहले था, क्योंकि कभी वस्त्र अशुद्ध नहीं रहता,

दानों से जमा हो जाते हैं। लेकिन इसका खर्च देशवासियों के हित या देश के हितकर कार्यों में नहीं होता है। केवल स्वार्थी पुजारियों के पालन-पोषण और भोग-विलासपूर्ण आडम्बरों में ही लग जाता है। सब मन्दिरों के कर्त्तृपक्ष के ही अनुरूप स्वामी दयानन्द ने आवेदन किया था और उनको अनुरूप उत्तर भी मिल गया था कि उनसे यह सब कार्य असम्भव है।

**धनुष्कोटि से लङ्का**–धनुष्कोटि में सारनाथ से आए हुए एक बौद्ध भिक्षु से वार्तालाप हुआ। उन्होंने स्वामी दयानन्द को सिंहल जाने के लिए प्रेरणा दी थी। स्वामी दयानन्द और कृपाराम ब्रह्मचारी को भिक्षु के साथ काष्ठ निर्मित जलयान से उस पार जाने का अनुमति-पत्र भी मिल गया था। जलयान उस पार तलैमन्नार नामक बन्दरगाह में पहुँच गया। वहाँ से कोलम्बो और काण्डी में जाकर ये लोग बुद्ध मन्दिरों में ठहरे। वहाँ से एक पर्वत के 'आदम' नामक श्रृंग पर एक पुरातन मन्दिर में वे रहे। वहाँ अनुराधापुर आदि स्थानों में भ्रमण करके बौद्ध-शिक्षालय, बिहार और बौद्ध-मन्दिरों में बौद्ध लामा और भिक्षुओं के समक्ष भारत के विभिन्न धर्म मत और बौद्ध मत के बारे में उन्होंने आलोचना की। सिंहल को प्राचीन लङ्का कहकर स्वीकार करना कठिन है।

**लङ्का से धनुष्कोटि**– लङ्का (सिंहल) से स्वामी दयानन्दादि सभी लोग जलयान द्वारा फिर धनुष्कोटि पहुँच गए थे। धनुष्कोटि में स्वामी दयानन्द एक बौद्ध-सम्मेलन में निमन्त्रित होके पहुँच थे [४०७]। उनके साथ कई एक बौद्ध-भिक्षु लङ्का से आते समय परिचित हो गये थे। स्वामी दयानन्द बुद्ध को एक योगी साधु कहकर ही विश्वास करते थे, वे नास्तिक भी नहीं थे और वेद-विरोधी भी नहीं थे, ऐसा स्वामी दयानन्द मानते थे। वेद के नाम पर यज्ञों में जो पशु-वध होता था और वैदिक-धर्म के नाम पर जो अयौक्तिक कदाचार और कुप्रथा का प्रचलन था, बुद्ध उन्हीं के विरोधी थे। बौद्ध पण्डितों ने स्वामी दयानन्द के मुख से ''धम्मपद'' ग्रन्थ से गौतम बुद्ध की वाणियाँ भी सुनी थीं। वे लोग उनके प्रति सन्तुष्ट हुए थे। बौद्धों के अन्दर हीनयान और महायान सम्प्रदायों के भेद-भाव, बौद्ध सम्प्रदाय के लिये हानिकारक हुए हैं। एक बौद्ध पण्डित ने सम्मेलन में उनसे प्रश्न किया था-''भारत में बौद्ध धर्म की धीरे-धीरे विलुप्ति का क्या कारण है?''

स्वामी दयानन्द ने उत्तर में कहा था-''वेद-विरोधी मनोभाव और प्रचार, ईश्वर-विरोधी आन्दोलन, राजा-महाराजा-सम्राटों पर बौद्ध धर्म-प्रचार करने का भार अर्पण कर देना, भिक्षु और भिक्षुणी को एक साथ प्रचारक के

---

सब दिन जैसे पुरुषों के वस्त्र शुद्ध रहते हैं, वैसे स्त्री लोगों के भी शुद्ध रहते हैं। इससे इस प्रकार का वस्त्र धारण करना उचित है।'' –**सत्यार्थप्रकाश** (प्रथम संस्करण)

(ब) ''गुजराती, महाराष्ट्र, तैलङ्ग, द्राविड़ तथा कर्नाटक- इनमें भोजन के बड़े बखेड़े हैं। इन पाँचों में से गुजराती लोगों के भोजन का बड़ा पाखण्ड है। महाराष्ट्रादिक चारों द्रविड़ों का तो एक भोजन है, परन्तु गुजराती लोगों का आपस में बड़ा भेद है।'' – **सत्यार्थप्रकाश** (प्रथम संस्करण)

(स) ''जैसे ज्ञा, इसमें ज्+ञ्+आ, ये तीन अक्षर मिले हैं। इनका उच्चारण भी जकार, ञकार और आकार ही का होना चाहिये किन्तु ऐसा न हो कि जैसे-दाक्षिणात्य लोग अर्थात् द्राविड़, तैलंग, कर्नाटक और महाराष्ट्र 'द्नान-, गुजराती लोग 'ग्यांन' और पंचगौड़ 'ग्यान' ऐसा अशुद्ध उच्चारण अन्ध परम्परा से वेदादि शास्त्रों के पाठ में भी करते हैं।'' - **वर्णोंच्चारणशिक्षा** (भूमिका)

पूर्वोक्त तीनों उद्धरण स्वामी दयानन्द के दाक्षिणात्यों के साथ निकट सम्पर्क में आए होने के प्रमाण हैं।

४०७- अनुमानतः पौष पूर्णिमा संवत् १९१६ वि० (८ जनवरी सन् १८६० ई०) को। **[नई दुनिया,** इन्दौर के एक समाचारानुसार दलाई लामा ५ जनवरी १९८५ को एक अन्तर्राष्ट्रीय धर्म सम्मेलन का उद्घाटन करने मद्रास आए थे, जहाँ से वे बम्बई चले गए।**]** इस प्रकार स्वामी दयानन्द प्रायः एक वर्ष तक दक्षिण भारत और लङ्का में भ्रमण करते रहे। जीवन-सन्ध्या के समय उनका लङ्का के डी०ए० राजा पाकसा से १८८३ ई० में पत्र-व्यवहार भी हुआ था।

पदों पर नियुक्त कर देना, भिक्षु लोगों का गृहस्थ लोगों के साथ अत्यन्त घनिष्टता स्थापन करना, इत्यादि कारणों से भारत में बौद्ध-धर्म का प्रचार और प्रसार अबाध गति से नहीं हुआ।

**धनुष्कोटि से कन्याकुमारी**- बहुत दिनों से निर्दिष्ट स्थानों में और निर्दिष्ट समय तक दिल्ली के योगमाया मन्दिर से प्रजा विद्रोह के बारे में स्वामी दयानन्द को कोई समाचार नहीं मिला था [४०८]। अत: स्वामी दयानन्द धनुष्कोटि से कन्याकुमारी में आए और वहाँ वे रामेश्वर के भव्य मन्दिर में ठहरे थे। यहाँ विभिन्न मन्दिरों में घूम-घूमकर उन्होंने साधु-सङ्गठन कार्य में दीर्घकाल व्यतीत किया गया था जिससे साधु आपस में सङ्गठित होने लगे थे। स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा करना और वहाँ के जनसाधारण के अन्दर जागृति पैदा कर देना ही साधुओं का कर्त्तव्य था। भारत-व्यापी प्रजा विद्रोह का प्रत्यक्ष संग्राम अचानक प्रारम्भ हो गया था। अत्याचारित और उत्तेजित प्रजागण नेतृवृन्द के नियन्त्रण से बाहर चला गया था। बहरामपुर, बैरकपुर, मेरठ आदि स्थानों से विद्रोह शुरू होकर भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में फैल गया था [४०९]। दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, बरेली और झाँसी इस क्रान्ति युद्ध के केन्द्र रहे थे। सङ्गठन पूरा नहीं होने के कारण और अचानक विच्छिन्न और विश्रृंखल रूप से युद्ध आरम्भ होने के कारण युद्ध में पराजय आ गया था [४१०]। विद्रोही प्रजाजन संख्या में लगभग ५०-६० हजार नेपाल की सीमा पर नेपाल राज्य के आश्रय-प्रार्थियों के रूप में उपस्थित हो गये थे [४११]। नेपाल के राजा जंगबहादुर ने कड़ी भाषा में आश्रय देने से मना कर दिया था। नाना साहब, तात्या टोपे आदि कई एक नेता विद्रोहियों के साथ थे [४१२]। विद्रोही प्रजाजनों ने आत्म-रक्षार्थ जंगलों में प्रवेश किया था और वहाँ ही फल-फूल खाकर किसी रूप से देह-रक्षा करने लगे थे। बहुत प्रजा भूखी मर गई या वन्य हिंस्र पशुओं के आहार के रूप में समाप्त हो गई थी। बहुत से विद्रोही पकड़े जाने पर मृत्यु दण्ड को प्राप्त हुए और कोई-कोई भागकर आत्म-रक्षार्थ इधर-उधर चले गये थे । इस प्रकार की चर्चा कन्याकुमारी तक चल रही थी। स्वामी दयानन्द ने इस पर अच्छी तरह विचार किया और दिल्ली के योगमाया मन्दिर से कन्याकुमारी में प्रजा-विद्रोह के विषय में आने वाले समाचार की प्रतीक्षा में निर्दिष्ट दिन तक बिताने का सङ्कल्प किया [४१३]।

---

४०८- स्वामी दयानन्द दक्षिण भारत और लङ्का में प्राय: एक वर्ष तक भ्रमण करते रहे। इसी अवधि में (नासिक छोड़ने के पश्चात्) उन्हें प्रजा-विद्रोह का कोई समाचार नहीं मिल पाया होगा।

४०९- इस विषय में पूर्व पाद-टिप्पणी क्र० ३५३ एवं ३६६ द्रष्टव्य हैं।

४१०- इस विषय में पूर्व पाद-टिप्पणी क्र० ३८६ द्रष्टव्य है।

४११- ''नैपाली अधिकारी भद्रीसिंह ने राणा (= जंगबहादुर) को बताया कि नाना व बेगम के साथ ६०,००० सैनिक हैं। १२,००० पैदल सेना व ५,००० घुड़सवार वर्दी में हैं, शेष सहायकों के रूप में हैं। उसने राणा को यह भी बता दिया कि वे सब राणा से भेंट करने काठमाण्डू आने की सोच रहे हैं।'' - **संघर्ष-कालीन नेताओं की जीवनियाँ** (पृ० ४७)

४१२- यद्यपि किसी भी इतिहास पुस्तक में तात्याटोपे के नेपाल जाने का उल्लेख नहीं है, कारण कि सभी इतिहासकारों ने यह मान लिया था कि तात्याटोपे को १८ अप्रैल १८५९ को शिवपुरी में फाँसी हो गई थी। परन्तु अब अनेक प्रमाणों से यह बात असत्य सिद्ध हो चुकी है। कलकत्ता-कथ्य में स्वामी दयानन्द ने ऐसा रहस्योद्घाटन करके यह सिद्ध कर दिया है कि उनका इन क्रान्तिकारियों से निकट का सम्बन्ध रहा था। इस विषय में हमने तात्याटोपे के भोपाल में रह रहे वंशज श्री मधुकर शङ्कर टोपे से पूछताछ की थी तो उन्होंने तात्याटोपे का नेपाल जाना स्वीकार किया था।

४१३- सम्भव है यह निर्दिष्ट दिन सं० १९१६ की समाप्ति (२२ मार्च, १८६०) का रहा हो।

## नाना साहब कन्याकुमारी में

कन्याकुमारी भारत का अन्तिम दक्षिणी सीमा का अन्तरीप है। पूर्व दिशा का बंगोपसागर, पश्चिमी दिशा का अरब सागर और दक्षिणी दिशा का भारत महासागर इस कन्याकुमारी अन्तरीप के सम्मुख सम्मिलित हुए हैं। एक दिन भारत महासागर की ओर मुख करके एकान्त में बैठे हुए स्वामी दयानन्द भारत के धर्म और स्वतन्त्रता की विराट् समस्या के बारे में आँखें बन्द करके सोच-विचार कर रहे थे, तभी अचानक पीछे से शब्द आया-"हम योगमाया मन्दिर के समाचार लाये हैं" मुख पीछे की ओर घुमाकर देखा- तीन मुण्डित मस्तक, गैरिक वस्त्रों से सज्जित और कमण्डलधारी संन्यासी आ रहे हैं। उनमें से एक को शिवाजी के सतारा सिंहासन के उत्तराधिकारी नाना साहब को उन्होंने पहचान लिया। शेष दोनों उनके लिए अपरिचित थे [४१४]। तीनों प्रणिपात करके बैठ गये और तीनों ही सजल दृष्टि से अवाक् से रहे थे।

स्वामी दयानन्द ने कहा-"युद्ध-पराजय और नेपाल के जंगल में प्रवेश तक मुझे सब मालूम हो गया है। इसमें हताश या निराश होने का कोई कारण नहीं है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये युद्ध में जय या पराजय दोनों ही लाभदायक हैं। आप लोग भविष्यत् भारत के लिये त्याग, साहस, शूरता और निर्भीकता तथा स्वतन्त्रता के लिये प्रेरणा देंगे।"

नाना साहब ने दोनों आगन्तुकों का परिचय दिया-"एक तात्या टोपे [४१५] और दूसरे मेरे साथी दुर्जयराव हैं। हम लोग इसी गुप्त वेश में आपको योगमाया मन्दिर के निर्देशानुसार ढूँढते हुए यहाँ पहुँच गये हैं। ब्रिटिश गुप्तचर हमारे सन्धान के लिये हमें ढूँढ रहे हैं। पता नही हम कब पकड़ लिये जायें जिससे बध-स्तम्भों पर हमें प्राण-त्याग करने पड़ें। आप आशीर्वाद दीजिये जिससे हम सहर्ष मृत्यु-वरण कर सकें और भारत के सुपुत्र पराधीन भारत को मुक्त कराने के लिये आगे आयें।

## कानपुर की चर्चा

कानपुर के एक सहस्र अँग्रेज नर-नारियाँ विपत्ति में पड़ी हुई थीं। मैंने आश्वासन दिया था कि ये लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार इलाहाबाद में जा सकते हैं। इन अँग्रेजों के अन्दर सैकड़ों सिपाही ऐसे भी थे जिन्होंने विगत सप्ताह में काशी और

---

४१४- आगन्तुकों में एक नाना साहब थे जिनसे स्वामी दयानन्द पूर्व पाद टिप्पणी क्र० २९० के अनुसार ११ बार मिल चुके थे। इसलिये उन्हें पहचानने में तो उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। तात्याटोपे से स्वामी दयानन्द तो केवल कुम्भ मेले में ही एक बार मिले थे। तब से अब तक प्राय: ५ वर्ष का समय व्यतीत हो चुका था और वे वेश बदले हुए भी थे ही तथा शिवपुरी में उन्हें फाँसी हो जाने की सूचना भी उन्हें रही होगी जिससे उनके सम्मुख उसके वहाँ उपस्थित हो पाने की असम्भावना भी Fkh] bl fy, mUgsa igpkuus esa dfBukbZ gqbZ gksxhA rhljs O;fDr nqtZ;jko ls rks dHkh feyuk gh ugha gqvk FkkA ;|fi n;kuUn dk oLrfod rkR;k Vksih dk iy rks lkFk ijUrq mUgsa ,sls O;fDr ls Hkh ckr djus esa fdlh izdkj dh vkifRr ugha gqbZA 1873 esa ,d ckj fQj ls feyus dk ;g

415& rkR;k Vksih dk fØÙkh ;ksxnku Hkh mYys[kuh; gSA rkR;k Vksih ds ckjs esa Jh fo".kq HkkLdj dh iqLrd **'अठारह सौ सत्तावन'** और Indumati Sheorey की पुस्तक TATYA TOPE के परिशिष्ट द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार नाना साहब की भी नेपाल में मृत्यु नहीं हुई, अपितु वे बहुत वर्षों तक जीवित रहे, इस विषय में भी पर्याप्त साहित्य लिखा जा चुका है। स्वयं अँग्रेजों ने भी ऐसा स्वीकार नहीं किया, यह इसी बात से सिद्ध है कि सन् १८६२ ई० के जुलाई महीने में नाना साहब एवं उनके साथियों को पकड़ने के लिए अँग्रेजों द्वारा जो उनके सङ्केत-चिह्न तथा अन्य ब्योरे प्रकाशित किए गए थे, उनमें **नाना साहब**, बाला साहब, पाण्डुरंगराव, नारू पन्त, सदाशिव पन्त, ज्वालाप्रसासद (ब्रिगेडियर), लालपुरी, आभा धनुषधारी (बख्शी), नारायण मराठा (मुसाहेब), **तात्याटोपे** (कैप्टेन), छुमसीसिंह जमादार, गङ्गाधर तात्या, रामू तात्या (आत्मज बालाभट्ट) तथा अजीमुल्लाह के नाम सम्मिलित थे। यदि नाना साहब और तात्याटोपे जुलाई १८६२ तक जीवित न होते तो फिर इनके नाम इस सूची में क्यों आते?

प्रयाग में उन सब देशी सिपाहियों के बालकों और स्त्रियों पर अत्याचार किये थे। नील साहब के अत्याचारों की स्मृति ने भी इन सब देशी सिपाहियों को उत्तेजित कर दिया था, जिसके कारण उन्होंने गोलियों के द्वारा उनमें से अधिकांश को मार दिया था। जो लोग बच गये थे उनको भी बन्दी बनवा दिया। विद्रोही-प्रजा और सैन्यों पर विजय-लाभ करके जब विजयी अँग्रेज-सिपाही कानपुर के समीप पहुँच गये तब विद्रोही प्रजाओं ने दो सौ से भी अधिक अँग्रेज महिलाओं और शिशुओं का वध करके उनके मृत देहों को निकटस्थ कुएँ में फेंक दिया था। जनता के इस प्रकार के हत्याकाण्ड के साथ मेरा बिल्कुल सम्बन्ध नहीं था। तथापि आनुषङ्गिक कारणों से मेरा सम्बन्ध था। इस महापाप के प्रायश्चित्त के लिये मैं अपने देह को प्रज्वलित अग्निकुण्ड में आहुति के रूप में डाल दूँगा, मैंने ऐसा ही सङ्कल्प कर लिया है [४१६]।"

## स्वामी दयानन्द की सम्मति पर नाना साहब की स्वीकृति

स्वामी दयानन्द ने कहा-"आपका इस प्रकार का सङ्कल्प भूल है। आत्महत्या तो मानसिक विकार या कमजोरी होती है। आत्मत्याग दूसरी चीज है। मानसिक बल और तेजस्विता के बिना आत्मत्याग नहीं बनता। आप तेजस्वी पुरुष हैं। लेकिन संन्यासियों के वेश को गुप्त रूप से ग्रहण किया है। आप इन गैरिक वस्त्रों को सत्य रूप से ग्रहण कीजिये और

---

४१६- "२६ जून (१८५७) को किले के अन्दर के सब अँग्रेजों ने अपने आपको नाना के सुपुर्द कर दिया। किला, तोपखाना और भीतर के तमाम अस्त्र-शस्त्र और खजाना नाना के हवाले कर दिया गया। नाना की तरफ से वादा किया गया कि समस्त अँग्रेजों को किश्तियों में बैठाकर और मार्ग के लिए रसद देकर इलाहाबाद भेज दिया जायेगा।

उसी रात को चालीस किश्तियों का प्रबन्ध कर दिया गया। उनमें रसद का समान रख दिया गया। २७ ता० को सबेरे अँग्रेजी झण्डा किले पर से उतार दिया गया। सम्राट बहादुरशाह का झण्डा उसकी जगह फहराने लगा और समस्त अँग्रेजों को हाथियों और पालकियों में बिठलाकर किले से डेढ़ मील दूर सती-चौरा घाट पर पहुँचा दिया गया।

किन्तु इस बीच इलाहाबाद और उसके आस-पास के इलाके से असंख्य मनुष्य जिनके घर-द्वार, सम्बन्धियों और बाल-बच्चों को जनरल नील के सिपाहियों ने जलाकर खाक कर दिया था, कानपुर नगर में आ-आकर एकत्रित हो रहे थे। इन लोगों के बयानों और इलाहाबाद में कम्पनी की सेना के अत्याचारों को सुन-सुनकर कानपुर की जनता और वहाँ के देशी सिपाहियों का क्रोध भड़क रहा था। २७ जून को सबेरे १० बजे किश्तियाँ सती चौरा घाट से चलने वाली थीं। नाना उस समय अपने महल में था। घाट पर सिपाहियों और जनता की भीड़ थी। कहा जाता है कि क्रोध से उन्मत्त सिपाहियों में से किसी एक ने पहले कर्नल ईवर्ट्स पर हमला किया। तुरन्त मारकाट शुरू हो गई। लगभग समस्त अँग्रेज इतिहास लेखक स्वीकार करते हैं कि ज्यों ही नाना को इसका समाचार मिला, उसने तुरन्त आज्ञा भेजी कि-"अँग्रेज पुरुषों को मार डालो किन्तु बच्चों और स्त्रियों को कोई हानि न पहुँचाओ।"

नाना की आज्ञा पहुँचते ही १२५ अँग्रेज स्त्रियाँ और बच्चे कैद करके सौदा-कोठी पहुँचा दिये गये। अँग्रेज पुरुषों को लाइन बाँधकर सतीचौरा घाट पर खड़ा किया गया। उनमें से एक ने, जो शायद पादरी था, प्रार्थना की कि मरने से पहले मुझे इजाजत दी जाए कि मैं अपने भाइयों से इंजील में से कुछ ईश्वर प्रार्थना पढ़कर सुनाऊँ। उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। जब वह ईश्वर-प्रार्थना कर चुका तो हिन्दोस्तानी सिपाहियों ने अँग्रेजों के सिर तलवार से कलम कर दिए। अँग्रेज पुरुषों में से केवल चार एक किश्ती में बैठकर भाग निकले। इस प्रकार ७ जून को कानपुर के अन्दर जो लगभग एक हजार vxzst Fksmuesa ls27 tuwdks dsoy pkj iq#"kv iuhQqrhZ ;k vkSj 125 fL=;k¡&cPps ukukl kgc dh mnkjrk }kjk ft Unk cpsA

15 tqykbZ¼1857½ dh 'kke dks og ?kVuk gqbZ ftlsHkkjrh; folyo dk fj ;kasdsuke ij l nk dsfy, dyš jgsxhA chchx<+¼dkuiqj½ ds125 vxzst dSnhfL=;k¡ vkSj cPpksa dk Ry dj Mkys x, vkSj 16 rk0 dks l cjsmudh yk'ks, d dq¡,saesMky nhxbA**

– **मासिक चाँद** (नवम्बर १९२८, पृ० १५४-१५६)

भारत की पश्चिमी सीमा की ओर किसी मठ-मन्दिर में रहकर आप जन-सेवा के लिए जीवनदान कीजिये। मनुष्यों को पारमार्थिक कल्याण के लिए उपदेश दीजिये। ऐहिक कल्याण के लिए रोगियों को बिना मूल्य वृक्षों के मूल और पत्तियों से औषध बनवा कर वितरण करते रहिये, इससे मृत्यु तक शान्ति और आनन्द के साथ शेष जीवन बिता सकेंगे। आप आत्म-हत्या कभी न करें।'' स्वामी दयानन्द के इस उपदेश को तीनों ने ही समान रूप से ग्रहण किया और तीनों के वहाँ से चलने से पहले स्वामी दयानन्द ने नाना साहब को संन्यास देकर उनका नाम दिव्यानन्द स्वामी रख दिया था [४१७]। शेष दोनों ने संन्यास लेने का साहस नहीं किया। दिव्यानन्द ने 'ऐसा ही होगा, भगवान् की इच्छा पूर्ण हो'-ऐसा कहा और तीनों ही वहाँ से चल दिए।

## स्वामी दयानन्द का भावी कार्यक्रम

स्वामी दयानन्द ने अपने संक्षिप्त जीवन के अन्दर सामाजिक स्थिति और जन-जागरण को सूक्ष्म रूप से अनुभव किया था। इसलिए ही विशुद्ध ज्ञान की उन्होंने अत्यन्त आवश्यकता समझ ली थी और साथ-साथ उन्हें यह भी मालूम हो गया था कि बिना वैदिक ज्ञान के विशुद्ध ज्ञान आ भी नहीं सकता। समाज-संस्कार और जातीय जागरण वैदिक भित्ति पर हो-इस सिद्धान्त को देश-हित और मानव-हित के लिए उन्होंने ग्रहण किया [४१८]। देश में शत-सहस्रों की संख्या में प्रचारधर्मी वेद-प्रचारक बन जायें तो देश का कल्याण होगा [४१९]। वैदिक ज्ञान से वञ्चित समाज-संस्कारक या राजनीतिक कर्णधार हमको भोगवाद, उच्छृंखलता और नास्तिकता की ओर ले जायेंगे [४२०]। इसीलिये वेद को सर्व-साधारण के अन्दर सहज, सरल और सुबोध रूप से जाति-वर्ण-लिङ्ग भेद के बिना प्रचार करने की आवश्यकता है। तब वे सोचने लगे कि

---

४१७- ''किसी-किसी द्वेषपरायण दुष्ट ने सरकार को उनके (= स्वामी दयानन्द के) विरुद्ध करने के लिए यहाँ तक कहा कि वह सिपाही-विद्रोह में भाग लेने वाले नाना साहब का भेजा हुआ दूत है।''

-**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० ३२२)

ऐसा जिस व्यक्ति ने कहा वह स्वामी दयानन्द के नाना साहब के साथ के सम्बन्धों एवं सम्पर्कों के विषय में जानकारी रखता प्रतीत होता है।

४१८- ''भारतीय क्रान्ति से इतिहासकारों को अनेक शिक्षाएँ मिल सकती हैं, किन्तु उसमें इससे बढ़कर कोई अन्य महत्वपूर्ण शिक्षा नहीं है कि भारत में ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान हमारे (= अँग्रेजों के) विरुद्ध सङ्गठित होकर क्रान्ति कर सकते हैं और हमारे अधिराज्य के सम्बन्ध में यह मानना धोके से खाली नहीं है कि विभिन्न धार्मिक रीति-रिवाजों का परिपालन करने वाली जातियों से जब तक यह देश परिपूर्ण है, तब तक हमारा यह राज्य शान्तिपूर्ण और स्थिर बना रहेगा, क्योंकि ये लोग एक दूसरे के रहन-सहन, रीति-रिवाज और व्यवहारों को भली-भाँति समझते ही नहीं, उनके प्रति आदर-भावना रखकर उनमें सहयोग भी प्रदान करते हैं। १८५७ की इस क्रान्ति ने हमें यह स्मरण करा दिया है कि हमारा आधिपत्य एक पतली परत पर आधारित है और **समाज-सुधार तथा धार्मिक क्रान्ति के विस्फोटों से यह परत किसी भी समय नष्ट हो सकती है।''** - **जी० डब्ल्यू० फारेस्ट के ग्रन्थ** (History of the Indian Mutiny) की भूमिका से

स्वामी दयानन्द का उत्तरवर्ती सारा जीवन इसी निष्कर्ष को कार्यरूप में परिणत करने वाला है। फलतः उनके कार्यों से जिस वातावरण का निर्माण हुआ, उसमें ऐसे अनेक लोग उत्पन्न हुए जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए अपने जीवनों की बाजियाँ लगा दीं और अन्ततोगत्वा देश १५ अगस्त १९४७ को अँग्रेजों की पराधीनता से मुक्त हो गया।

४१९- स्वामी दयानन्द की यही भावना उनके ४ अगस्त, १८७५ ई० को पूना में दिए गए अपने प्रवचन के अन्त में अभिव्यक्त हुई है।

४२०- हमारे देश की वर्त्तमान अवस्था स्वामी दयानन्द द्वारा १६० वर्ष पूर्व दी गई चेतावनी को ही पुष्ट करती है।

वेद के अनुभवी, वेद के ज्ञान को देने में समर्थ और इच्छुक विद्वान् कहाँ हैं और उनका दर्शन किस प्रकार से हो? योग-विद्या-परायण योगियों के सन्धान के लिए उन्होंने जैसे विभिन्न स्थानों में भ्रमण किया था और वे लाभान्वित हुए थे, वैसे ही वैदिक ज्ञान प्रदान करने को तत्पर और प्रकृत वेदज्ञ पण्डितों के सन्धान में भ्रमण करने पर उनका उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ था। योग-विद्या के ज्ञानार्जन के लिए जैसे उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानों में परिभ्रमण किया था, ठीक वैसे ही वेद, पाणिनि, निरुक्त, ब्राह्मण, सूत्रादि वैदिक ग्रन्थों के ज्ञानार्जन के लिए उन्होंने देश के विभिन्न स्थानों में भ्रमण किया था [४२१]।

**कन्याकुमारी से मथुरा**- पं० लेखराम आर्यपथिक के अनुसार स्वामी दयानन्द गुरु विरजानन्द की शरण में कार्तिक शुक्ल २, संवत् १९१७ वि० तदनुसार बुधवार १४ नवम्बर सन् १८६० ई० (यम द्वितीया) को मथुरा पधारे थे। उस समय वे रुद्राक्ष की माला पहनते, भस्म लगाते और संन्यासी की भाँति कौपीन बाँधते, अचरा छाती पर रखते, सिर पर मुँडासा बाँधते और एक बहुत बड़ी लाठी हाथ में रखते थे। एक पुस्तक भी उस समय उनके पास थी और यात्रा की कठिनाइयों के कारण उनका शरीर निर्बल हो रहा था। बोलचाल में गुजराती भाषा के शब्द- ‘हमरे तुमरे’ का बहुत प्रयोग करते थे। हमारी धारणा है कि स्वामी दयानन्द कन्याकुमारी से गुजरात में द्वारिका तक गए और वहाँ उन्होंने उस घटना के विषय में जानकारी प्राप्त की जिसका उल्लेख इस ग्रन्थ की पूर्व पाद-टिप्पणी क्र० ३७८ (और सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास) में हुआ है, क्योंकि संन्यासियों में यह परम्परा है कि वे गृहत्याग से १२-१४ वर्षों के पश्चात् अपनी जन्मभूमि की यात्रा करते हैं। कदाचित् इसी का पालन स्वामी दयानन्द ने भी किया होगा और तब वे गुजरात से हाथरस, मुरसान होकर मथुरा पहुँचे होंगे। जबकि पं० लेखराम के अनुसार वे रीवा (बुन्देलखण्ड) होकर मथुरा पहुँचे थे।

दूसरी ओर नाना साहब पेशवा स्वामी दयानन्द के परामर्शानुसार स्वामी दिव्यानन्द संन्यासी बनकर अपने आश्रितों के साथ गुजरात के सीहोर में जाकर रहने लगे और वहाँ वे अपने शेष जीवन भर आयुर्वेदीय चिकित्सा करते रहे। ऐसा उनकी उस बही से पता चलता है जो कि १९५७ ई० में दत्तोवामन पोतदार ने स्वयं वहाँ उनके वंशजों के पास जाकर देखी थी। नाना साहब पेशवा का निधन ११ अगस्त, १९०२ ई० (श्रावण शुक्ला अष्टमी, सोमवार) को मुम्बई से प्रकाशित होने वाले I kr kgd i = & ‘*धर्मयुग*’ के ९-१५ मई, और १६-२२ मई, १९७६ ई० के अङ्कों में प्रकाशित लेखों के अनुसार हुआ था।

इसी प्रकार तात्याटोपे भी बहुत वर्षों तक सद्गुरु गोविन्द परमहंस महाराज बनकर जीवित रहा और दिल्ली से प्रकाशित होने वाले हिन्दी मासिक पत्र ‘*कर्मयोगी*’ के मार्च-अप्रैल, २००९ ई० के संयुक्ताङ्क के मुखपृष्ठ पर पूरे पृष्ठ में छपे उसके एक चित्र पर दिए गए विवरणों के अनुसार उसकी मृत्यु २० जून, १९२० ई० को हुई थी।

---

४२१- यह भ्रमण अलग से नहीं अपितु एक साथ ही किया गया था क्योंकि इस भ्रमण के सामूहिक उद्देश्य योगियों की और आर्षग्रन्थों की खोज तथा साधु-संगठन इत्यादि थे।

“ऐसे ही देश-देशान्तर में भ्रमण किया। जहाँ-जहाँ जो-जो पुस्तक मिला, उनका विचार किया।”

**-आदिम सत्यार्थप्रकाश के हस्तलेखाङ्कित आत्म-वृत्त से**

अध्याय- सात

# गुरु विरजानन्द की शरण में

**[ कार्तिक (शुक्ल पक्ष) १९१७ से आश्विन सं० १९२१ वि० पर्यन्त ]**

जैसे त्रेतायुग में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम अपने चौदह वर्ष के वनवास की अवधि पूरी करके अयोध्या लौटे थे, वैसे ही ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में टङ्कारा (गुजरात) में बालक मूलशङ्कर के रूप में जन्मे और आगे वहाँ २१ वर्ष की अपनी युवावस्था तक रहकर पुन: अपने मातृ-पितृकुल की छत्रछाया का परित्याग करके संवत् १९०३ वि० के कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष के आरम्भ में ही स्वेच्छा से निर्वासित हुआ यह युवक भारत देश का पश्चिम से पूर्व तक एवं उत्तर से दक्षिण तक और कुछ देशान्तर का भी परिभ्रमण करके तथा मार्ग में पहले ब्र० शुद्धचैतन्य और बाद में स्वामी दयानन्द सरस्वती का संन्यस्त नाम ग्रहण करके अपनी ३५ वर्ष की आयु पार करके ठीक चौदह वर्ष बाद ही संवत् १९१७ वि० के कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की यमद्वितीया (तदनुसार बुधवार दिनाङ्क १४ नवम्बर, १८६० ई०)[४२२] को विभिन्न साधु-सन्तों और विभिन्न विषयों के विभिन्न गुरुओं से अनेक प्रकार की विद्याएँ और योग की क्रियाएँ सीखकर तथा इसी अवधि में ही हुए १८५७ ई० के भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में भी अपना कुछ योगदान देकर उसके सञ्चालक स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती के पूर्व परामर्शानुसार आर्षज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनके ही एक शिष्य ८१ वर्षीय स्वामी विरजानन्द सरस्वती का आचार्यत्व ग्रहण करने के लिए उनके सम्मुख उनकी मथुरा नगरी में आकर और पहले वहाँ रङ्गेश्वर के मन्दिर में ठहरकर होली के दरबाजे से विश्रान्त-घाट की ओर जाने वाले मुख्य राजमार्ग पर स्थित एक साधारण से गृह की अट्टालिका के ऊपरी भाग पर किराए पर लिए गए एक पाठशाला-भवन [४२३] में उपस्थित हुआ। तब उसने भवन का दरबाजा बन्द देखकर बाहर से ही दरबाजा खटखटाया तो-

विरजानन्द जी बोले- कौन है?

दयानन्द जी ने बाहर से ही उत्तर दिया- एक संन्यासी।

विरजानन्द ने पुन: पूछा- नाम क्या है?

दयानन्द से उत्तर मिला- स्वामी दयानन्द सरस्वती।

विरजानन्द ने फिर पूछा- कुछ व्याकरण पढ़ा है?

दयानन्द ने उत्तर दिया- सारस्वतादि पढ़ा है।

पाठशाला का द्वार खुलने पर स्वामी दयानन्द पाठशाला में भीतर प्रविष्ट हुए। अपनी इस भेंट के समय प्रज्ञाचक्षु स्वामी

---

४२२- स्वामी दयानन्द के सहाध्यायी पं० युगलकिशोर ने बताया था कि जिस समय स्वामी दयानन्द स्वामी विरजानन्द के पास पढ़ने के लिए मथुरा आए थे, तब पश्चिमोत्तर प्रदेश में सर्वत्र दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था। सरकारी अभिलेखानुसार उक्त प्रदेश में दुर्भिक्ष का यह भयङ्कर प्रकोप नवम्बर,१८६० ई० से अक्टूबर, १८६१ ई० तक रहा था।

४२३- स्वामी विरजानन्द की इस पठशाला के स्थान पर महर्षि दयानन्द दीक्षा शताब्दी समारोह दिसम्बर, १९५९ ई० के अवसर पर एक भव्य विरजानन्द अनुसन्धान भवन के निर्माण की आधारशिला मुम्बई के सेठ प्रतापसिंह शूरजी वल्लभदास द्वारा प्रदत्त एक लाख रुपये के दान से रखी गई थी। इस दीक्षा शताब्दी समारोह में मैंने भी तब अपने परिजनों के साथ सम्मिलित होकर इस अनुसन्धान भवन के निर्माण स्थल पर रखी गई दान-पेटिका में सात रुपये डाले थे। *- आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

विराजानन्द ने नवागन्तुक विद्यार्थी स्वामी दयानन्द से कहा कि अभी तक तुमने जो कुछ पढ़ा है, वह मनुष्यकृत होने से उसे भूल जाओ । तब स्वामी विरजानन्द ने उनको सारस्वत की वास्तविकता बताई कि इसे अनुभूति स्वरूप आचार्य ने बनाया था। किसी शास्त्रार्थ में बूढ़ा हो जाने और मुख में दाँत न रहने के कारण उससे '*पुंसु*' शब्द अशुद्ध निकल गया। इस पर जब प्रतिपक्षी ने आक्षेप किया, तब उसने क्रोध में आकर उसकी सिद्धि में यह झूठा ग्रन्थ बनाया था तथा मिथ्या अभिमान में आकर इस अशुद्ध को ही शुद्ध कर दिखाया था। परन्तु उसके इस व्यर्थ प्रयत्न करने पर भी 'पुंसु' शब्द शुद्ध न हुआ, अशुद्ध ही रहा। अत: व्याकरण के सम्बन्ध में पढ़े गए ऐसे अधिकांश ग्रन्थ स्वामी विरजानन्द की दृष्टि में अनार्ष ही थे, इसलिए mUgksaus mUgsa xzUFk¨a ds i<+gq d¨ Òwy tkus¨ j mUgsa eqkesa izkfgr dj vkus dk funsZ& *'ओम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आ सुव'* के वेदमंत्र के परिपालन में दिया था। साथ ही कहा था कि हमारी पाठशाला में विद्यार्थियों के रहने और खाने का कोई प्रबन्ध नहीं है, अत: इनकी भी पहले तुम व्यवस्था करके जाओ तभी हम तुमको पढ़ा सकेंगे। अपनी इस प्रथम भेंट के समय स्वामी दयानन्द सरस्वती संन्यासी वेश में थे और उन्होंने अपने ललाट पर भस्म की रेखा लगाई हुई थी तथा गले में रुद्राक्ष की माला भी पहनी हुई थी। उनका परिधान गेरुआ था तथा उनके हाथ में एक लोटा था।

इस प्रथम भेंट [४२४] के समय स्वामी विरजानन्द ने अपनी पाठशाला की परम्परा के अनुसार स्वामी दयानन्द से भट्टोजी दीक्षित के नाम पर, जो सिद्धान्त कौमुदी नामक संस्कृत व्याकरण का रचयिता था, जूते भी लगवाए थे ताकि उनके हृदय में उसके प्रति कोई अनुराग न रहे।

अपने भावी गुरु का यह प्रथम आदेश पालन करने के लिए विद्यार्थी दयानन्द तत्काल उलटे पाँव विरजानन्द की पाठशाला से मथुरा नगरी की ओर निकल पड़े। सो पहले उन्होंने यमुना के निकट जाकर अपने पास उपलब्ध व्याकरण के जो अनार्ष ग्रन्थ थे, उन्हें वहीं फाड़कर यमुना में बहा दिया। फिर उन्होंने अपने आवास और भोजन प्रदाता की खोज में उस मथुरा नगरी में पदन्यास किया जहाँ न तो उनका कोई परिचित ही था न कोई बन्धु-बान्धव ही। लेकिन जब दयानन्द 'किं करोमि क्व गच्छामि' की मनोदशा में मथुरा में इधर-उधर पदन्यास कर रहा था, तभी आर्यजाति के सौभाग्य से दयानन्द को उनके ही गुजरात प्रान्त के एक औदीच्य ब्राह्मण कुलोत्पन्न उन अमरलाल जोशी [४२५] से, जिनके पूर्वज कभी गुजरात से ही मथुरा में आकर बस गए थे, परिचय हो गया। दयानन्द ने अपनी भोजन की समस्या उनके सामने रखी जिसे उन्होंने तत्काल ही सहर्ष स्वीकार कर लिया जिससे उनके भोजन का स्थिर प्रबन्ध हो गया। इसके बाद दयानन्द के रहने का भी प्रबन्ध विश्रान्त घाट पर लक्ष्मीनारायण के मन्दिर की एक कोठरी में हो गया। यह कोठरी इस लक्ष्मीनारायण मन्दिर के द्वार पर एक पार्श्व में थी और एक मनुष्य के रहने और सोने भर के लिए पर्याप्त थी। वहाँ मन्दिर के गवाक्ष के पास खड़े होकर देखने पर निरन्तर प्रवाहमान यमुना और उसके परे का विहङ्गम दृष्य दयानन्द के मन को प्रफुल्लित करने वाला था। इस प्रकार दयानन्द अपने आचार्य की सभी अपेक्षाओं को पूरा करके उनसे आर्षज्ञान प्राप्त करने के लिए नियमितरूप से उन स्वामी विरजानन्द के पास पढ़ने जाने लगा जो प्रज्ञाचक्षु (दृष्टिरहित) थे। वे इस समय तक ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के प्रति इतने आस्थावान हो चुके थे कि उन्होंने अपने द्वारा पूर्व में रचित वाक्यमीमांसा और पाणिनि की अष्टाध्यायी

---

४२४- स्वामी वेदानन्द दयानन्द तीर्थ (१८९२-१९५६ ई०) अपने '*वेद परिचय*' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ-१२ पर (विजयकुमार-हासानन्द संस्करण, २००० ई०) में लिखते हैं कि "संवत् १९१४ वि० (१८५७ ई०) के महान् प्रयत्न के, जिसमें स्वामी विरजानन्द तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक-दूसरे से अपरिचित रहकर सहयोग दिया था।"

४२५- ज्योतिष शास्त्र में प्रवीण होने के कारण ही अमरलाल को जोशी की पदवी मिली थी और इसी कारण ग्वालियर के महाराजा सिन्धिया ने उन्हें १०-१२ ग्रामों की मालगुजारी प्रदान की हुई थी।

का लगभग आधा रचित भाष्य स्वयं ही अपने एक शिष्य के माध्यम से यमुना में प्रवाहित करा दिया था। इस समय वे वैदिक धर्म को ही सत्य-सनातन धर्म मानते थे और इन्हीं के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने मथुरा में अपनी यह पाठशाला इस आशा के साथ स्थापित कर रखी थी कि उन्हें कोई ऐसा सुयोग्य शिष्य मिल जाए जो तब तक वृद्ध और असहाय हो गए विरजानन्द की इस इच्छा की पूर्ति कर सके।

स्वामी विरजानन्द अपनी इस चिन्ता में कभी-कभी इतने उद्विग्न हो जाते थे कि वे सदैव ही वैदिक धर्म के पुनरुत्थान और आर्षग्रन्थों के पुन: प्रचार के उपायों के सोचने में ही लगे रहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने एक सार्वभौम सभा भी स्थापित करने का प्रस्ताव जयपुराधीश महाराजा रामसिंह से समक्ष कुछ पूर्व में प्रस्तुत किया था और महाराजा ने भी इसका समर्थन करके उसके लिए विशेष प्रयत्न करने का उन्हें वचन दे दिया था।

स्वामी विरजानन्द यद्यपि जन्मान्ध थे तथापि उनकी जिह्वा पर वे सभी शास्त्र समुपस्थित रहते थे जिनका प्रवेश उनकी ऋतम्भरा बुद्धि में सुन-सुनकर ही हो चुका था। विशेषकर शब्दशास्त्र (व्याकरण) में तो उनकी प्रतिभा अलौकिक ही थी जिससे वे जन साधारण में *'व्याकरण-सूर्य'* की पदवी से अलङ्कृत हो चुके थे। किसी भी सूत्र या श्लोक को एक बार या अधिक से अधिक दो बार ही सुनकर वे उसे कण्ठस्थ कर उसका मर्म समझ जाते थे। इससे वे श्रुतिधर भी कहे जाने लगे थे। अपने इस गुण की अपेक्षा वे अपने सभी शिष्यों से भी रखने लगे थे।

इस प्रकार जहाँ स्वामी विरजानन्द स्वयं विलक्षण थे, वहीं उनकी पाठशला भी विलक्षण ही थी। इस पाठशाला का उद्देश्य अन्य पाठशालाओं के समान साधारण वैयाकरण, नैयायिक और वेदान्तिक तैयार करना भर न था, अपितु ऐसे असाधारण विद्वान् तैयार करना था जो अपने कार्यक्षेत्र में पदार्पण करके देश का कायाकल्प उनकी अपेक्षा के अनुरूप कर सकें। इसीलिए वे अपने विद्यार्थियों से प्राय: कहा करते थे कि 'आज मैं जिस अग्नि को तुम्हारे हृदयों में प्रविष्ट कर रहा हूँ, वह महाग्नि बनकर एक दिन भारत भूमि के भ्रान्त-मतों और भ्रान्त-विश्वासों को भस्मीभूत कर देगी।'

सो भारतवर्ष के सौभाग्य से इस बार इस विलक्षण गुरु को एक विलक्षण विद्यार्थी भी मिल गया था जिसने अपने इस प्रज्ञाचक्षु गुरु के सङ्कल्प को आगे चलकर सफलीभूत कर दिखाया जिसकी कभी उसने कल्पना भी नहीं की थी।

जैसा कि स्वामी दयानन्द ने बाद में रचित अपने ग्रन्थों में यह लिखा है कि 'यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारण शिक्षा एक महीने के भीतर पढ़ा देवे। पुन: पाणिनिमुनिकृत लिङ्गानुशासन और उणादिगण, गणपाठ तथा अष्टाध्यायीस्थ ण्वुल् और तृच् प्रत्यायाद्यन्त सुबन्तरूप छ: महीने के भीतर सधवा देवें। पुन: दूसरी बार अष्टाध्यायी- पदार्थोक्ति, समास, शङ्कासमाधान, उत्सर्ग, अपवाद, अन्वयपूर्वक पढ़ावें और संस्कृत भाषण का भी अभ्यास कराते जाएँ। आठ महीने के भीतर इतना पढ़ना-पढ़ाना चाहिए।

तत्पश्चात् पतञ्जलि मुनिकृत महाभाष्य जिसमें वर्णोच्चारण शिक्षा, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिगण, लिङ्गानुशासन- इन छ: ग्रन्थों की व्याख्या यथावत् लिखी है, डेढ़ वर्ष में अर्थात् १८ (अठारह) महीनों में इसको पढ़ना-पढ़ाना। इस प्रकार शिक्षा और व्याकरण को तीन वर्ष पाँच महीने वा नौ महीने, अथवा चार वर्ष के भीतर पूरी कर सब संस्कृतविद्या के मर्मस्थलों को समझने योग्य होवे।

तत्पश्चात् यास्कमुनिकृत निघण्टु-निरुक्त तथा कात्यायनादि मुनिकृत कोश डेढ़ वर्ष के भीतर पढ़े।

जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि को चाहने वाले नित्य पढ़ें-पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोधकर पुन: अन्य शास्त्रों को भी शीघ्र सहज में पढ़ सकते हैं।' इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने स्वामी विरजानन्द से पूर्व से पर्याप्त पढ़े होने के

कारण ढाई वर्ष के अन्दर ही अर्थात् चैत्र संवत् १९२० वि० तक (मार्च-अप्रैल, १८६३ ई० तक) ही पूरा आर्ष व्याकरण और कोष पढ़ लिया था। इस सम्बन्ध में वे स्वयं ही अपने पुणे-प्रवचनों में कहते हैं कि "पुनः विचार मन में आया कि ज्ञान-प्राप्ति करने के पश्चात् ही देह छोड़ना चाहिए, ऐसा निश्चय करके मैं मथुरा आया। वहाँ मुझे एक संन्यासी सत्पुरुष गुरु मिले। उनका नाम विरजानन्द स्वामी था। वे पहले अलवर में रहते थे। उनका वय उस समय ८१ वर्ष का था। उनकी वेदशास्त्रादि आर्ष ग्रन्थों में अधिक अभिरुचि थी। वे दोनों आँखों से अन्धे थे और उन्हें पेट-शूल का रोग था। उनको आधुनिक कौमुदी-शेखरादिक ग्रन्थ अच्छे नहीं लगते थे। भागवतादि पुराणों का वे बहुत तिरस्कार (खण्डन) करते थे। सब आर्ष ग्रन्थों पर उनकी अत्यधिक भक्ति थी। अनन्तर उनका परिचय होने पर उनके द्वारा 'तीन वर्ष में व्याकरण आ जाता है' -ऐसा कहने पर मैंने उनके पास पढ़ने का निश्चय किया। मथुरा में एक भद्र पुरुष अमरलाल नाम के थे। उन्होंने मेरे अध्ययन करते समय जो मुझ पर उपकार किया, उसे मैं भूल नहीं सकता। पुस्तकादि सामग्री और खाने-पीने की व्यवस्था उन्होंने बहुत ही उत्तम कर दी थी। उन्हें स्वयं बाहर भोजन के लिये जाना होता तो पहले मुझे भोजन कराकर पश्चात् स्वयं जाते थे। ऐसा वह पुरुष अत्यन्त उदार मन का था।"

स्वामी विरजानन्द की देहयष्टि यद्यपि अस्थि-पञ्जर जैसी ही थी तथापि वह युवजनोचित उत्साह और तेजस्विता के साथ अपने छात्रों को सभी पाठ पढ़ाते थे। जन्मान्ध होने के कारण एक प्रकार से यद्यपि उन्होंने अपने वर्तमान नेत्रों से कभी किसी ग्रन्थ के दर्शन नहीं किए थे तथापि उनकी सर्व-विषय ग्रहणी स्मृति शक्ति के कारण उन्हें व्याकरण, दर्शन, साहित्य, संहिता, वेद तथा वेदान्तादि सब विद्याओं के सब प्रकार के तत्वों को बातों ही बातों में अपने शिष्यों को समझा देने की नैसर्गिक क्षमता प्राप्त थी। सो जब ऐसे विलक्षण गुरु और विलक्षण शिष्य दयानन्द का प्रतिदिन ही आमना-सामना होने लगा तो विद्याग्नि धधक उठी।

मथुरा के अपने इस विद्याग्रहण काल में दयानन्द के जीवन की उनके विभिन्न जीवन चरित्रों में वर्णित निम्न कुछ घटनाएँ चिरस्मरणीय बनीं-

स्वामी दयानन्द के मथुरा आने के समय से ही इस प्रदेश में अकाल पड़ा हुआ था जो आगे छः-सात मास तक रहा था। समस्त मथुरा वासियों के लिए साधारणतया और विद्यार्थियों के लिए यह अत्यन्त कठिनाई का समय था। ऐसे में स्वामी दयानन्द इन छः-सात महीनों में दुर्गा खत्री, जो डाका वाला के नाम से विख्यात था, उसके यहाँ से कभी सूखे चने और कभी-कभी चने की रोटी खाकर ही निर्वाह करते रहे थे। दुर्भिक्ष के अन्त में ही मथुरा के रईस बाबा अमरलाल जोशी के यहाँ उनके भोजन का प्रबन्ध हो सका था। उनके यहाँ प्रतिदिन सौ-सवा सौ ब्राह्मण भोजन पाते थे।

गुजरात में जन्मे होने और उनकी मातृभाषा गुजराती होने के कारण तथा बाद में विभिन्न भाषाभासी लोगों और गुरुओं के सम्पर्क में आने के कारण दयानन्द का संस्कृत भाषा का उच्चारण दोषपूर्ण था। उनका यह उच्चारण-दोष स्वामी विरजानन्द से निरन्तर सत्सङ्ग और उनसे वार्तालाप से ही ठीक हुआ था।

दण्डी जी के दैनिक स्नानार्थ स्वामी दयानन्द यमुना से १५-२० घड़े जल भरकर लाया करते थे जिसे स्वामी दयानन्द अपने गुरु की सेवार्थ लाकर प्रतिदिन देते रहे थे। पीने के लिए शुद्ध यमुना जल भी वे स्वयं मध्य धार से भरकर उनके लिए लाते थे।

स्वामी दयानन्द बड़े पुरुषार्थी, उद्यमी और फुर्तीले थे। लक्ष्मीनारायण मन्दिर में रहकर वे प्रतिदिन व्यायाम करते और कई मील तक भ्रमण करने जाया करते थे।

स्वामी विरजानन्द दुर्गापाठ किया करते थे। एक बार स्वामी दयानन्द ने इसका कुछ प्रतिवाद किया तो स्वामी

विरजानन्द उन्हें दण्डा लेकर मारने के लिए दौड़ पड़े थे।

मथुरा का एक सेठ गोवर्द्धन सराफ चार आने मासिक (एक रुपये का चौथाई भाग अर्थात् आजकल के २५ पैसे) रात्रि में दीपक जलाकर पढ़ने के लिए दयानन्द को दिया करता था। हरदेव पत्थरवाला उन्हें दो रुपये मासिक दूध के लिए देता था। देश भर में मथुरा अपने शुद्ध दूध और पेड़ों के लिए प्रसिद्ध है।

स्वामी दयानन्द मथुरा में कभी-कभी अभ्रक फूँकते और पारे की गोली भी बाँधा करते थे। ब्रह्मचर्य पालन का अन्य छात्रों को भी उपदेश किया करते थे। स्वयं भी पूरे यति (संयमी) पुरुष थे।

एक बार मथुरा में स्वामी विरजानन्द का वृन्दावन के रङ्गाचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था। इस शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द भी दण्डी जी के साथ उपस्थित थे। वार्तालाप के समय रङ्गाचार्य का एक शिष्य संस्कृत में बोलने लगा। तब दयानन्द ने उसकी बोली हुई पंक्ति का संस्कृत में ही खण्डन किया परन्तु दण्डी जी ने दयानन्द को रोक दिया और कहा कि तुम कुछ भी मत कहो, चाहे वह कुछ भी कहता रहे।

एक दिन दण्डी जी दयानन्द से अप्रसन्न हो गए और उनको लाठी मारी जिससे स्वयं दण्डी जी का हाथ दर्द करने लगा। तब दयानन्द ने उनसे कहा कि महाराज आप मुझे न मारा करें, मेरा शरीर तो वज्र के समान कठोर हो गया है, इस प्रकार प्रहार करने से आपके ही कोमल करों को कष्ट होता है। इसी चोट का चिह्न: दयानन्द के शरीर पर उनके अन्तिम समय तक बना रहा था जिसे देखकर वे दण्डी जी के उपकारों का स्मरण किया करते थे।

एक बार दण्डी जी ने अप्रसन्न होकर दयानन्द को गालियाँ भी देते हुए उन्हें सोंटा मारा । तब नैनसुख जड़िए ने दण्डी जी से कहा कि दयानन्द हमारे समान गृहस्थ नहीं हैं, अपितु एक संन्यासी हैं, इन्हें नहीं मारना चाहिए। तब दण्डी जी ने नैनसुख जड़िए से कहा कि भविष्य में वे उन्हें प्रतिष्ठा के साथ ही पढ़ाया करेंगे। इस पर पाठशाला से बाहर आकर दयानन्द ने नैनसुख जड़िए को कहा कि तुमने मेरी मुझे न मारने की सिफारिश क्यों की? दण्डी जी सुधार के लिए ही तो मुझे मारते हैं, द्वेष से नहीं। जैसे कुम्हार पीट-पीटकर घड़ा बनाता है, वैसे ही वे मुझे मार-मारकर घड़ रहे हैं। तुमने बुरा किया जो उन्हें इसका निषेध किया।

एक दिन दयानन्द यमुना की रेती में ध्यानावस्थित होकर बैठे हुए थे। तभी एक देवी यमुना-स्नान करने के लिए वहाँ आई और दयानन्द के चरणों में अपना मस्तक रखकर उन्हें अत्यन्त श्रद्धा से नमस्कार किया। दयानन्द कभी किसी स्त्री का स्पर्श न करते थे, इसलिए वे उस स्त्री के इस प्रकार प्रणिपात करने पर एकदम चौंक पड़े और माता-माता कहते हुए उठ खड़े हुए। पुन: वे इस स्त्री-स्पर्श का प्रायश्चित करने के लिए गोवर्धन की ओर चले गए और एक निर्जन स्थान पर तीन दिन-रात तक निराहार रहकर प्रायश्चित किया। जब वहाँ से वे दण्डी जी की पाठशाला में वापस लौटे तो दण्डी जी ने उनसे इतने दिनों तक अनुपस्थित रहने का कारण पूछा। तब दयानन्द ने गुरु जी से अपने व्रतभङ्ग और इस प्रायश्चित की कथा कह सुनाई जिसे सुनकर दण्डी जी बहुत ही प्रसन्न हुए।

एक दिन दण्डी जी का कोई दूर का सम्बन्धी मथुरा आया। उन दिनों दण्डी जी ने अपने विद्यार्थियों को आज्ञा दे रखी थी कि उनकी पाठशाला में विद्यार्थियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति न आने पावे। आगन्तुक को दण्डी जी के दर्शन करने की बहुत इच्छा थी, परन्तु वह प्रयत्न करने पर भी दण्डी जी के दर्शन नहीं कर सका। तब उसने दयानन्द से प्रार्थना की कि वे किसी तरह उसे दण्डी जी के दर्शन करा दें। तब दयानन्द ने उसे बहुतेरा कहा कि यदि मैं अपने साथ तुम्हें पाठशाला ले गया तो गुरुजी अप्रसन्न होंगे। पर वह न माना और निरन्तर अनुनय-विनय करता ही रहा जिससे दयानन्द का हृदय भी द्रवित हो गया और वे अपने साथ उसे पाठशाला में लेते गए। थोड़ी देर बाद चुपके से उसे दण्डी जी के दर्शन कराके वह

आगन्तुक और स्वामी दयानन्द बाहर निकलने लगे। तभी जब वह सीढ़ी उतर ही रहे थे, उनका एक सहाध्यायी उन्हें मिल गया जिसे उन्होंने सङ्केत से समझा भी दिया कि दण्डी जी को कुछ न बताना, पर उसने उन्हें सब कुछ बता दिया कि महाराज आज दयानन्द के साथ एक पञ्जाबी सा दिखने वाला कोई व्यक्ति आया था? यह सुन कर दण्डी जी दयानन्द पर बहुत अप्रसन्न हुए और उनकी ड्योढ़ी बन्द कर दी। इस पर दयानन्द ने दण्डी जी से बहुत अनुनय-विनय की परन्तु उनके लिए तब ड्योढ़ी न खुली। अन्त में नैनसुख जड़िया की सिफारिश पर ही वह बाद में खुली।

दयानन्द की धारणा शक्ति अलौकिक थी। वह पाठ को एक-दो बार सुनकर ही स्मरण कर लेते थे। परन्तु एक दिन अष्टाध्यायी की एक प्रयोग-सिद्धि उन्हें विस्मृत हो गई। अत: उसे उन्होंने दण्डी जी से दुबारा पूछा। इस पर दण्डी जी ने उसे दुबारा न बताया और कहा कि जाओ और स्मरण करके आओ, हम बार-बार नहीं बताते। दयानन्द ने बहुतेरा प्रयत्न किया परन्तु फिर भी उन्हें सफलता नहीं मिली। तब वे पुन: गुरुदेव के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया कि महाराज वह सिद्धि मुझे स्मरण नहीं हो पा रही है। पर दण्डी जी भी अपनी हठ के पक्के ही थे, अत: शिष्य की इस प्रार्थना पर भी उन्होंने कान न दिया अपितु डाँट कर उनसे बोले कि जब तक तुम पहला पाठ न सुनाओगे, तब तक तुम्हारा अगला पाठ न चलेगा। यदि वह प्रयोग तुम्हें याद न पड़े तो भले ही यमुना में डूब मरना, पर मेरे पास न आना। गुरुजी का यह कठोर वचन दयानन्द को वाण के समान चुभ गया। अत: उन्होंने प्रण कर लिया कि या तो मैं पाठ स्मरण करके ही यहाँ पाठशाला में वापस आऊँगा, अन्यथा यमुना में डूबकर अपना प्राणान्त ही कर लूँगा। इस निश्चय के साथ वे समीप के सीताघाट के शिखर पर चढ़कर समाधिस्थ हो गए। सो इस समाधि अवस्था में ही उन्हें अपना भूला हुआ पाठ स्मरण हो आया जिससे उन पर आई हुई यह विपत्ति दूर हो गई।

स्वामी विरजानन्द ने जब स्वामी दयानन्द को महाभाष्य पढ़ाना आरम्भ किया था तब उनके लिए उसकी एक पुस्तक मथुरा नगर से ३१ रुपये का चन्दा करके बुलबाई गई थी।

स्वामी दयानन्द मथुरा में विश्रान्त घाट पर लक्ष्मीनारयण मन्दिर में रहा करते थे। अवकाश के समय वे योगाभ्यास और सहपाठियों के साथ व्याकरण सम्बन्धी विचार-विमर्श भी किया करते थे। उन्हीं दिनों वे ब्राह्मणों को सन्ध्या, उपासना और अग्निहोत्र करने का उपदेश किया करते और थोड़ा-थोड़ा खण्डन-मण्डन भी करने लगे थे। पण्डित जुगल किशोर जी ने बताया था कि एक दिन विद्यार्थी अवस्था में स्वामी दयानन्द ने उनसे स्पष्ट कह दिया था कि मूर्तिपूजा, कण्ठी, तिलक, छाप आदि सब निषिद्ध हैं। पर इस समय वे यह सब खण्डन-मण्डन खुले हुए रूप में नहीं करते थे। उनके कारण बहुत से विद्यार्थी मन्दिर में आया करते थे और वहाँ रात्रि में ११-१२ बजे तक विद्या पढ़ा करते थे। स्वामी दयानन्द सायंकाल मन्दिर में बैठकर संस्कृत बोलते और पण्डितों से विभिन्न विषयों पर चर्चा और शास्त्रार्थ भी किया करते थे।

मथुरा के विद्वानों में यह प्रसिद्ध था कि स्वामी विरजानन्द और उनके शिष्य स्वामी दयानन्द कभी झूठ नहीं बोलते थे। वे सच्चे मनुष्यों के मित्र और सत्यप्रिय थे। झूठे मनुष्यों को वे अपने पास भी फटकने नहीं देते थे।

जब स्वामी दयानन्द के मथुरा से चले जाने और विद्या समाप्ति के लिए १५-२० दिन ही रह गए थे तो एक दिन विरजानन्द जी ने स्वामी दयानन्द से कहा कि- दयानन्द! जहाँ हम ऊपर बैठते हैं, वहाँ झाड़ू लगा देना। दयानन्द ने झाड़ू लगाकर कूड़ा एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया। टहलते समय उस कूड़े के ढेर पर स्वामी विराजानन्द का पैर पड़ गया। इस पर विरजानन्द ने स्वामी दयानन्द को गालियाँ दीं और कहा कि तूने मेरी आज्ञा का यथेष्ठ पालन नहीं किया है और क्रुद्ध होकर उसे मकान से बाहर चले जाने के लिए कह दिया अर्थात् उनकी ड्योढी पुन: बन्द कर दी। इस पर स्वामी दयानन्द बहुत दु:खित हुए और पहले उन्होंने नन्दन चौबे और बाद में नयनसुख जड़िया से सिफारिश कराई। इन दोनों से स्वामी

दयानन्द ने कहा था कि यद्यपि स्वामी विरजानन्द मेरे प्रति हृदय से क्रुद्ध नहीं हैं, तथापि अब मेरी विद्यासमाप्ति सन्निकट है, इसलिए उन्हें किसी प्रकार दु:खी छोड़कर जाना मेरे लिए ठीक नहीं है। इसलिए इन दोनों की सिफारिश पर पुन: शिष्य के प्रति गुरु ने अपना रोष शान्त कर लिया।

इस प्रकार दयानन्द ने विरजानन्द से अष्टाध्यायी और महाभाष्य पूर्णरूप से अपने आयित्व में कर लिए थे और वेदादि शास्त्रों को समझने की कुञ्जी भी उनसे अपने इस ढाई वर्षीय अध्ययनकाल में समझ ली थी। इस अध्ययन के दौरान दयानन्द अपने आचार्य स्वामी विरजाननद के बहुत प्रीतिपात्र बन गए थे और स्वामी विरजानन्द भी यह समझने लगे थे कि दयानन्द ही उनकी चिरसाध को पूर्ण करने की क्षमता रखता है। पढ़ाते समय स्वामी विरजानन्द दयानन्द की प्रतिभा को परखकर उन्हें प्यार से '*कालजिह्व*' और '*कुलक्कर*' जैसे शब्दों से सम्बोधित करने लगे थे। इन शब्दों का अर्थ क्रमश: असत्य का खण्डन और भ्रान्तिजाल को मिटाने वाला तथा खूँटे के समान अपने निश्चय पर अडिग रहकर विपक्षी को पराभूत करने वाला होता है। दयानन्द के ये दोनों गुण हमें उनके भावी जीवन में सर्वत्र ही फलीभूत हुए दिखाई पड़ते हैं। पाठशाला और पाठप्रसङ्ग के अतिरिक्त विरजानन्द का अपने अन्य विद्यार्थियों से कोई सम्बन्ध न था, पर दयानन्द तो इस विषय में अपने आचार्य के स्नेहपात्र ही थे, इसलिए उनका परस्पर एकान्त में अनेक विषयों पर बहुत विचार-विमर्श होता था। इस विचार-विमर्श के विषय अनुमानत: भारतवर्ष की वर्तमान दुरवस्था और उससे उसे बाहर निकालने के उपाय ही रहा करते होंगे। इसी वार्तालाप के दौरान स्वामी विरजानन्द को यह विश्वास हो गया था कि उनका यह शिष्य दयानन्द ही उनकी चिरसाध को भविष्य में पूर्ण करेगा। दयानन्द भी अपने इस अन्तिम आचार्य से पूर्णतया सन्तुष्ट थे।

जब दयानन्द का मथुरा की पाठशाला में स्वामी विरजानन्द से ढाई वर्षीय अध्ययनकाल समाप्त हुआ तो उनके वहाँ से प्रस्थान करने की बेला भी आ उपस्थित हो गई। इस अवसर पर दयानन्द जैसा पराश्रित संन्यासी अपने आचार्य को क्या गुरुदक्षिणा दे सकता था? स्वामी विरजानन्द जी को लौंगे बहुत प्रिय थीं, अत: वे ही कहीं से किसी प्रकार आधा सेर (आधे किलो से कुछ कम) जुटाकर उन्हें अपने गुरु स्वामी विरजाननद की सेवा में दयानन्द ने भेंट कर दीं! इसका चित्रण हमारे सम्पर्क में आए स्वामी हौलस मस्करी ने अपनी एक कविता में इस प्रकार किया है-

कर प्राप्त सभी निगमागम को, उर भूरि भरी गुरु-भक्ति यती के।
नित त्याग रहे दुरितों को सभी, भरते रहे भाव सुभव्य कृती के।।
तन-तप्त लिए प्रतिभा कलधौत, सुधीर बने ध्रुव-धाम धृती के।
मन 'हौलस' मुग्ध लखा गुरु-भेंट, लवङ्ग लसा कर-पात्र व्रती के।।

स्वामी विरजानन्द ने इस अवसर पर अपने प्रिय शिष्य को सम्बोधित करते हुए कहा-'सौम्य! मैं तुमसे किसी प्रकार की धन की दक्षिणा नहीं चाहता हूँ। मैं तुमसे तूम्हारे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ। तुम प्रतिज्ञा करो कि जितने दिन जीवित रहोगे उतने दिन आर्यावर्त्त में आर्ष ग्रन्थों की महिमा को स्थापित करोगे, अनार्ष ग्रन्थों का खण्डन करोगे और भारत में वैदिक धर्म की स्थापना में अपने प्राण तक अर्पण कर दोगे।'

दयानन्द ने इसके उत्तर में केवल एक ही शब्द कहा- 'तथाऽस्तु।' यह कहकर उन्होंने अपने गुरु विरजानन्द के चरणों में प्रणत होकर मथुरा से आगरा के लिए प्रस्थान किया।

**मथुरा से अगरा**- स्वामी दयानन्द के पास श्रीमद्भगवद्गीता और विष्णु सहस्रनाम की दो पुस्तकें थीं। इन्हें लक्ष्मीनारयण मन्दिर के एक पुजारी को देकर और अपनी ओढ़ने की रजाई को भी गर्मी आ जाने के कारण वहीं अपनी रहने की कोठरी में ही छोड़कर वे वैशाख संवत् १९२० वि० तदनुसार अप्रैल, १८६३ ई० में दो वर्ष छ: मास तक मथुरा में रहकर और वहाँ

स्वामी विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त करके मन्दिर के दूसरे पुजारी घासीराम के साथ आगरा के लिए पैदल ही चल पड़े। आगरा पहुँचकर ये लोग बालूगंज में यमुनातट पर बने भैरव मन्दिर के समीप सेठ गुल्लामल के बाग में ठहर गए। इस बाग को सेठ रूपचन्द का बाग भी कहते थे। सेठ रूपचन्द गुल्लामल के पिता थे। यह बाग साधु-संन्यासियों की सेवा के लिए ही बनाया गया था इसलिए कोई भी साधु-संन्यासी वहाँ आकर आश्रय ले सकता था। आने वाले साधु-संन्यासियों की सेवा के लिए बाग में एक ब्रह्मचारी और एक माली रहा करता था और उनके ठहरने के लिए वहाँ कुछ कोठरियाँ भी बनी हुई थीं।

उस समय आगरा में डाक विभाग के अधीक्षक पं० सुन्दरलाल जी थे जो एक धार्मिक और जिज्ञासु प्रवृत्ति के सज्जन पुरुष थे। डाक विभाग में ही दो अन्य पुरुष पं० बालमुकुन्द और दयाराम भी कर्मचारी थे। ये तीनों अपने कार्यालयोत्तर समय में गुल्लामल के इसी बाग में आगत साधु-संन्यासियों का सत्सङ्ग लाभ करने के लिए आया-जाया करते थे। पं० सुन्दरलाल को इस प्रकार इस बाग में स्वामी दयानन्द से सम्पर्क और सान्निध्य प्राप्त हो गया। पं० सुन्दरलाल को धार्मिक विषयों पर बातचीत करते हुए स्वामी दयानन्द से बाद में इतनी घनिष्ठता और आत्मीयता हो गई थी कि वे प्रतिदिन ही सायंकाल उनका सान्निध्य और सत्सङ्ग प्राप्त करने के लिए इस बाग में आने लगे थे। ऐसे में ही एक दिन स्वामी दयानन्द ने पं० सुन्दरलाल से कहा कि 'इस प्रकार का सम्मिलन दोनों के लिए कोई विशेष लाभकर नहीं है। कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे हम सबको ही कुछ लाभ हो।' यह कहकर स्वामी दयाननद ने पं० सुन्दरलाल से पुन: कहा कि 'अध्ययन समाप्ति के बाद जब मैंने अपने आचार्य स्वामी विरजानन्द से मथुरा से विदा ली थी तब मैंने उन्हें गुरुदक्षिणा में अपना सम्पूर्ण जीवनदान देते हुए यह व्रत लिया था कि 'मैं अपने शेष जीवन में वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा करूँगा और भारतवर्ष से अज्ञानान्धकार को मिटाऊँगा।' स्वामी दयानन्द से यह बात सुनकर पं० सुन्दरलाल ने उनसे अष्टाध्यायी और गीता पढ़ना आरम्भ कर दिया और उसके चार अध्ययाय पढ़ भी लिए। डाक विभाग के इन तीन पुरुषों का दयानन्द से संसर्ग इतना प्रीतियुक्त और आकर्षक हो गया था कि वे अपने कार्यालिय से लौटकर घरों में हाथ-मुख धोकर सीधे बाग में ही पहुँच जाते थे और घण्टों बाग में रहकर स्वामी दयानन्द से धार्मिक विषयों पर चर्चा करते और व्याकरण पढ़ते रहते थे।

मथुरा से स्वामी दयानन्द के साथ आया हुआ घासीरम १०-१२ दिन ही आगरा में रहकर वापस मथुरा लौट गया था। ९-१० मास बाद वह पुन: एक बार स्वामी जी के दर्शन करने के लिए आगरा आया था। आगे कार्तिक संवत् १९२४ वि० में तो उसकी मृत्यु ही हो गई थी। स्वामी दयानन्द के सत्सङ्ग से वह भी मूर्तिपूजा से हार्दिक घृणा करने लगा था।

दयानन्द के जीवनी-गवेषकों ने पं० बालमुकुन्द से सुना था कि स्वामी दयानन्द ने पं० सुन्दरलाल को उसी शिवलिङ्ग की पूजा (जिसे उन्होंने अपनी १४ वर्ष की अल्पायु में ही छोड़ दिया था) करने और दुर्गाष्टक का पाठ करने का उपदेश दिया था! परन्तु पं० सुन्दरलाल के पुत्र से पूछने पर उसने उन्हें कहा था कि 'मैं यह तो नहीं कह सकता कि स्वामी जी की शिक्षा के अनुसार ही पिताजी शिवलिङ्ग की पूजा किया करते थे, परन्तु मैं यह कह सकता हूँ कि वह पार्थिव लिङ्ग की पूजा स्वामी दयानन्द से भेंट के पहले से ही करते आ रहे थे और स्वामीजी इस बात को जानते थे।'

आगरा में स्वामी दयानन्द पं० सुन्दरलाल से इतनी प्रीति करने लगे थे कि जब वे वहाँ से चलने लगे तो उन्होंने अपनी रुद्राक्ष की माला गले से उतारकर उन्हें ही पहरा दी थी।इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द ने पं० सुन्दरलाल को कुछ योग की क्रियाएँ भी सिखाई थीं। इनके अभ्यास से उनकी मन्द हो गई नेत्र-ज्योति और शिर: पीड़ा का उपचार हो गया था। स्वयं दयानन्द इस बाग में रहते हुए अठारह-अठारह घण्टे आसन लगाकर ध्यानावस्थित रहते और अनार्ष ग्रन्थों की निकृष्टता का प्रतिपादन करते रहते थे। इस समय तक वे भागवत खण्डन करने के अलावा किसी और प्रकार के खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त नहीं हुए थे। आगरा नगर के भीतर वे बहुत कम ही जाते थे। अलबत्ता कभी-कभी वे पं० सुन्दरलाल के घर पर भोजन

करने अवश्य चले जाते थे।

स्वामी दयानन्द से शास्त्रीय विचार-विमर्श करने के लिए नगर के अन्य पण्डितगण भी प्राय: बाग में आते रहते थे। स्वामी दयानन्द उनके समक्ष कभी-कभी योगवाशिष्ठ अथवा भगवद्गीता की व्याख्या भी करते थे। उनकी व्याख्या ऐसी अपूर्व और सरल होती थी कि उसे पण्डितों से लेकर साधारण व्यक्ति भी आसानी से समझ जाता था। एक बार उन्होंने एक मास तक आगरा में श्रीमद्भगवद्गीता की कथा की थी।

स्वामी दयानन्द अपने आगरा निवास के समय तक अपने आचार्य स्वामी विरजानन्द के निर्देशानुसार सुधार कार्य में विशेष प्रवृत्त नहीं हो पाए थे, क्योंकि अब तक वे उसकी रूपरेखा ही बनाते हुए तैयारी कर रहे थे। पं० विष्णुलाल मोहनलाल पाण्ड्या ने अगरा में ही उनसे एक बार इस विषय में पूछा था। तब उन्होंने उन्हें यही कहा था कि 'मैं अभी विचार ही कर रहा हूँ। ' इसी दौरान जब एक बार स्वामी दयानन्द आगरा से किसी कार्यवशात् मेरठ गए हुए थे तब वहाँ भी पं० विष्णुलाल मोहनलाल पाण्ड्या की उनसे सूरज-कुण्ड पर अपने वस्त्र धोते हुए भेंट हुई थी। तब दयानन्द ने उनसे अपने गुरु स्वामी विरजानन्द का हालचाल भी पूछा था। उत्तर में पण्ड्या जी ने उन्हें कहा था कि 'दण्डी जी बहुत दु:ख प्रकट कर रहे थे कि उनके किसी शिष्य ने भी यहाँ तक कि आपने भी अभी तक कुछ नहीं किया है। ' इस समय स्वामी दयानन्द ने पण्ड्या जी को कहा था कि 'मैं अभी तक विचार और विचरण ही कर रहा हूँ। ' पण्ड्या जी के पुन: प्रश्न करने पर स्वामी दयानन्द ने उन्हें कहा था कि 'जब तक मैं सम्पूर्ण रूप से वेदों को अत्मसात् नहीं कर लूँगा, तब तक मैं गुरुदेव के आदेश का पूर्णतया अनुपालन नहीं कर पाऊँगा। '

इसलिए आगे चलकर पं० सुन्दरलाल ने दयानन्द के निवेदन पर जयपुर राज्य के पुस्तकालय से ऋग्वेद की एक पुस्तक बुलवाकर उन्हें दे दी थी, जो अपूर्ण ही थी। इस समय तक दयानन्द का मन भी सन्देहदोला में ही झूल रहा था। उनके मन में अनेक प्रकार के प्रश्न, संकल्प-विकल्प और शङ्काएँ उठा करती थीं जिनका समाधान करने के लिए उन्हें बार-बार आगरा से दण्डी जी के पास मथुरा तक जाना पड़ता था। इसी सन्दर्भ में वे अपने पुणे-प्रवचनों में कहते हैं कि "अध्ययन समाप्त करके मैं आगरा में दो वर्ष रहा, परन्तु बरोबर पत्र द्वारा अथवा प्रत्यक्ष भेंट करके मैं स्वामी जी से शङ्काओं के समाधान कर लेता था [४२६]।

आगरा में एक दिन स्वामी कैलाश पर्वत, जो कि राजसी ठाट-बाट से रहते थे और जिनकी हुण्डी भी चला करती थी बाग में आकर उतरे। तब उन्होंने वहाँ श्रोताओं के सम्मुख गीता के श्लोक (१८/६६)- 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' की व्याख्या की, परन्तु उनके अर्थों से श्रोताओं की सन्तुष्टि नहीं हुई। तब लोगों ने स्वामी दयानन्द से प्रार्थना की कि वे भी इस श्लोक का अर्थ समझाने की कृपा करें। इस पर स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ करते हुए 'सर्वधर्मान्' में जो समास है, उसमें 'अकार' का लोप हो जाने से उसका अर्थ 'सब अधर्मों को छोड़कर'- ऐसा किया जिससे सभी श्रोता सन्तुष्ट हो गए। इस पर स्वामी कैलाश पर्वत को भी तब सभी श्रोताओं के सम्मुख यह कहना पड़ा था कि स्वामी दयानन्द की विद्या बहुत अच्छी है और ये इसको अन्यों को भी पढ़ा सकते हैं। उस समय स्वामी दयानन्द कृष्ण भागवत् का खण्डन करते और महाभारत विचारा करते थे। लोई और धुस्सा ओढ़ते, अचरा बाँधते और जूते पहनते थे। रजाई के अतिरिक्त कोई अन्य सिला हुआ वस्त्र नहीं उपयोग करते थे। इस समय वे प्रात:-सायं प्रतिदिन समाधि भी लगाया करते थे।

---

४२६- आगरा से मथुरा १८ कोस है और स्वामी दयानन्द को इतनी दूरी तय करने में मात्र तीन घण्टे लगते थे। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने ४ वर्ष तक मथुरा और आगरा में रहकर स्वामी विरजानन्द जी से अध्ययन किया था। ग्वालियर में रहकर भी पत्राचार द्वारा उन्होंने ऐसा ही किया था।

एक दिन कुछ लोगों ने स्वामी दयानन्द से ग्रन्थ-वाचन का अनुरोध किया तब उन्होंने उनके अनुरोध पर विद्यारण्य स्वामी कृत पञ्चदशी का वाचन आरम्भ किया। उसको वाँचते हुए जब एक स्थान पर उनके पढ़ने में यह बात आई कि कभी-कभी परमात्मा को भी भ्रम हो जाया करता है तो उन्होंने उसे मनुष्यकृत ग्रन्थ मानकर तत्काल ही उसका वाचन रोक दिया। आगे वे गीता की कथा अवश्य करते रहे थे। यह कथा आगरा में आश्विन मास से दीपावली के एक मास बाद तक (अर्थात् नवम्बर-दिसम्बर, १८६३ ई० में) में हुई थी।

आगरा में एक बार स्वामी दयानन्द के पैरों में फुँसियाँ निकल आईं। तब उन्होंने कहा कि मेरे उदर में कुछ विकार आ गया है। अत: वे तीन-चार मनुष्यों को अपने साथ लेकर यमुना पर न्योली क्रिया करने के लिए पहुँच गएऔर वहाँ जल में पैठ कर तीन बार मलद्वार से जल खींचा और बाहर आकर नाभिचक्र घुमाकर उसे बाहर निकाल दिया। इससे उनका उदर शुद्ध हो गया और वे निर्मल हो गए। पुन: अपने डेरे पर आकर दाल-भात खाया और अपने साथियों से कहा कि हमने यह क्रिया अपने नर्मदा-भ्रमण के समय एक कनफटे योगी से सीखी थी। इन क्रियाओं के कारण उनके मस्तिक पर शीत का कुछ प्रभाव हो गया था। इसके निवारणार्थ ही वे कभी-कभी अभ्रक भस्म लिया करते थे। अभ्रक भस्म बनाने की यह विधि उन्होंने आगरा के पं० सुन्दरलाल को भी बताई थी।

स्वामी दयानन्द के उपदेश से सेठ रूपलाल जी ने सन्ध्या की एक पुस्तक तीस हजार की संख्या में छपवाई थी जिसके अन्त में लक्ष्मीसूक्त था। इस पुस्तक के प्रकाशन पर उनका १,५०० रुपया व्यय हुआ था। विक्रयार्थ पुस्तक का मूल्य एक आना (रुपये का सोलहवाँ भाग अर्थात् अब के सवा छ: पैसे) रखा गया था जो लागत मूल्य से २५ प्रतिशत ही अधिक था।[४२७] यह पुस्तक सन्ध्या की वैसी ही थी जैसी सन्ध्या तब स्वामी दयानन्द स्वयं किया करते थे। इसमें विनियोग न होने से पण्डितों ने कुछ आपत्ति भी की थी परन्तु सभी ने उसे क्रय कर लिया और उसके अनुसार ही वे सन्ध्या करने लगे थे।

अपने आगरा निवास में स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा का भी कछ-कुछ खण्डन करने लगे थे जिसका संस्कार लेकर ही पूर्व में उन्होंने अपना गृह-त्याग किया था। मूर्तिपूजा विषयक स्वामी दयानन्द के तर्कों से सुनकर पण्डित चेतूलाल और कालीदास ने यह जान लिया था कि मूर्तिपूजा अवैदिक है, पर वे गृहस्थाश्रमी होने के कारण साहसपूर्वक सर्वसाधारण के मध्य इसकी सार्वजनिक धोषणा नहीं कर सकते थे। इन दिनों स्वामी दयानन्द भागवत् खण्डन भी करने लगे थे।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने डेढ़ वर्ष तक आगरा में रहकर और अपने को विस्तृत कार्यक्षेत्र में उतारने के लिए मनसा-वाचा-कर्मणा तैयार करके ग्वालियर में भागवत् खण्डन का एक अवसर प्राप्त होने का समाचार पाकर आश्विन संवत् १९२१ वि० तदनुसार अक्टूबर, १८६४ ई० में धौलपुर की ओर प्रस्थान किया जहाँ उन्हें ऋग्वेद की पूरी पोथी भी मिल जाने की आशा थी। प्रस्थान करने से पूर्व अपने योग शिक्षार्थियों से उन्होंने योग की वे क्रियाएँ करनी छुड़वा दी थीं जिनसे उनके वहाँ से चले जाने पर उन्हें हानि होने की सम्भावना थी।

---

४२७- स्वामी दयानन्द द्वारा रचित सन्ध्या की यह प्रथम पुस्तक अब कहीं उपलबध हुई नहीं बताई जा रही है। पर मैंने इसको आडियार लाइब्रेरी, मद्रास (चेन्नई) में स्वामी दयानन्द के नाम से ही रचित और बाद में रचित उनके मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशक राजा जयकृष्णदास के द्वारा प्रकाशित के रूप में जून-जुलाई, १९८७ ई० में तब देखा था जब मैं अपनी कनिष्ठ पुत्री की नेत्र-चिकित्सार्थ सपत्नीक वहाँ गया था। इस पुस्तक के अन्त में लक्ष्मीसूक्त भी था और अङ्ग स्पर्श अथवा मार्जन के सन्दर्भ में शिश्न का भी उल्लेख था। अत: मैं उसकी छाया प्रति तब वहाँ से नहीं लाया था, यद्यपि अन्य अनेक प्रकाशनों की छाया प्रतियाँ मैं वहाँ से लेकर आया था, जो अब तक मेरे संग्रह में हैं। —*आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

अध्याय- आठ

# दिवाकर की विस्तृत गगन (कार्यक्षेत्र) में तपन

## [ कार्तिक (शुक्ल पक्ष) १९२१ से भाद्रपद (शुक्ल पक्ष) सं० १९३७ वि० पर्यन्त ]

[दयानन्द-दिवाकर के इस अध्याय में हम स्वामी दयानन्द सरस्वती के अपने कार्यशील जीवन में की गई उनकी देश भर की समस्त यात्राओं और इनके दौरान उनके द्वारा किए किए कार्यों का कुछ विवरण (उनके ग्रन्थ लेखन सहित) उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत करेंगे, जिनके विस्तृत विवरण उनके अनेक समकालीन जीवनी लेखकों- पं० लेखराम आर्य मुसाफिर, बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय (पं० घासीराम एम० ए० सहित) और स्वामी सत्यानन्दादि ने पहले ही लिख रखे हैं, जो सर्वज्ञात हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के आरम्भिक अज्ञात जीवन को उद्‌घाटित करना ही हमारा इस ग्रन्थ लेखन का मुख्य प्रयोजन था, सो वह तो पिछले अध्याय तक ही पूर्ण हो चुका है।

-***आदित्यमुनि वानप्रस्थ*** ]

हम जानते हैं कि स्वामी दयानन्द का जन्म भारतवर्ष के पश्चिम में स्थित गुजरात प्रान्त के एक कस्बे टङ्कारा में २० सितम्बर, १८२५ ई० (मङ्गलवार) को ब्राह्ममुहूर्त में ३:३० बजे हुआ था और उनका देहावसान टङ्कारा के पूर्व में स्थित अजमेर नगर में ३० अक्टूबर, १८८३ ई० (मङ्गलवार) को सायंकाल लगभग ६ बजे हुआ था। इसलिए उनका सारा जीवन एक दिवाकर के समान ही रहा था जो जिस दिशा में प्रातःकाल उदित होता है, उससे ठीक विपरीत दिशा में सायंकाल को अस्त भी हो जाता है। इसीलिए हमने अपने इस ग्रन्थ का नामकरण *'दयानन्द-दिवाकर'* किया है जिसका प्रथम प्रयोग उनके जीवनी लेखक बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने भी अपने ग्रन्थ के आरम्भिक चार अध्यायों में किया था। इस प्रकार स्वामी दयानन्द कुल मिलाकर ५८ वर्ष और ४१ दिन (अर्थात् कुल २१,२२५ दिन) जीवित रहे। इसका दो-तिहाई समय अर्थात् १४,१५० दिन अथवा ३८ वर्ष और २७० दिन होता है जो ३८ वर्ष और ९ महीनों के समतुल्य है। इतनी समयावधि उनके जन्म दिनाङ्क २० सितम्बर, १८२५ ई० में जोड़ देने से १८६४ ई० के जून मास का २० दिनाङ्क आ जाता है। इससे यह कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द अपने जीवन का लगभग दो-तिहाई भाग बिताकर ही अपने वास्तविक कार्यक्षेत्र में उतरे थे।

### आगरा से धौलपुर पुनः ग्वालियर (१८६४-६५ ई०)

स्वामी दयानन्द कार्तिक कृष्ण पक्ष (पूर्णिमान्त मासयुक्त) संवत् १९२१ वि० तदनुसार अक्टूबर, १८६४ ई० के उत्तरार्ध में वेद की पुस्तक की खोज में आगरा से धौलपुर पधारे और वहाँ १५ दिन तक निवास करके ग्वालियर आ गए जहाँ वे पहले महारुद्र मोटेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरे। इसी समय २ नवम्बर (कार्तिक शुक्ल ३, बुधवार) को ग्वालियर के महाराजा जयाजीराव सिन्धिया ने कतिपय ज्योतिषियों को बुलाकर आगामी माघ सुदी नवमी, शनिवार तदनुसार ४ फरवरी, १८६५ ई० का शुभ मुहूर्त श्रीमद्भागवत सप्ताह हेतु निकलवा लिया था।

### ग्वालियर से आबू पर्वत और वहाँ से पुनः ग्वालियर वापसी (१८६४-६५ ई०)

अतः स्वामी जी भागवत कथा के आरम्भ होने में पर्याप्त समय शेष होना देखकर ग्वालियर से अपनी पूर्व योगभूमि आबू पर्वत पर चले गए और वहाँ से वे आगे २४ जनवरी , १८६५ ई० (माघ कृष्ण १२) को ही चार ब्रह्मचारियों के साथ

वापस ग्वालियर लौटे और वहाँ रामकुई पर गङ्गा मन्दिर में विराजमान हुए। ग्वालियर आकर स्वामी दयानन्द ने भागवत सप्ताह हेतु आए हुए पण्डितों में मिलने और उनसे परस्पर संवाद करने की अपनी इच्छा प्रकट की। इस पर महाराजा जयाजी राव सिन्धिया ने स्वामी दयानन्द से इस भागवत कथा का फल जानना चाहा तो स्वामी दयानन्द ने हँसकर उन्हें कह दिया कि 'दु:ख उठाने और क्लेश के अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं है, चाहो तो कराके देख लो।'

सो जब आगे ४ फरवरी को कथा आरम्भ हुई तो उसी दिन महारानी का पाँच मास का गर्भ गिर गया। अगले दिन ५ फरवरी को रहमतपुर के हरिबाबा की कथा हुई। इसी दिन रावजी शास्त्री के घर में मत्यु हो गई। अत: उन्हें यह कथा छोड़कर अपने घर जाना पड़ा। तीसरे दिन ६ फरवरी को कथावाचक गोविन्द बाबा के कथा-पण्डाल के सामने ही किसी ने साँड़ (बैल) को तलवार मार दी जिससे बड़ा उपद्रव हुआ। ७ फरवरी को त्र्यम्बक बाबा की कथा हुई। ८ फरवरी को धौली बाबा की कथा हुई। ९ फरवरी को बुधकर बाबा की कथा हुई। १० फरवरी को पूर्णमासी के दिन शुक्रवार को अभय महाराज की कथा हुई। ११ फरवरी को इस कथा की समाप्ति होकर सबकी विदाई का दिन था। अत: उस दिन महाराजा ने अपने छोटे राजकुमार को सबसे सौ वर्ष सुखपूर्वक जीने का आशीर्वाद दिलवाया। परन्तु इसके १० दिन बाद ही ग्वालियर नगर में हैजा फैल गया जिससे आगे चलकर ३० अप्रैल को ही उसी छोटे राजकुमार की विशूचिका से मृत्यु हो गई जिसे कुछ समय पहले ही लोगों ने सौ वर्ष तक जीने का आशीर्वाद दिया था। इस समय स्वामी दयानन्द ग्वालियर में रहते हुए शास्त्रार्थ के लिए बुलावे पर बुलावे भेजते रहे परन्तु उनके सामने शास्त्रार्थ करने के लिए कोई भी नहीं आया। इस सम्बन्ध में बाद में स्वामी दयानन्द ने ४ अगस्त, १८७५ ई० को पूना में दिए गए अपने प्रवचन में कहा था कि "वहाँ से मैं ग्वालियर गया और वहाँ थोड़ा-थोड़ा वैष्णव मत का खण्डन करना आरम्भ किया। वहाँ से भी स्वामी विरजानन्द जी को पत्र भेजता रहता था। वहाँ एक माधव 'अनुमताचार्य' नाम का था। वह कारकून (लिपिक बाबू) के वेश में मेरा वाद आदि सुनने बैठा करता था। एक आध बार मेरे मुख से कोई अशुद्ध शब्द निकला तो उसने वह [अशुद्धि] पकड़ ली। मैंने अनेक बार उससे 'आप कौन हैं?' पूछा, परन्तु 'मैं यों ही एक लिपिक हूँ, सुनते-सुनते मुझे कुछ बोध हुआ है' ऐसा उसने उत्तर दिया। एक दिन 'वैष्णव खड़ी रेखा लगाते हैं', इस विषय में बातचीत में मैंने कहा कि 'एक खड़ी रेखा लगाने से यदि स्वर्ग मिलता है तो सारे मुँह को काला करने से स्वर्ग से भी अधिक कोई पद मिलता होगा?' ऐसा सुनते ही उसे बहुत क्रोध आया और वह उठकर चला गया। तत्पश्चात् मुझे जानकारी प्राप्त करने पर 'यह अनुमताचार्य [४२८] है', ऐसा ज्ञात हुआ।"

रामकुई पर स्नानार्थ लोगों के समूह का रोना-पीटना और हायतोबा मची देखकर स्वामी दयानन्द वहाँ से चलकर बाबा साहब की बारहदरी पर आकर विराजमान हो गए। वे यहाँ वैशाख शुक्ल १२ संवत् १९२२ वि० तदनुसार ७ मई, १८६५ ई०(रविवार) तक रहे।

ग्वालियर की अवस्थिति के समय स्वामी दयानन्द दुर्गा सप्तशती को मानते थे। यहाँ के एक पुजारी को उन्होंने कूर्म पुराण और लिङ्ग पुराण पढ़ने का उपदेश भी दिया था।

## ग्वालियर से करौली (१८६५ ई०)

ग्वालियर से स्वामी दयानन्द सरस्वती मई, १८६५ ई० के मध्य (वैशाख मास के शुक्ल पक्ष के अन्त) में करौली पहुँचे और वहाँ भद्रावती नदी के तट पर स्थित गोपाल सिंह के बाग में ठहरे। इस समय उनके साथ दो साधु और दो अन्य मनुष्य थे। करौली के महाराजा मदनपाल ने स्वामी दयानन्द के आगमन का समाचार पाकर उनके भोजनादि का उचित प्रबन्ध कर दिया। यहाँ के दरबार में जो राजपण्डित थे उनमें से एक ने स्वामी दयानन्द की उपस्थिति में ही 'करिष्ये' के स्थान पर

४२८- **अनुमताचार्य**- इनका शुद्ध नाम हनुमन्ताचार्य था।

'करिस्ये' अशुद्ध उच्चारण कर दिया तो इसे सुनकर स्वामी दयानन्द उस धर्म-विषयक सभा से यह कहकर उठकर चले आए कि यह पण्डित मूर्ख है और आपकी सभा मूर्ख-सभा है, फिर इसमें शास्त्रार्थ ही कौन करेगा? इसी सभा में जब एक पण्डित ने अपने राजा साहब को 'अन्नदाता' कहा तो स्वामी दयानन्द ने उसे कहा कि तो फिर परमेश्वर क्या है?

करौली में एक कबीरपन्थी साधु भी रहता था। उसे इङ्गित करके स्वामी दयानन्द ने अपने पूना-प्रवचन में कहा था कि "ग्वालियर से मैं 'करौली' गया। वहाँ एक कबीर पन्थी मिला। उसने 'एक-वीर' इसका 'ये कबीर' ऐसा अर्थ किया था और एक कबीरोपनिषद् भी है, ऐसा मुझसे कहा।"

इस प्रकार कई मास तक करौली में ठहरकर स्वामी दयानन्द ने वहाँ वेदाभ्यास किया।

## करौली से खुशहालगढ़ (१८६५ ई०)

करौली से स्वामी दयानन्द खुशहालगढ़ आए और एक-दो दिन वहाँ ठहरे। यहाँ के ब्राह्मणों ने इस समय उनका यथोचित सत्कार भी किया था परन्तु उनसे उन्होंने अपनी शास्त्रानभिज्ञता भी प्रकट कर दी थी जिससे यहाँ उनकी उनसे किसी प्रकार की शास्त्रचर्चा नहीं हो सकी थी।

## खुशहालगढ़ से जयपुर (१८६५-६६ ई०)

खुशहालगढ़ से प्रस्थान कर आश्विन संवत् १९२२ वि० (सितम्बर,१८६५) में स्वामी दयानन्द जयपुर पधारे। जयपुर पहुँचकर वे पहले भवानीराम बोहरे के बाग में उतरे। फिर वहाँ से वे धूलेश्वर महादेव के मन्दिर में चले गए। कुछ समय बाद वे यहाँ से भी माली रामपुण्य के बाग में रहने के लिए चले गए। यहाँ उनके रहते हुए ही गोपालानन्द परमहंस ने उन्हें यह प्रश्न लिखकर भेजा था कि 'ईश्वर और जीव स्वतन्त्र हैं वा परतन्त्र?' इस प्रश्न का स्वामी दयानन्द ने उनको जो उत्तर लिखकर भेजा उसे पढ़कर गोपालानन्द परमहंस इतने अधिक प्रसन्न हुए थे कि वे अपना निवास-स्थान छोड़कर स्वामी दयानन्द के पास ही आकर रहने लगे। इस समय स्वामी दयानन्द के पास तीन ब्राह्मण (सच्चिदानन्द, चेतनराम और ब्रह्मचारी नामधारी) थे। ये तीनों कुछ पढ़े-लिखे थे, परन्तु स्वामी जी के सेवक के रूप में ही उनके पास रह रहे थे। इनमें से सच्चिदानन्द को स्वामी दयानन्द ने सूर्योपासना (सावित्री=गायत्री मन्त्र) सिखा रखी थी, जो वह प्रतिदिन किया करता था।

एक दिन श्रवणनाथ जी के शिष्य लक्ष्मणनाथ जी (जिन्हें महाराजा रामसिंह जोधपुर से लाए थे) के साथ स्वामी दयानन्द का ब्रजानन्द के मन्दिर में किसी विषय पर सम्भाषण हुआ। लक्ष्मणनाथ जी ने स्वामी दयानन्द जी की शास्त्र व्युत्पन्नता को देखकर उनसे निवेदन किया कि कृपा करके आप मेरे इसी मन्दिर में रहिए और सम्प्रदायी लोगों से हमको शास्त्रार्थ में सहायता कीजिए। इस पर स्वामी दयानन्द ने उन्हें उत्तर दिया कि यदि शास्त्रार्थ में मुझको भी मिलाया जाएगा तो मैं अपनी सम्मति के अनुकूल ही कथन करूँगा, यहाँ रहने मात्र पर यह बात निर्भर नहीं होगी। यह कहकर स्वामी जी अपने आवास पर वापस लौट आए।

जयपुर की संस्कृत पाठशला के पास स्वामी दयानन्द ने अपने १५ प्रश्न उत्तरार्थ लिख भेजे थे, परन्तु वहाँ के पण्डितों ने उनका कुछ भी उत्तर न देकर उन्हें दुर्वचन ही लिख भेजे थे। इन पण्डितों में हरिश्चन्द्र दिल्ली वाला भी सम्मिलित था। स्वामी दयानन्द ने पण्डितों के इस दुर्वचन पत्र में भी आठ प्रकार के दोष दिखाकर उन्हें फिर एक पत्र भेजा, परन्तु पण्डितों ने फिर भी उन्हें कोई उत्तर न दिया। इन १५ प्रश्नों में से पं० शिवदत्त को बाद तक जो दो प्रश्न स्मरण रहे, वे थे- (१) कल्म च किं भवति? (२) येन कर्मणा सर्वे धातव: सकर्मका: किं तत्कर्म?

पण्डितों ने पहले प्रश्न का उत्तर देने का कुछ प्रयत्न किया, परन्तु स्वामी दयानन्द ने तुरन्त ही उनके कथन का खण्डन कर दिया। इस पर पण्डितों ने कहा कि यदि हमारी व्याख्या ठीक नहीं है, तो आप ही कर दीजिए। इधर स्वामी जी की ओर से भी कहाँ देर थी? उन्होंने उसकी सही-सही व्याख्या कर दी। इस पर एक मैथिल पण्डित ओझा ने जो पण्डितों में प्रधान था, स्वामी दयानन्द से पूछा कि आपका यह अर्थ कहाँ लिखा हुआ है? तब स्वामी दयानन्द ने उसे बताया कि महाभाष्य में। इस पर उस ओझा पण्डित ने कहा कि महाभाष्य की तो व्याकरण में गणना ही नहीं है। उसकी यह बात सुनकर स्वामी दयानन्द को क्रोध आ गया और उससे तत्काल उन्होंने कहा कि वह ऐसा लिखकर दे देवे। इसे सुनकर पण्डितगण बड़े लज्जित हुए और स्वामी दयानन्द भी वहाँ से यह कहकर उठकर चले आए कि जिस सभा में महाभाष्य की व्याकरण में गणना ही न हो, उस मूर्खसभा में किसी विद्वान् का ठहरना उचित नहीं है।

जयपुर के पण्डितों की इस दुर्दशा को सुनकर वहाँ के ओसवाल वैश्यों के गुरु जतीजी ने स्वामी दयानन्द से वार्तालाप करने की अपनी इच्छा प्रकट की जिसे स्वामी दयानन्द ने भी तत्काल स्वीकार कर लिया, परन्तु बाद में जतीजी ही इससे अपनी ओसवालों में अप्रतिष्ठा हो जाने की आशङ्का से पीछे हट गए। स्वामी दयानन्द ने वही १५ प्रश्न जतीजी को भी लिख भेजे पर उनका उनकी ओर से भी कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ था। उल्टे उन्होंने ही जैन मत विषयक ८ प्रश्न स्वामी जी से पूछ लिए थे जिनका उत्तर स्वामी जी ने उन्हें अपनी ओर से ८ प्रतिप्रश्न पूछकर दे दिया था। बाद में तो जतीजी मौन ही हो गए।

अचरौली के ठाकुर रणजीतसिंह साधु-संन्यासियों के सत्सङ्ग के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने स्वामी दयानन्द की विद्वता की जयपुर में चर्चा सुनी तो वे उनसे मिलने के लिए आतुर हो उठे। अत: उन्होंने स्वामी जी को अपने यहाँ भोजनार्थ आमन्त्रित किया और इसके लिए उनके पास अपना वाहन भेजा। परन्तु स्वामी जी उस वाहन पर न आकर पैदल ही ठाकुर साहब की हवेली पर पहुँच गए। इस समय स्वामी जी कच्ची रसोई केवल ब्राह्मण के हाथ की बनी हुई ही खाते थे। अत: ठाकुर साहब ने स्वामी जी के लिए पक्की रसोई बनवाई। इस अवसर पर ठाकुर साहब स्वामी जी से सम्भाषण करके उनके भक्त बन गए और उनसे निवेदन किया कि जब तक आप जयपुर में रहें तब तक वे उनके उद्यान में ही ठहरें और उनका आतिथ्य स्वीकार करें। ठाकुर साहब के इस निवेदन को जब स्वामी दयानन्द ने स्वीकार कर लिया, तब ठाकुर साहब ने स्वामी जी के ठहरने के लिए गङ्गापोल दरबाजे पर बदनपुरे में उनके लिए नया स्थान बनवा दिया जहाँ रहते हुए अनेक विद्यार्थी स्वामी दयानन्द जी से पढ़ने के लिए आने लगे। इन विद्यार्थियों को स्वामी जी प्रेमपूर्वक अष्टाध्यायी, महाभाष्य, धातुरूपावली आदि पढ़ाते थे।

स्वामी जी इन दिनों देवी भागवत का मण्डन और कृष्ण भागवत का खण्डन करते थे। शरीर पर भस्म लगाते और रुद्राक्ष पहनते थे। मुख्य शिक्षा मनुस्मृति, भगवद्गीता आदि की करते थे। ठाकुर साहब के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मणसिंह को स्वामी जी ने ही भगवद्गीता पढ़ाई थी और स्वयं ठाकुर साहब उनसे तत्त्वबोध, निराम्बोपनिषद, बृहदारण्यक, छान्दोग्योपनिषद् और देवी भागवत सुना करते थे।

उन दिनों जयपुर में शैव और वैष्णवों में विवाद चल रहा था। महाराजा रामसिंह शैवमत की ओर झुके हुए थे और व्यास बख्शीराम तथा उनके भाई कान्हाजी शैवमत के स्थापन के लिए उनके पास नियत थे। व्यास जी ने स्वामी दयानन्द के पाण्डित्य से प्रभावित होकर उनसे वैष्णवों को परास्त करने के लिए सहायता माँगी और महाराजा से भी स्वामी जी की प्रशंसा की। अचरौल के ठाकुर साहब ने भी महाराजा से स्वामी जी की प्रशंसा की तो महाराजा ने उनसे स्वामी जी से मिलने को कहा। इस पर महाराजा साहब और स्वामी जी की भेंट राजराजेश्वर के मन्दिर में होनी निश्चित हो गई।

अत: स्वामी दयानन्द उस मन्दिर में महाराजा साहब से मिलने पहुँच गए, पर वहाँ पहुँचकर स्वामी जी ने मन्दिर की मूर्ति को नमस्कार न किया। किसी ने व्यास बख्शीराम के कान में यह बात फूँक दी कि यदि तुम स्वामी जी को महाराज से मिलने दोगे तो तुम्हारा रङ्ग महाराज के ऊपर से उतर जाएगा, क्योंकि स्वामी जी बड़े चालाक और विद्वान् हैं। व्यास जी के मन में यह बात घर कर गई और उन्होंने ढोंग रचा और स्वामी जी के मन्दिर में पधारने पर एक चेले से उन्हें कहला दिया कि महाराजा साहब को आज अवकाश नहीं है, अत: उनकी उनसे आज भेंट नहीं हो सकेगी। स्वामी जी को व्यास जी के इस षड्यन्त्र का कुछ भी पता न चला, इसलिए वे वहाँ से वापस चले गए और अगले दिन पुन: मन्दिर में पहुँचे, तब व्यास जी ने स्वामी जी को पुन: कहला भेजा कि महाराजा साहब आज सैर करने के लिए निकल गए हैं। इसके पश्चात् स्वामी जी फिर मन्दिर में महाराजा साहब से मिलने नहीं गए।

जयपुर के प्रसङ्ग में स्वामी दयानन्द अपने पूना के प्रवचनों में कहा था कि "फिर जयपुर में हरिश्चन्द्र नाम के एक बड़े पण्डित थे। वहाँ पहले मैंने वैष्णव मत का खण्डन करके शैव मत की स्थापना की। जयपुर के महाराजा (सवाई) रामराज (रामसिंह), ये भी शैवमत के अनुयायी बन गये। इस कारण शैवमत का प्रसार होने से हजारों रुद्राक्ष की मालाएँ मैंने अपने हाथ से लोगों को दीं (पहनाईं)। वहाँ शैव मत इतना फला-फूला कि हाथी, घोड़े सबके गले में रुद्राक्ष की माला हो गई [अर्थात् पहराई गई]।"

जयपुर में स्वामी दयानन्द की शिक्षा को ठाकुर रणजीत सिंह अचरौल वालों के अतिरिक्त अन्य कई सम्भ्रान्त लोगों ने भी स्वीकार किया था। इन स्वीकार करने वालों में प्रमुख ठाकुर इन्द्रजीतसिंह दूदू वाले थे। इस समय स्वामी जी कृष्ण भागवत का खण्डन और शैवमत का मण्डन करते थे। भस्म और रुद्राक्ष धारण करते थे, परन्तु मूर्तिपूजा का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया था। उनका इस समय जोर केवल वेद पर ही था और वे लोगों को सन्ध्या करने तथा गायत्री मन्त्र के जपने का ही उपदेश करते थे।

## बगरू, दूदू, किशनगढ़, अजमेर, पुष्कर (१८६६ ई०)

लगभग छ: मास तक जयपुर में रहकर स्वामी दयानन्द ने चैत्र वदी २ तदनुसार ३ मार्च, १८६६ ई० (शनिवार) को पुष्कर के लिए प्रस्थान किया। इस समय उनके साथ अचरौल के ठाकुर साहब द्वारा भेजे गए तीन ब्राह्मण और एक सेवक रूपराम था। इन सबके जाने-आने के लिए सबारी का भी प्रबन्ध ठाकुर साहब ने अपने इस आदेश के साथ कर दिया था कि वे सब स्वामी जी को पुष्कर स्नान कराके वापस जयपुर ही ले आवें। मार्ग में स्वामी जी दो दिन [४२९] बगरू, दो दिन [४२९] ठाकुर इन्द्रसिंह के ग्राम दूदू और दो दिन [४२९] ही किशनगढ़ में ठहरे । इस समय किशनगढ़ के राजा पृथ्वीसिंह गद्दी पर विराजमान थे जो वल्लभ सम्प्रदाय के एक विद्या प्रेमी एवं साधु-संन्यासियों की सेवासुश्रूसा करने वाले सज्जन पुरुष थे। उनके यहाँ पहुँचकर स्वामी दयानन्द सुखसागर पर ठहर गए। राजा पृथ्वीसिंह ने इन सबके भोजनादि का सब प्रबन्ध कर दिया था। इसके लिए उन्होंने अपने जिस तिलकधारी ब्राह्मण बिट्ठलदास को उनके पास भेजा था उसे देखकर पहले तो स्वामी दयानन्द ने उसके तिलक का ही खण्डन किया। पुन: वे उसके नाम पर ही उससे भिड़ गए और कहा कि उसके नाम के साथ जुड़ा दास शब्द तो शूद्रत्व का बोधक है तथा बिट्ठल शब्द विष्ठा का अपभ्रंश है और यह वल्लभाचार्य के पुत्र का भी नाम है। इसी प्रकार महाराजा के दूसरे राजपण्डित देवीदत्त से भी उनका वाक्युद्ध हो गया! स्वामी दयानन्द से दो-चार

४२९- विभिन्न जीवनचरित्रों में ठहराव के इन दिनों का विवरण कुछ अलग-अलग दिया गया है, पर हमारे द्वारा दिया गया यह विवरण पं० लेखराम के अनुसार है, क्योंकि स्वामी जी जयपुर से प्रस्थान के दश दिनों के अन्दर ही आगे पुष्कर पहुँच गए थे।

मिनट तर्क-वितर्क करके ये राजपण्डित भी स्वामी दयानन्द जी से परास्त हो गए। बाद में उन्होंने महाराजा से स्वामी दयानन्द की भरपेट निन्दा की और कहा कि ये स्वामी तो भागवत का खण्डन करता है और वैष्णवों का परम शत्रु है। महाराजा पृथ्वीसिंह इस प्रकार की बातें सुनकर स्वामी दयानन्द से चिढ़ गए और उन्हें आज्ञा दी कि वे तुरन्त ही किशनगढ़ छोड़कर चले जावें। परन्तु स्वामी जी ने महाराजा की इस आज्ञा पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया अपितु कहा कि उन्हें अपने स्थान से एक गज दूर भी किसी में हटा देने का सामर्थ्य नहीं है। इस प्रकार वे किशनगढ़ में पूर्ववत दो दिन [४२९] ही रहे।

किशनगढ़ से स्वामी दयानन्द अजमेर पधारे और वहाँ के दौलतराम के बाग में चार दिन [४२९] ठहरकर चैत्र कृष्ण ११ संवत् १९२२ वि० तदनुसार १३ मार्च, १८६६ ई०, मङ्गलवार को पुष्कर पहुँचे। पुष्कर पहुँचकर स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मा जी के मन्दिर में निवास किया। ब्रह्मा जी की पूजा सारे भारतवर्ष भर में केवल पुष्कर में ही होती है। यहाँ भी स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा और वैष्णव मत का खण्डन आरम्भ कर दिया जिससे ब्राह्मणों में बड़ी खलबली मच गई। उन दिनों पुष्कर में एक दक्षिणी विद्वान् पण्डित व्यङ्कट शास्त्री रहते थे, ब्राह्मण लोग दौड़े-दौड़े उनके पास गए। उनका गुरु एक अघोरी था जो लोगों को पत्थरों से मारता और गाली दिया करता था। वह चिता से मुर्दे निकालकर भी खा जाता था। पर वह संस्कृत का अच्छा पण्डित था। वह पुष्कर के पहाड़ में अगस्त की गुफा में रहता था।

व्यङ्कट शास्त्री निश्चित हो जाने पर भी स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने नहीं आए। तब स्वामी दयानन्द स्वयं ही उनके पास गए। शास्त्री जी ने स्वामी दयानन्द से कहा- 'विद्यावतां भागवते अपरीक्षा'- एक घण्टे तक इस विषय पर उनमें परस्पर संस्कृत में वार्तालाप होता रहा। एक बार शास्त्री जी ने 'देवासुर' शब्द का प्रयोग किया तो स्वामी दयानन्द ने कहा कि 'दैवासुर' होना चाहिए। इस पर शास्त्री जी निरुत्तर हो गए और कहने लगे कि आपकी विद्या बहुत प्रबल है। फिर वह स्वामी जी को अपने अघोरी गुरु के पास ले गए। उससे भी स्वामी जी की बातचीत हुई। तब उसने स्पष्टरूप से यह कह दिया कि स्वामी दयानन्द जी जो कहते हैं, वह पूर्णतया सत्य है। व्यङ्कट शास्त्री बड़े नैयायिक थे। उन्होंने स्वामी जी से कहा कि यदि आपका किसी से शास्त्रार्थ हो तो मुझे बुला लेना। स्वामी जी यहाँ मार्कण्डेय ऋषि की गुफा से विभूति के गोले बुलाकर शरीर पर रमाते और रुद्राक्ष की माला जिसमें बीच-बीच में श्वेत काँच के मनके रहते थे, पहनते थे। उस समय वह उपनिषदों का भी अभ्यास किया करते थे।

एक दिन स्वामी जी ने मन्दिर के पुजारी से कहा कि तुम्हारे पास यह ढाई मन की पत्थर की मूर्ति पारस-पथरी है, साधुओं को खूब लड्डू खिलाया करो और रण्डी-भडुओं से बचते रहो।

स्वामी जी यह भी कहा करते थे कि प्रचलित स्तोत्र जिन आचार्यों के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे उनके बनाए हुए नहीं हैं, अपितु कुछ अन्यों ने ही उन्हें बनाकर उनके नाम से प्रसिद्ध कर दिए हैं। स्वामी जी ने रत्नागिरि नामक साधु से कहा था कि विद्या में ही परिश्रम करो, खीर-पूड़ी खाने की मत सोचो, ये तो तुम्हें विद्या से ही बहुत मिलेंगी। पुष्कर में एक रईस से स्वामी जी ने कहा था कि कण्ठी मत बाँधो। उन्होंने कहा कि यदि संन्यासियों में विद्वान् ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य कोई न हो, तो हम कण्ठी बाँधना छोड़ दें। स्वामी जी ने कहा कि हम क्या करें, यह तो आकाश फट गया है। यदि हमसे कोई पूछे तो हम स्पष्ट कह दें कि विद्वान् ब्राह्मण के सिवाय अन्य किसी को संन्यास ग्रहण करने का अधिकार ही नहीं है।

---

४२९- विभिन्न जीवनचरित्रों में ठहराव के इन दिनों का विवरण कुछ अलग-अलग दिया गया है, पर हमारे द्वारा दिया गया यह विवरण पं० लेखराम के अनुसार है, क्योंकि स्वामी जी जयपुर से प्रस्थान के दश दिनों के अन्दर ही आगे पुष्कर पहुँच गए थे।

एक दिन स्वामी जी ने एक ब्राह्मण की कण्ठी उतार दी, जिससे वह बहुत बिगड़ा और स्वामी जी को लेकर व्यङ्कट शास्त्री के पास गया। शास्त्री जी ने कहा कि स्वामी जी जो कहते हैं, वही सच है। परन्तु इनकी यह बात तब चल सकती है जब कोई राजा इनके पक्ष का अनुयायी हो जाए। अन्य कई लोगों ने भी स्वामी जी की उनकी कण्ठी उतारने की बात कही, जिस पर भी शास्त्री जी ने उनको पूर्वोक्त उत्तर ही दिया।

पुष्कर की रीति के अनुसार पूर्णिमा के दिन लोगों ने अन्य संन्यासियों की भाँति ही स्वामी दयानन्द जी की भी पूजा की।

स्वामी जी रामानुज सम्प्रदाय वालों के इस वाक्य का कि 'तप्ततनुः स्वर्ग गच्छति' का खण्डन किया करते थे और कहते थे कि इसका सत्य अर्थ यह है कि व्रत, तप, नियम से शरीर को तपाने से और मन को विषयों से रोककर जप आदि में लगाने से सुख प्राप्त होता है, यह नहीं कि शरीर को दग्ध करने से स्वर्ग मिलता है।

पुष्कर में एक ब्राह्मण था जो सब संन्यासियों का पुरोहित था। उसने स्वामी जी से निवेदन किया कि वे उसके लिए एक पुरोहिताई का  श्लोक बना दें। इस पर स्वामी जी ने हँसकर उससे कहा कि क्या इस प्रकार वह उनका भी पुरोहित बनना चाहता है?

इस समय स्वामी जी लोगों को अर्द्धपुण्ड्राकार और ऊँचा तिलक लगाने का निषेध करते थे और उनसे सीधा तिलक लगाने को कहते थे।

ब्रह्माजी के मन्दिर का उस समय पुजारी शिवदयालु था। वह जब ब्रह्माजी की पूजा करता तो स्वामी जी उससे कहा करते थे कि क्या तेरा ब्रह्मा मुख से बोलता है और तुझसे बातें करता है? उसके नक्कारा बजाने पर वे बोलते कि चमड़ा कूटने से क्या लाभ? शिवदयालु ने उनसे कहा कि महाराज! मारवाड़ में पाखण्ड बहुत फैल रहा है, आप वहाँ जाकर कुछ सुधार करो। शिवदयालु ने जब स्वामी जी से पूछा कि वह ईश्वर का किस नाम से जप करे तो स्वामी जी ने उसे सच्चिदानन्द का जप करने के लिए कहा था। क्योंकि इस समय वे शिव अथवा विष्णु की पूजा का उपदेश न करके केवल ईश्वरोपासना करने का ही उपदेश देते थे। स्वामी जी ने शिवदयालु की कण्ठी भी उतरवा दी और घाटों पर माँगना भी छुड़वा दिया था। अन्त में उसने पुजारी का कार्य भी छोड़ दिया और वह डाकघर में नौकरी करने लगा।

ब्रह्माजी के मन्दिर का बड़ा पुजारी गोसाई मानपुरी स्वामी जी को दूध पिलाया करता था। एक दिन उसने ब्रह्मा जी को भोग लगाया और भोग का ही दूध लाकर स्वामी जी को पिला दिया। यह बात जब स्वामी जी को विदित हुई तो वे बड़े दुःखी हुए और पुजारी से कहा कि अरे! तूने हमें पत्थर को भोग लगाया हुआ ही दूध पिला दिया! इस प्रकार ब्रह्माजी के लिए पत्थर शब्द का प्रयोग सुनकर पुजारी स्वामी जी पर क्रोधित हुआ और उसने उन्हें दूध पिलाना ही छोड़ दिया।

पं० गङ्गाराम भागवत की कथा किया करता था। स्वामी जी उससे कहा करते थे कि यह भागवत व्यास जी का नहीं अपितु बोपदेव का बनाया हुआ है। इस पर वह पण्डित जी स्वामी जी से चिढ़ गया और उनसे चार दिन तक नहीं मिला। इस पर स्वामी जी स्वयं उसके पास गए और उसका हाथ पकड़ लिया। तब पण्डित जी ने स्वामी जी को पञ्जा लड़ाने के लिए कहा। तब स्वामी जी ने पण्डित जी को कहा कि तुम्हारी पत्नी मुझे उलाहना देगी कि मैंने तुम्हारी उँगलियाँ तोड़ दी हैं। बाद में स्वामी जी ने अपने रसोइए गोविन्द को पण्डित जी से पञ्जा लड़ाने को कहा जिससे उसका पञ्जा आहत हो गया और वह रोटी बनाने के योग्य भी न रहा।

पुष्कर में स्वामी जी ने इतने लोगों की कण्ठियाँ उतरवा दी थीं कि उनसे ब्रह्मा जी के मन्दिर में एक बालिश्त ऊँचा कण्ठियों का ढेर लग गया था।

स्वामी जी पुष्कर में लोगों को शैवमत का उपदेश देते थे और वैष्णव मत का खण्डन करते थे। शास्त्रार्थ में वे जिस वैष्णव को परास्त कर देते थे, उसके गले से तुलसी की माला उतरवाकर तिलक हेतु विभूति वे उसे अपने हाथ से देते थे। स्वामी जी के पुष्कर रहते हुए ही वहाँ अधिक ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत् १९२३ वि० तदनुसार २९ मई, १८६६ ई०को पुष्कर का मेला हुआ जिसमें स्वामी जी ने बहुतों को शैवमत की दीक्षा दी और उनकी तुलसी माला उतरवाकर उन्हें रुद्राक्ष की माला पहराई।

इस प्रकार लगभग ढाई मास तक पुष्कर में रहकर स्वामी दयानन्द पुनः मई मास के अन्त में अजमेर आ गए।

## अजमेर(१८६६ ई०)

अधिक ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया संवत् १९२३ वि० तदनुसार ३१ मई, १८६६ ई०, गुरुवार को स्वामी जी पुष्कर से अजमेर आ गए। अजमेर आकर वे वंशीधर सरिश्तेदार के बाग में ठहरे। उनके साथ इस समय कुल छः व्यक्ति थे जिनके व्यय आदि का सब प्रबन्ध सेठ किशनचन्द जी ने किया था। अजमेर पहुँचकर स्वामी जी ने जोशी रामस्वरूप और पं० शिवनारायण द्वारा नगर के मार्गों पर विज्ञापन लगवाए कि जिस किसी को भी मूर्तिपूजा आदि पर सन्देह हो, वह उनसे आकर शास्त्रार्थ कर ले। पं० वृद्धिचन्द्र व छगनलाल शास्त्री (किशनगढ़ निवासी) उन दिनों अजमेर में ही रहते थे। इन्हीं शास्त्री जी ने स्वामी जी के पास कुछ व्याकरण और महाभाष्य पढ़ा था। अजमेर में रहते हुए स्वामी जी के कुछ लोगों से मात्र प्रश्नोत्तर ही हुए। किसी पौराणिक धर्मावलम्बी से शास्त्रार्थ निश्चित होकर भी नहीं हो सका। अलबत्ता ईसाइयों से स्वामी जी का मित्रतापूर्ण शास्त्रार्थ अवश्य हुआ था। पादरियों की ओर से रेवरेण्ड जे० ग्रे साहब (मिशनरी, प्रेजबिटेरियन मिशन अजमेर), दूसरे पादरी राबिंसन तथा तीसरे शूलब्रेड साहब (पादरी मेरवाड़, व्यावर) थे। प्रथम तीन दिनों तक ईश्वर, जीव और सृष्टिक्रम तथा वेद विषय पर बातचीत होती रही। पादरियों के प्रश्नों के उत्तर स्वामी जी ने भलीभाँति दिए। चौथे दिन ईसा के ईश्वर होने और मरकर जीने तथा मरकर आकाश में चढ़ जाने विषयक कुछ प्रश्न स्वामी जी ने पादरियों से किए। दो-तीन सौ मनुष्य इस धर्मचर्चा में आते रहे। अन्तिम दिन जब पादरी लोग इस विषय का कोई निश्चित समाधान नहीं कर सके तो स्कूल के बच्चे ताली पीटने लगे परन्तु स्वामी जी ने उन्हें रोक दिया। परस्पर के इस शास्त्रार्थ की विधि यह रखी गई थी कि पहले एक पक्ष प्रश्न करे और दूसरा पक्ष उत्तर देवे। पुनः दूसरा पक्ष प्रश्न करे और पहला पक्ष उत्तर देवे। मध्य में कोई पक्ष प्रश्न न करे। इसी प्रकार का क्रम आगे भी चलता रहे। तदनुसार ही पहले दिन पादरी लोगों ने प्रश्न किए और स्वामी जी ने उत्तर दिए। शास्त्रार्थ में ईसाइयों ने एक वेदमन्त्र का उद्धरण दिया था जिसे स्वामी जी ने अस्वीकार किया और कहा कि यह वेदमंत्र ही नहीं है। इस पर ईसाइयों ने वेद की पुस्तक लाकर दिखलाने को कहा था, जो वे लाकर बाद में भी नहीं दिखा सके।

पादरी राबिंसन के अनुसार स्वामी दयानन्द का इस समय शरीर विशाल, सुगठित और दर्शनीय था। एक गेरुआ वस्त्र उनके कटि प्रदेश में और एक ढीले ढङ्ग का उनके शरीर पर पड़ा रहता था। उसे स्वामी दयानन्द तीक्ष्ण बुद्धि के एक प्रभावशाली व्यक्ति प्रतीत हुए थे और उसे यह अच्छी तरह से समझ में आ गया था कि वे अपने अनुयायियों को क्यों आकृष्ट करते हैं? इस समय उसे यह भी लग रहा था कि स्वामी दयानन्द ने पौराणिक हिन्दुओं से सर्वथा सम्बन्ध त्याग नहीं किया था और वेदान्त के सिद्धान्त में भी उन्हें कुछ सन्देह नहीं था। परन्तु एकेश्वरवाद

की ओर उनका नैसर्गिक झुकाव था। उन्होंने उसे कहा था कि वे एक सत्य के खोजी हैं, जो जब, जहाँ और जैसे भी मिलेगा, वे उसे स्वीकार करेंगे। यहाँ सत्य से उनका अभिप्राय सच बोलने से नहीं, अपितु वास्तविक सत्य से था। वे उस समय मनुस्मृति में वर्णित वर्ण-व्यवस्था में विश्वास करते थे और वेदों में उनका दृढ़ विश्वास था। उस समय वे केवल यजुर्वेद से ही परिचित थे। उनका विश्वास था कि वेदों में एक भी भम्रमूलक विचार नहीं हैं। इस समय तक स्वामी दयानन्द सरस्वती एक दण्डी संन्यासी के रूप में ही जाने जाते थे।

एक दिन स्वामी दयानन्द मेजर ए० जी० डेविडसन, डिप्टी कमिश्नर अजमेर से मिलने गए। स्वामी जी ने उनसे कहा कि राजा प्रजा का पिता होता है और प्रजा पुत्र होती है। जब पुत्र कोई दुष्कर्म करने लगे तो माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे उसे बचावें। मतमतान्तरवादी आपकी प्रजा को लूट रहे हैं, आप इसका यथोचित प्रबन्ध करें। इस पर कमिश्नर ने उन्हें कहा कि यह एक धार्मिक मामला है, इसलिए हम इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। यदि कोई अन्य विशेष बात हो तो हम आपकी सहायता कर सकते हैं।

एक दिन स्वामी जी बंशीलाल के बाग में कुर्सी पर बैठे हुए थे। सामने होकर कर्नल ब्रुक, एजेंट गवर्नर जनरल निकले। वह गेरुआ वस्त्र वालों से बहुत चिढ़ते थे। तब पं० वृद्धिचन्द्र जो स्वामी जी से अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ते थे, स्वामी जी से कहा कि महाराज आप अपनी कुर्सी दूसरी ओर को कर लें, ये साहब संन्यासियों से बहुत चिढ़ते हैं। इस पर स्वामी जी ने कहा कि हम तो यही चाहते हैं और अपनी कुर्सी को और आगे को करके बैठ गए। ब्रुक साहब बाग के भीतर चले आए। स्वामी जी ने उन्हें आया देख यह विचार करके कि कर्नल ब्रुक के सम्मुख आने पर उनके सम्मान में उन्हें कुर्सी से उठकर खड़ा होना पड़ेगा, इसलिए वे पहले ही कुर्सी से उठकर टहलने लगे। तब ब्रुक साहब ने आकर अपनी टोपी उतारी और स्वामी जी से हाथ मिलाकर वह स्वामी जी के सामने कुर्सी पर बैठ गया और उनसे इस प्रकार बातें करने लगा-

*स्वामी जी*- आप धर्म का स्थापन करते हैं, वा खण्डन?

*कर्नल ब्रुक*- धर्म स्थापन करना तो हमारे यहाँ भी अच्छा है, परन्तु जिससे लाभ हो वह करते हैं।

*स्वामी जी*- आप लाभ नहीं प्रत्युत हानि की बात करते हैं।

*कर्नल ब्रुक*- वह कैसे?

*स्वामी जी*- देखिए, एक गौ से कितना लाभ होता है और उससे कितने मनुष्यों का पालन होता है। तब आप बतलाइए कि गौवध से आपको लाभ है वा हानि?

*कर्नल ब्रुक*- होती तो हानि ही है!

*स्वामी जी*- तो फिर आप गौवध क्यों करते हैं?

*कर्नल ब्रुक*- यह बात हमें आपकी स्वीकार है। आप हमारे बँगले पर पधारें, हम वहाँ बातें करेंगे।

यह कहकर ब्रुक साहब चले गए। दूसरे दिन ब्रुक साहब की गाड़ी स्वामी जी को लेने आई और स्वामी जी जोशी रूपराम को लेकर उसके बँगले पर गए। वहाँ दोनों की पौन घण्टे तक गौरक्षा पर बातचीत हुई। इस समय ब्रुक साहब ने यह स्वीकार किया कि गौवध करना निःसन्देह हानिकारक है, पर इसको बन्द कराना उनके अधिकार में नहीं है। अतः उन्होंने स्वामी जी को एक चिट्ठी लिखकर दी कि इसे लेकर आप लाट साहब से मिलें। एक चिट्ठी उन्होंने महाराज रामसिंह को भी भेजी कि शोक है कि आपने ऐसे वेदवक्ता विद्वान् से बात नहीं की। पत्र पाकर

महाराज रामसिंह को पश्चाताप हुआ और उन्होंने अचरौल के ठाकुर साहब को स्वामी जी को जयपुर बुला लाने के लिए कहा। ठाकुर साहब ने कहा कि उनके साथ उनके आदमी ही गए हुए हैं जो उन्हें लेकर जयपुर ही आएँगे।

कहते हैं कि डिप्टी कमिश्नर ने भी एक चिट्ठी लिखकर स्वामी जी को  दी थी। स्वामी जी भागवत को भड़ुआ -पुराण और मन्दिरों को अड्डा कहा करते थे। मालाओं को गले में काष्ठ का भार कहा करते थे। मूर्तिपूजा और भागवत का खण्डन करने से ब्राह्मण लोग स्वामी जी के शत्रु हो गए थे।

एक दिन कुछ ब्राह्मणों ने शिव के बाग में स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। उनकी योजना थी कि शास्त्रार्थ के बहाने स्वामी जी को बाग में बुलाकर पीटा जाए। लेकिन स्वामी जी ने इससे पहले ही कुछ लोगों को बाग में भेजकर वहाँ का हालचाल मालूम कर लिया कि वहाँ कोई पढ़ा-लिखा हुआ व्यक्ति नहीं है। अपितु वहाँ केवल बाग का एक पुजारी और कुछ लट्ठ लिए हुए भङ्गड़ व्यक्ति ही हैं। अत: स्वामी जी वहाँ जाने के लिए उद्यत होकर भी नहीं गए।

एक पटवारी ने स्वामी जी से लिखकर पूछा कि आप जैसे संन्यासी को एक स्थान पर तीन दिन से अधिक क्यों टिकना चाहिए और बग्घी आदि की सबारी क्यों करनी चाहिए? इत्यादि, इस पर स्वामी जी ने उसे उत्तर दिया कि यह बात तो ठीक है कि संन्यासी को तीन दिन से अधिक एक स्थान पर नहीं ठहरना चाहिए, पर जहाँ अज्ञान का अन्धकार छाया हुआ हो, वहाँ उसे अपने उपदेश से मिटाने के लिए संन्यासी को आवश्यकतानुसार अधिक भी ठहरना चाहिए।

ब्राह्मणों ने स्वामी जी से कहा कि आप भागवत का खण्डन करते हैं, अत: उसकी अशुद्धियाँ लिखकर बताइए। तब स्वामी जी ने तीन-चार पत्रों में उसकी अशुद्धियाँ संस्कृत में लिखकर उनको दे दीं। पं० वृद्धिचन्द्र और छगनलाल के पास स्वामी जी द्वारा लिखित एक भड़ुआ-भागवत की पुस्तक थी जिसके अन्त में ज्येष्ठ द्वितीय ९= ७ जून, १८६६ ई० (बृहस्पतिवार) अङ्कित था।

अजमेर निवास के दिनों में ही दो तेलङ्गी वा महाराष्ट्रियन साधु नाग पर्वत के जंगल से स्वामी दयानन्द जी से मिलने के लिए आए। वे संस्कृत बोलते थे और आर्यभाषा नहीं जानते थे। वे स्वामी जी से मिलने के लिए दो बार अजमेर आए। स्वामी जी ने उनसे कहा कि अभी तक आपने अहङ्कार को नहीं जीता है। इस पर उनमें परस्पर कुछ कहासुनी भी हो गई, पर बाद में वे नमोनारायण करके चले गए। स्वामी जी उस समय परस्पर नमोनारायण ही किया करते थे।

दिल्ली वाले पं० हरिश्चन्द्र के गुरुभाई से स्वामी जी का अजमेर में वार्तालाप भी हुआ था। स्वामी जी ने मनुस्मृति और उपनिषदों के प्रमाणाों से उसे निरुत्तर कर दिया था। इसी प्रकार बाबूलाल जैनी से तीन दिन तक धर्म विषय पर वार्तालाप हुआ था। अन्त में उसने स्वीकार किया कि स्वामी जी आप जो कहते हैं, वह ठीक ही कहते हैं। अन्य दो जैनियों धन्नालाल व अमृतसिंह से भी स्वामी जी का वार्तालाप हुआ था, पर धन्नालाल हठ करने लगे तो स्वामी जी ने उसकी पुस्तक रख ली और कहा कि तुम नास्तिक हो। तुम फिर यहाँ आना, हम तुमको समझा देंगे। परन्तु वह फिर न आया। और कमिश्नर से जाकर शिकायत की कि स्वामी जी ने उसकी पुस्तक छीन ली है। तब साहब ने राय दौलतराम से कहकर उसे उसकी पुस्तक स्वामी जी से दिलवा दी।

अजमेर में भी स्वामी जी ने लोगों की कण्ठियाँ उतरवाईं थीं। इनमें अजमेर के पास के सावर के ठाकुर साहब भी सम्मिलित थे।

स्वामी जी के विचार इस समय तक परिपक्व नहीं हुए थे। वह मूर्तिपूजा के भी तब तक उतने विरोधी होकर नहीं उभर पाए थे जितने वे अपने परवर्ती जीवन में विरोधी हो गए थे। अपने पैतृक संस्कारों के कारण ही वे अब तक शैवमत के ही पक्षपाती बने हुए थे। इस समय तक उन्हें सम्पूर्ण वेदों की उपलब्धता भी न हो पाने के कारण वे उन पर पूर्णतया विचार भी नहीं कर पाए थे और इसीलिए वे स्वामी विरजानन्द को दिए गए अपने वचन को भी अब तक पूर्णतया कार्यान्वित नहीं कर पा रहे थे।

## किशनगढ़ (१८६६ ई०)

स्वामी दयानन्द अजमेर से लौटते हुए किशनगढ़ आए और सुखसागर पर ठहरे। किशनगढ़ में पं० कृष्णवल्भ जोशी अच्छे विद्वान् थे। एक दूसरे सज्जन महेशदास राजा की माता जी के दीवान थे। ये दोनों स्वामी जी से बहुत प्रीति रखते थे। किशनगढ़ के महाराजा पृथ्वीसिंह वल्लभकुल सम्प्रदाय के अनुयायी थे और स्वामी जी उनके कट्टर विरोधी थे। अत: वे स्वामी जी से द्वेष करते थे। किशनगढ़ पहुँचने के दूसरे दिन ठाकुर गोपाल सिंह ३०–४० मनुष्यों और पाँच–सात राज पण्डितों के साथ स्वामी जी के डेरे पर आए। इस समय पं० रूपराम और वृद्धिचन्द्र स्वामी जी के साथ थे। सायंकाल के पाँच बजे का समय था। स्वामी जी ने वृद्धिचन्द्र से कहा कि पहले शौचादि से निवृत्त हो लें फिर इन लोगों से बात करेंगे। शौचादि से लौटकर स्वामी जी ने स्नान किया और विभूति लगाकर एक काष्ठ के तख्ते पर विराजमान हो गए। इस समय आगन्तुक जन जाजम पर बैठे हुए थे। स्वामी जी ने उनसे पूछा कि आप लोगों के आने का प्रयोजन क्या है? इस पर एक वल्लभकुलीय पण्डित ने एक पुस्तक के कुछ पन्ने स्वामी जी के सामने रक्खे । स्वामी जी ने उससे कहा कि तुम ही पढ़ो। हम उसे सुनकर उत्तर देंगे। उन पन्नों में वल्लभकुल की प्रशंसा लिखी हुई थी। उसे सुनकर स्वामी जी ने वल्लभकुल के मत का खण्डन करना आरम्भ कर दिया। इस खण्डन का वह पण्डित कुछ उत्तर न दे सका। इससे बौखलाकर वे लोग स्वामी जी पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हो गए। इस पर स्वामी जी ने तख्त पर खड़े होकर गर्जना की तुम मुझे अकेला ही न समझो, तुम जैसों के लिए तो मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ। यदि तुम शास्त्रार्थ करना चाहो तो मैं उसके लिए उद्यत हूँ। इतने में श्रीमाली वंश के ३०–४० ब्राह्मण लोग जो संन्यासियों के प्रति श्रद्धालु थे, वहाँ आ गए जिन्हें देखकर वे लोग वहाँ से चले गए।

## दूदू–बागरू–अचरौल (१८६६ ई०)

पाँच दिन किशनगढ़ रहकर स्वामी दयानन्द दूदू पहुँचे और ठाकुर साहब के महल में ठहरे। दूदू में तीन दिन विश्राम करके और वहाँ उपदेश देकर वे बागरू पहुँचे। जहाँ वे केवल एक रात ही एक बगीचे में रुके और फिर वहाँ से भी चलकर अचरौल में ठाकुर रणजीत सिंह के बाग में उतरे।

## जयपुर (१८६६ ई०)

ठाकुर रणजीतसिंह ने स्वामी जी के जयपुर पधारने का समाचार महाराजा रामसिंह से निवेदन किया। तब महाराजा रामसिंह ने बख्शीराम व्यास को कहा कि स्वामी जी को महलों में लिवा लाओ। तब व्यास जी उन्हें महाराजा की इच्छा जता दी, पर स्वामी जी ने उनसे कह दिया कि हमारी इच्छा महलों में जाने की नहीं है। यदि महाराजा को ही स्वामी जी से सम्भाषण की इच्छा हो तो वे स्वयं उनके पास आ जाएँ। व्यास जी ने स्वामी दयानन्द का यह सन्देश जाकर महाराजा रामसिंह को बता दिया। तब महाराजा ने ठाकुर रणजीतसिंह से कहा कि स्वामी जी को महलों में अवश्य लाना चाहिए। इस पर ठाकुर रणजीतसिंह अन्य कई सरदारों के साथ स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुए और अनेक प्रकार से अनुनय–विनय करके स्वामी जी को महलों में पधारने के लिए राजी कर लिया। तब वह उनके साथ जाकर

मौज-मन्दिर में विराजमान हुए, परन्तु दैवयोग से तभी महाराजा अन्त:पुर में चले गए और एक चेले ने आकर कहा कि अब महाराजा बाहर नहीं पधारेंगे। इस पर सभी सरदार और स्वामी जी वहाँ से वापस लौट आए। पुन: स्वामी जी महाराजा के अनेक यत्न करने पर भी महलों में नहीं पधारे।

आधे आश्विन तक अर्थात् ८ अक्टूबर, १८६६ ई० तक स्वामी जी जयपुर में रहे। फिर वहाँ से हरिद्वार जाने के विचार से प्रस्थान किया। स्वामी जी का यह विचार सुनकर रामदयालु कामदार और सरदार रणजीत सिंह रोने लगे। इस पर स्वामी जी ने उन्हें कहा कि हमने तुम्हें रोने का नहीं अपितु हँसने का उपदेश दिया है।

इस सब प्रसङ्ग में स्वामी दयानन्द ने अपने पूना-प्रवचनों में कहा था कि "जयपुर से मैं पुष्कर गया और वहाँ से अजमेर गया। अजमेर में जाकर शैव मत का खण्डन करना आरम्भ किया। इसी बीच जयपुर के महाराजा लाट साहब से मिलने के लिये आगरा जाने वाले थे। वृन्दावन में 'रङ्गाचार्य' नाम के एक पण्डित थे। वहाँ कहीं शास्त्रार्थ हो जावे, इस कारण राजा रामसिंह ने मुझे बुलाने के लिये [आदमी] भेजा और मैं जयपुर गया। परन्तु मैंने शैव मत का ही खण्डन करना आरम्भ कर दिया, यह जानकर राजा को [मेरे प्रति] अप्रसन्नता हुई और मैं भी जयपुर छोड़कर चला गया। पुन: स्वामी जी के समीप जाकर शङ्का समाधान किया [४३०]।"

## आगरा (१८६६ ई०)

कार्तिक बदी ९, संवत् १९२३ वि० तदनुसार १ नवम्बर, १८६६ ई० के निकट स्वामी दयानन्द आगरा पहुँचे। उन दिनों वहाँ लार्ड लॉरेंस के दरबार का उपक्रम हो रहा था। कहते हैं कि यह दरबार लार्ड केनिङ्ग के दरबार से तड़क-भड़क में दूसरे नम्बर पर था। यह दरबार १० नवम्बर से १९ नवम्बर, १८६६ ई० तक होने वाला था। परन्तु १९ नवम्बर को लार्ड लॉरेंस के रुग्ण हो जाने के कारण यह २० नवम्बर को समाप्त हो गया। आगरा में स्वामी दयानन्द दरबार में आए हुए लोगों को धर्मोपदेश देते रहे। आगरा में स्वामी दयानन्द ने सात-आठ पृष्ठों की एक लघु पुस्तिका (भागवत-खण्डनम् नामक) वैष्णवों के खण्डन में लिखकर छपवाई और उसकी सहस्रों प्रतियाँ आगरे में बाँटीं और हरिद्वार के कुम्भ मेले में बाँटने के लिए भी अपने साथ वहाँ ले गए [४३१]।

## मथुरा (१८६६ ई०)

आगरा से स्वामी दयानन्द मथुरा पधारे। मथुरा में अपने गुरु स्वामी विरजानन्द की सेवा में उपस्थित हुए और उन्हें दो अशर्फियाँ और एक मलमल का थान भेंट किया और अपने द्वारा लिखित *'भागवत खण्डनम्'* की पुस्तक उन्हें पढ़कर सुनाई तथा कहा कि मैं धर्मोपदेश देने के लिए हरिद्वार जा रहा हूँ। स्वामी विरजानन्द दण्डी ने उन्हें इसके लिए आशीर्वाद दिया। इस समय स्वामी दयानन्द ने अपने कुछ सन्देह भी उनसे निवृत्त किए।

## मेरठ (१८६७ ई०)

कई दिन अपने गुरु की सेवा में रहकर स्वामी दयानन्द मथुरा से प्रस्थान कर मेरठ पधारे और वहाँ पहुँचकर सूर्यकुण्ड पर देवी के मन्दिर में ठहरे। इस समय उनके साथ एक ब्रह्मचारी भी था। मेरठ में उनका वहाँ के प्रसिद्ध रईस गङ्गाराम डाकवाले से परिचय हुआ। उन दिनों स्वामी दयानन्द दोशाला ओढ़ते, जुराबें पहनते और गले में

---

४३०- अर्थात् स्वामी विरजानन्द जी के पास मथुरा जाकर

४३१- यह पुस्तक 'भागवत खण्डनम्' नाम से प्रकाशित होकर अब सर्वत्र उपलब्ध है। इसके विशेष विवरण के लिए पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित ग्रन्थ- 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास' देखें।

स्फटिक की माला धारण करते थे। गोरक्षा और वेद के पठन-पाठन पर विशेष बल देते थे।

## हरिद्वार (१८६७ ई०)

मेरठ में कई दिन निवास करके स्वामी दयानन्द ७ मार्च, १८६७ ई० तदनुसार फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा संवत् १९२३ वि० को हरिद्वार पहुँचे और वहाँ वे सप्तसरोवर पर ठहरे जो हृषिकेश और हरिद्वार के बीच में हरिद्वार से तीन कोश की दूरी पर है। यहाँ उन्होंने ८-१० छप्पर डलवाकर डेरा किया और वहाँ 'पाखण्ड-खण्डन' लिखी हुई एक पताका फहरा दी। उस समय उनके साथ शङ्करानन्दादि १५-१६ संन्यासी और ब्राह्मण थे। उनके वस्त्र गेरुआ थे और उन्होंने गले में रुद्राक्ष की माला पहनी हुई थी।

प्रति १२ वर्षों के बाद हरिद्वार में लगने वाला कुम्भ का यह मेला समस्त भारतदेश का एक प्रसिद्ध और विशाल भीड़ वाला मेला होता है जिसमें देश भर से लाखों की संख्या में सभी वर्णों और आश्रमों के स्त्री-पुरुष, साधु-महात्मा और विभिन्न समुदायों के लोग जुटते हैं। स्वामी दयानन्द ने ऐसे मेले के आयोजन को अपने मन्तव्यों के प्रचार-प्रसार के लिए सर्वथा उपयुक्त समझा जिसका उन्हें १२ वर्ष पूर्व १८५५ ई० में आयोजित हुए मेले का, जिसमें वे पहले भी उपस्थित हो चुके थे, अनुभव था। इसलिए वे कुम्भ संक्रान्ति से एक मास पूर्व ही फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को हरिद्वार में पहुँच गए थे।

अपने दीक्षागुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द जी से पुन: आशीर्वाद प्राप्त करके और उन्हें इस बार कुछ द्रव्य-दक्षिणा भी देकर उनको पूर्व में दिए गए वचन को कृतकार्य करने का उनके सम्मुख इससे बढ़िया और कोई अवसर हो भी नहीं सकता था, अत: उन्होंने इस मेले के रूप में समवेत हुए लघु भारत में ही स्वयं उपस्थित होकर 'पाखण्ड-खण्डिनी' पताका फहरा दी और इस प्रकार से वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करने के कार्य का शुभारम्भ कर दिया। इस मेले में दयानन्द प्रतिदिन अपने शिविर में पाखण्ड-खण्डिनी पताका की छत्रछाया में धर्मोपदेश करने लगे। इस प्रकार जिस दिन साम्प्रदायिक धर्म की राजधानी में, पौराणिक धर्म के केन्द्र में, एक निर्भय आत्मत्यागी आदित्य ब्रह्मचारी महात्मा स्वामी दयानन्द ने सत्य का यह सिंहनाद किया था, वह दिन धर्म के इतिहास में सदैव के लिए स्मरणीय रहेगा। पौराणिक धर्म के गढ़ में उन्होंने वैदिक धर्म की घोषणा कर दी थी। साम्प्रदायिक सघन वन पर समालोचना का कठोर कुठाराघात कर दिया था। पौराणिक कथा और महात्म्य की कोमल, ललित लताओं पर तीव्र खण्डन का प्रखर खड्ग प्रहार कर दिया था। स्वामी दयानन्द के डेरे पर फहराते हुए निराले झण्डे को देखकर लोग सैकड़ों की संख्या में प्रतिदिन वहाँ आने लगे और उनके उपदेशों को अङ्गीकार करने लगे। इस महामेले में जहाँ सुनों वहाँ दयानन्द के प्रचार की ही प्रतिध्वनि सुनाई देने लगी थी। आज तक एक संन्यासी के मुख से मूर्तिपूजा का खण्डन, श्राद्धों का निराकरण, अवतारों का अमूलकपन, पुराणों तथा उपपुराणों का काल्पनिक होना और पर्व-स्नान महात्म्य का मिथ्यात्व नहीं सुना था। इसलिए अनेक लोग इस नवीन दृश्य को अति विस्मय से देखते थे। कई लोग इसका दोष कलिकाल के माथे मढ़ते थे। कई पण्डित, संन्यासी और साधु स्वामी दयानन्द को नास्तिक कहकर अपने शिष्यों, सेवकों और यजमानों का मुँह बन्द करने का प्रयास करते थे। इससे उन लोगों ने भी स्वामी दयानन्द के विरुद्ध व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया था। उनके प्रति कुवाच्य कहने और उन्हें अपमानित करने की भी उन्होंने कोई चेष्टा बचाकर न रख छोड़ी थी।

काशी के प्रसिद्ध पण्डित विशुद्धानन्द भी इस कुम्भ मेले में उपस्थित थे। उन्होंने यजुर्वेद (३१/११) के मन्त्र-

*ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:।*

*ऊरू तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो ऽजायत।।*

का यह अर्थ किया कि '*ब्राह्मण परमेश्वर के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य ऊरू से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए हैं।*' स्वामी दयानन्द ने उनके इस अर्थ का खण्डन किया और कहा कि यदि इसका यही अर्थ है तो मुख से तो खखार भी उत्पन्न होता है तो क्या वह खखार भी ब्राह्मण होगा? इसलिए इस मन्त्र का शुद्ध अर्थ उन्होंने तब यह लोगों को बताया था कि '*ब्राह्मण समाज के मुख के, क्षत्रिय भुजाओं के, वैश्य ऊरू के और शूद्र पैरों के समान हैं।*'

इस घटना से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द १८६७ ई० में वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मस्वभावानुसार ही मानते थे, जन्म से नहीं।

स्वामी दयानन्द इस मेले में '*भागवत खण्डन*' की सहस्रों प्रतियाँ छपवाकर अपने साथ लाए थे जिन्हें उन्होंने मेले में सर्वत्र बँटवा दिया था। इस समय उन्हें देने के लिए बहुत से श्रद्धालु लोग प्रतिदिन फल, मेवा, मिष्टान्न और पकवान भी लाते थे जो दिन भर में बहुत सारे इकट्ठे हो जाते थे। अतः उन्हें प्रतिदिन वे दीन-दरिद्रों में बँटवा देते थे, अपने पास कुछ भी न रखते थे।

इस मेले में स्वामी दयानन्द का किसी भी पण्डित से कोई उल्लेखनीय शास्त्रार्थ तो नहीं हुआ था। परन्तु किंवदन्ती है कि कुछ प्रसिद्ध पण्डित और धर्माचार्य प्रछन्नरूप से उनके उपदेश सुनने के लिए आया करते थे और कुछ उनके पास अपने विद्यार्थियों को भेजकर उनका अभिमत जान लिया करते थे।

मेले में एक दिन गोसाइयों और स्वामी विशुद्धानन्द में झगड़ा हो गया। गोसाइयों ने न्यायालय में उन पर अभियोग कर दिया। गोसाईं लोग समझते थे कि चूँकि स्वामी दयानन्द और स्वामी विशुद्धानन्द में मतैक्य नहीं हैं, इसलिए स्वामी दयानन्द इस वाद में उनकी सहायता करेंगे। लेकिन स्वामी दयानन्द ने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि हम तो न तुम्हारे पक्षपाती हैं और न स्वामी विशुद्धानन्द के, अपितु हम तो सत्य के ही पक्षपाती हैं, अतः जो वेद में लिखा है, हम तो वही कहेंगे।

स्वामी महानन्द दादूपन्थी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने वेद के प्रथमवार दर्शन स्वामी दयानन्द के पास ही किए थे। वह स्वामीजी के उपदेश से इतने प्रभावित हुए थे कि वे बाद में वैदिक धर्म के अनुयायी और प्रचारक ही बन गए।

इसी समय स्वामी दयानन्द से पं० बस्तीराम (प्रसिद्ध विद्वान् कनखल पाठशाला) भी मिले थे और उन्होंने उनसे व्याकरण पर बातचीत की थी। उनके अनुसार स्वामी दयानन्द पूर्ण विद्वान थे और वेद तथा शास्त्रों का उनको अच्छा ज्ञान था। पर मूर्तिपूजा के खण्डन तथा कुछ अन्य बातों से पर तब उनमें परस्पर मतैक्य नहीं बन पाया था। बाद में यही पं० बस्तीराम स्वामी दयानन्द के अनुयायी और आर्यसमाज के एक प्रचारक बने।

इस महामेले में अपनी ओर से स्वमन्तव्यों का धुआँधार प्रचार करते हुए भी स्वामी दयानन्द के चित्त को यह अनुभूति हुई कि उनके विचारों का जनमानस पर यथेष्ठ प्रभाव नहीं पड़ रहा है। अतः उन्होंने सोचा कि यह परोपकार एक महायज्ञ ही है और जिसकी पूर्ति के लिए ही मैं दीक्षित भी हुआ हूँ, परन्तु यह महायज्ञ तब तक पूर्ण नहीं हो सकेगा जब तक कि मैं उसकी पूर्णाहुति हेतु अपने सर्वस्व का त्याग नहीं कर दूँगा। अतः उन्होंने अपने सारे उपकरण वहीं तत्काल त्याग दिए और महाभाष्य की एक पुस्तक, ३५ रुपये नकद और मलमल का एक थान अपने गुरुदेव की सेवा में पं० दयाराम के माध्यम से मथुरा भिजवा दिया। इसी समय ठाकुर रणजीत सिंह अचरौल वाले के सन्देश वाहक के रूप में पं० रूपराम जोशी स्वामी जी को जयपुर बुलाने के लिए आए हुए थे, तब उन्हें भी स्वामी जी ने १० रुपये नकद, दुर्गापाठ की एक पुस्तक और एक माला देनी चाही थी, पर उन्होंने केवल माला और पुस्तक ही ली, परन्तु नकद रुपये नहीं लिए। जब वहाँ उपस्थित कैलाशपर्वत ने यह सब होते देखा तो वे स्वामी जी से कहने लगे कि आप यह क्या करने लगे हो? इस पर स्वामी जी ने उन्हें उत्तर दिया कि जब तक अपनी आवश्यकताएँ अल्प

न की जाएँ, तब तक पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हो सकती और मेरा प्रयोजन भी नहीं सिद्ध हो सकता। मैं इन पन्थाइयों के विरुद्ध स्पष्ट कहना चाहता हूँ इसलिए इस समय मेरा निर्द्वन्द्व होना आवश्यक है। इसके उपरान्त स्वामी दयानन्द ने अपने पुस्तकादि सब त्यागकर और अपने सारे तन पर राख रमाकर, एक कौपीनमात्रधारी, मौनावलम्बी हो गए। व्याख्यान देना और वादविवाद करना तो दूर, वाणी का व्यापार भी बन्द करके वे अपनी कुटी में ही रहने लगे। जो नरकेशरी अब तक अपने नाद से सारे मठों को हिला रहा था, अखिल अखाड़ों को कँपा रहा था, जिसकी गर्जना से सभी सम्प्रदायी थर्रा रहे थे, वही स्वदेशवासियों की अकर्मण्यता के कारण अब मौन धारण करके चुप हो गया था!

परन्तु जिस महात्मा ने '*मौनात्सत्यं विशिष्यते*' अर्थात् चुप्पी से सत्य बोलना बढ़िया है, यह पाठ पढ़ा हो, वह इस प्रकार कब तक चुप रह सकता था? हरिद्वार में ही एक दिन स्वामी जी की कुटी के द्वार पर पहुँचकर एक व्यक्ति ने यह कहा कि '*निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्*', तो- 'वेद से भागवत उत्तम है।' ऐसा असत्य का सम्मान और सत्य का हनन स्वामीजी कैसे सहन कर सकते थे? अतः उन्होंने अपने मौन को तत्काल त्याग कर भागवत का खण्डन करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने तब यह भी प्रण कर लिया कि ईश्वरकृपा से मुझे जितना और जैसा ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह मैं धर्मप्रचार और लोकहित करते हुए केवल संस्कृत भाषा में ही वाणी-व्यापार करते हुए अवश्य सफल करूँगा।

## हृषीकेश, हरिद्वार, कनखल, लँढोरा, शुक्रताल, मीराँपुर, मुहम्मदपुर, परीक्षितगढ़, गढ़मुक्तेश्वर (१८६७ ई०)

कुम्भ मेला समाप्ति के १०-१२ दिन पीछे स्वामी दयानन्द अपने सप्त सरोवरस्थ कुटीरों से केवल एक लँगोट धारण करके ही और यह प्रण करके कि जब तक इष्टसिद्धि न होगी तब तक गङ्गातट पर ही विचरण और संस्कृत में सम्भाषण करूँगा, निकलकर ५-६ दिन के लिए हृषीकेश चले गए। फिर वहाँ से वे हरिद्वार लौट आए और गङ्गातट पर विचरण करते हुए कनखल होते हुए लँढोरा (जिला- सहारनपुर) पहुँचे। यहाँ उन्हें तीन दिनों तक निराहार रहना पड़ा। एक खेत वाले को सङ्केत करने पर उसने उन्हें तीन बैंगन खाने के लिए दिए जिससे उनकी क्षुधा की निवृत्ति हुई। पुनः वे शुक्रताल होते हुए मीराँपुर (जिला- मुजफ्फरनगर) पहुँचे। यहाँ किसी पण्डित से उनका दो दिन तक शास्त्रार्थ हुआ। एक दिन मुहम्मदपुर (जिला- बिजनौर) में एक पीपल के वृक्ष के नीचे उन्होंने बसेरा किया। फिर परीक्षितगढ़ (जिला- मेरठ) होते हुए वे गढ़मुक्तेश्वर पहुँचे। यहाँ वे पन्द्रह दिनों तक रहे। यहाँ भी उन्हें तीन दिनों तक निराहार रहना पड़ा था। इस समय जब एक माँझी ने अपनी रोटी में से आधी रोटी तोड़कर उन्हें दे दी, तब उसी को उन्हें खाकर रह जाना पड़ा। स्वामी जी का इस समय यह नियम था कि वे किसी से कुछ माँगते नहीं थे। जो भी उन्हें कुछ दे देता था, उसी को खाकर वे रह जाते थे। गढ़मुक्तेश्वर में वे गङ्गा की तपती हुई रेती पर पड़े रहते थे।

## कर्णवास (१८६७ ई०)

इसके बाद स्वामी दयानन्द मीरापुर, चासी आदि स्थानों पर होते हुए कर्णवास आए। कर्णवास गङ्गा के दक्षिणी तट पर अनूपशहर से १२ मील की दूरी पर स्थित क्षत्रियों की एक बस्ती है। यहाँ दो विद्यार्थियों ने देखा कि एक विशालकाय परमहंस जिनके मुखमण्डल पर एक अनूठी आभा प्रस्फुटित हो रही है, गङ्गा पुलिन पर आसन लगाए हुए बैठे हैं। तब वे दोनों उनके निकट आकर उनके शरीर पर प्रेमपूर्वक गङ्गारज लगाने लगे। परमहंस के पूछने पर कि तुम लोग इस समय क्या पढ़ते हो, उन्होंने उत्तर दिया कि भागवत और कौमुदी। इस पर परमहंस ने उन्हें

मनुस्मृति पढ़ने और तदनुकूल आचरण करने तथा व्याकरण में अष्टाध्यायी पढ़ने का आदेश दिया।

इस प्रकार एक दिन कर्णवास में रहकर स्वामी दयानन्द अपनी अगली यात्रा पर चल पड़े।

## फर्रुखाबाद (१८६७ ई०)

ज्येष्ठ संवत् १९२४ वि० (जून, १८६७ ई०) में किसी दिन स्वामी दयानन्द फर्रुखाबाद पहुँचकर लाला जगन्नाथ रईस के स्थान पर ठहरे। इस समय तक उनकी कोई विशेष प्रसिद्धि नहीं हुई थी। पर जो लोग उनके दर्शनों के लिए आते थे, वे उनके प्रश्नों का उत्तर अवश्य देते थे। एक सज्जन ने उनसे पूछा था कि गङ्गा और सूर्य कैसे पदार्थ हैं, तब उन्होंने उन्हें जड़ पदार्थ बताया था। लाला मन्नीलाल और जगन्नाथ रईस भी उनके दर्शनों के लिए आए थे। उस समय वे समाधिस्थ थे। ये लोग आकर उनके पास चुपचाप बैठ गए। जब स्वामी जी की समाधि भङ्ग हुई तो इन आगन्तुकों ने स्वामी जी से पूछा कि गायत्री जप का क्या फल है? तब स्वामी जी ने उन्हें कहा कि इससे बुद्धि शुद्ध होती है। अत: सन्ध्या में गायत्री का जप सभी द्विजों के लिए करणीय है। इस समय फर्रुखाबाद में स्वामी जी तीन दिन ही रहे।

यहाँ तक के पिछले कुछ विवरणों के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द अपने पूना के प्रवचनों में कह गए हैं कि "वहाँ से पुन: मैं हरिद्वार गया। वहाँ '*पाखण्ड-मर्दन*' ये अक्षर लिखकर ध्वज अपने स्थान पर लगा दिया। वहाँ बहुत वाद-विवाद हुआ। फिर मेरे मन को ऐसा लगा कि सारे जगत् से विरुद्ध होकर और गृहस्थों से भी अधिक पुस्तक आदि का जंजाल साथ रख कर क्या करना है? [अर्थात् जंजाल रखना ठीक नहीं है]। इस अभिप्राय से मैंने सब कुछ छोड़ दिया [अर्थात् सब कुछ बाँट दिया]। और कौपीन लगा ली और मौन धारण कर लिया। वहाँ से मैंने शरीर पर राख (भस्म) लगाना आरम्भ किया, उसे गत वर्ष मुम्बई आने तक लगाता रहा। जब से रेल में बैठने लगा तब से कपड़े पहनने लगा। अस्तु, वहाँ (= हरिद्वार में) मैंने जो मौन धारण किया वह अधिक दिन टिका नहीं। कारण, बहुत लोग मुझे पहचानते थे। और एक दिन मेरी पर्ण कुटी के द्वार पर कोई '*निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्*' भागवत की अपेक्षा कुछ अधिक नहीं, वेद भी भागवत से नीचे (घटिया) है, ऐसा बकने लगा। तब मुझ से यह सहन नहीं हुआ और मौनव्रत छोड़कर मैंने वहाँ भागवत का खण्डन किया। अनन्तर ऐसा विचार किया कि ईश्वर की कृपा से मुझे जो थोड़ा बहुत ज्ञान हुआ है उसे सब लोगों में प्रकट करना चाहिये। इस विचार को धारण करके मैं फर्रुखाबाद आया।"

## अनूपशहर (१८६७ ई०)

फर्रुखाबाद से चलकर स्वामी जी तीन दिन बाद अनूपशहर पहुँचे। यहाँ पहुँचकर वे आठ दिन तक लाला गौरीशङ्कर कायस्थ की बाँसों के टाल पर रहे। इन दिनों वह कुछ अस्वस्थ थे। इसलिए तुलसीदल और काली मिर्च घुटवाकर और मूँग की दाल में सोंठ डालकर पकवाकर उसे पिए जिससे वे स्वस्थ हो गए। इन दिनों अनूपशहर में राजा बूँदी के गुरु रामदास बैरागी भी रहा करते थे। वह मूर्तिपूजक नहीं थे, अत: उनकी स्वामी दयानन्द जी से मित्रता हो गई थी। अनूपशहर में ही एक दक्षिणी स्वामी सूरजपुरी और मौजबाबा परमहंस भी रहा करते थे। रामदास ने दक्षिणी स्वामी से कहा कि एक स्वामी दयानन्द जी भी आजकल यहाँ आए हुए हैं जो हमारे-तुम्हारे मत की बात कहते हैं, परन्तु गृहस्थों के प्रतिकूल हैं। दक्षिणी स्वामी ने सूरजपुरी को भेजकर अपने कुछ प्रश्नों के उत्तर स्वामी दयानन्द से बारबार पुछवाए, पर उनके उत्तर उनकी समझ में ही नहीं आए। तब स्वामी दयानन्द ने उन्हें कहला भेजा कि तुम्हारी बुद्धि मोटी है, तुम्हें मेरी बातें समझ में नहीं आएँगी। जैसे यदि चीनी में रेत मिला दिया जाए तो चींटी तो चीनी के कणों को निकाल लेगी, परन्तु हाथी नहीं निकाल सकेगा।

बाद में जब स्वामी दयानन्द अपना पूर्व स्थान छोड़कर नगर में ही दूसरी ओर जाने लगे, तो बाबा रामदास ने उनसे कहा कि उधर भागवत हो रही है और तुम उसका खण्डन करते हो, अत: तुम्हें वहाँ कोई रोटी के लिए भी नहीं पूछेगा। स्वामी जी ने कहा कि हमें इसकी कोई परवाह नहीं है। यह कहकर स्वामी जी नर्मदेश्वर के पास सती की मढ़ी में आ विराजे। यहाँ उन्हें नवलजङ्ग नामक पहलवान जो अच्छा तैराक, सदाचारी, सुशील और बलवान था, मिल गया। उसकी स्वामी जी में अगाध प्रीति हो गई थी। वह गङ्गारज लाकर प्रेम से स्वामी जी के शरीर पर चन्दन की भाँति मला करता था। उसने स्वामी जी के लिए एक झोपड़ी बनाकर और उसमें चटाई बिछाकर उनके ठहरने का प्रबन्ध कर दिया था। रात में सोते समय वह उनके ऊपर कम्बल भी डाल दिया करता था।

यहाँ एक दिन कुछ वामी मदिरा पीकर स्वामीजी के निकट आकर बकने लगे, तब स्वामी जी ने नवलजङ्ग को कहकर उन्हें वहाँ से भगाया।

अनूपशहर में एक सुपठित बुद्धा नाम्नी ब्राह्मण ने स्वामी जी से शास्त्र-चर्चा की थी। इस समय कुछ देर तक तो वह धाराप्रवाह संस्कृत में बोलता रहा, परन्तु बाद में वह स्वामी जी से पीछे रह गया और अन्त में स्वामी जी के कथन की सत्यता स्वीकार कर ली और वह उनका स्नेह भाजन बनकर बुद्धा से बुद्धिसागर बन गया!

## गढ़मुक्तेश्वर/अनूपशहर (१८६७ ई०)

अनूपशहर से स्वामी जी गढ़मुक्तेश्वर की ओर चले गए। फिर वहाँ से वापस लौटकर पुन: सती की मढ़ी में ही आ विराजे। इस समय उनका रेत का बिस्तर और ईंटों का तकिया हुआ करता था। उनके पास केवल एक कौपीन था। अनेक लोग उन्हें वस्त्र देना चाहते थे, पर वे नहीं लेते थे। वह अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों की श्रेष्ठता स्वीकार करते थे। उस समय वह विशेष खण्डन-मण्डन नहीं करते थे। उनका विशेष आग्रह ब्राह्मणों के उत्थान पर था। अत: वह उन्हें सन्ध्या करने, गायत्री का जप करने और अग्निहोत्र करने की शिक्षा देते थे तथा मथुरा जाकर दण्डी जी से व्याकरण पढ़ने का भी उनसे अनुरोध करते थे। वह रात्रि में अपने पास किसी को नहीं रहने देते थे। किसी से वे किसी पदार्थ की इच्छा भी नहीं रखते थे, जो कोई स्वेच्छा से उन्हें कोई खाद्य पदार्थ दे देता था, उसी को वह प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर लेते थे। आवश्यकता से अधिक प्राप्त खाद्य-पदार्थ वे भिक्षुकों में वितरित कर देते थे। बहुत सबेरे ही उठकर शौच, स्नान कर वे ईश्वराधन में प्रवृत्त हो जाते थे। इससे निवृत्त होकर वे आगन्तुकों से बातचीत करते थे। यदि इस समय कोई उनसे वेदानुकूल बात कहता था तो वे उसे तत्काल स्वीकार कर लेते थे , अन्यथा पुराणादि की वेदविरुद्ध बात को वे 'गप्पाष्टकम्, मनुष्याणां कोलाहल:' कह दिया करते थे।

## चासी जिला- बुलन्दशहर (१८६७ ई०)

अनूपशहर से स्वामी दयानन्द चासी जिला- बुलन्दशहर के जंगल में आ विराजे। यहाँ पुनरागमन का स्वामी जी का उद्देश्य अपने पिछले कर्णवास प्रवास में विद्यार्थियों से प्राप्त यह संवाद था कि चासी में चक्राङ्कित सम्प्रदाय का एक नन्दराम ब्राह्मण रहता है, जो अन्य लोगों को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित करने की प्रेरणा करता रहता है। चूँकि इस मत के विरुद्ध स्वामीजी पहले से ही थे अत: उन्होंने अन्यों को इस मत में सम्मिलित न होने देना अपना कर्त्तव्य समझा था। स्वामीजी के आगमन का समाचार पाकर २०-२५ ब्राह्मण और कुछ जाट नन्दराम ब्राह्मण को अपने साथ लेकर स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए और उसे स्वामीजी के सम्मुख अपने मत का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करने के लिए कहा। लेकिन स्वमीजी से कोई बात किए बिना ही नन्दराम ब्राह्मण वहाँ से पलायन कर गया और बुलाने पर भी नहीं आया जिससे उसकी पोल खुल गई और वहाँ कोई भी चक्राङ्कित न बना।

## धारपुर (तहीरपुर), रामघाट (१८६७ ई०)

चासी से स्वामी जी धारपुर (ताहीरपुर) आए और वहाँ कुछ दिन निवास करके रामघाट चले गए, जहाँ वे एक पर्णकुटी में ठहरे। पं० टीकाराम जो कर्णवास का रहने वाला एक सुविज्ञ ब्राह्मण था, उन दिनों रामघाट में ही रह रहा था। एक अन्य जन केशवदेव ब्रह्मचारी भी वहाँ रहता था। उसने स्वामीजी से पं० टीकाराम की विद्या की प्रशंसा की। अत: पं० टीकाराम आषाढ़ शुक्ल ५ संवत् १९२४ वि० तदनुसार ६ जुलाई, १८६७ ई० (शनिवार) को वनखण्डी महादेव पर ब्रह्मचारी को अपने साथ लेकर स्वामीजी की सेवा में पहुँचे। उस समय स्वामीजी ने पं० टीकाराम से पूछा तो उसने बताया कि उसे गायत्री मन्त्र कंठस्थ है। स्वामीजी के उसे सुनाने का कहने पर पं० टीकाराम ने कहा कि उसे उसके गुरुजी ने सुनाने से मना किया हुआ है। तब स्वामी जी ने कहा कि संन्यासी तो ब्राह्मणों का भी गुरु होता है, अत: उसे हमें सुनाने में कोई दोष नहीं है। ब्रह्मचारी ने भी स्वामीजी की इस बात का समर्थन किया तो पं० टीकाराम ने स्वामीजी को गायत्री मन्त्र सुना दिया। स्वामीजी पं० टीकाराम के मन्त्र के शुद्ध उचचारण से बहुत प्रसन्न हुए और सन्ध्या का पाठ स्वयं लिखकर उसे दिया। फिर तो पण्डित जी का प्रतिदिन ही स्वामी जी से धर्मालाप होने लगा जिससे उसके सभी संशय मिट गए। इस प्रकार पं० टीकाराम स्वामीजी के प्रथम शिष्य बन गए और अपने शेष जीवन भर बने रहे।

जब स्वामीजी के सान्निध्य से पं० टीकाराम का मूर्तिपूजा पर से विश्वास हट गया तो उसने अपनी सब देव मूर्तियाँ गङ्गा में प्रवाहित कर दीं और दौड़ा-दौड़ा अपने यजमानों के पास कर्णवास गया और वहाँ के सब यजमान ठाकुरों से यह सब वृतान्त कह सुनाया। इस सब वृतान्त को सुनकर ठा० गोपालसिंह आदि ने उसे उल्टे पाँव लौटाकर ऐसे अद्‌भुत संन्यासी स्वामी दयानन्द को रामघाट से कर्णवास बुलाकर ले आने को कहा।

## कर्णवास (१८६७ ई०)

इधर पं० टीकाराम तो रामघाट गया और उधर स्वामी दयानन्द स्वत: ही कर्णवास आकर गङ्गा के एक पक्के घाट पर एक नागा बाबा की मढ़ी में बसेंदू वृक्ष के नीचे आसन लगाकर विराजमान हो गए। पं० भगवानदास भागवती ने भोजन कराकर उनका सत्कार किया। अगले दिन पं० टीकाराम ने कर्णवास लौटकर सब लोगों से स्वामी जी के कर्णवास आगमन का समाचार सुनाया जिससे वहाँ के क्षत्रिय वर्ग तथा अन्य लोग स्वामीजी की भव्यमूर्ति के दर्शन करने आने लगे और उनके उपदेशों को श्रवण करके कृतकृत्य होने लगे। इस प्रकार स्वामीजी की ख्याति-चन्द्रिका दिनप्रतिदिन आसपास के ग्रामों तक फैलने लगी। इसी दौरान एक दिन पं० भगवानदास भागवती से स्वामीजी ने कण्ठी-तिलक आदि धारण करने का निषेध किया तो वे मन ही मन स्वामीजी से कुपित होकर अपने घर चले गए और उन्हें भोजन कराना भी बन्द कर दिया।

इस प्रकार कर्णवास में स्वामी जी को रहते हुए आषाढ़ से आश्विन (जुलाई से अक्टूबर, १८६७ ई०) आ गया। लोगों में उनके प्रति श्रद्धा के भाव उत्तरोत्तर बढ़ते चले गए, परन्तु भगवानदास आदि कुछ लोग इसे देखकर उनसे कुढ़ने लगे। आश्विन में अनेक लोग गङ्गास्नान के लिए कर्णवास आते हैं जिन्होंने भी स्वामी जी के दर्शन किए और उनके उपदेश श्रवण किए। इन दर्शनार्थियों ने तब तक ऐसा कोई विचित्र संन्यासी नहीं देखा था जो मूर्तिपूजादि का खण्डन करता हो। इसलिए वे उसके इन अश्रुतपूर्व उपदेशों को अपने-अपने गाँवों तक भी ले जाकर फैलाने लगे। इससे उस क्षेत्र में स्वामी दयानन्द की लोकप्रियता निरन्तर विस्तारित होती चली गई और अपार जनसमूह उनके आसपास जुटने लगा। स्वामी दयानन्द की यह लोकप्रियता भगवानदासादि को असह्य होने लगी। अत: उन्होंने दयानन्दरूपी इस कण्टक को दूर करने के लिए शास्त्रार्थ कराने की ठानी और वे अनूपशहर निवासी पं० अम्बादत्त पर्वती को उनसे

शास्त्रार्थ कराने के लिए बुला लाए जो उस क्षेत्र में संस्कृत में एक बहुत व्यत्पुन्न व्यक्ति समझा जाता था। इस प्रकार स्वामी दयानन्द और पं० अम्बादत्त के मध्य शास्त्रार्थ हुआ जिसमें पं० अम्बादत्त अपनी वृद्धता के कारण हाँफने लगा, उसका श्वाँस फूल गया था, उसे संस्कृत बोलने का अभ्यास भी नहीं था, अत: वह स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ में परास्त हो गया। उन्होंने एक सत्यप्रिय मनष्य की भाँति भरी सभा में मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार किया कि स्वामी जी जो कहते हैं, वह सत्य है, मूर्तिपूजा अवैदिक और त्याज्य है। उनसे इतना सुनते ही स्वामी दयानन्द के अनुयायियों के हृदय-कमल खिल उठे और पौराणिक दल में नैराश्य की घटा छा गई। अब पौराणिक लोग पं० हीरावल्लभ से, जो एक वेदज्ञ और पूर्ण वैयाकरण के रूप में उस समय जाने जाते थे, स्वामी जी का शास्त्रार्थ कराने के मन्सूबे बाँधने लगे। उधर कर्णवास के क्षत्रिय जन बड़ी संख्या में स्वामी जी से यज्ञोपवीत धारण करके उनके द्वारा उपदिष्ट पद्धति से अपने नित्यकर्म करने लगे।

## अहार ( १८६७ ई०)

कर्णवास से स्वामी दयानन्द अहार आए। यहाँ वे दो दिन हीरावल्लभ की कुटी में ही ठहरे। इस कुटी को उसकी ध्वस्त दशा में पं० लेखराम आर्यपथिक ने १५ दिसम्बर, १८८९ ई० को देखा था।

## चासी (१८६७ ई०)

अहार से स्वामी दयानन्द चासी आए और वहाँ वे एक कुटिया में ठहरे। यहाँ पहुँचते ही लोग उनके दर्शन करने के लिए भारी संख्या में आने लगे। इस समय कार्तिक स्नान (कार्तिक पूर्णिमा; १२ नवम्बर, १८६७ ई०) भी होने से वहाँ सहस्रों यात्रियों का आवागमन हो रहा था। इसलिए स्वामी दयानन्द को इनके मध्य निर्भयतापूर्वक धर्मोपदेश करने और मूर्तिपूजा तथा तीर्थस्नान के खण्डन करने का अवसर मिला। उनके निकट ही रह रहे एक बैरागी को स्वामी जी के ऐसे उपदेश बहुत ही खलते थे। अत: वह उनको वहाँ से टालने का उपक्रम करने लगा। स्वामी जी का यह स्वभाव उसे पता चल गया था कि जो कोई जैसा भी खाद्यपदार्थ उन्हें दे जाता था, वह वैसा ही उसे प्रेमपूर्वक ग्रहण कर लेते थे। अत: वह उन्हें अपनी धूर्ततावश दो-चार जले-भुने टिक्कड़ ही भिजवाने लगा और स्वामी जी भी उन्हें ही अपने सहज स्वभाववश पाने लगे। जब स्वामी जी को बैरागी की इस धूर्तता का पता चला तो वे यह स्थान छोड़कर अन्यत्र रहने चले गए।

चासी में स्वामी दयानन्द का जहाँगीराबाद (जिला- बुलन्दशहर) निवासी ओङ्कारदास बोहरा और पं० गङ्गाप्रसाद महाराज, खन्दोई ग्राम के छत्रसिंह जाट, चाँदोख (जिला- बुलन्दशहर) के निवासी ठा० महावीरसिंह से भी परिचय और संवाद हुआ था।

## रामघाट (१८६७ ई०)

चासी से आकर स्वामी दयानन्द मार्गशीर्ष संवत् १९२४ वि० तदनुसार नवम्बर-दिसम्बर, १८६७ ई० में रामघाट में गङ्गातट पर पद्मासनस्थ हुए। वे यहाँ १० बजे दिन से सायंकाल तक एक ही आसन पर बैठे रहते थे। इस दौरान उनके शरीर में कोई गति वा स्पन्दन नहीं होता था, वे किसी से कुछ बोलते भी नहीं थे। इसी समय एक पुराने मूर्तिपूजक क्षेमकरण ब्रह्मचारी का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट होता है जो कोई एक साधारण मूर्तिपूजक ही नहीं था, अपितु उसकी तो मूर्तियों का भार ही २० सेर (लगभग २० किलो) का था। वह जहाँ भी जाता था, वहाँ वह अपनी सभी मूर्तियों को घोड़े पर लादकर ले जाता था। वह अपने हाथों और गले में बड़ी-बड़ी रुद्राक्ष की मालाएँ पहने हुए रहता था। उसके मस्तक पर त्रिपुण्ड्र भी विराजमान रहता था। उसके समस्त शरीर पर चन्दन का लेप लगा रहता था। उसकी जिह्वा से उसके इष्टदेव

का नाम भी सदैव उच्चारित होता रहता था। पर उसके सामने जो व्यक्ति पद्मासनस्थ था, वह इसके विपरीत मूर्तिपूजा का परम शत्रु था। यदि उसे यह बात पता होती तो वह उनके ढिग भी न जाता, इसीलिए वह उनके पास अपने एक साथी के साथ जाकर एक श्लोक का एक चरण इस प्रकार बोला-

*'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:'*

इसे सुनकर संन्यासी (दयानन्द) मुस्कराता है और 'हूँ' शब्द करता है। पुन: उसके अनुरोध पर यह संन्यासी घाट से उठकर वनखण्डीश्वर महादेव में चला जाता है। वहाँ दो पण्डित संस्कृत में परस्पर विवाद कर रहे थे। यह संन्यासी भी उस विवाद में सम्मिलित हो जाता है। तब दोनों विवादकर्ता, संन्यासी के अनर्गल सरल और सुमधुर संस्कृत भाषण को सुनकर चकित हो जाते हैं। जब रात्रि हो जाती है, तब एक जन इस संन्यासी को भोजन करा देता है।

अगले दिन प्रात:काल होने पर यह संन्यासी स्नान करके ध्यानमग्न हो जाता है। तब लोगों को ज्ञात होता है कि यह संन्यासी कोई साधारण संन्यासी नहीं अपितु वह तो मूर्तिपूजा, अवतार, तीर्थ, भागवत आदि का खण्डन करने वाला प्रसिद्ध संन्यासी दयानन्द है। इन्हीं दिनों रामघाट में कृष्णानन्द नाम का एक वाममार्गी संन्यासी और रहता था। उसकी भी संस्कृतज्ञ होने के कारण वहाँ बड़ी ख्याति थी। लोग उससे कहते थे कि दयानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित करके हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा रखनी चाहिए। पर दयानन्द का सामना कर सकने का उसमें साहस न था। फिर भी लोगों ने उसे इसके लिए वाध्य कर दिया। एक व्यक्ति आकर कृष्णानन्द से पूछता है कि महाराज महादेव पर जल चढ़ा आऊँ? कृष्णानन्द उसे कुछ उत्तर दे, इससे पहले ही दयानन्द ने उससे कहा कि यहाँ महादेव नहीं, यहाँ तो पत्थर है। महादेव तो कैलाश पर है।

तब कृष्णानन्द दयानन्द से पूछता है- क्या महादेव यहाँ नहीं है?

दयानन्द उसे उत्तर देता है- वह महादेव तो मन्दिर के अतिरिक्त यहाँ भी है। वहाँ जाना व्यर्थ है।

इससे चिढ़कर कृष्णानन्द ने साकारवाद का अवलम्बन लिया और इसी विषय पर स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ करने लगा। स्वामी दयानन्द का तो यह मनचाहा विषय ही था। अत: उन्होंने धाराप्रवाह संस्कृत में बोलते हुए निराकार सिद्धान्त पर वेदों और उपनिषदों के प्रमाणों की झड़ी लगा दी। और कृष्णानन्द जी को उनका अर्थ मानने के लिए वाधित कर दिया। जब कृष्णानन्द और कोई प्रमाण न दे सका, तब उसने श्रोताओं की ओर मुखातिव होकर गीता का निम्न श्लोक पढ़ा-

*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।*

*अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्।।*

तब दयानन्द ने गर्जकर उससे कहा कि 'ईश्वर निराकार है, वह देह धारण नहीं करता। देह धारण करना तो जीव का धर्म है।' कृष्णानन्द ने स्वामी जी के इस कथन का कोई उत्तर न देकर फिर वही गीता का श्लोक पढा हैऔर दयानन्द की ओर न देखकर वह श्रोताओं की ओर ही देखता रहा। इस समय घबराहट के कारण उसके मुख में झाग आ गया था। तब दयानन्द ने उससे कहा कि 'आप लोगों से शास्त्रार्थ करते हैं, वा मुझसे? मेरी ओर मुख करके बोलिए।' यह सुनकर कृष्णानन्द के विचार ही उखड़ गए, वह चौकड़ी ही भूल गया, गले में घिग्घी बँध गई, उसका चेहरा फीका पड़ गया। किसी प्रकार लाज रह जाए, इसलिए उसने तर्कशास्त्र की शरण लेकर स्वामी जी से कहा कि 'अच्छा, लक्षण का लक्षण बताइए।' स्वामी जी ने उत्तर दिया कि जैसे 'कारण का कारण नहीं होता-

वैसे ही लक्षण का भी लक्षण नहीं होता है।' यह सुनकर श्रोताओं ने अपनी हँसी से कृष्णानन्द की हार प्रकाशित कर दी। अत: कृष्णानन्द भी सभास्थल से उठकर चला गया।

इस शास्त्रार्थ का और स्वामी जी के उपदेश का वहाँ उपस्थित मूर्तिपूजक क्षेमकरण पर यह प्रभाव पड़ा कि उसने अपनी समस्त मूर्तियों का भार गङ्गा के हवाले कर दिया जिसे ढोत-ढोते उसके घोड़े की पीठ भी क्षत-विक्षत हो गई थी। इसका नाम ब्र० क्षेमकरण था जिसने बाद में संन्यास ग्रहण कर लिया था।

यहाँ रहते हुए स्वामी दयानन्द कोलाहल स्वामी के रूप में प्रसिद्ध हो गए थे, क्योंकि जब बातचीत में दो-चार लोग एक साथ बोलने लगते थे तो वह कह दिया करते थे कि यह कोलाहल है।

एक दिन एक व्यक्ति ने गुरु की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा की तो स्वामीजी ने कहा कि ऐसे व्यक्ति को गुरुसमेत गङ्गा में प्रवेश कर जाना चाहिए।

इन दिनों स्वामी दयानन्द सबको सन्ध्या, गायत्री, बलिवैश्वदेव करने का और मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रादि त्यागने का उपदेश किया करते थे। पं० टीकाराम, पं० बालमुकुन्द, ब्रह्मचारी आनन्द किशोर आदि बीसियों लोग स्वामी जी का उपदेश ग्रहण कर मूर्तिपूजा करना छोड़ चुके थे।

इस प्रसङ्ग में स्वामी दयानन्द अपने पूना-प्रवचनों में कहते हैं कि "रामगढ़ से वाद (शास्त्रार्थ) आरम्भ किया। वहाँ पर जब-जब दो चार शास्त्री एक साथ बोलने लगते थे तब मैं 'कोलाहल' ऐसा कहता था। इसलिए आज तक वहाँ के लोग मुझे 'कोलाहल स्वामी' कहते हैं। वहाँ चक्राँकित मत के दस मनुष्य मुझे मारने को आये; परन्तु मैं उनसे बड़े संकट (= बड़ी कठिनाई) से बचा।"

## बेलौन (१८६७ ई०)

रामघाट से स्वामी दयानन्द बेलौन (जिला- बुलन्दशहर) पधारे। वहाँ वे खेरा नामक स्थान पर एक पीपल के वृक्ष के नीचे उतरे। वहाँ एक तख्त पड़ा हुआ था, स्वामी जी उसी पर बैठा करते थे। भक्तों ने उस तख्त पर एक गद्दा डलवा और मसनद रखवा दी थी। स्वामी जी उसी पर बैठकर लोगों को उपदेश किया करते थे। वे सभी आगन्तुकों से पूछते थे कि तुम्हें गायत्री आती है, वा नहीं? यदि उसे गायत्री नहीं आती होती थी तो वे स्वयं ही लिखकर उसे दे देते थे और प्रतिदिन उसका सहस्रवार जपने का उपदेश कर देते थे। एतदर्थ पं० इन्द्रमणि ने गायत्री की बहुत सी प्रतियाँ लिखकर उनके पास रख छोड़ी थीं जिन्हें वे वितरित किया करते थे। इस प्रकार कोई ५० प्रतियाँ उन्होंने लोगों को बाँटीं। एक मनुष्य ने स्वामी जी से पूछा कि राम और कृष्ण अवतार हैं वा नहीं? स्वामीजी ने उसे उत्तर दिया कि ईश्वर अवतार धारण नहीं करता। राम और कृष्ण केवल प्रतापी राजा थे। एक अन्य व्यक्ति के पूछने पर उन्होंने कहा कि गङ्गा केवल एक नदी है। एक दिन एक व्यक्ति ने उनसे आकर दण्डवत् कहा तो उन्होंने उससे कहा कि दण्डवत् तो तुम्हें अपने व्यवहार से मुझे करनी है!

इस प्रकार बेलौन में ३-४ दिन रहकर स्वामी जी कर्णवास चले गए।

## कर्णवास (१८६८ ई०)

स्वामी दयानन्द के कर्णवास पधारते ही आसपास के ग्रामों में उनके वहाँ आगमन का समाचार चतुर्दिक फैल गया। अत: ग्रामीण जनता उनका धर्मोपदेश श्रवण करने और अपनी-अपनी शङ्काएँ मिटाने के लिए उनके पास आने लगी। दूसरी ओर वहाँ के पौराणिकों को पं० अम्बादत्त के पराजय की कालिमा धोने की चिन्ता थी। अत: वे अनूपशहर गए और वहाँ से पं० हीरावल्लभ को पौष (जनवरी, १८६८ ई०) की किसी तिथि में कर्णवास बुला लाए। पं० हीरावल्लभ बड़े ठाठ-बाठ

के साथ वहाँ आए। वे अपने साथ अपने आराध्यदेवों की अनेक मूर्तियाँ एक सुन्दर से सिंहासन पर सजाकर लाए थे। जब उनका स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ तो उन्होंने सिंहासनस्थ अपनी देव मूर्तियों को अपने समक्ष रखकर यह प्रतिज्ञा की कि मैं दयानन्द से इन देव मूर्तियों को भोग लगवाकर ही उठूँगा। छः दिन तक शास्त्रार्थ नियम और न्यायपूर्वक होता रहा। अन्तिम दिन पं॰ हीरावल्लभ ने अपने अस्त्र-शस्त्र डाल दिए और अपनी हार अपनी वाणी और कर्म से भी स्वीकार कर ली। पण्डित जी ने हाथ जोड़कर स्वामी दयानन्द को प्रणाम किया और देवमूर्तियों को हाथ जोड़कर उन्हें सदा के लिए गङ्गा जल में विसर्जित कर दिया। इस समय कोई २,००० लोग वहाँ उपस्थित थे। स्वामी जी भी पं॰ हीरावल्लभ की इस न्यायप्रियता को देखकर गद्-गद् हो गए और उनकी समस्त उपस्थित जन समुदाय में मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। सभी निष्पक्ष मनुष्यों ने भी उन्हें हृदय से साधुवाद कहा। सबके मुखमण्डल हर्ष से खिल उठे। मूर्तिपूजकों के हृदय शोक से सन्तप्त और मुख विषाद से तेजोहीन हो गए और वह आह करते तथा ठण्डे साँसें भरते हुए सभा से उठकर चले गए। इस शास्त्रार्थ का प्रभाव यह हुआ कि बीसियों लोगों ने पं॰ हीरावल्लभ का अनुकरण करते हुए अपनी-अपनी देवमूर्तियाँ गङ्गा में प्रवाहित कर दीं।

इसके बाद तो कर्णवास आ-आकर आसपास के ग्रामीणजन स्वामी जी से यज्ञोपवीत धारण करने, सन्ध्या-गायत्री की दीक्षा लेने और उनके हृदय से अनुगामी होने लग गए। एक अवसर पर स्वामी जी की यज्ञवेदी पर एक साथ कोई ४० लोग दीक्षित हुए थे। कर्णवास के क्षत्रियों के कुलगुरु ने भी अपने अपने यजमानों का अनुकरण करते हुए मूर्तिपूजा छोड़ दी और अपनी कण्ठी भी तोड़ डाली।

इन दिनों स्वामी दयानन्द आठ गप्पों (१- अठारह पुराण व्यासकृत हैं, २- मूर्ति-पूजन, ३-शैव, शाक्त और रामानुजादि वैष्णव सम्प्रदाय, ४- तन्त्र ग्रन्थ, वाममार्गादि, ५- मन्दिरा, भाँग इत्यादि मादक वस्तुएँ, ६- व्यभिचार, ७- चोरी करना, ८- छल, कपट, अभिमान, झूठ इत्यादि) का खण्डन और आठ सत्यों का मण्डन किया करते थे।

एक दिन धर्मपुर के एक नवमुस्लिम ने स्वामी जी से आकर पूछा कि महाराज क्या हम भी किसी प्रकार शुद्ध हो सकते हैं? स्वामी जी ने उसे उत्तर दिया कि यदि तुम धर्म का आचरण करोगे, तो अवश्य शुद्ध हो सकोगे।

एक दिन एक ब्राह्मण ने स्वामी जी को भोजन का निमन्त्रण दिया। स्वामीजी ने उसे स्वीकार कर लिया। इस ब्राह्मण ने पहले अपने ठाकुर जी को भोग लगाकर तब स्वामीजी को भोजन परोसा। इस पर स्वामी जी ने उसे ग्रहण करने से इन्कार कर दिया और कहा कि हम किसी का उच्छिष्ट नहीं खाते।

माघ कृष्ण ३० संवत् १९२४ वि॰ तदनुसार २४ जनवरी, १८६८ ई॰ को सूर्यग्रहण था। इस अवसर पर हजारों नर-नारी गङ्गा-स्नान करने के लिए कर्णवास आए हुए थे। इनमें से किसी ने स्वामी जी से पूछा कि ग्रहण का सूतक कब तक मानना चाहिए तो स्वामी जी ने उसे कहा कि सूतक कोई वस्तु नहीं है। उसने फिर पूछा कि भोजन कब करना चाहिए तो कहा कि जब भूख लगे। परन्तु इस समय जो लोग स्नानार्थ वहाँ आए हुए थे, उन्होंने ग्रहण के दिन अपने अनुमान के आधार पर तीन बजे तक न तो स्नान ही किया, न भोजन ही। परन्तु इसके बाद जैसे ही वे स्नान करके भोजन करने लगे, तभी ग्रहण पड़ना आरम्भ हो गया। इस पर स्वामीजी हँस पड़े और कहने लगे कि इन लोगों की भी विचित्र गति है कि ग्रहण के पूर्व तो स्नान और भोजन न किया, पर अब ग्रहण पड़ने के समय कर रहे हैं!

ठाकुर गोपालसिंह ने स्वामीजी के रहने के लिए एक अलग से कुटिया बनवा दी थी और उसमें उनके लिए एक तख्त भी डलवा दिया था। स्वामी जी रात्रि में २ बजे ही उठकर गङ्गातट पर दूर तक चले जाते थे। वहाँ शौचादि से निवृत्त होकर समाधिस्थ हो जाते थे। समाधि खुलने पर व्यायाम करते और फिर कुटिया पर आकर अपने तख्त पर विराजमान हो जाते

थे। इतने में एक घण्टा दिन चढ़ जाता था और आगन्तुकों की भीड़ लग जाती थी। फिर वह लोगों की शङ्काओं का समाधान करने और उपदेश देने में लग जाते थे। शरीर पर रज लगाते और संस्कृत में ही सम्भाषण करते थे। उनके पास एक लँगोट के अतिरिक्त अन्य कोई वस्त्र वा पात्र तक नहीं रहता था। शीतकाल में भी उनके पास अन्य कोई वस्त्र नहीं रहता था। रात्रि में वे केवल पुआल ओढ़करऔर ईंटों का तकिया लगाकर ही सो जाते थे।

एक दिन बुलन्दशहर के कलेक्टर महोदय कर्णवास में स्वामीजी की कुटिया पर उनसे मिलने आए। जब कलेकटर साहब ने अपने आगमन की सूचना उन्हें मिलने के उद्देश्य से भिजवाई तो स्वामीजी ने उन्हें कहला भेजा कि अभी मुझे मिलने का अवकाश नहीं हैं। साथ ही उनसे यह भी पूछ लिया कि आगे उन्हें कब उनसे मिलने का अवकाश होगा? तब कलेक्टर ने स्वामीजी को कहलाया कि चार घण्टे के बाद उन्हें मिलने का अवकाश ही अवकाश है। यह सुनकर स्वामी जी अपनी कुटिया से तत्काल बाहर निकल आए और कलेक्टर से बोले कि एक मनुष्य को जिस पर अपने परिवार के भरण-पोषण का भार होता है, उसे तो अपना शिर खुजलाने तक का अवकाश नहीं मिलता है और आपके ऊपर तो सहस्रों मनुष्यों के सङ्कट-निवारण का भार है, तब आश्चर्य है कि चार घण्टे के बाद आपके पास अवकाश ही अवकाश है!

स्वामीजी ने द्वन्द्वों को जीत लिया था। उन्हें न जाड़ा सताता था, न गर्मी। माघ में एक दिन प्रातःकाल शीतल वायु चल रही थी। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। लोग गदेले और लिहाफों को छोड़कर बाहर न निकलना चाहते थे और महाराज भी उपदेश कार्य से अवकाश न लेते थे। उस दिन भी स्वामीजी सदैव की भाँति पद्मासन लगाए उपदेश कर रहे थे। उनके स्वर वा शरीर पर कोई कम्पन न था, परन्तु श्रोतागण रुई और ऊन के कपड़े पहने तथा कम्बल ओढ़े हुए भी ठिठुर रहे थे, उनकी बत्तीसी कटाकट बज रही थी। ठाकुर गोपालसिंह ने स्वामीजी से पूछा कि आप पर शीत का कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता है। स्वामीजी ने उन्हें कहा कि ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास ही इसका कारण है। ठाकुर साहब ने कहा कि हम कैसे जानें तो स्वामीजी ने अपने हाथों के अँगूठे दोनों घुटनों पर रखकर दबाए जिससे तत्काल सारे शरीर से पसीना चू निकला। इसे देखकर लोग चकित रह गए और उन्हें स्वामीजी के योगबल पर पूरा विश्वास हो गया।

कर्णवास की इस स्थिति के समय ही पीलीभीत से अङ्गद शास्त्री ने आत्मश्लाघा से परिपूर्ण संस्कृत भाषा में एक पत्र स्वामी जी को लिखा था। स्वामी जी ने भी संस्कृत भाषा में ही इसका एक लम्बा उत्तर उन्हें लिखा जिसके द्वारा उनकी संस्कृत भाषा और भागवत की अनेक अशुद्धियाँ उन्हें बता दी गई थीं। इसका फिर कोई उत्तर अङ्गद शास्त्री ने स्वामीजी को न दिया।

एक दिन स्वामीजीकर्णवास से रात्रि में ही कहीं निकल गए। वे जिन्हें मिले थे, वे दो अँग्रेज जिनमें से एक पादरी और दूसरा बदायूँ का कलेक्टर था, चाँदनी रात में शिकार करने के लिए निकले हुए थे। उन्होंने देखा कि स्वामीजी गङ्गा के दूसरे तट पर रेती पर आसन जमाए हुए समाधिस्थ बैठे हैं। भयङ्कर शीत पड़ रही है, पर यह साधु सर्वथा निर्वस्त्र होकर वहाँ बैठा हुआ है। जब स्वामीजी की आँख खुली तो वे दोनों अँग्रेज उनके पास गए और कलेटर साहब स्वामीजी से बोले कि हमें बड़ा आश्चर्य है कि आप नदी के तट पर, ठण्डी रेत में, रात्रि के समय, केवल एक लँगोट लगाए हुए ही ऐसे शीत में बैठे हुए हैं। पादरी बोला कि ये माल खाकर मुटा गए हैं, इन्हें जाड़ा कैसे लग सकता है? स्वामी जी ने कहा कि हम दाल-रोटी के खाने वाले क्या माल खा सकते हैं? माल तो आप लोग माँस, अण्डे और मदिरा के रूप में उड़ाते हैं, आकर थोड़ी देर मेरे पास बैठ जाइए। इस पर वे लज्जित हो गए। फिर विषय बदलकर उन्होंने इसका वास्तविक कारण जानना चाहा तो स्वामीजी ने कहा कि इसका मुख्य कारण अभ्यास है। सो जैसे आपका मुख सदा खुला रहने से उसे ठण्ड नहीं लगती, वैसे ही मेरा सारा शरीर सदैव

ही खुला रहता है, इसलिए उसे भी ठण्ड नहीं लगती। इसके बाद दोनों अँग्रेज स्वामीजी को नमस्कार करके वहाँ से चले गए।

कर्णवास में स्वामी जी माघ के अन्त तक वा फाल्गुन के आरम्भ तक अर्थात् ८ या ९ फरवरी, १८६८ ई० तक रहे।

## गढ़ियाघाट (१८६८ ई०)

कर्णवास से माघ मास के अन्त में चलकर स्वामी दयानन्द सोरों जिला- एटा (शूकर क्षेत्र), जहाँ वराह का मन्दिर है, आए जिसके पास ही गढ़िाघाट है। जब स्वामी जी यहाँ पहुँचे तब चैत्र संवत् १९२५ वि० (अप्रैल, १८६८ ई०) आ चुका था। यहाँ पर्वादि के अवसर पर सहस्रों नर-नारी एकत्रित होते हैं। सोरों में एक बलदेवगिरि गोसाईं प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। उसने पहले से ही स्वामी दयानन्द की प्रशंसा सुन रखी थी, इसलिए वह उनके दर्शनों के लिए लालायित था। जब उसे स्वामीजी के आने का समाचार मिला तो वह पं० नारायण चक्राङ्कित तथा कुछ अन्य पण्डितों को अपने साथ लेकर अपने स्थान अम्बागढ़ से गढ़ियाघाट आया। इस समय नारायण पण्डित से स्वामी दयानन्द की शास्त्र-चर्चा हुई। इस चर्चा में नारायण पण्डित कुछ मिनटों में ही निरुत्तर हो गया। उसे स्वामीजी की विचार शैली इतनी भाई और वह उनके विद्या, तप और तेज से इतना अधिक अभिभूत हो गया कि वह प्रतिदिन ही उनकी सेवा में उपस्थित होने लगा और उन्हें अपने घर से भोजन भिजवाने लगा।

एक दिन ऐसा हुआ कि एक ठाकुर और उसके तीन साथी स्वामीजी के स्थान पर आए। उनमें से दो के हाथों में तलवारें और एक के हाथ में एक लाठी थी। वे वस्तुत: स्वामीजी को आघात पहुँचाने के लिए आए थे। कारण यह था कि सोरों चक्राङ्कितों का गढ़ था। स्वामीजी उनके मत का तीव्र खण्डन करते थे और भागवत को अशुद्ध एवं त्याज्य बताते थे। यह ठाकुर भी निम्बार्क सम्प्रदाय का था। इसके ललाट पर भी निम्बार्कों का तिलक लगा हआ था, उसके गले में कण्ठी भी बँधी हुई थी। बल्देव भक्त उस समय स्वामीजी के पास ही बैठा हुआ था। वह ठाकुर आकर उजड्डता पूर्वक स्वामीजी के पास बैठ गया। बलदेव गिरि ने उसे रोका। स्वामीजी ने भी उसका असभ्य व्यवहार देखकर उसे समझाया, पर वह दुष्टता करता ही रहा। इस पर स्वामीजी उठकर दूसरी मढ़ी में जा विराजे। उसने अपने आदमियों को सङ्केत किया कि बलदेव गिरि को पकड़ लो, यह क्या बकता है? उसके आदमी बलदेव गिरि की ओर लपके, पर बलदेव गिरि भी दण्डपेल जवान था। उसने एक का हाथ और दूसरे का पाँव पकडकर उन्हें नीचे गिरा दिया। वह गिरा तो उसके हाथ से लाठी छूट गई। वह बलदेव गिरि ने उठा ली। बलदेव गिरि के अन्य साथी भी वहाँ थे। उनमें से एक ने ठाकुर के एक आदमी की दाढ़ी और तलवार पकड़ ली। ठाकुर का भी जूड़ा पकड़ लिया और सबके दो-दो लाठियाँ लगाकर उन्हें नीचे ढकेल दिया जिससे वे फिसलते-फिसलते गङ्गा में जा गिरे जहाँ वे दलदल में फँस गए। इस फसाद के समय वहाँ अनेक लोग इकट्ठे हो गए और ठाकुर को गालियाँ देने लगे कि दुष्ट तू मेरे गुरु जी से क्यों लड़ा? स्वामी दयानन्द ने बलदेव गिरि जी के इस शौर्य की प्रशंसा की और उनके यहाँ से यथापूर्व भोजन बुलवाकर ग्रहण किया।

## सोरों (१८६८ ई०)

गढ़ियाघाट से बलदेव गिरि स्वामी दयानन्द को यह कहकर अपने साथ सोरों लिवा ले गया कि वहाँ दश हजार ब्राह्मण रहते हैं, अत: वहाँ जाकर उपदेश करने से सैकड़ों मनुष्य मूर्तिपूजा के गर्त और चक्राङ्कितों के जाल से बाहर निकल जाएँगे। उसने स्वामी जी को अपने स्थान अम्बागढ में ही ठहराया। स्वामी जी के सोरों पहुँचते ही उनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई और पण्डितों तथा सामान्य जनों के झुण्ड के झुण्ड उनके दर्शनों के लिए आने लगे।

खरीद लेते हैं। किसी के पकाये हुए अन्न को जो चाहे खा सकता है [३६२]। इस उदारता ने सीमा का भी अतिक्रमण कर दिया है। किसी के जूठे अन्न को जो चाहे सो खा सकता है और यह कार्य पुण्य समझा जाता है [३६३]।

लेकिन आज भी बहुत से हिन्दुओं के लिये मन्दिर में प्रवेशाधिकार नहीं है। उनके लिए मन्दिर के प्रवेश द्वार पर 'पतित-पावन ठाकुर' नाम से एक चित्र रखा गया है। इस चित्र के दर्शन करके मुख्य मन्दिर में प्रवेश के सम्पूर्ण पुण्य को ये लोग लूट लेते हैं। जगन्नाथ की रथ-यात्रा और स्नान-यात्रा के रहस्य तो बहुत ही विस्मयकर और हास्यकर हैं। रथ-यात्रा आदि उत्सवों में सब ही जातियाँ जगन्नाथ को स्पर्श करती हैं और उनकी पूजा करती हैं। इससे सर्व-साधारण के पाप जगन्नाथ में घुसकर जगन्नाथ को अपवित्र बना देते हैं और जगन्नाथ खुद पतित और जाति-भ्रष्ट बन जाते हैं। इसलिए जगन्नाथ की स्नान-यात्रा से वे पवित्र बनाए जाते हैं। सर्वसाधारण के पाप धुलकर जगन्नाथ के शरीर से निकल जाते हैं जिससे जगन्नाथ का पातित्य नष्ट हो जाता है [३६४]। मूर्ति-पूजा के विविध विषयों में अर्थनीति का प्रभाव सर्वत्र ही दृष्ट होता

---

३६२- द्रष्टव्य- पूर्व पाद टिप्पणी क्र० ३५९

३६३- ''जब रसोई बनती है, तब कपाट बन्द करके रसोइयों के बिना अन्य किसी को न जाने न देखने देते हैं। भूमि पर चारों ओर छः और बीच में एक चक्राकार चूल्हे बनाते हैं। उन हण्डों के नीचे घी, मट्टी और राख लगा, छः चूल्हों पर चावल पका, उनके तले माँजकर उस बीच के हण्डे में उसी समय चावल डाल {उसके ऊपर उन छः हण्डों को रख} छः चूल्हों के मुख लोहे के तवों से बन्द कर, दर्शन करने वालों को जो कि धनाढ्य हों, बुलाके दिखलाते हैं। ऊपर-ऊपर के हण्डों से चावल निकाल, पके हुए चावलों को दिखला, नीचे के कच्चे चावल निकाल दिखाके उनसे कहते हैं कि 'कुछ हण्डों के लिए रख दो।' आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे' रुपए, अशर्फी धरते और कोई-कोई मासिक भी बाँध देते हैं।

शूद्र नीच लोग मन्दिर में नैवेद्य लाते हैं। जब नैवेद्य हो चुकता है, तब वे शूद्र नीच लोग जूँठा कर देते हैं। पश्चात् जो कोई रुपया देकर हण्डा लेवे, उसके घर पहुँचाते और दीन गृहस्थ और साधु-सन्तों को लेके शूद्र और अन्त्यजपर्यन्त एक पंक्ति में बैठ जूँठा एक-दूसरे का भोजन करते हैं। जब वह पंक्ति उठती है, तब उन्हीं पत्तलों पर दूसरों को बैठाते जाते हैं। (यह) महा अनाचार है।'' – **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

३६४- ''यह जगन्नाथ में वाममार्गियों ने भैरवी चक्र बनाया है क्योंकि सुभद्रा-श्रीकृष्ण और बलदेव की बहिन लगती है। उसी को दोनों भाइयों के बीच में स्त्री और माता के स्थान (में) बैठाई है। जो भैरवी चक्र न होता तो यह बात कभी न होती।..... जब बहुत से लोग दर्शन को आते हैं, तब **इतना बड़ा मन्दिर है कि जिसमें दिन में भी अन्धेरा रहता है और दीपक जलाना पड़ता है।** '' इत्यादि – **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने जगन्नाथ मन्दिर का सजीव और रोचक खण्डन किया है, जो उनके उसे देखे होने का प्रमाण है। इस पर यह कहा जा सकता है कि ये बातें उन्होंने उस व्यक्ति से जान-समझकर लिखी होंगी, जिसने बारह वर्ष पर्यन्त जगन्नाथ की पूजा की थी और जो विरक्त होकर मथुरा में उनसे मिला था। वस्तुतः उसका उल्लेख स्वामी दयानन्द को केवल कलेवर बदलने के प्रसङ्ग में ही करना पड़ा, क्योंकि यह कृत्य उसी वर्ष में किया जाता है जब आषाढ़ मास लौंध का महीना होता है, प्रतिवर्ष नहीं। चूँकि स्वामी दयानन्द पुरी में आषाढ़ शुक्ल २, संवत १९१४ वि० (२३ जून १८५७ ई०) से होने वाले रथयात्रा के उत्सव में सम्मिलित हुए थे, जिस वर्ष कि आषाढ़ मास लौंध का महीना नहीं था। अतः कलेवर बदलने सम्बन्धी जानकारी के लिए ही उस व्यक्ति का उल्लेख उन्हें करना पड़ा। उल्लेखनीय है कि आषाढ़ का महीना ८, ११ एवं १९ वर्षों के अन्तर पर लौंध का महीना होता है। इस दृष्टि से कलेवर बदलने का यह कार्य सन् १८५५, १८७४ एवं १८९३ ई० में किया गया था। अतः १२ वर्ष तक पुजारी के रूप में रहने वाले उस व्यक्ति ने १८५५ में कलेवर बदलने की घटना को देखा होगा और उसी आधार पर उसने उसके विषय में स्वामी दयानन्द को बताया होगा। जगन्नाथ के मन्दिर का बड़ा होना, उसमें दिन में अन्धेरा रहना और उसकी निवृत्ति के लिए दीपक का जलाया जाना नेत्रों के ही विषय हैं।

है। व्यवसाय-नीति पर ही इसी ढङ्ग से पण्डा लोगों ने तीर्थ स्थानों में मूर्तिपूजा को बनाए रखा है। पुरी में पण्डे लोगों का राज्य है। स्नान-यात्रा और रथ-यात्रा के बाद पण्डों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अत्याचार के कारण कोई योगी या साधक पुरी में नहीं ठहर सकता [३६५]।

यहाँ से प्रस्थान करने से पूर्व स्वमी दयानन्द ने जगन्नाथ मन्दिर के मालिक या खुरदा के राजा से प्रार्थना की थी-''राजन्! आप हमारे धर्म-रक्षक क्षत्रिय राजा हैं। आप हमारे धर्म को बचाइए। विदेशी वणिक् और विधर्मी ईसाई पादरी एक साथ मिलकर हमारे देश का सर्वनाश कर रहे हैं। ये लोग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से ही सत्यानाश कर रहे हैं। हम संन्यासी और साधु लोग देश में सर्वत्र देशवासियों को सचेत करने के लिए एकता-बद्ध हो रहे हैं। आप अपनी प्रजा को सचेत करने के साथ ही केवल नियन्त्रण का भार लीजिए। सैकड़ों संन्यासी आपके अधीन कार्य करेंगे। ये लोग आपकी प्रजा के अन्दर स्वधर्म की रक्षा और देश के प्रति भक्ति-भाव का प्रचार करेंगे। अगर इस कार्य के लिए आप असमर्थ हों तो जगन्नाथ मन्दिर की वार्षिक आय से कुछ अंश व्यय के लिए अपने किसी विश्वस्त व्यक्ति के हाथों में जमा कर दीजिये। ''

राजा ने धीर, स्थिर होकर सब सुना और कहा-''महाराज! इस विषय पर हमसे कभी दुबारा अनुरोध नहीं करना। इस प्रकार के दोनों कार्य ही विधि-विरोधी हैं। हम इसमें भाग नहीं ले सकेंगे। एक पैसा भी इसमें से हम व्यय नहीं करेंगे। आप मुझको क्षमा करें।" तब स्वामी दयानन्द निराश होकर वहाँ से चले आए[३६६]।

---

इसलिए स्वामी दयानन्द ने इस मन्दिर को देखा हुआ था, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।

३६५- रथयात्रा का उत्सव प्रतिवर्ष आषाढ़ शुक्ला द्वितीया से प्रारम्भ होकर ९ दिवसों तक चलता है।१८५७ ई० में यह अवधि २३ जून से १ जुलाई तक रही थी। यहाँ पर आगे '**मैं पुरी से नासिक की तरफ रवाना हो गया।**' ऐसा वाक्य लेखकों ने अपनी ओर से पूर्वापर तारतम्य स्थापित करने की दृष्टि से बढ़ा दिया प्रतीत होता था। क्योंकि पुरी और नासिक दक्षिण भारत में पूर्व और पश्चिमी दिशाओं में एक सीधी रेखा में भी परस्पर १२४० कि०मी० की दूरी पर स्थित हैं जिसकी यात्रा का कोई विवरण न होने से, यह वाक्य प्रक्षिप्त है, ऐसा स्वयमेव सिद्ध हो जाता है।

३६६- १० मई १८५७ को मेरठ में अचानक विद्रोह प्रारम्भ हो गया और वहाँ से यह विद्रोह ११ मई को दिल्ली में प्रवेश कर गया। फिर उत्तरोत्तर सारे देश में उसकी लपटें फैलने लगीं। इसकी जानकारी स्वामी दयानन्द को भी पुरी पहुँचने से पूर्व अथवा वहाँ पहुँचकर हो गई होगी। ऐसी स्थिति में उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे दक्षिण भारत की अपनी यह यात्रा बीच में ही स्थगित करके उत्तर भारत में आ जाते। वस्तुत: उन्होंने ऐसा ही किया जैसा कि अगले अध्याय में प्रतिपादित किया गया है।

अध्याय- पाँच

# सन् १८५७ (संवत् १९१४) की क्रान्ति

## { श्रावण से कार्तिक संवत् १९१४ पर्यन्त }

[३६७, ३६८]अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य-प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों से पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दु:ख भोगना पड़ता है।

कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।

-**सत्यार्थप्रकाश** (अष्टम समुल्लास)

**विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण**- आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषादि कुलक्षण, वेद-विद्या का अप्रचार आदि

---

३६७- चूँकि स्वामी दयानन्द स्वयं इस काल की अपनी गतिविधियों के विषय में मौन रहे हैं, इसलिए हम उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उनके ही ग्रन्थों एवं प्रवचनों से कुछ उद्धरण देकर तथा जीवन-चरित्रों में वर्णित प्रसङ्गों को उद्धृत करके इस अध्याय की पूर्ति कर रहे हैं।

३६८- इस काल में स्वामी दयानन्द उत्तर भारत में थे, इसकी पुष्टि में हम दो प्रसङ्ग आगे दे रहे हैं-

(१) ''संवत् १९१४ की यह दुर्दशा स्वामी दयानन्द से देखी न गई। उन दिनों भारतीयों का बहुत जन-धन लूटा जा रहा था। ऐसे विकट क्षणों में भारतीयों का मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में तैंतीस वर्षीय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अश्वारोही बनकर देश का भ्रमण किया। तब विदेशी शासकों की प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की थीं-वे जहाँ धन लूटने में लगे थे, वहाँ अकड़पूर्वक रहते हुए चुपचाप भारत छोड़ जाने के लिए कलकत्ता की ओर भी बढ़ रहे थे। रोहतक में भालौठ ग्राम के चौधरी शेरसिंह के दादा नान्हेंराम और सेहरी खाण्डा ग्राम के दो भाई भाड़े पर अपनी गाड़ी उत्तरप्रदेश में चलाते थे। जब उन्होंने एक नगर से माल अपनी गाड़ी में भर लिया, तो बेगार लेने वाले अँग्रेजों ने गाड़ियाँ वहीं रिक्त करवा लीं और लूट का धन उन गाड़ियों में भर दिया। जब गाड़ियाँ कुछ दूर पहुँची, तो सम्मुख से आते हुए एक पुरुष ने गाड़ी वालों को चुपके से कहा-'एक स्थान पर अँग्रेज बैलों को भी मारकर खा गए हैं, तुम्हें ईश्वर बचाए।' थोड़ी दूर चलकर दो भाइयों में से बड़ा भाई तो अवसर देखकर भाग निकला। गाड़ियाँ आगे चलती रहीं। कुछ दूर पहुँचने पर श्वेत वस्त्रों में दो मानव, जिनका विशाल शरीर था, जिन दो में एक का गोल मुख और बलिष्ठ दिव्य देह था, श्वेत घोड़ों पर आरूढ़ हुए मिले। कहने लगे-'तुम समय पाकर गाड़ियाँ छोड़कर भाग जाओ, आगे बचने की आशा नहीं है।' इस पुन: कथन पर अब उन्हें पूर्ण आशङ्का हो उठी। सायंकाल की बेला थी। विश्राम करने के ब्याज से उन्होंने एक तालाब पर गाड़ियाँ रोकीं। नान्हेंराम ने पलायित युवक के १२ वर्षीय छोटे भाई से कहा-'जब मैं भूसा लेने ग्राम की ओर चलूँ, तुम रोने लगना।' उसने वैसा ही किया और अँग्रेजों ने उसे भी साथ जाने की अनुमति दे दी। नान्हेंराम जी ने अँग्रेजों के रुपयों की एक थैली बगल में दबाकर कन्धे पर चादर डाल ली और बालक को लेकर ग्राम की ओर चले गये। रात ही रात वे १५ कोस चले। आगे

कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है।

क्या तुम लोग महाभारत की बातें, जो पाँच सहस्र वर्ष के पहिले हुई थीं, उनको भी भूल गए? देखो, महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे। आपस की फूट से कौरव-पाँडव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा, वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दु:खसागर में डुबा मारेगा? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्रहत्यारे, स्वदेशविनाशक नीच के दुष्टमार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दु:ख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करें कि यह राजयोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।......

---

कोस चले। आगे जाकर उन्होंने घोड़ी मोल ली। दोनों घोड़ी पर बैठ रोहतक आ गए। बैल और गाड़ियाँ, घोड़ी बेचकर खरीद लीं। फिर सीधे अपने ग्राम चले आए। सम्पूर्ण घटना घर आ सुनाई *।

स्वामी दयानन्द उन दिनों राज्य विप्लव में सम्मिलित होने के कारण अति प्रसिद्ध थे। घटना का बोध होने पर पण्डित बस्तीराम ने कहा-'दो अश्वारोहियों में गोल मुख वाले तो स्वामी दयानन्द थे। उन्होंने परिस्थितिवश श्वेत वस्त्र धारण कर रक्खे थे **।'' – **भारत की एक विभूति : महर्षि दयानन्द सरस्वती** (जीवन कथा) (पृ० ३१-३२)

* भालौठ (रोहतक) निवासी आर्यसमाज के प्रधान श्री शेरसिंह जी का वक्तव्य, जो उन्होंने अपनी दादी से सुना था।

** पण्डित बस्तीराम ने स्वामी दयानन्द जी के अनेक बार दर्शन किए थे।

(२) ''महर्षि दयानन्द १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के अधिनायक ही नहीं वरन् योद्धा भी थे। श्री स्वामी जी उन दिनों एक अपने जैसे ही बलिष्ठ ब्रह्मचारी के साथ श्वेत घोड़े पर सवार रहते थे और तलवार हाथ में रहती थी। यह बात स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज को सर्वखाप पंचायत के प्रधान के भ्राता जी से विदित हुई। घुड़सवार स्वामी जी ने बताया था कि पीछे अँग्रेज सिपाही आ रहे हैं। कहीं छुप जाओ, वरना मार दिये जावोगे। इसी जाट को पुन: मिलने पर उस व्यक्ति ने गदर की बात पूछी, पर ऋषि ने बताया कि हम सब बातें बता नहीं सकते, नही तो फाँसी के तख्ते पर लटका दिए जायेंगे। गदरोपरान्त महाराज पुन: मिले और मुस्करा दिये तथा अन्य बातें बताने से इन्कार कर दिया।''

– **सार्वदेशिक साप्ताहिक** (३१ जनवरी १९७१, पृ० ८)

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी अजमेर (१९८३) के अवसर पर जब हमने इस विषय में परोपकारिणी सभा के प्रधान स्वामी ओमानन्द जी महाराज से पूछ-ताछ की, तो उन्होंने इन घटनाओं को सत्य बताया था और कहा था कि पहली घटना की खोज तो उन्होंने ही स्वयं की थी।

इन घटनाओं में अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है क्योंकि ऐसे संस्कार स्वामी दयानन्द में विद्यमान थे, यह निम्न प्रसंगों से स्पष्ट हो जाएगा-

(क) ''टंकारा में देवचन्द भगवान नामक एक वैश्य निवास करते थे जिनका देहान्त अब से थोड़े ही वर्ष पहले (संवत् १९७१ अथवा सन् १९१४ ई० में) हुआ है। उनका जन्म संवत् १८८१ में हुआ था और ऋषि दयानन्द ने भी इसी संवत् में जन्म ग्रहण किया था। इससे उसकी आयु प्राय: ९० वर्ष की थी। उसने उनसे कहा था-' भाऊ के समय में एक ब्राह्मण कर्मचारी थे। उनका नाम कर्शनजी तिवाड़ी था। उनका घोड़ा दरबार में बँधा करता था। उनका एक पुत्र दयाराम था। वह उनके घोड़े को प्रतिदिन दो बार नदी पर जल पिलाने ले जाया करता था। दयाराम को लोग दयाल-दयाल भी कहा करते थे। फिर वह एक दिन घर छोड़कर निकल गया।''

– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-२ का परिशिष्ट-१, पृ० ३७७)

(ख) ''जब मैं पितृगृह में रहता था तो एक समय ऐसा हुआ कि हमारे एक पड़ौसी ने हमारे एक खेत पर अधिकार कर लिया। जब पिताजी ने मुझे यह बात सुनाई तो मुझे इतना आवेश आया कि तलवार लेकर गया और आक्रमणकारी पड़ौसी और उसके आदमियों को मैंने अकेले ही भगा दिया। अब भी यदि दश-पन्द्रह गुण्डे मुझ पर आक्रमण करेंगे तो उनके लिए मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ।''

जब से विदेशी माँसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं को मारने वाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं, तब से क्रमश: आर्यों के दु:ख की बढ़ती होती जाती है क्योंकि 'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'। जब वृक्ष का मूल ही काट दिया जाय, तो फल-फूल कहाँ से हों?

–**सत्यार्थप्रकाश** (दशम समुल्लास)

## तब क्या करना चाहिए ?

| | |
|---|---|
| **इदानीं सभायां कस्य विषयस्योपरि विचारो विधातव्य:?** | इस समय सभा में किस विषय पर विचार करना चाहिए? |
| ; q)L; A | युद्ध अर्थात् लड़ाई का। |
| rsu l g ; q)ad Ùk.Z;au ok\ | उसके साथ युद्ध करना चाहिए वा नहीं? |
| ; fn dÙk.Z;a r fgZd Fke\~ | यदि करना चाहिए, तो कैसे? |
| ; fn l èkekRek r nk r qu dÙk.Z; eA | यदि वह धर्मात्मा हो तब तो उससे युद्ध करना योग्य नहीं। |
| **पपिष्ठश्चेत्तर्हि तेन सह योद्धव्यमेव।** | और जो पापी हो तो उसके साथ युद्ध करना ही चाहिए। |
| **सोऽन्यायेन[३६९] प्रजां सततं पीडयति, अतो महापापिष्ठ:।** | वह अन्याय[३६९] से प्रजा को निरन्तर पीड़ा देता है, इस कारण से बड़ा पापी है। |
| **एवं चेत्तर्हि शस्त्रास्त्रप्रक्षेपयुद्धकुशला बलिष्ठा** | यदि ऐसा है तो शस्त्र-अस्त्र फेंकने वा चलाने में और |

(ग) ''कर्णसिंह महाराज को इसी प्रकार गालियाँ देने लगा। महाराज पद्मासन लगाए सुनते और हँसते रहे। कहते हैं कि उसने महाराज पर तलवार चलाई। तब महाराज ने गरजकर उसके हाथ से तलवार छीन ली और पृथ्वी पर टेककर तोड़ दी और कहा कि कहे तो यह तलवार तेरे शरीर में घूँस दूँ।''

(घ) ''तुम यह मत समझो कि हम केवल साधु या फकीर हैं। यह मत समझना कि तुम हमारा यथोचित सम्मान न करके हमारे काम की अवहेलना कर सकोगे और जो कुछ तुम्हारा हमसे ठहरा है, उससे फिर सकोगे। यदि ऐसा करोगे तो हम एक ही थप्पड़ में तुम्हारे बत्तीसों दाँत तोड़ डालेंगे।''

– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० २१७, १५९, ४९)

उक्त घटनाओं से स्वामी दयाननद के घुड़सवारी करने एवं तलवार चलाने में अभ्यस्त होने तथा अपने विरोधियों के प्रति उग्रता से पेश आने का सङ्केत मिलता है।

पीछे हमने जो दो घटनाएँ दी हैं, वे दिल्ली के आसपास की उस समय की हैं, जब २१ सितम्बर १८५७ को उसका पतन हो गया और दिल्ली पुन: अँग्रेजों के अधिकार में चली गई। इसके उपरान्त अँग्रेजों ने दिल्ली की भयङ्कर लूट का सिलसिला जारी कर दिया था। इससे जाना जाता है कि स्वामी दयानन्द पुरी से जुलाई १८५७ के आरम्भ में चलकर (अथवा अश्वारोही बनकर) उत्तर भारत में पहुँचकर दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्र में सक्रिय रहे थे। उस समय उनका अश्वारोही बनना एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्र गमनागमन के उद्देश्य से और तलवार धारण करना युद्ध के उस वातावरण में आत्म-रक्षार्थ हो सकता है।

३६९- ''अँग्रेज लोग अपने मनुष्यों पर अत्यधिक कृपा दृष्टि रखते हैं। यदि कोई गोरा या फिरङ्गी किसी देशी की हत्या कर दे और वह न्यायालय में कह दे कि मैंने शराब पी हुई थी तो उसको छोड़ देते हैं। यह एक बड़ा अन्याय है। यही दशा बिलकुल दुर्योधन की थी। जब उसकी आँखें अपने नियत स्थान से निकल कर मस्तक पर चली गईं तो राज्य का सत्यानाश हो गया। इसी प्रकार यहाँ भी यदि अधिक अन्याय करेंगे तो राज्य अधिक न रहेगा जैसा कि उन्होंने लखनऊ के बलवे (झगड़े) में कुछ अँग्रेजों की हत्या के बदले में अनाथ और निरपराध हिन्दुस्तानियों को मार डाला।''– **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (पं० लेखराम कृत, पृ० ३५५)

| | |
|---|---|
| **कोशधान्यादिसामग्रीसहिता सेना युद्धाय प्रेषणीया।** | युद्ध में कुशल, बड़ी लड़ने वाली, खजाना और अन्नादि सामग्री सहित सेना युद्ध के लिए भेजनी चाहिए। |
| **सत्यमेव, अत्र वयं सर्वे सम्मतिं दद्मः।** | सच है, इसमें हम सब लोग सम्मति देते हैं। |
| **इदानीं कस्या दिशि कैः सह युद्धं प्रवर्त्तते?** | इस समय किस दिशा में किस-किस के साथ युद्ध हो रहा है? |
| **पश्चिमायां दिशि यवनैः सह हरिवर्षस्थानाम्[३७०]।** | पश्चिम दिशा में मुसलमानों के साथ हरिवर्षस्थ अर्थात् अँग्रेज लोगों का[३७०]। |
| **पराजिता [३७१] अपि यवना अद्याप्युपद्रवं न त्यजन्ति। अयं खलु पशुपक्षिणामपि स्वभावोऽस्ति यदा कश्चिद् तद्गृहादिकं ग्रहीतुमिच्छेत् तदा यथाशक्ति युध्यन्त एव [३७२]।** | हारे हुए[३७१] मुसलमान लोग अब भी उपद्रव नहीं छोड़ते। यह तो पशु-पक्षियों का भी स्वभाव है कि जब कोई उनके घर आदि को छीन लेने की इच्छा करता है तब यथाशक्ति युद्ध करते अर्थात् लड़ते ही हैं[३७२]। |

– **संस्कृतवाक्यप्रबोधः** (राजसभा प्रकरणम्)

## युद्ध कैसे लड़ें ?

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जावे, तब अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध और यात्रा की सब सामग्री यथाविधि करके, सब सेना, यान, वाहन, शस्त्रास्त्रादि पूर्ण लेकर, सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओर के समाचारों को देने वाले पुरुषों को गुप्त स्थापन करके शत्रुओं की ओर युद्ध करने को जावे।

तीन प्रकार के मार्ग **अर्थात् एक स्थल = भूमि में, दूसरा जल = समुद्र वा नदियों में, तीसरा आकाश-मार्गों को शुद्ध बनाकर; भूमि मार्ग में रथ, अश्व, हाथी; जल में नौका और आकाश में विमानादि यानों** से जावे। और पैदल, रथ, हाथी, घोड़े, शस्त्र-अस्त्र और खान-पानादि सामग्री को यथावत् साथ ले बलयुक्त पूर्ण करके किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके शत्रु के नगर के समीप धीरे-धीरे जावे।

जो भीतर से शत्रु से मिला हो और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रक्खे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे, उसके आने-जाने में, उससे बात करने में अत्यन्त सावधानी रक्खें क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मित्र पुरुष को बड़ा शत्रु समझना चाहिये।

**सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखावे और आप सीखे तथा अन्य प्रजाजनों को सिखावे। जो**

---

३७०- ''जिस समय यह पुस्तक (= **संस्कृतवाक्यप्रबोधः**) लिखी गई थी उस समय अफगानों के साथ अँग्रेजों का युद्ध हो रहा था। अफगानों के साथ दूसरी लड़ाई सन् १८७८-७९ में तथा तीसरी १८७९-८१ तक हुई थी। सम्भवतः यहाँ अफगानों की तीसरी लड़ाई की ओर संकेत है क्योंकि यह पुस्तक सन् १८८० के फरवरी वा मार्च में लिखी गई थी।''

– **पं० युधिष्ठिर मीमांसक**

३७१- ''सन् १८७८-७९ के युद्ध में अफगान पराजित हो गए थे, परन्तु उन्होंने कुछ समय पीछे ही अफगानिस्तान में स्थित अँग्रेज रेजीडेण्ट Louis Cavagnari को मार डाला था। इस पर तीसरी लड़ाई आरम्भ हुई।'' – **पं० युधिष्ठिर मीमांसक**

३७२- ''ऋषि दयानन्द ने यहाँ परोक्ष रूप से गहरी राजनीति का परिचय दिया है और अफगानों की दूसरी लड़ाई में अफगानों से बलात् छीने हुए क्वेटा और विलोचिस्तान की ओर संकेत करके भारत के प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध (सन् १८५७) को युक्त बताया है और आगे भी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते रहने का संकेत किया है।'' – **पं० युधिष्ठिर मीमांसक**

**पूर्व–शिक्षित योद्धा होते हैं, वे ही अच्छे प्रकार लड़–लड़ा जानते हैं। जब शिक्षा करे,** तब **'**दण्डव्यूह**'** = दण्ड के समान सेना को चलावे, **'**शकट**'** = जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान, **'**वराह**'** = जैसे सूअर एक–दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं और कभी–कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं जैसे, **'**मकर**'** = जैसे मगर पानी में चलते हैं, वैसे सेना को बनावे। **'**सूचीव्यूह**'** जैसे सुई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है, वैसी शिक्षा से सेना को बनावे। [ और जैसे **'**गरुड़**'** = ] नीलकण्ठ ऊपर–नीचे झपट मारता है, इसी प्रकार सेना को बनाकर लड़ावे।

जिधर से भय विदित हो, उसी ओर सेना को फैलावे। सब सेना के पतियों को चारों ओर रखके **'**पद्मव्यूह**'** अर्थात् पद्माकार चारों ओर से सेनाओं को रखके मध्य में आप रहे।

सेनापति और बलाध्यक्ष अर्थात् आज्ञा के देने और सेना के साथ लड़ने–लड़ाने वाले वीरों को आठों दिशाओं में रक्खे। जिस ओर से लड़ाई होती हो, उसी ओर सब सेना का मुख रक्खे। परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबन्ध रक्खे। **नहीं तो पीछे वा पार्श्व से शत्रु की घात होने का सम्भव होता है।**

जो गुल्म अर्थात् दृढ़ स्तम्भों के तुल्य, युद्धविद्या से सुशिक्षित, धार्मिक, स्थित होने और युद्ध करने में चतुर, भयरहित और जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो, उनको चारों ओर सेना के रक्खे।

जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो, तो मिलकर लड़ावे। और कम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवे। **जब नगर, दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो,** तब 'सूचीव्यूह' अथवा 'वज्रव्यूह**'** = **जैसे दुधारा खड्ग दोनों ओर [ काट करता है, वैसे ]** युद्ध करते जायें और प्रविष्ट भी होते चलें। **वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावें।**

**जो सामने शतघ्नी = तोप वा भुशुण्डी = बन्दूक छूट रही हो, तो 'सर्प–व्यूह' = अर्थात् सर्प के समान सोते–सोते चले जायें। जब तोपों के पास पहुँचे, तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्हीं तोपों से वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारें। अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें। बीच में अच्छे–अच्छे सवार रहें। एक बार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न–भिन्न कर पकड़ लें अथवा भगा दें।**

जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथ, घोड़े और पदातियों से और जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका और थोड़े जल में हाथियों पर, वृक्ष और झाड़ी में बाण तथा स्थल बालू में तलवार और ढाल से युद्ध करें-करावें।

जिस समय युद्ध होता हो, उस समय लड़ने वालों को उत्साहित और हर्षित करें। जब युद्ध बन्द हो जाय, तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो वैसे वक्तृत्वों से सबके चित्त को **खान–पान, अस्त्र–शस्त्र, सहाय और औषधादि से** प्रसन्न रक्खे। **व्यूह के बिना लड़ाई न करे न करावे।** लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि ठीक–ठीक लड़ती है वा कपट रखती है।

किसी समय उचित समझे, तो शत्रु को चारों ओर से घेरकर रोक रक्खे और इसके राज्य को पीड़ित कर, शत्रु के चारा, अन्न, जल और ईन्धन को नष्ट [ वा ] दूषित कर दे।

शत्रु के तालाब, नगर के प्रकोट और खाई को तोड़–फोड़ दे। रात्रि में उसको त्रास = भय देवे और जीतने का प्रयास करे।

जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे, तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे। और **उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त**

**राजनीति है, उसके अनुसार चलके न्याय से प्रजा का पालन करना होगा। ऐसे उपदेश करे और ऐसे पुरुष उसके पास रक्खे कि जिससे पुन: उपद्रव न हो** और जो हार जाय उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे। **और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो। जो उसको बन्दीगृह करे, तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रक्खे। जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे।**

क्योंकि संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति और देना प्रीति का कारण है। और विशेष करके समय पर उचित क्रिया करना। और उस पराजित के मनोवांछित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है। **और कभी उसको चिड़ावे नहीं, न हँसी और ठट्ठा करे। न उसके सामने 'हमने तुझको पराजित किया है' ऐसा भी कहे। किन्तु 'आप हमारे भाई हैं' इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करे** [३७३]। – **सत्यार्थप्रकाश** (षष्ठ समुल्लास)

राजपुरुषों का युद्ध समय में भी चौका लगाकर रसोई बनाके खाना अवश्य पराजय का हेतु है। किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है।

इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पकाकर खावें। परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त देश भर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया है। –**सत्यार्थप्रकाश** (दशम समुल्लास)

आर्य लोगों को 'कवायद क्या है?' यह विदित न था-ऐसा बहुत से अँग्रेजी पढ़े हुए लोग कहते हैं, परन्तु यह कहना पागलपन का है। कारण-मकरव्यूह, बलाकाव्यूह, सूचीव्यूह, शूकरव्यूह, शकटव्यूह, चक्रव्यूह इत्यादि कवायद के नाना प्रकार प्राचीनकाल में आर्य लोगों को विदित थे और सैन्य में भी भिन्न-भिन्न टोलियों पर दशेश, शतेश, सहस्रेश ऐसे अधिकारी रहते थे और उस समय उनके हथियार अर्थात् शक्ति, असि, शतघ्नी, भुशुण्डी-ये होते थे। **अँग्रेज लोगों में अब तक 'व्यूह कैसे रचना'-इसका पूर्ण ज्ञान नहीं है** [३७४]। थोड़ी सी कवायद करते हैं, उतने ही से वे प्राचीन आर्य लोगों की अपेक्षा कुशल हैं-ऐसा तुम्हें प्रतीत होता है। सारांश-**'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते'**-यह कहावत सत्य है।......

पहले समय में जो कोई युद्ध में मरता तो उसके लड़के-बालकों को वेतन मिलता था और युद्ध-प्रसंग में जो लूट मिलती, तो उसे नियत समय पर व्यवस्था से बाँट देते थे [३७५]। सैन्य की योग्य व्यवस्था के सम्बन्ध में उस समय बहुतेरे कार्यों की ओर ध्यान दिया करते और समस्त ऐश्वर्य की मूल कारण सेना है, यह जानकर सेना के लोगों को किसी प्रकार की चिन्ता न होवे, इस विषय में अधिकारी लोग उस समय बहुत दक्ष होते थे। यदि सेना में कोई बीमार पड़ता तो उसकी विशेष चिन्ता की जाती थी।......

---

३७३- यद्यपि स्वामी दयानन्द ने युद्ध विद्या का यह विषय **मनुस्मृति** के १४ श्लोकों को आधार बनाकर लिखा है तथापि स्थूलाक्षरों में मुद्रित बातें श्लोकार्थों से अतिरिक्त लिखी हैं जो उनके जीवन में निकट से देखे गए एकमात्र १८५७ के इस युद्ध में प्राप्त अनुभव पर ही आधारित हैं।

३७४- यह उल्लेख भी स्वामी दयानन्द द्वारा अँग्रेजों का युद्ध प्रसङ्ग निकट से देखे होने का प्रमाण है जो १८५७ के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं हो सकता।

३७५- इस विषय में कलकत्ता-कथ्य के इस ग्रन्थ के पृष्ठ-१४६ पर वर्णित **'युद्ध-नीतिक कारण'** द्रष्टव्य हैं। युद्ध-प्रसङ्ग में लूट के वितरण की यह व्यवस्था भी इस ग्रन्थ के पूर्व पृष्ठ-१८३ की पाद-टिप्पणी क्र० ३६८ में वर्णित दिल्ली की लूट में हुई अनियमितता की ओर सङ्केत करती है।

इन दिनों हमारे राजा लोगों को खुशामदियों की चण्डाल चौकड़ी ने घेर रक्खा है। तो फिर सहज ही राजाओं में सारे दुर्गण वास करें, इसमें आश्चर्य ही क्या है? **यह हमारे आर्यावर्त्त का दुर्दैव है।**

–**पूना–प्रवचन** (नववाँ प्रवचन)

## हमारी विद्याएँ नष्ट कर दी गईं

देखो! चारों ओर जाति–विभाग होकर हम निर्बल हो गए हैं। पहले आर्य लोगों में शतघ्नी अर्थात् तोपें भी थीं और भुशुण्डी अर्थात् बन्दूकें भी थीं। यह सब हमारा बल किधर चला गया? आग्नेय अस्त्रादिकों का लोप कैसे हुआ?

..... पूर्वकाल में भिन्न–भिन्न विद्याएँ भारत–खण्ड में वेदों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध थीं। जैसे विमान विद्या, अस्त्र विद्या इत्यादि। इन विद्याओं के पुस्तक नष्ट हो गये तो वे विद्याएँ भी नष्ट हो गईं। मुसलमानों ने लकड़ी को जलाने की जगह पुस्तकों को जलाया। जैनियों ने भी ऐसा ही अनर्थ किया। सन् १८५७ के साल के लगभग जब दङ्गा–फसाद हुआ, उस समय किसी एक यूरोपियन ने अमृतराव पेशवा के भारी पुस्तकालय को जला दिया–ऐसी लोक में किंवदन्ती है। इससे कितनी विद्या नष्ट हो गई, इस पर विचार करो। – **पूना–प्रवचन** (पाँचवाँ प्रवचन)

जैनों ने और मुसलमानों ने इस देश को बहुत बिगाड़ा है, सो आज तक बिगड़ता ही चला आता है। आजकल अँग्रेज के राज्य होने से उन (जैन और मुसलमान) राजाओं के राज्य की अपेक्षा सुख हुआ है क्योंकि अँग्रेज लोग मत–मतान्तर की बात में हाथ नहीं डालते और जो पुस्तक अच्छा पाते हैं, उसकी भलीभाँति रक्षा करते हैं। जिस पुस्तक पर पहले सौ रुपये लगते थे, छापा होने पर वह पुस्तक पाँच रुपये में मिलता है। परन्तु अँग्रेजों ने भी एक काम अच्छा नहीं किया जो कि चित्रकूट पर्वत पर महाराजा अमृतराव जी के पुस्तकालय को जला दिया। उसमें करोड़ों रुपयों के लाखों अच्छे–अच्छे पुस्तक नष्ट हो गये। आर्यावर्त्त वासी लोग यदि इस समय सुधर जायें तो सुधर सकते हैं और जो पाखण्ड में ही रहेंगे तो इनका अधिक से अधिक नाश होगा, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि आर्यावर्त्त देश के बड़े–बड़े राजा और धनाढ्य लोग यदि ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या का प्रचार, धर्म से सर्व व्यवहारों का करना और वेश्या तथा परस्त्री गमनादिकों का त्याग करें तो देश के सुख की उन्नति हो सकती है। – **सत्यार्थप्रकाश** (प्रथम संस्करण)

---

३७६– १८५७ की इस राज्य क्रान्ति ने स्वामी दयानन्द को प्रभावित किया था वा नहीं, यह इसी से सिद्ध होता है कि उस समय ऐसे व्यक्ति जिनकी आयु १९ वर्ष या इससे अधिक थी और जो आगे चलकर किसी न किसी क्षेत्र में प्रसिद्धि को प्राप्त हुए, उन सब में [अर्थात् प्रसन्न कुमार टैगोर (१८०३–६८), राधानाथ सिकदार (१८१३–७०), सर सय्यद अहमद खाँ (१८१७–९८), देवेन्द्र नाथ टैगोर (१८१७–१९०५), पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासागर (१८२०–९१), प्यारे चरण सरकार (१८२३–७५), **स्वामी दयानन्द सरस्वती** (१८२५–८३), माइकेल मधुसूदन दत्त (१८२४–७३), दादाभाई नैरोजी (१८२५–१९१७), राजनारायण बोस (१८२६–१९००), दीनबन्धु मित्र (१८२९–७३), तारक नाथ पालित (१८३१–१९१४), प्रेमचन्द रायचन्द (१८३१–१९०७), डॉ० महेन्द्रलाल सरकार (१८३३–१९०४), क्रिस्तोदास पाल (१८३४–८४), रामकृष्ण परमहंस (१८३६–८६), रामकृष्ण भंडारकर (१८३७–१९२५), केशवचन्द्र सेन (१८३८–८४), बंकिमचन्द्र चटर्जी (१८३८–९४) इत्यादि ] से आगे चलकर जो व्यक्ति स्वराज्य का एकमात्र प्रणेता और प्रवक्ता बना, वह स्वामी दयानन्द ही था अन्य कोई नहीं। ऐसा इसीलिए हुआ कि इस गण युद्ध के स्वामी दयानन्द एक द्रष्टामात्र ही नहीं थे अपितु उसमें उनकी सक्रिय भागीदारी भी थी।

उपर्युक्त महापुरुषों में से बंकिमचन्द्र चटर्जी एवं डॉ० महेन्द्रलाल सरकार के कार्यों में जो स्वदेश भक्ति दिखाई पड़ती है, उसका श्रेय इनकी स्वामी दयानन्द से १८७२–७३ में कलकत्ता में भेंट को जाता है।

## देशोन्नति और स्वदेशी-प्रेरणा

देखो, (अँग्रेज लोग) अपने देश के बने हुए जूते को कार्यालय = आफिस और कचहरी में जाने देते हैं, और इस देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लेओ कि अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान, प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते।

देखो, कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज तक वे लोग मोटे कपड़े आदि पहिरते हैं जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे। परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा और तुममें से बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया। इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान ठहरते हैं। अनुकरण का करना किसी बुद्धिमान का काम नहीं।

हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। – **सत्यार्थप्रकाश** (ग्यारहवाँ समुल्लास)

## परमेश्वर से प्रार्थना

**इषे पिन्वस्व। ऊर्जे पिन्वस्व। ब्रह्मणे पिन्वस्व। क्षत्राय पिन्वस्व। द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्म। अमेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय।** – **यजुर्वेद** (३८/१४)

हे सर्वसौख्यप्रदेश्वर! हमको 'इषे' उत्तमान्न के लिए पुष्ट कर। अन्न के अपचन वा कुपच के रोगों से बचा तथा विना अन्न के दु:खी हम लोग कभी न हों। हे महाबल! 'ऊर्जे' अत्यन्त पराक्रम के लिए हमको पुष्ट कर। हे वेदोत्पादक! 'ब्रह्मणे' सत्यवेद विद्या के लिए बुद्ध्यादि बल से सदैव हमको पुष्ट और बलयुक्त कर। हे महाराजाधिराज परब्रह्मन्! 'क्षत्राय' अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिए शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर। **अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों** [३७७]। हे स्वर्गपृथिवीश! 'द्यावापृथिवीभ्याम्' स्वर्ग (परमोत्कृष्ट मोक्ष सुख), पृथिवी (संसार सुख)-इन दोनों के लिए हमको समर्थ कर। हे सुष्ठु धर्मशील! तू धर्मकारी हो तथा धर्म-स्वरूप ही हो। हम लोगों को भी कृपा से धर्मात्मा कर। 'अमेनि' तू निर्वैर है, हमको भी निर्वैर कर तथा कृपादृष्टि से 'अस्मे' (अस्मभ्यम्) हमारे लिए 'नृम्णानि' विद्या, पुरुषार्थ, हस्ती, अश्व, सुवर्ण, हीरादि रत्न, उत्कृष्ट राज्य, उत्तम पुरुष और प्रीत्यादि पदार्थों को धारण कर, जिससे हम लोग किसी पदार्थ के विना दु:खी न हों। हे सर्वाधिपते! ब्राह्मण (पूर्ण विद्यादि सद्गुणयुक्त) क्षत्र (बुद्धि, विद्या तथा शौर्यादि गुणयुक्त) 'विश' अनेक विद्योद्यम, बुद्धि, विद्या धन और धान्यादि बलयुक्त तथा शूद्रादि भी सेवादि गुणयुक्त उत्तम हमारे राज्य में हों। इन सबका धारण आप ही करो जिससे अखण्ड ऐश्वर्य हमारा आपकी कृपा से सदा बना रहे। –**आर्याभिविनय:** (२/३१)

## इस युद्ध का स्मरण

जब संवत् १९१४ (सन् १८५७ ई०) के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर, मूर्तियाँ अँग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्तियाँ कहाँ गई थीं। प्रत्युत वाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं (अर्थात् अंग्रेजों को) को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके (अर्थात् अँग्रेजों के) धुर्रे उड़ा देता और ये (अर्थात्

---

३७७- स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों (**आर्याभिविनय**, **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**, **गोकरुणानिधि** एवं **वेदभाष्य** आदि) में ऐसे विचार सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। विस्ताराशङ्कावश सबका सङ्कलन कर उन्हें यहाँ प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं है। परन्तु इनकी जानकारी के लिए पाठक स्व० इं० वी० उपेन्द्रराव (ई-६/१५८, प्राइवेट सेक्टर, अरेरा कालोनी, भोपाल-४६२ ०१६) की अँग्रेजी पुस्तक 'Dayananda-The Great Patriot and Nation Builder' (अप्रकाशित) को कभी पढ़ सकेंगे।

अँग्रेज) भागते फिरते (अर्थात् भारतवर्ष छोड़कर चले जाते)। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक (अर्थात् द्वारिका जी के रणछोड़ जी) मार खाय, उसके शरणागत (अर्थात् भक्तजन) क्यों न पीटे जायें[३७८]?

–**सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

## एक अँग्रेज की राय

व्याख्यान के अन्त में स्वीडिंग साहब ने उठकर महाराज की भूरि–भूरि प्रशंसा की और कहा कि यदि राजा और प्रजा का एक दूसरे के प्रति ऐसा ही व्यवहार हुआ होता जैसा कि विद्वान् व्याख्याता ने वर्णन किया है तो सिपाही–विद्रोह का हत्याकाण्ड ही न होता और राजा और प्रजा को वह विपत्तियाँ न सहनी पड़तीं, जो उन्हें सहनी पड़ीं।

–**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (भाग–२, पृ० १७६)

---

३७८– "Meanwhile the Waghers had continued their activities and many turbulent characters had begun to follow the example of Widha Manik, underterred by his fate. When in A.D. 1817 the British had handed over Okhamandal to the Gaekwad of Baroda, those leading Waghers who had been deprived of their lands were given pensions. But in A.D. 1857 some interference was made by the Gaekwad's Government regarding those pensions, and the angered recipients, only too glad of an excuse, created a disturbance which was not suppreesed until after the arrival of British troops in the district under Lieutenant Barton. **In the following year more discontented Waghers seized the fort at Dwarka, and were not driven out until British troops again attacked them.** It was now decided that the Gaekwad's Government should prosecute its own operations against the disturbers of the peace, and Lieutenant Barton withdrew his detachment. The Baroda troops now invested Wasai, and after a desultory siege the Waghers finally came to terms. But in A. D. 1859, encouraged by the events of the Mutiny, they rose enmasse and under the leadership of Jodho Manik seized the whole of the Okhamandal Peninsula. The Gaekwad's representative now wisely placed the affairs of the district entirely into the hands of the British. And a body of troops under Colonel Honner was sent to subdue the rising. The Waghers entered Kathiwad and took up a position on the Abpura Hills, from which after some fighting they were dislodged in December of the same year".

- **The History of Kathiawad from the Earliest Times**
*By Capt. H. Wilberforce-Bell (page 214-215) published in 1980*
*By Ajay Book Service, Darya Ganj; New Delhi-2*

**सत्यार्थप्रकाश** के प्रथम संस्करण में इस घटना का उल्लेख नहीं था। द्वितीय संस्करण के पृष्ठ–३२० पर जब इस घटना का विवरण २७ अगस्त १८८३ तक मुद्रित होकर स्वामी दयानन्द के पास जोधपुर में पहुँचा तो ३२० पृष्ठ की अधूरी छपी पुस्तक की एक प्रति उनसे ५ रु० मूल्य देकर खरीद ली गई जबकि बाद में सम्पूर्ण पुस्तक का मूल्य २।।) रु० ही (डाक व्यय सहित) रक्खा गया था। इसके कुछ दिनों के अन्दर ही उन्हें विष देकर अँग्रेजों द्वारा षड़यन्त्रपूर्वक मरवा डाला गया।

द्रष्टव्य–**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन–चरित्र** (पं० लेखराम कृत, पृ० ३८५)

अध्याय-छः

# गङ्गोत्री से रामेश्वर और लङ्का पर्यन्त

## [ मार्गशीर्ष १९१४ से कार्तिक (कृष्ण पक्ष) १९१७ वि० पर्यन्त ]

उससे [३७९] चलकर स्वामी दयानन्द काशीपुर आए और वहाँ से द्रोणसागर, जहाँ उन्होंने सारा हेमन्त ऋतु [३८०] व्यतीत किया [३८१]। फिर वहाँ से वे मुरादाबाद होते हुए सम्भल जा पहुँचे। फिर गढ़मुक्तेश्वर होकर गङ्गातट पर आ गए। इस समय

---

३७९- यद्यपि पूर्व प्रसङ्गानुसार 'उससे' का अभिप्राय 'रामगिरि के स्थान रामपुर' से है तथापि इस अध्याय के प्रयोजन के लिए इसे 'गङ्गोत्री से' माना जा सकता है क्योंकि स्वामी दयानन्द के अनुसार 'वे एक बार गङ्गोत्री से चलकर गङ्गासागर तक और एक बार **गङ्गोत्री से रामेश्वर तक गए थे।**' इस विषय में पूर्व पृ० १६९ की पाद-टिप्पणी क्र० ३३४ द्रष्टव्य है। उल्लेखनीय है कि गङ्गोत्री से रामपुर लगभग ४० कि०मी० और काशीपुर लगभग २०० कि०मी० दक्षिण में स्थित है।

जन्मचरित्र के पूर्व प्रसङ्ग (इस ग्रन्थ का पृष्ठ १६९) और यहाँ से आरम्भ हो रहे इस प्रसङ्ग के मध्य ठीक एक वर्ष का अन्तराल है क्योंकि इससे पूर्व भी स्वामी दयानन्द ने अपनी रामपुर पहुँच पर्यन्त एक-एक दिन की यात्रा का विवरण दिया था और यहाँ से आगे भी अपेक्षाकृत निकटवर्ती स्थानों का उल्लेख करके अगला विवरण दिया है परन्तु रामपुर से काशीपुर की मध्यवर्ती यात्रा का कोई विवरण नहीं दिया जबकि ये स्थान एक सीधी रेखा में भी परस्पर १६० कि० मी० दूर स्थित हैं और वास्तविक मार्ग से यह दूरी २०० कि०मी० तक हो सकती है। प्रतीत होता है कि दिल्ली की पराजय के उपरान्त स्वामी दयानन्द अन्य क्रान्तिकारियों के साथ अक्तूबर १८५७ में (कार्तिक सं० १९१४ वि०) गङ्गोत्री की ओर चले गये थे और वहीं से (गङ्गोत्री से) रामेश्वर तक की यह यात्रा उन्होंने आरम्भ की।

कलकत्ता कथ्य में इस यात्रा (अर्थात् गङ्गोत्री से नासिक तक की) का विवरण न लिखाने का कारण यही था क्योंकि स्वामी दयानन्द की यह यात्रा भी मूलत: १८५७ की क्रान्ति से ही सम्बन्धित ही थी, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट हो जाएगा, परन्तु जन्मचरित्र में इसे उन्होंने बाद में अत्यन्त सावधानी पूर्वक १८५७ की क्रान्ति में अपनी संलग्नता के उल्लेखों को छोड़कर लिखा दिया। इस प्रकार कलकत्ता कथ्य और जन्म चरित्र के अलग-अलग विवरणों द्वारा पाठकों में यह भ्रान्ति उत्पन्न हो गई कि स्वामी दयानन्द संवत् १९१४ के वर्ष (१८५७ ई०) में उत्तर भारत में नहीं थे।

३८०- पं० भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित **जन्म-चरित्र** में इस स्थल पर 'शरद ऋतु' लिखा मिलता है जो इसलिए त्रुटिपूर्ण है क्योंकि **'थियोसोफिस्ट'** में यहाँ पर 'Winter' शब्द आया है और स्वामी दयानन्द ने **'संस्कृत वाक्य प्रबोध'** के 'मिश्रित प्रकरण-१' में 'जाड़े में कहाँ रहा था?' इसका अनुवाद 'हेमन्ते क्व स्थित:?' किया है। अत: हमने यहाँ हेमन्त ऋतु (अर्थात मार्गशीर्ष-पौष = नवम्बर-दिसम्बर, १८५७ ई०) देना अधिक उपयुक्त समझा है। इसके उपरान्त अगली यात्रा आरम्भ करने का कारण कानपुर का तीसरा युद्ध (२८ नवम्बर से ६ दिसम्बर १८५७ ई० तक का) बना क्योंकि इस युद्ध में कैम्पवेल ने बिठूर पहुँचकर नानासाहब के राजमहल को ध्वस्त कर दिया था और वहाँ के सभी मन्दिरों को नष्ट कर सब कुछ लूट लिया था। अत: यह समाचार पाकर स्वामी दयानन्द जनवरी १८५८ में कानपुर की ओर चल पड़े।

३८१- पं० लेखराम आर्यपथिक ने इस स्थान पर अपनी असावधानीवश अस्थान पर यह उल्लेख किया है कि "हिमालय पर्वत पर पहुँच कर देह-त्याग करना चाहिए, ऐसी इच्छा हुई। परन्तु मन में यह विचार कर आ गया कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् ही देह छोड़नी चाहिए।" वस्तुत: यह प्रसङ्ग अलखनन्दा स्रोत का ही है जो पहले ही जन्म चरित्र और पूना-प्रवचन में (पूर्व पृ० १६८ पर) वर्णित हो चुका है। **'थियोसोफिस्ट'** में छपे अँग्रेजी जन्म-चरित्र में भी यह प्रसङ्ग यहाँ पर वर्णित नहीं है। इसी प्रकार पं० लेखराम ने आगे विभिन्न तिथियाँ और संवत् भी प्रक्षिप्त कर दिए हैं जो **'थियोसोफिस्ट'** में नहीं हैं।

उनके पास अन्य धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त शिवसंहिता, हठ [योग] प्रदीपिका, योगबीज और घेरण्ड–संहिता नामक पुस्तकें थीं जिन्हें वे अपनी यात्रा में पढ़ा करता थे। इनमें से कुछ पुस्तकें नाड़ीचक्रान्त एवं नाड़ीचक्रों से सम्बन्धित थीं जिनमें इनके अति विस्तृत विवरण दिए गए थे परन्तु वे उन्हें समझ नहीं पाते थे। फलस्वरूप इनकी यथार्थता के विषय में उन्हें सन्देह रहने लगा था। अपने इस सन्देह की निवृत्ति हेतु वे कुछ समय से यत्नशील भी थे, परन्तु अब तक उन्हें कोई अवसर प्राप्त नहीं हो पाया था। एक दिन दैवयोग से नदी में उन्होंने एक शव को बहते हुए देखा जिससे उन्हें वह अवसर प्राप्त हो गया, जब वे इन पुस्तकों में वर्णित शरीर रचनाशास्त्र एवं मनुष्यों के आन्तरिक अङ्गों से सम्बन्धित सिद्धान्तों की यथार्थता सम्बन्धी अपने सन्देहों की निवृत्ति कर सन्तुष्ट हो सकते थे। अतः उन्होंने तत्काल पुस्तकों को वहीं एक ओर रखकर कपड़े उतारे और दृढ़–सङ्कल्पित होकर नदी में कूद पड़े और शीघ्र ही उस शव को खींचकर किनारे पर ले आए। तत्पश्चात् एक बड़े चाकू से सावधानीपूर्वक उत्तम रीति से, जितनी उनमें क्षमता थी, स्वामी दयानन्द ने उस शव को चीरकर देखना आरम्भ किया। नाभि से पसलियों तक शरीर को काटकर कमल (हृदय) को निकाला और उसका ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया। इसी प्रकार शिर और ग्रीवा के भी एक भाग को काटकर उन्होंने सावधानीपूर्वक उनका पुस्तकों के विवरणों से मिलान किया। तब यह पाकर कि वे उनसे नहीं मिलते, उन्होंने उन पुस्तकों को वहीं फाड़कर टुकड़े–टुकड़े करके शव के साथ ही नदी में प्रवाहित कर दिया। उस समय से उन्हें निश्चय हो गया कि वेदों, उपनिषदों, पातञ्जल एवं सांख्य से भिन्न समस्त योग विषयक एवं शास्त्र विषयक ग्रन्थ झूठे हैं [३८२]। इसी प्रकार कुछ काल गङ्गातट पर विचरण करते हुए वे फर्रुखाबाद जा पहुँचे। तदनन्तर श्रृङ्गीरामपुर से आगे बढ़कर जब उन्होंने छावनी के पूर्व ओर की सड़क से कानपुर में प्रवेश किया [३८३], तब विक्रमाब्द [३८४] समाप्त हो रहा था।

३८२– इस विषय में पृष्ठ–३५ की पाद–टिप्पणी क्र० ४० द्रष्टव्य है।

३८३– इस वाक्य का वास्तविक तात्पर्य जानने के लिये हम यहाँ एक मानचित्र दे रहे हैं–




३८४– अर्थात् १५ मार्च सन् १८५८ ई० (संवत् १९१४)। हमारी धारणा है कि स्वामी दयानन्द ने यहाँ वही लिखा होगा जो हमने

**अगले पाँच महीनों**[३८५] में वे ***कानपुर और इलाहाबाद के मध्यवर्ती*** अनेक स्थानों पर गए[३८६]। भाद्रपद के प्रारम्भ में वे मिरजापुर आए, जहाँ वे ब्रिन्दाचल अशूलसजी के स्थान (= मन्दिर, समाधि, वेदी) के निकट [३८७] प्राय: एक महीने तक रहे। फिर आश्विन मास के प्रारम्भ में बनारस पहुँचकर (वरुणा एवं गङ्गा के सङ्गम पर स्थित) एक गुफा [३८८] में उन्होंने

---

ऊपर दिया है, परन्तु '**थियोसोफिस्ट**' के सम्पादक ने आर्य भाषा का अँग्रेजी में अनुवाद छापते समय पूर्व पृष्ठ-१४० पर आए संवत् १९११ की श्रृङ्खला में यहाँ संवत् १९१२ प्रक्षिप्त कर दिया। अथवा यह भी हो सकता है कि स्वामी दयानन्द ने यहाँ संवत् १९१४ ही लिखा हो परन्तु अनुवादक ने '४' को '२' पढ़ लिया हो, जैसा कि हस्तलेख में कभी-कभी '४' और '२' की एक जैसी बनावट से हो जाया करता है।

385- In Central India, south of Ganges, where the heat touched 115 degrees in the shade, it was worse. Under Major General Sir Hugh Rose a force of four thousand five hundred men fought a crushing **five-month** campaign against the rebels- marching more than a thousand miles in heat so terrible that the dead lay mummified, capturing one hundred guns, two fortresses, two cities, twenty forts, fighting sixteen actions. When the elephants, their feet red-raw gave up with tears of pain coursing down their cheeks, it was Rose's men who hauled the guns.

extract from *'The Indian Mutiny'* by Richard Collier published in 1963
Chapter- XLIII Ganges Valley (After 3rd December 1857)

३८६- अर्थात् १६ मार्च से ९ अगस्त, १८५८ ई० पर्यन्त। इस कालावधि में इस क्षेत्र में और उसके आस-पास निम्न घटनाएँ घटीं-

२१ मार्च को लखनऊ में लड़ाई समाप्त हो गई। फिर समस्त विद्रोही दिल्ली के शाह के बेटे शाहजादा फीरोज, बिठूर के नाना साहब, फैजाबाद के मौलवी और अवध की बेगम हजरत महल के नेतृत्व में बरेली की ओर कूच कर गए। २२ मार्च को कुँअर सिंह ने आजमगढ़ पर अधिकार कर लिया। १ अप्रैल को तात्याटोपे बेतवा-तट पर अँग्रेजों से पराजित हुए। ३-५ अप्रैल को अँग्रेजों ने झाँसी के किले पर अधिकार कर लिया और रानी लक्ष्मीबाई वहाँ से पलायन कर गईं। ६ मई को बरेली पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया। ७ मई को कूँच में ह्यूरोज ने विद्रोहियों को हराया। २४ मई को काल्पी में रानी लक्ष्मीबाई, बाँदा के नबाव और नाना साहब के भतीजे रावसाहब की ह्यूरोज से पराजय हुई। इन लोगों ने बाद में ग्वालियर जाकर १ जून को वहाँ अपना अधिकार जमा लिया। १७ जून को रानी लक्ष्मीबाई युद्ध करती हुईं लश्कर की पहाड़ी पर वीरगति को प्राप्त हुईं। तात्याटोपे वहाँ से बच निकले। २० जून को ग्वालियर पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया। जुलाई, अगस्त, सितम्बर में कैम्पवेल, होप ग्रान्ट और वालपोल ने प्रमुख विद्रोहियों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर मार डाला और उन तमाम दुर्गों पर अधिकार कर लिया जिनके स्वामित्व पर झगड़ा था। बेगम हजरत महल ने कुछ आखिरी लड़ाइयाँ लड़ीं, फिर वह नाना साहब के साथ राप्ती नदी पार कर नेपाल राज्य में चली गईं। अँग्रेजों ने **इलाहाबाद और कानपुर के मध्य** भारी कत्लेआम किया। गाँव के गाँव जला दिए गए और पेड़ों पर अनेक लोगों को लटकाकर फाँसी दे दी गई। स्वामी दयानन्द ने यहाँ यह सब देखा-सुना और क्रान्ति की असफलता देख दक्षिण की ओर चले जाने का निश्चय कर लिया क्योंकि भारत का वह भूभाग क्रान्ति से प्राय: अछूता रहा था।

३८७- स्थान के उल्लेख में यहाँ कुछ त्रुटि हुई है क्योंकि '**थियोसोफिस्ट**' के लिए अँग्रेजी में अनुवाद करते समय अन्यत्र भी ऐसा हो गया है। यथा-श्रङ्गीरामपुर के लिए Sreenjeeram. यहाँ का मुद्रित पाठ है-I stopped for a month or so near the shrine of Brindachal Asoolasjee.

३८८- इस गुफा का नाम 'आनन्द गुफा' है जहाँ स्वामी दयानन्द आश्विन संवत् १९१५ वि० के प्रारम्भ में ( अर्थात् ८ अक्टूबर, १८५८ के बाद) पहुँचे।

डेरा डाला, जो उस समय ब्रह्मानन्द सरस्वती [३८९] के स्वामित्व में थी। वहाँ वे काकाराम [३९०], राजाराम [३९१] और अन्य

३८९- इनका शुद्ध नाम ब्रह्मानन्द सरस्वती (पूर्व नाम रामेश्वर दवे) था किन्तु अनुवाद करते समय जब रोमन अक्षरों में इसे Brumananda Saraswati लिखा गया तो कम्पोजीटर ने r को h और m को n पढ़कर तथा na को छोड़कर Bhunanda Saraswati बना दिया क्योंकि हस्तलेख में कभी-कभी r को h और m को n पढ़ लिया जाता है। आजकल आत्मकथाओं में यह भूमानन्द सरस्वती हो गया है।

३९०- **काकाराम शास्त्री** (सं० १८१०-१९१७ वि०) **:** काकाराम शास्त्री के पिता का नाम पं० दिलाराम शास्त्री था जो मूलत**:** ग्राम-भम्भर, तहसील-रियासी (जम्मू) के रहने वाले थे। काकाराम की कुल परम्परागत शिक्षा वहीं हुई। बालक काकाराम की शास्त्र-नैपुण्यता से प्रभावित होकर इनके पिता इन्हें देशाटन कराते हुए १६ वर्ष की आयु में काशी ले आए जहाँ दशाश्वमेध घाट पर आकर उन्होंने अपना डेरा जमाया। इसके बाद एक संन्यासी ने प्रसन्न होकर अपने शिष्य बाबू बुद्धसिंह खत्री से, जिनका मकान मणिकर्णिकेश्वर महादेव के सामने, जो मणिकर्णिका घाट के ऊपर था, इन्हें रहने के लिए एक कमरा दिलवा दिया। कालान्तर में वह मकान और १५०० रु० की राशि उस व्यक्ति ने इन्हें ही भेंट में दे दी। जब महाराजा काश्मीर श्री गुलाबसिंह जी काशी आए तो उन्होंने इनसे काश्मीर चलने का अनुरोध किया, परन्तु इसे इन्होंने स्वीकार न किया। तब महाराजा ने १,००,००० रु० इन्हें एक मन्दिर और मकान के निर्माणार्थ प्रदान किया जिससे यह मन्दिर वसन्त पंचमी, संवत् १८६७ में बनकर तय्यार हो गया। शेष रुपया इन्होंने काशीराज के पास जमाकर मन्दिर में पूजनादि की स्थायी व्यवस्था कर दी। आज भी यह मन्दिर और मकान पं० काकाराम के वंशजों के पास हैं और २५ रु० महीना पूर्व महाराजा काश्मीर से एतदर्थ प्राप्त होते हैं।

काश्मीर नरेश ने जम्मू-काश्मीर में इन्हें जागीरें भी प्रदान की थीं। तिब्बत सरकार ने भी जमीन और पासपोर्ट लिखकर दिया जो मखमल के ऊपर तिब्बती भाषा में लिखा हुआ है। सं० १८४७ में नेपाल के महाराजा शमशेर जंगबहादुर ने भी इन्हें भूमि प्रदान की और गुरु माना जिसका पट्टा लिखा हुआ है। आपके बहुत से शिष्य पढ़कर विद्वान् निकले जिन्होंने देश-देशान्तर में नाम किया। अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए संवत् १९१७, मि० आश्विन मास, शुक्लपक्ष ८, शनिवार (२२ सितम्बर, १८६० ई०) को इनका देहावसान हो गया।

– **श्री सारस्वत स्मारिका २०४० वि०** (सम्पादक पं० बालकृष्ण कपूरिया) के आधार पर

३९१- **राजाराम शास्त्री** (सं० १८६२-१९३२ वि०) **:** काशी में गोविन्द शर्मा नामक एक श्रौतविद्याविज्ञ, तपस्वी, दाक्षिणात्य, चित्तपावन ब्राह्मण निवास करते थे। उनके तीन पुत्रों में से पं० राजाराम शास्त्री तृतीय थे। इनकी मृत्यु भाद्र कृष्ण तृतीया संवत् १९३२ वि० को हुई थी और उस समय यदि इनकी आयु ७० वर्ष भी मान ली जाय तो उनका जन्म अनुमानत**:** संवत् १८६२ वि० में हुआ होगा। ये संस्कृत के प्रौढ़ विद्वान् होने के साथ ही साथ व्यवहारिक योगविद्या के भी निष्णात मनीषी थे। पाणिनीय व्याकरण में वे पौराणिक जगत् में महाभाष्यकार पतञ्जलि के नूतन अवतार माने जाते थे। दश वर्ष की आयु में ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। तब इन्होंने संस्कृत के अध्ययन में अपने को लगा दिया। इनके गुरुओं में पं० हरिशास्त्री रानडे, पं० दामोदर शास्त्री, पं० काशीनाथ शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं।

इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर म्योर साहब ने इन्हें आजमगढ़ में जज के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया जहाँ वे ५ वर्षों तक हिन्दू स्मृतियों के आधार पर मुकद्दमों का निर्णय करते रहे। इस कार्य से मुक्त होकर वे ग्वालियर गए और तात्कालीन महाराजा की सभा के पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित कर ग्वालियर नरेश द्वारा बहुमूल्य वस्त्र तथा द्रव्यराशि के द्वारा सम्मानित होकर वहाँ कई महीनों तक रहे। संवत् १९१२ वि० (सन् १८५५ ई०) में ये ग्वालियर से काशी वापस आ गए और अपने छात्रों को पढ़ाने लगे तथा **'विधवोद्वाह शंका-समाधि:'** नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ से प्रभावित होकर काशी राजकीय पाठशाला के तत्कालीन अध्यक्ष वेलेन्टाइन ने इन्हें १८५६ ई० में कालेज में सांख्य शास्त्र का अध्यापक नियुक्त कर लिया। बाद में ग्रिफिथ साहब ने शास्त्री जी की पदोन्नति धर्मशास्त्र के प्राधानाध्याक के पद पर

शास्त्रियों से मिले, परन्तु वहाँ केवल बारह दिन ही रहे। फिर उन्हें जिसकी खोज थी [३९२], उसके निमित्त उन्होंने अपनी अगली यात्रा आरम्भ की। फिर चण्डालगढ़[३९३] पहुँचकर वे दुर्गाखोह के मन्दिर [३९४] में दश दिन तक रहे। यहाँ उन्होंने चावल खाने सर्वथा छोड़ दिए थे, केवल दूध पर ही निर्वाह करते हुए वे योग-विद्या अध्ययन और योगाभ्यास में दिन-रात तत्पर रहे। दुर्भाग्य से यहाँ उन्हें भाँग पीने की लत लग गई थी जिसके प्रभाव से कभी-कभी वे सर्वथा बेसुध हो जाते थे। इसी अवस्था में एक दिन मन्दिर से निकलकर वे चण्डालगढ़ के निकट एक गाँव में आए जहाँ उनकी भेंटउनके एक पुराने नौकर से हुई। वहाँ गाँव के दूसरी ओर कुछ दूरी पर एक शिवालय था, जिसमें स्वामी दयानन्द रात्रि व्यतीत करने के निमित्त गए। भाँग के नशे में वे वहाँ गाढ़ निद्रा में निमग्न हुए और उस रात एक स्वप्न देखा। उन्हें लगा कि उन्होंने महादेव और उनकी पत्नी पार्वती को देखा। वे परस्पर वार्तालाप कर रहे थे और उनकी चर्चा का पात्र वे ही थे। पार्वती महादेव से कह रही थीं कि स्वामी दयानन्द विवाह अवश्य हो जाना चाहिए, परन्तु शिवजी उनसे सहमत नहीं थे। पार्वती ने भाँग की ओर सङ्केत किया [३९५]। जागने पर इस स्वप्न ने उन्हें बहुत उद्विग्न कर दिया। उस समय वर्षा हो रही थी। अत: मन्दिर के मुख्य प्रवेश द्वार के सामने वाले बरामदे में उन्होंने आश्रय लिया जिसमें वृषभेश्वर नन्दी की विशाल प्रतिमा थी। उसकी पीठ पर स्वामी दयानन्द न अपने वस्त्र और पुस्तकें रखकर वे वहीं बैठकर ध्यानमग्न हो गए। अचानक उनकी दृष्टि उस प्रतिमा के

---

१८६३ ई० में कर दी। इसी काल में बालशास्त्री ने इनसे धर्मशास्त्र का अध्ययन किया जिन्होंने आगे चलकर स्वामी दयानन्द से हुए प्रसिद्ध काशी शास्त्रार्थ में भाग लिया। बाद में इन्होंने स्वेच्छा से कालेज से सं० १९२६ वि० में (१८६९ ई०) सेवानिवृत्ति ले ली और योगाभ्यास करते हुए अपना शेष जीवन बिताने लगे।

वैदुष्य के साथ-साथ अपनी बलिष्ठ देहयष्टि के लिए भी ये प्रसिद्ध थे। ये अखाड़े में उतरकर पहलवानों से मल्लयुद्ध भी किया करते थे तथा अपने दाँव-पेंचों का प्रदर्शन कर दर्शकों को मन्त्रमुग्ध कर देते थे।

फर्रुखाबाद में जब मेरठ के पं० श्रीगोपाल से स्वामी दयानन्द का शास्त्रार्थ सन् १८६९ में हुआ तो काशी के इन्हीं पं० राजाराम शास्त्री ने मूर्तिपूजा के समर्थन में अपने पास पूर्व से उपलब्ध एक व्यवस्था पं० श्रीगोपाल को प्रदान की थी। पुन: जब स्वामी दयानन्द काशी में पहुँचे तो उन्होंने पं० राजाराम शास्त्री को शास्त्रार्थ के लिए आहूत किया और एक प्रश्न लिखकर उनके पास भेजा। पं० राजाराम शास्त्री ने प्रश्न को देखकर कहा कि मध्य में एक छुरी रख लो। यदि हम इसका उदाहरण-प्रत्युदाहरण कर देंगे तो नासिका छेदन कर लेंगे। इस उत्तर को सुनकर स्वामी जी ने कहा कि एक नहीं दो छुरी रखनी चाहिए, शास्त्र की जगह शस्त्र ही सही। अन्ततोगत्वा १६ नवम्बर १८६९ को काशी का प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ।

– **काशी की पांडित्य परम्परा** (लेखक पं० बलदेव उपाध्याय) के आधार पर

३९२- इस कथन में कुछ रहस्य छिपा हुआ प्रतीत होता है क्योंकि आगे नासिक से स्वामी दयानन्द के साथ कृपाराम ब्रह्मचारी ने भी दक्षिण की यात्रा की है और पृष्ठ-१८३ की पाद-टिप्पणी क्र० ३६८ में उनके साथ विप्लव के दिनों में उनके जैसे एक बलिष्ठ ब्रह्मचारी के श्वेत घोड़े पर सवार होकर घूमने का भी उल्लेख हुआ है। अत: यह बहुत सम्भव है कि यह दूसरा घुड़सवार साधु कृपाराम ब्रह्मचारी ही हो जिससे ही पूर्व निर्धारित कार्यक्रमानुसार नर्मदा स्रोत पर मिलने का निश्चय हुआ हो।

३९३- इसका प्रचलित नाम 'चुनारगढ़' है। आल्हा-ऊदल के जमाने में इसे चण्डालगढ़ कहा जाता था।

३९४- इस मन्दिर को हमने डॉ० वेदव्रत के साथ १० मई १९८५ ई० को देखा था। यह मन्दिर बस्ती से काफी दूर दो पहाड़ों के सन्धि स्थान पर एक पहाड़ी नदी या नाले के दोनों ओर स्थित है जिसके मध्य एक कुण्ड भी बना हुआ है जिसमें सदैव पानी भरा रहता है। वर्षा ऋतु में यह स्थान बड़ा ही रमणीक बन जाता है और उस समय नाले में सतत प्रवाह रहता है। योगाभ्यासियों के लिए यहाँ एक-दो गुफाएँ भी हैं।

३९५- वाममार्गियों के तन्त्रग्रन्थादि शिव-पार्वती के संवाद के रूप हैं। चूँकि इस घटना से पूर्व स्वामी दयानन्द ने टिहरी एवं श्रीनगर में (द्रष्टव्य पृष्ठ-१६२-१६३) तन्त्र ग्रन्थों का अध्ययन किया था। अत: भाँग की मादकता में उन्हें इस प्रकार का स्वप्न आया।

भीतरी हिस्से पर पड़ी जो खोखली थी [३९६]। उसमें उन्होंने एक मनुष्य को छिपकर बैठा हुआ देखा। इस पर जब उन्होंने अपना हाथ उसकी ओर बढ़ाया तो वह डरकर अपने छिपने के स्थान से बाहर कूदकर ग्राम की ओर भाग गया। पुन: वे स्वयं उस प्रतिमा में घुस गए तथा शेष रात उसमें सोते हुए व्यतीत की। सबेरा होने पर एक वृद्धा वहाँ आई और प्रतिमा के अन्दर उनके होने की अवस्था में ही वृषभेश्वर नन्दी की पूजा की। थोड़ी देर बाद वह पुन: गुड़ और एक पात्र में दही लेकर आई और (भ्रम से उन्हें ही नन्दीश्वर समझकर) उसने उनकी पूजा की तथा गुड़ और दही उन्हें अर्पित कर प्रार्थना की कि वे उन्हें स्वीकार करें। सो उन्होंने भी उसे निराश नहीं किया और क्षुधार्त्त होने के कारण वे वह सारा नैवेद्य खा गए। दही के अत्यन्त खट्टा होने के कारण भाँग के लिए वह एक अच्छा निदान सिद्ध हुआ जिससे उनका नशा उतर गया और उन्हें आराम मिला। फिर उन्होंने पर्वतों की दिशा में उस ओर कि जिस ओर नर्मदा-स्रोत होने का अनुमान था, अपनी यात्रा आरम्भ की। स्वामी दयानन्द ने किसी से भी अपना मार्ग नहीं पूछा [३९७] अपितु वे दक्षिण दिशा की ओर बढ़ते हुए चले गये। शीघ्र ही घने वन से आच्छादित एक निर्जन प्रदेश में वे जा पहुँचे जहाँ झाड़ियों के बीच-बीच में कहीं-कहीं असमान दूरी पर उन्हें कोई-कोई झोपड़ी दृष्टिगोचर हो जाती थी। ऐसे ही एक स्थान पर उन्होंने थोड़ा सा दूध पिया और आगे को चल दिए। परन्तु पाव कोश चलने पर उनकी गति बिल्कुल अवरुद्ध हो गई क्योंकि मार्ग अचानक अदृश्य हो रहा था जिससे कुछ सकरी पगडण्डियों में से (जो कहाँ को जा रही हैं, यह जाने बिना) उनमें से किसी एक को चुनने के सिवाय अन्य कोई विकल्प उनके पास नहीं रह गया था। शीघ्र ही वे एक गहन वन में प्रविष्ट हुए जो जङ्गली बेरों के वृक्षों तथा घनी एवं ऊँची-ऊँची घासों से पटा हुआ पड़ा था। वहाँ मार्ग का कोई चिह्न: तक न था। तब अकस्मात् एक बड़ा काला रीछ उनके सामने आ गया और उसने एक बार भयङ्कर गर्जना की एवं अपनी पिछली टाँगों के बल खड़े होकर उन्हें खाने के निमित्त अपना मुँह खोला। तब वे कुछ देर तक निश्चल खड़े रहे। फिर अपनी पतली छड़ी उसे मारने के लिए उठाई जिससे वह रीछ डरकर भाग गया। उसकी गर्जना इतनी जोरदार थी कि वे ग्रामीण जिनसे वे कुछ समय पूर्व ही मिले थे, उसे सुनकर बड़ी-बड़ी लाठियाँ और अपने कुत्तों को लेकर उनकी सहायता को दौड़े आये। उन्होंने स्वामी दयानन्द को उनके साथ वापस लौटने के लिए बहुतेरा समझाया और कहा कि यदि वे आगे बढ़े तो उन्हें बहुत ही भयङ्कर सङ्कटों का सामना करना पड़ेगा क्योंकि उस जङ्गल की पहाड़ियों में रीछ, भैंसे, हाथी, व्याघ्र एवं अन्यान्य क्रूर एवं हिंसक प्राणी निवास करते हैं। स्वामी दयानन्द ने उन्हें कहा कि उनकी सुरक्षा के बारे में वे लोग चिन्तित न हों क्योंकि वे (परमात्मा से) रक्षित हैं [३९८]। स्वामी दयानन्द नर्मदा-स्रोत पहुँचने के लिए व्यग्र थे। अत: वे किसी भी सङ्कट से भयभीत होकर अपना निश्चय बदलने के लिए तय्यार नहीं थे। तब यह देखकर कि उनकी चेतावनियों का उन पर कोई प्रभाव नहीं हो रहा है, उन्होंने स्वामी दयानन्द को उनकी पतली छड़ी से कुछ

---

३९६- **'दयानन्द जीवन-चरित्र और समालोचना** (संवत् १९५५)' के लेखक जगन्नाथदास के अनुसार ऐसा मन्दिर कहीं नहीं होता जिसका नन्दी पोला रहता हो। अत: ११ मई १९८५ को हमने और डॉ० वेदव्रत आलोक ने दुर्गाखोह के मन्दिर और चुनारगढ़ के आस-पास ऐसे शिव मन्दिर की पर्याप्त खोज की। परन्तु हम उसे खोज पाने में असमर्थ रहे। वहाँ के जानकार लोगों ने भी ऐसे किसी नन्दी वाले मन्दिर की वर्त्तमान में विद्यमानता से अनभिज्ञता प्रकट की। कदाचित् अब ऐसा मन्दिर नष्ट हो चुका हो अथवा यह भी हो सकता है कि स्वामी दयानन्द ने अन्योक्ति अलङ्कार का सहारा लेकर अपनी १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य समर में संलग्नता का इस प्रकार सङ्केत दिया हो।

३९७- चूँकि स्वामी दयानन्द पहले भी एक बार नर्मदा-स्रोत की यात्रा कर चुके थे (द्रष्टव्य-पूर्व पृष्ठ ३४), अत: उन्हें किसी से मार्ग पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इस विषय में इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में दिया गया मेरा मन्तव्य भी पठितव्य है।

३९८- नर्मदा-स्रोत की पिछली यात्रा के समय स्वामी दयानन्द को परमात्मा की कृपालुता का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था, अत: आत्मविश्वासपूर्वक उन्होंने ऐसा कथन किया। इस विषय में पूर्व पृष्ठ-४० की पाद-टिप्पणी क्र० ५९ द्रष्टव्य है।

मोटी लाठी आत्मरक्षार्थ देकर उनसे विदा ली, परन्तु स्वामी दयानन्द ने इस लाठी को भी वहीं फेंक दिया।

उस दिन स्वामी दयानन्द ने बिना रुके तब तक यात्रा की जब तक कि अन्धकार न छा गया। घण्टों तक उन्हें मानव-निवास का कहीं कोई चिह्न: तक दृष्टिगोचर न हुआ। दूर-दूर तक कोई गाँव भी नहीं मिला, अकेली झोपड़ी भी नहीं और न कोई मानव प्राणी ही। स्वामी दयानन्द ने अपनी आँखों से बहुधा जो कुछ देखा, वे थे असंख्य वृक्ष-मुड़े हुए एवं टूटे हुए, जिन्हें जङ्गली हाथियों ने जड़ से उखाड़कर भूमि-सात कर दिया था जिससे पहले से ही कठिन मार्ग और भी अवरुद्ध हो गया था। आगे चलने पर स्वामी दयानन्द ने अपने को एक अत्यन्त घने एवं अभेद्य जङ्गल में फँसा हुआ पाया जिसमें बेर के वृक्ष तथा अन्य कटीले झाड़-झंखाड़ भरे पड़े थे जिनसे निकल पाना उन्हें दुष्कर प्रतीत हुआ। फिर भी कुछ दूर पेट के बल आगे सरकते हुए तथा कुछ दूर घुटनों के बल रेंगते हुए स्वामी दयानन्द ने इस नए अवरोध पर विजय पाई। परन्तु इसके लिए उन्हें अपने वस्त्रों को फट और चमड़ी को छिल जाने देना पड़ा। इस प्रकार लहू-लुहान होकर तथा थककर वे उस वन से बाहर आए। उस समय तक घना अँधेरा छा गया था तो भी वह उनकी यात्रा को रोक न सका। आगे बढ़ते हुए उन्होंने अपने को ऊँची चट्टानों एवं घनी वनस्पतियों से युक्त पहाड़ियों में घिरा हुआ पाया किन्तु वहाँ मानव बस्ती के चिह्न: स्पष्टतया दिखाई पड़ रहे थे। शीघ्र ही कुछ झोपड़ियाँ, जिनके चारों ओर उपलों के ढेर, निर्मल जल वाली सरिता के तट पर चरती हुई बकरियों के झुण्ड और दीवारों के छिद्रों से टिमटिमाती और स्वागत सी करती हुई रोशनियाँ दिखाई पड़ीं। रात्रि वहीं बिताने और अगले दिन प्रात: तक आगे न जाने का निश्चय करके स्वामी दयानन्द ने एक बड़े वृक्ष के नीचे शरण ली जो एक झोपड़ी के ऊपर फैला हुआ था। वहाँ सरिता में अपने हाथ-मुँह और रक्तस्रावी पैरों को धोकर वे सन्ध्या करने को बैठे, तभी ढोल (Tomtom[३९९]) बजने से उनका ध्यान भङ्ग हुआ। कुछ देर बाद स्वामी दयानन्द ने किसी रात्रिकालीन धार्मिक उत्सव[*] की तैयारी हेतु घरों से निकले हुये पुरुषों, महिलाओं एवं बच्चों को तथा उनका अनुगमन करती हुई गायों एवं बकरियों के एक समूह को देखा। तब इस अपरिचित स्वामी को वहाँ पाकर वे सब उनके चारों ओर इकट्ठे हो गये। फिर उनमें से एक वृद्ध पुरुष ने उनसे पूछा कि तुम कहाँ से आए हो? तब स्वामी दयानन्द ने बताया कि वे बनारस से आए हैं और नर्मदा-स्रोत की ओर जा रहे हैं। स्वामी दयानन्द का यह उत्तर सुनकर वे सब उन्हें सन्ध्या करने हेतु अकेला छोड़कर चले गये। फिर आधा घण्टे पश्चात् उनका एक मुखिया अपने दो पहाड़ी पुरुषों के साथ उनके पास आकर बैठ गया। वह उन्हें प्रतिनिधि बनकर अपने झोपड़ों में बुलाने के लिये आया था, परन्तु स्वामी दयानन्द ने उनका यह निमन्त्रण ठुकरा दिया (क्योंकि वे सब मूर्तिपूजक थे [४००])। तब उसने स्वामी दयानन्द के पास अग्नि प्रज्वलित करने और उन दो पुरुषों को रात भर उनकी सुरक्षा करते रहने का निर्देश दिया। यह जानकर कि स्वामी दयानन्द भोजन में केवल दूध लेते हैं, उस दयावान् मुखिया ने उनसे उनका कमण्डलु माँगा और उसे दूध से भरकर वापस ले आया जिसमें से थोड़ा स्वामी दयानन्द ने उस रात पी लिया। तब वह उन्हें उन प्रहरियों की सुरक्षा में छोड़कर चला गया। फिर वे उस रात सबेरे तक गहरी नींद

---

३९९- कर्नल हेनरी स्टील आल्काट के अनुसार यह एक बाजा है जिसे आदिवासी लोग बजाया करते हैं। सुरेन्द्रनाथ सेन ने अपने ग्रन्थ 'Eighteen Fifty-Seven' के पृष्ठ १५४ पर लिखा है कि-

"On one occasion, some young boys, who, perhaps, in mere sport had flaunted the rebel colours and gone about beating tom-toms, were tried and sentenced to death."

* कर्मा नृत्य जो आश्विन माह में होता है।

४००- उस रात आदिवासियों द्वारा जो धार्मिक-उत्सव किया जाने वाला था, उसमें मूर्तिपूजा की प्रधानता को देखते हुए स्वामी दयानन्द ने उनके साथ न जाने का निश्चय किया था। वैसे मूर्तिपूजकों के यहाँ का भोजन स्वीकार करने अथवा मन्दिरों में ठहरने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी।

सोए। फिर उठकर वे सन्ध्यादि करके अपनी अगली यात्रा पर चल पड़े[४०१]। (क्रमश:[४०२])

---

४०१- इस प्रकार स्वामी दयानन्द नर्मदा-स्रोत पहुँचकर जाते-जाते नासिक तक पहुँच गए, जहाँ से अगली यात्रा का विवरण कलकत्ता-कथ्य में उपलब्ध है। जिस समय अर्थात् कार्तिक संवत् १९१५ वि० के आरम्भ में (अक्तूबर १८५८ के अन्त में) स्वामी दयानन्द नर्मदा-स्रोत की ओर बढ़ रहे थे, उसी समय तात्याटोपे ने नर्मदा पार करके नागपुर की ओर बढ़ने का निश्चय किया। अत: उसने २५ अक्तूबर १८५८ को खुरई (सागर) में मिचेल को परास्त कर ३१ अक्तूबर को अपनी सेना के मुख्य अङ्ग सहित नर्मदा को सुरीला घाट से जो होशंगाबाद से ४० मील नर्मदा के चढ़ाव की ओर होशंगाबाद और नरसिंहपुर के मध्य में है, पार किया और वह तेजी से नागपुर की ओर बढ़ा। नवम्बर के पूर्वार्द्ध में उसने ताप्ती नदी को पार किया और मुल्ताई तक पहुँच कर नागपुर में अँग्रेजों को एकत्र देखकर उधर जाना व्यर्थ समझा और पश्चिम की ओर ताप्ती की घाटी में चला गया। फिर १९ नवम्बर १८५८ को वह खरगाँव (वर्त्तमान में खरगोन) आ गया जहाँ पर होल्कर की सेना की एक टुकड़ी कुछ अश्वारोहियों, पदातियों और दो तोपों सहित उससे आ मिली। मेजर सदरलैंड ने उसका पीछा जारी रक्खा और २५ नवम्बर १८५८ ई० को उसे राजपुर में परास्त करके तोपें छीन लीं। २६ नवम्बर १८५८ ई० को तात्या ने नर्मदा को पार कर छोटा उदयपुर की ओर बढ़ना आरम्भ किया जो बड़ौदा से केवल ५० मील दूर है। यहाँ ब्रिगेडियर पार्क ने उन्हें १ दिसम्बर १८५८ को परास्त किया। १० दिसम्बर १८५८ को तात्या बाँसवाड़ा पहुँच गए जहाँ वे चारों तरफ से घिर गए। किसी तरह वे २३ दिसम्बर को प्रतापगढ़ और २४ दिसम्बर को मन्दसौर पहुँचे। २९ दिसम्बर को जीरापुर में कर्नल बेंसन से युद्ध हुआ। वहाँ परास्त होकर भागने पर ब्रिगेडियर सोमरसेट ने उन्हें छपरा बड़ाद में ३१ दिसम्बर १८५८ को परास्त किया जिससे उनकी सारी सेना तितर-बितर हो गई। तात्या इस पराजय के उपरान्त भागकर १ जनवरी १८५९ को कोटा राज्य के इंदरगढ़ में मानसिंह से मिले और नाहरगढ़ में जनवरी १८५९ के प्रारम्भ में ही फीरोजशाह से मिले। (वहाँ से वे नाना साहब के पास नेपाल चले गए और मानसिंह ने एक दूसरे व्यक्ति को पूर्व निर्धारित योजनानुसार तात्याटोपे बताकर पकड़वा दिया।)

इधर स्वामी दयानन्द ने छोटा उदयपुर के ठीक दक्षिण में २५० कि०मी० की दूरी पर स्थित नासिक पहुँचकर अपनी अगली यात्रा जारी रक्खी। इस प्रकार तात्याटोपे उत्तर की ओर तथा स्वामी दयानन्द दक्षिण की ओर चले गए। इससे पूर्व १ नवम्बर १८५८ को महारानी विक्टोरिया की क्षमादान की प्रसिद्ध घोषणा इलाहाबाद में लार्ड केनिंग ने एक दरबार के vk;kstu }kjk dh] ftlesa dgk x;k Fkk fd& "To all those in arms against the Government, we hereby promise unconditional pardon, amnesty and oblivion of all offences against overselves, our crown and dignity, on their return to their homes and peaceful persuits…. When by the blessings of providence, internal tranquility shall be restored, it is our earnest desire to stimulate the peaceful industry in India, to promote works of public utility and improvement and to administer its Government for the benefit of all our subjects resident therein. In their prosperity will be our strength, in their contentment our security, and in their gratitude our best reward….

Firmly relying ourselves on the truth of Christianity and acknowledging with gratitude the solace of religion, we disclaim alike the right and the desire to impose our convictions on any of our subjects. We declare it to be our royal will and pleasure that none be any wise favoured, none molested or disqualified by reason of their religious faith and observances; but that all shall alike enjoy the equal and impartial protection of the law, and we do strictly charge and enjoin all those who may be in authority under us that they abstain from all interference with the religious belief or worship of any of our subjects on pain of our highest displeasure."

इस घोषणा की प्रतिक्रियास्वरूप स्वामी दयानन्द ने आगे चलकर अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में जो कुछ लिखा, वह पीछे पृष्ठ-१८३ पर दिया जा चुका है।

४०२- **'थियासोफिस्ट'** के नवम्बर १८८० के अङ्क में इस लेख के अन्त में लिखा है-(To be continued.) जबकि 'परोपकारिणी

**दक्षिण भारत की ओर**– स्वामी दयानन्द और साधु कृपाराम ब्रह्मचारी दोनों एक-एक करके नासिक, श्रृंगेरी [४०३], बँगलौर, महीशूर (मैसूर)[४०४], काँची, त्रिचिनापल्ली, मदुरा, रामेश्वर [४०५], धनुष्कोटि और कन्याकुमारी तक और इन सब तीर्थों के अगल-बगल के तीर्थों में भी गए[४०६]। सब ही स्थानों पर बड़े-बड़े मन्दिरों में वार्षिक लाखों रुपये जनसाधारण के भक्तिपूर्ण

---

सभा, अजमेर' द्वारा प्रकाशित स्वामी दयानन्द की आत्मकथा में लिखा है कि– (Here the autobiography ends.T.) जो कि एक भयङ्कर त्रुटि है। वस्तुत: स्वामी दयानन्द इसके आगे अपनी उस यात्रा का विवरण लिखाना चाहते थे जो आगे कलकत्ता-कथ्य में वर्णित है। परन्तु अपनी अनेक व्यस्तताओं के कारण वे ऐसा नहीं कर सके। इसके साथ ही उनका कर्नल अल्काट और मैडम ब्लेवस्टिकी से मतभेद भी हो गया था जिससे वे अपनी यह आत्मकथा लिखने से उपरत हो गए थे। इसके आगे पं० लेखराम ने अपनी ओर से यह लिख दिया है कि *''सारांश यह कि नर्मदा के उद्गम स्थान से लौटकर मैं विद्या प्राप्त्यर्थ मथुरा में आया, नर्मदा तट पर तीन वर्ष तक यात्रा की और भिन्न-भिन्न महात्माओं से सत्सङ्ग करता रहा।''* चूँकि स्वामी दयानन्द का ऐसा कथन न तो उनके जन्म-चरित्र में ही उपलब्ध है और न पूना-प्रवचन में ही, इसीलिए बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को लिखना पड़ा कि *''नर्मदा के उत्पत्ति-स्थान के दर्शन के पश्चात् उन्होंने क्या किया, कहाँ-कहाँ गए, किस-किस नये योगाभ्यास के उद्देश्य से किस-किस योगी के पास गए। वस्तुत: उस पहाड़ी ग्राम के वृक्ष के नीचे रात्रि भर विश्राम करके जब अगले दिन वह सन्ध्योपासना के पीछे आगे जाने को उद्यत हुए उसके पीछे का उनका जीवन न केवल हमारे लिए ही अन्धकार में छिपा हुआ है, बल्कि संसार के लिए भी अज्ञात है।''* अब कलकत्ता-कथ्य के रूप में कुछ विवरण उपलब्ध हुआ है, जो इस ग्रन्थ में दे दिया गया है। इसीलिए पं० दीनबन्धु जी वेदशास्त्री ने कलकत्ता-कथ्य को **'अज्ञात जीवनी'** का नाम दिया था।

४०३– **श्रृंगेरी**–श्रृंगेरी मठ के पूर्णानन्द सरस्वती ने ही स्वामी दयानन्द को चाणोद में संन्यासाश्रम में दीक्षित किया था और उनका नाम दयानन्द सरस्वती रक्खा था। इससे वे शङ्कराचार्य की संन्यासी परम्परा में श्रृंगेरी मठ से ही सम्बन्धित थे। अत: उनका वहाँ जाना स्वाभाविक और पारम्परिक भी था।

४०४– **मैसूर**–*'आर्यसमाज का इतिहास'* के प्रथम भाग के तेईसवें अध्याय में 'सन् १८५७ के विस्फोट में साधु-संन्यासियों का योगदान' में एक घटना का उल्लेख किया गया है कि मैसूर में पकड़े गए सीतारम बाबा ने मेजर एच० पी० देवराँ और कैप्टन जे० एल० पिअर्स की कमीशन के सम्मुख १८ से २५ जून, १८५८ को दी गई ५८ पृष्ठों की अपनी गवाही में कहा था कि "अँग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का सञ्चालन दस्सा बाबा द्वारा किया जा रहा है, जो नाना साहब का गुरु है। वह बहुत वृद्ध है, उसकी आयु १२५ वर्ष की है और वह काँगड़ा से परे कालीधर का निवासी है। उसका एक शिष्य दीनदयाला है जो दक्षिण भारत में काम कर रहा है। दीनदयाला द्वारा ही दस्सा बाबा ने तिरुपति के शिवराम बाबा को पत्र भेजे हैं। माइसूर आदि दक्षिण के विविध स्थानों के जागीरदारों व राजाओं को पत्र भेजे गए हैं, जिनमें उत्तर भारत में विद्रोहियों की विजयों का उल्लेख करते हुए उन्हें भी विद्रोह में शामिल होने के लिए प्रेरित किया गया है।" इस उल्लेख में दस्सा बाबा से अभिप्राय दशनामी संन्यासी स्वामी पूर्णानन्द से है और दीनदयाला स्वामी दयानन्द का ही छद्मनाम है क्योंकि उनका बचपन का नाम दयालजी था और वे उत्तराखण्ड की अपनी यात्रा में उनसे पूर्व पाद टिप्पणी क्र० २८७ एवं ३१४ के अनुसार मिल चुके थे।

४०५– **रामेश्वर**–'' (रामेश्वर के) मन्दिर में भी (= जगन्नाथ के मन्दिर के समान) दिन में अँधेरा रहता है। दीपक रात-दिन जला करते हैं। जब जल की धारा छोड़ते हैं, तब उस जल में बिजुली के समान दीपक का प्रतिबिम्ब चलकता है और कुछ भी नहीं। न पाषाण घटे, न बढ़े, जितना का उतना रहता है। ऐसी लीला करके बिचारे निर्बुद्धियों को ठगते हैं।''

– **सत्यार्थप्रकाश** (एकादश समुल्लास)

स्वामी दयानन्द का यह उल्लेख उनके रामेश्वर के मन्दिर को भी देखे होने का प्रमाण है। मेरठ में उन्होंने कहा भी था कि वे एक बार गङ्गोत्री से रामेश्वर तक गए थे। (द्रष्टव्य– पूर्व पाद टिप्पणी क्र० ३३४)

४०६– स्वामी दयानन्द के दक्षिण में जाने के अन्य प्रमाण निम्न हैं-

(अ) ''जैसे दाक्षिणात्य लोगों की स्त्रियाँ वस्त्र धारण करती हैं, वैसा ही पहले था, क्योंकि कभी वस्त्र अशुद्ध नहीं रहता,

दानों से जमा हो जाते हैं। लेकिन इसका खर्च देशवासियों के हित या देश के हितकर कार्यों में नहीं होता है। केवल स्वार्थी पुजारियों के पालन-पोषण और भोग-विलासपूर्ण आडम्बरों में ही लग जाता है। सब मन्दिरों के कर्त्तृपक्ष के ही अनुरूप स्वामी दयानन्द ने आवेदन किया था और उनको अनुरूप उत्तर भी मिल गया था कि उनसे यह सब कार्य असम्भव है।

**धनुष्कोटि से लङ्का**-धनुष्कोटि में सारनाथ से आए हुए एक बौद्ध भिक्षु से वार्तालाप हुआ। उन्होंने स्वामी दयानन्द को सिंहल जाने के लिए प्रेरणा दी थी। स्वामी दयानन्द और कृपाराम ब्रह्मचारी को भिक्षु के साथ काष्ठ निर्मित जलयान से उस पार जाने का अनुमति-पत्र भी मिल गया था। जलयान उस पार तलैमन्नार नामक बन्दरगाह में पहुँच गया। वहाँ से कोलम्बो और काण्डी में जाकर ये लोग बुद्ध मन्दिरों में ठहरे। वहाँ से एक पर्वत के 'आदम' नामक श्रृंग पर एक पुरातन मन्दिर में वे रहे। वहाँ अनुराधापुर आदि स्थानों में भ्रमण करके बौद्ध-शिक्षालय, बिहार और बौद्ध-मन्दिरों में बौद्ध लामा और भिक्षुओं के समक्ष भारत के विभिन्न धर्म मत और बौद्ध मत के बारे में उन्होंने आलोचना की। सिंहल को प्राचीन लङ्का कहकर स्वीकार करना कठिन है।

**लङ्का से धनुष्कोटि**- लङ्का (सिंहल) से स्वामी दयानन्दादि सभी लोग जलयान द्वारा फिर धनुष्कोटि पहुँच गए थे। धनुष्कोटि में स्वामी दयानन्द एक बौद्ध-सम्मेलन में निमन्त्रित होके पहुँच थे [४०७]। उनके साथ कई एक बौद्ध-भिक्षु लङ्का से आते समय परिचित हो गये थे। स्वामी दयानन्द बुद्ध को एक योगी साधु कहकर ही विश्वास करते थे, वे नास्तिक भी नहीं थे और वेद-विरोधी भी नहीं थे, ऐसा स्वामी दयानन्द मानते थे। वेद के नाम पर यज्ञों में जो पशु-वध होता था और वैदिक-धर्म के नाम पर जो अयौक्तिक कदाचार और कुप्रथा का प्रचलन था, बुद्ध उन्हीं के विरोधी थे। बौद्ध पण्डितों ने स्वामी दयानन्द के मुख से ''धम्मपद'' ग्रन्थ से गौतम बुद्ध की वाणियाँ भी सुनी थीं। वे लोग उनके प्रति सन्तुष्ट हुए थे। बौद्धों के अन्दर हीनयान और महायान सम्प्रदायों के भेद-भाव, बौद्ध सम्प्रदाय के लिये हानिकारक हुए हैं। एक बौद्ध पण्डित ने सम्मेलन में उनसे प्रश्न किया था-''भारत में बौद्ध धर्म की धीरे-धीरे विलुप्ति का क्या कारण है?''

स्वामी दयानन्द ने उत्तर में कहा था-''वेद-विरोधी मनोभाव और प्रचार, ईश्वर-विरोधी आन्दोलन, राजा-महाराजा-सम्राटों पर बौद्ध धर्म-प्रचार करने का भार अर्पण कर देना, भिक्षु और भिक्षुणी को एक साथ प्रचारक के

---

सब दिन जैसे पुरुषों के वस्त्र शुद्ध रहते हैं, वैसे स्त्री लोगों के भी शुद्ध रहते हैं। इससे इस प्रकार का वस्त्र धारण करना उचित है।'' -**सत्यार्थप्रकाश** (प्रथम संस्करण)

(ब) ''गुजराती, महाराष्ट्र, तैलङ्ग, द्राविड़ तथा कर्नाटक- इनमें भोजन के बड़े बखेड़े हैं। इन पाँचों में से गुजराती लोगों के भोजन का बड़ा पाखण्ड है। महाराष्ट्रादिक चारों द्रविड़ों का तो एक भोजन है, परन्तु गुजराती लोगों का आपस में बड़ा भेद है।'' - **सत्यार्थप्रकाश** (प्रथम संस्करण)

(स) ''जैसे ज्ञा, इसमें ज्+ञ्+आ, ये तीन अक्षर मिले हैं। इनका उच्चारण भी जकार, ञकार और आकार ही का होना चाहिये किन्तु ऐसा न हो कि जैसे-दाक्षिणात्य लोग अर्थात् द्राविड़, तैलंग, कर्नाटक और महाराष्ट्र 'द्नान-, गुजराती लोग 'ग्यांन' और पंचगौड़ 'ग्यान' ऐसा अशुद्ध उच्चारण अन्ध परम्परा से वेदादि शास्त्रों के पाठ में भी करते हैं।'' - **वर्णोंच्चारणशिक्षा** (भूमिका)

पूर्वोक्त तीनों उद्धरण स्वामी दयानन्द के दाक्षिणात्यों के साथ निकट सम्पर्क में आए होने के प्रमाण हैं।

४०७- अनुमानतः पौष पूर्णिमा संवत् १९१६ वि० (८ जनवरी सन् १८६० ई०) को। **[नई दुनिया,** इन्दौर के एक समाचारानुसार दलाई लामा ५ जनवरी १९८५ को एक अन्तर्राष्ट्रीय धर्म सम्मेलन का उद्घाटन करने मद्रास आए थे, जहाँ से वे बम्बई चले गए।**]** इस प्रकार स्वामी दयानन्द प्रायः एक वर्ष तक दक्षिण भारत और लङ्का में भ्रमण करते रहे। जीवन-सन्ध्या के समय उनका लङ्का के डी०ए० राजा पाकसा से १८८३ ई० में पत्र-व्यवहार भी हुआ था।

पदों पर नियुक्त कर देना, भिक्षु लोगों का गृहस्थ लोगों के साथ अत्यन्त घनिष्टता स्थापन करना, इत्यादि कारणों से भारत में बौद्ध-धर्म का प्रचार और प्रसार अबाध गति से नहीं हुआ।

**धनुष्कोटि से कन्याकुमारी**- बहुत दिनों से निर्दिष्ट स्थानों में और निर्दिष्ट समय तक दिल्ली के योगमाया मन्दिर से प्रजा विद्रोह के बारे में स्वामी दयानन्द को कोई समाचार नहीं मिला था [४०८]। अतः स्वामी दयानन्द धनुष्कोटि से कन्याकुमारी में आए और वहाँ वे रामेश्वर के भव्य मन्दिर में ठहरे थे। यहाँ विभिन्न मन्दिरों में घूम-घूमकर उन्होंने साधु-सङ्गठन कार्य में दीर्घकाल व्यतीत किया गया था जिससे साधु आपस में सङ्गठित होने लगे थे। स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा करना और वहाँ के जनसाधारण के अन्दर जागृति पैदा कर देना ही साधुओं का कर्त्तव्य था। भारत-व्यापी प्रजा विद्रोह का प्रत्यक्ष संग्राम अचानक प्रारम्भ हो गया था। अत्याचारित और उत्तेजित प्रजागण नेतृवृन्द के नियन्त्रण से बाहर चला गया था। बहरामपुर, बैरकपुर, मेरठ आदि स्थानों से विद्रोह शुरू होकर भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में फैल गया था [४०९]। दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, बरेली और झाँसी इस क्रान्ति युद्ध के केन्द्र रहे थे। सङ्गठन पूरा नहीं होने के कारण और अचानक विच्छिन्न और विश्रृंखल रूप से युद्ध आरम्भ होने के कारण युद्ध में पराजय आ गया था [४१०]। विद्रोही प्रजाजन संख्या में लगभग ५०-६० हजार नेपाल की सीमा पर नेपाल राज्य के आश्रय-प्रार्थियों के रूप में उपस्थित हो गये थे [४११]। नेपाल के राजा जंगबहादुर ने कड़ी भाषा में आश्रय देने से मना कर दिया था। नाना साहब, तात्या टोपे आदि कई एक नेता विद्रोहियों के साथ थे [४१२]। विद्रोही प्रजाजनों ने आत्म-रक्षार्थ जंगलों में प्रवेश किया था और वहाँ ही फल-फूल खाकर किसी रूप से देह-रक्षा करने लगे थे। बहुत प्रजा भूखी मर गई या वन्य हिंस्र पशुओं के आहार के रूप में समाप्त हो गई थी। बहुत से विद्रोही पकड़े जाने पर मृत्यु दण्ड को प्राप्त हुए और कोई-कोई भागकर आत्म-रक्षार्थ इधर-उधर चले गये थे । इस प्रकार की चर्चा कन्याकुमारी तक चल रही थी। स्वामी दयानन्द ने इस पर अच्छी तरह विचार किया और दिल्ली के योगमाया मन्दिर से कन्याकुमारी में प्रजा-विद्रोह के विषय में आने वाले समाचार की प्रतीक्षा में निर्दिष्ट दिन तक बिताने का सङ्कल्प किया [४१३]।

---

४०८- स्वामी दयानन्द दक्षिण भारत और लङ्का में प्रायः एक वर्ष तक भ्रमण करते रहे। इसी अवधि में (नासिक छोड़ने के पश्चात्) उन्हें प्रजा-विद्रोह का कोई समाचार नहीं मिल पाया होगा।

४०९- इस विषय में पूर्व पाद-टिप्पणी क्र० ३५३ एवं ३६६ द्रष्टव्य हैं।

४१०- इस विषय में पूर्व पाद-टिप्पणी क्र० ३८६ द्रष्टव्य है।

४११- ''नैपाली अधिकारी भद्रीसिंह ने राणा (= जंगबहादुर) को बताया कि नाना व बेगम के साथ ६०,००० सैनिक हैं। १२,००० पैदल सेना व ५,००० घुड़सवार वर्दी में हैं, शेष सहायकों के रूप में हैं। उसने राणा को यह भी बता दिया कि वे सब राणा से भेंट करने काठमाण्डू आने की सोच रहे हैं।'' – **संघर्ष-कालीन नेताओं की जीवनियाँ** (पृ० ४७)

४१२- यद्यपि किसी भी इतिहास पुस्तक में तात्याटोपे के नेपाल जाने का उल्लेख नहीं है, कारण कि सभी इतिहासकारों ने यह मान लिया था कि तात्याटोपे को १८ अप्रैल १८५९ को शिवपुरी में फाँसी हो गई थी। परन्तु अब अनेक प्रमाणों से यह बात असत्य सिद्ध हो चुकी है। कलकत्ता-कथ्य में स्वामी दयानन्द ने ऐसा रहस्योद्घाटन करके यह सिद्ध कर दिया है कि उनका इन क्रान्तिकारियों से निकट का सम्बन्ध रहा था। इस विषय में हमने तात्याटोपे के भोपाल में रह रहे वंशज श्री मधुकर शङ्कर टोपे से पूछताछ की थी तो उन्होंने तात्याटोपे का नेपाल जाना स्वीकार किया था।

४१३- सम्भव है यह निर्दिष्ट दिन सं० १९१६ की समाप्ति (२२ मार्च, १८६०) का रहा हो।

## नाना साहब कन्याकुमारी में

कन्याकुमारी भारत का अन्तिम दक्षिणी सीमा का अन्तरीप है। पूर्व दिशा का बंगोपसागर, पश्चिमी दिशा का अरब सागर और दक्षिणी दिशा का भारत महासागर इस कन्याकुमारी अन्तरीप के सम्मुख सम्मिलित हुए हैं। एक दिन भारत महासागर की ओर मुख करके एकान्त में बैठे हुए स्वामी दयानन्द भारत के धर्म और स्वतन्त्रता की विराट् समस्या के बारे में आँखें बन्द करके सोच-विचार कर रहे थे, तभी अचानक पीछे से शब्द आया-''हम योगमाया मन्दिर के समाचार लाये हैं'' मुख पीछे की ओर घुमाकर देखा- तीन मुण्डित मस्तक, गैरिक वस्त्रों से सज्जित और कमण्डलधारी संन्यासी आ रहे हैं। उनमें से एक को शिवाजी के सतारा सिंहासन के उत्तराधिकारी नाना साहब को उन्होंने पहचान लिया। शेष दोनों उनके लिए अपरिचित थे [४१४]। तीनों प्रणिपात करके बैठ गये और तीनों ही सजल दृष्टि से अवाक् से रहे थे।

स्वामी दयानन्द ने कहा-''युद्ध-पराजय और नेपाल के जंगल में प्रवेश तक मुझे सब मालूम हो गया है। इसमें हताश या निराश होने का कोई कारण नहीं है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये युद्ध में जय या पराजय दोनों ही लाभदायक हैं। आप लोग भविष्यत् भारत के लिये त्याग, साहस, शूरता और निर्भीकता तथा स्वतन्त्रता के लिये प्रेरणा देंगे। ''

नाना साहब ने दोनों आगन्तुकों का परिचय दिया-''एक तात्या टोपे [४१५] और दूसरे मेरे साथी दुर्जयराव हैं। हम लोग इसी गुप्त वेश में आपको योगमाया मन्दिर के निर्देशानुसार ढूँढते हुए यहाँ पहुँच गये हैं। ब्रिटिश गुप्तचर हमारे सन्धान के लिये हमें ढूँढ रहे हैं। पता नही हंम कब पकड़ लिये जायें जिससे बध-स्तम्भों पर हमें प्राण-त्याग करने पड़ें। आप आशीर्वाद दीजिये जिससे हम सहर्ष मृत्यु-वरण कर सकें और भारत के सुपुत्र पराधीन भारत को मुक्त कराने के लिये आगे आयें।

## कानपुर की चर्चा

कानपुर के एक सहस्र अँग्रेज नर-नारियाँ विपत्ति में पड़ी हुई थीं। मैंने आश्वासन दिया था कि ये लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार इलाहाबाद में जा सकते हैं। इन अँग्रेजों के अन्दर सैकड़ों सिपाही ऐसे भी थे जिन्होंने विगत सप्ताह में काशी और

---

४१४- आगन्तुकों में एक नाना साहब थे जिनसे स्वामी दयानन्द पूर्व पाद टिप्पणी क्र० २९० के अनुसार ११ बार मिल चुके थे। इसलिये उन्हें पहचानने में तो उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। तात्याटोपे से स्वामी दयानन्द तो केवल कुम्भ मेले में ही एक बार मिले थे। तब से अब तक प्राय: ५ वर्ष का समय व्यतीत हो चुका था और वे वेश बदले हुए भी थे ही तथा शिवपुरी में उन्हें फाँसी हो जाने की सूचना भी उन्हें रही होगी जिससे उनके सम्मुख उसके वहाँ उपस्थित हो पाने की असम्भावना भी Fkh] bu dkj.kksa ls os rkR;kVksi s dks ml le; ugha igpku l dsA ckn esa ukukl kgc }kjk mudk ifjp; nsus ij t c Lokeh n;kuUn dks okLrfod rF; dk Kku gqvk rks mUgksaus mudk ifjp; tkuk] rc os mlh l e; mudh vksj eqM+s vkSj mUgksaus dgk & u~1873 esa fYyfÂr fd;kA

415& rkR;kVksi s dks fÓoiqjh esa Qkal h ugha gqbÃ Éh] v c ;g v us d iz ek.kksa ls fl ) gks pqdk gS bl foÔ; esa Jh fuokl cky k th gfMZdj dh iqLrd **'अठारह सौ सत्तावन'** और Indumati Sheorey की पुस्तक TATYA TOPE के परिशिष्ट द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार नाना साहब की भी नेपाल में मृत्यु नहीं हुई, अपितु वे बहुत वर्षों तक जीवित रहे, इस विषय में भी पर्याप्त साहित्य लिखा जा चुका है। स्वयं अँग्रेजों ने भी ऐसा स्वीकार नहीं किया, यह इसी बात से सिद्ध है कि सन् १८६२ ई० के जुलाई महीने में नाना साहब एवं उनके साथियों को पकड़ने के लिए अँग्रेजों द्वारा जो उनके सङ्केत-चिह्न तथा अन्य ब्योरे प्रकाशित किए गए थे, उनमें **नाना साहब**, बाला साहब, पाण्डुरंगराव, नारू पन्त, सदाशिव पन्त, ज्वालाप्रसासद (ब्रिगेडियर), लालपुरी, आभा धनुषधारी (बख्शी), नारायण मराठा (मुसाहेब), **तात्याटोपे** (कैप्टेन), छुमसीसिंह जमादार, गङ्गाधर तात्या, रामू तात्या (आत्मज बालाभट्ट) तथा अजीमुल्लाह के नाम सम्मिलित थे। यदि नाना साहब और तात्याटोपे जुलाई १८६२ तक जीवित न होते तो फिर इनके नाम इस सूची में क्यों आते?

प्रयाग में उन सब देशी सिपाहियों के बालकों और स्त्रियों पर अत्याचार किये थे। नील साहब के अत्याचारों की स्मृति ने भी इन सब देशी सिपाहियों को उत्तेजित कर दिया था, जिसके कारण उन्होंने गोलियों के द्वारा उनमें से अधिकांश को मार दिया था। जो लोग बच गये थे उनको भी बन्दी बनवा दिया। विद्रोही-प्रजा और सैन्यों पर विजय-लाभ करके जब विजयी अँग्रेज-सिपाही कानपुर के समीप पहुँच गये तब विद्रोही प्रजाओं ने दो सौ से भी अधिक अँग्रेज महिलाओं और शिशुओं का वध करके उनके मृत देहों को निकटस्थ कुएँ में फेंक दिया था। जनता के इस प्रकार के हत्याकाण्ड के साथ मेरा बिल्कुल सम्बन्ध नहीं था। तथापि आनुषङ्गिक कारणों से मेरा सम्बन्ध था। इस महापाप के प्रायश्चित्त के लिये मैं अपने देह को प्रज्वलित अग्निकुण्ड में आहुति के रूप में डाल दूँगा, मैंने ऐसा ही सङ्कल्प कर लिया है [४१६]।"

## स्वामी दयानन्द की सम्मति पर नाना साहब की स्वीकृति

स्वामी दयानन्द ने कहा-"आपका इस प्रकार का सङ्कल्प भूल है। आत्महत्या तो मानसिक विकार या कमजोरी होती है। आत्मत्याग दूसरी चीज है। मानसिक बल और तेजस्विता के बिना आत्मत्याग नहीं बनता। आप तेजस्वी पुरुष हैं। लेकिन संन्यासियों के वेश को गुप्त रूप से ग्रहण किया है। आप इन गैरिक वस्त्रों को सत्य रूप से ग्रहण कीजिये और

४१६- "२६ जून (१८५७) को किले के अन्दर के सब अँग्रेजों ने अपने आपको नाना के सुपुर्द कर दिया। किला, तोपखाना और भीतर के तमाम अस्त्र-शस्त्र और खजाना नाना के हवाले कर दिया गया। नाना की तरफ से वादा किया गया कि समस्त अँग्रेजों को किश्तियों में बैठाकर और मार्ग के लिए रसद देकर इलाहाबाद भेज दिया जायेगा।

उसी रात को चालीस किश्तियों का प्रबन्ध कर दिया गया। उनमें रसद का समान रख दिया गया। २७ ता० को सबेरे अँग्रेजी झण्डा किले पर से उतार दिया गया। सम्राट बहादुरशाह का झण्डा उसकी जगह फहराने लगा और समस्त अँग्रेजों को हाथियों और पालकियों में बिठलाकर किले से डेढ़ मील दूर सती-चौरा घाट पर पहुँचा दिया गया।

किन्तु इस बीच इलाहाबाद और उसके आस-पास के इलाके से असंख्य मनुष्य जिनके घर-द्वार, सम्बन्धियों और बाल-बच्चों को जनरल नील के सिपाहियों ने जलाकर खाक कर दिया था, कानपुर नगर में आ-आकर एकत्रित हो रहे थे। इन लोगों के बयानों और इलाहाबाद में कम्पनी की सेना के अत्याचारों को सुन-सुनकर कानपुर की जनता और वहाँ के देशी सिपाहियों का क्रोध भड़क रहा था। २७ जून को सबेरे १० बजे किश्तियाँ सती चौरा घाट से चलने वाली थीं। नाना उस समय अपने महल में था। घाट पर सिपाहियों और जनता की भीड़ थी। कहा जाता है कि क्रोध से उन्मत्त सिपाहियों में से किसी एक ने पहले कर्नल ईवर्ट्स पर हमला किया। तुरन्त मारकाट शुरू हो गई। लगभग समस्त अँग्रेज इतिहास लेखक स्वीकार करते हैं कि ज्यों ही नाना को इसका समाचार मिला, उसने तुरन्त आज्ञा भेजी कि-"अँग्रेज पुरुषों को मार डालो किन्तु बच्चों और स्त्रियों को कोई हानि न पहुँचाओ।"

नाना की आज्ञा पहुँचते ही १२५ अँग्रेज स्त्रियाँ और बच्चे कैद करके सौदा-कोठी पहुँचा दिये गये। अँग्रेज पुरुषों को लाइन बाँधकर सतीचौरा घाट पर खड़ा किया गया। उनमें से एक ने, जो शायद पादरी था, प्रार्थना की कि मरने से पहले मुझे इजाजत दी जाए कि मैं अपने भाइयों से इंजील में से कुछ ईश्वर प्रार्थना पढ़कर सुनाऊँ। उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। जब वह ईश्वर-प्रार्थना कर चुका तो हिन्दोस्तानी सिपाहियों ने अँग्रेजों के सिर तलवार से कलम कर दिए। अँग्रेज पुरुषों में से केवल चार एक किश्ती में बैठकर भाग निकले। इस प्रकार ७ जून को कानपुर के अन्दर जो लगभग एक हजार vxzst Fkjs muesa ls 27 t wudks ey pkj i #"kv i uh Qqrhl; kjkv kjS 125 fL=; k&cPps ukukl kgc dh mnkjrk }kjkft Unk cpsA

15 tqykbZ¼1857½dh 'kke dksog ?kVuk gbZ ksHkkjrh; folyodkfj; ksdsuke ij l nkdsfy, dyš jgsxhA chchx<+¼dkuij½ds125 vxzst dSnhfL=; kvkSj cPpsdRy dj Mkysx, vkSj 16 rk0 dks cjssmudhy k'ksad dq;esMky nhxbA**

– **मासिक चाँद** (नवम्बर १९२८, पृ० १५४-१५६)

भारत की पश्चिमी सीमा की ओर किसी मठ-मन्दिर में रहकर आप जन-सेवा के लिए जीवनदान कीजिये। मनुष्यों को पारमार्थिक कल्याण के लिए उपदेश दीजिये। ऐहिक कल्याण के लिए रोगियों को बिना मूल्य वृक्षों के मूल और पत्तियों से औषध बनवा कर वितरण करते रहिये, इससे मृत्यु तक शान्ति और आनन्द के साथ शेष जीवन बिता सकेंगे। आप आत्म-हत्या कभी न करें।'' स्वामी दयानन्द के इस उपदेश को तीनों ने ही समान रूप से ग्रहण किया और तीनों के वहाँ से चलने से पहले स्वामी दयानन्द ने नाना साहब को संन्यास देकर उनका नाम दिव्यानन्द स्वामी रख दिया था [४१७]। शेष दोनों ने संन्यास लेने का साहस नहीं किया। दिव्यानन्द ने 'ऐसा ही होगा, भगवान् की इच्छा पूर्ण हो'-ऐसा कहा और तीनों ही वहाँ से चल दिए।

## स्वामी दयानन्द का भावी कार्यक्रम

स्वामी दयानन्द ने अपने संक्षिप्त जीवन के अन्दर सामाजिक स्थिति और जन-जागरण को सूक्ष्म रूप से अनुभव किया था। इसलिए ही विशुद्ध ज्ञान की उन्होंने अत्यन्त आवश्यकता समझ ली थी और साथ-साथ उन्हें यह भी मालूम हो गया था कि बिना वैदिक ज्ञान के विशुद्ध ज्ञान आ भी नहीं सकता। समाज-संस्कार और जातीय जागरण वैदिक भित्ति पर हो-इस सिद्धान्त को देश-हित और मानव-हित के लिए उन्होंने ग्रहण किया [४१८]। देश में शत-सहस्रों की संख्या में प्रचारधर्मी वेद-प्रचारक बन जायें तो देश का कल्याण होगा [४१९]। वैदिक ज्ञान से वञ्चित समाज-संस्कारक या राजनीतिक कर्णधार हमको भोगवाद, उच्छृंखलता और नास्तिकता की ओर ले जायेंगे [४२०]। इसीलिये वेद को सर्व-साधारण के अन्दर सहज, सरल और सुबोध रूप से जाति-वर्ण-लिङ्ग भेद के बिना प्रचार करने की आवश्यकता है। तब वे सोचने लगे कि

---

४१७- ''किसी-किसी द्वेषपरायण दुष्ट ने सरकार को उनके (= स्वामी दयानन्द के) विरुद्ध करने के लिए यहाँ तक कहा कि वह सिपाही-विद्रोह में भाग लेने वाले नाना साहब का भेजा हुआ दूत है।''

-**महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (भाग-१, पृ० ३२२)

ऐसा जिस व्यक्ति ने कहा वह स्वामी दयानन्द के नाना साहब के साथ के सम्बन्धों एवं सम्पर्कों के विषय में जानकारी रखता प्रतीत होता है।

४१८- ''भारतीय क्रान्ति से इतिहासकारों को अनेक शिक्षाएँ मिल सकती हैं, किन्तु उसमें इससे बढ़कर कोई अन्य महत्वपूर्ण शिक्षा नहीं है कि भारत में ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान हमारे (= अँग्रेजों के) विरुद्ध सङ्गठित होकर क्रान्ति कर सकते हैं और हमारे अधिराज्य के सम्बन्ध में यह मानना धोके से खाली नहीं है कि विभिन्न धार्मिक रीति-रिवाजों का परिपालन करने वाली जातियों से जब तक यह देश परिपूर्ण है, तब तक हमारा यह राज्य शान्तिपूर्ण और स्थिर बना रहेगा, क्योंकि ये लोग एक दूसरे के रहन-सहन, रीति-रिवाज और व्यवहारों को भली-भाँति समझते ही नहीं, उनके प्रति आदर-भावना रखकर उनमें सहयोग भी प्रदान करते हैं। १८५७ की इस क्रान्ति ने हमें यह स्मरण करा दिया है कि हमारा आधिपत्य एक पतली परत पर आधारित है और **समाज-सुधार तथा धार्मिक क्रान्ति के विस्फोटों से यह परत किसी भी समय नष्ट हो सकती है।''** - **जी० डब्ल्यू० फारेस्ट के ग्रन्थ** (History of the Indian Mutiny) की भूमिका से

स्वामी दयानन्द का उत्तरवर्ती सारा जीवन इसी निष्कर्ष को कार्यरूप में परिणत करने वाला है। फलत: उनके कार्यों से जिस वातावरण का निर्माण हुआ, उसमें ऐसे अनेक लोग उत्पन्न हुए जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए अपने जीवनों की बाजियाँ लगा दीं और अन्ततोगत्वा देश १५ अगस्त १९४७ को अँग्रेजों की पराधीनता से मुक्त हो गया।

४१९- स्वामी दयानन्द की यही भावना उनके ४ अगस्त, १८७५ ई० को पूना में दिए गए अपने प्रवचन के अन्त में अभिव्यक्त हुई है।

४२०- हमारे देश की वर्त्तमान अवस्था स्वामी दयानन्द द्वारा १६० वर्ष पूर्व दी गई चेतावनी को ही पुष्ट करती है।

वेद के अनुभवी, वेद के ज्ञान को देने में समर्थ और इच्छुक विद्वान् कहाँ हैं और उनका दर्शन किस प्रकार से हो? योग-विद्या-परायण योगियों के सन्धान के लिए उन्होंने जैसे विभिन्न स्थानों में भ्रमण किया था और वे लाभान्वित हुए थे, वैसे ही वैदिक ज्ञान प्रदान करने को तत्पर और प्रकृत वेदज्ञ पण्डितों के सन्धान में भ्रमण करने पर उनका उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ था। योग-विद्या के ज्ञानार्जन के लिए जैसे उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानों में परिभ्रमण किया था, ठीक वैसे ही वेद, पाणिनि, निरुक्त, ब्राह्मण, सूत्रादि वैदिक ग्रन्थों के ज्ञानार्जन के लिए उन्होंने देश के विभिन्न स्थानों में भ्रमण किया था [४२१]।

**कन्याकुमारी से मथुरा**– पं० लेखराम आर्यपथिक के अनुसार स्वामी दयानन्द गुरु विरजानन्द की शरण में कार्तिक शुक्ल २, संवत् १९१७ वि० तदनुसार बुधवार १४ नवम्बर सन् १८६० ई० (यम द्वितीया) को मथुरा पधारे थे। उस समय वे रुद्राक्ष की माला पहनते, भस्म लगाते और संन्यासी की भाँति कौपीन बाँधते, अचरा छाती पर रखते, सिर पर मुँडासा बाँधते और एक बहुत बड़ी लाठी हाथ में रखते थे। एक पुस्तक भी उस समय उनके पास थी और यात्रा की कठिनाइयों के कारण उनका शरीर निर्बल हो रहा था। बोलचाल में गुजराती भाषा के शब्द- **'हमरे तुमरे'** का बहुत प्रयोग करते थे। हमारी धारणा है कि स्वामी दयानन्द कन्याकुमारी से गुजरात में द्वारिका तक गए और वहाँ उन्होंने उस घटना के विषय में जानकारी प्राप्त की जिसका उल्लेख इस ग्रन्थ की पूर्व पाद-टिप्पणी क्र० ३७८ (और सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास) में हुआ है, क्योंकि संन्यासियों में यह परम्परा है कि वे गृहत्याग से १२-१४ वर्षों के पश्चात् अपनी जन्मभूमि की यात्रा करते हैं। कदाचित् इसी का पालन स्वामी दयानन्द ने भी किया होगा और तब वे गुजरात से हाथरस, मुरसान होकर मथुरा पहुँचे होंगे। जबकि पं० लेखराम के अनुसार वे रीवा (बुन्देलखण्ड) होकर मथुरा पहुँचे थे।

दूसरी ओर नाना साहब पेशवा स्वामी दयानन्द के परामर्शानुसार स्वामी दिव्यानन्द संन्यासी बनकर अपने आश्रितों के साथ गुजरात के सीहोर में जाकर रहने लगे और वहाँ वे अपने शेष जीवन भर आयुर्वेदीय चिकित्सा करते रहे। ऐसा उनकी उस बही से पता चलता है जो कि १९५७ ई० में दत्तोवामन पोतदार ने स्वयं वहाँ उनके वंशजों के पास जाकर देखी थी। नाना साहब पेशवा का निधन ११ अगस्त, १९०२ ई० (श्रावण शुक्ला अष्टमी, सोमवार) को मुम्बई से प्रकाशित होने वाले I kIr Kgd i = & *'धर्मयुग'* के ९-१५ मई, और १६-२२ मई, १९७६ ई० के अङ्कों में प्रकाशित लेखों के अनुसार हुआ था।

इसी प्रकार तात्याटोपे भी बहुत वर्षों तक सद्गुरु गोविन्द परमहंस महाराज बनकर जीवित रहा और दिल्ली से प्रकाशित होने वाले हिन्दी मासिक पत्र *'कर्मयोगी'* के मार्च-अप्रैल, २००९ ई० के संयुक्ताङ्क के मुखपृष्ठ पर पूरे पृष्ठ में छपे उसके एक चित्र पर दिए गए विवरणों के अनुसार उसकी मृत्यु २० जून, १९२० ई० को हुई थी।

---

४२१- यह भ्रमण अलग से नहीं अपितु एक साथ ही किया गया था क्योंकि इस भ्रमण के सामूहिक उद्देश्य योगियों की और आर्षग्रन्थों की खोज तथा साधु-संगठन इत्यादि थे।

''ऐसे ही देश-देशान्तर में भ्रमण किया। जहाँ-जहाँ जो-जो पुस्तक मिला, उनका विचार किया।''

**-आदिम सत्यार्थप्रकाश के हस्तलेखाङ्कित आत्म-वृत्त से**

अध्याय- सात

# गुरु विरजानन्द की शरण में

**[ कार्तिक (शुक्ल पक्ष) १९१७ से आश्विन सं० १९२१ वि० पर्यन्त ]**

जैसे त्रेतायुग में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम अपने चौदह वर्ष के वनवास की अवधि पूरी करके अयोध्या लौटे थे, वैसे ही ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में टङ्कारा (गुजरात) में बालक मूलशङ्कर के रूप में जन्मे और आगे वहाँ २१ वर्ष की अपनी युवावस्था तक रहकर पुन: अपने मातृ-पितृकुल की छत्रछाया का परित्याग करके संवत् १९०३ वि० के कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष के आरम्भ में ही स्वेच्छा से निर्वासित हुआ यह युवक भारत देश का पश्चिम से पूर्व तक एवं उत्तर से दक्षिण तक और कुछ देशान्तर का भी परिभ्रमण करके तथा मार्ग में पहले ब्र० शुद्धचैतन्य और बाद में स्वामी दयानन्द सरस्वती का संन्यस्त नाम ग्रहण करके अपनी ३५ वर्ष की आयु पार करके ठीक चौदह वर्ष बाद ही संवत् १९१७ वि० के कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की यमद्वितीया (तदनुसार बुधवार दिनाङ्क १४ नवम्बर, १८६० ई०)[४२२] को विभिन्न साधु-सन्तों और विभिन्न विषयों के विभिन्न गुरुओं से अनेक प्रकार की विद्याएँ और योग की क्रियाएँ सीखकर तथा इसी अवधि में ही हुए १८५७ ई० के भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में भी अपना कुछ योगदान देकर उसके सञ्चालक स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती के पूर्व परामर्शानुसार आर्षज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनके ही एक शिष्य ८१ वर्षीय स्वामी विरजानन्द सरस्वती का आचार्यत्व ग्रहण करने के लिए उनके सम्मुख उनकी मथुरा नगरी में आकर और पहले वहाँ रङ्गेश्वर के मन्दिर में ठहरकर होली के दरबाजे से विश्रान्त-घाट की ओर जाने वाले मुख्य राजमार्ग पर स्थित एक साधारण से गृह की अट्टालिका के ऊपरी भाग पर किराए पर लिए गए एक पाठशाला-भवन [४२३] में उपस्थित हुआ। तब उसने भवन का दरबाजा बन्द देखकर बाहर से ही दरबाजा खटखटाया तो-

विरजानन्द जी बोले- कौन है?

दयानन्द जी ने बाहर से ही उत्तर दिया- एक संन्यासी।

विरजानन्द ने पुन: पूछा- नाम क्या है?

दयानन्द से उत्तर मिला- स्वामी दयानन्द सरस्वती।

विरजानन्द ने फिर पूछा- कुछ व्याकरण पढ़ा है?

दयानन्द ने उत्तर दिया- सारस्वतादि पढ़ा है।

पाठशाला का द्वार खुलने पर स्वामी दयानन्द पाठशाला में भीतर प्रविष्ट हुए। अपनी इस भेंट के समय प्रज्ञाचक्षु स्वामी

---

४२२- स्वामी दयानन्द के सहाध्यायी पं० युगलकिशोर ने बताया था कि जिस समय स्वामी दयानन्द स्वामी विरजानन्द के पास पढ़ने के लिए मथुरा आए थे, तब पश्चिमोत्तर प्रदेश में सर्वत्र दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था। सरकारी अभिलेखानुसार उक्त प्रदेश में दुर्भिक्ष का यह भयङ्कर प्रकोप नवम्बर,१८६० ई० से अक्टूबर, १८६१ ई० तक रहा था।

४२३- स्वामी विरजानन्द की इस पठशाला के स्थान पर महर्षि दयानन्द दीक्षा शताब्दी समारोह दिसम्बर, १९५९ ई० के अवसर पर एक भव्य विरजानन्द अनुसन्धान भवन के निर्माण की आधारशिला मुम्बई के सेठ प्रतापसिंह शूरजी वल्लभदास द्वारा प्रदत्त एक लाख रुपये के दान से रखी गई थी। इस दीक्षा शताब्दी समारोह में मैंने भी तब अपने परिजनों के साथ सम्मिलित होकर इस अनुसन्धान भवन के निर्माण स्थल पर रखी गई दान-पेटिका में सात रुपये डाले थे। *- आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

विराजानन्द ने नवागन्तुक विद्यार्थी स्वामी दयानन्द से कहा कि अभी तक तुमने जो कुछ पढ़ा है, वह मनुष्यकृत होने से उसे भूल जाओ । तब स्वामी विरजानन्द ने उनको सारस्वत की वास्तविकता बताई कि इसे अनुभूति स्वरूप आचार्य ने बनाया था। किसी शास्त्रार्थ में बूढ़ा हो जाने और मुख में दाँत न रहने के कारण उससे 'पुंसु' शब्द अशुद्ध निकल गया। इस पर जब प्रतिपक्षी ने आक्षेप किया, तब उसने क्रोध में आकर उसकी सिद्धि में यह झूठा ग्रन्थ बनाया था तथा मिथ्या अभिमान में आकर इस अशुद्ध को ही शुद्ध कर दिखाया था। परन्तु उसके इस व्यर्थ प्रयत्न करने पर भी 'पुंसु' शब्द शुद्ध न हुआ, अशुद्ध ही रहा। अतः व्याकरण के सम्बन्ध में पढ़े गए ऐसे अधिकांश ग्रन्थ स्वामी विरजानन्द की दृष्टि में अनार्ष ही थे, इसलिए mUgsaus ¨asmu xzÉ¨a si <sgq d¨ Òyw tkusï j mUgs eqkeasi økfgr dj vkus dk funÉ& *'ओम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आ सुव'* के वेदमंत्र के परिपालन में दिया था। साथ ही कहा था कि हमारी पाठशाला में विद्यार्थियों के रहने और खाने का कोई प्रबन्ध नहीं है, अतः इनकी भी पहले तुम व्यवस्था करके जाओ तभी हम तुमको पढ़ा सकेंगे। अपनी इस प्रथम भेंट के समय स्वामी दयानन्द सरस्वती संन्यासी वेश में थे और उन्होंने अपने ललाट पर भस्म की रेखा लगाई हुई थी तथा गले में रुद्राक्ष की माला भी पहनी हुई थी। उनका परिधान गेरुआ था तथा उनके हाथ में एक लोटा था।

इस प्रथम भेंट [४२४] के समय स्वामी विरजानन्द ने अपनी पाठशाला की परम्परा के अनुसार स्वामी दयानन्द से भट्टोजी दीक्षित के नाम पर, जो सिद्धान्त कौमुदी नामक संस्कृत व्याकरण का रचयिता था, जूते भी लगवाए थे ताकि उनके हृदय में उसके प्रति कोई अनुराग न रहे।

अपने भावी गुरु का यह प्रथम आदेश पालन करने के लिए विद्यार्थी दयानन्द तत्काल उलटे पाँव विरजानन्द की पाठशाला से मथुरा नगरी की ओर निकल पड़े। सो पहले उन्होंने यमुना के निकट जाकर अपने पास उपलब्ध व्याकरण के जो अनार्ष ग्रन्थ थे, उन्हें वहीं फाड़कर यमुना में बहा दिया। फिर उन्होंने अपने आवास और भोजन प्रदाता की खोज में उस मथुरा नगरी में पदन्यास किया जहाँ न तो उनका कोई परिचित ही था न कोई बन्धु-बान्धव ही। लेकिन जब दयानन्द 'किं करोमि क्व गच्छामि' की मनोदशा में मथुरा में इधर-उधर पदन्यास कर रहा था, तभी आर्यजाति के सौभाग्य से दयानन्द को उनके ही गुजरात प्रान्त के एक औदीच्य ब्राह्मण कुलोत्पन्न उन अमरलाल जोशी [४२५] से, जिनके पूर्वज कभी गुजरात से ही मथुरा में आकर बस गए थे, परिचय हो गया। दयानन्द ने अपनी भोजन की समस्या उनके सामने रखी जिसे उन्होंने तत्काल ही सहर्ष स्वीकार कर लिया जिससे उनके भोजन का स्थिर प्रबन्ध हो गया। इसके बाद दयानन्द के रहने का भी प्रबन्ध विश्रान्त घाट पर लक्ष्मीनारायण के मन्दिर की एक कोठरी में हो गया। यह कोठरी इस लक्ष्मीनारायण मन्दिर के द्वार पर एक पार्श्व में थी और एक मनुष्य के रहने और सोने भर के लिए पर्याप्त थी। वहाँ मन्दिर के गवाक्ष के पास खड़े होकर देखने पर निरन्तर प्रवाहमान यमुना और उसके परे का विहङ्गम दृष्य दयानन्द के मन को प्रफुल्लित करने वाला था। इस प्रकार दयानन्द अपने आचार्य की सभी अपेक्षाओं को पूरा करके उनसे आर्षज्ञान प्राप्त करने के लिए नियमितरूप से उन स्वामी विरजानन्द के पास पढ़ने जाने लगा जो प्रज्ञाचक्षु (दृष्टिरहित) थे। वे इस समय तक ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के प्रति इतने आस्थावान हो चुके थे कि उन्होंने अपने द्वारा पूर्व में रचित वाक्यमीमांसा और पाणिनि की अष्टाध्यायी

---

४२४- स्वामी वेदानन्द दयानन्द तीर्थ (१८९२-१९५६ ई०) अपने *'वेद परिचय'* नामक ग्रन्थ के पृष्ठ-१२ पर (विजयकुमार-हासानन्द संस्करण, २००० ई०) में लिखते हैं कि "संवत् १९१४ वि० (१८५७ ई०) के महान् प्रयत्न के, जिसमें स्वामी विरजानन्द तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक-दूसरे से अपरिचित रहकर सहयोग दिया था।"

४२५- ज्योतिष शास्त्र में प्रवीण होने के कारण ही अमरलाल को जोशी की पदवी मिली थी और इसी कारण ग्वालियर के महाराजा सिन्धिया ने उन्हें १०-१२ ग्रामों की मालगुजारी प्रदान की हुई थी।

का लगभग आधा रचित भाष्य स्वयं ही अपने एक शिष्य के माध्यम से यमुना में प्रवाहित करा दिया था। इस समय वे वैदिक धर्म को ही सत्य-सनातन धर्म मानते थे और इन्हीं के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने मथुरा में अपनी यह पाठशाला इस आशा के साथ स्थापित कर रखी थी कि उन्हें कोई ऐसा सुयोग्य शिष्य मिल जाए जो तब तक वृद्ध और असहाय हो गए विरजानन्द की इस इच्छा की पूर्ति कर सके।

स्वामी विरजानन्द अपनी इस चिन्ता में कभी-कभी इतने उद्विग्न हो जाते थे कि वे सदैव ही वैदिक धर्म के पुनरुत्थान और आर्षग्रन्थों के पुनः प्रचार के उपायों के सोचने में ही लगे रहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने एक सार्वभौम सभा भी स्थापित करने का प्रस्ताव जयपुराधीश महाराजा रामसिंह से समक्ष कुछ पूर्व में प्रस्तुत किया था और महाराजा ने भी इसका समर्थन करके उसके लिए विशेष प्रयत्न करने का उन्हें वचन दे दिया था।

स्वामी विरजानन्द यद्यपि जन्मान्ध थे तथापि उनकी जिह्वा पर वे सभी शास्त्र समुपस्थित रहते थे जिनका प्रवेश उनकी ऋतम्भरा बुद्धि में सुन-सुनकर ही हो चुका था। विशेषकर शब्दशास्त्र (व्याकरण) में तो उनकी प्रतिभा अलौकिक ही थी जिससे वे जन साधारण में *'व्याकरण-सूर्य'* की पदवी से अलङ्कृत हो चुके थे। किसी भी सूत्र या श्लोक को एक बार या अधिक से अधिक दो बार ही सुनकर वे उसे कण्ठस्थ कर उसका मर्म समझ जाते थे। इससे वे श्रुतिधर भी कहे जाने लगे थे। अपने इस गुण की अपेक्षा वे अपने सभी शिष्यों से भी रखने लगे थे।

इस प्रकार जहाँ स्वामी विरजानन्द स्वयं विलक्षण थे, वहीं उनकी पाठशला भी विलक्षण ही थी। इस पाठशाला का उद्देश्य अन्य पाठशालाओं के समान साधारण वैयाकरण, नैयायिक और वेदान्तिक तैयार करना भर न था, अपितु ऐसे असाधारण विद्वान् तैयार करना था जो अपने कार्यक्षेत्र में पदार्पण करके देश का कायाकल्प उनकी अपेक्षा के अनुरूप कर सकें। इसीलिए वे अपने विद्यार्थियों से प्रायः कहा करते थे कि 'आज मैं जिस अग्नि को तुम्हारे हृदयों में प्रविष्ट कर रहा हूँ, वह महाग्नि बनकर एक दिन भारत भूमि के भ्रान्त-मतों और भ्रान्त-विश्वासों को भस्मीभूत कर देगी।'

सो भारतवर्ष के सौभाग्य से इस बार इस विलक्षण गुरु को एक विलक्षण विद्यार्थी भी मिल गया था जिसने अपने इस प्रज्ञाचक्षु गुरु के सङ्कल्प को आगे चलकर सफलीभूत कर दिखाया जिसकी कभी उसने कल्पना भी नहीं की थी।

जैसा कि स्वामी दयानन्द ने बाद में रचित अपने ग्रन्थों में यह लिखा है कि 'यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारण शिक्षा एक महीने के भीतर पढ़ा देवे। पुनः पाणिनिमुनिकृत लिङ्गानुशासन और उणादिगण, गणपाठ तथा अष्टाध्यायीस्थ ण्वुल् और तृच् प्रत्यायाद्यन्त सुबन्तरूप छः महीने के भीतर सधवा देवें। पुनः दूसरी बार अष्टाध्यायी- पदार्थोक्ति, समास, शङ्कासमाधान, उत्सर्ग, अपवाद, अन्वयपूर्वक पढ़ावें और संस्कृत भाषण का भी अभ्यास कराते जाएँ। आठ महीने के भीतर इतना पढ़ना-पढ़ाना चाहिए।

तत्पश्चात् पतञ्जलि मुनिकृत महाभाष्य जिसमें वर्णोच्चारण शिक्षा, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिगण, लिङ्गानुशासन- इन छः ग्रन्थों की व्याख्या यथावत् लिखी है, डेढ़ वर्ष में अर्थात् १८ (अठारह) महीनों में इसको पढ़ना-पढ़ाना। इस प्रकार शिक्षा और व्याकरण को तीन वर्ष पाँच महीने वा नौ महीने, अथवा चार वर्ष के भीतर पूरी कर सब संस्कृतविद्या के मर्मस्थलों को समझने योग्य होवे।

तत्पश्चात् यास्कमुनिकृत निघण्टु-निरुक्त तथा कात्यायनादि मुनिकृत कोश डेढ़ वर्ष के भीतर पढ़े।

जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि को चाहने वाले नित्य पढ़ें-पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोधकर पुनः अन्य शास्त्रों को भी शीघ्र सहज में पढ़ सकते हैं।' इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने स्वामी विरजानन्द से पूर्व से पर्याप्त पढ़े होने के

कारण ढाई वर्ष के अन्दर ही अर्थात् चैत्र संवत् १९२० वि० तक (मार्च-अप्रैल, १८६३ ई० तक) ही पूरा आर्ष व्याकरण और कोष पढ़ लिया था। इस सम्बन्ध में वे स्वयं ही अपने पुणे-प्रवचनों में कहते हैं कि "पुनः विचार मन में आया कि ज्ञान-प्राप्ति करने के पश्चात् ही देह छोड़ना चाहिए, ऐसा निश्चय करके मैं मथुरा आया। वहाँ मुझे एक संन्यासी सत्पुरुष गुरु मिले। उनका नाम विरजानन्द स्वामी था। वे पहले अलवर में रहते थे। उनका वय उस समय ८१ वर्ष का था। उनकी वेदशास्त्रादि आर्ष ग्रन्थों में अधिक अभिरुचि थी। वे दोनों आँखों से अन्धे थे और उन्हें पेट-शूल का रोग था। उनको आधुनिक कौमुदी-शेखरादिक ग्रन्थ अच्छे नहीं लगते थे। भागवतादि पुराणों का वे बहुत तिरस्कार (खण्डन) करते थे। सब आर्ष ग्रन्थों पर उनकी अत्यधिक भक्ति थी। अनन्तर उनका परिचय होने पर उनके द्वारा 'तीन वर्ष में व्याकरण आ जाता है' -ऐसा कहने पर मैंने उनके पास पढ़ने का निश्चय किया। मथुरा में एक भद्र पुरुष अमरलाल नाम के थे। उन्होंने मेरे अध्ययन करते समय जो मुझ पर उपकार किया, उसे मैं भूल नहीं सकता। पुस्तकादि सामग्री और खाने-पीने की व्यवस्था उन्होंने बहुत ही उत्तम कर दी थी। उन्हें स्वयं बाहर भोजन के लिये जाना होता तो पहले मुझे भोजन कराकर पश्चात् स्वयं जाते थे। ऐसा वह पुरुष अत्यन्त उदार मन का था।"

स्वामी विरजानन्द की देहयष्टि यद्यपि अस्थि-पञ्जर जैसी ही थी तथापि वह युवजनोचित उत्साह और तेजस्विता के साथ अपने छात्रों को सभी पाठ पढ़ाते थे। जन्मान्ध होने के कारण एक प्रकार से यद्यपि उन्होंने अपने वर्तमान नेत्रों से कभी किसी ग्रन्थ के दर्शन नहीं किए थे तथापि उनकी सर्व-विषय ग्रहणी स्मृति शक्ति के कारण उन्हें व्याकरण, दर्शन, साहित्य, संहिता, वेद तथा वेदान्तादि सब विद्याओं के सब प्रकार के तत्वों को बातों ही बातों में अपने शिष्यों को समझा देने की नैसर्गिक क्षमता प्राप्त थी। सो जब ऐसे विलक्षण गुरु और विलक्षण शिष्य दयानन्द का प्रतिदिन ही आमना-सामना होने लगा तो विद्याग्नि धधक उठी।

मथुरा के अपने इस विद्याग्रहण काल में दयानन्द के जीवन की उनके विभिन्न जीवन चरित्रों में वर्णित निम्न कुछ घटनाएँ चिरस्मरणीय बनीं-

स्वामी दयानन्द के मथुरा आने के समय से ही इस प्रदेश में अकाल पड़ा हुआ था जो आगे छः-सात मास तक रहा था। समस्त मथुरा वासियों के लिए साधारणतया और विद्यार्थियों के लिए यह अत्यन्त कठिनाई का समय था। ऐसे में स्वामी दयानन्द इन छः-सात महीनों में दुर्गा खत्री, जो डाका वाला के नाम से विख्यात था, उसके यहाँ से कभी सूखे चने और कभी-कभी चने की रोटी खाकर ही निर्वाह करते रहे थे। दुर्भिक्ष के अन्त में ही मथुरा के रईस बाबा अमरलाल जोशी के यहाँ उनके भोजन का प्रबन्ध हो सका था। उनके यहाँ प्रतिदिन सौ-सवा सौ ब्राह्मण भोजन पाते थे।

गुजरात में जन्मे होने और उनकी मातृभाषा गुजराती होने के कारण तथा बाद में विभिन्न भाषाभासी लोगों और गुरुओं के सम्पर्क में आने के कारण दयानन्द का संस्कृत भाषा का उच्चारण दोषपूर्ण था। उनका यह उच्चारण-दोष स्वामी विरजानन्द से निरन्तर सत्सङ्ग और उनसे वार्तालाप से ही ठीक हुआ था।

दण्डी जी के दैनिक स्नानार्थ स्वामी दयानन्द यमुना से १५-२० घड़े जल भरकर लाया करते थे जिसे स्वामी दयानन्द अपने गुरु की सेवार्थ लाकर प्रतिदिन देते रहे थे। पीने के लिए शुद्ध यमुना जल भी वे स्वयं मध्य धार से भरकर उनके लिए लाते थे।

स्वामी दयानन्द बड़े पुरुषार्थी, उद्यमी और फुर्तीले थे। लक्ष्मीनारायण मन्दिर में रहकर वे प्रतिदिन व्यायाम करते और कई मील तक भ्रमण करने जाया करते थे।

स्वामी विरजानन्द दुर्गापाठ किया करते थे। एक बार स्वामी दयानन्द ने इसका कुछ प्रतिवाद किया तो स्वामी

विरजानन्द उन्हें दण्डा लेकर मारने के लिए दौड़ पड़े थे।

मथुरा का एक सेठ गोवर्द्धन सराफ चार आने मासिक (एक रुपये का चौथाई भाग अर्थात् आजकल के २५ पैसे) रात्रि में दीपक जलाकर पढ़ने के लिए दयानन्द को दिया करता था। हरदेव पत्थरवाला उन्हें दो रुपये मासिक दूध के लिए देता था। देश भर में मथुरा अपने शुद्ध दूध और पेड़ों के लिए प्रसिद्ध है।

स्वामी दयानन्द मथुरा में कभी-कभी अभ्रक फूँकते और पारे की गोली भी बाँधा करते थे। ब्रह्मचर्य पालन का अन्य छात्रों को भी उपदेश किया करते थे। स्वयं भी पूरे यति (संयमी) पुरुष थे।

एक बार मथुरा में स्वामी विरजानन्द का वृन्दावन के रङ्गाचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था। इस शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द भी दण्डी जी के साथ उपस्थित थे। वार्तालाप के समय रङ्गाचार्य का एक शिष्य संस्कृत में बोलने लगा। तब दयानन्द ने उसकी बोली हुई पंक्ति का संस्कृत में ही खण्डन किया परन्तु दण्डी जी ने दयानन्द को रोक दिया और कहा कि तुम कुछ भी मत कहो, चाहे वह कुछ भी कहता रहे।

एक दिन दण्डी जी दयानन्द से अप्रसन्न हो गए और उनको लाठी मारी जिससे स्वयं दण्डी जी का हाथ दर्द करने लगा। तब दयानन्द ने उनसे कहा कि महाराज आप मुझे न मारा करें, मेरा शरीर तो वज्र के समान कठोर हो गया है, इस प्रकार प्रहार करने से आपके ही कोमल करों को कष्ट होता है। इसी चोट का चिह्न: दयानन्द के शरीर पर उनके अन्तिम समय तक बना रहा था जिसे देखकर वे दण्डी जी के उपकारों का स्मरण किया करते थे।

एक बार दण्डी जी ने अप्रसन्न होकर दयानन्द को गालियाँ भी देते हुए उन्हें सोंटा मारा । तब नैनसुख जड़िए ने दण्डी जी से कहा कि दयानन्द हमारे समान गृहस्थ नहीं हैं, अपितु एक संन्यासी हैं, इन्हें नहीं मारना चाहिए। तब दण्डी जी ने नैनसुख जड़िए से कहा कि भविष्य में वे उन्हें प्रतिष्ठा के साथ ही पढ़ाया करेंगे। इस पर पाठशाला से बाहर आकर दयानन्द ने नैनसुख जड़िए को कहा कि तुमने मेरी मुझे न मारने की सिफारिश क्यों की? दण्डी जी सुधार के लिए ही तो मुझे मारते हैं, द्वेष से नहीं। जैसे कुम्हार पीट-पीटकर घड़ा बनाता है, वैसे ही वे मुझे मार-मारकर घड़ रहे हैं। तुमने बुरा किया जो उन्हें इसका निषेध किया।

एक दिन दयानन्द यमुना की रेती में ध्यानावस्थित होकर बैठे हुए थे। तभी एक देवी यमुना-स्नान करने के लिए वहाँ आई और दयानन्द के चरणों में अपना मस्तक रखकर उन्हें अत्यन्त श्रद्धा से नमस्कार किया। दयानन्द कभी किसी स्त्री का स्पर्श न करते थे, इसलिए वे उस स्त्री के इस प्रकार प्रणिपात करने पर एकदम चौंक पड़े और माता-माता कहते हुए उठ खड़े हुए। पुन: वे इस स्त्री-स्पर्श का प्रायश्चित करने के लिए गोवर्धन की ओर चले गए और एक निर्जन स्थान पर तीन दिन-रात तक निराहार रहकर प्रायश्चित किया। जब वहाँ से वे दण्डी जी की पाठशाला में वापस लौटे तो दण्डी जी ने उनसे इतने दिनों तक अनुपस्थित रहने का कारण पूछा। तब दयानन्द ने गुरु जी से अपने व्रतभङ्ग और इस प्रायश्चित की कथा कह सुनाई जिसे सुनकर दण्डी जी बहुत ही प्रसन्न हुए।

एक दिन दण्डी जी का कोई दूर का सम्बन्धी मथुरा आया। उन दिनों दण्डी जी ने अपने विद्यार्थियों को आज्ञा दे रखी थी कि उनकी पाठशाला में विद्यार्थियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति न आने पावे। आगन्तुक को दण्डी जी के दर्शन करने की बहुत इच्छा थी, परन्तु वह प्रयत्न करने पर भी दण्डी जी के दर्शन नहीं कर सका। तब उसने दयानन्द से प्रार्थना की कि वे किसी तरह उसे दण्डी जी के दर्शन करा दें। तब दयानन्द ने उसे बहुतेरा कहा कि यदि मैं अपने साथ तुम्हें पाठशाला ले गया तो गुरुजी अप्रसन्न होंगे। पर वह न माना और निरन्तर अनुनय-विनय करता ही रहा जिससे दयानन्द का हृदय भी द्रवित हो गया और वे अपने साथ उसे पाठशाला में लेते गए। थोड़ी देर बाद चुपके से उसे दण्डी जी के दर्शन कराके वह

आगन्तुक और स्वामी दयानन्द बाहर निकलने लगे। तभी जब वह सीढ़ी उतर ही रहे थे, उनका एक सहाध्यायी उन्हें मिल गया जिसे उन्होंने सङ्केत से समझा भी दिया कि दण्डी जी को कुछ न बताना, पर उसने उन्हें सब कुछ बता दिया कि महाराज आज दयानन्द के साथ एक पञ्जाबी सा दिखने वाला कोई व्यक्ति आया था? यह सुन कर दण्डी जी दयानन्द पर बहुत अप्रसन्न हुए और उनकी ड्योढ़ी बन्द कर दी। इस पर दयानन्द ने दण्डी जी से बहुत अनुनय-विनय की परन्तु उनके लिए तब ड्योढ़ी न खुली। अन्त में नैनसुख जड़िया की सिफारिश पर ही वह बाद में खुली।

दयानन्द की धारणा शक्ति अलौकिक थी। वह पाठ को एक-दो बार सुनकर ही स्मरण कर लेते थे। परन्तु एक दिन अष्टाध्यायी की एक प्रयोग-सिद्धि उन्हें विस्मृत हो गई। अत: उसे उन्होंने दण्डी जी से दुबारा पूछा। इस पर दण्डी जी ने उसे दुबारा न बताया और कहा कि जाओ और स्मरण करके आओ, हम बार-बार नहीं बताते। दयानन्द ने बहुतेरा प्रयत्न किया परन्तु फिर भी उन्हें सफलता नहीं मिली। तब वे पुन: गुरुदेव के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया कि महाराज वह सिद्धि मुझे स्मरण नहीं हो पा रही है। पर दण्डी जी भी अपनी हठ के पक्के ही थे, अत: शिष्य की इस प्रार्थना पर भी उन्होंने कान न दिया अपितु डाँट कर उनसे बोले कि जब तक तुम पहला पाठ न सुनाओगे, तब तक तुम्हारा अगला पाठ न चलेगा। यदि वह प्रयोग तुम्हें याद न पड़े तो भले ही यमुना में डूब मरना, पर मेरे पास न आना। गुरुजी का यह कठोर वचन दयानन्द को वाण के समान चुभ गया। अत: उन्होंने प्रण कर लिया कि या तो मैं पाठ स्मरण करके ही यहाँ पाठशाला में वापस आऊँगा, अन्यथा यमुना में डूबकर अपना प्राणान्त ही कर लूँगा। इस निश्चय के साथ वे समीप के सीताघाट के शिखर पर चढ़कर समाधिस्थ हो गए। सो इस समाधि अवस्था में ही उन्हें अपना भूला हुआ पाठ स्मरण हो आया जिससे उन पर आई हुई यह विपत्ति दूर हो गई।

स्वामी विरजानन्द ने जब स्वामी दयानन्द को महाभाष्य पढ़ाना आरम्भ किया था तब उनके लिए उसकी एक पुस्तक मथुरा नगर से ३१ रुपये का चन्दा करके बुलबाई गई थी।

स्वामी दयानन्द मथुरा में विश्रान्त घाट पर लक्ष्मीनारयण मन्दिर में रहा करते थे। अवकाश के समय वे योगाभ्यास और सहपाठियों के साथ व्याकरण सम्बन्धी विचार-विमर्श भी किया करते थे। उन्हीं दिनों वे ब्राह्मणों को सन्ध्या, उपासना और अग्निहोत्र करने का उपदेश किया करते और थोड़ा-थोड़ा खण्डन-मण्डन भी करने लगे थे। पण्डित जुगल किशोर जी ने बताया था कि एक दिन विद्यार्थी अवस्था में स्वामी दयानन्द ने उनसे स्पष्ट कह दिया था कि मूर्तिपूजा, कण्ठी, तिलक, छाप आदि सब निषिद्ध हैं। पर इस समय वे यह सब खण्डन-मण्डन खुले हुए रूप में नहीं करते थे। उनके कारण बहुत से विद्यार्थी मन्दिर में आया करते थे और वहाँ रात्रि में ११-१२ बजे तक विद्या पढ़ा करते थे। स्वामी दयानन्द सायंकाल मन्दिर में बैठकर संस्कृत बोलते और पण्डितों से विभिन्न विषयों पर चर्चा और शास्त्रार्थ भी किया करते थे।

मथुरा के विद्वानों में यह प्रसिद्ध था कि स्वामी विरजानन्द और उनके शिष्य स्वामी दयानन्द कभी झूठ नहीं बोलते थे। वे सच्चे मनुष्यों के मित्र और सत्यप्रिय थे। झूठे मनुष्यों को वे अपने पास भी फटकने नहीं देते थे।

जब स्वामी दयानन्द के मथुरा से चले जाने और विद्या समाप्ति के लिए १५-२० दिन ही रह गए थे तो एक दिन विरजानन्द जी ने स्वामी दयानन्द से कहा कि- दयानन्द! जहाँ हम ऊपर बैठते हैं, वहाँ झाडू लगा देना। दयानन्द ने झाडू लगाकर कूड़ा एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया। टहलते समय उस कूड़े के ढेर पर स्वामी विराजानन्द का पैर पड़ गया। इस पर विरजानन्द ने स्वामी दयानन्द को गालियाँ दीं और कहा कि तूने मेरी आज्ञा का यथेष्ठ पालन नहीं किया है और क्रुद्ध होकर उसे मकान से बाहर चले जाने के लिए कह दिया अर्थात् उनकी ड्योढी पुन: बन्द कर दी। इस पर स्वामी दयानन्द बहुत दु:खित हुए और पहले उन्होंने नन्दन चौबे और बाद में नयनसुख जड़िया से सिफारिश कराई। इन दोनों से स्वामी

दयानन्द ने कहा था कि यद्यपि स्वामी विरजानन्द मेरे प्रति हृदय से क्रुद्ध नहीं हैं, तथापि अब मेरी विद्यासमाप्ति सन्निकट है, इसलिए उन्हें किसी प्रकार दु:खी छोड़कर जाना मेरे लिए ठीक नहीं है। इसलिए इन दोनों की सिफारिश पर पुन: शिष्य के प्रति गुरु ने अपना रोष शान्त कर लिया।

इस प्रकार दयानन्द ने विरजानन्द से अष्टाध्यायी और महाभाष्य पूर्णरूप से अपने आयित्व में कर लिए थे और वेदादि शास्त्रों को समझने की कुञ्जी भी उनसे अपने इस ढाई वर्षीय अध्ययनकाल में समझ ली थी। इस अध्ययन के दौरान दयानन्द अपने आचार्य स्वामी विरजाननद के बहुत प्रीतिपात्र बन गए थे और स्वामी विरजानन्द भी यह समझने लगे थे कि दयानन्द ही उनकी चिरसाध को पूर्ण करने की क्षमता रखता है। पढ़ाते समय स्वामी विरजानन्द दयानन्द की प्रतिभा को परखकर उन्हें प्यार से '*कालजिह्व*' और '*कुलक्कर*' जैसे शब्दों से सम्बोधित करने लगे थे। इन शब्दों का अर्थ क्रमश: असत्य का खण्डन और भ्रान्तिजाल को मिटाने वाला तथा खूँटे के समान अपने निश्चय पर अडिग रहकर विपक्षी को पराभूत करने वाला होता है। दयानन्द के ये दोनों गुण हमें उनके भावी जीवन में सर्वत्र ही फलीभूत हुए दिखाई पड़ते हैं। पाठशाला और पाठप्रसङ्ग के अतिरिक्त विरजानन्द का अपने अन्य विद्यार्थियों से कोई सम्बन्ध न था, पर दयानन्द तो इस विषय में अपने आचार्य के स्नेहपात्र ही थे, इसलिए उनका परस्पर एकान्त में अनेक विषयों पर बहुत विचार-विमर्श होता था। इस विचार-विमर्श के विषय अनुमानत: भारतवर्ष की वर्तमान दुरवस्था और उससे उसे बाहर निकालने के उपाय ही रहा करते होंगे। इसी वार्तालाप के दौरान स्वामी विरजानन्द को यह विश्वास हो गया था कि उनका यह शिष्य दयानन्द ही उनकी चिरसाध को भविष्य में पूर्ण करेगा। दयानन्द भी अपने इस अन्तिम आचार्य से पूर्णतया सन्तुष्ट थे।

जब दयानन्द का मथुरा की पाठशाला में स्वामी विरजानन्द से ढाई वर्षीय अध्ययनकाल समाप्त हुआ तो उनके वहाँ से प्रस्थान करने की बेला भी आ उपस्थित हो गई। इस अवसर पर दयानन्द जैसा पराश्रित संन्यासी अपने आचार्य को क्या गुरुदक्षिणा दे सकता था? स्वामी विरजानन्द जी को लौंगे बहुत प्रिय थीं, अत: वे ही कहीं से किसी प्रकार आधा सेर (आधे किलो से कुछ कम) जुटाकर उन्हें अपने गुरु स्वामी विरजाननद की सेवा में दयानन्द ने भेंट कर दीं! इसका चित्रण हमारे सम्पर्क में आए स्वामी हौलस मस्करी ने अपनी एक कविता में इस प्रकार किया है-

कर प्राप्त सभी निगमागम को, उर भूरि भरी गुरु-भक्ति यती के।
नित त्याग रहे दुरितों को सभी, भरते रहे भाव सुभव्य कृती के।।
तन-तप्त लिए प्रतिभा कलधौत, सुधीर बने ध्रुव-धाम धृती के।
मन 'हौलस' मुग्ध लखा गुरु-भेंट, लवङ्ग लसा कर-पात्र व्रती के।।

स्वामी विरजानन्द ने इस अवसर पर अपने प्रिय शिष्य को सम्बोधित करते हुए कहा-'सौम्य ! मैं तुमसे किसी प्रकार की धन की दक्षिणा नहीं चाहता हूँ। मैं तुमसे तूम्हारे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ। तुम प्रतिज्ञा करो कि जितने दिन जीवित रहोगे उतने दिन आर्यावर्त्त में आर्ष ग्रन्थों की महिमा को स्थापित करोगे, अनार्ष ग्रन्थों का खण्डन करोगे और भारत में वैदिक धर्म की स्थापना में अपने प्राण तक अर्पण कर दोगे।'

दयानन्द ने इसके उत्तर में केवल एक ही शब्द कहा- 'तथाऽस्तु।' यह कहकर उन्होंने अपने गुरु विरजानन्द के चरणों में प्रणत होकर मथुरा से आगरा के लिए प्रस्थान किया।

**मथुरा से अगरा**- स्वामी दयानन्द के पास श्रीमद्भगवद्गीता और विष्णु सहस्रनाम की दो पुस्तकें थीं। इन्हें लक्ष्मीनारयण मन्दिर के एक पुजारी को देकर और अपनी ओढ़ने की रजाई को भी गर्मी आ जाने के कारण वहीं अपनी रहने की कोठरी में ही छोड़कर वे वैशाख संवत् १९२० वि० तदनुसार अप्रैल, १८६३ ई० में दो वर्ष छ: मास तक मथुरा में रहकर और वहाँ

स्वामी विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त करके मन्दिर के दूसरे पुजारी घासीराम के साथ आगरा के लिए पैदल ही चल पड़े। आगरा पहुँचकर ये लोग बालूगंज में यमुनातट पर बने भैरव मन्दिर के समीप सेठ गुल्लामल के बाग में ठहर गए। इस बाग को सेठ रूपचन्द का बाग भी कहते थे। सेठ रूपचन्द गुल्लामल के पिता थे। यह बाग साधु-संन्यासियों की सेवा के लिए ही बनाया गया था इसलिए कोई भी साधु-संन्यासी वहाँ आकर आश्रय ले सकता था। आने वाले साधु-संन्यासियों की सेवा के लिए बाग में एक ब्रह्मचारी और एक माली रहा करता था और उनके ठहरने के लिए वहाँ कुछ कोठरियाँ भी बनी हुई थीं।

उस समय आगरा में डाक विभाग के अधीक्षक पं॰ सुन्दरलाल जी थे जो एक धार्मिक और जिज्ञासु प्रवृत्ति के सज्जन पुरुष थे। डाक विभाग में ही दो अन्य पुरुष पं॰ बालमुकुन्द और दयाराम भी कर्मचारी थे। ये तीनों अपने कार्यालयोत्तर समय में गुल्लामल के इसी बाग में आगत साधु-संन्यासियों का सत्सङ्ग लाभ करने के लिए आया-जाया करते थे। पं॰ सुन्दरलाल को इस प्रकार इस बाग में स्वामी दयानन्द से सम्पर्क और सान्निध्य प्राप्त हो गया। पं॰ सुन्दरलाल को धार्मिक विषयों पर बातचीत करते हुए स्वामी दयानन्द से बाद में इतनी घनिष्ठता और आत्मीयता हो गई थी कि वे प्रतिदिन ही सायंकाल उनका सान्निध्य और सत्सङ्ग प्राप्त करने के लिए इस बाग में आने लगे थे। ऐसे में ही एक दिन स्वामी दयानन्द ने पं॰ सुन्दरलाल से कहा कि 'इस प्रकार का सम्मिलन दोनों के लिए कोई विशेष लाभकर नहीं है। कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे हम सबको ही कुछ लाभ हो।' यह कहकर स्वामी दयाननद ने पं॰ सुन्दरलाल से पुन: कहा कि 'अध्ययन समाप्ति के बाद जब मैंने अपने आचार्य स्वामी विरजानन्द से मथुरा से विदा ली थी तब मैंने उन्हें गुरुदक्षिणा में अपना सम्पूर्ण जीवनदान देते हुए यह व्रत लिया था कि 'मैं अपने शेष जीवन में वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा करूँगा और भारतवर्ष से अज्ञानान्धकार को मिटाऊँगा।' स्वामी दयानन्द से यह बात सुनकर पं॰ सुन्दरलाल ने उनसे अष्टाध्यायी और गीता पढ़ना आरम्भ कर दिया और उसके चार अध्ययाय पढ़ भी लिए। डाक विभाग के इन तीन पुरुषों का दयानन्द से संसर्ग इतना प्रीतियुक्त और आकर्षक हो गया था कि वे अपने कार्यालिय से लौटकर घरों में हाथ-मुख धोकर सीधे बाग में ही पहुँच जाते थे और घण्टों बाग में रहकर स्वामी दयानन्द से धार्मिक विषयों पर चर्चा करते और व्याकरण पढ़ते रहते थे।

मथुरा से स्वामी दयानन्द के साथ आया हुआ घासीरम १०-१२ दिन ही आगरा में रहकर वापस मथुरा लौट गया था। ९-१० मास बाद वह पुन: एक बार स्वामी जी के दर्शन करने के लिए आगरा आया था। आगे कार्तिक संवत् १९२४ वि॰ में तो उसकी मृत्यु ही हो गई थी। स्वामी दयानन्द के सत्सङ्ग से वह भी मूर्तिपूजा से हार्दिक घृणा करने लगा था।

दयानन्द के जीवनी-गवेषकों ने पं॰ बालमुकुन्द से सुना था कि स्वामी दयानन्द ने पं॰ सुन्दरलाल को उसी शिवलिङ्ग की पूजा (जिसे उन्होंने अपनी १४ वर्ष की अल्पायु में ही छोड़ दिया था) करने और दुर्गाष्टक का पाठ करने का उपदेश दिया था! परन्तु पं॰ सुन्दरलाल के पुत्र से पूछने पर उसने उन्हें कहा था कि 'मैं यह तो नहीं कह सकता कि स्वामी जी की शिक्षा के अनुसार ही पिताजी शिवलिङ्ग की पूजा किया करते थे, परन्तु मैं यह कह सकता हूँ कि वह पार्थिव लिङ्ग की पूजा स्वामी दयानन्द से भेंट के पहले से ही करते आ रहे थे और स्वामीजी इस बात को जानते थे।'

आगरा में स्वामी दयानन्द पं॰ सुन्दरलाल से इतनी प्रीति करने लगे थे कि जब वे वहाँ से चलने लगे तो उन्होंने अपनी रुद्राक्ष की माला गले से उतारकर उन्हें ही पहरा दी थी।इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द ने पं॰ सुन्दरलाल को कुछ योग की क्रियाएँ भी सिखाई थीं। इनके अभ्यास से उनकी मन्द हो गई नेत्र-ज्योति और शिर: पीड़ा का उपचार हो गया था। स्वयं दयानन्द इस बाग में रहते हुए अठारह-अठारह घण्टे आसन लगाकर ध्यानावस्थित रहते और अनार्ष ग्रन्थों की निकृष्टता का प्रतिपादन करते रहते थे। इस समय तक वे भागवत खण्डन करने के अलावा किसी और प्रकार के खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त नहीं हुए थे। आगरा नगर के भीतर वे बहुत कम ही जाते थे। अलबत्ता कभी-कभी वे पं॰ सुन्दरलाल के घर पर भोजन

करने अवश्य चले जाते थे।

स्वामी दयानन्द से शास्त्रीय विचार-विमर्श करने के लिए नगर के अन्य पण्डितगण भी प्राय: बाग में आते रहते थे। स्वामी दयानन्द उनके समक्ष कभी-कभी योगवाशिष्ठ अथवा भगवद्गीता की व्याख्या भी करते थे। उनकी व्याख्या ऐसी अपूर्व और सरल होती थी कि उसे पण्डितों से लेकर साधारण व्यक्ति भी आसानी से समझ जाता था। एक बार उन्होंने एक मास तक आगरा में श्रीमद्भगवद्गीता की कथा की थी।

स्वामी दयानन्द अपने आगरा निवास के समय तक अपने आचार्य स्वामी विरजानन्द के निर्देशानुसार सुधार कार्य में विशेष प्रवृत्त नहीं हो पाए थे, क्योंकि अब तक वे उसकी रूपरेखा ही बनाते हुए तैयारी कर रहे थे। पं॰ विष्णुलाल मोहनलाल पाण्ड्या ने अगरा में ही उनसे एक बार इस विषय में पूछा था। तब उन्होंने उन्हें यही कहा था कि 'मैं अभी विचार ही कर रहा हूँ।' इसी दौरान जब एक बार स्वामी दयानन्द आगरा से किसी कार्यवशात् मेरठ गए हुए थे तब वहाँ भी पं॰ विष्णुलाल मोहनलाल पाण्ड्या की उनसे सूरज-कुण्ड पर अपने वस्त्र धोते हुए भेंट हुई थी। तब दयानन्द ने उनसे अपने गुरु स्वामी विरजानन्द का हालचाल भी पूछा था। उत्तर में पण्ड्या जी ने उन्हें कहा था कि 'दण्डी जी बहुत दु:ख प्रकट कर रहे थे कि उनके किसी शिष्य ने भी यहाँ तक कि आपने भी अभी तक कुछ नहीं किया है।' इस समय स्वामी दयानन्द ने पण्ड्या जी को कहा था कि 'मैं अभी तक विचार और विचरण ही कर रहा हूँ।' पण्ड्या जी के पुन: प्रश्न करने पर स्वामी दयानन्द ने उन्हें कहा था कि 'जब तक मैं सम्पूर्ण रूप से वेदों को अत्मसात् नहीं कर लूँगा, तब तक मैं गुरुदेव के आदेश का पूर्णतया अनुपालन नहीं कर पाऊँगा।'

इसलिए आगे चलकर पं॰ सुन्दरलाल ने दयानन्द के निवेदन पर जयपुर राज्य के पुस्तकालय से ऋग्वेद की एक पुस्तक बुलवाकर उन्हें दे दी थी, जो अपूर्ण ही थी। इस समय तक दयानन्द का मन भी सन्देहदोला में ही झूल रहा था। उनके मन में अनेक प्रकार के प्रश्न, संकल्प-विकल्प और शङ्काएँ उठा करती थीं जिनका समाधान करने के लिए उन्हें बार-बार आगरा से दण्डी जी के पास मथुरा तक जाना पड़ता था। इसी सन्दर्भ में वे अपने पुणे-प्रवचनों में कहते हैं कि "अध्ययन समाप्त करके मैं आगरा में दो वर्ष रहा, परन्तु बरोबर पत्र द्वारा अथवा प्रत्यक्ष भेंट करके मैं स्वामी जी से शङ्काओं के समाधान कर लेता था [४२६]।

आगरा में एक दिन स्वामी कैलाश पर्वत, जो कि राजसी ठाट-बाट से रहते थे और जिनकी हुण्डी भी चला करती थी बाग में आकर उतरे। तब उन्होंने वहाँ श्रोताओं के सम्मुख गीता के श्लोक (१८/६६)- 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' की व्याख्या की, परन्तु उनके अर्थों से श्रोताओं की सन्तुष्टि नहीं हुई। तब लोगों ने स्वामी दयानन्द से प्रार्थना की कि वे भी इस श्लोक का अर्थ समझाने की कृपा करें। इस पर स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ करते हुए 'सर्वधर्मान्' में जो समास है, उसमें 'अकार' का लोप हो जाने से उसका अर्थ 'सब अधर्मों को छोड़कर'- ऐसा किया जिससे सभी श्रोता सन्तुष्ट हो गए। इस पर स्वामी कैलाश पर्वत को भी तब सभी श्रोताओं के सम्मुख यह कहना पड़ा था कि स्वामी दयानन्द की विद्या बहुत अच्छी है और ये इसको अन्यों को भी पढ़ा सकते हैं। उस समय स्वामी दयानन्द कृष्ण भागवत् का खण्डन करते और महाभारत विचारा करते थे। लोई और धुस्सा ओढ़ते, अचरा बाँधते और जूते पहनते थे। रजाई के अतिरिक्त कोई अन्य सिला हुआ वस्त्र नहीं उपयोग करते थे। इस समय वे प्रात:-सायं प्रतिदिन समाधि भी लगाया करते थे।

---

४२६- आगरा से मथुरा १८ कोस है और स्वामी दयानन्द को इतनी दूरी तय करने में मात्र तीन घण्टे लगते थे। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने ४ वर्ष तक मथुरा और आगरा में रहकर स्वामी विरजानन्द जी से अध्ययन किया था। ग्वालियर में रहकर भी पत्राचार द्वारा उन्होंने ऐसा ही किया था।

एक दिन कुछ लोगों ने स्वामी दयानन्द से ग्रन्थ-वाचन का अनुरोध किया तब उन्होंने उनके अनुरोध पर विद्यारण्य स्वामी कृत पञ्चदशी का वाचन आरम्भ किया। उसको वाँचते हुए जब एक स्थान पर उनके पढ़ने में यह बात आई कि कभी-कभी परमात्मा को भी भ्रम हो जाया करता है तो उन्होंने उसे मनुष्यकृत ग्रन्थ मानकर तत्काल ही उसका वाचन रोक दिया। आगे वे गीता की कथा अवश्य करते रहे थे। यह कथा आगरा में आश्विन मास से दीपावली के एक मास बाद तक (अर्थात् नवम्बर-दिसम्बर, १८६३ ई० में) में हुई थी।

आगरा में एक बार स्वामी दयानन्द के पैरों में फुँसियाँ निकल आईं। तब उन्होंने कहा कि मेरे उदर में कुछ विकार आ गया है। अत: वे तीन-चार मनुष्यों को अपने साथ लेकर यमुना पर न्योली क्रिया करने के लिए पहुँच गएऔर वहाँ जल में पैठ कर तीन बार मलद्वार से जल खींचा और बाहर आकर नाभिचक्र घुमाकर उसे बाहर निकाल दिया। इससे उनका उदर शुद्ध हो गया और वे निर्मल हो गए। पुन: अपने डेरे पर आकर दाल-भात खाया और अपने साथियों से कहा कि हमने यह क्रिया अपने नर्मदा-भ्रमण के समय एक कनफटे योगी से सीखी थी। इन क्रियाओं के कारण उनके मस्तिक पर शीत का कुछ प्रभाव हो गया था। इसके निवारणार्थ ही वे कभी-कभी अभ्रक भस्म लिया करते थे। अभ्रक भस्म बनाने की यह विधि उन्होंने आगरा के पं० सुन्दरलाल को भी बताई थी।

स्वामी दयानन्द के उपदेश से सेठ रूपलाल जी ने सन्ध्या की एक पुस्तक तीस हजार की संख्या में छपवाई थी जिसके अन्त में लक्ष्मीसूक्त था। इस पुस्तक के प्रकाशन पर उनका १,५०० रुपया व्यय हुआ था। विक्रयार्थ पुस्तक का मूल्य एक आना (रुपये का सोलहवाँ भाग अर्थात् अब के सवा छ: पैसे) रखा गया था जो लागत मूल्य से २५ प्रतिशत ही अधिक था।[४२७] यह पुस्तक सन्ध्या की वैसी ही थी जैसी सन्ध्या तब स्वामी दयानन्द स्वयं किया करते थे। इसमें विनियोग न होने से पण्डितों ने कुछ आपत्ति भी की थी परन्तु सभी ने उसे क्रय कर लिया और उसके अनुसार ही वे सन्ध्या करने लगे थे।

अपने आगरा निवास में स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा का भी कछ-कुछ खण्डन करने लगे थे जिसका संस्कार लेकर ही पूर्व में उन्होंने अपना गृह-त्याग किया था। मूर्तिपूजा विषयक स्वामी दयानन्द के तर्कों से सुनकर पण्डित चेतूलाल और कालीदास ने यह जान लिया था कि मूर्तिपूजा अवैदिक है, पर वे गृहस्थाश्रमी होने के कारण साहसपूर्वक सर्वसाधारण के मध्य इसकी सार्वजनिक धोषणा नहीं कर सकते थे। इन दिनों स्वामी दयानन्द भागवत् खण्डन भी करने लगे थे।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने डेढ़ वर्ष तक आगरा में रहकर और अपने को विस्तृत कार्यक्षेत्र में उतारने के लिए मनसा-वाचा-कर्मणा तैयार करके ग्वालियर में भागवत् खण्डन का एक अवसर प्राप्त होने का समाचार पाकर आश्विन संवत् १९२१ वि० तदनुसार अक्टूबर, १८६४ ई० में धौलपुर की ओर प्रस्थान किया जहाँ उन्हें ऋग्वेद की पूरी पोथी भी मिल जाने की आशा थी। प्रस्थान करने से पूर्व अपने योग शिक्षार्थियों से उन्होंने योग की वे क्रियाएँ करनी छुड़वा दी थीं जिनसे उनके वहाँ से चले जाने पर उन्हें हानि होने की सम्भावना थी।

---

४२७- स्वामी दयानन्द द्वारा रचित सन्ध्या की यह प्रथम पुस्तक अब कहीं उपलबध हुई नहीं बताई जा रही है। पर मैंने इसको आडियार लाइब्रेरी, मद्रास (चेन्नई) में स्वामी दयानन्द के नाम से ही रचित और बाद में रचित उनके मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशक राजा जयकृष्णदास के द्वारा प्रकाशित के रूप में जून-जुलाई, १९८७ ई० में तब देखा था जब मैं अपनी कनिष्ठ पुत्री की नेत्र-चिकित्सार्थ सपत्नीक वहाँ गया था। इस पुस्तक के अन्त में लक्ष्मीसूक्त भी था और अङ्ग स्पर्श अथवा मार्जन के सन्दर्भ में शिश्न का भी उल्लेख था। अत: मैं उसकी छाया प्रति तब वहाँ से नहीं लाया था, यद्यपि अन्य अनेक प्रकाशनों की छाया प्रतियाँ मैं वहाँ से लेकर आया था, जो अब तक मेरे संग्रह में हैं। *-आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

अध्याय- आठ

# दिवाकर की विस्तृत गगन (कार्यक्षेत्र) में तपन

## [ कार्तिक (शुक्ल पक्ष) १९२१ से भाद्रपद (शुक्ल पक्ष) सं० १९३७ वि० पर्यन्त ]

[दयानन्द-दिवाकर के इस अध्याय में हम स्वामी दयानन्द सरस्वती के अपने कार्यशील जीवन में की गई उनकी देश भर की समस्त यात्राओं और इनके दौरान उनके द्वारा किए किए कार्यों का कुछ विवरण (उनके ग्रन्थ लेखन सहित) उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत करेंगे, जिनके विस्तृत विवरण उनके अनेक समकालीन जीवनी लेखकों- पं० लेखराम आर्य मुसाफिर, बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय (पं० घासीराम एम० ए० सहित) और स्वामी सत्यानन्दादि ने पहले ही लिख रखे हैं, जो सर्वज्ञात हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के आरम्भिक अज्ञात जीवन को उद्घाटित करना ही हमारा इस ग्रन्थ लेखन का मुख्य प्रयोजन था, सो वह तो पिछले अध्याय तक ही पूर्ण हो चुका है।

-***आदित्यमुनि वानप्रस्थ*** ]

हम जानते हैं कि स्वामी दयानन्द का जन्म भारतवर्ष के पश्चिम में स्थित गुजरात प्रान्त के एक कस्बे टङ्कारा में २० सितम्बर, १८२५ ई० (मङ्गलवार) को ब्राह्ममुहूर्त में ३:३० बजे हुआ था और उनका देहावसान टङ्कारा के पूर्व में स्थित अजमेर नगर में ३० अक्टूबर, १८८३ ई० (मङ्गलवार) को सायंकाल लगभग ६ बजे हुआ था। इसलिए उनका सारा जीवन एक दिवाकर के समान ही रहा था जो जिस दिशा में प्रातःकाल उदित होता है, उससे ठीक विपरीत दिशा में सायंकाल को अस्त भी हो जाता है। इसीलिए हमने अपने इस ग्रन्थ का नामकरण '*दयानन्द-दिवाकर*' किया है जिसका प्रथम प्रयोग उनके जीवनी लेखक बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने भी अपने ग्रन्थ के आरम्भिक चार अध्यायों में किया था। इस प्रकार स्वामी दयानन्द कुल मिलाकर ५८ वर्ष और ४१ दिन (अर्थात् कुल २१,२२५ दिन) जीवित रहे। इसका दो-तिहाई समय अर्थात् १४,१५० दिन अथवा ३८ वर्ष और २७० दिन होता है जो ३८ वर्ष और ९ महीनों के समतुल्य है। इतनी समयावधि उनके जन्म दिनाङ्क २० सितम्बर, १८२५ ई० में जोड़ देने से १८६४ ई० के जून मास का २० दिनाङ्क आ जाता है। इससे यह कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द अपने जीवन का लगभग दो-तिहाई भाग बिताकर ही अपने वास्तविक कार्यक्षेत्र में उतरे थे।

### आगरा से धौलपुर पुनः ग्वालियर (१८६४-६५ ई०)

स्वामी दयानन्द कार्तिक कृष्ण पक्ष (पूर्णिमान्त मासयुक्त) संवत् १९२१ वि० तदनुसार अक्टूबर, १८६४ ई० के उत्तरार्ध में वेद की पुस्तक की खोज में आगरा से धौलपुर पधारे और वहाँ १५ दिन तक निवास करके ग्वालियर आ गए जहाँ वे पहले महारुद्र मोटेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरे। इसी समय २ नवम्बर (कार्तिक शुक्ल ३, बुधवार) को ग्वालियर के महाराजा जयाजीराव सिन्धिया ने कतिपय ज्योतिषियों को बुलाकर आगामी माघ सुदी नवमी, शनिवार तदनुसार ४ फरवरी, १८६५ ई० का शुभ मुहूर्त श्रीमद्भागवत सप्ताह हेतु निकलवा लिया था।

### ग्वालियर से आबू पर्वत और वहाँ से पुनः ग्वालियर वापसी (१८६४-६५ ई०)

अतः स्वामी जी भागवत कथा के आरम्भ होने में पर्याप्त समय शेष होना देखकर ग्वालियर से अपनी पूर्व योगभूमि आबू पर्वत पर चले गए और वहाँ से वे आगे २४ जनवरी , १८६५ ई० (माघ कृष्ण १२) को ही चार ब्रह्मचारियों के साथ

वापस ग्वालियर लौटे और वहाँ रामकुई पर गङ्गा मन्दिर में विराजमान हुए। ग्वालियर आकर स्वामी दयानन्द ने भागवत सप्ताह हेतु आए हुए पण्डितों में मिलने और उनसे परस्पर संवाद करने की अपनी इच्छा प्रकट की। इस पर महाराजा जयाजी राव सिन्धिया ने स्वामी दयानन्द से इस भागवत कथा का फल जानना चाहा तो स्वामी दयानन्द ने हँसकर उन्हें कह दिया कि 'दु:ख उठाने और क्लेश के अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं है, चाहो तो कराके देख लो।'

सो जब आगे ४ फरवरी को कथा आरम्भ हुई तो उसी दिन महारानी का पाँच मास का गर्भ गिर गया। अगले दिन ५ फरवरी को रहमतपुर के हरिबाबा की कथा हुई। इसी दिन रावजी शास्त्री के घर में मत्यु हो गई। अत: उन्हें यह कथा छोड़कर अपने घर जाना पड़ा। तीसरे दिन ६ फरवरी को कथावाचक गोविन्द बाबा के कथा-पण्डाल के सामने ही किसी ने साँड़ (बैल) को तलवार मार दी जिससे बड़ा उपद्रव हुआ। ७ फरवरी को त्र्यम्बक बाबा की कथा हुई। ८ फरवरी को धौली बाबा की कथा हुई। ९ फरवरी को बुधकर बाबा की कथा हुई। १० फरवरी को पूर्णमासी के दिन शुक्रवार को अभय महाराज की कथा हुई। ११ फरवरी को इस कथा की समाप्ति होकर सबकी विदाई का दिन था। अत: उस दिन महाराजा ने अपने छोटे राजकुमार को सबसे सौ वर्ष सुखपूर्वक जीने का आशीर्वाद दिलवाया। परन्तु इसके १० दिन बाद ही ग्वालियर नगर में हैजा फैल गया जिससे आगे चलकर ३० अप्रैल को ही उसी छोटे राजकुमार की विशूचिका से मृत्यु हो गई जिसे कुछ समय पहले ही लोगों ने सौ वर्ष तक जीने का आशीर्वाद दिया था। इस समय स्वामी दयानन्द ग्वालियर में रहते हुए शास्त्रार्थ के लिए बुलावे पर बुलावे भेजते रहे परन्तु उनके सामने शास्त्रार्थ करने के लिए कोई भी नहीं आया। इस सम्बन्ध में बाद में स्वामी दयानन्द ने ४ अगस्त, १८७५ ई० को पूना में दिए गए अपने प्रवचन में कहा था कि "वहाँ से मैं ग्वालियर गया और वहाँ थोड़ा-थोड़ा वैष्णव मत का खण्डन करना आरम्भ किया। वहाँ से भी स्वामी विरजानन्द जी को पत्र भेजता रहता था। वहाँ एक माधव 'अनुमताचार्य' नाम का था। वह कारकून (लिपिक बाबू) के वेश में मेरा वाद आदि सुनने बैठा करता था। एक आध बार मेरे मुख से कोई अशुद्ध शब्द निकला तो उसने वह [अशुद्धि] पकड़ ली। मैंने अनेक बार उससे 'आप कौन हैं?' पूछा, परन्तु 'मैं यों ही एक लिपिक हूँ, सुनते-सुनते मुझे कुछ बोध हुआ है' ऐसा उसने उत्तर दिया। एक दिन 'वैष्णव खड़ी रेखा लगाते हैं', इस विषय में बातचीत में मैंने कहा कि 'एक खड़ी रेखा लगाने से यदि स्वर्ग मिलता है तो सारे मुँह को काला करने से स्वर्ग से भी अधिक कोई पद मिलता होगा?' ऐसा सुनते ही उसे बहुत क्रोध आया और वह उठकर चला गया। तत्पश्चात् मुझे जानकारी प्राप्त करने पर 'यह अनुमताचार्य [४२८] है', ऐसा ज्ञात हुआ।"

रामकुई पर स्नानार्थ लोगों के समूह का रोना-पीटना और हायतोबा मची देखकर स्वामी दयानन्द वहाँ से चलकर बाबा साहब की बारहदरी पर आकर विराजमान हो गए। वे यहाँ वैशाख शुक्ल १२ संवत् १९२२ वि० तदनुसार ७ मई, १८६५ ई०(रविवार) तक रहे।

ग्वालियर की अवस्थिति के समय स्वामी दयानन्द दुर्गा सप्तशती को मानते थे। यहाँ के एक पुजारी को उन्होंने कूर्म पुराण और लिङ्ग पुराण पढ़ने का उपदेश भी दिया था।

## ग्वालियर से करौली (१८६५ ई०)

ग्वालियर से स्वामी दयानन्द सरस्वती मई, १८६५ ई० के मध्य (वैशाख मास के शुक्ल पक्ष के अन्त) में करौली पहुँचे और वहाँ भद्रावती नदी के तट पर स्थित गोपाल सिंह के बाग में ठहरे। इस समय उनके साथ दो साधु और दो अन्य मनुष्य थे। करौली के महाराजा मदनपाल ने स्वामी दयानन्द के आगमन का समाचार पाकर उनके भोजनादि का उचित प्रबन्ध कर दिया। यहाँ के दरबार में जो राजपण्डित थे उनमें से एक ने स्वामी दयानन्द की उपस्थिति में ही 'करिष्ये' के स्थान पर

४२८- **अनुमताचार्य**- इनका शुद्ध नाम हनुमन्ताचार्य था।

'करिस्ये' अशुद्ध उच्चारण कर दिया तो इसे सुनकर स्वामी दयानन्द उस धर्म-विषयक सभा से यह कहकर उठकर चले आए कि यह पण्डित मूर्ख है और आपकी सभा मूर्ख-सभा है, फिर इसमें शास्त्रार्थ ही कौन करेगा? इसी सभा में जब एक पण्डित ने अपने राजा साहब को 'अन्नदाता' कहा तो स्वामी दयानन्द ने उसे कहा कि तो फिर परमेश्वर क्या है?

करौली में एक कबीरपन्थी साधु भी रहता था। उसे इङ्गित करके स्वामी दयानन्द ने अपने पूना-प्रवचन में कहा था कि "ग्वालियर से मैं 'करौली' गया। वहाँ एक कबीर पन्थी मिला। उसने 'एक-वीर' इसका 'ये कबीर' ऐसा अर्थ किया था और एक कबीरोपनिषद् भी है, ऐसा मुझसे कहा।"

इस प्रकार कई मास तक करौली में ठहरकर स्वामी दयानन्द ने वहाँ वेदाभ्यास किया।

## करौली से खुशहालगढ़ (१८६५ ई०)

करौली से स्वामी दयानन्द खुशहालगढ़ आए और एक-दो दिन वहाँ ठहरे। यहाँ के ब्राह्मणों ने इस समय उनका यथोचित सत्कार भी किया था परन्तु उनसे उन्होंने अपनी शास्त्रानभिज्ञता भी प्रकट कर दी थी जिससे यहाँ उनकी उनसे किसी प्रकार की शास्त्रचर्चा नहीं हो सकी थी।

## खुशहालगढ़ से जयपुर (१८६५-६६ ई०)

खुशहालगढ़ से प्रस्थान कर आश्विन संवत् १९२२ वि० (सितम्बर,१८६५) में स्वामी दयानन्द जयपुर पधारे। जयपुर पहुँचकर वे पहले भवानीराम बोहरे के बाग में उतरे । फिर वहाँ से वे धूलेश्वर महादेव के मन्दिर में चले गए। कुछ समय बाद वे यहाँ से भी माली रामपुण्य के बाग में रहने के लिए चले गए। यहाँ उनके रहते हुए ही गोपालानन्द परमहंस ने उन्हें यह प्रश्न लिखकर भेजा था कि 'ईश्वर और जीव स्वतन्त्र हैं वा परतन्त्र?' इस प्रश्न का स्वामी दयानन्द ने उनको जो उत्तर लिखकर भेजा उसे पढ़कर गोपालानन्द परमहंस इतने अधिक प्रसन्न हुए थे कि वे अपना निवास-स्थान छोड़कर स्वामी दयानन्द के पास ही आकर रहने लगे। इस समय स्वामी दयानन्द के पास तीन ब्राह्मण (सच्चिदानन्द, चेतनराम और ब्रह्मचारी नामधारी) थे। ये तीनों कुछ पढ़े-लिखे थे, परन्तु स्वामी जी के सेवक के रूप में ही उनके पास रह रहे थे। इनमें से सच्चिदानन्द को स्वामी दयानन्द ने सूर्योपासना (सावित्री=गायत्री मन्त्र) सिखा रखी थी, जो वह प्रतिदिन किया करता था।

एक दिन श्रवणनाथ जी के शिष्य लक्ष्मणनाथ जी (जिन्हें महाराजा रामसिंह जोधपुर से लाए थे) के साथ स्वामी दयानन्द का ब्रजानन्द के मन्दिर में किसी विषय पर सम्भाषण हुआ। लक्ष्मणनाथ जी ने स्वामी दयानन्द जी की शास्त्र व्युत्पन्नता को देखकर उनसे निवेदन किया कि कृपा करके आप मेरे इसी मन्दिर में रहिए और सम्प्रदायी लोगों से हमको शास्त्रार्थ में सहायता कीजिए। इस पर स्वामी दयानन्द ने उन्हें उत्तर दिया कि यदि शास्त्रार्थ में मुझको भी मिलाया जाएगा तो मैं अपनी सम्मति के अनुकूल ही कथन करूँगा, यहाँ रहने मात्र पर यह बात निर्भर नहीं होगी। यह कहकर स्वामी जी अपने आवास पर वापस लौट आए।

जयपुर की संस्कृत पाठशला के पास स्वामी दयानन्द ने अपने १५ प्रश्न उत्तरार्थ लिख भेजे थे, परन्तु वहाँ के पण्डितों ने उनका कुछ भी उत्तर न देकर उन्हें दुर्वचन ही लिख भेजे थे। इन पण्डितों में हरिश्चन्द्र दिल्ली वाला भी सम्मिलित था। स्वामी दयानन्द ने पण्डितों के इस दुर्वचन पत्र में भी आठ प्रकार के दोष दिखाकर उन्हें फिर एक पत्र भेजा, परन्तु पण्डितों ने फिर भी उन्हें कोई उत्तर न दिया। इन १५ प्रश्नों में से पं० शिवदत्त को बाद तक जो दो प्रश्न स्मरण रहे, वे थे- (१) कल्म च किं भवति? (२) येन कर्मणा सर्वे धातवः सकर्मकाः किं तत्कर्म?

पण्डितों ने पहले प्रश्न का उत्तर देने का कुछ प्रयत्न किया, परन्तु स्वामी दयानन्द ने तुरन्त ही उनके कथन का खण्डन कर दिया। इस पर पण्डितों ने कहा कि यदि हमारी व्याख्या ठीक नहीं है, तो आप ही कर दीजिए। इधर स्वामी जी की ओर से भी कहाँ देर थी? उन्होंने उसकी सही-सही व्याख्या कर दी। इस पर एक मैथिल पण्डित ओझा ने जो पण्डितों में प्रधान था, स्वामी दयानन्द से पूछा कि आपका यह अर्थ कहाँ लिखा हुआ है? तब स्वामी दयानन्द ने उसे बताया कि महाभाष्य में। इस पर उस ओझा पण्डित ने कहा कि महाभाष्य की तो व्याकरण में गणना ही नहीं है। उसकी यह बात सुनकर स्वामी दयानन्द को क्रोध आ गया और उससे तत्काल उन्होंने कहा कि वह ऐसा लिखकर दे देवे। इसे सुनकर पण्डितगण बड़े लज्जित हुए और स्वामी दयानन्द भी वहाँ से यह कहकर उठकर चले आए कि जिस सभा में महाभाष्य की व्याकरण में गणना ही न हो, उस मूर्खसभा में किसी विद्वान् का ठहरना उचित नहीं है।

जयपुर के पण्डितों की इस दुर्दशा को सुनकर वहाँ के ओसवाल वैश्यों के गुरु जतीजी ने स्वामी दयानन्द से वार्तालाप करने की अपनी इच्छा प्रकट की जिसे स्वामी दयानन्द ने भी तत्काल स्वीकार कर लिया, परन्तु बाद में जतीजी ही इससे अपनी ओसवालों में अप्रतिष्ठा हो जाने की आशङ्का से पीछे हट गए। स्वामी दयानन्द ने वही १५ प्रश्न जतीजी को भी लिख भेजे पर उनका उनकी ओर से भी कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ था। उल्टे उन्होंने ही जैन मत विषयक ८ प्रश्न स्वामी जी से पूछ लिए थे जिनका उत्तर स्वामी जी ने उन्हें अपनी ओर से ८ प्रतिप्रश्न पूछकर दे दिया था। बाद में तो जतीजी मौन ही हो गए।

अचरौली के ठाकुर रणजीतसिंह साधु-संन्यासियों के सत्सङ्ग के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने स्वामी दयानन्द की विद्वता की जयपुर में चर्चा सुनी तो वे उनसे मिलने के लिए आतुर हो उठे। अत: उन्होंने स्वामी जी को अपने यहाँ भोजनार्थ आमन्त्रित किया और इसके लिए उनके पास अपना वाहन भेजा। परन्तु स्वामी जी उस वाहन पर न आकर पैदल ही ठाकुर साहब की हवेली पर पहुँच गए। इस समय स्वामी जी कच्ची रसोई केवल ब्राह्मण के हाथ की बनी हुई ही खाते थे। अत: ठाकुर साहब ने स्वामी जी के लिए पक्की रसोई बनवाई। इस अवसर पर ठाकुर साहब स्वामी जी से सम्भाषण करके उनके भक्त बन गए और उनसे निवेदन किया कि जब तक आप जयपुर में रहें तब तक वे उनके उद्यान में ही ठहरें और उनका आतिथ्य स्वीकार करें। ठाकुर साहब के इस निवेदन को जब स्वामी दयानन्द ने स्वीकार कर लिया, तब ठाकुर साहब ने स्वामी जी के ठहरने के लिए गङ्गापोल दरबाजे पर बदनपुरे में उनके लिए नया स्थान बनवा दिया जहाँ रहते हुए अनेक विद्यार्थी स्वामी दयानन्द जी से पढ़ने के लिए आने लगे। इन विद्यार्थियों को स्वामी जी प्रेमपूर्वक अष्टाध्यायी, महाभाष्य, धातुरूपावली आदि पढ़ाते थे।

स्वामी जी इन दिनों देवी भागवत का मण्डन और कृष्ण भागवत का खण्डन करते थे। शरीर पर भस्म लगाते और रुद्राक्ष पहनते थे। मुख्य शिक्षा मनुस्मृति, भगवद्गीता आदि की करते थे। ठाकुर साहब के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मणसिंह को स्वामी जी ने ही भगवद्गीता पढ़ाई थी और स्वयं ठाकुर साहब उनसे तत्त्वबोध, निराम्बोपनिषद, बृहदारण्यक, छान्दोग्योपनिषद् और देवी भागवत सुना करते थे।

उन दिनों जयपुर में शैव और वैष्णवों में विवाद चल रहा था। महाराजा रामसिंह शैवमत की ओर झुके हुए थे और व्यास बख्शीराम तथा उनके भाई कान्हाजी शैवमत के स्थापन के लिए उनके पास नियत थे। व्यास जी ने स्वामी दयानन्द के पाण्डित्य से प्रभावित होकर उनसे वैष्णवों को परास्त करने के लिए सहायता माँगी और महाराजा से भी स्वामी जी की प्रशंसा की। अचरौल के ठाकुर साहब ने भी महाराजा से स्वामी जी की प्रशंसा की तो महाराजा ने उनसे स्वामी जी से मिलने को कहा। इस पर महाराजा साहब और स्वामी जी की भेंट राजराजेश्वर के मन्दिर में होनी निश्चित हो गई।

अत: स्वामी दयानन्द उस मन्दिर में महाराजा साहब से मिलने पहुँच गए, पर वहाँ पहुँचकर स्वामी जी ने मन्दिर की मूर्ति को नमस्कार न किया। किसी ने व्यास बख्शीराम के कान में यह बात फूँक दी कि यदि तुम स्वामी जी को महाराज से मिलने दोगे तो तुम्हारा रङ्ग महाराज के ऊपर से उतर जाएगा, क्योंकि स्वामी जी बड़े चालाक और विद्वान् हैं। व्यास जी के मन में यह बात घर कर गई और उन्होंने ढोंग रचा और स्वामी जी के मन्दिर में पधारने पर एक चेले से उन्हें कहला दिया कि महाराजा साहब को आज अवकाश नहीं है, अत: उनकी उनसे आज भेंट नहीं हो सकेगी। स्वामी जी को व्यास जी के इस षड्यन्त्र का कुछ भी पता न चला, इसलिए वे वहाँ से वापस चले गए और अगले दिन पुन: मन्दिर में पहुँचे, तब व्यास जी ने स्वामी जी को पुन: कहला भेजा कि महाराजा साहब आज सैर करने के लिए निकल गए हैं। इसके पश्चात् स्वामी जी फिर मन्दिर में महाराजा साहब से मिलने नहीं गए।

जयपुर के प्रसङ्ग में स्वामी दयानन्द अपने पूना के प्रवचनों में कहा था कि "फिर जयपुर में हरिश्चन्द्र नाम के एक बड़े पण्डित थे। वहाँ पहले मैंने वैष्णव मत का खण्डन करके शैव मत की स्थापना की। जयपुर के महाराजा (सवाई) रामराज (रामसिंह), ये भी शैवमत के अनुयायी बन गये। इस कारण शैवमत का प्रसार होने से हजारों रुद्राक्ष की मालाएँ मैंने अपने हाथ से लोगों को दीं (पहनाईं)। वहाँ शैव मत इतना फला-फूला कि हाथी, घोड़े सबके गले में रुद्राक्ष की माला हो गई [अर्थात् पहराई गई]।"

जयपुर में स्वामी दयानन्द की शिक्षा को ठाकुर रणजीत सिंह अचरौल वालों के अतिरिक्त अन्य कई सम्भ्रान्त लोगों ने भी स्वीकार किया था। इन स्वीकार करने वालों में प्रमुख ठाकुर इन्द्रजीतसिंह दूदू वाले थे। इस समय स्वामी जी कृष्ण भागवत का खण्डन और शैवमत का मण्डन करते थे। भस्म और रुद्राक्ष धारण करते थे, परन्तु मूर्तिपूजा का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया था। उनका इस समय जोर केवल वेद पर ही था और वे लोगों को सन्ध्या करने तथा गायत्री मन्त्र के जपने का ही उपदेश करते थे।

## बगरू, दूदू, किशनगढ़, अजमेर, पुष्कर (१८६६ ई०)

लगभग छ: मास तक जयपुर में रहकर स्वामी दयानन्द ने चैत्र वदी २ तदनुसार ३ मार्च, १८६६ ई० (शनिवार) को पुष्कर के लिए प्रस्थान किया। इस समय उनके साथ अचरौल के ठाकुर साहब द्वारा भेजे गए तीन ब्राह्मण और एक सेवक रूपराम था। इन सबके जाने-आने के लिए सबारी का भी प्रबन्ध ठाकुर साहब ने अपने इस आदेश के साथ कर दिया था कि वे सब स्वामी जी को पुष्कर स्नान कराके वापस जयपुर ही ले आवें। मार्ग में स्वामी जी दो दिन [४२९] बगरू, दो दिन [४२९] ठाकुर इन्द्रसिंह के ग्राम दूदू और दो दिन [४२९] ही किशनगढ़ में ठहरे । इस समय किशनगढ़ के राजा पृथ्वीसिंह गद्दी पर विराजमान थे जो वल्लभ सम्प्रदाय के एक विद्या प्रेमी एवं साधु-संन्यासियों की सेवासुश्रूसा करने वाले सज्जन पुरुष थे। उनके यहाँ पहुँचकर स्वामी दयानन्द सुखसागर पर ठहर गए। राजा पृथ्वीसिंह ने इन सबके भोजनादि का सब प्रबन्ध कर दिया था। इसके लिए उन्होंने अपने जिस तिलकधारी ब्राह्मण बिट्ठलदास को उनके पास भेजा था उसे देखकर पहले तो स्वामी दयानन्द ने उसके तिलक का ही खण्डन किया। पुन: वे उसके नाम पर ही उससे भिड़ गए और कहा कि उसके नाम के साथ जुड़ा दास शब्द तो शूद्रत्व का बोधक है तथा बिट्ठल शब्द विष्ठा का अपभ्रंश है और यह वल्लभाचार्य के पुत्र का भी नाम है। इसी प्रकार महाराजा के दूसरे राजपण्डित देवीदत्त से भी उनका वाक्युद्ध हो गया! स्वामी दयानन्द से दो-चार

४२९- विभिन्न जीवनचरित्रों में ठहराव के इन दिनों का विवरण कुछ अलग-अलग दिया गया है, पर हमारे द्वारा दिया गया यह विवरण पं० लेखराम के अनुसार है, क्योंकि स्वामी जी जयपुर से प्रस्थान के दश दिनों के अन्दर ही आगे पुष्कर पहुँच गए थे।

मिनट तर्क-वितर्क करके ये राजपण्डित भी स्वामी दयानन्द जी से परास्त हो गए। बाद में उन्होंने महाराजा से स्वामी दयानन्द की भरपेट निन्दा की और कहा कि ये स्वामी तो भागवत का खण्डन करता है और वैष्णवों का परम शत्रु है। महाराजा पृथ्वीसिंह इस प्रकार की बातें सुनकर स्वामी दयानन्द से चिढ़ गए और उन्हें आज्ञा दी कि वे तुरन्त ही किशनगढ़ छोड़कर चले जावें। परन्तु स्वामी जी ने महाराजा की इस आज्ञा पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया अपितु कहा कि उन्हें अपने स्थान से एक गज दूर भी किसी में हटा देने का सामर्थ्य नहीं है। इस प्रकार वे किशनगढ़ में पूर्ववत दो दिन [४२९] ही रहे।

किशनगढ़ से स्वामी दयानन्द अजमेर पधारे और वहाँ के दौलतराम के बाग में चार दिन [४२९] ठहरकर चैत्र कृष्ण ११ संवत् १९२२ वि० तदनुसार १३ मार्च, १८६६ ई०, मङ्गलवार को पुष्कर पहुँचे। पुष्कर पहुँचकर स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मा जी के मन्दिर में निवास किया। ब्रह्मा जी की पूजा सारे भारतवर्ष भर में केवल पुष्कर में ही होती है। यहाँ भी स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा और वैष्णव मत का खण्डन आरम्भ कर दिया जिससे ब्राह्मणों में बड़ी खलबली मच गई। उन दिनों पुष्कर में एक दक्षिणी विद्वान् पण्डित व्यङ्कट शास्त्री रहते थे, ब्राह्मण लोग दौड़े-दौड़े उनके पास गए। उनका गुरु एक अघोरी था जो लोगों को पत्थरों से मारता और गाली दिया करता था। वह चिता से मुर्दे निकालकर भी खा जाता था। पर वह संस्कृत का अच्छा पण्डित था। वह पुष्कर के पहाड़ में अगस्त की गुफा में रहता था।

व्यङ्कट शास्त्री निश्चित हो जाने पर भी स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने नहीं आए। तब स्वामी दयानन्द स्वयं ही उनके पास गए। शास्त्री जी ने स्वामी दयानन्द से कहा- 'विद्यावतां भागवते अपरीक्षा'- एक घण्टे तक इस विषय पर उनमें परस्पर संस्कृत में वार्तालाप होता रहा। एक बार शास्त्री जी ने 'देवासुर' शब्द का प्रयोग किया तो स्वामी दयानन्द ने कहा कि 'दैवासुर' होना चाहिए। इस पर शास्त्री जी निरुत्तर हो गए और कहने लगे कि आपकी विद्या बहुत प्रबल है। फिर वह स्वामी जी को अपने अघोरी गुरु के पास ले गए। उससे भी स्वामी जी की बातचीत हुई। तब उसने स्पष्टरूप से यह कह दिया कि स्वामी दयानन्द जी जो कहते हैं, वह पूर्णतया सत्य है। व्यङ्कट शास्त्री बड़े नैयायिक थे। उन्होंने स्वामी जी से कहा कि यदि आपका किसी से शास्त्रार्थ हो तो मुझे बुला लेना। स्वामी जी यहाँ मार्कण्डेय ऋषि की गुफा से विभूति के गोले बुलाकर शरीर पर रमाते और रुद्राक्ष की माला जिसमें बीच-बीच में श्वेत काँच के मनके रहते थे, पहनते थे। उस समय वह उपनिषदों का भी अभ्यास किया करते थे।

एक दिन स्वामी जी ने मन्दिर के पुजारी से कहा कि तुम्हारे पास यह ढाई मन की पत्थर की मूर्ति पारस-पथरी है, साधुओं को खूब लड्डू खिलाया करो और रण्डी-भडुओं से बचते रहो।

स्वामी जी यह भी कहा करते थे कि प्रचलित स्तोत्र जिन आचार्यों के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे उनके बनाए हुए नहीं हैं, अपितु कुछ अन्यों ने ही उन्हें बनाकर उनके नाम से प्रसिद्ध कर दिए हैं। स्वामी जी ने रत्नागिरि नामक साधु से कहा था कि विद्या में ही परिश्रम करो, खीर-पूड़ी खाने की मत सोचो, ये तो तुम्हें विद्या से ही बहुत मिलेंगी। पुष्कर में एक रईस से स्वामी जी ने कहा था कि कण्ठी मत बाँधो। उन्होंने कहा कि यदि संन्यासियों में विद्वान् ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य कोई न हो, तो हम कण्ठी बाँधना छोड़ दें। स्वामी जी ने कहा कि हम क्या करें, यह तो आकाश फट गया है। यदि हमसे कोई पूछे तो हम स्पष्ट कह दें कि विद्वान् ब्राह्मण के सिवाय अन्य किसी को संन्यास ग्रहण करने का अधिकार ही नहीं है।

---

४२९- विभिन्न जीवनचरित्रों में ठहराव के इन दिनों का विवरण कुछ अलग-अलग दिया गया है, पर हमारे द्वारा दिया गया यह विवरण पं० लेखराम के अनुसार है, क्योंकि स्वामी जी जयपुर से प्रस्थान के दश दिनों के अन्दर ही आगे पुष्कर पहुँच गए थे।

एक दिन स्वामी जी ने एक ब्राह्मण की कण्ठी उतार दी, जिससे वह बहुत बिगड़ा और स्वामी जी को लेकर व्यङ्कट शास्त्री के पास गया। शास्त्री जी ने कहा कि स्वामी जी जो कहते हैं, वही सच है। परन्तु इनकी यह बात तब चल सकती है जब कोई राजा इनके पक्ष का अनुयायी हो जाए। अन्य कई लोगों ने भी स्वामी जी की उनकी कण्ठी उतारने की बात कही, जिस पर भी शास्त्री जी ने उनको पूर्वोक्त उत्तर ही दिया।

पुष्कर की रीति के अनुसार पूर्णिमा के दिन लोगों ने अन्य संन्यासियों की भाँति ही स्वामी दयानन्द जी की भी पूजा की।

स्वामी जी रामानुज सम्प्रदाय वालों के इस वाक्य का कि 'तप्ततनुः स्वर्ग गच्छति' का खण्डन किया करते थे और कहते थे कि इसका सत्य अर्थ यह है कि व्रत, तप, नियम से शरीर को तपाने से और मन को विषयों से रोककर जप आदि में लगाने से सुख प्राप्त होता है, यह नहीं कि शरीर को दग्ध करने से स्वर्ग मिलता है।

पुष्कर में एक ब्राह्मण था जो सब संन्यासियों का पुरोहित था। उसने स्वामी जी से निवेदन किया कि वे उसके लिए एक पुरोहिताई का श्लोक बना दें। इस पर स्वामी जी ने हँसकर उससे कहा कि क्या इस प्रकार वह उनका भी पुरोहित बनना चाहता है?

इस समय स्वामी जी लोगों को अर्द्धपुण्ड्राकार और ऊँचा तिलक लगाने का निषेध करते थे और उनसे सीधा तिलक लगाने को कहते थे।

ब्रह्माजी के मन्दिर का उस समय पुजारी शिवदयालु था। वह जब ब्रह्माजी की पूजा करता तो स्वामी जी उससे कहा करते थे कि क्या तेरा ब्रह्मा मुख से बोलता है और तुझसे बातें करता है? उसके नक्कारा बजाने पर वे बोलते कि चमड़ा कूटने से क्या लाभ? शिवदयालु ने उनसे कहा कि महाराज! मारवाड़ में पाखण्ड बहुत फैल रहा है, आप वहाँ जाकर कुछ सुधार करो। शिवदयालु ने जब स्वामी जी से पूछा कि वह ईश्वर का किस नाम से जप करे तो स्वामी जी ने उसे सच्चिदानन्द का जप करने के लिए कहा था। क्योंकि इस समय वे शिव अथवा विष्णु की पूजा का उपदेश न करके केवल ईश्वरोपासना करने का ही उपदेश देते थे। स्वामी जी ने शिवदयालु की कण्ठी भी उतरवा दी और घाटों पर माँगना भी छुड़वा दिया था। अन्त में उसने पुजारी का कार्य भी छोड़ दिया और वह डाकघर में नौकरी करने लगा।

ब्रह्माजी के मन्दिर का बड़ा पुजारी गोसाईं मानपुरी स्वामी जी को दूध पिलाया करता था। एक दिन उसने ब्रह्मा जी को भोग लगाया और भोग का ही दूध लाकर स्वामी जी को पिला दिया। यह बात जब स्वामी जी को विदित हुई तो वे बड़े दुःखी हुए और पुजारी से कहा कि अरे! तूने हमें पत्थर को भोग लगाया हुआ ही दूध पिला दिया! इस प्रकार ब्रह्माजी के लिए पत्थर शब्द का प्रयोग सुनकर पुजारी स्वामी जी पर क्रोधित हुआ और उसने उन्हें दूध पिलाना ही छोड़ दिया।

पं० गङ्गाराम भागवत की कथा किया करता था। स्वामी जी उससे कहा करते थे कि यह भागवत व्यास जी का नहीं अपितु बोपदेव का बनाया हुआ है। इस पर वह पण्डित जी स्वामी जी से चिढ़ गया और उनसे चार दिन तक नहीं मिला। इस पर स्वामी जी स्वयं उसके पास गए और उसका हाथ पकड़ लिया। तब पण्डित जी ने स्वामी जी को पञ्जा लड़ाने के लिए कहा। तब स्वामी जी ने पण्डित जी को कहा कि तुम्हारी पत्नी मुझे उलाहना देगी कि मैंने तुम्हारी उँगलियाँ तोड़ दी हैं। बाद में स्वामी जी ने अपने रसोइए गोविन्द को पण्डित जी से पञ्जा लड़ाने को कहा जिससे उसका पञ्जा आहत हो गया और वह रोटी बनाने के योग्य भी न रहा।

पुष्कर में स्वामी जी ने इतने लोगों की कण्ठियाँ उतरवा दी थीं कि उनसे ब्रह्मा जी के मन्दिर में एक बालिश्त ऊँचा कण्ठियों का ढेर लग गया था।

स्वामी जी पुष्कर में लोगों को शैवमत का उपदेश देते थे और वैष्णव मत का खण्डन करते थे। शास्त्रार्थ में वे जिस वैष्णव को परास्त कर देते थे, उसके गले से तुलसी की माला उतरवाकर तिलक हेतु विभूति वे उसे अपने हाथ से देते थे। स्वामी जी के पुष्कर रहते हुए ही वहाँ अधिक ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत् १९२३ वि० तदनुसार २९ मई, १८६६ ई०को पुष्कर का मेला हुआ जिसमें स्वामी जी ने बहुतों को शैवमत की दीक्षा दी और उनकी तुलसी माला उतरवाकर उन्हें रुद्राक्ष की माला पहराई।

इस प्रकार लगभग ढाई मास तक पुष्कर में रहकर स्वामी दयानन्द पुन: मई मास के अन्त में अजमेर आ गए।

## अजमेर(१८६६ ई०)

अधिक ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया संवत् १९२३ वि० तदनुसार ३१ मई, १८६६ ई०, गुरुवार को स्वामी जी पुष्कर से अजमेर आ गए। अजमेर आकर वे वंशीधर सरिश्तेदार के बाग में ठहरे। उनके साथ इस समय कुल छ: व्यक्ति थे जिनके व्यय आदि का सब प्रबन्ध सेठ किशनचन्द जी ने किया था। अजमेर पहुँचकर स्वामी जी ने जोशी रामस्वरूप और पं० शिवनारायण द्वारा नगर के मार्गों पर विज्ञापन लगवाए कि जिस किसी को भी मूर्तिपूजा आदि पर सन्देह हो, वह उनसे आकर शास्त्रार्थ कर ले। पं० वृद्धिचन्द्र व छगनलाल शास्त्री (किशनगढ़ निवासी) उन दिनों अजमेर में ही रहते थे। इन्हीं शास्त्री जी ने स्वामी जी के पास कुछ व्याकरण और महाभाष्य पढ़ा था। अजमेर में रहते हुए स्वामी जी के कुछ लोगों से मात्र प्रश्नोत्तर ही हुए। किसी पौराणिक धर्मावलम्बी से शास्त्रार्थ निश्चित होकर भी नहीं हो सका। अलबत्ता ईसाइयों से स्वामी जी का मित्रतापूर्ण शास्त्रार्थ अवश्य हुआ था। पादरियों की ओर से रेवरेण्ड जे० ग्रे साहब (मिशनरी, प्रेजबिटेरियन मिशन अजमेर), दूसरे पादरी राबिंसन तथा तीसरे शूलब्रेड साहब (पादरी मेरवाड़, व्यावर) थे। प्रथम तीन दिनों तक ईश्वर, जीव और सृष्टिक्रम तथा वेद विषय पर बातचीत होती रही। पादरियों के प्रश्नों के उत्तर स्वामी जी ने भलीभाँति दिए। चौथे दिन ईसा के ईश्वर होने और मरकर जीने तथा मरकर आकाश में चढ़ जाने विषयक कुछ प्रश्न स्वामी जी ने पादरियों से किए। दो-तीन सौ मनुष्य इस धर्मचर्चा में आते रहे। अन्तिम दिन जब पादरी लोग इस विषय का कोई निश्चित समाधान नहीं कर सके तो स्कूल के बच्चे ताली पीटने लगे परन्तु स्वामी जी ने उन्हें रोक दिया। परस्पर के इस शास्त्रार्थ की विधि यह रखी गई थी कि पहले एक पक्ष प्रश्न करे और दूसरा पक्ष उत्तर देवे। पुन: दूसरा पक्ष प्रश्न करे और पहला पक्ष उत्तर देवे। मध्य में कोई पक्ष प्रश्न न करे। इसी प्रकार का क्रम आगे भी चलता रहे। तदनुसार ही पहले दिन पादरी लोगों ने प्रश्न किए और स्वामी जी ने उत्तर दिए। शास्त्रार्थ में ईसाइयों ने एक वेदमन्त्र का उद्धरण दिया था जिसे स्वामी जी ने अस्वीकार किया और कहा कि यह वेदमंत्र ही नहीं है। इस पर ईसाइयों ने वेद की पुस्तक लाकर दिखलाने को कहा था, जो वे लाकर बाद में भी नहीं दिखा सके।

पादरी राबिंसन के अनुसार स्वामी दयानन्द का इस समय शरीर विशाल, सुगठित और दर्शनीय था। एक गेरुआ वस्त्र उनके कटि प्रदेश में और एक ढीले ढङ्ग का उनके शरीर पर पड़ा रहता था। उसे स्वामी दयानन्द तीक्ष्ण बुद्धि के एक प्रभावशाली व्यक्ति प्रतीत हुए थे और उसे यह अच्छी तरह से समझ में आ गया था कि वे अपने अनुयायियों को क्यों आकृष्ट करते हैं? इस समय उसे यह भी लग रहा था कि स्वामी दयानन्द ने पौराणिक हिन्दुओं से सर्वथा सम्बन्ध त्याग नहीं किया था और वेदान्त के सिद्धान्त में भी उन्हें कुछ सन्देह नहीं था। परन्तु एकेश्वरवाद

की ओर उनका नैसर्गिक झुकाव था। उन्होंने उसे कहा था कि वे एक सत्य के खोजी हैं, जो जब, जहाँ और जैसे भी मिलेगा, वे उसे स्वीकार करेंगे। यहाँ सत्य से उनका अभिप्राय सच बोलने से नहीं, अपितु वास्तविक सत्य से था। वे उस समय मनुस्मृति में वर्णित वर्ण-व्यवस्था में विश्वास करते थे और वेदों में उनका दृढ़ विश्वास था। उस समय वे केवल यजुर्वेद से ही परिचित थे। उनका विश्वास था कि वेदों में एक भी भम्रमूलक विचार नहीं हैं। इस समय तक स्वामी दयानन्द सरस्वती एक दण्डी संन्यासी के रूप में ही जाने जाते थे।

एक दिन स्वामी दयानन्द मेजर ए० जी० डेविडसन, डिप्टी कमिश्नर अजमेर से मिलने गए। स्वामी जी ने उनसे कहा कि राजा प्रजा का पिता होता है और प्रजा पुत्र होती है। जब पुत्र कोई दुष्कर्म करने लगे तो माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे उसे बचावें। मतमतान्तरवादी आपकी प्रजा को लूट रहे हैं, आप इसका यथोचित प्रबन्ध करें। इस पर कमिश्नर ने उन्हें कहा कि यह एक धार्मिक मामला है, इसलिए हम इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। यदि कोई अन्य विशेष बात हो तो हम आपकी सहायता कर सकते हैं।

एक दिन स्वामी जी बंशीलाल के बाग में कुर्सी पर बैठे हुए थे। सामने होकर कर्नल ब्रुक, एजेंट गवर्नर जनरल निकले। वह गेरुआ वस्त्र वालों से बहुत चिढ़ते थे। तब पं० वृद्धिचन्द्र जो स्वामी जी से अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ते थे, स्वामी जी से कहा कि महाराज आप अपनी कुर्सी दूसरी ओर को कर लें, ये साहब संन्यासियों से बहुत चिढ़ते हैं। इस पर स्वामी जी ने कहा कि हम तो यही चाहते हैं और अपनी कुर्सी को और आगे को करके बैठ गए। ब्रुक साहब बाग के भीतर चले आए। स्वामी जी ने उन्हें आया देख यह विचार करके कि कर्नल ब्रुक के सम्मुख आने पर उनके सम्मान में उन्हें कुर्सी से उठकर खड़ा होना पड़ेगा, इसलिए वे पहले ही कुर्सी से उठकर टहलने लगे। तब ब्रुक साहब ने आकर अपनी टोपी उतारी और स्वामी जी से हाथ मिलाकर वह स्वामी जी के सामने कुर्सी पर बैठ गया और उनसे इस प्रकार बातें करने लगा-

*स्वामी जी*- आप धर्म का स्थापन करते हैं, वा खण्डन?

*कर्नल ब्रुक*- धर्म स्थापन करना तो हमारे यहाँ भी अच्छा है, परन्तु जिससे लाभ हो वह करते हैं।

*स्वामी जी*- आप लाभ नहीं प्रत्युत हानि की बात करते हैं।

*कर्नल ब्रुक*- वह कैसे?

*स्वामी जी*- देखिए, एक गौ से कितना लाभ होता है और उससे कितने मनुष्यों का पालन होता है। तब आप बतलाइए कि गौवध से आपको लाभ है वा हानि?

*कर्नल ब्रुक*- होती तो हानि ही है!

*स्वामी जी*- तो फिर आप गौवध क्यों करते हैं?

*कर्नल ब्रुक*- यह बात हमें आपकी स्वीकार है। आप हमारे बँगले पर पधारें, हम वहाँ बातें करेंगे।

यह कहकर ब्रुक साहब चले गए। दूसरे दिन ब्रुक साहब की गाड़ी स्वामी जी को लेने आई और स्वामी जी जोशी रूपराम को लेकर उसके बँगले पर गए। वहाँ दोनों की पौन घण्टे तक गौरक्षा पर बातचीत हुई। इस समय ब्रुक साहब ने यह स्वीकार किया कि गौवध करना नि:सन्देह हानिकारक है, पर इसको बन्द कराना उनके अधिकार में नहीं है। अत: उन्होंने स्वामी जी को एक चिट्ठी लिखकर दी कि इसे लेकर आप लाट साहब से मिलें। एक चिट्ठी उन्होंने महाराज रामसिंह को भी भेजी कि शोक है कि आपने ऐसे वेदवक्ता विद्वान् से बात नहीं की। पत्र पाकर

महाराज रामसिंह को पश्चाताप हुआ और उन्होंने अचरौल के ठाकुर साहब को स्वामी जी को जयपुर बुला लाने के लिए कहा। ठाकुर साहब ने कहा कि उनके साथ उनके आदमी ही गए हुए हैं जो उन्हें लेकर जयपुर ही आएँगे।

कहते हैं कि डिप्टी कमिश्नर ने भी एक चिट्ठी लिखकर स्वामी जी को  दी थी। स्वामी जी भागवत को भडुआ -पुराण और मन्दिरों को अड्डा कहा करते थे। मालाओं को गले में काष्ठ का भार कहा करते थे। मूर्तिपूजा और भागवत का खण्डन करने से ब्राह्मण लोग स्वामी जी के शत्रु हो गए थे।

एक दिन कुछ ब्राह्मणों ने शिव के बाग में स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। उनकी योजना थी कि शास्त्रार्थ के बहाने स्वामी जी को बाग में बुलाकर पीटा जाए। लेकिन स्वामी जी ने इससे पहले ही कुछ लोगों को बाग में भेजकर वहाँ का हालचाल मालूम कर लिया कि वहाँ कोई पढ़ा-लिखा हुआ व्यक्ति नहीं है। अपितु वहाँ केवल बाग का एक पुजारी और कुछ लट्ठ लिए हुए भङ्गड़ व्यक्ति ही हैं। अत: स्वामी जी वहाँ जाने के लिए उद्यत होकर भी नहीं गए।

एक पटवारी ने स्वामी जी से लिखकर पूछा कि आप जैसे संन्यासी को एक स्थान पर तीन दिन से अधिक क्यों टिकना चाहिए और बग्घी आदि की सबारी क्यों करनी चाहिए? इत्यादि, इस पर स्वामी जी ने उसे उत्तर दिया कि यह बात तो ठीक है कि संन्यासी को तीन दिन से अधिक एक स्थान पर नहीं ठहरना चाहिए, पर जहाँ अज्ञान का अन्धकार छाया हुआ हो, वहाँ उसे अपने उपदेश से मिटाने के लिए संन्यासी को आवश्यकतानुसार अधिक भी ठहरना चाहिए।

ब्राह्मणों ने स्वामी जी से कहा कि आप भागवत का खण्डन करते हैं, अत: उसकी अशुद्धियाँ लिखकर बताइए। तब स्वामी जी ने तीन-चार पत्रों में उसकी अशुद्धियाँ संस्कृत में लिखकर उनको दे दीं। पं० वृद्धिचन्द्र और छगनलाल के पास स्वामी जी द्वारा लिखित एक भडुआ-भागवत की पुस्तक थी जिसके अन्त में ज्येष्ठ द्वितीय ९= ७ जून, १८६६ ई० (बृहस्पतिवार) अङ्कित था।

अजमेर निवास के दिनों में ही दो तेलङ्गी वा महाराष्ट्रियन साधु नाग पर्वत के जंगल से स्वामी दयानन्द जी से मिलने के लिए आए। वे संस्कृत बोलते थे और आर्यभाषा नहीं जानते थे। वे स्वामी जी से मिलने के लिए दो बार अजमेर आए। स्वामी जी ने उनसे कहा कि अभी तक आपने अहङ्कार को नहीं जीता है। इस पर उनमें परस्पर कुछ कहासुनी भी हो गई, पर बाद में वे नमोनारायण करके चले गए। स्वामी जी उस समय परस्पर नमोनारायण ही किया करते थे।

दिल्ली वाले पं० हरिश्चन्द्र के गुरुभाई से स्वामी जी का अजमेर में वार्तालाप भी हुआ था। स्वामी जी ने मनुस्मृति और उपनिषदों के प्रमाणाों से उसे निरुत्तर कर दिया था। इसी प्रकार बाबूलाल जैनी से तीन दिन तक धर्म विषय पर वार्तालाप हुआ था। अन्त में उसने स्वीकार किया कि स्वामी जी आप जो कहते हैं, वह ठीक ही कहते हैं। अन्य दो जैनियों धन्नालाल व अमृतसिंह से भी स्वामी जी का वार्तालाप हुआ था, पर धन्नालाल हठ करने लगे तो स्वामी जी ने उसकी पुस्तक रख ली और कहा कि तुम नास्तिक हो। तुम फिर यहाँ आना, हम तुमको समझा देंगे। परन्तु वह फिर न आया। और कमिश्नर से जाकर शिकायत की कि स्वामी जी ने उसकी पुस्तक छीन ली है। तब साहब ने राय दौलतराम से कहकर उसे उसकी पुस्तक स्वामी जी से दिलवा दी।

अजमेर में भी स्वामी जी ने लोगों की कण्ठियाँ उतरवाईं थीं। इनमें अजमेर के पास के सावर के ठाकुर साहब भी सम्मिलित थे।

स्वामी जी के विचार इस समय तक परिपक्व नहीं हुए थे। वह मूर्तिपूजा के भी तब तक उतने विरोधी होकर नहीं उभर पाए थे जितने वे अपने परवर्ती जीवन में विरोधी हो गए थे। अपने पैतृक संस्कारों के कारण ही वे अब तक शैवमत के ही पक्षपाती बने हुए थे। इस समय तक उन्हें सम्पूर्ण वेदों की उपलब्धता भी न हो पाने के कारण वे उन पर पूर्णतया विचार भी नहीं कर पाए थे और इसीलिए वे स्वामी विरजानन्द को दिए गए अपने वचन को भी अब तक पूर्णतया कार्यान्वित नहीं कर पा रहे थे।

## किशनगढ़ (१८६६ ई०)

स्वामी दयानन्द अजमेर से लौटते हुए किशनगढ़ आए और सुखसागर पर ठहरे। किशनगढ़ में पं० कृष्णवल्भ जोशी अच्छे विद्वान् थे। एक दूसरे सज्जन महेशदास राजा की माता जी के दीवान थे। ये दोनों स्वामी जी से बहुत प्रीति रखते थे। किशनगढ़ के महाराजा पृथ्वीसिंह वल्लभकुल सम्प्रदाय के अनुयायी थे और स्वामी जी उनके कट्टर विरोधी थे। अत: वे स्वामी जी से द्वेष करते थे। किशनगढ़ पहुँचने के दूसरे दिन ठाकुर गोपाल सिंह ३०–४० मनुष्यों और पाँच-सात राज पण्डितों के साथ स्वामी जी के डेरे पर आए। इस समय पं० रूपराम और वृद्धिचन्द्र स्वामी जी के साथ थे। सायंकाल के पाँच बजे का समय था। स्वामी जी ने वृद्धिचन्द्र से कहा कि पहले शौचादि से निवृत्त हो लें फिर इन लोगों से बात करेंगे। शौचादि से लौटकर स्वामी जी ने स्नान किया और विभूति लगाकर एक काष्ठ के तख्ते पर विराजमान हो गए। इस समय आगन्तुक जन जाजम पर बैठे हुए थे। स्वामी जी ने उनसे पूछा कि आप लोगों के आने का प्रयोजन क्या है? इस पर एक वल्लभकुलीय पण्डित ने एक पुस्तक के कुछ पन्ने स्वामी जी के सामने रक्खे । स्वामी जी ने उससे कहा कि तुम ही पढ़ो। हम उसे सुनकर उत्तर देंगे। उन पन्नों में वल्लभकुल की प्रशंसा लिखी हुई थी। उसे सुनकर स्वामी जी ने वल्लभकुल के मत का खण्डन करना आरम्भ कर दिया। इस खण्डन का वह पण्डित कुछ उत्तर न दे सका। इससे बौखलाकर वे लोग स्वामी जी पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हो गए। इस पर स्वामी जी ने तख्त पर खड़े होकर गर्जना की तुम मुझे अकेला ही न समझो, तुम जैसों के लिए तो मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ। यदि तुम शास्त्रार्थ करना चाहो तो मैं उसके लिए उद्यत हूँ। इतने में श्रीमाली वंश के ३०–४० ब्राह्मण लोग जो संन्यासियों के प्रति श्रद्धालु थे, वहाँ आ गए जिन्हें देखकर वे लोग वहाँ से चले गए।

## दूदू-बागरू-अचरौल (१८६६ ई०)

पाँच दिन किशनगढ़ रहकर स्वामी दयानन्द दूदू पहुँचे और ठाकुर साहब के महल में ठहरे। दूदू में तीन दिन विश्राम करके और वहाँ उपदेश देकर वे बागरू पहुँचे। जहाँ वे केवल एक रात ही एक बगीचे में रुके और फिर वहाँ से भी चलकर अचरौल में ठाकुर रणजीत सिंह के बाग में उतरे।

## जयपुर (१८६६ ई०)

ठाकुर रणजीतसिंह ने स्वामी जी के जयपुर पधारने का समाचार महाराजा रामसिंह से निवेदन किया। तब महाराजा रामसिंह ने बख्शीराम व्यास को कहा कि स्वामी जी को महलों में लिवा लाओ। तब व्यास जी उन्हें महाराजा की इच्छा जता दी, पर स्वामी जी ने उनसे कह दिया कि हमारी इच्छा महलों में जाने की नहीं है। यदि महाराजा को ही स्वामी जी से सम्भाषण की इच्छा हो तो वे स्वयं उनके पास आ जाएँ। व्यास जी ने स्वामी दयानन्द का यह सन्देश जाकर महाराजा रामसिंह को बता दिया। तब महाराजा ने ठाकुर रणजीतसिंह से कहा कि स्वामी जी को महलों में अवश्य लाना चाहिए। इस पर ठाकुर रणजीतसिंह अन्य कई सरदारों के साथ स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुए और अनेक प्रकार से अनुनय-विनय करके स्वामी जी को महलों में पधारने के लिए राजी कर लिया। तब वह उनके साथ जाकर

मौज-मन्दिर में विराजमान हुए, परन्तु दैवयोग से तभी महाराजा अन्त:पुर में चले गए  और एक चेले ने आकर कहा कि अब महाराजा बाहर नहीं पधारेंगे। इस पर सभी सरदार और स्वामी जी वहाँ से वापस लौट आए। पुन: स्वामी जी महाराजा के अनेक यत्न करने पर भी महलों में नहीं पधारे।

आधे आश्विन तक अर्थात् ८ अक्टूबर, १८६६ ई० तक स्वामी जी जयपुर में रहे। फिर वहाँ से हरिद्वार जाने के विचार से प्रस्थान किया। स्वामी जी का यह विचार सुनकर रामदयालु कामदार और सरदार रणजीत सिंह रोने लगे। इस पर स्वामी जी ने उन्हें कहा कि हमने तुम्हें रोने का नहीं अपितु हँसने का उपदेश दिया है।

इस सब प्रसङ्ग में स्वामी दयानन्द ने अपने पूना-प्रवचनों में कहा था कि "जयपुर से मैं पुष्कर गया और वहाँ से अजमेर गया। अजमेर में जाकर शैव मत का खण्डन करना आरम्भ किया। इसी बीच जयपुर के महाराजा लाट साहब से मिलने के लिये आगरा जाने वाले थे। वृन्दावन में 'रङ्गाचार्य' नाम के एक पण्डित थे। वहाँ कहीं शास्त्रार्थ हो जावे, इस कारण राजा रामसिंह ने मुझे बुलाने के लिये [आदमी] भेजा और मैं जयपुर गया। परन्तु मैंने शैव मत का ही खण्डन करना आरम्भ कर दिया, यह जानकर राजा को [मेरे प्रति] अप्रसन्नता हुई और मैं भी जयपुर छोड़कर चला गया। पुन: स्वामी जी के समीप जाकर शङ्का समाधान किया [४३०]।"

## आगरा (१८६६ ई०)

कार्तिक बदी ९, संवत् १९२३ वि० तदनुसार १ नवम्बर, १८६६ ई० के निकट स्वामी दयानन्द आगरा पहुँचे। उन दिनों वहाँ लार्ड लॉरेंस के दरबार का उपक्रम हो रहा था। कहते हैं कि यह दरबार लार्ड केनिङ्ग के दरबार से  तड़क-भड़क में दूसरे नम्बर पर था। यह दरबार १० नवम्बर से १९ नवम्बर, १८६६ ई० तक होने वाला था। परन्तु १९ नवम्बर को लार्ड लॉरेंस के रुग्ण हो जाने के कारण यह २० नवम्बर को समाप्त हो गया। आगरा में स्वामी दयानन्द दरबार में आए हुए लोगों को धर्मोपदेश देते रहे। आगरा में स्वामी दयानन्द ने सात-आठ पृष्ठों की एक लघु पुस्तिका (भागवत-खण्डनम् नामक) वैष्णवों के खण्डन में लिखकर छपवाई और उसकी सहस्रों प्रतियाँ आगरे में बाँटीं और हरिद्वार के कुम्भ मेले में बाँटने के लिए भी अपने साथ वहाँ ले गए [४३१]।

## मथुरा (१८६६ ई०)

आगरा से स्वामी दयानन्द मथुरा पधारे। मथुरा में अपने गुरु स्वामी विरजानन्द की सेवा में उपस्थित हुए और उन्हें दो अशर्फियाँ और एक मलमल का थान भेंट किया और अपने द्वारा लिखित *'भागवत खण्डनम्'* की पुस्तक उन्हें पढ़कर सुनाई तथा कहा कि मैं धर्मोपदेश देने के लिए हरिद्वार जा रहा हूँ। स्वामी विरजानन्द दण्डी ने उन्हें इसके लिए आशीर्वाद दिया। इस समय स्वामी दयानन्द ने अपने कुछ सन्देह भी उनसे निवृत्त किए।

## मेरठ (१८६७ ई०)

कई दिन अपने गुरु की सेवा में रहकर स्वामी दयानन्द मथुरा से प्रस्थान कर मेरठ पधारे और वहाँ पहुँचकर सूर्यकुण्ड पर देवी के मन्दिर में ठहरे। इस समय उनके साथ एक ब्रह्मचारी भी था। मेरठ में उनका वहाँ के प्रसिद्ध रईस गङ्गाराम डाकवाले से परिचय हुआ। उन दिनों स्वामी दयानन्द दोशाला ओढ़ते, जुराबें पहनते और गले में

---

४३०- अर्थात् स्वामी विरजानन्द जी के पास मथुरा जाकर

४३१- यह पुस्तक 'भागवत खण्डनम्' नाम से प्रकाशित होकर अब सर्वत्र उपलब्ध है। इसके विशेष विवरण के लिए पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित ग्रन्थ- 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास' देखें।

स्फटिक की माला धारण करते थे। गोरक्षा और वेद के पठन-पाठन पर विशेष बल देते थे।

## हरिद्वार (१८६७ ई०)

मेरठ में कई दिन निवास करके स्वामी दयानन्द ७ मार्च, १८६७ ई० तदनुसार फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा संवत् १९२३ वि० को हरिद्वार पहुँचे और वहाँ वे सप्तसरोवर पर ठहरे जो हृषिकेश और हरिद्वार के बीच में हरिद्वार से तीन कोश की दूरी पर है। यहाँ उन्होंने ८-१० छप्पर डलवाकर डेरा किया और वहाँ 'पाखण्ड-खण्डन' लिखी हुई एक पताका फहरा दी। उस समय उनके साथ शङ्करानन्दादि १५-१६ संन्यासी और ब्राह्मण थे। उनके वस्त्र गेरुआ थे और उन्होंने गले में रुद्राक्ष की माला पहनी हुई थी।

प्रति १२ वर्षों के बाद हरिद्वार में लगने वाला कुम्भ का यह मेला समस्त भारतदेश का एक प्रसिद्ध और विशाल भीड़ वाला मेला होता है जिसमें देश भर से लाखों की संख्या में सभी वर्णों और आश्रमों के स्त्री-पुरुष, साधु-महात्मा और विभिन्न समुदायों के लोग जुटते हैं। स्वामी दयानन्द ने ऐसे मेले के आयोजन को अपने मन्तव्यों के प्रचार-प्रसार के लिए सर्वथा उपयुक्त समझा जिसका उन्हें १२ वर्ष पूर्व १८५५ ई० में आयोजित हुए मेले का, जिसमें वे पहले भी उपस्थित हो चुके थे, अनुभव था। इसलिए वे कुम्भ संक्रान्ति से एक मास पूर्व ही फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को हरिद्वार में पहुँच गए थे।

अपने दीक्षागुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द जी से पुन: आशीर्वाद प्राप्त करके और उन्हें इस बार कुछ द्रव्य-दक्षिणा भी देकर उनको पूर्व में दिए गए वचन को कृतकार्य करने का उनके सम्मुख इससे बढ़िया और कोई अवसर हो भी नहीं सकता था, अत: उन्होंने इस मेले के रूप में समवेत हुए लघु भारत में ही स्वयं उपस्थित होकर 'पाखण्ड-खण्डिनी' पताका फहरा दी और इस प्रकार से वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करने के कार्य का शुभारम्भ कर दिया। इस मेले में दयानन्द प्रतिदिन अपने शिविर में पाखण्ड-खण्डिनी पताका की छत्रछाया में धर्मोपदेश करने लगे। इस प्रकार जिस दिन साम्प्रदायिक धर्म की राजधानी में, पौराणिक धर्म के केन्द्र में, एक निर्भय आत्मत्यागी आदित्य ब्रह्मचारी महात्मा स्वामी दयानन्द ने सत्य का यह सिंहनाद किया था, वह दिन धर्म के इतिहास में सदैव के लिए स्मरणीय रहेगा। पौराणिक धर्म के गढ़ में उन्होंने वैदिक धर्म की घोषणा कर दी थी। साम्प्रदायिक सघन वन पर समालोचना का कठोर कुठाराघात कर दिया था। पौराणिक कथा और महात्म्य की कोमल, ललित लताओं पर तीव्र खण्डन का प्रखर खड्ग प्रहार कर दिया था। स्वामी दयानन्द के डेरे पर फहराते हुए निराले झण्डे को देखकर लोग सैकड़ों की संख्या में प्रतिदिन वहाँ आने लगे और उनके उपदेशों को अङ्गीकार करने लगे। इस महामेले में जहाँ सुनों वहाँ दयानन्द के प्रचार की ही प्रतिध्वनि सुनाई देने लगी थी। आज तक एक संन्यासी के मुख से मूर्तिपूजा का खण्डन, श्राद्धों का निराकरण, अवतारों का अमूलकपन, पुराणों तथा उपपुराणों का काल्पनिक होना और पर्व-स्नान महात्म्य का मिथ्यात्व नहीं सुना था। इसलिए अनेक लोग इस नवीन दृश्य को अति विस्मय से देखते थे। कई लोग इसका दोष कलिकाल के माथे मढ़ते थे। कई पण्डित, संन्यासी और साधु स्वामी दयानन्द को नास्तिक कहकर अपने शिष्यों, सेवकों और यजमानों का मुँह बन्द करने का प्रयास करते थे। इससे उन लोगों ने भी स्वामी दयानन्द के विरुद्ध व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया था। उनके प्रति कुवाच्य कहने और उन्हें अपमानित करने की भी उन्होंने कोई चेष्टा बचाकर न रख छोड़ी थी।

काशी के प्रसिद्ध पण्डित विशुद्धानन्द भी इस कुम्भ मेले में उपस्थित थे। उन्होंने यजुर्वेद (३१/११) के मन्त्र-

*ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:।*

*ऊरू तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो ऽजायत।।*

का यह अर्थ किया कि 'ब्राह्मण परमेश्वर के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य ऊरू से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए हैं।' स्वामी दयानन्द ने उनके इस अर्थ का खण्डन किया और कहा कि यदि इसका यही अर्थ है तो मुख से तो खखार भी उत्पन्न होता है तो क्या वह खखार भी ब्राह्मण होगा? इसलिए इस मन्त्र का शुद्ध अर्थ उन्होंने तब यह लोगों को बताया था कि 'ब्राह्मण समाज के मुख के, क्षत्रिय भुजाओं के, वैश्य ऊरू के और शूद्र पैरों के समान हैं।'

इस घटना से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द १८६७ ई० में वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मस्वभावानुसार ही मानते थे, जन्म से नहीं।

स्वामी दयानन्द इस मेले में '*भागवत खण्डन*' की सहस्रों प्रतियाँ छपवाकर अपने साथ लाए थे जिन्हें उन्होंने मेले में सर्वत्र बँटवा दिया था। इस समय उन्हें देने के लिए बहुत से श्रद्धालु लोग प्रतिदिन फल, मेवा, मिष्टान्न और पकवान भी लाते थे जो दिन भर में बहुत सारे इकट्ठे हो जाते थे। अत: उन्हें प्रतिदिन वे दीन-दरिद्रों में बँटवा देते थे, अपने पास कुछ भी न रखते थे।

इस मेले में स्वामी दयानन्द का किसी भी पण्डित से कोई उल्लेखनीय शास्त्रार्थ तो नहीं हुआ था। परन्तु किंवदन्ती है कि कुछ प्रसिद्ध पण्डित और धर्माचार्य प्रच्छन्नरूप से उनके उपदेश सुनने के लिए आया करते थे और कुछ उनके पास अपने विद्यार्थियों को भेजकर उनका अभिमत जान लिया करते थे।

मेले में एक दिन गोसाइयों और स्वामी विशुद्धानन्द में झगड़ा हो गया। गोसाइयों ने न्यायालय में उन पर अभियोग कर दिया। गोसाईं लोग समझते थे कि चूँकि स्वामी दयानन्द और स्वामी विशुद्धानन्द में मतैक्य नहीं हैं, इसलिए स्वामी दयानन्द इस वाद में उनकी सहायता करेंगे। लेकिन स्वामी दयानन्द ने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि हम तो न तुम्हारे पक्षपाती हैं और न स्वामी विशुद्धानन्द के, अपितु हम तो सत्य के ही पक्षपाती हैं, अत: जो वेद में लिखा है, हम तो वही कहेंगे।

स्वामी महानन्द दादूपन्थी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने वेद के प्रथमवार दर्शन स्वामी दयानन्द के पास ही किए थे। वह स्वामीजी के उपदेश से इतने प्रभावित हुए थे कि वे बाद में वैदिक धर्म के अनुयायी और प्रचारक ही बन गए।

इसी समय स्वामी दयानन्द से पं० बस्तीराम (प्रसिद्ध विद्वान् कनखल पाठशाला) भी मिले थे और उन्होंने उनसे व्याकरण पर बातचीत की थी। उनके अनुसार स्वामी दयानन्द पूर्ण विद्वान थे और वेद तथा शास्त्रों का उनको अच्छा ज्ञान था। पर मूर्तिपूजा के खण्डन तथा कुछ अन्य बातों से पर तब उनमें परस्पर मतैक्य नहीं बन पाया था। बाद में यही पं० बस्तीराम स्वामी दयानन्द के अनुयायी और आर्यसमाज के एक प्रचारक बने।

इस महामेले में अपनी ओर से स्वमन्तव्यों का धुआँधार प्रचार करते हुए भी स्वामी दयानन्द के चित्त को यह अनुभूति हुई कि उनके विचारों का जनमानस पर यथेष्ठ प्रभाव नहीं पड़ रहा है। अत: उन्होंने सोचा कि यह परोपकार एक महायज्ञ ही है और जिसकी पूर्ति के लिए ही मैं दीक्षित भी हुआ हूँ, परन्तु यह महायज्ञ तब तक पूर्ण नहीं हो सकेगा जब तक कि मैं उसकी पूर्णाहुति हेतु अपने सर्वस्व का त्याग नहीं कर दूँगा। अत: उन्होंने अपने सारे उपकरण वहीं तत्काल त्याग दिए और महाभाष्य की एक पुस्तक, ३५ रुपये नकद और मलमल का एक थान अपने गुरुदेव की सेवा में पं० दयाराम के माध्यम से मथुरा भिजवा दिया। इसी समय ठाकुर रणजीत सिंह अचरौल वाले के सन्देश वाहक के रूप में पं० रूपराम जोशी स्वामी जी को जयपुर बुलाने के लिए आए हुए थे, तब उन्हें भी स्वामी जी ने १० रुपये नकद, दुर्गापाठ की एक पुस्तक और एक माला देनी चाही थी, पर उन्होंने केवल माला और पुस्तक ही ली, परन्तु नकद रुपये नहीं लिए। जब वहाँ उपस्थित कैलाशपर्वत ने यह सब होते देखा तो वे स्वामी जी से कहने लगे कि आप यह क्या करने लगे हो? इस पर स्वामी जी ने उन्हें उत्तर दिया कि जब तक अपनी आवश्यकताएँ अल्प

न की जाएँ, तब तक पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हो सकती और मेरा प्रयोजन भी नहीं सिद्ध हो सकता। मैं इन पन्थाइयों के विरुद्ध स्पष्ट कहना चाहता हूँ इसलिए इस समय मेरा निर्द्वन्द्व होना आवश्यक है। इसके उपरान्त स्वामी दयानन्द ने अपने पुस्तकादि सब त्यागकर और अपने सारे तन पर राख रमाकर, एक कौपीनमात्रधारी, मौनावलम्बी हो गए। व्याख्यान देना और वादविवाद करना तो दूर, वाणी का व्यापार भी बन्द करके वे अपनी कुटी में ही रहने लगे। जो नरकेशरी अब तक अपने नाद से सारे मठों को हिला रहा था, अखिल अखाड़ों को कँपा रहा था, जिसकी गर्जना से सभी सम्प्रदायी थर्रा रहे थे, वही स्वदेशवासियों की अकर्मण्यता के कारण अब मौन धारण करके चुप हो गया था!

परन्तु जिस महात्मा ने '*मौनात्सत्यं विशिष्यते*' अर्थात् चुप्पी से सत्य बोलना बढ़िया है, यह पाठ पढ़ा हो, वह इस प्रकार कब तक चुप रह सकता था? हरिद्वार में ही एक दिन स्वामी जी की कुटी के द्वार पर पहुँचकर एक व्यक्ति ने यह कहा कि '*निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्*', तो- 'वेद से भागवत उत्तम है।' ऐसा असत्य का सम्मान और सत्य का हनन स्वामीजी कैसे सहन कर सकते थे? अत: उन्होंने अपने मौन को तत्काल त्याग कर भागवत का खण्डन करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने तब यह भी प्रण कर लिया कि ईश्वरकृपा से मुझे जितना और जैसा ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह मैं धर्मप्रचार और लोकहित करते हुए केवल संस्कृत भाषा में ही वाणी-व्यापार करते हुए अवश्य सफल करूँगा।

## हृषीकेश, हरिद्वार, कनखल, लँढोरा, शुक्रताल, मीराँपुर, मुहम्मदपुर, परीक्षितगढ़, गढ़मुक्तेश्वर (१८६७ ई०)

कुम्भ मेला समाप्ति के १०-१२ दिन पीछे स्वामी दयानन्द अपने सप्त सरोवरस्थ कुटीरों से केवल एक लँगोट धारण करके ही और यह प्रण करके कि जब तक इष्टसिद्धि न होगी तब तक गङ्गातट पर ही विचरण और संस्कृत में सम्भाषण करूँगा, निकलकर ५-६ दिन के लिए हृषीकेश चले गए। फिर वहाँ से वे हरिद्वार लौट आए और गङ्गातट पर विचरण करते हुए कनखल होते हुए लँढोरा (जिला- सहारनपुर) पहुँचे। यहाँ उन्हें तीन दिनों तक निराहार रहना पड़ा। एक खेत वाले को सङ्केत करने पर उसने उन्हें तीन बैंगन खाने के लिए दिए जिससे उनकी क्षुधा की निवृत्ति हुई। पुन: वे शुक्रताल होते हुए मीराँपुर (जिला- मुजफ्फरनगर) पहुँचे। यहाँ किसी पण्डित से उनका दो दिन तक शास्त्रार्थ हुआ। एक दिन मुहम्मदपुर (जिला- बिजनौर) में एक पीपल के वृक्ष के नीचे उन्होंने बसेरा किया। फिर परीक्षितगढ़ (जिला- मेरठ) होते हुए वे गढ़मुक्तेश्वर पहुँचे। यहाँ वे पन्द्रह दिनों तक रहे। यहाँ भी उन्हें तीन दिनों तक निराहार रहना पड़ा था। इस समय जब एक माँझी ने अपनी रोटी में से आधी रोटी तोड़कर उन्हें दे दी, तब उसी को उन्हें खाकर रह जाना पड़ा। स्वामी जी का इस समय यह नियम था कि वे किसी से कुछ माँगते नहीं थे। जो भी उन्हें कुछ दे देता था, उसी को खाकर वे रह जाते थे। गढ़मुक्तेश्वर में वे गङ्गा की तपती हुई रेती पर पड़े रहते थे।

## कर्णवास (१८६७ ई०)

इसके बाद स्वामी दयानन्द मीरापुर, चासी आदि स्थानों पर होते हुए कर्णवास आए। कर्णवास गङ्गा के दक्षिणी तट पर अनूपशहर से १२ मील की दूरी पर स्थित क्षत्रियों की एक बस्ती है। यहाँ दो विद्यार्थियों ने देखा कि एक विशालकाय परमहंस जिनके मुखमण्डल पर एक अनूठी आभा प्रस्फुटित हो रही है, गङ्गा पुलिन पर आसन लगाए हुए बैठे हैं। तब वे दोनों उनके निकट आकर उनके शरीर पर प्रेमपूर्वक गङ्गारज लगाने लगे। परमहंस के पूछने पर कि तुम लोग इस समय क्या पढ़ते हो, उन्होंने उत्तर दिया कि भागवत और कौमुदी। इस पर परमहंस ने उन्हें

मनुस्मृति पढ़ने और तदनुकूल आचरण करने तथा व्याकरण में अष्टाध्यायी पढ़ने का आदेश दिया।

इस प्रकार एक दिन कर्णवास में रहकर स्वामी दयानन्द अपनी अगली यात्रा पर चल पड़े।

## फर्रुखाबाद (१८६७ ई०)

ज्येष्ठ संवत् १९२४ वि० (जून, १८६७ ई०) में किसी दिन स्वामी दयानन्द फर्रुखाबाद पहुँचकर लाला जगन्नाथ रईस के स्थान पर ठहरे। इस समय तक उनकी कोई विशेष प्रसिद्धि नहीं हुई थी। पर जो लोग उनके दर्शनों के लिए आते थे, वे उनके प्रश्नों का उत्तर अवश्य देते थे। एक सज्जन ने उनसे पूछा था कि गङ्गा और सूर्य कैसे पदार्थ हैं, तब उन्होंने उन्हें जड़ पदार्थ बताया था। लाला मन्नीलाल और जगन्नाथ रईस भी उनके दर्शनों के लिए आए थे। उस समय वे समाधिस्थ थे। ये लोग आकर उनके पास चुपचाप बैठ गए। जब स्वामी जी की समाधि भङ्ग हुई तो इन आगन्तुकों ने स्वामी जी से पूछा कि गायत्री जप का क्या फल है? तब स्वामी जी ने उन्हें कहा कि इससे बुद्धि शुद्ध होती है। अत: सन्ध्या में गायत्री का जप सभी द्विजों के लिए करणीय है। इस समय फर्रुखाबाद में स्वामी जी तीन दिन ही रहे।

यहाँ तक के पिछले कुछ विवरणों के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द अपने पूना के प्रवचनों में कह गए हैं कि "वहाँ से पुन: मैं हरिद्वार गया। वहाँ '*पाखण्ड-मर्दन*' ये अक्षर लिखकर ध्वज अपने स्थान पर लगा दिया। वहाँ बहुत वाद-विवाद हुआ। फिर मेरे मन को ऐसा लगा कि सारे जगत् से विरुद्ध होकर और गृहस्थों से भी अधिक पुस्तक आदि का जंजाल साथ रख कर क्या करना है? [अर्थात् जंजाल रखना ठीक नहीं है]। इस अभिप्राय से मैंने सब कुछ छोड़ दिया [अर्थात् सब कुछ बाँट दिया]। और कौपीन लगा ली और मौन धारण कर लिया। वहाँ से मैंने शरीर पर राख (भस्म) लगाना आरम्भ किया, उसे गत वर्ष मुम्बई आने तक लगाता रहा। जब से रेल में बैठने लगा तब से कपड़े पहनने लगा। अस्तु, वहाँ (= हरिद्वार में) मैंने जो मौन धारण किया वह अधिक दिन टिका नहीं। कारण, बहुत लोग मुझे पहचानते थे। और एक दिन मेरी पर्ण कुटी के द्वार पर कोई '*निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्*' भागवत की अपेक्षा कुछ अधिक नहीं, वेद भी भागवत से नीचे (घटिया) है, ऐसा बकने लगा। तब मुझ से यह सहन नहीं हुआ और मौनव्रत छोड़कर मैंने वहाँ भागवत का खण्डन किया। अनन्तर ऐसा विचार किया कि ईश्वर की कृपा से मुझे जो थोड़ा बहुत ज्ञान हुआ है उसे सब लोगों में प्रकट करना चाहिये। इस विचार को धारण करके मैं फर्रुखाबाद आया।"

## अनूपशहर (१८६७ ई०)

फर्रुखाबाद से चलकर स्वामी जी तीन दिन बाद अनूपशहर पहुँचे। यहाँ पहुँचकर वे आठ दिन तक लाला गौरीशङ्कर कायस्थ की बाँसों के टाल पर रहे। इन दिनों वह कुछ अस्वस्थ थे। इसलिए तुलसीदल और काली मिर्च घुटवाकर और मूँग की दाल में सोंठ डालकर पकवाकर उसे पिए जिससे वे स्वस्थ हो गए। इन दिनों अनूपशहर में राजा बूँदी के गुरु रामदास बैरागी भी रहा करते थे। वह मूर्तिपूजक नहीं थे, अत: उनकी स्वामी दयानन्द जी से मित्रता हो गई थी। अनूपशहर में ही एक दक्षिणी स्वामी सूरजपुरी और मौजबाबा परमहंस भी रहा करते थे। रामदास ने दक्षिणी स्वामी से कहा कि एक स्वामी दयानन्द जी भी आजकल यहाँ आए हुए हैं जो हमारे-तुम्हारे मत की बात कहते हैं, परन्तु गृहस्थों के प्रतिकूल हैं। दक्षिणी स्वामी ने सूरजपुरी को भेजकर अपने कुछ प्रश्नों के उत्तर स्वामी दयानन्द से बारबार पुछवाए, पर उनके उत्तर उनकी समझ में ही नहीं आए। तब स्वामी दयानन्द ने उन्हें कहला भेजा कि तुम्हारी बुद्धि मोटी है, तुम्हें मेरी बातें समझ में नहीं आएँगी। जैसे यदि चीनी में रेत मिला दिया जाए तो चींटी तो चीनी के कणों को निकाल लेगी, परन्तु हाथी नहीं निकाल सकेगा।

बाद में जब स्वामी दयानन्द अपना पूर्व स्थान छोड़कर नगर में ही दूसरी ओर जाने लगे, तो बाबा रामदास ने उनसे कहा कि उधर भागवत हो रही है और तुम उसका खण्डन करते हो, अत: तुम्हें वहाँ कोई रोटी के लिए भी नहीं पूछेगा। स्वामी जी ने कहा कि हमें इसकी कोई परवाह नहीं है। यह कहकर स्वामी जी नर्मदेश्वर के पास सती की मढ़ी में आ विराजे। यहाँ उन्हें नवलजङ्ग नामक पहलवान जो अच्छा तैराक, सदाचारी, सुशील और बलवान था, मिल गया। उसकी स्वामी जी में अगाध प्रीति हो गई थी। वह गङ्गारज लाकर प्रेम से स्वामी जी के शरीर पर चन्दन की भाँति मला करता था। उसने स्वामी जी के लिए एक झोपड़ी बनाकर और उसमें चटाई बिछाकर उनके ठहरने का प्रबन्ध कर दिया था। रात में सोते समय वह उनके ऊपर कम्बल भी डाल दिया करता था।

यहाँ एक दिन कुछ वामी मदिरा पीकर स्वामीजी के निकट आकर बकने लगे, तब स्वामी जी ने नवलजङ्ग को कहकर उन्हें वहाँ से भगाया।

अनूपशहर में एक सुपठित बुद्धा नाम्नी ब्राह्मण ने स्वामी जी से शास्त्र-चर्चा की थी। इस समय कुछ देर तक तो वह धाराप्रवाह संस्कृत में बोलता रहा, परन्तु बाद में वह स्वामी जी से पीछे रह गया और अन्त में स्वामी जी के कथन की सत्यता स्वीकार कर ली और वह उनका स्नेह भाजन बनकर बुद्धा से बुद्धिसागर बन गया!

## गढ़मुक्तेश्वर/अनूपशहर (१८६७ ई०)

अनूपशहर से स्वामी जी गढ़मुक्तेश्वर की ओर चले गए। फिर वहाँ से वापस लौटकर पुन: सती की मढ़ी में ही आ विराजे। इस समय उनका रेत का बिस्तर और ईंटों का तकिया हुआ करता था। उनके पास केवल एक कौपीन था। अनेक लोग उन्हें वस्त्र देना चाहते थे, पर वे नहीं लेते थे। वह अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों की श्रेष्ठता स्वीकार करते थे। उस समय वह विशेष खण्डन-मण्डन नहीं करते थे। उनका विशेष आग्रह ब्राह्मणों के उत्थान पर था। अत: वह उन्हें सन्ध्या करने, गायत्री का जप करने और अग्निहोत्र करने की शिक्षा देते थे तथा मथुरा जाकर दण्डी जी से व्याकरण पढ़ने का भी उनसे अनुरोध करते थे। वह रात्रि में अपने पास किसी को नहीं रहने देते थे। किसी से वे किसी पदार्थ की इच्छा भी नहीं रखते थे, जो कोई स्वेच्छा से उन्हें कोई खाद्य पदार्थ दे देता था, उसी को वह प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर लेते थे। आवश्यकता से अधिक प्राप्त खाद्य-पदार्थ वे भिक्षुकों में वितरित कर देते थे। बहुत सबेरे ही उठकर शौच, स्नान कर वे ईश्वराधन में प्रवृत्त हो जाते थे। इससे निवृत्त होकर वे आगन्तुकों से बातचीत करते थे। यदि इस समय कोई उनसे वेदानुकूल बात कहता था तो वे उसे तत्काल स्वीकार कर लेते थे , अन्यथा पुराणादि की वेदविरुद्ध बात को वे 'गप्पाष्टकम्, मनुष्याणां कोलाहल:' कह दिया करते थे।

## चासी जिला- बुलन्दशहर (१८६७ ई०)

अनूपशहर से स्वामी दयानन्द चासी जिला- बुलन्दशहर के जंगल में आ विराजे। यहाँ पुनरागमन का स्वामी जी का उद्देश्य अपने पिछले कर्णवास प्रवास में विद्यार्थियों से प्राप्त यह संवाद था कि चासी में चक्राङ्कित सम्प्रदाय का एक नन्दराम ब्राह्मण रहता है, जो अन्य लोगों को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित करने की प्रेरणा करता रहता है। चूँकि इस मत के विरुद्ध स्वामीजी पहले से ही थे अत: उन्होंने अन्यों को इस मत में सम्मिलित न होने देना अपना कर्त्तव्य समझा था। स्वामीजी के आगमन का समाचार पाकर २०-२५ ब्राह्मण और कुछ जाट नन्दराम ब्राह्मण को अपने साथ लेकर स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए और उसे स्वामीजी के सम्मुख अपने मत का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करने के लिए कहा। लेकिन स्वमीजी से कोई बात किए बिना ही नन्दराम ब्राह्मण वहाँ से पलायन कर गया और बुलाने पर भी नहीं आया जिससे उसकी पोल खुल गई और वहाँ कोई भी चक्राङ्कित न बना।

## धारपुर (तहीरपुर), रामघाट (१८६७ ई०)

चासी से स्वामी जी धारपुर (ताहीरपुर) आए और वहाँ कुछ दिन निवास करके रामघाट चले गए, जहाँ वे एक पर्णकुटी में ठहरे। पं० टीकाराम जो कर्णवास का रहने वाला एक सुविज्ञ ब्राह्मण था, उन दिनों रामघाट में ही रह रहा था। एक अन्य जन केशवदेव ब्रह्मचारी भी वहाँ रहता था। उसने स्वामीजी से पं० टीकाराम की विद्या की प्रशंसा की। अत: पं० टीकाराम आषाढ़ शुक्ल ५ संवत् १९२४ वि० तदनुसार ६ जुलाई, १८६७ ई० (शनिवार) को वनखण्डी महादेव पर ब्रह्मचारी को अपने साथ लेकर स्वामीजी की सेवा में पहुँचे। उस समय स्वामीजी ने पं० टीकाराम से पूछा तो उसने बताया कि उसे गायत्री मन्त्र कंठस्थ है। स्वामीजी के उसे सुनाने का कहने पर पं० टीकाराम ने कहा कि उसे उसके गुरुजी ने सुनाने से मना किया हुआ है। तब स्वामी जी ने कहा कि संन्यासी तो ब्राह्मणों का भी गुरु होता है, अत: उसे हमें सुनाने में कोई दोष नहीं है। ब्रह्मचारी ने भी स्वामीजी की इस बात का समर्थन किया तो पं० टीकाराम ने स्वामीजी को गायत्री मन्त्र सुना दिया। स्वामीजी पं० टीकाराम के मन्त्र के शुद्ध उचचारण से बहुत प्रसन्न हुए और सन्ध्या का पाठ स्वयं लिखकर उसे दिया। फिर तो पण्डित जी का प्रतिदिन ही स्वामी जी से धर्मालाप होने लगा जिससे उसके सभी संशय मिट गए। इस प्रकार पं० टीकाराम स्वामीजी के प्रथम शिष्य बन गए और अपने शेष जीवन भर बने रहे।

जब स्वामीजी के सान्निध्य से पं० टीकाराम का मूर्तिपूजा पर से विश्वास हट गया तो उसने अपनी सब देव मूर्तियाँ गङ्गा में प्रवाहित कर दीं और दौड़ा-दौड़ा अपने यजमानों के पास कर्णवास गया और वहाँ के सब यजमान ठाकुरों से यह सब वृतान्त कह सुनाया। इस सब वृतान्त को सुनकर ठा० गोपालसिंह आदि ने उसे उल्टे पाँव लौटाकर ऐसे अद्‌भुत संन्यासी स्वामी दयानन्द को रामघाट से कर्णवास बुलाकर ले आने को कहा।

## कर्णवास (१८६७ ई०)

इधर पं० टीकाराम तो रामघाट गया और उधर स्वामी दयानन्द स्वत: ही कर्णवास आकर गङ्गा के एक पक्के घाट पर एक नागा बाबा की मढ़ी में बसेंदू वृक्ष के नीचे आसन लगाकर विराजमान हो गए। पं० भगवानदास भागवती ने भोजन कराकर उनका सत्कार किया। अगले दिन पं० टीकाराम ने कर्णवास लौटकर सब लोगों से स्वामी जी के कर्णवास आगमन का समाचार सुनाया जिससे वहाँ के क्षत्रिय वर्ग तथा अन्य लोग स्वामीजी की भव्यमूर्ति के दर्शन करने आने लगे और उनके उपदेशों को श्रवण करके कृतकृत्य होने लगे। इस प्रकार स्वामीजी की ख्याति-चन्द्रिका दिनप्रतिदिन आसपास के ग्रामों तक फैलने लगी। इसी दौरान एक दिन पं० भगवानदास भागवती से स्वामीजी ने कण्ठी-तिलक आदि धारण करने का निषेध किया तो वे मन ही मन स्वामीजी से कुपित होकर अपने घर चले गए और उन्हें भोजन कराना भी बन्द कर दिया।

इस प्रकार कर्णवास में स्वामी जी को रहते हुए आषाढ़ से आश्विन (जुलाई से अक्टूबर, १८६७ ई०) आ गया। लोगों में उनके प्रति श्रद्धा के भाव उत्तरोत्तर बढ़ते चले गए, परन्तु भगवानदास आदि कुछ लोग इसे देखकर उनसे कुढ़ने लगे। आश्विन में अनेक लोग गङ्गास्नान के लिए कर्णवास आते हैं जिन्होंने भी स्वामी जी के दर्शन किए और उनके उपदेश श्रवण किए। इन दर्शनार्थियों ने तब तक ऐसा कोई विचित्र संन्यासी नहीं देखा था जो मूर्तिपूजादि का खण्डन करता हो। इसलिए वे उसके इन अश्रुतपूर्व उपदेशों को अपने-अपने गाँवों तक भी ले जाकर फैलाने लगे। इससे उस क्षेत्र में स्वामी दयानन्द की लोकप्रियता निरन्तर विस्तारित होती चली गई और अपार जनसमूह उनके आसपास जुटने लगा। स्वामी दयानन्द की यह लोकप्रियता भगवानदासादि को असह्य होने लगी। अत: उन्होंने दयानन्दरूपी इस कण्टक को दूर करने के लिए शास्त्रार्थ कराने की ठानी और वे अनूपशहर निवासी पं० अम्बादत्त पर्वती को उनसे

शास्त्रार्थ कराने के लिए बुला लाए जो उस क्षेत्र में संस्कृत में एक बहुत व्यत्पुन्न व्यक्ति समझा जाता था। इस प्रकार स्वामी दयानन्द और पं० अम्बादत्त के मध्य शास्त्रार्थ हुआ जिसमें पं० अम्बादत्त अपनी वृद्धता के कारण हाँफने लगा, उसका श्वाँस फूल गया था, उसे संस्कृत बोलने का अभ्यास भी नहीं था, अत: वह स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ में परास्त हो गया। उन्होंने एक सत्यप्रिय मनष्य की भाँति भरी सभा में मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार किया कि स्वामी जी जो कहते हैं, वह सत्य है, मूर्तिपूजा अवैदिक और त्याज्य है। उनसे इतना सुनते ही स्वामी दयानन्द के अनुयायियों के हृदय-कमल खिल उठे और पौराणिक दल में नैराश्य की घटा छा गई। अब पौराणिक लोग पं० हीरावल्लभ से, जो एक वेदज्ञ और पूर्ण वैयाकरण के रूप में उस समय जाने जाते थे, स्वामी जी का शास्त्रार्थ कराने के मन्सूबे बाँधने लगे। उधर कर्णवास के क्षत्रिय जन बड़ी संख्या में स्वामी जी से यज्ञोपवीत धारण करके उनके द्वारा उपदिष्ट पद्धति से अपने नित्यकर्म करने लगे।

## अहार ( १८६७ ई०)

कर्णवास से स्वामी दयानन्द अहार आए। यहाँ वे दो दिन हीरावल्लभ की कुटी में ही ठहरे। इस कुटी को उसकी ध्वस्त दशा में पं० लेखराम आर्यपथिक ने १५ दिसम्बर, १८८९ ई० को देखा था।

## चासी (१८६७ ई०)

अहार से स्वामी दयानन्द चासी आए और वहाँ वे एक कुटिया में ठहरे। यहाँ पहुँचते ही लोग उनके दर्शन करने के लिए भारी संख्या में आने लगे। इस समय कार्तिक स्नान (कार्तिक पूर्णिमा; १२ नवम्बर, १८६७ ई०) भी होने से वहाँ सहस्रों यात्रियों का आवागमन हो रहा था। इसलिए स्वामी दयानन्द को इनके मध्य निर्भयतापूर्वक धर्मोपदेश करने और मूर्तिपूजा तथा तीर्थस्नान के खण्डन करने का अवसर मिला। उनके निकट ही रह रहे एक बैरागी को स्वामी जी के ऐसे उपदेश बहुत ही खलते थे। अत: वह उनको वहाँ से टालने का उपक्रम करने लगा। स्वामी जी का यह स्वभाव उसे पता चल गया था कि जो कोई जैसा भी खाद्यपदार्थ उन्हें दे जाता था, वह वैसा ही उसे प्रेमपूर्वक ग्रहण कर लेते थे। अत: वह उन्हें अपनी धूर्ततावश दो-चार जले-भुने टिक्कड़ ही भिजवाने लगा और स्वामी जी भी उन्हें ही अपने सहज स्वभाववश पाने लगे। जब स्वामी जी को बैरागी की इस धूर्तता का पता चला तो वे यह स्थान छोड़कर अन्यत्र रहने चले गए।

चासी में स्वामी दयानन्द का जहाँगीराबाद (जिला- बुलन्दशहर) निवासी ओङ्कारदास बोहरा और पं० गङ्गाप्रसाद महाराज, खन्दोई ग्राम के छत्रसिंह जाट, चाँदोख (जिला- बुलन्दशहर) के निवासी ठा० महावीरसिंह से भी परिचय और संवाद हुआ था।

## रामघाट (१८६७ ई०)

चासी से आकर स्वामी दयानन्द मार्गशीर्ष संवत् १९२४ वि० तदनुसार नवम्बर-दिसम्बर, १८६७ ई० में रामघाट में गङ्गातट पर पद्मासनस्थ हुए। वे यहाँ १० बजे दिन से सायंकाल तक एक ही आसन पर बैठे रहते थे। इस दौरान उनके शरीर में कोई गति वा स्पन्दन नहीं होता था, वे किसी से कुछ बोलते भी नहीं थे। इसी समय एक पुराने मूर्तिपूजक क्षेमकरण ब्रह्मचारी का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट होता है जो कोई एक साधारण मूर्तिपूजक ही नहीं था, अपितु उसकी तो मूर्तियों का भार ही २० सेर (लगभग २० किलो) का था। वह जहाँ भी जाता था, वहाँ वह अपनी सभी मूर्तियों को घोड़े पर लादकर ले जाता था। वह अपने हाथों और गले में बड़ी-बड़ी रुद्राक्ष की मालाएँ पहने हुए रहता था। उसके मस्तक पर त्रिपुण्ड्र भी विराजमान रहता था। उसके समस्त शरीर पर चन्दन का लेप लगा रहता था। उसकी जिह्वा से उसके इष्टदेव

का नाम भी सदैव उच्चारित होता रहता था। पर उसके सामने जो व्यक्ति पद्मासनस्थ था, वह इसके विपरीत मूर्तिपूजा का परम शत्रु था। यदि उसे यह बात पता होती तो वह उनके ढिग भी न जाता, इसीलिए वह उनके पास अपने एक साथी के साथ जाकर एक श्लोक का एक चरण इस प्रकार बोला-

*'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:'*

इसे सुनकर संन्यासी (दयानन्द) मुस्कराता है और 'हूँ' शब्द करता है। पुन: उसके अनुरोध पर यह संन्यासी घाट से उठकर वनखण्डीश्वर महादेव में चला जाता है। वहाँ दो पण्डित संस्कृत में परस्पर विवाद कर रहे थे। यह संन्यासी भी उस विवाद में सम्मिलित हो जाता है। तब दोनों विवादकर्ता, संन्यासी के अनर्गल सरल और सुमधुर संस्कृत भाषण को सुनकर चकित हो जाते हैं। जब रात्रि हो जाती है, तब एक जन इस संन्यासी को भोजन करा देता है।

अगले दिन प्रात:काल होने पर यह संन्यासी स्नान करके ध्यानमग्न हो जाता है। तब लोगों को ज्ञात होता है कि यह संन्यासी कोई साधारण संन्यासी नहीं अपितु वह तो मूर्तिपूजा, अवतार, तीर्थ, भागवत आदि का खण्डन करने वाला प्रसिद्ध संन्यासी दयानन्द है। इन्हीं दिनों रामघाट में कृष्णानन्द नाम का एक वाममार्गी संन्यासी और रहता था। उसकी भी संस्कृतज्ञ होने के कारण वहाँ बड़ी ख्याति थी। लोग उससे कहते थे कि दयानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित करके हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा रखनी चाहिए। पर दयानन्द का सामना कर सकने का उसमें साहस न था। फिर भी लोगों ने उसे इसके लिए वाध्य कर दिया। एक व्यक्ति आकर कृष्णानन्द से पूछता है कि महाराज महादेव पर जल चढ़ा आऊँ? कृष्णानन्द उसे कुछ उत्तर दे, इससे पहले ही दयानन्द ने उससे कहा कि यहाँ महादेव नहीं, यहाँ तो पत्थर है। महादेव तो कैलाश पर है।

तब कृष्णानन्द दयानन्द से पूछता है- क्या महादेव यहाँ नहीं है?

दयानन्द उसे उत्तर देता है- वह महादेव तो मन्दिर के अतिरिक्त यहाँ भी है। वहाँ जाना व्यर्थ है।

इससे चिढ़कर कृष्णानन्द ने साकारवाद का अवलम्बन लिया और इसी विषय पर स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ करने लगा। स्वामी दयानन्द का तो यह मनचाहा विषय ही था। अत: उन्होंने धाराप्रवाह संस्कृत में बोलते हुए निराकार सिद्धान्त पर वेदों और उपनिषदों के प्रमाणों की झड़ी लगा दी। और कृष्णानन्द जी को उनका अर्थ मानने के लिए वाधित कर दिया। जब कृष्णानन्द और कोई प्रमाण न दे सका, तब उसने श्रोताओं की ओर मुखातिव होकर गीता का निम्न श्लोक पढ़ा-

*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।*

*अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्।।*

तब दयानन्द ने गर्जकर उससे कहा कि 'ईश्वर निराकार है, वह देह धारण नहीं करता। देह धारण करना तो जीव का धर्म है।' कृष्णानन्द ने स्वामी जी के इस कथन का कोई उत्तर न देकर फिर वही गीता का श्लोक पढा हैऔर दयानन्द की ओर न देखकर वह श्रोताओं की ओर ही देखता रहा। इस समय घबराहट के कारण उसके मुख में झाग आ गया था। तब दयानन्द ने उससे कहा कि 'आप लोगों से शास्त्रार्थ करते हैं, वा मुझसे? मेरी ओर मुख करके बोलिए।' यह सुनकर कृष्णानन्द के विचार ही उखड़ गए, वह चौकड़ी ही भूल गया, गले में घिग्घी बँध गई, उसका चेहरा फीका पड़ गया। किसी प्रकार लाज रह जाए, इसलिए उसने तर्कशास्त्र की शरण लेकर स्वामी जी से कहा कि 'अच्छा, लक्षण का लक्षण बताइए।' स्वामी जी ने उत्तर दिया कि जैसे 'कारण का कारण नहीं होता-

वैसे ही लक्षण का भी लक्षण नहीं होता है।' यह सुनकर श्रोताओं ने अपनी हँसी से कृष्णानन्द की हार प्रकाशित कर दी। अत: कृष्णानन्द भी सभास्थल से उठकर चला गया।

इस शास्त्रार्थ का और स्वामी जी के उपदेश का वहाँ उपस्थित मूर्तिपूजक क्षेमकरण पर यह प्रभाव पड़ा कि उसने अपनी समस्त मूर्तियों का भार गङ्गा के हवाले कर दिया जिसे ढोत-ढोते उसके घोड़े की पीठ भी क्षत-विक्षत हो गई थी। इसका नाम ब्र० क्षेमकरण था जिसने बाद में संन्यास ग्रहण कर लिया था।

यहाँ रहते हुए स्वामी दयानन्द कोलाहल स्वामी के रूप में प्रसिद्ध हो गए थे, क्योंकि जब बातचीत में दो-चार लोग एक साथ बोलने लगते थे तो वह कह दिया करते थे कि यह कोलाहल है।

एक दिन एक व्यक्ति ने गुरु की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा की तो स्वामीजी ने कहा कि ऐसे व्यक्ति को गुरुसमेत गङ्गा में प्रवेश कर जाना चाहिए।

इन दिनों स्वामी दयानन्द सबको सन्ध्या, गायत्री, बलिवैश्वदेव करने का और मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रादि त्यागने का उपदेश किया करते थे। पं० टीकाराम, पं० बालमुकुन्द, ब्रह्मचारी आनन्द किशोर आदि बीसियों लोग स्वामी जी का उपदेश ग्रहण कर मूर्तिपूजा करना छोड़ चुके थे।

इस प्रसङ्ग में स्वामी दयानन्द अपने पूना-प्रवचनों में कहते हैं कि "रामगढ़ से वाद (शास्त्रार्थ) आरम्भ किया। वहाँ पर जब-जब दो चार शास्त्री एक साथ बोलने लगते थे तब मैं 'कोलाहल' ऐसा कहता था। इसलिए आज तक वहाँ के लोग मुझे 'कोलाहल स्वामी' कहते हैं। वहाँ चक्रांकित मत के दस मनुष्य मुझे मारने को आये; परन्तु मैं उनसे बड़े संकट (= बड़ी कठिनाई) से बचा।"

## बेलौन (१८६७ ई०)

रामघाट से स्वामी दयानन्द बेलौन (जिला- बुलन्दशहर) पधारे। वहाँ वे खेरा नामक स्थान पर एक पीपल के वृक्ष के नीचे उतरे। वहाँ एक तख्त पड़ा हुआ था, स्वामी जी उसी पर बैठा करते थे। भक्तों ने उस तख्त पर एक गद्दा डलवा और मसनद रखवा दी थी। स्वामी जी उसी पर बैठकर लोगों को उपदेश किया करते थे। वे सभी आगन्तुकों से पूछते थे कि तुम्हें गायत्री आती है, वा नहीं? यदि उसे गायत्री नहीं आती होती थी तो वे स्वयं ही लिखकर उसे दे देते थे और प्रतिदिन उसका सहस्रवार जपने का उपदेश कर देते थे। एतदर्थ पं० इन्द्रमणि ने गायत्री की बहुत सी प्रतियाँ लिखकर उनके पास रख छोड़ी थीं जिन्हें वे वितरित किया करते थे। इस प्रकार कोई ५० प्रतियाँ उन्होंने लोगों को बाँटीं। एक मनुष्य ने स्वामी जी से पूछा कि राम और कृष्ण अवतार हैं वा नहीं? स्वामीजी ने उसे उत्तर दिया कि ईश्वर अवतार धारण नहीं करता। राम और कृष्ण केवल प्रतापी राजा थे। एक अन्य व्यक्ति के पूछने पर उन्होंने कहा कि गङ्गा केवल एक नदी है। एक दिन एक व्यक्ति ने उनसे आकर दण्डवत् कहा तो उन्होंने उससे कहा कि दण्डवत् तो तुम्हें अपने व्यवहार से मुझे करनी है!

इस प्रकार बेलौन में ३-४ दिन रहकर स्वामी जी कर्णवास चले गए।

## कर्णवास (१८६८ ई०)

स्वामी दयानन्द के कर्णवास पधारते ही आसपास के ग्रामों में उनके वहाँ आगमन का समाचार चतुर्दिक फैल गया। अत: ग्रामीण जनता उनका धर्मोपदेश श्रवण करने और अपनी-अपनी शङ्काएँ मिटाने के लिए उनके पास आने लगी। दूसरी ओर वहाँ के पौराणिकों को पं० अम्बादत्त के पराजय की कालिमा धोने की चिन्ता थी। अत: वे अनूपशहर गए और वहाँ से पं० हीरावल्लभ को पौष (जनवरी, १८६८ ई०) की किसी तिथि में कर्णवास बुला लाए। पं० हीरावल्लभ बड़े ठाठ-बाठ

के साथ वहाँ आए। वे अपने साथ अपने आराध्यदेवों की अनेक मूर्तियाँ एक सुन्दर से सिंहासन पर सजाकर लाए थे। जब उनका स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ तो उन्होंने सिंहासनस्थ अपनी देव मूर्तियों को अपने समक्ष रखकर यह प्रतिज्ञा की कि मैं दयानन्द से इन देव मूर्तियों को भोग लगवाकर ही उठूँगा। छः दिन तक शास्त्रार्थ नियम और न्यायपूर्वक होता रहा। अन्तिम दिन पं० हीरावल्लभ ने अपने अस्त्र-शस्त्र डाल दिए और अपनी हार अपनी वाणी और कर्म से भी स्वीकार कर ली। पण्डित जी ने हाथ जोड़कर स्वामी दयानन्द को प्रणाम किया और देवमूर्तियों को हाथ जोड़कर उन्हें सदा के लिए गङ्गा जल में विसर्जित कर दिया। इस समय कोई २,००० लोग वहाँ उपस्थित थे। स्वामी जी भी पं० हीरावल्लभ की इस न्यायप्रियता को देखकर गद्-गद् हो गए और उनकी समस्त उपस्थित जन समुदाय में मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। सभी निष्पक्ष मनुष्यों ने भी उन्हें हृदय से साधुवाद कहा। सबके मुखमण्डल हर्ष से खिल उठे। मूर्तिपूजकों के हृदय शोक से सन्तप्त और मुख विषाद से तेजोहीन हो गए और वह आह करते तथा ठण्डे साँसें भरते हुए सभा से उठकर चले गए। इस शास्त्रार्थ का प्रभाव यह हुआ कि बीसियों लोगों ने पं० हीरावल्लभ का अनुकरण करते हुए अपनी-अपनी देवमूर्तियाँ गङ्गा में प्रवाहित कर दीं।

इसके बाद तो कर्णवास आ-आकर आसपास के ग्रामीणजन स्वामी जी से यज्ञोपवीत धारण करने, सन्ध्या-गायत्री की दीक्षा लेने और उनके हृदय से अनुगामी होने लग गए। एक अवसर पर स्वामी जी की यज्ञवेदी पर एक साथ कोई ४० लोग दीक्षित हुए थे। कर्णवास के क्षत्रियों के कुलगुरु ने भी अपने अपने यजमानों का अनुकरण करते हुए मूर्तिपूजा छोड़ दी और अपनी कण्ठी भी तोड़ डाली।

इन दिनों स्वामी दयानन्द आठ गप्पों (१- अठारह पुराण व्यासकृत हैं, २- मूर्ति-पूजन, ३-शैव, शाक्त और रामानुजादि वैष्णव सम्प्रदाय, ४- तन्त्र ग्रन्थ, वाममार्गादि, ५- मन्दिरा, भाँग इत्यादि मादक वस्तुएँ, ६- व्यभिचार, ७- चोरी करना, ८- छल, कपट, अभिमान, झूठ इत्यादि) का खण्डन और आठ सत्यों का मण्डन किया करते थे।

एक दिन धर्मपुर के एक नवमुस्लिम ने स्वामी जी से आकर पूछा कि महाराज क्या हम भी किसी प्रकार शुद्ध हो सकते हैं? स्वामी जी ने उसे उत्तर दिया कि यदि तुम धर्म का आचरण करोगे, तो अवश्य शुद्ध हो सकोगे।

एक दिन एक ब्राह्मण ने स्वामी जी को भोजन का निमन्त्रण दिया। स्वामीजी ने उसे स्वीकार कर लिया। इस ब्राह्मण ने पहले अपने ठाकुर जी को भोग लगाकर तब स्वामीजी को भोजन परोसा। इस पर स्वामी जी ने उसे ग्रहण करने से इन्कार कर दिया और कहा कि हम किसी का उच्छिष्ट नहीं खाते।

माघ कृष्ण ३० संवत् १९२४ वि० तदनुसार २४ जनवरी, १८६८ ई० को सूर्यग्रहण था। इस अवसर पर हजारों नर-नारी गङ्गा-स्नान करने के लिए कर्णवास आए हुए थे। इनमें से किसी ने स्वामी जी से पूछा कि ग्रहण का सूतक कब तक मानना चाहिए तो स्वामी जी ने उसे कहा कि सूतक कोई वस्तु नहीं है। उसने फिर पूछा कि भोजन कब करना चाहिए तो कहा कि जब भूख लगे। परन्तु इस समय जो लोग स्नानार्थ वहाँ आए हुए थे, उन्होंने ग्रहण के दिन अपने अनुमान के आधार पर तीन बजे तक न तो स्नान ही किया, न भोजन ही। परन्तु इसके बाद जैसे ही वे स्नान करके भोजन करने लगे, तभी ग्रहण पड़ना आरम्भ हो गया। इस पर स्वामीजी हँस पड़े और कहने लगे कि इन लोगों की भी विचित्र गति है कि ग्रहण के पूर्व तो स्नान और भोजन न किया, पर अब ग्रहण पड़ने के समय कर रहे हैं!

ठाकुर गोपालसिंह ने स्वामीजी के रहने के लिए एक अलग से कुटिया बनवा दी थी और उसमें उनके लिए एक तख्त भी डलवा दिया था। स्वामी जी रात्रि में २ बजे ही उठकर गङ्गातट पर दूर तक चले जाते थे। वहाँ शौचादि से निवृत्त होकर समाधिस्थ हो जाते थे। समाधि खुलने पर व्यायाम करते और फिर कुटिया पर आकर अपने तख्त पर विराजमान हो जाते

थे। इतने में एक घण्टा दिन चढ़ जाता था और आगन्तुकों की भीड़ लग जाती थी। फिर वह लोगों की शङ्काओं का समाधान करने और उपदेश देने में लग जाते थे। शरीर पर रज लगाते और संस्कृत में ही सम्भाषण करते थे। उनके पास एक लँगोट के अतिरिक्त अन्य कोई वस्त्र वा पात्र तक नहीं रहता था। शीतकाल में भी उनके पास अन्य कोई वस्त्र नहीं रहता था। रात्रि में वे केवल पुआल ओढ़करऔर ईंटों का तकिया लगाकर ही सो जाते थे।

एक दिन बुलन्दशहर के कलेक्टर महोदय कर्णवास में स्वामीजी की कुटिया पर उनसे मिलने आए। जब कलेकटर साहब ने अपने आगमन की सूचना उन्हें मिलने के उद्देश्य से भिजवाई तो स्वामीजी ने उन्हें कहला भेजा कि अभी मुझे मिलने का अवकाश नहीं हैं। साथ ही उनसे यह भी पूछ लिया कि आगे उन्हें कब उनसे मिलने का अवकाश होगा? तब कलेक्टर ने स्वामीजी को कहलाया कि चार घण्टे के बाद उन्हें मिलने का अवकाश ही अवकाश है। यह सुनकर स्वामी जी अपनी कुटिया से तत्काल बाहर निकल आए और कलेक्टर से बोले कि एक मनुष्य को जिस पर अपने परिवार के भरण-पोषण का भार होता है, उसे तो अपना शिर खुजलाने तक का अवकाश नहीं मिलता है और आपके ऊपर तो सहस्रों मनुष्यों के सङ्कट-निवारण का भार है, तब आश्चर्य है कि चार घण्टे के बाद आपके पास अवकाश ही अवकाश है!

स्वामीजी ने द्वन्द्वों को जीत लिया था। उन्हें न जाड़ा सताता था, न गर्मी। माघ में एक दिन प्रातःकाल शीतल वायु चल रही थी। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। लोग गदेले और लिहाफों को छोड़कर बाहर न निकलना चाहते थे और महाराज भी उपदेश कार्य से अवकाश न लेते थे। उस दिन भी स्वामीजी सदैव की भाँति पद्मासन लगाए उपदेश कर रहे थे। उनके स्वर वा शरीर पर कोई कम्पन न था, परन्तु श्रोतागण रुई और ऊन के कपड़े पहने तथा कम्बल ओढ़े हुए भी ठिठुर रहे थे, उनकी बत्तीसी कटाकट बज रही थी। ठाकुर गोपालसिंह ने स्वामीजी से पूछा कि आप पर शीत का कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता है। स्वामीजी ने उन्हें कहा कि ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास ही इसका कारण है। ठाकुर साहब ने कहा कि हम कैसे जानें तो स्वामीजी ने अपने हाथों के अँगूठे दोनों घुटनों पर रखकर दबाए जिससे तत्काल सारे शरीर से पसीना चू निकला। इसे देखकर लोग चकित रह गए और उन्हें स्वामीजी के योगबल पर पूरा विश्वास हो गया।

कर्णवास की इस स्थिति के समय ही पीलीभीत से अङ्गद शास्त्री ने आत्मश्लाघा से परिपूर्ण संस्कृत भाषा में एक पत्र स्वामी जी को लिखा था। स्वामी जी ने भी संस्कृत भाषा में ही इसका एक लम्बा उत्तर उन्हें लिखा जिसके द्वारा उनकी संस्कृत भाषा और भागवत की अनेक अशुद्धियाँ उन्हें बता दी गईं थीं। इसका फिर कोई उत्तर अङ्गद शास्त्री ने स्वामीजी को न दिया।

एक दिन स्वामीजीकर्णवास से रात्रि में ही कहीं निकल गए। वे जिन्हें मिले थे, वे दो अँग्रेज जिनमें से एक पादरी और दूसरा बदायूँ का कलेक्टर था, चाँदनी रात में शिकार करने के लिए निकले हुए थे। उन्होंने देखा कि स्वामीजी गङ्गा के दूसरे तट पर रेती पर आसन जमाए हुए समाधिस्थ बैठे हैं। भयङ्कर शीत पड़ रही है, पर यह साधु सर्वथा निर्वस्त्र होकर वहाँ बैठा हुआ है। जब स्वामीजी की आँख खुली तो वे दोनों अँग्रेज उनके पास गए और कलेटर साहब स्वामीजी से बोले कि हमें बड़ा आश्चर्य है कि आप नदी के तट पर, ठण्डी रेत में, रात्रि के समय, केवल एक लँगोट लगाए हुए ही ऐसे शीत में बैठे हुए हैं। पादरी बोला कि ये माल खाकर मुटा गए हैं, इन्हें जाड़ा कैसे लग सकता है? स्वामी जी ने कहा कि हम दाल-रोटी के खाने वाले क्या माल खा सकते हैं? माल तो आप लोग माँस, अण्डे और मदिरा के रूप में उड़ाते हैं, आकर थोड़ी देर मेरे पास बैठ जाइए। इस पर वे लज्जित हो गए। फिर विषय बदलकर उन्होंने इसका वास्तविक कारण जानना चाहा तो स्वामीजी ने कहा कि इसका मुख्य कारण अभ्यास है। सो जैसे आपका मुख सदा खुला रहने से उसे ठण्ड नहीं लगती, वैसे ही मेरा सारा शरीर सदैव

ही खुला रहता है, इसलिए उसे भी ठण्ड नहीं लगती। इसके बाद दोनों अँग्रेज स्वामीजी को नमस्कार करके वहाँ से चले गए।

कर्णवास में स्वामी जी माघ के अन्त तक वा फाल्गुन के आरम्भ तक अर्थात् ८ या ९ फरवरी, १८६८ ई० तक रहे।

## गढ़ियाघाट (१८६८ ई०)

कर्णवास से माघ मास के अन्त में चलकर स्वामी दयानन्द सोरों जिला- एटा (शूकर क्षेत्र), जहाँ वराह का मन्दिर है, आए जिसके पास ही गढ़िाघाट है। जब स्वामी जी यहाँ पहुँचे तब चैत्र संवत् १९२५ वि० (अप्रैल, १८६८ ई०) आ चुका था। यहाँ पर्वादि के अवसर पर सहस्रों नर-नारी एकत्रित होते हैं। सोरों में एक बलदेवगिरि गोसाईं प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। उसने पहले से ही स्वामी दयानन्द की प्रशंसा सुन रखी थी, इसलिए वह उनके दर्शनों के लिए लालायित था। जब उसे स्वामीजी के आने का समाचार मिला तो वह पं० नारायण चक्राङ्कित तथा कुछ अन्य पण्डितों को अपने साथ लेकर अपने स्थान अम्बागढ़ से गढ़ियाघाट आया। इस समय नारायण पण्डित से स्वामी दयानन्द की शास्त्र-चर्चा हुई। इस चर्चा में नारायण पण्डित कुछ मिनटों में ही निरुत्तर हो गया। उसे स्वामीजी की विचार शैली इतनी भाई और वह उनके विद्या, तप और तेज से इतना अधिक अभिभूत हो गया कि वह प्रतिदिन ही उनकी सेवा में उपस्थित होने लगा और उन्हें अपने घर से भोजन भिजवाने लगा।

एक दिन ऐसा हुआ कि एक ठाकुर और उसके तीन साथी स्वामीजी के स्थान पर आए। उनमें से दो के हाथों में तलवारें और एक के हाथ में एक लाठी थी। वे वस्तुत: स्वामीजी को आघात पहुँचाने के लिए आए थे। कारण यह था कि सोरों चक्राङ्कितों का गढ़ था। स्वामीजी उनके मत का तीव्र खण्डन करते थे और भागवत को अशुद्ध एवं त्याज्य बताते थे। यह ठाकुर भी निम्बार्क सम्प्रदाय का था। इसके ललाट पर भी निम्बार्कों का तिलक लगा हआ था, उसके गले में कण्ठी भी बँधी हुई थी। बल्देव भक्त उस समय स्वामीजी के पास ही बैठा हुआ था। वह ठाकुर आकर उजड्डता पूर्वक स्वामीजी के पास बैठ गया। बलदेव गिरि ने उसे रोका। स्वामीजी ने भी उसका असभ्य व्यवहार देखकर उसे समझाया, पर वह दुष्टता करता ही रहा। इस पर स्वामीजी उठकर दूसरी मढ़ी में जा विराजे। उसने अपने आदमियों को सङ्केत किया कि बलदेव गिरि को पकड़ लो, यह क्या बकता है? उसके आदमी बलदेव गिरि की ओर लपके, पर बलदेव गिरि भी दण्डपेल जवान था। उसने एक का हाथ और दूसरे का पाँव पकडकर उन्हें नीचे गिरा दिया। वह गिरा तो उसके हाथ से लाठी छूट गई। वह बलदेव गिरि ने उठा ली। बलदेव गिरि के अन्य साथी भी वहाँ थे। उनमें से एक ने ठाकुर के एक आदमी की दाढ़ी और तलवार पकड़ ली। ठाकुर का भी जूड़ा पकड़ लिया और सबके दो-दो लाठियाँ लगाकर उन्हें नीचे ढकेल दिया जिससे वे फिसलते-फिसलते गङ्गा में जा गिरे जहाँ वे दलदल में फँस गए। इस फसाद के समय वहाँ अनेक लोग इकट्ठे हो गए और ठाकुर को गालियाँ देने लगे कि दुष्ट तू मेरे गुरु जी से क्यों लड़ा? स्वामी दयानन्द ने बलदेव गिरि जी के इस शौर्य की प्रशंसा की और उनके यहाँ से यथापूर्व भोजन बुलवाकर ग्रहण किया।

## सोरों (१८६८ ई०)

गढ़ियाघाट से बलदेव गिरि स्वामी दयानन्द को यह कहकर अपने साथ सोरों लिवा ले गया कि वहाँ दश हजार ब्राह्मण रहते हैं, अत: वहाँ जाकर उपदेश करने से सैकड़ों मनुष्य मूर्तिपूजा के गर्त और चक्राङ्कितों के जाल से बाहर निकल जाएँगे। उसने स्वामी जी को अपने स्थान अम्बागढ में ही ठहराया। स्वामी जी के सोरों पहुँचते ही उनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई और पण्डितों तथा सामान्य जनों के झुण्ड के झुण्ड उनके दर्शनों के लिए आने लगे।

पण्डितों में चर्चा हुई और स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का उनका विचार बना। उनके मुखिया पं० खमानी अपने दल-बल के साथ मैदान जीतने के लिए आगे आए, पर चार-पाँच बातों में ही वे स्वामीजी के सामने निरुत्तर होकर मौन हो गए। उनके अन्य साथी खीजकर कोलाहल करने लगे। तब गोसाईं बलदेव गिरि और अन्य न्यायप्रिय लोगों ने उन्हें डाँटा जिससे वे लोग शोर करते हुए वहाँ से चले गए। इस शास्त्रार्थ का तत्काल यह प्रभाव पड़ा कि पं० गोविन्दराम चक्राङ्कित ने स्वामीजी की शिक्षा स्वीकार कर ली।

सोरों के निकट ही बदरिया ग्राम में पं० अङ्गदराम शास्त्री रहता था। वह स्वामी दयानन्द के गुरु स्वामी विरजानन्द जब सोरों में निवास करते थे, तब उनसे सिद्धान्तकौमुदी पढ़ा था। वह संस्कृत का धुरन्धर विद्वान् था और व्याकरण में उसकी बड़ी धाक थी। उसके साथ शास्त्रार्थ करने में बड़े-बड़े विद्वान् घबराते थे। वह शालिग्राम की पूजा और भागवत की कथा भी करता था। वह भी स्वामीजी की प्रशंसा सुनकर शास्त्रार्थेच्छु होकर उनके पास आया। विचार आरम्भ हुआ। मूर्तिपूजा पर बात चली। स्वामीजी ने उसका अनेक युक्ति प्रमाणों से ऐसा खण्डन किया कि अन्त में पण्डित अङ्गदराम शास्त्री को उत्तर देते नहीं बना। स्वामीजी ने भागवत का भी ऐसा खण्डन किया और उसकी ऐसी अशुद्धियाँ बताईं कि पण्डित अङ्गदराम को अपनी पराजय स्वीकार करनी ही पड़ी और उन्हें स्वामीजी का पक्ष स्वीकार करना पड़ा। इसके साथ ही उन्होंने अपने शालिग्राम को गङ्गाजल में प्रवाहित कर दिया और भागवत की कथा न करने का भी सङ्कल्प ले लिया। उनकी देखादेखी बलदेव गिरि ने भी अपनी मूर्तियाँ गङ्गा में डुबो दीं।

एक दिन स्वामी जी के सहाध्यायी पं० जुगलकिशोर जी सोरों आए और स्वामीजी से मिले। उस समय पं० अङ्गदराम शास्त्री ने स्वामी जी को उलाहना देते हुए कहा कि आप औरों से तो मूर्तिपूजा न करने, तिलक न लगाने, कण्ठी न पहनने को कहते हैं, पर आप अपने इन सहपाठी पं० युगलकिशोर को कुछ भी नहीं कहते। स्वामीजी ने तब कहा कि ये मथुरा निवासी हैं, इन्हीं पर इनका निर्वाह है। यह सब सुनकर पं० युगलकिशोर रुष्ट होकर वहाँ से उठकर चले गए और मथुरा जाकर दण्डी स्वामी विरजानन्द से दयानन्द की शिकायत की कि दयानन्द सोरों में अधर्म कर रहा है! इस पर दण्डी जी ने युगलकिशोर को कहा कि 'हे युगलकिशोर! शालिग्राम क्या होता है? शालीनाम यो ग्रामः सः शालिगामः।' जबकि यह शब्द ही अशुद्ध है तो क्या इसकी पूजा निष्फल नहीं है? कण्ठी तिलक का प्रमाण दो कि कहाँ लिखे हैं? तो युगलकिशोर ने भी यह कहते हुए कि 'यदि ऐसा ही है, तो मैं भी अपनी कण्ठी तोड़कर फेंक रहा हूँ।'

इन सब घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि अन्य सहस्रों मनुष्यों ने भी मूर्तिपूजा करनी त्याग दी, अपनी-अपनी कण्ठियाँ तोड़कर फेंक दीं और सन्ध्या-गायत्री करनी आरम्भ कर दी। वृन्दावन के जो रङ्गाचार्य प्रतिवर्ष सोरों आकर अनेक नर-नारियों को चक्राङ्कित किया करते थे, सो उनका यह वहाँ आना-जाना भी छूट गया।

स्वामी कैलाश पर्वत जिनसे स्वामी दयानन्द जी का आगरा निवासकाल में परिचय हुआ था, उन दिनों सोरों में ही थे। उन्हें लोगों ने काशी से स्वामी दयानन्दकृत आन्दोलन को शान्त करने के लिए बुलाया हुआ था। वह एक दिन सोरों में गढ़ियाघाट पर गए। स्वामी जी उन्हें देखकर उनकी कुटिया पर चले गए और बोले कि ' इतना बड़ा कैलाशपर्वत इतनी सी छोटी कुटिया में कैसे आ गया?' इसका कैलाशपर्वत क्या उत्तर देते? बस यही कहा कि 'आगरा में न तो स्वामी दयानन्द ने मेरी बात मानी न मैंने उनकी।' कैलाशपर्वत का सोरों में वराह मन्दिर था। स्वामी दयानन्द के उपदेश से सैकड़ों लोगों ने उसमें जाना ही छोड़ दिया था।

कासगञ्ज के पं० अयोध्याप्रसाद और चेतराम भी स्वामीजी के दर्शनों के लिए सोरों आए थे। वे स्वामीजी के उपदेशों से इतने प्रभावित हुए कि वे उनके अनुगत हो गए। पं० सुखानन्द एक भागवती पण्डित थे। उनका पं० अयोध्याप्रसाद से

सौहार्द था। पं॰ सुखानन्द स्वामी दयानन्द से भागवत का खण्डन करने के कारण बहुत अप्रसन्न थे और वे स्वामीजी को नास्तिक मानते थे। एक पं॰ अयोध्याप्रसाद पं॰ सुखानन्द को स्वामीजी के पास ले गए। संस्कृत में परिचय होने के बाद परस्पर ज्योतिष पर विचार हुआ। इस प्रसङ्ग में स्वामी दयानन्द ने '(शन्नोदेवी॰ (यजुर्वेद ३६/१२)' मन्त्र की ऐसी अपूर्व व्याख्या की कि पं॰ सुखानन्द का चित्त कुछ विचलित होने लगा और उनका मनोमालिन्य दूर होने लगा। इसी प्रकार कुछ अन्य मन्त्रों की भी व्याख्या सुनकर वे स्वामी जी पर मुग्ध हो गए और उनका सान्निध्य छोड़ना उनके लिए दुष्कर होने लगा। सो वे छः दिनों तक उनके पास रहे और अन्ततः उनके अनुगत हो गए तथा अपनी देवमूर्तियाँ गङ्गा में फेंक दीं।

**कासगञ्ज की पहली पाठशाला**–'*श्रीमद्दयानन्दप्रकाश*' के अनुसार स्वामीजी ज्येष्ठ संवत् १९२५ वि॰ (७ मई से ५ जून सन् १८६८ ई॰ के मध्य) में कासगञ्ज पधारे थे। कासगञ्ज निवासी भक्तों के आग्रह पर उन्होंने कहा कि अभी तो मैं गङ्गातट पर प्रचार कर रहा हूँ। कासगञ्ज के भक्तों ने नगर में आकर इस प्रस्ताव पर विचार-विमर्श किया और व्यवस्था ठीक हो जाने पर पण्डित सुखानन्द आदि लगभग एक सौ सज्जन स्वामी जो को बलदेव गिरि जी की बग्घी में लिवा ले गए। नगर के समीप बग्घी ठहरा ली गई। वहाँ से नगर निवासी बड़ी संख्या में एकत्र होकर समारोहपूर्वक स्वामीजी को नगर में ले गए। सोरों द्वार से प्रविष्ट होकर यह जलूस बाजार से होता हुआ नगर के दूसरी ओर पहुँचा। पं॰ मुकुन्दराम के उद्यान में महाराज उतरे। चन्दा करके स्वामीजी के हाथ से कासगञ्ज में एक पाठशाला की स्थापना की गई। स्वामीजी सोरों, कर्णवास आदि स्थानों से कभी-कभी इस पाठशाला को देख जाया करते थे।

कासगञ्ज के ही एक पं॰ दुर्गादत्त ने स्वामी जी की निन्दा में कई श्लोक रचे थे। उनमें से एक था-

*धर्मपादा दया लोके सा नष्टा कलिदोषतः।*

*आनन्दो हि गुणातीतो दयानन्दो निरर्थकः।।*

इसका उत्तर बाद में स्वामी दयानन्द ने अपनी रचनाओं में इस प्रकार दिया-

*दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,*
*सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यशरणा।*
*तदाख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रिपरमा,*
*सको दान्तश्शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः।।*

पं॰ अङ्गदराम शास्त्री ने स्वामी दयानन्द के उपदेश श्लोकबद्ध किए थे। उनमें से एक श्लोक था-

रुद्राक्ष तुलसी-कण्ठ-मालातिलकधारणम्।

पाखण्डं विजानीयात् पाषाणादिकाऽर्चनम्।।

पं॰ अङ्गदराम शास्त्री (पीलीभीत वाले) उन दिनों सोरों में आए थे। उनसे स्वामीजी के शिष्य पं॰ अङ्गदराम शास्त्री (बदरिया वाले) का शास्त्रार्थ भी हुआ था जिसमें पीलीभीत वाले शास्त्री पराजित हुए थे। इन शास्त्री महोदय को अपने पाण्डित्य पर बड़ा घमण्ड था और वे बड़ी आत्मश्लाघा किया करते थे। सोरों आने से पहले जब स्वामी जी कर्णवास में विराजमान थे, इन शास्त्री जी ने स्वामीजी को एक पत्र भेजा था जिसमें अपनी प्रशंसा में उन्होंने लिखा था-

*शेषः पातालके चास्ति स्वर्गलोके च बृहस्पतिः।*

*पृथिव्यामङ्गदः साक्षात् चतुर्थो नैव विद्यते।।*

अर्थात् पाताल में शेषनाग है, स्वर्गलोक में बृहस्पति है, पृथ्वी पर साक्षात् अङ्गद है, चौथा कोई नहीं है। स्वामी जी ने इसके उत्तर में एक बहुत लम्बी चिट्ठी लिखी थी जिसमें उसकी विद्वता की खूब खबर ली गई थी।

सोरों में कैलाशपर्वत ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए बरेली से पं० जगन्नाथ को बुला लिया था। वे आ भी गए थे परन्तु स्वामीजी के सम्मुखासीन नहीं हुए अपितु उन्होंने अपने पुराण-सिद्धि के पक्ष में मनुस्मृति का यह श्लोक लिख भेजा था कि 'इतिहास पुराणानि धर्मशास्त्राणि श्रावयेत्'। स्वामीजी ने इसके उत्तर में उन्हें लिख दिया था कि यहाँ पुराणानि से १८ पुराण अभिप्रेत नहीं है, प्रत्युत सनातन इतिहास अभिप्रेत है।

स्वामी जी की मूर्तिपूजादि की तीव्र आलोचना से विचलित होकर एक रात कुछ लोगों ने सोते हुए स्वामी दयानन्द को गङ्गा में डुबो देने का उपक्रम किया, परन्तु उन्होंने उनके निकट ही सो रहे एक अन्य साधु को गलती से ले जाकर गङ्गा में डुबो दिया। जब वह चिल्लाया कि मुझे बचाओ, तब उन्होंने उसे बाहर निकाला।

एक दिन महाराज उपदेश कर रहे थे। सभा-मण्डप श्रोताओं से खचाखच भरा था। तभी एक जाट क्रोध से भरा हुआ अपने हाथ में एक मोटा लट्ठ लिए हुए आया और स्वामीजी को सम्बोधित करके कहने लगा-'अरे साधु! तू मूर्तिपूजा का खण्डन करता है, गङ्गा मैया की निन्दा करता है, देवी-देवताओं को बुरा कहता है, झटपट बता कि तुझे लट्ठ कहाँ मारकर समाप्त कर दूँ।' यह सुनकर एक बार तो सारी सभा विचलित हो गई, परन्तु स्वामीजी ने अपनी शान्ति और धैर्य न खोया, अपितु गम्भीरता पूर्वक उसे कहा कि यदि तू यह समझता है कि मेरा धर्म-प्रचार करना अपराध है तो इसका अपराधी तो मेरा मस्तिष्क ही है, तू उसे ही लट्ठ मार! यह कहकर स्वामी जी ने अपनी दृष्टि उस पर डाली। जब परस्पर आँखें मिलीं त्यों ही उसका हिंस्रभाव लुप्त हो गया। वह रोकर स्वामी जी के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध की क्षमा याचना करने लगा। स्वामीजी ने उसे धैर्य बँधाया कि तुमने कोई अपराध नहीं किया है। व्यर्थ क्यों रो रहे हो, ईश्वर तुम्हें सन्मार्ग दिखावे।

एक दिन जो मौज आई तो सूर्योदय से पहले ही किसी को कुछ कहे बिना ही स्वामीजी सोरों से चल पड़े।

## कर्णवास (१८६८ ई०)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ज्येष्ठ संवत् १९२५ वि० अर्थात् मई, १८६८ ई० के अन्त में पुन: कर्णवास पधारे और वहाँ अपनी पूर्व वाली कुटिया में ही आकर ठहर गए। स्वामीजी के कर्णवास पुनरागमन का समाचार पाकर उनके भक्तगण उनकी सेवा में पूर्ववत् उपस्थित होने लगे और स्वामीजी भी उन्हें उपदेश देने लगे।

आगामी ज्येष्ठ शुक्ला दशमी अर्थात् ३१ मई (रविवार) को कर्णवास में गङ्गा दशहरा का मेला भरा। इस अवसर पर वहाँ आसपास के सहस्रों लोग जुटे। कर्णवास के निकटवर्ती एक ग्राम बरोली में एक बड़ा जमींदार रईस राव कर्णसिंह भी रहता था । वह बड़गूजर क्षत्रिय थाऔर वह वृन्दावन के प्रसिद्ध रङ्गाचारी चक्राङ्कित का शिष्य था। वह भी इस अवसर पर गङ्गास्नान के लिए अपनी ससुराल कर्णवास आया था। एक दिन जब स्वमी दयानन्द अपने लोगों को उपदेश कर रहे थे और उनकी शङ्काओं का समाधान कर रहे थे तभी राव कर्णसिहं भी स्वामी जी की सभा में अपने अनुचरों के साथ आया और उसका स्वामीजी से कुछ इस प्रकार का वार्तालाप हुआ-

*कर्णसिंह*- हम कहाँ बैठें?

*स्वामीजी*- जहाँ आपकी इच्छा हो।

*कर्णसिंह*- हम तो जहाँ आप बैठे हैं, वहाँ बैठेंगे।

*स्वामीजी*-(अपनी शीतलपट्टी एक ओर कुछ खिसकाकर) तो आइए, यहाँ बैठिए।

*कर्णसिंह*- (बैठकर) आप गङ्गा को नहीं मानते?

*स्वामीजी*- गङ्गा जितनी है, उतनी मानते हैं।

*कर्णसिंह*- कितनी है?

*स्वामीजी*- हम संन्यासियों के लिए तो वह मेरे इस कमण्डल भर है, क्योंकि हमारे पास अन्य कोई पात्र नहीं है।
*कर्णवास*- गङ्गा की स्तुति में कुछ  श्लोक पढ़ता है।
*स्वामीजी*- यह बात तुम्हारी गप्प है। यह तो जल है, जल से मोक्ष नहीं होता। मोक्ष तो सत्कर्मों से होता है।
*कर्णसिंह*- हमारे यहाँ रामलीला होती है, वहाँ चलिए।
*स्वामीजी*- तुम कैसे क्षत्रिय हो, अपने महापुरुषों का स्वाङ्ग बनाकर उन्हें नचाते हो। यदि कोई तुम्हारे पुरखों का स्वाङ्ग बनाकर नचावे तो तुम्हें कैसा बुरा लगे? (उसके ललाट पर चक्राङ्कितों का तिलक देखकर) तुम क्षत्रिय हो, अपने ललाट पर यह भिखारियों का तिलक क्यों लगाया?और अपनी भुजाएँ क्यों दग्ध की हैं?
*कर्णसिंह*- (क्रोध में आकर) यह हमारा परम मत है, यदि तुमने इसका खण्डन किया तो हम तुम्हारे साथ बुरी तरह से पेश आएँगे।

स्वामीजी शान्त और गम्भीरतापूर्वक चक्राङ्कित मत का खण्डन करते रहे और उसके क्रोध की बिल्कुल भी परवाह नहीं की। कर्णसिंह के तन में स्वामी जी के खण्डन-वचन सुनकर आग लग गई और उसने अपनी म्यान से अपनी तलवार निकाल ली।

*स्वामीजी*- (कुछ भी भय न करते हुए) यदि सत्य कहते हुए मेरा शिर कटता है, तो तुम्हें अधिकार है, तुम मेरा शिर काट लो। यदि शस्त्रार्थ करना हो तो जयपुर आदि के राजाओं से जाकर भिड़ो। पर यदि शास्त्रार्थ करना हो तो अपने गुरु रङ्गाचारी को वृन्दावन से बुला लो और उनसे प्रतिज्ञा लिखा लो कि यदि वह हार जाए तो वह अपना यह मत छोड़ दे।
*कर्णसिंह*- (क्रोधित होकर) महाराज रङ्गाचारी के सामने तू कीड़े के तुल्य है, तुझ जैसे तो उसके सामने जूतियाँ उठाते हैं।
*स्वामीजी*- (केवल इतना ही कहा) रङ्गाचारी की मेरे सामने क्या गति है!

कर्णसिंह इसी प्रकार स्वामीजी को गालियाँ देता रहा और स्वामी जी पद्मासन लगाए उन्हें धैर्यपूर्वक सुनते रहे। तभी कर्णसिंह ने स्वामीजी पर अपनी तलवार से वार किया, परन्तु स्वामीजी ने उसके हाथ से वह तलवार छीनकर और उसे भूमि पर टेककर तोड़ दियाऔर उससे कहा कि यदि तू कहे तो यह तलवार अब तेरे शरीर में ही घोंप दूँ? इस पर स्वामी जी के भक्त ठाकुर किशनसिंह खड़े हो गए और कर्णसिंह से कहा कि यदि तूने स्वामीजी को अब कोई अपशब्द कहे तो अभी फौजदारी हो जाएगी। तुझे यदि स्वामीजी का उपदेश नहीं सुनना है, तो यहाँ से चला जा। इस पर कर्णसिंह घबराकर वहाँ से अपने डेरे पर चला गया। कुछ लोगों ने  इस घटना की रिपोर्ट थाने में लिखाने का परामर्श दिया, पर स्वामीजी ने उन्हें कहा कि यदि वह अपने क्षत्रित्व के धर्म से पतित हो गया तो मैं भी क्या अपने ब्राह्मणत्व के धर्म से पतित हो जाऊँ? अन्त में स्वामीजी ने यह श्लोक पढ़ा-

*धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।*
*तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्।।*

कर्णसिंह इस प्रकार लज्जित और तिरस्कृत होकर अपने घर पहुँचा। वहाँ उसका एक बहुत ही प्रिय घोड़ा अकस्मात् रोगग्रस्त होकर मर गया। तब लोगों की ऐसी धारणा बन गई कि दयानन्द जैसे महात्मा को कुवाच्य कहने का यह परिणाम हुआ। वर्षा के कारण उसकी रामलीला भी पूरी न हो सकी और रावण तक न जल सका। स्वयं कर्णसिह को भी एक भयङ्कर शूल उठा जिससे उसे बहुत कष्ट हुआ। एक पण्डित जी ने उससे कहा कि यह सब तुम्हारे उस महात्मा को दुर्वाच्य कहने का प्रतिफल ही है। इस पर उसने कई रुपयों का मिष्टान्न स्वामीजी की

सेवा में भेजा और अपने अपराध की उनसे क्षमा माँगी। पर स्वामी दयानन्द ने वह मिष्टान्न यह कहकर उसे लौटाल दिया कि कर्णसिंह ने हमारे प्रति कोई अपराध नहीं किया है। इस प्रकार दयानन्द की दया यहाँ प्रतिफलित हुई।

शरत्पूर्णिमा (१ अक्टूबर, १८६८ ई०) को राव कर्णसिंह पुन: गङ्गास्नान के लिए कर्णवास आया और बारादरी में ठहरा। उसने देखा कि स्वामी जी अभी तक अपनी उसी कुटिया में विराजमान हैं और नि:संकोच होकर वेदविरुद्ध मतों का खण्डन कर रहे हैं। अत: उसके मन में पुन: उन्हें हानि पहुँचाने का कुत्सित विचार उत्पन्न हुआ। इस बार उसने स्वयं उनके सामने न जाकर कुछ बैरागियों को स्वामी जी का शिर काटकर लाने को कहा।

इन दिनों स्वामी जी प्राय: निर्वस्त्र ही रहते थे। रात्रि में जाड़े के दिनों में वे अपने शरीर को केवल पुआल से ढक लेते थे। कैथलसिंह नामक एक व्यक्ति उनकी पहरेदारी पर नियुक्त रहता था, वह रात्रि में उनके सोते समय उन्हें कम्बल उढ़ा देता था। उस रात कर्णसिंह के तीन सेवक तलवार लेकर स्वामीजी का शिर छेदन करने के निमित्त कुटिया पर आए पर उनका साहस उसमें प्रवेश करने का न हुआ। खटका सुनकर स्वामीजी की नींद खुल गई। कैथलसिंह सोता ही रहा। इस प्रकार कर्णसिंह के सेवक बार-बार उसके कहने पर साहस करके कुटिया तक स्वामी जी को मारने आते पर हर बार उनका साहस दगा दे जाता। ऐसे में एक बार कर्णसिंह स्वयं अपने सेवकों के साथ कुटिया तक आया और सेवकों को खूब गालियाँ दीं। सो जैसे-तैसे वे कुटी के द्वार तक आए और आवाज दी कुटिया में कौन है? स्वामी जी ने कुटिया से बाहर निकलकर हुङ्कार भरी- कौन? इस हुङ्कार को सुनकर सभी सेवकों के पैर उखड़ गए, उनकी तलवारें हाथ से छूट गईं तथा वे एक-दूसरे पर गिर पड़े। इस हलचल में कैथलसिंह भी जाग गया। उसने स्वामी जी से कहा कि आप अन्यत्र चले जाइए, पर स्वामीजी दृढ़ ईश्वर-विश्वासी थे, वे वहीं डटे रहे और गीता का यह श्लोक पढ़ा-

*नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक:।*
*न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत:।।*

और कैथलसिंह को कहा कि 'मुझे कोई नहीं मार सकता, हमारा रक्षक मनुष्य ही नहीं दैव है। घबरा मत, मैं उसी का शस्त्र लेकर उससे उसी का हनन कर डालूँगा।' बाद में कैथलसिंह ने कर्णवास के सभी क्षत्रियों को वहाँ बुला लिया जिससे कर्णसिंह वहाँ से चला गया। घर पहुँचकर वह विक्षिप्त सा रहने लगा। एक बड़ा मुकद्दमा भी हार गया। इससे उसकी बहुत दुर्गति हुई।

## अम्बागढ़, सरदोल (१८६८ ई०)

कर्णवास की उक्त घटना के बाद स्वामीजी चार-पाँच दिन और कर्णवास में ही रहे। इसके बाद वे अक्टूबर, १८६८ ई० के मध्य में अम्बागढ़ आ गए। यहाँ थोड़े दिन रुककर वे अम्बागढ़ से सरदोल आ गए। सरदोल में वहाँ के जमींदार ठा० हुलाससिंह और कतिपय अन्य क्षत्रियों ने स्वामीजी की शिक्षा ग्रहण की।

## शहबाजपुर (१८६८ ई०)

सरदोल से स्वामी दयानन्द सोरों से चार-पाँच कोश की दूरी पर स्थित गाँव शाहबाजपुर आए। सोरों में जब स्वामी जी के शाहबाजपुर आने का समाचार पहुँचा तो वहाँ से उनके भक्त बलदेवगिरि और पं० अयोध्याप्रसाद व नारायण पण्डित उनसे मिलने के लिए शाहबाजपुर आए। इन लोगों ने स्वामीजी को सोरों में उसी दिन मथुरा से आया हुआ यह समाचार दिया कि मथुरा में आश्विन कृष्णा १३, संवत् १९२५ वि० तदनुसार १४ सितम्बर, १८६८ ई० को उनके गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द जी का देहावसान हो गया था। तब स्वामी जी ने शोकातुर होकर यह

कहा था कि 'आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया!' इसके बाद उन्होंने अपने को सम्हाल कर उपदेश करना आरम्भ कर दिया।

दो बैरागी गङ्गा पार से शाहबाजपुर एक ठाकुर के पास आए। उनमें से एक ठाकुर का मित्र था। उसने उस ठाकुर से तलवार माँगी और कहा कि हम इससे इस गप्पाष्टक स्वामी का शिर काटेंगे। यह ठाकुर स्वामी जी का उपदेश सुन चुका था और उनका भक्त बन चुका था। इसलिए उसने बैरागी को दुत्कारा और उसे कहा कि वह तो बड़े महात्मा हैं। दुष्टो! यदि तुमने फिर यह बात अपने मुख से निकाली तो मैं ही तुम्हारा शिर काट डालूँगा। जाओ और मेरे सामने से दूर हो जाओ। वे तथा कुछ अन्य ठाकुर इसके बाद शस्त्र धारण करके स्वामी जी के पास गए और उन्हें सब वृतान्त सुनाकर रात भर स्वामी जी की पहरीदारी करते रहे।

एक चक्राङ्कित ठाकुर स्वामी जी के पास आया और धर्मसम्बन्धी कछ प्रश्न उनसे पूछे। वह निरुत्तर होकर स्वामी जी से अण्ड-बण्ड बकने लगा। इस पर उन पहरेदार ठाकुरों ने उससे कहा कि सम्हालकर स्वामी जी से बोल, अन्यथा तू हमारे हाथों पीटा जाएगा। यह सुनकर वह वहाँ से चला गया। उस ठाकुर का नाम गङ्गासिंह था। वह कई ग्रामों का जमींदार था।

शाहबाजपुर के मायाराम उदासी ने स्वामी जी से कहा कि आप मूर्तिपूजा आदि का खण्डन करके क्यों लोगों की शत्रुता मोल लेते हैं? हमारी तरह मग्न रहिए और भोजन पाइए। तब स्वामी जी ने उसे कहा कि हमें तो ईश्वराज्ञा-पालन और वेद-प्रचार करने में ही आनन्द आता है।

## कादिरगञ्ज, नरदौली, ककोड़ा (१८६८ ई०)

शाहबाजपुर से स्वामी दयानन्द कादिरगञ्ज पधारे। वहाँ अधिकतर लोग वैष्णव मतावलम्बी थे। उनमें से कुछ लोग उनसे धर्मालाप करने आए, परन्तु वह हल्ला-गुल्ला करके ही चले गए। कादिरगञ्ज से स्वामीजी नरदौली पहुँचे जहाँ वे दश दिनों तक रहे। यहाँ जब उनके आगमन का समाचार दूर-दूर तक फैल गया तो बीस-बीस कोश दूर तक के लोग उनके दर्शनों के लिए आने लगे। अनेक पण्डित और पण्डितमन्य भी आए, परन्तु सब ही शास्त्रविचार में उनसे परास्त होकर चले गए। अनेक लोगों ने उनकी शिक्षा स्वीकार कर ली जिनमें मुख्य ला० लीलाधर , पं० मूलचन्द और पं० प्राणनाथ थे। स्वामी जी ने अनेक लोगों को सन्ध्योपासना की पुस्तक पढ़ाई और उन्हें सन्ध्योपासना करनी सिखाई। जब स्वामी जी नरदौली से जाने लगे तो ला० लीलाधर ने उन्हें कहा कि यहाँ से चार कोश की दूरी पर गङ्गा के तट पर ककोड़े में गङ्गा स्नान का बड़ा भारी मेला लगता है, जहाँ दूर-दूर से लाखों यात्री आते हैं, यदि आप वहाँ पहुँचे तो सहस्रों लोग आपके धर्मोपदेश का लाभ उठा सकते हैं। स्वामी जी ने उनका यह प्रस्ताव तत्काल स्वीकार करके कार्तिक शुक्ला १३, संवत् १९२५ वि० तदनुसार २९ अक्टूबर, १८६८ ई० को पं० प्राणनाथ को अपने साथ लेकर मेले में जा पहुँचे और उसमें पश्चिम की ओर ब्राह्मणों के स्थान पर डेरा किया। यहाँ उस दिन किसी ने उन्हें भोजन के लिए भी नहीं पूछा जिससे उन्हें और पं० प्राणनाथ को उस दिन निराहार ही रहना पड़ा। तब अगले दिन पं० प्राणनाथ नरदौली चले गए ताकि स्वामी जी के लिए वहाँ से भोजन ले आवें। नरनौली पहुँचकर उन्होंने यह सब वृतान्त  ला० लीलाधर को बताया जिससे उन्होंने मूलचन्द को कहकर तत्काल भोजन बनवाकर उनके द्वारा ककोड़ा भेजा, परन्तु उनके मेले में पहुँचने से पहले ही सोरों के बलदेव गिरि, पं० अङ्गदराम और कतिपय अन्य सज्जनों ने मेले में पहुँचकर स्वामी जी के भोजनादि का  सब प्रबन्ध कर दिया था। जब पं० मूलचन्द वहाँ पहुँचे तो उन्होंने देखा कि स्वामी जी के पास अनेक प्रकार के पकवान और मिष्टान्नादि रखे हुए हैं और उनके पास सोरों के अनेक भक्तजन भी बैठे हुए हैं। तब महाराज ने पं० मूलचन्द को

वहाँ देखकर उन्हें अपने पास बुला लिया। पण्डित जी ने लाया हुआ भोजन भी स्वामीजी के पास रख दिया। स्वामीजी ने फिर पूछा कि क्या अन्य लोग भी यहाँ आ रहे हैं? तब स्वामी जी को उत्तर मिला कि बहुत से लोग आ रहे हैं। स्वामीजी ने कहा कि हमारे पास पर्याप्त खाद्य सामग्री है, आप सब लोग भोजन करके मेरे पास आ जाओ। बलदेव गिरि ने स्वामीजी के स्थल पर कनात लगवा दी और उनके बैठने के लिए उच्चासन बनवाकर वहाँ गद्दे डलवा दिए।

राय बालमुकुन्द डिप्टी कलेक्टर भी एक दिन इस मेले में आए। उन्होंने देखा कि एक स्थान पर सहस्रों मनुष्यों की भीड़ लगी हुई है। कारण पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वहाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती का उपदेश हो रहा हैं। जब वे स्वयं उस स्थान पर पहुँचे तो देखा कि एक अँग्रेज पादरी स्वामी जी के साथ प्रश्नोत्तर कर रहा है, एक देशी पादरी दुभाषिए का काम कर रहा है, क्योंकि स्वामी जी तब केवल संस्कृत में ही बोलते थे।

अन्य धर्म विषयक प्रश्नोत्तरों के अलावा वहाँ उस समय निम्न प्रश्नोत्तर भी हुए थे–

*पादरी*– आप नङ्गे क्यों रहते हैं?

*स्वामीजी*– सुख के लिए, इससे सुख रहता है। आपके कपड़ों पर यदि धूल गिर जाए तो वे मैले हो जाएँ। मेरे शरीर पर यदि गिर जाए तो कोई हानि नहीं, क्योंकि इस पर पहले से ही मिट्टी मली हुई है।

*पादरी*– आप खूब तन्दुरुस्त और मोटे हैं।

*स्वामीजी*– इसका कारण सन्तोष है।

*पादरी*– खूब माल खाते हैं।

*स्वामीजी*– मेरे साथ दिन-रात जङ्गल में रहकर देख लो, मैं क्या माल खाता हूँ।

बरेली के पण्डित उमादत्त कई पण्डितों के साथ स्वामी जी से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करने के लिए आए थे। वे थोड़ी देर में ही निरुत्तर हो गए। तब उन्होंने कहा कि महाभारत से मूर्तिपूजा सिद्ध होती है, क्योंकि एकलव्य भील ने द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर उनसे धनुर्विद्या सीख ली थी। इस पर स्वामी जी ने कहा कि अज्ञानी भील एकलव्य का कर्म धर्म विषय में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। उन्होंने दुर्योधन का भी उदाहरण दिया तो स्वामी जी ने कहा कि महामूढ़ दुर्योधन का कर्म भी इस विषय में अमान्य है। पं० उमादत्त ने फिर भगवद्गीता के कुछ श्लोक प्रस्तुत किए। स्वामी जी ने उनकी ऐसी व्याख्या की कि उसे सुनकर सब लोग हँस पड़े। स्वामी जी ने पं० उमाशङ्कर के शुद्ध उच्चारण की प्रशंसा की और कहा कि आप साक्षर हैं।

गोविन्ददास एक कायस्थ था जो बैरागी हो गया था। उसके साथ कई ब्राह्मणों के लड़के थे। वह उन्हें अपना उच्छिष्ट खिलाता था और उनसे अपनी सेवा कराया कराता था तथा वह उन लड़कों के हाथों में गोमुखी देकर उनसे जप कराता था कि 'हरि भजो सब छोड़ो धन्धा।' एक दिन जब वह प्रातःकृत्य करने के बाद अपने स्थल को वापस आ रहा था, तब स्वामी जी का घाट पर उससे साक्षात् हो गया। स्वामी जी ने उससे कहा कि तुम सब शुभ काम कैसे छुड़ाते हो और सब काम कैसे छूट सकते हैं? भोजन करना आदि कर्म कैसे छूट जाएँगे? इसका उसने कुछ उत्तर न दिया। तब स्वामी जी ने उसके मत का खण्डन किया, परन्तु वह सर्वथा मौन ही रहा।

कायमगञ्ज के पं० श्यामलाल भी यहाँ स्वामी जी से मिले। स्वामी जी ने उनसे पूछा कि आप कहाँ रहते और क्या काम करते हो? उन्होंने कहा कि मैं कायमगञ्ज में रहता हूँ और कथा-पुराण वाँचता हूँ। स्वामीजी ने फिर पूछा कि कौन सी कथा? तो उन्होंने कहा कि आजकल ब्रह्मवैवर्त-पुराण का कृष्ण खण्ड वाँच रहा हूँ। स्वामीजी ने कहा कि २० दिन में यह शरीर वहाँ पहुँच जाएगा, शीघ्र समाप्त कर लो ताकि तुम्हारी हानि न हो।

उस अँग्रेज पादरी के अतिरिक्त अन्य पादरी, मुसलमान और मौलवी भी स्वामीजी से धर्मविषयक बातचीत करने के लिए आए, परन्तु सब ही निरुत्तर होकर एक-एक करके वापस लौट गए। यही दशा पौराणिक पण्डितों की भी हुई।

## नारदौली (१८६८ ई०)

इस प्रकार धर्म-मेघ बरसाकर और धर्म-चातकों की पिपासा को शान्त करके स्वामीजी मार्गशीर्ष कृष्णा १० संवत् १९२५ वि० तदनुसार ९ नवम्बर, १८६८ ई० (सोमवार) को नारदौली वापस लौट आए जहाँ उन्होंने एक संन्यासी से जीव-ब्रह्म की एकता पर शास्त्रार्थ किया। इस शास्त्रार्थ में इस संन्यासी की भी वही गति हुई जो अन्यों की स्वामीजी से होने में होती आई थी।

नारदौली में स्वामी जी के उपदेश से रामपुरी गोसाईं ने अपनी मूर्तियाँ गङ्गा में फेंक दीं। पुन: वे मार्गशीर्ष कृष्णा ११ संवत् १९२५ वि० तदनुसार १० नवम्बर, १८६८ ई० (मङ्गलवार) को कायमगञ्ज के लिए प्रस्थित हुए।

## कायमगञ्ज (१८६८ ई०)

मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष संवत् १९२५ वि० तदनुसार १५ नवम्बर, १८६८ ई० के बाद किसी दिन स्वामी दयानन्द कायमगञ्ज पहुँचे और वहाँ हरिशङ्कर पाण्डे के शिवालय में ठहरे जो इस नगर के बाहर उत्तर की ओर है। इस समय वे यहाँ कोई २०-२२ दिनों तक रहे। इस समय वे केवल एक कौपीनमात्र ही पहनते थे और संस्कृत में सम्भाषण करते थे। यहाँ रहते हुए जब एक बार उनके भोजन का समय हुआ तो आगन्तुकों ने उन्हें कहा कि आप स्नान करके भोजन कर लीजिए। तब स्वामी जी ने उन्हें कहा कि हमारे पास पहने हुए इस लँगोट के अतिरिक्त और कोई वस्त्र नहीं है। यहाँ माएँ (स्त्रियाँ) भी आती हैं और जब तक यह लँगोटी स्नान करने के बाद पुन: सूख न जाएगा, तब तक हम उसे पुन: धारण न कर सकेंगे। इसलिए मुझे स्नान करने के बाद उसके सूख जाने तक नग्न ही रहना पड़ेगा। तब उन लोगों ने पास के ला० गिरधारीलाल के बाग में ले जाकर उन्हें वहाँ स्नान और भोजन कराया।

कायमगञ्ज में वे एक बार सन्ध्योपासन का उपदेश दे रहे थे। किसी ने कहा हम लोग त्रिकाल सन्ध्या करते हैं। स्वामी जी ने कहा कि नहीं सन्ध्या तो प्रात: सायं दो बार ही करनी चाहिए। स्वामी जी ने उस समय चार-पाँच व्यक्तियों को सन्ध्या लिखवा दी जिसे वे लोग आगे करते रहे। यहाँ स्वामी जी का किसी से शास्त्रार्थ नहीं हुआ।

एक दिन मऊ रशीदाबाद परगना कम्पिल के १०-१५ मुसलमान आए। उनके आने से पहले स्वामी जी की पण्डितों से मूर्तिपूजा पर बात हो रही थी। इतने में उनने आकर स्वामीजी से अपने पैगम्बर और इस्लाम की चर्चा की, परन्तु स्वामीजी ने उन सबको बुद्धिपूर्वक उत्तर दिए और उन्हें निरुत्तर कर दिया।

लोगों ने कहा कि स्वामीजी आपके पास कोई पात्र भी नहीं है, तब स्वामीजी ने कहा कि हमारे हाथ ही पात्र हैं अर्थात् हम तो करपात्री हैं!

पं० हरिशङ्कर पाण्डे के शिवालय में स्वामीजी से किसी ने पूछा कि यह क्या है? स्वामीजी ने उसे कहा कि तुम तो यह स्वयं ही कहते हो कि शिवालय तो कैलाश पर है, क्योंकि शिवजी वहाँ पर रहते हैं। इसलिए यह तो सराय अथवा बैठक ही है। किशनसिंह ने पूछा कि आप शिवलिङ्ग पूजा का निषेध करते हैं, परन्तु इसका तो शास्त्रों में लेख है। स्वामीजी ने तब कहा कि यह कितने लज्जा की बात है कि तुम लिङ्ग की पूजा करते हो। फिर जब यह लिङ्ग शिव से अलग होकर यहाँ आ गया तो कैलाश का शिव तो वहाँ हिजड़ा ही रह गया!

एक दिन एक मनुष्य भोजन के साथ अचारी (अचार) भी साथ लाया। उसने पूछा स्वामीजी आप अचारी खाएँगे। स्वामीजी ने कहा कि अवश्य खाऊँगा, क्योंकि मैं तो इसके मत का खण्डन करता हूँ।

मौलवी अहमदअली उपनाम टोबान से मनुष्योत्पत्ति पर बात चली तो स्वामीजी ने उनसे पूछा कि आदम-हव्वा का वियोग क्यों हुआ? खुदा ने उनके मन में प्रेम क्यों न उत्पन्न कर दिया, जो वियोग का दु:ख न सहते। इसका मौलवी साहब कोई उत्तर न दे सके। अलबत्ता वे स्वामी जी की इस बात से प्रसन्न हुए और कहा कि यह फकीर बहुत बड़ा आलिम (विद्वान्) है और बुतपस्त नहीं है।

एक दिन स्वामीजी बाग में नीचे बैठे हुए थे, तभी पादरी अनलन, हरप्रसाद व कतिपय अन्य ईसाई आकर उनसे ऊँचे स्थान पर बैठ गए। अन्य लोगों ने इस पर आपत्ति की। तब स्वामी जी ने कहा कि बहुत से पक्षी भी तो ऊपर बैठे हुए हैं। इन्हें भी पक्षी ही समझ लो, इन्हें टोको नहीं। उन्होंने स्वामी जी से पूछा कि हम पापी हैं, हमारे पाप कैसे क्षमा होंगे? स्वामीजी ने उन्हें कहा कि पाप कभी क्षमा नहीं हो सकते।

एक ब्राह्मण लज्जावर्धन अग्निहोत्री ने कहा कि सत्यनारायण की कथा कराने के लिए रुपया चढ़ाने का सङ्कल्प करते हैं, तो काम सिद्ध हो जाते हैं, इसे आप क्योंकर विरुद्ध बताते हो? स्वामीजी ने कहा कि मान लो हम ५ रुपये सत्यनारायण को दिखाकर लखपति बनना चाहें, तो क्या बन जाएँगे? इस पर ब्राह्मण मौन होकर रह गया। लोग हवन में जौ डालते थे, उनको स्वामीजी कहते थे कि जौ तो पशुओं का भोजन है। स्वयं तो ये लोग पूरी खाते हैं और उन देवताओं को जौ खिलाते हैं जो अमृत के पीने वाले हैं! इसलिए श्रेष्ठ पदार्थों से हवन करना चाहिए।

स्वामी जी कहा करते थ कि 'अन्नं न निन्द्यात्' अर्थात् अन्न की निन्दा न करे। इसलिए स्वामी जी जो जैसा अन्न लाता था, उसे ग्रहण कर लेते थे और बचे हुए को अन्यों में बाँट देते थे।

एक ब्राह्मण बस्तीराम गौड़ बहुत दुबला-पतला था, वह वहाँ एक दिन बैठा हुआ था। स्वामी जी ने बात-चीत करते हुए दृष्टान्त दिया कि जो लोग अधिक विषयभोग और स्त्री-प्रसङ्ग करते हैं, उनकी ऐसी ही दुर्दशा हो जाती है। एक बलिष्ठ व्यक्ति की ओर सङ्केत करके उन्होंने कहा कि जो लोग विषयभोग की ओर बहुत आकृष्ट नहीं होते, वह ऐसे बलिष्ठ होते हैं!

लड़का-लड़की के उत्पन्न होने पर इस देश में नीच जाति की स्त्रियाँ उत्तम घरों में जाकर नाड़ी छेदन और धात्री का काम करती हैं और उनके मुख में अपनी उँगलियाँ डालती है, यह बहुत बुरी बात है। घर की स्त्रियों को चाहिए कि वे यह कार्य स्वयं करें ताकि ताकि उनकी बुद्धि तीव्र हो। ऋतुगामी होने को वह उचित बतलाते थे।

बाग वाले गिरधारीलाल ने स्वामी जी से कहा कि आपके आने से मेरा घर पवित्र हो गया है। उन्होंने यह भी कहा कि कुछ कमी हो तो बता दीजिएगा, क्योंकि मैं कुछ करना चाहता हूँ। स्वामी जी ने कहा कि तुम और कुछ मत करो, केवल एक यज्ञ-संस्कार करा दो। स्वामी जी के कथनानुसार उसने अपने यहाँ हवन कराया। आठ-दस ब्राह्मण इसके लिए बुलाए गए, स्वामी जी ने इन ब्राह्मणों को हवन के मन्त्र लिखवाए और सम्भवत: स्वयं भी मन्त्र पढ़े। हलवा, मेवा, घी आदि सुगन्धित पदार्थों से यह हवन हुआ था।

एक पहाड़ी ब्राह्मण स्वामी जी को रसोई बनाकर खिलाता था। सभी लोग अच्छी-अच्छी वस्तुएँ उनके लिए लेकर आते थे, पर वह सब वहीं पड़ी रहती थीं। रात को वह दूध अवश्य पीते थे। १२ बजे रात तक लोग उनके पास डटे रहते थे। तब वह 'गच्छ-गच्छ' कहते और सब लोग अपने-अपने घरों को चले जाते थे।

## कम्पिल, शुकरुल्लापुर (१८६८ ई०)

कायमगञ्ज से मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष संवत् १९२५ वि० तदनुसार नवम्बर, १८६८ ई० के उत्तरार्ध में कम्पिल

होते हुए स्वामी दयानन्द शुकरुल्लापुर (जिला- फर्रुखाबाद) सायंकाल पधारे जब वर्षा हो रही थी। पहुँचे [४३२]। यहाँ के रईस चोखेलाल ने स्वामी दयानन्द को अपने बाग में ठहराने का आग्रह किया। परन्तु इनके बाग का दरबाजा गाँव की बस्ती की ओर था और इसमें पहुँचने के लिए बस्ती में से होकर जाना पड़ता था। निदान पं० चोखेलाल ने तुरन्त बाग की दीवार तोड़कर स्वामीजी के लिए सड़क की ओर से एक दरबाजा बनवा दिया।

स्वामीजी ने शुकरुल्लापुर में रहते हुए महाभारत के शान्ति पर्व की अनेक शिक्षाप्रद कथाएँ लोगों को सुनाई थीं। पं० चोखेलाल की स्त्री वन्ध्या थी और वे स्वयं संग्रहणी रोग के रोगी थे। उन्होंने स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट चिकित्सा से निरोगी होकर उनकी अनुमति से दूसरा विवाह भी किया था जिससे बाद में उनकी कई सन्तानें हुईं। वे आजीवन स्वामी जी के उपदेशानुसार ही सन्ध्या, अग्निहोत्र और अन्य आह्निक कर्म करते रहे[४३३]। इनके बहनोई पक्के मूर्तिपूजक थे, परन्तु स्वामीजी की विद्या और सत्य सङ्कल्प की सदा प्रशंसा किया करते थे। इन्होंने पीछे अपने पुत्र पं० गङ्गाधर को सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका नामक स्वामी जी के ग्रन्थ बुलवकर पढ़वाए थे। वे कहा करते थे कि 'मेरे समान अनेक मनुष्य जो सांसारिक विषयों में डूबकर अपना कर्त्तव्य भूले हुए थे, स्वामीजी के उपदेश से मनुष्यत्व को प्राप्त हुए हैं।'

## फर्रुखाबाद (१८६८-६९ ई०)

पौष संवत् १९२५ वि० तदनुसार दिसम्बर, १८६८ के अन्त में स्वामी जी दूसरी बार पं० चोखेलाल के साथ शुक-रुल्लापुर से मझोली में सबार होकर फर्रुखाबाद के मऊ दरबाजे पर उतरे जहाँ से वे पैदल ही चार मील दूर गङ्गातट पर वहाँ बनी लाला जगन्नाथ की विश्रान्त में पहुँचकर ठहर गए। फर्रुखाबाद के लाला जगन्नाथ से स्वामी जी का परिचय उनकी प्रथम फर्रुखाबाद यात्रा में ही हो गया था। तभी से वे उनके श्रद्धालु भक्त बन गए थे और उनके निर्देशानुसार ही उन्होंने सन्ध्या करनी आरम्भ की हुई थी। पीछे उन्होंने अपना गृहानुष्ठान भी स्वामी जी की उपदिष्ट पद्धत्यनुसार ही किया था और उन्होंने अपने पुत्र का नामकरण संस्कार तथा माता जी का अन्त्येष्टि संस्कार भी स्वामी जी की निर्दिष्ट पद्धति से ही कराया था।

लाला जगन्नाथ ने विश्रान्त में स्वामी जी के लिए कुछ पुआल डलवा दी थी। स्वामी जी उसी को बिछाकर और ओढ़कर सो जाया करते थे। कम्बल आदि लोग उन्हें देना चाहते थे, पर वे उसे नहीं लेते थे। उनके उपदेशों को श्रवण करने के लिए सब प्रकार के सहस्रों लोग जुटते थे। इन उपदेशों में साधारण धर्म सम्बन्धी शिक्षा के अतिरिक्त मूर्तिपूजा आदि अवैदिक क्रियाओं का तीव्र खण्डन तथा सन्ध्योपासना, अग्निहोत्रादि पञ्चमहायज्ञों को करने की लोगों को प्रेरणा दी जाती थी।

लाला द्वारकाप्रसाद, गिरधारीलाल, जगन्नाथ आदि कई सज्जनों ने स्वामी जी से विधिपूर्वक यज्ञोपवीत ग्रहण किया था। जगन्नाथ के घर पर तो यज्ञवेदी निर्मित करके पुष्कल हवन सामग्री से होम हुआ था जिसमें उन्होंने विधिपूर्वक यज्ञोपवीत धारण किया था। बा० दुर्गाप्रसाद जी ने भी अपने घर पर संस्कारपूर्वक यज्ञोपवीत धारण किया था। लाला जगन्नाथ के यज्ञोपवीत पर पौराणिक पण्डितों ने यह कहना आरम्भ कर दिया था कि यह यज्ञो-पवीत बड़ा ही अनिष्टकारी होगा। क्योंकि पहले तो इसमें गणेशपूजन नहीं हुआ, दूसरे शुक्रास्त के समय हुआ है।

---

४३२- जीवनी लेखकों से यहाँ लिखने में कुछ त्रुटि हुई है। कायमगञ्ज से शुकरुल्लापुर पूर्व में है और कम्पिल पश्चिम में। तीनों ही आजकल रेलवे स्टेशन हैं। मैं स्वयं भी फर्रुखाबाद जिले का ही मूल निवासी हूँ और इन सब स्थानों पर अनेक बार जा चुका हूँ।

४३३- मेरे पिताजी (जीवनकाल १९०७-८८ ई०) मुझे बताते थे कि इनके परिवार में स्वामी दयानन्द का आया हुआ एक पत्र विद्यमान था। शुकरुल्लापुर मेरे जन्म ग्राम चिलसरा का निकटवर्ती एक रेलवे स्टेशन है। *-आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

फर्रुखाबाद के सुखवासीलाल और झुन्नीलाल प्रभृत्ति कुछ साध लोग स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुआ करते थे। उनमें से एक ने स्वामी जी से कहा कि हम भी मूर्तिपूजा नहीं करते, केवल ईश्वर को मानते हैं, परन्तु वेद को नहीं मानते हैं। इस पर स्वामी जी के उत्तर से असन्तुष्ट होकर कुछ साध लोग सभा से उठकर चले गए। परन्तु सुखवासी लाल बराबर आते रहे और स्वामी जी के उपदेशों का निरन्तर लाभ उठाते रहे।

एक दिन सुखवासी लाल स्वामीजी के लिए अपने घर से कढ़ी और भात बनवाकर लाए जिसे स्वामीजी ने प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर लिया। इस पर ब्राह्मणों ने कहा कि स्वामी जी भ्रष्ट हो गए हैं क्योंकि उन्होंने साधों के घर का बना भोजन खा लिया है। स्वामीजी ने कहा कि भोजन दो प्रकार से भ्रष्ट होता है। एक तो यदि कोई किसी को दु:ख देकर धन प्राप्त करे और उस धन से भोजन बनाकर लावे, दूसरे वह मलिन हो और उसमें कोई मलिन वस्तु गिर जावे। हमारा भोजन तो इस प्रकार का नहीं था।

गङ्गाराम शास्त्री बरतिया वाले बहुत डींग हाँका करते थे कि हम स्वामीजी से शास्त्रार्थ करेंगे, पर वे इसके लिए उनके सामने कभी नहीं आए। अलबत्ता उन्होंने स्वामी जी के पड़ाव स्थल से कुछ दूरी पर भगवद्‌गीता की कथा आरम्भ कर दी थी। तब स्वामी जी ने उन्हें कहलवा भेजा कि यदि शास्त्री जी हमारे समने गीता के निम्न श्लोक का अर्थ कर देंगे तो हम परास्त हो जाएँगे–

*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।*

*क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।। गीता (१३/२)*

इसका जो अर्थ शास्त्री जी ने किया उस पर स्वामी जी ने यह कटाक्ष किया कि उन्हें उत्तर नहीं आया। एक दिन सुखवासीलाल साध ने शास्त्री जी को गङ्गातट पर जा पकड़ा और उन्हें कहा कि आज हमारे साथ स्वामी जी के पास चलो और शास्त्रार्थ करो। इस पर शास्त्री जी ने घबराकर वहाँ से भागकर अपना पीछा छुड़ाया। एक दिन यह शास्त्री गङ्गा स्नान करके आ रहा था, किसी ने स्वामी जी को बता दिया कि यही गङ्गाराम शास्त्री है, तो वह अपना रास्ता बदलकर वहाँ से निकल गया।

गङ्गाराम शास्त्री को स्वामी जी के अगाध पाण्डित्य का परिज्ञान न था। अत: उसने अपने पुत्र और एक शिष्य को स्वामी जी के पास इसकी थाह लेने भेजा। जिस समय ये दोनों स्वामी जी के पास पहुँचे, उस समय बा० दुर्गाप्रसाद रईस के पुरोहित पं० गङ्गादास को स्वामीजी मनुस्मृति पढ़ा रहे थे। इन दोनों युवकों ने स्वामी जी के पास पहुँचकर उन्हें अभिवादन किया। स्वामीजी ने भी उन्हें '*आयुष्मान् भव*' का आशीर्वाद दे दिया। पर वे इतने भर से सन्तुष्ट न हुए और स्वामीजी से कह बैठे कि अहङ्कारी चाण्डाल होता है। जब स्वामी जी पं० गङ्गादास का पाठ समाप्त कर चुके तो उन्होंने उन युवकों से कहा कि अब कहो कि तुम क्या कह रहे थे। इस पर उन युवकों ने अपना कथन दुहरा दिया। स्वामीजी ने तब उनसे पूछा कि क्या तुम जानते हो कि अहङ्कार क्या वस्तु होती है? मुझे अहङ्कारी कहने से क्या तुमने स्वयं अहङ्कार नहीं किया? मनुष्य को मिथ्याभिमान नहीं करना चाहिए। इस पर इन युवकों ने स्वामी जी को परामर्श दिया कि आप सदृष्य महानुभाव को अहङ्कार नहीं करना चाहिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि कार्य में प्रवृत्ति अहङ्कार नहीं है। संसार में जितने भी कार्यकुशल व्यक्ति हुए हैं, वे राम-कृष्णादि महापुरुष प्रवृत्त कर्त्तव्य पालन के पश्चात् ही अन्य कार्य आरम्भ करते थे। स्वामीजी का ऐसा कथन सुनकर वे दोनों युवक- 'हाँ-हाँ महाराज! ठीक है।' कहकर वहाँ से चले गए। इन युवकों ने गङ्गाराम शास्त्री के पास वापस जाकर उन्हें सब वृतान्त कह सुनाया और स्वामीजी के मनुस्मृति पढ़ाने के ढङ्ग तथा उनकी विद्या की उनसे बहुत प्रशंसा की तो वह फिर आगे शास्त्रार्थ करने के लिए कभी उद्यत न हुए।

स्वामीजी के आगमन से फर्रुखाबाद नगर में आन्दोलन मच गया। मूर्तिपूजक लोग इस आन्दोलन से हताश और निराश होने लगे। तब वे किसी तरह मेरठ जाकर वहाँ से पं॰ श्रीगोपाल को स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ के लिए बुला लाए। उनके आ जाने पर पं॰ पीताम्बर दास की मध्यस्था में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ-

*श्रीगोपाल*- स्वामीजी! मैंने रात्रि में विचार किया कि मूर्तिपूजा की सर्वत्र व्यवस्था है, फिर आप इसका क्यों खण्डन करते हैं?

*स्वामीजी*- कहाँ लिखा है? कहिए।

*श्रीगोपाल*- मनुस्मृति अध्याय-२, श्लोक-१७१ में लिखा है-

*देवताभ्यर्चनञ्चैव समिधादानामेव च।*

*स्वामीजी*- इसका अर्थ कीजिए।

*श्रीगोपाल*- देवताओं का पूजन करे और सायं-प्रात: होम करे। पूजा मूर्ति की ही होती है, इस कारण यहाँ मूर्तिपूजा का विधान है।

*स्वामीजी*- व्युत्पत्ति द्वारा इसका अर्थ सुनिए। *'अर्च पूजायाम्'* इस धातु से यहाँ अर्चन शब्द बनता है, इसका अर्थ सत्कार है। सो यहाँ होम से विद्वानों के सत्कार का अभिप्राय है, मूर्तिपूजा नहीं है। यह कार्य मूर्ख नहीं करा सकता। यह कार्य विद्वानों के द्वारा ही उपादेय है। अत: उन देवों अर्थात् विद्वानों का सत्कार अवश्य करना चाहिए।

इसके बाद कुछ और समय तक परस्पर तर्क-वितर्क होता रहा। स्वामीजी ने अनेक युक्तियों और वेदादि सच्छास्त्रों के प्रमाणों से मूर्तिपूजा का खण्डन किया जिसका पं॰ श्रीगोपाल कोई उत्तर नहीं दे सके। अन्त में वे मूक और मौन होकर अपने स्थान को लौट गए।

पण्डित श्रीगोपाल और उनके समर्थकों को यह पराजय असह्य हुई। अत: पं॰ श्रीगोपाल उन्हें साथ लेकर फर्रुखाबाद के वणिक कृष्णलाल के आर्थिक सहयोग से काशी गए और वहाँ फर्रुखाबाद निवासी एक शालिग्राम शास्त्री से मिले जो उन्हें अपने गुरु राजाराम शास्त्री[४३४] के पास ले गए। उन्होंने इस विषयक एक पुरानी व्यवस्था की ही प्रतिलिपि कराकर उन्हें दे दी। इस व्यवस्था में भी मूर्तिपूजा के समर्थन में कोई वैदिक प्रमाण नहीं दिया गया था, अत: वह स्वामी दयानन्द के समक्ष किसी काम की न निकली। स्वामी जी ने तब कहा कि काशी के पण्डितों की बहुत कुछ विद्या तो इस व्यवस्था से ही देख ली है, शेष वहाँ स्वयं जाकर देख लूँगा।

श्रीगोपाल शास्त्री ने इस व्यवस्था को लेकर बड़ा कोलाहल मचाया। उन्होंने वैशाख शुक्ला १२ संवत् १९२६ वि॰ तदनुसार २२ मई, १८६९ ई॰ को एक विज्ञापन दिया कि वे और मुंशी ज्वालाप्रसाद स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हैं। अत: वे बहुत बड़ी भीड़ अपने साथ लेकर इस व्यवस्थापत्र सहित फर्रुखाबाद के टोकाघाट पर वैशाख शुक्ला १४ (२४ मई) को पहुँचे और वहाँ रेत पर एक 'धर्मध्वजोऽयम्' का धर्मध्वज गाड़ दिया। यह शब्द उसने स्वामी जी के लिए प्रयुक्त किया था। इसी ध्वजा पर वह व्यवस्थापत्र भी लटकाया गया था। इस अवसर पर एक बाँस अलग से गाड़कर उस पर लोगों से जल चढ़ाने के लिए कहा गया था। सो कुछ मूर्खों ने उस पर जल चढ़ाया भी। उस दिन नृसिंह-चतुर्दशी का मेला भी था, इसलिए भीड़ अधिक थी।

श्रीगोपाल के कुछ साथी स्वामीजी के पास गए और उनसे नीचे रेती पर चलकर शास्त्रार्थ करने के लिए कहा। स्वामीजी श्रीगोपाल की यह लीला दूर से पहले से ही देख रहे थे। अत: वह वहाँ न गए।

४३४- पं॰ राजाराम शास्त्री से स्वामी दयानन्द पहले से ही परिचित थे जब वे १८५८ ई॰ और उससे पहले भी काशी गए थे।

श्रीगोपाल इसी प्रकार हुल्लड़ मचाता रहा और बार-बार यह कहता रहा कि 'भाइयो! देखो यह काशी के पण्डितों की व्यवस्था है, दयानन्द परास्त हो गया। बोलो देवी की जय! काली की जय!'

जिला मजिस्ट्रेट ने इस सब गड़बड़ का वृत्तान्त सुनकर एक सब इंसपेक्टर को नियुक्त किया कि वह विश्रान्त पर जाकर ऐसा प्रबन्ध करे कि जिससे शान्ति भङ्ग न होने पावे। वह आया और स्वामी दयानन्दादि से मिला। स्वामी जी ने उससे कहा कि तुम यह सब राजाज्ञा से कहते हो वा स्वयं ही? तब और लोगों ने उसे कहा कि क्या स्वामीजी किसी को स्वयं बुलाते हैं? धूर्त लोग स्वयं ही यहाँ आकर ऊधम मचाते हैं। इस पर कोतवाल ने कहा कि आप अपने पास धूर्तों को न आने दें। स्वामीजी ने कहा कि सब वर्णों की रक्षा करना क्षत्रियों का काम हैं, सो तुम इसका बन्दोबस्त स्वयं करो। यह सुनकर वह वहाँ से चला गया और दो सिपाही पहरे पर छोड़ गया।

ज्वालाप्रसाद नामक एक मद्यपी और माँसाहारी ब्राह्मण फर्रुखाबाद में पोस्टमास्टर था। एक दिन वह एक वाममार्गी ब्राह्मण को पालकी में बिठाकर स्वामी जी के पास ले आया जो उनके सामने कुर्सी पर बैठकर उन्हें दुर्वचन कहने लगा। परन्तु स्वामीजी ने उसे कुछ भी न कहा, अपितु स्वयं ही अपना स्थान छोड़कर वे एक दूसरे स्थान पर जा विराजे। परन्तु उस दुष्ट का यह व्यवहार स्वामीजी के भक्तों को असह्य हुआ जिससे उन्होंने उसे खूब पीटा जिससे उसका सारा नशा उतर गया। उन लोगों ने उसकी कुर्सी भी जलाकर राख कर दी। वह गिरता-पड़ता वहाँ से अपने घर चला गया। जब यह बात स्वामीजी को पता चली तो उन्होंने अपने पूर्व स्थान पर आकर इन लोगों को खूब डाँटा और कहा कि यदि वह मर गया तो हम सच्ची बात कह देंगे।

पं० ज्वालाप्रसाद के समधी ठाकुरदास पाण्डे भी फर्रुखाबाद में ही रहते थे। जब उन्हें यह सब घटना विदित हुई तो उन्होंने बीस-पचीस लट्ठबन्द लोगों को स्वामीजी के स्थान पर बदला लेने के लिए भेजा। परन्तु उनका वहाँ स्वामीजी के सामने कुछ कहने का साहस ही नहीं हुआ और वे जैसे आए थे, वैसे ही उलटे पाँव लौट गए। लाला जगन्नाथ ने भी स्वामी जी के रक्षार्थ कुछ लोग उनके पास भेजे थे, परन्तु इनके पहुँचने से पहले ही ठाकुरदास के लोग वहाँ से जा चुके थे। इसके बाद साध लोगों में से कुछ लोग नियमितरूप से स्वामी जी की रक्षा में विश्रान्त पर रहने लगे।

मुंशी ज्वालाप्रसाद का विचार इस विषय में अभियोग चलाने का हुआ तो लाला जगन्नाथ ने स्वामीजी के पास जाकर उन्हें यह बात बताई। तब स्वामी जी ने उन्हें कहा कि यदि हाकिम हमसे पूछेगा तब तो हम सत्य ही कहेंगे, चाहे फिर वह किसी के अनुकूल पड़े वा प्रतिकूल। परन्तु ज्वालाप्रसाद ने बाद में कोई अभियोग नहीं चलाया।

लाला जगन्नाथ ने स्वामीजी से कहा कि आप विश्रान्त के नीचे के भाग में रहने लगिए, वह चारों ओर से सुरक्षित है। इस पर स्वामीजी ने उन्हें कहा कि 'यहाँ तो आप मेरी रक्षा कर लेंगे, अन्यत्र कौन करेगा? मैंने आज तक अकेले ही भ्रमण किया है और आगे भी करूँगा। कई बार मेरे प्राण हरण की चेष्टा की गई, परन्तु सर्वरक्षक परमात्मा ने मेरी सर्वत्र रक्षा की है, आगे भी वही करेगा, आप चिन्ता न करें।'

गोवर्धनदास पटेरे वाले बाबा ने एक दुष्ट को स्वामीजी को अपमानित करने के लिए भेजा। उसने स्वामीजी से पूछा कि गङ्गा मुक्ति देती है वा नहीं? उन्होंने कहा कि नहीं। इस पर उसने उन पर जूता फेंका और वहाँ से भागने लगा। साध लोगों ने उसे पकड़कर पीटा। परन्तु स्वामीजी ने उसे छुड़ा दिया। कहा- उसने अज्ञानतावश ही ऐसा किया था। निर्बल पर दया करना ही बल की प्रशंसा है।

एक दिन पं० रामसहाय शास्त्री की, जो संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे, स्वामी जी की बातचीत हुई, पर वह स्वामीजी के सामने कुछ भी न बोल सके। बाद में उन्होंने अपने साथियों को उलाहना दिया कि आप लोग मुझे कहाँ छोड़ आए थे, मुझसे तो स्वामीजी के सामने बात ही नहीं हो सकी।

एक दिन कुछ मुसलमान लोग आए और स्वामी जी से धर्मालाप करने को कहने लगे। स्वामीजी ने उन्हें कहा कि सत्य को सुनकर उस पर विचार करो न कि लड़ने के लिए दौड़ो। अब तो तुम वार्तालाप करने को कहते हो परन्तु बाद में चिढ़कर लड़ने के लिए उद्यत हो जाओगे। उन्होंने कहा हम ऐसा नहीं करेंगे। तब मुहम्मद साहब पर बात चली। स्वामीजी ने कहा कि तुमने उनका अनुकरण किया, बुरा किया। जब चोटी कटाई, तब दाढ़ी रखने का क्या मतलब? ऊँची बाँग देते हो, क्या यह खुदा की उपासना है? खतने के विषय में भी कहा। मुसलमान इनके उत्तर में उन्हें कुछ भी न कह सके।

**पाठशाला की स्थापना**– लाला पन्नीलाल फर्रुखाबाद के एक प्रतिष्ठित रईस और धर्मनिष्ठ सदाशय पुरुष थे। सन्ध्योपासना और जप में उनकी बड़ी आस्था थी। वह दान कार्य में भी बहुत उदार थे। उनके यहाँ सदाव्रत होता रहता था। वह रात्रि में स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुआ करते थे। लाला पन्नीलाल ने पं॰ पीताम्बरदास को काशी भेजा कि वह वहाँ जाकर पण्डितों से पूछें कि क्या उन्होंने पं॰ श्रीगोपाल को कोई व्यवस्था दी है कि नहीं? अत: वह काशी गए और पण्डितों से पूछताछ की। उन्हें पता चला कि एक पुरानी व्यवस्था पड़ी हुई थी जिस पर कुछ पण्डितों के हस्ताक्षर थे, वही पं॰ श्रीगोपाल ले गए थे। चार वेद संहिताओं के आधार पर अभी तक कोई व्यवस्था नहीं दी गई है, मूर्तिपूजा लौकिक है, समझने वालों के लिए गुड़ियों का सा खेल है। यह सुनकर पं॰ पीताम्बर दास फर्रुखाबाद लौट आए और सारा हाल लाला पन्नीलाल को कह सुनाया। इससे लाला साहब का चित्त भी मूर्तिपूजा से हट गया और उन्होंने उसे त्याग दिया। वह एक देवालय बनवाना चाहते थे, उसका विचार उन्होंने छोड़ दिया और जो धन वे उस पर लगाना चाहते थे, उसे स्वामी जी के परामर्श से एक संस्कृत पाठशाला पर व्यय करने का निश्चय कर लिया। पाठशाला स्थापित हो गई। पं॰ ब्रजकिशोर को ३०) मासिक पर इसमें अध्यापक नियुक्त कर दिया गया। यह व्यय लाला पन्नीलाल दीर्घकाल तक वहन करते रहे। विद्यार्थियों को अन्न-वस्त्र बाबू दुर्गाप्रसाद देते थे।[४३५]

फर्रुखाबाद के किसी प्रतिष्ठित पुरुष का पुत्र दुराचारी और वेश्यागामी हो गया था। उसने लाला पन्नीलाल से विनयपूर्वक कहा कि यदि स्वामी जी मेरे पुत्र को सुधार दें तो मैं आपका अत्यन्त उपकार मानूँगा। लाला पन्नीलाल ने यह बात स्वामी जी से कही। उन्होंने कहा कि यदि आप उस युवक को मेरे पास ले आवें तो मैं उसे समझा सकूँगा। सो उसके आने पर स्वामीजी ने उसे कहा कि यह तो बताओ कि यदि तुम्हारे वीर्य से वेश्या के गर्भ से कोई कन्या उत्पन्न हो जाए तो वह आगे चलकर क्या करेगी? नवयुवक बोला वेश्या ही बनेगी। तब स्वामी जी ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी शब्दों में उसे कहा कि भला ऐसा कौन सत्पुरुष होगा जो अपनी पुत्री से इस प्रकार से वेश्यावृत्ति करावे? स्वामीजी के ऐसे वचन सुनकर उस युवक का हृदय काँप उठा और उसने स्वामीजी के चरण स्पर्श करके अपने इस व्यसन को छोड़ देने की तत्काल प्रतिज्ञा कर ली जिससे उस प्रतिष्ठित पुरुष का कुल नष्ट होने से बच गया!

श्रीगोपाल की पराजय से फर्रुखाबाद का पौराणिक दल अत्यन्त खिन्न और विपन्न था। अत: कुछ लोग प्रेमदास देवीदास खत्री रईस से मिले और उन्हें इस बात पर सहमत कर लिया कि कानपुर से पं॰ हलधर ओझा को बुलाकर उनका स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ कराया जाए। लाला जगन्नाथ को जब यह बात विदित हुई तो उन्होंने २५०० रुपये

४३५- इस पाठशाला के अवशेष हमने स्वयं देखे हैं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों तक यह पाठशाला फर्रुखाबाद में ही चलती रही। बाद में वह उठाकर गुरुकुल वृन्दावन के रूप में सञ्चालित होने लगी। उसकी स्थापना के एक सौ वर्षों के बाद हमने इसे आर्ष गुरुकुल कृष्णपुर(फर्रुखाबाद) के रूप में श्रावणी संवत् २०२६ वि॰ तदनुसार २७ अगस्त, १९६९ ई॰ को पुन: शुकरुल्लापुर के निकट स्थापित कर दिया है और अब तक वह किसी न किसी रूप में वहाँ चल ही रही है। – *आदित्यमुनि*

देवीदास के पास भेजे और उन्हें कहला भेजा कि वे भी इतने ही रुपये जमा करें। तब यदि स्वामीजी परास्त हो जाएँ तो ये सब रुपये आप रख लें अन्यथा पं० हलधर ओझा के पराजित होने पर ये सब रुपये मुझे मिलें। देवीदास ने यह शर्त स्वीकार नहीं की और २५०० रुपये उन्हें लौटाल दिए।

लाला जगन्नाथ ने स्वामीजी को कहा कि कानपुर से हलधर ओझा को आपसे शास्त्रार्थ करने के लिए बुलाया गया है। स्वामी जी ने तत्काल उन्हें कह दिया कि हम इसके लिए तैयार हैं। ज्येष्ठ शुक्ला १० संवत् १९२६ वि० तदनुसार १९ जून, १८६९ ई० (शनिवार) को पं० हलधर ओझा एक बहुत बड़ा जन-समूह लेकर स्वामी दयानन्द के आश्रम पर विश्रान्त में पहुँचे। तो लाला जगन्नाथ ने सबको आदरपूर्वक बिठाया। पं० हलधर जी ने भी स्वामी जी को प्रणाम किया और उन्होंने कुशल पूछकर उनके आने का कारण पूछा। इस पर लाला देवीदास ने कहा कि ओझा जी आपसे शास्त्रीय विचार-विमर्श करने आए हैं। स्वामी जी ने कहा कि प्रश्न कीजिए। तदनन्तर पहले तो मूर्तिपूजा पर प्रश्नोत्तर हुए फिर ओझा जी ने मद्यपान पर बात छेड़ी। स्वामीजी ने उन्हें कहा कि अपनी प्रतिज्ञा से भिन्न इस इस विषय चर्चा नहीं करनी चाहिए और मद्यपान तो सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है। इसके बाद निम्नलिखित बातचीत हुई-

*ओझाजी*- शास्त्रविरुद्ध कैसे? यज्ञ में तो मद्यपान किया जाता है। जैसा कि लेख है-'सौत्रामण्यां सुरां पिवेत्'।

*स्वामीजी*- यहाँ सुरा से सोमलता अभिप्रेत है न कि मदिरा। मद्यपान सब शास्त्रों में वर्जित है।

*ओझाजी*- आप संन्यासी के लक्षण बताइए।

*स्वामीजी*- *क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।*

*विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्।। मनुस्मृति (६/५२)*

*यद्हरेदव विरजेत्तदहरेव प्रवजेद्वनाद्वा गृहाद्वा। ब्रह्मचर्यादेवप्रव्रजेत्।।* ब्राह्मण वचन

अर्थात् केश, मूँछ, दाढ़ी, नख दूर करे, पात्र, दण्ड और कुसम्भ के रङ्ग के वस्त्र धारण करे और किसी प्राणी को पीड़ा न देता हुआ सदा नियम में रहकर विचरण करे।

जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन संन्यास ले लेवे, वानप्रस्थ से वा गृहस्थाश्रम से वा ब्रह्मचर्याश्रम से।

*स्वामीजी*- आप ब्राह्मण के लक्षण बताइए।

*ओझाजी*- (एक-दो वाक्य संस्कृत के बोलकर चुप हो गए।)

*स्वामीजी*- (यह देखकर कि ओझाजी संस्कृत नहीं बोल सकते) भाषा में कहिए और प्रकरण से बाहर न जाइए।

*ओझाजी*- प्रकरण से बाहर नहीं जाता हूँ, परन्तु आप बार-बार प्रकरण का उल्लेख करते हैं। बताइए प्रकरण की सिद्धि कैसे होती है?

*स्वामीजी*- प्रपूर्वक डुकृञ् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से प्रकरण शब्द सिद्ध होता है।

*ओझाजी*- धातु समर्थ होता है वा असमर्थ होता है?

स्वामीजी- समर्थः पदविधिः (अष्टाध्यायी २/१/१) इस पाणिनिसूत्र के अनुसार धातु समर्थ होता है।

*ओझाजी*- असमर्थ किसे कहते हैं?

*स्वामीजी*- सापेक्षोऽसमर्थो भवति। अपेक्षा करने वाला असमर्थ होता है। यह महाभाष्य का वचन है।

*ओझाजी*- यह महाभाष्य का वचन नहीं है।

*स्वामीजी*- महाभाष्य की पुस्तक बुलाकर उसके अध्याय २, पाद १, सूत्र १ में उक्त वाक्य दिखा देते हैं।

पण्डित मण्डली स्वामी जी के प्रकाण्ड पाण्डित्य पर चकित रह गई। ओझा जी का ऊपर का दम ऊपर और नीचे का नीचे ही रह गया, उनसे कुछ करते-धरते न बना। अन्त में वे क्रोध में भर कर बोले-

*ओझाजी*- हम जो कहते हैं वह भाष्यकार के वचन से कम नहीं है।

*स्वामीजी*- आप महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि के सामने गणना में कहीं नहीं हैं। अच्छा यदि आपको अपने पाण्डित्य का इतना ही गर्व है तो बताइए-'कल्म' किसकी संज्ञा है?

ओझा जी को फिर कुछ उत्तर न सूझा। तब स्वामी जी ने महाभाष्य खोलकर सबको बताया कि अकथितं च (अष्टाध्यायी १/४) इसके भाष्य में महाभाष्यकार ने कर्म की कल्म संज्ञा की है। पण्डित लोग मन ही मन स्वामी जी की प्रशंसा करने लगे। इस समय रात्रि का एक बज गया था। अन्त में यह निश्चय हुआ कि कल फिर शास्त्रार्थ हो। यदि स्वामी जी यह सिद्ध कर दें कि 'समर्थः पदविधिः' सूत्र सर्वत्र लागू होता है तो स्वामी जी की जीत समझी जाए, अन्यथा ओझा जी की। तत्पश्चात् सभी लोग अपने-अपने घरों को चले गए।

अगले दिन लाला जगन्नाथ और मुन्नीलाल ने स्वामी जी से निवेदन किया कि नगर में कुछ पण्डित कहते हैं कि स्वामीजी हठ करते हैं, ओझा जी का कथन ठीक है। सो यदि आपको संशय हो तो शास्त्रार्थ टाल दिया जाए। स्वामी जी ने कहा कि ओझा जी को शास्त्रार्थ के लिए अवश्य लिवाकर आइए। यदि आप लोग इसमें प्रमाद करेंगे तो आपको और यदि ओझा जी शास्त्रार्थ को न आवें तो उन्हें गोहत्या का पातक लगेगा।

ज्येष्ठ सुदी ११, संवत् १९२६ वि० तदनुसार २० जून, १८६९ ई० (रविवार) को रात्रि में ८ बजे फिर शास्त्रार्थ की सभा संगठित हुई। तब कुछ लोग उपद्रव करने पर उतारू दिखाई दिए। उन्हें लाला जगन्नाथ ने डाँट दिया, तब शान्ति स्थापित हुई। तब स्वामी जी ने अपनी प्रतिज्ञा को दुहराया कि जो शास्त्रार्थ न करेगा, उसे गोघात का पातक लगेगा। फिर ओझा जी को सम्बोधित करके उन्होंने कहा कि मैं संन्यासी हूँ, यदि मैं हार गया तो मेरी कोई हानि नहीं होगी, तुम गृहस्थ हो, पराजय से तुम्हारी आर्थिक हानि होने की सम्भावना है। ओझा जी बोले मैं हारूँगा ही क्यों? तब स्वामी जी ने दीपक और महाभाष्य की पुस्तक बुलाकर 'समर्थः पदविधिः' की व्याख्या सबको पढ़कर सुनाई और अनेक उदाहरण देकर उक्त सूत्र की व्यापकता बताई। ओझा जी कोई उत्तर न दे सके। उनके साथियों में से एक ने कुछ कहना चाहा तो स्वामी जी ने उसे रोक दिया। लाला जगन्नाथ ने पण्डितों को लक्ष्य करके कहा कि हे विद्वज्जनो! धर्म की साक्षी देते हुए कहिए कि किसका पक्ष ठीक है। इस पर अनेक पण्डितों ने कहा कि पण्डित हलधर जी अपनी प्रतिज्ञा प्रमाणित नहीं कर सके।

पण्डितों का यह वचन सुनकर ओझा जी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं और वह मूर्छित से हो गए। उधर स्वामी जी के जयघोष से सारा वायुमण्डल निनादित हो गया। उस रात्रि को लोग स्वामीजी के पास ही बैठे रहे। स्वामीजी भी उन्हें उपदेशामृत पिलाते रहे।

समस्त रात्रि जागरण से लाला जगन्नाथ को ज्वर हो गया तो गुण्डा पार्टी ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि लाला जी ने ओझा जी का अपमान कराया है, इसलिए उन्होंने लाला जी को अपनी मन्त्र शक्ति से ज्वरित कर दिया है। इस पर ओझा जी स्वयं लाला जी को देखने गए। लाला जी ने भी उनका आदर-सत्कार करके उन्हें विदा किया। पुनः ओझा जी कानपुर वापस चले गए। जो लोग ओझा जी को कानपुर से बुलाकर लाए थे, उन्होंने भी उनसे मुख मोड़ लिया था और जो आर्थिक लाभ ओझा जी को होना था, वह भी उन्हें न हो सका।

एक दिन कुछ पहलवान स्वामीजी के आश्रम पर बैठे थे। जब स्वामीजी गङ्गा स्नान करके अपने आश्रम पर लौटे तो एक पहलवान ने उनसे कहा कि हम तो स्वामीजी को तब बलशाली मानें जब वे व्यायाम करें और हम में से किसी के भी हिलाए न हिलें। इस पर स्वामीजी ने कहा कि हमारा यह गीला लँगोट है, इसे निचोड़ करके जो पहलवान पानी की एक बूँद भी निकाल देगा तो हम उसे बलशाली मान लेंगे। इस पर सबने एक-एक

करके प्रयास किया पर कोई भी उसमें से एक बूँद भी न निकाल सका। इस प्रकार सब पहलवान स्वामीजी का बल को देखकर दङ्ग रह गए।

जगन्नाथ के घाट पर एक शिव मन्दिर था। एक दिन एक मुर्दाफरोश ने उसमें से शिवलिङ्ग उठाकर गङ्गा में फेंक दिया और प्रात:काल यह प्रसिद्ध कर दिया कि यह कार्य स्वामी दयानन्द ने किया है। जगन्नाथ के बाग के माली ने यह बात लाला जगन्नाथ से कही। तो उन्होंने कहा कि यह कार्य वस्तुत: किसने किया हो सकता है, स्वामी जी तो ऐसा कर ही नहीं सकते? इस प्रकार विरोधियों की यह चाल भी निष्फल हुई।

एक दिन प्रात: भ्रमण के समय एक हट्टा-कट्टा मनुष्य स्वामीजी को गालियाँ देने लगा और कहने लगा कि तू ईसाइयों का नौकर है और तू हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिए यहाँ आया हुआ है। स्वामीजी उसके इन दुर्वचनों पर मुस्कराकर आगे बढ़ गए। उसने स्वामीजी के भ्रमण से लौट आने पर उनके स्थान पर जाकर भी उन्हें गालियाँ देनी चाहीं। तब स्वामीजी ने उसे प्रेमपूर्वक बैठने के लिए कहा। इस शिष्टाचार से उसका कठोर हृदय पसीज गया और वह स्वामी जी के पैरों पर गिरकर उनसे क्षमायाचना करने लगा। स्वामीजी ने उसे कहा कि तुम्हारे दुर्वचन हम तक नहीं पहुँचे, वे आकाश में प्रकट हुए थे, वहीं विलीन हो गए। तुमने हमारा कोई अपराध नहीं किया है।

परसाद नामी का एक गुजराती ब्राह्मण फर्रुखाबाद के नामी गुण्डों में से था। उसे कुछ लोगों ने लालच देकर स्वामीजी के पास उन्हें पीटने के लिए भेजा। उसने पहुँचते ही स्वामीजी से कहा कि-

'बाबाजी! देवमूर्ति में साक्षात् ईश्वर को मानते हो कि नहीं?

*स्वामीजी*- पाषाणादि की मूर्ति ईश्वर नहीं। तुम ईश्वर का स्वरूप नहीं जानते।

*परसाद*- मैं जानता हूँ। ईश्वर सच्चिदानन्द और भक्तवत्सल है और भक्तों के कारण जन्म लेता है।

*स्वामीजी*- सच्चिदानन्द और भक्तवत्सल जो तुमने कहा सो तो ठीक है, पर वह जन्म नहीं लेता क्योंकि वह अजन्मा है। यह शब्द रामायण में भी तुमने सुना होगा। सत्य कहो कि सुना है वा नहीं?

*परसाद*- हाँ, सुना तो है।

इस प्रकार कुछ काल तक उनमें परस्पर वार्तालाप हुआ जिसका उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने अपनी लाठी फेंक दी और वह स्वामीजी के चरणों में गिर पड़ा। इसके बाद वह जब तक जीवित रहा एक सदाचारी ब्राह्मण की तरह ही रहा।

चौबे परमानन्द रईस (कायमगञ्ज) पं० बलदेवप्रसाद के साथ स्वामीजी के दर्शनों के लिए फर्रुखाबाद आए। उनसे वह कायमगञ्ज में मिल चुके थे और तब से ही उनके हृदय में स्वामीजी के प्रति श्रद्धा के भाव अङ्कुरित हो चुके थे। फर्रुखाबाद आकर उन्होंने अपनी कुछ शङ्काओं का समाधान स्वामीजी से इस प्रकार प्राप्त किया-

*बलदेव*- क्षत्रिय लोग मृगया में जो जीवों का वध करते हैं, उन्हें जीव-हिंसा का पाप लगता है वा नहीं?

*स्वामीजी*- हिंसक जीव अपने हिंसक स्वभाव से खेती और पालतू पशुओं तथा मनुष्यों का नाश करते हैं, उनको मारने से इनकी रक्षा होती है, किसी की हानि नहीं, अत: ऐसे शिकार में दोष नहीं।

*बलदेव*- पाप क्या है?

*स्वामीजी*- जिससे मनुष्यों की हानि हो वह पाप कर्म है।

*बल्देव*- इस प्रकार तो बूढ़े मनुष्यों को मारने में भी पाप नहीं होना चाहिए।

*स्वामीजी*- बूढ़े मनुष्यों को मारने में कृतघ्नता का महापाप है। वे वृद्ध अपने अनुभव से जनसमुदाय की भलाई कर

सकते हैं।

*चौबेजी*- मद्यपान में क्या दोष है? इससे तो किसी के प्राण की हानि नहीं होती।

*स्वामीजी*- मद्यपान सब प्रकार से निन्दित कर्म है। मद्यप मनुष्य उन्मत्त होकर अन्य मनुष्यों की सामान्य हानि ही नहीं करते अपितु प्राण नाश तक कर देते हैं और आप भी अपराधवश मारा जाता है, तथा ऊँचे-नीचे गिरकर मृत्यु को भी प्राप्त होता है। अथवा रोगी होकर मरता वा दु:ख को प्राप्त होता है। अकरणीय कार्यों को करते हुए वह विद्या, धन आदि उत्तमे पदार्थों से वञ्चित रहता है।

*चौबेजी*- सब मद्यों में समान दोष है वा न्यूनाधिक है?

*स्वामीजी*- जिसमें जितनी मादकता होती है, उसमें उतना ही अधिक दोष है।

लाला जगन्नाथ के पूछने पर कि मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है, स्वामीजी ने कहा कि मनुष्य का कर्त्तव्य ईश्वर-प्राप्ति है, जो ईश्वर की आज्ञाओं के पालन अर्थात् वेदानुकूल आचरण, मनूक्त धर्म के दश लक्षणों पर चलने और अधर्म के त्याग से हो सकती है।

एक साध ने स्वामीजी से पूछा कि मनुष्य को क्या करना चाहिए, तो उन्होंने उत्तर दिया कि जैसे ईश्वर दयालु है, वैसे ही मनुष्यों को भी अन्यों पर दया करनी चाहिए और जैसे ईश्वर सत्य है, वैसे ही सब मनुष्यों को सत्य मानना, करना और बोलना चाहिए।

एक दिन स्वामीजी विश्रान्तघाट पर नदी में पैर लटकाए हुए बैठे थे। तभी कुछ शरारती लड़कों ने उनके नङ्गे शरीर पर गीली रेत के गोले बनाकर मारने शुरू कर दिए। परन्तु वह चुपचाप गोले खाते रहे और उन लड़कों को कुछ न कहा। अन्त में जब रेत उनकी आँख में पड़ गई, तो वह उठकर वहाँ से चले गए।

एक दिन नवाब साहब ने स्वामीजी से पूछा कि कोई ऐसी भी विद्या है कि यहाँ बैठा मनुष्य अन्यत्र दूर बैठे मनुष्य से बात कर सके। स्वामी जी ने कहा कि ऐसा योगीजन कर सकते हैं।

## रामगढ़ कहाँ है? (१८६९ ई०)

स्वामी दयानन्द ने अपने ४ अगस्त, १८७५ ई० को पूना में दिए गए प्रवचन में कहा था कि "इस विचार को धारण करके मैं फर्रुखाबाद आया। वहाँ से फिर रामगढ़ गया। रामगढ़ से वाद (शास्त्रार्थ) आरम्भ किया। वहाँ पर जब-जब दो चार शास्त्री एक साथ बोलने लगते थे तब मैं 'कोलाहल' ऐसा कहता था। इसलिए आज तक वहाँ के लोग मुझे 'कोलाहल स्वामी' कहते हैं। वहाँ चक्रांकित मत के दस मनुष्य मुझे मारने को आये; परन्तु मैं उनसे बड़े संकट (= बड़ी कठिनाई) से बचा। [वहाँ से फर्रुखाबाद गया।]"

स्वामीजी द्वारा कथित उक्त विवरण से प्रकट होता है कि रामगढ़ फर्रुखाबाद का निकटस्थ ही कोई स्थान है, पर उसके निकट तो ४ मील की दूरी पर केवल एक फतेहगढ़ ही है और ये दोनों नगर ही आपस में मिले हुए से हैं। अत: यह सम्भव है कि प्रवचन के सुनने वालों और सुनकर उसे लिखने वालों के प्रमाद से वह फतेहगढ़ के स्थान पर रामगढ़ लिखा गया हो। फर्रुखाबाद के पूर्वोक्त विवरणों में भी स्वामीजी को वहाँ मारने की कतिपय घटनाएँ वर्णित हैं जो इन दो स्थानों की परस्पर निकटता के कारण अस्थान पर वर्णित हो गईं हों।

मेरे (लेखक इं० आदित्यमुनि वानप्रस्थ के) अपने उपनयन संस्कार में भी २९-३० मई, १९५५ ई० को फतेहगढ़ के एक आर्य संन्यासी सम्मिलित हुए थे जिन्होंने अपना नाम स्वामी दयानन्द के उक्त कथानक से प्रेरित होकर स्वामी कोलाहलानन्द रख लिया था। वैसे पूर्व पृष्ठ २३७ के अनुसार यह विवरण वस्तुत: रामघाट का है।

## श्रङ्गीरामपुर, जलालाबाद (१८६९ ई०)

२५ जून, १८६९ ई० के बाद और २३ जुलाई, १८६९ ई० से पहले (अर्थात् आषाढ़ संवत् १९२६ वि० में) किसी दिन स्वामी दयानन्द किसी को कुछ बताए बिना ही फर्रुखाबाद से चलकर श्रङ्गीरामपुर पहुँचे और वहाँ की विश्रान्त में एक रात्रि ठहरे। यहाँ उनके गङ्गा में स्नान करते हुए किसी सामवेदी ब्राह्मण ने जब वेदमन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण किया तो स्वामीजी उसे टोककर उसका उच्चारण शुद्ध कराया।

एक दिन श्रङ्गीरामपुर में रहकर स्वामीजी जलालाबाद पहुँचे और वहाँ प्रयागदत्त के बाग में एक अनार के वृक्ष तले बैठ गए। फिर वहाँ से वे पं० गयाप्रसाद के अनुरोध पर सरनामदास उदासी की कुटिया में जा विराजे, जहाँ दो उदासी और ठहरे हुए थे। उनसे उनकी परस्पर बातचीत हुई और स्वामीजी ने उनकी शङ्काओं का समाधान भी किया। गाँव के लोगों ने उन्हें बिस्तर देना चाहा पर उसे उन्होंने नहीं लिया और दो ईंटों का सिरहना बनाकर वहाँ रात्रि बिताई।

पं० गयाप्रसाद ने अपने घर पर स्वामीजी के लिए कच्चा भोजन बनवाया था और उनसे निवेदन किया था कि आप घर पर चलकर भोजन कर लें। स्वामी जी ने उन्हें कहा कि यदि हम तुम्हारे घर पर ही चल सकते होते, तो यहाँ इस कुटिया में उतरते ही क्यों? इस पर पं० गयाप्रसाद ने स्वामी जी को कुछ प्रतीक्षा करने के लिए कहा ताकि पक्की रसोई बनवाकर उनके लिए कुटिया पर ही लाई जा सके। इस पर स्वामीजी ने उन्हें कहा कि जो बनी है, वह भी तो पकी हुई ही है, अत: वही जाकर ले आओ।

जलालाबाद के पण्डित हुकूमतराय एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। स्वामी जी ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिए बुलाया था, पर वे अपनी शिर:पीड़ा का बहाना बनाकर नहीं आए और कह दिया कि दयानन्द तो नास्तिक है, उससे शास्त्रार्थ करना व्यर्थ है!

## कन्नौज (१८६९ ई०)

जलालाबाद केवल एक रात-दिन रहकर स्वामीजी कन्नौज पधारे। जब स्वामीजी कन्नौज पहुँचे तब संवत् १९२६ वि० का आषाढ़ का महिना (अर्थात् २५ जून से २३ जुलाई, १८६९ ई०) था। कन्नौज में वे कालिन्दी नदी के तट पर गौरीशङ्कर महादेव के चबूतरे पर विराजमान हुए। नगर के पण्डितगण उनके पास आए और वहाँ के दो प्रसिद्ध पण्डितों (हरिशङ्कर शास्त्री और गुलजारीलाल) से उनका शास्त्रार्थ हुआ।

पण्डित हरिशङ्कर से जो शास्त्रार्थ हुआ, वह बड़ा मनोरञ्जक था। जब पण्डित जी स्वामी दयानन्द के पास आए तो स्वामी जी ने उनसे उनका नाम पूछा। इस पर उन्होंने यह श्लोक पढ़ा-

*आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।*
*श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् तथा पुत्रकलत्रयो:।।*

अर्थात् अपना और अपने गुरु का नाम लेना वर्जित है। इसके प्रत्युत्तर में स्वामीजी ने कहा कि जब आप सङ्कल्प पढ़ते हैं तब अपना नाम लेते हैं वा नहीं? इस पर निरुत्तर होकर उन्होंने अपना नाम बता दिया। उस समय अनेक लोग स्वामीजी के पास बैठे हुए थे। ये पण्डित जी बड़े अच्छे वैयाकरण थे और कन्नौज के विद्वानों में अग्रगण्य थे। स्वामी जी ने मूर्तिपूजा के खण्डन और पञ्चमहायज्ञादि के मण्डन में अपनी वक्तृता दी। इससे स्वामी जी का उन पण्डित जी से वार्तालाप आरम्भ हो गया। बलिवैश्वदेव के विषय में स्वामी जी ने कहा कि इसको किए बिना जो भोजन करते हैं, वे मानों गोमाँस का भक्षण करते हैं। पण्डित जी ने कहा कि ऐसा मत कहो, यहाँ तो कोई बलिवैश्वदेव नहीं करता। स्वामी जी ने कहा कि मैं तो यह थोड़ा ही कहता हूँ, शास्त्र में तो इससे भी अधिक लिखा है। गीता का यह श्लोक देखिए- *'भुञ्जते ते त्वघं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात्।'* तब पण्डितजी ने कहा कि मूर्तिपूजा के निषेध पर आप कोई शास्त्रीय वचन कहिए। स्वामीजी ने उनसे

कहा कि आप ही कोई विधि-वाक्य कहिए। तब पण्डित जी ने मनुस्मृति का यह श्लोक पढ़ा-

*वेद: स्मृति: सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन:।*
*एतच्चतुर्विधं प्राहु: साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।*

और कहा कि मूर्तिपूजा सदाचार है। स्वामी जी ने कहा कि पञ्चमहायज्ञादि सदाचार है। मनु के इस वाक्य पर कि राजा प्रतिमाओं की रक्षा करे, स्वामी जी ने कहा कि यहाँ प्रतिमा का अर्थ नाप-तौल से है। पण्डित जी ने अपने पक्ष के समर्थन में कहा कि पूर्वमीमांसा में भी ऐसा ही लिखा है। स्वामी जी ने इसका प्रतिवाद किया तो पण्डित जी ने कहा कि यदि पूर्वमीमांसा में ऐसा लिखा हुआ न हो तो मैं शिखासूत्र त्यागकर संन्यासी हो जाऊँगा। स्वामी जी ने कहा कि यह आपकी इच्छा की बात है। मीमांसा में ऐसा लिखा है, जैसा आप कहते हैं, वैसा लेख नहीं है। उस समय यह बात यहीं समाप्त हो गई। बाद में पण्डित जी ने घर आकर मीमांसा शास्त्र देखा तो वैसा ही लेख पाया जैसा स्वामीजी ने कहा था। तब पण्डित जी ने अपने मित्रों से कहा कि मेरा पक्ष गिर गया है, मैं संन्यासी बनने के लिए तैयार हूँ। मित्रों ने कहा कि स्वामीजी के पास चलो, हम आपका पक्ष गिरने न देंगे और जय बोलकर आपको वहाँ से उठा ले आवेंगे। पण्डित जी सत्यप्रिय व्यक्ति थे, उन्होंने उनकी यह मन्त्रणा स्वीकार न की और दूसरे दिन स्वयं ही स्वामीजी के पास जाकर उन्हें कह दिया कि मैं हार गया, मुझे आप संन्यास दे दीजिए। स्वामीजी ने कहा कि संन्यास ज्ञान से होता है, इसमें हार-जीत की प्रतिज्ञा कर लेना ठीक नहीं है। सबके सामने पण्डित जी की प्रशंसा करते हुए स्वामीजी ने कहा कि हमने ऐसा सत्यवादी और धार्मिक पण्डित नहीं देखा है। यह प्राचीनकाल के पण्डितों का आदर्श है।

पण्डित हरिशङ्कर इस प्रकार स्वामी जी के अनुयायी बन गए, परन्तु पीछे पौराणिक पण्डितों के दबाव में वे इस ओर से कुछ शिथिल हो गए, पर सत्य का जो अङ्कुर उनके हृदय में प्रस्फुटित हो चुका था, वह निरन्तर वृद्धिगत होता गया जिससे वे पुन: स्वामी जी के पक्षपोषक बन गए।

पण्डित गुलजारीलाल ने यद्यपि उस समय स्वामी जी का पक्ष स्वीकार नहीं किया था, परन्तु बाद में उनका ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश पढ़कर वे वैदिक सिद्धान्तों को मानने वाले बन गए थे।

एक दिन किसी ने पण्डित हरिशङ्कर से कहा कि दयानन्द को कह दो कि वह मूर्तिपूजा का खण्डन न करे, अन्यथा वे उन्हें पीटेंगे। इस पर स्वामीजी ने निर्भीकतापूर्वक पण्डित हरिशङ्कर को कहा कि तुम मेरे पीटे जाने से न डरो, दो व्यक्तियों के शिर फोड़देने के लिए तो मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ। यदि बहुतों ने मुझ पर आक्रमण किया तो मैं सरकार के यहाँ रिपोर्ट लिखा दूँगा।

स्वामीजी के उपदेश सुनकर अनेक लोगों ने मूर्तिपूजा छोड़ दी थी। पं० पुत्तूलाल भी मान गए थे कि मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध है, परन्तु वह उसे इसलिए नहीं छोड़ पा रहे थे क्योंकि उनके पास ५० वर्ष से मूर्तियों का सिंहासन है जिनका वे अब तक पूजन करते चले आ रहे थे और वे उन्हें इस प्रकार गङ्गा में विसर्जित नहीं कर देना चाहते थे। स्वामीजी ने इस पर हँसकर उन्हें कहा कि रात में सबके मुँह पर मिष्टान्न लगा देना, तो वे स्वयं पधार जाएँगी।

एक दिन जब गयादीन ने अपना यह नाम स्वामीजी को बताया तो उन्होंने उन्हें कहा कि जिसका दीन (धर्म) ही चला गया, तो फिर आपके पास बचा ही क्या? फिर कहा कि लोगों को शास्त्रोक्त ठीक नाम भी रखने नहीं आते।

एक सज्जन ने कायस्थों के सम्बन्ध में स्वामीजी से प्रश्न किया तो उन्होंने कहा कि ये लोग शूद्र नहीं हैं। यदि चित्रगुप्त से इनका वंश सम्बन्ध है तो वे शास्त्रोक्त 'गुप्त' शब्द का सम्बन्ध वैश्यों से होने से वे वही हैं। परन्तु आजकल इन्होंने उसे भुलाकर मद्यमाँसादि पीना-खाना आरम्भ कर दिया है, यह ठीक नहीं है।

कन्नौज में एक एक संन्यासी रहते थे जो शिवालय वाले बाबा कहलाते थे। वह संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे।

एक दिन कतिपय लोगों के अनुरोध पर स्वामीजी उनके पास गए। उन्होंने स्वामीजी का बहुत सत्कार किया। परन्तु किसी धार्मिक विषय पर उनमें परस्पर कोई चर्चा नहीं हुई। एक वैश्य को उसके गुरु ने यह गायत्री बता रखी थी– *'तत्पुरुषाय विद्महे कुबेराय धीमहि। तन्नो धनदः प्रचोदयात्।।'* स्वामी जी ने उसको वास्तविक गायत्री मन्त्र का उपदेश किया और कहा कि गायत्री सबके लिए एक ही है।

स्वामी जी कन्नौज सात–आठ दिन रहे और फिर बिठूर मदारपुर होते हुए कानपुर चले गए।

## कानपुर (१८६९ ई०)

जब स्वामी दयानन्द कानपुर पहुँचे तब तक वर्षाकाल आरम्भ हो चुका था। कानपुर में वह भैरों के मन्दिर कें पास बाबू दरगाहीलाल वकील के घाट पर ठहरे। उनके कानपुर पधारते ही सारे नगर में हल्ला सा मच गया और सैकड़ों लोग उनके दर्शनों के लिए आने लगे। स्वामीजी से अधिकतर प्रश्नोत्तर मूर्तिपूजा को लेकर होते थे और वह इसका तीव्र खण्डन करते थे जिससे मूर्तिपूजकों में खलबली मच गई थी।

स्वामीजी ने एक विज्ञापन संस्कृत में छपवाकर कानपुर में बँटवाया था[४३६] जिसमें आठ त्याज्य गप्पों और आठ ग्राह्य सत्यों का उल्लेख था। ये आठ त्याज्य गप्प और आठ ग्राह्य सत्य निम्नलिखित थे–

**आठ त्याज्य गप्प**–

१– सब मनुष्यकृत ग्रन्थ और ब्रह्मवैवर्तादि पुराण।

२– देवताबुद्धि से पाषाादि का पूजन।

३– शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य आदि सम्प्रदाय।

४– तन्त्रग्रन्थोक्त वाममार्ग।

५– भाँगादि मादक द्रव्यों का सेवन।

६– परस्त्री गमन।

७– चोरी।

८– छल, कपट, अभिमान और मिथ्याभाषण।

**आठ ग्राह्य सत्य**–

१– ऋग्वेदादि ईश्वरकृत चार वेद और ऋषिकृत अन्य २१ ग्रन्थ।

२– ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर गुरु की सेवा और स्वधर्मानुष्ठानपूर्वक वेदों का अध्ययन।

३– वेदोक्त वर्णाश्रम में स्वधर्मानुकूल सन्ध्यावन्दनादि, अग्निहोत्रादि का करना।

४– पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, ऋतुकाल में अपनी स्त्री से सहवास, श्रुति, स्मृति, सदाचार के अनुकूल आचरण।

५– शम, दम, तपश्चरण, यमादि से लेकर समाधि तक उपासना, सत्यसङ्गपूर्वक वानप्रस्थाश्रम का अनुष्ठान।

६– विचार, विवेक, वैराग्य और पराविद्या का अभ्यास और संन्यास ग्रहण करके सब कर्मों के फल की इच्छा का त्याग।

७– ज्ञान और विज्ञान से सब प्रकार के अनर्थ, मरण, जन्म, हर्ष, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, सङ्गदोष के त्यागने का अनुष्ठान।

८– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, तमस्, रजस्, सत्व सब क्लेशों की निवृत्ति, पञ्च महाभूतों से अतीत होकर मोक्ष के स्वरूप और स्वराज्य की प्राप्ति।

---

४३६– यह विज्ञापन कानपुर के शोलेतूर यन्त्रालय में २० जुलाई, १८६९ ई० के आसपास छपा था तथा इसका उल्लेख वहीं के एक उर्दू समाचार पत्र शोलेतूर के २७ जुलाई, १८६९ ई० के अङ्क (भाग–१०, संख्या–३०) में भी हुआ था।

लोग इन आठ गप्पों के कारण स्वामी दयानन्द को गप्पा बाबा कहने लगे थे, क्योंकि जब कोई ऐसी बात को उनके सामने रखता था जो गप्पों की उक्त परिभाषा के अन्तर्गत होती थी तो वह यही कह दिया करते थे कि *'यतदपि गप्पमस्ति'*

स्वामी दयानन्द के कानपुर पधारने के कुछ दिन बाद ही एक संन्यासी ब्रह्मानन्द सरस्वती वहाँ आए। कानपुर में उनकी विद्वता की बड़ी प्रशंसा थी और लोग भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा किया करते थे। उन्होंने कानपुर के पण्डितों और गण्यमान्य व्यक्तियों से कहा कि 'दयानन्द नास्तिक और ईसाई है और उन्हें तथा कई अन्य व्यक्तियों को अँग्रेजों ने ईसाई बनाने के लिए नियुक्त किया हुआ है। यदि आप लोग सहमत हों तो हम उसे भैरों घाट से निकाल दें।' तदनुसार पण्डितगण और कुछ अन्य लोग स्वामी दयानन्द के पास गए और ब्रह्मानन्द उन्हें दुर्वचन कहने लगा। स्वामी जी ने उससे कहा कि 'तू मूर्ख है, तुझसे शास्त्रार्थ क्या करें? यदि विद्वान् होता तो शास्त्रार्थ करते।' इस पर ब्रह्मानन्द ने स्वामी जी के संसर्ग में आए सभी लोगों को कहा कि तुम सब अशुद्ध हो गए हो, तुमने देवताओं की निन्दा सुनी है, तुम्हें प्रायश्चित्त करना चाहिए। अतः ब्रह्मानन्द ने उन सबको गङ्गा में स्नान कराकर और पञ्चगव्य खिलाकर तथा यज्ञोपवीत बदलवाकर प्रयश्चित्त कराया। परन्तु एक व्यक्ति रामचन्द्र अवस्थी ने ऐसा नहीं किया। इसके विरोध में ब्रह्मानन्द ने एक विज्ञापन छपवाकर वितरित किया कि जो ब्राह्मण दयानन्द के पास जाएँगे, वे त्याजय हो जाएँगे। परन्तु उसके इन सब कार्यों का कोई विशेष परिणाम न निकला। लोग पूर्ववत् स्वामी जी की सेवा में आते और उनके उपदेशामृत का पान करते रहे।

इस सबसे खिसियाकर ब्रह्मानन्द कानपुर के प्रसिद्ध रईस पण्डित गुरुप्रसाद और प्रयागनारायण के पास गया। इन सेठों ने कानपुर में बहुत धन लगाकर 'कैलास' और 'बैकुण्ठ' नाम के दो मन्दिर बनवाए थे। वह इनके पास जाकर बोला कि आप लोगों का इन मन्दिरों के निर्माण पर लगाया गया लाखों रुपयों का धन बेकार गया। इससे अच्छा तो यह होता कि आप लोग ३०-३० वर्ष से कुमारी बैठी हुई कुछ कान्यकुब्ज कन्याओं का विवाह ही करा देते अथवा कला-कौशल का कोई कारखाना देशहित में खुलवा देते। उसने इन लोगों को यह परामर्श भी दिया कि वे पं॰ हलधर ओझा और लक्ष्मण शास्त्री का स्वामी दयानन्द से मूर्तिपूजा विषय पर शास्त्रार्थ करावें। अतः ३१ जुलाई, १८६९ ई॰ (शनिवार) को शास्त्रार्थ होना निश्चित हुआ। इस शास्त्रार्थ को सुनने के लिए कानपुर की २०-२५ हजार जनता एकत्रित हो गई थी। इतना जन-समूह इकट्ठा हो गया था कि स्थानाभाव में लोग छतों और पेड़ों पर भी जा विराजे थे। हलधर ओझा ने शास्त्रार्थ से पहले यह शर्त लगा दी थी कि थेन साहब (असिस्टेंट कलेक्टर) को इस शास्त्रार्थ का मध्यस्थ बनाया जावे जो संस्कृतज्ञ थे। पं॰ प्रयागनारायण के निवेदन पर थेन साहब ने यह उत्तरदायित्व वहन कर लिया था। स्वामीजी से निवेदन किया गया कि वह ऊपर तट पर आ जावें। इस पर स्वामीजी ने कहा कि हमने तो किसी को बुलाया नहीं था, जिसे मुझसे शास्त्रार्थ करना हो वही हमारे स्थान पर आ जावे। अतः दर्गाहीलाल के घाट पर शास्त्रार्थ हुआ।

इस शास्त्रार्थ में बाबू क्षेत्रनाथ घोष सब जज, बाबू लक्ष्मीनारायण मुंसिफ, सुल्तान मोहम्मद कोतवाल तथा कतिपय अन्य सभ्रान्त महानुभाव और अँग्रेज उपस्थित थे। मध्याह्नोत्तर साढ़े चार बजे शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ।

*हलधर ओझा*- आपने जो गप्पाष्टकम् और अष्टसत्यम् का विज्ञापन दिया है उसमें व्याकरण की अशुद्धि है।

*स्वामीजी*- यह बातें पाठशाला के विद्यार्थियों की हैं, ऐसे शास्त्रार्थ पाठशाला में हुआ करते हैं। आज उस विषय पर कहो जिसके लिए यहाँ सहस्रों व्यक्ति इकट्ठे हुए हैं। व्याकरण के विषय में कल मेरे पास आ जाना, मैं समझा दूँगा।

इसके बाद ओझाजी ने ग्रन्थ-प्रामाण्य की बात उठाई और पूछा-

*ओझाजी*- आप महाभारत को मानते हैं?

*स्वामीजी*- हाँ।

*ओझाजी*– (श्लोक पढ़कर) नीच कुलोत्पन्न भील ने द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा की और शस्त्रों का अभ्यास किया। उसे यह फल मिला कि वह शस्त्रविद्या में निपुण हो गया। अत: मूर्तिपूजा विहित सिद्ध होती है।

*स्वामीजी*– इससे मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती। यह कार्य उस शूद्र ने अज्ञानवश किया था, जैसे कि अज्ञानीलोग आज तक करते चले आ रहे हैं। और शस्त्र की निपुणता मूर्तिपूजा से नहीं अपितु निरन्तर अभ्यास का परिणाम थी। यह अँग्रेज लोगों के चाँदमारी जैसा ही एक कृत्य था। अँग्रेज इसमें कोई मूर्ति सामने नहीं रखते।

आप कोई वेद-वाक्य दिखावें।

*ओझाजी*– (कुछ देर चुप रहकर) वेद में प्रतिमापूजन की यदि आज्ञा नहीं है, तो निषेध भी कहाँ है?

*स्वामीजी*– जब विधि नहीं है तो निषेध ही समझना चाहिए। जैसे यदि कोई मनुष्य अपने भृत्य को पूर्व की ओर जाने की आज्ञा देवे तो यह भी माना जाता है कि उसे अन्य दिशाओं में जाने का निषेध भी किया हुआ है।

तत्पश्चात् स्वामी दयानन्द ने अनेक वेदमन्त्र उद्धृत करके यह सिद्ध किया कि परमेश्वर निराकार है, उसकी मूर्ति नहीं बन सकती। इनमें यजुर्वेद (३२/३) का मन्त्र– *'न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यश:। हिरण्यगर्भ ऽ इत्येष मा मा हि ँ सीदित्येषा यस्मान्न जात ऽ इत्येष:।।'* प्रमुख था।

*लक्ष्मणशास्त्री*– ईश्वर सर्वव्यापक है तो पत्थर में भी है। फिर मूर्तिपूजा में क्या दोष है?

*स्वामीजी*– ईश्वर सर्वव्यापक है तो पत्थर में ही क्या विशेषता है और चेतन को छोड़कर जड़ की पूजा में क्या भलाई है?

इसे सुनकर पं० हलधर ओझा और लक्ष्मण शास्त्री मौन हो गए।

तत्पश्चात् थेन साहब ने स्वामीजी से पूछा कि आप किसको मानते हैं? इस पर स्वामी जी ने उन्हें उत्तर दिया कि मैं केवल एक परमेश्वर को मानता हूँ। थेन साहब ने स्वामीजी से पुन: पूछा कि तो फिर आप अग्नि में होम करके अग्निपूजा क्यों करते है? स्वामीजी ने कहा हम अग्निपूजा नहीं करते। चूँकि अग्नि सर्वव्यापक है इसलिए उसमें डाला गया पदार्थ सूक्ष्म होकर सर्वत्र फैल जाता है।

इसके बाद थेन साहब ने अपनी छड़ी उठाई और कुर्सी पर से उठ खड़े हुए। उनके उठते ही अन्य सभी लोग भी उठ खड़े हुए और इस प्रकार शास्त्रार्थ समाप्त हो गया। हलधर ओझा के साथी भी गङ्गाजी की जय बोलते हुए और यह कहते हुए वहाँ से गाड़ी में सवार कराकर चले गए कि 'ओझाजी जीत गए!'

उन दिनों कानपुर से *'शोलाए तूर'* नामक समाचार पत्र प्रकाशित होता था जिसका सम्पादक पं० गुरुप्रसाद शुक्ल का किराएदार था और जो स्वयं स्वामीजी का विरोधी था, उसने उसके पास जाकर कहा कि इस शास्त्रार्थ का जो विवरण अपने पत्र में छापो उसमें यह लिखो कि ओझा जी जीत गए और स्वामी दयानन्द हार गए। सम्पादक ने कहा कि हम ऐसा मिथ्या कैसे लिख सकते हैं, जबकि उसमें कई राज्य-कर्मचारी भी उपस्थित थे? इसमें मुझ पर दावा भी हो सकता है। शुक्ल जी ने सम्पादक को कहा कि दश सहस्र रुपयों तक का दावा तो मैं ही भर दूँगा। परिणाम यह हुआ कि सम्पादक ने शुक्ल जी का कहना मानकर 'शोलाए तूर' (जिल्द-१०, संख्या-३१) में वह सब छाप दिया जो शुक्ल जी चाहते थे।

*'शोलाए तूर'* पत्र में शास्त्रार्थ का ऐसा प्रकाशित विवरण लेकर स्वामी जी के भक्त पं० शिवसहाय उनके पास गए और उन्हें वह विवरण पढ़ सुनाया। इस पर स्वामी जी ने उन्हें कहा कि हम तो इस पर कुछ करेंगे नहीं, यदि तुम्हें करना हो तो करो, पर यह ध्यान रखना कि हमें अदालत न जाना पड़े।

तब पं० शिवसहाय पं० हृदयनारायण दत्तात्रेय वकील को लेकर मुंसिफ साहब और सब जज साहब से मिले और उनका पत्र लेकर शास्त्रार्थ के मध्यस्थ थेन साहब से मिले। थेन सहब ने इन्हें अपनी सम्मति इस प्रकार लिखकर दी– "भद्रपुरुषो! उस समय मैंने दयानन्द सरस्वती फकीर के पक्ष में अपना निर्णय दिया था और मुझे विश्वास है कि उनकी

उक्तियाँ वेद के अनुकूल थीं। मेरे विचार में उनकी विजय हुई। यदि आप कहेंगे तो मैं अपने निर्णय के कारण थोड़े दिन में आपको बतला दूँगा। आपका आज्ञानुवर्ती- डब्ल्यू० *थेन*[४३७]"

स्वामी जी के लिए भोजन पण्डित हृदयनारायण वकील के यहाँ से कुछ दिन आता रहा। बाद में बाबू दर्गाहीलाल ने उनके लिए एक पाचक रख दिया था जो उनके लिए घाट पर भोजन बनाने लगा था। इस समय स्वामीजी नस्य लेते थे। इस समय की बहुत सी घटनाएँ स्वामी जी के विषय में प्रसिद्ध हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

आधुनिक जन्म के ब्राह्मणों के लिए स्वामी जी निम्न श्लोक पढ़ा करते थे-

*टका*धर्मष्टका कर्म टका हि पपरमं पदम्।*
*यस्य गृहे टका नास्ति हा टका टकटायते।।*

एक दिन स्वामीजी मौज में जल में लेटे हुए थे। आधा शरीर जल में था और आधा शरीर बाहर था। इतने में ही थोड़ी दूर पर एक मगर निकला। पं० हृदयनारायण के कनिष्ठ भ्राता उसे देखकर भागे और चिल्लाए कि स्वामी जी मगर निकला है। परन्तु यह सुनकर भी स्वामी जी के मुख पर भय का कोई लक्षण प्रकट नहीं हुआ अपितु वे बोले कि जब मैं उसका कुछ नहीं बिगाड़ रहा हूँ, तो वह मुझ पर आक्रमण क्यों करेगा?[४३८]

जब स्वामी जी ध्यानावस्थित होकर बैठ जाया करते थे तो उनका सारा शरीर स्पन्दहीन हो जाया करता था और उनका दिव्य मुखमण्डल अपूर्व शान्त और आभामण्डित हो जाता था।

स्वामी जी ऐसी मधुर और सरल संस्कृत बोलते थे कि उनके संसर्ग में रहने वाले साधारणजन भी उसे समझ लेते थे। पं० हृदयनारायण को स्वामीजी की सरल संस्कृत का इतनी समझ हो गई थी कि वे उसका भाषान्तर करके अन्य लोगों को समझा देते थे।

पं० हृदयनारायण वकील और पं० काशीनाथ मुंसिफ, जो दोनों काश्मीरी ब्राह्मण थे, एक दिन ये दोनों रात्रि के समय स्वामी जी से मिलने उनके स्थान पर गए। तब उन्होंने देखा कि स्वामी जी नहा धोकर अपने शरीर पर मिट्टी का लेपकर ध्यानावस्थित होकर बैठे हुए हैं। उन्होंने १५ मिनट तक वहाँ बैठकर उन्हें देखा कि उनके शरीर में न तो कोई स्पन्दन ही है और न उनके किसी अङ्ग में ही कोई कम्पन। जब स्वामी जी का ध्यान भङ्ग हुआ तब वे उनसे बातचीत करने लगे। उस समय स्वामी जी एक समय भोजन करते थे। उनका भोजन प्राय: पं० हृदयनारायण जी के घर से आता था। वे कहा करते थे कि काश्मीरियों के यहाँ भोजन अच्छा बनता है।

अनेक लोगों ने स्वामी जी के उपदेश से मूर्तिपूजा को तिलाञ्जलि देकर अपनी-अपनी मूर्तियाँ गङ्गा में प्रवाहित कर दी थीं। अनेक पण्डितगण मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करने के लिए स्वामी जी के पास आते थे और उनसे परास्त होकर चले जाते थे। एक दिन कुछ ब्राह्मण षडविंश ब्राह्मण का प्रमाण '*प्रतिमा हसन्ति*' लेकर इस आशा के साथ स्वामी जी से मिले कि आज तो स्वामी जी को परास्त कर ही देंगे। उनके आने पर स्वामी जी ने उनसे पूछा कि कोई नया प्रमाण लाए

437- Gentlemen! At the time in question I decided in favour of Dayanand Saraswati, Faquir, and believe his arguments are in accordance with Vedas. I think he won the day, If you wish it I will give you my reasons for my decision in a few days.

**Cawnpore 7-8-1869** *W Thaine*

*यहाँ टके का अभिप्राय रुपये से है, अधन्ने (रुपये के ३२वें भाग से) नहीं।

४३८- स्वामी दयानन्द का यह कथन उनके योगदर्शन के सूत्र- '*अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:*' को अपने जीवन में क्रियात्मकरूप से धारण कर लेने का परिणाम था।

हो? उन्होंने कहा- हाँ। तब स्वामी जी ने कहा कि वही षडविंश ब्राह्मण का प्रमाण *'प्रतिमा हसन्ति'* लाए होगे।[४३९] यह सुनकर वह इतने घबरा गए कि अँगोछे में लिपटी हुई षडविंश ब्राह्मण की पुस्तक भी नहीं खुल सकी और वे लज्जित होकर उलटे पाँव वापस चले गए।

कानपुर में एक किंवदन्ती यह फैली हुई थी कि भैरव मन्दिर के निकट जो सरकारी मैगज़ीन (गोला-बारूद रखने का स्थान) है, उस पर सिपाहियों का पहरा रहता था। एक दिन भैरव जी की सवारी निकली तो पहरेदारों ने उसे निकलने से टोका, भैरव जी ने क्रोधित होकर पहरे दार को दे मारा। लोगों ने यह बात स्वामी जी से कही तो उन्होंने कहा कि पहरेदार निद्रालु होगा और ऊँघ कर स्वयं गिर पड़ा होगा। हम तो भैरव का रोज खण्डन करते हैं, उसने आकर मुझे तो कभी नहीं दे मारा। थोड़े दिनों पीछे गङ्गा की बाढ़ में भैरव मन्दिर बह गया और उसके साथ ही भैरव की मूर्ति भी।

स्वामी जी जब किसी भिखारी के मस्तक पर 'श्री' का तिलक लगा हुआ देखते थे तो कहते थे कि देखो इसके मस्तक पर श्री = लक्ष्मी का तिलक है और यह भिक्षा माँग रहा है!

एक दिन श्रावण मास (२४ जुलाई से २२ अगस्त, १८६९ ई० के मध्य) कुछ ब्राह्मण शिवलिङ्ग पर बिल्वपत्र चढ़ाकर स्वामी के पास गए तो उन्होंने पूछा कि यहाँ कहाँ आए थे? उत्तर मिला कि शिवलिङ्ग पर बिल्वपत्र चढ़ाकर आ रहे हैं। इस पर स्वामी जी ने उन्हें कहा कि यदि ऊँट को खिलाते तो यह उनका चारा होता, पाषाण पर चढ़ाने से क्या लाभ हुआ?

एक दिन एक हेड कॉंस्टेबल रुद्राक्ष की माला पहने हुए और अपने हाथ में नर्मदेश्वर महादेव लिए हुए स्वामीजी के पास आया। स्वामीजी के उपदेश से उसने नर्मदेश्वर महादेव को तत्काल फेंक दिया और रुद्राक्ष की माला भी तोड़ डाली। उसने फिर स्वामीजी से पूछा कि यदि इस कृत्य में कुछ पाप हुआ होगा तो उसका फल किसे मिलेगा? स्वामीजी ने कहा पाप मुझे मिलेगा और पुण्य तुझे।

स्वामीजी में विनोद-कला का भी पूर्ण विकास था और तत्काल उत्तर देने में तथा व्यंग्य करने में वे अद्वितीय थे। चक्राङ्कितों के विषय में वे कहते थे कि वे अपना लिङ्ग शतवार देखते हैं, परन्तु इनके मस्तक पर विराजमान 'श्री' नहीं शर्माती? परन्तु पाषाण का शिवलिङ्ग देखकर शरमा जाती है। यह लोग तो एक प्रकार से नर-माँस खाते हैं क्योंकि छाप को तप्त करके शरीर दग्ध करते हैं और फिर उसी को धोकर पीते हैं।

जब स्वामीजी किसी को रुद्राक्ष पहने देखते थे तो उससे कहा करते थे कि इन गुठलियों को पहनने से क्या लाभ है? इनसे मुक्ति नहीं होती, मुक्ति तो ज्ञान से होती है।

स्वामी कैलासपर्वत भी उन दिनों कानपुर आए हुए थे। स्वामी दयानन्द ने उन्हें अपने पास विचारार्थ बुलवाया तो वह न आए और कहला भेजा कि हम शूद्र के स्थान पर न आवेंगे।[४४०] स्वामी जी ने उन्हें कहला भेजा कि तो फिर आप म्लेच्छ (अँग्रेज) के राज्य में क्यों आए? कैलासपर्वत स्वामीजी का यह व्यंग्य सुनकर फड़क उठे होंगे।

स्वामी दयानन्द के उपदेशों से कानपुर के अनेक लोगों ने मूर्तिपूजा को सदैव के लिए तिलाञ्जलि दे दी और अपनी-अपनी मूर्तियाँ गङ्गा में बहा दीं। इससे मूर्तिपूजकों में बड़ी सनसनी फैल गई और उन्हीं हलधर ओझा ने जिन्हें शास्त्रार्थ में विजेता प्रसिद्ध करने के लिए पं० गुरुप्रसादादि से झूठे लेख प्रकाशित कराए थे, अखबारों में संस्कृत, उर्दू और आर्यभाषा में ऐसे विज्ञापन *'शोलाए तूर'* के ३ अगस्त, १८६९ ई० के अङ्क में छपवाए थे कि जो लोग स्वामी दयानन्द के मत को स्वीकार कर लेवें मूर्तियाँ गङ्गा में प्रवाहित न करके मेहरवानी करके उन्हें महाराज गुरुप्रसाद शुक्ल के कैलाश मन्दिर

---

४३९- स्वामी दयानन्द ने यह बात योगदर्शन के सूत्र- 'प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्' के अनुसार कही थी।

४४०- स्वामीजी कानपुर में दर्गाहीलाल के घाट पर ठहरे हुए थे जो कायस्थ थे और कायस्थों को उस समय शूद्र समझा जाता था।

में अथवा महाराज प्रयागनारायण तिवारी के मन्दिर में पहुँचा देवें। यदि वे लोग इतना भी न करना चाहें तो हमें ही सूचित कर दें ताकि हम उन मूर्तियों को उनके यहाँ से उठा लावें।

एक बार पं० विष्णुलाल पाण्डया एक अध्यापक के साथ कानपुर आए। जब वे भ्रमणार्थ गङ्गातट पर पहुँचे तो देखा कि एक बुर्ज पर बैठे हुए स्वामी दयानन्द सामगान गा रहे हैं। थोड़ी देर पीछे स्वामी जी ने पाण्डया जी और उनके साथ आए हुए अध्यापक को कहा कि आप लोग यहाँ से चले जावें, यहाँ उपद्रव होने वाला है![४४१] वह लोग जाने को ही थे, तभी कुछ लोग लाठी और ढेले लेकर वहाँ आ गए और स्वामीजी पर ढेले फेंकने लगे। एक व्यक्ति ने उन पर लाठी से वार भी किया तो उन्होंने उसकी लाठी पकड़कर उसे ऐसा धक्का मारा कि वह गङ्गाजी में जा गिरा। फिर उन्होंने निकटस्थ एक वृक्ष की एक शाखा को तोड़कर इन मनुष्यों को उसकी सहायता से हटाते हुए कहने लगे- आओ मित्रगण! और उन्हें मारा तथा कहा कि मैं निरा साधु ही नहीं हूँ। इसके पश्चात् वे लोग वहाँ से चले गए और स्वामी जी भी गङ्गा में छलाँग लगाकर तैरने लगे जिसका उन्हें मथुरा से ही अपने अध्ययन के दौरान यमुना में तैरने के कारण अच्छा अभ्यास था।

पं० सूर्यकुमार शर्मा रईस (पुराना कानपुर) स्वामी दयानन्द के बड़े विरोधी थे। वह हलधर ओझा से स्वामी जी के हुए शास्त्रार्थ में एक ईंट उनकी ओर फेंककर चले आए थे। इस शास्त्रार्थ में स्वामी जी ने मूर्तिपूजा का ऐसा प्रभावी खण्डन किया कि वे उनसे इस सीमा तक द्वेष करने लगे थे कि वह वर्षों बाद उनके सामने लाई गई स्वामी जी की पुस्तकें फड़वा देते थे। संवत् १९३९ वि० तक उनकी यही दशा रही जब उनका एक छोटा भाई स्वामी जी की कई पुस्तकें खरीदकर लाया जिन्हें भी वे फड़वा देना चाहते थे, पर उनकी सुन्दरता को देखकर उनका जी उन्हें देखने के लिए मचल उठा। 'मेला चाँदपुर' नामक उनकी पुस्तक पढ़कर वे उस पर ऐसे मोहित हो गए कि उनकी बुद्धि पर पड़ा हुआ परदा हट गया और वे स्वामी जी की युक्तियों की प्रबलता से और 'सत्यासत्य विवेक (शास्त्रार्थ बरेली)' को पढ़कर उनके भी सन्देह निवृत्त हो गए और वे श्रावण संवत् १९४० वि० (जुलाई-अगस्त, १८८३ ई०) में जब कानपुर में आर्यसमाज स्थापित हुआ तो उसके सभासद् बन गए।

इस समय तक स्वामी जी श्राद्ध का समर्थन करते थे और माँसाहार के भी प्रबल विरोधी नहीं हुए थे। बाद में वे माँसभक्षण और श्राद्ध दोनों का प्रबल खण्डन करने लगे थे।

प्रसङ्ग आने पर वे कह दिया करते थे कि पण्डित लोग अपनी प्रतिष्ठा हानि और निन्दा के भय से सत्य को प्रकट नहीं करते, पर मैं तो अपने गुरु (स्वामी विरजानन्द) के आदेशानुसार सत्य का ही प्रचार करूँगा। उनकी यह भी प्रबल इच्छा थी कि महाभारतादि आर्ष ग्रन्थों के विशुद्ध संस्करण प्रकाशित होने चाहिए।

स्वामीजी बाल-विवाह और बाल-सहवास का प्रतिवाद किया करते थे। विवाहयोग्य वय से पहले विवाह और स्त्री-सहवास करने से सन्तान बलिष्ठ और दीर्घजीवी नहीं हो सकते। द्रष्टान्तस्वरूप वे अपने बल-वीर्य का उल्लेख करके कहते थे कि हमारे जन्म के समय हमारे माता-पिता की आयु ४०-४२ वर्ष थी।

स्वामीजी विधवा-विवाह का वह समर्थन करते थे और कहते थे कि मृत-पति की पत्नी का पुनर्विवाह उसके छोटे भाई (देवर) के साथ हो जाना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए वे व्यायाम को आवश्यक बताते थे। वे यह भी कहते थे कि वेद का अभ्यास न रहने से सब पराक्रम नष्ट हो गया। अन्यथा भारत सन्तान वैसी ही पराक्रमी होती जैसी प्राचीनकाल में थी।

गायत्री जप की वह बड़ी महिमा बताते थे और कहते थे कि प्राणायाम से बड़ी शक्ति उत्पन्न होती है। नई

---

४४१- **परिणामत्रसंयमादतीतानागतज्ञानम्** (योगदर्शन ३/१६) जब योगी इन वस्तुओं के परिणामों में संयम करता है तो उन पदार्थों के अतीत परिणाम और भविष्यत् परिणाम को जान लेता है।

रोशनी वालों का यह विचार ठीक नहीं है कि योग में कुछ नहीं है। अब भी ऐसे बहुत से योगी विद्यमान हैं जो पृथ्वी से एक हाथ ऊपर उठ सकते हैं और वहाँ स्थिर रह सकते हैं।

एक दिन एक मौलवी ने आकर स्वामी जी से कुरान के विषय में बातचीत शुरू की और कहा कि कुरान खुदा का कलाम है। स्वामी जी ने कहा कि कुरान ईश्वरवाक्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसके आरम्भ में ही यह कहा गया है कि 'आरम्भ करता हूँ अल्लाह के नाम से जो बख्शने वाला और दया करने वाला है।' यह सुनकर वह मौलवी चुप रह गया।

इन दिनों स्वामी जी नस्य लिया करते थे और तम्बाखू खाया करते थे। इस पर आपत्ति करने पर वह कहते थे कि यदि शरीर में कोई दोष आ जाए तो उसके निवारणार्थ इन्हें लिया जा सकता है।

एक व्यक्ति ने स्वामी जी से पूछा कि मूर्तिपूजा में क्या दोष है? तो उन्होंने कहा कि वेदों की आज्ञा पर चलना धर्म है और वेदों में कहीं भी मूर्तिपूजा की आज्ञा नहीं दी गई है, इसलिए मूर्तिपूजा करना अधर्म है। जो यह कहते हैं कि भावना का फल होता है, सो भी ठीक नहीं है। यदि तुम घर बैठे हुए ही चक्रवर्ती राजा बनने की भावना किए जाओ, तो क्या बन जाओगे?

एक दिन एक व्यक्ति ने स्वामी जी से शिवलिङ्ग पर जल चढ़ाने के लिए लोटा माँगा। स्वामी जी ने कहा कि तू अपने लोटे से क्यों नहीं चढ़ाता? यदि वह नहीं है, तो अपने मुख में पानी भरकर उस पर कुल्ला ही कर दे।

एक दिन स्वामी जी ने विनोद में कहा कि लोग आधा-आधा मन्त्र देकर भी गुरु बन जाते हैं। पर हम सैकड़ों मन्त्र देकर भी लोगों के गुरु नहीं बन सकते।

जो लोग गङ्गा के यात्रियों के दान से अपनी जीविका करते हैं, वे गङ्गापुत्र कहलाते हैं। ऐसा एक गङ्गापुत्र स्वामी जी के स्थान पर ही रहता था। वह प्रतिदिन एक नियत समय पर स्वामी जी को गालियाँ दिया करता था। परन्तु स्वामी जी उसकी इन गालियों पर कुछ भी ध्यान न दिया करते थे।

श्रद्धालु जन स्वामीजी को जो मिष्टान्न और फल आदि दिया करते थे, उनमें से बचे हुए पदार्थ वह आगन्तुकों में बाँट दिया करते थे। एक दिन वह बचे हुए पदार्थ किसे दें, ऐसा सोच ही रहे थे, तभी उनको प्रतिदिन गालियाँ देने वाला गङ्गापुत्र आ गया। स्वामीजी ने उसे आत्मीयता के साथ अपने पास बुलाया और सब बचे हुए पदार्थ उसे दे दिए और उसे कह दिया कि वह इसी प्रकार आकर प्रतिदिन ले जाया करे। इस प्रकार कई दिनों तक ले जाते रहने पर उसकी आत्मा ने उसे धिक्कारा कि हम जिसे गालियाँ देते हैं, वह हमें मिष्टान्न और फल देता है! अन्ततोगत्वा वह स्वामीजी के चरणों पर गिर पड़ा और अपने अपराध के लिए उनसे क्षमायाचना करने लगा। स्वामी जी ने उसे कहा कि तुम्हारी गालियों को हमने अपनी स्मृति में नहीं रखा। अत: तुम्हें दु:खी होने की आवश्यकता नहीं है।

एक दिन एक ब्राह्मण ने स्वामीजी से पूछा कि महाराज मैं क्या काम करूँ जिससे मुक्ति पा जाऊँ? स्वामीजी ने उसे कहा कि सन्ध्यादि पञ्च यज्ञ किया करो, लोगों के यज्ञोपवीत कराओ, ब्राह्मणों के पुत्रों को पढ़ाओ? पानी, पत्थर और जड़ पदार्थों की पूजा कभी मत करो। इस पर उसने कहा कि मूर्तिपूजा तो पुरानी है, स्वामीजी ने कहा कि चोरी करना भी तो पुरानी है।

कानपुर में लगभग दो मास तक (अर्थात् अनुमानत५: १४ सितम्बर, १८६९ ई० को पड़ने वाले अपने जन्मदिन तक) रहकर स्वामी जी किसी को भी बताए बिना ही एक दिन प्रात:काल अपना एक लँगोट और नस्य की पुड़िया अपने रहने के स्थान पर ही छोड़कर किसी अनिर्दिष्ट स्थान की ओर चल दिए। स्वामी जी तब एक ही लँगोट रखते थे। कानपुर में दूसरा लँगोट किसी सज्जन ने उन्हें दे दिया था। इसलिए एक अतिरिक्त लँगोट उन्हें भारस्वरूप हो गया था!

## शिवराजपुर, जिला- फतेहपुर; प्रयाग (१८६९ ई०)

कानपुर से चलकर स्वामी जी गुसाइयों के शिवराजपुर जिला- फतेहपुर पहुँचे। यहाँ किसी से शास्त्रार्थ करके वे आगे काशी की ओर चले गए। अपनी इस अगली यात्रा का विवरण देते हुए वे पूना-प्रवचन में कहते हैं कि "फर्रुखाबाद से मैं कानपुर आया और कानपुर से प्रयाग गया। प्रयाग में भी मुझे मारने वाले मारने के लिये आये थे, परन्तु माधवप्रसाद नाम का एक भद्र पुरुष था उसने [मुझे] बचा लिया। यह गृहस्थ माधवप्रसाद ईसाई मत स्वीकार करने को तैयार था और उसने सब पण्डितों को नोटिस (= विज्ञापन) दे रखी थी कि अपने आर्य धर्म के विषय में मेरी खात्री (= विश्वास) तीन महिने के भीतर न करा दी तो मैं ईसाई मत को स्वीकार कर लूँगा। मैंने उसकी आर्य धर्म विषयक खात्री करा दी और वह ईसाई होने से बच गया।

प्रयाग से मैं रामनगर गया। रामनगर के राजा के कहने के अनुसार काशीस्थ पण्डितों से वाद-विवाद (= शास्त्रार्थ) करने के लिये [काशी] गया।"

प्रयाग में स्वामीजी का वहाँ के पण्डित शिवसहाय से शास्त्रार्थ हुआ था। उस पण्डित ने वाल्मीकि रामायण की टीका बनाई हुई थी। किसी ने वह लाकर स्वामीजी को दिखलाई थी। उसे देखकर स्वामीजी ने उसे कहा कि इसके टीकाकार को हमसे मिलवाओ। जब वह टीकाकार आया तब स्वामी जी ने उसकी टीका में उसे अर्थदोष और शब्ददोष बताए। इस पर वह स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने लगा, परन्तु परास्त हो गया और उठकर गङ्गा के तट पर रामनगर की ओर चला गया। स्वामी जी भी उसका पीछा करते हुए रामनगर जा पहुँचे।

## रामनगर, काशी (१८६९ ई०)

प्रयाग से चलकर स्वामी दयानन्द गङ्गातट पर विचरण करते हुए आश्विन संवत् १९२६ वि० तदनुसार अक्टूबर, १८६९ ई० के प्रारम्भ में रामनगर (काशी) पधारे। उस समय वहाँ रामलीला हो रही थी। स्वामी जी ने देखा कि शिवसहाय काशी नरेश के पास आकर छिप गया है। स्वामीजी ने वह रात राजवाटिका के समीप ही रेती में बिताई। प्रातःकाल नित्यकर्म करके उन्होंने शिवसहाय की टीका के खण्डन से ही अपना प्रचार आरम्भ किया। इस टीकाकार के लिए उन्होंने कहा कि वह राजा के महल में जाकर छिप गया है, परन्तु शिवसहाय फिर उनके सामने नहीं आया। तब स्वामीजी ने भी अपना आसन काशी नरेश राजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह की हस्तिशाला के समीप ही एक वृक्ष के नीचे जमा लिया।

काशी नरेश साधुओं, संन्यासियों और परमहंसों के प्रति भक्ति-भावना रखते थे, अतः उन्होंने अपने राज्य में पधारने पर स्वामी दयानन्द के प्रतिदिन के भोजन के लिए आठ आने (एक रुपये का आधा भाग अर्थात् आजकल के ५० पैसे) देने नियत कर दिए और पशमीने का एक बहुमूल्य अलवान भेंट के लिए उनके पास भेजा जिसे स्वामी जी ने स्वीकार नहीं किया। महाराजा के भेजे हुए राजपण्डित भी स्वामी जी की सेवा में पहुँचे, परन्तु उनके मुख से राजा ने यह सुनकर कि यह संन्यासी तो मूर्तिपूजा का खण्डन करता है, महाराजा स्वामी दयानन्द से रुष्ट हो गए। कहते हैं कि महाराजा अपने हाथ से पार्थिव लिङ्ग बनाया करते थे, इन्हें देखकर स्वामी जी ने उन्हें कहा कि आप यह कुम्हार का सा क्या खेल करते हो? महाराजा ने उन्हें १०० रुपये मासिक की वृत्ति भी इस आशय से देनी चाही कि शायद इससे स्वामी जी मूर्तिपूजा का खण्डन करना छोड़ देंगे, पर भला स्वामी जी अपने दृढ़-निश्चय से क्योंकर डिगने वाले थे? सो उन्होंने राजा को कहला भेजा कि यदि आप मुझे अपना सारा राज्य भी दे दें, तब भी मैं मूर्तिपूजा का खण्डन करना नहीं छोड़ूँगा। इन सब कारणों से राजा स्वामी दयानन्द से अप्रसन्न रहने लगा और अपने पण्डितों को बुलाकर उन्हें कहा कि दयानन्द से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करना चाहिए।

स्वामीजी से राजा का इस प्रकार का विरोध होने पर भी वह यह नहीं चाहता था कि रामनगर में रहते हुए कोई उनके साथ दुर्व्यवहार करे। फिर भी एक दिन ५०-६० वैरागी इकट्ठा होकर स्वामी जी के पास आए और उन्हें कुवाच्य कहने लगे। जब महाराजा को यह बात पता चली तो उन्होंने इन वैरागियों की भर्त्सना की और कहा कि स्वामीजी को गाली देना एक प्रकार से मुझे ही गाली देना है, क्योंकि स्वामी जी हमारे यहाँ आए हुए हैं।

एक दिन रामनगर निवासी बाबू अविनाशीलाल खत्री, मुंशी हरवंशलाल और पं० ज्योतिस्वरूप उदासी स्वामीजी के दर्शनों के लिए आए। उस समय स्वामी जी वृक्षतले बैठकर कुछ पण्डितों से उस समय चर्चित विषय मूर्तिपूजा पर ही वार्तालाप कर रहे थे। उनका यह वार्तालाप उनसे दो घण्टे तक चलता रहा और स्वामी जी अपनी युक्तियों और प्रमाणों से मूर्तिपूजा को अवैध सिद्ध करते रहे। बाबू अविनाशीलाल ने पं० ज्योतिस्वरूप से कहा कि आप भी इस विषय में कुछ कहें। सो उन्होंने कहा कि हम क्या कहें, स्वामीजी जो कह रहे हैं, वह ही ठीक है।

बात यह थी कि स्वामी जी के मूर्तिपूजा का प्रतिवाद करने से पहले से ही अनेक विद्वान् उसे अवैध समझते रहे थे, परन्तु प्रकट रूप से वे उसका प्रतिवाद करने का साहस नहीं कर पाते थे। जब स्वामी दयानन्द ने स्वयं यह कार्य करना आरम्भ कर दिया तो ऐसे विद्वानों का भी उसे अवैध बताने का साहस हो गया।

इन्हीं दिनों एक दिन महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह स्वामी निरञ्जनानन्द के पास गए और उनसे पूछा कि वेद में मूर्तिपूजा और रामलीला का विधान है, वा नहीं? दयानन्द तो कहते हैं कि नहीं है। इस पर स्वामी निरञ्जनानन्द ने उन्हें स्पष्टरूप से कह दिया कि नहीं है, परन्तु लोकरीति चली आ रही है।

रामनगर में लगभग तीन सप्ताह तक रहकर स्वामी दयानन्द कार्तिक कृष्ण २, ३ संवत् १९२६ वि० तदनुसार २२-२३ अक्टूबर, १८६९ ई० को काशी पधारे और वे वहाँ पहले गोसाईं जी के बाग में, पुन: अमेठी के राजा के आनन्दबाग में (दुर्गाकुण्ड के पास) रहने लगे। यह वही पुनीततम काशी नगरी थी जो चिरकाल से पौराणिक धर्म का केन्द्र और संस्कृत विद्या की नगरी के रूप में प्रतिष्ठित हो गई थी और काशी नरेश अपने धन तथा बल के साथ उसकी रक्षा के लिए सदैव समुद्यत रहते थे। इस प्रकार से सुरक्षित, दैविक और मानुषिक छत्र-छाया से पालित उस काशी में एक कौपीनमात्रधारी एकाकी संन्यासी दयानन्द का उसमें पदार्पण हुआ था।

दयानन्द के पदार्पण का समाचार विद्युतवेग से सारी काशी नगरी में फैल गया। यहाँ की पण्डित-मण्डली इसे उनका दुस्साहस ही समझती रही और उस पर आश्चर्य करती रही। कोई-कोई दयानन्द की इस मूर्खता पर हँसता भी था। नगर के गुण्डे और लफङ्गे उन्हें अपनी दुष्टता से दवा देने का विचार भी करते थे। पण्डितों में जो समझदार थे, वे यद्यपि प्रकटरूप से कुछ नहीं कहते थे, परन्तु अपने पक्ष की निर्बलता को जानते हुए सहमे हुए रहते थे। इस प्रकार सारा नगर आन्दोलित, उत्तेजित, चकित, चमकित और आतङ्कित हो उठा था!

काशी के सैकड़ों मनुष्य प्रतिदिन स्वामीजी के दर्शन करने और उनका शास्त्रालाप सुनने के लिए आते थे। इनमें से कई सन्तुष्ट और कई असन्तुष्ट होकर भी चले जाते थे। इस प्रकार उनके स्थान पर मेला सा लगा रहता था। मूर्तिपूजा के गढ़ काशी में आकर दयानन्द आस्फालनपूर्वक वेद के आधार पर मूर्तिपूजा का खण्डन करें, यह अश्रुतपूर्व और अभूतपूर्व बात थी। इसीलिए लोगों के मन में असाधारण कुतूहल उत्पन्न हो गया था।

काशी के पण्डितों की सुख-निद्रा भङ्ग हो गई थी। उन्हें यह विस्मय हो रहा था कि यह अनहुई अनहोनी हुए कैसे? अपनी विद्या और शास्त्रज्ञता के गर्व में वे यह सम्भव ही नहीं समझते थे कि कोई हिन्दू काशी जैसे स्थान में मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज उठाने का साहस भी कर सकता है, परन्तु जब यह असम्भावित घटना घटी तो सब विस्मय से अवाक् रह

गए थे। पहला विचार तो उनके मन में जो उठा वह दयानन्द को तुच्छ समझने का था, जिसकी ओर उन्हें दृष्टिपात करने की भी आवश्यकता नहीं थी, परन्तु जब उन्होंने देखा कि दयानन्द का सिंहगर्जन काशी के कोने-कोने को निनादित किए ही चला जा रहा है तो उनके मन में भय का भाव उत्पन्न हो गया। जो दशा एक अकिञ्चनकर मनुष्य को अपने सामने विरोध करने के लिए खड़ा हुआ देखकर एक सर्वदमनकारी शक्तिशाली पुरुष की होती है, वही दशा काशी के पण्डितों की हो गई थी।

स्वामीजी के उपदेशों का यह प्रभाव था कि जो लोग दुर्गा के दर्शन के लिए जाते थे वे उनका उपदेश सुनने के लिए मार्ग में ही रुक जाते थे और उपदेश सुनने के बाद मूर्तिपूजा से उन्हें इतनी अश्रद्धा हो जाती थी कि दुर्गा के दर्शन किए बिना ही वे अपने घरों को लौट जाते थे। इससे दुर्गामन्दिर की आय इतनी कम हो गई थी कि उसके पुजारियों को स्वामी जी से यह प्रार्थना करनी पड़ी कि अब आप कहीं और पधारें। अत: वे आनन्द बाग चले गए।

सबसे पहले उन्होंने दयानन्द के विद्यबल की जाँच करने के लिए कुछ विद्यार्थियों को उनके पास शास्त्रचर्चा और शङ्कासमाधान करने के लिए भेजा। फिर वे स्वयं भी प्रछन्नरूप से इसके लिए उनके पास आए। जो पण्डित इस प्रकार दयानन्द की जाँच के लिए आते थे, उनमें कुछ नाम ये थे- रामशास्त्री, दामोदर शास्त्री, बाल शास्त्री और सम्भवत: राजाराम शास्त्री भी (जो उनसे पहले से भी परिचित थे)।

इन पण्डितों ने देखा कि दयानन्द कोई साधारण कोटि के विद्वान् नहीं हैं। उनकी विद्या, उनकी प्रतिभा, उनकी तर्कशक्ति सभी कुछ अलौकिक है। दूसरे दयानन्द जो बात कहता है, वह वेद के आधार पर कहता है जिसमें काशी के विद्वानों की पैठ ही नहीं थी। अत: वे दयानन्द के सामने आने से ही कतराते हैं।

इस प्रकार दिन के बाद दिन और सप्ताह के बाद सप्ताह बीतते चले जा रहे थे और दयानन्द विशुद्ध संस्कृत में मूर्तिपूजा का खण्डन करता चला जा रहा था। यह दृष्य काशी नरेश से देखा न गया। अत: उन्होंने काशी के पण्डितों को बुलाकर कहा कि हम तो शास्त्रज्ञ हैं नहीं, आप लोग जो जनता का लाखों रुपया मूर्तिपूजा पर व्यय कराते हैं, उनको मूर्तिपूजा का प्रमाण देना चाहिए। पण्डितों ने उत्तर दिया कि दयानन्द कुछ विशेष तो जानता नहीं है, वह केवल व्याकरण जानता है और वह तो क्रिस्टान है तथा सरकार का गुप्तचर है। काशी नरेश ने कहा- नहीं, जब वह काशी के मध्य में खड़ा होकर इस प्रकार की बातें कह रहा है, तो वह उपेक्षणीय नहीं हो सकता, आप लोग उससे शास्त्रार्थ अवश्य करें।

नरेश का यह आदेश पाकर पण्डितगण सिटपिटाए और उन्होंने नरेश को कहा कि यद्यपि हमने वेद नहीं देखे हैं, परन्तु अन्य शास्त्र तो देखे हुए ही हैं। हमें तैयारी और अनुसन्धान के लिए कुछ समय मिलना चाहिए। काशी नरेश ने पण्डितों का यह परामर्श स्वीकार कर लिया और कहने के लिए वे शास्त्रार्थ की तैयारी करने लगे। उधर महाराजा यथापूर्व अपने कार्य में रत हो गए, परन्तु पण्डितों को न तो कोई खोज ही करनी थी और न कोई तैयारी ही। अत: उन्होंने कुछ भी नहीं किया।

पं॰ ज्योतिस्वरूप उदासी से स्वामीजी का नवीनवेदान्त पर १४ दिन तक विचार होता रहा। अन्त में उन्होंने स्वामी जी की सब बातें स्वीकार कर लीं।

एक दिन स्वामी दयानन्द ने अपने पूर्व परिचित पं॰ राजाराम शास्त्री को, जो काशी में पण्डितों के शिरोमणि समझे जाते थे, शास्त्रार्थ के लिए आहूत किया और निम्नलिखित प्रश्न लिखकर उनके पास भेजा-

*येनोच्चरितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणप्रत्ययो भवति स शब्द:, अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि: शब्द:, अथवा श्रोत्रोपलब्धिबुद्धिनिर्ग्राह्य आकाशदेश: स शब्द:, अस्योदाहरण-प्रत्युदाहरणपूर्वकं समाधानं कुर्यात्।*[४४२]

---

४४२- यह वचन अथ शब्दानुशासनम् और अइउण् सूत्र के महाभाष्य में हैं।

पण्डित राजाराम शास्त्री ने इस प्रश्न को देखा और कहा कि मध्य में एक छुरी रख लो, यदि हम इसका उदाहरण-प्रत्युदाहरण कर देंगे तो नासिका छेदन कर लेंगे। इस उत्तर को पाकर स्वामीजी ने कहा कि एक नहीं दो छुरी रखनी चाहिएँ, शास्त्र की जगह शस्त्र ही सही। पण्डित राजाराम ने स्वामीजी का उत्तर सुनकर कहा कि दयानन्द काशी में आ गया है, चिन्ता क्या है, देखा जाएगा।

पं० राजाराम कहने को तो इतना कह गए, परन्तु उन्हें यह चिन्ता हुई कि ऐसा न हो कि कहीं सचमुच ही दयानन्द से शास्त्रार्थ छिड़ जाए और विद्या में हम उसके पल्ले के न निकलें और हमें नीचा देखना पड़े। अत: उन्होंने अपने एक शिष्य पं० शालिग्राम (फर्रुखाबाद निवासी) को, जो पीछे आकर गवर्नमेंट कालेज अजमेर में संस्कृत के प्रोफेसर नियुक्त हुए थे, स्वामी जी के पास भेजा कि देखकर आओ कि दयानन्द की विद्या कैसी है? पं० शालिग्राम[४४३] ने दयानन्द के पास जाकर पूछा कि नस्य लेना कहाँ लिखा है? स्वामीजी ने झट मनु का श्लोक पढ़कर उत्तर दिया कि रोगनिवृत्यर्थ यह कुछ व्यसन नहीं है। पण्डित शालिग्राम ने जाकर अपने गुरु पं० राजाराम से ऐसा ही कह दिया कि दयानन्द पण्डित तो तगड़ा है, परन्तु नास्तिक है!

काशी के पण्डित कई प्रकार से शास्त्रार्थ की तैयारी करने लगे। एक वर्ग तो अपने को शास्त्रालोचन और प्रमाण-संग्रह से सुसज्जित करने लगा और दूसरा दयानन्द के विरुद्ध जनता में भ्रमजाल फैलाने लगा कि दयानन्द सरकार का गुप्तचर है और मूर्तिपूजा के खण्डन से उसका अभिप्राय लोगों को क्रिस्टान बनाना है। नगर का गुण्डावर्ग इस प्रयत्न में लग गया कि दयानन्द को अपमानित करने में कोई कसर न की जाए। निदान यह मनसूबा पक्का कर लिया गया कि येन-केन- प्रकारेण दयानन्द को पराभूत और परास्त किया जाए, फिर यह चाहे विद्या से हो वा छल-बल से।

शास्त्रार्थ की तिथि नियत होने से पहले पं० बालशास्त्री ने अपने विद्यार्थियों को स्वामी जी के पास भेजा। उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि आप शास्त्रार्थ करना चाहते हैं? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि चाहते हैं। इस पर उन्होंने प्रश्न किया कि आप किन ग्रन्थों का प्रमाण स्वीकार करते हैं। इस समय स्वामीजी के पास मुंशी हरवंशलाल छापेखानेवाले बैठे थे। उन्होंने स्वामीजी से सङ्केत से कह दिया कि ये पण्डितों के विद्यार्थी हैं, आप इनसे कुछ न कहें। जब उनके गुरु आएँगे तब सब बातों का निर्णय हो जाएगा। स्वामी जी ने उनसे ऐसा ही कह दिया कि अभी नहीं बताएँगे। विद्यार्थियों ने यही बात जाकर अपने गुरुओं को कह दी और उन्होंने काशी नरेश को कहला भेजा कि जब तक ग्रन्थ-प्रामाण्य का निर्णय न हो जाएगा तब तक हम लोग शास्त्रार्थ न करेंगे। दो-तीन दिन के बाद बाबू रघुनाथप्रसाद कोतवाल के बीच में पड़ने पर स्वामी जी ने अपने प्रामाणिक ग्रन्थों के नाम लिखा देना स्वीकार कर लिया। तब वही विद्यार्थी दुबारा जब स्वामीजी के पास आए तो उन्होंने लिख दिया कि हम चार वेद, चार उपवेद, छ: अङ्ग, छ: उपाङ्ग और प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर मनुस्मृति का प्रमाण स्वीकार करते हैं और उस पर अपने हस्ताक्षर कर दिए।

इसके कुछ दिन बाद शास्त्रार्थ का विज्ञापन दिया गया। शास्त्रार्थ का यह विज्ञापन स्थानीय कलेक्टर को भी मिल गया था। इसलिए उन्होंने काशी-नरेश को यह सूचना दे दी थी कि यदि शास्त्रार्थ का दिवस रविवार रहे तो अच्छा हो ताकि हम भी इसमें उपस्थित रह सकें। परन्तु महाराजा ने यह सोचकर कि यदि कलेक्टर साहब आ गए तो फिर कोई गड़बड़ न कराई जा सकेगी, इसलिए उन्होंने रविवार का दिन न रक्खा, अपितु मङ्गलवार कार्तिक शुक्ला १२ संवत् १९२६ वि० तदनुसार १६ नवम्बर, १८६९ ई० की तिथि इसके लिए नियत कर दी।

शास्त्रार्थ का दिन नियत होते ही सारी काशी में तुमुल आन्दोलन उपस्थित हो गया। आबालवृद्ध, पण्डित और मूर्ख सभी बड़ी उत्सुकता से इस तिथि की प्रतीक्षा करने लगे।

४४३- अजमेर निवासकाल में इनका स्वामी दयानन्द जी से पत्र-व्यवहार भी हुआ था।

एक दिन पण्डित ज्योतिस्वरूप उदासी महाराजा काशी की सभा में गए और राजसभा में पण्डितों से कहा कि दयानन्द से शास्त्रार्थ करने से पहले हमसे शास्त्रार्थ कर लो। पण्डितवर्ग उनके पाण्डित्य से परिचित था, वह उनसे शास्त्रार्थ कैसे करता, अत: उन्होंने शास्त्रार्थ करने से मना कर दिया।

महाराजा काशी ने शास्त्रार्थ के लिए विशेष उद्योग किया था। पण्डितों से उसके लिए उन्होंने सविशेष और साग्रह अनुरोध किया था। यह पहले ही स्थिर किया जा चुका था कि शास्त्रार्थ में जैसे बने दयानन्द को परास्त करना चाहिए। महाराजा दयानन्द के प्रकाण्ड पाण्डित्य, कुशाग्रबुद्धि और अदम्य शक्ति से परिचित हो चुके थे, इसीसे उन्हें बड़ी चिन्ता थी। उन्होंने कहा कि यदि दयानन्द मूर्तिपूजा का प्रतिवाद न करते तो हम उन्हें गुरु मानते और उन पर छत्र चढ़ाते। महाराजा ने शास्त्रार्थ से पहली रात्रि को पण्डितों के घर तेल भिजवा दिया ताकि वे रात्रि में दीपक जलाकर शास्त्रालोचन और विचार करके अगले दिन शास्त्रार्थ -भूमि में सुसज्जित होकर आवें।

अन्त में शास्त्रार्थ का दिन आ गया। बलदेवप्रसाद ने स्वामीजी से कहा कि महाराज आज बहुत भीड़भाड़ होगी। काशी गुण्डों का नगर है, यदि फर्रुखाबाद होता तो दस-बीस मनुष्य आपकी ओर भी होते। स्वामीजी यह बात सुनकर हँसे और बोले कि योगियों का निश्चित सिद्धान्त है कि सत्य का सूर्य अन्धकार की सेना पर अकेला ही विजय पाता है। जो पक्षपातरहित होकर ईश्वराज्ञानुकूल सत्य का उपदेश करता है, उसे भय कहाँ? सत्पुरुष डरकर सत्य को नहीं छिपाते। जान जाए तो जाए, परन्तु ईश्वराज्ञा जो सत्य है वह न जाए। हे बलदेव! क्या चिन्ता है? एक मैं हूँ, एक ईश्वर है, एक धर्म है और कौन है, यदि उन लोगों को आना होगा तो उनकी देखी जाएगी। जाओ, एक नापित को बुला लाओ। ओह! कितना दृढ़ ईश्वर-विश्वास!! कितनी अटल सत्य-निष्ठा थी!!! पाठकों ने आधुनिक युग में ऐसा उदाहरण क्या अन्यत्र कहीं देखा है?

बलदेवप्रसाद नापित को बुला लाए। स्वामीजी ने क्षौर कराया, स्नान किया, अपने सुन्दर शरीर पर सुन्दर मृतिका का लेपन कराया, पुन: पद्मासनारूढ़ होकर थोड़ी देर परमेश्वर का ध्यान किया और फिर भोजन किया।

दयानन्द के विपक्षी अनेक थे, जिनके साथ राजबल था, धनबल था, जनबल था, परन्तु फिर भी वे चिन्ता और आशङ्का से सङ्कुचित और कम्पायमान थे, उनके चेहरे उदास थे। इधर दयानन्द अकेला था, उसकी पीठ पर न कोई राजा था, न कोई धनाढ्य पुरुष था। एक लँगोटी के अतिरिक्त उसके पास कोई सम्बल भी नहीं था। परन्तु एक अन्य वस्तु भी थी जो विपक्षियों के पास न थी। वह था उसका ईश्वर-विश्वास, सत्य पर श्रद्धा, जिसके होते हुए वह नि:सहाय होते हुए भी साहसी और धैर्ययुक्त था। भय उसके पास नहीं फटक सकता था, चिन्ता और आशङ्का उसका सामना नहीं कर सकती थी।

हाँ, तो शास्त्रार्थ का दिन आ ही गया! उस दिन प्रशान्त काशी क्षुब्ध समुद्र के समान तरङ्गाकुल हो उठी थी। शास्त्रार्थ के समय से बहुत पहले से ही आनन्दबाग की ओर जन सैलाव उमड़ने लगा था। सहस्रों दर्शक और श्रोता वहाँ इकट्ठे हो गए थे। कहते हैं कि यह भीड़ ५० सहस्र से कम की न रही होगी। भोजपुर थाने के थानेदार रघुनाथप्रसाद वहाँ आए और उन्होंने शान्तिरक्षा के लिए पुलिस का उचित प्रबन्ध कर दिया।

यह उचित प्रबन्ध यह था कि दालान की खिड़की में तो स्वामी जी को बैठाया और उनके सामने एक आसन मूर्तिपूजा-समर्थक पण्डितों के लिए तथा तीसरा आसन काशी-नरेश के लिए और अन्य पण्डितों के लिए उसके पास ही बैठने का प्रबन्ध कर दिया।

काशी-नरेश ने दयानन्द को आतङ्कित करने के लिए अपने पण्डितों के लिए अनेक प्रकार के तामझामों का प्रबन्ध किया हुआ था। सो जब वे आए तो इन्हीं तामझामों पर चढ़कर अपने ऊपर चँवर डुलवाते हुए तथा अपनी जय

बुलवाते हुए शास्त्रार्थ भूमि में प्रविष्ट हुए। पर दयानन्द पर इस सब तामझाम का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। वह एकाकी ही आया और अपने लिए निर्धारित आसन पर बैठ गया। इसके बाद काशी-नरेश पधारे और उन्होंने अपना आसन ग्रहण कर लिया। तब सब पण्डितों ने उठकर राजा को आशीर्वाद दिया। पुनः सब पण्डितगण स्वामी जी को घेर कर बैठ गए और उन्होंने कोतवाल साहब द्वारा किए गए सब प्रबन्ध को गड़बड़ कर दिया।

स्वामीजी के पक्ष में कुछ परमहंस थे, जो यद्यपि प्रत्यक्षरूप से मूर्तिपूजा के खण्डन में अब तक प्रवृत्त नहीं हुए थे, परन्तु अन्य प्रकार से उनके सहायक थे। उनमें से मुख्य पं० ज्योतिस्वरूप उदासी थे। इन्हें विपक्षियों और उनके सहायकों ने आनन्दबाग में घुसने न दिया। तब इन लोगों ने एक चिट्ठी लिखकर स्वामीजी के पास पहुँचाई कि हमें बाग के अन्दर घुसने नहीं दिया जा रहा है। तब स्वामी जी ने कोतवाल साहब को कहा कि क्या कारण है कि इन परमहंसों को अन्दर घुसने नहीं दिया जा रहा है? तब कोतवाल साहब ने अपने कुछ आदमियों को भेजकर इन लोगों को अन्दर बुलवा लिया। इनके आ जाने पर स्वामी जी ने पं० ज्योतिस्वरूप को अपने पास बिठा लिया और अन्यों को अपने सामने बिठाया। यह बात विपक्षी पण्डितों को बहुत अखरी। उन्होंने काशी-नरेश को सङ्केत किया कि प्रथम तो अकेले दयानन्द को ही जीतना कठिन है और जब पं० ज्योतिस्वरूप उनके साथ मिल जाएँगे तब तो वे एक और एक ग्यारह हो जाएँगे, यह सिंह और व्याघ्र सम्मिलन हो जाएगा जिससे इस शास्त्रार्थ में विजयलाभ सर्वथा दूभर हो जाएगा। महाराजा ने यह सङ्केत पाते ही उनके सामने अपने पण्डितों को बिठवा दिया और पं० ज्योतिस्वरूप का हाथ पकड़कर उन्हें स्वामी जी से अलग कर दिया।

रघुनाथप्रसाद कोतवाल ने महाराजा से कहा कि राजन्! यह बड़ा अनर्थ हो रहा है कि अकेले स्वामी जी को इतने पण्डितों ने आकर घेर लिया है और मैंने जो व्यवस्था बनाई थी, वह आपने नहीं रहने दी। इस पर मैं आपसे तो कुछ नहीं कह सकता परन्तु यह बात सरकारी आज्ञा का उल्लंघन है। महाराजा ने कोतवाल की इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। इसी अव्यवस्था में शास्त्रार्थ का आरम्भ हो गया। इस शास्त्रार्थ में दो अँग्रेज पादरी भी उपस्थित थे। काशी के प्रसिद्ध २७ पण्डितों ने इस शास्त्रार्थ में अपना योगदान दिया था। इन २७ पण्डितों में पं० बालशास्त्री भी सम्मिलित थे।

स्वामी दयानन्द के दाहिनी ओर क्रम से निम्न पण्डित बैठाए गए थे-

१- एक रिक्त स्थान, २- स्वामी विशुद्धानन्द, ३- पं० बालशास्त्री[४४४], ४- पं० शिवसहाय, ५- पं० माध्वाचार्य, ६- पं० वामनाचार्य, ७- पं० देवदत्त शर्मा, ८- पं० जयनारायण तर्कवाचस्पति, ९- पं० चन्द्रसिंह त्रिपाठी, १०- पं० राधामोहन तर्कवागीश, ११- पं० दुर्गादत्त, १२- पं० बस्तीराम द्विवेदी, १३- पं० काशीप्रसाद शिरोमणि, १४- पं० हरिकृष्ण व्यास, १५- पं० अम्बिकादत्त[४४५], १६- पं० घनश्याम पण्डित, १७- पं० ठाकुरदास, १८- पं० हरिदत्त दुबे, १९- पं० भैरवदत्त वबा, २०- पं० श्रीधर शुक्ल, २१- पं० विश्वनाथ मैथिल, २२- पं० नवीननारायण तर्कालङ्कार, २३- पं० मदनमोहन शिरोमणि, २४- पं० कैलाशचन्द्र शिरोमणि[४४६],२५- पं० मायाकृष्ण वेदान्ती, २६- गणेश श्रोत्रिय, २७- पं० धनीराम, २८- पं० नारायण

४४४- पूरा नाम बालशास्त्री रानाडे। ये महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मण थे।गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारस में अध्यापक रहे। जन्म १८३९ ई०, मृत्यु १८८० ई०

४४५- शास्त्रार्थ के समय उपस्थित विद्वानों की यह सूची पं० लेखराम ने प्रस्तुत की थी। इनकी विस्तृत जानकारी पं० बलदेव उपाध्याय के ग्रन्थ- *'काशी की पाण्डित्य परम्परा'* (प्रकाशक- विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी) से प्राप्त की जा सकती है। इस सूची में उल्लिखित पं० अम्बिकादत्त व्यास विश्रुत विद्वान् तथा शिवराज विजय के लेखक पं० अम्बिकादत्त व्यास नहीं हैं, क्योंकि शास्त्रार्थ के समय १८६९ ई० में तो वे मात्र ११ वर्ष के ही थे। तब निश्चय ही ये कोई अन्य ही अम्बिकादत्त थे।

४४६- कैलाशचन्द्र शिरोमणि (१८३०-१९०७ ई०) गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारस में न्यायशास्त्र के प्राध्यापक थे। पं० वामनाचार्य तथा पं० बस्तीराम द्विवेदी भी इसी कालेज में पढ़ाते थे।

शास्त्री, २९- पं० देवधर, ३०- नरसिंह शास्त्री, ३१- परमहंस जवाहरदास उदासी[४४७]। पं० रामशास्त्री, पं० ताराचरण तर्करत्न[४४८], पं० गणेश प्रसाद श्रोत्रिय, स्वामी रामनिरञ्जन, पं० शालिग्राम[४४९], पं० ढुण्ढिराज शास्त्री, पं० रामस्वामी मिश्र, पं० भरद्वाज शास्त्री, पं० रामकृष्ण शास्त्री, पं० दामोदर शास्त्री, पं० प्रमदादास मित्र[४५०]।

इसी प्रकार स्वामी दयानन्द के बाईं ओर क्रम से निम्न १२ गण्यमान्य सज्जन बैठे हुए थे-

१- एक स्थान रिक्त, २- महाराजा काशीनरेश, ३- महाराजा साहब के भाई, ४- राजकुमार वीरेश्वर नारायण सिंह शर्मा, ५- बाबू फतहनारायणसिंह वर्मा, ६- ईश्वरीनारायणसिंह शर्मा, ७- तेजसिंह वर्मा रईस मैनपुरी, ८- राव कृष्णदेवशरण सिंह, ९- चौधरी गुरुदत्तसिंह शर्मा, १०- हजारी रघुनन्दन नागल, ११- बाबू हरिश्चन्द्र गुप्त[४५१], १२- बाबू गोकलचन्द्र गुप्त[४५२]।

ये सभी लोग स्वामी दयानन्द को एक अण्डाकार घेरे में लेकर बैठ गए थे।

सर्वप्रथम काशीनरेश ने अपनी सभा के पण्डित ताराचरण तर्करत्न (एक बंगाली विद्वान्) की पीठ पर हाथ रखकर उन्हें आगे किया जिनमें और स्वामी दयानन्द में इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुआ। स्वामी जी ने तर्करत्न से पूछा कि क्या वे वेदों का प्रमाण स्वीकार करते हैं? इसका सीधा उत्तर न देकर तर्करत्न महाशय ने कहा कि जो वर्णाश्रम को मानते हैं, वे सब वेदों का प्रमाण स्वीकार करते हैं। इस पर स्वामी जी ने मुख्य प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा कि क्या वेदों में पाषाणादि की कल्पित मूर्तियों को पूजने का विधान है? यदि है तो प्रमाण पुरस्सर बताइए। तब जब तर्करत्न महाशय को मूर्तिपूजा के समर्थन में वेद का प्रमाण प्रस्तुत करने में कठिनाई हुई तो उन्होंने वाद को एक नया मोड़ देने का प्रयत्न किया। उन्होंने झट से पूछ लिया कि क्या केवल वेदों का ही प्रमाण स्वीकार किया जाना चाहिए या अन्य ग्रन्थों का भी? स्पष्ट है कि शास्त्रार्थ अपने मूल विषय से हटकर प्रामाण्याप्रामाण्य-मीमांसा की ओर झुक रहा था। स्वामी जी के लिए इस विषय पर अधिकारपूर्वक कहना कुछ कठिन नहीं था, अत: वे अविलम्ब बोले-'अन्यो विचारस्तु पश्चाद् भविष्यति वेद विचार एव मुख्योऽस्ति। तस्मात् स एवादौ कर्त्तव्य:।' साथ ही उन्होंने मन्वादि स्मृति ग्रन्थों के वेदमूलक होने के कारण ही प्रमाणकोटि में परिगणित किए जाने की बात कही। तर्करत्न तो मानो इसी की प्रतीक्षा कर रहे थे, अत: तुरन्त पूछ बैठे- मनुस्मृति की वेदमूलकता कैसे है? इस पर स्वामीजी ने सामवेद के ब्राह्मण का प्रमाण देते हुए मनुवचनों की वेदमूलकता बताई[४५३]।

अब तर्करत्नजी के लिए उत्तर में कुछ कहने के लिए शेष नहीं बचा था। अत: विशुद्धानन्द ने चर्चा का सूत्र अपने हाथ में लेते हुए अन्य शास्त्रों की वेदमूलकता का प्रश्न उठाते हुए पूछा- 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्[४५४]' इस वेदान्तसूत्र का मूल वेद में कहाँ है? स्पष्ट है कि न तर्करत्न और न स्वामी विशुद्धानन्द शास्त्रार्थ के मौलिक विषय पर स्थिर

---

४४७- परमहंस जवाहरदास उदासीन सम्प्रदाय के आचार्य थे। सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् तथा दर्शनों के भाष्यकार स्वामी हरिप्रसाद वैदिक मुनि इन्हीं के शिष्य थे।

४४८- भाटापाड़ा जिला- हुगली के निवासी थे। इन्होंने कालान्तर में 'ख्रीष्टोपनिषद्' लिखी थी जिसमें बाइबिल के चार गॉस्पेलों को संस्कृत में अनूदित किया गया था।

४४९- पं० शालिग्राम कालान्तर में गवर्नमेंट कालेज अजमेर में हेड पण्डित रहे। इन्होंने न्याय दर्शन पर संस्कृत में एक टीका लिखी है।

४५०- प्रमदादास मित्र काशी के निवासी बंगाली सज्जन थे।

४५१- बाबू हरिश्चन्द्र गुप्त हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम से प्रसिद्ध।

४५२- बाबू गोकलचन्द्र गुप्त- ये हरिश्चन्द्र के छोटे भाई थे।

४५३- 'यद् वै किञ्चन मनुरवदत्तद् भेषजं भेषजायै।' - ताण्य ब्राह्मण (२३/१६/७)

४५४- वेदान्तदर्शन (२/२/१)

रह सके। अत: स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट कहा कि प्रकरण से भिन्न विषय पर बात करना ठीक नहीं है। इस प्रकार बातों ही बातों में स्वामी विशुद्धानन्द ने न केवल विषयान्तर कर दिया, अपितु न्यायशास्त्र प्रतिपादित वाद को वितण्डा में परिवर्तित करते हुए किञ्चित गर्व से कहा कि यदि आपको समस्त शास्त्र उपस्थित (कण्ठस्थ) नहीं है तो काशी में शास्त्रार्थ करने आए ही क्यों? इस पर स्वाभाविक था कि स्वामी दयानन्द उनकी इस चुनौती का उत्तर देते। अत: उन्होंने अपनी बारी आने पर विशुद्धानन्द से पूछ लिया कि क्या आपको सब शास्त्र कण्ठस्थ हैं?

इस पर स्वामी विशुद्धानन्द ने अहङ्कारपूर्वक कहा –'मम सर्वं कण्ठस्थं वर्तत इति।' हाँ, मुझे सब कण्ठस्थ है। इस पर स्वामी जी ने उनके शास्त्रज्ञान की परीक्षा लेते हुए पूछा– 'अच्छा धर्म के लक्षण बताइए।' अब विशुद्धानन्द को धर्म के दश लक्षण बताना कठिन हो गया तो बालशास्त्री उनकी सहायता के लिए आगे आए और गर्वोक्तिपूर्वक कहा– 'अहं सर्व धर्मशास्त्र पठितवानिति।' मैंने सब धर्मशास्त्र पढ़ा है, तो स्वामी जी ने उनसे अधर्म के लक्षण पूछ लिए। इस पर धर्मशास्त्रज्ञ होने का दावा करने वाले बालशास्त्री भी मौन हो गए। इस प्रकार स्वामीजी ने अपने एक ही दाँव से तीनों प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ दिया।

अब अवशिष्ट पण्डितों में से बहुतों ने एक साथ पूछा– क्या वेद में प्रतिमा शब्द है? स्वामीजी ने यह तो कभी कहा ही नहीं था कि वेद में प्रतिमा शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है[४५५]। उनकी मान्यता तो यही थी कि पाषाणादि जड़ पदार्थों से निर्मित राम, कृष्ण, शिव, गौरी, गणेश, भैरव आदि की काल्पनिक मूर्तियों को षोडशोपचार से ईश्वर के नाम पर पूजना वेदविहित नहीं है। वे यह जानते थे कि माप-तौल आदि अर्थों में प्रतिमा शब्द का बहुश: प्रयोग यजुर्वेद तथा अन्यत्र वैदिक वाङ्मय में हुआ है। उन्होंने यह भी कहा कि सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण के अद्भुत शान्ति प्रकरण में प्रतिमा शब्द का प्रयोग हुआ है[४५६]। परन्तु मन्दिरों में प्रतिष्ठित मूर्तियों के अर्थ में यह सन्दर्भ नहीं है। पर्याप्त समय तक इसी विषय पर चर्चा होती रही।

पं० शिवसहाय ने इस बीच कुछ कहने का प्रयत्न किया, परन्तु स्वामीजी ने उन्हें चुप कर दिया। शास्त्रार्थ के बीच में आए इस गत्यवरोध को तोड़ते हुए स्वामी विशुद्धानन्द ने मूल विषय से सर्वथा भिन्न प्रकरण छेड़ दिया। उनका प्रश्न था– 'वेदा: कस्माज्जाता?' वेद किससे उत्पन्न हुए? ईश्वर और वेद पर दृढ़ आस्था रखने वाले दयानन्द के लिए इसका उत्तर देना कठिन नहीं था। अत: उन्होंने तत्काल उत्तर दिया– 'वेदा: ईश्वराज्जाता इति।' वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं। विशुद्धानन्द ने स्वामी दयानन्द के कथन का वास्तविक अभिप्राय समझते हुए भी जल्प का आश्रय लेकर पूछा– किस ईश्वर से वेद उत्पन्न हुए? क्या न्यायशास्त्रोक्त ईश्वर से, वा योगशास्त्रसिद्ध ईश्वर से, अथवा वेदान्त प्रतिपाद्य ईश्वर से? यह प्रश्न नितान्त हास्यास्पद था, क्योंकि न्याय, योग तथा वेदान्त ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उस परमसत्ता को चाहे जिस प्रकार परिभाषित किया हो, अन्तत: वह ईश्वरीय सत्ता एक ही है और उसे शास्त्रों में वैदिक ज्ञान का आदि उत्स कहा गया है। इस पर स्वामी दयानन्द का यह व्यंग्यपूर्ण आक्षेप नितान्त उचित था– 'ईश्वरा बहवो भवन्ति किमिति?' क्या ईश्वर भी बहुत से हैं?

अब ईश्वर और वेद पर चर्चा चल पड़ी। स्वामी दयानन्द के अनुसार ईश्वर और वेद का कार्य कारण सम्बन्ध है। इस प्रकरण के समाप्त होने पर प्रतीकोपासना का प्रकरण चला। विशुद्धानन्द के अनुसार 'मनोब्रह्मेत्युपासीत्[४५७]' आदि उपनिषद् वाक्यों में जिस प्रकार मन, आदित्य आदि में ब्रह्म बुद्धि करके प्रतीकोपासना

---

४५५- यजुर्वेद (१४/१८, १५/६५, ३२/३); ऋग्वेद (१०/१३०/३) तथा अथर्ववेद (८/९/६, ९/४/२) में प्रतिमा शब्द प्रयुक्त हुआ है।

४५६- षड्विंश ब्राह्मण (५/९)

४५७- यजुर्वेद (१५/५४)

का विधान किया गया है, उसी प्रकार शालिग्राम शिला में भी विष्णु (परमात्मा) की भावना हो सकती है। स्वामी दयानन्द को उपनिषद् के वाक्यों में प्रतिपादित मन, आदित्य आदि के प्रतीकों में तो कोई आपत्ति नहीं थी, किन्तु उनका सीधा प्रश्न यह था कि इस प्रकार पाषाणादि ब्रह्मेत्युपासीत' जैसे वाक्य लिखकर उपनिषद्कार ने कहीं पत्थर, धातु, काष्ठ तथा मृतिका से बनी मूर्तियों में ब्रह्म की भावना करने का आदेश नहीं दिया है। अतः उपनिषद् के इन प्रसङ्गों से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती।

जब पौराणिक मण्डली का यह दाँव भी खाली गया तो यजुर्वेद के मन्त्र में प्रयुक्त 'इष्ट' और 'पूर्त[४५८]' शब्दों पर विचार प्रारम्भ किया गया। पौराणिक पण्डितों का कथन था कि मन्त्रोक्त 'पूर्त' शब्द के अन्तर्गत मूर्तिपूजादि कृत्यों का ग्रहण होना चाहिए, जबकि स्वामी दयानन्द के अनुसार वेद में प्रयुक्त इस शब्द का अभिप्राय वापी, कूप, तडागादि लोकोपकारी निर्माण कार्यों से लिया जाना उचित है। जब यह वार भी खाली गया तो दोनों पक्षों की चर्चा 'पुराण' शब्द तथा उसके अर्थों पर केन्द्रित हो गई। स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट किया कि यद्यपि 'पुराण' शब्द का प्रयोग वेद में भी हुआ है[४५८] किन्तु वहाँ उसका अर्थ प्रचलित ब्रह्मवैवर्तादि अठारह पुराणों से नहीं है। 'एतस्य महतोभूतस्य निश्वसितं'- इस बृहदारण्यकोपनिषद् के पाठ में भी 'पुराण' शब्द प्रयुक्त हुआ है [४५९]परन्तु यह शब्द यहाँ इतिहास के विशेषण के रूप में आया है न कि विशेष्य के रूप में। इसी प्रसङ्ग में जब स्वामी दयानन्द ने इस उद्धरण को देखने के लिए मूलग्रन्थ माँगा तो माध्वाचार्य ने दो पत्रे निकालकर प्रस्तुत किए और 'ब्राह्मणनीतिहासाः पुराणानीति' यह वचन पढ़ा।'पुराण' शब्द के व्यत्युपलभ्य अर्थ को लेकर पर्याप्त समय तक दोनों पक्षों में वाद-विवाद होता रहा।

एक बार पुनः शास्त्रार्थ अपने मूल विषय से भटक गया। जब स्वामी दयानन्द ने पूछा कि व्याकरण में 'कल्म' संज्ञा कहीं लिखी है या नहीं? ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी के लिए व्याकरण का यह प्रश्न ब्रह्मास्त्र के तुल्य था, क्योंकि इसका प्रयोग वे पहले भी अन्यत्र कर चुके थे। यहाँ काशी में भी उन्होंने यही प्रश्न किया तो शास्त्रार्थ सभा में एक बारगी सन्नाटा सा छा गया। अन्त में विद्या की नगरी की लाज रखते हुए बालशास्त्री ने कहा - संज्ञा तो नहीं लिखी है किन्तु एक सूत्र में महाभाष्यकार ने उपहास किया है। जब स्वामी जी ने यह पूछा कि किस सूत्र में महाभाष्यकार ने संज्ञा नहीं की, अपितु उपहास किया है, तो पुनः सभी पण्डित मौन रह गए।

अब तक शास्त्रार्थ होते हुए पर्याप्त समय हो चुका था। सायंकाल का झुटपुटा होने लगा था। दीपकादि की समुचित व्यवस्था भी नहीं थी। प्रकाश के अभाव के कारण पुस्तक पढ़ने में असुविधा होने लगी थी। ऐसी परिस्थिति में वैयाकरण मूर्धन्य दयानन्द के प्रश्न का उत्तर देने के लिए काशी के पण्डितों को असमर्थ पाकर पं० माध्वाचार्य ने किसी ग्रन्थ के दो पन्ने निकालकर उनके सम्मुख रखे तथा कहा कि ये वेद के पन्ने हैं। इनमें लिखा है कि यज्ञ की समाप्ति पर दशवें दिन यजमान को पुराणपाठ सुनना चाहिए। इस उद्धरण को प्रस्तुत कर उन्होंने स्वामी दयानन्द से पूछा कि यहाँ प्रयुक्त 'पुराण' शब्द किसका विशेषण है। स्वामी दयानन्द जी ने स्वामी विशुद्धानन्द से इन पत्रों में पठित आलोच्य पाठ को उन्हें ठीक-ठीक पढ़ने के लिए कहा, तो स्वामी विशुद्धानन्द ने अपने पास इसके लिए ऐनक (चश्मा) न होने की बात कहकर वे पन्ने स्वामी दयानन्द को हाथों में ही दे दिए। स्वामीजी ने सहजभाव से उन्हें ले लिया। इससे पूर्व कि वे उन्हें पढ़कर और विचार करके कुछ उत्तर देते स्वामी विशुद्धानन्द यह कहते हुए उठ खड़े हुए कि हमें विलम्ब हो रहा है। इतना ही नहीं उन्होंने 'हर-हर विश्वेश्वर' कहकर ताली पीट दी और स्वामी दयानन्द की पीठ पर हाथ रखकर कहने लगे, दयानन्द तुम हार गए!

४५८- ऋग्वेद (४/१८/१) और अथर्ववेद (२०/१७/५) में पुराण शब्द का प्रयुक्त हुआ है।

४५९- बृहदारण्यकोपनिषद् (२/४/१०)

विशुद्धानन्द का ऐसा आचरण तो सङ्केतमात्र था, अत: अन्य पण्डितगण भी शोर करते और यह कहते हुए खड़े हो गए कि 'दयानन्द पराजित हुए।' इस प्रकार काशी का यह प्रसिद्ध शास्त्रार्थ बिना किसी निर्णय के ही समाप्त हो गया!

शास्त्र विचार समाप्त हुआ किन्तु काशी की दुर्जनमण्डली का मुख्य कार्य इसके बाद आरम्भ हुआ। पूर्व नियोजित गुण्डों ने स्वामी दयानन्द पर ईंट, गोबर, मिट्टी और ढेलों की अजस्र वर्षा आरम्भ कर दी। पं० रघुनाथ प्रसाद कोतवाल को सम्भवत: इस षड्यन्त्र की सम्भावना पहले से ही थी, इसलिए उसने अपनी प्रत्युत्पन्नमति का सहारा लेकर अविलम्ब स्वामी जी को कमरे के भीतर करके उसके कपाट लगा दिए। पुलिस विभाग के इस उत्तरदायी, विचारशील, तथा कर्त्तव्यनिष्ठ अधिकारी की जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी होगी। यदि वह अपनी कर्त्तव्य बुद्धि से उस समय स्वामी दयानन्द के शरीर की रक्षा न करता तो शतप्रतिशत यही सम्भावना थी कि वे इस उद्दण्डमण्डली के शिकार हो जाते। स्वामी जी के जीवनीकार पं० घसीराम ने ठीक ही लिखा है कि "भारतवासी ही नहीं, वरन् संसार के सब मनुष्य सदा के लिए इस कर्त्तव्यनिष्ठ, न्यायशील कोतवाल के आभारी रहेंगे। वह मूर्तिपूजक था, परन्तु उसने एक क्षण के लिए भी पक्षपात नहीं किया और अणुमात्र भी अपने कर्त्तव्य से पराङ्मुख नहीं हुआ। अत: जब तक दयानन्द का नाम संसार में रहेगा, तब तक रघुनाथ प्रसाद कोतवाल का नाम भी गौरव और प्रतिष्ठा के साथ संसार में अमर रहेगा।"

इस प्रकार इस शास्त्रार्थ में जो असभ्योचित व्यवहार स्वामीजी के साथ किया गया, जो अन्याय किया गया, जिस हुल्लड़बाजी से काम लिया गया, वह यदि साधारण कोटि का मनुष्य भी करता तो निन्दनीय होता और जब वह एक राज्यसिंहासनस्थ व्यक्ति की ओर से हो, और उन लोगों की ओर से हो जो भारतवर्ष के विद्वानों की नाक समझे जाते हों, तो वह कितना गर्हित और ग्लानिजनक है, यह पाठक स्वयं ही विचार करें।

शास्त्रार्थ समाप्त हुआ, परन्तु काशी की विद्वन्मण्डली ने अपने न्याय, विवेक तथा सत्य को सर्वथा तिलाञ्जलि देकर समस्त नगर में स्वामी दयानन्द के पराजित होने की उद्घोषणा कर दी। दयानन्द को तो जय-पराजय की कोई चिन्ता नहीं थी, क्योंकि वे द्वन्द्वातीत, स्थितप्रज्ञ परमहंस की दशा को प्राप्त कर चुके थे। उन्हें यदि कोई क्षोभ या दु:ख था, तो इसी बात का था कि पण्डितों ने न्यायपूर्वक शास्त्रार्थ नहीं किया, यदि ऐसा होता तो निश्चय ही कोई विचारपूर्ण परिणाम इस शास्त्र-विचार का अवश्य निकलता।

दयानन्द पर इस अन्याय का कुछ भी प्रभाव न पड़ा, उनके मुख-मण्डल की शोभा ज्यों की त्यों बनी हुई थी, उनके मुख पर शोक की कोई रेखा न थी, विषाद का कोई चिह्न: न था। उनका मन:समुद्र शान्त था, उसमें कोई क्षोभ न था, कोई तरङ्गमाला न थी। दयानन्द किसी अवस्था में भी घबराने और औसान खाने वाले न थे। वे अपना मन:प्रसाद छोड़ने वाले न थे। उस समय भी जब उनके उपहास में तालियाँ पीटी जा रही थीं। वे शान्त और अक्षुण्य थे। उस समय उन्होंने मुस्कराते हुए काशीनरेश से हास्यभाव से कहा था- "राजन्! तोप और नौबत के स्थान पर आपका कर-ताली से सम्मान किया जा रहा है!"

दयानन्द ने पं० जवाहरदास से इतना अवश्य कहा कि 'बड़ी आशा थी कि इतने विद्वानों के एकत्र होने पर शास्त्रार्थ न्यायपूर्वक होगा। शास्त्रार्थ तो कई दिन होने को था, एक दिन के लिए होने की बात ही नहीं थी। पण्डितों ने इस प्रकार का व्यवहार करके बहुत ही अन्याय किया है।'

सन्ध्या के समय वे अन्य दिनों की भाँति अम्लानवदन होकर अग्नि जलाकर तापने लगे।

पण्डित ईश्वरसिंह एक निर्मले साधु थे जो वेदान्ती थे। उन्होंने जनता को शास्त्रार्थ स्थल से लौटते हुए देखा

था और अपने कानों से लोगों को स्वामी जी को गाली देते हुए सुना था। उन्हें यह भी ज्ञात था कि स्वामीजी पर गुण्डों ने ढेले, गोबर और जूतादि फेंके थे। उनके जी में आया कि चलकर देखें कि इस घोर अपमान का स्वामीजी के चित्त पर क्या प्रभाव पड़ा है। अत: वे स्वामीजी के पास गए तब स्वामीजी ने प्रसन्नवदन होकर उनका स्वागत किया था। दोनों में बहुत देर तक चर्चा होती रही। पं० ईश्वरसिंह ने किसी प्रकार का शोक और विषाद का कोई चिह्न: स्वामीजी के मुखमण्डल पर नहीं पाया, उन्होंने उन्हें यथापूर्व शान्त और क्षोभ रहित पाया। तब उन्होंने स्वामीजी से कहा कि अब तक मैं आपको वेद शास्त्र का एक पण्डित ही मानता था, परन्तु आज मैंने जाना कि आप वीतराग महात्मा हैं।

स्वामी जी ने शास्त्रार्थ के अगले दिन ही '*दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत*' का अर्थ छपवाकर बँटवा दिया और पण्डितों को सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए आहूत किया था। यह वही वाक्य था जो वामनाचार्य के दिए हुए पत्रों में अङ्कित था और जिसे जब स्वामीजी देख ही रहे थे, तभी पण्डितों ने हल्ला-गुल्ला करके शास्त्रार्थ की समाप्ति कर दी थी। स्वामीजी के आह्वान पर कोई भी पण्डित उनके अर्थों को असत्य सिद्ध करने के लिए सामने नहीं आया।

विपक्षी लोगों ने समाचारपत्रों में भी दयानन्द के इस शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने के समाचार प्रकाशित कराए। २२ नवम्बर, १८६९ ई० के इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले अँग्रेजी दैनिक पत्र- '*पायोनियर*' में एक व्यक्ति ने यहाँ तक लिख दिया कि 'पं० माध्वाचार्य और वामनाचार्य ने दयानन्द को दबा लिया और उन्हें अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी।'

परन्तु इस शास्त्रार्थ सभा में सभी लोग काशी के पण्डितों के पक्षपाती नहीं थे, कुछ लोग निष्पक्ष भी थे। अत: उन्होंने भी पायोनियर में इस शास्त्रार्थ विषयक अपने संस्मरण प्रकाशित कराए और उसके पाठकों के सम्मुख वस्तुस्थिति स्पष्ट की।

कलकत्ता (अब कोलकाता) के प्रसिद्ध वेदज्ञ पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने भी, जिन्हें उभयपक्षीय शास्त्रार्थ लेखक के रूप में नियुक्त किया गया था, अपनी पत्रिका- '*प्रत्नकम्रनन्दी*' के दिसम्बर, १८६९ ई० के अङ्क में इस शास्त्रार्थ का विवरण संस्कृत में प्रकाशित किया था।

काशी-शास्त्रार्थ का इतिवृत्त स्वयं स्वामी दयानन्द द्वारा ही दिसम्बर, १८६९ ई० (संवत् १९२६ वि०) में पुस्तकाकार छपवा दिया गया था, जिससे उसका पूरा विवरण ज्ञात हो जाता है।

पौराणिक समुदाय ने दयानन्द की तथाकथित पराजय को विज्ञापित करने का बहुश: प्रयत्न किया। दयानन्द-पराभूति[४६०] तथा दुर्जनमुख-मर्दन[४६१] नामक दो पुस्तकें संस्कृत और हिन्दी में लिखकर उन्होंने प्रकाशित कराईं जिनके द्वारा दयानन्द के पराजित हो जाने का डिंडिमं घोष किया गया था। कालान्तर में बालशास्त्री आदि विद्वानों के हस्ताक्षरों से एक विज्ञापन प्रकाशित कराकर नगर में अनेक स्थानों पर लगवाया गया जिसमें दयानन्द के परास्त होने की घोषणा की गई थी। इसके उत्तर में दयानन्द ने भी अपना विज्ञापन निकाला और पण्डितों के विज्ञापन के बगल में ही हर स्थान पर उसे चस्पा कराया कि मैं परास्त नहीं हुआ हूँ और अब भी शास्त्रार्थ करने के लिए उद्यत हूँ। इस प्रकार विचारशील लोगों से यह अविदित नहीं रहा कि वस्तुस्थिति क्या थी और काशी का विद्वत् समुदाय किस प्रकार मूर्तिपूजा की वैदिकता को सिद्ध करने में अकृतकार्य हुआ था।

शास्त्रार्थ के पीछे पौराणिक दल की ओर से एक दूषणमालिका प्रकाशित की गई थी, जो लाजर्स कम्पनी के

---

४६०- यह पुस्तक बहुत बाद में काशी राज के यन्त्रालय से प्रकाशित हुई थी।

४६१- उन्नीस पृष्ठों की इस पुस्तक में पुराण वाक्यों की भरमार थी किन्तु किसी भी वेदमन्त्र को मूर्तिपूजा की सिद्धि में उद्धृत नहीं किया गया था।

मेडिकल हॉल प्रेस से छपी थी। इसमें स्वामीजी के प्रति कुवाच्य कहे गए थे और उनसे ६४ प्रश्न किए गए थे। इसके लेखक शास्त्रार्थ में उपस्थित रहे हिन्दी के बाद में सुप्रसिद्ध हुए लेखक और कवि बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे जो स्वयं वल्लभ सम्प्रदायानुयायी थे।

पण्डित लोग अपने मन में यह जानते थे कि स्वामीजी का पक्ष सत्य और वेदमूलक है, परन्तु लोकलज्जा और अपनी आजीविका हानि के भय से प्रकटरूप से उसकी सत्यता स्वीकार नहीं कर पाते थे। राजपण्डित तारानाथ तर्करत्न ने एक प्रतिष्ठित बंगाली सज्जन बाबू चन्द्रशेखर से निज में यह स्पष्ट कह दिया था कि मैं भलीभाँति जानता हूँ कि यह पौराणिक प्रपञ्च ठीक नहीं है, दयानन्द जो कहते हैं , वही ठीक है। परन्तु कौन जानता है कि राजा के मन में हमारी ओर से क्या भाव उत्पन्न हो जाए, यदि हम दयानन्द के पक्ष की सत्यता स्वीकार कर लें। इसलिए राजा की प्रसन्नता के लिए हमें वह सब कुछ करना पड़ता है और यही कहना पड़ता है कि मैं दयानन्द को शास्त्रार्थ में हरा दूँगा।

*'हिन्दू पेट्रियट'* नामक पत्र ने अपने १७ जनवरी, १८७० ई० के अङ्क में इस शास्त्रार्थ का विवरण प्रकाशित किया था। वह लिखता है कि "कुछ समय हुआ कि महाराजा रामनगर ने एक सभा की जिसमें उन्होंने बनारस के चुने हुए और बड़े-बड़े पण्डितों को बुलाया। दयानन्द सरस्वती और पण्डितों में बड़ा भारी और लम्बा शास्त्रार्थ हुआ, परन्तु पण्डितों का, जिन्हें अपनी शास्त्रज्ञता का बड़ा गर्व था, पूर्ण पराजय हुआ। पण्डितों ने जब यह जान लिया कि नियमबद्ध शास्त्रार्थ में ऐसे महान् व्यक्ति से पार पाना असम्भव है, तो वे अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए पापमय उपायों के अवलम्बन पर उतारू हो गए। उन्होंने स्वामी दयानन्द को पुराणों का एक पत्रा दिया जिसमें मूर्तिपूजा का विषय अङ्कित था और उनसे कहा कि ये वेदों के मन्त्र हैं। जब वे उस पत्रे को देख ही रहे थे तब ही पण्डित मण्डली ने महाराज के नेतृत्व में यह प्रकट करते हुए कि धार्मिक शास्त्रार्थ में वह पण्डितवर्य (स्वामी दयानन्द) पराजित हो गया है, तालियाँ बजा दीं।"

दयानन्द पराजित हो जाता तो शास्त्रार्थ के पीछे उसके पैर काशी में न जमे रह पाते और काशी के पण्डित उसे चैन से वहाँ न टिकने देते? परन्तु हम देखते हैं कि दयानन्द रण छोड़कर नहीं भागता है, काशी के पण्डितों से अपना मुख नहीं छिपाता है। अपितु शास्त्रार्थ के पीछे वह काशी में एक मास से अधिक तक ठहरता है और मूर्तिपूजा का यथावत अदम्य भाव से निरन्तर खण्डन करता रहता है। यह ठीक है कि उसके पास आने-जाने वालों की संख्या पूर्वापेक्षा कुछ कम हो गई थी, परन्तु इसलिए नहीं कि जनता उसके पक्ष को निर्बल, उसकी युक्तियों को सारहीन समझने लगी थी, बल्कि इसलिए कि इन धर्म के ठेकेदारों ने लोगों को यह कहकर डराना आरम्भ कर दिया था कि जो कोई दयानन्द के पास जाएगा वह पापी और पतित होगा और बिरादरी से बहिष्कृत होगा। दयानन्द पण्डितों को निरन्तर शास्त्रार्थ के लिए आहूत करता रहा, परन्तु वे अपने घरों में ही घुसे रहे। इतना ही नहीं वह अपने शेष जीवन में पाँच बार काशी और आया और हर बार वहाँ यह विज्ञापन दिया कि मूर्तिपूजा के समर्थन में यदि वेद का कोई प्रमाण मिला हो, तो वह व्यक्ति आकर उनसे शास्त्रार्थ कर ले। परन्तु आगे भी कभी कोई नहीं आया।

समय बीतता गया, दयानन्द का धर्मप्रचार विस्तृत होता गया। सैकड़ों और सहस्रों व्यक्ति उसके अनुयायी होते गए। दयानन्द की विजयश्री निर्मल चन्द्रिका की भाँति अपनी शुभ्र-ज्योत्सना समस्त भारतवर्ष के प्रान्त और प्रान्तरों में प्रसारित होती गई। अन्त में एक दिन आया जब काशीनरेश की आत्मा ने उन्हें धिक्कारा और उन्हें दयानन्द से क्षमा-याचना करने के लिए वाधित होना पड़ा।

शास्त्रार्थ के कितने ही वर्षों बाद स्वामी जी मुम्बई से लौटते हुए काशी पधारे और वहाँ गोसाईं बिहारीलाल के बाग में ठहरे। महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह ने अपने कुछ मनुष्य उनकी सेवा में भेजे और कहलाया कि महाराजा

की आपसे यह प्रार्थना है कि आप उनके पास पदार्पण करें। स्वामी जी ने उनसे कह दिया कि इसका उत्तर फिर देंगे और अपने हितचिन्तक पं० जवाहरदास से परामर्श किया जिन्होंने महाराजा के निमन्त्रण का अभिप्राय भाँपकर उन्हें स्पष्ट कह दिया कि राजा आपके अपमानजनित पाप के प्रायश्त्ति के लिए आपको बुलाते हैं, आपको वहाँ न जाना चाहिए।

उस समय स्वामी दयानन्द अपने मित्र के इस परामर्श से सहमत हुए, पर जब दूसरे दिन महाराजा ने अपने एक उच्च कर्मचारी को बग्घी के साथ स्वामीजी को बुला लाने के लिए भेज दिया तो दयालु दयानन्द का चित्त द्रवीभूत हो गया और वे अपने मित्र के परामर्श की अवहेलना करके बग्घी में सबार होकर रामनगर के राजगृह में पहुँच गए।

तब काशी-नरेश ने बड़े सम्मान के साथ स्वामी दयानन्द का स्वागत किया और उन्हें अपने स्वर्ण-सिंहासन पर बैठाया तथा स्वयं एक रजत-सिंहासन पर ही बैठे। पुन: अपने हाथ से स्वामी दयानन्द के गले में एक पुष्पमाला पहनाई और उनकी चरणवन्दना कर विनीतभाव से कहा कि 'मैं बहुत दिन से मूर्तिपूजा करता आया हूँ, इसलिए उसके प्रति मेरा अनुराग और श्रद्धा है, अत: आपके उसका प्रतिवाद करने पर मुझे बहुत कष्ट हुआ। शास्त्रार्थ के समय यदि आप मेरे किसी आचरण से क्षुब्ध हुए हों, तो आप मुझे क्षमा करें।'

काशी नरेश के मुख से यह शब्द निकले ही थे कि स्वामीजी की दया-गङ्गा में बाढ़ आ गई और उन्होंने महाराजा को क्षमादान दे दिया। यों तो उनके चित्त में महाराजा की ओर से पहले से ही कोई बुरे भाव नहीं थे और उनके लिए क्षमा करने अथवा न करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। तथापि जो दयानन्द अपने घातकों तक से वैर-विरोध का भाव नहीं रखता था, वह महाराजा काशी के विरुद्ध अपने मनोभवन में, जो नित्य प्रेम-प्लावित रहता था, स्थान कहाँ दे सकता था? परन्तु स्वामी दयानन्द ने नरेश की सान्त्वनार्थ क्षमादान देकर और इस प्रकार उनके चित्त के विषाद को दूर करके वे अपने डेरे पर लौट आए। इसके पीछे महाराजा ने स्वामी दयानन्द के पास ५-७ रुपये के मुरब्बे, मिष्टान्नादि और अन्य वस्तुएँ उपहारस्वरूप भिजवाई थीं। पं० जवाहरदास ने कहा कि यह कार्य अच्छा नहीं हुआ है। यदि स्वामी जी नहीं जाते तो काशीनरेश स्वयं ही स्वामीजी के पास आते।

अपनी रामनगर और काशी की इस यात्रा के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द ने ४ अगस्त, १८७५ ई० को पुणे में यह कहा था कि "प्रयाग से मैं रामनगर गया। रामनगर के राजा के कहने के अनुसार काशीस्थ पण्डितों से वाद-विवाद (= शास्त्रार्थ) करने के लिये [काशी] गया। उस वाद (= शास्त्रार्थ) में प्रतिमा आदि शब्द वेद में हैं वा नहीं? ऐसा विषय निकला था [अर्थात निश्चित हुआ था]। प्रतिमा शब्द वेद में है, परन्तु इसका अर्थ माप (= तौल) ऐसा है, ऐसा मैंने सिद्ध करके दिखा दिखा दिया। वह वाद (= शास्त्रार्थ) अलग से छपकर प्रसिद्ध (= प्रकाशित) हुआ है। उसे सब लोग पढ़कर देखें। इतिहास से ब्राह्मण ग्रन्थ ही स्वीकार करने चाहिये, ऐसा भी वाद वहाँ हुआ। गत वर्ष भाद्र मास में मैं काशी में था और आज पर्यन्त चार बार काशी गया हूँ और जब जब मैं [काशी] जाता हूँ तब तब तब किसी ने [मूर्ति पूजा का] वेद में वचन पाया हो तो [मेरे पास] लावे' ऐसा विज्ञापन देता हूँ, परन्तु आज तक कोई वेद में [मूर्ति पूजा का] वचन नहीं निकाल सका।"

इस काशी प्रवास की कुछ अन्य घटनाएँ इस प्रकार हैं-

एक दिन पण्डित जवाहरदास, डुमराऊँ के नागाजी साधुराम उदासी को साथ लेकर स्वामीजी से मिलने आए जिससे नागाजी का उनसे विशेष परिचय हो गया। इन्हीं नागाजी से एक दिन स्वामीजी ने कलकत्ता जाने का अपना विचार प्रकट किया तो नागाजी ने स्वामीजी से डुमराऊँ होकर ही वहाँ जाने का अनुरोध किया था।

रामास्वमी मिश्र नाम के संस्कृत के एक गर्वीले विद्वान् थे। वे स्वामी जी को गाली देने में सङ्कोच न करते थे। वे बड़े घमण्ड से कहा करते थे कि यदि मैं दयानन्द से बातचीत करूँ तो मैं उससे मूर्तिपूजा का खण्डन छुड़वाकर उसे सीधा

कर दूँ, परन्तु स्वामीजी के सम्मुख इसलिए न आते थे कि उनका मुख देखने से उन्हें पातक लग जाएगा। एक दिन रात्रि के अँधेरे में वे स्वामीजी के पास आए ताकि उनका मुख न देख सकें और बोले–

'तुझसे देववाणी में बात करना हम पाप समझते हैं, इसलिए देशभाषा में ही हम बात करेंगे, परन्तु हमारी एक बात तुझे माननी पड़ेगी। स्वामीजी ने कहा कि आप मुझे संस्कृत बोलने से तो रोकते हैं, परन्तु संस्कृत के शब्द तो बोलने देंगे। अच्छा यही सही अब आप अपनी शर्त कहिए।

रामास्वामी ने कहा कि मैं अपने साथ एक छुरी लाया हूँ, यह बीच में रखी जाएगी। जो हारेगा उसकी नाक काट ली जाएगी। स्वामीजी ने हँसते हुए कहा कि एक छुरी और होनी चाहिए जिससे हारने वाली की जिह्वा काट ली जावे, क्योंकि वादविवाद में नाक तो निर्दोष है, जो कुछ अपराध होता है, वह जिह्वा से होता है।

इसके बाद रामास्वामी कुछ देर तक उद्दण्डता से बातें करते रहे। स्वामीजी सभ्यतापूर्वक उनका उत्तर देते रहे। परिणाम यह हुआ कि उनका टेढ़ापन दूर हो गया और वे सरलता और सभ्यता से बातें करते रहे और अन्त में सारी शेखी को छोड़कर और निरुत्तर होकर चले गए। कोई अन्य होता तो उनसे नाक वहीं धरवा लेता, परन्तु स्वामीजी ने उन पर दया की।

स्वामी दयानन्द वेदविरुद्ध मतों के खण्डन में किसी का पक्षपात न करते थे। सभी मत उनकी समीक्षा के विषय होते थे। काशी में भी उन्होंने सभी मतों की आलोचना की थी। इस्लामी मत का भी खण्डन किया था। इससे मुसलमान लोग उनसे कुछ चिढ़ गए थे। एक दिन स्वामीजी गङ्गातट पर अकेले बैठे हुए थे, तभी कुछ मुसलमानों की एक टोली उधर आ निकली। उस समय स्वामी जी को पहचानने वाले एक मुसलमान ने अपने अन्य साथियों से कहा कि यही वह दयानन्द नाम का बाबा है जो हमारे दीन इस्लाम के खिलाफ बोला करता है। इस पर दो मुसलमान आगे बढ़े और उनमें से एक ने एक बगल में और दूसरे ने दूसरी बगल में अपना हाथ देकर उन्हें अधर में उठा लिया। उन्होंने चाहा था कि स्वामी जी को उठाकर गङ्गा में डुबो दें। स्वामी दयानन्द भी उनके इस दुष्ट सङ्कल्प को ताड़ गए थे, अत: उन्होंने अपनी दोनों भुजाएँ अपने दोनों पार्श्वों में इस प्रकार चिपटा लीं कि दोनों यवनों के हाथ मानों सिकञ्जे में कस गए हों। फिर स्वामीजी उन्हें लेकर गङ्गा में कूद पड़े और चाहते तो इस प्रकार उन्हें ही गङ्गा में डुबो देते, परन्तु दया करके उन दोनों यवनों को उन्होंने डुबकी खाते हुए छोड़ दिया और आप जल के नीचे ही नीचे तैरते हुए बहुत दूर जा निकले। इधर दोनों यवन जैसे–तैसे जल से बाहर निकल आए और जलधारा के किनारे खड़े रहकर अपने हाथों में ढेले लिए हुए स्वामी जी के सिर के जल से बाहर निकलने की प्रतीक्षा करने लगे ताकि उनके सिर पर ढेले मारे जा सकें। लेकिन जब बहुत देर तक भी स्वामी जी का शिर जल से बाहर नहीं निकला तो वे यह मानकर वहाँ से चले आए कि बाबा (स्वामी दयानन्द) नदी में डूब गया है। पर स्वामी जी तो उसी रात में अपने स्थल पर पहुँच गए थे।

एक दिन एक मनुष्य स्वामीजी के लिए भोजन लेकर आया और उनके समक्ष रखकर उसे अपने भक्ति प्रदर्शन पूर्वक ग्रहण करने की उनसे प्रार्थना की। चूँकि स्वामीजी इससे पहले ही भोजन कर चुके थे, अत: उसे उन्होंने ग्रहण न किया। तब उस मनुष्य ने उनसे कहा कि भोजन न सही, मेरा यह पान तो स्वीकार कर ही लीजिए। पर जैसे ही स्वामी जी ने उसे अपने हाथ में लेकर खोलकर देखा तो वह मनुष्य वहाँ से भाग खड़ा हुआ। पीछे पड़ताल करने पर पता चला कि उस पान में विष था।

काशी में गुण्डों का एक दल था। उसका वहाँ बड़ा आतङ्क था। किसी भी मनुष्य को पीट देना इसके लिए बहुत आसान बात थी। साधु जवाहरदास के कानों में एक दिन यह बात पड़ी कि गुण्डे स्वामीजी को अपमानित करना चाहते हैं। वे स्वामीजी के पास गए और उन्हें यह उनकी यह मंशा कह सुनाई। स्वामीजी ने जवाहरदास से कहा कि आप चिन्ता न

करें, ऐसे दश-बारह गुण्डों के लिए तो मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ। मेरे पितृगृह पर एक बार मेरे एक पड़ोसी ने मेरे एक खेत पर कब्जा कर लिया था तो मेरे पिताजी ने मुझे यह बात बताई तो मैं आवेश में आकर तलवार लेकर अपने उस खेत पर गया जहाँ मुझे अपने पड़ोसी और उसके भेजे हुए १०-१५ गुण्डों का एकसाथ सामना करना पड़ा। तब मैंने अकेले ही उन सबको अपने उस खेत से भगा दिया था। अब भी मेरी वही स्थिति है।

एक दिन स्वामीजी अपनी मौज में निश्चिन्त होकर कहीं चले जा रहे थे। तब उन्होंने अपने पीछे मुड़कर देखा कि एक हट्टा-कट्टा मनुष्य एक मोटा सा लट्ठ लिए हुए उनके पीछे आ रहा है। तब उन्होंने ऐसी हुङ्कार भरी कि वह मनुष्य भयभीत होकर वहाँ से भाग गया।

एक दिन स्वामीजी अपने मित्र बाबा जवाहरदास के डेरे की ओर निकले तो देखा कि वहाँ भङ्ग घुट रही है। जवाहरदास ने स्वामीजी को आता देखकर कूँडी-सोटा छिपाने का यत्न किया, परन्तु उनके ऐसा करते-करते स्वामी जी उनके पास पहुँच गए और मुस्कराते हुए उनसे बोले- "अच्छा! शिव-बूटी घुट रही है, आप भी शिव बनना चाहते हैं। शिव बनने में लगता भी कुछ नहीं है। भङ्ग पी, 'शिवोऽहम्' कहा और शिव बन गए!"

फिर स्वामीजी ने जवाहरदास से कहा कि आप भी उपदेश दिया कीजिए। उन्होंने स्वामीजी के इस प्रस्ताव के उत्तर में कहा कि 'आपका तो कोई ठौर-ठिकाना नहीं है, आप तो जहाँ चाहें, वहाँ जा सकते हैं, मैं डेरे वाला हूँ, मुझसे यह कार्य नहीं हो सकता।' इस पर स्वामीजी ने कहा कि डेरे में आप व्यर्थ की ममता रखते हैं, यह तो पहले भी आपका नहीं था और आपके पीछे भी आपका नहीं रहेगा। अत: इसे छोड़ो और लोकहित का कार्य करो।

एक दिन महाराजा भरतपुर, महाराजा रीवाँ, राजा तिर्वा और एक अँग्रेज स्वामीजी के पास आए और नास्तिकमत का पक्ष लेकर उनसे बातचीत की। उस समय ये तीनों राजा बनारस कालेज में पढ़ रहे थे। स्वामीजी ने उन्हें ईश्वर का अस्तित्व भली प्रकार समझा दिया।

९- शास्त्रार्थ के कुछ काल पीछे स्वामी कैलाशपर्वत काशी आए थे। जब उन्होंने वहाँ शास्त्रार्थ का समाचार सुना तो कहा कि काशी के पण्डितों को दयानन्द का विद्या से मुकाबला करना चाहिए था, परन्तु उन्होंने धूर्त्तता से मुकाबला किया। इससे उनका अपयश और दयानन्द का यश ही बढ़ेगा।[४६२]

४६२- इस शास्त्रार्थ की स्मृति में अमेठी के नरेश राजा रणञ्जयसिंह ने काशी के आनन्दबाग में एक निम्न शिलालेख लगा दिया है-

शास्त्रद्वन्द्वाङ्कचन्द्रेब्दे वैक्रमे कार्तिकेसिते।
भौमेभास्वात्तिथौ दिव्ये मूर्तिपूजाविनिर्णये।।
अमेठ्यानन्दबागेऽस्मिन् काशिराजसभपतौ।
जनौघे विपुले वाद: प्रवृत्त: श्रुतितत्पर:।।
विशुद्धानन्दसुप्रज्ञैर्बालशास्त्र्यादिभिर्बुधै:।
शास्त्रार्थमकरोत साकं दयानन्दो यतिर्महान्।।
भगवान्बख्शभूपाल-वचनात् तत्सुत: सुधी:।
अलेखयच्छिलालेखं श्रीमान् राजा रणञ्जय:।।

अर्थात् १९२६ वि० की कार्तिक शुक्ला द्वादशी मङ्गलवार के दिन मूर्तिपूजा का निर्णय करने हेतु अमेठी राज्य के आनन्दबाग में काशीराज के सभापतित्व में विपुल जनसमूह के बीच वेद पर आधारित शास्त्रार्थ हुआ। विशुद्धानन्द तथा बालशास्त्री जैसे लोकविश्रुत विद्वानों के साथ महान् यति दयानन्द ने शास्त्रार्थ किया। राजा भगवान् बख्श की आज्ञा से उनके पुत्र विद्वान् राजा रणञ्जय सिंह ने इस शास्त्रार्थ की स्मृति में यह शिलालेख लगवाया है।

एक बार गोस्वामी घनश्यामदास मुल्तान से काशी आए थे और वहाँ बालशास्त्री से मिलकर उनसे पूछा था कि आपका और स्वामी दयानन्द का जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसमें किसकी जीत हुई थी? तब शास्त्री जी ने उत्तर देते हुए उन्हें कहा था कि हम गृहस्थ हैं और वे यति, संन्यासी, हमारे पूज्य, उनका और हमारा शास्त्रार्थ कहाँ बन सकता है?

काशी निवास के समय ही स्वामी दयानन्द एक बार मुगलसराय जाकर रेलवे कर्मचारियों को सम्बोधित कर आए थे। दीवान गङ्गोपाध्याय नामक एक सज्जन ने उन्हें वहाँ आमन्त्रित किया था।

शास्त्रार्थ के बाद स्वामीजी लगभग एक मास तक (अर्थात् १५ दिसम्बर, १८६९ ई० तक) काशी में रहे। वहाँ से वे मिर्जापुर होकर प्रयाग चले गए।

## मिर्जापुर (१८६९–७० ई०)

स्वामी दयानन्द दिसम्बर, १८६९ ई० के उत्तरार्ध में किसी समय काशी से चलकर मिर्जापुर पहुँचे और कुछ समय वहाँ बिताकर जनवरी, १८६९ ई० के आरम्भ में प्रयाग के कुम्भ के मेले में सम्मिलित होने के लिए वहाँ चले गए। (इस यात्रा का विस्तृत विवरण हमें उनके किसी जीवनचरित्र में देखने और पढ़ने के लिए नहीं मिला।

– *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*)

## प्रयाग (१८७० ई०)

काशी के प्रसिद्ध संवत् १९२६ वि० के शास्त्रार्थ के बाद स्वामी दयानन्द वहाँ से गत दिसम्बर मास के उत्तरार्ध में किसी समय से चलकर पौष शुक्ल १० संवत् १९२६ वि० तदनुसार १२ जनवरी, १८७० ई० (बुधवार) को प्रयाग आ गए, जहाँ आगामी मकर संक्रान्ति से कुम्भ का मेला आरम्भ होने वाला था। प्रयाग में स्वामीजी वासुकि के मन्दिर में ठहरे। उनके आगमन का समाचार उनके पधारते ही सारे मेला क्षेत्र में फैल गया जिससे लोग उनके दर्शनों के लिए आने और उनका उपदेशामृत का पान करने लगे।

स्वामी दयानन्द जनवरी मास की ठण्डी रात्रि के समय घाट की किसी बुर्ज पर केवल एक लँगोट पहने हुए ही सो जाते थे। एक दिन एक सज्जन ने उनके पास आकर पूछा कि आजकल ठण्ड बहुत पड़ रही है, परन्तु क्या आपको जाड़ा नहीं लगता? तब स्वामीजी ने इस प्रश्नकर्ता से ही प्रतिप्रश्न कर दिया कि तुम्हारे मुख को जाड़ा क्यों नहीं लगता? इस प्रश्न के उत्तर में उसने कहा कि यह तो सदा ही खुला रहता है, इसलिए उसे ठण्ड नहीं लगती। तब स्वामीजी ने कहा कि मेरा शरीर भी तो सदा ही खुला रहता है, इसलिए उसे भी ठण्ड नहीं लगती है।

एक दिन पं० मोतीराम (मिर्जापुर निवासी), जो संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे, प्रातःकाल चार बजे वासुकि मन्दिर की ओर भ्रमणार्थ आ निकले। उनके साथ एक विद्यार्थी भी था जिसने स्वामीजी के काशी शास्त्रार्थ के समय दर्शन किए हुए थे। उन्होंने देखा कि एक संन्यासी नग्न शरीर होकर घाट के बुर्ज पर गहरी नींद सो रहा है। उस समय ठण्डी वायु भी बह रही थी, परन्तु उस पर शीत का कोई प्रभाव नहीं था। विद्यार्थी ने यह सब देखकर पं० मोतीराम से कहा कि यह वही गप्पाष्टक स्वामी है, जिसने काशी के पण्डितों से हाल में ही शास्त्रार्थ किया है। यह सुनकर पं० मोतीराम स्वामीजी के जागने की प्रतीक्षा में वहीं घाट के फर्श पर बैठ गए। थोड़ी देर में स्वामीजी की आँख भी खुल गई और वे पं० मोतीराम के पास चलकर स्वयं ही पहुँच गए। तब उनमें परस्पर कुछ इस प्रकार की बातचीत हुई–

*स्वामीजी*– आपका वर्ण क्या है और कहाँ से आए हैं?

*मोतीराम*– मेरा वर्ण ब्राह्मण है और मैं मिर्जापुर से आया हूँ।

*स्वामीजी*– (ने एक मनुष्य से चटाई मँगवाई और पं० मोतीराम को उस पर बैठने के लिए कहा।)

*मोतीराम*- आप भी चटाई पर बैठिए।

*स्वामीजी*- मेरा आसन तो सर्वत्र है।

मोतीराम- जब आप फर्श पर बैठते हैं, तो मैं भी उसी पर बैठूँगा। चटाई की क्या आवश्यकता है?

*स्वामीजी*- लौकिकी गाथानुसार आपको चटाई पर बैठने का अधिकार है।

*मोतीराम*- लौकिकी गाथा सत्य नहीं हैं।

*स्वामीजी*- सब काम छोड़कर एकान्त में परमकृत्य सन्ध्या करनी चाहिए, सूर्योदय का समय हो गया है, सन्ध्या से निवृत्त होकर फिर आ जाइएगा।

स्वामीजी के कथनानुसार पं० मोतीराम सन्ध्या करने के लिए चले गए और स्वामीजी भी प्रातःकृत्य करने के लिए गङ्गातट पर चले गए। इससे निवृत्त होकर स्वामीजी उसी स्थान पर वापस लौट आए। थोड़ी देर पश्चात् पं० मोतीराम भी वहीं आ पहुँचे। उस समय स्वामीजी के पास सेठ रामरतन लड्ढा रईस (मर्जापुर) और दो आचारी बैठे हुए थे। स्वामीजी आचारियों से कह रहे थे-

'मस्तक श्रङ्गार करने की अपेक्षा ईश्वरोपासना द्वारा आत्मश्रङ्गार किया करो। ऐसा तिलक लगाने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है? आडम्बर रचना महात्माओं का काम नहीं है, यह तुमने कैसी माया रची है। (आचारी चुप रहे।) शोक! महाशोक! तिलकादि चिह्नः बनाने में लोगों की रुचि है, योगाभ्यास में नहीं। मूर्खो! तुम यह तिलक लगाते रहे, इतने समय में गायत्री क्यों न जप ली? व्यर्थ में समय नष्ट किया।'

*एक आचारी*- यदि आप हमारे देश में होते तो पृथिवी में गाड़कर मार डालते।

इस पर स्वामी जी हँसने लगे और आचारी वहाँ से उठकर चले गए।

**धर्मालाप**-

*स्वामीजी*- धर्म क्या है और उसका स्वरूप क्या है?

*मोतीराम*- आपके कहने में दोष है।

*स्वामीजी*- क्या दोष है?

*मोतीराम*- धर्म का रूप ही नहीं है तो उसका स्वरूप पूछना अनुचित है।

इस पर स्वामीजी ने मनुस्मृति और महाभारत से धर्म का स्वरूप वर्णन किया।

*मोतीराम*- जो वेद प्रतिपादित है, वही धर्म है।

*स्वामीजी*- वेद में मूर्तिपूजा है वा नहीं?

*मोतीराम*- है।

*स्वामीजी*- कहाँ है?

*मोतीराम*- प्रतिमा की प्रतिष्ठा और देवताओं का आह्वान वेदमन्त्रों से ही होता है।

*स्वामीजी*- प्रतिष्ठा और आह्वान के मन्त्र पढ़ो।

पण्डित मोतीराम ने वे मन्त्र पढ़े। स्वामीजी ने उनके अर्थ करके पूछा कि इनमें प्रतिष्ठा और आह्वान के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं है। इसी प्रकार मूर्तिपूजन करने, उस पर पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि चढ़ाने तथा नवग्रह-पूजन आदि के मन्त्र पढ़े, परन्तु स्वामीजी के अर्थ करने पर उनमें भी उपर्युक्त विषय का कोई सम्बन्ध न निकला।

स्वामी दयानन्द की सायंकाल तक पण्डित मोतीराम से इसी प्रकार की बातचीत होती रही, परन्तु पण्डितजी किसी प्रकार भी मूर्तिपूजा के पक्ष में वेद का कोई मन्त्र प्रस्तुत न कर सके।

*मोतीराम*– तो फिर महात्मा और विद्वान् लोग मूर्तिपूजा कैसे करते आए हैं?

*स्वामीजी*– इतिहास में महाभारत और वाल्मीकीय रामायण, मनुस्मृति तथा सूत्रग्रन्थों को देखिए, वेदों का भाष्य देखिए, तब आपको प्रकट हो जाएगा कि मूर्तिपूजा निरी गप्प है।

इसी मेले में हाथरस के प्रसिद्ध विद्वान् पं० हरजसराय भी आए थे और पं० विशुद्धानन्द भी वहीं थे। ये दोनों गुरुभाई थे। पं० हरजसराय अपने विद्यार्थियों से कहा करते थे कि दयानन्द अलग बैठकर मूर्तिपूजा का खण्डन करता है, यदि हमारे सामने आएगा तो उसकी वाक् भी न निकलेगी। विद्यार्थियों ने यही बात जाकर स्वामीजी से कह दी। स्वामीजी ने बड़ी प्रसन्नता से उनसे कहा कि ऐसी सिद्धि तो हमें अवश्य देखनी चाहिए, जो वाक् भी न निकले। पण्डितजी से हमारी अवश्य भेंट करा दो और स्वामी विशुद्धानन्द भी उनके साथ रहें। पं० हरजसराय और स्वामी विशुद्धानन्द को स्वामीजी से भेंट करने के लिए बहुत कुछ कहा गया, परन्तु वे न आए। इस पर स्वामीजी ने यहाँ तक कहलाकर भेजा कि यदि वे नहीं आते हैं तो हम ही उनके पास चले जाएँगे, परन्तु फिर भी वे स्वामीजी से वार्तालाप करने के लिए उद्यत नहीं हुए।

काशी–शास्त्रार्थ के कारण स्वामी दयानन्द का नाम चतुर्दिक प्रतिध्वनित हो रहा था। मेले में जो कोई धर्मजिज्ञासु वा प्रतिष्ठित पुरुष आता था, वह यथाशक्ति उनकी सेवा में उपस्थित होकर उनका उपदेश सुनकर और उनके दर्शन करके ही अपने को कृतकृत्य समझता था।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि ब्राह्मसमाज के प्रधान नेता भी मेले में पधारे थे और स्वामीजी का परिचय पाने पर उनसे मिलने आए थे। स्वामी दयानन्द उस समय जबकि महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आए थे, लेटे हुए थे। उनके आने की सूचना पाकर वे उठकर बैठ गए। तब दोनों महानुभावों में बहुत देर तक प्रेमालाप होता रहा। स्वामी दयानन्द ने उनसे वैदिक पाठशाला स्थापित करने का प्रस्ताव किया। ठाकुर महाशय ने उत्साहदानपूर्वक कहा कि इसके लिए आप कलकत्ता पधारें, उस समय इस विषय पर विचार किया जाएगा।

स्वामी दयानन्द के पूर्व परिचित मित्र काशी निवासी पं० ज्योतिस्वरूप उदासी भी ३०–४० मनुष्यों के साथ उनसे मिलने मेले में आए और परस्पर प्रेम–सम्भाषण से सन्तोष लाभ करके चले गए थे।

स्वामीजी ने प्रयाग में अपने भक्तों से अपने जीवन की कुछ घटनाएँ भी कही थीं, परन्तु अनुसन्धान करने पर भी ऐसी किसी घटना की जानकारी नहीं मिल सकी जिसका उल्लेख उन्होंने अपने बाद में लिखे और छपवाए गए आत्मचरित्र में न किया हो।

प्रयाग में उन दिनों कुछ लोग ईसाई मत को स्वीकार करने के लिए तत्पर थे। उन्हें स्वामीजी के पास लाया गया। उनके संसर्ग और उपदेश से उनके सब संशय मिट गए जिससे वे अपने पैतृक धर्म में ही पूर्ववत् बने रहे।

कुछ दुष्ट प्रकृति के मुसलमानों ने स्वामीजी के प्राणहरण की चेष्टा की थी। उनसे उनकी रक्षा एक बंगाली सज्जन माधवचन्द्र चक्रवर्ती ने की थी।

स्वामी दयानन्द के सत्सङ्ग और उपदेश का लोगों पर असाधारण प्रभाव पड़ता था। न जाने कितने मूर्तिपूजक उनके सत्सङ्ग से परमेश्वर–पूजक बन गए थे, कितने ही नास्तिक आस्तिक बन गए थे, कितने ही दुराचारी सदाचारी बन गए थे। उनमें मनष्यों के चित्त को आकर्षित करने की अद्भुत शक्ति थी। इसका एक देदीप्यमान उदाहरण इस प्रकार है–

जो लोग स्वामी दयानन्द के उपदेश श्रवणार्थ उनके पास आते थे, उन्हीं में से एक बंगाली सज्जन माधवचन्द्र चक्रवर्ती भी थे। वे सार्वजनिक निर्माण विभाग में ओवरसियर (वर्त्तमान समय के जूनियर इञ्जीनियर) थे और उन्होंने पुष्कल धन कमाया हुआ था। उस समय वे पेंशन लेकर ठेकेदारी का कार्य कर रहे थे जिससे उन्हें पर्याप्त आय थी। वे बड़े तीक्ष्ण बुद्धि के थे। अँग्रेजी के अतिरिक्त वे फारसी भाषा के भी ज्ञाता थे और कव्वालियों (एक प्रकार का फारसी छन्द)

के बड़े अनुरागी थे। वे अपने को बड़ा तार्किक समझते थे और उन्हें अपनी इस तार्किकता का बड़ा धमण्ड था। वे कहा करते थे कि मेरी युक्तियों का कोई खण्डन नहीं कर सकता। उन्होंने १०१ प्रश्न लिख रक्खे थे और जब कोई किसी धर्म का प्रसिद्ध धर्मोपदेशक प्रयाग में आया करता था तो वे उसके पास जाकर यही १०१ प्रश्न किया करते थे और उसे निरुत्तर करके चले आते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर से भी यही १०१ प्रश्न उन्होंने पूछे थे, परन्तु उनके उत्तरों से माधवबाबू को सन्तोष नहीं हुआ था।

माधवबाबू जन्मना जाति के ब्राह्मण थे, परन्तु हिन्दू धर्म से उनका विश्वास उठ गया था और वे ईश्वर तक के विश्वास को तिलाञ्जलि दे चुके थे। उनके विचार कुछ-कुछ इस्लाम मत की ओर झुके हुए थे। सो जैसे उनके विचार थे, वैसे ही आचार भी हो गए थे। मद्य-माँस सेवन तो उनकी किसी गिनती में भी न था, उन्होंने तो एक मुसलमानी वेश्या भी रख छोड़ी थी।

जब ऐसा आचारहीन व्यक्ति स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में आया तो उसने अपने पूर्व के अभ्यासानुसार वही १०१ प्रश्न उनके सामने भी प्रस्तुत कर दिए। इन प्रश्नों का जो उत्तर स्वामीजी ने उसे दिया, उससे उसकी तर्कणाशक्ति ही उसे जबाव दे गई और उनका सारा गर्व चूर्ण हो गया। फल यह हुआ कि उनका हृदय-मन्दिर जो अब तक अश्रद्धा और अविश्वास के तिमिर से आच्छादित था, सत्य और श्रद्धा के आलोक से आप्लावित हो गया। अन्त में उन्होंने स्वामी दयानन्द की शिक्षा और उपदेश को ग्रहण किया तथा जहाँ अपने असत्य विचारों से विदा ले ली वहाँ अपने कदाचारों से भी मुख मोड़ लिया। अब वह नास्तिक से पक्का आस्तिक बन गया था। स्वामी दयानन्द ने स्वयं अपने कर-कमलों से उसे सन्ध्या और बलिवैश्वदेव-विधि लिखकर भेंट की।

अब माधवबाबू प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में उठकर सन्ध्या-हवन और गायत्री जप करने लगे। धार्मिक दृष्टि से उनका यह नूतन जन्म था। उनके जीवन में इस प्रकार आमूलचूल परिवर्तन हो गया था। यह सब परिवर्तन देखकर उनके मित्र भी चकित थे। मित्रों ने उनसे इसका कारण पूछा तो माधवबाबू ने कहा कि स्वामीजी जो कुछ कहते हैं, उसके विरुद्ध मैं कुछ भी न बोल सका, उसके विरुद्ध मुझे कोई भी युक्ति नहीं सूझी, मैंने उनके वचन को सत्य मानकर ग्रहण कर लिया है।[४६३]

उन दिनों माधवबाबू का एक मुसलमान से मुकद्दमा चल रहा था, उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि क्या करना चाहिए? स्वामीजी ने कहा कि जो सत्य हो वही कहना चाहिए। माधवबाबू ने ऐसा ही किया और मुकद्दमा हार गए जिससे उन्हें भारी आर्थिक क्षति भी उठानी पड़ी। परन्तु इससे उन्हें तनिक भी दुःख न हुआ अपितु उन्हें इससे बड़ी शान्ति ही मिली। मुकद्दमे के विषय में वे कहा करते थे कि मुकद्दमा हारकर जब मैं कचहरी से बाहर आया और इक्के पर घर लौटा तो जो निर्मल आनन्द का भोग मैंने उस समय किया वैसा पहले कभी मैंने मुकद्दमा

---

४६३- स्वामी दयानन्द के पूना-प्रवचनों में जो यह उल्लेख आया है कि "प्रयाग में भी मुझे मारने वाले मारने के लिये आये थे, परन्तु माधवप्रसाद नाम का एक भद्र पुरुष था उसने [मुझे] बचा लिया। यह गृहस्थ माधवप्रसाद ईसाई मत स्वीकार करने को तैयार था और उसने सब पण्डितों को नोटिस (= विज्ञापन) दे रखी थी कि अपने आर्य धर्म के विषय में मेरी खात्री (= विश्वास) तीन महिने के भीतर न करा दी तो मैं ईसाई मत को स्वीकार कर लूँगा। मैंने उसकी आर्य धर्म विषयक खात्री करा दी और वह ईसाई होने से बच गया।" स्वामी जी का यह कथन उनके रामनगर (काशी) पहुँचने से पहले के प्रयाग आगमन का है, जबकि यहाँ उल्लिखित माधवबाबू काशी-शास्त्रार्थ के बाद स्वामीजी के प्रयाग-कुम्भ में पहुँचने के बाद सम्पर्क में आया था। इसी प्रकार पहले वाला माधवप्रसाद तो ईसाई बनने जा रहा था और यह माधवबाबू तो इस्लाम मत की ओर झुका हुआ था। स्वामीजी को मारने की घटना दोनों ही अवसरों पर उल्लिखित है, पर दोनों बार बचाने वाले क्रमशः माधवप्रसाद और माधवचन्द्र चक्रवर्ती हैं।

जीतने पर भी नहीं किया था।

जब तक स्वामीजी प्रयाग में रहे तब तक माधवबाबू स्वामीजी के लिए अपने पाचक के हाथ उनके लिए भोजन भेजते रहे।

विदुषी बाजीबढनगरी[४६४] जो काशी में वरुणा-गङ्गा के सङ्गम पर स्थित आनन्द-गुफा के निकट रहा करती थी और जो उन दिनों विद्योपार्जन कर रही थी तथा ज्योतिष को पढ़कर तब लघुकौमुदी पढ़ रही थी, उसने प्रयाग के कुम्भ के मेले में माघ वदी एकादशी संवत् १९२६ वि० तदनुसार २७ जनवरी, १८७० ई० को स्वामी दयानन्द का नाम सुना, इसलिए वह दस-बीस विद्यार्थियों के साथ राजा वासुकी पर गई। वहाँ गङ्गातट पर पत्थर के फर्श पर उसने स्वामी जी को बैठे हुए देखा। बहुत से संन्यासी और पण्डित लोग एकत्र होकर वहाँ स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए आते और उनके सामने दो-एक बात में ही उखड़कर चले जाते थे। वह वहाँ कुछ समय तक रहकर इस सबका आनन्द लेती रही। इस समय भीड़भाड़ के कारण वह स्वयं स्वामीजी से कोई बात नहीं कर पाई थी। इसलिए दूसरे दिन वह फिर आई, तब उसकी स्वामीजी से बात हुई। तब उनकी बातों से उसके मन में उनके प्रति विश्वास उत्पन्न हो गया। इस समय उसने स्वामीजी से यह भी पूछ लिया कि प्रयाग के बाद आगे उनका कहाँ जाना होगा, तब स्वामीजी ने उसे अपने मिर्जापुर जाने की बात कही थी। उनकी इसी बात को ध्यान में रखकर वह भी वहाँ के लिए माघ सुदी पड़वा (१ फरवरी, १८७० ई०) को प्रयाग से मिर्जापुर के लिए निकल पड़ी थी।

एक दिन एक साधु ने स्वामीजी से प्रवृत्ति और निवृत्ति के मार्ग के विषय में पूछा। तब स्वाजीजी ने उसके कथन की निःसारता उससे प्रतिपादित की और इस विषय पर एक व्याख्यान भी दिया जिसमें उन्होंने दर्शाया कि जो निवृत्ति-मार्ग की महिमा का राग अलापते हैं उनका जीवन पशु जीवन से अच्छा नहीं है। वे लोगों को आलसी ही बनाते हैं। दूसरों को तो निवृत्ति-मार्ग का उपदेश करते हैं, परन्तु स्वयं दर-दर भटककर अपनी उदरपूर्ति के लिए भिक्षा माँगते हैं। क्रियात्मक जीवन ही वास्तविक जीवन है। वेदविहित शुभकर्मों का करना ही निवृत्ति-मार्ग है। वही मनुष्य जीवित कहलाने का अधिकारी है, जो अपने जीवन को लोकहित के कार्यों में लगाता है।

प्रयाग के इस कुम्भ मेले का पौष संक्राति (मकर संक्रान्ति १४ जनवरी, १८७० ई०) पर त्रिवेणी सङ्गम पर प्रथम स्नान, द्वितीय स्नान परवर्ती अमावस्या ३१ जनवरी, १८७० ई० को तथा तृतीय स्नान वसन्त-पञ्चमी ५ फरवरी, १८७० ई० को हुआ था। इन सब स्नानों में भाग लेकर ही स्वामी दयानन्द ने आगे मिर्जापुर के लिए प्रस्थान किया था।

## मिर्जापुर (१८७० ई०)

लगभग एक महिने तक प्रयाग के कुम्भ मेले में रहकर स्वामी दयानन्द फरवरी, १८७० ई० के मध्य में किसी दिन मिर्जापुर पधारे। मिर्जापुर आकर स्वामीजी सेठ रामरतन लड्ढा के बाग में ठहरे, जो मिर्जापुर नगर और विन्ध्याचल

४६४- स्वामी दयानन्द जब दूसरी बार आश्विन संवत् १९१५ वि० (अक्टूबर, १८५८ ई०) में काशी आकर वरुणा और गङ्गा के सङ्गम पर स्थित आनन्द-गुफा में ठहरे थे, उस समय यह गुफा परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती की मृत्यु हो जाने के कारण उनके शिष्य परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी ब्रह्मनन्द सरस्वती (पूर्वनाम रामेश्वर दवे) के अधिकार में थी। इन्हीं रामेश्वर दवे की इकलौती पुत्री बाद में माँ जी हरिकुँवरी के नाम से प्रसिद्ध हुई। ये पिता-पुत्री इसी गुफा में रहकर संवत् १९०३ (सन् १८४६ ई० से) परमब्रह्म परमात्मा का ध्यान करने में लीन हो गए थे। १८६० ई० में इन स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती का भी ७८ वर्ष की आयु में निधन हो गया। क्या यही माँ जी हरिकुँवरी ही विदुषी बाजीबढ़नगरी हो सकती है? परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती ब्र० शुद्धचैतन्य के संवत् १९०४ वि० के प्रथम काशी अध्ययनकाल में उनके संरक्षक और मार्ग-दर्शक रह चुके थे।

पर्वत के बीच में था। मिर्जापुर आकर स्वामीजी ने अपने आ जाने का समाचार पं० मोतीराम के पास भेजा जो उनसे प्रयाग में मिल चुके थे। अत: वे तत्काल स्वामीजी की सेवा में आकर उपस्थित हो गए। स्वामीजी ने उनसे पहला ही प्रश्न यह किया कि मूर्तिपूजा के विषय में आपको वेद का कोई प्रमाण मिला वा नहीं? इसे खोजने का स्वामीजी ने उनसे प्रयाग में अनुरोध कर रक्खा था। पं० मोतीराम ने कहा कि नहीं मिला। इस पर स्वामीजी ने कहा कि मूर्तिपूजा वास्तव में झूठी है, ईश्वरप्राप्ति तो योगाभ्यास से ही हो सकती है।

मिर्जापुर में भी स्वामी दयानन्द केवल कौपीन ही धारण करते थे, शरीर पर मृतिका का लेपन करते थे और संस्कृत ही बोला करते थे। रात्रि में एक पत्थर सिर के नीचे और दो पैरों के तले रखकर सो जाते थे। रात्रि में दो बजे के लगभग उठकर वे गङ्गा-तट पर चले जाते और शौच-स्नान से निवृत्त होकर शरीर पर मृतिका लगाकर लौट आते और तीन बजे से सूर्योदय होने तक ईश्वर के ध्यान में मग्न रहते थे। फिर उठकर टहलने लग जाते थे। स्वामीजी की सरल संस्कृत सुनकर बाग का माली भी टूटी-फूटी संस्कृत बोलने लगा था।

स्वामीजी के गङ्गा-तट पर जाने का मार्ग मिस्टर सी० बोल्ड (एक अँग्रेज) के लाख बनाने के कारखाने के नीचे से होकर जाता था। एक रात्रि में ऐसा हुआ कि कारखाने के चौकीदार ने एक विशालकाय मनुष्य (दयानन्द) को कारखाने के समीप से जाते हुए देखा तो वह डर गया और उसने अपने मालिक सी० बोल्ड को जगाकर कहा कि कोई एक विशालकाय मनुष्य कारखाने के पास घूम रहा है। तब वे लालटेन लेकर उसके साथ ही उसे देखने के लिए आए। उन्होंने स्वामी दयानन्द को देखकर अपने चौकीदार को कह दिया कि ये स्वामीजी चाहे जिस समय भी आएँ-जाएँ, इन्हें कभी मत रोकना।

अन्य स्थानों की तरह ही मिर्जापुर में भी सैकड़ों मनुष्य स्वामीजी के पास आने-जाने लगे। प्रात:काल से रात्रि के १२ बजे तक उनके पास दर्शकों का ताँता लगा रहता था। कोई सद्भाव से, तो कोई केवल उनके दर्शनों के लिए ही, कोई अपनी धर्मविषयक जिज्ञासा को शान्त करने के लिए तो कोई उनसे शास्त्रार्थ करने अथवा कोई -कोई उन्हें अपमानित करने के लिए भी आता था। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी जो उन्हें मारने-पीटने का सङ्कल्प लेकर भी आते थे और यदि उनका वश चलता तो इसमें वे कोई आनाकानी भी न करते थे। स्वामीजी का दरबार क्या मित्र, क्या शत्रु सबके लिए ही खुला हुआ था। वे सबके साथ प्रेम का व्यवहार करते थे, पर यदि कोई कुछ उद्दण्डता करने लगता था तो वे अपना रुद्ररूप धारण करके उसे दण्ड देने के लिए भी उद्यत हो जाते थे।

मिर्जापुर में कितने ही लोगों ने स्वामीजी के उपदेश से मूर्तिपूजा छोड़ दी और बहुत से ब्राह्मणों ने सन्ध्या करनी आरम्भ कर दी।

उस समय मिर्जापुर के कलेक्टर (जिलाध्यक्ष) मिस्टर जैकिंसन थे। उन्होंने एक दिन मिर्जापुर के रईस चौधरी गुरुचरण से कहा कि रामरतन लड्ढा के बाग में एक विद्वान् संन्यासी ठहरा हुआ है, जो मूर्तिपूजा का खण्डन करता है, आप उसके पास जाकर ज्ञात करो कि उसका क्या अभिप्राय है? तदनुसार वे स्वामीजी के पास गए। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि एक विशालकाय तेजोदीप्त मूर्ति (दयानन्द की) विराजमान है और उसके चारों ओर अनेक लोग उसे घेरकर बैठे हुए हैं जो उनसे अपनी-अपनी जिज्ञासाएँ और प्रश्न रखते हैं और स्वामी जी सरल संस्कृत में उनका समाधान/उत्तर देते जाते हैं। चौधरी गुरुचरण ने भी उनसे पूछा कि स्वामीजी आपका सङ्कल्प क्या है? स्वामीजी ने उन्हें उत्तर दिया कि सनातन वेदोक्त धर्म का इस समय लोप हो गया है, उसे पुन: प्रतिष्ठित करना ही हमारा सङ्कल्प है। चौधरी गुरुचरण ने यह सब वृतान्त कलेक्टर को कह सुनाया तो उसने भी स्वामीजी से मिलने की अपनी इच्छा प्रकट की। परन्तु थोड़े ही दिनों के बाद कलेक्टर का वहाँ से तबादला हो गया जिससे वह स्वामीजी के भेंट नहीं कर सका।

अपनी पहली ही भेंट में चौधरी गुरुचरण स्वामीजी के गुणों पर इतने मुग्ध हो गए कि वे प्रतिदिन उनकी सेवा-शुश्रूसा में रत रहने लगे और उनके अनन्य भक्त बन गए।

सेठ रामरतन भी स्वामी जी के प्रयाग में दर्शन कर चुका था और सम्भवत: इसी कारण उसके बाग में ही स्वामीजी ने मिर्जापुर में आकर अपना डेरा डाला था और यह भी हो सकता है कि वह स्वयं ही उन्हें प्रयाग से मिर्जापुर में आकर उनके बाग में डेरा डालने के लिए आमन्त्रित कर आया हो।

बाबा बालकृष्ण सेठ रामरतन के गुरु थे। उन्होंने महाभारत की टीका लिखी थी जिसमें भगवद्गीता को प्रक्षिप्त बताया गया था। वे पहले स्वामीजी की प्रशंसा किया करते थे, परन्तु जब स्वामीजी ने उनकी टीका में असङ्गति दोष और व्याकरण की कुछ अशुद्धियाँ दर्शाईं तो वे स्वाामीजी की निन्दा करने लगे। स्वामीजी ने उन्हें कहला भेजा कि वे अपनी टीका के शुद्धाशुद्ध होने के विषय में उनसे शास्त्रार्थ कर लें, परन्तु उन्होंने कह दिया कि वे स्वामीजी के स्थल पर इसके लिए नहीं जाएँगे। स्वामीजी ने इसके उत्तर में उन्हें कहा कि यह स्थान हमारा नहीं अपितु तुम्हारा ही है, आ जाइए अथवा गङ्गा पर चलकर उसकी रेती पर हमसे शास्त्रार्थ कर लीजिए। सेठ रामरतन ने भी उनसे शास्त्रार्थ करने का अनुरोध किया, परन्तु वे किसी प्रकार भी इसके लिए सहमत नहीं हुए।

एक दिन मिर्जापुर के कुछ ब्राह्मणों ने एक पत्र संस्कृत में स्वामीजी की सेवा में भेजा जिसमें उन्होंने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की अपनी अभिलाषा प्रकट की थी और यह भी लिखा था कि आप शास्त्रार्थ में अपने प्रतिपक्षी के प्रति मूर्खादि कटु शब्द कह दिया करते हैं। यदि ऐसे शब्द आपने फिर कहे तो आपको दण्ड दिया जाएगा। स्वामीजी ने यह शास्त्रार्थ करना सहर्ष स्वीकार कर लिया और उन लोगों को यह भी कहा कि गोविन्द भट्ट को (जो उस पत्र के लेखकों में से एक था) भागवत का बड़ा अभिमान है, यदि वह शास्त्रार्थ करने आएगा तो उस अभिमानी को मैं अवश्य ही मूर्ख कहूँगा।

पत्र भेजने के दो घण्टे बाद वे लोग आ गए। इन आगन्तुकों में गोविन्द भट्ट और पं० जयश्री भी थे। उनके आते ही स्वामीजी ने उस पत्र की अशुद्धियाँ दिखानी आरम्भ कर दीं। पण्डितों ने कहा कि हमारे अक्षर अच्छे न होने के कारण वह पत्र हमने एक लेखक से लिखाकर भेजा था जिसने लिखने में कुछ अशुद्धियाँ कर दीं। इस पर स्वामीजी ने उन्हें कहा कि फिर आप लोगों ने वे अशुद्धियाँ शुद्ध क्यों न कीं? क्या शोधने की योग्यता भी आप लोगों में न थी।

इस पर पण्डितों ने कहा कि जिस कार्य के लिए हम लोग आए हैं, वह होना चाहिए। अशुद्धियों की बात तो जाने ही दीजिए। तत्पश्चात् गोविन्द भट्ट ने भागवत का मण्डन आरम्भ कर दिया, परन्तु उसका स्वयं का उच्चारण इतना अशुद्ध था कि स्वामीजी को उसे टोकना पड़ा। इस स्थिति में गोविन्द भट्ट के ही एक अन्य साथी ने कहा कि भट्टजी आप हट जाइए, जयश्री को शास्त्रार्थ करने दीजिए। तब जयश्री से स्वामीजी का शास्त्रार्थ होने लगा, इस समय तक दर्शकों की भीड़ बहुत अधिक हो गई थी, इसलिए स्वामीजी ने कहा कि चलो मैदान में चलकर बैठें, वहाँ बातचीत होगी। इस पर सभी लोग खुले मैदान में चले गए। वहाँ पूर्व की ओर स्वामीजी और पश्चिम की ओर पण्डितगण बैठे और मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया।

*जयश्री*- मूर्तिपूजा के खण्डन में वेदों का कोई प्रमाण दीजिए।

*स्वामीजी*- *'न तस्य प्रतिमाऽअस्ति०'* आदि- यह यजुर्वेद (३२/३) का मन्त्र है, जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि परमेश्वर की प्रतिमा नहीं है।

*जयश्री*- (जब इस मन्त्र का अन्यथा अर्थ करने लगा), तो-

*स्वामीजी*- (ने अपने अर्थ की पुष्टि में प्रमाण दिए), तो-

*जयश्री*- इस मन्त्र के अर्थों पर हमारा और आपका युक्तिपूर्वक शास्त्रार्थ होना चाहिए।

*स्वामीजी*- ने 'तथास्तु' कहकर जयश्री के अर्थों में युक्तिपूर्वक दोष दिखाए।

*जयश्री*- ने उनका उत्तर देने का यत्न किया, परन्तु सफल न हुए और क्रोध में भर गए। इस पर जयश्री के साथी ने जो स्वामीजी के पीछे बैठा हुआ था, ताली बजा दी।

*स्वामीजी*- एकदम खड़े हो गए और पूछा कि ताली किसने बजाई और ललकार कर बोले कि खबरदार! यदि ऐसी कुचेष्टा करोगे तो मैं अकेला ही सबको पीट सकता हूँ, तुम मुझे दुष्टता दिखाने आए हो और आज्ञा दी कि बाग के द्वार बन्द कर दो।

पं० सरयूप्रसाद ने बीच में पड़कर इस झगड़े को शान्त किया और उस मनुष्य ने भी क्षमा माँग ली जिसने अपने साथियों को चलने का सङ्केत देते हुए ताली बजाई थी।

इसमें सन्देह नहीं था कि ये लोग झगड़ा करने के इरादे से ही आए हुए थे। इसका सङ्केत उन्होंने अपने पत्र में भी कर दिया था। यदि पं० सरयूप्रसाद ने बीच में पड़कर इसे शान्त न किया होता और यदि वे लोग स्वामीजी की डाँट से भयभीत न हुए होते तो वे उपद्रव अवश्य करते।

इस समय सायंकाल हो रहा था, अत: स्वामीजी ने सब लोगों को सन्ध्यावन्दन करने का कहकर उन्हें एतदर्थ विदा कर दिया।

एक दिन एक सज्जन ने जो गीता का बड़ा प्रेमी था, स्वामीजी के पास आकर कहा कि मैंने गीता की अनेक टीकाएँ देखी हैं, परन्तु मुझे उसके '*सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* 'श्लोक का अर्थ समझ में नहीं आया। स्वामीजी ने उसे कहा कि 'धर्मान्' शब्द को यहाँ 'अधर्मान्' समझना चाहिए। '*शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्*' इस व्याकरण के सूत्र के अनुसार 'सर्व' में जो वकार में अकार है, वह 'अधर्मान्' के अकार में तद्रूप हो गया है अर्थात् वह वकार का अकार उसमें मिल गया है, इस प्रकार यद्यपि 'अधर्मान्' शब्द ने 'धर्मान्' का रूप ग्रहण कर लिया है, परन्तु वास्तव में 'अधर्मान्' ही रहा। यह अर्थ सुनकर वह मनुष्य बहुत प्रसन्न हुआ और जब उसने स्वामीजी से इस अर्थ की पुष्टि में प्रमाण माँगा तो उन्होंने वेद के दो-तीन मन्त्रों के प्रमाण देकर उसे सन्तुष्ट कर दिया।

मिर्जापुर में बूढ़े महादेव का एक प्रसिद्ध मन्दिर है। उसका पुजारी छोटूगिरि गोसाईं बड़ा हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ था। वह स्वामीजी के मूर्तिपूजा का खण्डन करने के कारण उनसे अत्यन्त द्वेष करता था। एक दिन वह अपने कुछ साथियों को लेकर स्वामीजी के प्राण हरण करने के उद्देश्य से उनके पास आया। उस समय दो-तीन मनुष्य स्वामीजी के पास बैठे हुए थे। छोटूगिरि भी स्वामीजी के जंघा से जंघा मिलाकर बैठ गया और बोला- बच्चा! अभी तू कुछ पढ़ा नहीं है, अभी कुछ पढ़, जिस इन्द्रिय से तेरी उत्पत्ति हुई है, उसी का तू खण्डन करता है! और यह श्लोक पढ़ा- '*ब्रह्ममुरारिसुरार्चितलिङ्गं तं प्रणमामि सदा शिवलिङ्गम्*'। स्वामीजी ने कहा यह तो पत्थर है, तुम्हारी उससे उत्पत्ति हुई होगी, मैं तो अपने माता-पिता से उत्पन्न हुआ हूँ।

एक मनुष्य बताशों का एक दोना स्वामीजी को भेंट कर गया। छोटूगिरि ने कहा- ये बताशे हैं? स्वामीजी ने कहा कि - हैं। तब उसने बताशों की ओर हाथ बढ़ाया। स्वामीजी ने कहा कि खा लो, परन्तु उच्छिष्ट मत छोड़ना। परन्तु उस दुष्ट ने स्वामीजी की इस आज्ञा का भी तिरस्कार किया और चिल्लाकर बोला- 'बच्चा! हम तेरे गुरु हैं, आज खण्डन करने का तुझे सब फल मिल जाएगा।

स्वामीजी ने देखा कि छोटूगिरि दुष्टता करना चाहता है। तब वे खड़े हो गए और अपने सिरहाने का पत्थर उठाकर जोर से हुङ्कार भरी कि 'मूर्ख! तू मुझे भय दिखाता है! यदि मैं ऐसे ही भय खाता तो देश में घूम-घूमकर खण्डन कैसे करता? और ललकार कर बोले कि 'कोई किवाड़ बन्द कर दो, मैं अकेला ही इन्हें पीट सकता हूँ। ' स्वामीजी की

इस हुङ्कार से वह दुष्ट और उसके साथी भय से काँपने लगे। छोटूगिरि का एक साथी हाथ जोड़कर बोला कि महाराज! हमें कैसे प्रतीत हो कि मूर्तिपूजा उचित नहीं है। इस पर महाराज ने शान्तिपूर्वक कहा कि वेदों में इसका कहीं कोई प्रमाण नहीं है और परमेश्वर स्वतन्त्र है, वह किसी के वश में नहीं आ सकता जैसे तुम रात्रि में मूर्ति को ताले में बन्द करके चले जाते हो। मूर्ति तो जड़ है, वह किसी को वर वा शाप नहीं दे सकती। केवल एक परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिए और ब्राह्मणों का मुख्य कर्म सन्ध्या, गायत्री-जप और अग्निहोत्र करना ही है। इसके बाद थोड़ी देर तक और बैठकर ये लोग सरलता से बातचीत करके चुपचाप वहाँ से चले गए।

इस घटना की जानकारी मिलने पर कलेक्टर ने स्वेच्छा से एक सिपाही को स्वामीजी की सुरक्षा पर नियत कर दिया।

एक मनुष्य से बातचीत करते हुए स्वामीजी ने प्रसङ्गवश मनु के एक श्लोक में आए हुए 'चक्री' शब्द का अर्थ कुम्हार किया। उस मनुष्य ने कहा कि कुल्लूकभट्ट ने तो इसका अर्थ तेली किया है। स्वामीजी ने कहा कि कुल्लूक तो उल्लूक है! तेली के पास तो कोल्हू होता है, चक्र (चाक) नहीं, वह तो कुम्हार के पास ही होता है। अत: चक्री का अर्थ कुलाल (कुम्हार) ही है।

मिर्जापुर में स्वामीजी ने एक बंगाली सज्जन बनवारीलाल को अँग्रेजी सीखने और मैक्समूलर कृत वेदों के अँग्रेजी अनुवाद को सुनाने के लिए प्रशिक्षक के रूप में रख लिया था।

मिर्जापुर के पादरी मैथर कभी-कभी स्वामीजी से मिलने आया करते थे। एक दिन कथा प्रसङ्ग में उन्होंने स्वामीजी से कहा कि यदि वेदों की प्रचलित टीकाएँ ठीक नहीं हैं तो आप अपनी ही टीका क्यों नहीं बनाते? पादरी साहब कहते हैं कि उस समय स्वामी जी ने उन्हें यह उत्तर दिया था कि वेदों की टीका केवल साधारण बुद्धि से नहीं बन सकती, जब तक तपस्यापूत बुद्धि न हो, तब तक वेदों का ग्रहण करना कठिन है।

इन दिनों स्वामीजी की यह धारणा थी कि स्थान-स्थान पर वैदिक पाठशालाएँ स्थापित की जाएँ और जो विद्यार्थी उनमें से शिक्षा पाकर निकलें उनसे वैदिक धर्म का प्रचार कराया जाए। अपना यही विचार उन्होंने मिर्जापुर में भी प्रकट किया। उनके उपदेश और अनुरोध को चौधरी गुरुचरण रईस ने स्वीकार कर अपने व्यय से मिर्जापुर में एक वैदिक पाठशाला स्थापित कराकर चलानी स्वीकार कर ली और अपना एक मकान जो लाल डिग्गी के पास था, उसके सञ्चालन के लिए दे दिया। तब स्वामीजी मथुरा गए और वहाँ से अपने सहपाठी पं० युगलकिशोर तथा एक अन्य पण्डित बल्देवप्रसाद को अध्यापक नियत करके अपने साथ लिवा लाए। इनके अतिरिक्त एक तीसरा पण्डित भी नियत कर दिया। विद्यार्थियों के भोजन और पुस्तकों का व्यय भी चौधरी गुरुचरण ही देते रहे। इस पाठशाला पर उस समय उनका लगभग १५० रुपया मासिक व्यय होता था। विद्यार्थियों को इस शर्त पर ही पाठशाला में प्रविष्ट किया जाता था कि वे छ: वर्ष से पहिले इस पाठशाला को न छोड़ेंगे। उनके लिए प्रात: सायं सन्ध्या अग्निहोत्र करने की व्यवस्था भी की गई थी। जो विद्यार्थी सूर्योदय से पूर्व नहीं उठता था और सन्ध्या नहीं करता था, उसे दिन भर निराहार रहकर गायत्री जपनी पड़ती थी। पाठशाला के लिए उपयोगी और आवश्यक ग्रन्थ स्वामीजी काशी जाकर स्वयं ले आए थे। उस समय इस पाठशाला में विद्यार्थियों की संख्या ३०-३५ हो गई थी। यह पाठशाला चैत्र संवत् १९२७ वि० अर्थात् अप्रैल, १८७० ई० में स्थापित हो गई थी।

मिर्जापुर में एक ओझा ठहरा हुआ था। उसने यह डींग मारी थी कि यदि कोई हमसे मारण का पुरश्चरण करावे तो इक्कीसवें दिन दयानन्द की मृत्यु हो जाए। मूर्तिपूजक लोग तो स्वामीजी से चिढ़े हुए थे ही, अत: उनमें ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो हृदय से स्वामीजी के मरण के इच्छुक थे। ऐसे ही एक मूर्ख परन्तु धनी सेठ उस ओझा को मिल गया। उसने ओझा से कहा कि जितना भी रुपया चाहिए हो, वह मुझसे ले लो और दयानन्द पर अपना मारण-मन्त्र चलाओ।

सो ओझाजी पुरश्चरण करने लगे।

अभी उन्हें पुरश्चरण करते हुए तीन-चार दिन ही हुए थे कि दैवयोग से सेठजी के गले में एक फोड़ा हो गया। उसने ऐसा भयङ्कर रूप धारण किया कि सेठजी को खाना-पीना और बोलना-चालना भी दूभर हो गया। सेठजी की पीड़ा बढ़ती गई और उधर ओझाजी की कढ़ाई चढ़ती रही। एक दिन ओझाजी सेठजी के पास आकर बोले कि पुरश्चरण समाप्ति का दिन निकट आ रहा है, बलि की सामग्री प्रस्तुत कर दीजिए, इधर बलि दी जाएगी और उधर दयानन्द का सिर धड़ से अलग होकर भूमि पर गिर जाएगा। सेठजी को तो अपने ही प्राणों की पड़ी हुई थी, अत: वे बोले कि दयानन्द का सिर जब गिरेगा, तब गिरेगा, अभी तो पहले मेरा ही सिर गिरना चाहता है। अत: कृपा करके अपना पुरश्चरण बन्द कर दीजिए।

उस दिन छोटूगिरि स्वामीजी के पास से बहुत लज्जित होकर लौटा था। उसकी सारी हेकड़ी और गुण्डापन निकल गया था, परन्तु यह बात उसके मन में काँटे की तरह चुभती रही। इसलिए उसने अपने दो गुण्डों को पुन: समझा-बुझाकर स्वामीजी को पीटने के लिए भेजा। वे जाकर स्वामीजी के पास बैठ गए। उस समय स्वामीजी पं॰ रामप्रसाद से कुछ शास्त्रीय बातें बता रहे थे। इस समय वे गुण्डे बीच-बीच में हँसने और व्यंग्यपूर्ण बातें करने लगे। एक-दो बार तो स्वामीजी ने उन्हें सभ्यतापूर्वक अपने मधुर वचनों से समझाया, पर जब वे नहीं माने तो उन्होंने उठकर ऐसा हुङ्कारनाद किया कि उन गुण्डों का मूत्र और पुरीष भी निकल पड़ा और वे संज्ञाहीन हो गए। पं॰ रामप्रसाद को भी यह हुङ्कारनाद ऐसा असह्य हुआ कि उन्हें अपने कानों पर उँगलियाँ लगा लेनी पड़ीं। पं॰ रामप्रसाद को संज्ञाहीन हो चुके उन गुण्डों को जल के छींटे देकर होश में लाना पड़ा और स्वामीजी ने भी उन्हें उचित शिक्षा देकर विदा कर दिया।

स्वामीजी मिर्जापुर लगभग तीन मास तक (अर्थात् फरवरी मध्य से प्राय: मई, १८७० ई॰ के मध्य तक) रहे। इस दौरान उनके लिए भोजन पं॰ सरयूप्रसाद शुक्ल के यहाँ से आता रहा। रात्रि में बाग का माली दूध गर्म करके उन्हें पिलाया करता था। मिर्जापुर से स्वामीजी काशी चले गए।

## काशी (१८७० ई॰)

संवत् १९२७ वि॰ के ज्येष्ठ मास के कृष्ण पक्ष के आरम्भ में अर्थात् १६ मई, १८७० ई॰ (सोमवार) को स्वामी दयानन्द मिर्जापुर से गङ्गातट का भ्रमण करते हुए काशी पधारे और लाला माधोदास, आनरेरी मजिस्ट्रेट बनारस के बाग में (दुर्गाकुण्ड के निकट) निवास किया।

अपने इस काशी-प्रवास में स्वामी दयानन्द ने '*अद्वैतमत-खण्डन*' नाम की एक लघु-पुस्तिका लिखी और अपने '*काशी-शास्त्रार्थ*' के पश्चात् उसे यत्न करके '*कविवचन-सुधा*' नामक हिन्दी मासिकपत्र के ज्येठ पूर्णिमा (१३ जून, १८७० ई॰) और आषाढ़ पूर्णिमा (१२ जुलाई, १८७० ई॰) संवत् १९२७ वि॰ के दो अङ्कों में छपवाया। यह पत्रिका लाइट प्रेस (बनारस) से पं॰ गोपीनाथ के प्रबन्ध में छपती थी। यह लघु-पुस्तिका नवीन वेदान्त के दुर्ग को तोड़ने के लिए सैनिक बल से अधिक बलवान थी। यह पुस्तिका बाबू हरिश्चन्द्र गुप्त की हाल में ही प्रकाशित '*दूषणमालिका*' के खण्डन में लिखी गई थी।

स्वामी शङ्कराचार्य प्रवर्त्तित नवीनवेदान्त- '*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:*' हिन्दुओं के प्राय: बड़े-बड़े विद्वानों की विश्वासभूमि है। इस विषय में भी कुछ नहीं कहना है कि उसके समर्थन में स्वामी शङ्कराचार्य और उनके अनुयायी लोगों ने अनेक तर्क और युक्तियों का जाल बना रक्खा है, उसकी सिद्धि में बड़े-बड़े ग्रन्थ रचे गए हैं, जिन पर उच्चकोटि के सुशाणित-बुद्धिसम्पन्न सूक्ष्मदर्शी विद्वानों ने अपना पाण्डित्य समाप्त कर दिया है और उसकी रक्षा के लिए तर्क और युक्ति का सुदृढ़-दुर्ग निर्माण करके खड़ा कर दिया है। उन्हीं युक्तियों से स्वामी शङ्कराचार्य ने अनेक जैन और बौद्ध दार्शनिकों को शास्त्रार्थ में परास्त करके अनेक राजाओं और महाराजाओं को अपना अनुयायी बनाकर जैन और बौद्धमत

को भारत से नष्टप्राय किया था। इस बार स्वामी दयानन्द ने इसी दुर्ग पर गोला बरसाया और उसके खण्डन में *'अद्वैतमत खण्डन'* नामक पुस्तक लिखकर प्रकाशित की।

*'अद्वैतमत खण्डन'* के प्रकाशन के साथ ही काशी के अनेक पडितगण स्वामीजी से उस विषय पर विचार–विमर्श करने के लिए उनके पास आने लगे।

स्वामीजी के इसी काशी–प्रवास के समय महाराजा ईश्वरीनारायण सिंह ने उन्हें अपने यहाँ बुलाकर उनका सम्मान किया था और पिछले काशी–शास्त्रार्थ के दौरान घटित उनके प्रति अपमान जनक घटनाओं के लिए खेद प्रकट किया था। इसका उल्लेख स्वामीजी की पिछली काशी यात्रा के विवरणों में विस्तार से किया जा चुका है।

इस प्रकार इस बार काशी में लगभग दो मास तक रहकर स्वामी दयानन्द अवैदिक मतों की कुरीतियों का खण्डन करके गङ्गा के किनारे–किनारे पश्चिम की ओर चले गए।

## कासगञ्ज (१८७० ई०)

काशी से गङ्गा किनारे–किनारे चलकर स्वामी दयानन्द श्रावण संवत् १९२७ वि० के आरम्भ (अगस्त, १८७० ई० के आरम्भ) में कासगञ्ज पधारे।

यहाँ स्वामीजी ने पहले स्थापित की हुई अपनी वैदिक पाठशाला का निरीक्षण किया। इस पाठशाला में निम्नलिखित नियमों का पालन कराया जाता था–

१– विद्यार्थियों को सन्ध्या सिखाकर पाठशाला में प्रविष्ट किया जाए और इसी से उनकी बुद्धि की परीक्षा कर ली जाए।

२– अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति और वेद पढ़ाए जाएँ।

३– यदि विद्यार्थी सूर्योदय से पहले उठकर सन्ध्या न कर ले, तो उसे सायंकाल सन्ध्या कर लेने से पहले भोजन न दिया जाए। यह भी देखा जाए कि इस दौरान वह बस्ती में जाकर कहीं भोजन न कर ले।

४– विद्यार्थियों को नगर में जाने की आज्ञा नहीं है, परन्तु वे किसी निमन्त्रण में वहाँ जा सकते थे।

५– इस पाठशाला के द्रव्य से नगर में ही रहने वाले विद्यार्थियों को भोजन न दिया जाए, केवल बाहर के विद्यार्थियों को ही दिया जाए।

६– अध्ययन में परिश्रम करने वाले विद्यार्थी के भोजन का विशेष प्रबन्ध कर दिया जाए।

७– एक कोठरी में हवनकुण्ड खुदवाकर विद्यार्थियों को प्रात: सायं अग्निहोत्र करने की आज्ञा दी जाए।

स्वामीजी अपने विद्यार्थियों तथा साथ रहने वाले पण्डितों और सेवकों को भी छोटे–छोटे पापों से बचने के लिए शिक्षा दिया करते थे। उन दिनों पण्डित रामप्रसाद स्वामीजी के साथ ही रहा करता था। कासगंज में एक दिन स्वामीजी स्नान करने के लिए समीप के जीवाराम कायस्थ के उद्यान में जा रहे थे, उस समय स्नान के उपकरण उठाए–उठाए रामप्रसाद स्वामीजी के पीछे–पीछे चला आ रहा था। उसी मार्ग में पककर गिरा हुआ एक आम का फल पड़ा हुआ था जिसे लाँघ कर स्वामीजी तो आगे चले गए, पर पीछे से आ रहे रामप्रसाद ने उसे उठा लिया। स्वामीजी ने उसकी इस क्रिया को देखकर उसे कहा– 'रामप्रसाद! यह उद्यान तुम्हारे घर का नहीं है। इसलिए पराया फल उठाकर तुमने एक प्रकार से चोरी ही की है।' अपने स्थान पर आकर स्वामीजी ने उस पर एक रुपया दण्ड भी लगा दिया।

एक दिन अपराह्न: में स्वामीजी जंगल की ओर शौच करने के लिए जा रहे थे। कई विद्यार्थी और अनुरागी भी उनके साथ थे। थोड़ी दूर चलकर गुलजारीलाल खत्री के बाग के सामने उन्होंने देखा कि मार्ग रुका हुआ है, न इधर के लोग उधर जा सकते थे, न उधर के लोग इधर आ सकते थे। कारण यह था कि बीच में दो साँड़ आपस में लड़ रहे थे। उनके मुख आपस में मिल रहे थे और वे एक–दूसरे को परे धकेलने का प्रयत्न कर रहे थे। यह द्वन्द्व युद्ध निरन्तर दो घण्टे

से चल रहा था। जिन लोगों को अधिक आवश्यक कार्य थे, वे फेर खाकर बाग के पाश्र्व से निकल रहे थे। थोड़ी देर तक स्वामीजी इस द्वन्द्वयुद्ध के समाप्त हो जाने की प्रतीक्षा करते रहे, फिर साथ के लोगों ने उनसे कहा कि हम लोग भी पाश्र्व से ही निकल लें। इस बात को स्वामीजी ने 'हूँ' कहकर अस्वीकार कर दिया और तुरन्त ही उन रणमस्त साँड़ों की ओर चलने लगे। स्वामीजी के साथियों ने उन्हें रोका और चिल्लकर कहा कि 'स्वामीजी आप यह क्या करते हो?' परन्तु उन्होंने किसी की कुछ भी न सुनी और दोनों साँड़ों के समीप जाकर अपने दोनों हाथों से उनके एक-एक सींग को पकड़कर उनका शिर आकाश की ओर धक्का देकर उठा दिया। इससे वे साँड़ इतने भयभीत हो गए कि परस्पर लड़ना छोड़कर एक-दूसरे से अलग होकर अपने-अपने रास्ते चले गए। इस प्रकार यह अवरुद्ध मार्ग पुन: खुल गया।

दिलसुखराय गिरधारीलाल की दूकान पर २,८०० रुपये पुण्यार्थ जमा थे, वे भी सबकी सम्मति से इस पाठशाला के लिए दे दिए गए।

कासगंज के तहसीलदार ने सोरों में गङ्गातट पर एक पक्काघाट बनवाने के लिए कुछ रुपया इकट्ठा किया था। कुछ लोगों की इच्छा थी कि इन रुपयों से कासगंज में एक तालाब बनवाया जाए। स्वामीजी की इच्छा थी कि यह रुपया उनकी पाठशाला को मिल जाए। स्वामीजी की इस इच्छा के पक्ष में कुछ लोगों ने एक प्रार्थनापत्र तैयार करके एटा के कलेक्टर (जिलाध्यक्ष) के पास भेजा। इस पर कलेक्टर ने कासगंज के तहसीलदार रा० ब० बालमुकुन्द से पाठशाला के सम्बन्ध में अपना प्रतिवेदन भेजने को कहा। इस पर तहसीलदार ने स्वामीजी से मिलकर कहा कि आप हिन्दू धर्म की निन्दा करते हैं इसलिए बहुसंख्यक हिन्दू जमा रुपयों को आपकी पाठशाला को देने के विरुद्ध हैं। इस पर स्वामीजी ने तहसीलदार के सामने 'निन्दा' शब्द की ऐसी सुन्दर व्याख्या की तहसीलदार साहब उसे सुनकर अवाक् रह गए। स्वामीजी ने उन्हें समझाया कि दोषी के दोषों को प्रकट करना निन्दा नहीं है, यदि ऐसा हो तो सबसे बड़े निन्दक तो आप ही हैं जो चोर को चोर और दस्यु को दस्यु कहकर बाजार में मुनादी कराते हैं।

कासगंज में स्वाामीजी एक प्रहर रात्रि रहते ही उठकर योगाभ्यास करने बैठ जाते थे और दो घड़ी दिन चढ़े तक ध्यानावस्थित रहते थे। जब वे ध्यान करके बाहर आते तो उनके नेत्र रक्तवर्ण के होते थे। वे धीरे-धीरे दो घड़ी तक तक नेत्रों पर जल सिञ्चन करते तब उनके नेत्रों की लालिमा दूर होती थी। इसके पश्चात् वे शौच से निवृत्त होकर भोजन करते और फिर आगन्तुकों से वार्तालाप करने बैठ जाते थे और सूर्यास्त से एक घण्टा पूर्व तक वार्तालाप करते रहते थे। पुन: सायंकाल शौच के पश्चात् किसी खेतादि में बैठकर फिर योगाभ्यास करते थे।

इस प्रकार स्वामीजी कासगंज में आश्विन संवत् १९२७ वि० के मध्य तक (अर्थात् २५ सितम्बर, १८७० ई० तक) प्राय: दो मास रहे।

## बलराम, चकेरी, हनोट (१८७० ई०)

स्वामीजी एक दिन कासगंज से बिना किसी को सूचना दिए हुए ही सूर्योदय से चार घड़ी पहले ही चल दिए। दोपहर को बलराम ग्राम में कुछ विश्राम किया जो कासगंज से पश्चिम की ओर दो कोस पर है। वहाँ एक ब्राह्मण सज्जन ने उन्हें दूध पिलाया और ठहरने की प्रार्थना की। वहाँ से चलकर चकेरी गाँव के विषय में एक चमार से संस्कृत में पूछते हैं कि '*चकेरीग्राम: क्वास्ति*'। वह समझ गया कि चकेरी गाँव के विषय में पूछते हैं, सो उसने अपने हाथ के सङ्केत से बता दिया कि चकेरी ग्राम किधर है। आगे स्वामीजी चकेरी ग्राम के पास से होते हुए किसी अन्य स्थान पर पहुँचकर रात्रि विश्राम किया और अगले दिन प्रात:काल उठकर कुछ दिन चढ़े हनोट ग्राम में पहुँचे। वहाँ अनेक लोग उनके दर्शन के लिए आए। वहाँ के लोगों ने उनसे कहा कि यहाँ के विष्णु-मन्दिर का पुजारी सदा कहा करता है कि दयानन्द से शास्त्रार्थ करूँगा। वह चक्राङ्कित था। यह सुनकर स्वामीजी वहीं रेत पर बैठ गए और कहा कि उसे बुलाकर लाओ। सो कुछ लोग तो उसे बुलाने

चले गए और कुछ स्वामीजी के पास ही बैठे रहे। पर वह बुलाने पर भी नहीं आया। तब एक के पीछे दूसरा और दूसरे के पीछे तीसरा व्यक्ति उसे क्रमश: बुलाने के लिए गया, पर वह फिर भी टस से मस नहीं हुआ। तब गाँव का नम्बरदार स्वयं ही गया जिसके मन्दिर का वह पुजारी था। तब पुजारी ने नम्बरदार से स्पष्ट कह दिया कि मैं शास्त्रार्थ नहीं करूँगा, भले ही आप हमें आगे पुजारी न रखें। इस प्रकार यह शास्त्रार्थ न हो सका और स्वामीजी आगे को चले गए।

## अनूपशहर (१८७० ई०)

इस प्रकार विचरते हुए स्वामी दयानन्द आश्विन मास के शुक्ल पक्ष संवत् १९२७ वि० तदनुसार अक्टूबर, १८७० ई० के आरम्भ में अनूपशहर आ गए। पहले दो दिन तो वे महाशय गौरीशङ्कर कायस्थ के बाँस के टाल पर रहे। फिर लालबाबू की कोठी पर चले गए जो बंगाल के एक बड़े रईस थे। उन्होंने वृन्दावन में एक विशाल मन्दिर बनवाया था और उसके व्यय के लिए कई ग्राम जो तहसील- अनूपशहर जिला- बुलन्दशहर में थे, दान कर दिए थे। उन्हीं के प्रबन्धादि के लिए अनूपशहर में उनकी यह कोठी बनी हुई थी।

जिस समय स्वामीजी अनूपशहर आए थे, तब वहाँ रामलीला की बड़ी धूमधाम हो रही थी। इसका कारण यह था कि उस समय वहाँ कल्याणसिंह नामक एक हिन्दू नायब तहसीलदार लगा हुआ था। उसने रामलीला करने का बड़ा उत्साह दिखाया था। स्वामीजी ने इस रामलीला का वहाँ खण्डन करना आरम्भ कर दिया जिससे लोगों की इस रामलीला में अरुचि हो गई। परिणामस्वरूप आगे यह रामलीला होनी ही बन्द हो गई।

स्वामीजी कहा करते थे कि अपने पूर्व पुरुषों का स्वाङ्ग बनाना और उसमें पुरुषों को स्त्री का वेष धारण कराना अनुचित है। कल्याणसिंह इसी कारण स्वामीजी के विरुद्ध हो गया था और उसने यहाँ तक नीचता की कि लीलाबाबू की जमींदारी के प्रबन्धकर्ता से कहा कि आप दयानन्द को कोठी से निकाल दो। परन्तु या तो इस कारण से कि स्वामीजी को कोठी से चले जाने की कहने का उसे साहस ही न हुआ अथवा वह अपनी भलमनसाहत में स्वामीजी को कुछ न कह सका हो।

कल्याणसिंह चाहता था कि स्वामीजी को किसी प्रकार नीचा दिखाया जाए, अत: वह रामघाट से कृष्णानन्द वाममार्गी को उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए बुला लाया। यही कृष्णानन्द पहले भी रामघाट में स्वामीजी से शास्त्रार्थ करके मुँह की खा चुका था। सो वह आने को अनूपशहर आ गया पर, परन्तु वह स्वामीजी के सम्मुख न आया अपितु दूर से ही अण्डबण्ड बकता रहा। वह कहता था कि स्वामीजी लक्षण का लक्षण बताएँ, स्वामीजी का कहना था कि लक्षण का लक्षण नहीं होता।

उन दिनों जानसठ जिला- मुजफ्फरनगर का एक मुसलमान जिसका नाम सैयद मुहम्मद था, अनूपशहर में तहसीलदार था। कल्याणसिंह ने उन्हें स्वामीजी के विरुद्ध बहुत भड़काया और उनके विरुद्ध बहुत खरी-खोटी जड़ी, यह कहकर कि स्वामीजी यहाँ अनूपशहर में झगड़ा कराना चाहते हैं। इस प्रकार उन्हें इस बात पर तैयार किया कि वे स्वामीजी को अनूपशहर से निकलवा दें। अत: तहसीलदार महोदय स्वामीजी के पास गए और उनसे जाकर पूछा कि इस सब कोलाहल का क्या कारण है? तब स्वामीजी ने उसे सब बातें स्पष्टरूप से समझा दीं। फिर वे कृष्णानन्द के पास गए और उनसे भी यही प्रश्न किया। उन्हें कृष्णानन्द ने ऐसे शब्दों में उत्तर दिया कि तहसीलदार उसका कुछ भी आशय न समझ सके। इससे तहसीलदार को विश्वास हो गया कि स्वामी जी सभ्य, शान्तिप्रिय और विद्वान् हैं तथा कृष्णानन्द उद्दण्ड, कलहप्रिय और विद्याशून्य मनुष्य है।

कृष्णानन्द यह कहता था कि स्वामीजी मेरे स्थल पर आकर शास्त्रार्थ करें और स्वामीजी उससे अपने स्थल पर शास्त्रार्थ करना चाहते थे। यह विवाद कई दिनों तक चलता रहा। अन्त में यह निश्चय हुआ कि इन दोनों स्थानों के

बीच का एक स्थान नियत किया जावे और दोनों पक्ष वहाँ पहुँचकर शास्त्रार्थ करें। तदनुसार एक स्थान और शास्त्रार्थ का दिन निश्चित कर दिया गया। उस दिन कृष्णानन्द के पास पाँच-छ: सौ मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी हो गई थी जिनमें से अधिकतर अशिक्षित, झगड़ालू और उजड्ड प्रकृति के लोग थे। इधर कुछ लोग स्वामीजी के स्थल पर भी इकट्ठे हो गए थे जिनमें से अधिकतर सभ्य और सुशिक्षित मनुष्य थे।

तहसीलदार इसी समय स्वामीजी और कृष्णानन्द के पास गया था और दोनों से बात करके वह उस निषकर्ष पर पहुँचा  था जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

अन्त में यह शास्त्रार्थ न हुआ और तहसीलदार ने कृष्णानन्द को अनूपशहर से चले जाने के लिए कह दिया जिससे यह विवाद शान्त हो गया।

इन दिनों स्वामीजी जीवित पितरों के ही श्राद्ध का समर्थन करते थे। श्राद्ध के विषय में एक पण्डित से स्वामीजी की बातचीत हुई थी, इस समय स्वामीजी तीर्थों को भी नहीं मानते थे, जीव-ब्रह्म को पृथक् मानते थे, तर्क-संग्रह को नर्क-संग्रह कहते थे। गोरक्षा के लिए भी उनका चित्त बहुत आन्दोलित था और कहा करते थे कि विलायत जाकर महारानी विक्टोरिया और राजपरिषद् को समझाकर वे गोवध बन्द करने का यत्न करेंगे।

वे वेदों के आधुनिक भाष्यों को अशुद्ध बताते थे और महीधर के भाष्य का विशेष रूप से खण्डन करते थे। अँग्रेजों की वर्त्तमान न्याय-प्रणाली पर बहुत दोषारोपण करते थे और कहते थे कि प्रत्येक ग्राम में एक पञ्चायत होनी चाहिए और कई-कई ग्रामों के ऊपर एक न्याय सभा होनी चाहिए [४६५]और इसी सभा के द्वारा सब मुकद्दमों का निर्णय होना चाहिए, तभी लोग मुकद्दमेबाजी के जाल से छुटकारा पा सकते हैं।

अनूपशहर में विपक्षी लोगों ने यह प्रसिद्ध कर रक्खा था कि दयानन्द अँग्रेजों का दूत है और हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिए नियत किया गया है।

घटनावश ऐसा हुआ कि उन्हीं दिनों अनूपशहर में कलेक्टर साहब के आने का समाचार प्राप्त हुआ। लालबाबू की कोठी के कर्मचारियों ने स्वामी दयानन्द से निवेदन किया कि कलेक्टर साहब आने वाले हैं और वे आकर इसी कोठी में ठहरेंगे, अत: आप कोठी खाली कर दें। स्वामीजी ने कहा कि यों तो कोठी आपकी है, आप कहें तो हम अन्यत्र चले जाएँ, परन्तु यदि आपको यह भय हो कि कलेक्टर साहब हमें कोठी से निकाल देंगे तो आप इसकी चिन्ता न करें, हम स्वयं देख लेंगे। यह उत्तर पाकर कर्मचारीगण निरुत्तर हो गए। कलेक्टर साहब आए और उसी कोठी में ठहरे, परन्तु उन्होंने स्वामीजी से एक शब्द भी कोठी खाली करने के विषय में नहीं कहा। इसके विपरीत वे स्वामीजी से मिले, उनसे बातचीत की और वे स्वमीजी से बहुत प्रसन्न हुए।

किसी ने कलेक्टर साहब को यह शिकायत कर दी कि कल्याणसिंह नायब तहसीलदार ने रामलीला के लिए लोगों से जबरदस्ती चन्दा लिया है। कलेक्टर साहब ने इस विषय में अनुसन्धान कराया तो यह बात सत्य प्रमाणित हुई जिससे उन्होंने कल्याणसिंह को तीन मास के लिए निलम्बित कर दिया।

सैयद मुहम्मद स्वामीजी का भक्त हो गया था और उनकी बहुत सेवा-सुश्रूषा करने लगा था। एक दिन उसने स्वामीजी से कहा कि हमारे धर्म में तो मूर्तिपूजा (बुतपरस्ती) नहीं है। स्वामीजी ने इसका प्रतिवाद करते हुए उसे कहा कि ताजिए बनाना भी एक प्रकार की मूर्तिपूजा ही है, जिसे सुनकर उसने स्वीकार किया और कहा कि ठीक है, परन्तु इसमें हमारी कुछ भी नहीं चलती।

एक ब्राह्मण ने स्वामीजी के मूर्तिपूजा के खण्डन से रुष्ट होकर उन्हें पान में विष दे दिया जिसे उन्होंने न्योली

४६५- भारत के अँग्रेजों की दासता से मुक्त हो जाने के बाद ही स्वामी दयानन्द की यह इच्छा ८० वर्ष बाद मूर्तरूप ले सकी।

क्रिया करके बाहर निकाल दिया और वे पुन: स्वस्थ हो गए।

जब सैयद मुहम्मद को यह सब वृत्त ज्ञात हुआ तो उस ब्राह्मण पर कोई अभियोग लगाकर उसे कैद करके स्वामीजी के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। वह समझता था कि इससे स्वामीजी उससे प्रसन्न हो जाएँगे, पर उन्होंने तो उससे बोलना ही बन्द कर दिया। कारण पूछने पर स्वामीजी ने कहा- 'मैं संसार को कैद कराने नहीं, अपितु उसे कैद से छुड़ाने आया हूँ। वह यदि अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता है, तो हम अपनी श्रेष्ठता क्यों छोड़ें।' इस पर उस ब्राह्मण को तहसीलदार ने अपील कराकर छुड़वा दिया। धन्य है ऐसा दया का सागर दयानन्द!

दयानन्द के उपदेश से अनूपशहर के कितने ही विद्वानों और सुपठितों ने मूर्तिपूजा छोड़ दी और शालिग्राम, माखनचोर आदि की मूर्तियाँ गङ्गा में फेंक दीं, अपनी-अपनी कण्ठियाँ तोड़ दीं और एक निराकार ईश्वर की उपासना करनी आरम्भ कर दी। पौराणिकों ने ऐसे लोगों को तङ्ग करना आरम्भ कर दिया और अपनी बिरादरी से उन्हें निकाल देने की धमकी दे डाली।

अनूपशहर के प्रसिद्ध वैद्य पं० अम्बादत्त परबती उस समय जबकि स्वामीजी पहले अनूपशहर आए थे, उनके अनुयायी बन गए थे, परन्तु पीछे स्वार्थवश फिर मूर्तिपूजा करने लगे थे। अब जब स्वामीजी दुबारा अनूपशहर आए तो उन्होंने पं० अम्बादत्त को बुलाया तो वह उनके सामने नहीं आए और उन्हें कहला भेजा कि हम गृहस्थी हैं, हम साधु के पास नहीं जाते।

स्वामीजी व्याकरण पर विशेष ध्यान रखते थे। पं० भगवान् वल्लभ वैद्य को जो स्वामीजी के अनुयायी हो गए थे, उन्हें वे अब भगवान् वल्लभ न कहकर भगवद्वल्लभ कहने लगे थे।

स्वामीजी की धारणा-शक्ति भी अपूर्व थी। उन्होंने एक बार पं० भगवद्वल्लभ से सुश्रुतसंहिता मँगवाकर देखी और एक-दो दिन में ही उस पर इतना अधिकार कर लिया कि प्रसङ्ग उठने पर वे उसके वाक्य के वाक्य उद्धृत कर देते थे।

एक दिन कुछ लोग सूर्य को अर्घ दे रहे थे। स्वामीजी ने उनसे कहा कि ऐसे जल डालने से क्या लाभ? यदि किसी वृक्ष पर डालते तो कुछ लाभ भी होता।

इसी बार राजा जयकृष्णदास, सी० एस०आई०, डिपुटी कलेक्टर स्वामीजी से भेंट करने आए थे।

बाली के विषय में यह गाथा कही जाती है कि जब कोई युद्धार्थी उसके सामने आता था, तो वह दर्शनमात्र से ही उसके बल का हरण कर लेता था। यह बात तो असत्य हो सकती है, परन्तु यह बात पूर्ण सत्य है कि जब कोई पण्डित शास्त्रार्थ के लिए स्वामीजी के सामने आता था तो वे उसकी विचार-शक्ति का हरण कर लेते थे जिससे विपक्षी दो-चार बात करने पर निरुत्तर हो जाता था।

किसी मनुष्य को अपने पास आता देखकर ही स्वामीजी यह जान लेते थे कि वह किस अभिप्राय से उनके पास आया है। मनुष्यों के गुप्तकर्मों को जान लेने की उनमें अद्भुत शक्ति थी[४६६]। एक बार कर्णवास के एक ठाकुर ने स्वामीजी के उपदेश से पुत्रेष्टि कराई। यज्ञ-पिण्ड एक ब्राह्मण को, जो यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए अनूपशहर से आया था, खाने के लिए दिया गया। उसने उसे न खाया, प्रत्युत फेंक दिया। उपस्थित मनुष्यों में से किसी ने भी उसे वह पिण्ड फेंकते हुए नहीं देखा, परन्तु स्वामीजी ने न जाने कैसे यह बात जान ली। इस पर स्वामीजी ने उस ब्राह्मण का तिरस्कार किया और उसने यह बात स्वीकार की। फिर उसे दूसरा पिण्ड खाने के लिए दिया गया जो उसने खा लिया। इससे यह यज्ञ सिद्ध हो गया और समय पर उस ठाकुर के यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ।

४६६- यह योग की एक सिद्धि है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

एक दिन एक नाई अपने घर से स्वामीजी के लिए भोजन बनवाकर लाया और उनसे प्रार्थना की कि आज तो मेरी भिक्षा स्वीकार कीजिए। स्वामीजी ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। उपस्थित लोगों ने कहा कि स्वामीजी यह तो नाई की रोटी है, आपको इसे स्वीकार नहीं करना चाहिए था। तब स्वामीजी ने कहा कि यह तो नाई की नहीं अपितु गेहूँ की रोटी है! इसे स्वीकार कर ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। इस प्रकार बड़े प्रेम से स्वामीजी ने वह रोटी खाई।

स्वामीजी की शारीरिक शक्ति जैसी असाधारण थी, उनका साहस और मन:शक्ति भी वैसी ही असाधारण थी। दुर्गम पर्वतों में, निर्जन वन में, गङ्गातट पर, नगर में, प्रान्त में सभी जगहों पर वे सदा निर्भयभाव से विचरते थे। मूर्तिपूजा आदि की तीव्र आलोचना करने के कारण अनेक लोग उनके विरुद्ध हो जाते थे और वे उन पर आक्रमण करके उनके प्राण-हरण तक पर उद्यत हो जाते थे, परन्तु इससे डरना तो क्या, उनकी ओर दृष्टिपात तक न करते थे।

इस बार स्वामीजी अनूपशहर में लगभग सवा मास रहे।

## रामघाट (१८७० ई०)

कार्तिक पूर्णिमा संवत्, १९२७ वि० अर्थात् ८ नवम्बर, १८७० ई० के कुछ पहले ही स्वामी दयानन्द रामघाट के कार्तिकी मेले में सम्मिलित होने यहाँ आ गए थे। उनके आ जाने पर यहाँ सहस्रों मनुष्य उनके दर्शन करने और उपदेश सुनने के लिए आने लगे। लोग बड़ा बल लगाकर उनसे क्लिष्ट से क्लिष्ट प्रश्न पूछते थे, परन्तु स्वामीजी अनायास ही उन सबका सन्तोषप्रद उत्तर दे देते थे। रामघाट का स्वामी कृष्णानन्द तो पहले ही उनसे परास्त हो चुका था। कितने ही पण्डित जो इस प्रान्त में स्वामीजी के आगमन से पहले विद्वत्-शिरोमणि समझे जाते थे, उनके उपदेशों को सुनकर और तर्कयुद्ध में परास्त होकर मूर्तिपूजादि पाखण्ड को छोड़कर उनके अनुगत हो चुके थे।

स्वामी दयानन्द का कार्यक्षेत्र दिन-प्रतिदिन विस्तृत होता जा रहा था। दयानन्द-दिवाकर की ज्योति से अज्ञान का अन्धकार विलीन हो रहा था। पाखण्डी, घमण्डी उलूकवत् जहाँ-तहाँ छिपने का यत्न कर रहे थे।

## चासी (१८७० ई०)

कार्तिक पूर्णिमा के बाद अर्थात् मार्गशीर्ष संवत् १९२७ वि० के कृष्ण पक्ष के आरम्भ में स्वामीजी पुन: चासी के जङ्गल में आए। ज्यों ही उनके भक्तों ने यह समाचार सुना, त्यों ही वे उनके दर्शनों के लिए आने लगे। स्वामीजी प्रात: काल ३-४ बजे उठकर सूर्योदय पर्यन्त प्राणायाम किया करते थे।

**प्रामाण्य-अप्रमाण्य ग्रन्थ**- कहते हैं कि ग्रन्थों के प्रामाण्य-अप्रमाण्य विषय में उनका मत किन्हीं अंशों में कुछ परिवर्तित हो गया था। भगवद्गीता को वे त्रिदोष का सन्निपात् बतलाते थे और कहते थे कि उसमें कहीं तो जीव-ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादित किया गया है और कहीं उनका पृथकत्व भी देखने में आता है तथा कहीं प्रकृति और पुरुष का पृथकत्व माना गया है। प्रचलित मनुस्मृति को वे मनुसंहिता नहीं मानते थे और उसे भृगुसंहिता कहते थे। पहले वे वेद और ब्राह्मण का पृथकत्व स्वीकार नहीं करते थे, परन्तु अब करने लगे थे और ब्राह्मणग्रन्थों को वहीं तक प्रामाणिक मानते थे, जहाँ तक वे वेदानुकूल हों।

**श्रीगोपाल की धूर्त्तता**- इस समय एक धूर्त पण्डित श्रीगोपाल स्वामीजी के पीछे-पीछे रहकर उनकी निन्दा किया करता था और इसे ही उसने अपनी जीविका का साधन बना रक्खा था। वह चासी में भी आया और जब स्वामीजी चासी छोड़कर अन्यत्र चले गए तो वह उनके स्थान पर आकर ठहर गया और 'दयानन्द ईसाइयों और अँग्रेजों का गुप्तचर है', इस प्रकार की ऊटपटाँग बातें कहकर लोगों को बहकाता रहा।

## छलेसर (१८७० ई०)

१२ या १३ नवम्बर, १८७० ई० अर्थात् मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष की चतुर्थी या पञ्चमी तिथि संवत् १९२७ वि०

को स्वामीजी छलेसर आ गए। वे यहाँ आगे ९ दिसम्बर, १८७० ई० तदनुसार पौष कृष्ण प्रतिपदा संवत् १९२७ वि० तक रहे।

**जमींदारी के मन्दिरों से मूर्तियों का बहिष्कार**– ठाकुर मुकुन्दसिंह एक सम्पन्न और समृद्ध जमींदार थे। उन्हें प्रथमवार स्वामीजी के दर्शन कर्णवास में संवत् १९२४ वि० में हुए थे। तब उन्होंने स्वामीजी से दो घण्टे तक वार्त्तालाप किया था, वे सुबोध थे, अत: इस अल्प समय में ही उन्होंने स्वामीजी के उपदेशों को हृदयङ्गम कर लिया था जिससे उन्हें मूर्तिपूजा से अत्यन्त घृणा हो गई थी। अत: जब वे कर्णवास से छलेसर लौटे थे तो उन्होंने अपनी जमींदारी के सभी मन्दिरों से, जिनकी संख्या २० से ३० के बीच थी, मूर्तियाँ उठवाकर कालिन्दी नदी में फिंकवा दी थीं। इस पर तब बड़ा कोलाहल हुआ था जिससे न केवल ब्राह्मण ही उनके विरुद्ध हो गए थे, अपितु उनके अपने सजातीय बन्धुओं से भी उन्हें बहिष्कार की धमकियाँ मिलने लगी थीं। परन्तु इस वीर पुरुष ने इन बातों की तनिक भी पर्वाह नहीं की। वे वैदिकधर्म के मार्ग से एक क्षण के लिए भी विचलित नहीं हुए जिससे अन्ततोगत्वा उनके साठ गाँव के सगोत्री क्षत्रिय वैदिक धर्मी ही बन गए।

इन्हीं ठाकुर मुकुन्दसिंह जी ने कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी संवत् १९२७ वि० को रामघाट जाकर स्वामीजी से छलेसर आने की प्रार्थना की थी जिसे स्वीकार कर स्वामीजी रामघाट से छलेसर पधारे थे।

**स्वागत समारोह**– ठाकुर मुकुन्दसिंह और दो–ढाई सौ अन्य लोग स्वामीजी के स्वागत के लिए एक पालकी लेकर काली नदी पर छलेसर से दो मील की दूरी पर पहुँच गए थे। स्वामीजी जब वहाँ पहुँचे तो सब लोगों ने बड़े सम्मान और प्रेम के साथ उनका स्वागत किया। स्वामीजी ने यहाँ पहुँचकर पहले स्नान किया, फिर शरीर पर रज लगाई, तब चलने के लिए तैयार हुए। लोगों ने उन्हें बहुतेरा कहा कि स्वामीजी आप पालकी में बैठ जाइए, परन्तु उन्होंने उनके इस अनुरोध को स्वीकार न किया किन्तु सबके साथ ही पैदल छलेसर पहुँचे।

ठाकुर मुकुन्दसिंह ने उस बाग में ही जिसमें उन्होंने एक पाठशाला स्थापित करने का निश्चय किया हुआ था, स्वामीजी के ठहरने के लिए एक गृह सुसज्जित कर रक्खा था और एक चौकी पर कालीन बिछाकर उनके बैठने का प्रबन्ध कर दिया था। स्वामीजी दिन में १२ बजे वहाँ पहुँचे। उन्होंने यह कहकर कि हमारे शरीर में लगे हुए रज से कालीन मैला हो जाएगा, चौकी पर बैठने से मना कर दिया, परन्तु लोगों के अत्याग्रह पर वे उस पर ही बैठ गए।

स्वामीजी के छलेसर पधारने से पहले से ही पौराणिक दल उत्तेजित हो उठा था, इसलिए वह चाहता था कि उनके आने पर उनसे शास्त्रार्थ कराकर अपने पौराणिक मत की रक्षा की जावे। तदनुसार स्वामीजी के छलेसर आ जाने के दो दिन के पश्चात् ही आस–पास के पण्डित लोग आकर उनसे शास्त्रार्थ करने लगे। ये लोग स्वामीजी को परास्त और पराभूत तो क्या करते, स्वयं ही परास्त हो–होकर उनके कथन की सत्यता स्वीकार करने के लिए विवश हो गए।

इन पण्डितों के अतिरिक्त कई मौलवी और काजी भी आए और स्वामीजी के सम्मुख अपने इस्लाम का श्रेष्ठत्व प्रतिष्ठित करने में प्रवृत्त हुए, परन्तु उनका भी वही हाल हुआ जो पण्डितों का हुआ था, वे भी निरुत्तर हो–होकर *'यथागतास्तथा गता:'* हुए।

**न्यायप्रिय मुसलमान**– मुसलमानों से यह आशा करनी तो व्यर्थ ही थी कि वे इस तर्कयुद्ध में परास्त होकर वैदिक–धर्म को स्वीकार कर लेंगे। उनका कट्टरपन और धर्मान्धता उन्हें इसकी आज्ञा नहीं देती थी। परन्तु उनमें भी एक व्यक्ति ऐसे निकले जिन्होंने स्वामीजी के सिद्धान्तों की युक्तियुक्तता को स्वीकार किया। इस न्यायप्रिय व्यक्ति का नाम काजी इमदाद अली था जो अतरौली जिला–अलीगढ़ का रहने वाला एक सुपठित और सत्यानुरागी व्यक्ति था।

छलेसर में रहते हुए कोई दिन ऐसा नहीं हुआ जब स्वामीजी के पास ४००–५०० व्यक्ति न आए हों।

**पाठशाला की स्थापना**– स्वामीजी के आने के दो–एक दिन बाद ही वहाँ पाठशाला स्थापित करने का उपक्रम हुआ।

एतदर्थ प्रथम हवन हुआ, तत्पश्चात् ब्रह्मभोज हुआ जिसमें सभी ब्राह्मणों को उचित दक्षिणा दी गई, इससे वे लोग बहुत प्रसन्न हुए।

इस पाठशाला में पं० कुमारसेन को अध्यापक नियत किया गया जो स्वामीजी की फर्रुखाबाद की पाठशाला में विद्यार्थी रह चुके थे और जिनसे वे सुपरिचित थे। तीन दिन में ही इस पाठशाला में २० विद्यार्थी हो गए।

पाठशाला में यह नियम रक्खा गया था कि सिवाय उन विद्यार्थियों के जो दान का रुपया न लेना चाहें, उन ब्राह्मण बालकों को भोजन, वस्त्र और पुस्तकें नि:शुल्क दी जाएँगी और क्षत्रिय बालकों के पालकों को इन सबका प्रबन्ध स्वयं करते हुए अध्यापक का वेतन भी देना होगा। पाठशाला में कोई अनार्ष–ग्रन्थ नहीं पढ़ाया जाएगा। सभी विद्यार्थियों को प्रात:सायं नियमपूर्वक सन्ध्या और अग्निहोत्र करना आवश्यक होगा।

**भक्तजन की श्रद्धा**– ठाकुर मुकुन्दसिंह और उनके छोटे भाई मुन्नासिंह की स्वामीजी में प्रगाढ़ भक्ति थी। वे जब तक स्वामीजी के दर्शन न कर लेते थे तब तक भोजन भी न करते थे। जब वे स्वामीजी की सेवा में आते थे तो दूर ही जूते उतार कर और श्रद्धाञ्जलि होकर उनके पास जाते तथा उनके चरण–स्पर्श करके लौटते हुए कभी उनकी ओर अपनी पीठ न करते थे।

**पितापुत्र का मनोमालिन्य**– ठाकुर मुकुन्दसिंह और उनके पुत्र चन्दनसिंह में कुछ मनोमालिन्य हो गया था। स्वामीजी ने दोनों को समझाकर उसे दूर कर दिया था। स्वामीजी के लिए भोजन उनके क्षत्रिय शिष्यों के यहाँ से आता था। एक दिन स्वामीजी चबूतरे पर विराजमान थे, तब तक उनके लिए भोजन न आया था। एक कृषक मक्के की मोटी–मोटी रोटियाँ लेकर अपने घर से बाहर निकला। जब वह चबूतरे के पास पहुँचा तो उसके मन में उन्हें स्वामीजी को समर्पित करने इच्छा हुई। उसने नम्रतापूर्वक स्वामीजी को प्रणाम करके निवेदन किया कि महाराज आज मेरी रूखी–सूखी यह मधुकरी स्वीकार करने की कृपा करें। स्वामीजी ने सहर्ष इसे स्वीकार कर वह अन्न ग्रहण कर लिया जिससे उस कृषक का हृदय गद्‌गद् और उसके चक्षु प्रेम–जल से परिपूर्ण हो गए।

छलेसर में धर्म–प्रचार करते हुए स्वामीजी ने वहाँ की चौहान बिरादरी को पूर्ण प्रभावित कर दिया था। सैकड़ों राजपूतों ने उनसे गायत्री मन्त्र ग्रहण किया था और सहस्रों मनुष्य आपके अनुयायी हो गए थे। स्वामीजी यहाँ लगभग एक पखबाड़े रहे।

**वर्षा में ही प्रस्थान**– जिस दिन स्वामीजी ने पौष कृष्ण प्रतिपदा संवत् १९२७ वि० शुक्रवार (९ दिसम्बर, १८७० ई०) को छलेसर से आगे चलने का सङ्कल्प किया था उस दिन कुछ बूँदा–बाँदी हो रही थी। शिष्यवर्ग ने उनसे बहुतेरा अनुनय–विनय किया कि आज मत जाइए, परन्तु वे न माने और उसी बूँदा–बाँदी में आगे के लिए चल पड़े।

शिष्यवर्ग बहुत दूर तक उनके साथ आया। उनमें से ठाकुर मुकुन्दसिंह और मुन्नासिंह को स्वामीजी का वियोग इतना असह्य हुआ कि वे अपनी–अपनी आँखों में आँसू भर लाए। स्वामीजी ने उन्हें धैर्य बँधाया कि अभी तो हमारा छलेसर कई बार आना होगा। संन्यासी तो रमते राम हैं, उनसे मोह–ममता करना दु:खजनक होता है। यदि आप लोग मेरे उपदेशों पर चलेंगे तो मुझे सदैव अपने समीप ही समझिएगा।

## अतरौली, बिजौली, सोरों, कासगंज, रामघाट, कर्णवास, अनूपशहर, कर्णवास (१८७०–७१ ई०)

इस प्रकार अपने भक्तजनों को ढाढस बँधाकर स्वामीजी आगे चल पड़े और छलेसर के बाद वे अतरौली, बिजौली तथा सोरों में पौष मास पर्यन्त रहे। चैत्र के कृष्ण पक्ष १९२७ वि० में उनके कासगंज जाने का भी उल्लेख मिलता है, जहाँ वे चैत्र शुक्ल पक्ष संवत् १९२८ वि० पर्यन्त रहे। परन्तु इसी समय कासगंज से प्रस्थान करने तथा ज्येष्ठ १९२८ वि० में रामघाट पहुँचने के बीच वे कहाँ रहे, इसका विवरण अज्ञात है। इसी प्रकार रामघाट से आषाढ़ १९२८ वि० में प्रस्थान

कहीं वे आसमान पर न चढ़ आवें, अत: उसने उनकी भाषा में गड़बड़ डाल दी जिससे वे एक-दूसरे का आशय समझने में असमर्थ हो गए और उन्होंने बुर्ज बनाना छोड़ दिया।

**ईसाइयों के परमेश्वर की अज्ञता और मूर्खता**- स्वामीजी ने इस कहानी की ओर सङ्केत करके कहा कि इससे बाबल नगरवालों की कितनी मूर्खता प्रकट होती है कि वे आसमान को ठोस पदार्थ समझकर उस पर चढ़ने का यत्न करने लगे। ईश्वर को भी यह ज्ञात न हुआ कि आसमान कोई ठोस पदार्थ है ही नहीं तो वे उस पर चढ़ेंगे कैसे, फिर वह डरा ही क्यों और अपने ही उत्पन्न किए हुए जीवों से उसका डर जाना कैसा हास्यास्पद है। इससे यह भी प्रकट होता है कि ईसाइयों का परमेश्वर सर्वव्यापक नहीं, किन्तु एकदेशी है।

**हिन्दू पण्डित की असभ्यता**- इस पर नीलकण्ठ और अन्य उपस्थित मनुष्यों ने तो कुछ उत्तर न दिया, परन्तु पण्डित काशीनाथ शास्त्री ने बड़ी असभ्यता से पूछा कि आपने किस अभिप्राय से देश में कोलाहल मचा रक्खा है? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मुझसे पहले पण्डितों ने बड़ा पाखण्ड फैला रक्खा है, उनकी बुद्धि पत्थरों की पूजा करने से पत्थर हो गई है, जिस कारण वे सत्य-सिद्धान्तों को समझने में असमर्थ रहे, मैं उनकी जड़पूजा छुड़वाकर उनकी बुद्धि को परिष्कृत करने का उद्योग कर रहा हूँ।

निहेमिया नीलकण्ठ से बातचीत करते-करते सायंकाल हो गया। उस समय उन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण से एक स्थल उद्धृत किया- *'अग्निर्देवानाम्०'* इत्यादि इसमें अग्नि को अन्य देवों से छोटा कहा गया है। स्वामीजी इसका उत्तर देने को ही थे कि राजा जयकिशनदास के पुत्र कुँवर ज्वालाप्रसाद ने आकर कहा कि अतिकाल हो गया है, आप सन्ध्या कर लीजिए, अत: नीलकण्ठ के साथ विचार स्थगित करना पड़ा। अगले दिन स्वामीजी ने उसका उत्तर लिखकर नीलकण्ठ के पास भेज दिया, परन्तु उन्होंने आगे कोई प्रत्युत्तर न दिया।

**हिन्दू पण्डित की दुर्दशा**- पण्डित काशीनाथ तथा अन्य हिन्दू लोग प्रतीक्षा कर रहे थे और आशा लगाए बैठे थे कि किसी भी प्रकार दयानन्द हार जाएँ तो वे ताली बजाकर और शोर मचाकर अपना आनन्द प्रकट करें। उन्हें एक ईसाई की जीत प्रीतिकर लगी, परन्तु दयानन्द का जीतना उन्हें सह्य न था।

**विद्यार्थियों से आवागमन पर बातचीत**- म्योर कॉलेज के कुछ विद्यार्थियों का आवागमन के सिद्धान्त पर विश्वास न था। मैक्समूलर ने अपने किसी ग्रन्थ में लिखा है कि ऋग्वेद में पुनर्जन्मपरक कोई मन्त्र नहीं है। इसी के आधार पर वे भी इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे। उन्होंने यह भी कहा कि जीव एक बार ही उत्पन्न किया गया है और यही ठीक भी है। वर्त्तमान समय में कोई सभ्य मनुष्य इस सिद्धान्त को नहीं मानता, इसे मानना पुराने हिन्दुओं की भूल थी, अत: उन्होंने स्वामीजी से कहा कि आप भी इसे मानना छोड़ दें।

**पुनर्जन्म का वेद में समर्थन**- स्वामीजी ने उक्त सिद्धान्त की पुष्टि में बड़ी प्रबल युक्तियाँ दीं जिनमें से एक यह थी कि पशु आदि प्राणियों में स्वाभाविक ज्ञान है जो परमेश्वर ने उन्हें इस जगत् में काम करने के लिए दिया है। उन्होंने ऋग्वेद (१/२४/१) का एक मन्त्र भी प्रस्तुत करके वेद के इस सिद्धान्त को सिद्ध किया था।

**म्लेच्छ शब्द का अर्थ**- एक विद्यार्थी ने म्लेच्छ शब्द के अर्थ पूछे तो उन्होंने कहा कि जिसका उच्चारण शुद्ध न हो उसे म्लेच्छ (*अव्यक्ते शब्दे*- धातुपाठ) कहते हैं।

स्वामीजी ने कुँवर ज्वालाप्रसाद से सन्ध्या की पुस्तक भी कॉलेज के विद्यार्थियों को पढ़वाकर सुनवाई थी। उस समय उस पुस्तक की हस्तलिपि ही थी, तब तक वह छपी न थी।[४९३]

४९३- हमने इस सन्ध्या की एक प्रति आडयार लाइब्रेरी मद्रास (चेन्नई) में काशी के ही राजा जयकिशनदास द्वारा प्रकाशित कराई हुई १९८७ ई० में देखी थी। इसमें लक्ष्मीसूक्त भी था। - *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

**मौलवी का कपट**- मौलवी निजामुद्दीन बी० ए० धर्मचर्चा में बड़ी रुचि रखते थे। स्वामीजी ने उनसे पूछा कि मुसलमानों का विश्वास परमेश्वर के विषय में कैसा है तो उन्होंने कुरान आदि से तो कई वाक्य उद्‌धृत न किया, अपितु सर डब्ल्यू हेमिल्टन की मेटाफिजिक्स भाग-१ से परमेश्वर के चार गुण वर्णन कर दिए और स्वामीजी ने विश्वास कर लिया कि मुसलमानों का वैसा ही विश्वास है!

**मुसलमानों की बुतपरस्ती**- इसके बाद मौलवी साहब नमाज को चले गए। उनके चले जाने पर स्वामीजी ने कहा कि मुसलमानों ने औरों की तो छोटी-छोटी मूर्तियों को तोड़ा दिया परन्तु अपनी मूर्ति की पूजा न छोड़ी। मुसलमानों की मूर्ति कृष्ण-पाषाण की (संगे अस्वद) है जो मक्का की मस्जिद में बड़ी सुन्दरता के साथ लगी हुई है और जहाँ मुसलमानों के झुण्ड के झुण्ड पृथिवी के सब भागों से जाते हैं और मुसलमानों में इस मक्के की यात्रा को मोक्ष का साधन माना जाता है।

**ब्रह्मचारिणी से धर्मालाप**- एक दिन एक विद्या-सम्पन्न ब्रह्मचारिणी भी सत्सङ्ग में आई थी। उसने स्वामीजी से कहा था कि आप सदा मूर्ति-खण्डन करते हैं, परन्तु आज मैं मूर्ति-खण्डन करूँगी और आप उसका मण्डन करेंगे। उसने वेदान्त विषय पर भी स्वामीजी से बातचीत की थी।

**दयानन्द के पास जाओगे तो पाप होगा**- विपक्षियों ने नगर में एक विज्ञापन बाँटा कि जो कोई दयानन्द के पास जाएगा, वह महापाप का भागी होगा, परन्तु फिर भी सैकड़ों लोग स्वामीजी के पास आकर अपने-अपने सन्देह निवृत्त करते रहे और उनके धर्मोपदेश से लाभ उठाते रहे।

**बङ्गाली के घर पर व्याख्यान**- एक दिन सायंकाल स्वामीजी ने एक बङ्गाली सज्जन के गृह पर धर्म विषय पर एक व्याख्यान दिया जिसमें एक सहस्र के लगभग श्रोता उपस्थित थे। उसमें उन्होंने धर्म के दश लक्षणों का वर्णन करके कहा था कि इनका किसी मत से सम्बन्ध नहीं है, ऐसे धर्म को मनुष्य का प्रबल से प्रबल प्रयत्न भी नाश नहीं कर सकता।

**पर्दे की निन्दा**- स्वामीजी ने प्रचलित पर्दे की प्रथा पर भी खेद प्रकट किया था जिसके कारण महिलाएँ सार्वजनिक व्याख्यानों से लाभ उठाने से वञ्चित रहती हैं और अपनी अविद्या को दूर नहीं कर सकतीं। इसी व्याख्यान में उन्होंने यह भी कहा था कि महाराजा नल महाराजा ऋतुपर्ण को दमयन्ती के (द्वितीयवार के नकली) स्वयंवर में ले गए थे तो उन्होंने एक कलायुक्त रथ का प्रयोग किया था।

**गङ्गातट पर भ्रमण का कारण**- गङ्गातट पर भ्रमण का कारण स्वामीजी यह बताते थे कि गङ्गा का जलवायु विशुद्ध और उपकारी है, वहाँ साधु-सन्तों का समागम और देश की स्थिति का परिज्ञान होता है। {स्वामीजी का यह अभ्यास संवत् १९१४ वि० (सन् १८५७ ई०) के स्वातन्त्र्य समर के समय से ही निरन्तर जारी रहा था।}

**सत्य को मानो**- स्वामीजी कभी किसी से यह नहीं कहते थे कि जो हम कहते हैं, उसे ही मानो। उनका आग्रह यह था कि सब बातों को सुनकर और सोच-समझकर जो सत्य लगे, उसे ग्रहण करो तथा तदनुकूल ही आचरण करो।

**शोक-पत्रिका**- स्वामीजी जन्म-पत्रिका को शोक-पत्रिका कहा करते थे।

**गर्दभ-तापिनी उपनिषद्**- स्वामीजी ने राम-तापिनी और गोपाल-तापिनी उपनिषदों की भाँति एक गर्दभ-तापिनी उपनिषद् भी बना रक्खी थी, जिसमें से वे कभी-कभी वचन उद्‌धृत करके सुनाया करते थे। (खेद है कि उसकी कोई प्रतिलिपि नहीं रक्खी गई। यदि वह होती तो अवश्य ही उससे पाठकों का मनोरञ्जन होता।)

**कल-कारखाने खोलो**- स्वामीजी यह प्रबल इच्छा थी कि कल-कारखानों की उन्नति हो। इस विषय में स्वामीजी ने जर्मन देश के विशेषज्ञों से बाद में पत्र-व्यवहार भी किया था।

**मुझे गुरु मत मानो**– स्वामीजी गुरु या अवतार नहीं बनना चाहते थे। वे लोगों को कहा करते थे कि ऋषि–प्रणाली का अनुशरण करो, मुझे गुरु मानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है?

**प्रथमवार के सत्यार्थप्रकाश में कुरान की आलोचना क्यों नहीं की?**– स्वामीजी ने प्रथमवार के सत्यार्थप्रकाश में मुसलमानों के मत का खण्डन नहीं लिखा था। इसके विषय में उन्होंने कहा था कि हमने अभी तक कुरान अच्छी तरह नहीं देखा है। यदि कोई मौलवी हम पर आक्षेप करेगा तो हम क्या कहेंगे? परन्तु यह लेख सर्वथा अशुद्ध है।

स्वामीजी ने प्रथमबार के सत्यार्थप्रकाश में ईसाई और मुसलमान मत का भी खण्डन किया था, परन्तु वह किसी कारण उसमें छप न सका था।

इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश का जो लेखनारम्भ प्रयाग में १२ जून, १८७४ ई० को स्वामीजी द्वारा किया गया था, अब उसकी पूर्ति लगभग सवा–तीन मास के अनवरत लेखन के बाद ही काशी में उनके अपने जन्मदिन भाद्रपद शुक्ला ९, सं० १९३१ वि० तदनुसार २० सितम्बर, १८७४ ई० (रविवार) को हो सकी थी और वह प्रकाशनार्थ राजा जयकिशनदास के पास काशी भिजवा दिया गया था।

**ब्राह्मण वेद नहीं हैं**– स्वामीजी कहते थे कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्य में सायणाचार्य ने ब्राह्मणों का वेद होना स्वीकार नहीं किया है।

**छुआछूत का बखेड़ा**– एक व्यक्ति ठाकुरप्रसाद स्वामीजी के बड़े भक्त थे। वे नित्य अपने गृह से स्वामीजी के लिए भोजन लाया करते थे। प्रथम दिन वे नङ्गे पैर लाए तो स्वामीजी ने उनसे इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा कि कच्चा भोजन जूते पहर कर लाना अच्छा नहीं है। तब स्वामीजी ने उनसे कहा कि मैं इस छूतछात को नहीं मानता, आप भी इस बखेड़े में मत पड़िए।

**दीन विद्यार्थी पर दया**– लाला वंशीधर ने रामायण छपवाकर उसे दीन विद्यार्थियों में वितरित करने का प्रबन्ध किया था। यह कार्य उन्होंने एक पण्डित को सौंप दिया था, परन्तु वह अपने परिचितों को पुस्तक देता था। एक दिन एक दीन विद्यार्थी स्वामीजी के पास आकर रोने लगा कि मुझे बार–बार माँगने पर भी पुस्तक नहीं मिली। स्वामीजी तुरन्त उठकर उस दानी के पास गए और पुस्तक उस दीन विद्यार्थी को दिला दी और दानी को उपदेश दिया कि पुस्तक वितरण का यह कार्य ऐसे मनुष्य को दो जो उसके वितरण में पक्षपात न करे।

**अपनी नहीं दूसरों की मुक्ति की चिन्ता**– एक दिन एक वृद्ध महात्मा ने जो गङ्गातट पर रहते थे, स्वामीजी से कहा कि आप परोपकार के झगड़े में न पड़ते तो इस जन्म में आपकी मुक्ति हो जाती। स्वामीजी ने उन्हें कहा कि मुझे अपनी मुक्ति की चिन्ता नहीं है, अपितु उन लाखों मनुष्यों की मुक्ति की चिन्ता है जो दु:खी और दरिद्र हैं।

## जबलपुर (१८७४ ई०)

अक्टूबर, १८७४ ई० अर्थात् आश्विन संवत् १९३१ वि० में किसी दिन स्वामीजी प्रयाग से जबलपुर पधारे और गोकुलदास के उद्यान में ठहरे। वे म० कृष्णराव एक्स्ट्रा असिटेण्ट कमिश्नर की प्रार्थना पर जबलपुर आए थे और उन्हींने उनका आतिथ्य किया था।

**व्याख्यान**– एक दिन सरदार मल्हार राव इङ्गलौर के गृह पर राजा बलवन्त राव के सभापतित्व में उनका व्याख्यान हुआ था जिसमें उन्होंने साधारण विषयों पर अपना कथन किया था और अपनी जीवन सम्बन्धी कुछ घटनाएँ भी सुनाई थीं।

**शास्त्री शास्त्रार्थ से पश्चात्पाद**– जबलपुर के प्रसिद्ध पण्डित शङ्करशास्त्री से शास्त्रार्थ की बातचीत हुई थी। स्वामीजी मौखिक शास्त्रार्थ करना चाहते थे और शास्त्रीजी लेखबद्ध पर बल दे रहे थे। अन्त में स्वामीजी भी

लेखबद्ध शास्त्रार्थ करने के लिए सहमत हो गए, तब शास्त्रीजी पश्चात्पाद हो गए और इस कारण शास्त्रार्थ नहीं हुआ। शास्त्रीजी के पक्षवालों ने शास्त्रार्थ के लिए बहुत दलबल बाँधा था और एक ध्वज भी खड़ा किया था, परन्तु शास्त्रीजी के पीठ दिखाने के कारण उनका सब प्रयास विफल हो गया।

**स्वामीजी का फोटो**- एक दिन म० कृष्णराव स्वामीजी को अपने घर ले गए और वहाँ उन्होंने स्वामीजी का एक फोटो खिंचवाया। वह फोटो उस समय तक जब देवेन्द्रबाबू उनसे मिले थे, उनके यहाँ सुरक्षित था।[४९४]

जबलपुर में कुछ दिन निवास करके स्वामीजी नासिक चले गए।

## नासिक (१८७४ ई०)

अक्टूबर, १८७४ ई० (आश्विन संवत् १९३१ वि०) में ही स्वामीजी जबलपुर से नासिक आ गए और बायजाबाई की हवेली में ठहरे। यह बायजाबाई इन्दौर के होल्कर घराने से सम्बन्ध रखती थी। जिस समय देवेन्द्रबाबू नासिक आए थे, उस समय यह हवेली गिर चुकी थी।

**पञ्चवटी**- नासिक के अन्तर्गत ही पञ्चवटी है, जहाँ श्रीरामचन्द्र अपने वनवास के समय अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मण के साथ ठहरे थे। इसी कारण नासिक एक तीर्थ-स्थान समझा जाता है और यहाँ सहस्रों पण्डा रहते हैं जिनका निर्वाह तीर्थ-यात्रा करने वाले हिन्दुओं के दान से होता है।

**दो व्याख्यान**- स्वामीजी नासिक में केवल चार दिन रहे। इनमें से दो दिन उन्होंने दो व्याख्यान दिए। एक व्याख्यान नासिक के प्रसिद्ध राम-मन्दिर में हुआ और दूसरा ताप्ती नदी के तट पर। राम-मन्दिर नासिक के पञ्चवटी भाग में है। इन व्याख्यानों में जन-साधारण बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित हुए। एक व्याख्यान में स्वामीजी ने कहा था कि पञ्चवटी में श्रीरामचन्द्र वनवास के समय आकर रहे थे तो इससे उसे तीर्थ मानने का क्या कारण है?

**शास्त्रार्थ का आयोजन**- उस समय नासिक में रावबहादुर विष्णुमोरेश्वर सब जज थे। उनके गृह पर स्वामीजी के साथ पण्डितों के शास्त्रार्थ का प्रबन्ध किया गया था और विशेष-विशेष पण्डितों को निमन्त्रित किया गया था। इस सम्बन्ध में एक लेखक ने बम्बई के समाचार-पत्र *'इन्दुप्रकाश'* में इस प्रकार लिखा था-

**दयानन्द की शास्त्र-दर्शिता**- "हमारे शास्त्रियों में न तो जिज्ञासा-भाव ही है और न उन्हें सत्य के अनुसन्धान की ही रुचि है। उनके ग्लानिद्योतक मौन और विचारमूढ़तासूचक दृष्टि से केवल यही प्रकट होता है कि वे पण्डित दयानन्द के विश्वास और सुधारक विचारों को अच्छा नहीं समझते। स्वामीजी की मानसिक शक्तियाँ दुर्लभ हैं, उनकी वाणी बड़ी प्रभावोत्पादिका है, उनकी स्मृति चूकने वाली नहीं है। इसके साथ ही वे अपने सुधारकार्य में उच्च कोटि के संस्कृत-पाण्डितत्य और हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों के गहन परिचय से योग लेते हैं। उनके तत्क्षण व्याख्यानों में वेदों के इतने मन्त्रों के उद्धरण होते हैं, हिन्दुओं के भिन्न-भिन्न दर्शनों के गूढ़-ग्रन्थों के इतने सङ्केत होते हैं कि हमारी

---

४९४- जबलपुर में लिए गए स्वामीजी के इस फोटो का निगेटिव आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ नरसिंहपुर/नागपुर के कार्यालय में आगे सुरक्षित रहा जहाँ से मैंने इस सभा के मासिक मुखपत्र *'आर्यसेवक'* के (प्रधान )सम्पादक के रूप में अपने कार्यकाल (२००१-०५) के दौरान प्राप्त किया और उससे अपने उपयोग के लिए भोपाल के एक फोटोस्टुडियो से एक रङ्गीन चित्र तैयार कराया और उसे अपने द्वारा सम्पादित ग्रन्थों (१) आर्यसेवक शताब्दी स्मारिका (२००३ ई०); (२) ऋषि दयानन्द के अज्ञात जीवन की समस्या और उसका समाधान (२००३ ई०) तथा (३) *'स्वामी दयानन्द सरस्वती का अपना जन्मचरित्र'* के द्वितीय संस्करण (संवत् २०६७ वि०) के आवरण पृष्ठों पर प्रकाशित कराया। वही रङ्गीन चित्र अब इस **'दयानन्द-दिवाकर'** ग्रन्थ के पृष्ठ १०और आवरण पृष्ठ पर भी प्रकाशित किया गया है। - *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

सम्मति में किसी लिखित निबन्ध में भी और अच्छे पुस्तकालय की सहायता से भी इतने वचनों को उद्धृत करना सहज नहीं है। पण्डित दयानन्द उस कपट के सच्चे मन से विद्वेषी हैं, जिसमें पुरोहित श्रेणी की मक्कारी ने हमारे सरलचेता और असन्दिहान जनसाधारण को धर्म के नाम पर फाँस रक्खा है।

**सुधार–कार्य की प्रशंसा**– पण्डित दयानन्द में प्रकृत और उद्योगोपार्जित गुणों का दुर्लभ सम्मिलन है, इसलिए यह देखकर हम सबको विशुद्ध प्रसन्नता हुई कि उन्होंने अपने जीवन को अपने देशस्थ लोगों के सुधार में लगाने का निश्चय कर लिया है और मूर्तिपूजा के दमन करने का व्रत–धारण कर लिया है, जो सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होने में रुकावट आने वाले और युक्ति–विरुद्ध विचारों का उर्वर उत्पत्ति–स्थल है। पण्डित दयानन्द अपने देशस्थ बन्धुओं से उनके उत्तमभवों के नाम पर, उनकी प्रियतम वस्तुओं के नाम पर, मनुष्य प्रकृति में जो कुछ भी उत्तम, नीतियुक्त और पुण्यमय है, उसके नाम पर, प्राचीन वेदों के नाम पर, जिन पर उहें इतना गर्व है, अपने देश के पतित लोगों को उन रीतियों के पञ्जे से छुड़ाने के लिए अपील करते हैं, जो न केवल वर्त्तमान ताँती के लोगों को लज्जास्पद बनाती है, वरन् स्वामीजी की सम्मति में प्राचीन ऋषियों और उनके अत्युत्तम ग्रन्थों को भी लज्जाग्रस्त करती है। इसलिए समस्त पुरुषों को जिन्हें हिन्दूसमाज की उन्नति और हिन्दूप्रजा के अभ्युत्थान में मनोलग्नता है, उचित है कि पण्डित दयानन्द की, उनकी उपासना के युक्यियुक्त और विशुद्ध रूप को स्थापित करने में सहायता करें।

**दयानन्द की निर्भीकता**– नदी के तट पर विचारमूढ़ ब्राह्मणों के बृहत्समूह के सामने पुरोहित दल की बुराइयों और उन लोगों के अविद्याजन्य दोषों को जिन्हें हिन्दुओं की मानसिक शिक्षा सौंपी गई है, निर्भीकता और अटल भाव के साथ स्पष्टाक्षरों में वर्णन करने के कारण इस स्थान के लोग पण्डित दयानन्द से इतने प्रसन्न हुए कि उनहोंने श्रोताओं के आह्लाद और साधुवाद के बीच पण्डित दयानन्द को बहुमूल्य वस्त्र उपहार में दिए।"

आगे चलकर स्वामीजी के मन्तव्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है–

**मन्तव्य–विवरण**– "जिस अर्थ में कि 'जाति' शब्द साधारणतया ग्रहण किया जाता है, वे उस अर्थ में ग्रहण नहीं करते। उनकी सम्मति जिसे वे वेदों पर आश्रित बताते हैं, वर्ण के विषय में यह है कि मनुष्यों को उनकी मानसिक और आत्मिक योग्यता के अनुसार विभक्त करने का नाम वर्ण है। यदि एक शूद्र पर्याप्त ज्ञानसम्पन्न है तो वह ब्राह्मण है और एक पापकर्मा ब्राह्मण शूद्र से भी नीचे के वर्ण का है। उनकी सम्मति में वर्ण एक परिस्थिति का नाम है, जिसे मनुष्य स्थिर और असन्दिग्ध नियमों के पूरा न करने पर खो सकता है और पूरा कर प्राप्त कर सकता है। मूर्तिपूजा के वे अदम्य शत्रु हैं। इतना ही कहना पर्याप्त है कि वे एक मन्दिर से लौटे, परन्तु उन्होंने मन्दिर की मूर्त्तियों के प्रति इतना ही आदरभाव प्रकट किया, जितना उन्होंने मन्दिर के फर्श के पत्थरों के प्रति किया। विदेश–यात्रा और उन देशों की यात्रा के, जो भयावह अटक के पार हैं, वे घोर पक्षपाती हैं और हमें कुछ भी आश्चर्य न होगा, यदि हम एक दिन सुनें कि पण्डित दयानन्द हाइड पार्क वा वैस्ट मिंस्टर के गिर्जों में वेदों का प्रचार करने के लिए जहाज पर सवार होकर यूरोप जा रहे हैं। वे पुनर्विवाह के सच्चे और उत्साही समर्थक हैं। मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि मैं इन विद्वान् पण्डित के मुख से यह सुनकर कि अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन ने उस समय के अमेरिका के राजा की भगिनी से विवाह किया था, आश्चर्यान्वित हुआ। इन विद्वान् पण्डित को यह शोक है कि गत सहस्र वर्षों में हमने उन जातियों की जो भारत में एक पीछे दूसरी राज्य करने आई, बुराइयों के अतिरिक्त और कुछ नहीं सीखा, उनकी भलाई एक भी नहीं सीखी। उन्होंने कहा कि बिना विवाह स्त्रियाँ रखने की प्रथा तो उन्होंने मुसलमानों से सीख ली, परन्तु जो एक बात उनसे सीखनी चाहिए थी, अर्थात् परमेश्वर की एकता, वह नहीं सीखी। उनकी सम्मति है कि हिन्दू बुराई सीखने की बात जितना शीघ्र छोड़ दें, उतना ही अच्छा है। दान के विषय में उनकी सम्मति बहुत ही ठीक है। वे कहते हैं कि देश के वर्त्तमान क्लेश–कष्ट का सबसे बड़ा कारण यह है कि वे भिन्न प्रकार के नाम और विलक्षण चाल–ढाल के

भिखमङ्गों से आप्लावित हैं। उनकी इच्छा है कि सारे वैरागी, गोसाईं, बाबाजी और भिक्षुक सीधे-सादे और शान्तिप्रिय-कृषक अथवा काम के श्रमजीवी बन जावें। उनकी सम्मति है कि हम समझते हैं कि इससे सब सहमत होंगे कि भिखमङ्गे में सब प्रकार के व्यर्थ इधर-उधर घूमनेवाले, निठल्ले और समाज की नीचतम श्रेणी के लोग सम्मिलित हैं और इनके दमन से जाति को बहुत सुख पहुँचेगा। पण्डित दयानन्द ने सबसे आश्चर्य जनक जो बात कही, वह यह थी कि भारत में प्रकृत अर्थ में अँग्रेज ही ब्राह्मण हैं। पण्डित हास्य-रस में भी प्रवीण है, जिससे सुननेवालों को आनन्द आता है। एक वैष्णव मस्तक पर सीधी-काली रेखा का तिलक लगाकर उनके सामने आया। उन्होंने उससे कहा कि यदि वैष्णव समझते हैं कि एक काली रेखा से उन्हें स्वर्ग का मार्ग शीघ्रता से समाप्त करने में सहायता मिलेगी तो यदि वे अपना सारा मुँह ही काला कर लें तो उससे उनकी स्वर्ग-यात्रा बहुत ही सुगम हो जाएगी।"

## मुम्बई (१८७४ ई०)

मुमुम्बई (१८७४ ई०)

कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा संवत् १९३१ वि० (गुजराती आश्विन कृष्ण प्रतिपदा संवत् १९३० वि०) तदनुसार २६ अक्टूबर,१८७४ ई० (सोमवार) को स्वामीजी नासिक से मुम्बई पहुँचे।

**मुम्बई में स्थानादि का प्रबन्ध**- उत्तर भारत के एक भद्र पुरुष पं० विश्वनाथ प्रभुराम (मुम्बई) का पत्र उनके पितृव्य जयकृष्ण जीवनराम के नाम लेकर मुम्बई पहुँचे, जिसमें उनसे मुम्बई में स्वामीजी के रहने-सहने तथा उनके व्याख्यानों के लिए स्थानादि का प्रबन्ध करने की प्रार्थना की गई थी। वह पत्र उनके चाचा ने उनके पिता रा० रा० प्रभुराम और उनके पिता के मित्र रा० रा० लीलाधर ऊधोजी को दिखाया। उनका आपस में परामर्श हो जाने पर उन्होंने उक्त भद्रपुरुष को लखमीदास खेमजी के पास भेज दिया जिन्होंने स्वामीजी के निवास के लिए मुम्बई नगर से दो कोस दूर बालकेश्वर पर गोशाला नाम का स्थान निश्चित कर दिया। उस भद्रपुरुष के पास मुम्बई नगर के और भी कई सज्जनों के नाम पत्र थे।

**मुम्बई में स्वागत**- इसके थोड़े ही दिन पश्चात् स्वामीजी मुम्बई पहुँच गए। रेलवे स्टेशन पर कई सज्जनों ने उनका स्वागत किया और उन्हें गाड़ी पर सवार कराकर बालकेश्वर के उक्त स्थान पर ठहरा दिया गया। दारागंज (प्रयाग) निवासी पं० मण्डनराम उनके साथ थे जो उनके लेखक का कार्य करते थे, बलदेवसिंह पाचक का कार्य करते थे। वह भी प्रयाग से ही उनके साथ आया था। इस समय स्वामीजी गेरुआ वस्त्र पहनते थे और बाहर जाते समय चाँदी की मूठ वाली एक छड़ी भी हाथ में रखते थे तथा पैरों में काले चमकदार जूते पहनते थे।

**धर्मालाप का विज्ञापन**- स्वामीजी के मुम्बई आते ही एक विज्ञापन निकाला गया कि जिसमें धर्म-जिज्ञासुओं को सूचना दी गई थी कि जिस किसी को धर्म सम्बन्धी बातचीत करनी हो वह स्वामीजी के स्थान पर आकर कर ले।

**घोर आन्दोलन**- स्वामीजी के मुम्बई पधारने का समाचार प्रचारित होते ही सारे नगर में घोर आन्दोलन उपस्थित हो गया। शतश: लोग उनके दर्शन करने और उनसे सम्भाषण करने के लिए आने लगे।

**विद्वेषियों का दोषारोपण**- उनके सम्बन्ध में विद्वेषियों ने उनके चरित्र को दूषित करने और उनके पास लोगों को जाने से रोकने के लिए अनेक प्रकार की मिथ्या बातें फैलानी आरम्भ कर दीं। कोई कहता कि दयानन्द तो अँग्रेज सरकार का गुप्तचर है, कोई कहता कि वह संन्यासी के वेश में कोई यूरोपियन है, जो लोगों को ईसाई बनाने आया है। किसी-किसी द्वेषपरायण दुष्ट ने सरकार को उनके विरुद्ध करने के लिए यहाँ तक कहा कि वह सिपाही -विद्रोह में भाग लेन वाले नाना साहब का भेजा हुआ दूत है।[४९५]

---

४९५- ऐसे आरोप तो स्वामी दयानन्द पर इसके पहले भी कलकत्ता आदि में लगाए जाते रहे थे। पर हाँ, यह तो सत्य ही है कि उनका सम्बन्ध अतीत में सिपाही-विद्रोह में भाग लेनेवाले नाना साहब पेशवा से भी रहा था, परन्तु अब तो वे

**मुम्बई में निमन्त्रित करने वालों की इच्छा**– स्वामीजी के मुम्बई पधारने के विषय में यह सुना जाता है कि मुम्बई में जयकृष्ण वैद्य अद्वैतवादी और लखमीदास खेमजी वल्लभाचारी के भाई धर्मसी काशी शास्त्रार्थ के समय वहाँ उपस्थित थे। ये दोनों ही स्वामीजी की विद्या और तपोबल से अभिभूत हो गए थे। वैद्य महोदय की इच्छा थी कि स्वामीजी के समान कोई प्रभावशाली पुरुष मुम्बई जाकर वैष्णवादि मतों का खण्डन करके उनका मार्ग परिष्कृत कर दे। धर्मसी और उनके भाई लखमीदास खेमजी भी यही चाहते थे, परन्तु उनके लिए वैष्णवमत के खण्डन कराने की इच्छा का कारण दूसरा था। वे वल्लभमत के गोसाइयों से महाराजा के मानहानि के मुकद्दमे के कारण बहुत रुष्ट थे। दोनों का यह विश्वास था कि इस कार्य को उत्तम रूप से स्वामीजी ही सिद्ध कर सकेंगे। इसलिए इन दोनों व्यक्तियों ने उसी समय स्वामीजी से मुम्बई जाने के लिए अनुरोध किया था। उस समय स्वामीजी ने यह उत्तर दे दिया था कि हम अपनी सुविधानुसार आएँगे और अपने आने की सूचना आप लोगों को दे देंगे। तदनुसार ही स्वामीजी ने अपने मुम्बई आने की सूचना इन दोनों व्यक्तियों को तार द्वारा दी और पत्र भी भिजवाया।

**वल्लभ–सम्प्रदाय के खण्डन का सङ्कल्प**– मुम्बई में आकर स्वामीजी को जब बल्लभ–सम्प्रदाय के गोसाइयों की गुप्त लीला का, सम्भवतः इन्हीं व्यक्तियों द्वारा वृत्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने भी उनके मत के खण्डन का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया।

**वेद–धर्म सभा**– स्वामीजी के व्याख्यानों का प्रबन्ध फ्रामजी काऊसी हॉल में किया गया था। उक्त हॉल में व्याख्यान के लिए सत्तरह रुपये देने पड़ते थे। मुम्बई में पहले से एक वेद–धर्म–सभा स्थापित थी, जिसके प्रमुख कार्यकर्ता भ्राताद्वय जीवनराम, लखमीदास खेमजी तथा लीलाधर ऊधोजी थे। इन्हीं लोगों ने स्वामीजी के व्याख्यानों के व्यय के लिए चन्दा एकत्र किया था।

**वल्लभ–सम्प्रदायवाले शत्रु हो गए**– वैष्णवमत के विरुद्ध सम्मति प्रकट करने और दैनिक सत्सङ्ग में उसका तीव्र खण्डन करने के कारण वल्लभ–सम्प्रदाय के लोग स्वामीजी के शत्रु हो गए थे। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य गोसाईं जीवनजी थे। वैष्णवों ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का आयोजन किया और एक व्यक्ति ने लिखकर प–ग–न के नाम से कार्त्तिक शुक्ला ४ संवत् १९३१ वि० तदनुसार १३ नवम्बर, १८७४ ई० (शुक्रवार) को २४ प्रश्न स्वामीजी के पास भिजवाए, जिनका उत्तर स्वामीजी की अनुमति से एक श्री पूर्णानन्द संन्यासी ने विज्ञापन द्वारा दिया। यह तो ज्ञात नहीं हुआ कि वे प्रश्न क्या थे, परन्तु उनके जो उत्तर दिए गए, वे ज्ञात हैं और उनसे भली–भाँति अनुमान हो सकता है कि वे प्रश्न क्या थे? हम नीचे उनके उत्तरों का सारांश देते हैं।

**वल्लभियों के २४ प्रश्नों के उत्तर**– पूर्णानन्द ने उस विज्ञापन में लिखा था कि स्वामीजी प्रत्यक्षादि प्रमाणों को मानते हैं, चारों वेद संहिताओं का (परिशिष्ट भाग को छोड़कर) प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। उनके मन्तव्य वहीं हैं जो वेद प्रतिपादित हैं। ब्राह्मणग्रन्थ, शिक्षा आदि वेदाङ्ग के ग्रन्थ, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा आदि के, वेद–उपाङ्ग, मनुस्मृति का प्रमाण वहीं तक स्वीकार करते हैं, जहाँ तक वे वेद के अनुकूल हैं। वाल्मीकिकृत रामायण और महाभारत को इतिहास ग्रन्थ समझते हैं। पुराण, उपपुराण, तन्त्रग्रन्थ, याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों काप्रामाण्य मानना तो क्या, उनमें कुछ भी श्रद्धा नहीं करते, जगदुत्पत्ति जैसी वेद में लिखी है वैसी ही मानते हैं। जब से सृष्टि का क्रम हुआ है, उस काल की कोई संख्या नहीं है। शाखाओं में जिन कर्मों का करना लिखा है, वे वेदानुकूल हों तो करने चाहिएँ और वेदोक्त विधि ही सबको माननी चाहिए। वैष्णव, स्वामीनारायण आदि सम्प्रदायों का वेदविरुद्ध होने के कारण

---

उनसे मुक्त होकर ही अपना यह धर्म–प्रचार का कार्य कर रहे थे।

खण्डन करते हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान्, अन्तर्यामी, निरवयव, परिपूर्ण और न्यायकारी है उसका जन्म-मरण कभी नहीं होता, जिसका जन्म-मरण होता है, वह ईश्वर हो ही नहीं सकता।

**प्रश्न क्यों किए गए**- इस विज्ञापन के उत्तर में विपक्ष की ओर से कोई विज्ञापन नहीं निकाला, न स्वामीजी के पास ही इनका प्रत्युत्तर भेजा गया। ऐसा प्रतीत होता है कि ये प्रश्न स्वामीजी से केवल उनका मन्तव्यामन्तव्य जानने के लिए किए गए थे, जिससे शास्त्रार्थ में उनका उपयोग हो सके।

**स्वामीजी की इच्छा**- इस विज्ञापन के अन्त में स्वामीजी की ओर से लिखा था कि यदि हम आर्यलोग वेदोक्त धर्म के विषय में पक्षपात छोड़कर प्रीति पूर्वक विचार करें तो सब प्रकार का कल्याण ही है, यही मेरी इच्छा है, जिसके लिए सदा प्रतिदिन सभा होनी चाहिए तो श्रेष्ठ समझो। जिस रीति से बहुत प्रकार के मतों का नाश हो जाए वैसा सबको करना चाहिए।

**वध के लिए पाचक को लोभ**- गोस्वामी जीवनजी तो स्वामीजी के परम शत्रु हो गए थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी के पाचक बलदेव को बुलाकर कहा कि यदि तुम स्वामीजी को मार डालो तो हम तुम्हें एक सहस्र रुपए देंगे और तुरन्त उसे पाँच रुपए और पाँच सेर मिठाई (लगभग पाँच किलो) दे भी दी और १००० रुपए देने की चिट्ठी लिख दी। अभी बलदेव जीवनजी के पास से लौटकर भी न आया था कि किसी ने स्वामीजी को सूचना दे दी कि आपका भृत्य जीवनजी के पास खड़ा है। जब वह लौटकर आया और स्वामीजी ने उससे पूछा तो पाचक ने सब स्वीकार कर लिया-

*स्वामीजी*- तुम गोकुलियों के मन्दिर में गए थे?

*बलदेव*- हाँ, महाराज गया था।

*स्वामीजी*- क्या ठहरा?

*बलदेव*- पाँच रुपए नकद, पाँच सेर मिठाई और यह चिट्ठी दी है कि यदि मार दो तो १००० रुपए लो।

*स्वामीजी*- मुझे कई बार विष दिया गया है, परन्तु मैं मरा नहीं, अब भी नहीं मरूँगा।

*बलदेव*- महाराज! मेरे कुल का काम विष देना नहीं है और फिर ऐसे को जिससे सब जगत् को लाभ पहुँच रहा है।

*स्वामीजी*- (मिठाई फिकवाकर और चिट्ठी फाड़कर) सावधान! आगे उनके यहाँ कभी मत जाना।

**पीटने की चेष्टा**- एक दिन गोकुलिए गोसाइयों के अनुयायी कच्छी बनियों की बीस मनुष्यों की एक टोली को पीटने के उद्देश्य से बालकेश्वर गई थी, परन्तु वह अपनी दुष्ट चेष्टा में सफल न हो सकी।

बालकेश्वर में महादेव व अन्य देवताओं की मूर्तियाँ थीं। वहाँ मूर्तिपूजक ब्राह्मण रहते थे। वे जब मन्दिर में पूजन करने जाते तो स्वामीजी को नमस्कार करते, परन्तु पीछे उनकी निन्दा किया करते थे।

**घातकों की नियुक्ति**-कुछ दुष्टों ने स्वामीजी के वध के लिए घातकों को नियुक्त किया था और वह बालकेश्वर में सुयोग की खोज में रहते थे। स्वामीजी बलदेव को साथ में लेकर समुद्र तट पर टहलने जाया करते थे। घातक लोग उनका पीछा करते थे। स्वामीजी को यह बात ज्ञात हो गई थी और एक-दो बार स्वामीजी ने उन्हें अपना पीछा करते हुए देख भी लिया था।

**घातकों से मुठभेड़**- एक दिन स्वामीजी की उनसे भेंट हो गई। स्वामीजी ने उनसे कहा कि कहो क्या विचार है, तुम हमें मारने के लिए ही आते हो। उत्तर में वे कुछ न बोले और उस दिन के पश्चात् उन्होंने स्वामीजी का पीछा करना छोड़ दिया। स्वामीजी पूर्ववत् उसी सड़क पर टहलने जाते रहे।

**डॉक्टर भण्डारकर**- पं० विष्णुपरशुराम शास्त्री की संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डितों में गणना थी। ऐसे ही डॉक्टर आर०

जी० भण्डारकर संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् समझे जाते थे। वे सरकार से भी सम्मानित थे और शिक्षा-विभाग के उच्चपदस्थ कर्मचारी थे। वे सरकार की ओर से संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकों के अनुसन्धान और संग्रहकार्य पर नियुक्त हुए थे और मुम्बई में संस्कृत-अध्ययन-विभाग के निरीक्षक और अध्यक्ष रहे थे, उन्हें डॉक्टर की उपाधि प्राप्त हुई थी और अन्त में उन्हें सरकार ने 'सर' की उपाधि देकर सम्मानित किया था।

पण्डित विष्णुपरशुराम शास्त्री और डॉक्टर भण्डारकर दोनों ही प्रार्थना-समाज के सभासद् थे, जिस नाम से कि मुम्बई प्रान्त में ब्राह्मसमाज विख्यात था। मुम्बई में ब्राह्मसमाजियों ने उसका ब्राह्मसमाज नाम न रखकर प्रार्थना-समाज नाम रक्खा था। ये दोनों नेता महानुभाव सुधारक दल के नेता थे।

**पं० विष्णुपरशुराम शास्त्री**- पं० विष्णुपरशुराम शास्त्री मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं रखते थे और विधवा-विवाह के घोर पक्षपाती थे। वे स्वभाव से क्रोधनशील, असहिष्णु और चिड़चिड़े थे। उन्हें और डॉक्टर भण्डारकर को अपनी विद्या का बड़ा अभिमान था। वेदों को वे अपौरुषेय नहीं मानते थे, प्रत्युत अनेक ऋषियों का रचा हुआ स्वीकार करते थे। यह बात उनके प्रार्थना-समाज के सभासद् होने से ही स्पष्ट है। दोनों ही वेदों को बहुदेवतावाद का समर्थक समझते थे।

**दोनों का दयानन्द से वार्त्तालाप**- एक दिन जिसकी ठीक तारीख ज्ञात नहीं हुई, परन्तु जो १३ नवम्बर, १८७४ ई० (अर्थात् कार्तिक शुक्ला ४) के पूर्व की थी, पण्डित विष्णुपरशुराम शास्त्री और डॉक्टर भण्डारकर स्वामीजी से मिलने गए और उनसे सुधार-कार्य तथा वेदों के बहुदेवतावाद पर बातचीत की। तब स्वामीजी ने विधवा-विवाह से अपनी असहमति प्रकट की[४९६]। इस पर शास्त्री जी रुष्ट हो गए।

**डॉक्टर का पक्ष**- डॉक्टर भण्डारकर यह प्रतिपादित करना चाहते थे कि वेदों में बहुदेवतावाद है। इसके प्रमाण में उन्होंने ऐतरेयब्राह्मण से शुनःशेप की कथा का उल्लेख किया।

**डॉक्टर का पत्र**- इसके सम्बन्ध में डॉक्टर भण्डारकर ने देवेन्द्रबाबू को एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने कहा था कि "जब स्वामी दयानन्द मुम्बई में थे तो मैं स्वर्गीय पण्डित विष्णुपरशुराम शास्त्री के साथ उनसे मिलने गया था। हमने उनके इस सिद्धान्त की आलोचना की थी कि वेदों में अमिश्रित एकेश्वरवाद है। मैंने ऐतरेय ब्राह्मण के का० ७ खं० १५ का उद्धरण किया था, जिसमें कहा गया है कि जब शुनःशेप को यूप से बाँध दिया गया और उसका वरुण के लिए बलिदान होने को हुआ तो उसके विषय में कहा गया है कि उसने अपने आपको छुड़ाने के लिए एक देवता के पश्चात् दूसरे देवता की आराधना की और प्रत्येक देवता ने उसे दूसरे देवता की आराधना करने के लिए कहा। अन्त में जब उसने उषा की आरधना की तो वह छूट गया। इस पर मैंने कहा कि यहाँ स्पष्टाक्षरों में अनेक देवताओं का वर्णन है, इसके होते हुए यह कहना सम्भव नहीं है कि वेद अमिश्रित एकेश्वरवाद की शिक्षा देते हैं। विष्णुपरशुराम शास्त्री ने भी कुछ प्रश्न किए और विवाद इतना उत्तेजनापूर्ण हो गया कि सबसे पहले स्वामीजी ने कठोर शब्दों का प्रयोग किया। विष्णुपरशुराम शास्त्री ने भी वैसे ही शब्दों में उत्तर दिया। यह मुझे स्मरण नहीं है कि स्वामीजी ने क्या उत्तर दिया था। उस समय यह प्रतीत नहीं होता था कि वे ब्राह्मणों को ईश्वर वाक्य नहीं मानते थे।

उक्त उद्धरण में जिन देवताओं का वर्णन है, उन्हें सम्बोधित करके ऋक् संहिता में बहुत से मन्त्र आए हैं और जिन मन्त्रों का कर्त्ता शुनःशेप को कहा गया है, उनकी ओर सङ्केत किया गया है।

इसके कुछ समय पीछे स्वामी दयानन्द ने एक व्याख्यान हिन्दी में प्रार्थनासमाज के हॉल में दिया था और उस समय

---

४९६- हमें यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि स्वामीजी द्विजों के लिए विधवा-विवाह को अवैध मानते थे। उनके लिए वे नियोग को ही वेदसम्मत समझते थे। शूद्रों के लिए वे पुनर्विवाह की आज्ञा देते थे।

उन्होंने जो प्रभाव हमारे चित्त पर डाला वह अच्छा था।

**समालोचना**– डॉक्टर भण्डारकर को स्मरण नहीं रहा कि स्वामीजी ने उन्हें क्या उत्तर दिया था। हमें इसका खेद है, परन्तु यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त समस्त विवरण आलङ्कारिक है। यह बात योरोपियन विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। अन्यथा यह भी स्वीकार करना चाहिए कि यदि वेदों में नहीं तो कम से कम ऐतरेयब्राह्मण के समय में नरबलि की प्रथा भारत में अवश्य प्रचलित थी, परन्तु यह किसी को अभिमत नहीं है। बहुदेवतावाद का आक्षेप कोई नया आक्षेप नहीं था। *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका* में स्वामीजी ने उसका सभी प्रकार से निराकरण कर दिया है। डॉक्टर भण्डारकर का यह विचार कि उस समय ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि स्वामीजी ब्राह्मणों को परमेश्वर का वाक्य नहीं मानते थे, ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि स्वामीजी इससे पूर्व ही अन्यत्र यह प्रकट कर चुके थे कि ब्राह्मण वेद नहीं हैं।

**मिथ्या दोषारोपण**– यह हमें विश्वास नहीं होता कि स्वामीजी ने प्रथम कठोर शब्दों का प्रयोग किया हो। वास्तव में बात यह थी कि विष्णुराम परशुरामशास्त्री अत्यन्त असहिष्णु प्रकृति के पुरुष थे। दूसरे जब डॉक्टर भण्डारकर से बातचीत हुई तो उनसे ऋषि-मुनियों की निन्दा सुनकर स्वामीजी से न रहा गया और उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि ऋषि-मुनियों के विषय में कुछ न जानते हुए और वेदों को अच्छी तरह पढ़े बिना आप सरीखे महानुभावों को ऐसा कहना अनुचित है। दूसरे स्वामीजी ने डॉक्टर महोदय की रचित *'संस्कृत-मार्गोपदेशिका'* की कुछ भूलें भी उन्हें दिखाई थीं। डॉक्टर साहब ने उनको कौमुदी के आधार पर सिद्धि करने का प्रयत्न किया, परन्तु स्वामीजी ने उनके कथन का अष्टाध्यायी और महाभाष्य के आधार पर खण्डन कर दिया, जिसका वे कोई उत्तर न दे सके। डाक्टर साहब को अपनी विद्वता का बड़ा अहङ्कार था, पाठक समझ सकते हैं कि जब स्वामीजी ने उसे विचूर्णित करके रख दिया तो उनको कितना रोष आया होगा और उन्होंने क्या कुछ न कहा होगा? स्वामीजी के इन्हीं उपर्युक्त शब्दों के विषय में डॉक्टर साहब कहते हैं कि स्वामीजी ने कठोर शब्दों का प्रयोग किया।

फल यह हुआ कि दोनों ही महानुभाव स्वामीजी से रुष्ट होकर चले आए।[४९७]

**शास्त्रीजी की शत्रुता**– शास्त्रीजी तो स्वामीजी के पूरे शत्रु ही हो गये और जब तक जीवित रहे उनसे चिढ़ते रहे। पहले वह यह मानते थे कि वेदों में मूर्त्तिपूजा नहीं है, परन्तु उस दिन के मिलन के पीछे कहने लगे कि अब मैं यह भी नहीं मानता कि वेदों में मूर्त्तिपूजा नहीं है। यही नहीं उन्होंने *'इन्दुप्रकाश'* नामक पत्र में स्वामीजी के विरुद्ध लिखना भी आरम्भ कर दिया और स्वामीजी को गाली देने तथा उन पर मिथ्या दोषारोपण करने तक में सङ्कोच नहीं किया। उन्होंने स्वामीजी को उद्धत, कर्कशभाषी, धूर्त्त और असत्यवादी तक लिख डाला। एक बार उन्होंने लिखा कि स्वामीजी *'दूरस्थाः पर्वता रम्याः'* की लोकोक्ति के समान दूर से ही भले लगते हैं और यह कि स्वामीजी अपने

---

४९७– १८ दिसम्बर, २०१९ ई० से आरम्भ किया गया गया *'दयानन्द-दिवाकर'* ग्रन्थ का यह लेखन १२ जुलाई, २०२० ई० (रविवार) को प्रातः १०-२० बजे तक यहाँ तक ही लगभग ५० प्रतिशत पूरा हो पाया था कि जब मैं इससे निवृत्त होकर अपनी दिनचर्या में प्रवृत्त होने लगा तो मेरे मस्तिष्क में रक्त प्रवाह वाधित हो जाने के कारण मुझे कुछ चक्कर सा आने को हुआ जिससे मैं पास में पड़े अपने तख्त पर लेट गया। पुनः कुछ औषधोपचार के बाद ही जब मैं कुछ सामान्य हुआ तो आगे का शेष कार्य मैंने अपने कम्प्यूटर आपरेटर को सौंप दिया जिससे आगे का इस पुस्तक की समाप्ति पर्यन्त जो भी लेखन कार्य हुआ है, वह सब उसका ही टाइप किया हुआ है। मेरा तो उसमें योगदान केवल प्रूफ पढ़ने और सम्पादन करने तक ही सीमित रहा है। – *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

को सर्वज्ञ समझ कर अभिमान करते हैं। इस सबको देखकर यदि स्वामीजी ने कोई कठोर शब्द शास्त्रीजी के सम्बन्ध में कह भी दिया हो तो आश्चर्य ही क्या है?

**दोषी कौन था ?** – अब पाठक स्वयं विचार करें कि कर्कशभाषी, उद्धत, अभिमानी, धूर्त्त, असत्यवादी कौन था, स्वामीजी वा शास्त्रीजी? धूर्त्त और असत्यवादी तो शास्त्रीजी थे, जिन्होंने यह कहना आरम्भ कर दिया कि अब मैं यह भी नहीं मानूँगा कि वेद में मूर्त्तिपूजा नहीं है, जो उनके आत्मा के सर्वथा विरुद्ध था, क्योंकि वह वास्तव में यही मानते थे कि मूर्त्तिपूजा वेद विहित नहीं है। स्वामीजी जैसा उनके मन में होता था वैसा ही वाणी से भी कहते थे। अहङ्कार और अभिमान दयानन्द में था वा शास्त्री महोदय में ?

**पहला व्याख्यान, मूर्त्तिपूजा का प्रबल खण्डन** – स्वामीजी का पहला व्याख्यान फ्रामजी काऊसजी हॉल में २५ नवम्बर सन् १८७४ ई० तदनुसार अमान्त कार्तिक कृष्ण २ (बुधवार) को हुआ। व्याख्यान मध्याह्नोत्तर में २ बजे से ६ बजे तक हुआ था। उसका विषय मूर्त्तिपूजा था। उसमें महाराज ने अनेक वेदमन्त्र उद्धृत करके और प्रबल युक्तियों से मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया था और वैष्णव-मत, विशेषत: वल्लभ-सम्प्रदाय की तीक्ष्ण आलोचना की थी।

**वेचरशास्त्री के प्रश्न** – उक्त सम्प्रदाय के लोगों ने पूर्व से ही यह निश्चय कर रक्खा था कि उक्त व्याख्यान के अवसर पर ही स्वामीजी से प्रश्नोत्तर किये जायें इसके लिए उन्होंने वेचरशास्त्री को नियत किया था और वे लोग दलबल सहित व्याख्यान में गये थे। वेचरशास्त्री विनीत स्वभाव और सरल प्रकृति के मनुष्य थे, परन्तु उनके साथी ऐसे न थे। प्रतीत होता है कि यह लोग घर से ही व्याख्यान में विघ्न डालने का सङ्कल्प करके गये थे।

**हल्ला हो गया** – वेचरशास्त्री ने स्वामीजी से कुछ प्रश्न किये, परन्तु नियमपूर्वक शास्त्रार्थ आरम्भ भी न होने पाया था कि वल्लभ सम्प्रदाय के लोगों ने हल्लागुल्ला कर दिया और लाठी चलने लगी। हॉल के मैनेजर ने यह सब देखकर उसे बन्द करने के लिए गैस बन्द कर दी। अन्धकार हो जाने से हल्लागुल्ला बन्द हो गया और इस भय से कि कहीं दुष्ट लोग स्वामीजी पर हाथ न छोड़ बैठें उन्हें एक बन्द गाड़ी में सवार कराकर बालकेश्वर भेज दिया गया। वेचरशास्त्री की ओर से तो यह शङ्का हो नहीं सकती कि वह लड़ने के अभिप्राय से व्याख्यान में गये हों, क्योंकि उन्होंने व्याख्यान के पीछे स्वामीजी के विषय में कहा था कि वह एक सुयोग्य वक्ता हैं।

**दूसरा व्याख्यान**– स्वामीजी का दूसरा व्याख्यान उसी हॉल में २८ नवम्बर सन् १८७४ ई० तदनुसार अमान्त कार्तिक कृष्ण ५ ( शनिवार) को पाँच बजे मध्याह्नोत्तर में हुआ। उसमें उन्होंने आर्यों के इतिहास का वर्णन किया था कि "पाँच या साढ़े पाँच सहस्र वर्ष पूर्व आर्य जाति अत्युन्नत दशा में थी। उसका विज्ञान विस्तृत था और उसमें सत्कर्म और धार्मिकता का प्राबल्य था। आर्यजाति की अधोगति का कारण राजगण की मूर्खता हुई जो एक विशेष समय (महाभारतयुद्ध) के पश्चात् क्रमश: प्रगाढ़तर होती गई। उससे पहले राजगण विद्वान् होते थे।"

**'इन्दु*प्रकाश*' की आलोचना**– "वे निस्सन्देह साहस-सम्पन्न वक्ता हैं और उन्हें अपनी विद्या पर अति-विश्वास है। वर्त्तमान समय में कपटी धर्माचार्यों के विषय में उनकी हास्यमय उक्तियों ने बनियों के बृहत् समुदाय में, जो उनका व्याख्यान सुनने गए थे, बड़ी सनसनी उत्पन्न कर दी है। जो कुछ उन्होंने अन्त में कहा उससे प्रकट होता है कि वे इस समय वेदभाष्य की रचना करने में लगे हुए हैं।" – '*इन्दुप्रकाश*', ३० नवम्बर, १८७४ ई०

**टिकट से प्रवेश**– पहिले व्याख्यान में जनसमूह बहुत अधिक हो गया था और इससे शान्ति-भङ्ग होने की आशङ्का थी, अत: इस व्याख्यान में हॉल के अन्दर उन्हीं लोगों को जाने दिया गया था जिनके पास टिकट थे। ये टिकट सभास्थल पर व्याख्यान के समय से एक घण्टा पूर्व ही लोगों को बाँटे गये थे।

इन वक्तृताओं के सम्बन्ध में *'गुजरात मित्र'* ने आगे अपने १६ दिसम्बर सन् १८७४ ई० के अङ्क में इस प्रकार लिखा था-

***'गुजरातमित्र'* की सम्मति**- "हमें बताया गया है कि पण्डित दयानन्द सरस्वती स्वामी ने बम्बई में धार्मिक विषयों पर दो व्याख्यान दिये हैं। सुधार और धर्म-विषय में उनकी सम्मत्ति जानने के लिए लोग सहस्रों की संख्या में उनके पास एकत्र हो गये हैं। कहा जाता है कि वे संस्कृत के गम्भीर विद्वान् हैं और उन्होंने वेदों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है। यह भी कहा जाता है कि वे मुख्यत: उन्हीं प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों (वेदों) की ओर अपील करते हैं और उनकी सम्मति है कि वेद विधवा-विवाह और अन्य सुधारों को प्रतिपादिन करते हैं, जिनका पक्ष यह पत्र और अन्य पत्र लेते हैं। वे उन लाखों साधुओं का क्रोध और घृणा के साथ उल्लेख करते हैं जो धार्मिक पुरुष होने का दम्भ करते हैं और दूसरों के दान पर अपना पेट पालते हैं। उनका विश्वास है कि जैसे पाखण्डी ये लोग हैं, वैसे बुरे पाखण्डी दुनिया में कभी देखने में नहीं आये। वस्तुत: दयानन्द पूर्ण सुधारक हैं, परन्तु वह अपने कथन को प्राचीन परम्परा वा प्राचीन ग्रन्थों पर निर्भर करते हैं। यह स्पष्ट नहीं होता कि वे उन देशी लोगों की क्यों उपेक्षा करते हैं जो हमारे कॉलेजों में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। वह स्वयं संस्कृत के विद्वान् हैं, इसलिए इस देश के हर एक रहने वाले को उक्त भाषा की शिक्षा प्राप्त करने का परामर्श देना उनके लिए स्वाभाविक ही है। वे कहते हैं कि हमें अँग्रेजी केवल एक घण्टा[४९८] प्रतिदिन पढ़नी चाहिये और शेष समय वेदों के अध्ययन में लगाना चाहिए। हम नहीं कह सकते कि हम में से कितने इस परामर्श को पसन्द करेंगे, परन्तु हमें विश्वास है कि यदि कोई मनुष्य अँग्रेजी साहित्य को एक घण्टा प्रतिदिन से अधिक न पढ़ कर उस भाषा पर अधिकार प्राप्त कर सकेगा तो यह एक अलौकिक घटना (Miracle) होगी।"

**उक्त सम्मति की आलोचना**- स्वामीजी प्रचलित शिक्षाप्रणाली के क्यों विरुद्ध थे? यह बात सम्पादक *'गुजरातमित्र'* की समझ में उस समय न आई जैसे कि अब भी बहुतों की समझ में नहीं आ रही है। इस शिक्षाप्रणाली का यह परिणाम हुआ है कि हम अँग्रेजी साहित्य में तो व्युत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु अपने प्राचीन साहित्य, सभ्यता और गौरव से अनभिज्ञ रहते हैं। हम पश्चिम के मानसिक दास बन जाते हैं। हमारे आचार-विचार, रहन-सहन, चाल-ढाल पश्चिमी सभ्यता के साँचे में ढल जाते हैं और हम अपनी जातीयता को सर्वथा खो बैठते हैं। न हमें अपने धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है, न उससे हमें प्यार होता है, हम अपने धर्मानुष्ठानों को निरर्थक और ढकोसला समझने लगते हैं। हमें अपने भूत से प्रेम नहीं रहता, न उसका हमारी दृष्टि में कुछ गौरव रहता है, न उस पर हम कुछ गर्व करते हैं। हम एक केवट रहित नौका की भाँति भविष्य के असीम समुद्र पर जिधर हवा के थपेड़े हमें ले जाना चाहें उधर बहे हुए चले जाते हैं। यह एक इतिहाससिद्ध सिद्धान्त है कि जिस जाति को अपने भूत पर गर्व नहीं होता उसका भविष्य कभी उन्नत और उज्जवल नहीं हो सकता और वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

**स्वामीजी की दिव्य दृष्टि**- स्वामीजी की दिव्य दृष्टि ने प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के दो दोषों को उस समय देख लिया था, जिस समय वे किसी को दिखाई न देते थे। आज वह सबको दिखाई दे रहे हैं। आज लोग समझने लगे हैं कि पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति हमारी मानसिक दासता का मुख्य हेतु और हमारे चरित्र की चूकों का प्रधान कारण है। दयानन्द ने इन्हीं सब कारणों से वर्त्तमान शिक्षापद्धति के विरुद्ध अपनी सम्मति प्रकट की थी और इसीलिये वह चाहते थे कि हमारी शिक्षा में

---

४९८- स्वामीजी महाराज ने इस विषय में अनेक पत्र भी लिखे थे। देखो ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन की भूमिका के पृष्ठ २३-४६। *-युधिष्ठिर मीमांसक*

मुख्य स्थान संस्कृत साहित्य और इतिहास का और गौण स्थान अँग्रेजी को दिया जाये। यदि हम अँग्रेजी में अधिक व्युत्पन्न न भी हों तो कोई बड़ी हानि नहीं, परन्तु संस्कृत में व्युत्पन्न न होने से तो हमारे सर्वनाश के दिन निकट आ रहे हैं। यही सब कारण थे जिनसे स्वामीजी प्रचलित गुरुकुल-शिक्षा प्रणाली का पुनरुद्धार और प्रचार करना चाहते थे, जिसके अनुसार विद्यार्थी गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन और चरित्र-गठन करता हुआ वेद-वेदाङ्ग तथा अन्य विषयों का ज्ञाता होकर समाज का लाभदायक अङ्ग बन सके। इसी कारण स्वामीजी ब्रह्मचर्य, सत्यनिष्ठा, अव्यभिचार, योग, वेद के पठन-पाठन प्रभृति पर विशेष बल देते थे। वह कहते थे कि बिना ब्रह्मचर्य किये, बिना वीर्य रक्षा किये ईश्वर प्राप्ति तो दूर रही, मनुष्य की बुद्धि और ज्ञान भी परिष्कृत और उज्जवल नहीं हो सकते। उनका यह अविचलित विश्वास था कि वेद के प्रचार और वैदिक धर्म के प्रचार से ही देश और जाति का कल्याण होगा।

स्वामीजी के मुम्बई पधारने के सम्बन्ध में २१ सितम्बर सन् १८७४ ई० की *'सुबोध-पत्रिका'* में इस प्रकार लिखा गया था-

''वल्लभाचारी सम्प्रदाय के आचार्यों ने और अन्यान्य लोगों ने पहले यह समझा था कि दयानन्द उनके पक्ष का अवलम्बन करेंगे। परन्तु उनके व्याख्यान आदि को सुनकर उनकी धारणा अन्य प्रकार की हो गई। उन्होंने यह बात उपस्थित करके कि वेद में प्रतिमा शब्द है यह घोषणा की कि वेद में भी तो मूर्तिपूजा है। जब वह दयानन्द की युक्तियों के खण्डन में असमर्थ हुए तो उन्होंने स्वामीजी की निन्दा और ग्लानि से पूर्ण एक विज्ञापन प्रकाशित किया। किसी-किसी ने स्वामीजी के उपदेशों से परिचालित होकर अपनी देवमूर्त्तियों को मुम्बादेवी के तालाब में फेंक दिया है। सेवकलाल कर्शनदास ने अपनी देवमूर्त्तियों को टाउन हॉल के म्यूजियम में रख दिया है। माँस भोजन के विषय में स्वामीजी कहते हैं कि क्षत्रिय लोग माँस खाते हैं, किन्तु यह सार्वभौम नहीं है, इसी कारण इसका वेद में उल्लेख नहीं है। स्वामीजी ब्राह्मण भाग को वेद नहीं मानते हैं और उसका खण्डन करते हैं।''

**आलोचना** - *'सुबोध-पत्रिका'* के सम्पादक की यह सम्मति कि पहले वल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य व अन्य लोग यह समझते थे कि स्वामीजी उनके पक्ष का समर्थन करेंगे, नितान्त भ्रान्त थी क्योंकि स्वामीजी के मूर्त्तिपूजा खण्डन करने की बात उस समय तक सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो चुकी थी। सत्य तो यह था कि कुछ लोग वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों (जिन्हें उनके भक्त महाराजा कहते हैं) के दुर्व्यवहार और विशेषकर उस कलङ्कमय मुकद्दमें से महाराजाओं के विरुद्ध हो गये थे। वे यह जानते ही थे कि दयानन्द मूर्त्ति-पूजा के घोर विरोधी हैं। वह स्वामीजी से वल्लभकुल के मन्तव्यों का खण्डन कराने के इच्छुक थे, परन्तु इसमें उन लोगों का एक स्वार्थ निहित था, वह यह चाहते थे कि स्वामीजी के मुम्बई से चले जाने के पश्चात् जब कि स्वामीजी के उपदेशों से लोग वैष्णव मत से विरक्त हो जाएँगे तो उन्हें अपने मत के प्रचार का अच्छा अवसर मिलेगा। इन लोगों में प्रमुख जयकृष्ण जीवनराम थे जिन्होंने स्वामीजी को मुम्बई बुलाया था और उनके निवास तथा व्याख्यानों का प्रबन्ध कराया था। वह घोर अद्वैतवादी थे। जब उन्होंने देखा कि स्वामीजी न केवल वैष्णव मत का ही खण्डन करते हैं वरन् वह अद्वैतवाद को भी अवैदिक समझते हैं और उस पर तीव्र आक्रमण करते हैं, तो वह स्वामीजी से रुष्ट हो गये और उनके विरुद्ध आचरण करने लगे। उनका पक्ष लेकर भाई शङ्कर नाना भाई समाचार पत्रों में स्वामीजी के विरुद्ध लिखने लगे और स्वामीजी का पक्ष लेकर गिरिधारीलाल दयालदास कोठारी *'बाम्बे गजट'* और *'टाइम्स ऑफ इंडिया'* में उनके लेखों का उत्तर देने लगे।

**सर टी० माधवराव से वार्तालाप** – एक दिन बड़ोदे के सर टी० माधवराव और नायाब दीवान मिस्टर जनार्दन कीर्त्तनीय स्वामीजी से मिलने आये थे। दीवान साहब उनसे धर्म विषय पर बातचीत कर रहे थे। दीवान साहब के किसी कथन पर स्वामीजी ने उनसे कहा था कि दीवान साहब आप इस विषय में कुछ कम समझते हैं।

**दो भिन्न मत रखने वाले एकत्र** – पण्डित कृष्णराम इच्छाराम स्वामीजी की गुणगाथा सुनकर ही मुग्ध हो गये थे और उनके दर्शनों के बड़े उत्सुक थे। जब स्वामीजी मुम्बई पधारे तो वह उनसे भेंट करने आए, पण्डितजी उस समय घोर अद्वैतवादी और स्वामीजी अद्वैतवाद के घोरतर शत्रु थे। यद्यपि वह स्वामीजी के पाण्डित्य और महत्व से मुग्ध हो गये थे, परन्तु अद्वैतवाद में उनके विचारों में परिवर्तन नहीं हुआ था। वह अपने मन में कहते थे कि क्या दयानन्द शङ्कराचार्य और योगवासिष्ठ के कर्त्ता से भी बड़े हैं? स्वामीजी ने उन्हें अपने कार्य की सहायता के लिए नियुक्त किया, परन्तु उन्होंने कहा कि मैं नौकर के भाव से नहीं रहूँगा, प्रत्युत सहकारी भाव से रहूँगा। स्वामीजी ने उनकी इस बात से प्रसन्न होकर उन्हें रख लिया। स्वामीजी ने अद्वैतवाद के खण्डन में *'वेदान्तध्वान्त निवारण'* पुस्तक रची और आश्चर्य है कि उसे पण्डितजी से ही लिखवाया। स्वामीजी ने उस पुस्तक को दो ही दिन में समाप्त करा दिया।

**वेदभाष्य का नमूना** – इसके पीछे ही स्वामीजी ने ऋग्वेद के पहले सूक्त का भाष्य जिसमें गुजराती और मराठी भाषा में अनुवाद भी था, वेदभाष्य के नमूने के तौर पर प्रकाशित किया जिसमें ऋग्वेद के पहले मन्त्र *'अग्निमीळे पुरोहितम्०'* आदि के दो अर्थ किए थे, एक भौतिक और दूसरा पारमार्थिक। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था कि मैं सारे वेदों का इसी शैली पर भाष्य करूँगा यदि किसी को इस पर आपत्ति हो तो पहले से ही सूचित कर दे ताकि मैं उसका खण्डन करके ही भाष्य करूँ।

**नमूना विद्वानों के पास भेजा गया** – यह नमूना स्वामीजी ने काशी के पण्डित बालशास्त्री, स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती प्रभृति तथा कलकत्ता और अन्य स्थानों के पण्डितों के पास भी भेजा था, परन्तु किसी ने भी उसकी समालोचना नहीं की, न उस पर कोई आपत्ति ही उठाई।[४९९]

**घातक कमरे में घुस आये** – वल्लभ-सम्प्रदाय वालों में एक बार और स्वामीजी के वध का यत्न किया था। उन्होंने इस कार्य पर दो गुण्डों को नियत किया था। एक दिन वे सुयोग पाकर स्वामीजी के कमरे में रात्रि के समय घुस आये। सेठ सेवकलाल कर्शनदास उस समय स्वामीजी के पास बैठे थे। उन्होंने घातकों को कमरे में घुसते हुए देख लिया और उन्हें पकड़ लिया। धमकाने पर उन गुण्डों ने स्वीकार किया कि स्वामीजी के वध करनेके लिए उन्हें दो सौ रुपये मिले थे।

**खाकी बलदेव का उद्धार** – बलदेवसिंह पाचक जो प्रयाग से स्वामीजी के साथ आया था, कुछ दिन के पश्चात् स्वामीजी के पास से चला गया था। उन दिनों बालेकश्वर में एक दूसरा बलदेवसिंह रहा करता था जो कान्यकुब्ज ब्राह्मण होकर ब्रह्मचारी और खाकी बाबा के नाम से प्रसिद्ध था। उसके सिर पर जटा जूट थे और देह पर भस्मी रमाये बालकेश्वर में स्वामीजी के मार्ग में पड़ा रहता था। स्वामीजी ने उसे समझाया और उपदेश दिया तो उसने अपने जटा-जूट मुँडवा दिये और स्वामीजी की दया और प्रेम की दृष्टि से आकृष्ट होकर उनकी सेवा में रहने लगा। वह शरीर से हृष्ट-पुष्ट और तेजस्वी था।

---

४९९- वेदभाष्य के इस नमूने को स्वामीजी ने मिस्टर गाउस कलेक्टर बुलन्दशहर व ग्रिफिथ साहब के पास भी सम्मत्यर्थ भेजा था परन्तु उन्होंने उस पर अपनी विरुद्ध सम्मति दी थी।

**जीवनजी का शिष्य अनुगत** – मथुरापन्थ एक भाटिया थे और गोकुलिये गोसाईं जीवनजी के चेले थे। उन्होंने स्वामीजी के उपदेशों से प्रभावित होकर वल्लभ सम्प्रदाय को त्याग दिया था और अपनी कण्ठी तोड़ डाली थी। उसने अपने कितने ही साथी बना लिए थे।

**ख्याति समुद्र को पार कर गई** – स्वामीजी की अपूर्व विद्वत्ता की ख्याति भारतवर्ष की सीमा को लाँघकर यूरोप में भी पहुँच गई थी। जुलाई सन् १८७५ ई० में एक व्यक्ति ने लेप्जिङ्ग से 'लेप्जिङ्ग' का एक ब्राह्मण के नाम से कलकत्ता के समाचार पत्र 'नेशनल' पेपर में लिखा था कि "कि पण्डित दयानन्द सरीखा मनुष्य ही यूरोप के लोगों में यह विचार उत्पन्न कर सकता है कि हमारी भूमि की नैसर्गिक शक्तियाँ बिना किसी यूरोपियन प्रभाव के कैसे विस्तृत तार्किक बुद्धि और गम्भीर विद्वत्ता रखने वाले पुरुषों को उत्पन्न कर सकती है।"

मुम्बई में से सेवकलाल कर्शनदास, रामदास छबीलदास प्रभृति स्वामीजी से दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया करते थे। मिस्टर रामदास छबीलदास ने एक पत्र में स्वर्गीय देवेन्द्रबाबू को लिखा था कि मैं स्वामीजी के प्रति कितनी ही बातों के लिए आभारी हूँ। मैंने उनसे वैशेषिकसूत्र और पूर्वमीमांसा का कुछ भाग पढ़ा था।

स्वामीजी कहा करते थे कि भारत का बहुत सा धन विलायत में जाता है, परन्तु यह बन्दूक की गोली के समान कार्य करेगा, क्योंकि जितना धन जायेगा, अँग्रेज उतने ही आलसी और भोगी (विलासप्रिय) होकर अपदस्थ होंगे।

वे यह भी कहा करते थे कि ब्राह्मण-क्षत्रियों को ही संस्कृत करके सच्चे ब्राह्मण और क्षत्रिय बनाना चाहिए। किसी यूरोपियन को ब्राह्मण, क्षत्रिय बनाने की आवश्यकता नहीं है।

स्वामीजी ब्राह्मणों की प्रशंसा भी किया करते थे और कहा करते थे कि यदि ब्राह्मण वेदों को कण्ठस्थ करके सुरक्षित न रखते तो वेद कहाँ रहते?

अनेक अँग्रेज राजकर्मचारी स्वामीजी से मिलने और उनका व्याख्यान सुनने आया करते थे और उनकी प्रशंसा करते थे। स्वामीजी भी अँग्रेजी राज्य की बहुत प्रशंसा किया करते थे। इसी कारण बहुत से लोग उन्हें अंग्रेजों का गुप्तचर तक कह दिया करते थे।

स्वामीजी ने बम्बई निवास के दिनों में ही नवम्बर सन् १८७४ में वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के खण्डन में '*वल्लभाचार्य मत खण्डन*' नामक एक ट्रैक्ट रचा था जो पहली बार निर्णयसागर प्रेस मुम्बई में छपा था।

**पं० गट्टूलाल का परिचय** –पण्डित गट्टूलाल एक आँख से काणे थे और दूसरी आँख से भी उन्हें दिखाई देना बन्द हो गया था। उनकी प्रतिमा और स्मरणशक्ति असाधारण थी। वह चक्षुहीन होते हुए भी केवल अपनी स्मरणशक्ति के बल पर ही शतरञ्ज खेल सकते थे और विरले ही मनुष्य ऐसे निकलते थे जो उन्हें इस खेल में पराजित कर सकें। वह शतावधानी कहलाते थे। वह सौ वस्तुओं वा विषयों का अवधानपूर्वक यथाक्रम विचार करने वा उत्तर देने का सामर्थ्य रखते थे। यदि सौ बातें भी चाहे जिस भाषा में कही जाती थीं तो वे उन्हें यथाक्रम दोहरा देते थे। अनेक स्थानों में उन्होंने अपनी इस असामान्य मेधाशक्ति का प्रमाण दिया था। शतावधानी की उपाधि उनकी अलौकिक प्रतिभा और विद्या पर मोहित होकर ही काशी के पण्डितों ने उन्हें प्रदान की थी। वह सौ श्लोकों को केवल एक बार सुनकर ही यथाक्रम बिना एक भी अशुद्धि के दोहरा सकते थे। यद्यपि वह गोसोईं कुलोत्पन्न न थे परन्तु उनके उपर्युक्त गुणों के कारण महाराजाओं में उनका बड़ा मान था। वह १०-१२ वर्ष की आयु से ही संस्कृत में कविता करने लगे थे।

**स्वामीजी से शास्त्रार्थ न करने का कारण** - यह सब कुछ होते हुए भी वह स्वामीजी के सामने आकर शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते थे और इसका कारण वह यह बतलाते थे कि उनके पास कोई ऐसा आशुलेखक विद्वान् नहीं था जो उभय पक्ष के कथन को ठीक-ठीक अक्षरशः लिपिबद्ध कर सके।

**स्वामीजी की प्रतिज्ञा** - स्वामीजी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि कोई यह सिद्ध कर देगा कि मूर्त्तिपूजा वेद प्रतिपादित है तो मैं संन्यास छोड़कर उसका अनुसरण करूँगा और तिलक, त्रिपुण्ड्र आदि धारणा कर लूँगा, परन्तु उसे भी यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि यदि वह वेद से मूर्त्तिपूजा का समर्थन न कर सकेगा तो वह अपने देव-मन्दिरों से मूर्त्तियाँ उठा देगा और मन्दिर में वैदिक पाठशाला स्थापित कर देगा। इस दुर्जेय प्रतिज्ञा को सुनकर लोग स्तम्भित हो गये और उन्होंने जब यह बात पण्डित गट्टूलाल से जाकर कही और स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए उनसे अनुरोध किया तो उन्होंने उत्तर दिया कि इसमें तो कोई क्षति नहीं है कि मैं दयानन्द से पराजित हो जाऊँ, परन्तु मेरे पराजय के साथ यदि देव मूर्त्तियों को भी मन्दिर-च्युत होना पड़े तो इसका उत्तरदायी कौन होगा?

**गट्टूलाल के आक्षेप पर प्रतिज्ञा में परिवर्तन**- जब लोगों ने लौटकर यह बात स्वामीजी से कही तो उन्होंने कहा कि मूर्त्ति-निरसन की प्रतिज्ञा हम छोड़ देते हैं, इसकी कोई चिन्ता नहीं परन्तु पण्डित गट्टूलाल हमारे पास आकर मूर्त्तिपूजा को सिद्ध तो करें। पण्डित गट्टूलाल इस पर भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत नहीं हुए।

**दयानन्द-कण्टक को दूर करने के लिए सभा**- स्वामीजी से पण्डित गट्टूलाल का शास्त्रार्थ होगा यह जनरव होता ही रहा, यद्यपि पण्डित गट्टूलाल स्वामीजी की उपर्युक्त प्रतिज्ञा के उत्तर में शास्त्रार्थ करने को नकार चुके थे। बात यह थी कि नकार करने पर भी पण्डित गट्टूलाल यह यत्न अवश्य कर रहे थे कि दयानन्द कण्टक को किस प्रकार दूर किया जावे। इसी अभिप्राय से उन्होंने गोसाई जीवनजी के मन्दिर में एक सभा की। उसमें जीवनजी ने पण्डित गट्टूलाल से कहा कि दयानन्द के व्याख्यानादि से वैष्णव धर्म का बड़ा अनिष्ट हो रहा है, बहुत से लोगों ने उसे छोड़ दिया है और मथुरापन्थ ने भी अनेक मनुष्यों को उससे विमुख कर दिया है, यदि आत्मरक्षा का उपाय न किया गया तो वैष्णव धर्म संसार से उठ जायेगा। इस सभा में यह निश्चय हुआ कि लाल बाग में पण्डित गट्टूलाल का दयानन्द के सिद्धान्तों के खण्डन में एक व्याख्यान कराया जावे और दयानन्द को भी शास्त्रार्थ के लिए उसमें बुलाया जाए।

**दूसरी सभा**- स्वामीजी से गट्टूलाल का शास्त्रार्थ कराया जावे वा नहीं, यह परामर्श करने के लिये एक प्राइवेट मीटिंग सेठ ब्रजभूषण के गृह पर भी हुई थी, जिसकी सूचना एक लेखक ने नारदमुनि के उपनाम से २ दिसम्बर सन् १८७४ ई० के '*मुम्बई समाचार*' में छपवाई थी। उसमें भी यह निर्धारित हुआ था कि स्वामीजी से पण्डित गट्टूलाल का शास्त्रार्थ कराया जावे।

इधर स्वामीजी के पक्षवालों की भी गोशाला में प्राइवेट मीटिंग हुई।

**शास्त्रार्थ की शर्तों का विज्ञापन**- अमान्त कार्त्तिक कृष्ण १ संवत् १९३१ वि० (२४ नवम्बर, १८७४ ई०) को पण्डित गट्टूलालजी के पक्ष की ओर से 'आर्यजनहितेच्छु' के नाम से एक विज्ञापन दिया गया कि यदि कोई सज्जन सभा का प्रबन्ध कर दें और उस सभा में गोलमाल भी न होने पावे और बिना पक्षपात के कार्य हो तो पण्डित गट्टूलालजी स्वामी दयानन्द के साथ शास्त्रार्थ करके इस बात की मीमांसा कर सकते हैं कि कौन विषय सत्य और धर्म-सङ्गत है।

**विज्ञापन का उत्तर** - स्वामीजी के पक्ष की ओर से उक्त विज्ञापन के उत्तर में अमान्त कार्त्तिक कृष्ण ५ संवत् १९३१ वि० (२८ नवम्बर, १८७४ ई०) को किशन बाबा के नाम से एक विज्ञापन दिया गया, जिसमें कहा गया कि जब तक कुछ महाराजा लोग अपने नाम से सभा नहीं बुलाते और प्रकट रूप से यह विश्वास नहीं दिलाते कि उक्त सभा

सज्जनों की सभा होगी और उसमें कोई गोलमाल नहीं होगा और विज्ञापन में स्पष्ट रूप से यह नहीं लिखा जाता कि किस विषय पर विचार होगा तब तक स्वामीजी किसी सभा में जाकर शास्त्रार्थ करने पर उद्यत नहीं होंगे।

किशन बाबा एक सदाशय संन्यासी थे। वह स्वयं कुश्ती लड़ा करते थे और दूसरों को कुश्ती लड़ना सिखाते थे। वह साधारणत: सब ही सार्वजनिक हित के कार्यों में भाग लेने पर उद्यत रहते थे। जहाँ कोई गोलमाल होता था, वहाँ वह सार्वजनिक हितार्थ कार्य करने वालों का पक्ष लेने और रक्षा करने के लिए उपस्थित रहते थे। लोग उन्हें दादा कहा करते थे। उन्होंने मूलेश्वर में एक पब्लिक लाइब्रेरी भी स्थापित की थी।

**प्रत्युत्तर** – इस विज्ञापन के उत्तर में ३० नवम्बर, १८७४ ई० तदनुसार अमान्त कार्त्तिक कृष्ण ७ संवत् १९३१ वि० को गोविन्द बालकृष्ण, लालजी मुरारजी, दामोदर माधवजी, नागरदास, परमानन्द दास हीरालाल मोहनलाल के नाम से एक विज्ञापन निकाला गया, जो इस प्रकार था :-

### दयानन्द सरस्वती स्वामी का निमन्त्रण अर्थात् दयानन्द सरस्वती स्वामी प्रति-निमन्त्रण

''आपने संवत् १९३१ कार्त्तिक कृष्णा पञ्चमी को विज्ञापन प्रकाशित किया था कि 'आर्यलोग सत्यभाव से प्रेरित होकर बिना पक्षपात के आर्यधर्म की आलोचना करें, यह हमारी इच्छा है। इस विषय की आलोचना के लिए हम प्रतिदिन सभा का अधिवेशन करने के इच्छुक हैं। बहुत शताब्दियों से आर्यलोग जिस भ्रम-जाल में पड़े हैं, उससे उन्हें निकालने के लिए ही ऐसी सभा करके आर्य-साधारण को उत्तेजित करना हमें वाच्छनीय है।'

२८ नवम्बर के '*आर्यमित्र*' में आप के २५ नवम्बर के व्याख्यान का सारांश छपा है, जो आपने फ्रामजी काऊजी हॉल में दिया था। उसे पढ़ने से मालूम हुआ कि आप के व्याख्यान की समाप्ति पर एक मारवाड़ी ब्राह्मण ने उसके सम्बन्ध में कुछ कहने का यत्न किया था। उसे देखकर आपने कहा था कि यदि कुछ वाद-प्रतिवाद करने की इच्छा हो तो उसके लिये एक अलग दिन निर्धारित कीजिये, मैं उस दिन निश्चय उपस्थित होऊँगा। इसलिए निम्नलिखित पुरुष जिनके हस्ताक्षर हैं, आप से शास्त्रार्थ करने के अभिप्राय से एक सभा करने के इच्छुक हैं। इसके अनुसार आगामी कार्त्तिक कृष्णा द्वादशी शनिवार, ५ दिसम्बर , १८७४ ई० सायङ्काल के चार बजे से आठ बजे तक लाल बाग में सभा का अधिवेशन होगा। इस सभा में आर्यधर्म विषयक वाद-प्रतिवाद होगा। इस सभा में उपस्थित होने के लिये आपको प्रकाश्य भाव से निमन्त्रण दिया जाता है और इसके साथ ही आपके पक्ष के आर्य विद्वान् और आर्य सद्गृहस्थों के साथ सभा में उपस्थित होने के लिये ५० टिकट भेजे जाते हैं। इस सभा में शान्ति रखने के लिये, पुलिस का बन्दोबस्त किया गया है। आप विज्ञापनादि द्वारा जिस विषय का प्रचार करते हैं, यदि आप सभा में उपस्थित होकर उस विषय का प्रतिपादन कर सकेंगे तो आपके मत के सत्यासत्य को जनसाधारण समझ लेंगे।''

**सभा की तिथि का रहस्य**- इस सभा को ५ दिसम्बर को रखने में भी एक रहस्य था। बात यह थी कि स्वामीजी ने २८ नवम्बर के व्याख्यान में यह घोषाणा कर दी थी कि ५ दिसम्बर को फ्रामजी काऊसी हॉल में हमारा एक और व्याख्यान होगा। विज्ञापनदाताओं को यह बात मालूम थी। उन्होंने सोचा था कि उस तारीख को स्वामीजी कदापि अपना व्याख्यान छोड़कर हमारी सभा में न आवेंगे और हम यह बात फैला देंगे कि स्वामीजी के लिये सभा करने और उसमें उन्हें निमन्त्रित करने पर भी वह सभा में नहीं आये और हमारा कार्य सिद्ध हो जाएगा।

**स्वामीजी का शास्त्रार्थ के लिये प्रयत्न**- स्वामीजी को यह विज्ञापन ३ दिसम्बर को ही मिल गया था। इसे पढ़कर उन्होंने गोवर्धनदास मूलजी से कहा कि मथुरादास लौजी मेरे भी मित्र हैं और पण्डित गट्टूलाल के भी, अतएव आप उनसे जाकर शास्त्रार्थ सम्बन्धी यह बातें कहिये और फिर आप और वह मिलकर पण्डित गट्टूलालजी के पास जाइये और विनयपूर्वक कहिये कि दयानन्द आप से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत है। गोवर्धनदास ने ऐसा ही किया।

वह, मथुरादास लौजी और पन्नाचन्द आनन्दजी ४ दिसम्बर को प्रात:काल के दस बजे पण्डित गट्टूलालजी के पास गये। पण्डित गट्टूलाल उस समय अपने पिता घनश्यामजी के पास बैठे हुए थे।

**स्वामीजी के संदेशहरों का पं० गट्टूलाल से निवेदन**- इन लोगों ने पण्डितजी से कहा कि आप मुम्बई में वल्लभ-सम्प्रदाय में सब से प्रबल और प्रधान हैं और इस सम्प्रदाय के मुख्य पण्डित कहलाते हैं, इसलिये दयानन्द का आपसे शास्त्रार्थ करना वाञ्छनीय है। आपको यह प्रतिपादित करना होगा कि वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्त शाास्त्रसिद्ध हैं और वल्लभाचार्य के वंश के लोग ही गुरुपद के योग्य हैं। दयानन्द का पक्ष यहा होगा कि जैसे वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्त शाास्त्रसिद्ध नहीं है, वैसे ही वल्लभाचार्य के वंशीयगण भी गुरु माने जाने के योग्य नहीं हैं। इस विचार्य विषय के नीचे आपके और दयानन्द के हस्ताक्षर होंगे और उनकी एक-एक प्रति उभयपक्ष के पास रहेगी। सभा में षट्शास्त्रवेत्ता पण्डित उपस्थित रहेंगे। ५० शिक्षित भद्र पुरुष आपकी ओर से और ५० दयानन्द की ओर से उपस्थित होंगे। प्रत्येक पक्ष की ओर से नियत पुरुष सभा के समस्त कार्य-विवरण को लिखते रहेंगे। सभा प्रति दिन दो घण्टे हुआ करेगी। सभा विसर्जन होने पर उस दिन के लिखित कार्य विवरण पर उभय पक्ष के हस्ताक्षर होंगे और सभास्थ-पण्डितों के और मध्यस्थों के भी साक्षीरूप से हस्ताक्षर हुआ करेंगे। जो पक्ष कोई शास्त्र-वचन प्रमाण से प्रस्तुत करेगा उसे तत्क्षण वह वचन शास्त्र में दिखाना होगा और उसका पता लेखकगण लिख लेंगे। जो पक्ष किसी प्रमाण को शास्त्र में न दिखा सकेगा तो ग्राह्य न होगा। जब तक एक पक्ष का वक्तव्य पूरा न होगा तब तक दूसरा पक्ष बोलने न पावेगा। जितने दिन तक शास्त्रार्थ-विषय का विवेचन समाप्त न होगा उतने दिन तक सभा का कार्य चलता रहेगा। जब सभा का कार्य समाप्त हो जायेगा तब कार्य-विवरण पर उभयपक्ष और मध्यस्थों के हस्ताक्षर होंगे और उसे छपवाकर जन साधारण में बाँट दिया जाएगा। सभा का समस्त कार्य आद्योपान्त शिष्टता और मानमर्यादा के साथ सम्पन्न करना होगा।

**शास्त्रार्थ से पण्डित गट्टूलाल की असम्मति**- यह बातें सुनकर पण्डित गट्टूलाल तथा उनके पिता ने शास्त्रार्थ करने से असम्मति प्रकट की। पण्डित गट्टूलाल ने कहा कि यदि शास्त्रार्थ में हमारी जय हुई तो अच्छा ही है, परन्तु यदि पराजय हुआ तो सारा दायित्व हमारे ही कन्धों पर आकर पड़ेगा, अतएव महाराजाओं की सम्मति के बिना हम ऐसे नियमों के अनुसार शास्त्रार्थ करने पर उद्यत नहीं हैं और महाराजा लोग भी इस प्रकार के शास्त्रार्थ की अनुमति नहीं देंगे।

जब प्रशंसित सज्जनों ने यह संवाद स्वामीजी से कहा तो उन्हें अगत्या पण्डित गट्टूलाल से शास्त्रार्थ करने का अपना सङ्कल्प छोड़ना पड़ा।

**पण्डित गट्टूलाल की सभा**- ५ दिसम्बर को इधर तो लालबाग में पण्डित गट्टूलाल जी की सभा हुई और उधर फ्रामजी काऊसजी हॉल में स्वामीजी का व्याख्यान हुआ।

**स्वामीजी सभा में क्यों नहीं गये?** - पण्डित गट्टूलाल की सभा में स्वामीजी जा ही नहीं सकते थे, क्योंकि उसी तारीख को और उसी समय उनका व्याख्यान होना था। दूसरा कारण उनके न जाने का यह भी था कि वल्लभाचारियों ने उनको अपमानित करने का सङ्कल्प कर लिया था और यह बात उन्हें मालूम हो गई थी। मुम्बई के शिक्षित समुदाय की भी यही सम्मति थी कि उन्हें उक्त सभा में नहीं जाना चाहिए।

*'मुम्बई गजट'* ने अपने तारीख ४ दिसम्बर सन् १८७४ के अङ्क में लिखा था-

''हमें ज्ञात हुआ है कि हिन्दू समाज के प्रभावशाली सदस्यों ने यह प्रबन्ध किया है कि शनिवार को एक पब्लिक मीटिंग की जाय और उसमें स्वामी दयानन्द को बुलाया जाए और उनसे अपने सिद्धान्तों पर पण्डित

गट्टूलालजी से अथवा अन्य २०० पण्डितों में से किसी एक से, जो उन पर आक्रमण करना चाहे, शास्त्रार्थ करने को कहा जाए। मूर्त्तिपूजा की शास्त्रानुकूलता में जिनका विश्‍वास है, उनमें से जो अधिक उत्तेजनापूर्ण स्वभाव के हैं, उनका विचार है कि यदि स्वामी दयानन्द अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने के इस पब्लिक चैलेंज को स्वीकार न करेंगे तो वह अवश्य भीरु, पाखण्डी और अनेक भयावह गुणों से सम्पन्न हैं। परन्तु हम नहीं कह सकते कि स्वामीजी ऐसी सभा में जाना स्वीकार करेंगे भी जहाँ यह अधिक सम्भावना है कि एक पक्ष की ओर से उस मनुष्य के प्रतिकूल जिसने उसके प्राचीनतम और अत्यन्त प्रतिष्ठास्पद परम्परा (मूर्त्तिपूजा) पर आक्रमण करने का साहस किया है, हुल्लड़ मचाया जाएगा। स्वामीजी अपने वैदिक सिद्धान्तों को चुपचाप ढङ्ग से अथवा पुस्तकों द्वारा उतनी ही कृतकार्यता के साथ सिद्ध कर सकते हैं, जितनी कृतकार्यता के साथ ऐसी सभा में जाकर कर सकते हैं, जिसमें पुलिस से आने की प्रार्थना की गई है।

इसलिए ऐसी पब्लिक मीटिंग जिसमें उनके पक्ष के लोग बहुत ही न्यून होंगे और उनके विरोधी बहुत अधिक, वह विरोधी जिनके प्रियतम परम्परागत विचारों पर उन्होंने प्रहार किया है, उन अत्यावश्यक समस्याओं को सुलझाने का सर्वोत्तम उपाय नहीं है, जो उन्होंने उत्पन्न की हैं।

**सभा का विवरण**– पण्डित गट्टूलाल सभा में पधारे। सभापति का आसन एक भाटिया सेठ ठाकुर इन्द्रजी नारायणी ने ग्रहण किया। कुछ देर तक स्वामीजी के आने की प्रतीक्षा की गई। जब वह नहीं आये तो हीरालाल मोहनलाल नामक एक व्यक्ति ने खड़े होकर उच्चस्वर से कहा –"स्वामी दयानन्द अब कहाँ है? उन्हीं के लिए यह सभा बुलाई गई है। अब वे आकर अपने पक्ष का समर्थन करें। यत: वे सभास्थल में नहीं आये हैं, अत: उन्हें प्रतारक के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।"

**पं० गट्टूलाल का व्याख्यान**– स्वामीजी की प्रतीक्षा करने के पश्चात् पण्डित गट्टूलाल ने अपना व्याख्यान आरम्भ किया। व्याख्यान में मूर्त्तिपूजा के समर्थन में षड्विंश ब्राह्मण का *'प्रतिमा हसन्ति रुदन्ति'* इत्यादि प्रमाण दिया, पुष्टिमार्ग के मण्डन में एक भी प्रमाण न दिया। केवल इतना ही कहा कि वेद और शास्त्र सब ही इसका समर्थन करते हैं। यह भी कहा कि पुराण और इतिहास भी प्रमाणिक हैं।

राजकृष्ण महाराज भी कई साथियों को लेकर सभा में गये थे। उनसे पण्डित गट्टूलालजी का कुछ वादविवाद हुआ था।

पण्डित गट्टूलाल ने व्याख्यान में यजुर्वेद के आठवें अध्याय का एक मन्त्र उद्धृत करके कहा था कि इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द आया है, इससे स्पष्ट है कि वैदिक समय में मूर्त्तियाँ थीं। उन्होंने यह भी कहा था कि देवता ईश्‍वर के ही अङ्ग हैं। अत: दयानन्द का यह कथन कि वेद मूर्त्तिपूजा का समर्थन नहीं करते ठीक नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र में यह कहा गया है कि 'हे अग्ने! तेरी सहस्र प्रतिमाएँ हैं और हम तुझसे प्रार्थना करते हैं', इत्यादि।

**प्रतिमा शब्द का अर्थ** – जनार्दनगोपाल ने इस पर पण्डित गट्टूलाल से कहा कि प्रतिमा शब्द के अर्थों को देवमूर्त्ति के अर्थ में ही सीमित करने के लिए क्या युक्ति है क्योंकि प्रतिमा शब्द के यौगिक अर्थ किसी भौतिक पदार्थ की प्रतिकृति वा चित्र के हैं? इसका पण्डित गट्टूलाल से कोई उत्तर न बन सका और वह चुपचाप हो गये।

**पं० गट्टूलाल के शिष्य का प्रश्‍न, गुरु निरुत्तर**– स्वयं पण्डित गट्टूलालजी के शिष्य कालिदास पण्डित ने उनसे प्रश्‍न किया कि महाराज! लालजी (माखननिर्मित बाल गोपाल) की मूर्त्ति वेद में कहाँ है? पण्डित गट्टूलाल इस प्रश्‍न का उत्तर कहाँ से देते, कहीं वेद में मूर्त्ति का उल्लेख होता तो कुछ कहते। अत: उन्हें निरुत्तर होना पड़ा। उनके

साथियों ने पण्डित गट्टूलालजी को साधारण कोटि के विद्वानों के सामने निरुत्तर होता देखकर कोलाहल करना आरम्भ कर दिया और सभा विसर्जित हो गई।

५ दिसम्बर को ही जिस दिन यह सभा हुई, भगवानलाल इन्द्रजीत ने एक विज्ञापन दिया था कि समझ में नहीं आता कि इस सभा का क्या प्रयोजन है, यदि स्वामी दयानन्द सभा में न आवें तो पण्डित गट्टूलाल ही स्वयं उनके पास जाकर शास्त्रार्थ क्यों न कर लें।

स्पष्ट ही है कि वास्तव में इस सभा के करने से सत्यासत्य के निर्णय का उद्देश्य न था। अन्यथा जिन नियमों के अनुसार स्वामीजी शास्त्रार्थ करना चाहते थे और जिनके विषय में उन्हें मथुरादास लौजी और गोवर्धनदास मूलजी ने ४ दिसम्बर को अर्थात् इस सभा के होने से एक दिन पूर्व ही सूचित कर दिया था उन्हें स्वीकार करके शास्त्रार्थ कर लेते। पर वहाँ तो उद्देश्य ही कुछ और था। वहाँ तो यही अभीष्ट था कि शास्त्रार्थ भी न करना पड़े और तो विजय पताका भी फहराने का अवसर मिल जाए, परन्तु दौर्भाग्य से वल्लभाचारियों की यह अभीष्ट-सिद्धि न हुई। स्वामीजी के इस सभा में न आने से किसी को भी यह विश्वास न आया कि स्वामीजी पण्डित गट्टूलाल से शास्त्रार्थ नहीं कर सकते थे और इसी भय से वह सभा में न आये थे। यद्यपि स्वामीजी इस सभा में नहीं आए परन्तु फिर भी पण्डित गट्टूलालजी का पराजय ही हुआ, क्योंकि वे न जनार्दनगोपाल सालिसिटर के प्रश्न का ही उत्तर दे सके और न अपने ही शिष्य कालिदास पण्डित के प्रश्न का। इस प्रकार इस सभा और पण्डित गट्टूलाल के भाषण का यही प्रभाव हुआ कि लोगों को यह विश्वास हो गया कि वास्तव में मूर्त्तिपूजा वेद-मूलक नहीं है।

इसके पश्चात् स्वामीजी ने सूरत आदि स्थानों में गुजरात, काठियावाड़-निवासियों के सन्मार्ग दर्शनार्थ भ्रमण करने का विचार किया।

**विरोधियों की कुटिलता**- जब स्वामीजी मुम्बई से चलने लगे तो विपक्षियों को फिर यह सूझी कि वे तो अब जा ही रहे हैं, रुकेंगे तो हैं नहीं, चलो इतना तो कह ही दें कि वे शास्त्रार्थ के भय के कारण ही मुम्बई से पलायन कर रहे हैं। अतः उन्होंने ऐसा ही किया और ऐसे ही शब्दों का उल्लेख करके उन्होंने एक विज्ञापन वितरित किया। इसके उत्तर में गिरधारीलाल प्रभृति ने एक दूसरा विज्ञापन दे दिया कि आप लोग मध्यस्थों को नियत करने का पक्का प्रबन्ध करें हम स्वामीजी को वापस बुलाकर शाास्त्रार्थ करा देंगे, परन्तु वहाँ ऐसा कौन करता, क्योंकि यह तो उनका एक कथन मात्र था, कार्य करना तो था ही नहीं, इसलिए मध्यस्थ नियत करने से ही इन्कार कर दिया।

## सूरत (१८७४ ई०)

स्वामीजी की इच्छा हुई कि गुजरात के अन्य नगरों तथा काठियावाड़ में भी धर्मप्रचारार्थ यात्रा करें अतः उन्होंने सूरत जाने का विचार किया। पण्डित कृष्णराम इच्छाराम से उन्होंने कहा कि वहाँ उनके ठहरने का प्रबन्ध करा दें। पण्डितजी ने अपने कविता-गुरु पण्डित नर्मदाशङ्कर को पत्र लिखा, जिसके उत्तर में कविजी ने स्वामीजी के ठहरने का प्रबन्ध करना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और एक पत्र स्वामीजी को भी लिखा जिसमें अनुनय पुरस्सर उनसे सूरत पधारने की प्रार्थना की। इसके अतिरिक्त स्वामीजी ने मुम्बई के किसी प्रतिष्ठित पुरुष से भी सूरत के डिप्टी कलेक्टर राव बहादुर जगजीवनदास के नाम एक परिचय-पत्र लिया और बलदेवसिंह को अपने जाने से पूर्व ही सूरत भेज दिया कि वहाँ जाकर उनके निवास स्थान का प्रबन्ध करें। स्वामीजी को सबसे अधिक अपने निवास स्थान की चिन्ता रहती थी। स्थान का न केवल रमणीय, एकान्त और बस्ती से बाहर होना आवश्यक था, प्रत्युत वह ऐसा भी होना चाहिए था, जहाँ स्त्रियों का आना जाना न होता हो।

**स्वागत के लिए कोई न आया**– स्वामीजी १ दिसम्बर, १८७४ ई० तदनुसार अमान्त कार्तिक कृष्णा ८ संवत् १९३१ वि० (मङ्गलवार) को ही सूरत के लिए प्रस्थित हो गये। जब वह सूरत पहुँचे तो उन्होंने देखा कि रेल्वे स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए कोई भी उपस्थित न था। थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के पश्चात् राव बहादुर जगजीवनजी की गाड़ी आई। स्वामीजी और पण्डित कृष्णराम इच्छाराम उसमें सवार होकर राव बहादुर के बाग में चले गये। यही स्थान उनके ठहरने के लिए नियत किया गया था। स्वामीजी तो बाग में ठहर गये परन्तु पं० कृष्णराम इच्छाराम पं० नर्मदाशङ्कर के घर चले गये। पण्डितजी ने अपने गुरु को उपालम्भ दिया कि स्टेशन पर एक व्यक्ति भी स्वामीजी के स्वागत के लिए नहीं पहुँचा। उनके गुरुजी ने कहा कि इसमें हमारी भूल हो गई। तत्पश्चात् गुरु और शिष्य दोनों स्वामीजी की सेवा में पहुँचे।

**स्थान–परिवर्तन** – स्वामीजी ने उनसे जगजीवनजी के बाग में ठहरने की अनिच्छा प्रकट की क्योंकि वह स्थान नदी के तट पर था और नदी पर स्नानादि के लिए स्त्रियाँ आती थीं, जिनका कोलाहल उनके कानों तक पहुँचता था। इस पर पण्डित कृष्णराम इच्छाराम ने उनके ठहरने का सेठ नगीनदास के सौदागर प्रेस वाले बँगले में प्रबन्ध कर दिया जो कातार ग्राम के मार्ग पर था। सूरत–वास के शेष दिनों में स्वामीजी इसी बँगले में ठहरे रहे।

**आहारादि का प्रबन्ध न हुआ**– सूरत में स्वामीजी के ठहरने का प्रबन्ध तो समुचित रीति से हो गया परन्तु उनके आहारादि का उचित प्रबन्ध किसी ने न किया। सम्भव है सूरत वालों ने यह सोचा हो कि मुम्बई के बड़े–बड़े सेठ उनके भक्त हैं और राजे महाराजे उनके सेवक हैं उन्हें कमी किस बात की है! इधर जो रुपया उनके पास था वह दो चार दिन में ही समाप्त हो गया और जो २–४ रुपये पं० कृष्णराम इच्छाराम के पास थे वे भी व्यय हो गये।

**खिचड़ी पर ही निर्वाह**– वे बाजार से खिचड़ी लाकर स्वामीजी को खिलाते रहे। परन्तु स्वामीजी ने अपने किसी भाव–भङ्गी से अर्थ कष्ट की बात किसी भी दर्शक पर प्रकट न की। परन्तु जब द्रव्य का सर्वथा अभाव हो गया तो पण्डित कृष्णराम इच्छाराम को पण्डित नर्मदाशङ्कर से वास्तविक अवस्था कहानी ही पड़ी। इसे सुनकर वह अत्यन्त दु:खित और लज्जित हुए और उन्होंने तुरन्त ही रुपया इकट्ठा कर दिया।

**सूरत का लूथर** – सूरत में पं० दुर्गाराम मोता नागर ब्राह्मण बड़े प्रतिष्ठित थे। यद्यपि वह अँग्रेजी नहीं पढ़े थे परन्तु सुधारकों में अग्रगण्य थे, यहाँ तक कि लोग उन्हें सूरत का लूथर कहा करते थे। वह देशाभिमानी और कुरीतियों के घोर प्रतिवादी थे। वे देशी शिल्प के भी बड़े पक्षपाती थे। वे गवर्नमेण्ट गुजराती स्कूल के हैडमास्टर थे। उनके और पण्डित नर्मदाशङ्कर के परामर्श से ही यह निश्चित हुआ था कि सूरत में स्वामीजी के चार व्याख्यान कराये जाएँ।

**पहला व्याख्यान** – स्वामीजी का पहला व्याख्यान २ दिसम्बर १८७४ को एन्ड्रूज पब्लिक लाइब्रेरी में हुआ। सभापति का आसन डिप्टी जगजीवनदासजी ने ग्रहण किया। व्याख्यान का विषय था –*'वल्लभाचार्य, राममोहनराय, स्वामी नारायणमत के प्रवर्त्तक सहजानन्द और रामानुजाचार्य।'* स्वामीजी ने राममोहनराय के विषय में कई प्रशंसासूचक वचन कहे और उनके साथ वर्तमान ब्राह्मसमाज का पार्थक्य भी दिखाया। फिर वल्लभाचार्य का थोड़ा–सा जीवन–चरित्र वर्णन किया और तदनन्तर उनके सिद्धान्तों का खण्डन किया। सभा नेता यद्यपि स्वयं वल्लभ सम्प्रदाय के थे, परन्तु वह शान्तभाव से स्वामीजी–कृत आलोचना को सुनते रहे। इसके पश्चात् उन्होंने सहजानन्द के सिद्धान्तों की आलोचना करना आरम्भ की। स्वामीजी इस विषय पर थोड़ा ही कथन कर पाए थे कि *'गुजरातमित्र'* के तत्कालीन सम्पादक का भ्राता गेलाभाई उठकर कहने लगा कि स्वामीजी ने जो कुछ कहा है, वह सब मिथ्या है। पाठकों को स्मरण रहे कि उक्त सम्पादक स्वामीजी के अत्यन्त विद्वेषी थे और कोई अवसर उन पर

कटाक्ष किए बिना न जाने देते थे। सभापति ने गोलाभाई को तुरन्त रोक दिया और कहा कि आपको जो भी कुछ कहना हो वह व्याख्यान की समाप्ति पर ही कहें।

**शास्त्रार्थ का चैलेंज**- स्वामीजी ने अपना व्याख्यान समाप्त किया और श्रोतृवर्ग से कहा कि सहजानन्द के मत के विषय में जिस किसी को भी शास्त्रार्थ करना हो वह सम्मुख आवे, परन्तु न तो गेलाभाई ही और न अन्य ही कोई सहजानन्दी आगे आया। इनके पीछे निर्भयराम मनसुखराम कन्ट्रैक्टर ने खड़े होकर कहा कि मैं सहजानन्द के सम्प्रदाय में दस वर्ष रह चुका हूँ और उसके सब भेद और रहस्य मुझे ज्ञात हैं। यह कहकर उसने उक्त सम्प्रदाय का विशेष रूप से खण्डन किया।

स्वामीजी की दूसरी वक्तृता ४ दिसम्बर को गर्वनेमेण्ट हाई स्कूल के अहाते में हुई और उसके सभापति प्रिंसिपल साहब थे। वक्तृता का विषय था- बुद्धोक्त, जिनोक्त, पुराणोक्त, तन्त्रोक्त-धर्म में आर्य-धर्म का स्वरूप।

तीसरी वक्तृता सेठ रामचन्द्र की कन्या पाठशाला में हुई।

**व्याख्यान मन्दिर बन्द**- स्वामीजी की चौथी वक्तृता ७ दिसम्बर को रघुनाथपुरे के सेठ ठाकुरभाई चुन्नीलाल चाकावाले के शिव-मन्दिर से मिले हुए एक मकान में होने की थी, परन्तु जब वक्तृता का समय हुआ और लोग वहाँ पहुँचे तो उन्होंने देखा कि मकान का द्वार भीतर से बन्द है। लोगों ने द्वार को बहुतेरा खटखटाया और आवाजें दीं, परन्तु किसी ने न सुना। सेठ ठाकुरभाई चुन्नीलल स्वामीजी में बहुत श्रद्धा प्रकट करते थे और उनके पास भी आये थे, परन्तु वहाँ उनका भी कुछ पता न था।

**व्याख्यान यहाँ ही होगा**- श्रोतृवर्ग में से किसी-किसी ने स्वामीजी से यह प्रस्ताव किया कि यदि आपकी अनुमति हो तो व्याख्यान का अन्यत्र प्रबन्ध कर दिया जाय और उनमें से कई ऐसा प्रबन्ध करने पर उद्यत भी हुए, परन्तु स्वामीजी ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता, व्याख्यान इसी स्थान पर होगा, क्योंकि यहाँ होने की ही घोषणा की गई है। तब किसी ने उनके लिए एक कुर्सी ला दी और उसी पर बैठकर स्वामीजी ने अपना व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। श्रोता लोग वहीं धूप में और भूमि पर ही बैठकर शान्तिपूर्वक व्याख्यान सुनने लगे।

**वृद्ध मठधारी मोहनबाबा**- व्याख्यान के बीच में ही सूरत के एक मठधारी मोहन बाबा ब्रह्मचारी आये। उन्होंने स्वामीजी को दण्डवत् होकर प्रणाम किया। स्वामीजी ने उन्हें हाथ पकड़कर उठाया और दूसरी कुर्सी मँगाकर अपने बराबर ही उन्हें बिठाया। यथासमय स्वामीजी ने अपना वक्तृत्व समाप्त किया और श्रोतागण उपदेश से सुख और शान्ति लाभ करके और स्वामीजी के धैर्य और मर्यादापालन की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने घरों को चले गये।

मोहन बाबा बड़ोदे के नृसिंह आचारी के गुरु थे, उनका वय:क्रम अस्सी वर्ष के लगभग था। वह संस्कृतज्ञ नहीं थे, परन्तु गुजराती अच्छी जानते थे। गुजराती में उन्होंने बहुत से भजनों की रचना की थी। वह मूर्त्तिपूजा के घोर विरोधी थे और उनके भजनों में मूर्त्तिपूजा का खण्डन रहता था। वह योगवासिष्ठ की कथा कहा करते थे। सूरत के शिक्षित और सम्भ्रान्त लोगों की उनमें विशेष श्रद्धा थी और वे उनका बहुत सम्मान करते थे। सूरत में स्वामीजी के आगमन से पहले से ही ब्रह्मचारीजी की उनमें गहरी श्रद्धा थी। वह कहा करते थे स्वामी दयानन्द एक अवतारी पुरुष हैं, मैं उन्हें सूरत बुलाऊँगा और उनका विशेष सम्मान करूँगा। ब्रह्मचारीजी को स्वामीजी के पद-प्रान्त में दण्डवत् होता देखकर सूरत के लोग अत्यन्त विस्मित हुए।

व्याख्यान की समाप्ति पर ब्रह्मचारीजी ने स्वामीजी से विनीत भाव से प्रार्थना की कि आप मेरे स्थल पर पधारने का अनुग्रह कीजिए। स्वामीजी ने कहा कि इस समय तो हम नहीं जा सकते, यदि आप आवश्यक समझें तो जिस बँगले में हम ठहरे हुए हैं वहीं आकर हमसे मिलिए।

**मोहन बाबा कैसे पुरुष हैं**- बँगले पर पहुँचकर स्वामीजी ने पण्डित कृष्णराम इच्छाराम से पूछा कि ब्रह्मचारी जी कैसे पुरुष हैं और उनकी ओर से किसी कपट व्यवहार के होने की तो आशङ्का नहीं है? इस पर पण्डितजी ने ब्रह्मचारीजी की बहुत प्रशंसा की और हर प्रकार से उनका सन्तोष कर दिया। अगले दिन ब्रह्मचारीजी स्वामीजी के पास आए और अपना निमन्त्रण दोहराया। स्वामीजी ने उसे स्वीकार कर लिया।

पाँचवी वक्तृता पण्डित नर्मदाशङ्कर के घर के निकट एक मैदान में हुई। उसमें सभापति दुर्गाराम मोता थे। वक्तृता का विषय अद्वैतवाद था। पण्डित इच्छाशङ्कर शास्त्री ने उसका प्रतिवाद करना आरम्भ कर दिया। इस पर सभापति ने उन्हें भी रोक दिया और कहा कि आपको जो कुछ कहना हो व्याख्यान के समाप्त हो जाने पर ही कहिए।

**शास्त्रीजी का शास्त्रार्थ**- व्याख्यान के समाप्त हो जाने पर पण्डित इच्छाशङ्कर और कतिपय अन्य शास्त्री लोग स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के अभिप्राय से आगे आये, परन्तु स्वामीजी ने दो चार बातों में ही इन्हें निरुत्तर कर दिया।

**सभा में ईंट आई**- तब तक सन्ध्या का समय हो गया था और अँधेरा होने लगा था कि इतने में सभा में दो चार ईंटें आकर गिरीं, अत: इस भय से कि अन्धकार से लाभ उठाकर दुष्ट लोग कुछ और उपद्रव न कर बैठें, सभा विसर्जित करनी पड़ी। लोग स्वामीजी को पण्डित नर्मदाशङ्कर के मकान पर ले गये और फिर उन्हें गाड़ी में सवार कराकर बँगले पर पहुँचा आये।

**अपमानित करने का सङ्कल्प**- पूर्वोक्त गेलाभाई और कुछ दूसरे दुष्ट प्रकृति के लोगों ने स्वामीजी को अपमानित करने का सङ्कल्प किया था और सम्भवत: उन्हीं लोगों के षड्यन्त्र से सभा में ईंटें आई थीं। ऐसा भी अनुमान है कि यह भी गेलाभाई के ही प्रयत्न का फल था, जो रघुनाथपुरे की वक्तृता के दिन व्याख्यान के लिए पूर्व से निर्धारित मकान अन्दर से बन्द कर दिया गया था। सेठ ठाकुरभाई उस मकान के स्वामी वल्लभ-सम्प्रदाय के थे। सम्भव है कि उनके गुरु गोसइयों ने ही उन्हें मकान बन्द करा देने पर बाध्य किया हो।

**मठधारी की सेवा-शुश्रूषा**- सभा समाप्त हो जाने पर ब्रह्मचारी बाबा के निमन्त्रणानुसार स्वामीजी पण्डित नर्मदाशङ्कर, दुर्गाराम मोता और पण्डित कृष्णराम प्रभृति को साथ लेकर ब्रह्मचारीजी के मठ पर गये। ब्रह्मचारीजी ने उस दिन मठ को खूब सजाया था और मठ के द्वार और प्रवेशपथ पर बहुमूल्य वस्त्र लटकाये थे। ऐसा ज्ञात होता था कि लाट साहब के स्वागत की तैयारी हो रही है। यह सब आयोजन स्वामीजी की अभिरुचि के प्रतिकूल था, अत: स्वामीजी उससे कुछ प्रसन्न नहीं हुए। ब्रह्मचारीजी ने बड़े प्रेम और सम्मान से स्वामीजी का स्वागत किया, उन्हें उच्च आसन पर बिठाया और चन्दन, जयमाल और पुष्पवृष्टि आदि से उनका सत्कार किया और अपनी शिष्य मण्डली सहित उनकी जय बोली।

**मठधारी की चेलियों को भी दर्शन दिये**- ब्रह्मचारीजी ने एक दूसरे कमरे में अपनी शिष्याओं को बिठा रक्खा था। उन्होंने स्वामीजी का वृत्तान्त पत्र-पत्रिकाओं में पढ रक्खा था और वे उनके दर्शनों की अभिलाषिणी थीं। जब ब्रह्मचारीजी ने स्वामीजी से स्त्रियों को दर्शन देने की प्रार्थना की तो उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया, परन्तु पण्डित नर्मदाशङ्कर आदि ने उनसे कहा कि आप जितेन्द्रिय पुरुष हैं और यह स्त्रियाँ आपके दर्शनों की अभिलाषा से यहाँ आई हैं, उन्हें निराश करना उचित नहीं है।

**स्त्रियों की ओर न देखा**- तब स्वामीजी को भी उनके इस अनुरोध की रक्षा करनी पड़ी और वे स्त्रियों के प्रकोष्ठ में गये, परन्तु स्त्रियों की ओर न देखकर वे भूमि की ओर ही टकटकी लगाये हुए बैठे रहे। स्त्रियों ने दूर ही से उन पर पुष्प-वृष्टि की। स्त्रियों ने उनके चरण छूने की नितान्त इच्छा प्रकट की परन्तु स्वामीजी इस पर किसी प्रकार भी सहमत नहीं हुए।

**मठधारी का भोजन स्वीकार किया**– ब्रह्मचारीजी ने स्वामीजी के लिए अनेक प्रकार के व्यञ्जन प्रस्तुत कर रखे थे। जब वह स्त्रियों को दर्शन देकर बाहर आये तो ब्रह्मचारीजी ने उनसे भोजन करने के लिए बहुत आग्रह किया। इस पर वह पण्डित नर्मदाशङ्कर आदि के साथ भोजन करने बैठे और उन्होंने भी गुजराती रीति के अनुसार अन्य वस्त्र उतार कर और केवल मुकुटा (पूजन अथवा भोजन के समय धारण की जाने वाली रेशमी धोती) धारण करके ही भोजन किया। भोजन के पश्चात् ब्रह्मचारीजी के सेवा सत्कार से सन्तुष्ट होकर स्वामीजी वापस बँगले पर चले गये।

बँगले पर स्वामीजी की रक्षा के लिए डिप्टी जगजीवनदास ने दो पुलिस कॉन्स्टेबिलों को नियत कर दिया था जो हर समय बँगले पर उपस्थित रहते थे।

**ग्रामवासियों का निमन्त्रण, पोंक भी खाई**– एक दिन कातार ग्राम के कुछ आलोवाला देशवाई ब्राह्मण स्वामीजी के पास आये और उनसे ग्राम में पधारने की प्रार्थना की। यह लोग यद्यपि ब्राह्मण हैं, परन्तु भिक्षावृत्ति नहीं करते और कृषि का व्यवसाय करते हैं। स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और ग्राम में पहुँचकर आम्र-कानन में विराजे और ग्रामवासियों को उपदेश से कृतार्थ किया। उसके पश्चात् उन लोगों ने अग्नि में नई ज्वार भूनकर स्वामीजी को खिलाई जो उन्होंने सब लोगों के साथ बड़े प्रेम से खाई।तत्पश्चात् स्वामीजी बँगले को लौट आये। वह इतने वेग से चलते थे कि न तो पण्डित कृष्णराम इच्छाराम ही और न दोनों कॉन्सटेबिल ही उनके साथ चल सकते थे, वे आगे निकल जाते थे और ये लोग पीछे रह जाते थे और बार-बार इन लोगों की प्रतीक्षा करने को खड़े हो जाते थे। स्वामीजी कॉन्स्टेबिलों से कहते थे कि तुम लोग सिपाही होकर भी हमारे साथ नहीं चल सकते, देखो हम तो अभी कुछ भी वेग से नहीं चल रहे हैं!

**भय से मार्ग छोड़ दिया** – सूरत में स्वामीनारायण मठ के लोग स्वामीजी से इतना भय करने लगे थे कि यदि कभी उन्हें आता हुआ देख लेते थे तो वे मार्ग से हट जाते थे। कातार ग्राम में स्वामीनाराण मठ वालों का एक मन्दिर था, जिसमें उस मठ के कुछ संन्यासी रहते थे। उन्हें सूरत जाते हुए उसी बँगले के सामने से आना-जाना पड़ता था, जिसमें स्वामीजी ठहरे हुए थे। जब तक उसमें स्वामीजी की अवस्थिति रही तब तक इन संन्यासियों ने बँगले के सामने होकर आना-जाना ही छोड़ दिया था और वे दूसरे मार्ग से आने-जाने लगे थे।

**औचित्य में भी अनौचित्य**– *'गुजरात मित्र'* के तत्कालीन सम्पादक स्वामीजी के अत्यन्त विरुद्ध थे, वे उनकी हर एक बात में दोष निकालने पर तत्पर रहते थे। औचित्य में भी उन्हें अनौचित्य ही दिखाई देता था। स्वामीजी व्याख्यान के बीच में किसी को बोलने की आज्ञा नहीं देते थे। यदि कोई कुछ कहना चाहता था तो उसे कह दिया करते थे कि व्याख्यान के समाप्त होने पर कहना, अथवा हमारे डेरे पर आकर पूछ लेना। ऐसा करना सर्वथा समीचीन ही था, यदि व्याख्यान के बीच में ही लोगों को प्रश्न वा आक्षेप करने की आज्ञा दे दी जाती तो व्याख्यान ही न हो पाता। परन्तु *'गुजरात-मित्र'* के सम्पादक को इसमें भी बुराई ही दिखाई पड़ी और उनसे बिना आक्षेप किये न रहा गया। इस बात का उल्लेख करके उन्होंने लिखा कि 'स्वामी दयानन्द इस समय सूरत में नगर से दो-तीन मील दूर कातार ग्राम के बँगले में ठहरे हैं, उनसे प्रश्न करने इतनी दूर कौन जाए?' इसमें स्पष्ट व्यंग्य है, मानो प्रश्नोत्तर से बचने के लिए ही वे नगर से इतनी दूर ठहरे हुए थे और इसीलिए वे व्याख्यान के बीच में किसी को प्रश्न करने की आज्ञा नहीं देते थे, परन्तु सम्पादक महोदय ने यह नहीं सोचा कि यदि स्वामीजी का यही भाव होता तो वे व्याख्यान के समाप्त होने पर लोगों को प्रश्न करने की आज्ञा ही क्यों देते?

**सरकार को प्रतिकूल भड़काने का यत्न**– सम्पादक महोदय ने केवल इतने पर ही बस नहीं किया, उन्होंने इससे भी कहीं अधिक नीच और घृणित व्यवहार किया। उन्होंने सरकार को स्वामीजी के प्रतिकूल भड़काने में भी इतस्ततः नहीं किया।

*'गुजरात-मित्र'* के १२ दिसम्बर १८७४ ई० के अङ्क में स्वामीजी के व्याख्यानों की समालोचना करते हुए अपने हृदयोद्गार इस प्रकार निकाले – ''स्वामीजी ने अपनी समस्त वक्तृताओं में एकमात्र वेद और आर्यधर्म को छोड़कर अन्यान्य सब धर्मों और सब सम्प्रदायों पर ऐसा आक्रमण किया है जिससे यहाँ के लोकसाधारण ऐसे तीव्र भाव से उत्तेजित हो उठे हैं कि यदि सूरत ब्रिटिश राज्य के भीतर न होता तो हम नहीं कह सकते कि क्या हो जाता। उनके सभी व्याख्यान आदि में अन्त तक तीव्र आक्रमणों से परिपूर्ण थे। पहले व्याख्यान के सिवाय अन्य व्याख्यानों में स्थानीय लोगों में जो सुशिक्षित, सम्भ्रान्त और भद्र पुरुष हैं वे नहीं गये।'

लेख के अन्त में सम्पादक महोदय ने लिखा कि 'या तो दयानन्द को ऐसी तीव्र आक्रमणपूर्ण वक्तृता नहीं देनी चाहिए, अन्यथा गर्वनमेण्ट को उन्हें सावधान कर देना चाहिए कि वह ऐसी तीव्र आक्रमणपूर्ण वक्तृता न दिया करें।'

इस लेख में तो सम्पादक महोदय ने यह भी विचार नहीं किया कि जो कुछ वे लिख रहे हैं वह सङ्गत है वा असङ्गत। उनके अनुसार नगर के सुशिक्षित, सम्भ्रान्त और भद्र पुरुषों ने तो स्वामीजी की पहली वक्तृता के पश्चात् अन्य व्याख्यानों में तो जाना छोड़ ही दिया था, क्योंकि उसमें स्वामीजी ने अन्य समस्त धर्मों और सम्प्रदायों पर तीव्र आक्रमण किया था और लोकसाधारण उसे सुनकर इतने उत्तेजित हो गये थे कि यदि सूरत ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत न होता तो न जाने क्या उपद्रव हो जाता। अतः वे भी स्वामीजी के शेष व्याख्यानों में क्यों गये होंगे? स्वामीजी ने फिर व्याख्यान किसे सुनाये होंगे और किसने उन्हें सुना होगा? यदि सम्पादक महोदय का कहना ठीक होता तो सभापति का आसन गर्वनमेंट हाईस्कूल के प्रिंसिपल और दुर्गाराम मोता जैसे सुशिक्षित और प्रतिष्ठित पुरुष क्यों ग्रहण करते। स्वामीजी के व्याख्यानों को सुनने के लिए लोग कैसे उत्सुक थे, यह तो रघुनाथपुरे की घटना से ही स्पष्ट है कि जब व्याख्यान के लिए मकान का द्वार नहीं खुला तो लोगों ने फर्श रहित भूमि पर और धूप में बैठकर भी उनके व्याख्यान को सुना। यदि स्वामीजी ऐसे अप्रियवादी थे, जैसे कि उन्हें *'गुजरात-मित्र'* के सम्पादक बताते हैं, तो लोग उनके व्याख्यान सुनने के लिए इतना कष्ट क्यों उठाते?

स्वामीजी ने सूरत में ही स्वामीनारायण मत के खण्डन पर एक पुस्तक लिखी।

**मैं कथा पर चढ़ावा नहीं चढ़वाता**–एक दिन व्याख्यान के अन्त में एक सेठ ने एक बहुमूल्य शाल प्रेमोपहार के रूप में श्रीसेवा में निवेदन करना चाहा, परन्तु स्वामीजी ने उसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि इस समय मेरे शाल लेने के अर्थ यह है कि मैं भी अपनी कथा पर चढ़ावा चढ़वाता हूँ, जैसा कि पौराणिक कथावाचक करते हैं।

## भड़ौंच (१८७४ ई०)

डिप्टी जगजीवनदास ने सूरत से भड़ौंच डिप्टी कलेक्टर प्राणलाल महावरदास को लिख दिया था कि स्वामीजी के लिए स्टेशन पर गाड़ी भेज दें। भड़ौंच में स्वामीजी नर्मदा के तट पर भृगु ऋषि की धर्मशाला में ठहरे। यह धर्मशाला यद्यपि नगर में थी, परन्तु एकान्त स्थान में थी। स्वामीजी के आहार आदि का प्रबन्ध ठाकुर उमरावसिंह एक धनी वाणिक् मोहनलाल वकील और अचरतलाल वकील ने किया था।

स्वामीजी के व्याख्यान इसी धर्मशाला में हुए। पहले व्याख्यान की समाप्ति पर पण्डित माधवराव त्र्यम्बकराव स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने को सम्मुख आये।

**माधवराव से शास्त्रार्थ**- पण्डित माधवराव एक दक्षिणी ब्राह्मण थे और अनेक सम्भ्रान्त लोग उनके शिष्य थे। वे थे तो गृहस्थी, परन्तु महन्त समझे जाते थे और भड़ौंच के लोग उनका बहुत सम्मान करते थे। वह कट्टर सनातनी और दाम्भिक थे। वे सभा में शास्त्रार्थ करने के अभिप्राय से ही आये थे और अपने अनेक शिष्यों को साथ में लाये थे। उनके एक शिष्य ने स्वामीजी से कहा कि पण्डित माधवराव आपसे शास्त्रार्थ करने के इच्छुक हैं। स्वामीजी के यहाँ क्या देर थी। उन्होंने तुरन्त उत्तर दे दिया कि हम उद्यत हैं। इस पर पण्डित माधवराव आगे आये और निम्न प्रकार प्रश्नोत्तर हुए-

*दयानन्द*- आपने क्या पढ़ा है?

*माधवराव*- कौमुदी आदि व्याकरण और कुछ काव्य पढ़ा है?

*दयानन्द*- जब आपने वेदादि आर्ष ग्रन्थ पढ़े ही नहीं तो आप उनके विषय में हमसे शास्त्रार्थ कैसे करेंगे ?

*माधवराव*- मैंने कुछ ऋग्वेद पढ़ा है।

*दयानन्द*- चारों वेदों में से किसी मन्त्र को लेकर उसका पदच्छेदपूर्वक अर्थ करके दिखाइये कि जिससे मूर्त्तिपूजा सिद्ध होती हो। फिर मैं आर्ष ग्रन्थों की रीति के अनुकूल उसका अर्थ करूँगा और तत्पश्चात् अपने और आपके अर्थ काशी आदि स्थानों के बड़े-बड़े पण्डितों के पास भेज दिये जायेंगे कि वे किसके अर्थों का अनुमोदन करते हैं।

**माधवराव वेदमन्त्र का अर्थ न कर सके**- स्वामीजी के इतना कहते ही पण्डित कृष्णराम ने चारों वेदों के पुस्तक स्वामीजी के सामने लाकर रख दिये। तब स्वामीजी ने कहा कि चारों वेदों में से किसी वेद का कोई मन्त्र निकाल कर अर्थ कीजिए। पं० माधवराव ने ऋग्वेद का एक मन्त्र निकाला और वह उसका अर्थ करने लगे। स्वामीजी ने पद-पद पर उनके अर्थों की अशुद्धि दिखानी आरम्भ की। परिणाम यह हुआ कि पण्डित माधवराव थोड़ी ही देर में चुप होकर बैठ गये।

**शिष्यों के सामने अपमान**- तब स्वामीजी ने उनसे कहा कि अभी आप कुछ और पढ़िये और तब शास्त्रार्थ करने आइये। माधवराव ने समझा कि स्वामीजी मेरा अपमान करते हैं, विशेषकर शिष्यों के सामने इस प्रकार के पराजय से वह बहुत क्रोध में आये और उसी दशा में अपने शिष्यों सहित सभा से उठकर चले गये।

**शिष्य की असभ्यता**- शास्त्रार्थ के बीच में ही माधवराव का एक शिष्य स्वामीजी की ओर हाथ करके उनके लिए कुछ अप शब्द कह बैठा था। इस बलदेवसिंह को इतना आवेश आया कि वे खड़े हो गये और कड़ककर बोले कि क्या तुम यहाँ स्वामीजी का अपमान करने आये हो, मेरी उपस्थिति में ऐसा नहीं हो सकता।

**स्वामीजी की शान्तिप्रियता**- स्वामीजी माधवराव के शिष्य के असभ्य व्यवहार से तनिक भी धैर्यच्युत नहीं हुए। वह गम्भीर जलवत् शान्त बने रहे। उन्होंने बलदेवसिंह को यह कह कर शान्त कर दिया कि क्यों क्रोध करते हो, यह भी तो हमारा ही भाई है।

**कल आपका खण्डन करूँगा**- सभा से जाते समय माधवराव स्वामीजी से कह गये कि मैं कल एक व्याख्यान दूँगा और उसमें आपका खण्डन करूँगा, आप उसमें अवश्य आएँ।

**स्वामीजी की अद्भुत शक्ति**- जो पण्डित शास्त्राभिमानी होकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आता था, स्वामीजी इसी प्रकार उसके उच्चारण और व्याकरण की अशुद्धियाँ और दोष दिखाकर उसे चुप कर दिया करते थे और फिर उसे शास्त्रार्थ करने का साहस ही नहीं रहता था। मुम्बई प्रान्त में कई स्थानों पर बगल में पोथियाँ दबा-दबा कर अनेक पण्डित स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आये थे, परन्तु स्वामीजी को देखकर ही निष्प्रभ होकर बैठ गये थे।

स्वामीजी में न जाने कौन-सी ऐसी अद्‌भुत शक्ति थी, जो साधारण पण्डितों को सामने आते ही उन्हें नीरव कर देती थी।

**अप्रासङ्गिक व्याख्यान**-अगले दिन पण्डित माधवराव ने व्याख्यान दिया। स्वामीजी स्वयं तो उसमें नहीं गये, परन्तु पण्डित कृष्णराम को उसका वृत्त जानने के लिए भेज दिया। व्याख्यान में पण्डित माधवराव ने इधर-उधर की अप्रासङ्गिक बातें कहनी आरम्भ कीं, वेद का कभी कोई और कभी कोई मन्त्र लेकर कहते रहे कि देखो इससे मूर्त्तिपूजा सिद्ध होती है। स्वामीजी के लिए भी अपशब्द कहने में उन्होंने सङ्कोच नहीं किया।

**माधवराव के खण्डन में व्याख्यान**- पण्डित कृष्णराम ने वापस आकर सारा वृत्तान्त स्वामीजी से कहा। वे उसे सुनकर हँस पड़े। इसके कुछ दिन पीछे स्वामीजी ने उसी धर्मशाला में एक वक्तृता दी जिसमें पण्डित माधवराव के कथन का खण्डन किया। उसमें नगर के सैकड़ों लोग उपस्थित थे और पण्डित माधवराव अपनी शिष्य-मण्डली के सहित व्याख्यान सुनने आये थे। उन दिनों भड़ौंच में सेना की छावनी थी और उत्तरीय भारत के रहने वाले सिपाहियों की पलटन वहाँ रहती थी। यह लोग स्वामीजी के व्याख्यानों में आया करते थे और उनके भक्त बन गये थे। यतः स्वामीजी उन दिनों हिन्दी भाषा में व्याख्यान देते और बातचीत करते थे, इसलिए उन्होंने समझा था कि स्वामीजी उनके ही देश के मनुष्य हैं। उस दिन के व्याख्यान में सिपाही लोग अच्छी संख्या में आये थे।

**शिष्य की फिर असभ्यता**- व्याख्यान के बीच में ही पण्डित माधवराव के एक शिष्य ने खड़े होकर अण्ड-बण्ड बकना आरम्भ कर दिया और लगा स्वामीजी को अपशब्द कहने। ऐसा जान पड़ता था कि जैसे वह मद्य पिए हुए हो और स्वामीजी का अपमान करने का सङ्कल्प करके ही व्याख्यान में आया हो। डिप्टी प्राणलाल भी सभा में उपस्थित थे। उन्होंने उस दुष्ट को डाँटा और उसे बिठा दिया।

**सैनिकों का क्रोध**- सिपाही लोग भी उसके इस दुष्ट व्यवहार से इतने आवेश में आये कि खड़े हो गये और उस पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हो गये और यदि स्वामीजी उन्हें शान्त न कर देते तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि वे उसे बिना पीटे न छोड़ते।

**पारसी ईसाई का व्याख्यान**- उन दिनों भड़ौंच का स्टेशन मास्टर एक पारसी था जो रोमन कैथोलिक ईसाई हो गया था। व्याख्यान में वह भी उपस्थित था। व्याख्यान की समाप्ति पर उसने खड़े होकर कहा कि मैं मूर्त्तिपूजा के समर्थन में व्याख्यान दूँगा, स्वामीजी उसे सुनने आएँ।

अगले दिन उस ईसाई स्टेशन मास्टर ने उसी धर्मशाला में मूर्त्तिपूजा के समर्थन में एक व्याख्यान दिया। स्वामीजी भी उसके श्रवणार्थ पधारे और अन्य साधारण श्रोताओं की भाँति ही सभा में बैठ गये। इसके कुछ दिन पश्चात् स्वामीजी ने भी उसके कथन के खण्डन में एक वक्तृता दी।

**शास्त्रार्थ से नकार**- पौराणिक लोग स्वामीजी के मूर्त्तिपूजा पर किये हुए आक्रमणों से व्याकुल तो बहुत होते थे और चाहते भी थे कि उनका उत्तर भी दिया जाय, परन्तु बेचारे निरुपाय थे। कोई भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए अग्रसर न होता था। जिससे भी वे शास्त्रार्थ करने का अनुरोध करते थे वही किसी न किसी बहाने से शास्त्रार्थ करने से इन्कार कर देता था। उन दिनों भड़ौंच में अद्वैतानन्द संन्यासी रहते थे जिनकी विद्या की बहुत प्रसिद्धि थी और जिनके बहुत से चेले-चेलियाँ थीं। लोग उनके पास भी गये कि सम्भव है, वही उनकी कुछ सहायता करें। परन्तु उन्होंने भी यह कह कर कि मैं ऐसे नास्तिक से शास्त्रार्थ नहीं करूँगा, उनकी आशा भङ्ग कर दी।

**स्त्रियों को उपदेश**- एक दिन ऐसा हुआ कि स्वामीजी का उपदेश श्रवण करने की अभिलाषा से बहुत से भार्गव ब्राह्मण और स्त्रियाँ धर्मशाला में आईं। स्त्रियों में अधिक संख्या अद्वैतानन्द की चेलियों की थी। स्वामीजी स्त्रियों से वार्तालाप नहीं करना चाहते थे, परन्तु उन्होंने विशेष आग्रह और अनुरोध पर उनके और अपने बीच में एक पर्दा डालकर उन्हें उपदेश दिया जिसका सारांश नीचे दिया रहा है-

स्वामीजी ने उनसे कहा कि पति-सेवा करना ही तुम्हारा धर्म है और अपने पतियों से ही उपदेश लेना तुम्हारा कर्त्तव्य है। मन्दिरों आदि स्थानों में आना-जाना और साधु-संन्यासियों के दर्शनों के लिए इधर-उधर घूमना, स्त्री-जाति के लिए अत्यन्त अनुचित है। स्त्री-जाति का मुख्य धर्म पति-सेवा और उत्तम रीति से सन्तति का पालन पोषण करना ही है।

**मुझे शिष्य बना लो**- एक दिन ठाकुर उमरावसिंह ने जो स्वामीजी के आगमन दिवस से ही उनकी सेवा-शुश्रूषा में तत्पर थे, स्वामीजी से निवेदन किया कि महाराज मुझे अपना शिष्य बना लीजिये और मुझे मन्त्र दे दीजिये। स्वामीजी ने उत्तर में उन्हें कहा कि हम किसी को शिष्य नहीं बनाते हैं। जो हमारे सिद्धान्तों को मानता है, वही हमारा सेवक व शिष्य है और जो लोग हमारे कार्य में सहायक होते हैं, वही हमारे भाई हैं।

**हम कनफुँकवा गुरु नहीं हैं**- हमारे पास मन्त्र देने की कोई फुँकनी नहीं है, जिससे हम किसी के कान में मन्त्र फूँकें और मन्त्र तो सारे वेद में हैं ही, हम क्या मन्त्र देंगे?

**शङ्कर का अवतार**- एक दिन जेठालाल वकील ने महाराज से कहा कि यदि आप मूर्त्तिपूजा का मण्डन करने लगें तो हम आपको शङ्कर का अवतार मानने लेगें। उन्होंने उत्तर दिया कि मैं ऐसे प्रलोभनों से सत्य को नहीं दबा सकता। उपर्युक्त महाशय ने एक दिन स्वामीजी से कहा कि आपकी संस्कृत बहुत सरल होती है और पण्डितों की बहुत जटिल। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मेरा उद्देश्य लोगों को समझाना है, न कि अपना पाण्डित्य जताना। फिर मुझे इतना अवकाश कहाँ जो भाषा को जटिल बनाने में अपना समय लगाऊँ।

**बड़ों की ओर पैर करके सोना मर्यादा का उल्लंघन**- स्वामीजी अपने कर्मचारियों को भी विश्राम करने की अनुमति दिया करते थे। एक दिन एक विद्यार्थी उनकी ओर पैर करके सो गया। स्वामीजी ने सब कर्मचारियों को उपदेश दिया कि तुम जिनसे विद्या ग्रहण करते हो वा जो माननीय व्यक्ति हैं, उनके सामने बिना बुलाये बोलना वा उनकी बातों में बीच में बोलना वा उनकी ओर पैर करके सोना, आर्य-मर्यादा का उल्लंघन करना है। इसे सुनकर वह विद्यार्थी बहुत लज्जित हुआ और अपने इस अपराध पर उसने पश्चात्ताप किया।

एक दिन एक विद्यार्थी से स्वामीजी ने कुएँ से जल लाने को कहा, तो उसने तड़क कर उत्तर दिया कि मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा काम पानी ढोना नहीं है। स्वामीजी ने उसे समझाया कि गुरु की सेवा करना धर्म है। मुझे भी एक बार इसके लिए अपने गुरुजी की मार खानी पड़ी थी। मेरे सहपाठी मुझ पर गुरुजी की कृपा देखकर मुझसे द्वेष करते थे। उन्होंने एक दिन गुरुजी से झूठी शिकायत कर दी कि दयानन्द आपके सामने तो विनीत बना रहता है, परन्तु पीछे आपकी नकल उतारता है, आँखें बन्द करके लाठी लेकर चलता है और आपकी हँसी उड़ाता है। गुरुजी ने इस पर विश्वास कर लिया और मुझे लाठी से पीटा। देखो चोट का यह चिह्न: अब तक मेरी भुजा पर है।

पण्डित कृष्णराम को एक दिन ज्वर आ गया। स्वामीजी स्वयम् उनका सिर दबाने लगे। इस पर पण्डितजी ने कहा कि स्वामीजी यह आप क्या करते हैं, मैं आपसे कैसे सेवा करा सकता हूँ। इस पर स्वामीजी बोले कि इसमें कोई हानि नहीं है, दूसरों की सेवा करना मनुष्य का धर्म है। यदि बड़े छोटों की सेवा नहीं करेंगे तो छोटों में भी सेवा का भाव नहीं आएगा।

भड़ौंच से स्वामीजी अहमदाबाद चले गए।

## अहमदाबाद (१८७४ ई०)

११ दिसम्बर, १८७४ ई० तदनुसार मार्गशीर्ष शुक्ला २ संवत् १९३१ वि० (शुक्रवार) की रात्रि में स्वामीजी अहमदाबाद पहुँचे। रेलवे स्टेशन पर महीपतराम रूपराम और गोपालराव हरिदेशमुख जज प्रभृति उपस्थित थे। उन्होंने स्वामीजी को माणिकेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहराया।

**व्याख्यानमाला**– १२ दिसम्बर (शनिवार) को स्वामीजी का पहला व्याख्यान हिमाभाई इंस्टिटयूट में मूर्त्तिपूजा के खण्डन पर हुआ, दूसरा माणिकेश्वर के मन्दिर में १३ दिसम्बर को वर्णभेद विषय पर और तीसरा १४ दिसम्बर को हुआ।

**शास्त्रार्थ का उपक्रम**– उन्हीं दिनों प्रार्थना–समाज का वार्षिकोत्सव था, उसके उपलक्ष्य में भी ट्रेनिङ्ग कॉलेज में स्वामीजी की एक वक्तृता हुई। उस सभा में राव बहादुर भोलानाथ साराभाई, रणछोड़दास छोटेलाल ने यह परामर्श किया कि दयानन्द के साथ शास्त्रियों का शास्त्रार्थ होना चाहिए। तदनुसार उपर्युक्त सज्जनों ने अपने हस्ताक्षरों से एक विज्ञापन दिया जिसका अभिप्राय निम्नलिखित था–

**शास्त्रार्थ का निमन्त्रण**– महापुरुष स्वामी दयानन्द यहाँ उपस्थित हुए हैं। उनके साथ वेदप्रतिपादित धर्म के सम्बन्ध में विचार करने के लिए निम्नलिखित पण्डितों को आहूत किया जाता है, पण्डित महोदय १९ दिसम्बर को ट्रेनिङ्ग कॉलेज में पधारें। पण्डित सेवकराम, लल्लूभाई, भास्कर, भाई शङ्कर, भट्ट दामोदर प्रभृति ३० पण्डित आहूत किये गये थे।

**शास्त्रार्थ की शर्तें**– इस विज्ञापन को पण्डित रेवाशङ्कर शास्त्री हैड मास्टर फीमेल ट्रेनिङ्ग कॉलेज, शास्त्रियों के पास लेकर गये। पण्डित बापजी, केशव शास्त्री प्रभृति पण्डितों ने कहा कि चार पुरुष मध्यस्थ होने चाहिए और सभा में किसी यवन का प्रवेश न होना चाहिए। उनकी ये दोनों शर्तें स्वीकार कर ली गईं। सभा आरम्भ होने का समय १ बजे का नियत किया गया था।

**शास्त्रीगण न आये**– स्वामीजी नियत समय पर सभा–स्थल पर उपस्थित हो गये, परन्तु आहूत पण्डितों में से एक भी न आया। एक दो अन्य ब्राह्मण आये और उन्होंने जो कुछ पूछा उसका स्वामीजी ने उचित उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट कर दिया। जब शास्त्री लोग न आये तो स्वामीजी ने जन्मान्तरवाद पर एक वक्तृता दी। तत्पश्चात् सभा विसर्जित कर दी गई।

स्वामीजी के अहमदाबाद आगमन के सम्बन्ध में ४ जनवरी सन् १८७५ ई० के *'टाइम्स ऑफ इंडिया'* में इस प्रकार लिखा गया था–

"स्वामीजी अहमदाबाद दो सप्ताह से कुछ अधिक समय तक रहे। वह एक दिन व्याख्यान देते थे और उससे अगले दिन माणिकेश्वर मन्दिर में जहाँ वे ठहरे हुए थे शङ्का–समाधान करते थे। उन्हें न केवल वेदों का विस्तृत ज्ञान ही है, वरञ्च हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों से भी बहुत बड़ा परिचय है और जैनियों, ईसाइयों तथा मुसलमानों के धर्म–ग्रन्थों का भी उन्हें ज्ञान है। उनके व्याख्यान देने की शैली अत्युत्तम है। इसी कारण से लोग उनकी वक्तृताओं में बड़ी संख्या में जाते हैं और उन्हें पसन्द करते हैं। यहाँ के शास्त्रियों ने यह कर कि रमते संन्यासी की बातों की क्या प्रतीति है, उनकी ओर से उपेक्षा की है। शास्त्रियों को जब इनसे वार्तालाप करने के लिए बुलाया गया तो कोई भी न गया। जो कुछ बिना बुलाये गये थे, वह एक घण्टे से अधिक उनसे शास्त्रार्थ–चर्चा न कर सके। शास्त्री लोग कहते हैं कि दयानन्द के विजय का कारण यह है कि सुधारक दल के पुरुष दयानन्द का पक्ष करते हैं और उनसे सहानुभूति रखते हैं।"

## निम्राद (१८७४ ई०)

अहमदाबाद से एक दिन के लिए स्वामीजी निम्राद गए थे। निम्राद गुजरात में हिन्दू धर्म का एक सुविख्यात तीर्थस्थान है और वहाँ पौराणिकों का बड़ा प्राबल्य है।

पूर्णिमान्त पौष कृष्णा ५ संवत् १९३१ वि० अर्थात् २८ दिसम्बर सन् १८७४ ई० (सोमवार) को स्वामीजी अहमदसबाद होते हुए राजकोट चले गए तब एक लेखक ने ७ जनवरी, १८७५ ई० के *'हितेच्छु'* पत्र में इस प्रकार लिखा था–

**अहमदाबाद में स्वामीजी का प्रभाव** – ''पण्डित दयानन्द ने अपने थोड़े दिन के निवास में ही अहमदाबादवालों को विशेषकर शिक्षित समुदाय को आश्चर्यान्वित और आह्लादित कर दिया था। आश्चर्यान्वित इसलिए कि उन्होंने अपने देश गुजरात में किसी शास्त्री को हिन्दूधर्म की ऐसी योग्यता और बुद्धिमत्ता से व्याख्या करते हुए देखा वा सुना नहीं था, जैसी कि विद्वान् पण्डित दयानन्द ने की थी और आह्लादित इसलिए कि पवित्र वेदों की दयानन्दकृत व्याख्या उनके विचारों के अनुकूल थीं, जो उन्होंने स्वयम् इस विषय में निर्धारित किये थे। इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित दयानन्द का संस्कृत साहित्य का ज्ञान अति विशाल है। मूर्त्तिपूजकों की लोभमय और असद्भावपूर्ण संस्थाओं की जो धर्म के मिष से लोगों को भिक्षुक बना रही हैं, बुराइयों को और बाल-विवाह, जातिभेद आदि के दोषों को खोलकर वर्णन करना उन लोगों के हृदयों पर सदा के लिए अङ्कित रहेगा, जिन्हें उनके व्याख्यानों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। निःसन्देह पण्डित दयानन्द ही ऐसे मनुष्य हैं, जिनकी हिन्दुओं की वर्त्तमान अधःपतित अवस्था के लिए आवश्यकता है। मुझे विश्वास है कि यदि उन सरीखे बहुत से मनुष्य देश से सर्वत्र घूमकर, सत्य धर्म का प्रचार करते और खान, पान, स्नान, व्रत के सम्बन्ध में मूर्खतायुक्त विचारों का जिन्हें धर्म का अङ्ग माना जाता है, खण्डन करते तो भारतवर्ष वैसा न होता जैसा कि अब है, अर्थात् निर्बल शरीर और निर्बल बुद्धि वाले मनुष्यों की जाति न होता।

''मुझे यह देखकर दुःख हुआ कि इस स्थान के शास्त्रियों ने अपने नगर में स्वागत करने के बदले उनके आगमन को शत्रु का आगमन समझा। उनको चाहिए था कि जब पण्डित दयानन्द को बुलाया गया था तो उनके पास जाते और जिन बातों पर मतभेद था, उन पर उनसे शास्त्रार्थ करते और यह स्मरण रखते कि इस पृथ्वी पर कोई भी निर्भ्रान्त नहीं है और यह सम्भव है कि वह स्वयं वा पण्डित (दयानन्द) ही भ्रमयुक्त हों। परन्तु शास्त्रीगण न केवल स्वयम् ही दयानन्द के साथ शास्त्रार्थ करने से बचते रहे, बल्कि उन लोगों को भी दयानन्द के व्याख्यान सुनने जाने से रोकने का यत्न करते रहे जिनकी उनकी विद्या में कुछ श्रद्धा थी और यह कहते रहे कि दयानन्द क्रिस्तान वा ब्राह्मसमाजी हैं। परन्तु उनकी यह चाल सफल न हुई। जब उन्होंने यह देखा कि जनता उनका ही उपहास और निरादर करती है, तब उन्होंने दयानन्द से शास्त्रार्थ करने का साहस किया, परन्तु उनके हास्यजनक प्रश्नों और युक्तियों से उनकी वह बुरी गति हुई कि मिस्टर रणछोड़भाई के समान जो थोड़े बहुत उनके प्रशंसक भी थे, यह कहने लगे कि इससे तो यही अच्छा होता कि ये लोग अपने घर पर बैठे रहते। इस प्रकार शास्त्रियों ने जनता की दृष्टि में अपनी प्रतिष्ठा खो दी है। यदि उनमें प्रतीति का कुछ भी लवलेश है, तो उन्हें पण्डित दयानन्द के सम्मुख होने की तैयारी करनी चाहिए। जब वे राजकोट से फिर वापिस आएँ तो दयानन्द के सिद्धान्तों को असत्य सिद्ध करके, अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा वापस करनी चाहिए। परन्तु यदि शास्त्रीगण ऐसा कर सकें तो संसार में यह दशवाँ आश्चर्य होगा।''

''जिन बुराइयों से हमारा वर्त्तमान हिन्दू-समाज हानि उठा रहा है, उन्हें दूर करने के हेतु पण्डित दयानन्द ने आर्यसमाज और वैदिक पाठशाला स्थापित करने का प्रस्ताव किया है। इससे तो इन्कार नहीं हो सकता कि इन

दोनों संस्थाओं के बहुत बड़े लाभ हैं, परन्तु मेरे विचार में अहमदाबाद के लोग अभी तक अपने जातिगत पूर्व संस्कारों को तिलाञ्जलि देने और एक समाज में सम्मिलित होने पर उद्यत नहीं है।''

अहमदाबाद में स्वामीजी ने स्वामीनाराण के मत का खण्डन किया और स्वामीनारायणमत-खण्डन नामक एक पुस्तक रची।

स्वामीजी का विचार निम्राद से बड़ौदा जाने का था, परन्तु वहाँ ब्रिटिश सरकार ने बड़ौदा के महाराजा मल्हारराव गायकवाड़ को वहाँ के रेजिडेण्ट कर्नल फेयर 'Phayer' को विष देकर मार डालने का यत्न करने के अपराध में जनवरी सन् १८७५ में पकड़कर सिंहासनच्युत कर दिया था जिससे वहाँ बहुत गड़बड़ हो रही थी। अतः स्वामीजी ने वहाँ जाने का अपना विचार शिथिल कर दिया और सीधे अहमदाबाद को लौट गये।

## राजकोट (१८७४-७५ ई०)

स्वामीजी २८ दिसम्बर को अहमदाबाद से राजकोट जाने के लिए रवाना हुए और ३१ दिसम्बर १८७४ ई० (अमान्त मार्गशीर्ष कृष्णा ८ संवत् १९३१ वि०) को वहाँ पहुँचकर कैम्प की धर्मशाला में ठहरे। स्वामीजी राजकोट हरगोविन्ददास द्वारकादास के उद्योग से गये थे और उन्होंने ही उनके आहार व मार्ग-व्यय के लिए चन्दा एकत्रित करके सब प्रबन्ध किया था।

**आठ व्याख्यान**- स्वामीजी के कैम्प की धर्मशाला में ८ व्याख्यान निम्न विषयों पर हुए। *पहला*- ईश्वर विषय पर; *दूसरा*- धर्मोदय पर; *तीसरा*- वेदों के अनादित्व और अपौरुषेत्व पर; *चौथा*- पुनर्जन्म पर; *पाँचवाँ*- विद्या-अविद्या, मुक्ति और बन्ध पर; *छठा व सातवाँ*- आर्यों के इतिहास पर और *आठवाँ*- कर्त्तव्य पर। एक दिन व्याख्यान होता था और अगला दिन शाङ्का-समाधान के लिए रक्खा जाता था, ताकि जिस किसी को भी कोई सन्देह हो तो वह उसे निवृत्त कर ले अथवा किसी को कुछ पूछना हो तो वह पूछ ले।

**ऐसी वक्तृता कभी नहीं सुनी**- व्याख्यानों के विषय स्वामीजी ने स्वयम् निश्चित नहीं किये थे। जिस-जिस विषय पर लोगों ने स्वामीजी के मन्तव्य सुनने चाहे, उसी-उसी विषय पर उन्होंने अपने व्याख्यान देना स्वीकार किया था। वेदविषयक व्याख्यान तो अपूर्व ढङ्ग का था। उसके विषय में हर गोविन्ददास कहते हैं - ''उस दिन हमें स्वामीजी की विद्वत्ता, गम्भीर चिन्तन और सूक्ष्म विचार का परिचय मिला। मैंने ऐसी वक्तृता पहले कभी नहीं सुनी थी।''

**शास्त्रार्थ**- स्वामीजी के उपदशों से लाभ उठाने अनेक लोग उनके पास आते थे। कोई-कोई किसी विषय पर वाद-प्रतिवाद भी करते थे। एक दिन पण्डित महीधर और जीवनराम शास्त्री उनके साथ मूर्त्तिपूजा और अद्वैतवाद पर शस्त्रार्थ करने आये। पण्डित महीधर ने पहले मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का प्रयास किया, परन्तु स्वामीजी ने शीघ्र ही उन्हें निरुत्तर कर दिया। फिर उन्होंने वेदान्त विषय पर बातचीत की। स्वामीजी ने उनसे कहा कि यदि आप ब्रह्म हैं तो अपने शरीर के साढ़े तीन करोड़ लोमों में से एक को भी उखाड़ कर पुनः स्थापित कर दीजिए। ब्रह्म सर्वज्ञ और आप अल्पज्ञ हैं, फिर आप ब्रह्म कैसे हो सकते हैं। इस पर पण्डित महीधर कुछ न कह सके और निरुत्तर हो गये।

**राजकुमार कॉलेज में व्याख्यान**- राजकोट में काठियावाड़ के राजाओं के पुत्रों की शिक्षा देने के लिए राजकुमार कॉलेज है। उसके छात्र स्वामीजी के व्याख्यानों को बड़ी रुचि से सुनने आया करते थे और उन्हें बहुत पसन्द करते थे। एक दिन कुछ राजकुमारों ने स्वामीजी से कॉलेज में पधारने और व्याख्यान देने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार कर लिया।

**प्रिंसिपल चकित**– कॉलेज में जाकर उन्होंने *'अहिंसा परमो: धर्म:'* का उपदेश दिया और माँसभक्षण के दोष इस ढङ्ग से दिखाये कि कॉलेज के प्रिंसिपल साहब सुनकर चकित रह गये। उन्हें स्वामीजी के कथन के विरुद्ध कोई युक्ति न सूझ सकी, उन्हें केवल एक बात कहने को मिली।

**माँसभक्षण पाप है**– स्वामीजी ने कहा था कि माँसभक्षण पाप है। इस पर प्रिंसिपल महोदय ने व्यंग्यपूर्ण स्वर में उनसे कहा कि यदि माँसाहार पाप है तो ये सब राजकुमार ही माँसाहारी होने के कारण नरक में जायेंगे। किसी भी ईसाई के मस्तिष्क में यह बात सहसा नहीं बैठ सकती है कि माँसाहार और प्राणिहिंसा पाप कर्म है। यदि माँस बिना हिंसा के प्राप्त हो सकता और उसमें अन्य कोई दोष न होते तो आर्यशास्त्र उसे हेय न ठहराते। पाप तो हिंसा में है, न कि माँसाहार में, और हिंसा भी यदि लोक हित की दृष्टि से अनिवार्य हो तो वह भी उपेक्षणीय हो जाती है।

**मृगया क्षत्रियों के लिए विहित**– स्वामीजी ने यही उत्तर उन्हें दिया कि जिस समय आर्य लोग भारतवर्ष के वन जंगलों को काटकर अपनी बस्तियाँ और खेतियाँ बढ़ा रहे थे तो सिंह आदि हिंसक जन्तु उनके पशुओं का और स्वयं उनका प्राण नाश करते थे और मृगादि जीव उनकी खेतियों को हानि पहुँचाते थे तो आर्य-ऋषियों ने उक्त प्राणियों का शिकार करना क्षत्रियों के लिए विहित कर दिया था, क्योंकि बिना उसके उनके प्राण, धन, धान्य और पशुओं की रक्षा नहीं हो सकती थी। जो बात कर्त्तव्य होती है उसमें पाप नहीं होता है। प्रिंसिपल महोदय इस उत्तर को सुनकर निरुत्तर और अवाक् रह गये।

**ऋग्वेद का पुस्तक उपहार में**- वे स्वामीजी के वार्त्तालाप और व्याख्यान से इतने सन्तुष्ट हुए कि अपनी कृतज्ञता और प्रसन्नता प्रकट करने के निमित्त स्वामीजी के विदा होते समय उन्होंने मैक्समूलर द्वारा सम्पादित ऋग्वेद उनको भेंट किया।

उस समय स्वामीजी वेदसंहिता की प्रामणिकता पर ही बल देते थे और ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रमाणिकता केवल उसी अंश तक स्वीकार करते थे, जिस तक वे वेदानुकूल सिद्ध हों। अपने व्याख्यानों में वे शतपथ-ब्राह्मण के वचन बहुधा उद्धृत किया करते थे।

**घोर आन्दोलन**– स्वामीजी के राजकोट आने से प्राय: दो वर्ष पहले से राजकोट में प्रार्थना-समाज स्थापित था। वहाँ के अनेक सुशिक्षित सज्जन उसके सदस्य थे, हरगोविन्ददास द्वारकादास उसके मन्त्री थे। स्वामीजी के व्याख्यानों से राजकोट में घोर आन्दोलन उपस्थित हो गया था। प्रार्थना-समाज के सदस्य तथा अन्य शिक्षित पुरुष स्वामीजी के उपदेशों की ओर विलक्षण रूप में आकर्षित हो गये थे।

**आर्यसमाज स्थापित करने का प्रस्ताव**– स्वामीजी ने यह प्रस्ताव किया कि राजकोट में आर्यसमाज स्थापित किया जाए और प्रार्थना-समाज को ही आर्यसमाज में परिणत कर दिया जाए। प्रार्थना-समाज के सभी लोग इस प्रस्ताव से सहमत हो गये। वेद के निर्भ्रान्त होने पर किसी ने आपत्ति नहीं की। स्वामीजी के दीप्तिमय शरीर और तेजस्विनी वाणी का लोगों पर अयस्कान्त (चुम्बक) जैसा प्रभाव पड़ता था, वह सबको नतमस्तक कर देता था।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया**– आर्यसमाज स्थापित हो गया, मणिशङ्कर जटाशङ्कर और उनकी अनुपस्थिति में उत्तमराम निर्भयराम प्रधान का कार्य करने के लिए और हरगोविन्ददास द्वारकादास तथा नगीनदास ब्रजभूषणदास मन्त्री का कर्त्तव्य पालन करने के लिए नियत हुए।

**आर्यसमाज के नियम**- स्वामीजी ने आर्यसमाज के नियम बनाये, जो मुद्रित कर लिए गए। इनकी ३०० प्रतियाँ तो स्वामीजी ने अहमदाबाद और बम्बई में वितरण करने के लिए स्वयम् अपने पास रख लीं और शेष प्रतियाँ राजकोट तथा अन्य स्थानों में बाँटने के लिए रख ली गईं जो राजकोट में बाँट भी दी गईं तथा गुजरात, काठियावाड़ और उत्तरीय भारत के प्रधान नगरों में भेज दी गईं। उस समय स्वामीजी की यह सम्मति थी कि प्रधान आर्यसमाज अहमदाबाद और बम्बई में रहें। आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन प्रति आदित्यवार को होने निश्चित हुए थे।

१६ जनवरी सन् १८७५ ई० (पौष शुक्ला ९ संवत् १९३१ वि०) शनिवार को हरगोविन्ददास द्वारकादास ने एक पत्र [५००] रा० रा० गोपालराव हरिदेशमुख को अहमदाबाद भेजा था। उसमें आर्यसमाज के विषय में निम्न प्रकार लिखा था–

**भ्रान्त सम्मति**– राजकोट में एक समाज स्थापित हो गया है, जिसके अधिवेशन प्रति रविवार को हुआ करेंगे और उसमें स्वामीजी के सिद्धान्तों पर विचार हुआ करेगा ताकि यथासम्भव शीघ्र से शीघ्र आर्यसमाज स्थापित किया जाए।.... स्वामीजी की नियोग और ब्रह्मचर्य विषयक सम्मतियों पर इस समय कार्य नहीं हो सकता। इनसे इस समय में सुधारक प्राय: सहमत न होंगे। यदि स्वामीजी से एक दर्जन पुरुष भी हों तो भारत का अभ्युत्थान बहुत ही निकट आ जाएगा।.... यदि नियोग आदि विषयों पर लोग सहमत न होंगे तो स्वामीजी उन्हें छोड़ने पर उद्यत हैं...।

एक लेखक ने २१ जनवरी सन् १८७५ के '*हितेच्छु*' नामक समाचार-पत्र में लिखा था–

**संवाददाता की सम्मति**– "राजकोट के शिक्षित समुदाय के अधिकांशों ने स्वामीजी के सिद्धान्तों को प्राय: स्वीकार कर लिया है। कुछ लोगों ने नियोगप्रथा का अनुमोदन नहीं किया और इस बात को भी पसन्द नहीं किया कि ४८ वर्ष के प्रौढ़ पुरुष के साथ ३० वर्ष की स्त्री का पाणिग्रहण होने से अधिक परिमाण में ब्रह्मचर्य बल की रक्षा होगी।"

इसी पत्र के उसी लेख में यह भी लिखा है कि "नियम मुद्रित होने के पश्चात् राजकोट के बन्धुओं ने उन पर विचार किया और उन्हें ग्रहण करके वे आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए। सदस्यों की संख्या ३० थी।"

राजकोट का आर्यसमाज ही वास्तव में भारतवर्ष का सबसे पहला आर्यसमाज था[५०१]।

**आर्यसमाज का कार्य बन्द हो गया**– आर्यसमाज राजकोट का काम ५-६ मास तक चलता रहा, परन्तु फिर एक अप्रत्याशित कारण से उसका कार्य बन्द हो गया। वह विश्रङ्खला यह थी कि उस समय बड़ौदा के महाराजा

---

५००- जिस समाज का पत्र-लेखक ने उल्लेख किया है, वास्तव में वही आर्यसमाज था और स्वामीजी ने उसके लिए नियम बनाए थे और वैसा ही आर्यसमाज वे अहमदाबाद और मुम्बई में स्थापित करना चाहते थे। हर गोविन्ददास ने सम्भव है यह समझा हो कि चूँकि कुछ लोग स्वामीजी की नियोगविषयक सम्मति से सहमत नहीं हैं, अत: अन्य समाज के स्थापित करने की आवश्यकता होगी, जिसके सदस्य स्वामीजी की समस्त सम्मतियों को स्वीकार करने वाले होंगे।

हरगोविन्ददास का यह भी भ्रम था किस्वामीजी किसी कारण से भी अपने सिद्धान्तों को जिन्हें वे वेदमूलक समझते थे, छोड़ने को उद्यत होंगे। यदि वे ऐसा करने पर उद्यत होते तो वे अपने व्यक्तित्व को खो बैठते, आज एक की तो कल दूसरे की सम्मति के अनुसार सिद्धान्त-परिवर्तन करते रहते और वायुगति-परिचायक मुर्गे के समान जिस ओर का वायु चलता उसी ओर देखने लगते। ऐसी ढुलमुल नीति रखते हुए कौन उनका विश्वास करता और उनके अनिश्चित सिद्धान्तों पर किसकी श्रद्धा होती? हम ऐसी सब बातों को, चाहे उनके कहनेवाले कैसे ही उच्चपदस्थ व्यक्ति हों, स्वामीजी के शुभचरित्र पर पर मिथ्या दोषारोपण समझते हैं। सम्भव हो सकता है कि किन्हीं ने भ्रम में पड़कर यह समझ लिया हो कि स्वामीजी उनके आग्रह पर, उनकी बातों को मानने पर उद्यत हो जाएँगे, परन्तु यदि किन्हीं ने ऐसा समझा भी हो तो उनकी भारी भूल थी और इस बात को तो हम एक क्या सौ और सहस्र मनुष्यों के कहने पर भी मानने को उद्यत नहीं हो सकते कि स्वामीजी प्राइवेट में कुछ और प्रकट में कुछ और कहते हों। दयानन्द का भीतर-बाहर एक-सा था, उनके हृदय-वस्त्र में उल्टा-सीधा रुख नहीं था। उनका सारा जीवन निष्कपट और सत्यपरायणता का जीवन था और ये उनके चरित्र में सर्वोज्ज्वल गुण थे। जो कोई इसके विरुद्ध कहता वह सूर्य पर धूलि फेंकता है।

५०१- इससे पहले भी आरा (बिहार) में एक आर्यसमाज के भाद्रपद संवत् १९२९ वि० में स्थापित होने का उल्लेख हो चुका है।

मल्हारराव गायकवाड़ की राज्यच्युति पर घोर आन्दोलन हो रहा था। धनी, दरिद्र, पण्डित, मूर्ख सभी का चित्त उस समय आलोडित हो रहा था और हर जगह उसी की चर्चा थी।

**पण्डित गट्टूलाल की कविता**– स्वामीजी के राजकोट से चले जाने के कुछ दिन पीछे पण्डित गट्टूलालजी शतावधानी राजकोट आये। उनकी असाधारण स्मरण शक्ति की परीक्षा करने के लिए एक दिन उन्हें आर्यसमाज में बुलाया गया और उनसे विविध विषयों पर तत्क्षण कविता करने के लिए अनुरोध किया गया। कविता के विषयों में एक विषय महाराज मल्हारराव की सिंहासनच्युति भी थी। पण्डित गट्टूलाल ने सभी विषयों पर तुरन्त शुद्ध और सुललित भाषा में कविता करके सबको चकित कर दिया।

**सभा का विवरण समाचारपत्र में**– आर्यसमाज के मन्त्री नगीनदास ने हरगोविन्ददास की सम्मति से उस सभा का आद्योपान्त सविस्तार विवरण *'बम्बई गजट'* और *'टाइम्स ऑफ इंडिया'* में अपने नाम से मुद्रित होने के लिए भेज दिया। उनमें से एक समाचार-पत्र में तो वह प्रकाशित हो गया, परन्तु दूसरे पत्र में उसका प्रकाशन तार भेज कर रोक दिया गया क्योंकि प्रशंसित दोनों सज्जनों में से नगीनदास वकील और हरगोविन्ददास सरकारी कर्मचारी थे।

**पोलिटिकल एजेण्ट का क्रोध**– उस समय काठियावाड़ के पोलिटिकल एजेण्ट मिस्टर जेम्स पील (Mr. James Piel) थे। उन्होंने वह मुद्रित लेख पढ़ा। उसे पढ़कर वह इतने रुष्ट हुए कि उन्होंने नगीनदास से कुछ पूछताछ किये बिना ही उन्हें वकालात से पदच्युत कर दिया। पील साहब ने हरगोविन्ददास को बुलाकर समझाया कि यद्यपि तुमने जो कुछ किया वह सद्भाव से प्रेरित होकर किया था, परन्तु तुम्हें ऐसा करना उचित न था।

**आर्यसमाज के अधिकारी दण्डित और भयभीत**– आर्यसमाज के दूसरे मन्त्री निर्भयराम भी सरकारी कर्मचारी थे। पूना सार्वजनिक सभा और *'अमृत बाजार पत्रिका'* कलकत्ता के सम्पादक ने उक्त लेख लिखने के लिए तार द्वारा उत्साहित किया था। हरगोविन्ददास तो इतने भयभीत हुए कि उन्होंने आर्यसमाज सम्बन्धी कागजात किसी दूसरे स्थान पर भेज दिये।

**आर्यसमाज टूट गया**– आर्यसमाज में योग देना तो अलग रहा वह आर्यसमाज के नाम तक से घबराने लगे। इन्हें इस प्रकार भीत और त्रस्त देखकर अन्य सदस्य अपने आप ही समाज से अलग हो गये और आर्यसमाज का अस्तित्व लुप्त हो गया।

नगीनदास ने बम्बई जाकर अनेक यत्न किये और बड़े-बड़े अँग्रेज अफसरों से मिले, तब कहीं जाकर वे अपने पद पर पुनः प्रतिष्ठित हुए।

**स्वामीजी और दीवान का उत्तर-प्रत्युत्तर**– उन दिनों राजकोट में काठियावाड़ के राजगण का एक सम्मेलन हुआ था, उसके सम्बन्ध में जूनागढ़ के दीवान मिस्टर गोकुलजी झाला राजकोट आये थे। वे स्वामीजी से भी मिले थे और उनसे धार्मिक विषयों पर वार्त्तालाप में किसी उपनिषद्-वाक्य का स्वामी शङ्कराचार्य से भिन्न अर्थ किया था, इस पर दीवान साहब ने आपत्ति की तो स्वामीजी ने विनोद के ढङ्ग पर कहा कि स्वामी शङ्काराचार्य ने भाँग पीकर वैसा अर्थ किया है। दीवान साहब ने भी उसी ढङ्ग से उत्तर दिया कि कौन जानता है कि आप भी भाँग पीकर ऐसा अर्थ नहीं कर रहे हैं?

**स्वामीजी का फोटो लिया गया**– राजकोट में स्वामीजी का फोटो लिया गया था और आर्यसमाज के सदस्यों ने बड़े चाव से उसकी प्रतियाँ ली थीं।

**प्राचीनकाल के विज्ञान**– एक व्याख्यान में स्वामीजी ने यह भी कहा था कि प्राचीन समय में धूम्रयान (भाप से चलने वाला यान) भारतवर्ष में था। अमेरिका प्राचीन आर्यों को ज्ञात था और अर्जुन ने वहाँ की राजकुमारी से विवाह किया था। अतः यह कहना कि पहले-पहल कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया, ठीक नहीं है।

१८ जनवरी सन् १८७५ तदनुसार पौष शुक्ला १२ संवत् १९३१ वि० (सोमवार) को स्वामीजी ने राजकोट से अहमदाबाद के लिए प्रस्थान किया और राजकोट से अहमदाबाद जाते हुए मार्ग में एक दिन चोटिला ग्राम में और दूसरे दिन बड़ोयान में लखतर के ठाकुर साहब के उतारे में ठहरे।

## अहमदाबाद ( १८७५ ई०)

२१ जनवरी सन् १८७५ तदनुसार पौष पूर्णिमा संवत् १९३१ वि० (गुरुवार) को स्वामीजी राजकोट से अहमदाबाद पहुँचे और वहाँ पहुँचकर एक अति मनोहर वक्तृता दी जिसका सारांश यह है-

**वक्तृता का सारांश**- आर्यों की आपस की फूट और ब्राह्मणों के स्वार्थ के कारण दूसरे वर्ण के लोगों को वेद नहीं पढ़ाए, परिणाम हमारे धर्म के इतने खण्ड हो गये हैं कि अब यह जानना भी कठिन हो गया है कि उनमें से कौन ठीक है? लोग कुछ ऐसे भूले कि मूर्त्तियों के आगे, यह समझ कर कि ब्राह्मणों ने मन्त्रों के द्वारा उनमें देवताओं का आवेश कर दिया है और उनमें सच्चे ईश्वर का निवास है, मस्तक अवनत करने लगे। वही लोग अपने कार्यों में सफल होते हैं, जिनका एक, अनादि, अजर, अमर, निराकार ईश्वर में विश्वास होता है। वे अपने धर्म के विस्तार के उपायों को फैलाते हैं, उनके मन एक दूसरे से मिल जाते हैं, आपस में प्रेम की वृद्धि होती है और धर्म का अभिमान आ जाता है। वे एक दूसरे की प्रत्येक सम्भव उपाय से सहायता करते हैं। देखो अँग्रेज भारतवर्ष में और संसार के अन्य भू-भागों में कितने शाक्तिशाली हैं। इसका कारण उनके मनों का मिलना और एक धर्म का होना है।

जब हमारे सब आर्य लोग वेदों को सर्वोपरि और प्रामाणिक समझकर चलेंगे और हमारे मन मिल जावेंगे तो हम सारे संसार को वेदमन्त्रों के निनाद से निनादित कर देंगे। देखो! जब सब आर्यों का एक मत था, उस समय सिकन्दर आया था तो एक मनुष्य ने उससे जाकर कहा था कि मुझसे द्वन्द्व-युद्ध कर लीजिए। ऐसे ही जब महमूद ने सोमनाथ पर आक्रमण किया था तो एक मनुष्य ने उससे जाकर कहा था कि मैं तुम्हें सोमनाथ का सुगम से सुगम और निकट का मार्ग बता सकता हूँ। इस प्रकार वह महमूद और उसकी सेना को सिन्ध की मरु-भूमि में ले गया जहाँ कि महमूद के अनेक सैनिक मर गये और वह स्वयम् भी प्यास के मारे अधमरा हो गया!

**दूसरा व्याख्यान**- इसके पश्चात् स्वामीजी ने बाल-विवाह पर कथन किया कि लोग १०-१० वर्ष के बालक और बालिकाओं का विवाह कर देते हैं, जो समय कि उनकी शिक्षा का होता है। वे सदा मूर्ख रहते हैं और जन्म भर अपने माता-पिता को कोसते रहते हैं। ऐसे विवाहित बालकों से क्या उपकार हो सकता है?

**आर्यसमाज स्थापित करने का उपक्रम**- तत्पश्चात् अनेक दृष्टान्त देकर स्वामीजी ने अहमदाबाद में आर्यसमाज स्थापित करने का प्रस्ताव किया और मुद्रित नियम पढ़कर सुनाये, जिन्हें सब लोगों ने पसन्द किया और २७ जनवरी सन् १८७५ तदनुसार अमान्त पौष कृष्णा ६ संवत् १९३१ वि० (बुधवार) का दिन इस अभिप्राय के लिए नियत हुआ कि जिसको कोई सन्देह हो वह आकर उसे निवृत्त कर ले।

२७ जनवरी को राव बहादुर बिट्ठलदास के गृह पर एक सभा हुई जिसका उद्देश्य स्वामीजी की विदासूचक संवर्द्धना करना और आर्यसमाज-स्थापना के विषय में परामर्श करना था।

इस सभा में वेचरदास अम्बाईदास, गोपालराव हरिदेशमुख, भोलानाथ साराभाई, अम्बालाल सागरलाल, प्रभृति महानुभाव उपस्थित थे। इनके अतिरिक्त कुछ शास्त्रीगण भी थे जिनके नाम ये हैं- शास्त्री सेवकराम, लल्लूभाई बापूजी, भोलानाथ भगवान्।

इनके अतिरिक्त कई पादरी भी उपस्थित थे।

**शास्त्रार्थ के लिए आह्वान**- शास्त्रीगण कहते थे कि मूर्त्तिपूजा हमारे शास्त्रों के अनुकूल है। इस पर वेचरदास अम्बाईदास ने उनसे कहा कि स्वामीजी आपसे शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं, आप उनसे शास्त्रार्थ क्यों नहीं कर लेते? परन्तु शास्त्री लोग इस पर सहमत नहीं हुए। जब उनसे शास्त्रार्थ न करने का कारण पूछा गया तो उन्होंने कहा कि स्वामीजी ने -

*आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।*
*हिरण्ययेन सविता रथेना देवो यति भुवनानि पश्यन्।।* -यजुर्वेद ३३/४३

इस वेदमन्त्र का अर्थ अशुद्ध किया है। इस पर सब लोगों ने पण्डितों से अपना अर्थ करने का अनुरोध किया और कहा कि यह प्रतिपादित करो कि स्वामीजी ने भूल की है और आप का अर्थ ठीक है। अपने किये हुए अर्थों के नीचे अपने हस्ताक्षर कर दो। इस पर कुछ पण्डित तो सहमत हो गये और उन्होंने अर्थ करके उस पर अपने हस्ताक्षर भी कर दिये और कुछ इस पर भी सहमत नहीं हुए। स्वामीजी ने भी उक्त मन्त्र के अर्थ करके उस पर अपने हस्ताक्षर कर दिये।

**स्वामीजी के किये अर्थ**-

*(आकृष्णेन)* आकर्षणात्मना *(रजसा)* रजोरूपेण रजतस्वरूपेण वा *(रथेन)* रमणीयेन *(देवः)* द्योतनात्मकः *(सविता)* प्रसवकर्त्ता वृष्ट्यादेः *(मर्त्यम्)* मर्त्यलोकं *(अमृतम्)* ओषध्यादि रसं *(निवशयन्)* प्रवशयन् *(भुवनानि पश्यन्)* दर्शयन् *(याति)* रूपादिकं विभक्तं प्रापयतीत्यर्थः *(हिरणयेयन)* ज्योतिर्मयेन।

*(सविता)* सर्वस्य जगत उत्पादकः *(देवः)* सर्वस्य प्रकशकः *(मर्त्यम्)* मर्त्यलोकस्थान् मनुष्यान् *(अमृतम्)* सत्योपदेशरूपं *(निवशयन्)* प्रवेशयन् सर्वाणि *(भुवनानि)* सर्वज्ञतया *(पश्यन्)* सन् *(आकृष्णेन)* सर्वस्याकर्षण-स्वरूपेण परमाणूनां धारणेन वा *(रथेन)* रमणीयेनानन्दस्वरूपेण वर्त्तमानः सन् *(याति)* धर्म्मात्मनः स्वान् भक्तान् सकामान् प्रापयतीत्यर्थः।

संवत् १९३१ पौष वदि षष्ठी बुधवार ७ काल, ४० मिनिट सही सम्मतिरत्र दयानन्द सरस्वतीस्वामिनः।

**शास्त्रियों के किये अर्थ**-

*(आकृष्णेन)* ईषत्कृष्णेन *(रजसा वर्तमानः)* सहितः *(सविता देवः)* सूर्यः *(अमृत)* स्वर्ग *(मर्त्य)* भूलोकं *(निवेशयन्)* स्वस्वप्रदेशेषु स्थापयन् *(हिरणययेन रथेन)* स्यन्दनेन *(भुवनानि पश्यन् याति)* गच्छति।

*सही - लल्लूभाई बापू शास्त्रिणः सम्मतोऽयमर्थः*
*शास्त्री सेवकराम रामनाथ सम्मतिरत्र भास्कर शास्त्रिणः*
*सम्मतिरत्र अमृतराम शास्त्रिणः*

इसके पश्चात् स्वामीजी ने एक वक्तृता दी जिसमें कहा कि सबको वेदों का अनुसरण करना चाहिये।

**स्वामीजी का अर्थ ठीक है**- गोपालराव हरिदेशमुख, भोलानाथ, अम्बालाल आदि ने दोनों के अर्थों को देख और समझकर कहा कि शास्त्री अविवेकी और दुराग्रही हैं, स्वामीजी का किया अर्थ ही ठीक है।

**अकारण द्वेष**- इस मन्त्र का जो अर्थ स्वामीजी ने किया था, उस पर उन निष्कारण वैरी पण्डित विष्णुराम शास्त्री ने बहुत आक्षेप किया और उसे अशुद्ध बताया था। उसके सम्बन्ध में स्वामीजी ने अपने एक पत्र में संवत् १९३१ फाल्गुन शुक्ला ९ (अर्थात् १६ मार्च, १८७५ ई०) को गोपालराव हरिदेशमुख को लिखा था कि उस विष्णु शास्त्री के विषय में एक बानगी लिखते हैं कि ऐसी मूर्खता कोई विद्यार्थी भी नहीं करेगा। *''ऋ गति प्रापणयोः''*, इस धातु से रथ सिद्ध होता है, *''रमु क्रीडायाम्''*, इस धातु से नहीं, इससे यह अर्थ निर्युक्ति और निर्मूल है। स्वामीजी ने लिखा है कि पाणिनिमुनि रचित उणादिगण सूत्र प्रमाण-

*हनि-कुषि-नी-रमि-काशिभ्य: क्थन्। हय:, कुष्ठ:, निथ:, रथ: काष्ठम्।*
*यास्को निरुक्तकार:- रथो रंहतेर्गतिकर्मण: इत्यत्र रममाणोऽस्मिंस्ति ठतीति वेति।।*

इससे 'रम' धातु से ही रथ शब्द सिद्ध होने से "रमणीयो रथो रमतेऽस्मिन्निति वा।"

इन प्रमाणोंको देखते हुए कौन कह सकता है कि विष्णुराम शास्त्री ने स्वामीजी पर रथ शब्द की निरुक्ति को अशुद्ध कहकर अपने नाम और विद्वत्ता को कलङ्कित नहीं किया? उनका ऐसा करना केवल छिद्रान्वेषण करने के अभिप्राय से ही था।

**मूर्त्तिपूजा और वर्णाश्रम पर व्याख्यान, शास्त्रियों के विरुद्ध निर्णय**- उपर्युक्त प्रचार से वेदार्थविषयक बातचीत होने के पश्चात् शाास्त्रियों का स्वामीजी से मूर्त्तिपूजा और वर्णाश्रम पर भी वार्त्तालाप हुआ था। शास्त्रियों ने भोलानाथ साराभाई और अम्बालाल सागरमल को मध्यस्थ बनाया था। विचार की समाप्ति पर दोनों ही मध्यस्थों ने अपनी सम्मति स्वामीजी के पक्ष में और शास्त्रियों के विरुद्ध दी थी।

**उपहार**- अन्त में लोगों ने स्वामीजी को धन्यवाद दिया और गोपालराव हरिदेशमुख ने उनके भाषण से सन्तुष्ट होकर उन्हें एक सुन्दर पीताम्बर भेंट किया।

**संशयोच्छेदन हो गया**- राव बहादुर गोपालराव हरिदेशमुख पहले वेदों के विरोध में लेख और पुस्तक लिखा करते थे। स्वामीजी के मुम्बई में दर्शन, सत्सङ्ग और व्याख्यान-श्रवण से उनका संशयोच्छेदन हो गया और वे स्वामीजी के भक्त बन गये। स्वामीजी उन्हीं के निमन्त्रण पर अहमदाबाद गये थे। पहली बार जब स्वामीजी के कई व्याख्यान अहमदाबाद में हो चुके तो एक दिन भोलानाथ साराभाई ने गोपालराव से कहा कि स्वामीजी तो कहते हैं कि वेद निर्भ्रान्त हैं, फिर आप वेदों के विरुद्ध कैसे लिखते हैं?

**स्वामीजी का कथन ठीक है**- इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि मैं भ्रान्त था, वेदों को अच्छी तरह नहीं जानता था। अब मेरी समझ में आ गया है कि स्वामीजी जो कहते हैं वह ठीक है। गोपालराव स्वामीजी के प्रति इतने अनुरक्त हो गये थे कि जब वे थाना में जज थे, तो वहाँ से मुम्बई जाकर आर्यसमाज के अधिवेशनों में सम्मिलित हुआ करते थे और स्वयं भी वहाँ वक्तृता दिया करते थे।

एक दिन एक ब्राह्मण ने स्वामीजी से कहा कि हम आपके कहने से अपना धर्म कैसे छोड़ दें? श्रीकृष्णजी ने गीता में कहा है -'*श्रेयान् स्वधर्मो विगुण:*' (अपना धर्म विगुण भी हो तो भी अच्छा है)। इस पर स्वामीजी ने उसे उत्तर दिया कि यहाँ धर्म से अभिप्राय वर्णाश्रम धर्म से है, न कि साम्प्रदायिक धर्म से। इस पर वह सन्तुष्ट हो गया।

११ मार्च सन् १८७५ के '*हितेच्छु*' में एक लेखक ने स्वामीजी के दूसरी बार अहमदाबाद पधारने के विषय में एक लेख लिखा था, जिसका कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं-

**अहमदाबाद में आर्यसमाज**- "हम अहमदाबाद के लोगों को आर्यसमाज स्थापित करने पर बधाई देते हैं। पण्डित दयानन्द का यह मुख्य उद्देश्य था कि एक ऐसी सभा स्थापित की जाए, जिसमें हिन्दू लोग प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित हो सकें और हम अत्यन्त प्रसन्न हैं कि ईश्वर के अनुग्रह से यह कार्य सम्पादित हो गया है। ३० के लगभग सज्जन इस समाज में सम्मिलित हुए हैं, जिनमें रावबहादुर गोपालराव, रावबहादुर वेचरदास और रावसाहब महीपतराम भी हैं। ये सज्जन हर एक कार्य में जो भारत के भले का होता है, योग देने में अग्रसर रहते हैं।"

महीपतराम को छोड़कर अन्य प्रार्थना-समाजियों ने आर्यसमाज में नाम नहीं लिखाया था उसके विषय में उक्त लेख में लिखा गया था-

**प्रार्थना-समाजियों की भूल**- "ये लोग भूल जाते हैं कि वेदविद्या के बृहत् भण्डार हैं और उनकी भाषा इतनी गम्भीर अर्थवाली और आलङ्कारिक है कि उसके आधार पर वैदिक और पौराणिक जैसे एक दूसरे के प्रतिकूल

सिद्धान्तों को स्थापित करने का अवसर मिलता है और जब हम देखते हैं कि उसके बहुत से अर्थ हो सकते हैं, तो हम उसी अर्थ को क्यों न ग्रहण करें, जो हमारी बुद्धि और अनुभव के सबसे अधिक अनुकूल है।

**वेदों के अत्यन्त युक्तियुक्त अर्थ**- अपने थोड़े से दिन के निवास में पण्डित दयानन्द ने वेदों के अत्यन्त युक्तियुक्त अर्थ किये हैं और उनका आधार ऋषियों के प्राचीनतम कोषों पर रखा है। उन्होंने पुराने ढङ्ग के शास्त्रियों और पौराणिकों को उससे भिन्न अर्थ करने के लिए आहूत किया परन्तु उनका साम्मुख्य कौन कर सकता था? ऐसा होते हुए भी और स्वयम् संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होते हुए भी उपर्युक्त सज्जन कुछ बङ्गालियों के पदचिह्नों पर चलते हुए आर्यसमाज के सदस्य बनने से पीछे हट गये।

वेदों की प्रामणिकता स्वीकार करने में पण्डित दयानन्द ने समाज के लिए बहुत ही युक्तियुक्त कार्य किया है। यह बात हम सभी लोगों को चाहे युवा हों वा वृद्ध, ब्राह्म और प्रार्थना समाजों के कथन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और समर्थनीय प्रतीत होगी। उक्त समाज के सदस्य हम से अलग हो गये हैं और अपनी बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी की मार्गदर्शकता स्वीकार नहीं करते, परन्तु बुद्धि ऐसी शक्ति है जो विकारयुक्त और क्षीण हो सकती है।"

स्वामीजी के विषय में लिखा था-

**स्वामीजी असाधारण व्यक्ति**- "निस्सन्देह वे असाधारण व्यक्ति हैं। उनकी प्रतिभा और योग्यता दुर्लभ है। यदि वह वल्लभ और अन्य साम्प्रदायिक लोगों के सदृश धन के कारण कार्य करने वाले होते तो उन्हें सहस्रों शिष्य प्राप्त हो जाते और एक नया सम्प्रदाय स्थापित करके धन की बड़ी राशि इकट्ठी कर लेते, परन्तु ऐसे नीचभाव उनकी प्रकृति के प्रतिकूल हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य भारत-पुनरुद्धार ही है उनकी प्रबल आकाँक्षा यही है कि वह समृद्धि और सभ्यता में अपने देश को फिर एक बार सब जातियों में शिर:स्थान पर देखें।"

## मुम्बई (१८७५ ई०)

पूर्णिमान्त माघ कृष्णा ८ संवत् १९३१ वि० तदनुसार २९ जनवरी सन् १८७५ ई० (शुक्रवार) को स्वामीजी अहमदाबाद से मुम्बई लौट आए और बालकेश्वर में उसी गोशाला नामक स्थान पर ठहरे जहाँ वे पहले ठहरे थे।

स्वामीजी का मुम्बई से पण्डरपुर जाने का विचार था, परन्तु किसी कारण वह सङ्कल्प पूरा न हो सका।

४ फरवरी सन् १८७५ को स्वामीजी की एक वक्तृता हुई।

**वेद-मण्डप**- अन्य स्थानों में व्याख्यानों का प्रबन्ध करने में अड़चन पड़ने और कभी-कभी पर्याप्त स्थान न मिलने के कारण श्रोतृवर्ग व्याख्यानों से उचित लाभ न उठा सकते थे, अत: स्वमीजी के अनुरक्त भक्तों ने मैदान नामक खुले स्थान में उनके व्याख्यानों के लिए एक मण्डप बना दिया था जिसका नाम 'वेदमण्डप' रखा था। इस मण्डप में उनकी पहली वक्तृता २६ फरवरी सन् १८७५ को हुई।

**स्वामीजी को व्याकरण में परास्त करने की चेष्टा**- किसी कारण से मुम्बई के पण्डितों की यह धारणा हो गई थी कि स्वामीजी व्याकरण में बहुत व्युत्पन्न नहीं है। अत: उन्होंने सोचा कि यदि दयानन्द को व्याकरण-विषयक शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया जाएगा तो उनकी ख्याति और प्रभाव मन्द पड़ जाएँगे और फिर धर्म-विषय में भी लोग उनके कथन में श्रद्धा और विश्वास न करेंगे। अत: उन्होंने उक्त विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए स्वामीजी को आहूत किया।

**शास्त्रार्थ की तिथि**- ज्यों ही शास्त्रिगण के ये शब्द स्वामीजी के कर्णगोचर हुए त्यों ही उन्होंने शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया और शास्त्रार्थ की तिथि १० मार्च सन् १८७५ को नियत हो गई।

**शास्त्रार्थ–स्थल की चहल–पहल**– नियत दिवस और समय पर सभा–मण्डप में अपूर्व चहल–पहल दिखाई देने लगी। बड़े–बड़े सेठ आये, साहूकार आये, बैरिस्टर और सॉलिसिटर आये, कॉलेजों के महोपध्याय और स्कूलों के उपाध्याय आये, शिक्षित लोग भी आये और अशिक्षित भी, उष्णीषमण्डित पण्डित आये और दयानन्द को पराजित करने की आशा साथ लाये। दयानन्द भी आये। उनका मुखमण्डल सदा की भाँति प्रसन्न था, उस पर न चिन्ता की रेखा थी न भय का कोई चिह्न:।

**यदि हम उत्तर न दे सकेंगे तो सिंहासन से नीचे उतर जायेंगे**– सभास्थल में एक बड़ा सिंहासन बनाया गया था और उस पर वेदादि की पुस्तकें प्रमाण के लिए रखी गई थीं। स्वामीजी आकर सिंहासन पर विराजमान हो गये। पण्डितों ने इस पर कुछ आपत्ति की तो स्वामीजी ने कहा कि हम संन्यासी होने के कारण बैठे हैं। आप लोग हमसे कुछ प्रश्न करें, यदि हम उत्तर न दे सकेंगे तो हम सिंहसान से उतर जायेंगे और आप बैठ जाना।

**वाक्पटु को चुप होना पड़ा**– श्री आत्माराम बापूदल शास्त्रार्थ–सभा के सभापति पद पर प्रतिष्ठित हुए। पण्डितों की ओर से पण्डित खेमजी बालजी जोशी ने भाषण आरम्भ किया। जोशी वाक्पटु समझे जाते थे, अत: श्रोतृवर्ग उनके कथन को उत्कण्ठा और आशा से सुनने लगे। परन्तु जोशी ने प्रकृत विषय पर तो कुछ कहा नहीं, इधर उधर की बातें कहनी आरम्भ कर दीं। श्रोता उकताने लगे और उनकी ओर से जोशीजी को चुप कराने की चेष्टा होने लगी। परन्तु वह चुप होने वाले न थे, वे अप्रासिङ्गक बातें ही कहते रहे। अन्त में श्रोतृगण उनकी बातों से सर्वथा विरक्त हो गये और उन्हें अधिक समय नष्ट करने का अवकाश देने से श्रोताओं ने इन्कार कर दिया। इस पर जोशीजी को चुप होना ही पड़ा। तत्पश्चात् पण्डित इच्छाशङ्कर सुकुल ने स्वामीजी से व्याकरण सम्बन्धी प्रश्न आरम्भ किये। स्वामीजी उनके उत्तर देते रहे। जब पण्डित इच्छा शङ्कर के प्रश्न समाप्त हो गये और वह स्वामीजी के उत्तरों पर कोई आपत्ति न कर सके तो फिर स्वामीजी ने उनसे प्रश्न करने आरम्भ किये।

**पराजय स्वीकार करना पड़ा**– पण्डितों के उत्तर लिखे गये और स्वामीजी ने महाभाष्यादि ग्रन्थों के प्रमाण द्वारा उनके उत्तरों को भ्रमपूर्ण सिद्ध कर दिया। पण्डितगण स्वामीजी के आक्षेपों का निराकरण नहीं कर सके और विवश होकर उन्हें अपनी भ्रान्ति स्वीकार करनी पड़ी। सब लोगों को प्रतीत हो गया कि पण्डितवर्ग तो स्वामीजी से क्या उनके शिष्यों से भी तर्क करने की योग्यता नहीं रखता।

**नियोग पर आक्षेप**– तत्पश्चात् पण्डितों ने नियोग पर कुछ आक्षेप किया जिनका उत्तर स्वामीजी ने इस ढङ्ग से और ऐसी योग्यता तथा प्रबल युक्तियों से दिया कि पण्डितों को अनन्योपाय होकर मौन ही धारण करना पड़ा।

**आशा में निराशा**– पण्डितों की इस बार भी स्वामीजी को परास्त करने की आशा निराशा में ही परिणत हुई और वे खिन्न और विषादपूर्ण हृदयों के साथ अपने घरों को लौट आये।

**व्याख्यानों की झड़ी**– १९ मार्च सन् १८७५ से तो स्वामीजी ने व्याख्यानों की झड़ी ही लगा दी। एक दिन आप व्याख्यान देते थे और दूसरे दिन लोगों को शङ्का–समाधान करने का अवसर देते थे। जनता ने स्वामीजी के इस अनुपम अनुग्रह से पूरा–पूरा लाभ उठाया। वह मन भर–भर कर स्वामीजी के उपदेशपूर्ण व्याख्यानों का लाभ लूटने लगे, उनकी धर्मपिपासा शान्त होने लगी, उनका हृदयान्धकार दूर होने लगा। स्वामीजी के सदुपदेशों का प्रभाव मुम्बई तक ही सीमित न रहा, उसका प्रवाह मुम्बई प्रान्त की सीमा का उल्लंघन करके अन्य प्रान्तों को सिञ्चित करने लगा।

**एक धनी वणिक् की विनय–पत्रिका**– जोधपुर के एक धनिक वणिक् ने एक विनय–पत्रिका उनकी सेवा में भेजी, जिसमें उनसे प्रार्थना की कि वे जोधपुर पधारने का अनुग्रह करें क्योंकि वहाँ धर्म के सम्बन्ध में गम्भीर अन्धकार

फैला हुआ है, उसे वैदिक धर्म के प्रखर प्रकाश में छिन्न-भिन्न करें।

**यजुर्वेद पर जैन साधु का आक्षेप**- एक दिन एक जैन साधु ने, जिसका नाम चरित्रप्रधान था, यजुर्वेद के एक मन्त्र के ऊपर कुछ कटाक्ष करके स्वामीजी के पास भेजा। स्वामीजी ने उसका सीमचीन उत्तर लिखकर उनके पास भेज दिया, फिर साधुजी ने उसके उसके प्रत्युत्तर में कुछ न लिखा।

**आर्यसमाज का अंकुर**- स्वामीजी के सूरत आदि जाने के पहले ही कुछ श्रद्धालु जन की यह इच्छा हुई थी कि मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की जाए, जिससे कि उनके मुम्बई से चले जाने के पश्चात् भी वैदिक-धर्म का उपदेश-कार्य होता रहे। स्वामीजी से भी उन सज्जनों ने यह इच्छा प्रकट की थी और उन्होंने उन लोगों को उत्साहदान भी किया था। उन्होंने आर्यसमाज के सङ्गठन आदि विषयक नियमावली की भी रचना कर दी थी और ६० मनुष्यों ने उसका सदस्य होने की स्वीकृति दे दी थी। परन्तु स्वामीजी के चले जाने के पश्चात् उनका उत्साह मन्द पड़ गया। कुछ पर तो बिरादरी का दबाव पड़ा; कुछ ने सदस्य बनना अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल न समझा और कई लोगों के सम्बन्धी और परिवार के लोगों ने विवाद खड़ा कर दिया और यह प्रस्ताव जहाँ का तहाँ ही रह गया।

**अंकुर फिर फूटा**- जब स्वामीजी गुजरात-यात्रा से लौट कर बम्बई आये तो भक्तजनों के मन में आर्यसमाज स्थापित करने की इच्छा पुनः जागृत हुई और स्वामीजी ने भी उनसे यह प्रस्ताव किया। अन्य सज्जनों के अतिरिक्त लछमनदास खेमजी और राजकृष्ण महाराज इस विषय में अधिक उत्साह दिखाने लगे। आर्यसमाज स्थापित करने का यत्न फरवरी में ही आरम्भ हो गया था और १७ फरवरी तक १०० पुरुषों ने उसका सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था।

**असत्य पर आर्यसमाज को कदापि स्थापित न करूँगा**- राजकृष्ण महाराज ने आर्यसमाज के नियम बनाने की इच्छा प्रकट की, तो स्वामीजी ने कहा कि नियम हम स्वयम् बनावेंगे और एक नियमावली बना दी। राजकृष्ण महाराज ने कहा, ''नियमों में जीव-ब्रह्म के एकत्व के सिद्धान्त का समावेश होना चाहिये, पीछे से उसे छोड़ देंगे। ऐसा करने से हम अनेक लोगों को आर्यसमाज की ओर आकर्षित कर सकेंगे।"

**राजकृष्ण रुष्ट हो गये**- स्वामीजी ने इसके उत्तर में जो कुछ कहा वह उनके अनुरूप ही था। उन्होंने कहा, ''मैं आर्यसमाज की असत्य पर कदापि स्थापित नहीं करूँगा।'' इस पर राजकृष्ण महाराज इतने चिढ़े कि भावी सदस्यों की जो तालिका वे बनाकर लाये थे उसे लेकर वे स्वामीजी के पास से चले गये और स्वामीजी का विरोध करने लगे तथा स्वामीजी के पास आना जाना तक छोड़ दिया।

**नवीन वेदान्ती राजकृष्ण**- स्वामीजी जब मुम्बई पधारे थे तो राजकृष्ण महाराज ने अन्य सज्जनों के योग से उनके स्वागत और निवास का प्रबन्ध किया था। राजकृष्ण महाराज नवीन वेदान्त के प्रबल पक्षपाती थे और उसके समर्थन में '*हृदय चक्षु*' नाम का एक मासिक पत्र भी निकाला करते थे। स्वामीजी के प्रस्ताव पर उसका नाम '*आर्य-धर्म-प्रकाश*' रखा गया था।

**रुष्ट होने का कारण**- राजकृष्ण महाराज के इस प्रकार रुष्ट होने का कारण यह था कि वह स्वामीजी द्वारा वैष्णव मत का खण्डन कराके उन्हें उससे विरक्त कर दें और अपनी ओर आकर्षित कर लें। जब आर्यसमाज स्थापित करने का प्रस्ताव हुआ तो वह जीव ब्रह्म की एकता के सिद्धान्तों का नियमों से समावेश भी इसी गुप्त अभिप्राय से चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि स्वामीजी के प्रभाव और उद्योग से आर्यसमाज स्थापित होने पर जब स्वामीजी मुम्बई से चले जायेंगे तो आर्यसमाज को अपने अधिकार में करके उस पर आधिपत्य कर लेंगे।

**राजकृष्ण की सहायता की उपेक्षा**- राजकृष्ण महाराज रूठ कर उठ गये, उन्होंने समझा होगा कि अब स्वामीजी को कोई आर्यसमाज का सदस्य बनने के लिए नहीं मिलेगा। परन्तु थोड़े ही समय पीछे उन्हें ज्ञात हो गया कि स्वामीजी उनके सहयोग के बिना और असहयोग के होते हुए भी अपना कार्य सिद्ध कर सकते हैं।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया**– सेठ मथुरादास लौजी, सेवकलाल, करसनदास, गिरिधारी लाल दयालदास कोठारी बी०ए० एल०एल०बी०, प्रभृति सज्जनों ने आर्यसमाज स्थापित करने का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया। इन सत्पुरुषों पर पौराणिकों ने अत्याचार भी किये और सर्वसाधारण में उनकी भरपेट निन्दा भी की, परन्तु वह अपने सङ्कल्प पर दृढ़ बने रहे। राजमान् राजेश्वरी पानाचन्द आनन्दजी पारीख को आर्यसमाज के नियमों का ढाँचा बनाने के लिए नियत किया गया। उन्होंने वह तैयार किया और उसे स्वामीजी के सामने प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने उसमें उचित सशोधन कर दिया। चैत्र शुक्ला ५ शानिवार संवत् १९३२ वि० (गुजराती संवत् १९३१ वि०) अर्थात् १० अप्रैल सन् १८७५ ई० एवं {३ रबी-उल्-अव्वल सन् १२९२ हिजरी, एवं शाके शालिवाहन १७९५, एवं फसली सन् १२८३, एवं खुर्दाद सन् १२८४ पारसी} को गिरगाम रोड में प्रार्थना समाज के मन्दिर के निकट डॉक्टर माणकजी की बागबाड़ी में सायङ्काल के ५ बजे एक सभा की गई[५०२] जिसमें आर्यसमाज स्थापित किया गया और निम्नलिखित नियम स्वीकार किये गये–

**आर्यसमाज के नियम**–

१– आर्यसमाज का सब मनुष्यों के हितार्थ होना आवश्यक है।

२– इस समाज में मुख्य स्वत: प्रमाण वेदों को ही माना जाएगा। साक्षी के लिए, वेदों के ज्ञान के लिए तथा आर्य इतिहास के लिए शतपथादि ४ ब्राह्मण, ६ वेदाङ्ग, ४ उपवेद, ६ दर्शन, ११२७ वेदों की शााखा, वेद-व्याख्यान, आर्य सनातन संस्कृत ग्रन्थों का भी वेदानुकूल होने से गौण प्रमाण माना जाएगा।

३– इस समाज में प्रतिदेश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा-प्रशाखा होंगे।

४– अन्य सब समाजों की व्यवस्था प्रधान समाज के अनुकूल रहेगी।

५– प्रधान समाज में वेदोक्तानुकूल संस्कृत और आर्यभाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश की पुस्तक होंगी और एक *'आर्य-प्रकाश'* पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किये जाएँगे।

६– हर एक समाज में एक प्रधान पुरुष और दूसरा मन्त्री तथा अन्य पुरुष और स्त्री सभासद् होंगे।

७– प्रधान पुरुष इस समाज की यथावत् व्यवस्था पालन करेगा और मन्त्री सब के पत्रों का उत्तर तथा सब के नाम व्यवस्था लेख करेगा।

८– इस समाज में सत्पुरुष, सत्यनीति, सत्याचारिणी मनुष्यों के हित-कारक समाजस्थ किए जायेंगे।

९– जो गृहस्थ गृहकृत्य से अवकाश प्राप्त हो, सो जैसा घर के कामों में पुरुषार्थ करता है, उससे अधिक पुरुषार्थ इस समाज की उन्नति के लिए करे और विरक्त तो नित्य ही इस समाज की उन्नति करे, अन्यथा नहीं।

---

५०२– आर्यसमाज की स्थापना की जो तारीखें यहाँ दी गई हैं, वे ही ठीक हैं। सन् १९३९ ई० से सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली ने आर्यसमाज की स्थापना का जो दिवस चैत्र शुक्ला प्रतिपदा नियत कर दिया है, वह अशुद्ध है, क्योंकि अगले ही दिन चैत्र शुक्ला ६ (रविवार) सं० १९३२ वि० के पत्र में उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने श्रीयुत गोपालराव हरिदेशमुख को लिखा था कि "मुम्बई में चैत्र शुद्ध ५ शनिवार के दिन सन्ध्या के साढ़े पाँच बजते आर्यसमाज का आनन्दपूर्वक आरम्भ हुआ। ईश्वरानुग्रह से बहुत अच्छा हुआ। आप लोग भी वहाँ आरम्भ कर दीजिए। विलम्ब मत कीजिए। नासिक में भी होने वाला है। अब आर्यसमाजार्थ नियम और संस्कारविधान का पुस्तक वेदमन्त्रों से बनेगा शीघ्र। सार्वदेशिक सभा ने अपना निर्णय आर्यसमाज मुम्बई में लगे एक शिलालेख के आधार पर बदला है जो बाद में संवत् १९४० वि० में आर्यसमाज का भवन बनाते समय लगाया गया था, यह अप्रमाणिक है। –*आदित्यमुनिवानप्रस्थ*

१०- हर आठवें दिन प्रधान मन्त्री और सभासद् सभा-स्थान में इकट्ठे हों और सब कामों में इस काम को मुख्य जानें।

११- इकट्ठे होकर सर्वथा स्थिरचित्त हो, परस्पर प्रीति से पक्षपात छोड़कर प्रश्नोत्तर करें, फिर सामवेदादि गान, परमेश्वर, सत्य-धर्म, सत्य-नीति तथा सत्योपदेश के सम्बन्ध में, बाजा आदि के साथ हो और इसी विषय पर मन्त्रों का अर्थ और व्याख्यान पुन: गान फिर व्याख्यान और फिर गान हो, इत्यादि।

१२- हर एक सभासद् न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त करे उसमें से आर्यसमाज, आर्यविद्यालय और '*आर्य-प्रकाश*' पत्र के प्रचार और उन्नति के लिए आर्यसमाज के धनकोष में एक प्रतिशत प्रीतिपूर्वक देवें, अधिक देने से अधिक धर्मफल। इस धन का इन्हीं विषयों में व्यय होवे और जगह नहीं।

१३- जो मनुष्य इन कार्यों की उन्नति और प्रचार के लिए जितना प्रयत्न करे उसका उत्साह के लिए यथायोग्य सत्कार होना चाहिए।

१४- इस समाज में वेदोक्त प्रकार से हर एक स्तुति, प्रार्थना और उपासना अद्वितीय परमेश्वर की ही करने में आएगी, अर्थात् निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, दयालु, सर्वजगत्पिता, सर्वजगन्माता, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सच्चिदानन्द आदि लक्षणयुक्त, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अनन्तसुखप्रद, धर्मार्थकाममोक्षप्रद, इत्यादि विशेषणों से परमात्मा की ही स्तुति, उसका कीर्त्तन, प्रार्थना, उससे सर्वश्रेष्ठ कार्यों में साहाय चाहना, उपासना उसके आनन्द स्वरूप में मग्न हो जाना, सो पूर्वोक्त निराकारादि लक्षण वाले की ही भक्ति करनी, उसके सिवाय किसी और की कभी नहीं करनी।

१५- इस समाज में निषेकादि अन्त्येष्टि पर्यन्त संस्कार किये जाएँगे।

१६- आर्यविद्यालय में वेदादि सनातन आर्षग्रन्थों का पठन-पाठन कराया जाएगा और वेदोक्त रीति से ही सत्यशिक्षा सब पुरुष और स्त्री के सुधार की होगी।

१७- इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाएगा, एक परमार्थ दूसरी लोक व्यवहार। इन दोनों का शोधन और शुद्धता की उन्नति तथा सब संसार के हित की उन्नति की जाएगी।

१८- इस समाज में न्याय वही माना जायेगा जो पक्षपात रहित अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षित, सत्य-ध र्म वेदोक्त होगा, इससे विपरीत को यथाशक्ति न माना जाएगा।

१९- इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् सर्वत्र सदुपदेश करने के लिए समयानुकूल भेजे जाएँगे।

२०- स्त्री और पुरुष दोनों के विद्याभ्यास के लिए हर एक स्थान में यथाशक्ति अलग-अलग बनाये जाएँगे। स्त्रियों के लिए पाठशाला में अध्यापन और सेवा-प्रबन्ध स्त्रियों द्वारा ही किया जाएगा और पुरुष पाठशाला का पुरुषों द्वारा, इसके विरुद्ध नहीं।

२१- उन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्यसमाज के अनुकूल पालन की जाएगी।

२२- इस समाज में प्रधान आदि सब सभासद् परस्पर प्रीति के लिए अभिमान, हठ, दुराग्रह और क्रोध आदि सब दुर्गुण छोड़कर उपकार, सुहृदता से सबसे सबका निर्वेर होकर स्वात्मवत् सम्प्रीति करनी होगी।

२३- विचार समय सब व्यवहारों में न्याययुक्त सर्वहित की जो सत्य बात भले प्रकार विचार से ठहरे उसी को सब सभासदों को प्रकट करके मानी जाए इसके विरुद्ध न मानी जाए। इसी का नाम पक्षपात छोड़ना है।

२४- जो पुरुष इन नियमों के अनुकूल आचरण करने वाला धर्मात्मा सद्गुणी हो उसको उत्तम समाज में प्रविष्ट करना, उसके विपरीत को साधारण समाज में रखना और अत्यन्त प्रत्यक्ष दुष्ट को तो समाज से निकाल ही देना, परन्तु यह काम पक्षपात से नहीं करना, बल्कि यह दोनों बातें श्रेष्ठ सभासदों के ही विचार से की जाएँ, अन्य प्रकार नहीं।

२५- आर्यसमाज, आर्यविद्यालय, *'आर्य-प्रकाश'* पत्र और आर्यसमाज का अर्थ, धन, कोष- इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधानादि सब सभासद् तन, मन और धन से सदा करें।

२६- जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले तब तक और की नौकरी न करे और न किसी और को नौकर रखें, वे दोनों स्वामी सेवक भाव से यथावत् बरतें।

२७- जब विवाह, पुत्र जन्म, महालाभ वा मरण वा कोई समय दान व धन व्यय करने का हो तब आर्यसमाज के निमित्त धन आदि दान किया करें। ऐसा धर्म का काम और कोई नहीं है, इस निश्चय को जान कर इसको कभी न भूलें।

२८- इन नियमों में कोई नियम नया लिखा जाएगा वा कोई निकाला जाएगा वा न्यूनाधिक किया जाएगा सो सब श्रेष्ठ सभासदों की विचार रीति से सब श्रेष्ठ सभासदों को विदित करके ही यथायोग्य करना होगा।

**सभासदों की संख्या १०० के लगभग थी**- इसके पश्चात् आर्यसमाज के पदाधिकारी नियत किये गये और प्रति शनिवार को सायंकाल आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन होने निश्चित हुए, परन्तु पीछे शनिवार का दिन सभासदों के अनुकूल न पड़ा, अत: आदित्यवार निश्चित किया गया। आर्यसमाज के सभासदों की संख्या १०० के लगभग थी।

**स्वामीजी अधिनायक नहीं, केवल सभासद् ही बने**- समाज की स्थापना के पश्चात् कतिपय सभासदों ने स्वामीजी को आर्यसमाज का अधिनायक वा सभापति बनाने का प्रस्ताव किया, परन्तु स्वामीजी ने उसे अस्वीकार किया। सदस्यों के विशेष अनुरोध करने पर उन्होंने कहा कि यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो आप मुझे अन्य सभासदों की भाँति एक सदस्य बना सकते हैं। तद्नुसार स्वामीजी का नाम भी सभासदों के रजिस्टर में अङ्कित किया गया और वह अन्य सभासदों की भाँति अपना चन्दा देते रहे।

आर्यसमाज स्थापित होने के पश्चात् स्वामीजी के व्याख्यान आर्यसमाज में भी होने लगे। एक व्याख्यान १७ अप्रैल को और दूसरा २४ अप्रैल को हुआ।

स्वामीजी प्रात:काल सागर तट पर घूमने जाया करते थे। वहाँ कभी-कभी पादरी एच०एच० विलसन से भी साक्षात् हो जाता था। पादरी विलसन संस्कृतज्ञ थे और उन्होंने वेद का अँग्रेजी में अनुवाद भी किया था। स्वामीजी का उनसे धर्म विषय पर वार्त्तालाप हो जाया करता था, परन्तु उनसे कोई नियमबद्ध विचार नहीं हुआ था। कभी-कभी स्वामीजी उनके आग्रह पर उनके घर तक भी चले जाते थे। वे स्वामीजी के घोर विरोधी थे।

**प्रिंस-ऑफ-वेल्स का आगमन**- जिन दिनों स्वामीजी मुम्बई थे, उन्हीं दिनों में प्रिंस-ऑफ-वेल्स (युवराज) एडवर्ड महारानी विक्टोरिया के ज्येष्ठ पुत्र, जो उनके मरने पर राजराजेश्वर एडवर्ड सप्तम हुए, भारतवर्ष में भ्रमण करने के लिए आये थे और भारत के वाइसराय, लार्ड नार्थब्रुक उनके स्वागत के लिए बम्बई गये थे।

**हम सन्यासी हैं, लार्ड नार्थब्रुक के पास न जायेंगे**- स्वामीजी के विषय में लार्ड नार्थब्रुक से बाबू केशवचन्द्र सेन की बातचीत हुई थी और उन्होंने स्वामीजी से मिलना चाहा था। इसी कारण से केशवबाबू ने मुम्बई के रा०रा० आत्माराम पाण्डुरङ्ग को इस विषय में पत्र लिखा। उन्होंने वह पत्र रा०रा० गिरिधारीलाल दयालदास कोठारी को दिखाकर लार्ड नार्थब्रुक से स्वामीजी की भेंट कराने का प्रबन्ध करने के लिए कहा। स्वामीजी से जब यह प्रसङ्ग उठाया गया तो उन्होंने कहा कि लार्ड नार्थब्रुक तो हमारे पास आएँगे नहीं और हम भी संन्यासी हैं, हम भी उनसे मिलने नहीं जाएँगे, एक मध्यस्थ स्थान नियत करो जहाँ दोनों का मिलन हो सके। गिरिधारीलाल ने उद्योग भी किया, परन्तु वाइसराय महोदय को अवकाश नहीं मिल सका। [५०३]

५०३- स्वामीजी की यह एक मौज ही समझिए जो वे वाइसराय से उनके स्थान पर जाकर मिलने पर सहमत नहीं हुए, अन्यथा यह समझ में नहीं आता कि उन्होंने वाइसराय के स्थान पर जाना स्वीकार क्यों नहीं किया, क्योंकि वह इससे पूर्व

**आर्य मन्दिर में हमारा फोटो न रखा जाये**- हरिचन्द्र चिन्तामणि ने स्वामीजी का फोटो लेना चाहा तो उन्होंने उसमें यह आपत्ति की कि भविष्य में यह सम्भावना हो सकती है कि लोग और विशेषकर आर्यसमाजी उनकी प्रतिकृति की पूजा करने लग जाएँ। हरिचन्द्र ने उनका फोटो तो ले लिया, परन्तु उन्होंने विशेषरूप से यह आदेश कर दिया कि आर्य मन्दिर में उनका फोटो न रखा जाए। तद्नुकूल आर्यसमाज मुम्बई में उनका यह आदेश अब भी प्रतिपालित होता है, परन्तु देश, विदेश की अन्य आर्यसमाजें ने स्वामीजी की यह आज्ञा अब भङ्ग कर दी है।

**एक भ्रान्ति**- सुना जाता है कि इँग्लैण्ड से एक पत्र उन्हें वहाँ बुलाने के लिए आया था। पण्डित लेखरामकृत दयानन्द-चरित में लिखा है कि प्रोफेसर, मैक्समूलर ने जर्मनी से इस आशय का एक पत्र भेजा था और स्वामीजी ने उसका यह उत्तर दिया था कि मेरी आने की इच्छा अवश्य थी, परन्तु यहाँ के लोग मुझे नास्तिक कहते हैं। जब तक मैं इस देश को अच्छी तरह न बतला दूँ कि मैं कैसा नास्तिक हूँ, तब तक नहीं आ सकता। जब मैक्समूलर की चिट्ठी आई थी तब मुम्बई के भाटियों ने अपने जहाज पर उन्हें ले जाने का वचन दिया था।

यह सब निराधार प्रतीत होता है। कोई पत्र अब तक ऐसा नहीं मिला है। मैक्समूलर जर्मन अवश्य थे, परन्तु जर्मनी में नहीं रहते थे, अत: उनका जर्मनी से पत्र भेजना कैसे सम्भव था?

**अपने जीवन में कभी ऐसा शर्बत नहीं पिया**- जीवनदयाल जो पीछे आकर आर्यसमाज मुम्बई के प्रधान पद पर प्रतिष्ठित हुए, एक दिन ग्रीष्म काल में मध्याह्न: में स्वामीजी से मिलने गए। वे अत्यन्त तृषार्त्त थे। स्वामीजी ने उन्हें एक ऐसा शर्बत बनाकर पिलाया कि जिससे उनकी तृषा सर्वथा दूर हो गई। वे कहते थे कि हमने अपने जीवन में कभी ऐसा शर्बत नहीं पिया। इससे अनुमान होता है कि स्वामीजी को विलक्षण ओषधियों का ज्ञान था।

**जन्म-स्थान की ओर अंगुली-निर्देश**- ग्वालियर के पण्डित ब्रह्मशङ्कर देवशङ्कर कुछ दिन मुम्बई प्रान्त की यात्रा में स्वामीजी के साथ रहे थे और कभी-कभी उनकी रसोई भी बना दिया करते थे। उनसे स्वामीजी ने कहा था कि हमारा जन्मस्थान अहमदाबाद से चालीस कोस दूर है। स्वामीजी ने उन्हें ट्रेन में जाते हुए अंगुलि-निर्देश से उसे दिखाया भी था। पण्डित ब्रह्मशङ्कर स्वामीजी के साथ रहते हुए भी द्वादशलिङ्ग की पूजा और दुर्गा-पाठ किया करते थे, परन्तु स्वामीजी में इतनी सहिष्णुता थी कि इस कारण से कभी उनसे अप्रसन्न नहीं होते थे, हाँ कभी-कभी मुस्कराकर कह दिया करते थे कि क्यों कोलाहल करते हो?

**बैरागियों के सिवा लड़का कोई नहीं दे सकता**- एक दिन स्वामीजी को बहुत से सेठ साहूकार घेरे बैठे हुए थे कि कई स्त्रियाँ आई और स्वामीजी से अपने नि:सन्तान होने का दु:ख प्रकट किया। स्वामीजी ने कहा कि बैरागियों के अतिरिक्त अन्य कोई सन्तान नहीं दे सकता। इसे सुनकर सेठ लोग बहुत लज्जित हुए और स्त्रियाँ चली गईं।

**मनोरञ्जक कहानी**- एक दिन स्वामीजी का व्याख्यान हो रहा था। श्रोतागण कई सहस्त्र की संख्या में उपस्थित थे। स्वामीजी ने राजाओं के विनाश का उल्लेख करते हुए कहा कि राजाओं के परामर्शदाता ऐसे लोग होते हैं जैसे - (१) ज्योतिषी, (२) तेली, (३) ऊँटवाला, (४) हिजड़ा। किसी राजा पर एक शत्रु राजा चढ़ आया और दुर्ग के भीतर घुसने लगा, तब राजा को उसके आक्रमण का ज्ञान हुआ। उसने पहले ज्योतिषी से पूछा, ज्योतिषी बोला अभी महाराज को भद्रा है। तेली से पूछा तो उसने कहा, ऐसी क्या जल्दी है? अभी आप तेल देखिये तेल की धार

---

भी कई अँग्रेज राजकर्मचारी और शासकों के स्थान पर जाकर मिल चुके थे और इसके पश्चात् भी मिले।-*संग्रहकर्त्ता*। अब संग्रहकर्त्ता की इस आपत्ति का निराकरण इस प्रकार हो जाता है कि स्वामीजी और लार्ड नार्थब्रुक की परस्पर भेंट कलकत्ता में पूर्व में ही जनवरी, १८७३ ई० में पाद टिप्पणी क्र० ४८२ के अनुसार हो चुकी थी और इस भेंट के समय उनमें जो अप्रिय संवाद हो गया था, उसके चलते हुए वे अब दुबारा अपना मिलना टालना चाहते थे। - *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

देखिये। फिर ऊँट वाले से पूछा, उसने कहा महाराज अन्त में ऊँट किस कर्वट बैठता है। फिर हिजड़े से पूछा, उसने कहा आप कनात तान लें, क्या वह पर्दे के अन्दर भी घुस आएगा? यह बातें होती रहीं और शत्रु सेना दुर्ग के भीतर घुस आई। यदि हमारे राजाओं की यह दुर्दशा न होती तो हमारी यह दुर्दशा क्यों होती? देश के नाश का यही कारण है।

**शास्त्रार्थ की तैयारी**– जिस दिन कोई बड़ा शास्त्रार्थ होने को होता उस दिन स्वामीजी तीन बजे रात्रि में उठते और ताजे पानी के साथ ऋतु अनुसार सौंफ आदि फाँककर शौच को जाते और स्नान करके ध्यानावस्थित हो जाते तथा ६ बजे प्रात:काल तक ध्यान में मग्न रहते थे। अन्य दिनों की अपेक्षा उस दिन अधिक समय तक ध्यान करते थे।

**विरोधियों की गालियाँ, सुसराल की गालियाँ हैं**– जब लोग खण्डन-मण्डन के कारण स्वामीजी को दुर्वचन कहते तो वे कह दिया करते थे कि जैसे लोग सुसराल में जाते हैं और गालियाँ सुनकर प्रसन्न होते हैं वैसे ही मैं भी परमात्मादेव की भक्ति का प्रचार करते हुए विरोधियों की गालियों से प्रसन्न होता हूँ।

**सम्पादक के साथ पत्र की नीति भी बदल गई**– यह हम पहले भी लिख चुके हैं कि राजकृष्ण महाराज के मासिक पत्र *'हृदयचक्षु'* का नाम स्वामीजी के परामर्श से *'आर्य-धर्म-प्रकाश'* में बदल दिया गया था। जब तक वे स्वामीजी के पक्ष में रहे तो *'आर्य-धर्म-प्रकाश'* भी स्वामीजी के पक्ष का समर्थन करता रहा, परन्तु जब स्वामीजी ने आर्यसमाज के नियमों में यह समाविष्ट करना कि आर्यसमाज अद्वैतवाद का समर्थक हैं, अस्वीकृत कर दिया तो राजकृष्ण महाराज स्वामीजी से अप्रसन्न हो गए। तब से ही 'आर्य-धर्म-प्रकाश' ने भी अपनी नीति बदल ली और वह स्वामीजी के विरुद्ध लिखने लगा।

**मूर्त्तिपूजा का खण्डन अनावश्यक है**– एक बार अमान्त फाल्गुन कृष्ण १२ संवत् १९३१ अर्थात् ३ अप्रैल, १८७५ ई० के अङ्क में उसके सम्पादक ने लिखा कि मूर्त्तिपूजा आर्यधर्म के विरुद्ध नहीं है। परन्तु पुष्टि-मार्गप्रवर्त्तित मूर्तिपूजा का आकार आर्य-धर्म के विरुद्ध है। मूर्त्ति-पूजा वेद प्रतिपादित नहीं है, परन्तु पुराणादि-प्रतिपादित (अवश्य) है और अशिक्षित मनुष्यों के लिए मूर्त्तिपूजा प्रयोजनीय है और उसके खण्डन करने की आवश्यकता नहीं है।

**आर्यों का आक्षेप**– इस सम्मति के प्रकाशित होने पर आर्यसमाजियों में कुछ आन्दोलन हुआ और एक व्यक्ति ने उसके सम्पादक शाराधीश से कहा कि आपने ऐसी सम्मति प्रकाशित करके युक्ति-सङ्गत कार्य नहीं किया, आप इस विषय पर स्वामीजी से शास्त्रार्थ कर लीजिए। वे इस पर सहमत भी हुए, परन्तु पीछे एक घटना ऐसी हो गई कि वह उक्त विषय पर वार्त्तालाप करने के लिए स्वामीजी के पास न आए।

**गट्टूलाल और दयानन्द का मुकद्दमा**– इसके पश्चात् *'आर्य-धर्म-प्रकाश'* में एक लेख 'गट्टूलाल और दयानन्द के वाद-प्रतिवाद सम्बन्धी अभिमत' प्रकाशित हुआ। उसमें स्वामीजी के मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध वैदिक सिद्धान्तों को मुकद्दमे की Plaint (वादी की प्रतिज्ञा) के रूप में लिखा गया और उस पर साक्षियों की साक्षी लिखी गई। यह सब इस ढङ्ग से लिखा गया कि जिससे यह हास्यास्पद और भ्रमोत्पादक प्रतीत हो।

**मुकद्दमे का निर्णय**– इस पर २१ जून सन् १८७५ को पन्नाचन्द आनन्दजी मन्त्री आर्यसमाज मुम्बई की ओर से एक नोटिस *'आर्य-धर्म-प्रकाश'* सञ्चालिका वेद-धर्म-सभा के प्रधान भाई शङ्कर नानाभाई को दिया गया था कि "जो निर्णय उक्त लेख के अन्त में दिया गया है, वह न्याय और वेद के विरुद्ध है।, अत: उचित है कि स्वामीजी के साथ मौखिक विचार कर लिया जाए। उसके लिए आप परसों का दिन नियत कर दें। हमारी ओर से स्वामी दयानन्द स्वयं शाास्त्रार्थ करेंगे। आप लिखिए कि आपकी ओर से कौन करेगा। शास्त्रार्थ सभा का व्यय उभय पक्ष आधा-आधा देंगे। हमारे पास इसका उत्तर कल तक आ जाना चाहिए, क्योंकि स्वामीजी के पास पूना आदि स्थानों से निमन्त्रण आए हुए हैं।"

इस नोटिस के उत्तर में राजकृष्ण महाराज के पक्षवाले स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने पर सहमत नहीं हुए। तारीख २३ जून सन् १८७५ को भाई शङ्कर नानाभाई के पन्नाचन्द आनन्द के उत्तर में एक पत्र लिखा जिसका सारांश निम्न प्रकार था-

''मेरा *'आर्य-धर्म-प्रकाश'* से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु मेरी और मेरे मित्रों की, जिनसे मैंने आपके नोटिस का उल्लेख किया, यह सम्मति है कि मौखिक शाास्त्रार्थ से कोई लाभ नहीं, उसमें अशान्ति होने का भय है। जो लाभ होगा वह बहुत थोड़े मनुष्यों को होगा, अत: आपको इस विषय में जो युक्तियाँ देनी हों, उन्हें लिखकर भेज दीजिए। वह लेख हमारी टिप्पणियों और युक्तियों के साथ *'आर्य-धर्म-प्रकाश'* में प्रकाशित कर दिया जाएगा जिससे कि इस महत्वपूर्ण विषय पर जो कुछ कहा जाएगा, वह स्थिररूप से सुरक्षित रहेगा।''

इस पत्र में यह भी लिखा था कि जो कुछ *'आर्य-धर्म-प्रकाश'* में लिखा गया है, उससे स्वामीजी का अपमान करना कदापि अभीष्ट न था और न अब है। लेखक ने जो कुछ लिखा था वह पब्लिक कर्त्तव्य से परवश होकर पब्लिक के हित के लिए लिखा था और वह अपनी सम्मति को जहाँ तक उन्होंने शास्त्रादि को पढ़ा और विचारा है, ठीक और सत्य समझते हैं।

इस पर सेठ लक्ष्मीदास ने उक्त विषय पर विचार करने के लिए स्वामीजी को अपने घर पर बुलाया, परन्तु स्वामीजी ने यह कहकर कि मैं यथा सम्भव धनियों के गृह पर नहीं जाया करता हूँ, उक्त निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया।

इसके कुछ दिन पीछे स्वामीजी ने अद्वैतवाद और प्रार्थना-समाज के सिद्धान्तों के खण्डन पर एक व्याख्यान दिया। उसमें राजकृष्ण महाराज तो न आये, परन्तु उनके पक्ष के कई लोग आए। भाई शङ्कर नानाभाई भी उपस्थित थे। व्याख्यान के अन्त में वे कुछ बोलना चाहते थे, परन्तु वह रोष में भरे हुए थे, अत: आर्यसमाज के प्रधान ने उन्हें बोलने न दिया।

२६ जून, १८७५ को उनका दूसरा पत्र और आया जिसमें लिखा था - "आप अपना लेख शीघ्र भेजिए ताकि वह आषाढ़ मास के अङ्क में प्रकाशित कर दिया जाए। देर होने में आपका लेख श्रावण मास के अङ्क में मुद्रित होगा।"

यह ज्ञात नहीं हुआ कि इस दोनों पत्रों का आर्यसमाज की ओर से क्या उत्तर दिया गया; परन्तु *'आर्य-धर्म-प्रकाश'* में आर्यसमाज की ओर से कोई लेख मुद्रित नहीं हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि कोई लेख भेजा गया या नहीं।

**पण्डित कमलनयनाचार्य**- पण्डित कमलनयनाचार्य वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख विद्वान् और नेता समझे जाते थे और उन्हें अनेक मारवाड़ी धनपति अपना गुरु करके मानते थे। वैष्णव सम्प्रदाय के वे स्तम्भ थे। जब स्वामीजी ने मुम्बई में मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध घोर आन्दोलन किया और अनेक मनुष्यों ने मूर्त्तिपूजा छोड़कर वैदिक धर्म ग्रहण किया तथा उसके प्रचार के निमित्त मुम्बई में आर्यसमाज भी स्थापित हो गया तो वैष्णवों को बड़ी चिन्ता हुई। गोकुलिए गोसाई अपना पूरा बल लगा चुके थे और दयानन्द के आक्रमणों से अपनी रक्षा में असमर्थ रहे थे। पण्डित गट्टूलाल की सभा और शास्त्रार्थ के आयोजन का चित्र अभी पाठकों की दृष्टि से ओझल नहीं हुआ होगा। वल्लभ-सम्प्रदाय के इस भगीरथ प्रयत्न के पश्चात् ही आर्यसमाज मुम्बई स्थापित हुआ था जो दयानन्द के विजय-स्तम्भ के समान था। पण्डित गट्टूलाल जब कुछ न कर सके तो पौराणिकों ने फिर अस्त्र-शस्त्र सँभालने का उपक्रम किया और पण्डित कमलनयनाचार्य का स्वामीजी से शास्त्रार्थ कराने का उद्योग किया।

**शास्त्रार्थ का सूत्रपात**– इस शास्त्रार्थ का सूत्रपात ऐसे हुआ कि मिस्टर रामदास छबीलदास (जो पीछे से इँग्लैण्ड जाकर बैरिस्टरी की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आये) के चचा देवीदास ने जिन्हें लोग देवीभक्त के नाम से पुकारते थे, पण्डित कमलनयनाचार्य को मुम्बई बुलाया था। महाशय देवीभक्त का मूर्त्तिपूजा में अटल विश्वास था और वे चाहते थे कि कोई विद्वान् ऐसा मिले जो दयानन्द के सम्मुखीन होकर मूर्त्तिपूजा को वेदविहित सिद्ध करे।

**देवीभक्त और दयानन्द**– देवीभक्त मूर्त्तिपूजक होते हुए और स्वामीजी से घोर मतभेद रखते हुए भी उनसे कोई द्वेष नहीं रखते थे। उनके भाई और भतीजे आर्यसमाज के सदस्य हो गये थे, परन्तु उन्होंने अपने विश्वासों में कोई परिवर्त्तन नहीं किया था। वे पूर्ववत् कट्टर मूर्त्तिपूजक थे, परन्तु स्वभाव से अति सरल और सच्चे थे। स्वामीजी से उनका सद्भाव था और वह बहुधा उनके पास आया करते थे। स्वामीजी से उनका इतना प्रेम था कि जब कभी वह स्वामीजी से मिलने जाते तो खाली हाथ कभी न जाते। उनके लिए मिष्टान्नादि लेकर जाते। स्वामीजी भी उनसे बड़ा प्रेम करते थे। देवीभक्त स्वामीजी को एक आदर्श, सच्चरित्र संन्यासी समझते थे और स्वामीजी भी उन्हें एक निष्कपट उत्तम प्रकृति का समझते थे। स्वामीजी उनकी भेंट को सहर्ष स्वीकार कर लेते थे और उसका अधिकांश दर्शकों बाँट देते थे।

**देवीभक्त की भेंट स्वीकार करने पर आक्षेप और उसका उत्तर**– एक दिन ऐसा हुआ कि देवीभक्त मिष्टान्न लाये। स्वामीजी ने उसे ग्रहण कर लिया। थोड़ी देर बैठकर वे चले गये। उसके पश्चात् उपस्थित पुरुषों में से एक ने स्वामीजी से कहा कि आप को देवीभक्त की भेंट स्वीकार नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह आप के शत्रुओं के पृष्ठपोषक हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मेरी दृष्टि में देवीभक्त का अपने भी किसी-किसी अनुयायी से अधिक सम्मान है और मैं धार्मिक मतभेद के कारण उनसे आपस के व्यवहार में प्रभावित नहीं होऊँगा। देवीभक्त सच्चे मन से विश्वास करते थे कि मूर्त्तिपूजा वेदसम्मत है और उसके विरुद्ध दयानन्द की सम्मति आधारशून्य है। उन्होंने पौराणिक पण्डितों को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की उत्तेजना केवल इसी अभिप्राय से दी थी कि मूर्त्तिपूजा वेदानुमोदित सिद्ध हो जाए न किसी अन्य भाव से।

**आचार्य का मूर्त्तिपूजा पर व्याख्यान**– जब पण्डित कमलनयनाचार्य मुम्बई आ गये तो ३१ मई सन् १८७५ को काँधाबाड़ी के अन्तर्गत नारायणबाड़ी में उनका एक व्याख्यान कराया गया। उसमें पण्डित कमलनयनाचार्य ने रामतापिनी और गोपालतापिनी नामक उपनिषदादि के आधार पर मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने की चेष्टा की, परन्तु श्रोताओं का उससे सन्तोष नहीं हुआ और व्याख्यान-स्थल में ही लोग कहने लगे कि इस प्रकार मूर्त्तिपूजा की सिद्धि का यत्न करना व्यर्थ है, चाहिए तो यह कि पण्डित कमलनयनाचार्य फ्रेमजी कावसजी हॉल वा अन्यत्र किसी प्रसिद्ध स्थान में दयानन्द के साम्मुखीन होकर मूर्त्तिपूजा को वेदविहित सिद्ध करें। पण्डित कमलनयनाचार्य वा उनके किसी अनुयायी ने इस प्रस्ताव के उत्तर में कुछ भी न कहा।

पण्डित कमलनयनाचार्य स्वामीजी से शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते थे। एक बार अवश्य उन्होंने अनुयायियों के आग्रह पर ऊपर के मन से यह कह दिया था कि मैं शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं, परन्तु पीछे से इन्कार कर दिया था। इसके पश्चात् घटनाचक्र कुछ ऐसा चला कि उन्हें शास्त्रार्थ करने के लिए विवश हो दयानन्द के सम्मुख जाना ही पड़ा।

**विवश होने की मनोरञ्जक कथा**– इसकी बड़ी मनोरञ्जक कथा है। शिवनारायण बेनीचन्द नाम के एक मारवाड़ी थे, जो पण्डित कमलनयनाचार्य को गुरु करके मानते थे। उनके मित्र ठक्कर जीवनदयाल आर्यसमाजी थे। एक दिन दोनों मित्रों में धार्मिक विषयों पर बातचीत हो रही थी। एक का आग्रह था कि मूर्त्तिपूजा वेदसम्मत है और दूसरे का

उससे भी प्रबल आग्रह था कि वह वेदविरुद्ध है। अन्त को दोनों मित्र इस बात पर सहमत हुए कि यदि दयानन्द हार जावें तो जीवनदयाल रामानुजमत ग्रहण करें, यदि दयानन्द हार जावें तो जीवनदयाल रामानुजमत ग्रहण करें और यदि पण्डित कमलनयनाचार्य पराजित हो जावें तो शिवनारायण बेनीचन्द दयानन्द के मत का अवलम्बन करे। बात यहाँ तक ही नहीं रही, दोनों ने नियमानुसार निम्नलिखित प्रतिज्ञापत्र लिखकर उस पर हस्ताक्षर कर दिए। इन्हीं दोनों व्यक्तियों ने शास्त्रार्थ का दिन और स्थान भी निश्चित कर दिया कि शास्त्रार्थ १२ जून सन् १८७५ को फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट में मध्याह्नोत्तर में ३ बजे होगा और विज्ञापन द्वारा इसकी सर्वसाधारण को सूचना भी दे दी गई। प्रतिज्ञा-पत्र निम्नलिखित था-

**प्रतिज्ञा-पत्र**- मुम्बई ५ जून सन् १८७५ - हम नीचे सही करने वाले दोनों आदमियों ने इस लिखित को पढ़कर उस पर अपनी प्रसन्नतापूर्वक हस्ताक्षर किये हैं, जिसे अपने सत्य-धर्म से पालन करेंगे।

१- श्री दयानन्द स्वामी और कमलनयनाचार्य स्वामी की सभा, फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट में अगले शनिवर को की जावे और जो उसका व्यय हो उसे नीचे हस्ताक्षर करने वाले दोनों व्यक्ति देवें और पुलिस का प्रबन्ध करें।

२- यदि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती वाद में जीतें और इसी प्रकार मूर्त्तिखण्डन में, तो मारवाड़ी शिवनारायण नारायण बेनीचन्द जो सदा कमलनयनाचार्य की ओर से, अपने हस्ताक्षर से, विज्ञापन प्रकाशित करता है, वह उनका (दयानन्द का) चेला होवे और जो कमलनयन जीते तो ठक्कर जीवनदयाल कमलनयन का चेला होवे और रामानन्दी टीका लगाये, नहीं तो शिवनारायण अपने तिलक को मिटा देवे।

३- इस सभा में बिना सम्प्रदाय के (अर्थात् कोई भी सम्प्रदाय का पक्ष न करे) बिना पक्षपात के शास्त्री लोग बुलाये जावें और वह लोग जो अभिप्राय प्रकट करें, उसे छपाकर प्रकाशित किया जावे और उसके ऊपर इस लिखित के लिखने वाले हस्ताक्षर करें और उस पर जो कोई कार्य न करें वह धर्म हारे।

*हस्ताक्षर*- ठक्कर जीवनदयाल *हस्ताक्षर*- शिवनारायण बेनीचन्द

**आचार्य अप्रसन्न, आचार्य स्वामीजी के जोड़ के न थे**- यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि शिवनारायण बेनीचन्द ने यह प्रतिज्ञा-पत्र पण्डित कमलनयनाचार्य की अनुमति और सूचना के बिना ही लिख दिया था। अत: जब उन्हें यह वृत्त ज्ञात हुआ तो वे बहुत अप्रसन्न हुए और उन्होंने शास्त्रार्थ करने से स्पष्ट शब्दों में इन्कार कर दिया, परन्तु वे अपने अनुयायियों के कहने-सुनने पर कि अब जबकि शास्त्रार्थ-विज्ञप्ति सर्वत्र हो चुकी हैं, शास्त्रार्थ से पीछे हटना बड़ी अप्रतिष्ठा का कारण होगा और सब लोग यह विश्वास करने लगेंगे कि वास्तव में दयानन्द का पक्ष सत्य है और मूर्त्तिपूजा का कोई आधार वेद में नहीं है और इससे वैष्णव धर्म को बहुत धक्का पहुँचेगा, पण्डित कमलनयनाचार्य ने शास्त्रार्थ करने की स्वीकृति दे दी। स्वीकृति तो उन्होंने दे दी परन्तु वह वास्तव में अपने को स्वामीजी के जोड़ का नहीं समझते थे और वेद में मूर्त्तिपूजा के पक्ष में वेद के प्रमाण कहाँ से लाते। उन्हें शास्त्रार्थ में अपना पराजय स्पष्ट दिखाई दे रहा था, इसी कारण वह शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते थे। अत: स्वीकृति देने के पश्चात् भी वे शास्त्रार्थ से पराङ्मुख होने लगे।

**दयानन्द के अनुयायी की कमलनयनाचार्य से बातचीत**- ६ जून सन् १८७५ को सेठ मथुरादास लौजी को यह किसी भाँति पता लग गया होगा कि पण्डित कमलनयनाचार्य शास्त्रार्थ नहीं करना चाहते। अत: वे स्वामीजी की अनुमति लेकर पण्डित कमलनयनाचार्य के पास गए और उनसे कहा कि स्वामी दयानन्द की यह इच्छा है कि आपका और उनका किसी स्थान में जहाँ आपकी इच्छा हो मूर्त्तिपूजा के विषय में संवाद हो जावे। इस पर जो बातें उनकी पं० कमलनयनाचार्य से हुई उनका सारांश यह है। सेठ मथुरादास लौजी ने कहा कि स्वामी दयानन्द स्पष्ट

शब्दों में कहते हैं कि मूर्त्तिपूजा के लिए वेद में कोई आधार नहीं है और जिन मन्त्रों का मूर्त्ति की प्राणप्रतिष्ठा, आह्वान, पूजन और विसर्जन में विनियोग किया जाता है उनका कोई सम्बन्ध इन बातों से नहीं है, आप वैष्णव धर्म के आचार्य हैं, आपका कर्त्तव्य है कि दयानन्द की स्थापनाओं का खण्डन करें। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो वैष्णव धर्म को बहुत क्षति पहुँचेगी और लोगों को यह दृढ़ विश्वास हो जाएगा कि वास्तव में दयानन्द का कहना ही सत्य है। हम ऐसा प्रबन्ध करेंगे कि उभय पक्ष का कथन अक्षरशः लिपिबद्ध कर लिया जावे और प्रत्येक दिन के उभय पक्ष के कथन पर आपके और दयानन्द के हस्ताक्षर हो जावें और जब शास्त्रार्थ समाप्त हो जावे तो उसे मुद्रित कराकर भारतवर्ष के सब भागों में जहाँ वैष्णव धर्मावलम्बी निवास करते हैं, बाँट दिया जाए। जो मन्त्र भी कोई पक्ष प्रस्तुत करेगा उसे उसका पूरा पता तथा यह कि भाष्यकारों ने उसका क्या अर्थ किया है, लिखा देना होगा। इस पर कमलनयनाचार्य ने कहा कि चार दिशा के चार वेद वेदाङ्गवित् पण्डित मध्यस्थ होने चाहिएँ, जिनकी मैं पहले से परीक्षा ले लूँगा। मथुरादास लौजी ने कहा, ऐसे पण्डित तो मिलने कठिन हैं, तो कमलनयनाचार्य ने नदिया के पण्डित रङ्गजित् तोताद्रि का नाम लिया। मथुरादास लौजी ने कहा कि नदिया में तो हम किसी को जानते नहीं परन्तु यदि आप काशी के किसी पण्डित का नाम बतावें तो उसके विषय में हम पूछताछ करें। कमलनयनाचार्य ने कहा कि हम नाम तो किसी का न बतलावेंगे। ४ जून के विज्ञापन में जो कुछ लिखा गया है कि यदि उसके अनुसार पण्डित लोग होंगे तो ही हम शास्त्रार्थ करेंगे। इस पर मथुरादास लौजी ने कहा कि उस विज्ञापन के पश्चात् तो आपके शिष्य ने प्रतिज्ञा-पत्र लिख दिया। कमलनयनाचार्य ने कहा कि इसका हमें कोई ज्ञान नहीं है और न वह हमें स्वीकार है। यह सुनकर मथुरादास लौजी निराश होकर लौट आए और चलते समय कमलनयनाचार्य से कह आए कि वास्तव में आप में मूर्त्तिपूजा को वेद-प्रतिपादित सिद्ध करने की शक्ति नहीं है और दयानन्द जो कहते हैं वही सत्य है।

**शास्त्रार्थ की चर्चा सर्वत्र फैल गई**- शास्त्रार्थ की चर्चा सर्वसाधारण में फैलते ही लोग उसके दिन की बड़ी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा करने लगे। अन्त को वह दिन आया। शास्त्रार्थ का समय मध्यान्हनोत्तर का तीन बजे नियत हुआ था, परन्तु सभास्थल २ बजे से ही जनस्रोत से भरने लगा और बात करते-करते सारा हॉल खचाखच भर गया। मञ्च पर एक मेज रखी गई और उस पर वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, निरुक्त, निघण्टु प्रभृति ग्रन्थ जो संख्या में १५० थे, सजाकर रखे गये। मेज के दोनों ओर दो कुर्सियाँ रखी गईं। मेज की दाईं ओर की कुर्सी पण्डित कमलनयनाचार्य के और बाईं ओर की स्वामीजी के लिए निश्चित की गई, इस विचार से कहीं आचार्य महाशय स्वामीजी के बाईं ओर बैठने में अपना अपमान समझें और इसी पर बात बिगड़ जाए, स्वामीजी तो वीतराग और निरभिमान थे उनसे तो इस प्रकार की कोई आशङ्का हो ही नहीं सकती थी। मेज के सामने शास्त्रार्थ के वृत्त लेखकों के लिए ८ कुर्सियाँ रखी गईं। सभा में रायबहादुर बेचरदास अम्बाईदास, लक्ष्मीदास, खेमजी, भाडोवर पालूराम, रावबहादुर दादूभाई पाण्डुरङ्ग, भाई शङ्कर नानाभाई, गङ्गदास किशोरदास, हरगोविन्ददास नाना, मनसुखराम सूरजराम, रणछोड़भाई उदयराम, पण्डित विष्णुपरशुराम शास्त्री प्रभृति गण्यमान्य और विद्वान् पुरुष उपस्थित थे।

**हिन्दू के अतिरिक्त सभा में कोई न रहे**- पण्डित कमलयनाचार्य के पक्ष के लोगों ने कहा कि यह शास्त्रार्थ मूर्त्तिपूजा पर है, इसलिए सभा में हिन्दुओं से भिन्न अन्य किसी को आने की आज्ञा न होनी चाहिए। सबने इस बात को स्वीकार किया। एक पारसी किसी प्रकार भीतर चला आया था, उसे कमलनयनाचार्य के पक्ष वालों ने सभा से बाहर कर दिया।

स्वामीजी नियत समय पर सभास्थल पर आ गए। प्रबन्धकर्त्ताओं ने उन्हें मेज के बाईं ओर की कुर्सी पर बिठाया, वह सहर्ष उस पर बैठ गए, उनके मस्तिष्क में यह विचार ही नहीं आया कि उन्हें बाईं ओर की कुर्सी पर

क्यों बिठाया जाता है।

**आचार्य के आने की प्रतीक्षा**- विलम्ब होने लगा, लोग कमनयनाचार्य के आने की प्रतीक्षा करने लगे। कोई-कोई कहने लगे कि कमलनयनाचार्य नहीं आएँगे और कोई न कोई आपत्ति खड़ी कर देंगे कि सभास्थल एक यवन का गृह है, हम वहाँ न जाएँगे इत्यादि, अथवा उनके शिष्यवर्ग मध्यस्थ का पचड़ा लगाकर अपने आचार्य को वापस ले जाएँगे, जिससे हारजीत का अवसर ही प्राप्त न हो और उनकी अप्रतिष्ठा न हो सके।

**आचार्य धमकी से आ गए**- पण्डित कमलनयनाचार्य वास्तव में सभास्थल में आना स्वीकार नहीं कर रहे थे, उन्होंने लोगों के अनुनय विनय पर भी कुछ ध्यान नहीं दिया था। वह सभास्थल में नहीं आते यदि एक आर्यसमाजी ने उनसे जाकर यह न कहा होता कि आप एक बार शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर चुके हैं, अब यदि आप सभा में न जाएँगे तो आर्यसमाजी आप पर अभियोग चलाएँगे।

**अन्त को आचार्य सभास्थल में आए**- साढे तीन बजे पण्डित कमलनयनाचार्य सभा में पधारे। उनके साथ उनके सम्प्रदाय के कुछ ब्राह्मण और कई भाटिये, मकाटे, मारवाड़ी थे जो संख्या में २५-३० होंगे। सभा के प्रबन्धकों ने उन्हें आता देखकर सीढ़ियों पर जाकर उनका स्वागत किया और सम्मानपूर्वक उन्हें मेज के दाईं ओर की कुर्सी पर बिठाया, उनके साथी उनके ही आस-पास मञ्च पर बैठ गए। सभापति का आसन रावबहादुर बेचरदास अम्बाईदास को दिया गया।

**कार्य आरम्भ हुआ**- सभा का कार्य आरम्भ हुआ। सभापति ने अपनी प्रारम्भिक वक्तृता में कहा कि भाइयो! हम सब मूर्त्तिपूजक हैं और मैं भी मूर्त्तिपूजक हूँ। अतः जब स्वामी दयानन्द सरस्वती यह प्रतिपादित करें कि मूर्त्तिपूजा वेदसिद्ध नहीं है, तब आप क्रोध न करें बल्कि धैर्य और सन्तोष से सुनें, इससे हमें अमूल्य लाभ होगा और धर्म के पहचानने का मार्ग ज्ञात होगा जिससे देश का कल्याण होगा और हमें अत्यन्त सुख और सन्तोष होगा तथा जब पण्डित कमलनयनाचार्य मूर्त्तिपूजा को वेदसिद्ध प्रतिपादित करेंगे उसे भी हमें सुनना चाहिए जिससे हमें सत्य सारांश ज्ञात हो जाएगा। मुझे इस सभा के सङ्गठित करने का विशेष अभिप्राय अभी ज्ञात हुआ है। दो गृहस्थियों ने एक प्रतिज्ञा पत्र आपस में लिखा है। उसी के कारण यह सभा सङ्गठित हुई है। अब उस प्रतिज्ञापत्र को भाई शङ्कर नानाभाई आपको पढ़कर सुनावेंगे।

**प्रतिज्ञा पत्र पढ़कर सुनाया गया**- भाई शङ्कर नानाभाई ने पूर्वोल्लिखित प्रतिज्ञापत्र पढ़कर सुनाया और कहा कि यह प्रतिज्ञापत्र ठक्कर जीवनदयाल और शिवनारायण बेनीचन्द ने अपनी निजू स्थिति में लिखा है और इसी कारण यह सभा बुलाई गई है। पहले पण्डित कमलनयनाचार्य को यह सिद्ध करना होगा कि मूर्त्तिपूजा वेद प्रतिपादित है।

**प्रतिज्ञा पत्र लिखने वाले का आक्षेप**- इस पर शिवनारायण बेनीचन्द ने खड़े होकर कहा कि हमने प्रतिज्ञापत्र यह लिखा था कि मूर्त्तिपूजा को श्रुति-स्मृति से सिद्ध करना होगा, परन्तु इसमें केवल श्रुति का शब्द पढ़ा गया है, स्मृति का क्यों नहीं पढ़ा गया? भाई शङ्कर नानाभाई ने पुनः प्रतिज्ञा पत्र को पढ़कर कहा कि इसमें स्मृति का शब्द नहीं है। फिर शिवनारायण बेनीचन्द ने कहा कि साक्षी के लिए ८ पण्डितों की आवश्यकता होगी यह बात भी लिखनी ठहरी थी, वह भी प्रतिज्ञापत्र में से पढ़कर नहीं सुनाई गई। भाई शङ्कर नानाभाई ने कहा कि इसमें ऐसी भी शर्त नहीं लिखी है। तब शिवनारायण बेनीचन्द ने प्रतिज्ञापत्र को देखना चाहा जो उन्हें दे दिया गया। उन्होंने और उनके एक मित्र ने उसे पढ़ा और पढ़कर चुप हो गए।

**आचार्य की आपत्ति**- पण्डित कमलनयनाचार्य ने कहा कि श्रोतागण शास्त्रार्थ के परिणाम के विषय में निश्चय करने की योग्यता नहीं रखते। भारतवर्ष के विभिन्न भागों से पण्डित-मण्डली का उपस्थित होना आवश्यक है, जो शास्त्रार्थ को देखकर उसके विषय में अपना निश्चय प्रकट कर सके। इतना कहकर उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि क्या आप अपनी ओर से ऐसे पण्डित साथ लाए हैं और यह भी कहा कि हमारी ओर के पण्डित हमारे साथ उपस्थित हैं।

**विरोधी सहायक**– विष्णुपरशुराम शास्त्री अब तक स्वामीजी के विरोध में समाचार-पत्रों में उनके किए वेदार्थ की अत्यन्त तीव्र आलोचना करते रहे थे। उन्होंने स्वामीजी से कहा कि यदि आप मेरी सेवा स्वीकार करें तो मैं आप की ओर से पण्डित का कार्य करने पर उद्यत हूँ। स्वामीजी ने सरलचित्तता से यह विश्वास करके कि शास्त्रीजी यह बात हृदय से कह रहे हैं, उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। शास्त्रीजी वेदी पर अपने पुराने विपक्षी दयानन्द के बराबर जा बैठे।

**आचार्य की दूसरी आपत्ति**– पण्डित कमलनयनाचार्य ने पूछा कि जो पण्डित लोग बैठे हैं, वे किस सम्प्रदाय के हैं? वह किसी सम्प्रदाय के न होने चाहिएँ।[५०४] इस पर सब ही लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि कोई पण्डित भी ऐसा नहीं हो सकता था जो किसी सम्प्रदाय का न हो। सब ही किसी न किसी सम्प्रदाय के थे। इससे लोग समझने लगे कि पण्डित कमलनयनाचार्य व्यर्थ में ही समय खोना चाहते हैं।

**पण्डितों से शपथ ले ली गई**– एक पण्डित ने कहा कि मैं वैष्णव सम्प्रदाय का हूँ। उसे आचार्य महोदय ने वेदी पर अपने पास बिठा लिया और फिर दूसरे पण्डितों से कहा कि आप शालिग्राम और गीता को हाथ में लेकर शपथ लो कि हम सत्य-सत्य अभिप्राय प्रकट करेंगे। पण्डितों की ओर से कालिदास गोविन्दजी शास्त्री ने उत्तर दिया कि हमें जो कुछ सत्य प्रतीत होगा, उसे ही सर्वांश में प्रकट करेंगे। इसके पश्चात् उन्होंने विष्णुपरशुराम शास्त्री से भी यही प्रश्न पूछा और उन्होंने भी वही उत्तर दिया कि जो कुछ हमें सत्य प्रतीत होगा, हम वही कहेंगे और आप उभय पक्ष वाले जो कुछ कहेंगे उसे अक्षरशः लिख लेंगे और उस पर अपनी योग्य सम्मति भी देंगे। फिर-

**आचार्य और शास्त्री की बातें**– पण्डित कमलनयनाचार्य और विष्णुपरशुराम शास्त्री में इस प्रकार बातचीत हुई-

*विष्णु०*– हमने छहों शास्त्र पढ़े हैं। इससे पहले कि आप स्वामीजी से शास्त्रार्थ करें, मेरी इच्छा है कि आप जिस शास्त्र पर भी चाहें मुझसे बातचीत करें। मैंने सुना है कि आप नैयायिक हैं, आप प्रसन्नतापूर्वक न्यायशास्त्र में मुझसे जो प्रश्न पूछना चाहें पूछें और जब मेरी योग्यता के विषय में आपको सन्तोष हो जाए तो फिर मैं न्याय में आपकी परीक्षा लूँ, आप भी तो बताइए कि आपने कौन-सा शास्त्र पढ़ा है?

*कमल०*– बताते हैं।

पण्डित कमलनयनाचार्य इतना ही कहकर चुप हो गये।

*विष्णु०*– इस प्रकार की अप्रासङ्गिक बातों में समय नष्ट करना आपके लिए शोभा नहीं देता। आपका कर्त्तव्य है कि आप मूर्त्तिपूजा को वेदानुमोदित सिद्ध करें।

**स्वामीजी की आचार्य से प्रार्थना**– तत्पश्चात् स्वामीजी ने भी नियमपूर्वक पण्डित कमलनयनाचार्य से कहा कि आज का दिवस आनन्द-दिवस है। आपके साथ हमारा सम्मिलन होना निस्सन्देह ही सुख का विषय है। मैं यह प्रतिज्ञा-पूर्वक कहता हूँ कि मूर्त्तिपूजा वेदप्रतिपादित नहीं है और ऐसा सिद्ध करने को प्रस्तुत हूँ। इसी उद्देश्य से भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमकर व्याख्यान उपदेशादि देता हूँ। कृपा करके आप आज की सभा में दिखावें कि मूर्त्ति का आह्वान, प्राण-प्रतिष्ठा, पूजन और विसर्जन किस वेद के किस स्थल में लिखे हैं और भाष्यकारों ने उस स्थल का क्या अर्थ किया है, ब्राह्मणों में उस स्थल की किस प्रकार व्याख्या की गई है। इस बात के सिद्ध होने पर जनता को भी सन्ताष होगा और हमारा भी परस्पर लाभ होगा।

---

५०४- '*दयानन्दप्रकाश*' में लिखा है कि पं० कमलनयनाचार्य ने यह पूछा था कि पण्डित लोग बतायें कि वे किस-किस सम्प्रदाय के हैं। यह ठीक है, परन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा था कि पण्डित लोग किसी सम्प्रदाय के न होने चाहिएँ। - *संग्रहकर्त्ता*

**वेद ही मध्यस्थ है**- इसके लिए मैं मध्यस्थ की कोई आवश्यकता नहीं देखता और यदि मध्यस्थ का होना आवश्यक ही हो तो वेदादि ग्रन्थों से अधिक निष्पक्ष और उत्तम मध्यस्थ कौन होगा? वे सब ग्रन्थ आपके सम्मुख मेज पर रखे हुए हैं। यह दिखाइए कि आपके मत के प्रतिपादक वचन वेद के किस स्थल में हैं और उनका क्या अर्थ है। ऐसा होने से ही सत्यासत्य का निर्णय हो सकेगा। आपके और मेरे सब प्रश्नोत्तर लिखे जाएँगे और उन पर दोनों के हस्ताक्षर होकर उन्हें छपवाकर प्रकाशित कर दिया जाएगा ताकि अनेक स्थानों के पण्डित उन पर अपनी सम्मति प्रकट कर सकें। ऐसा करने से आर्यों का विशेष उपकार होगा।

**एक अन्य सज्जन की प्रार्थना**- पण्डित कमलनयनाचार्य ने स्वामीजी के इन विनय-वाक्यों पर भी कुछ ध्यान नहीं दिया तब मथुरादास लौजी ने उस बातचीत का सविस्तार वर्णन किया जो उनसे पण्डित कमलनयनाचार्य की ६ जून को हुई थी और कमलयनयनाचार्य से कहा कि आप आचार्य लोग ऐसा कहते हैं कि वेद मे मूर्त्तिपूजा है और अपने पाण्डित्य की स्पर्धा करते हैं। अब आप स्वामी दयानन्दजी के सामने मूर्त्तिपूजा को वेदप्रतिपादित सिद्ध करने में प्रवृत्त हूजिये और समय नष्ट न कीजिए।

पण्डित कमलनयनाचार्य इस पर भी कुछ न बोले।

**मैं मूर्त्तिपूजा को वेद-विरुद्ध सिद्ध करता हूँ**- जब स्वामीजी ने देखा कि आचार्य महाशय किसी प्रकार शास्त्रार्थ में प्रवृत्त नहीं होते तो उन्होंने पुनः पण्डित कमलनयनाचार्य से कहा कि मूर्त्तिपूजा का वेद-सिद्ध होना आपका प्रतिपाद्य पक्ष था, अच्छा होता जो आप उसे सिद्ध कर देते, परन्तु आप ऐसा नहीं करते, अतः मैं विवश होकर उसका वेदानुमोदित न होना सिद्ध करता हूँ। आप उसे सुनने की कृपा करें।

**आचार्य एकदम सभा से चले गये**- यह हो कैसे सकता था कि वह व्यक्ति जो शास्त्रार्थ करने आया था, अपने मत का खण्डन चुपचाप सुने जाए और इस अपमान को सहन करता रहे। अतः पण्डित कमलनयनाचार्य यह कहते हुए कि वेद मन्त्रों का ऐसी सभा में पढ़ा जाना जिसमें शूद्र भी उपस्थित हैं, शास्त्र में वर्जित हैं एकदम सभा से चले गए। लोगों ने उन्हें बहुत रोकना चाहा, परन्तु वे न रुके। उस समय कुछ लोगों ने उनके लिए कुछ उपहाससूचक शब्द भी कहे।

**शास्त्री को स्वामीजी का धन्यवाद**- जब आचार्य महोदय सभा-स्थल से चले गये तो स्वामीजी ने पण्डित विष्णुपरशुराम शास्त्री को धन्यवाद दिया कि आपने इस स्थिति को बचाया और श्रोतृवर्ग से कहा कि मुझे शास्त्रीजी सरीखे महान् और विद्वान् पुरुष की मित्रता का गर्व है और मेरी अभिलाषा है कि भारतवर्ष में उनकी विद्या, सद्भाव और सदाशय के बहत से पुरुष हों।

**सतयुग में मूर्त्तिपूजा न थी**- सेठ गोविन्ददास नानाभाई ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि मूर्त्तिपूजा सतयुग में थी या नहीं? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि नहीं थी। इसे तो इसी कलियुग में बौद्ध और जैन लोगों ने चलाया है।

**स्वामीजी का व्याख्यान**- तत्पश्चात् स्वामीजी ने अपना व्याख्यान आरम्भ किया। पहले तो खेद प्रकट किया कि यहाँ इतने ग्रन्थ जिस शुभ-कार्य के लिए एकत्रित किये गये थे, वह कार्य न हुआ और इन ग्रन्थों का एक पन्ना भी नहीं पलटा गया, फिर मूर्त्तिपूजा का अनेक वेद मन्त्र उद्धृत करके खण्डन किया और प्राण-प्रतिष्ठा आदि में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ करके दिखलाया कि उनका कोई सम्बन्ध उक्त विषयों से नहीं है।

व्याख्यान को सुनकर श्रोतृवर्ग तृप्त और सन्तुष्ट हुआ और सब पर यह भलीभाँति प्रकट हो गया कि पण्डित कमलनयनाचार्य में मूर्त्तिपूजा को वेदप्रतिपादित सिद्ध करने की शक्ति बिल्कुल नहीं है। इससे अनेक लोगों की मूर्त्तिपूजा के ऊपर से श्रद्धा उठ गई।

अन्त में सभापति महोदय ने स्वामीजी के गले में पुष्प-माला डालकर उनका सम्मान सत्कार किया और सभा विसर्जित हुई।

**एक महिला की उपदेश**- हरियाणा की एक महिला माई भगवती तरुणावस्था में ही वैराग्यवती हो गई थी। उसके विचार नवीन वेदान्त के थे। परन्तु इस समय तक प्रकाशित हो गए *'सत्यार्थप्रकाश'* को पढ़कर उसके विचारों में परिवर्तन हो गया था। अत: वह स्वामीजी के दर्शनार्थ मुम्बई आई थी और उनसे उपदेश लेकर कृतार्थ हुई। स्वामीजी ने उसे स्त्री जाति में धर्मप्रचार करने का आदेश दिया और वह यह कार्य आगे अपने मरण पर्यन्त करती रही।

**दिनचर्या**- मुम्बई में स्वामीजी की दिनचर्या इस प्रकार थी कि रात्रि में तीन बजे उठकर कुल्ला करके कुछ जल पीते थे और शौच-स्नान करके समाधिस्थ हो जाते थे। फिर सूर्योदय से पहले ही घूमने चले जाते थे और वहाँ एकान्त में एक घण्टा ध्यानावस्थित रहकर ८ बजे तक अपने आसन पर लौटकर २० मिनट तक विश्राम करते थे, फिर दूध पीकर ११ बजे तक लिखने-लिखाने का कार्य करते थे। तत्पश्चात् स्नान करके भोजन करते और थोड़ी देर लेटकर ४ बजे तक कार्य करते। पुन: ४ बजे से १० बजे तक आगन्तुकों से मिलते और सत्सङ्ग में उपदेश करते। रात्रि को केवल दूध पीते और भोजन न करते थे। ठीक १० बजे सो जाते थे। निद्रा उनके इतनी वश में थी कि पलङ्ग पर लेटते ही गहरी नींद में सो जाते थे।

स्वामीजी को इसका बहुत ध्यान था कि रसोई में जो पदार्थ बने वे सब कर्मचारियों को मिल जाएँ, अत: वह स्वयम् भोजन के समय पाकशाला में चले जाया करते थे।

रसोई में सब वस्तुएँ तौलकर दी जाती थीं ताकि आवश्यकता से अधिक भोजन न बने। एक दिन एक कर्मचारी ने उनसे कहा कि लोग आपको कृपण समझेंगे। उन्होंने कहा कि मुझे इसकी चिन्ता नहीं। मिताहार और मितव्यय दुर्गुण नहीं, सद्गुण हैं।

इस प्रकार लगभग छह मास तक मुम्बई में रहकर स्वामीजी ने दक्षिण की काशी, संस्कृत विद्या के केन्द्र पूना के लिए प्रस्थान किया।

## **पूना** अब **पुणे (१८७५ ई०)**

स्वामीजी को पूना महादेव गोविन्द राणडे और महादेव मोरेश्वर कुण्टे आदि सुधारक दल के नेताओं ने बुलाया था। राणडे महोदय उन दिनों पूना में जज थे और पीछे आकर मुम्बई हाईकोर्ट के जज हो गए थे। वे स्वामीजी की शिक्षा और उपदेश को ग्रहण करते थे और उन्हें गुरुभाव से मानते थे। स्वामीजी पूना में आगमन पूर्णिमान्त आषाढ़ कृष्णा चतुर्दशी संवत् १९३२ वि० (गुजराती संवत् १९३१ वि०) तदनुसार २ जुलाई, १८७५ ई० (शुक्रवार) को हुआ।[५०५] इस नगर में उन्हें विट्ठलपेठ में पञ्च हौस के पास शङ्कर सेठ के मकान में ठहराया गया।

**विज्ञापन**- स्वामीजी ने पूना पहुँचकर यह विज्ञापन दिया कि हम अमुक-अमुक ग्रन्थ को प्रामाणिक और अमुक-अमुक को अप्रामाणिक मानते हैं।

**विज्ञापन का अभिप्राय**- इस विज्ञापन का अभिप्राय यह था कि यदि कोई उनसे शास्त्रार्थ करने की इच्छा करे तो इस बात का ध्यान रखे और इस विषय में वाद-विवाद करके समय नष्ट करने का अवसर किसी को न मिले।

---

५०५- आषाढ़ कृष्णा चतुर्दशी की तिथि डॉ० भवानीलाल भारतीय के *'नव जागरण के पुरोधा : स्वामी दयानन्द सरस्वती'* के अनुसार है, परन्तु उसके साथ उनके द्वारा दी गई २० जून, १८७५ ई० की तारीख पञ्चाङ्गानुसार गलत है। *'दयानन्द-प्रकाश'* के अनुसार स्वामी जी आषाढ़ बदी १३ संवत् १९३२ वि० (१ जुलाई, १८७५ ई०) को पूना पधारे थे।

**५४ व्याख्यान**- पूना में स्वामीजी के व्याख्यान बुधवार पेठ के भिड़े के बाड़े में और कैम्प में ईस्ट स्ट्रीट में मराठी स्कूल में हुआ करते थे। पूना-निवास के दिनों में स्वामीजी के पूना नगर और कैम्प में ५४ व्याख्यान हुए थे, वे सब लिपिबद्ध किये गए थे। उनका सम्पादन महादेव गोविन्द राणडे ने किया था। इनमें से १५ व्याख्यानों का जो नगर में बुधवार पेठ स्थित भिड़े के बाड़े में हुए थे[५०६], आर्य भाषानुवाद होकर भी मुद्रित हो गया था, जो अब *'उपदेश-मञ्जरी'* अथवा *'पूना-प्रवचन'* के नाम से मिलते हैं।

पूना में भी व्याख्यानों का प्राय: वही क्रम रहा जो अन्यत्र रहता था, अर्थात् एक दिन व्याख्यान होता था और दूसरा दिन प्रश्नोत्तर और शङ्का-समाधान के लिए रहता था। इन व्याख्यानों में लोग सहस्रों की संख्या में आते थे और स्वामीजी की वाग्मिता और विद्या पर मुग्ध हो जाते थे।

**स्वामीजी संस्कृतज्ञ न होने से भाषा में बोलते हैं**- पूना में कुछ लोग कहने लगे थे कि स्वामीजी संस्कृत अच्छी नहीं जानते, इसी से हिन्दी में बोलते हैं। इसकी भनक स्वामीजी के कानों में भी पड़ गई, अत: १७ जुलाई को उन्होंने जब अपना व्याख्यान पुनर्जन्म पर आरम्भ किया तो संस्कृत में किया। उन्होंने सुललित और सुमिष्ट संस्कृत की नदी बहा दी जिसे सुनकर श्रोता मुग्ध और विस्मित हो गए। लोग बहुदा संस्कृत नहीं जानते थे, अत: श्रोताओं ने उनसे हिन्दी में ही बोलने की प्रार्थना की । तब उन्होंने शेष व्याख्यान हिन्दी में ही दिए। उनकी वक्तृताओं का इतना प्रभाव पड़ा कि एक महाराष्ट्र ब्राह्मण ने अपने मन्दिर से गणपति की मूर्त्ति उठाकर फेंक दी।

स्वामीजी व्याख्यान बड़े धीर और गम्भीर भाव से देते थे। जब श्रोतागण सुनते-सुनते शान्त और अवसन्न हो जाते थे तो स्वामीजी कोई गल्प वा मनोहर आख्यायिका सुनाकर उन्हें पुनर्वार आकृष्टचित्त कर देते थे।

पूना नगर में में दिए और मुद्रित होकर अब उपलब्ध हुए १५ व्याख्यानों का विवरण निम्न प्रकार है-

प्रथम व्याख्यान - ४ जुलाई, १८७५ ई० (रविवार) आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा : ईश्वर सिद्धि
द्वितीय व्याख्यान- ६ जुलाई, १८७५ ई० (मङ्गलवार) आषाढ़ शुक्ला ४ : ईश्वर विषयक प्रश्नोत्तर
तृतीय व्याख्यान - ८ जुलाई, १८७५ ई० (गुरुवार) आषाढ़ शुक्ला ६ : धर्माधर्म
चतुर्थ व्याख्यान - १० जुलाई, १८७५ ई० (शनिवार) आषाढ़ शुक्ला ७ : धर्माधर्म विषयक प्रश्नोत्तर
पञ्चम व्याख्यान- १३ जुलाई, १८७५ ई० (मङ्गलवार) आषाढ़ शुक्ला १० : वेद-विषय
षष्ठ व्याख्यान - १७ जुलाई, १८७५ ई० (शनिवार) आषाढ़ शुक्ला १४ : जन्म-विषयक
सप्तम व्याख्यान- २० जुलाई, १८७५ ई० (मङ्गलवार) श्रावण कृष्णा २ : यज्ञ और संस्कार विषयक
अष्टम व्याख्यान- २४ जुलाई, १८७५ ई० (शनिवार) श्रावण कृष्णा ६ : इतिहास विषयक (१)
नवम व्याख्यान - २५ जुलाई, १८७५ ई० (रविवार) श्रावण कृष्णा ७ : इतिहास विषयक (२)
दशम व्याख्यान - २७ जुलाई, १८७५ ई० (मङ्गलवार) श्रावण कृष्णा ९-१० : इतिहास विषयक (३)
एकादश व्याख्यान- २९ जुलाई, १८७५ ई० (गुरुवार) श्रावण कृष्णा १२ : इतिहास विषयक (४)
द्वादश व्याख्यान- ३१ जुलाई, १८७५ ई० (शनिवार) श्रावण कृष्णा १४ : इतिहास विषयक (५)
त्रयोदश व्याख्यान- २ अगस्त, १८७५ ई० (सोमवार) श्रावण शुक्ला प्रतिपदा : आह्निक अथवा नित्यकर्म और मुक्ति
चतुर्दश व्याख्यान- ३ अगस्त, १८७५ ई० (मङ्गलवार) श्रावण शुक्ला २ : इतिहास विषयक (६)

---

५०६- *'दयानन्द-प्रकाश'* में लिखा है कि स्वामीजी के पूना में १५ व्याख्यान हुए थे। व्याख्यान १५ नहीं, ५४ ही हुए थे। १५ नगर में शेष कैम्प में। - *संग्रहकर्त्ता*

पञ्चदश व्याख्यान- ४ अगस्त, १८७५ ई० (बुधवार) श्रावण शुक्ला ३ : अपना पूर्व चरित्र

अपने पूर्व-चरित्र सम्बन्धी पन्द्रहवें व्याख्यान में स्वामी दयानन्द ने अपना तब तक का जो इतिवृत्त प्रस्तुत किया था, वह हम अभी तक इस '*दयानन्द-दिवाकर*' ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर उद्धृत करते आए हैं। इसी के अन्त में उन्होंने कहा था कि "इस प्रकार हिन्दुस्तान के सब भागों में मैं गया। आज दो वर्ष से कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, जबलपुर आदि स्थानों में मैंने बहुत लोगों को धर्मोपदेश किया और फर्रुखाबाद, काशी आदि स्थानों में आर्ष विद्या पढ़ाने के लिए तीन या चार पाठशालाएँ स्थापित कीं। उनसे शिक्षक लोगों की उच्छृंखलता के कारण जितना उपयोग (लाभ) हो सकता था, उतना नहीं हुआ। गत वर्ष में मुम्बई आया। मुम्बई में गोसाईं महाराज के मत की छानबीन बहुत प्रकार से की और मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की। मुम्बई से अहमदाबाद और राजकोट जाकर इन स्थानों में कुछ धर्मोपदेश किया और आपके इस शहर में दो महिने* से आया हूँ।

इस प्रकार {यह} मेरा पिछला {जन्म }चरित्र है। आर्य धर्म की उन्नति होवे, इसके लिए मेरे सदृश बहुत से धर्मोपदेशक अपने इस देश में उत्पन्न होने चाहिए। अकेले के हाथ से यह काम बराबर (भली प्रकार) नहीं हो सकता। फिर भी अपनी बुद्धि के अनुसार और सामर्थ्यानुसार मैंने जो दीक्षा ली है, उसे चलाऊँगा, ऐसा संकल्प (= निश्चय) किया है। आर्यसमाज की सर्वत्र स्थापना होकर मूर्ति-पूजा आदि दुष्ट आचार, ये सर्वत्र बन्द होवें; वेदशास्त्र के शुद्ध अर्थ {सब लोग} समझें और उसके अनुसार आचरण होने से देश की उन्नति होवे, ऐसी ईश्वर से प्रार्थना है। आप सब लोगों के मनोयोग पूर्वक साहाय्य से यह {कार्य} सिद्ध होगा, ऐसी पूर्ण आशा है।"

**स्वामीजी के अपने पूर्व-चरित्र सम्बन्धी एक वाक्य का आशय आर्य विद्वान् पिछले १४५ वर्षों में भी नहीं समझ पाए हैं**- स्वामी दयानन्द ने पूना में ४ अगस्त, १८७५ ई० को दिए गए अपने पूर्व-चरित्र सम्बन्धी व्याख्यान के आरम्भ में कहा था कि '*इस समय मेरा वय ४९-५० वर्ष का होगा।*' यह वाक्य स्वामीजी ने चूँकि ४ अगस्त, १८७५ ई० (श्रावण शुक्ला ३) को कहा था, इसलिए उनका वय उस दिन ठीक-ठीक ४९ वर्ष मानने पर उनका जन्म ४ अगस्त, १८२६ ई० (श्रावण शुक्ला प्रतिपदा) को हुआ होना मानना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि उनका वय उस दिन ठीक-ठीक ५० वर्ष का मानने पर उनका जन्म ४ अगस्त, १८२५ ई० (अधिक श्रावण कृष्णा ५) को हुआ होना मानना पड़ेगा। लेकिन स्वामीजी ने तो अपनी वय उस दिन ४९-५० वर्ष की होना बताया था, जिससे उनका वास्तविक जन्म दिनाङ्क-

(क) ४ अगस्त, १८२५ ई० (अधिक श्रावण कृष्णा ५) उत्तर भारतीय चैत्री संवत् १८८२ और गुजराती संवत् १८८१ वि० तथा

(ख) ४ अगस्त, १८२६ ई० (श्रावण शुक्ला प्रतिपदा) उत्तर भारतीय चैत्री संवत् १८८३ और गुजराती संवत् १८८२ वि० के मध्यवर्ती किसी दिनाङ्क का ही हो सकता है।

आगे चलकर स्वामी दयानन्द ने अपना जन्म वर्ष लिखितरूप से संवत् १८८१ वि० होना भी बता दिया था जो उक्त (क) और (ख) की दो जन्म तिथियों में से केवल (क) में ही गुजराती संवत् के रूप में होना पाया जाता है, जिसका आरम्भ कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से होता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वामीजी का जन्मवर्ष १८८१ वि० गुजराती ही है जो कि एक गुजरात में जन्म लिए हुए व्यक्ति का बताना स्वाभाविक ही था।

---

* यहाँ मेरे विचारानुसार एक महिना होना चाहिए। - *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

**सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली द्वारा स्वामी दयानन्द की जन्मतिथि का निर्धारण**– स्वाामीजी की जन्मतिथि के विषय में निर्णय लेते समय 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' की '*धर्मार्य-सभा*' के सम्मुख २३ जुलाई, १९६० को जो विभिन्न जन्म-तिथियाँ आईं थीं, वे निम्न प्रकार थीं-

(अ) *पं० भीमसेन शास्त्री (कोटा)* : फाल्गुण कृष्णा १०, शनिवार, संवत् १८८१ वि० (१२ फरवरी १८२५ ई०)

(ब) *पं० इन्द्रदेव (पीलीभीत)* : फाल्गुण शुक्ला २, शनिवार, संवत् १८८१ वि० (१९ फरवरी १८२५ ई०)

(स) *पं० अखिलानन्द शर्मा 'कविरत्न'* : भाद्रपद शुक्ला ९, गुरुवार, संवत् १८८१ वि० (२ सितम्बर, १८२४ ई०)

(द) *श्री जगदीश सिंह गहलोत* : १० फरवरी १८२५ ई०

(य) *पं० भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर* : आश्विन कृष्णा ७, बुधवार, संवत् १८८१ वि० (१५ सितम्बर १८२४ ई०)

इनमें से सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की धर्मार्य-सभा ने पं० भीमसेन शास्त्री वाली जन्मतिथि को ही मान्यता प्रदान की और इसे ही सभा की अन्तरङ्ग सभा ने १२ अप्रैल १९६७ ई० को स्वीकार कर लिया। पुन: १४ दिसम्बर १९८६ ई० को दुबारा इसकी पुष्टि भी कराके इसे आर्यजगत् में लागू करा दिया।

दरअसल इनमें से कोई भी जन्मतिथि स्वामी दयानन्द द्वारा पूना में कहे गए पूर्वोक्त वाक्य के आधार पर जन्मतिथि के विचार काल के लिए निर्धारित उक्त दोनों छोरों के भीतर की नहीं थीं, इसलिए वे सभी अस्वीकृत कर दी जानी चाहिए थीं, परन्तु उसने इनमें से जिस पं० भीमसेन वाली जन्मतिथि १२ फरवरी, १८२५ ई० को स्वीकार कर लिया वह उत्तर भारतीय चैत्री संवत् १८८१ वि० को मानकर निर्धारित की गई होने से स्वामी दयानन्द की वय ४ अगस्त, १८७५ ई० को ५० वर्ष ५ मास और २३ दिन की हो जाती है जो स्वयं स्वामीजी के पूना में कहे गए उक्त वाक्य के विरुद्ध बैठती है, अत: वह भी अस्वीकरणीय ही है।

वस्तुत: स्वामी दयानन्द की जन्मतिथि का निर्धारण गुजराती संवत् १८८१ वि० मानकर इस प्रकार करना चाहिए था-

१- स्वामी दयानन्द ने २१ अगस्त १८७९ (भाद्रपद शुक्ला ४) के पत्र में मुंशी समर्थदान को बरेली से लिखा कि "हमारा शरीर बहुत दिनों से बीमार है, अति दुर्बल हो गया है। सो तुम जाकर अमरीका वालों से कहना कि और कुछ न समझें। हमारा शरीर दो दिन से कुछ अच्छा है। जो ऐसा ही रहेगा तो हम उनके पत्रों का उत्तर शीघ्र भेजेंगे और अपने जन्म से लेकर *दिनचर्या* अभी कुछ संक्षेप से देवनागरी और अँग्रेजी में करवाकर हम उनके पास भेज देंगे।"

छ: दिन बाद स्वामी दयानन्द ने २७ अगस्त १८७९ (भाद्रपद शुक्ला ११ को अपने जन्मदिन के दूसरे दिन, क्योंकि भाद्रपद शुक्ला ९ एवं १० की तिथियाँ एक ही दिन २६ अगस्त को पड़ी थीं) को पुन: बरेली से ही मुंशी समर्थदान को लिखा था कि "करनैल साहब ने हमको लिखा था कि आप अपना *जन्मचरित्र* लिख दीजिए। प्रथम तो हमारा शरीर अच्छा नहीं रहा, इस कारण से नहीं भेज सके। अब दो-चार दिन से कुछ अच्छा है, सो आज तुम्हारे इस पत्र के साथ जन्म-चरित्र लिखकर भेजते हैं।"

इन दोनों उल्लेखों से सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द की अपनी आत्मकथा के सम्बन्ध में जो अवधारणा '*दिनचर्या*' के रूप में छ: दिन पूर्व में थी, वह छ: दिन बाद '*जन्मचरित्र*' के रूप में इसलिए बदल गई क्योंकि वह उन्होंने अपने जन्म-दिन पर ही छ: पृष्ठों में लिखकर दूसरे दिन भेजी थी। इससे स्वामी दयानन्द ने एक प्रकार से

परोक्षरूप से अपनी जन्म-तिथि का स्वयं ही निर्देश कर दिया था।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द की जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ला ९ संवत् १८८१ वि० (गुजराती) मानने पर पञ्चाङ्गानुसार २० सितम्बर, १८२५ ई० (मङ्गलवार) निर्धारित हो जाती है, जो उनके हस्तलिखित जन्मचरित्र के निम्न उल्लेखों पर भी सटीक बैठ जाती है-

" संवत् १८८१ के वर्ष में मेरा जन्म..... हुआ था।........ फिर माता-पिता ने मुझे बुला के विवाह की तैय्यारी कर दी। तब तक २१ इक्कीसवाँ वर्ष भी पूरा हो गया। जब मैंने निश्चित जाना कि अब विवाह किये विना कदाचित् न छोड़ेंगे। फिर गुपचुप् संवत् १९०३ के वर्ष में घर छोड़ के सन्ध्या के समय भाग उठा।"

इसके अतिरिक्त पूना-प्रवचन का यह वाक्य भी सटीक बैठ जाता है कि 'एक महिने के भीतर विवाह की तैय्यारी हो गई।', क्योंकि भाद्रपद शुक्ला ९ की जन्मतिथि से आगे ५१ दिन का समय नए गुजराती संवत् के आरम्भ होने के लिए मिल जाता है।

इन दोनों उल्लेखों से यह कथन भी सार्थक हो जाता है कि गुजराती संवत् की समाप्ति अर्थात् आश्विन कृष्णा ३० से कुछ दिन पूर्व ही स्वामी दयानन्द का जन्म भाद्रपद शुक्ला ९ को हुआ होने से जब उन्होंने घर छोड़ा तब २२वें वर्ष में कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से आगामी संवत् १९०३ वि० आ जाए।

*'स्वामी दयानन्द सरस्वती की वास्तविक जन्मतिथि'* शीर्षक से हमने एक ३६ पृष्ठीय पुस्तक चैत्र शुक्ला प्रतिपदा संवत् २०७५ वि० तदनुसार १८ मार्च, २०१८ ई० को प्रकाशित कर दी है जिस पर कोटा के पं० शिवनारायण उपाध्याय और अमेठी के डॉ० ज्वलन्तकुमार शास्त्री ने परोपकारी (अजमेर) और वेदवाणी (बहालगढ़) के माध्यम से जो आपत्तियाँ की थीं, उनका उत्तर हम सप्रमाण और सविस्तार अपने दो प्रकाशनों- आदित्यप्रकाश, एकादश एवं द्वादश किरणों के रूप में इन दोनों महानुभावों को भेज चुके हैं जिन्हें पाकर अब ये दोनों महानुभाव और आर्यपत्रों के सम्पादकगण तथा आर्यसमाज की सभी सभाएँ भी मौन धारण करके एक वर्ष से बैठी हुई हैं। *-आदित्यमुनि*

**पण्डितों ने नाक रखने का प्रयत्न किया**- स्वामीजी के व्याख्यानों ने पूना की पौराणिक मण्डली के हृदयों को विलोडित कर डाला, परन्तु किसी पण्डित का शास्त्रार्थी होकर उनके सामने आने का साहस न हुआ। जब स्वामीजी के बहुत से व्याख्यान हो चुके तो पण्डितों ने अपनी नाक रखने के लिए १५ अगस्त सन् १८७५ ई० को विष्णु के मन्दिर में स्वामीजी के विरुद्ध एक सभा की और उसमें कई पण्डितों ने उनके मन्तव्यों के खण्डन में वक्तृताएँ दीं। पण्डित रामदीक्षित आप्ते (वेद शास्त्रज्ञ) और पण्डित नारायण शास्त्री गोडबोले ने एक विज्ञापन भी दिया कि हम दयानन्द से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं।

**पण्डित वेदज्ञ नहीं हैं**- इसके विषय में *'इन्दु-प्रकाश'* के सम्पादक ने १६-८-१८७५ ई० के अङ्क में लिखा था:-
''दयानन्द ने पूना आकर यह विज्ञापन दे दिया था कि वह किस-किस ग्रन्थ को प्रामाणिक और किस-किस को अप्रामाणिक मानते हैं, परन्तु आज तक कोई भी पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने को अग्रसर नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि पण्डितगण वेदज्ञ नहीं हैं और जिन ग्रन्थों को दयानन्द प्रामाणिक मानते हैं, उनके समझने की पण्डितों में अधिक शक्ति भी नहीं है। पण्डितों ने केवल यह समझ कर कि यदि वह चुप रहते हैं, तो लोकसाधारण उन्हें मूर्ख समझेंगे और इससे उनकी जीविका के मार्ग में बाधा पड़ेगी, दयानन्द से शास्त्रार्थ करने का केवल विज्ञापन दे दया है और उसमें ऐसे नियम और प्रतिबन्ध निर्दिष्ट कर दिये हैं कि जिन्हें दयानन्द कभी स्वीकार न करेंगे। इसलिए इस प्रकार के विज्ञापन को सिवाय छल के और क्या कहा जा सकता है?''

*'हितेच्छु'* ने भी १८-८-१८७५ को इस विषय पर निम्न प्रकार लिखा था- ''इस समय पूना समाज के पुरातन पूजक अंश में दयानन्द के कार्यों के कारण उतना ही आन्दोलन मचा हुआ है, जितना ७ वर्ष पहले मचा था, जब शङ्केश्वर के शङ्कराचार्य के सभापतित्व में विधवा-विवाह के शास्त्रविहित होने के प्रश्न पर विचार करने के लिए सभा हुई थी। पूना के पत्र दयानन्द और पण्डितों की सभाओं के वर्णन से भरे हुए हैं। पण्डित लोग दयानन्द की सभाओं के उत्तर में यह बात निर्धारित करने के लिए समता करते हैं कि मूर्त्तिपूजा के इस महान् शत्रु का किस प्रकार साम्मुख्य किया जाये। शास्त्रियों ने नोटिस के रूप में एक पत्र स्वामीजी को भेजा है, जिसमें वे नियम लिखे हैं, जिनके अनुसार वह शास्त्रार्थ कर सकते हैं, यह पत्र स्वामीजी के पास एक असभ्य ढङ्ग से भेजा गया था, अत: उन्होंने उस पर ध्यान नहीं दिया परन्तु उन्होंने शास्त्रियों को सूचना दे दी है कि शास्त्रार्थ के जो नियम भी वह प्रस्तुत करें उनकी महादेव गोविन्द राणडे और महादेव मोरेश्वर कुण्टे से स्वीकारी लेनी होगी। इसकी सम्भावना प्रतीत नहीं होती कि पूना के शास्त्री स्वामीजी के साथ खुले मैदान में शास्त्रयुद्ध करने का साहस करेंगे और यह प्रतीत होता है कि वह ओछी चालें ही चलते रहेंगे जिससे उनका शास्त्रार्थ न करने का मनोरथ पूर्ण हो।"

**पौराणिकदल उपद्रव करने पर उतारू हो गया**- जहाँ एक ओर वे लोग, जिनकी ज्ञानचक्षु कुछ उन्मीलित हो गई थी, स्वामीजी के व्याख्यानों को श्रद्धा और आदर से सुनते थे, वहाँ दूसरी ओर पौराणिकदल उनके व्याख्यानों से अत्यन्त विरक्त और उत्तेजित हो उठा था। उनके वर्णभेद को जन्म पर निर्भर करने, सबको समान रूप से वेद का अधिकार बतलाने, मूर्त्तिपूजा को वेदविरुद्ध कहने आदि से वह इतना रुष्ट और क्षुब्ध हो गया था कि उपद्रव करने और षड़यन्त्र करने पर उतारू हो गया था।

**स्वामीजी के व्याख्यानों का खण्डन**- पौराणिकदल के नेता नारायण भीकाजी जोगलेकर थे, वे अवकाश प्राप्त असिस्टेंट कमिश्नर थे। उन्होंने स्वामीजी के व्याख्यानों के खण्डन का प्रबन्ध किया था और वह उनके प्रतिवाद में रामशास्त्री और वसुदेवाचार्य के व्याख्यान कराया करते थे।

**मिथ्या दोषारोपण**- २२ अगस्त की रात्रि में किसी ने कस्बे के गणपति और अहिल्या की मूर्त्तियाँ उठाकर नाली में फेंक दीं। इस पर पूना में घोर आन्दोलन मच गया। कोई-कोई कहने लगे कि दयानन्द की मूर्त्तिपूज के विरुद्ध वक्तृताओं को सुनकर ही किसी ने यह कर्म किया है। विशेषत: यह कहा गया कि किसी ब्राह्मण ने छद्मवेशी होकर इन देव मूर्त्तियों को उठा कर रात्रि में बलवन्तराव के मन्दिर के सामने नाली में फेंक दिया है। स्वामीजी जो अधिक द्वेष करते थे उन्होंने तो यहाँ तक कहने में सङ्कोच नहीं किया कि दयानन्द पण्ढारपुर जाकर निबठोबा की मूर्ति तोड़ आये हैं और उन्होंने ही उपर्युक्त मूर्तियाँ नाली में फेंकी हैं। स्वामीजी पण्ढरपुर तो गये भी न थे, परन्तु फिर विद्वेषियों ने ऐसी ऊटपटाँग और मिथ्या बात कहने में त्रुटि नहीं की।

**लज्जाजनक अपवाद**- केवल इतना ही नहीं, स्वामीजी पर अनेक प्रकार के मिथ्या दोषारोपण करके सर्वसाधारण को उनके विरुद्ध भड़काने का यत्न किया गया। एक यह जनरव फैलाया गया कि दयानन्द ने अपने एक व्याख्यान में श्री रामचन्द्र को भड़वा कहा था और यह कि रावण को प्रसन्न करने के लिए ही रामचन्द्रजी ने सीता को स्वयम् उसके पास भेजा था। स्वामीजी के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम के सम्बन्ध में ऐसे परम निन्दासूचक वाक्य कहना सर्वथा असम्भव था। अपने पूर्वजों के प्रति उनके हृदय में परम प्रतिष्ठा के भाव थे। परन्तु शत्रुओं को सत्यासत्य से क्या लेना था, उन्हें तो यथातथा जनता को स्वामीजी के विरुद्ध उभारने से प्रयोजन था।

**लोक-साधारण को स्वामीजी के विरुद्ध भड़काया गया**- पौराणिक पक्ष के स्थानीय समाचार-पत्रों ने भी लोक-साधारण को स्वामीजी के विरुद्ध उकसाने में कमी नहीं की और उन्होंने यहाँ तक लिख मारा कि हिन्दू-धर्म

पर इस प्रकार के आक्रमणों से सिपाही विद्रोह के समान दूसरे विद्रोह के होने की सम्भावना है। ऐसा लिखने से उन का स्पष्ट अभिप्राय सरकार को स्वामीजी के विरुद्ध करने का था।

**उपद्रव का सुयोग**– विपक्षीदल जब विद्या और युक्तिबल से स्वामीजी को परास्त न कर सका तो उसने निर्मल कीर्त्तिचन्द्र पर मिथ्या आक्षेपों और मृषा आरोपों की धूलि फेंक कर उसकी ज्योत्सना को तिरोहित करना चाहा और वह उत्पात तथा उपद्रव उठाने का सुअवसर जोहने लगा और दैवगति से ऐसा अवसर शीघ्र ही उन्हें प्राप्त हो गया।

**सम्मान–प्रदर्शन का निश्चय**– बात यह हुई कि पूना में अपना कार्य समाप्त करने के पश्चात् स्वामीजी ने सतारा जाने की इच्छा प्रकट की तो उनके श्रद्धालु भक्तों ने आपस में परामर्श करके यह स्थिर किया कि उनके प्रति अपने उपकार को प्रकट करने के लिए उन्हें समारोहपूर्वक शहर और कैम्प में ले जाया जाए और इसके लिए ५ सितम्बर (रविवार) का दिन निश्चित कर दिया गया और तदर्थ शहर और कैम्प में तैयारियाँ होने लगीं। स्वामीजी की समारोह–यात्रा के लिए तीन सौ रुपए एकत्र किए गए। यह निश्चय हुआ कि ५ सितम्बर सन् १८७५ (रविवार) को पहले कैम्प में स्वामीजी का एक व्याख्यान कराया जाए और तत्पश्चात् कैम्प से समारोह–यात्रा नगर में ले जाई जाए।

**शोभा–यात्रा की तैयारी**– सभा के लिए निमन्त्रण–पत्र भेजे गए और सभागृह को फूल–पत्ती आदि से सजाया गया। शोभा–यात्रा के लिए देशी और अँग्रेजी बाजे मँगवाये गए। कैम्प मैजिस्ट्रेट से आज्ञा लेकर स्वामीजी की सवारी के लिए हौदे समेत हाथी मँगवाया गया। यत: वातावरण पहले से ही दूषित हो रहा था और विपक्षियों की ओर से उपद्रव की आशङ्का थी, अत: पुलिस का भी प्रबन्ध किया गया।

**संवर्द्धन–सभा**– संवर्द्धना–सभा सङ्गठित हुई। उसमें पूना नगर के लगभग १०० लोग सम्मिलित हुए थे, श्रोताओं में हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमान, पारसी और यहूदी भी थे। स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में *'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:'* इत्यादि वेदमन्त्र की व्याख्या की। व्याख्यान की समाप्ति पर गङ्गाराम भाऊ भस्के ने एक उत्तम वक्तृता दी जिसमें स्वामीजी के उपकारों का उल्लेख करके उनके प्रति पूना निवासियों की ओर से कृतज्ञता प्रगट करके अन्त में कहा– ''स्वामीजी की व्याख्यानमाला से हमें जो लाभ हुआ उसके लिए कृतज्ञता प्रकट करने के चिह्नस्वरूप हमें कोई उत्तम परिच्छेद उनकी भेंट करना चाहिए और मैं आशा करता हूँ कि स्वामीजी उसे ग्रहण करने की कृपा करेंगे।'' स्वामीजी ने कहा कि यद्यपि मैं किसी परिच्छेद के लेने को उद्यत नहीं हूँ, परन्तु न लेने से आप लोग असन्तुष्ट होंगे, अत: मैं उसे स्वीकार करने पर बाध्य हूँ।

इसके अनन्तर गङ्गाराम भाऊ भस्के और कई अन्य सज्जनों ने एक जोड़ा शाल, एक पगड़ी, एक रेशमी पीताम्बर और एक रेशमी चादर प्रफुल्लहृदय और श्रद्धा के साथ स्वामीजी को भेंट किए और श्रोतृवर्ग ने उन पर पुष्प वर्षा की तथा उपस्थित लोगों में पान–सुपारी वितरण किया गया, फिर समारोह–यात्रा आरम्भ हुई।

**स्वामीजी हाथी पर सवार न हुए** – स्वामीजी ने हाथी पर सवार होना स्वीकार नहीं किया[५०७] और वह अन्य मनुष्यों के साथ पैछल ही चले।

**शोभायात्रा का क्रम**– समारोह यात्रा का यह क्रम था कि सबसे आगे हाथी था, उसके पीछे कोतल घोड़े, फिर पुलिस के सिपाही और उनके पीछे बाजे वाले फिर स्वामीजी और उनके भक्तजन तथा अन्त में अन्य लोग थे।

इस समारोह–यात्रा के आरम्भ में ३००–४०० मनुष्य थे, परन्तु नगर तक पहुँचते–पहुँचते उनकी संख्या ३–४ सहस्र तक हो गई थी।

---

५०७– *'दयानन्द–प्रकाश'* में लिखा है कि स्वामीजी हाथी पर सवार हुए, यह ठीक नहीं है। उन्होंने हाथी पर बैठना स्वीकार नहीं किया था। वे सबके साथ पैदल ही चले थे। – *संग्रहकर्त्ता*

**विपक्षियों की लीला, गर्दभ-शोभा-यात्रा**- स्वामीजी का इस प्रकार सम्मान होता देखकर विद्वेषियों के हृदय ईर्ष्या की अग्नि से दग्ध हो गए, उनके कलेजों पर बरछियाँ चल गईं। मानो स्वामीजी के सम्मान से उनका घोर अपमान होता था। उन्होंने दयानन्द- समारोह-यात्रा के उपहासार्थ एक गर्दभ-समारोह-यात्रा निकालने का प्रबन्ध किया। एक गर्दभ को सजाया गया, उस पर गेरुए रङ्ग की, अर्थात् उस रङ्ग की कि जिस रङ्ग के स्वामीजी वस्त्र पहनते थे, झूल डाली गई और उस पर *'गर्दभानन्द सरस्वती'* लिखा गया तथा उसके आगे बाजा बजाते और *'गर्दभानन्द की जय, दयानन्द गदहे की जय'* बोलते हुए नगर के बाजारों में घूमने लगे। विपक्षियों का एक बड़ा दल इस गर्दभ दल के साथ हुआ, नगर के लुच्चे, लुङ्गाड़े, गुण्डे और लफङ्गे उपद्रव की तैयारी करने लगे और इस यत्न में रहे कि किसी न किसी प्रकार स्वामीजी की समारोह-यात्रा से मुठभेड़ करें। गर्दभ-दल के नेता वही नारायणजी भीकाजी जोगलेकर थे। उन्होंने ही यह निन्दनीय रचना रची थी। गर्दभ हाँकने वाले प्राय: २५ मनुष्य थे जो भाडारिया जाति के थे।

**दोनों यात्राओं की मुठभेड़**- स्वामीजी की समारोह यात्रा ५ बजे सायंङ्काल के कैम्प से चली थी। जब वह भवानीपेठ, गणेशपेठ, आदित्यवारपेठ, बुधवारपेठ में से होती हुई भिड़े के बाड़े की ओर जहाँ स्वामीजी का व्याख्यान होने को था, जाने लगी तो ७-३० बज गये थे और मशालें जला ली गईं थीं। उसके वहाँ पहुँचते ही दूसरी ओर से गर्दभदल भी आ पहुँचा और उसने *'स्वामी गदहे की जय', 'दयानन्द गदहे की जय'* बोलना आरम्भ किया। इस ओर से उस दुष्टता पर आक्षेप किया गया और गदहे को पकड़वा कर पुलिस के हवाले कर दिया गया। उस दिन वर्षा हो चुकी थी बल्कि समारोह-यात्रा के समय भी वर्षा होने लगी थी, परन्तु लोगों के हृदय इतने उत्साहयुक्त और उत्फुल्ल थे कि उन्होंने उसकी कुछ भी परवाह नहीं की। वर्षा के कारण मार्ग में कीचड़ भी हो गया था।

**स्वामीजी की शोभा-यात्रा पर आक्रमण**- गर्दभ को पुलिस के हवाले करने पर गर्दभ-दल के लोगों ने मशालें बुझा दीं और स्वामीजी के पक्ष वालों पर ईंटें, पत्थर, गोबर, कीचड़ फेंकना आरम्भ कर दिया। गली के सब ओर से और मकानों की छतों और खिड़कियों से भी ईंटें बरसने लगीं और कई लोगों के चोटें भी आईं। यह उपद्रव रात्रि के १० बजे तक इसी प्रकार चलता रहा।

**पुलिस तमाशा देखती रही**- जो पुलिस वाले स्वामीजी की समारोह-यात्रा के साथ थे, वे खड़े-खड़े तमाशा देखते रहे, उन्होंने उपद्रव को शान्त करने का कोई यत्न नहीं किया। किसी ने पुलिस सुपरिण्टेंडेंट, पोर्टमैन और पुलिस इंस्पेक्टर ट्रेने को भी सूचना दे दी और वह १०० कॉन्स्टेबिल (कोई-कोई २०० कहते हैं) साथ लेकर उपद्रवस्थल आ गए। उन्होंने बड़ी कठिनता से इस उपद्रव को शान्त किया।

**पुलिस ने केवल एक मनुष्य को पकड़ा**- गर्दभदल के लोगों ने पुलिस पर भी ईंट, पत्थर फेंके और उनके भी चोट आई। स्वयं इन्सपेक्टर ट्रेने भी आहत हुए। एक ब्राह्मण के तो इतनी चोट आई कि उसे अस्पताल पहुँचाना पड़ा[५०८]। पुलिस की इतनी भीड़ होते हुए और इतना भयङ्कर उपद्रव होते हुए भी पुलिस ने केवल एक मनुष्य को पकड़ा जो अति निम्न श्रेणी का था। उपद्रव शान्त होने पर भी गर्दभदल के लगभग १००० मनुष्य बुधवारपेठ में खड़े रहे।

स्वामीजी उपद्रव आरम्भ होते ही उस मकान में चले गये थे, जिसमें इनका व्याख्यान होने को था।

---

५०८- कोई-कोई कहते हैं कि गर्दभ दल गदहे को व्याख्यान-गृह के भीतर ले गया जहाँ से स्वामीजी पहले ही चले गये थे और उनसे गदहे की ओर संकेत करके कहा कि 'लो यह तुम्हारा अनुयायी है' स्वामीजी के साथियों ने गदहे को मकान के भीतर से बाहर कर दिया और तब गर्दभदल ने उन पर आक्रमण किया।

**स्वामीजी ने उपद्रव शान्त होने पर व्याख्यान दिया**- शान्ति स्थापित होने पर स्वामीजी ने अपना व्याख्यान दिया, परन्तु उसमें उन्होंने इस उपद्रव का उल्लेख तक नहीं किया। उनकी चित्त की शान्ति एक क्षण के लिए भी भङ्ग न हुई, वे सदा की भाँति प्रफुल्लवदन थे, उनके मुख-मण्डल पर चिन्ता का चिह्न: तक नहीं था। उनका स्वर सदा की भाँति गम्भीर व मधुर और विस्पष्ट था, उसमें कोई कातरता न थी, कोई प्रकम्प न था। श्रोतृवर्ग व्याख्यान सुनने के लिए इतना लालायित था कि इस दुर्घटना के होने पर भी व्याख्यान-गृह उससे परिपूर्ण था।

**स्वामीजी का समादर**- स्वामीजी ने अपना व्याख्यान शान्त और गम्भीरभाव से समाप्त किया, व्याख्यान की समाप्ति पर श्रीयुत् महादेव मोटेश्वर कुण्टे ने उनकी प्रशंसा में छोटी सी वक्तृता दी। कुण्टे महोदय ने कहा कि "श्री स्वामीजी महाराज बहु-गुणसम्पन्न व्यक्ति हैं, उनका समादर करना हमारा कर्त्तव्य है, इत्यादि।" फिर श्रीयुत् रघुनाथ शास्त्री ने कहा कि "व्याख्यानदाता का नाम दयानन्द सार्थक हुआ है, अत: उनका आदर-सम्मान विधेय है।"

**वेदभाष्य की सहायता**- तत्पश्चात् श्रीयुत् महादेव गोविन्द राणडे ने कहा कि स्वामीजी महाराज ने पूना पधार कर व्याख्यानादि द्वारा स्थानीय पण्डित मण्डली के हृदय में वेदोक्त-धर्म के विषय में विचार और जिज्ञासा का उदय कर दिया है। शास्त्रियों को पक्षपात- शून्य होकर विचार करना उचित है, स्वामीजी ने अनेक बातें ऐसी कही हैं जो ग्रहण करने योग्य हैं, अत: उनका समादर करना हमारा कर्त्तव्य है। उन्हें परिच्छद भेंट करना उपयुक्त है, परन्तु वे संन्यासी हैं, अत: वे उसे ग्रहण न करेंगे इसलिए उनके बदले उन्हें वेदादि ग्रन्थों के भाष्य और प्रकाशन के लिए अर्थ सहाय करना अच्छा होगा। अत: मैं प्रस्ताव करता हूँ कि २५० रु० उनकी भेंट किए जाएँ। यह प्रस्ताव सबने एक मत होकर स्वीकार किया और स्वामीजी ने भी यह सहाय सादर ग्रहण किया। पश्चात् सभास्थ पुरुषों ने स्वामीजी पर पुष्प-वर्षा की और सभा समाप्त हुई।

**स्वामीजी की निर्भीकता**- जिस समय सभा विसर्जन हुई, उस समय १२ बज गये थे। इन्स्पेक्टर ट्रेने बराबर सभास्थल में उपस्थित रहे। व्याख्यान की समाप्ति पर उन्होंने स्वामीजी से कहा कि "आज की रात्रि को आप भिड़े के बाड़े में ही शयन करें, क्योंकि बाहर जाने से आप पर आक्रमण होने का भय है।" स्वामीजी ने कहा आपका कार्य रक्षा करना है, आप अपना कार्य करें, हम तो निवास-स्थान पर ही जाकर सोवेंगे। इस पर पुलिस विवश होकर स्वामीजी के साथ गई और उन्हें उनके निवास-स्थान पर पहुँचा आई। उस समय भी विपक्षी दल ने, जो बराबर डटा खड़ा था स्वामीजी और पुलिस पर ईंटें फेंकी।

**स्वामीजी चट्टान सदृश अचल थे** - इस घटना से ज्ञात होता है कि स्वामीजी कैसे असीम साहस, विपुल वीर्य, सुदृढ़-सङ्कल्प, निश्चल निर्भीकता के धनी थे। वे एक चट्टान के सदृश अटल थे, जिसमें टकराकर विरोध की लहरें छिन्न-भिन्न हो जाती थीं। उन्नतकाय और उन्नतहृदय दयानन्द में दीनता के भाव आना और उनके मुख से दीनता के वचन निकलना असम्भवप्राय थे। वे परमेश्वर से नित्यप्रति *'अदीना: स्याम'* की सच्चे मनोयोग से प्रार्थना करते थे और परमेश्वर के आशीर्वाद से अदीन हो गये थे। क्या दयानन्द के अनुयायियों ने उनके इस गुण को धारण किया है, क्या वे भी वैसे ही मनोयोग से सन्ध्या में बैठकर अदीन होने की परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं, यदि नहीं तो ये दीन अदीन दयानन्द का काम कैसे पूरा करेंगे?

**दो अभियुक्त**- इस हङ्गामें में केवल एक को पकड़ा गया और तीन को पीछे से पहचाना गया। इनमें से दो पर अभियोग चलाया गया। एक का नाम था गुन्नू बिनपण्डू और दूसरे का गुन्नू बिनबिट्टू। दोनों ही निम्न कोटि के मनुष्य थे। पुलिस की कृपा से उच्च कोटि के मनुष्य जिन्होंने यह उपद्रव खड़ा किया था, पकड़े ही नहीं गये थे, उन पर मुकद्मा चलता ही कैसे?

**अभियुक्तों को दण्ड**- पुलिस ने इन्हीं दो पर अभियोग चलाया और इन्हीं दोनों को १७ सितम्बर सन् १८७५ को मिस्टर डब्ल्यू० आर० हैमिल्टन, सिटी मैजिस्ट्रेट के यहाँ से भारत दण्डसंहिता की धारा १५३ में ६-६ मास का सपरिश्रम कारावास और ५००-५०० रु० जुर्माना न देने की दशा में ३-३ मास का और सपरिश्रम कारावास तथा धारा १४७ में ३-३ मास का सपरिश्रम कारावास का दण्ड हुआ था। उनके सहायकों ने अभियुक्तों की ओर से खूब डटकर पैरवी की और पुष्कल द्रव्य व्यय किया।

मैजिस्ट्रेट के निर्णय-पत्र का कुछ भाग हम यहाँ उद्धृत करते हैं-

**मैजिस्ट्रेट के निर्णयपत्र का उद्धरण**- ''यह विचित्र बात है और प्रशंसनीय होने से बहुत दूर है कि यद्यपि यह उपद्रव नगर में सेंट्रल पुलिस स्टेशन के सामने दो घण्टे तक होता रहा, परन्तु केवल एक निरुपद्रवी पटेवाले को पकड़ा गया और तीन को पीछे से पहचाना गया। किसी पक्ष की ओर से यह शिकायत नहीं है कि पुलिस ने उपद्रव को शान्त करने में अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया, इस कारण मेरे लिए पुलिस पर अधिक गिरफ्तारियाँ न करने से उपद्रवकारियों का पक्ष करने का अभियोग लगाना उदारता के विरुद्ध होगा, परन्तु फिर भी यह विश्वास करना असम्भव है कि यदि इस उपद्रव का उद्भाव धर्मसम्बन्धी न होता तो अधिक गिरफ्तारियाँ न होतीं। यह सर्वथा मखौल और न्याय की खिल्ली उड़ाना है कि ५००० मनुष्यों की भीड़ में से केवल एक दीन हीन पटेवाले और एक दरिद्र ब्राह्मण का उपद्रव करने के अभियोग में चालान किया जावे और इन दोनों को भी बाजे वाले ने बताया था, पुलिस ने उन्हें नहीं पकड़ा था। यह बात चाहे सुनने में कठोर लगे, मेरा विश्वास है कि सारी पुलिस ब्राह्मणों के प्रभाव में थी और इसी कारण से उसने अधिक लोगों को नहीं पकड़ा। एक फुर्तीला पुलिस अफसर डण्डे के थोड़े से ही प्रयोग से ही इन दुरवस्थापन्न उपद्रवकारियों की सेना को तित्तर-वित्तर कर देता और उनमें रेवड़ का रेवड़ पकड़ सकता था। मैं पुलिस पर भीरुता का दोष नहीं लगाता, परन्तु मैं यह कहता हूँ कि उसने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया और उसके ऐसा न करने के कारण स्पष्ट हैं। मैं इसे अपना कर्त्तव्य समझूँगा कि उसके व्यवहार को जिला मैजिस्ट्रेट के नोटिस में लाऊँ।

आगे चलकर वे लिखते हैं कि ''वे अभियुक्त दरिद्र जीव हैं, उनसे ऊँची स्थिति वालों ने अर्थात् कतिपय धर्मान्ध ब्राह्मणों ने अपना काम निकाला है, जिनके ऊपर मुख्यत: इस लज्जाजनक उपद्रव का दोष है, मुझे बताया गया है कि उक्त लोगों ने स्वामीजी से क्षमा की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया है और इस कारण मानहानि और आघात पहुँचाने का अभियोग जो उन पर चलने वाला था, हटा लिया गया है। इसलिए पुलिस को मेरे सामने इन दो अकिञ्चनकर व्यक्तियों पर अभियोग चलाना पड़ा।''

फिर वे लिखते हैं कि ''यह दयनीय है कि जिन्होंने इस मूर्खतामय स्वाङ्ग की अपने मस्तिष्क से सृष्टि की वे बच जाएँ और उनके पिट्ठू दण्ड पा जाएँ परन्तु यह आशा की जाती है कि जो जुर्माना किया गया है उसे वही देंगे जो उन्हीं की मूर्खता का परिणाम है।''

सिटी मैजिस्ट्रेट के निर्णय के विरुद्ध अभियुक्तों की ओर से वैरन डी० एच० लापेण्ट साहब सशन जज की अदालत में अपील हुई, जिसमें अभियुक्तों की ओर से मुम्बई के प्रसिद्ध बैरिस्टर ने पैरवी की। प्रशंसित जज ने २१ सितम्बर सन् १८७५ को धारा १५३ के अपराध से तो अभियुक्तों को मुक्त कर दिया परन्तु धारा १४७ का दण्ड ज्यों का त्यों रखा।

इसके पश्चात् जज साहब के निर्णय की हाईकोर्ट में निगरानी की गई और उन्हीं मिस्टर ब्रैंसन ने पैरवी की, परन्तु निगरानी ८ दिसम्बर को अस्वीकृत हो गई।

**दयानन्द की दयालुता**– दयानन्द की दयालुता का एक और उदाहरण देखिए। जिन लोगों ने इस प्रकार उनका घोर अपमान करने की चेष्टा की थी जब उन्होंने क्षमा माँगी तो उन्होंने बिना किसी सङ्कोच के उन्हें क्षमा कर दिया, वे किसी से भी द्वेष रखने वाले न थे। यदि पुलिस मुकद्दमा न चलाती तो वे इन दानों व्यक्तियों को दण्ड दिलाने का विचार तक नहीं करते। उनका तो कथन यही था कि जब बुरे अपनी बुराई कारना नहीं छोड़ते तो भले अपनी भलाई क्यों छोड़ें और वे सदा इसी के अनुकूल आचरण भी करते थे। जिन दुष्टों ने उनके प्राणघात करने की चेष्टा की उन तक को उन्होंने दण्ड दिलाना न चाहा, इन अभियुक्तों का ऐसा अपराध भी क्या था, वे तो दूसरों के हाथ की कठपुतली भर थे।

**पौराणिक दल की ओर से अभियुक्तों का सम्मान**– दोनों अपराधी सरकारी नौकर थे, उनमें से एक चपरासी और एक दफ्तरी था, पौराणिक दल ने अभियोग में उनकी पूरी-पूरी सहायता की थी। मुकद्दमे के व्यय के लिए उन्होंने चन्दा किया, पूना में जो सबसे योग्य बैरिस्टर था, उसे जजों और हाईकोर्ट में पैरवी के लिए नियत किया। कारावास के समय उन्हें नियमित रूप से मासिक सहायता दी गई। जब दोनों अपराधी कारावास से मुक्त हुए तो उन्हें पालकी में बिठाकर सारे नगर में उनकी समारोह यात्रा निकाली गई और उनमें से हर एक को एक-एक सौ रुपया पुरस्कार में दिया गया, मानों उन्होंने कोई बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था, वा सर्वसाधारण की कोई बड़ी सेवा की थी। इसके अतिरिक्त प्रयत्न करके उनकी नौकरी उन्हें पुन: दिला दी गई।

सरकार ने उपर्युक्त जोगलेकर से इस उपद्रव के कारण उत्तर माँगा।

**उपद्रव के कर्त्ता का कथन**– देवेन्द्रबाबू जोगलेकर महाशय से मिले थे और इस उपद्रव के सम्बन्ध में उनसे पूछताछ की थी तो उन्होंने कहा था – "इस दुर्घटना का कारण यह था कि दयानन्द पूना-सुधारक दल के बुलाए हुए आए थे और उसकी प्रेरणा से ही उन्होंने हिन्दुओं के देव, देवी प्रभृति पर आक्रमण किया था। यदि वे सुधारक दल के बुलाए हुए न आए होते और हिन्दूधर्म पर आक्रमण न करते और केवल वैदिक सिद्धान्तों का ही प्रचार करते तो अनेक लोग उनके अनुयायी बन जाते।"

**उक्त कथन की असत्यता**– जोगलेकर महाशय का यह कहना कि स्वामीजी ने सुधारक-दल की प्रेरणा से हिन्दुओं के देव, देवी प्रभृति का खण्डन किया था, सर्वथा आधार शून्य है। यह जगद्विख्यात है कि स्वामीजी मूर्त्तिपूजा के अदम्य विरोधी थे। मूर्त्तिपूजा आदि के खण्डन के लिए उन्हें किसी की प्रेरणा की आवश्यकता न थी।

पण्डित लेखराम कृत उर्दू '*दयानन्द चरित्र*' में लिखा है कि पूना में पण्डित विष्णु परशुराम शास्त्री और डॉक्टर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर से शास्त्रार्थ हुआ था। यह तो सत्य है कि इन दोनों से स्वामीजी का शास्त्रीय विचार-विमर्श हुआ था, परन्तु पूना में नहीं प्रत्युत मुम्बई में नवम्बर सन् १८७४ ई० में हुआ था।

पूना से स्वामीजी सितम्बर सन् १८७५ ई० की भाद्रपद शुक्ल पक्ष की किसी तिथि को सतारा चले गये।[५०९]

## सतारा (१८७५ ई०)

पूना से स्वामीजी के कुछ भक्तों ने रा०रा० कल्याणराम सीताराम चित्रे को जो उस समय सतारा के कलेक्टर के नेटिव एजेण्ट थे तथा मिस्टर धामनारकर को जो उस समय कलक्टरी में हेडक्लर्क थे और पीछे आकर बड़ौदा के दीवान के पद पर प्रतिष्ठित हुए तथा मिस्टर राजे हेड-अकाउन्टेंट को स्वामीजी के निवास तथा आहार

५०९- पण्डित लेखरामकृत उर्दू *जीवन-चरित* और स्वामी सत्यानन्दजी के '*दयानन्द प्रकाश*' में स्वामीजी के सतारा जाने का उल्लेख नहीं है। – *संग्रहकर्त्ता*

आदि का प्रबन्ध करने के लिए पत्र लिख दिए थे, तद्नुसार जब स्वामीजी सतारा पहुँचे तो इन्हीं महानुभावों ने उनका स्वागत किया और उनके ठहरने आदि का सब प्रबन्ध कर दिया।

सतारा में स्वामीजी का कोई व्याख्यान तो न हुआ, परन्तु जो लोग उनके पास आते थे, उनसे ही उनकी शास्त्रीय विषयों पर बातचीत होती थी।

**शास्त्रार्थ के लिए सभा**– सतारा के शास्त्रिगण स्वामीजी के मन्तव्यों पर बहुत कटाक्ष करते थे, अतः कुछ लोगों ने शास्त्रियों का स्वामीजी से शास्त्रार्थ कराने का आयोजन किया। एक दिन एक सभा बुलाई गई और उसमें सतारा के गणमान्य शास्त्रियों को निमन्त्रित किया गया। यह सभा दीवान बाड़े में हुई और उसमें नगर के प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध शास्त्री तथा अन्य सज्जन उपस्थित हुए। सभा में सतारा के निम्नलिखित दिग्गज पण्डित उपस्थित हुए थे–

वेदमूर्त्ति अनन्ताचार्य, वेद शास्त्र सम्पन्न राजेन्द्रगोरकर, राम शास्त्री गोडबोले, भाऊजी दीक्षित चिपलूणकर, अनन्त शास्त्री चिपलूणकर।

**शास्त्रार्थ का आह्वान**– बहुत वादविवाद के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि स्वामीजी को शास्त्रार्थ का आह्वान दिया जाए कि उनकी सम्मतियाँ परम्परा, विद्वानों के मन्तव्य तथा शास्त्रों के विरुद्ध हैं, अतः वे उन्हें प्रतिपादित करें। इस शास्त्रार्थ का विज्ञापन एक स्थानीय पत्र में छपवाया गया और उसकी एक प्रति स्वामीजी के पास भेजी गई। इस विज्ञापन में शास्त्रार्थ में मध्यस्थ का नियत करना अनिवार्य ठहराया गया था। स्वामीजी पौराणिकों की इस चाल को पहले से ही भलीभाँति जानते थे। इससे पौराणिकों का अभिप्राय शास्त्रार्थ को टालना ही हुआ करता था, क्योंकि वे जानते थे कि ऐसा मध्यस्थ तो सारे भारतवर्ष में भी नहीं निकलेगा जो मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध अपना निर्णय दे सके और यदि कोई ऐसा निकल भी आया तो उसे वे स्वीकार नहीं करेंगे। अतः स्वामीजी ने विज्ञापन के उत्तर में कह दिया कि हम शास्त्रार्थ करने के लिए समुद्यत हैं, परन्तु मध्यस्थ का पचड़ा नहीं चाहते। इसे पौराणिक पण्डित मान ही नहीं सकते थे। अतः शास्त्रार्थ की इतनी ही बातचीत होकर रह गई।

**फलित ज्योतिष असत्य है**– एक दिन एक जिज्ञासु ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि फलित ज्योतिष सत्य है या नहीं, तो उन्होंने कहा कि वह प्रतारणामात्र है।

**वर्णभेद पर बातचीत**– एक दिन स्वामीजी यह उपदेश दे रहे थे कि वर्णभेद गुणों पर निर्भर है, न कि जन्म पर और अपने कथन की पुष्टि में मनुस्मृति के कुछ श्लोक पढ़ रहे थे। इस पर एक मनुष्य ने कहा कि मनुस्मृति में अन्य श्लोक इसके विरुद्ध भी हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया वे सब प्रक्षिप्त हैं। इसके उत्तर में उसने कहा कि १०० वर्ष हुए सर विलियम जोंस ने मनुस्मृति का अँग्रेजी में अनुवाद किया था जो कुल्लूक के अर्थों के अनुकूल था। कुल्लूक को मरे हुए ३०० वर्ष हुए। उससे भी पहले की गोविन्दराज और मेधातिथि की टीकाएँ उपस्थित हैं, उस समय भी यह श्लोक मनुस्मृति में ज्यों के त्यों थे। यदि यह कहा जाये कि उस समय से पहले ही यह श्लोक मनुस्मृति में मिला दिये गये थे, तो इसका कुछ प्रमाण होना चाहिए। इसका स्वामीजी ने उत्तर दिया था, परन्तु वह उत्तर क्या था, यह ज्ञात न हो सका। जिन महाशय से ये प्रश्नोत्तर हुए थे, स्वयं उन्हें भी इसका स्मरण नहीं रहा था।

## पुनः पूना (१८७५ ई०)

स्वामीजी सतारा से २३ अक्टूबर सन् १८७५ ई० अर्थात् आश्विन कृष्णा ९ (शनिवार) गुजराती संवत् १९३१ वि० को पुनः पूना लौट आए। तब स्वामीजी ने वहाँआर्यसमाज स्थापित किया जिसके प्रधान महादेव गोविन्द रानडे और मन्त्री केशवराव गोडबोले बनाए गए थे। इससे पूर्व से पूना में विद्यमान प्रार्थना-समाज के सभी सभासद ही आर्यसमाज के सदस्य बन गए थे, परन्तु यह समाज थोड़े दिन ही चलकर समाप्त हो गया।

## मुम्बई (१८७५ई०)

पूना से स्वामीजी मुम्बई आ गए। मुम्बई रेल्वे स्टेशन पर श्रद्धालु जनों ने बड़े प्रेम और सम्मान के साथ उनका स्वागत किया। स्टेशन पर कोई ५०० मनुष्य उनके स्वागत के लिए आए थे। मुम्बई में ३० अक्टूबर सन् १८७५ ई० तदनुसार कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा (शनिवार) को 'आर्यों का नये वर्ष (गुजराती संवत्)[५१०] का प्रथम दिवस' विषय पर उनका एक व्याख्यान हुआ।

**संस्कारविधि: पुस्तक का प्रणयन**– आर्यजाति में वेदादिशास्त्रविहित संस्कारों की परम्परा को शिथिल होते देख इस जाति के पुनरुत्थापनार्थ आचार्य दयानन्द ने इस अलौकिक ग्रन्थ की रचना का उपक्रम किया। संस्कारविधि: के प्रथम संस्करण का लिखना मुम्बई में संवत् १९३२ वि० की कार्तिक अमावस्या को शनिवार के दिन आरम्भ हुआ। इसमें ग्रन्थ के आरम्भ में स्वयं आचार्य का यह लेख प्रमाण है–

*चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्त्तिकस्यान्तिमे दले।*
*अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भ: कृतो मया।।*

मेरे द्वारा सम्पादित और स्व० पं० युधिष्ठिर मीमांसक के आर्थिक सहयोग से पौष पूर्णिमा संवत् २०४७ वि० (३१ दिसम्बर, १९९० ई०)को प्रकाशित '*दयानन्द जीवनकाल पञ्चाङ्ग*' के अनुसार यह तिथि २७ नवम्बर, १८७५ ई० (शनिवार) को पड़ी थी।

इसके पश्चात् स्वामीजी कुछ काल मुम्बई में रहकर वहाँ से बड़ौदा आदि स्थानों पर धर्मोपदेश करने के लिए चले गए।

## बड़ौदा (१८७५-७६ ई०)

**आतिथ्य सत्कार**– बड़ौदे में सर टी० माधवराव ने स्वामीजी के ठहरने का प्रबन्ध गोविन्दराम रोडिया की धर्मशाला में किया। यह धर्मशाला रेल्वे स्टशन के सामने ही है। स्वामीजी के लिए सब प्रकार का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया गया था। पत्रादि ले- जाने के लिए दो सन्तरी थे, जो हर समय धर्मशाला में ही उपस्थित रहते थे। उनके सोने - बैठने के लिए उत्तम गद्दी-तकिये भेज दिये गये थे, परन्तु स्वामीजी उनको उपयोग में नहीं लाते थे। यद्यपि उन दिनों शीताधिक्य था, परन्तु वे केवल एक दरी ही बिछाकर और केवल एक चादर ही ओढ़कर सो जाते थे। स्वामीजी के लिए दो सिपाही भी नियत थे। स्वामीजी के आतिथि-सत्कार के विषय में रावबहादुर गोपालराव हरिदशमुख जज के पुत्र रावबहादुर रामचन्द्र गोपालदशमुख भी बहुत उद्यमशील रहते थे, जो उन दिनों बड़ौदा में ही सिटी-जज थे।

स्वामीजी के व्याख्यानों का भी उसी धर्मशाला में ही प्रबन्ध कर दिया गया था। उस धर्मशाला के तीन भाग थे। बीच के भाग में स्वामीजी रहते थे और तीसरे भाग में उनके व्याख्यान होते थे।

बड़ौदे के सब सम्भ्रान्त, शिक्षित पुरुष, जागीरदार और उच्च राजकर्मचारी व्याख्यानों में आते थे, विशेषकर मणिभाई, रावबहादुर गजानन विट्ठल, पुलिस कमिश्नर पेलाभाई, रावबहादुर रामचन्द्र गोपालदेशमुख श्री सेवा में उपस्थित रहते थे।

---

५१०- मुम्बई तथा गुजरात में नये वर्ष का आरम्भ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के स्थान पर कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को मानते हैं। अत: इस अवसर पर ही स्वामी दयानन्द ने '*नये वर्ष का प्रथम दिवस*' विषय पर अपना व्याख्यान दिया था।

**व्याख्यानमाला, गायक नब्वाब**– स्वामीजी का पहला व्याख्यान देशोन्नोति पर और दूसरा वेदाधिकार पर हुआ। दूसरे व्याख्यान में श्रोता बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित हुए थे। शास्त्री लोग भी अच्छी संख्या में आए थे। बड़ौदा के एक लाख रुपए पेंशन पाने वाले और सुप्रसिद्ध गायक नव्वाब मौलाबख्श भी उपस्थित रहते थे।

**शास्त्रियों ने कानों में उँगलियाँ दे लीं**– स्वामीजी *'यथेमां वाचं कल्याणीम्'* इत्यादि वेदमन्त्र पढ़कर व्याख्यान आरम्भ ही करना चाहते थे कि शास्त्रियों ने कानों में उँगलियाँ दे लीं और खड़े होकर कोलाहल करने लगे। कारण यह था कि उन लोगों की धारणा के अनुसार वेदमन्त्रों का उच्चारण शूद्रों और यवनों के सामने करना निषिद्ध था। किसी-किसी शास्त्री ने तो यहाँ तक कह डाला कि स्वामीजी ब्राह्मण नहीं हैं, अन्यथा ऐसा न करते।

**या तो बैठ जाओ, या चले जाओ**– शास्त्रियों की इस प्रकार की धृष्टता देखकर मणिभाई यशभाई, रावबहादुर गजानन प्रभृति ने शास्त्रियों से कहा कि या ता आप लोग बैठ जायें नहीं तो सभा से ही चले जाएँ, परन्तु कोलाहल करके व्याख्यान में विघ्न न डालें। उस समय तो शास्त्री लोग चुप हो गए, परन्तु थोड़ी देर पीछे फिर उपद्रव करने लगे कि शास्त्रार्थ कर लो। स्वामीजी ने कहा कि व्याख्यान तो समाप्त होने दीजिए, व्याख्यान की समाप्ति पर शास्त्रार्थ भी हो जाएगा, परन्तु शास्त्री लोग कोलाहल करने से न रुके। तब रावबहादुर गजानन ने यह सोचा कि शास्त्री लोग शान्ति से व्याख्यान समाप्त न होने देंगे और श्रोता लोग भी शास्त्रार्थ के लिए बहुत उत्सुक हैं, अतः उन्होंने स्वामीजी से व्याख्यान बन्द करने की प्रार्थना की। तब स्वामीजी ने व्याख्यान बन्द कर दिया और पण्डित कृष्णराम को कागज पैंसिल देकर कहा कि जो पण्डित शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं, उनके नाम लिख लो। उन्होंने पण्डितों के नाम लिख लिए।

**कितने समय का शास्त्रार्थ करना चाहते हो**– तब स्वामीजी ने पण्डितों से कहा कि आप वर्ष भर का शास्त्रार्थ करना चाहते हैं वा छः मास का अथवा दो घण्टे का। हम सब प्रकार के शास्त्रार्थ के लिए उद्यत हैं, परन्तु शास्त्रियों की ओर से इसका कोई उत्तर न मिला।

**संस्कृत में ही शास्त्रार्थ कीजिए**– स्वामीजी ने ये बातें हिन्दी में ही कही थीं। तब शास्त्रियों में आपस में यह चर्चा होने लगी कि दयानन्द संस्कृत पढ़े तो अवश्य हैं, परन्तु विशेषरूप से नहीं, यदि ऐसा होता तो वह संस्कृत में ही बोलते। पण्डितों की कानाफूँसी स्वामीजी तथा मणिभाई यशभाई ने भी सुन ली। मणिभाई ने स्वामीजी से संस्कृत में ही शास्त्रार्थ करने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने कहा कि हमें संस्कृत में शास्त्रार्थ करने में तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु जब ये लोग संस्कृत बोलने में अशुद्धियाँ करेंगे तो उसका उत्तरदायी कौन होगा? मणिभाई ने कहा कि यदि ऐसा होगा तो सभास्थ लोग इनकी संस्कृतविद्या की गति जान लेंगे। इस पर स्वामीजी ने संस्कृत में ही शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया।

**एक पण्डित परास्त हो गया**– प्रथम यज्ञेश्वर शाास्त्री से व्याकरण पर विचार आरम्भ हुआ। स्वामीजी ने पहले ही कह दिया कि मैं शेखर, मनोरमा आदि जाली व्याकरणों को नहीं मानता हूँ। मैं जिस व्याकरण को मानता हूँ, उसी के अनुसार शास्त्रार्थ करूँगा। तत्पश्चात् स्वामीजी ने पण्डित यज्ञेश्वर से कहा कि इस विषय में जो आप पूछना चाहें, पूछिए। पण्डित यज्ञेश्वर ने कहा कि आप ही पूछिए। तब स्वामीजी ने उनसे प्रश्न किया कि 'भू' धातु के लिङ्ग लकारों का प्रयोग कैसे होता है? अभी प्रश्नोत्तर को होते हुए आधा घण्टा भी न हुआ था कि पण्डित परास्त हो गए।

**दूसरा पण्डित भी परास्त**– तत्पश्चात् पण्डित अप्पय शास्त्री से न्याय पर विचार आरम्भ हुआ। स्वामीजी ने उनसे पूछा आपने गदाधरी पढ़ी है, उन्होंने कहा कि हमने मूल सूत्र पढ़े हैं। इसके पीछे विचार होता रहा, परन्तु अप्पय शास्त्री भी थोड़ी देर में परास्त हो गए। बीच-बीच में स्वामीजी शास्त्रार्थकर्त्ताओं की संस्कृत की अशुद्धियाँ भी दिखाते रहे।

उस दिन शास्त्री लोग सभा से अत्यन्त हीनप्रभ होकर गए। उसके पश्चात् एक पण्डित भी सामने आकर शास्त्रार्थ करने का साहस न कर सका, परन्तु स्वामीजी की पीठ पीछे जो मन चाहा कहते और आक्षेप तथा आक्रमण करते रहे।

**वर्षाशन, वर्षाशन बन्द होने का भय**- बड़ौदा में प्रतिवर्ष श्रावण मास में पूना, नासिक, सूरत प्रभृति स्थानों से ब्राह्मण लोग वर्षाशन पाने के लिए जाया करते हैं। वहाँ की चतुष्पथी के अध्यापक उनकी परीक्षा लेते हैं और उनकी सम्मति के अनुसार परीक्षोत्तीर्ण लोगों का राज्यकोष से वर्षाशन नियत हो जाता है, किसी का ४० रुपए, किसी का ५० रुपए और किसी-किसी का १०० रुपए वार्षिक तक। जब स्वामीजी बड़ौदा गए और इन लोगों को उनके वहाँ जाने का समाचार विदित हुआ तो उन्हें यह भय हुआ कि स्वामीजी पौराणिक धर्म का खण्डन करके उनका वर्षाशन बन्द करा देंगे, अत: ये लोग बड़ौद में आकर इकट्ठे हो गए और स्वामीजी को परास्त करके आत्म-रक्षा करने के उपाय सोचने लगे। शास्त्रियों में प्रमुख दो थे- पण्डित यज्ञेश्वर सूरत निवासी, इनकी व्याकरण में बहुत प्रसिद्धि थी और बड़ौदे के अप्पय शास्त्री यह नैयायिक प्रसिद्ध थे। दोनों ही राज्य के वेतन भोगी थे। यही कारण था कि उस दिन की सभा में शास्त्री लोग शास्त्रार्थ के लिए इतने उत्सुक थे। उन्होंने समझा था कि दयानन्द को संस्कृत का विशेष ज्ञान नहीं है और इसलिए उनको परास्त करना कुछ अधिक कठिन नहीं होगा, परन्तु यह भ्रम उनका शीघ्र ही टूट गया। वह स्वामीजी के एक ही और हलके से ही आक्रमण से अपने गर्वगिरि से ऐसे फिसले कि नीचे ही आकर रुके और आए भी सिर के बल जिससे उनका सारा मुख ही धूलिधूसरित हो गया और जैसे तैसे लज्जावनत होकर अपने घरों को वापस गए तथा फिर उन्होंने कभी स्वामीजी से शाास्त्रार्थ करने का नाम न लिया।

**रागमहिषी को भी दर्शन दिए** - राजमहिषी यमुनाबाई ने स्वामीजी के दर्शनों की अभिलाषा प्रकट की, परन्तु स्वामीजी उनके सामने आने देने पर सहमत न हुए और उनके प्राईवेट सेक्रेटरी से, जो उनका सन्देश लेकर आए थे, कहला भेजा कि स्त्रियों से मिलने का हमारा कोई प्रयोजन नहीं है, परन्तु फिर भी यमुनाबाई की यह अभिलाषा बनी ही रही।

**शास्त्रियों के पेट में चूहे**- जब पण्डितों को यह सूचना मिली कि यमुनाबाई स्वामीजी के दर्शनों की अभिलाषिणी हैं तो उन्हें भय हुआ कि कहीं यमुनाबाई स्वामीजी के कार्य में सहायता प्रदान न करें, अत: वे यमुनाबाई के पास गए और उनसे निवेदन किया कि दयानन्द नास्तिक और पाखण्डी है, उसका मुख देखना उचित नहीं है। रावबहादुर गजानन उस समय बड़ौदे में बड़े प्रतिष्ठित राजपुरुष थे। पण्डित लोग उनके पास भी पहुँचे और उनसे कहा कि आप राजपुरुषों में अग्रणी हैं, आपको दयानन्द जैसे नास्तिक और पाखण्डी के पास आना-जाना और उनके कार्य में सहायता करना उचित नहीं है, किन्तु गजाानन ने उनसे कह दिया कि अब तो आप लोग आए सो आए, परन्तु आगे को ऐसा अनुरोध लेकर हमारे पास न आना, दयानन्द आप लोगों से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं, आप उन्हें शास्त्रार्थ करके परास्त करो।

**तीसरा व्याख्यान**- स्वामीजी का तीसरा व्याख्यान केदारेश्वर के मन्दिर में राजधर्म विषय पर हुआ। रावबहादुर रामचन्द्र गोपालदेशमुख ने उस व्याख्यान को सफल बनाने का विशेष उद्योग किया था और उच्च राजपुरुषों, वकीलों और प्रतिष्ठित मनुष्यों के पास उन्होंने निमन्त्रणपत्र भेजे थे। अत: उस व्याख्यान में श्रोताओं की संख्या अन्य व्याख्यानों की अपेक्षा से कहीं अधिक थी। इसमें बड़े-बड़े राजकर्मचारी पधारे थे। राज्य के दीवान सर टी० माधवराव स्वयं आये थे। मिस्टर आर०एम० केलकर, जो उन दिनों पेटलाद ताल्लुके का जमाबन्दी बन्दोबस्त कर रहे थे, उपस्थित हुए थे और बहुत से पटेल जो बन्दोबस्त के सम्बन्ध में बड़ौदे आए हुए थे वे भी व्याख्यान श्रवणार्थ आए थे। रेजिडेन्सी के क्लर्क आदि भी थे।

**व्याख्यान का सार**– स्वामीजी ने इस व्याख्यान में राजा के गुण और कर्त्तव्य तथा अमात्यवर्ग को कैसा होना चाहिए आदि बातें बतलाई थीं। ब्रह्मचर्य पर विशेष बल दिया था और कहा था कि राजओं के लिए ब्रह्मचर्य का पालन नितान्त आवश्यक है, राजाओं को चाहिए कि कानून बनाकर लोगों को ब्रह्मचर्य पालन पर बाध्य करें और बालविवाह को रोकें, मनुष्यों को सदाचारी और वैदिक धर्मानुयायी होना चाहिए। अन्त में स्वामीजी ने कहा था कि यदि भारतवासी योग्य बन जावेंगे तो विदेशी लोग स्वयं ही उनसे कह देंगे कि अब तुम योग्य हो गए हो, तुम अपना शाासन प्रबन्ध स्वयं करो। ब्रह्मचर्य पर कथन करते हुए स्वामीजी ने यह भी कहा था कि किसी भी तीस वर्ष के माँस-मदिराभोगी युवा पुरुष को हमारे साथ चलने दो, तब आप लोग देखेंगे कि ब्रह्मचर्य का बल कैसा होता है, हमें किसी भी तीस वर्ष के युवा पुरुष का हाथ पकड़ लेने दो तब आप देखेंगे कि ब्रह्मचर्य की शक्ति कैसी होती है, यदि एक मनुष्य केवल चने चबाकर रहे और ब्रह्मचर्य का पालन करे तो वह माँसाहारियों से कहीं अधिक बलिष्ठ हो सकता है।

**दीवान का श्रद्धापूर्वक प्रणाम**– जिस समय सर टी० माधवराव सभा में आए थे तो वे स्वामीजी को साधारण रीति से प्रणाम करके बैठ गए थे, परन्तु जब व्याख्यान समाप्त हो गया और वे सभा-स्थल से जाने लगे तो उन्होंने स्वामीजी को दण्डवत् होकर प्रणाम किया और कहा – ''महाराज आप राजनीति में हमसे भी सौ गुने निपुण हैं।''

**रीछ सबसे बड़ा त्यागी**– एक दिन स्वामीजी क्षौर करा रहे थे। एक पण्डित ने आकर कहा कि संन्यासियों का धर्म तो त्याग है, आप देह-विभूषा में क्यों लगे हैं? स्वामीजी ने हँसते हुए उत्तर दिया कि यदि बाल बढ़ाने में ही त्याग है तो रीछ सबसे बड़ा त्यागी है। यह कहकर उसे उपदेश दिया कि देह की रक्षा के लिए उसे सँवारना पाप नहीं। जो पुरुष परोपकारी हैं उन्हें अपने देह की रक्षा करना आवश्यक है ताकि वे उपकार कार्य अच्छी प्रकार कर सकें।

एक दिन एक अन्य पण्डित ने स्वामीजी से कहा कि सुना है आप धन ले लेते हैं और शास्त्र में यह लिखा है कि यतियों को सुवर्ण न देवें। स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि सुवर्ण न देवे तो क्या आपकी सम्मति में रत्न आदि देने चाहिए, उसे समझाया कि यतियों के लिए संग्रह करने का निषेध है, परोपकार में व्यय करने के लिए धन लेना पाप नहीं है। हम भी जब केवल एक कौपीन लगाकर गङ्गातट पर घूमते थे तब किसी से कुछ न लेते थे, परन्तु जबसे हमने परोपकार के कार्यों में भाग लेना आरम्भ किया है हमें उन कार्यों के लिए धन लेना पड़ता है। जैसे कुएँ की मिट्टी कुएँ को ही लग जाती है, ऐसे हम भी जो धन लोगों से लेते हैं वह उन्हीं के हितकार कार्यों में लगा देते हैं।

**सहस्र रुपयों का उपहार वापस**– एक दिन सर टी० माधवराव श्री स्वामीजी को निमन्त्रित करके अपने घर ले गए। कथा-वार्त्ता करने के पश्चात् जब स्वामीजी विदा होने लगे तो उन्होंने एक थाल में एक सहस्र मुद्राएँ रखकर उनको भेंट कीं। स्वामीजी ने उनसे कहा कि ''हम वल्लभाचारियों के सामन दुकानदार नहीं हैं'' और उनकी यह भेंट स्वीकार नहीं की।

**इजारेदार पर अभियोग**– गोविन्दराम लिछाभाई देसाई नवसारी प्रान्त के इजारेदार थे। उनके उन पर राज्य का कुछ रुपया दातव्य था। मल्हारराव की राज्यच्युति के पश्चात् इजारे की प्रथा उठा दी गई थी। गोविन्दराम पर राज्य की ओर से दो लाख रुपये का दावा किया गया था। उसमें नवसारी के सूबा रावबहादुर लक्ष्मण जगन्नाथ ने गोविन्दराम को साहूकारी जेल में भेज दिया था। वहाँ पड़े हुए उन्हें बहुत दिन हो गये थे, परन्तु उनके मुकद्दमे का फैसला नहीं होता था।

**वेदभाष्य के लिए बीस सहस्र का का लोभ**–जनार्दन कीर्त्तनीय नायब दीवान के पास गोविन्दराम के जामाता इस अभिप्राय से आये थे कि उनके मुकद्दमे का फैसला शीघ्र करा दिया जाए। वे पण्डित कृष्णराम से परिचित थे।

उन्होंने यह देख कर कि सर टी० माधवराव पर स्वामीजी का विशेष प्रभाव है, पण्डित कृष्णराम ने कहा कि यदि स्वामीजी दीवान साहब से कह कर मेरे श्वशुर के मुकद्दमे का फैसला करा देंगे तो मैं वेद-भाष्य की सहायता में बीस सहस्र रुपए दूँगा।

**पण्डित कृष्णराम पर फटकार**- पण्डित कृष्णराम ने अवसर पाकर यह बात स्वामीजी से कह दी। स्वामीजी को इस बात को सुनकर बहुत क्रोध आया और उन्होंने पण्डित कृष्णराम को फटकारा और कहा कि रुपयों का प्रलोभन दिखाकर ऐसा प्रस्ताव हम से फिर कभी न करना। हम वह बात तो करने को उद्यत हैं जिससे कोई हमारा देशी भाई अपने न्याय को पहुँच जावे, परन्तु क्या हम रुपयों के भूखे हैं?

**अभियुक्त जेल से मुक्त**- जिस दिन स्वामीजी दीवान साहब के घर पर गए तो उन्होंने बातों-बातों में यह घटना भी दीवान साहब से वर्णन कर दी जिसका परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिन पीछे गोविन्दराम के मुकद्दमे का निर्णय हो गया और उनसे बीस सहस्र रुपए लेकर उन्हें जेल से मुक्त कर दिया।

**भविष्यवक्ता दयानन्द**- दयानन्द भविष्यद्रष्टा और भविष्यवक्ता थे। वे कई ऐसी बातों का उल्लेख कर गए हैं जिनकी भवितव्यता उस समय किसी के ध्यान में भी न थी। कोई कह सकता है कि यह बात किसी के मस्तिष्क में भी आई थी कि राज्य की ओर से अनिवार्य शिक्षा का कानून होना चाहिए और यदि कोई माता-पिता अपने बालक को शिक्षार्थ गुरुकुल में न भेजे तो उसे दण्ड दिया जाए। उस समय तो हम समझते हैं कि योरुप में भी कहीं ऐसा कानून न था परन्तु सत्यार्थप्रकाश में यह अङ्कित है और आज भारत में कई प्रान्तों में यह कानून जारी है।

इसी प्रकार यह बात कि कानून बनाकर बाल-विवाह की कुप्रथा को रोकना चाहिए किसी ने सोची न थी, परन्तु दयानन्द के विचार में यह बात थी, जैसा कि उन्होंने अपने उपर्युक्त व्याख्यान में कहा था। आज कई राज्यों में यह कानून बना हुआ है कि नियत आयु से कम के वर और कन्या का विवाह न होना चाहिए और अब तो भारत सरकार ने भी इस अभिप्राय से शारदा ऐक्ट पास कर दिया है, जिसके अनुसार १४ वर्ष से कम आयु की कन्या और १८ वर्ष से कम आयु के वर का विवाह निन्दनीय ठहराया गया है[५११] और उसके करने पर माता-पिता, पुरोहितादि दण्डनीय हैं। यह भी परम सन्तोष का विषय है कि इस कानून के बनवाने का सेहरा दयानन्द के अनुयायी दीवान बहादुर श्री हरविलास शारदा के सिर पर है। उन्होंने यह कानून बनवाकर जो उपकार आर्यजाति पर किया है उसके लिए वे सदैव धन्यवाद के पात्र रहेंगे।

**आसामान्य निःस्पृहत्व और न्यायप्रियता**- गोविन्दराम सम्बन्धी घटना से स्वामीजी का असामान्य निःस्पृहत्व प्रकट होता है। वेद-भाष्य की सहायता के लिए बीस सहस्र रुपयों की बड़ी रकम की ओर उन्होंने भ्रूक्षेप तक नहीं किया और पण्डित कृष्णराम को, जिन्होंने इस प्रकार का प्रस्ताव उनके सामने रखने का साहस किया था, बुरी तरह फटकार दिया। परन्तु इसका फल यह नहीं हुआ कि गोविन्दराम के जेल से मुक्त होने के विषय में वे उद्योगी न हुए हों। उन्हें विश्वास हो गया था कि उनके साथ अन्याय हो रहा है और केवल इस भाव से प्रेरित होकर ही उन्होंने उसे जेल-मुक्त कराने का यत्न किया था। यह उनकी न्यायप्रियता और न्यायपरायणता का ज्वलन्त उदाहरण है। साधारण जन तो दूर रहे उन लोगों में से भी जो अपने को समाज का मौलि-मुकुट समझते हैं, आज कितने हैं जो इसी भाव से कार्य करने में अग्रसर हों जिस भाव से कि स्वामीजी ने कार्य किया।

---

५११- अब यह वयः बढ़ाकर क्रमशः १८ और २२ वर्ष कर दी गई है। -*आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

**वेद का अँग्रेजी अनुवाद**– बड़ौदे में पण्डित शङ्कर पाण्डुरङ्ग ने अपने अँग्रेजी वेदानुवाद को स्वामीजी को दिखाया था। यह सायणभाष्य और मैक्समूलर के अनुवाद के अनुकूल ही किया गया था। स्वामीजी ने उसे सुनकर कहा था कि इस प्रकार वेदार्थ करना उचित नहीं है।

**संस्कारविधिः लेखन की समाप्ति**– स्वामीजी ने अपने ग्रन्थ *'संस्कारविधिः'* का लेखन बड़ौदे में ही पूर्ण किया था। इस विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के अन्त में निम्न श्लोक लिखा मिलता है–

*नेत्रामाङ्कचन्द्रेऽब्दे पौषे मासे सिते दले।*

*सप्तम्यां सोमवारेऽयं ग्रन्थः पूर्तिं गतः शुभः।।*

अर्थात् पौष मास की शुक्ला सप्तमी सोमवार संवत् १९३२ वि० (तदनुसार ३ जनवरी, १८७६ ई०) को संस्कारविधिः का लेखन समाप्त हुआ। इस प्रकार इस ग्रन्थ के रचने में कुल एक मास और आठ दिन लगे।

बड़ौदे से रावबहादुर गोपालराव हरिदशमुख से मिलने के लिए स्वामीजी अहमदाबाद गए और वहाँ से वे भड़ौंच होकर सूरत भी गए। पुनः मुम्बई लौट गए।

## सूरत, बालसर, बसीनरोड (१८७६ ई०)

जब स्वामीजी दुबारा सूरत आए तो हाईस्कूल में उन्होंने एक व्याख्यान दिया।

**वान बुह्लर से साक्षात्**– सूरत में स्वामीजी का डॉक्टर वान बुह्लर (Von Buhler) से साक्षात् हुआ। उस समय वे शिक्षा विभाग के इंसपेक्टर थे। वे अच्छे संस्कृतज्ञ थे और प्रोफेसर मैक्समूलर सम्पादित Sacred Books of the East नामक ग्रन्थमाला में उनका मनुस्मृति का अँग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित हुआ था। स्वामीजी से उनका संस्कृत में वार्त्तालाप हुआ था। स्वामीजी उनके संस्कृत भाषण से इतने प्रसन्न हुए थे कि पण्डित कृष्णराम के पूछने पर स्वामीजी ने उनके विषय में कहा था कि वह ण्डित गट्टूलाल से तो संस्कृत अच्छी ही बोलता है। उनका यह कहना था भी सत्य, क्योंकि पण्डित गट्टूलाल निस्सन्देह काव्य के अच्छे पण्डित थे और उसमें उनकी विलक्षण गति थी, परन्तु वैदिक साहित्य में उनका प्रवेश कम ही था और इसी कारण वह वैदिक विषयों पर वार्त्तालाप करते हुए अच्छी संस्कृत नहीं बोल सकते थे।

**उपहार स्वीकार करना पड़ा**– स्वामीजी जब सूरत से चलने लगे तो उनकी अनिच्छा होने पर भी निर्भयराम, दुर्गादास मोता प्रभृति ने उनके प्रति अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उन्हें एक बहुमूल्य शााल भेंट में दिया था, जो उन्होंने प्रशंसित महानुभावों के आग्रह पर स्वीकार कर लिया था।

सूरत से स्वामीजी ने बालसर जाने की इच्छा प्रकट की और पहले से ही पण्डित कृष्णराम को स्थानादि का प्रबन्ध करने के निमित्त वहाँ भेज दिया।

**बालसर; अनीश्वरवादियों का मुँह बन्द**– बालसर में स्वामीजी सिद्धनाथ महादेव की धर्मशाला में ठहरे और फिर रतनजी पारसी के बाग में चले गए। बालसर में स्वामीजी के चार व्याख्यान हुए। कई अनीश्वरवादी उनके पास आए और यह सिद्ध करना चाहा कि कोई जगत् का कर्त्ता नहीं है। परन्तु स्वामीजी ने थोड़ी ही देर में उनका मुँह बन्द कर दिया।

**दयानन्द जो कहते हैं सत्य है; मैं गृहस्थ हूँ, मूर्त्तिपूजा का खण्डन नहीं कर सकता**– बालसर के पण्डित भवानीशङ्कर गुजरात भर में अपने पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध थे। वे स्वामीजी के व्याख्यान सुनने आया करते थे। लोगों ने उनसे जाकर कहा कि आप दयानन्द से शास्त्रार्थ करके उनके सिद्धान्तों का मिथ्यात्व प्रतिपादित कीजिए। उन्होंने उत्तर दिया कि जो कुछ दयानन्द कहते हैं वह शास्त्रविरुद्ध नहीं है, फिर मैं उनसे शास्त्रार्थ किस बात पर करूँ?

जब स्वामीजी को यह वृत्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने पण्डित भवानीशङ्कर से कहा कि आप जैसे विद्वानों को वैदिक सिद्धान्तों को प्रकट करना चाहिए। परन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि मैं गृहस्थ हूँ, मेरे द्वारा मूर्त्तिपूजा का खण्डन और वैदिक

सिद्धान्तों का प्रचार सम्भव नहीं है। उन्हीं दिनों पण्डित भवानीशङ्कर के पुत्र के जमाता की मृत्यु हो गई थी। स्वामीजी ने उसका प्रसङ्ग उठने पर उनसे कहा कि वेदों में नियोग की विधि है और उसकी पुष्टि में एक वेदमन्त्र भी पढ़ा। पण्डित भवानीशङ्कर ने कहा कि मैं इस वृद्धावस्था में इस प्रथा को कैसे चला सकता हूँ?

बालसर से स्वामीजी बसीनरोड गए।

**बसीनरोड**– बसीनरोड में बड़ौदा के एक वेतनभोगी गोविन्दराव निवास करते थे, जो देशोन्नति और देशीय शिक्षापद्धति आदि विषयों के उपदेशक थे। उन्होंने बड़ौदा में स्वामीजी के दर्शन किए थे और उनसे बसीनरोड पधारने का अनुरोध कर आए थे। बसीनरोड में स्वामीजी चार दिन ठहरे और दो व्याख्यान दिए।

एक नौकर ने स्वामीजी की घड़ी चुरा ली। दूसरे कर्मचारी उसे पकड़कर स्वामीजी के पास ले गए। नौकर ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए रोकर क्षमा माँगी। स्वामीजी ने उसे शिक्षा दी और उसने प्रण किया कि वह आगे को ऐसा न करेगा। स्वामीजी ने कर्मचारियों से कहा हमारा प्रयोजन साँप को मारना है, न कि उसकी बम्बी को कूटना पीटना और उसे क्षमा कर दिया।

बड़ौदा आदि स्थानों में वैदिक धर्म का प्रचार करके स्वामीजी मुम्बई लौट आये। उनके आगमन की ठीक–ठीक तिथि तो ज्ञात नहीं है, परन्तु यह निश्चित है कि वे मार्च सन् १८७६ ई० के आरम्भ में मुम्बई में थे।

## मुम्बई (१८७६ ई०)

**वेदों पर व्याख्यान**– ५ मार्च सन् १८७६ ई० को स्वामीजी का वेदों की श्रेष्ठता और पवित्रता पर आर्यसमाज की ओर से पैलनरोड पर मि० गोविन्दविष्णु के प्राइवेट इँगलिश स्कूल के हॉल में एक अत्यन्त मनोहरी व्याख्यान हुआ, जिसमें मुम्बई के अनेक सुशिक्षित और प्रतिष्ठित हिन्दू उपस्थित थे।

**प्रोफेसर मोनियर विलियम्स**– संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर मोनियर विलियम्स और मुम्बई के कलेक्टर मि० शेफर्ड भी उपस्थित थे, जिन्हें विशेषरूप से निमन्त्रित किया गया था। व्याख्यान यद्यपि हिन्दी में था तथापि संस्कृत शब्दों की प्रचुरता के कारण उसका बहुत–सा भाग प्रोफेसर महोदय के बोधगम्य था। दोनों ही महानुभाव उसे ध्यानपूर्वक सुनते रहे और स्वामीजी की भाषण–प्रणाली और व्यवहार से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए प्रतीत होते थे। व्याख्यान की समाप्ति पर रावबहादुर गोपालराव हरिदशमुख जज खफीफा अहमदाबाद और नगीनदास तुलसीदास मारफटिया एल०एल०बी० ने आर्यसमाज के कार्य और विद्वान् सुधारक के उद्देश्यों और अभिप्राय से सच्चा सन्तोष प्रकट किया और कहा कि हमारी सम्मति सब लोगों को जो भारतवर्ष के आर्यों के नाम एवं कीर्ति पर गर्व करते हैं, उन्हें स्वामीजी के मन्तव्यों को स्वीकार करना चाहिए।

**मोनियर विलियम्स से सम्भाषण**– तदनन्तर प्रोफेसर मोनियर विलियम्स ने स्वामीजी से बहुत देर तक संस्कृत में बातचीत की और विदा होते समय न केवल सन्ताष ही प्रकट किया प्रत्युत स्वामीजी की विविध विद्या और व्याख्यान देने की शैली की बहुत–बहुत पशंसा की। वे स्वामीजी से वार्त्तालाप करने में बहुत मनोविनोद प्राप्त करते हुए प्रतीत होते थे। उन्हें आर्यसमाज के नियम और तद्द्वरा प्रकाशित पुस्तकें भेंट में दी गई, जिन्हें उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया।

**दो और व्याख्यान**– १६ और १७ मार्च सन् १८७६ ई० को भाई हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के हॉल में ईश्वर के अस्तित्व, गुण और यज्ञों पर स्वामीजी ने व्याख्यान दिए, जिनमें रावबहादुर नानामोरोजी मैजिस्ट्रेट, मि० छबीलदास लल्लूभाई, मि० भाई जीवनजी, मि० शामराव विट्ठल (जो पीछे आकर मुम्बई हाईकोर्ट के जज हुए), डॉ० पाण्डुरङ्ग गोपाल और मि० आत्माराम पायादालव्ये प्रभृति सम्भ्रान्त और सुप्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित थे।

**संन्यासी शाल लेकर क्या करेगा?** - मि० नानामोरोजी ने स्वामीजी को शाल का एक जोड़ा देना चाहा। इस पर स्वामीजी ने उनसे कहा कि आप न्याय-विचारक हैं, आप शाल देने के क्यों इच्छुक हैं? यदि बहुत शीत हो तो एक शाल की आवश्यकता हो सकती है, संन्यासी इतने शाल लेकर क्या करेगा?

**चौथा व्याख्यान**- २१ मार्च सन् १८७६ ई० को स्वामीजी का व्याख्यान टाउन हॉल में मि० नानामोरोजी रावबहादुर के सभापतित्व में आर्यों के इतिहास और हिन्दुओं की नवयुवक-सन्तति के कर्त्तव्यों पर हुआ।

**पौराणिकों की मानसिक दशा**- स्वामीजी के आक्रमणों से पौराणिक दल की अवस्था ऐसी हो गई थी, जैसी एक डूबते हुए मनुष्य की होती है। जैसे वह तिनके तक का सहारा ताकने लगता है वैसे ही पौराणिक दल भी जहाँ कहीं भी उसे आशा की रेखा दीख पड़ती थी वह उसकी ओर अति उत्सुकता और उत्कण्ठा के साथ दौड़ पड़ता था। यदि कोई पण्डित झूठ-मूठ भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का दम भरता तो उक्त दल उसके पीछे लग जाता कि सम्भव है यही हमारा परित्राता सिद्ध हो और यही पौराणिक मत की मृगी को वैदिक-धर्म के सिंह के मुख से बचा सके।

**पण्डित रामलाल ज्योतिषी शास्त्रार्थ के लिए सन्नद्ध किए गए**- शान्तिपुर नदिया के एक ज्योतिषी पण्डित रामलाल नामक मुम्बई के मारवाड़ियों के वर्षफलादि बनाने और उनसे दान दक्षिणा लेने के लिए प्रतिवर्ष मुम्बई आया करते थे। अन्य वर्षों की भाँति वह मार्च सन् १८७६ ई० में भी बम्बई आऐ थे। मारवाड़ी समाज में वह उच्च कोटि के विद्वान् समझे जाते थे। उनके श्रद्धालु भक्तों ने उनसे प्रार्थना की कि दयानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित करके धर्मयश कमाइये। पण्डित रामलाल अपने अन्तस्तल में भलीभाँति जानते थे कि उनका विद्याबल कितना है और वे दयानन्द जैसे वेद-पारङ्गत विद्वान् से शास्त्रार्थ करने की कितनी योग्यता रखते हैं और इसलिए वह दयानन्द से शास्त्रार्थ करने का कभी साहस नहीं कर सकते थे, परन्तु एक तो यह बात कि वह नदिया प्रान्त के निवासी हैं, जहाँ की विद्या का सारा भारतवर्ष लोहा मानता है, उन्हें यह न कहने देती थी कि हम शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हैं, दूसरे उन्हें यह भी भय था कि यदि हम शास्त्रार्थ करना स्वीकार न करेंगे तो हमारे शिष्य वर्ग में हमारा अपमान और अप्रतिष्ठा होगी, इसलिए उन्हें अगत्या यही कहना पड़ा कि हम दयानन्द से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं। उनका इतना कहना था कि पौराणिक दल की मुरझाई आशा-लता लहलहाने लगी और शास्त्रार्थ की तैयारियाँ होने लगीं, पण्डित गट्टूलाल के घर पर मुम्बई के पण्डित इकट्ठे होकर पण्डित रामलाल की सहायता के लिए शास्त्रानुसन्धान करने लगे। उन्होंने पण्डित रामलाल को उत्साहित और उनकी पृष्ठपोषकता करने में कोई न्यूवता न की।

**स्वामीजी हँस पड़े**- स्वामीजी के भी किसी अनुरागी ने इस बात की सूचना पाकर उनसे यह संवाद कह दिया कि अब की बार पण्डित लोग शास्त्रार्थ की असाधारण तैयारी कर रहे हैं। स्वामीजी इसे सुनकर हँस पड़े और कहने लगे कि कुछ चिन्ता नहीं है। वास्तव में उन्हें चिन्ता भी क्यों होती? जिन्होंने पौराणिक मत के दृढ़तम गढ़ काशी के दिग्गज पण्डितों से, जिनकी विद्या की धाक दिग्दिगान्तर में बैठी हुई थी, भय न खाया था, वे मुम्बई के पण्डितों से कब डरने वाले थे? अस्तु, जब मुम्बई के शास्त्रीगण सब प्रकार से तैयारी कर चुके तो स्वामीजी को शास्त्रार्थ के लिए आहूत किया गया। उन्होंन तत्क्षण शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। शास्त्रार्थ का विषय वही पुराना विषय था कि मूर्त्तिपूजा वेदविहित है वा नहीं। शास्त्रार्थ की तिथि २७ मार्च सन् १८७६ ई० अर्थात् चैत्र शुक्ला द्वितीया गुजराती संवत् १९३२ वि०, सोमवार और स्थान भाई जीवनजी का हॉल नियत हुआ।

**शास्त्रार्थ सभा**- नियत तिथि पर शास्त्रार्थ सभा सङ्गठित हुई। दर्शकों से हाल इतना खचाखच भर गया था कि खड़े होने तक को भी जगह न रही थी और बहुत से लोगों को घर लौट जाना पड़ा था। स्वामीजी यथासमय बिना किसी आडम्बर के सभा में उपस्थित हो गए। पण्डित रामलाल भी पधारे और बड़े दलबल और घोर गर्ज के साथ पधारे। उनके साथ अनेक

स्थानीय शास्त्री और उनके शिष्य तथा श्रद्धालु जन थे। शास्त्रार्थ-सभा में मध्यस्थ का आसान भी झूझाऊजी शास्त्री ने ग्रहण किया। शास्त्रार्थ उचित भावानुकूल और ऐसे ढङ्ग से हुआ कि उसमें भाग लेने वालों के लिए वह प्रशंसनीय था।

**पण्डित गट्टूलाल सभास्थल में न आए**- पण्डित गट्टूलालजी ने भी शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया था, परन्तु वे सभास्थल में नहीं पधारे। उनके लाने के लिए गाड़ी भी भेजी गई परन्तु उन्होंने कहला भेजा कि हमको वमन हो गया है, हम नहीं आ सकते, हमारी ओर से पण्डित रामलाल ही शास्त्रार्थ करेंगे।

**पण्डित रामलाल असमंजस में**- स्वामीजी ने प्रथम ही पण्डित रामलाल से यह स्वीकार करा लिया कि आर्यों का मौलिक धर्मग्रन्थ वेद है और फिर उनसे वेद का कोई मन्त्र वा पंक्ति दिखाने को उन्हें कहा जिसमें मूर्त्तिपूजा की ओर सङ्केत हो। पण्डित रामलाल ने पुराण और स्मृतियों के प्रमाण उपस्थित किए। स्वामीजी ने कहा कि ये ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं, यदि कोई वेदमन्त्र स्मरण हो तो कहिए। इस पर पण्डित रामलाल ने फिर मनुस्मृति के प्रमाण प्रस्तुत किए। स्वामीजी ने कहा कि इन प्रमाणों में आए हुए प्रतिमा और देव शब्दों से मूर्त्तिपूजा का कोई सम्बन्ध नहीं है और उनके यथार्थ अर्थ करके दिखाये[५१२] और यह भी कहा कि पण्डितजी के बताये हुए ग्रन्थों में पण्डितों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के निमित्त बहुत से असत्य भाग प्रक्षिप्त कर दिये हैं, अत: वह उन ग्रन्थों का प्रमाण उक्त असत्य भागों को छोड़कर ही स्वीकार करते हैं। मौलिक धर्मग्रन्थ वेद में एक शब्द भी नहीं है, जिससे मूर्त्तिपूजा का प्रतिपादन होता हो, अन्य ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हो सकते।

**मध्यस्थ की सम्मति**- तदनन्तर पण्डित रामलाल ने फिर भी स्मृतियों और पुराणों के प्रमाण उपस्थित किए। इस पर मध्यस्थ ने कहा कि पण्डितजी स्वामीजी प्रश्न कुछ और करते हैं और आप उत्तर कुछ और ही देते हैं। यह सभा और पण्डितों का नियम नहीं है। जैसे किसी ने किसी से द्वारिका का मार्ग पूछा और उसने कलकत्ते का मार्ग बतलाया, ऐसा ही आपका यहशास्त्रार्थ है। अन्त में पण्डित रामलाल ने कहा कि हम मूर्त्तिपूजा को वेद से सिद्ध नहीं कर सकते परन्तु मनुस्मृति, ब्राह्मण-ग्रन्थों और पुराणों के प्रमाणों से सिद्ध कर सकते हैं। इसी पर शास्त्रार्थ समाप्त हो गया।

**श्रोताओं पर प्रभाव**- शास्त्रार्थ सभा साढ़े ग्यारह बजे रात्रि के विसर्जन हुई। शास्त्रार्थ के अन्त में अनेक लोगों ने भाई जीवनजी को धन्यवाद दिया कि जिनके उद्योग से ऐसा चमत्कारिक परिणाम प्राप्त हुआ। सब लोग यह विश्वास लेकर घरों को लौटे कि आर्यों के मौलिक धर्मग्रन्थ वेद में मूर्त्तिपूजा की कोई आज्ञा नहीं है।

४ अप्रैल सन् १८७६ ई० (११ चैत्र शुक्ला, मङ्गलवार) को जीवनदयाल नेरकादयाल ने एक विज्ञापन दिया था जिसमें लिखा था कि १८ मास से पण्डित दयानन्द सरस्वती मुम्बई पधारे हैं और वे बराबर मूर्त्तिपूजा का खण्डन कर रहे हैं, पण्डित गट्टूलाल, पण्डित कमलनयनाचार्य, पण्डित रामलाल कोई भी मूर्त्तिपूजा को वेदविहित सिद्ध नहीं कर सका। अत: मैं यह निश्चय करके कि मूर्त्तिपूजा वेदानुमोदित नहीं है, आर्यसमाज का सभासद् हुआ हूँ, फिर भी यदि कोई पण्डित कोई वेदमन्त्र पते और सत्य अर्थ सहित जिससे मूर्त्तिपूजा सिद्ध होती हो, मेरे पास भेज देगा तो मैं उसे १२५ रुपए दक्षिणा दूँगा। एक लेखक ने मुम्बई आदि में स्वामीजी के कार्य की आलोचना करते हुए कलकत्ता के '*बङ्ग-दर्शन*' पत्र में इस प्रकार लिखा था-

**एक लेखक की साक्षी**- ''मुम्बई और पूना प्रभृति स्थानों में कितने ही लोग आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गए हैं। मुम्बई प्रदेश में भ्रमण करते हुए मैंने देखा कि वहाँ दयानन्द ने महा-आन्दोलन उपस्थित कर रखा है। अनेक उत्साही भद्र पुरुष उनके दल

---

५१२- पण्डित रामलाल ने मनुस्मृति के श्लोकों का जिनमें देवायतन और देवपरिक्रमण शब्द आए हैं, प्रमाण दिया था। स्वामीजी ने देव शब्द के विद्वान् अर्थ किये थे और देवायतन का अर्थ विद्वानों का निवासस्थान और देवपरिक्रमण का अर्थ विद्वानों के शरीर की परिक्रमा अर्थ किया था। इसका पण्डित रामलाल कोई उत्तर न दे सके थे। – *संग्रहकर्त्ता*

में सम्मिलित हो गये हैं। जहाँ-तहाँ दयानन्द की ही चर्चा होती है। दयानन्द की वक्तृताशक्ति, दयानन्द का सामाजिक मत, दयानन्द की नवीन प्रकार की वेदव्याख्या पर सर्वत्र आलोचना होती है।... दयानन्द सबल और दीर्घकाय हैं। उनके साथ वार्त्तालाप करने और विशेष परिचय प्राप्त करने से यह विश्वास होता है कि वे यथार्थ ही एक असाधारण पुरुष हैं; उनकी वाग्मिता असाधारण है। स्वदेश के मङ्गल के लिए उनका उत्साह और प्रयत्न भी असाधारण है।..... दयानन्द ने एक बार मुझसे कहा था कि इस समय उनका कार्य दो प्रकार का है, एक तो स्थान-स्थान पर आर्यसमाज स्थापित करना और दूसरा वेद का एक नूतन भाष्य लिखना। ..... मैं मुम्बई के आर्यसमाज को देखने गया था। वहाँ अनेक भद्र लोग एकत्रित होकर धार्मिक और सामाजिक विषयों पर वक्तृता और तर्क-वितर्क कर रहे थे। मैंने देखा कि अनेक लोग दयानन्द के शिष्य हो गये हैं। उनमें सुशिक्षित मनुष्य से लेकर अशिक्षित मनुष्य पर्यन्त देखने में आए। एक दिन दयानन्द के पूना से आने का संवाद था। मैंने देखा कि मुम्बई के बाजार का एक सामान्य दूकानदार अपनी दुकान बन्द करके दयानन्द का स्वागत करने के लिए रेल्वे स्टशन को चल दिया।... मैंने सुना कि रेल्वे स्टेशन से प्राय: ५०० मनुष्य दयानन्द को लिवाकर लाए थे।

....दयानन्द मूर्त्तिपूजा के विरोधी हैं, एकेश्वरवादी है और वेद को आप्तवाक्य मानते हैं। अत: जन्मान्तर में भी विश्वास करते हैं। सामाजिक विषयों पर उनके मन्तव्य अति विशुद्ध और उन्नत हैं। ''

एक हिन्दू पण्डित प्राचीनतम हिन्दू धर्म के भ्रम-प्रमाद का प्रदर्शन करते हैं, एक हिन्दू संन्यासी पौराणिक उपासना के असारत्व की घाषणा करते हैं। एक सुप्रसिद्ध वेदज्ञ व्यक्ति वेद को सनातन शास्त्र स्वीकार करके उसमें से उन्नसवीं शताब्दी के उच्चतम विचारों का प्रतिपादन करते हैं। यदि इससे भी हिन्दू समाज का चित्त आकृष्ट न होगा तो किस से होगा?

दयानन्द अँग्रेजी का बिन्दु-विसर्ग तक भी नहीं जानते। यह बात उनके पक्ष में अच्छी ही हुई है। यदि वे अँग्रेजी जानते होते तो लोग कहते दयानन्द वेदज्ञ संन्यासी अवश्य है, परन्तु अँग्रेजी पढ़ने से उनकी मति विकृत हो गई हैं, वे भ्रष्ट हो गये हैं। यह सत्य है कि अँग्रेजी शिक्षित नव्य समुदाय का कोई मनुष्य यदि अँग्रेजी प्रणाली के अनुसार वक्तृता आदि करे तो वह अपने ही समुदाय में आन्दोलन उपस्थित कर सकता है, परन्तु वह आन्दोलन प्राचीन समुदाय में प्रवेश नहीं कर सकता। दयानन्द जो कुछ भी कहते हैं वह सब ही देश-भाव का अनुसारी होता है। वे स्वयम् अँग्रेजी से अनभिज्ञ वेदज्ञ पण्डित हैं। उनकी सब ही वक्तृताओं में हिन्दुओं के चिरपूज्य वेदादि शास्त्रों की व्याख्या होती है। यदि किसी मत का समर्थन करना होता है तो वे किसी भी निरपेक्ष व्यक्ति का अवलम्बन नहीं करते, वे सदा ही शास्त्रीय प्रमाणों का प्रयोग करते हैं। इसलिए प्राचीन समुदाय में आन्दोलन उपस्थित हो गया है।"

**महान् प्रलोभन**- एक दिन मुम्बई के प्रसिद्ध सेठ गोकुलदास तेजपाल, जो वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे, स्वामीजी के पास आये और कहा कि यदि आप मूर्त्तिपूजा का खण्डन छोड़ दें तो मैं सब भाटियों को आपका अनुयायी बनवा दूँ। स्वामीजी को तो कोई प्रलोभन भी विचलित न कर सकता था, उन्होंने तुरन्त ही उत्तर दे दिया कि ऐसा कभी नहीं हो सकता।

**प्रलोभन देने का कारण**- सेठजी के इस प्रस्ताव का एक कारण था। वे निम्नलिखित घटना के कारण वल्लभाचारी गोसाइयों से विरक्त हो गये थे और वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों के फन्दे से निकलना चाहते थे।

**गोसाईंजी ने ५००० की माला ले- ली**- उनकी एक विधवा पुत्री थी। एक दिन वह एक रत्नजटित माला पहनकर मन्दिर में गई। माला का मूल्य ५००० रुपए था। गोसाईंजी ने वह माला उससे ले ली। उसने यह बात अपने पिता से न कही। एक दिन सेठजी जब मन्दिर गए तो उन्होंने गोसाईंजी को वही माला पहने हुए देखा। गोसाईंजी से तो उन्होंने कुछ न कहा परन्तु घर पर आकर पुत्री को बहुत धमकाया और कहा कि गोसाईंजी पर मैं चोरी का अभियोग चलाऊँगा कि उन्होंने मेरी माला चुरा ली है। लड़की ने गोसाईंजी को बचाने के लिए यह बात बना दी कि गोसाईंजी ने वह माला मुझसे देखने के लिए ले ली थी। फिर गोसाईंजी ने भी ऐसा ही कहा कि हमें ऐसी दूसरी माला बनवानी थी इसलिए हमने देखने

के लिए यह माला ले ली थी और यह कहकर माला वापस कर दी।

अप्रैल सन् १८७६ ई० की किसी तारीख को स्वामीजी मुम्बई से इन्दौर चले गए।

## इन्दौर (१८७६ ई०)

अप्रैल, १८७६ ई० की किसी तारीख को स्वामीजी इन्दौर पहुँचकर तालबाग में ठहरे। उनके ठहरने आदि का प्रबन्ध डॉक्टर गणपतिसिंह ने किया था।[५१३]

**महाराजा भी व्याख्यान में पधारे**– इन्दौर के सम्भ्रान्त और प्रधान कर्मचारी स्वामीजी से मिलने और उनके व्याख्यान सुनने जाया करते थे। एक व्याख्यान में महाराजा तुकोजीराव भी पधारे थे। स्वामीजी का एक व्याख्यान हाईस्कूल में हुआ था। उसमें पण्डित गणेशशास्त्री और रामानुजशास्त्री ने कुछ विरुद्ध बोलने की चेष्टा की थी, परन्तु उन्हें बोलने नहीं दिया गया था।

**महाराजा को उपदेश**– महाराजा तुकोजीराव स्वामीजी से प्राय: मिलने आया करते थे। वे यद्यपि स्वयम् घोर शिवभक्त थे, परन्तु स्वामीजी के आदर सत्कार में कोई त्रुटि नहीं करते थे। स्वामीजी ने महाराजा को राजनीति के कुछ सिद्धान्त लिखकर दिए थे। स्वामीजी की हिन्दी उस समय शुद्ध नहीं थी इसलिए उन्होंने अपना लेख राजवी वासुदेव टुल्लो अध्यक्ष शिक्षा विभाग इन्दौर राज्य को शुद्ध कराने के लिए दे दिया था और उन्होंने उसे मास्टर शम्भुदयाल से शुद्ध कराया था।

एक दिन व्याख्यान के समय पण्डित बालशास्त्री (हाथी–शास्त्री) से शास्त्रार्थ का उपक्रम हुआ था, परन्तु शास्त्रार्थ हुआ नहीं।

**महाराजा ने शाल दिया**– विदा के समय महाराजा तुकोजीराव ने यथेष्ट सम्मानपूर्वक स्वामीजी को दुशााला आदि भेंट किया था और भेंट करते समय कहा था कि महाराज! क्या यह मूर्त्तिपूजा नहीं हो रही है? इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि मैं इस प्रकार की मूर्त्तिपूजा का खण्डन नहीं करता हूँ, मृत व्यक्तियों के उद्देश्य से जो पूजा होती है, मैं उसी का खण्डन करता हूँ।

स्वामीजी ने शाल लेने में आपत्ति की थी और कहा था कि शाल उन्हें दीजिए जो शीत से कातर हो, मैं शाल लेकर क्या करूँगा? यदि प्रत्येक राजा मुझे शाल देगा तो शालों का बोझा हो जाएगा और फिर मैं गृहस्थों की भाँति हो जाऊँगा। तब मैं स्वतन्त्रता से कहाँ घूम सकूँगा। महाराजा ने इन्दौर से काशी तक का रेलभाड़ा भी दिया था और वेदभाष्य की ५० प्रतियाँ क्रय करने का वचन भी दिया था। ३ मई सन् १८७६ ई० के *'टाइम्स ऑफ इण्डिया'* मुम्बई के दैनिक में इन्दौर के एक संवाददाता का ३० अप्रैल का लिखा हुआ एक पत्र छपा था कि ''स्वामी दयानन्द आज सायङ्काल को बनारस जाने वाले हैं। यहाँ उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हुई। परन्तु लोग उनके आगमन से विचार करने लगे हैं।'' उसी पत्र में महाराजा के स्वामीजी को मार्गव्यय देने और वेदभाष्य की ५० प्रतियाँ क्रय करने का वचन देने का भी उल्लेख है।

**स्वामीजी के विषय में सम्मति**– इन्दौर के एक व्यक्ति पण्डित विष्णुपन्त ने स्वामीजी के विषय में देवेन्द्रदबाबू को लिखा था– "स्वामीजी उत्कृष्ट वक्ता थे। उनका स्वर उच्च, गम्भीर और मधुर था। उनकी बोलने की रीति तेज–पूर्ण और उनका आक्रमण तीव्र होता था, उनकी वाणी एकदम लोगों के हृदय में प्रवेश कर जाती थी; इसलिए वह विरुद्ध पक्ष के लोगों को असह्य हो जाती थी और वे बीच में से ही उठकर चले जाते थे।"

---

५१३– स्वामीजी के इन्दौर जाने का उल्लेख न पं० लेखरामकृत जीवन–चरित में है और न स्वामी सत्यानन्दजी के दयानन्दप्रकाश में ही है। – *संग्रहकर्त्ता*

स्वामीजी इन्दौर से चलकर ९ मई सन् १८७६ ई० को फर्रुखाबाद पहुँच गए।

## फर्रुखाबाद (१८७६ ई०)

ज्येष्ठ कृष्ण १ संवत् १९३३ वि० अर्थात् ९ मई सन् १८७६ ई०(मङ्गलवार) को स्वामीजी फर्रुखाबाद पहुँचे और लाला जगन्नाथ के विश्रान्त घाट पर उतरे।

**व्याख्यान**- इस बार स्वामीजी के लाला जगन्नाथ के गृह पर धर्म का वास्तविक स्वरूप, ईसाई मत, मूर्त्तिपूजा और अवतारवाद पर चार व्याख्यान हुए।

**पाठशाला तोड़ दी**- पाठशाला की अवस्था ठीक नहीं थी। विद्यार्थी पुराने विचारों को न छोड़ते थे और अध्यापक भी ऐसा ही करते थे। अत: पाठशाला तोड़ दी गई। जो धन पाठशाला के नाम से जमा था, वह दानियों और सञ्चालकों की अनुमति से वेदभाष्य की सहायतार्थ दे दिया गया।

**स्वामीजी के गुरु-भाई पण्डित उदयप्रकाश, हम अपनी विद्वता दिखाने के लिए अन्य विद्वानों के विपरीत करते हैं**- इससे पूर्व की घटना है कि स्वामीजी ने पाठशाला का प्रधान-अध्यापक अपने गुरु-भाई पण्डित उदयप्रकाश को नियत किया था। वे पौराणिक विचारों के थे। स्वामीजी जब उन्हें नियत करके फर्रुखाबाद से चले गए तो उन्होंने शैवमत का मण्डन करना आरम्भ कर दिया, जिसका स्वामीजी खण्डन करते थे। जब स्वामीजी को यह बात ज्ञात हुई तो स्वामीजी फर्रुखाबाद आये और पण्डित उदयप्रकाश को शैवमत का मण्डन करने से निषेध किया तो उन्होंने कहा कि हम मण्डन करना न छोडेंगे, क्योंकि यह तो हमारा स्वभाव ही है कि यदि कोई किसी बात का खण्डन करता है तो हम उसका मण्डन करते हैं और यदि कोई किसी बात का मण्डन करता है तो हम उसका खण्डन करते हैं, ऐसा हम अपनी विद्या दिखाने के लिये किया करते हैं। अत: स्वामीजी ने उन्हें मुख्याध्यापक के पद से अलग कर दिया था।

**अँग्रेज पादरी से वार्त्तालाप**- २३ मई सन् १८७६ ई० को एक अँग्रेज पादरी दो देशी ईसाइयों के साथ स्वामीजी से धर्म विषय पर वार्तालाप करने आया। जब वह निरुत्तर हो गया तो चला गया। चलते समय उसने कहा कि मुझे विश्वास है कि आप बहुत शीघ्र ही हमारे अनुयायी हो जाएँगे। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यह तो परम असम्भव है, परन्तु थोड़े दिनों में आप देखोगे कि बहुत से ईसाई वैदिक मत की प्रशंसा करते हुए उसे स्वीकार करेंगे।

विदा होते समय स्वामीजी अपने भक्तों से कह गए कि यदि यहाँ आर्यसमाज स्थापित हुआ तो फिर मिलेंगे, नहीं तो अब हम कदापि यहाँ न आवेंगे।

ज्येष्ठ संवत् १९३३ वि० में स्वामीजी जब फर्रुखाबाद पधारे, उस समय पण्डित ज्वालादत्त पाठशाला में पढ़ाते थे। उन्होंने स्वामीजी की स्तुति में एक कविता लिखकर उन्हें सुनाई थी। उसे सुनकर उन्होंने कहा था कि मैं मनुष्य हूँ, मेरी इस प्रकार की स्तुति करना कदापि उचित नहीं है। तुम्हारी कविता कठिन और जटिल है।

एक दिन पण्डित राधाचरण गोस्वामी वृन्दावन निवासी और पण्डित बलदेव प्रसाद स्वामीजी से मिलने गए तो उन्होंने पण्डित बलदेव प्रसाद से पूछा कि मैक्समूलर भारतवर्ष कब आयेंगे? इससे ज्ञात होता है कि उन दिनों मैक्समूलर के भारतवर्ष आने की चर्चा थी।

इससे अगले दिन निर्जला एकादशी (१९ मई, १८७६ ई०) थी। पण्डित राधाचरण गङ्गा स्नान करने गए थे, स्नान करके घर लौटते समय वे स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए तो उन्होंने देखा कि स्वामीजी से दो पादरियों की धर्म विषय पर बातचीत हो रही है। उनमें से एक पादरी का नाम लूकस था। दूसरा देशी ईसाई था।

*लूकस*- आपके मत में मोक्ष का क्या उपाय है?

*दयानन्द*– हमसे पादरी विल्सन ने भी यही प्रश्न किया था। उन्होंने कहा था कि मोक्ष का साधारण मनुष्यों के लिए एक प्रकार का उपाय है अर्थात् ईश्वर–प्राप्ति और ईसाइयों के लिये अन्य प्रकार का अर्थात् ईसा पर विश्वास लाना। हमने इस पर उनसे कहा था कि पहला उपाय ही ठीक है।
*लूकस*– मनुष्य ईसा पर विश्वास करने से ही मुक्ति पा सकता है, क्योंकि वह ईश्वर का पुत्र और मनुष्यों का परित्राता था और इसीलिए ईश्वर ने उसे भेजा था। इसका प्रमाण यह है कि ईसा ने बहुत से मृत पुरुषों को जिलाया था।
दयानन्द– सत्य वेदोक्त धर्म में ईश्वर के अवलम्बन से ही मोक्ष होती है। महाभारत में लिखा है कि शुक्राचार्य ने संजीविनी विद्या से मृत पुरुषों को जिलाया था। अब हम शुक्राचार्य को ईश्वर का अवतार मानें वा उन्हें ईश्वर का भेजा हुआ मानें। यदि उत्तम उपदेश देने से ही ईसा को परित्राता कहते हो तो बायबिल की अपेक्षा भगवद्गीता में अधिक उत्तम उपदेश है, इसलिये भगवद्गीता के वक्ता श्रीकृष्ण भी परित्राता हैं। यदि तुम कहते हो कि ईसा इसलिए परित्राता थे कि उन्होंने उत्तम कर्म किए थे, तो शङ्कराचार्य अपेक्षाकृत उत्तमोत्तम कर्म कर गए हैं, इसलिये शङ्कराचार्य भी परित्राता हैं।

पादरी साहब इन बातों का कुछ उत्तर न दे सके।

स्वामीजी ने पादरी साहब से यह भी कहा था कि तुम्हारे देशों में धन बहुत है इसलिए तुम्हारी परिश्रम में अनास्था हो गई है, अतएव तुम्हारी मध्यस्थ अवस्था नहीं रही है और तुम क्रमशः अवनति की ओर जा रहे हो।

इसके पश्चात् स्वामीजी ने शर्बतादि से सत्कार करके पादरी साहब को विदा किया।

पादरी जे०जे० लूकस से देवेन्द्रबाबू ने उनके स्वामीजी के संसर्ग में आने का वृत्त पूछा था। उसके उत्तर में जो पत्र उन्होंने लिखा था उसमें उस बात–चीत का भी कुछ उल्लेख किया था जो उनकी स्वामीजी से धर्म विषय पर हुई थी और अन्य बातें भी लिखी थीं। हम उनके पत्र को उपयोगी समझकर यहाँ उद्धृत करते हैं। इसमें स्वामीजी के आकार, प्रकार और एक व्याख्यान का मनोरञ्जक वर्णन है। अन्त में उन्होंने कुछ अपने विचार भी आर्यसमाज और खीस्त धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकट किए हैं–

''जब मैं सन् १८७६ ई० के निकट फर्रुखाबाद में रहता था तो मैंने स्वामी दयानन्द जी को एक बृहत् समुदाय के सामने, जिसमें प्रायः हिन्दू ही थे, व्याख्यान देते हुए सुना था। मैं पण्डित मोहनलाल के साथ, जो कनौजिया ब्राह्मण थे और कुछ वर्ष पूर्व ईसाई हो चुके थे, उनसे मिलने भी गया था।

पहली बात, जिससे मैं प्रभावित हुआ, वह उनका बल था जो स्वामीजी के समस्त शरीर और आकृति पर बृहदक्षरों में अङ्कित था। उनकी आकृति तपस्वियों–जैसी नहीं थी। उससे पूर्व उन्होंने चाहे जो तपस्या की हो, परन्तु जब मैंने उन्हें देखा था उस समय उनका जीवन एक तपस्वी वा संन्यासी का नहीं था। यह सच है कि उनके वस्त्र बहुत पुष्कल नहीं थे। वे केवल एक या दो वस्त्र पहने हुए थे, परन्तु वे किसी सुन्दर श्वेत वस्तु के बने हुए थे। उनके देह के ऊपर का भाग प्रायः नग्न था। उन्होंने मेरा और पण्डित मोहनलाल का हृदय से स्वागत किया था और वे हमसे बातचीत करने और अपने मन्तव्यों को स्पष्टतया वर्णन करने पर सर्वथा उद्यत थे। वह मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध इतने बल और इतने स्पष्ट विश्वास के साथ बोलते थे कि मुझे फर्रुखाबाद की जनता की ओर से उनका हार्दिक स्वागत किए जाने पर आश्चर्य हुआ। मुझे उनका यह कथन स्मरण है कि जब मैंने उनसे कहा कि यदि आपको तोप के मुँह पर रख कर आपसे कहा जाए कि यदि तुम मूर्त्ति को मस्तक नहीं नवाओगे तो तुम्हें तोप से उड़ा दिया जाएगा, तो आप क्या कहेंगे? स्वामीजी ने उत्तर दिया था कि मैं कहूँगा कि उड़ा दो। मैं उस समय उनके मिलने से यह भाव लेकर आया कि स्वामी दयानन्द एक बलवान पुरुष हैं और मूर्त्तिपूजा से उन्हें प्रबल और सच्ची घ्रणा है।

हिन्दुओं की बड़ी संख्या उनका व्याख्यान सुनने को आई थी और इसमें सन्देह नहीं कि उस सायंकाल को उनकी वाग्मिता और सत्यमनस्कता ने उनके लिए बहुत से अनुयायी प्राप्त किए होंगे।

आगे चल कर पादरी साहब कहते हैं कि ''हिन्दुओं में मूर्त्तिपूजा के प्रति अश्रद्धा ईसाइयों के स्कूलों और बाजार के व्याख्यानों और ईसाइयों की लाखों पुस्तकों के प्रचार से उत्पन्न हो गई थी, जिनमें मूर्त्तिपूजा की मूर्खता, उसके पाप और लज्जा को स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया था और इस प्रकार उन्होंने सारे भारतवर्ष में लोगों को मूर्त्तिपूजा का परित्याग करने पर उद्यत कर दिया था और जब दयानन्द ने वेदों के बल पर मूर्त्तिपूजा का प्रत्याख्यान किया तो उन्होंने लोगों को मूर्त्तिपूजा के परित्याग पर उद्यत पाया और लोगों ने उनकी शिक्षा को इसलिए ग्रहण किया कि उन्होंने समझा कि वह मूर्त्तिपूजा को छोड़कर भी वेदों को रख सकते हैं। मेरी सम्मति की सत्यता इससे भी प्रकट होती है कि आर्यसमाज के लोग सदा उस अभियोग से अपनी रक्षा करते चले आये हैं जो हिन्दू उन पर लगाते रहे हैं अर्थात् यह कि वास्तव में आर्यसमाजी हिन्दू मन्दिरों के विनाश के लिए ईसाइयों से मिल गये हैं और यही कारण है, जो आर्यसमाजी समझते हैं कि ईसाइयों के विरुद्ध रहने से ही हिन्दू उन्हें उस अभियोग से मुक्त कर सकते हैं।"

अन्त में पादरी साहब ने लिखा था कि "इसमें कोई हानि नहीं है, यदि आर्यसमाजी यह स्वीकार कर लें कि ईसाइयों ने मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध प्रचार करके उनका मार्ग सुगम कर दिया है।''

हमें पादरी साहब की बातों पर हँसी आती है। यह किसी अंश में भी सत्य नहीं है कि लोग ईसाई पादरियों के खण्डन करने के कारण मूर्त्तिपूजा से विरक्त हो गये थे। बंगाल, मद्रास आदि जिन-जिन प्रान्तों में ईसाइयों का प्रचार बहुत समय से और बड़े बल के साथ होता रहा है, उन-उन प्रान्तों में भी मूर्त्तिपूजा का सबसे अधिक प्राबल्य है और वे ही वे प्रान्त हैं जिनमें आर्यसमाज का बहुत कम प्रचार है। इससे स्पष्ट है कि ईसाइयों के प्रचार ने लोगों को मूर्त्तिपूजा के त्यागने पर उद्यत नहीं किया।

यह सत्य है कि कहीं-कहीं सनातनधर्मियों ने स्वामीजी के विषय में यह किंवदन्ती फैलाई थी कि उन्हें अँग्रेजों ने हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिये नियत किया है, परन्तु न किसी ने उस समय इसे सत्य समझा और न स्वामीजी के देहावसान के पीछे ही किसी ने आर्य-समाजियों पर यह अभियोग लगाया और यदि किसी ने लगाया भी हो तो न कभी आर्यसमाजियों ने उसकी परवाह की और न जनसाधारण ने उसे सत्य समझा। यह कहना कि आर्यसमाजी केवल इस दोषारोपण से मुक्त होने के अभिशाप से ईसाई मत की तीव्र आलोचना करते हैं, सर्वथा मिथ्या है। प्रथम तो यह बात है कि ईसाई जैसी तीव्र भाषा हिन्दुओं और आर्यों के लिये प्रयुक्त करते हैं आर्यसमाजी वैसे ईसाइयों के लिये नहीं करते, दूसरे- आर्यसमाज जिस भाव से पौराणिक आदि वेद-विरुद्ध मतों का खण्डन करता है, उसी भाव से ईसाई मत का भी करता है।

हाँ, यह अवश्य किसी अंश तक ठीक है कि अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त समुदाय में मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध कुछ भाव उत्पन्न हो गया है, परन्तु यह ईसाई मत के प्रचार का नहीं, प्रत्युत पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के प्रसार का प्रभाव है।

## काशी (१८७६ ई०)

स्वामीजी २४ मई १८७६ ई० को फर्रुखाबाद से चलकर ज्येष्ठ शुक्ला ४ संवत् १९३३ वि० अर्थात् २७ मई सन् १८७६ ई० (शनिवार) को काशी पहुँचे और उत्तमगिरि गोसाईं के बाग में ठहरे।[५१४]

**वेदभाष्य-भूमिका**- इस समय स्वामीजी का अधिक समय अपने वेदभाष्य का चिन्तन और उसके मुद्रित कराने का प्रबन्ध करने में व्यय होता था। *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका* के लाज़रस कम्पनी के छापेखाने में छपवाने का उन्होंने प्रबन्ध किया और

५१४- देवेन्द्रबाबू ने इस बाग के स्वामी का नाम शिवदत्तगिरि लिखा है। -*संग्रहकर्ता*

वेदभाष्य के सम्बन्ध में विज्ञापन छपवाए।

**वेदभाष्य के लिए ग्रन्थ-संग्रह**- स्वामीजी ने अपने वेदभाष्य के कार्य में योग देने के लिये फर्रुखाबाद से पण्डित भीमसेन को अपने पास काशी बुलाया। एक मास तक ग्रन्थ-संग्रह का प्रबन्ध होता रहा और फिर वेदभाष्य की रचना आरम्भ हुई।

**शिष्य-गुरु-सम्मिलन** - पण्डित हेमचन्द्र चक्रवती जो कुछ दिन तक स्वामीजी के साथ पहले रह चुके थे, नेपाल जा रहे थे। वे स्वामीजी के दर्शन करने के लिए काशी आए। तब स्वामीजी ने उन्हें *योगदर्शन* का व्यासभाष्य तथा व्याकरण का *महाभाष्य* प्रदान किया।

स्वामीजी भाद्रपद कृष्णा १० संवत् १९३३ वि० अर्थात् १४ अगस्त सन् १८७६ ई० तक काशी में रहे।

## जौनपुर (१८७६ ई०)

स्वामीजी काशी से चलकर भाद्रपद कृष्णा ११ संवत् १९३३ वि० अर्थात् १५ अगस्त सन् १८७६ ई० (मङ्गलवार) को जौनपुर पहुँचे। यहाँ उनके साथ पं० भीमसेन और एक रसोइया था। यहाँ उनका कोई व्याख्यान नहीं हुआ। जो लोग उनके पास आते रहे उन्हें ही वे उपदेश देते रहे। यहाँ स्वामीजी केवल ३ दिन रहे पुन: वे यहाँ से चलकर अयोध्या पहुँच गए।

## अयोध्या (१९७६ ई०)

भाद्रपद्र कृष्णा १४ संवत् १९३३ वि० अर्थात् १८ अगस्त सन् १८७६ ई० (शुक्रवार) को स्वामी जी अयोध्या पहुँच कर सरयूबाग में चौधरी गुरुचरणलाल के मन्दिर में उतरे। अयोध्या में भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा संवत् १९३३ वि० अर्थात् २० अगस्त सन् १८७६ ई० (रविवार) से उन्होंने '*ऋग्वेदादिभाष्य्यभूमिका*' का लिखना-लिखाना प्रारम्भ किया। यह उनके जन्ममास का ही शुक्ल पक्ष था। अत: इस भूमिका के आरम्भ में ही उन्होंने लिखा कि-

'*कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले।*
*प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भ: कृतो मया।।*
*दयाया आनन्दो विलसति पर: स्वात्मविदित:,*
*सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हित हीशशरणा;*
*इदं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमनना-*
*ऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघा:।।*

अर्थात् विक्रम के संवत् १९३३ वि० (गुजराती संवत् १९३२ वि०) के भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है। सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिनका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है उन्होंने इस वेदभाष्य को (अपनी ५१ वर्ष की वय में) रचा है।'

**शास्त्रार्थ के लिए विज्ञापन**- स्वामीजी ने विज्ञापन छपवाकर नगर में बँटवाया और उसमें पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये चैलेञ्च दिया। विज्ञापन देते ही पौराणिक-दल में खलबली मच गई। मन्दिरों, ठाकुर-द्वारों तथा अन्य स्थानों में सभाएँ होने लगीं।

**राजा को पण्डितों का परामर्श**- पण्डित और बैरागी सबके सब मिलकर अयोध्या के रईस राजा त्रिलोकीलाल के पास गए और उनसे दयानन्द के विज्ञापन देने का समाचार कहा। उन्होंने कहा-तो फिर दयानन्द से नियमानुसार शास्त्रार्थ क्यों नहीं कर लिया जाता? तब पण्डितों ने शास्त्रार्थ का आयोजन किया और स्वामीजी को एक पत्र लिखा जिसमें यह प्रतिबन्ध लगाया गया था कि स्वामीजी अयोध्या नगर में आकर शास्त्रार्थ करें।

**पण्डितों की कूटनीति**- इस प्रतिबन्ध के लगाने में पण्डितों का विशेष अभिप्राय था। बैरागियों का अयोध्या में बहुत जोर है और वे झगड़ा बखेड़ा करने के लिये सदा उद्यत रहते हैं। पण्डितों ने सोच लिया था कि हम शास्त्रार्थ में यदि न जीतेंगे

तो शस्त्रार्थ करेंगे, हुल्लड़बाजी और धींगामुश्ती से जीतेंगे, दयानन्द अकेला है, वह कर ही क्या सकेगा, हम जीत का ढोल पीट ही देंगे।

**शास्त्रार्थ सरयूबाग में ही होगा**- परन्तु दयानन्द भी कच्ची गोलियों का खेला हुआ न था, वह इनकी चाल जान गया। उसने पत्रोत्तर में कहला भेजा कि यदि शास्त्रार्थ करना है तो सरयूबाग में ही करना होगा। पण्डित लोग इसे क्यों मानने लगे, उन्हें तो शास्त्रार्थ से बचने के लिए कोई बहाना चाहिए था और वह उन्हें अनायास ही मिल गया।

इसमें कोई सन्देह ही नहीं था कि यदि स्वामीजी अयोध्या में शास्त्रार्थ करने जाते तो बैरागी उन पर आक्रमण किए और टण्टा-बखेड़ा उठाए बिना कभी न रहते।

**एक पण्डितम्मन्य**- अयोध्या में उन दिनों एक पण्डितम्मन्य श्रीहर्षजी निवास करते थे। देवेन्द्रबाबू को तो यह धुन थी कि जिस व्यक्ति का भी उन्हें पता लगता था कि उसका स्वामीजी से संसर्ग रहा था चट उसी के पास पहुँच जाते थे। इसी प्रकार वह श्रीहर्षजी के भी पास पहुँचे और उनसे पूछा कि महाराज स्वामी के विषय में यदि कोई घटना याद हो तो कृपया बताइए।

**हमने दयानन्द को हराया था**- श्री हर्षजी और पुलकित होकर बोले- "अजी याद क्यों नहीं है, हमने तो उन्हें शास्त्रार्थ में हराया ही था, यह बात कैसे याद न रहती।" देवेन्द्रबाबू ने उनसे पूछा कि आप में और दयानन्द में क्या प्रश्नोत्तर हुए थे? तो गर्व से उद्ग्रीव होकर निम्नलिखित प्रश्नोत्तर उन्होंने वर्णन किए-

**पण्डितम्मन्य की मनघड़न्त**-

*श्रीहर्ष*- शिष्टाचार प्रमाण है या नहीं?

*दयानन्द*- है।

*श्रीहर्ष*- तो फिर तीर्थभ्रमण आदि जो शिष्ट परम्परा से चला आता है, क्यों मान्य नहीं है?

*दयानन्द*- चुप।

*श्रीहर्ष*- यदि व्यास, वशिष्ठ सभी के शास्त्र असत्य हैं तो यह कैसे माना जाए कि आज आपने इतने दिनों बाद सत्यार्थ का प्रकाश किया है?

*दयानन्द*- चुप।

*श्रीहर्ष*- विधवा-विवाह विहित है या नहीं?

*दयानन्द*- विहित है।

*श्रीहर्ष*- परन्तु भारतवर्ष में द्रौपदी के स्वयंवर-प्रसङ्ग में टीकाकार नीलकण्ठ ने वेद का मन्त्र उद्धृत करके विधवा-विवाह का अनौचित्य दिखाया है?

*दयानन्द*- चुप।

पाठकों ने देखा कि पण्डित श्रीहर्ष के प्रश्न कैसे दुरूह और गूढ़ हैं। स्वामीजी इस बुद्धि के हिमालय के प्रश्नों के उत्तर में चुप न होते तो क्या करते? हमें श्रीहर्षजी की सरलता पर हँसी आती है, वे सबको या तो मूर्ख समझते थे जो उनके कथन को ब्राह्मण-वचन प्रमाण कहकर मान लें या स्वयं उन्हें इतना ज्ञान नहीं है कि जो बात वे कह रहे हैं उस पर कोई बुद्धिमान विश्वास भी कर सकता है या नहीं। वास्तव में बात यह है कि यह प्रश्नोत्तर स्वयं श्रीहर्षजी के मस्तिष्क की उपज है। उनका कोई शास्त्रार्थ स्वामीजी से हुआ ही नहीं।

अयोध्या में एक मास और नौ दिन ठहरकर स्वामीजी लखनऊ चले गए।

## लखनऊ (१८७६ ई०)

स्वामीजी २७ सितम्बर सन् १८७६ ईस्वी अर्थात् आश्विन शुक्ला ९ संवत् १९३३ वि० (बुधवार) को लखनऊ

पहुँचे और हुसैनाबाद में सरदार विक्रमसिंह अहलूवालिया की कोठी में ठहरे। अधिकतर वह *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका* के रचने में ही व्यापृत रहते थे।

**स्वामीजी इँग्लैण्ड जाना चाहते थे**– स्वामीजी का विचार इँग्लैड जाकर प्रचार करने का भी था और इसी उद्देश्य से उन्होंने बनमाली बाबू (एक बंगाली) से, जिसे उन्होंने मिर्जापुर में नियत करके साथ रखा था, अँग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया था। १८ अक्टूबर सन् १८७६ ई० के *'बिहारबन्धु'* पटना में लिखा था कि "पण्डित दयानन्द सरस्वती विलायत जाना चाहते हैं। इसलिए आजकल लखनऊ में अँग्रेजी पढ़ रहे हैं। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि उक्त महाशय के विलायत जाने से वहाँ के विद्वानों को बड़ा आनन्द होगा।'

**पहला व्याख्यान**– ३० सितम्बर सन् १८७६ ई० को स्वामीजी ने छोटेलाल रोटीवाले के बाग में 'ईश्वर की एकता' के विषय में व्याख्यान दिया जिसमें श्रोता अत्यधिक संख्या में उपस्थित हुए और व्याख्यान का अत्युत्तम प्रभाव पड़ा। व्याख्यान में स्वामीजी ने ब्राह्मसमाज और उसके नेता की प्रशंसा की थी कि ब्राह्म लोग जो प्रयत्न एकेश्वर पूजा के फैलाने में कर रहे हैं, वह श्लाघनीय है।

इस बार स्वामीजी के लाला ब्रजलाल रईस लखनऊ के साथ धर्म विषय में प्रश्नोत्तर हुए थे। हम स्वामीजी के दिए हुए उत्तरों को यहाँ उद्धृत करते हैं। उनसे ही प्रश्नों का पता लग जाएगा कि वे क्या थे?

**प्रश्नों के उत्तर**– वर्ण कर्मों के अनुसार ठीक हैं, (वर्त्तमान) लोक-व्यवहार के अनुसार ठीक नहीं हैं। ब्रह्मविद्या का ज्ञाता ब्राह्मण, युद्ध करने वाला क्षत्रिय, लेन-देन आदि करने वाला वैश्य, सेवा करने वाला शूद्र है। यदि ब्राह्मण वा क्षत्रिय शूद्र का काम करने लगे तो वह ब्राह्मण नहीं। वर्ण कर्म से होता है, कुल से नहीं। वर्तमान चारों वर्ण[५१५] १२०० वर्ष के लगभग से बनें हैं। जैसे शरीर से मुख श्रेष्ठ है वैसे ही सब वर्णों में ब्राह्मण श्रेठ है, इसलिए ऐसा कहा गया है कि ब्राह्मण मुख से हुआ। यज्ञोपवीत केवल विद्या का चिह्न: है। उत्तम कर्म सत्य बोलना, परोपकारादि हैं, उन्हें ही करना चाहिए। वाणी से सत्य बोलना अर्थात् जो मन में हो वही जिह्वा से कहना वा ऐसा विचार करके कहना जो कभी झूठा न हो, सत्य कहलाता है। मूर्त्तिपूजना बुरा है, कदापि नहीं पूजनी चाहिए, इसी मूर्त्तिपूजा के कारण संसार में अन्धकार फैल गया है। जैसे सुख-दु:ख का ध्यान मन में होता है वैसे ही परमेश्वर का ध्यान मन से होना चाहिए, मूर्त्ति की कोई आवश्यकता नहीं। सन्ध्या केवल दो समय सायं व प्रात:काल ही करनी चाहिए, तीन काल नहीं। सत्य बोलना और परोपकार के उत्तम कर्म करने चाहिए। बिना समझे बार-बार मन्त्र जपना वा लाख दो लाख मन्त्र जप कर पुरश्चरण करना अनावश्यक है, मनन करना चाहिए। परमेश्वर का कोई रङ्ग व रूप नहीं है, वह अरूप है। जो कुछ इस संसार में दिखाई देता है वही उसका रूप है। परमेश्वर एक है और वही सबका बनाने और उत्पन्न करने वाला है। यदि ईश्वर दिखाई देता तो स्यात् सब कोई अपनी-अपनी मनोवाञ्छा पूरी करने की प्रार्थना करता और उसे हैरान करता। दूसरे, जिन तत्त्वों से मनुष्य का यह शरीर बना है उनसे उसको देखना असम्भव है। तीसरे, जिसने जिसे उत्पन्न किया उसे वह क्योंकर देख सकता है। परन्तु परमेश्वर दिखाई भी देता है, यह मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि सब पदार्थ जो इस संसार में दिखाई देते हैं, इनका कोई एक बनाने वाला जान पड़ता है, यही उसका देखना है और जैसे सुख-दु:ख से आत्मा पहचाना जाता है वैसे ही परमेश्वर को पहचानो। ब्रह्म सबमें है और हम में भी है और जैसे सुख दु:ख की प्रतीति मन में होती है वैसे ही उसकी भी हो सकती है। ब्रह्म सब जगह एकसा है, परन्तु यह बात है कि उस चेतन का जितना जिसके आत्मा में प्रकाश है अर्थात् जितना जिसे ज्ञान है उतना ही उसे ब्रह्म का अनुभव होता है। जो मनुष्य विद्वान्, बुद्धिमान् और पण्डित हो उसे 'देव' कहते हैं। रामलीला देखने में दोष है, सहस्र

५१५- यहाँ चारों वर्णों से अभिप्राय आजकल की जन्मगत अनेक विरादरियों से है। – *संग्रहकर्त्ता*

हत्या के बराबर दोष है और इसी प्रकार मूर्त्तिपूजा सहस्र हत्या के बराबर पाप है, क्योंकि बिना आकार के प्रतिबिम्ब नहीं उतर सकता और जबकि परमेश्वर का आकार नहीं तो उसकी मूर्त्ति झूठी है। यदि किसी का फोटो ठीक-ठीक प्रतिकृति उतार कर स्मरण करने और देखने को सामने रखी जाये तो ठीक है। परन्तु ब्रह्म की मूर्त्ति और अनुकृति बनाना और नकल करना कुछ का कुछ कर देना है और सर्वथा मिथ्या और अवैध है। संस्कृत भाषा सदा से है और अत्यन्त शुद्ध और परिष्कृत है। यदि फारसी और अँग्रेजी में '*ब*' बोलना चाहें तो स्पष्टतया प्रकट नहीं हो सकता। फारसी में '*बे*' और अँग्रेजी में '*बी*' कहेंगे, परन्तु किसी अक्षर को बिना दूसरे अक्षर की मिलावट के प्रकट करने का गुण केवल संस्कृत में ही है। जैसे माता-पिता अपने पुत्र को सिखाते हैं कि माता-पिता और गुरु की सेवा करो, उनका कहा मानो, ऐसे ही भगवान ने स्तुति सिखाने के लिए वेद में अपनी स्तुति लिखी है। भगवान का मुख तो नहीं है उसने अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा चार ऋषियों के हृदय में वेद का प्रकाश किया, परन्तु वेद उन ऋषियों के बनाए हुए नहीं हैं, वे भगवान के बनाए और कहे हुए हैं, वे चारों ऋषि कुछ न पढ़े थे और न कुछ जानते थे, भगवान् ने उनके द्वारा वेद कहे हैं। जैसे कोई मनुष्य पित्त वा सन्निपात में विवश होकर कुछ बोलने लगते हैं वैसे ही भगवान् ने उन चारों के घट में और वाणी में प्रकाश करके (वेदों को) कहा और उन्होंने इसके बल से विवश होकर कहा। अत: स्पष्ट है कि वेद भगवान् ने ही कहे हैं। जीव अपनी जाति=प्रकृति वा स्वरूप में एक है और संख्या में अनेक हैं। जैसे एक मनुष्य जाति और दूसरी पशु जाति है, इत्यादि। जैसे जल में जो रङ्ग मिला दोगे तो वैसा ही जल का रङ्ग हो जावेगा, वैसे ही जिस देह में यह जीव जाएगा वैसा ही उसका रङ्ग-रूप और छोटा-बड़ा देह होगा, परन्तु जीव सबका एकसा है, जैसा चींटी का वैसा ही हाथी का।

**अशुद्धियों को सरलता से मान लो**- स्वामीजी ने एक पुस्तक (संस्कृत वाक्यप्रबोध) प्रकाशित की थी। वह छपी तो उनके ही नाम से थी, परन्तु उसके लिखने वाले उनके साथ काम करने वाले पण्डित थे। उसमें संस्कृत की कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं। काशी के पण्डितों ने उस पर आक्षेप किया तो पण्डितवर्ग उन अशुद्धियों को शुद्ध सिद्ध करने लगा। तब स्वामीजी ने उनसे कहा कि जो अशुद्धियाँ हैं उन्हें सरलता से मान लेना चाहिए और अगले संस्करण में उन्हें शुद्ध कर देना चाहिए।[५१६]

**पूर्व-मीमांसा के भ्रान्त-अर्थ**- प्रसङ्ग उठने पर एक दिन स्वामीजी ने कहा कि जो लोग पूर्वमीमांसा के सूत्रों का यज्ञ में पशुवधपरक अर्थ करते हैं, वे भारी भूल करते हैं। बात यह है कि सूत्रों में '*आलम्भन*' शब्द आया है, जिसके दो अर्थ हैं, वध करना और स्पर्श करना। सूत्रों में उसका अर्थ स्पर्श करना ही है।

एक दिन स्वामीजी ने यह भी कहा था कि मैंने वेदों के एक-एक मन्त्र पर पूर्ण विचार किया है, उनमें कोई भी युक्ति-विरुद्ध बात नहीं है।

**उलटे अर्थों को उलटता हूँ**- एक दिन एक व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा कि आप ग्रन्थों के अर्थ को उलट देते हैं। तब स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं तो अर्थ नहीं उलटता, अर्थ उलटने वाले तो और ही होंगे। हाँ मैं उनके उलटे अर्थों को अवश्य उलटता हूँ।

## शाहजहाँपुर (१८७६ ई०)

१ नवम्बर सन् १८७६ ई० तदनुसार कार्तिक पूर्णिमा संवत् १९३३ वि० (बुधवार) को स्वामीजी लखनऊ से शाहजहाँपुर पधारे और वहाँ एक बाग में ठहरे जिसमें एक मन्दिर भी था, परन्तु पौराणिकों ने उन्हें वहाँ न रहने दिया, अत: वे एक दूसरे बाग में चले गए। ५ दिन ठहरकर वे बरेली चले गए। शाहजहाँपुर में व्याख्यान का प्रबन्ध

५१६- देखो ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार संख्या- १७४ (पृष्ठ २२३, २२४) तथा संख्या-३४६ (पृष्ठ ४०९)

नहीं हुआ। स्वामीजी का अधिक समय यहाँ भी *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका* के बनाने में ही व्यतीत हुआ।

## बरेली (१८७६ ई०)

शाहजहाँपुर से चलकर स्वामीजी मार्गशीर्ष कृष्णा ५ अर्थात् ६ नवम्बर, १८७६ ई० (सोमवार) को बरेली पधारे। लाला लक्ष्मीनारायण खजाञ्ची को उनके आगमन की पहले से सूचना थी। अत: उन्होंने अपने एक प्रतिष्ठित कर्मचारी को स्वामीजी के स्वागत के लिए रेल्वे स्टेशन पर भेज दिया था। खजाञ्ची साहब ने स्वामीजी को सत्कारपूर्वक अपनी कोठी पर बेगम-बाग में ठहराया। उसी कोठी में स्वमीजी के व्याख्यान होने लगे। इन व्याख्यानों से मूर्खजन चिढ़ते और बुद्धिमान प्रसन्न होते थे। नगर के सब महात्मा, महाजन, सेठ, साहूकार, कॉलेज के विद्यार्थी आदि स्वामीजी के इन व्याख्यानों को सुनने आया करते थे।

**पौराणिक दल में हाहाकार**- स्वामीजी के मूर्त्तिपूजादि के खण्डन से पौराणिक दल में व्याकुलता फैल गई थी। स्वामीजी के ३-४ व्याख्यान ही हो पाए थे कि पण्डितों, महन्तों और मूर्त्तिपूजकों ने हाहाकार मचा दिया और दल के दल सेठ लक्ष्मीनारायण के पास जाकर स्वामीजी के व्याख्यान बन्द करने के लिए कहने लगे। उन्होंने इन हुल्लड़ करने वालों की तो कुछ परवाह न की, परन्तु जब पण्डितों, पुरोहितों और पुजारियों ने उनके घर के लोगों और स्त्रियों को बहकाया और धर्मनाश की दुहाई देकर भड़काया और परिवार के अन्य पुरुषों तथा स्त्रियों ने आग्रह किया तो उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि महाराज ऐसी दशा में यदि आप व्याख्यान देना बन्द कर दें तो बड़ी कृपा होगी।

**व्याख्यान बन्द कर दिए**- स्वामीजी ने उनकी विवशता पर विचार करके व्याख्यान देने बन्द कर दिए, परन्तु ठहरे उसी कोठी में रहे और *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका* का प्रणयन करते रहे।

**अङ्गद शास्त्री को बुलाया गया**- पौराणिकों ने पण्डित अङ्गदराम शास्त्री को पीलीभीत से स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए बुलाया। उसने आकर बहुत हल्ला-गुल्ला किया और शास्त्रार्थ के लिए अपनी उत्सुकता प्रकट की। स्वामीजी भी शास्त्रार्थ से कब हटने वाले थे, उन्होंने शास्त्रार्थ करना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। शास्त्रार्थ के नियम भी निश्चित हो गए और शास्त्रार्थ का दिवस तथा समय भी नियत हो गया। उक्त दिवस और समय पर शास्त्रीजी ५००० पुरुषों की भीड़ लेकर जिनमें प्राय: सभी उजड्ड और उपद्रवी लोग थे, आवाजें कसते और शोर मचाते हुए स्वामीजी के निवास स्थान पर पहुँचे। सेठ लक्ष्मीनारायण ने जो उस हुड़दङ्गा समुदाय को देखा तो उन्हें निश्चय हो गया कि शास्त्री का अभिप्राय शास्त्रार्थ करना नहीं, प्रत्युत दङ्गा-बखेड़ा करना ही है, अत: उन्होंने उस भीड़ को कोठी के अहाते में घुसने से रोक दिया। इस पर शास्त्री ने कहना आरम्भ कर दिया कि स्वामीजी शास्त्रार्थ से हट गए हैं और जिस ठाठ से आये थे उसी ठाठ से वापस चले गए। सभी बुद्धिमान तो समझ ही गए कि शास्त्रीजी ने शास्त्रार्थ से बचने का एक नया ढङ्ग निकाला था, मूर्ख-मण्डली अवश्य यह कहती रही कि स्वामीजी शास्त्रार्थ के लिए शास्त्रीजी के सम्मुख नहीं आए।

**लक्ष्मण शास्त्री परास्त**- सेठ लक्ष्मीनारायण ने २०० रुपये वेदभाष्य की सहायतार्थ स्वामीजी को भेंट किए। गवर्नमेण्ट हाईस्कूल के पण्डित लक्ष्मण शास्त्री भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आए थे, परन्तु वे संस्कृत शुद्ध नहीं बोल सकते थे। अत: स्वामीजी ने उनकी अशुद्धियाँ पकड़ कर ही उन्हें चुप कर दिया था।

पाठकों को स्मरण होगा कि स्वामीजी ने मिर्जापुर में एक बंगाली को अँग्रेजी सीखने के लिए रखा था। वह कुछ समय उनके साथ रहा, परन्तु फिर वह चला गया था। बरेली आकर उन्होंने बनमाली बाबू नाम के एक दूसरे बंगाली को रखा, परन्तु उससे उन्होंने अँग्रेजी नहीं पढ़ी। उन्हें उपदेश, वार्त्तालाप, व्याख्यान और ग्रन्थ रचने से इतना समय ही नहीं मिलता था, जो वे अँग्रेजी पढ़ सकते। बनमाली बाबू से तो उन्होंने यही काम लिया कि वे उससे मैक्समूलर के वेद मन्त्रों के अँग्रेजी अनुवाद का भाषानुवाद सुन लिया करते थे।

**एक सदाशय विद्वान्**- पण्डित गङ्गाराम बरेली के प्रसिद्ध रईस दीवान हेतराम के कर्मचारी थे, उन्हें संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। वे आरम्भ से ही स्वामीजी के उपदेशों को शास्त्रसम्मत और युक्तिसङ्गत समझकर मानने लगे थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी की प्रशंसा में कतिपय श्लोक रचकर सभा में सुनाए थे।

कहते हैं कि स्वामीजी इन दिनों विशेष खण्डन-मण्डन नहीं करते थे, वे अधिकतर लोगों के हृदयों पर वेदों का महत्त्व अङ्कित करने में अपना समय व्यय करते थे और कहते थे कि वेदों में तड़ित (बिजली) आदि विद्याएँ हैं।

## मुरादाबाद (१८७६ ई०)

स्वामीजी बरेली से चलकर मुरादाबाद पधारे और राजा जयकिशनदास की कोठी में ठहरे।

**व्याख्यान होने लगे**- स्वामीजी ने राजा जयकिशनदास की कोठी में ५-६ व्याख्यान दिए। व्याख्यान सायङ्काल को हुआ करते थे। व्याख्यानों के पश्चात् शङ्का-समाधान के लिए भी समय दिया जाता था। लोग रात्रि के १०-११ बजे तक अपने सन्देहों की निवृत्ति करते रहते थे। पण्डितों ने शास्त्रार्थ के लिए कोलाहल तो बहुत मचाया, परन्तु सामने कोई नहीं आया।

**ब्राह्मण के कटु वचन**- एक दिन व्याख्यान हो रहा था कि एक ब्राह्मण ने स्वामीजी को कटु वचन कहने आरम्भ किए कि यह दुष्ट हमारे देवताओं की निन्दा करता है, इसका मुँह नहीं देखना चाहिए। परन्तु स्वामीजी ने अपनी नैसर्गिक सहिष्णुता से उसकी असभ्योक्तियों पर कुछ ध्यान नहीं दिया और शान्तिपूर्वक व्याख्यान देते रहे।

**यज्ञोपवीत दिए**- इस बार स्वामीजी ने कई पुरुषों को यज्ञोपवीत भी दिए थे और किसी के शङ्का करने पर यह कहा था कि संन्यासी से यज्ञोपवीत लेना शास्त्रोक्त है।

**पादरी से शास्त्रार्थ**- इस बार की सबसे अधिक उल्लेखनीय घटना स्वामीजी और पादरी डब्ल्यु० पार्कर का शास्त्रार्थ है। पादरी साहब के साथ उनके सहयोगी मिस्टर बेली और रामचन्द्र बोस और थे। यह शास्त्रार्थ १५ दिन तक प्रतिदिन २-३ घण्टे तक होता था और दोनों पक्षों के प्रश्नोत्तर लिखे जाते थे। दुःख है कि शास्त्रार्थ की रिपोर्ट सुरक्षित नहीं रखी गई। स्वामीजी ने शास्त्रार्थ में पादरी साहब को निरुत्तर कर दिया था। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया था कि किसी मनुष्य के द्वारा* ईश्वर और मुक्ति की प्राप्ति मानना मूर्त्तिपूजा से भी बुरा है। एक दिन शास्त्रार्थ का विषय सृष्टि-उत्पत्ति था।

**पादरी का असमञ्जस**- पादरी साहब को अपने पक्ष के समर्थन में कि सृष्टि को उत्पन्न हुए ५ सहस्र[५१७] वर्ष हुए, जब असफलता हुई तो उन्होंने यह पक्ष लिया कि मनुष्य की सृष्टि को ५००० वर्ष हुए।[५१८] भौतिक सृष्टि उसके पहले से थी। परन्तु स्वामीजी ने इस पर भी आक्षेप किया कि सृष्टि की उत्पत्ति का प्रश्न है जिसमें मनुष्य भी आ गया। इस पर पादरी साहब निरुत्तर हो गए।

---

* अर्थात् ईसामसीह के द्वारा।

५१७- पादरी साहब ने ५ या ६ सहस्र वर्ष कहा होगा, क्योंकि बायबिल के अनुसार गणना करने पर ६ सहस्र वर्ष होते हैं। *-संग्रहकर्त्ता*

५१८- पं० लेखरामकृत जीवन-चरित में लिखा है कि उसी कोठी में जिसमें शास्त्रार्थ होता था ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन के भी अधिवेशन हुआ करते थे। जब पादरी साहब ने यह पक्ष लिया कि सृष्टि को ५००० वर्ष हुए हैं तो स्वामीजी एसोसिएशन के कमरे से एक बिल्लौर का पत्थर उठा लाए और पूछा कि आप लोग साइंस जानते हैं, यह पत्थर इस रूप में कितने वर्षों में आया होगा तो उत्तर मिला कि कई लाख वर्ष में। इस पर पादरी साहब ने कहा कि मेरा अभिप्राय यह है कि मनुष्य-सृष्टि को ५००० वर्ष हुए हैं। *-संग्रहकर्त्ता*

**मुसलमान डिप्टी कलेक्टर का रोष**– शास्त्रार्थ में स्वामीजी आदम वा हव्वा (ईसाई व मुसलमानों के अनुसार (मनुष्य जाति के प्रथम पिता–माता) का नाम आने पर आदमजी और हव्वाजी कहते थे, परन्तु पादरी साहब आदम को पापी बताते थे इसस पर डिप्टी कलेक्टर इमदाद अली बिगड़ बैठे। उन्होंने कहा कि स्वामीजी तो उनका नाम सम्मान के साथ लेते हैं और आप इस अपमान के साथ। पादरी साहब ने उत्तर दिया कि मेरा कार्य आदम को पापी कहे बिना नहीं चलता, आप शान्त रहें, यहाँ डिप्टीपन का काम नहीं है।

**मुंशी इन्द्रमणि का परिचय**– मुंशी इन्द्रमणि का नामोल्लेख पहले हो चुका है। जब स्वामीजी छलेसर से अलीगढ़ गए थे तो वे स्वामीजी से मिलने गए थे। वे मुरादाबाद निवासी वैश्य–कुलोत्पन्न एक व्यक्ति थे। फारसी, अरबी के तो वे पण्डित ही थे, परन्तु संस्कृत में भी कुछ प्रवेश रखते थे। अबैदुल्ला नामक कस्बा बनत जिला मुजफ्फरनगर के रहने वाले एक खत्री थे जो मुसलमान हो गये थे। मुसलमान होने के पश्चात् उनकी मुसलमानों में बड़ी प्रतिष्ठा हुई और उन्हें मौलवी की पदवी प्राप्त हुई। कहावत है कि नया मुसलमान अल्ला ही अल्लाह पुकारता है, मुसलमान हो जाने पर उन्होंने हिन्दू धर्म पर अत्यन्त कठोर भाषा में आक्षेप करने आरम्भ किए और कई पुस्तकें हिन्दू धर्म के विरुद्ध लिखीं, उनका उत्तर मुंशी इन्द्रमणि ने दिया और वैसी ही तीव्र भाषा में दिया। इससे उनकी ख्याति पश्चिमोत्तर प्रान्त (वर्त्तमान उत्तरप्रदेश) में सर्वत्र फैल गई और वे अत्यन्त लोकप्रिय हो गए। स्वामीजी के संसर्ग में आकर वे उनके अनुयायी हो गए। स्वामीजी भी उनका बहुत मान करते थे। उनके एक शिष्य थे जगन्नाथदास। गुरु की देखा देखी वे भी स्वामीजी के विचारों से सहमत हो गए। पीछे आकर मुंशी इन्द्रमणि लोभावश स्वामीजी के विरुद्ध हो गए थे। वे क्यों विरुद्ध हुए थे? इसका वर्णन आगे यथास्थान आएगा। जब गुरु विरुद्ध हुए तो शिष्य भी विरुद्ध हो गए और जब तक जगन्नाथदास जीवित रहे तब तक स्वामीजी और आर्यसमाज के विरुद्ध विष ही उगलते रहे और इसी में अपनी गुरुभक्ति का परिचय देते रहे।

**इन्द्रमणि के शिष्य का बेतुकापन**– जब देवेन्द्रबाबू ने उनसे स्वामीजी के सम्बन्ध की घटनाओं के विषय में प्रश्न किए तो उन्होंने एक दो अत्यन्त ऊटपटाँग बातें इस विषय में उनसे कह डालीं। पहली बेतुकी बात जो उन्होंने कही यह थी कि जब स्वामीजी मुरादाबाद आए तो वह जीव को सृष्ट मानते थे और मुंशी इन्द्रमणि अनादि मानते थे और एक व्याख्यान में स्वामीजी ने उसे सृष्ट ही वर्णन किया था। किसी ने मुंशी इन्द्रमणि से भी कह दिया कि स्वामीजी का जीव के विषय में ऐसा ही मन्तव्य है। इस पर मुं० इन्द्रमणि स्वामीजी के पास गए और कहा कि मैं जीव के अनादित्व पर सौ प्रमाण दे सकता हूँ। स्वामीजी बोले इस विषय पर हमारी बातचीत फिर होगी। दूसरे दिन जो स्वामीजी ने व्याख्यान दिया तो जीव का अनादित्व प्रतिपादित किया और कहा कि जीव को सृष्ट मानना मुसलमानों का मत है।

**जगन्नाथ के बेतुकेपन की समालोचना**– ला० जगन्नाथदास को यह सब मिथ्या और युक्तिशून्य बातें कहते हुए तनिक भी संकोच नहीं हुआ। स्वामीजी के लिए जो आवागमन में विश्वास करते थे, जीव को सृष्ट मानना सम्भव हो ही नहीं सकता और आज उसे सृष्ट बताकर और मुं० इन्द्रमणि के इस कथन से भयभीत होकर कि मैं जीव के अनादित्व के सौ प्रमाण दे सकता हूँ, अगले दिन से ही उसे अनादि बताना स्वामीजी जैसे तार्किक और दार्शनिक व्यक्ति के लिए कभी बन ही नहीं सकता। ऐसा मनुष्य आज कुछ कहे और कल कुछ जनसाधारण पर क्या प्रभाव डाल सकता है? इन सब बातों के अतिरिक्त इस बात को मुरादाबाद का कोई व्यक्ति जिसे स्वामीजी के व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, इस विषय में कुछ नहीं कहता। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि कलकत्ते और प्रयाग में स्वामीजी ने जीव का अनादित्व मुरादाबाद आने से बहुत पहले ही प्रतिपादित किया था, इसकी हमें असन्दिग्ध साक्षी मिलती

है, जैसा कि पाठक देख चुके हैं। इन सब बातों के होते हुए यही कहना पड़ता है कि जगन्नाथदास ने यह बात स्वामीजी के सम्बन्ध में द्वेष से परिचालित होकर ही कही थी।

**दुराचारी रईस का निमन्त्रण अस्वीकृत**- एक दिन साहू श्यामसुन्दर ने जो मुरादाबाद के रईस थे, परन्तु वेश्यागमनादि दुर्व्यसनों में ग्रस्त थे, स्वामीजी से प्रार्थना की कि महाराज आज आप मेरे गृह पर पधारकर भोजन कीजिए, स्वामीजी ने इस प्रार्थना को अस्वीकार किया, परन्तु उसी समय जब एक दूसरे सज्जन ने ऐसी ही प्रार्थना की तो उसे स्वीकार कर लिया।

**कुकर्मी के घर पर भोजन न करेंगे**- साहू श्यामसुन्दर ने स्वामीजी को उपालम्भ दिया तो उस समय तो उन्होंने कुछ न कहा, परन्तु व्याख्यान में इस घटना का उल्लेख करके और साहू साहब को सम्बोधन करके कहा कि जब तक तू कुकर्म न छोड़ेगा हम तेरे घर पर जाकर भोजन न करेंगे।

**ब्राह्मण का गाली-प्रदान**- एक दिन मुरादाबाद का टीका सुपरिण्टेण्डेण्ट जो ब्राह्मण था व्याख्यान में आया और मूर्त्तिपूजा का खण्डन सुनकर इतना आवेश में आया कि स्वामीजी को गालियाँ देने लगा और यह कहकर कि यह दुष्ट हमारे देवताओं की निन्दा करता है इसका मुख न देखना चाहिए, चला गया। स्वामीजी ने उसकी गालियों पर लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया।

**चक्राङ्कित की धूर्त्तता**- एक दिन एक चक्राङ्कित व्याख्यान के बीच में ही *'आकृष्णेन रजसा०'* आदि मन्त्र पढ़कर कहने लगा कि दयानन्द ! इसका अर्थ बता। लोगों ने उसे बहुतेरा समझाया कि व्याख्यान के पश्चात् जो चाहो सो पूछ लेना, व्याख्यान में विघ्न मत डालो, परन्तु वह न माना। अन्त को स्वामीजी ने दुर्जनतोष-न्याय के अनुसार मन्त्र का अर्थ भी कर दिया, फिर भी वह बक-बक करता ही रहा। जब देखा कि वह किसी प्रकार भी चुप ही नहीं होता है तो स्वामीजी ने उससे कहा कि यदि मेरा अर्थ ठीक नहीं है तो तुम ही अर्थ करके बताओ। इस पर उसके दीपक ठण्डे हो गए, क्योंकि वह वास्तव में निरक्षर भट्टाचार्य था। वहाँ अर्थ कौन करता?

**सुरापायी का सुरात्याग**- महाशय रामदयालसिंह रईस कुन्दरकी, जिला मुरादाबाद को सुरापान का व्यसन था। स्वामीजी ने एक दिन व्याख्यान में सुरापान के दोष ऐसे मर्मभेदी शब्दों में दर्शाए कि उन्होंने उसके त्याग का प्रण कर लिया और अत्यन्त शारीरिक कष्ट सहने पर भी उसे मरण पर्यन्त निबाहा। वह अपने अन्तिम श्वास तक आर्यधर्म के सेवक बने रहे।

**साधना का उपदेश**- महाशय बख्शीराम के आग्रहपूर्वक योग के साधन पूछने पर स्वामीजी ने उन्हें यह अभ्यास बताया था, जिसके विषय में उन्होंने कहा था कि इसे मैंने भी किया है-

*ओम् भूः ओम् भुवः ओम् स्वः ओम् महः ओम् जनः ओम् तपः ओम् सत्यम् ।*
*तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।*
*ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् स्वाहा।।*

मुरादाबाद से स्वामीजी बरेली गए पुनः बरेली से कर्णवास चले गए।

## छलेसर (१८७६ ई०)

कर्णवास से दिसम्बर सन् १८७६ ई० में स्वामीजी छलेसर पधारे। इस समय वे अतरौली रेल्वे स्टेशन पर उतरे जहाँ पहले से ही ठाकुर मुकुन्दसिंह आदि उनके स्वागतार्थ पहुँच गए थे।

**पाठशाला का वृत्तान्त**- पण्डित कुमारसेन पाठशाला से संवत् १९३१ में चले गए थे और उसके स्थान पर पण्डित दिनेशराम अध्यापक नियत हो गए थे। वे संवत् १९३४ तक पाठशाला में अध्यापन का कार्य करते रहे। पाठशाला से अधिक लाभ न हुआ। विद्यार्थी वैदिक ग्रन्थों को पढ़कर भी लोभवश पाखण्ड में फँस गए। अतः स्वामीजी ने स्वयं ही

पाठशाला तोड़ दी। यह पाठशाला ७ वर्ष तक चली और इसका समस्त व्ययभार ठाकुर मुकुन्दसिंह ने ही वहन किया।

१ जनवरी सन् १८७७ ई० से दिल्ली में लार्ड लिटन का दरबार होने वाला था। उसमें भारतवर्ष के समस्त राजगण उपस्थित होने को थे। स्वामीजी ने भी वहाँ वेदोपदेश का सुयोग समझा, इसलिए उन्होंने वहाँ जाने की अपनी इच्छा प्रकट की। अत: ठाकुर मुकुन्दसिंह ने दिल्ली में गाड़ी, घोड़े, डेरे आदि भेज दिए और दिल्ली से दक्षिण की ओर अवध नरेशों के कैम्प के पास एक वन वाटिका में उनके निवास का प्रबन्ध कर दिया।

स्वामीजी छलेसर में ७ दिन के लगभग रहे। पुन: छलेसर से अलीगढ़ होकर वे दिल्ली चले गए जहाँ वे १७ दिसम्बर, १८७६ ई० तदनुसार पौष सुदी २ संवत् १९३३ वि० (रविवार) को दिल्ली पहुँच गए।

## दिल्ली (१८७६-७७ ई०)

**दिल्ली दरबार**- जनवरी सन् १८७७ से दिल्ली में लार्ड लिटन गवर्नर जनरल व वायसराय ने एक बहुत बड़ा दरबार किया था, जिसमें भारतवर्ष के सब राजा, महाराजा, नवाब, गवर्नर, लेफ्टिनेण्ट गवर्नर आदि सम्मिलित हुए थे। वह दरबार ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य के बल और वैभव की प्रदर्शिनी था। स्वामीजी भी इस अवसर पर इस अभिप्राय से दिल्ली पधारे थे कि यह अवसर भारत के राजाओं-महाराजाओं से मिलकर धर्मप्रचार के कार्य को अग्रसर करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त होगा। यह भी कहा जाता है कि दिल्ली दरबार के अवसर पर महाराजा इन्दौर ने उन्हें निमन्त्रित किया था। ठाकुर मुकुन्दसिंह व कर्णवास के रईस ठाकुर गोपालसिंह, भूपालसिंह, किशनसिंह आदि भी स्वामीजी की सेवा के लिए उनके साथ दिल्ली आए थे। स्वामीजी के निवास के लिए अजमेरी दरवाजे से पश्चिम दक्षिण की ओर कुतुब की सड़क पर शेरमल का अनारबाग स्थिर किया गया था। दिल्ली पहुँचकर स्वामीजी इसी बाग में ठहरे थे। इसी बाग के आस-पास अवध के ताल्लुकेदारों तथा महाराजा काश्मीर के भी कैम्प थे। स्वामीजी के साथ पं० भीमसेन थे और मुरादाबाद निवासी मुं० इन्द्रमणि भी आए थे। दरबार में ब्राह्मसमाज नव्यविधान के प्रवर्त्तक बाबू केशवचन्द्रसेन तथा राजा जयकृष्णदास सी०एस०आई०, अलीगढ़ के मुस्लिम नेता और सुधारक सर सैयद अहमदखाँ, मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी प्रभृति लोग भी आए थे।

**विज्ञापन-वितरण**- स्वामीजी के निवासस्थान के द्वार पर एक बोर्ड लगा दिया गया था, जिस पर ये शब्द लिखे हुए थे- *"स्वामी दयानन्द सरस्वती का निवासस्थान"*। स्वामीजी ने दरबार के सब कैम्पों के दरवाजों पर नोटिस लगवा दिए थे और राजाओं-महाराजाओं के पास भी पहुँचवा दिये थे कि अपने पण्डितों को एकत्र करके सत्यासत्य के निर्णय करने का यह अत्यन्त उपयुक्त अवसर है। यह नोटिस दिल्ली नगर और दरबार शिविर में सर्वसाधारण में भी बँटवाए गये थे। स्वामीजी के पधारने की सारे दरबार में धूम मच गई थी और नित्यप्रति १०-२० पण्डित स्वामीजी के पास आते और धर्म-चर्चा करते रहते थे।

**यह मिट्टी श्रीकृष्णजी ने खाई थी**- एक दिन मथुरा का एक चौबा महाराज के पास आया और *'जय जय राधाकृष्ण'* कहकर बैठ गया। फिर उसने थोड़ी-सी मिट्टी उन्हें देनी चाही। उन्होंने पूछा यह कैसी मिट्टी है तो उसने कहा कि यह मिट्टी श्रीकृष्णजी ने खाई थी। स्वामीजी ने कहा कि खाई होगी, बच्चे तो मिट्टी खाया ही करते हैं, परन्तु बड़े आयु के मनुष्यों को तो मिट्टी खाना योग्य नहीं है।

**चौबे का क्रोध**- फिर स्वामीजी ने उससे कहा कि तुम्हारी स्त्री सुरूपा और चतुर है। इस पर वह क्रोध करने लगा, तो स्वामीजी ने उससे कहा कि तुम छोटी स्थिति के मनुष्य हो, जो तुमने इस बात पर इतना बुरा माना। यदि तुम श्रीकृष्णजी से कहते कि आप पर स्त्रीगमन करते हैं और आपकी गोपियाँ कैसी सुन्दर हैं, तो वे तुम्हारे साथ क्या बर्ताव करते? यह सुनकर वह बहुत लज्जित हुआ और उठकर चला गया।

**ईरानी मौलवी निरुत्तर**- एक दिन एक ईरानी मौलवी स्वामीजी के पास आया जो केवल फारसी बोलता था और एक दिन एक अन्य मौलवी भी आया जिसके साथ चार अरब के मुसलमान थे जो केवल अरबी बोलते थे। इन सब से धर्मविषय में स्वामीजी की बातचीत हुई थी। स्वामीजी ने उनके प्रश्नों के ऐसे युक्तियुक्त उत्तर दिए कि वे निरुत्तर हो गए।

अवध के कतिपय ताल्लुकेदार स्वामीजी के पास आया करते थे और शङ्कानिवारण करके चले जाया करते थे।

**महाराजा इन्दौर से साक्षात्**- महाराजाओं में से केवल महाराजा तुकोजीराव होल्कर से स्वामीजी का साक्षात् हुआ, अन्य कोई महाराजा उनके पास नहीं आया। स्वामीजी यदि स्वयं महाराजाओं के पास जाते तो सबसे मिल सकते थे, परन्तु वे ऐसा करने वाले न थे।

**महाराजा को पण्डितों ने नहीं मिलने दिया**- काश्मीर नरेश महाराजा रणवीरसिंह स्वयं स्वामीजी से मिलने के इच्छुक थे और इसी अभिप्राय से उन्होंने अपने मंत्री नीलाम्बरबाबू और दीवान अनन्तराम को स्वामीजी की सेवा में भेजा भी था। इन दोनों महानुभावों ने स्वामीजी से महाराजा की इच्छा निवेदन की तो स्वामीजी ने महाराजा से मिलना स्वीकार कर लिया, परन्तु पण्डितों के सिखाने बहकाने से वे स्वामीजी से न मिले। पं० गणेश शास्त्री ने जो जम्मू में धर्मशास्त्र के जज थे पं० लेखराम से फरवरी सन् १८८७ में यह स्वीकार किया था कि महाराजा रणवीरसिंह की स्वामीजी से मिलने की इच्छा थी, परन्तु हम लोगों ने ही उन्हें नहीं मिलने दिया था। जब स्वामीजी लाहौर गए थे तो उस समय भी महाराजा ने स्वामीजी को श्रीनगर बुलाने का विचार प्रकट किया था, परन्तु तब भी इन्हीं शास्त्री महोदय ने यह कहकर कि यदि आप दयानन्द को बुलाना चाहते हैं तो पहिले देव-मन्दिरों को गिरवा दीजिए, उन्होंने स्वामीजी को निमन्त्रित करने से रोक दिया था। परन्तु ईश्वर-गति देखिए कि सन् १८९२ में जब काश्मीर में आर्यसमाज का पौराणिकों से बहुत बड़ा शास्त्रार्थ हुआ था तो इन्हीं गणेश शास्त्री ने महाराजा प्रतापसिंह से जम्मू में स्पष्ट कर दिया था कि महाराज! वेद में तो मूर्त्तिपूजा है नहीं।

**स्वामीजी की इच्छा पूरी न हो सकी**- स्वामीजी की यह प्रबल इच्छा थी कि एक बार सब राजे-महाराजे एकत्र होकर हमारा व्याख्यान सुन लें और महाराजा तुकोजीराव ने सब को एक सभा में एकत्र करने का वचन भी दिया था, परन्तु उन्होंने प्रतिज्ञा का पालन नहीं किया था वा नहीं कर सके और स्वामीजी की यह इच्छा पूरी न हो सकी। इस प्रकार उनका दिल्ली दरबार में जाना एक अर्थ में असफल ही रहा, क्योंकि यही उनके दरबार में जाने का मुख्य प्रयोजन था।

**सुधारकों की सभा**- स्वामीजी ने यह भी प्रयत्न किया था कि उस समय के सब सुधारकगण आपस में मिलकर कार्य करें जिससे सुधार के कार्य में अधिक सफलता हो। इसी उद्देश्य से उन्होंने एक दिन अपने निवास-स्थान पर एक कान्फ्रेंस की। जिसमें मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, बा० नवीनचन्द्र राय, बाबू केशवचन्द्र सेन, मुंशी इन्द्रमणि, सर सैयद अहमद खाँ, बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि सम्मिलित हुए। स्वामीजी ने उसमें कहा कि यदि हम सब लोग एकमत हो जाएँ और एक ही रीति से देश का सुधार करें, तो आशा है कि देश शीघ्र सुधर सकता है। स्वामीजी यह चाहते थे कि सब लोग वेदों को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार कर लें और वेदों के अनुकूल ही धर्म प्रचार का कार्य करें, परन्तु इस पर सब सहमत नहीं हुए।

**वेदों में माँसभक्षण नहीं है**- ठाकुर गोपालसिंह आदि से स्वामीजी ने कहा था कि हमने चारों वेद देख लिए हैं, परन्तु उनमें कहीं भी मद्य-माँस-भक्षण का विधान नहीं, अत: दोनों वस्तुएँ त्याज्य हैं।

**दो और विज्ञापन**- दिल्ली से स्वामीजी ने दो विज्ञापन, जिनमें से एक वेदभाष्य के विषय में था[५१९] और दूसरे में

५१९- यह विज्ञापन ऋषि दयानन्द के पत्रव्यवहार में छप चुका है। इसमें कई वैदिक कथाओं का वास्तविक स्वरूप भी दर्शाया गया है।

आर्यसमाज के नियम थे *'इण्डियन मिरर'* कलकत्ता व *'हिन्दू-बाँधव'* लाहौर तथा अन्य समाचार पत्रों को भेजे थे। पहले विज्ञापन में यह सूचना थी कि वेदभाष्य अमुक रीति से किया जाएगा और वह मासिक अङ्कों के रूप में प्रकाशित किया जाएगा, जिनका वार्षिक मूल्य चार रुपये आठ आने अर्थात् साढ़े चार रुपए होगा और वह काशी की लाजरस कम्पनी को व स्वामीजी को लिखने से प्राप्त हो सकेगा। उसमें यह भी उल्लेख था कि जब लोग इस वेदभाष्य को पढ़ेंगे तब लोगों को वेद का सत्यार्थ ज्ञात होगा और उन पर प्रकट हो जाएगा कि वेदों में केवल एक अद्वितीय, निराकार, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अजन्मा, अजर, अमर, सच्चिदानन्द आदि गुणविशिष्ट परमेश्वर की ही पूजा उपासना का विधान है, भौतिक पदार्थों वा अनेक देवी-देवताओं की उपासना वा मूर्त्तिपूजा, अवतार आदि का लवलेश भी नहीं है। यह विज्ञापन दिल्ली नगर व दरबार में आए हुए लोगों में भी बाँटे गए थे। इन विज्ञापनों को लाजरस कम्पनी काशी के छापेखाने में छपवाने के लिए स्वामीजी ने बरेली से बनमाली बाबू को काशी भेज दिया था और उन्हीं को वेदभाष्य के अङ्कों को शुद्ध कराके छपवाने का काम सौंप दिया था। स्वामीजी हिन्दी भले प्रकार नहीं जानते थे और हिन्दी का अंश पण्डितों का किया हुआ था, अतः बनमाली बाबू को उसे शुद्ध कराने के लिए काशी में किसी किसी पण्डित के पास जाना पड़ता था, इसी से विज्ञापनों को छपाने में विलम्ब हो गया था। स्वामीजी की आज्ञा थी कि वेदभाष्य के १००० अङ्क और १००० विज्ञापन साथ-साथ दिल्ली भेजे जावें। बिना वेदभाष्य के अङ्कों के विज्ञापनों को भेजना व्यर्थ होता। जब यह दोनों ये वस्तुएँ न आईं तो स्वामीजी ने दिल्ली से उनके शीघ्र भेजने के लिए पत्र लिखा। [५२०]

**बाजीगर के करतब**- एक दिन स्वामीजी के डेरे पर एक बाजीगर ने अपने करतब दिखलाए। स्वामीजी ने पण्डित भीमसेन से कहा कि इससे कोई वस्तु मँगाओ। पण्डित ने उससे आम मँगाने को कहा, परन्तु वह न मँगा सका। परन्तु एक स्लेट पर स्वामी जी तथा अन्य कई लोगों के हस्ताक्षर कराकर उस स्लेट को तोड़कर फिर जोड़ दिया, ऐसे ही एक अँगूठी को तोड़कर भी जोड़ दिया।

**मरा हुआ जल-मानस**- मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी को स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश, वेदविरुद्धमत-खण्डन, पञ्चमहायज्ञविधिः, नित्यकर्मव्यवहार और आर्याभिविनय की प्रतियाँ दी थीं। मुंशीजी की उपस्थिति में ही एक मनुष्य एक मरा हुआ जलमानस दिखाने लाया था जिसका नीचे का आधा शरीर मछली और ऊपर का आधा शरीर, मुख और हाथ मनुष्य के आकार के थे।

**पञ्जाब पधारने का निमन्त्रण**- सरदार विक्रमसिंह अहलूवालिया व पं० मनफूल और मुंशी हरसुखराय कोहेनूर प्रेस के स्वामी तथा मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी स्वामीजी के पास बहुत आया करते थे। इन सज्जनों ने स्वामीजी से पंजाब में पधारने की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। महाराजा डुमराऊँ भी एक से अधिक बार स्वामीजी के पास आए और शङ्कानिवृत्ति करके चले गए

## मेरठ (१८७७ ई०)

१६ जनवरी सन् १८७७ ई० तदनुसार माघ शुक्ला द्वितीया संवत् १९३३ वि० (मङ्गलवार) को स्वामीजी दिल्ली से मेरठ पधारे और सूर्यकुण्ड के पास डिप्टी महताबसिंह वाली कोठी में ठहरे। इसे बब्बूवाली कोठी भी कहते थे। यह कोठी मेरठ के एक कलेक्टर प्लौडन साहब की स्मृति में योरोपियन लोगों के ठहरने के लिए बनाई गई थी, अतः उसमें कभी-कभी गोरे आकर दिक् (तङ्ग) करते थे। स्वामीजी इसमें १० दिन के लगभग ठहरे और फिर लेखराज के बाग में चले गए।

५२०- देखो ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार, पत्र-संख्या १४ पृष्ठ-४७

**मुंशी इन्द्रमणि का आगमन**– स्वामीजी के मेरठ पधारने से पहले मुंशी इन्द्रमणि और उनके शिष्य जगन्नाथदास मुरादाबाद जाते हुए मेरठ आए थे और इस जीवन-चरित के सम्पादक (=पं० घासीराम एम० ए०) के गृह पर ठहरे थे, कारण यह था कि जगन्नाथदास सम्पादक के पिताजी के दूर के सम्बन्धी थे। प्रशंसित मुंशीजी से ही यह ज्ञात हुआ था कि स्वामीजी मेरठ पधारने वाले हैं। स्वामीजी के साथ उस समय एक रसोइया और एक काला कुत्ता था।

**स्वामीजी हुक्का पीते थे**– स्वामीजी उन दिनों हुक्का पीते थे। सम्पादक (=पं० घासीराम एम० ए०) के पिताजी ने उन्हें स्वयं हुक्का पीते हुए देखा था।[५२१] अतः लोगों का यह कहना कि स्वामीजी हुक्का पीते थे अपवादमात्र है, ठीक नहीं।

**आक्षेप करने पर हुक्का तोड़ दिया**– परन्तु यह सत्य है कि स्वामीजी ने एक पण्डित भागीरथ के आक्षेप पर कि आप संन्यासी होकर हुक्का पीते हैं अच्छा नहीं करते, उन्होंने हुक्का तोड़कर फेंक दिया था। स्वामीजी में यही बात तो लाख रुपये की थी कि वह दोष मानने पर सदा उद्यत रहते थे और कभी उसके विषय में हठ वा दुराग्रह नहीं करते थे।

**पण्डित की डींग**– स्वामीजी का इस बार कोई व्याख्यान नहीं हुआ, परन्तु डेरे पर जो कोई आता था उससे धर्मालाप करते थे। बहुत से लोग उनकी सेवा में जाते थे। एक दिन इस ग्रन्थ के सम्पादक (=पं० घासीराम एम० ए०) के दूसरे मुहल्ले के निद्धी नामक पण्डित जो अधिक विद्वान् तो न थे, परन्तु अपने बराबर दूसरे को विद्वान् नहीं समझते थे, कई मनुष्यों को साथ लेकर और पुस्तकों की एक गठरी बाँधकर यह डींग मारकर कि आज मैं उस नास्तिक को शास्त्रार्थ में परास्त करके आऊँगा, स्वामीजी के पास गए। स्वामीजी उस समय बैठे हुए थे। कई लोग उनके पास उपस्थित थे और उपदेश श्रवण में मग्न थे। निद्धी पण्डित की टोली भी पहुँची, जिसके आगे पण्डितजी और पीछे उनके अनुयायी थे। सम्पादक (=पं० घासीराम एम० ए०) के पिताजी, पण्डित गङ्गाप्रसाद एम०ए० आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् और अँग्रेजी की प्रसिद्ध पुस्तक Fountain Head of Religions आदि के रचयिता के पितामह स्वर्गीय लाला फकीरचन्द तथा एक अन्य सज्जन स्वर्गीय लाला शिवलालजी भी तब वहाँ उपस्थित थे। स्वामीजी में यह अद्भुत शक्ति थी कि वह मनुष्य की भावभङ्गी, चाल-ढाल से जान जाते थे कि वह किस योग्यता का है। स्वामीजी निद्धी पण्डित को देखते ही ताड़ गए कि वह कितने पानी में है और उनके आने का क्या अभिप्राय है।

**विचित्र मुस्कान**– निद्धी पण्डित के कमरे में प्रविष्ट होते ही स्वामीजी ने विचित्र ढङ्ग से मुस्कारते हुए पूछा कि कहिए पण्डितजी कैसे आना हुआ?

**पण्डित की घिग्घी बँध गई**– इसके उत्तर में जो कुछ पण्डितजी ने कहा वह किसी की भी समझ में न आया, क्योंकि पण्डितजी की घिग्घी सी बँध गई थी और एक अक्षर भी उनके मुख से स्पष्ट न निकला। यह दृष्य देखकर सब लोग हँस पड़े और पण्डितजी लज्जित होकर फिट्टे मुँह वापस चले गए।

## सहारनपुर (१८७७ ई०)

१५ फरवरी सन् १८७७ ई० तदनुसार फाल्गुण शुक्ला द्वितीया संवत् १९३३ वि० (गुरुवार) को स्वामीजी मेरठ से सहारनपुर पधारे और पनचक्की के पास लाला कन्हैयालाल के शिवालय के एक मकान में ठहरे।

मुंशी चण्डीप्रसाद अम्बहटा निवासी ने स्वामीजी से कुछ प्रश्न किए, उनके जो उत्तर स्वामीजी ने दिए उनका सारांश नीचे लिखा जाता है–

"वेदशास्त्र के अनुसार केवल परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिए। विद्या प्राप्त करके मन की शुद्धि

---

५२१- मेरठ में हुक्का पीने का चलन सा है। मैंने स्वयं अपने अनेक मित्रों और सहपाठियों को मेरठ में हुक्का पीते हुए देखा है जो प्रायः अन्यत्र धूम्रपान तक नहीं करते हैं। – *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

करनी चाहिए और सत्यव्यवहारपूर्वक जीविका करनी चाहिए। भूत, प्रेत, जिन्न, परी आदि का कोई अस्तित्व नहीं है, यह लोगों का केवल भ्रम है। मरने के पश्चात् जीव वायु में रहता है। पुनर्जन्म अवश्य होता है और स्वर्ग, नरक सब जगह हैं। परमेश्वर का सृष्टि उत्पन्न करना स्वभाव है। जैसे आँख का काम देखना और कान का सुनना है ऐसे ही परमेश्वर का काम सृष्टि उत्पन्न करना है। पुरुष का विवाह २४ वर्ष की आयु में और स्त्री का १६ वर्ष की आयु में होना चाहिए और स्त्री को अपनी इच्छा के अनुसार विवाह करना चाहिए, क्योंकि स्त्री-पुरुष को सारी आयु साथ-साथ बितानी है। जब स्त्री-पुरुष दोनों एक-दूसरे के रङ्ग-रूप, चाल-चलन आदि को देखकर विवाह करेंगे तो उनमें कभी अप्रीति न होगी। विधवा का पुनर्विवाह होना चाहिए और पुरुष को एक स्त्री के जीवित होते हुए दूसरा विवाह न करना चाहिए। विधुर पुरुष को अधिकार है कि दूसरा विवाह करें या न करे। ऐसे ही विधवा को भी पुनर्विवाह करने का अधिकार है। मनुष्य के गुरु माता-पिता आदि हैं, आजीवन उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी योग्य है। यदि कोई ब्राह्मण, वैश्य आदि धर्म से पतित होकर ईसाई, मुसलमान हो जावे और फिर पश्चाताप करके वैदिक धर्म में वापस आना चाहे तो उसे अवश्य वापस ले लेना चाहिए। परमेश्वर सर्वव्यापक है, जो ज्ञानी अपने हृदय के मल को दूर कर सकते हैं उन्हें वह दिखाई देता है, परन्तु अज्ञानियों की दृष्टि से वह अवश्य दूर रहता है। ब्रह्मा के चार मुख नहीं थे, प्रत्युत चारों वेद उनके मुख में थे। यदि उनके चार मुख होते तो वह सो भी न सकते थे। चारों वेद उनको कण्ठस्थ थे, मूर्खों ने उनके चार मुख गढ़ लिए। वर्ण गुण-कर्म के अनुसार होना चाहिए। यदि कोई चमार, भँगी, कसाई विद्या प्राप्त करले तो वह उच्च वर्ण का हो सकता है, परन्तु इस कारण से कि उसका बहुत दिनों तक अशुद्धाहार-व्यवहार करने वालों में भरण-पोषण हुआ है उसके शरीर की शुद्धि नहीं होती, ब्राह्मण को उसका विवाह अपनी पुत्री से नहीं करना चाहिए। द्विरागमन (मुकलावा वा गौना) की रीति सर्वथा व्यर्थ है। दीपावली, होली आदि के उत्सव युक्तिसङ्गत ढङ्ग से मानने चाहिए। स्त्रियों को भी विद्या पढ़नी चाहिए, क्योंकि बिना विद्या के मनुष्य पशु समान रहता है। जन्मपत्र नहीं वह शोकपत्र है, ज्योतिषी खोटी दशा बताकर कुछ न कुछ रुपया ऐंठ लेता है, बुद्धिमान् लोगों को ऐसी बातों को नहीं मानना चाहिए। स्त्रियों को पर्दे में रखना अनुचित है, यह नहीं है कि बिना पर्दे के स्त्रियाँ सदाचारिणी नहीं रह सकतीं, पर्दे में भी पाप होते हैं। बिना विद्या-प्राप्ति के सदाचारी नहीं हो सकता। पर्दा मुसलमान राजाओं के समय में प्रचलित हुआ, क्योंकि वह जिस किसी की बहू बेटी को रूपवती देखते थे उसे बलात्कारपूर्वक छीन कर लौंडी बना लेते थे। इस अत्याचार के कारण हिन्दुओं ने अपनी बहू-बेटियों को पर्दे में रखना आरम्भ कर दिया। अँग्रेजों की स्त्रियाँ परदा नहीं करतीं और हिन्दुओं की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमती, विदुषी, साहस और उच्चाशय वाली होती हैं।"

सहारनपुर में पहला व्याख्यान स्वामीजी का चित्रगुप्त के मन्दिर में हुआ। व्याख्यान का विषय था- 'आर्य कौन है और कहाँ है', दूसरा और तीसरा व्याख्यान भी उसी स्थान पर हुआ। दूसरे व्याख्यान का विषय 'सत्य' और तीसरे का 'सृष्ट्युत्पत्ति' थे। श्रोताओं की ऐसी भीड़ होती थी कि मन्दिर में तिल धरने को जगह भी न रहती थी। छत और कमरे के दरवाजे तक श्रोताओं से भर जाते थे। तीन-तीन चार-चार घण्टों तक व्याख्यान होते रहते थे। नगर के गणमान्य व्यक्ति व्याख्यान सुनने जाते थे। मूर्त्ति की पूजा और आरती तक न हो पाती थी। मन्दिर का पुजारी बहुतेरा कहता कि पूजा का समय हो गया है अब व्याख्यान बन्द होना चाहिए, परन्तु उस बेचारे की कोई न सुनता था। हर एक श्रोता के मुख से वाह-वाह निकलती थी, लोगों को स्वामीजी की विद्या, बुद्धि और वाग्मिता पर आश्चर्य होता था।

**दुःखी-सुखी का दृष्टान्त**- एक व्याख्यान में 'सुखी' कौन है और दुखी कौन है', इसकी व्याख्या करते हुए स्वामीजी

ने यह दृष्टान्त दिया था कि एक धनाढ्य महाजन था। उसका एक मुकद्दमा अदालत में चल रहा था। मुकद्दमे की पेशी की तारीख से कई दिन पहले से ही उसे इस चिन्ता ने आ घेरा कि देखें उस दिन क्या हो? इस चिन्ता के कारण उसे नींद तक न आती थी उसके नौकर-चाकर अपना-अपना काम करके चले जाते और निश्चिन्त होकर सुख की नींद सोते, परन्तु वह सारी रात पलङ्ग पर ही करवटें बदलता रहता था। पेशी के दिन वह पालकी में बैठकर अदालत में गया, कहार तो पालकी रखकर चिलम पीने लगे, उन्हें किसी बात की चिन्ता न थी, परन्तु महाजन चिन्तित और उदास ही रहा। इससे सिद्ध होता है कि धन में सुख नहीं है।

**धर्म का बन्धन अच्छा है**- एक व्याख्यान में स्वामीजी ने यह कहा कि कोई मनुष्य ऐसा नहीं जिसे कोई बन्धन न हो। यह विचार मूर्खों का है कि हम किसी बन्धन में नहीं हैं। धर्म का बन्धन अन्य बन्धनों की अपेक्षा अच्छा है।

**पुजारी की मानरक्षा**- इसके पश्चात् यह देखकर कि मन्दिर में व्याख्यान होने से पूजा नहीं होने पाती, यह निश्चय हुआ कि स्वामीजी के व्याख्यान उनके निवासस्थान पर ही हुआ करें। फिर वहाँ ही कई व्याख्यान हुए। वहाँ भी पुजारियों और ब्राह्मणों ने मन्दिर के स्वामी से शिकायत की। उसने स्वामीजी से अत्यन्त सभ्यता और नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि आप मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते हैं और यह मन्दिर है, यदि आप किसी अन्य स्थान पर चले जाएँ तो बड़ा अनुग्रह हो। इस पर स्वामीजी पास के ही रामबाग में चले गए और वहाँ उनके व्याख्यान होते रहे। स्वामीजी के पास अनेक लोग शङ्कानिवृत्ति के निमित्त आया करते थे, यह उनकी शङ्काओं का समाधान वे ऐसी उत्तम रीति से करते थे कि उनको पूरा सन्तोष हो जाता था। मन्दिर में अवस्थिति के दिनों में धूर्त्त लोग उन्हें दिक करने के अभिप्राय से बहुत जोर से घण्टे-घड़ियाल बजाते और कोलाहल मचाते थे, परन्तु वे कुछ परवाह न करते थे।

**दो पण्डित परास्त**- एक दिन सरहानपुर के प्रसिद्ध भागवती पण्डित बलदेव व्यास शास्त्रार्थ करने आए, परन्तु थोड़ी ही देर में निरुत्तर हो गए। तब कई ब्राह्मण साधुओं ने दीवानदास के पास, जिनकी विद्या की बहुत प्रसिद्धि थी, जाकर कहा कि एक क्रिस्तान ऐसा आया है जो किसी को बोलने नहीं देता, आप उससे शास्त्रार्थ कीजिए। पहले तो वे शास्त्रार्थ करने पर सहमत नहीं हुए, परन्तु जब ब्राह्मणों ने बहुत आग्रह किया तो वे स्वामीजी के पास गए। उनकी भी वही गति हुई जो बलदेव व्यास की हुई थी।

११ मार्च,१८७७ ई० को स्वामीजी नौकरों और पण्डित भीमसेन को सहारनपुर छोड़कर केवल बङ्गाली बाबू को अपने साथ लेकर शाहजहाँपुर चले गए।

## शाहजहाँपुर (१८७७ ई०)

**चाँदापुर का मेला**- शाहजहाँपुर जाने का कारण यह था कि चाँदापुर, जिला शाहजहाँपुर के जमींदार मुंशी प्यारेलाल और मुक्ताप्रसाद कायस्थ थे। यह दोनों सहोदर थे। इनके पिता कबीरपन्थी थे और ये दोनों भी उसी मत के अनुयायी थे, परन्तु ज्येष्ठ भ्राता मुंशी मुक्ताप्रसाद के विचार स्वामीजी के सिद्धान्तों की ओर झुक गए थे। अत: दोनों भाइयों में धर्म के विषय में मतभेद हो चला था और आपस में वाद-विवाद रहने लगा था। दोनों में यह परामर्श हुआ कि एक मेला किया जावे, जिसमें सब धर्मों के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नेताओं को एकत्र किया जाए और वे अपने-अपने पक्ष को सिद्ध करें, जिससे यह ज्ञात हो सके कि सत्य ईश्वरीय-धर्म कौन-सा है। मेला करना निश्चित हो गया। मुसलमानी मत के प्रतिनिधि की स्थिति से देवबन्द जिला सहारनपुर के प्रसिद्ध मौलवी मुहम्मद कासिम को और ईसाई मत के प्रतिनिधि की स्थिति से बरेली के प्रसिद्ध पादरी जे०टी० स्काट को और आर्यधर्म के प्रतिनिधि की स्थिति से स्वामीजी को निमन्त्रित किया गया। पहले तो स्वामीजी मेले में जाने पर सहमत न हुए और उन्होंने लिख भेजा कि यदि शास्त्रार्थ कम से कम दो सप्ताह तक हो तो हम आ सकते हैं। इसके उत्तर में मेला-संस्थापकों

ने लिखा कि हम दो सप्ताह का तो नहीं एक सप्ताह का प्रबन्ध कर सकते हैं, आप अवश्य पधारें और ५० रुपए का मार्ग-व्यय स्वामीजी के पास भेज दिया। लोगों के आग्रह करने पर स्वामीजी ने मेले में जाना स्वीकार कर लिया, परन्तु मार्ग-व्यय लौटा दिया और उत्तर लिख दिया कि हम १५ मार्च को चाँदापुर पहुँच जाएँगे और आप मुरादाबाद से मुंशी इन्द्रमणि को अवश्य बुला लें[५२२]। इस प्रकार स्वामीजी १५ मार्च सन् १८७७ ई० तदनुसार चैत्र अमावस्या संवत् १९३३ वि० (गुरुवार) को शहजहाँपुर से चाँदापुर चले गए।

## चाँदापुर (१८७७ ई०)

**शास्त्रार्थ चाँदापुर**- इस मेले का नाम 'मेला ब्रह्म-विचार' रखा गया था और १९ मार्च से २३ मार्च, १८७७ ई० तक उसका समय नियत किया गया था। मेला-भूमि में डेरे तम्बू आदि लगा दिये गए थे। आगन्तुकों के सुभीते के लिए खाद्य-पदार्थों की दुकानों आदि का प्रबन्ध भी था। मेला-संस्थापकों ने मेले के विज्ञापन नगर-नगर में भेज दिए थे और आर्य-धर्म, ईसाई और मुसलमानी मत के मुख्य उपदेशकों को भी निमन्त्रित किया था तथा उनके ठहरने, आहार-पानादि का भी हर एक प्रकार से सुप्रबन्ध कर दिया था।

**कबीर पन्थ के सिद्धान्त**- १८ मार्च की रात्रि में मुंशी प्यारेलाल मेला-संस्थापक तथा बाबू लेखराज स्कूल मास्टर सहारनपुर, स्वामीजी के डेरे पर आए और बाबू लेखराज ने कबीरपन्थ के सिद्धान्तों का वर्णन किया कि काया में जो वीर अर्थात् आत्मा है वही कबीर है, आत्मा ही परमात्मा है, कबीर परमेश्वर का ही नाम है। जैसे अन्य भाषाओं में परमेश्वर के नाम हैं वैसे ही कबीर हिन्दी भाषा में उसका नाम है। बाबू लेखराज ने यह दोहा पढ़ा-

*कक्का केवल ब्रह्म है बब्बा विशन शरीर।*
*रा रा सबमें रम रहा ता का नाम कबीर।।*

ब्रह्म शब्दरूप है। कबीर साहब की पोथी विवेकसार ईश्वरीय पुस्तक है। उपासना की विधि सुरत शब्द में ध्यान लगाना है, परन्तु उसमें अन्तःकरण की भावना होनी चाहिए।

**उक्त सिद्धान्तों का खण्डन**- इस पर स्वामीजी ने बाबू लेखराज के उद्धृत दोहे के ऊपर कहा कि इस प्रकार किसी भी शब्द के एक-एक अक्षर के अर्थ कल्पित किए जा सकते हैं। बाबू लेखराज ने कहा कि कबीर शब्द से हम ईश्वर का ग्रहण इसलिए करते हैं कि उसके अर्थ 'बड़े' के हैं।[५२३] तब स्वामीजी ने मुंशी इन्द्रमणि से पूछा कि और कोई शब्द ऐसा है जिसके

---

५२२- '*दयानन्द-प्रकाश*' में इस मेले के विषय में ऐसा लिखा है कि पादरी लोग चाँदापुर में ईसाई धर्म का प्रचार करने जाया करते थे। उनका कबीरपन्थियों से वाद-विवाद हुआ करता था। एक बार मुंशी प्यारेलाल ने पादरियों के परामर्श से धार्मिक विषयों पर विचार करने के लिए चाँदापुर में 'ब्रह्म-मेला' लगाया। उसमें पादरियों, मौलवियों और कबीरपन्थियों में ईश्वर के विषय में वाद-विवाद होता रहा। एक वर्ष मेले की समाप्ति पर यह प्रसिद्ध हो गया कि विचार में कबीरपन्थियों की हार और मुसलमानों की जीत रही। इसके पश्चात् मुंशी प्यारेलाल के भाई मुंशी मुक्ताप्रसाद जब कभी चाँदापुर के आसपास के गाँवों में कार्यवश जाते तो मुसलमान उन्हें छेड़ते और कहते कि अब तो इस्लाम की सच्चाई सिद्ध हो गई, अब आप इस्लाम क्यों स्वीकार नहीं करते? इस पर दोनों भाइयों ने यह परामर्श किया कि मेले में हिन्दू, ईसाई और मुसलमानी धर्म के प्रतिनिधियों को बुलाकर शास्त्रार्थ कराया जाए। तद्नुसार उन्होंने हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि की स्थिति से मुंशी इन्द्रमणि को बुलाया। मुंशीजी ने कहा कि मैं तो आ जाऊँगा, परन्तु आप स्वामी दयानन्द सरस्वती को भी और बुला लें। इसी पर उन्होंने स्वामीजी को मेले में पधारने का निमन्त्रण दिया था। मुंशीजी स्वामीजी के साथ ही सहारनपुर से चाँदापुर गए थे।

यह वर्णन ठीक प्रतीत नहीं होता। मुंशी इन्द्रमणि स्वामीजी के साथ चाँदापुर नहीं गए थे, बल्कि स्वामीजी के पहुँचने के पीछे चाँदापुर पहुँचे थे। - *संग्रहकर्त्ता* *(टिप्पणी क्र० ५२३ अगले पृष्ठ पर)*

अर्थ इससे भी अधिक बड़े के हों ? तो उन्होंने कहा कि अकबर शब्द है, जिसके अर्थ सबसे बड़े के हैं।

फिर स्वामीजी ने उनके कथन का खण्डन किया कि यह आवश्यक है कि ईश्वरीय ज्ञान मनुष्यों को मानव सृष्टि के आरम्भ में ही दिया जाए, अन्यथा उसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता और वह पशुवत् रहता है। जैसे कि यदि किसी बालक को जन्मकाल से ही मनुष्यों से सर्वथा अलग किसी जंगल रखा जाए तो वह पशु के समान ही रहेगा। अतः वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है, जो सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को दिया गया। वेद से ही सब विद्याओं और ज्ञान का प्रकाश तथा विस्तार हुआ है। परमेश्वर ने अब अनेक पदार्थ मनुष्य के सुख के लिए रचे हैं तो सब सुखों के प्रकाश करने वाली वेद-विद्या को जिसमें सत्य के अतिरिक्त कोई दूसरी बात नहीं है, ईश्वर क्यों प्रकट न करता? अतः वेदों को ही ईश्वर रचित मानने में कल्याण है। फिर स्वामीजी ने कहा कि कबीरपन्थियों की पुस्तक '**बीजकसार**' आदि में यदि जीव को परमेश्वर माना गया है तो वह नवीन वेदान्तियों का सिद्धान्त है। फिर नवीन वेदान्तियों के चार महावाक्य *'अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम्, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म'* हैं। ये सब ब्राह्मण, उपनिषद् वाक्य हैं, परन्तु नवीन वेदान्तियों ने इन्हें प्रकरण से अलग करके इनका अनर्थ कर दिया है। प्रकरण में इनका अर्थ परमेश्वर के सर्वव्यापक आदि गुणों का तथा उसके स्वरूप का वर्णन है, इत्यादि बातें कह कर स्वामीजी ने नवीन वेदान्त के सिद्धान्तों का खण्डन किया।

**स्वामीजी का उपदेश**- एक महाशय ने एक अँग्रेजी की पुस्तक पढ़ी और कहा कि यदि ध्यान करते समय चन्दन का एक चिह्नः बना लिया जावे और उस पर दृष्टि जमाई जावे तो ध्यान बहुत अच्छी तरह लगता है। स्वामीजी ने इसका भी खण्डन किया और कहा कि परमेश्वर मेरे आत्मा में और मेरे शब्द में भी व्यापक है, अतः सब को अपने आत्मा में ही सच्चे मन से ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। चन्दन का चिह्नः बनाया जावेगा तो उससे भी ध्यान में विघ्न ही पड़ेगा। इसी प्रकार माला फेरने में भी गिनती में ध्यान रहेगा। फिर कहा कि परमेश्वर के अनेक नाम - परमेश्वर, ईश्वर, महादेव, शिव, देवी, शेष, कश्यप आदि हैं। परमेश्वर का नाम कबीर होने में कोई प्रमाण नहीं है। संसार में अन्धकार फैल रहा है, अनेक प्रकार से जनता को धोखा दिया जा रहा है, लोग महन्त बन-बन कर मनुष्यों को ठगते और उनका धन हरण करते हैं, कोई कहता है कान बन्द करके अनहद[५२४] शब्द सुनो, उसमें सब प्रकार के बाजों के शब्द सुनाई देते हैं। कोई कहता है कि *'सोऽहम्'* आदि स्वर से जपो, फिर जब जीव मरेगा उसी शब्द में समा जाएगा और उसका आवागमन न होगा। कोई कहता है कि श्वास साधो और एक नथने से लेकर दूसरे से निकलो, कोई कहता है श्वास को देखो इसमें ही पाँचों तत्त्व प्रकट हो जाएँगे। कोई कहता है यह महन्तजी अन्तर्यामी हैं, सबके मन की बात जान लेते हैं, जो माँगोगे वही हो जावेगा। इसी प्रकार कोई अपने को ईश्वर का अवतार कहते हैं और सैकड़ों मनुष्य उनके चेले हो जाते हैं, सब को उचित है कि सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करें, आपस में प्रीतिपूर्वक रहें, परोपकार करें, धन की वृद्धि करें, परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना करें और बुरे कर्मों से बचें। तब संसार में आनन्द ही आनन्द हो जावे।

**स्वामीजी का सत्य-परामर्श**- १९ मार्च को प्रातःकाल कुछ लोग स्वामीजी के डेरे पर गए और यह प्रस्ताव किया कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर ईसाइयों का खण्डन करें, परन्तु स्वामीजी ने कहा कि हम और मौलवी तथा पादरी

---

५२३- बाबू लेखराज यह भूल गए कि 'कबीर' को वे हिन्दी का शब्द बताते थे, परन्तु 'कबीर' जिसके अर्थ बड़े के हैं, अरबी का शब्द है। - *संग्रहकर्त्ता*

५२४- यह शब्द वास्तव में 'अनाहत' है अर्थात् जो बिना किसी टकोर वा आघात के उत्पन्न हो और कान बन्द करने से चिड़ियों की-सी चहकार सुनाई देती है, उसका नाम है। *'अनहद'* इसी का अपभ्रंश है। - *संग्रहकर्त्ता*

लोग सब मिलकर सत्य का निर्णय करें, किसी का पक्षपात न करें और न किसी का विरोध करें।

**विषय–निर्धारिणी सभा**– तत्पश्चात् एक सभा शास्त्रार्थ के नियम–निर्धारण करने के लिए बनाई गई। सभा में यह निश्चय हुआ कि हर एक धर्म के प्रतिनिधि पहले आधा–आधा घण्टा विचारणीय प्रश्नों पर बोलें और जिन्हें कोई आक्षेप करना और उत्तर देना हो वह दस–दस मिनट बोलें। बीच में कोई दूसरा न बोले। निम्नलिखित पाँच विषयों पर विचार होना निश्चित हुआ–

१– परमेश्वर ने जगत् को किस वस्तु से, किस समय और किस उद्देश्य से रचा?

२– ईश्वर सर्वव्यापक है या नहीं?

३– ईश्वर न्यायकारी और दयालु किस प्रकार है?

४– वेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वर का वाक्य होने में क्या प्रमाण है?

५– मुक्ति क्या पदार्थ है और वह किस प्रकार प्राप्त हो सकती है?

**मेले की अवधि पर वाद–विवाद**– विज्ञापन तो यह दिया गया था कि मेला दो दिन १९–२० मार्च सन् १८७७ ई० को होगा, परन्तु स्वामीजी ने जब सहारनपुर से मेले में जाना अस्वीकार कर दिया था और कहा था कि हम तब जा सकते हैं जब मेला दो सप्ताह तक रहे, तो उनसे कहा गया था कि पाँच दिन अवश्य रहेगा। परन्तु जब उक्त सभा में यह विषय प्रस्तुत हुआ, स्वामीजी ने कहा कि मेला पाँच दिन रहना चाहिए, तो पादरी लोगों ने आपत्ति की और कहा कि विज्ञापन में मेले की अवधि दो ही दिन रखी गई थी और हम दो ही दिन रहने का प्रबन्ध करके आए हैं इससे अधिक हम नहीं ठहर सकते। इस पर स्वामीजी ने पुन: आपत्ति की कि हमसे तो कहा गया था कि मेले की अवधि सात दिन होगी अब दो दिन की कैसे रखी जाती है? मुंशी इन्द्रमणि ने कहा कि स्वामीजी आप चिन्ता न करें, एक ही दिन में ज्ञात हो जाएगा कि सत्य धर्म कौन–सा है, तो स्वामीजी चुप हो गए।

सभा की कार्यवाही ९ बजे समाप्त हुई, तत्पश्चात् सब लोग भोजन करने को चले गए। एक बजे फिर सब लोग इकट्ठे हुए।

**मेला संस्थापक का आरम्भिक कथन**– सबसे पूर्व मुंशी प्यारेलाल ने खड़े होकर परमेश्वर को धन्यवाद दिया कि उसने हमें ऐसे सम्राट् के राज्य में रखा है जिसमें सब लोग स्वतन्त्रतापूर्वक धर्म–विचार कर सकते हैं और जिला मजिस्ट्रेट को भी धन्यवाद दिया कि उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक मेले की आज्ञा दे दी। तत्पश्चात् विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों को मेले में पधारने के लिए धन्यवाद दिया और आशा प्रकट की कि विद्वान् लोग जो इकट्ठे हुए हैं वे अपने–अपने धर्म के गुण अत्यन्त नर्मी और मधुरता के साथ वर्णन करेंगे।

**शास्त्रार्थकर्त्ता कौन–कौन हों**– तत्पश्चात् यह प्रश्न उठा कि कौन–कौन किस–किस धर्म की ओर से बोलेगा। इस पर बहुत वाद–विवाद हुआ। अन्त में ५ व्यक्ति ईसाइयों और ५ मुसलमानों की ओर से नियत हुए। हिन्दुओं की ओर से भी ५ व्यक्ति नियत करने के लिए कहा गया, परन्तु स्वामीजी और मुंशी इन्द्रमणि ने कहा कि हम दो ही पर्याप्त हैं। इस पर मौलवियों ने पण्डित लक्ष्मीदत्त शास्त्री का नाम, जो शाहजहाँपुर हाई स्कूल के हेड पण्डित थे, लिखवाना चाहा। इस पर स्वामीजी ने उनसे कहा कि आपको अपने धर्म का प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है, आर्यों के प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने का आपको कोई अधिकार नहीं है और पण्डित लक्ष्मीदत्त से भी कहा कि ये लोग हममें आपस में विरोध कराकर तमाशा देखना चाहते हैं। इतना होने पर भी एक मौलवी ने पण्डित लक्ष्मीदत्त का हाथ पकड़कर कहा कि इनके कहने से क्या होता है, तुम अपना नाम लिखा दो। इस पर फिर स्वामीजी ने कहा कि जैसे आप सुन्नत जमाअत के हैं आपको शियाओं की ओर से प्रतिनिधि चुनने का अधिकार नहीं है, जैसे प्रोटेस्टण्टों को रोमन–कैथलिकों

की ओर से वक्ता निर्वाचित करने का अधिकार नहीं है, ऐसे ही आप को यह कहने का अधिकार नहीं है कि आर्यों की ओर से कौन नियत किया जाए और पण्डित लक्ष्मीदत्त को भी समझाया कि ये लोग घर में फूट डलवाना चाहते हैं। आप इनकी चाल में न आवें।

**पादरी व मौलवी में झपट**– इसके बाद मौलवी मुहम्मद कासिम और पादरी नेविल में यह विवाद छिड़ा कि पहले किस प्रश्न पर विचार हो; अन्त को यह निश्चय हुआ कि प्रश्नों पर यथाक्रम ही विचार किया जावे और पहले मौलवी मुहम्मद कासिम अपने सिद्धान्तों का वर्णन करें और उन पर जो आक्षेप करना चाहें करें और मौलवी उत्तर देवें। तदनुसार मौलवी ने कहा कि मुहम्मद खुदा के आखिरी पैगम्बर हैं और कुरान ने पहली सारी आसमानी किताबों को मनसूख कर दिया। इस पर पादरी नेविल ने कहा कि मुहम्मद साहब के पैगम्बर और कुरान के ईश्वर–वाणी होने में सन्देह है ईसामसीह पर ही विश्वास लाने से मोक्ष हो सकता है। कुरान में जो बातें हैं, वे सब बाइबिल की हैं। मौलवी ने कहा बाइबिल में बहुत अदल–बदल हो गई है, इसलिए वह मानने योग्य नहीं है और एक आयत को दिखाकर कहा कि स्वयं पादरियों ने ही लिखा है कि इस आयत का पता नहीं लगता। पादरियों ने कहा इसमें क्या दोष है, यह तो सत्य को ग्रहण करना है। मौलवी ने कहा कि ईसा खुदा नहीं हो सकता, यदि था तो वह अपने आपको सलीब से क्यों नहीं बचा सका, इत्यादि।

इसी प्रकार की बातों में सन्ध्या हो गई।

**पहले प्रश्न पर विचार**– अगने दिन २० मार्च सन् १८७७ ई० को प्रात:काल साढ़े सात बजे शास्त्रार्थ सभा सङ्गठित हुई और पहले प्रश्न पर विचार आरम्भ हुआ।

*पादरी स्काट*– हम ठीक–ठीक नहीं जानते कि ईश्वर ने इस संसार को किस वस्तु से बनाया, कब बनाया और क्यों बनाया। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि ईश्वर हमारे सुख के लिए अपने हुक्म से सृष्टि को अभाव से भाव में लाया है।

*मौलवी मुहम्मद कासिम*– खुदा ने दुनिया को अपने वजूदे–खास से प्रकट किया। सब वस्तुएँ मनुष्य को अपनी (इबादत) आराधना के लिए बनाया है।

स्वामीजी ने पहले तो सबको उपदेश दिया जिसका भाव था कि यह शास्त्रार्थ सत्य–असत्य के निर्णय के लिए है न कि हार–जीत के लिए, अत: सब लोगों को मधुर वाणी का प्रयोग करना चाहिए। कटु शब्दों का व्यवहार करना वा एक–दूसरे की बात को मिथ्या बताना आदि उचित नहीं है, विचार प्रेमपूर्वक होना चाहिए और ऐसा ही अभिप्राय इस मेले को आरम्भ करने वालों का है। अत: सब प्रकार पक्षपात को छोड़कर सत्यभाषण करना उचित है।

इसके पश्चात् प्रथम प्रश्न पर अपना मन्तव्य प्रकट किया, जिसका आशय यह था कि परमेश्वर ने जगत् को उसके उपादान कारण प्रकृति से बनाया है जिसे अव्यक्त, अव्याकृत और परमाणु भी कहते हैं। वह अनादि है और उसका अन्त भी नहीं। यह जगत् उसी कारण का कार्यरूप है। जब ईश्वर प्रलय करता है तो स्थूल जगत् सूक्ष्म होकर परमाणुरूप हो जाता है। अभाव से भाव कभी नहीं हो सकता। यह कहना कि पहले किसी वस्तु का अत्यन्ताभाव था और फिर यह कहना कि उसका भाव हो गया *'वदतो व्याघात'* अर्थात् अपने कहे का स्वयं काटना है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। कारण तीन प्रकार के होते हैं– *प्रथम* उपादान कारण जिसमें विकार उत्पन्न करके किसी वस्तु को बनाया जाए, जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है, क्योंकि मिट्टी का ही दूसरा रूप घड़ा है। *दूसरा* निमित्तकारण अर्थात् उपादानकारण को कार्यरूप में लाने वाला जैसे घड़े का निमित्त कारण कुम्हार है जो मिट्टी से घड़ा बनाता है। *तीसरा* साधारण कारण– दिशा, काल, उपकरण जैसे घड़े का साधारण कारण चाक, दिशा काल

आदि हैं, ऐसे ही जगत् का उपादाान कारण प्रकृति, निमित्त कारण परमेश्वर, साधारण कारण दिशा, काल आदि हैं। प्रकृति जड़ है वह स्वयं अपने आप नहीं बना सकती। यदि यह कहा जाए कि ईश्वर ही स्वयं सब कुछ बन गया तो ईश्वर ही चोर, जार, कुत्ता, बिल्ली, रोग आदि हो जाएगा। जब ईश्वर के सिवाय कुछ भी न था तो अभाव से भाव मानना पड़ेगा जो किसी प्रकार भी युक्तिसङ्गत नहीं है। जीव भी अनादि हैं और यह सृष्टि प्रवाह रूप से अनादि है अर्थात् सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि। यह चक्र यों ही चलता रहता है, इसका कभी अन्त नहीं होता।

अब रहा यह प्रश्न कि ईश्वर ने जगत् को कब बनाया, तो इसका उत्तर वे धर्म तो क्या दे सकते हैं जिनको प्रचलित हुए ही १८०० वा १३०० वर्ष ही हुए हैं, इसका उत्तर तो सत्य सनातन वैदिक धर्म ही दे सकता है जो सृष्टि के आदि से है। वैदिक धर्म के अनुसार सृष्टि को बने हुए १,९६,०८,५२,९७६ वर्ष हुए हैं और अभी २,३३,३२,२७,०२४ वर्ष यह सृष्टि और रहेगी। ज्योतिषशास्त्र में यह संख्या लिखी है [५२५]और दान आदि शुभ कर्मों के अवसर पर जो सङ्कल्प पढ़ा जाता है उसमें यह संख्या पढ़ी जाती है यथा-

५२५- सृष्टि के भुक्त और भोग्य वर्षों की यही संख्याएँ संवत् १९३३ वि० में ही लेखनाधीन स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ *'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'* और बाद में प्रकाशित ग्रन्थों- *'मेला चाँदापुर '*और *'सत्यार्थप्रकाश '* में भी लिखी हुई मिलती हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि स्वामीजी १,९६,०८,५२,९७६ + २,३३,३२,२७,०२४ = १४x ७१x ४३,२०,००० =४,२९,४०,८०,००० वर्ष की ही मनुष्य की इस सृष्टि में विद्यमानता का काल मानते थे जिसके मध्य वे किसी प्रकार का भी अन्तराल वा सन्धियाँ नहीं मानते थे जैसे कि वे दिन और रात्रि के मध्य में दो ही सन्धियाँ प्रात:काल और सायंकाल के समय में मानते थे, प्रत्येक मन्वन्तर के आदि और अन्त में एक-एक सत्युग के वर्ष परिमाण १७,२८,००० वर्ष की १५ सन्धियाँ नहीं। इसीलिए वे कहते हैं कि 'ईसाई और मुसलमानों के मत १८०० और १३०० वर्ष से हैं, परन्तु उनमें आपस के विरोध से फिरके हो गए हैं। आर्यधर्म १,९६,०८,५२,९७६ वर्ष से है, फिर भी उसमें बिगाड़ बहुत कम हुआ है।' सो यह बिगाड़ होना तभी सम्भव है जब दो मन्वन्तरों के मध्य में सन्धिरूपी कोई व्यवधान उपस्थित न हो और तभी स्वामीजी का *'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'* का यह वाक्य भी सार्थक हो सकेगा कि 'जितने वर्ष वैवस्वत मनु के भोग होने में बाकी हैं उतने ही मध्याह्न: में बाकी रहे हैं, इसलिए यह लेख है-' क्योंकि दो मन्वन्तरों के मध्य में सत्युग के वर्ष परिमाण की सन्धि जोड़ने से यह मध्याह्न: ८,६४,००० वर्ष और आगे ही हो सकेगा। स्वामीजी के इसी कथन से यह भी सिद्ध होता है कि वे ब्रह्मदिन की १००० चतुर्युगियों की शेष (१०००-१४x ७१) = ६ चतुर्युगियों की पूर्ति आदि और अन्त में तीन-तीन चतुर्युगियाँ जोड़कर ही करते थे क्योंकि उनके अनुसार 'कल्प के आरम्भ से जगन्निर्माता ईश्वर को ग्रह, नक्षत्र, देव, असुर, मनुष्य, भूमि, पर्वतादिकों (चराचर-जङ्गम, स्थावर) की सृष्टि करते हुए ४७४०० दिव्य वर्ष (लगभग तीन चतुर्युगी) बीत गए। (सूर्यसिद्धान्त श्लोक -१/२४)'

हमने जब यह देखा कि आर्यजगत् में स्वामी दयानन्दोक्त इस वेद तथा मानव सृष्टि संवत् के विपरीत सृष्टि संवत् १,९७,२९,४९,००० आदि का व्यवहार हो रहा है यहाँ तक कि उनकी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा भी प्रकाशित ग्रन्थों और उसके मासिक मुखपत्र *'परोपकारी'* के आरम्भ में स्वामीजी के मन्तव्य के विरुद्ध यही संवत् प्रकाशित किया जा रहा था जिससे *'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'* के आन्तरिक कथ्य और वाह्य प्रस्तुति में इनके पाठकों को अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ता था तो हमने ही इस ओर २७ दिसम्बर, १९६४ ई० को होशंगाबाद (म०प्र०) से एक पत्र परोपकारिणी सभा को यह लिखकर कि 'परोपकारिणी सभा के प्रकाशनों के प्रारम्भ में वर्त्तमान सृष्टि संवत् १,९७,२९,४९,०६५ लिखा जाता है जो स्वामीजी के सत्यार्थप्रकाश, सत्यधर्मविचार और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वर्णित सृष्टि संवत् के अनुसार नहीं है। इससे जहाँ स्वामीजी की उत्तराधिकारिणी सभा उनके अभिप्राय की हानि कर रही है, वहाँ साधारण जनता में भी भ्रम उत्पन्न होता है, जब वह बाहर और भीतर अन्तर पाती है।' मेरे इस निवेदन को कार्यान्वित करने में परोपकारिणी सभा अजमेर ने १० वर्ष लगा दिए तभी जाकर *'परोपकारी'* का ऋषि-मेला विशेषाङ्क (नवम्बर-दिसम्बर,१९७४ ई०) में प्रथमवार सृष्टि संवत् १,९६,०८,५३,०७५ छपा जिससे आगे वह अब पूरे आर्यजगत् के व्यवहार में आ गया है।- *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

*ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे*
*कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरेऽमुकमासेऽमुकपक्षेऽमुक तिथावित्यादि।*

यह इतिहास सिद्ध है और इसकी पुष्टि भूगर्भ विद्या से भी होती है।

ईश्वर ने सृष्टि किसलिए बनाई इसका उत्तर यह है कि यत: सृष्टि प्रवाहरूप से अनादि है, अत: जब प्रलय होता है तो जीवों के कुछ कर्म बिना फल भोगे हुए रह जाते हैं जिनका फल भोगना उनके लिए अनिवार्य है और फल बिना जगत् के अन्यत्र भोगे नहीं जा सकते, इसलिए ईश्वर पुन: सृष्टि रचता है। दूसरे वह अपनी अनन्त विद्या, ज्ञान, बल का प्रकाश सृष्टि रचकर सफल करता है तथा सृष्टि-रचना से यह अभिप्राय भी सिद्ध होता है कि प्राणी सुख पाते हैं और उन्हें मोक्ष के साधन प्राप्त होते हैं।

स्वामीजी के कथन पर पादरी स्काट ने यह आक्षेप किया कि जगत् समीवान् है और समीवान् पदार्थ अनादि नहीं हो सकता, कोई वस्तु अपने आप को नहीं बना सकती। परमेश्वर ने अपनी कुदरत से जगत् को बनाया है। जिस वस्तु से उसने जगत् को बनाया है, वह हमें ज्ञात नहीं और पण्डितजी ने भी उसे नहीं बताया। मौलाना मुहम्मद कासिम ने यह आक्षेप किया कि जब सब चीजें अनादि हैं तो परमेश्वर को मानना व्यर्थ है और सृष्टि की रचना के समय को कोई नहीं बता सकता।

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि पादरी साहब मेरे कथन को नहीं समझे। मैंने कहा था कि ईश्वर ने जगत् को प्रकृति से बनाया, कार्यजगत् तो अनादि नहीं, परन्तु प्रकृति अनादि है, उसके एक अणु को भी नष्ट करने की शक्ति किसी में नहीं है। मैंने यह कभी नहीं कहा कि कोई वस्तु स्वयं अपने को बना सकती है। यदि ईश्वर ने अपनी कुदरत से जगत् को रचा है तो मैं पूछता हूँ कि कुदरत कोई वस्तु है वा नहीं? यदि है तो अनादि हुई, यदि नहीं है तो उससे कोई वस्तु बन नहीं सकती। मैंने तो बता दिया था कि ईश्वर ने प्रकृति से जगत् को रचा है। पादरी साहब का यह कहना कि मैंने जगत् के उपादान कारण को नहीं बताया, ठीक नहीं है।

मौलवी साहब का भी कथन ठीक नहीं है। प्रकृति जड़ है, उसमें स्वयं कार्यरूप होकर जगत् के बनाने का सामर्थ्य नहीं है, उसे कार्यरूप चेतन आत्मा परमेश्वर ही कर सकता है। जगत् में बुद्धि का कैसा अद्‌भुत चमत्कार है, जिसे देखकर मनुष्य चकित रह जाता है। परमेश्वर के अतिरिक्त और कौन ऐसा आश्चर्योत्पादक कार्य कर सकता है। अत: प्रकृति के अनादि होते हुए भी परमेश्वर का मानना आवश्यक है।

इतने में एक ईसाई महाशय बोल उठे कि जब दो वस्तुएँ हैं एक कार्य दूसरा कारण तो दोनों अनादि नहीं हो सकते। अत: ईश्वर ने सृष्टि अपनी कुदरत से, नास्ति से बनाई।

मौलवी साहब ने कहा कि गुण दो प्रकार के होते हैं- एक भीतर के (स्वाभाविक) दूसरे बाहर के (नैमित्तिक)। स्वाभाविक गुण गुणी में होते हैं और नैमित्तिक गुण दूसरे से गुणी में आते हैं। स्वाभाविक गुण दूसरे में जाकर वैसे ही बन जाते हैं, परन्तु जिसके गुण होते हैं वे उससे पृथक् होता है, जैसे जिस बर्तन में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह वैसा ही हो जाता है, परन्तु सूर्य नहीं बन जाता, अत: हमें ईश्वर ने अपनी इच्छा से बनाया है।

स्वामीजी ने ईसाई महाशय को तो यह उत्तर दिया कि जगत् का उपादान कारण प्रकृति (परमाणु) और जीव अनादि हैं। नास्ति से अस्ति हो नहीं सकती। यदि कुदरत कोई वस्तु है तो उसे भी अनादि ही मानना पड़ेगा, क्योंकि ईश्वर के गुण कर्म सब अनादि हैं और मौलवी साहब से यह कहा कि यदि कहो कि भीतर के गुणों से जगत् बना है तो भी ठीक न होगा, क्यों? गुण द्रव्य से अलग रह नहीं सकता और गुण द्रव्य से बन भी नहीं सकता। दूसरे ऐसा मानने से तो जगत् ही ईश्वर हो जाएगा। बाहर के गुणों से बना हुआ मानने में ईश्वर के सिवाय और गुण-द्रव्य भी

मानने पड़ेंगे और वह भी अनादि होंगे। इच्छा या तो कोई वस्तु है या गुण। यदि वस्तु है तो अनादि होगी और गुण मानोगे तो उससे सृष्टि न बन सकेगी जैसे केवल इच्छा से घड़ा नहीं बन सकता।

इसके पश्चात् पादरी साहब ने तो यह कहकर पीछा छुड़ाया कि यह तो ईश्वर ही जानता है कि उसने किस चीज से जगत् को बनाया है, हम नहीं जान सकते। परन्तु मौलवी साहब कहने लगे कि ईश्वर ने जगत् अपने नूर से बनाया है। इस पर स्वामीजी ने कहा कि नूर प्रकाश तो केवल मूर्त्तिमान पदार्थ को प्रत्यक्ष दिखा सकता है और प्रकाश करने वाले पदार्थ से पृथक् नहीं रह सकता। अत: प्रकाश से सृष्ट्युत्पत्ति असम्भव है।

फिर एक ईसाई बोल उठे कि यदि संसार ईश्वर की जात (प्रकृति) में सनातन से था तो परमेश्वर ने अपनी जात से संसार को बनाया और यत: वह उसकी जात में अनादि था तो ईश्वर सीमित हो जाएगा।

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि जगत्=प्रकृति अनादि थी और वही रचे जाने से सीमाबद्ध हुई, न कि ईश्वर।

तत्पश्चात् ईसाइयों ने कहा पण्डितजी इस बात का सहस्र प्रकार से उत्तर दे सकते हैं और हम सहस्रों मिलकर भी उन्हें निरुत्तर नहीं कर सकते। अब इस विषय पर शास्त्रार्थ करना व्यर्थ है।

इस पर सब लोग अपने-अपने डेरों को चले गए और जनता में स्वामीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी।

दोपहर के पश्चात् सभा फिर जुटी।

**पाँचवें प्रश्न पर विचार**- पहले तो सबने सर्वसम्मति से यह निश्चय किया कि समय थोड़ा है, अत: इस प्रश्न पर ही विचार होना चाहिए कि मुक्ति क्या है? और किस प्रकार मिल सकती है। फिर कुछ वाद-विवाद इस विषय में हुआ कि पहले कौन कथन करे, अन्त को यही स्थिर हुआ कि स्वामीजी ही पहले कथन करें।

स्वामीजी ने कहा कि मुक्ति छूट जाने को कहते हैं, अर्थात् सब दु:खों से छूटकर एक सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहना और जन्म मरण के आदि दु:खसागर में न गिरना।

मुक्ति-प्राप्ति का *पहला साधन* सत्य का आचरण है, सत्य वह है जिसमें आत्मा और परमात्मा की साक्षी हो। वह साक्षी यह है कि सत्य के बोलने में उत्साह, आनन्द और निर्भयता प्राप्त होती है और असत्य के आचरण में भय, शङ्का, लज्जा उत्पन्न होती है। यजुर्वेद अ० ४० के तीसरे मन्त्र में कहा है-

*असुर्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृता:।*
*ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जना:।।*

परमेश्वर की आज्ञा भङ्ग करने वाले अर्थात् आत्मा के ज्ञान विरुद्ध कहने, करने और मानने वाले का ही नाम असुर, राक्षस, दुष्ट और पापी है।

*दूसरा साधन*- सत्यविद्या अर्थात् ईश्वरकृत वेद-विद्या को यथावत् पढ़कर ज्ञान की उन्नति और सत्य का यथावत् पालन करना।

*तीसरा साधन*- सत्पुरुष, ज्ञानियों का सङ्ग करना।

*चौथा साधन*- योगाभ्यास से मन, इन्द्रिय और आत्मा को असत्य से हटाकर सत्य में स्थिर करना और ज्ञान को बढ़ाना।

*पाँचवाँ साधन*- ईश्वर-स्तुति करना अर्थात् उसके गुणों की कथा सुनना और विचारना।

*छठा साधन*- ईश्वर-प्रार्थना अर्थात् ईश्वर से असत्य, अज्ञान, अधर्म से पृथक् रहने, सत्य, त्याग, धर्म में स्थिर रहने और जन्म-मरण के दु:खों से छूटकर मुक्ति प्राप्त करने की प्रार्थना करना।

जब मनुष्य अपने आत्मा, प्राण और सब सामर्थ्य से परमेश्वर को भजता है तो करुणामय परमेश्वर उसे अपने आनन्द में स्थिर कर देता है। मुक्ति, धर्म, अर्थ, काम और सत्य पुरुषार्थ से प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं।

ईश्वराज्ञा का पालन धर्म और उसका उल्लंघन अधर्म है। धर्म से ही अर्थ और काम को सिद्ध करना चाहिए अर्थात् अपने सुख साधन के लिए कोई काम पक्षपात, अन्याय, असत्य, और अधर्म से नहीं करना चाहिए।

**पादरी साहब**- दु:खों से छूटने का नहीं बल्कि पापों से बचने और स्वर्ग में पहुँचने का नाम मुक्ति है। ईश्वर ने आदम का पवित्र बनाया था, परन्तु उसने शैतान के बहकाने में पाप किया, जिससे उसकी सब औलाद पापी हो गई। मनुष्य अपनी इच्छा से पाप करता है, जैसे घड़ी अपने आप चलती है। अत: वह अपने सामर्थ्य से पापों से नहीं बच सकता और हिन्दू कहते हैं कि कलियुग मनुष्यों से पाप कराता है, परन्तु ईसामसीह पर विश्वासे लाने से वह भी पाप से बच सकते और मुक्ति पा सकते हैं।

जहाँ-जहाँ ईसामसीह की शिक्षा फैलती जाती है वहाँ-वहाँ लोग पाप से बचते जाते हैं। इँग्लैंड में एक मनुष्य आप जैसा बलवान था, परन्तु था बड़ा कुकर्मी। जब उसने ईसामसीह पर विश्वास किया तो वह पाप से बच गया। मैं भी ईसामसीह पर विश्वास करने से पापों से बच गया और मैंने मुक्ति को पा लिया है।

**मौलवी साहब**- ईश्वर की इच्छा है जिसको चाहे मुक्ति दे जिसको चाहे न दे। यदि हाकिम किसी अपराधी से प्रसन्न हो जाता है, तो उसे वह छोड़ देता है और जिससे अप्रसन्न होता है उसे दण्ड देता है। ईश्वर जो चाहता है वह करता है, उस पर हमारा कोई अधिकार नहीं। परन्तु समय के हाकिम पर विश्वास करना चाहिए। इस समय का हाकिम हमारा पैगम्बर है, उस पर विश्वास लाने से मुक्ति हो सकती है। विद्या से अवश्य अच्छे काम हो सकते हैं, परन्तु मुक्ति तो उसी के हाथ में है।

**स्वामीजी**- पादरी साहब ने जो यह कहा कि मुक्ति दु:ख से छूटने का नहीं प्रत्युत पापों से बचने का नाम है सो यह उन्होंने मेरे आशय को समझे बिना ही कह दिया है। क्योंकि मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि मुमुक्षु को पाप का आचरण नहीं करना चाहिए। पाप का परिणाम भी दु:ख ही होता है जो पाप से बचेगा वह दु:ख से भी छूटेगा।

ईसाई भी परमेश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हैं। परन्तु यह मानने से कि शैतान ने आदम को बहकाकर उससे पाप कराया वह सर्वशक्तिमान् नहीं रहता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो आदम को जिसे उसने पवित्र बनाया था बहकाने की शक्ति शैतान में न होती। परमेश्वर की बनाई हुई वस्तु को कोई नहीं बिगाड़ सकता। यह बात तो कोई भी विद्वान् नहीं मान सकता कि पाप तो किया आदम ने और पापी हो गई उसकी सब सन्तान। जो पाप करता है वही दु:ख भोगता है, दूसरा नहीं। केवल आदम और हब्बा से मनुष्य-जाति की उत्पत्ति मानने में बड़ा दोष यह आता है कि इससे सगे बहिन-भाई का आपस में विवाह होना मानना पड़ता है। अत: यह मानना चाहिए कि सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने बहुत से स्त्री-पुरुष रचे थे।

यदि शैतान सबको बहकाता है तो मैं पूछता हूँ कि शैतान को किसने बहकाया? यदि कहो कि किसी ने नहीं तो जैसे शैतान अपने आप बहक गया वैसे ही आदम भी अपने आप बहक गया होगा, फिर शैतान के मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि कहो कि किसी ने शैतान को भी बहकाया होगा तो उसका बहकाने वाला सिवाय ईश्वर के दूसरा हो नहीं सकता। ऐसी दशा में जब स्वयं ईश्वर ही बहकाने वाला और पाप कराने वाला है तो वह पापों से बच कैसे सकता है? इसके अतिरिक्त ऐसा मानना ईश्वर के स्वभाव के भी विरुद्ध है, क्योंकि वह न्यायकारी और सत्य कर्मों का ही कर्त्ता है।

शैतान परमेश्वर की सृष्टि में इतनी गड़बड़ डालता है। परन्तु वह उसे न दण्ड देता है, न मारता है, न कैद करता है। इससे सिद्ध होता है कि परमेश्वर में ऐसा करने की शक्ति ही नहीं है। शैतान के मानने वाले पाप से कभी नहीं बच सकते, क्योंकि वे समझते हैं कि पाप शैतान कराता है हम तो पापी ही नहीं और फिर जब सबके पापों के बदले ईश्वर का इकलौता पुत्र ही सूली पर चढ़ गया तो हमें अब क्या डर है।

पादरी साहब ने घड़ी का दृष्टान्त भी ठीक नहीं दिया। घड़ी तो वही चाल चलती है जो उसके बनाने वाले

ने उसमें रखी है, उसमें उसे बदलने की स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु ईश्वर की आज्ञा अच्छे कर्म करने की है, बुरे कर्म करने की नहीं।

आपने जो यह कहा है कि मुक्ति स्वर्ग में पहुँचने का नाम है और कि शैतान के बहकाने के कारण मनुष्यों में पाप से बचने की शक्ति नहीं है सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि शैतान कोई मनुष्य नहीं और मनुष्य स्वतन्त्र हैं, तो वह आप दोषों से बचकर परमात्मा की कृपा से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु आप स्वर्ग में भी कैसे रह सकेंगे? वहाँ आदम ने शैतान के बहकाने से गेहूँ खाया था। क्या आप उसे न खाएँगे और स्वर्ग से न निकाले जाएँगे?

आप लोगों ने तो ईश्वर को मनुष्य के समान मान रखा है। मनुष्य अल्पज्ञ है उसे सब बातें ज्ञात नहीं होतीं, अतः उसे किसी जानकार की सिफारिश की आवश्यकता होती है, परन्तु परमेश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, उसे किसी पैगम्बर की सहायता और सिफारिश की आवश्यकता नहीं हो सकती और यदि होती है तो उसमें और मनुष्य में भेद ही क्या रहा? वह न्यायकारी भी नहीं रहता, क्योंकि यदि किसी पापी को वह किसी की सिफारिश से क्षमा करता है तो न्याय नहीं करता। परमेश्वर के दरबार में फरिश्तों का मानना तो और भी आपत्तिजनक है। यदि ईश्वर सर्वव्यापक है तो वह शरीर वाला नहीं हो सकता, यदि सर्वव्यापक नहीं है तो अवश्य शरीर वाला होगा और सीमित हो जाएगा और उसका जन्म-मरण भी अवश्य होगा।

पादरी साहब ने जो कलियुग के विषय मे कहा है वह भी ठीक नहीं है। आर्य लोग युगों की व्यवस्था उस प्रकार मानते हैं जिस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण पञ्चिका ७ कण्डिका १५ में लिखी है-

*कलिश्शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।*
*उत्तिष्ठँस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्।।*

जो सर्वथा अधर्म करता है उसका नाम कलि, जो आधा अधर्म और आधा धर्म करता है उसका द्वापर, जो एक हिस्सा अधर्म और तीन हिस्से धर्म करता है उसका नाम त्रेता और जो सर्वथा धर्म करता है उसका नाम सत्युग है। बुरे कर्म करने वाला दुःख से नहीं बच सकता, अच्छे कर्म करने वाला ही बच सकता है।

क्या ईश्वर ईसामसीह के बिना अपने भक्तों को बचाने में समर्थ नहीं है? वह अवश्य बचा सकता है, उसे किसी पैगम्बर की आवश्यकता नहीं है। यह बात अवश्य है कि जब किसी देश में उत्तम पुरुष होते हैं, उनके उपदेश से लोगों का सुधार हो जाता है, जहाँ ऐसे उपदेष्टा नहीं होते वहाँ बिगाड़ होता है। प्राचीन आर्यावर्त्त में ऐसे उपदेष्टा थे जिनसे लोग सुधरे हुए थे। अब ऐसे उपदेशकों का अभाव है, अतः लोग बिगड़े हुए हैं। इससे आर्यों के सनातन मत में कोई दोष नहीं आता। ईसाई और मुसलमानों के मत १८०० और १३०० वर्ष से हैं परन्तु उनमें आपस के विरोध से फिरके हो गये हैं। आर्यधर्म १,९६,०८,५२,९७६ वर्ष से है, फिर भी उसमें बिगाड़ बहुत कम हुआ है। ईसाइयों में जो सुधार है वह ईसाई मत के कारण नहीं है प्रत्युत पार्लियामेण्ट आदि के उत्तम प्रबन्ध के कारण है। पादरी साहब ने जो इँग्लिस्तान के दुष्ट मनुष्य का दृष्टान्त मेरे साथ मिलाकर दिया, सो यह उन्हें उचित न था।

मौलवी साहब का कहना कि ईश्वर जो चाहे सो करे, भी ठीक नहीं है क्योंकि इससे ईश्वर न्यायकारी नहीं रहता। वह मुक्ति उसी को देता है जो मुक्ति के काम करता है, बिना पाप-पुण्य के दुःख-सुख नहीं देता।

परमेश्वर ही सब समय का हाकिम है, दूसरा कोई नहीं।

दूसरे पर विश्वास करने से मुक्ति कभी नहीं मिल सकती। यदि ईश्वर दूसरे के कहने से मुक्ति देता है तो वह मुक्ति देने में पराधीन हो जाएगा और पराधीन ईश्वर हो नहीं सकता। परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है वह अपने कामों में किसी की सहायता नहीं लेता। बड़ा आश्चर्य है कि मुसलमान परमेश्वर को लाशरीक भी मानते हैं और फिर पैगम्बरों को मुक्ति देने

में उसके साथ मिला देते हैं।

**मेले में गड़बड़ हो गई**– स्वामीजी अपना वक्तव्य समाप्त न कर पाए थे कि चार बज गए। मौलवियों ने कहा कि हमारी नमाज का समय हो गया है, पादरी स्काट ने कहा कि मैं आपसे एकान्त में कुछ बात करना चाहता हूँ। अतः मौलवी लोग नमाज को और स्वामीजी तथा पादरी साहब एक ओर को चले गए। पीछे एक मौलवी ने जूता पहने हुए ही मेज पर खड़े होकर अपने मत का व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। इसी प्रकार एक ईसाई भी अपने धर्म का उपदेश देने लगा। इस प्रकार गड़बड़ होने पर किसी ने यह उड़ा दिया कि मेला समाप्त हो गया। [५२६]

**मेला समाप्त हो गया**– स्वामीजी ने जब यह हल्लागुल्ला सुना तो पूछा कि यह क्या गड़बड़ है, मौलवी लोग नमाज से आए वा नहीं? तो लोगों ने कहा कि मेला समाप्त हो गया है। स्वामीजी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा कि ऐसे झटपट मेला किसने समाप्त कर दिया, न किसी की सम्मति ली गई, न किसी से कुछ पूछा गया, अब आगे कुछ बात-चीत होगी वा नहीं? परन्तु कुछ उत्तर न मिला। तब लोगों ने स्वामीजी से कहा कि आप भी चलिए। स्वामीजी ने कहा कि हमारी इच्छा तो यह थी कि मेला कम से कम पाँच दिन रहता। पादरियों ने कहा कि हम दो दिन से अधिक नहीं रह सकते। तब स्वामीजी अपने डेरे पर चले गए। वहाँ भी जिज्ञासुओं से धर्म-संवाद होता रहा।

**पादरियों से बात-चीत**– रात्रि में पादरी स्काट दो अन्य पादरियों के साथ स्वामीजी के डेरे पर आए। पादरी स्काट ने पूछा कि आवागमन सत्य है वा असत्य और इसका क्या प्रमाण है?

**स्वामीजी**– आवागमन सत्य है। जो जैसे कर्म करता है वैसा ही शरीर पाता है; अच्छे कर्म करने से मनुष्य का और बुरे कर्म करने से पक्षी आदि का। बहुत उत्तम कर्म करने से मनुष्य देवता अर्थात् विद्वान् और बुद्धिमान् होता है। बालक उत्पन्न होते ही अपनी माता का दूध पीने लगता है, क्योंकि उस को पहले जन्म का अभ्यास बना रहता है। संसार में लोगों का धनाढ्य, कङ्गाल, सुखी, दुःखी, अनेक प्रकार के ऊँच-नीच देखने से विदित होता है कि यह सब पूर्व जन्म के कर्मों के कारण है। जीव अनादि है। यदि जीव का एक ही जन्म हो तो जगत् में सुख दुःख की व्यवस्था नहीं रहती, फिर यह भी है कि मरने के पश्चात् कयामत के दिन तक न्याय की प्रतीक्षा में जीव को हवालात में रहना होगा।

**आप आर्य नहीं हैं**– एक पादरी ने स्वामीजी से कहा कि महाराज हम भी तो आर्य हैं। स्वामीजी ने कहा कि आप सभ्य अवश्य हैं, परन्तु आर्य नहीं, क्योंकि आर्य कहते हैं श्रेष्ठ धर्मात्मा को और आपकी धर्म पुस्तक आपको ऐसा नहीं बताती। महात्मा ईसा से उनके कुछ शिष्यों ने पूछा था कि आप अन्धों और कोढ़ियों को चङ्गा कर देते हैं, परन्तु हम नहीं कर सकते। इसका क्या कारण है? महात्मा ईसा ने उत्तर दिया कि तुम में राई बराबर भी विश्वास नहीं है। जब महात्मा ईसा के शिष्यों में ही विश्वास न था तो आप लोगों में कैसे हो सकता है? बाइबिल कहीं भी नहीं कहती कि ईसा ईश्वर थे। इसके पश्चात् पादरी साहब चले गए।

मौलवियों ने शाहजहाँपुर पहुँचकर मुंशी इन्द्रमणि को लिखा कि आप यदि यहाँ आवें तो हम आपसे शास्त्रार्थ करना चाहते हैं। परन्तु जब स्वामीजी और मुंशीजी वहाँ पहुँचे तो किसी ने शास्त्रार्थ का नाम भी न लिया।

**विनोद-वार्त्ता**– चाँदापुर अवस्थिति के दिनों में ही एक दिन स्वामीजी ने मुंशी प्यारेलाल से भुने हुए चने मँगाए तो मुंशी इन्द्रमणि ने विनोद में कहा कि चनों में घुन हुआ करता है, चनों के साथ घुन भी पिस गया होगा। स्वामीजी ने भी उन्हें वैसा ही उत्तर देकर निरुत्तर कर दिया कि गेहूँ में भी तो घुन हो जाता है और गेहूँ के साथ पिस जाता है तो क्या आप आटे को फेंक दिया करते हैं।

---

५२६- मेला चाँदापुर की विस्तृत कार्यवाही 'सत्यधर्म विचार : मेला चाँदापुर' में छपी हुई है, पाठक उसे अवश्य देखें।

**स्वामीजी पूर्ण योगी थे**– मुंशी प्यारेलाल का विचार था कि स्वामीजी केवल सभाजित पण्डित ही हैं, परन्तु योग में उनकी गति नहीं है। उन्होंने अनाहत शब्द, अजपाजाप आदि के विषय में स्वामीजी से प्रश्न किए। स्वामीजी ने उनके ऐसे उत्तम उत्तर दिए कि मुंशी प्यारेलाल को स्वामीजी के पूर्ण योगी होने का विश्वास हो गया।

'*दयानन्दप्रकाश* ' में लिखा है कि चाँदापुर में ही स्वामीजी ने आप बीती निम्नलिखित कथा म० बख्शीराम और मुंशी इन्द्रमणि को सुनाई थी–

**आप–बीती कथा**– मैं जिन दिनों में एकाकी घूमता था, उन दिनों में मेरा एक ऐसे स्थान पर जाना हुआ जहाँ सभी शाक्त बसते थे। उन्होंने मेरी बड़ी सेवा–शुश्रूषा की। जब कई दिन के निवास के अनन्तर, मैं वहाँ से चलने लगा तो उन लोगों ने अत्याग्रह से मुझे ठहरा लिया, मैं समझता रहा कि ये भक्तिभाव से मुझे ठहराते हैं। ऐसे ही बहुत दिन बीत जाने पर उनका पर्व दिन आ गया। उस दिन सारे शाक्त, देवी के मन्दिर में एकत्र होकर गीत गाने लगे। उस दिन उन्होंने मुझे भी कहा कि आज हमारे मन्दिर में महोत्सव है, आप वहाँ अवश्य चलिए। मैंने बहुत समझाया कि देवी के दर्शन में मेरा निश्चय नहीं, परन्तु वे एक न सुनते थे। पाँव पकड़ कर वे कहने लगे कि यदि आज आप पर्व के दिन मन्दिर में न पधारेंगे तो हमारा सारा उत्साह भङ्ग हो जायेगा आप मूर्त्ति को नमस्कार आदि कुछ भी न करना, परन्तु हमारे लिए चले तो चलिए।

वह मन्दिर नगर से बाहर एक उजाड़ स्थान में था। उनके विवश करने पर मुझे उस मन्दिर में जाना पड़ा। उस समय वहाँ आँगन में होम हो रहा था और लोग उत्सव मना रहे थे। मुझे वह दुर्गा की मूर्त्ति दिखलाने के बहाने से भीतर ले गए। मैं सहज स्वभाव से दुर्गा की प्रतिमा के सम्मुख जा खड़ा हुआ। मूर्त्ति के पास ही एक बलिष्ठ व्यक्ति नङ्गी तलवार लिए हुए खड़ा था।

**स्वामीजी के बलिदान की तैयारी**– वहाँ वे लोग मुझे कहने लगे 'महात्माजी! माता के आगे झुककर नमस्कार अवश्य कीजिए।' मैंने उनको स्पष्ट शब्दों में कहा कि मुझसे ऐसी आशा करना दुराशामात्र है। मेरे वचनों से पुजारी चिढ़ गया और पास आकर मेरी ग्रीवा को पकड़कर मेरे सिर को नीचा करने लगा। उसके इस बर्ताव से मैं चकित हो गया, परन्तु ज्यों ही मैंने दृष्टि फिराई तो क्या देखता हूँ कि वह खड्गधारी मेरे पास आ गया है और मेरी ग्रीवा पर खड्ग बरसाना ही चाहता है।

**स्वामीजी बलिदान से कैसे बचे**– "इस दृश्य को देखकर मैं तुरन्त सावधान हो गया। मैंने झपटकर उसके हाथ से तलवार छीन ली। पुजारी तो मेरे बाएँ हाथ के एक ही धक्के से मन्दिर की दीवार से जा टकराया। मैं तलवार लिए मन्दिर के आँगन में आ गया। उस समय आँगन के सभी लोग कुल्हाड़ा, छुरी आदि शस्त्र लेकर मुझ पर टूट पड़े। द्वार की ओर देखा, तो उसमें ताला लगा हुआ था। अपने आपको बलिदान से बचाने के लिए, मैं उछलकर दीवार पर चढ़ गया और परले पार कूदकर भाग निकला। दिन भर तो मैं वहीं छिपा बैठा रहा, परन्तु जब रात का राज्य विस्तृत हो गया तो रातों–रात ग्रामान्तर में जा पहुँचा। उस दिन से मैंने शाक्त लोगों का कभी भी विश्वास नहीं किया।"

'*दयानन्दप्रकाश*' में यह भी लिखा है कि एक बार स्वामीजी गवर्नर जनरल से मिले थे। उन्होंने स्वामीजी की बातों पर बहुत प्रसन्नता प्रकट की थी और उनकी विपत्तियों को सुनकर खेद और आश्चर्य प्रकट किया था। चलते समय स्वामीजी और गर्वनर जनरल की निम्नलिखित बातचीत हुई थी–

*गवर्नर जनरल*– यदि आप चाहें तो आपकी रक्षा के निमित्त कुछ सैनिक नियत किए जाएँ और भ्रमण में कष्ट न हो, इसलिए रेल के प्रथम दर्जे का आपको पास मिल जाए।

*स्वामीजी*– (धन्यवाद देते हुए) मैं आपकी इस सहायता को स्वीकार नहीं कर सकता। इसे स्वीकार करने पर लोग मुझे राजनौकर अथवा ईसाई धर्म का नौकर समझने लग जाएँगे।

*गवर्नर जनरल*– क्या आप राजनौकरी को बुरा समझते हैं?

*स्वामीजी*– मैं संन्यासी हूँ, और सच्ची सरकार परमेश्वर का नौकर हो गया हूँ। उसी पर भरोसा रखता हूँ। इसलिए किसी मनुष्य की नौकरी करना मैं अपने लिए अच्छा नहीं समझता।

*गवर्नर जनरल*– क्या आप वर्तमान सरकार को सच्चा नहीं मानते।

*स्वामीजी*– सच्चा से मेरा तात्पर्य न परिवर्तन होने वाली से है, सो ऐसा एक ईश्वर ही है। उसका नियम अटल और निर्भ्रान्त है। मनुष्यों के नियम और न्याय तो समयानुसार बदलते ही रहते हैं।[५२७]

## शाहजहाँपुर, सहारनपुर, लुधियाना (१८७७ ई०)

चाँदापुर से स्वामीजी २२ मार्च सन् १८७७ ई० तदनुसार चैत्र शुक्ला अष्टमी संवत् १९३४ वि० (गुरुवार) को प्रस्थित हुए और (शाहजहाँपुर एक दिन ठहर कर) सहारनपुर लौट आए। वहाँ कुछ दिन विश्राम करके वैशाख कृष्णा २ संवत् १९३४ वि० अर्थात् ३१ मार्च सन् १८७७ ई० (शनिवार) को लुधियाना पहुँचे। लुधियाना में स्वामीजी का मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी ने अत्यन्त सम्मान और प्रेम से स्वागत किया। उन्होंने ही स्वामीजी के ठहरने आदि का प्रबन्ध किया और उन्हें लाला वंशीधर वैश्य के बाग में ठहराया।

**व्याख्यान–माला**– स्वामीजी के व्याख्यान जटमलजी खजाञ्ची के घर पर होते थे जिनमें सहस्रों की संख्या में श्रोता उपस्थित होते थे। आपके व्याख्यानों से नगर में घोर आन्दोलन उपस्थित हो गया था। स्वामीजी ने पूर्व ही घोषित कर दिया था कि मैं सात दिन तक प्रतिदिन व्याख्यान दूँगा। उनके बीच में कोई सज्जन न बोलें। आठवाँ दिन मैं शङ्का समाधानार्थ रखूँगा। उस दिन जिस किसी के मन में यदि कोई शङ्का मेरे व्याख्यानों को सुनकर उत्पन्न हुई हो तो वह मुझसे निवृत्त कर ले।

**पादरी और उच्च राजकर्मचारी दर्शन करने आये**– स्वामीजी ने ऐसा ही किया, परन्तु शङ्का–समाधान के दिन किसी ने कोई विशेष प्रश्न नहीं किया। पादरी वेरी साहब स्वामीजी के उपदेश सुनने बहुधा आया करते थे और निजी तौर पर भी मिलने आते थे और धार्मिक विषयों पर प्रश्न करते थे। पादरी साहब ने इञ्जील की एक प्रति भी स्वामीजी को भेंट की थी। एक दिन पादरी वेरी साहब मिस्टर कारस्टीफन जुडिशियल असिस्टैण्ट कमिश्नर और पंजाब के इन्स्पेक्टर जनरल पुलिस भी स्वामीजी से मिलने आये थे। स्टीफन साहब ने आक्षेप किया कि कृष्णजी ने जब ऐसे–ऐसे बुरे कर्म किये तो उन्हें महात्मा कहना बुद्धि–सम्मत प्रतीत नहीं होता। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि श्रीकृष्णचन्द्र पर तो ये झूठे दोष लगाये जाते हैं, उन्होंने कभी ऐसे दुष्ट कर्म नहीं किए और बुद्धि–सम्मत होने के सम्बन्ध में तो मैं क्या कहूँ?

---

५२७–सम्भव है कि शाक्तों का स्वामीजी को देवी पर बलि चढ़ाने का यत्न करना और उनका मन्दिर की दीवार पर से कूदकर उनके घेरे से निकल भागना सत्य हो। परन्तु स्वामीजी का गवर्नर जनरल से मिलना और उनका स्वामीजी की विपद्वार्त्ता सुनकर स्वामीजी की रक्षार्थ सैनिक नियत करने और रेल के प्रथम दर्जे का पास देने को कहना हमारे विश्वास की सीमा को उल्लंघन कर जाता है। यह गवर्नर जनरल कौन थे, वे स्वामीजी से कब और कहाँ मिले थे, स्वामीजी को उनसे मिलने का अवसर कैसे मिला था आदि प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। स्वामीजी ने अन्य किसी को भी यह घटना नहीं सुनाई। – *संग्रहकर्त्ता*

मैं संग्रहकर्त्ता के उक्त निष्कर्ष से पूर्णतया सहमत नहीं हूँ क्योंकि स्वामी दयानन्द ने अपने साथ अतीत में घटी इन घटनाओं का विवरण स्वयं ही म० बख्शीराम और मुंशी इन्द्रमणि को प्रत्यक्ष में बताया था। मैंने १९८५ ई० में डॉ० वेदव्रत आलोक नई दिल्ली के साथ *'ऋषि दयानन्द जीवन अनुसन्धान यात्रा– कलकत्ता'* हेतु जाकर वहाँ के राष्ट्रीय पुस्तकालय में एक पुस्तक– 'Lord North Brook's Indian Administration 1872-76' का २४ अप्रैल, १९८५ ई० को अध्ययन किया था जिससे स्पष्ट है कि वर्ष १८७२–७६ ई० में लार्ड नार्थ ब्रुक ही भारत के गवर्नर जनरल थे और उन्हीं से स्वामी दयानन्द ने अपने कलकत्ता प्रवास के समय १८७२–७३ ई० में भेंट की थी जिसका विवरण हम यथास्थान पीछे पृष्ठ–३२६ चुके हैं। *'दयानन्द–प्रकाश'* में दिया गया उक्त विवरण भी उसी विवरण का विस्तार है। बाद में मुम्बई में भी उनकी परस्पर भेंट कराने का प्रयत्न हुआ था जो फलीभूत नहीं हो सका था। – *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

**परमेश्वर की आत्मा कबूतर के रूप में**– जब बुद्धि इस बात को सह लेती है कि परमेश्वर की आत्मा कबूतर के रूप में एक मनुष्य पर उतरी तो कृष्णजी वाली बात को बुद्धि के सहने में कुछ अधिक कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसे सुनकर साहब बहादुर चुप रह गए।

**स्वामीजी असिस्टैण्ट जुडीशियल कमिश्नर के बँगले पर**– एक दिन स्वामीजी मुंशी कन्हैयाल अलखधारी के साथ कारस्टीफन साहब से मिलने उनके बँगले पर भी गए थे और उनसे अनेक विषयों पर वार्त्तालाप किया था। स्टीफन साहब इस वार्त्तालाप से बहुत प्रसन्न हुए थे और वेदभाष्य के ग्राहक बने तथा चलते समय कुछ रुपये भी स्वामीजी को भेंट किए।

**मेरा मुख न देखो मेरी बात सुनो**– स्वामीजी का दूसरा व्याख्यान हुआ, उसे एक ब्राह्मण भी सुनने आया था। उसने अपने एक साथी से कहा कि यह दुष्ट है, इसका मुख तक देखना भी धर्म-विरुद्ध है, चलो! यह बात स्वामीजी ने भी सुन ली। स्वामीजी ने उससे कहा कि मेरे मुख में तो कोई विशेष बात नहीं है जिसे तुम देखो, यदि उसके देखने में तुम्हें ग्लानि है तो मेरे पीछे खड़े हो जाओ, मेरी केवल बात सुन लो।

**चिड़िया हाथ से निकल गई**– बनत, जिला मुजफ्फरनगर, का रहने वाला रामशरण गौड़ ब्राह्मण एक बार अलवर से दिल्ली जा रहा था। मार्ग में उसके वस्त्र चोरी चले गये। केवल एक धोती ही उसके पास रह गई। वह इसी दशा में दिल्ली पहुँचा। घण्टाघर पर एक अँग्रेज पादरी अपने मत का प्रचार कर रहा था। उसने दुर्गापाठ का एक श्लोक अशुद्ध पढ़ा तो रामशरण ने उसकी अशुद्धी पकड़ ली। इस पर पादरी ने उससे कहा कि यदि तुम नौकरी करना चाहो तो हम तुम्हें नौकर रख सकते हैं। रामशरण ने यह स्वीकार कर लिया। पादरी ने ईसाई कन्याओं के पढ़ाने पर पाँच रुपये मासिक पर उसे नौकर रख लिया और वह उसे अपने साथ लुधियाना ले आया। यहाँ वह ६ मास तक नौकर रहा। इस बीच उसे वह पादरी, बेरी साहब और अन्य दो पादरी ईसाई मत ग्रहण करने का उपदेश देते रहे। उसका मन भी उक्त मत की ओर फिर गया। यहाँ तक कि एक दिन उसने गिरजाघर जाकर उसके मण्डन में एक वक्तृता भी थी। पादरी लोगों ने उसके बपतिस्मा लेने का दिन नियत कर दिया और वे किसी कार्यवश लाहौर चले गए। लाहौर से लौटकर वे चार-पाँच दिन में आने वाले थे और उनके आने पर उसका बपतिस्मा होने वाला था। इतने में ही स्वामीजी लुधियाना पहुँच गए। लोगों ने स्वामीजी से निवेदन किया कि किसी प्रकार रामशरण को ईसाई होने से बचाइये। स्वामीजी ने उसे उपदेश दिया जिससे वह ईसाई न हुआ। उससे ईसाइयों की नौकरी भी स्वामीजी ने छुड़वा दी। पादरी लोग जब लुधियाना से वापस आए तो देखा कि चिड़िया उनके हाथ से निकल गई है। और कुछ तो वे न कर सके, परन्तु जलकर उन्होंने रामशरण की तीन रुपये मूल्य की पुस्तकें उसे न दीं।

**पुनर्जन्म की विचित्र सिद्धि**– एक दिन एक ईसाई ने पुनर्जन्म पर शङ्का की। स्वामीजी ने उससे कहा कि खाना-पीना, सोना आदि देहधारी जीव के लिए सम्भव है या देहरहित के। उसे कहना पड़ा कि देहधारी के लिए ही सम्भव है। फिर उससे कहा कि तुम यह मानते ही हो कि जीव का एक शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करना ही पुनर्जन्म है। उसने कहा कि ठीक है। तब स्वामीजी ने कहा कि जो आत्माएँ स्वर्ग में जाकर अनेक भोग भोगेंगी वे बिना देह धारण किए कैसे भोगेंगी और जब देह धारण करेंगी तो क्या वह उनका पुनर्जन्म न होगा। इस पर उस ईसाई को कोई उत्तर न आया।

**संस्कृत बोल चुके अब भाषा बोलो**– एक दिन एक ब्राह्मण स्वामीजी के पास आया और संस्कृत में बात-चीत करने लगा। स्वामीजी भी उससे संस्कृत में ही बोलते रहे। जब अधिक देर हो गई तो स्वामीजी ने उससे कहा कि अब तो आप जान गए होंगे कि मैं संस्कृत जानता हूँ। अब आप भाषा में बात-चीत करें जिसे पास बैठे हुए सज्जन भी समझ सकें।

**भूत के खण्डन में तमाशा**– एक दिन स्वामीजी ने भूत के खण्डन पर एक तमाशा दिखाया। जिस कमरे में स्वामीजी ठहरे हुए थे उसके तीन दरबाजे थे और उसमें आमने-सामने दो ताक थे। स्वामीजी ने दोनों ताकों में दीपक जलाकर रखवाए। दोनों ताकों में १०-१२ गज का अन्तर था। स्वामीजी ने पहले एक ताक का दीपक बुझा दिया। फिर दूसरे ताक का भी बुझा

दिया। दूसरे ताक का दीपक बुझा देने पर पहले ताक का दीपक स्वयमेव जल उठा और जब उसे फिर बुझाया तो पहले ताक का जल उठा। कई बार ऐसा किया। तब स्वामीजी ने कहा कि यह विद्या की बात है, भूत वा जादू कोई वस्तु नहीं है। एक पुरुष की स्त्री को भूत का आवेश कहा जाता था तो स्वामीजी ने कहा था कि उसे कोई रोग है अथवा वह फैल भरती है।

## लाहौर (१८७७ ई०)

लुधियाना से १८ अप्रैल को मध्याह्नोत्तर में चलकर वैशाख शुक्ला ६ संवत् १९३४ वि० अर्थात् १९ अप्रैल सन् १८७९ ई० (गुरुवार) को स्वामीजी लाहौर पधारे। रेल्वे स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए पण्डित मनफूल, भूतपूर्व मीरमुंशी गवर्नमेण्ट पञ्जाब, मुंशी हरसुखराय, अध्यक्ष *'कोहेनूर'* समाचार-पत्र तथा ब्राह्मसमाज के और सत्सभा के कतिपय सभासद् उपस्थित थे। इन्हीं लोगों ने स्वामीजी से लाहौर पधारने की प्रार्थना की थी। ब्राह्मसमाज के सदस्यों का तो उनके बुलाने में यह अभिप्राय था कि यदि स्वामीजी ब्राह्मसमाज के सभासद् बन जाएँगे तो उक्त समाज का बल बहुत बढ जाएगा और फिर वे लोग भी उसमें सम्मिलित हो जाएँगे जो इस कारण से सम्मिलित नहीं होते हैं कि ब्राह्म लोगों के सुधार के कार्य ने विजातीय रूप धारण कर लिया है। पण्डित मनफूल का भी एक अभिप्राय था। उनका एक पुत्र इँग्लैण्ड से बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके आया था। उसकी विवाहिता स्त्री का देहान्त हो गया था और वह एक मेम से विवाह करना चाहता था। पण्डित मनफूल इसका निषेध करते थे परन्तु उनका सुपुत्र उनके कथन पर कान न देता था। उन्होंने समझा था कि सम्भव है कि स्वामीजी के समझाने से वह मान जाये। कहते हैं कि स्वामीजी ने उसे समझाया भी, परन्तु वह न माना और यह कहा कि जब आप गान्धार आदि देशों की स्त्रियों से विवाह करने का समर्थन करते हैं तो इस विवाह का क्यों निषेध करते हैं। स्टेशन पर चार घोड़े गाड़ियाँ स्वामीजी के लाने के लिए गई थीं। एक में स्वामीजी, पण्डित मनफूल और मुंशी हरसुखराय सवार हुए, एक में उनके साथ के मनुष्य और भृत्य बैठे तथा एक में उनका सामान और पुस्तकें रखी गईं।

**ब्राह्म-समाजियों का अशिष्टाचार**- स्वामीजी को दीवान रतनचन्द दाढ़ी वाले के बाग में ठहराया गया। उनके भोजन का व्यय-भार ब्राह्म लोगों ने अपने ऊपर लिया था और इसके लिए उन्होंने चन्दा भी एकत्रित किया था। दो सप्ताह तक वही सब व्ययभार वहन करते रहे, परन्तु जब उन्होंने देखा कि उनका रङ्ग स्वामीजी पर नहीं चढ़ता और वे ब्राह्मसमाज की शिक्षा का भी खण्डन करते हैं तो वे चिढ़ गए और उन्होंने व्यय देना बन्द कर दिया। इतना ही नहीं बल्कि दो सप्ताह में जो २५ रुपये व्यय हुए थे वे भी स्वामीजी से वसूल कर लिए। स्वामीजी का तो इससे कुछ बिगड़ा नहीं, उल्टा ब्राह्मसमाजियों का ही इसमें अपयश हुआ।

**वेद पर व्याख्यान**- लाहौर में स्वामीजी का प्रथम व्याख्यान वेद और वेदोक्त-धर्म पर २५ अप्रैल सन् १८७७ ई० को हुआ। श्रोताओं की संख्या ५०० के लगभग थी। २८ अप्रैल के *'कोहेनूर'* में इस व्याख्यान का सारांश छपा था। उसमें स्वामीजी ने कहा था कि चारों वेद अनादि हैं, जब-जब सृष्टि होती है तब-तब वेद प्रकट होते हैं और प्रलय होने पर वे अन्तर्हित हो जाते हैं। वर्त्तमान सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने वेदों को अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा - इन चार ऋषियों के हृदय में प्रकट किया। वेदों में सब विद्याओं के मूलतत्त्व निहित हैं। वेद की ११२७ शाखाएँ हैं जिनमें अनेक प्रकार की विद्याएँ हैं वेद के तीन विषय हैं, ज्ञान, उपासना, कर्म-काण्ड। देवता कोई विशेष योनि नहीं है, प्रत्युत, विद्वान् और बुद्धिमान् मनुष्यों को ही *'देव'* कहते हैं।

**अग्निहोत्र करने का हेतु**- विश्वकर्मा कोई विग्रहवान् देव (अ-मानुष) नहीं था। वह एक अत्यन्त निपुण कला-कौशलाभिज्ञ था। अग्नि में हवन करने का प्रयोजन केवल वायु और वृष्टि जल की शुद्धि है। पहले सब मनुष्य प्रतिदिन अग्निहोत्र करते थे। अमावस्या और पूर्णिमा को विशेष यज्ञ होते थे और दीपावली, होली आदि पर बड़े-बड़े यज्ञ हुआ करते थे। तब वायु

और जल शुद्ध रहते थे और मनुष्य तथा पशुओं के मल-मूत्र की दुर्गन्ध से जो वायु गन्दी होती है हवन से उसकी शुद्धि होती रहती थी और जैसे रोग और मरी आजकल होते हैं उनका नाम तक न था।

**वेद पढ़ने का मनुष्यमात्र को अधिकार**- वेदों के पढ़ने का मनुष्यमात्र को अधिकार है। यजुर्वेद के २६वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में परमेश्वर ने कहा है कि 'जिस प्रकार मैंने इस कल्याणकारी वाणी का सब मनुष्यों के लिए उपदेश किया है, ऐसा ही तुम भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अतिशूद्र को उसका उपदेश करते रहो।' स्वामीजी ने अत्यन्त खेद प्रकट करते हुए कहा कि स्वार्थ फैल रहा है और वेदों के असत्य अर्थ करके जनता को ठगा जा रहा है।

**वैदिक अलङ्कार**- वेद में जो अलङ्कार आए हैं उनकी पुराणों में कहानियाँ गढ़ ली गई हैं और वे सत्य घटनाओं के रूप में लोगों के सामने रखी जाती हैं, जैसे इन्द्र का गौतम ऋषि की स्त्री से व्यभिचार करना, ब्रह्मा का अपनी पुत्री के पीछे कामातुर होकर भागना, इत्यादि। (इन्द्र नाम सूर्य का, गौतम चन्द्रमा का और अहिल्या रात्रि का है। रात्रि का पति चन्द्रमा है, जब सूर्य निकलता है तो रात्रि शोभाहीन हो जाती है। यही उसके साथ जार कर्म करना है। उषा सूर्य की ही पुत्री है क्योंकि सूर्य के प्रकाश से ही उसकी उत्पत्ति होती है, उषा सूर्योदय से पहले दिखाई देती है उसके पीछे सूर्योदय होता है यही ब्रह्मा का अपनी पुत्री के पीछे भागना है।)[५२८]

**पुनः उसी विषय पर व्याख्यान**- दूसरा व्याख्यान भी स्वामीजी ने बावली साहब में वेद और वेदोक्त धर्म पर ही दिया, क्योंकि पहले व्याख्यान में विषय समाप्त नहीं हुआ था। इस व्याख्यान में आपने वर्णन किया कि वर्णव्यवस्था गुणकर्मानुसार है, जन्म पर निर्भर नहीं है। ब्राह्मण शूद्र हो सकता है। धर्म खाने-पीने में नहीं है, एक वर्ण दूसरे वर्ण के हाथ का छुआ वा पकाया हुआ भोजन न खावें, ऐसा प्रतिबन्ध वेदों में कहीं नहीं है। बालविवाह शास्त्र विरुद्ध और अत्यन्त हानिकारक है। विधवाओं का पुनर्विवाह शूद्रों में और नियोग द्विजातियों में शास्त्रसम्मत है। मूर्त्तिपूजा सर्वांश में वेद-विरुद्ध है।

**स्वामीजी के विरुद्ध अपवाद**- पौराणिकों में स्वामीजी के व्याख्यानों से खलबली मच गई, उन्हें अपने जन्मसिद्ध अधिकारों के जाते रहने और जीविका छिन जाने का भय हुआ। वे स्वामीजी के तीव्र आक्रमणों का उत्तर न दे सकते थे, साथ ही उन्हें सह भी न सकते थे। उनकी दशा उस सर्प की सी थी जिसे कोई मनुष्य सता रहा हो, परन्तु वह उसे डस न सकता हो और रोष में भरकर बार-बार भूमि पर अपना फन पटक रहा हो। जब उनसे कुछ न बन पड़ा तो वे स्वामीजी के विरुद्ध अलीक और द्वेषपूर्ण जनरव फैलाने लगे। वे कभी उन्हें ईसाइयों का गुप्तचर बताते, कभी उन्हें नास्तिक और देव-निन्दक ठहराते। लाहौर के प्रसिद्ध पौराणिक पण्डित भानुदत्त और हरप्रसाद ने तथा फिल्लोर के प्रसिद्ध पं० श्रद्धाराम ने भाई नन्दगोपाल की धर्मशाला में स्वामीजी के आक्षेपों के उत्तर देने का प्रयत्न भी किया और मूर्त्तिपूजा के मण्डन पर व्याख्यान भी दिए, परन्तु परिणाम कुछ न निकला। जनता की रुचि और श्रद्धा स्वामीजी के उपदेशों में बढ़ती ही गई। जब वे सब प्रकार से हतोत्साह, हतोद्यम और हताश हो गए तो और भी ओछे हथियारों पर उतर आए। वे दीवान रतनचन्द दाढ़ी वाले के पुत्र दीवान भगवानदास के पास गए जिनके बाग में स्वामीजी ठहरे हुए थे और उनसे कहा कि दयानन्द को ईसाइयों ने उत्कोच देकर सब मनुष्यों को ईसाई बनाने के लिए नियत किया है, ऐसे नास्तिक को अपने बाग में ठहराने से आपको घोर पातक लगेगा। दीवान साहब उनकी बातों में आ गए और उन्होंने स्वामीजी से अन्य स्थान पर जाकर ठहरने के लिए कहा। यहाँ क्या देर थी, स्वामीजी ही तुरन्त उनके बाग सें निकल खड़े हुए। उन्हें इसकी कुछ भी चिन्ता न हुई कि कहाँ जाकर ठहरेंगे। कहीं भी आश्रय न मिलता तो वे खुले मैदान में ही रहकर उपदेश करते और अपने मन पर तनिक भी मैल न लाते। कोई पौराणिक हिन्दू तो उन्हें क्यों आश्रय देने वाला था, ब्राह्म लोगों ने भी उन्हें आश्रय न दिया, कारण यह कि स्वामीजी के दो व्याख्यान ब्राह्म-मन्दिर में हो चुके थे जिनमें आपने ब्राह्म लोगों की आशा और सिद्धान्तों के प्रतिकूल वेदों का ईश्वरोक्त होना और

५२८- इन तथा अन्य वैदिक अलङ्कारों के लिए देखो स्वामीजी कृत *'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'* तथा वेदभाष्य। *-संग्रहकर्त्ता*

आवागमन का सत्य होना सिद्ध किया था। इससे ब्राह्म लोगों के दो मुख्य सिद्धान्तों का खण्डन होता था जो उन्हें बहुत ही अखरा और वे भी स्वामीजी से द्वेष करने लगे थे।

**एक मुसलमान की शिष्टता**- इस अवसर पर जिसने स्वामीजी को आश्रय दिया वह खानबहादुर डाक्टर रहीमखाँ थे। उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपनी कोठी स्वामीजी के लिए दे दी। इस उदारता के लिए आर्यसमाज उनका सदा के लिए ऋणी रहेगा।

**मैं पाषण के शिव की प्रतिष्ठा नहीं करता**- एक दिन एक पुरुष ने स्वामीजी से कहा कि आप संन्यासी होकर भी संन्यासधर्म के विरुद्ध कार्य करते हैं। स्वामीजी ने उससे पूछा, कैसे? उसने उत्तर दिया कि आप शिवजी की निन्दा करते हैं। स्वामीजी ने कहा कि मैं उस कल्याणस्वरूप शिव का इतना सम्मान करता हूँ जितना और कोई कर सकता है, हाँ आपके पाषाण के शिव की प्रतिष्ठा नहीं करता और न वह प्रतिष्ठा के योग्य ही है।

**पुष्प तोड़ा, बुरा किया**- एक दिन पं० शिवनारायण अग्निहोत्री स्वामीजी को अर्पण करने के लिए एक पुष्प लाए। स्वामीजी ने उनसे कहा कि आपने यह बुरा किया, क्योंकि प्रकृति ने उसे जितने दिन तक सुगन्धि फैलाने के लिए उत्पन्न किया था उससे पूर्व ही आपने उसे तोड़ डाला। अब यह शीघ्र ही सड़ जाएगा और दुर्गन्धि फैलाएगा। यदि यह वृक्ष पर लगा रहता तो बहुत से मनुष्यों को लाभ पहुँचाता और जब स्वयं सूख कर गिरता तो खाद का काम देता।

**प्रलोभन**- डाक्टर रहीमखाँ की कोठी में जाने से पूर्व एक दिन पं० मनफूल ने स्वामीजी से कहा कि यदि आप मूर्त्तिपूजा का खण्डन न करें तो हिन्दू भी आपसे अप्रसन्न न होंगे और महाराजा जम्मू व काश्मीर भी आपसे प्रसन्न होंगे।

**मैं महाराजा काश्मीर को प्रसन्न करूँ वा ईश्वर को**- पं० मनफूल को यह बात कहते हुए यह ध्यान नहीं रहा कि वे एक ऐसे महात्मा से बातें कर रहे हैं कि जिनकी दृष्टि में संसार के बड़े-बड़े प्रलोभन भी तुच्छ और हेय हैं, जो बड़े से बड़े मनुष्य की प्रसन्नता के लिए भी वेदोक्त पथ से तिल भर भी विचलित नहीं हो सकते और जो उसकी अप्रसन्नता की अणुमात्र भी चिन्ता नहीं करते। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं महाराजा जम्मू व काश्मीर को प्रसन्न करूँ, अथवा ईश्वर की आज्ञा का पालन करूँ, जो वेदों में अङ्कित है।

**पादरी हूपर से वार्त्तालाप**- एक दिन डाक्टर हूपर जो एक संस्कृतज्ञ पादरी थे, स्वामीजी के पास आए। वह दिन शङ्का-समाधान के लिए नियत था। डाक्टर रहीमखाँ की कोठी में आने के पश्चात् स्वामीजी ने यह नियम कर दिया था कि वे एक दिन व्याख्यान देते थे और एक दिन शङ्का-समाधान करते थे। पादरी साहब से प्रश्नोत्तर संस्कृत में हुए थे जो निम्न प्रकार थे-

*पादरी साहब*- वेदों में अश्वमेध, गोमेध आदि का वर्णन है उस समय लोग घोड़े, गौ आदि की बलि देते थे। इस विषय में आप क्या कहते हैं?

*स्वामीजी*- वेदों में अश्वमेध, गोमेध का अर्थ घोड़े, गौ आदि की बलि नहीं है। उनके अर्थ इस प्रकार हैं-

*राष्ट्रं वा अश्वमेधः।* श० ब्रा० १३।१।६।२

*अन्नं हि गौः।* श० ब्रा० १३।४।३१।२२

घोड़े, गौ आदि पशु तथा मनुष्य को मारकर होम करना कहीं नहीं लिखा है। केवल वाममार्गियों ने ग्रन्थों में ऐसा अनर्थ किया है। यह बात वाममार्गियों ने चलाई और जहाँ-जहाँ ऐसा लेख है वहाँ-वहाँ इन्हीं लोगों ने प्रक्षिप्त किया है।

राजा न्याय से प्रजा का पालन करे यही अश्वमेध है। अन्न, इन्द्रियों, अन्तःकरण और पृथिवी आदि को पवित्र करने का नाम गोमेध है। जब मनुष्य मर जाए तब उसके शव को विधिपूर्वक जलाने का नाम नरमेध है। व्याकरण और निरुक्त के प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है।

*पादरी साहब*– वेदों के अनुसार जातिभेद किस प्रकार है?

*स्वामीजी*– वेदों में जाति गुण-कर्मानुसार है।

*पादरी साहब*– यदि मेरे गुण-कर्म अच्छे हों तो क्या मैं भी ब्राह्मण कहला सकता हूँ?

*स्वामीजी*– निस्सन्देह। यदि आपके गुण-कर्म ब्राह्मण होने के योग्य हों तो आप भी ब्राह्मण कहला सकते हैं। देवेन्द्र बाबू ने पादरी हूपर को इस प्रश्नोत्तर के सम्बन्ध में एक पत्र लिखा था। उसके उत्तर में पादरी साहब ने लिखा था कि मैंने स्वामी दयानन्द का एक व्याख्यान सुना था। व्याख्यान में उन्होंने कहा था कि जिस किसी को कोई प्रश्न पूछना हो वह व्याख्यान के पश्चात् पूछ सकता है। तदनुसार मैंने गोमाँस-भक्षण के विषय में उनकी सम्मति पूछी थी। उन्होंने यदि मुझे ठीक स्मरण है तो यह उत्तर दिया था कि यद्यपि मैं उसे पाप कह कर उसका निषेध नहीं कर सकता तथापि उसका खाना वाञ्छनीय नहीं है।

{हमारी सम्मति में स्वामीजी के लिए गोमाँस-भक्षण को पाप न कहना ऐसा ही है जैसे दिन को रात कहना। क्या दयानन्द, जिसने गोरक्षा के लिए इतना अतुल प्रयत्न किया, जो गौ को देशोन्नति का बड़ा भारी साधन समझता था, जो अहिंसा-धर्म का पालन करने वाला था, गोमाँस-भक्षण को पाप न बतलाता? समस्त शास्त्र, वैदिक और पौराणिक, प्राचीन और अर्वाचीन, एक स्वर से जिस गौ के वध को महापातक कहते चले आए हैं दयानन्द-सा शास्त्रज्ञ और शास्त्रनिष्ठ उसी गौ के माँस को जो बिना उसके वध के प्राप्त नहीं हो सकता, भक्षण करने में पाप न बताए! ऐसा हो नहीं सकता, यह अचिन्तनीय है, यह असम्भव है। – *संग्रहकर्त्ता*}

**लाट साहब के मन्त्री तथा शिक्षाध्यक्ष से मिलन**– एक दिन स्वामीजी पञ्जाब के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के सेक्रेटरी जे० ग्रिफिथ साहब से मिले थे और एक पञ्जाब के डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन से भी मिले थे। सेक्रेटरी ने लेफ्टिनेण्ट गवर्नर से मिलने के लिए एक दिन स्थिर कर दिया। इसी सम्बन्ध में स्वामीजी ने १४ मई सन् १८७७ ई० को एक पत्र लाट महोदय को लिखा था कि मैं आपसे मिलने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जैसा कि आपके सेक्रेटरी ने स्थिर कर दिया है। इसके पश्चात् किसी तारीख[५२९] को स्वामीजी उनसे भेंट करने गए। लाट महोदय से स्वामीजी ने यह प्रस्ताव किया कि मेरे वेदभाष्य की सरकार सहायता करे और उसे सरकारी कॉलेजों में पढ़ाया जाए।

**वेदभाष्य की सहायता का अनुरोध**– स्वामीजी ने प्रचलित संस्कृत पाठविधि के दोष भी लाट महोदय को दिखाये थे और उन्होंने महाराज से एक पाठविधि बना कर भेजने का अनुरोध किया था।

**पाठविधि बनाकर भेजी**– जिसके अनुसार स्वामीजी ने एक पाठविधि[५३०] बनाकर भेज दी थी परन्तु उसका कुछ परिणाम न निकला।

**पुनः अनुरोध**– १४ मई सन् १८७७ ई० को ही स्वामीजी ने एक दूसरा पत्र पञ्जाब गवर्नमेण्ट को भेजा था जिसमें सरकार से अनुरोध किया गया था कि सरकार वेदभाष्य की धन से सहायता करे और वह सरकारी कॉलेजों में पढ़ाया जाए। लाट महोदय ने उस पत्र को पाकर दो प्रतियाँ वेदभाष्य के क्रय करने की आज्ञा दी और वेदभाष्य के सम्बन्ध में अन्तिम निश्चय करने का भार पञ्जाब विश्वविद्यालय की सेनेट और डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन पर अर्पित कर दिया।

५२९- स्वामीजी १४ मई १८७७ सोमवार को लगभग १० बजे पञ्जाब के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर से मिले। देखो ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार पृष्ठ ६३ का नोट।

५३०- दुःख है कि स्वामीजी ने जो पाठविधि बनाकर पञ्जाब सरकार को भेजी थी, उसकी प्रतिलिपि भी नहीं रखी गई। यदि वह होती तो बड़ी उपयोगी होती। उससे प्रकट होता कि गुरुकुलों के अतिरिक्त आधुनिक सरकारी विद्यालयों में संस्कृत किस ढङ्ग से पढ़ानी चाहिए और प्रचलित पाठविधि में क्या-क्या दोष हैं। – *संग्रहकर्त्ता*

**सरकार वेदभाष्य की सहायता नहीं कर सकती**– १४ नवम्बर सन् १८७७ ई० के पत्र संख्या ४३१८ द्वारा स्वामीजी को सूचना दी गई कि लेफ्टिनेण्ट गवर्नर ने आपके मनोरञ्जक वेदभाष्य पर पूरा विचार कर लिया है, परन्तु उन्हें शोक है कि वह ऐसा नहीं है जो प्रकाशन में सरकारी सहायता पाने का अधिकारी हो।

**सरकारी समालोचकों का उत्तर**– स्वामीजी को उन विद्वानों की सम्मति किसी प्रकार ज्ञात हो गई जिनके पास पञ्जाब सरकार ने उनका वेदभाष्य सम्मति के लिए भेजा था। उन्होंने समालोचकों की सम्मतियों का उत्तर लिखकर आर्यसमाज लाहौर के पास भेज दिया कि इसका अनुवाद अँग्रेजी में करके सरकार के पास भेज दिया जाए। स्वामीजी का उत्तर निम्न प्रकार था–

**मिस्टर ग्रिफिथ, प्रिंसिपल संस्कृत कॉलेज बनारस के आक्षेपों का उत्तर**– [५३१]

मुझे इस बात के कहने की आज्ञा हो कि उसकी सम्मति की कोई-कोई बात उपेक्षा करने योग्य है। ५००० वर्ष से वेदों का अभ्यास नहीं रहा। महाभारत से पहले सब कार्य वैदिक रीति के अनुसार होते थे। इसलिए वे सदा पढ़े जाते थे और जो शब्द उनमें आए हैं उनके ठीक अर्थ लिए जाते थे। अत: जो भाष्य उस समय किए गए थे उन्हें पक्का मार्गदर्शक समझना चाहिए। सायण का भाष्य जो बहुत देर पीछे हुआ ऐसा नहीं हो सकता। पुराने भाष्य कण्ठस्थ किए जाते थे। कोई विद्यालय भी ऐसा न था जहाँ वेदों की व्याख्या न की जाती हो। पुराने भाष्यों के बिना वेदों की व्याख्या असम्भव है। मेरा भाष्य सर्वथा उन पर आश्रित है। जो मन्त्र अब तक छप चुके हैं उन पर मैंने विश्वास है कि यदि मिस्टर ग्रिफिथ के पास वे पुराने भाष्य या वे प्रमाण होते जो मैंने दिए हैं तो वे उस सम्मति के सर्वथा विरुद्ध सम्मति न देते जो अब उन्होंने दी है। सायण, महीधर और उवट के भाष्य पूर्व समय के भाष्यों से सर्वथा भिन्न हैं और यही वे भाष्य हैं जिनका अब तक मैक्समूलर और विलसन ने अनुवाद किया है, इसलिए वे प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते और इन्हीं पुस्तकों का मिस्टर ग्रिफिथ आदि ने प्रमाण माना है तथा इन्हीं पुस्तकों से मि० ग्रिफिथ और अन्य समालोचक भ्रम में पड़े हैं। मुझ पर यह अभियोग लगाया गया है कि मैंने शब्दों के वे अर्थ लिए हैं जिनसे मेरा प्रयोजन सिद्ध होता है, परन्तु यह अभियोग ठीक नहीं है, क्योंकि मैंने स्थल-स्थल पर ऐतरेय, शतपथ, निरुक्त और पाणिनीय व्याकरण के प्रमाण दिए हैं। मैं ऐसा विचार करने से नहीं रुक सकता कि मिस्टर ग्रिफिथ ने मेरी पूरी पुस्तकें पढ़े बिना ही सम्मति दे दी है अन्यथा मैं नहीं जानता कि वे मेरे परिश्रम को व्यर्थ क्यों समझते हैं। मैंने वेदभाष्य के १००० से अधिक ग्राहक बना लिए हैं और मेरे वेदभाष्य के लिए प्रतिदिन बहुतायत से निवेदन-पत्र आ रहे हैं। मैं यह बात कह दूँ कि मेरे भाष्य के ग्राहकों में संस्कृत और अँग्रेजी दोनों भाषाओं के विद्वानों के नाम अङ्कित हैं। अन्त में मिस्टर ग्रिफिथ कहते हैं कि जिन मन्त्रों में प्रत्यक्ष में बहुत से देवताओं का वर्णन है उनका विद्वान् और अविद्वान् के लिए सन्तोषजनक उत्तर नहीं हो सकता। मैं चाहता था कि वे ऐसे कुछ मन्त्र उद्धृत कर देते और फिर देखते कि सन्तोषजनक उत्तर दिया जाता है वा नहीं? उपर्युक्त स्थापना की पुष्टि में कोलब्रुक की पुस्तक '*दि वेदाज*' चार्ल्स कौलमैन की '*हिन्दू-माईथालोजी*' रेवरेण्ड केरट की '*भगवद्गीता*' और मैक्समूलर की '*हिस्ट्री ऑफ एंशेण्ट संस्कृत लिटरेचर*' से निम्न उद्धरण दिये जाते हैं–

१– साधारण रीति से देखने से ज्ञात हो जाता है कि वेद के देवता इतने ही थे जितनों को प्रार्थनाओं के रचयिताओं ने आहूत किया है, परन्तु भारत की पवित्र पुस्तक के अति प्राचीन भाष्यों के अनुसार वे अनगिनत मनुष्यों और पदार्थों के नाम तीन देवताओं में घट जाते हैं और अन्तत: एक ईश्वर में। निघण्टु या वैदिक शब्द तालिका देवताओं की तीन सूचियों में समाप्त हो जाती है, पहले वह जो आग के समानार्थक हैं, दूसरे वह जो वायु के, तीसरे वह जो सूर्य के। निरुक्त के अन्तिम भाग में जिसमें देवताओं का ही वर्णन है ये दोनों वर्णन आए हैं कि सब तीन देवता हैं और ये एक ईश्वर को ही प्रकट करते हैं,

५३१– यह उत्तर ऋषि दयानन्द के पत्रव्यवहार ग्रन्थ में पृष्ठ ७०-७४ तक छपा है, वहाँ कुछ विस्तार से है।

और यह वेदों के कई मन्त्रों से सिद्ध होता है, और यह स्पष्ट और खुले रूप में वेद के इंडेक्स में निरुक्त और वेद के प्रमाण से प्रकट किया है। इससे प्रकट होता है (- - - - -) कि भारत का पुराना धर्म जो कि भारत की पवित्र पुस्तक पर अवलम्बित है, केवल एक ही ईश्वर को मानता है।

२- हिन्दुओं के पूर्व पुरुषों का धर्म जो वेद में प्रकट किया गया है वह महान् और केवल एक ईश्वर में ही विश्वास तथा उसकी उपासना करता है जो सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है जिसके गुण वेद प्रभावोत्पादक शब्दों में प्रकट करता है। यह गुण वह कहता है कि आलङ्कारिक हैं जो केवल अलङ्कार के रूप में ही उसकी तीन प्रकार की शक्तियों- सर्जन, धारण, संहरण को प्रकट करते हैं।

३- यह उच्च बातें हमें यह विश्वास दिलाने से नहीं रोक सकतीं कि वेद केवल एक ईश्वर को ही मानता है जो कि सर्वशक्तिमान्, अनन्त, अनादि, स्वयम्भू और सब सृष्टि का स्वामी है। मैं एक और सूक्त उद्धृत करता हूँ कि जिसमें ईश्वर के एकत्व को बल के साथ और खुले तौर पर वर्णन किया गया है कि जो आर्यजाति को स्वाभाविक एकेश्वरवादी न कहने से पहले हमें सङ्कोच में डाल देता है।

४- इसी सूक्त में एक और मन्त्र है कि जो खुले तौर पर एक ईश्वर के अस्तित्व को प्रकट करता है। "वह ईश्वर कई नामों से पुकारा जाता है। मेधावी पुरुष उसे इन्द्र, मित्र, वरुण कहते हैं, फिर वह अच्छे पंखोंवाला (सुपर्ण) दिव्य, गरुत्मान् है। उस एक को ही मेधावी पुरुष कई प्रकार से कहते हैं-

*इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।*
*एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।* ऋग्वेद (१/१६४/४६)

**मिस्टर टानी प्रिंसिपल प्रेसिडेंसी कॉलेज कलकत्ता-**

मिस्टर टानी ऋग्वेद के पहले मन्त्र में अग्नि शब्द का अनुवाद 'आग' करते हैं, परन्तु उन्हें उनकी पूर्व स्थिरीकृत सम्मति भ्रम में डालती है कि आग भी उपासना की वस्तु है। अग्नि तत्व की उपासना कभी किसी ऋषि ने नहीं की। अग्नि शब्द प्राकृतिक अग्नि के अर्थों में केवल उन्हीं मन्त्रों में आता है जिनमें सांसारिक व्यवहार का वर्णन है। परन्तु अन्य मन्त्रों में जिनमें प्रार्थना, उपासना का वर्णन है यह ईश्वर का एक नाम है और यह मेरी गढ़न्त या कल्पना नहीं है, प्रत्युत इसके दोनों अर्थ ब्राह्मणों और निरुक्त में स्पष्टतया प्रकट हैं। अन्त में मिस्टर टानी ने यह सम्मति दी है कि मेरा वेदभाष्य सायण और अँग्रेजी के भाष्यों का खण्डन करता है। इसके कारण मुझ पर कोई दोष नहीं आ सकता। यदि सायण ने भूल की है और अँग्रेजी अनुवादकर्त्ताओं ने उसे अपना मार्गप्रदर्शक बनाना अच्छा समझा है तो यह भ्रान्ति अधिक समय तक नहीं रह सकती, केवल सच्चाई ही ठहर सकती है और झूठ उन्नतिशील सभ्यता की कसौटी पर अवश्य गिरेगा।

**पण्डित गुरुप्रसाद, हेड पण्डित ओरियण्टल कॉलेज लाहौर-**

पण्डितजी कहते हैं कि छापनेवाले ने वही छाप दिया जो उसे दिया गया। यह लिखना ऐसा ही है कि छापे वाले की भूल भी मेरी ही भूल है।

मुझ पर यह दोष लगाया जाता है कि मैं अपना एक मत गढ़ता हूँ। मुझे शोक है कि इस बात से उनकी वेदों से अनभिज्ञता ही प्रकट होती है। यदि उन्होंने प्राचीन भाष्य पढ़े होते तो वे उन उक्तियों के होते हुए जो पहले दी गई हैं, ऐसा कभी न कहते।

मुझ पर यह दोष लगाया जाता है कि मैंने वृत्र, इन्द्र, त्वष्टा के अपने अर्थ लगाए हैं। इस आक्षेप के उत्तर में मैं उनका ध्यान वेदभाष्य के विज्ञापन की ओर दिलाता हूँ जिसमें इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या की गई है और जिसकी एक प्रति साथ में नत्थी है।[५३२] यह केवल उनकी प्राचीन संस्कृत की अनभिज्ञता का परिणाम है।

५३२- यह विज्ञापन ऋषि दयानन्द के पत्रव्यवहार ग्रन्थ पृष्ठ ३९-४७ तक छपा है।

वे मेरी व्याकरण की अशुद्धि निकालते हैं। मुझ पर परस्मैपद के स्थान में आत्मनेपद के प्रयोग का दोष लगाते हैं। इस बात का विश्वास दिलाने के लिए कि वह व्याकरण की बातों में अत्यन्त भूल में हैं। मैंने कैयट, नागेश, रामाश्रम आचार्य, अनुभूतिस्वरूपाचार्य के चार वाक्य-खण्ड दिए हैं जो मेरे *'वेदमधीमहि'* के प्रयोग का ठीक होना प्रकट करते हैं। *'वदामहे'* के प्रयोग के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के तीसरे पाद के ४७ वें सूत्र[५३३] का प्रमाण दिया है।

जो लक्षण छन्दों का मैंने लिखा है इस पर भी आक्षेप है। ये सब आक्षेप उनके हास्यजनक हैं। यदि मैं अपने कथन के लिए प्रमाण दूँ तो यह छोटा-सा खर्रा भर जाएगा। मैं पिङ्गल के सूत्रों से केवल एक उपयुक्त प्रमाण देने पर ही सन्तोष करूँगा और उसके भाष्यकर्त्ता भट्ट हलायुध से एक उदाहरण दूँगा।....

**पं० हृषीकेश, सेकण्ड टीचर ओरिएंटल कॉलेज लाहौर-**

ऐसा ज्ञात होता है कि पं० हृषीकेश ने पं० गुरुप्रसाद का पदानुसरण किया है। जिनके आक्षेपों का उत्तर दे दिया गया है। वह *'उपचक्रे'* शब्द पर आक्षेप करते हैं। मैं इस बात को प्रकट करने के लिए कि मेरा प्रयोग ठीक है केवल पाणिनि अ०१।पा० ३। सू० ३२[५३४] का प्रमाण देता हूँ।

**पं० भगवानदास, प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज लाहौर-**

पं० भगवानदास किसी नई बात का उल्लेख नहीं करते और इसलिए जो कुछ मैं पहले कह चुका हूँ उसी की ओर ध्यान आकर्षित करता हूँ।

अन्त में मुझे यह कहने की आज्ञा हो कि इन सारे आक्षेपों का बल मेरे वेदभाष्य के विद्यालयों में प्रचरित होने के विरुद्ध लगाया गया है। परन्तु मेरे न्याय-विधाता बड़ी भूल करते हैं। मेरा वेदभाष्य महाभारत से पहले के भाष्यों के प्रमाणों द्वारा योरोपीय विद्वानों के भाष्यों के विरुद्ध अन्वेषण की प्रबल सामग्री उपस्थित करेगा जो सत्य को प्रकट करेगा और विद्यालयों के चरित्रसम्बन्धी स्वर को उन्नत करेगा। यत: यह ऐसा करेगा इसलिए यह सरकार की पृष्ठ-पोषकता का अधिकारी है।

पञ्जाब सरकार ने स्वामीजी के निवेदन-पत्र को पश्चिमोत्तर प्रदेश, बंगाल, काशी और मद्रास में सम्मत्यर्थ भेज दिया था, परन्तु इन सबने भाष्य के विरुद्ध सम्मति दी जैसा कि उपरि-लिखित से प्रकट होता है। यत: उन्हें सायण, महीधर के भाष्यों के पक्ष में दुराग्रह था, सफलता न हुई।

**आर्यमसमाज की ओर से पत्र**-२५ अगस्त सन् १८७७ ई० को आर्यसमाज लाहौर के कपितय सभासदों ने भी एक आवेदन-पत्र पञ्जाब सरकार की सेवा में भेजा था [५३५] जिसमें यह दिखाते हुए कि किस प्रकार वेद के अभ्यास में महाभारत के पश्चात् बौद्धधर्म के प्रचार और पौराणिक शिक्षा के विस्तार तथा मुसलमानों के अत्याचार के कारण उत्तरोत्तर न्यूनता आती गई थी और कि सायण आदि के भाष्य इसी काल की प्रसूति होने के कारण पौराणिक विचारों से पूर्ण हैं, निम्नलिखित कारण दयानन्द वेदभाष्य की सहायता करने के लिए दर्शाए थे-

१- यदि भारत का वाङ्मय नैसर्गिक रीति पर चले तो अवश्यमेव वेदों से आरम्भ होगा और इसलिए वेदों का प्रचार अत्यन्तावश्यक है।

२- इस वेदभाष्य के प्रकाशित होने से जो खोज का भाव उत्पन्न होगा उसकी उन्नति में सहायता होगी।

---

५३३- भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वद: ।।*अ० १।३।४७।।*

५३४- गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेशु कुञ:। अ० १।३।३२।।

५३५- यह आवेदन पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र व्यवहार ग्रन्थ के पृष्ठ ६३-६९ तक छपा है। पाठक उसे अवश्य देखें।

३- वेदविद्या का प्रसार हिन्दू मस्तिष्क को मिथ्या विश्वास और अविद्वानोचित हठ से मुक्त करेगा।
४- स्वामी दयानन्द का भाष्य बड़े प्रबल प्रमाणों की भित्ति पर है, जिन प्रमाणों को योरोपीय विद्वान् भी स्वीकार करते हैं, यद्यपि वे उन्हें अभी तक काम में नहीं लाते।
५- यत: स्वार्थ पर ब्राह्मणों और भ्रान्तिपूर्ण अभिज्ञता रखने वाले योरोपीय विद्वानों से सम्प्रति निष्पक्ष सम्मति मिलने की आशा नहीं है, इसलिए इस दशा में उक्त भाष्य को परीक्षा का अवसर मिलना चाहिए।

इस पत्र में उन्होंने योरोपीय विद्वानों के अधूरे वैदिक ज्ञान को प्रकट करने के लिए यह भी दिखाया था-

*उत ब्रवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद्दुव:।।*
*उत न: सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टय:। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि।।* (ऋग्वेद (१/४/५, ६)

इन मन्त्रों के छ: विद्वानों ने छ: प्रकार से भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं, ऐसी अवस्था में किसे ठीक माना जाए। मैक्समूलर ने अपने अनुवाद के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है कि मेरा अनुवाद कई जगह शुद्ध करने योग्य है। इसके विरुद्ध स्वामी दयानन्द ने अपने अर्थों की वेदों, ब्राह्मणों, निरुक्त, निघण्टु, अष्टाध्यायी आदि के प्रमाणों और प्रबल युक्तियों से सिद्ध किया है।[५३६]

परन्तु सरकार में कुछ सुनाई न हुई और ऋषिभाष्य की सहायता में एक झंझी न मिली। क्या योरोप के और क्या भारत के सभी विद्वान् सायण, महीधरादि के क्रीतदास हैं। वे अपने और अपने गुरुओं के विरुद्ध दयानन्द की बातें कैसे सुनते और सरकार को सुनने देते? फिर भारत के विद्वानों की बपौती कैसे रहती जो सायणादि अपने असत् भाष्यों द्वारा स्थापित कर गए हैं। और यूरोपीय विद्वानों की तो बिल्कुल ही किरकिरी हो जाती, जन्म-जन्म का परिश्रम मिट्टी में मिल जाता। फिर उन्हें संसार को वेदों के विषय से मिथ्या बातें कहने और प्रचार करने का अवसर कैसे प्राप्त रहता और यह भ्रम कैसे फैलाते कि प्राचीन आर्य आग, पानी, वायु, सूर्य, चन्द्र की उपासना करते थे, आदि।

विद्वानों ने दयानन्द के भाष्य को तिरस्कारा सही, परन्तु समय आ चुका है कि जब स्वयं उनमें से ही ऐसे लोग उत्पन्न होंगे जो दयानन्द के चरणों में बैठने में अपना गौरव समझेंगे और ऋषिभाष्य के आगे नवीन कालीन सभी भाष्यों को हेय समझेंगे।

**तुम विवाह न करना**- लाहौर की स्थिति के समय कॉलेज के कुछ विद्यार्थी स्वामीजी के पास संस्कृत पढ़ने आया करते थे, उनमें एक नवयुवक गणपतिराय भी था। उससे स्वामीजी ने कहा था कि तुम विवाह न करना क्योंकि तुम्हारी आयु ३० वर्ष के भीतर हैं। उसने यह सुनकर विवाह का विचार त्याग दिया, परन्तु फिर पिता तथा अन्य सम्बन्धियों के आग्रह पर उसे विवाह करने पर विवश होना पड़ा। किन्तु वह २८ वर्ष की आयु में ही मृत्यु का ग्रास हो गया। उसने मरण समय कहा कि स्वामीजी ने पहले ही कह दिया था कि मेरी आयु अल्प है इसी से मैं विवाह करना नहीं चाहता था। यह घटना स्वयं उसके भाई ताराचन्द ने पण्डित लेखराम से वर्णन की थी जो उस समय मुजफ़्फ़रपुर में पुलिस विभाग में क्लर्क थे।

**सनातनधर्मरक्षिणी सभा**- मूर्त्तिपूजक ब्राह्मणों के नेता पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी थे। उन्होंने स्वामीजी के आक्रमणों से मूर्त्तिपूजा आदि की रक्षा करने के लिए सनातनधर्मरक्षिणी सभा स्थापित की थी जिसमें उनके सहायक पण्डित भानुदत्त थे। इन भानुदत्तजी की एक कथा बड़ी मनोरञ्जक है और उससे पता लगता है कि स्वार्थ में फँसकर मनुष्य कहाँ तक गिर सकता है।

**पण्डित भानुदत्त की कलाबाजी**- उनके विषय में ब्राह्मसमाज लाहौर के समाचारपत्र *'बिरादरे हिन्द'* भाग ३ के अङ्क ६ के पृष्ठ १८२-१८३ में निम्न प्रकार लिखा गया था-

---

५३६- *'दयानन्द-प्रकाश'* में स्वामीजी का पञ्जाब लेफ्टिनेण्ट गवर्नर से वेदभाष्य की सहायता के लिए मिलना और प्रार्थना करना सन् १८७८ ई० की घटना बताई गई है, यह सत्य नहीं है। - *संग्रहकर्त्ता*

"पण्डित भानुदत्त एक ऐसी सभा (सत्सभा) के आचार्य थे जिसका प्रकट में उद्देश्य लोगों में निराकर ईश्वर की उपासना का प्रचार करना था और वह स्वयं भी यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों में इस विचार के लिए प्रसिद्ध हो रहे थे कि वे मूर्त्तिपूजा के मार्ग को अच्छा नहीं जानते हैं और आरम्भ में जब स्वामी दयानन्द जी यहाँ पधारे तो यह उनके यहाँ भी आते-जाते थे। सभा के समस्त पण्डितों ने एक मुख होकर उनसे आग्रहपूर्वक कहा कि जान पड़ता है कि आप भी पण्डित दयानन्द सरस्वती का मत रखते हो। पण्डितों का यह कहना था कि पण्डितजी घबराये और बोले कि मेरा मत उनके अनुकूल क्यों होने लगा, मेरा मत वही है जो आप लोगों का है। अत: आप यदि उनके प्रतिकूल कुछ कहलाना चाहें सो मैं हृदय से आपकी सहायता के लिए उपस्थित हूँ। इस बात को सुनकर सब उपस्थित गण प्रसन्न हो गए और पण्डितजी सभा के मन्त्री नियत किये गए।"

"जब पण्डितजी के उस सभा में, जिसका उद्देश्य मूर्त्तिपूजा को स्थिर रखना और वेदों से उसे विहित सिद्ध करना है, सम्मिलित होने की सूचना लोगों को मिली तो उनके सुशिक्षित मित्रों को जो उनके विचारों को भली प्रकार जानते थे, अत्यन्त आश्चर्य हुआ। विशेषत: हमें आश्चर्य के अतिरिक्त दु:ख भी हुआ, क्योंकि पण्डितजी हमारे बड़े कृपालु मित्र थे और जब कभी हमारा उनसे इस विषय में वार्त्तालाप होता था तो वे मूर्त्तिपूजा का समर्थन न करते थे, यहाँ तक कि कुछ दिन हुए उन्होंने हमसे यह भी कहा था कि पण्डित दयानन्द सरस्वती चाहते हैं कि मैं उनके साथ रहूँ और प्रचारक के रूप में उनके साथ-साथ लोगों को उपदेश देने में इस जातीय कार्य में उनका समर्थक और सहायक बनूँ, परन्तु मैं पारिवारिक मोह में कुछ ऐसा फँसा हुआ हूँ कि यद्यपि वे मेरे और मेरे परिवार के पर्याप्त निर्वाह का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं और मेरा हृदय भी इस कार्य को बहुत चाहता है तथापि मुझमें इतना साहस उत्पन्न नहीं हुआ कि मैं इस उत्तम कार्य में उनका सहायक बन सकूँ।"

**अहं ब्रह्मास्मि का अर्थ**- एक दिन पण्डित मथुरादास वेदान्ती से स्वामीजी का वेदान्त के महावाक्यों पर वार्त्तालाप हुआ। स्वामीजी ने कहा कि '*अहं ब्रह्मास्मि*' वाक्य वेदों में नहीं आया है, प्रत्युत उपनिषद् में आया है और वहाँ भी यदि उसे अगले शब्दों से मिलाकर पढ़ा जाए तो यह आशय नहीं निकलता कि जीव ब्रह्म है, जिससे पण्डितजी का सन्तोष हो गया।

**शिवनारायण अग्निहोत्री का असद्व्यवहार**- एक दिन स्वामीजी भाई दत्तसिंह वेदान्ती से वार्त्तालाप कर रहे थे, पं० शिवनारायण अग्निहोत्री भी वहाँ उपस्थित थे। एक अवसर पर पण्डितजी बोल उठे कि स्वामीजी उत्तर न दे सके और हार गये। तब स्वामीजी ने कहा कि बताइए हमने क्या कहा था?

पण्डितजी ने कुछ कहा।

*स्वामीजी*- (भाई दत्तसिंह को सम्बोधन करके) क्या हमने यही कहा था?

*भाई*- आपने यह नहीं कहा, पण्डितजी ने कुछ नहीं सुना।

*स्वामीजी*- भला बताइए तो सही दत्तसिंहजी ने क्या कहा था?

पण्डितजी फिर भी कुछ बोले।

*भाई*- मैंने यह नहीं कहा।

*स्वामीजी*- पण्डितजी! आप बिना सोचे समझे सम्मति दे देते हैं।

इस पर पण्डित शिवनारायण अप्रसन्न हो गए।

**स्वामीजी का विस्तृत साहित्य-ज्ञान**- स्वामीजी का संस्कृत के धार्मिक साहित्य का ज्ञान कितना विस्तृत था[५३७] और

५३७- ऋषि दयानन्द ने '*भ्रान्तिनिवारण*' में लिखा है कि "मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।"

उन्हें कितने ग्रन्थ उपस्थित थे इसका प्रमाण निम्नलिखित घटनाओं से मिलता है–

**सामवेद में उल्लू की कहानी**– एक दिन पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री ने आक्षेप किया कि सामवेद में उल्लू की कहानी है। स्वामीजी ने कहा कि नहीं है और सामवेद की पुस्तक उन्हें देकर कहा कि यदि है तो इसमें दिखा दो। कुछ देर तक पुस्तक देखकर वे बोले कि इसमें तो नहीं मिलती। इस पर स्वामीजी तो चुप रहे, परन्तु अन्य लोगों ने पण्डितजी को बहुत लज्जित किया।

**मनुस्मृति में मूर्त्तिपूजा**– ऐसे ही एक बार मूर्त्तिपूजा पर बातचीत करते हुए एक पण्डित ने मूर्त्तिपूजा के समर्थन में एक श्लोक पढ़ कर कहा कि मनुस्मृति में मूर्त्तिपूजा का विधान है। तब स्वामीजी ने कहा कि यदि मनुस्मृति में यह श्लोक न निकला तो क्या आप मूर्त्तिपूजा छोड़ देंगे और मनुस्मृति की पुस्तक उन्हें देकर कहा कि इसमें से उक्त श्लोक निकालकर दिखाइए। तीसरे दिन पण्डितजी फिर स्वामीजी के पास आए। तब स्वामीजी ने उनसे प्रश्न किया कि आपकी पुस्तक में वह श्लोक निकला या नहीं तो पण्डितजी को मानना पड़ा कि वह मनुस्मृति का नहीं था।

**योगवासिष्ठ में मूर्त्तिपूजा**– इसी प्रकार एक बार एक पण्डित ने एक श्लोक पढ़कर स्वामीजी से कहा कि देखिए योगवासिष्ठ में मूर्त्तिपूजा की आज्ञा है। स्वामीजी ने कहा कि यद्यपि हम योगवासिष्ठ को प्रामाणिक नहीं मानते परन्तु आपके श्लोक में आधा योगवासिष्ठ का है और आधा अन्य किसी का रचित है। तब योगवासिष्ठ को देखा गया तो उसमें ऐसा ही पाया गया।

**मृतकश्राद्ध पर वेदमन्त्र**– एक दिन एक पण्डित ने वेद का *'आ यान्तु नः पितरः सोम्यासः'* आदि मन्त्र पढ़कर मृतक श्राद्ध को वैदिक सिद्ध करने की चेष्टा की। स्वामीजी ने उसके अर्थ करके बतलाया कि इसका मृतकश्राद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस पर पण्डितजी को और कोई उत्तर तो बन न आया, केवल इतना कहा कि आपके अनुयायियों में से एक भी ऐसा नहीं है जो एक मन्त्र भी शुद्ध पढ़ सके। इसे सुनकर पं० बिहारीलाल शास्त्री ने पण्डितजी का उद्धृत मन्त्र शुद्ध पढ़कर सुना दिया और स्वयं पण्डितजी को उच्चारण की अशुद्धियाँ प्रकट कर दीं।

**स्त्रियों को उपदेश**– एक दिन दोपहर के समय कुछ स्त्रियाँ स्वामीजी के दर्शन करने आईं और पूछा कि ज्ञान और शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि तुम्हारे पति ही तुम्हारे गुरु हैं। उन्हीं की सेवा किया करो, किसी साधु को गुरु मत बनाओ, विद्या पढ़ो। अपने पतियों को हमारे पास भेजा करो और उनके द्वारा हमारे उपदेश से लाभ उठाया करो।

**आत्मचरित वर्णन**– स्वामीजी ने कई दिन तक डॉक्टर रहीमखाँ की कोठी में अपने जीवन की घटनाएँ वर्णन की थीं जिनमें से निम्नलिखित तीन घटनाएँ *'दयानन्द-प्रकाश'* में लिखी हैं–

**सिंह मुझे देखकर मुँह फेर कर चला गया**– एक बार गङ्गा तट पर विचरते हुए स्वामीजी एक सघन वन में जा निकले। वहाँ उन्हें सामने से एक सिंह आता हुआ दिखाई दिया। वह सीधे चलते रहे जब वह उस सिंह के निकट पहुँचे तो उसने उनकी ओर देखकर मुँह फेर लिया और जंगल में घुस गया।

**पर्णकुटी में आग लगा दी**– एक बार स्वामीजी एक पर्णकुटी में निवास करते थे। समीप ही कुछ साधुओं का भी डेरा था। वे साधु उनसे अकारण ही वैर रखते थे। एक दिन रात्रि के समय जब कि घोर अन्धकार छाया हुआ था वे पर्णकुटी के पास गए और स्वामीजी को वध करने का परामर्श करने लगे। स्वामीजी ने भी उनकी बातें सुन लीं। उन लोगों ने थोड़ी देर पीछे कुटी में आग लगा दी। जब वह जलने लगी तो स्वामीजी छप्पर को उठाकर बाहर निकल आए।

**पान में विष**– एक दिन महाराज काशी में व्याख्यान दे रहे थे कि एक ब्राह्मण ने उन्हें पान लाकर दिया। उन्होंने सरल स्वभाव

---

अतः जिस व्यक्ति ने तीन हजार ग्रन्थ प्रामाणिक चुने हों उसने कितने हजार ग्रन्थ पढ़े होंगे, यह अनुमान सहज में ही किया t kl drkgS&& *संग्रहकर्त्ता*

से उसे लेकर खा लिया। खाते ही उन्हें ज्ञात हो गया कि उसमें विष था। तब उन्होंने वमन द्वारा विष को शरीर से निकाला। दु:ख है कि किसी को उस समय इतनी बुद्धि न हुई जो उन घटनाओं को लिख लेता। सम्भव है उनमें उपर्युक्त घटनाओं के समान बहुत-सी घटनाएँ ऐसी हों जिनका उल्लेख स्वामीजी के स्वलिखित आत्मचरित में न आया हो।

**आर्यसमाजियों की कर्तव्यच्युति**- आर्यसमाजियों की ओर से इस विषय में जो कर्तव्यच्युति हुई है वह कदापि क्षन्तव्य नहीं है। यदि पूना के सज्जनों ने वहाँ वर्णित किए हुए स्वामीजी के चरित को लिपिबद्ध न किया होता और कर्नल आल्काट के अनुरोध पर स्वामीजी ने आत्मचरित न लिखा होता तो आज संसार उनके उपदेश-युग के पूर्व के वृत्तान्त के ज्ञान से सर्वथा वञ्चित रह जाता। अत: पूना के सज्जन और कर्नल आल्काट सदैव के लिए आर्य-जनता के धन्यवाद के पात्र रहेंगे।

**उपदेश का प्रभाव**- लाहौर में भी स्वामीजी के मूर्तिपूजा के खण्डन का वही प्रभाव हुआ जो अन्य स्थानों में हुआ था। अनेक लोगों का विश्वास मूर्त्तिपूजा के ऊपर से उठ गया, अनेक लोगों ने अपनी देव-मूर्त्तियों को फेंक दिया, कितनों ने उन्हें रावी नदी में डाल दिया। इन्हीं लोगों में एक जन लाला बालकराम खत्री थे जिन्होंने अपने ठाकुरों की चौकी बाजार में पटक दी थी।

**आर्यसमाज लाहौर की स्थापना**- जब स्वामीजी के दो मास के उपदेशों से श्रोताओं की शङ्काएँ निर्मूल हो गईं तो वैदिक धर्म में उनकी श्रद्धा बढ़ी और उनकी रुचि आर्यसमाज स्थापित करने की हुई। स्वामीजी ने भी यह अनुरोध किया कि वैदिक धर्म की उन्नति के लिए आर्यसमाज का नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में स्थापित होना आवश्यक है। श्रद्धालुजनों ने इस प्रस्ताव को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकर किया और ज्येष्ठ शुक्ला १४ संवत् १९३४ वि० तदनुसार तारीख २४ जून सन् १८७७ ई० (रविवार) को आर्यसमाज लाहौर की स्थापना हो गई। इसकी स्थापना डॉक्टर रहीमाखाँ की कोठी में हुई। पहले स्वामीजी ने ईश्वरोपासना की और फिर हवन हुआ। तत्पश्चात् नियमपूर्वक आर्यसमाज की नींव रखी गई। लाहौर आर्यसमाज की स्थापना के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि जो नियम आर्यसमाज के मुम्बई में बने थे वे संख्या और विस्तार में अधिक थे और उनमें कितनी ही बातें ऐसी थीं जो उपनियमों में जानी चाहिए थीं, क्योंकि वे आर्यसमाज के उद्देश्य और मन्तव्य से नहीं प्रत्युत आर्यसमाज के सङ्गठन और सदस्यों के परस्पर व्यवहार से सम्बन्ध रखती थीं। अत: स्वामीजी ने उनका संशोधन करना उचित समझा और उनके स्थान में निम्नलिखित दस नियम प्रचरित किए-

**आर्यसमाज के नियम**-

१- सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२- ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय , नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३- वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४- सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५- सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएँ।

६- संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७- सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्त्तना चाहिए।

८- अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९- प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०- सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब

स्वतन्त्र रहें।

कई लोग कहते हैं कि स्वामीजी ने इन नियमों का निर्माण अन्य सज्जनों की सहायता और मन्त्रणा से किया था, परन्तु उनकी यह धारणा असत्य है।[५३८]

आज यही नियम सब आर्यसमाजों में प्रचलित हैं और दयानन्दप्रवर्तित आर्यसमाज ही वह है, जो इन नियमों को स्वीकार करता हो।

**सत्सभावाले रुष्ट हो गए**– आर्यसमाज लाहौर का दूसरा अधिवेशन १ जुलाई सन् १८७७ ई० (रविवार) को सत्सभा के स्थान पर हुआ। उसमें स्वामीजी ने पुराणों का बड़ी प्रबल युक्तियों से खण्डन किया और उसकी वेद-विरुद्ध बातों को दर्शाकर उनकी समीक्षा की। इस पर सत्सभा वाले रुष्ट हो गये और ३ जुलाई सन् १८७७ ई० को अन्तरङ्ग सभा आर्यसमाज लाहौर के सदस्यों को एक पत्र लिखा कि "स्वामीजी ने गत रविवार को अपने व्याख्यान में शास्त्रों और पुराणों को मानना अविहित बताया है और यह बात सत्सभा के सिद्धान्तों के विरुद्ध है, बल्कि इसी कारण से कई लोगों में झगड़ा खड़ा हो गया है और साधारण दुकानदार लोग जो सत्सभा के सिद्धान्तों पर अपना विश्वास रखने लगे थे, इस बात के सुनने और देखन से फिरे हुए दिखाई देते हैं और सत्सभा जो स्थापित हुई है सर्वथा जन साधारण की भलाई के उद्देश्य से है। अत: आर्यसमाज की अन्तरङ्ग सभा से निवेदन है कि अगले रविवार को जो उस समाज वालों की उपासना इस मकान में एकत्रित होकर नियत की गई है, किसी अन्य मकान में की जावे----।"

**आर्यसमाज की उन्नति**– जब सत्सभा ने आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों के लिए अपना स्थान देने से निषेध कर दिया तो अनारकली मुहल्ले में एक मकान २० रु० मासिक किराए पर लिया गया और उसमें अधिवेशन होते रहे। आर्यसमाज के सभासदों की संख्या अल्प समय में ही १०० तक पहुँच गई और जुलाई के अन्त से पहले-पहले ३०० के लगभग हो गई।

**मैं आर्यसमाज का संरक्षक नहीं बन सकता**– स्वामीजी अपने स्थितिकाल में आर्यसमाज में बहुधा व्याख्यान देते रहे। एक दिन बा० शारदाप्रसाद भट्टाचार्य ने अन्य सभासदों की अनुमति से आर्यसमाज के अधिवेशन में यह प्रस्ताव किया कि स्वामीजी को आर्यसमाज लाहौर में संरक्षक वा अधिनायक की पदवी दी जावे, अन्य सभासद् भी इस प्रस्ताव से सहमत हो गए, परन्तु स्वामीजी ने उसे अस्वीकार किया और कहा कि इसमें गुरुपन की गन्ध आती है और मेरा उद्देश्य ही गुरुपन को तोड़ने का है न कि स्वयं गुरु बनकर एक नया पन्थ स्थापित करने का। यदि कल को इस पदवी से मेरा ही मस्तिष्क फिर जाये अथवा ऐसा न हो और मेरा स्थानापन्न घमण्ड में आकर कोई अन्यथा कार्य करने लगे तो तुम लोगों की बड़ी कठिनता होगी और वही दोष उत्पन्न हो जाएँगे जो दूसरे नवीन पन्थों में हो गये हैं।

**परम सहायक की पदवी भी अस्वीकृत**– इसके पश्चात् यह प्रस्ताव हुआ कि स्वामीजी को आर्यसमाज लाहौर के परम सहायक की पदवी दी जाए। इसे भी स्वामीजी ने अस्वीकार किया और कहा कि यदि मुझे परम सहायक मनोगे तो उस जगदीश, जगद्गुरु सर्वशक्तिमान् को क्या मनोगे? अन्त में सभासदों के आग्रह पर आपने साधारण (सभासद) बनना ही स्वीकार किया और अन्य सभासदों की भाँति आपका शुभ नाम भी सभासदों की सूची में ही अङ्कित किया गया।

---

५३८– '*दयानन्दप्रकाश*' में लिखा है कि ब्राह्मसमाज के सभासदों ने स्वामीजी से कहा था कि यदि आप तीसरा नियम न रखें तो हम भी आर्यसमाज में सम्मिलित हो सकते हैं। परन्तु स्वामीजी ने उनके इस कथन को स्वीकार न किया।

राय मूलराज ने स्वामीजी को सम्मति दी कि तीसरे नियम में यह वाक्य लिखा है कि वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है, इसमें से यदि सत्य शब्द निकाल दिया जाये तो नियम बहुत व्यापक हो जाएगा और किसी को भी आर्यसमाज में प्रवेश करने में सङ्कोच न होगा, परन्तु स्वामीजी ने उनकी बात भी न मानी।

**उपासना धर्म का निरादर न करो**- एक दिन स्वामीजी आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्सङ्ग में पधारे। उस समय ईश्वरोपसना हो रही थी। महाराज को आता देखकर सब लोग सम्मान प्रदर्शनार्थ खड़े हो गए। उपासना की समाप्ति पर स्वामीजी ने उपदेश दिया कि उपासनाकाल में उपासक ईश्वर के सत्सङ्ग में मग्न होते हैं। ऐसे समय में कोई कितना ही बड़ा मनुष्य आवे उपासकों को खड़े न होना चाहिए क्योंकि परमेश्वर से बड़ा कोई नहीं है, अतः ऐसा करने से उपासना धर्म का निरादर होता है।

**दयानन्द का वास्तविक स्वरूप**- संसार में कितने लोगों ने अपने ईश्वर को सन्देशहर कहकर अपने नाम से पन्थ चलाए और आज उनके लाखों करोड़ों अनुयायी दृष्टिगोचर होते हैं। कितनों ने गुरु बनकर अपने चेले चेलियों की बुद्धि की आँखों पर पट्टी बाँधी और उनका तन, मन और धन हड़प लिया। कोई-कोई तो इतने बढ़े कि स्वयं परमेश्वर ही बन बैठे और लाखों मनुष्यों को अज्ञान के घोर अन्धकार में ढकेल दिया। एक ओर ये लोग हैं और एक ओर दयानन्द हैं, लोग उसे गुरु बनाना चाहते हैं और वह इन्कार करता है तथा उन्हीं के समान धर्म का साधारण सेवक कहलाने में ही सन्तुष्टि लाभ करता है। हम देखते हैं कि योग की अति साधारण सी क्रियाओं के द्वारा कई लोग गुरु बने बैठे हैं और शिष्य-मण्डली के हृदय और मस्तिष्क के स्वामी बने हुए हैं। परन्तु एक दयानन्द है जो पूर्ण योगी, पूर्ण विद्वान् होता हुआ भी गुरु बनने से भागता है। यह उसकी निःस्पृहता, निरभिमानता की पराकाष्ठा है तथा यही है दयानन्द का वास्तविक स्वरूप। दयानन्द जो कुछ था वह औरों के लिए ही था, अपने लिए कुछ नहीं। फिर हम श्रद्धा-भक्ति से उसे नमस्कार क्यों न करें, क्यों उसके चरण-रज को मस्तक पर लगाकर अपने को गौरवान्वित न समझें ?

**दयानन्द की निर्लेपता**- दयानन्द की वेशभूषा के विषय में हम कलकत्ता के ब्राह्मपत्र *'धर्मतत्व'* के १ आग्रहायण शाके १७९९ के अङ्क से एक उद्धरण देते हैं, जिसमें लेखक ने दयानन्द के वेष आदि के सम्बन्ध में कुछ शङ्का की थी-

"पण्डितजी दयानन्द सरस्वती के बाह्य वेष और आचार-व्यवहार में बहुत परिवर्तन हो गया है। इस समय वे अन्य हिन्दू संन्यासियों के समान नहीं हैं। भद्रलोक के समान खान पान और भद्र-परिच्छद व्यवहार करते हैं। स्वामीजी का इस प्रकार का घोर परिवर्तन कहाँ तक मङ्गलप्रद होगा यह भविष्यत् के गर्भ में छिपा हुआ है।"

जो लोग दयानन्द के चरित्र से पूर्णतया अभिज्ञ न थे वे ही उसके रहन-सहन में इस प्रकार के परिवर्तन से यह शङ्का करने लगे थे कि स्वामी दयानन्द सांसारिक बन्धनों में फँसकर वैराग्य-पथ से विचलित हो जाएँगे। उनकी यह शङ्का सर्वथा निर्मूल थी। दयानन्द तो जैसा दिगम्बर अवस्था में था वैसा ही वस्त्र धारण करने की अवस्था में भी था। वह पूर्ण ज्ञानी और योगी था। उसके हृदय को संसार का वैभव विडोलित नहीं कर सकता था। जब उसे उसके भक्त दिव्य व्यञ्जन खिलाते थे वह तब भी वह खिचड़ी खाकर अक्षुण्ण भाव से रह सकता था। बड़ौदे में नर्मतकियों, गदेलों और पर्यङ्कों के होते हुए भी वह केवल दरी पर भूमि में शयन कर सकता था। उसे संसार की कौन-सी सम्पत्ति विचलित कर सकती थी। भर्तृहरि के अनुसार वह मनस्वी था, कार्यार्थी था। जो न दुःख को गिनता था न सुख को, वह चिथड़े भी पहन सकता था और दिव्य वस्त्र भी धारण कर सकता था, वह शाक खाकर भी रह सकता था और शाल्योदन खाकर भी, वह भूमि पर सो सकता था और पर्यङ्क पर भी।[५३९] दयानन्द तो पद्मपत्र के समान था। वह संसार के भोगों और प्रलोभनों से क्लेद को प्राप्त न होता था।

**दयानन्द के कार्य की आलोचना**- लाहौर में स्वामीजी के प्रचार कार्य तथा उस के फल के सम्बन्ध में तत्कालीन समाचारपत्रों में जो सम्मतियाँ प्रकट हुई, उनमें से कुछ के अंश को हम नीचे उद्धृत करते हैं-

५३९- क्वचिद्भूमौ शायी क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः, क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरः, मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्।। *भर्तृहरिः*

१ जुलाई सन् १८७७ ई० के *'बिरादरे हिन्द'* तथा *'ब्राह्म समाचारपत्र'* ने लिखा था–

"उनके विचार अधिकांश में विस्तृत हैं और उनका अधिक भाग इस समय के विद्यासङ्गत विचारों के अनुकूल है। उनका मस्तिष्क अत्यन्त उन्नतिशील प्रतीत होता है और यद्यपि उन्होंने संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त अन्य भाषा का साहित्य नहीं पढ़ा है तथापि उन्होंने इस एक ही साहित्य द्वारा और प्रशस्तबुद्धि शिक्षित लोगों की सङ्गति से अपने विचारों को इतना परिमार्जित और विस्तृत बना लिया है कि वे न केवल अपने सब समकालीन पण्डितों के दुराग्रहयुक्त और संकुचित विचारों के पद का अतिक्रमण करके एक सच्चे विद्वान् और प्रशस्त-प्रभ पण्डित का आदर्श बन गए हैं, प्रत्युत हमारे देश के अँग्रेजी शिक्षा पाए हुए सर्वसाधारण के विचारों से भी किसी अंश में उत्तम विचार रखते हैं। प्रकट रूप में इस व्यक्ति के हृदय में जातीय-सम्वेदना और जातीय-सुधार का बहुत बड़ा उत्साह भासित होता है यद्यपि इस समय यह कहना बहुत कठिन है कि वह उत्साह कहाँ तक स्वार्थ रहित और स्वार्थ के मेल से शून्य है, क्योंकि इसका प्रमाण अनुभव पर अवलम्बित है और उसका दिखलाने वाला केवल समय है, तथापि जहाँ तक हम अनुमान कर सकते हैं उनके व्यक्तित्व से देश में बहुत कुछ उन्नति और सुधार की आशा है। धार्मिक सुधार के सम्बन्ध में यह पुरुष मूर्त्तिपूजा का बहुत बड़ा शत्रु है। उन सब पुरुषों में जो इन दिनों मूर्त्तिपूजा को समूल नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं, यदि इस पुरुष को इस समय का सबसे बड़ा मूर्त्तिखण्डक कहा जाए तो अनुचित न होगा। ब्राह्मसमाज के उस धर्मसुधार सम्बन्धी शाखा का तो, जिसका सिद्धान्त हर प्रकार की मूर्त्तिपूजा को दूर करना और संसार में परमेश्वर की उपासना को फैलाना है, यह पुरुष एक ऐसा दिव्यदूत है कि इसकी जितनी भी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। यह पुरुष संसार में केवल धार्मिक सुधार का ही इच्छुक नहीं है वरन् जाति की बालविवाह आदि सब बुराइयों के सुधार पर भी जो देश में फैल रही हैं इसकी दृष्टि है, स्त्रियों की शिक्षा और स्वतन्त्रता का विशेषकर इच्छुक है। उसकी यह सम्मति है कि जब तक उनमें शिक्षा का प्रसार न होगा और उन्हें जनाने के बन्दीगृह से मुक्ति न मिलेगी तब तक इस देश में किसी दृष्टि से आकर्षक उन्नति की आशा करना व्यर्थ है। सारांश यह है कि जाति से अविद्या, हठ और दुराग्रह का दूर करना, विद्या का प्रचार करना, जाति में एकता उत्पन्न करना और उसे साधारण सभ्यता के रूप में लाकर एक अच्छा आदर्श बनाने में प्रयत्न करना इस पुरुष का साधारण और विशेष अन्तिम ध्येय है।"

एक लेखक ने कलकत्ते के अँग्रेजी दैनिक *'इण्डियन मिरर'* के २२ जून सन् १८७७ ई० के अङ्क में लिखा था–

"नगर में स्वामीजी के विरोध में सभाएँ होने पर भी प्राय: जिनके संयोजक और संचालक पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी हैं, आर्यसमाज के सभासदों की संख्या १०० हो गई है और थोड़े से ही दिनों में २०० हो जाएगी।[५४०] पण्डित दयानन्द सरस्वती अपने व्याख्यान डाक्टर रहीमखाँ के बँगले पर देते हैं जिनके श्रोता १०० से अधिक शिक्षित पुरुष होते हैं और जिनमें से अधिकांश को स्वामीजी का पक्षसमर्थक कहा जा सकता है। उनकी शिक्षा के परिणाम के विषय में कहा जाता है कि एक भद्र पुरुष ने अपने कुल के देवी-देवताओं को उनके सिंहासन से च्युत कर दिया है। विश्वस्त सूत्र से यह भी ज्ञात हुआ है कि नगर के पण्डित, पुरोहित, महिलागण को उकसा रहे हैं कि वे अपने सम्बन्धी पुरुषों को स्वामी दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों में जाने से रोकें। स्वार्थ पर मनुष्य स्वामीजी के विरुद्ध सब प्रकार के जनरव फैला रहे हैं, परन्तु वह यह देखकर दुखी होते हैं कि पण्डित दयानन्द श्रोताओं के मनों को वैदिक सच्चाइयों के ग्रहण करने के लिए तैयार कर रहे हैं। मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध उनके प्रबल और सशक्त कटाक्षों ने उनके बहुत से शत्रु भी बना दिये हैं। वे कहते हैं कि ब्राह्मण भारत के अध:पतन के मुख्य कारण हैं और वे सब दोष उन्हीं के ऊपर लगाते हैं।.... परन्तु वे दो बातों के लिए ब्राह्मणों की प्रशंसा भी करते हैं अर्थात् मुसलमानों से शास्त्रों की रक्षा करने के लिए और लोगों को दूसरा धर्म ग्रहण करने से रोकने के लिए।

---

५४०-इससे ज्ञात होता है कि नियमपूर्वक आर्यसमाज के स्थापित होने से पहले ही भावी सभासदों की सूची तैयार की जा रही थी। -*संग्रहकर्त्ता*

वे ब्राह्मणों को पोप-कुटुम्ब कहते हैं अर्थात् पोप के सम्बन्धी। यह एक नवीन शब्द है और इससे ब्राह्मणों के प्रति उनके विचार प्रकट होते हैं, जिन्होंने बदला लेने के अभिप्राय से उन पर ऐसे विचार आरोपित किए हैं जो न सच्चे ही हैं और न प्रशंसनीय ही। कोई-कोई कहते हैं कि वे ईसाई पादरियों के वेतनभोगी हैं और उन्होंने स्वामीजी को मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध प्रचार करने को भेजा है और कोई-कोई तो इतने गिर गए हैं कि वे उन्हें नास्तिक तक कहते हैं।"

फिर २३ जून सन् १८७७ ई० के उक्त दैनिक में एक लेखक ने लिखा था-

"यद्यपि शिक्षित पुरुष इस प्रशंसनीय कार्य में योग देते हैं, परन्तु नगर के ब्राह्मणों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता जो हर एक सामाजिक और धार्मिक सुधार के खुले हुए शत्रु पण्डित श्रद्धाराम के नेतृत्व में इस अल्पवयस्क समाज को जन्मते ही नष्ट करने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हैं। उन्होंने केवल एक सभा सनातनधर्मरक्षिणी के नाम से स्थापित की है, जिसके उद्देश्य आर्यसमाज के उद्देश्यों से सर्वथा प्रतिकूल हैं, प्रत्युत वे पण्डित दयानन्द सरस्वती के चरित्र और उद्देश्य के सम्बन्ध में भी सब प्रकार की झूठी बातें फैला रहे हैं।"

एक लेखक ने उर्दू पत्र '*कोहेनूर*' लाहौर के २८ जुलाई सन् १८७७ ई० के भाग ९ अङ्क ३३ के पृष्ठ ६४० पर लिखा था-

"पहले २-३ मासों में स्वामी दयानन्द सरस्वती जो उपदेश करते रहे हैं उसके सुनने से लोगों के हृदय में जातीय सहानुभूति का इतना उत्साह उत्पन्न हुआ कि उन्होंने २४ जून सन् १८७७ ई० को आर्यसमाज स्थापित किया। अब इस समाज के लगभग ३०० सभासद् हैं और दिन प्रतिदिन उन्नति होती जाती है। इस समाज का वास्तविक उद्देश्य आर्यधर्म, संस्कृत और वैदिक-विद्या की उन्नति और प्रचार करना है। इसी उद्देश्य से अब एक संस्कृत पाठशाला वेदों की शिक्षा के लिए खोली गई है जिसमें सम्प्रति १०० मनुष्य शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। यह समाज केवल स्वामीजी के पधारने का परिणाम है। इतिहास के देखने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इस २५०० वर्ष के समय में स्वामी शङ्कराचार्यजी के काल से कोई श्रेष्ठ नेता और ऋषीश्वर उत्पन्न न हुआ जो सन्मार्ग बताता।"

## अमृतसर (१८७७ ई०)

जब स्वामीजी ने लाहौर से अमृतसर जाने की इच्छा प्रकट की तो लाहौर के प्रसिद्ध रईस सरदार दयालसिंह मजीठिया अँग्रेजी दैनिक '*ट्रिब्यून*' के संस्थापक ने उनके निवास के लिए मियाँ मुहम्मदजान रईस की कोठी ४० रुपये मासिक के किराए पर ले दी। स्वामीजी १२ जुलाई सन् १८७७ ई०[५४१] तदनुसार आषाढ़ शुक्ला २ संवत् १९३४ वि० (गुरुवार) को अमृतसर जाकर इसी कोठी में उतरे। स्वामी के आगमन का समाचार नगर में फैलते ही, क्या धनपति क्या निर्धन, क्या विद्वान्, क्या अविद्वान्, क्या उच्चपदस्थ, क्या निम्न श्रेणियुक्त, सैकड़ों की संख्या में लोग उनकी सेवा में उपस्थित होने लगे। कुछ तो उनकी दिव्य और भव्य ज्योतिःस्नात मूर्त्ति के दर्शन से ही अपने को कृतकृत्य समझकर चले जाते, अधिकतर उनके उपदेशामृतपान के लिए ठहर जाते। स्वामीजी ने उसी कोठी में व्याख्यानों का तार बाँध दिया जिनमें श्रोताओं की संख्या शतशः और सहस्रशः होती थी। विरोधीजन के हृदयों पर आरे से चलते थे, परन्तु कुछ कर न सकते थे। अलीक जनरव फैलाकर मन के फफोले फोड़ते थे, परन्तु यह अस्त्र भी उनका कुण्ठित हो जाता था, जो एक बार भी स्वामीजी का एक

५४१- ऋषि दयानन्द के पत्रव्यवहार के पृष्ठ ६१ पर छपे अँग्रेजी के पत्र (संख्या २४) में लिखा है कि "मैं १२ जुलाई को यहाँ पहुँचा हूँ।" इसके आधार पर श्री पं० भगवद्दत्तजी ने टिप्पणी में लिखा था कि ५ जुलाई को अमृतसर पहुँचना ठीक नहीं है। हमारा भी यही विचार है क्योंकि स्वामीजी का जो ५ जुलाई को अमृतसर आकर १२ जुलाई (रविवार) को व्याख्यान देने के लिए पुनः लाहौर जाने का उल्लेख हुआ उस दिन वस्तुतः रविवार नहीं अपितु गुरुवार था। रविवार तो आगे २२ जुलाई को ही पड़ा था और वस्तुतः तभी स्वामीजी लाहौर होकर अमृतसर वापस लौट आए थे। -*आदित्यमुनि*

उपदेश भी सुन लेता था उसका उद्धार हो जाता था। वर्षों की शङ्काएँ एक क्षण में इसी प्रकार उड़ जाती थीं जैसे वायु के सामने तूल का टुकड़ा। धर्मपिपासा जागृत हो उठती थी और धर्म के तत्त्व हृदयङ्गम हो जाते थे। व्याख्यान में स्वामीजी एक कुर्सी अपने सामने डलवा दिया करते थे ताकि व्याख्यान समाप्ति पर जिसे कोई शङ्का करनी हो तो वह उस पर बैठकर कर ले। एक दिन एक पण्डित आया, उससे कुर्सी पर बैठने को कहा तो वह न बैठा और स्वामीजी को सम्बोधन करके कहने लगा कि आपने मुझे नीचा आसन दिया है, मुझे भी आपके समान ही कुर्सी मिलनी चाहिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं तो व्याख्यान देता हूँ इसलिए ऊँचे आसन पर बैठा हूँ आप यदि कुर्सी पर बैठने में अपमान समझते हैं तो कुर्सी को मेज पर रख कर बैठ जाइए। आश्चर्य है कि आप विद्वान् होकर भी बैठने में आसन के ऊँच- नीचे होने का विचार करते हैं। क्या किसी चक्रवती के मुकुट पर बैठने से मक्खी-मच्छर बड़े हो सकते हैं ?

**हम ऐसी सभा में क्यों आएँ**- एक दिन एक ब्राह्मण ने आकर कहा कि हम ऐसी सभा में क्यों आएँ जिसमें ऐसे विरुद्ध और अनर्थ वचन कहे जाते हैं, जैसे इस देश के ब्राह्मणों का गोदान लेने का अधिकार नहीं है, न इन्हें कोई श्लोक याद है। यदि हम दान न लें तो क्या खाक खाएँ। स्वामीजी ने कहा कि हमने ऐसी बात नहीं कही। हमने तो यह कहा कि यत: तुम विद्वान् नहीं हो और न तुम्हें वेदमन्त्र याद हैं, अत: तुम्हें दान लेने का अधिकार नहीं है, तुम दान लेते हो और उसकी विष्टा बना डालते हो, तुम खाक न खाओ, घास खाओ। राजा दयाल साहब ने कहा कि स्वामीजी घास तो गदहे खाते हैं। स्वामीजी ने कहा कि आपकी इनसे चुहल होगी हमने तो साधारण रीति से कहा है। फिर वह ब्राह्मण कुछ न बोला और चला गया।

स्वामीजी के व्याख्यानों को सुनकर लोग चकित हो उठे। सबकी जिह्वा से यही शब्द निकलते थे कि यह तो कोई अवतार आया है जो साक्षात् ईश्वर-पूजा का उपदेश करता है।

२२ जुलाई सन् १८७७ ई० (रविवार) की स्वामीजी लाहौर गए और सन्ध्या के समय अनारकली में आर्यसमाज में '**धर्म की आवश्यकता**' और '**आर्यसमाज से लाभ**' पर व्याख्यान देकर अमृतसर लौट आए।

**ठाकुर-पूजा पर व्याख्यान**- कुछ व्याख्यान स्वामीजी के घण्टाघर पर भी हुए थे। उनमें से पहले में उन्होंने ठाकुरव्रत के विषय में कहा था कि यह तो भीख माँगने के लिए एक लीला रची गई है। लोग पत्थर को ठाकुर कहते हैं और अजन्मा परमेश्वर का जन्म बताते हैं। इन बातों का वेदशास्त्र में पता नहीं। उस दिन श्रोताओं की बहुत अधिक भीड़ थी। स्वामीजी ने मूर्त्तिपूजा का ऐसी सुन्दरता से खण्डन किया और इतनी आकट्य युक्ति और प्रमाण उसके विरुद्ध दिए कि अनेक लोगों की मूर्त्तिपूजा के ऊपर से श्रद्धा उठ गई।

**आर्यसमाज अमृतसर की स्थापना**- ११ अगस्त सन् १८७७ ई० तक स्वामीजी के सदुपदेशों का प्रवाह बहता रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि १२ अगस्त, १८८७ ई० तदनुसार श्रावण शुक्ला ४ संवत् १९३४ वि० (रविवार) को आर्यसमाज अमृतसर की स्थापना हो गई। आर्यसमाज उसी कोठी में स्थापित हुआ जिसमें स्वामीजी ठहरे हुए थे। स्वयं स्वामीजी ने हवन कराया और ईश्वरोपसना करने के पश्चात् सदुपदेश दिया और ५० सज्जन उस के सदस्य हुए, अधिकारियों का निर्वाचन होकर आर्यसमाज का कार्य सुचारु रूप से चलने लगा। लाहौर से बाबू शारदाप्रसाद भट्टाचार्य और लाला श्रीराम एम०ए० समाज के स्थापनोत्सव में सम्मिलित होने के लिए पधारे थे और स्वामीजी के उपदेश के पश्चात् बाबू शारदाप्रसाद का व्याख्यान भी हुआ था।

इसके कुछ दिन पश्चात् आर्यसमाज के लिए मलवई बुङ्गे के मोहल्ले में एक मकान ले लिया गया और वहाँ उसके प्रथम अधिवेशन के दिन स्वामीजी ने ही हवन कराया।

**मनसुखराय को गुरुमन्त्र**- एक जन मनसुखराय था। उसका पिता चाहता था कि वह किसी को गुरु बना ले, क्योंकि उसके विचार के अनुसार निगुरे मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता था। पुत्र किसी को गुरु न बनाता था, परन्तु स्वामीजी के उपदेशों

को सुनकर उसके सब संशयों का उच्छेद हो गया और श्री स्वामीजी के चरणों में उसकी श्रद्धा इतनी बढ़ी कि एक दिन उसने मिश्री का थाल भरकर स्वामीजी को भेंट में दिया और आर्यसमाज का सदस्य बन गया। स्वामीजी से उसने गुरुमन्त्र देने की प्रार्थना की तो वे बोले कि गायत्री-मन्त्र ही मेरा गुरुमन्त्र है।

**मिश्री और दो रुपये की भेंट**- एक दिन स्वामीजी बग्घी पर सवार होकर मलवई बुङ्गे व्याख्यान देने जा रहे थे कि एक जन पण्डित तुलसीराम ने बड़े प्रेम और नम्रता से उन्हें नमस्कार किया और अपनी बैठक में पधारने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने कृपापूर्वक उसे स्वीकार किया और उसकी बैठक में पधारे। उसने स्वामीजी की स्तुति करने के पश्चात् मिश्री के कुछ कूजे और दो रुपये नकद भेंट किए जो स्वामीजी ने स्वीकार कर लिए। कैसी अद्‌भुत बात है कि जिस दयानन्द ने सर टी० माधवराव रियासत बड़ौदा जैसे गण्यमान्य पुरुष की १००० रुपये की भेंट को स्वीकार नहीं किया, आज वही दयानन्द एक साधारण मनुष्य की दो रुपये और मिश्री के कूजों की तुच्छ भेंट को नि:संकोचभाव से स्वीकार कर लेता है। प्रेम, श्रद्धा, भक्ति में शक्ति ही ऐसी है। महाराज श्रीकृष्णचन्द्र ने भी तो इसी कारण सुदामा के तण्डुल स्वीकर किए थे। धन्य हो कृष्ण और धन्य हो दयानन्द!

**देवमूर्त्तियाँ फेंक दी**- अमृतसर में भी दो बार व्यक्तियों ने ठाकुर आदि की मूर्त्तियाँ फेंक दी थीं और मूर्त्तिपूजा के ऊपर से विश्वास तो सैकड़ों मनुष्यों का उठ गया था।

**विद्वान् ब्राह्मण घर छोड़ कर चला गया**- अमृतसर में उन दिनों एक पण्डित रामदत्तजी निवास करते थे जो उच्च कोटि के विद्वान् थे। जब मूर्त्तिपूजकों ने देखा कि दिन प्रतिदिन मूर्त्तिपूजा को अनेक लोग तिलाञ्जलि देते चले जा रहे हैं तो वे बहुत घबराए और पण्डित रामदत्तजी से जाकर प्रार्थना की कि आप स्वामी दयानन्द से मूर्त्तिपूजा के ऊपर शास्त्रार्थ करें। उन्होंने कहा कि मैं वेद नहीं जानता, शास्त्रार्थ कैसे करूँ। परन्तु लोग न माने और आग्रह करते रहे। अन्त को जब उन्हें बहुत दिक किया गया तो एक दिन चुपके से वे हरिद्वार चले गए। अनेक पण्डित ऐसे थे जो हृदय से स्वामीजी के उपदेशों को स्वीकार करते थे, परन्तु लोकापवाद के कारण इस नीति पर कार्य करते थे कि-

*यद्यपि सिद्धं लोकविरुद्धं ना चरणीयं ना चरणीयम्।*

अर्थात् ऐसा कार्य न करना चाहिए जो यद्यपि शास्त्र से सिद्ध हो परन्तु लोकविरुद्ध हो।

**मूर्त्तिपूजा का खण्डन न करें**- एक दिन पण्डित बिहारीलाल ऐक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर ने स्वामीजी से कहा कि महाराज आपके अन्य सब विचार उत्तम हैं और हर प्रकार से श्रेष्ठ हैं, यदि आप मूर्त्तिपूजा का खण्डन न करें तो सब लोग आपके अनुकूल हो जावें और आपकी आज्ञा को स्वीकार कर लें। इसके उत्तर में स्वामीजी ने वही कहा जो वे सदा ऐसे प्रस्तावों के उत्तर में कहा करते थे कि मैं सत्य को नहीं छोड़ सकता।

**स्थूलकाय सरदार**- एक दिन सरदार हरचरणदास स्वामीजी से मिलने आए। वे इतने स्थूलकाय थे कि चल-फिर भी कठिनता से सकते थे। स्वामीजी ने उन्हें देखकर कहा कि ये हमारे देश के हतहृदय लोग हैं जिनमें चलने-फिरने की भी शक्ति नहीं रही। ऐसे मनुष्य देश का क्या उपकार कर सकते हैं ?

**कमिश्नर से बातचीत**- स्वामीजी के उपदेशों की चर्चा सुनकर परकिंस साहब कमिश्नर ने उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की और एक दिन लाला गुरुमुखराय वकील के साथ जो कमिश्नर साहब का यह सन्देश उनके पास लाए थे स्वामीजी कमिश्नर साहब से मिलने गए। अन्य बातचीत होने के उपरान्त दोनों में धर्म विषय पर निम्न कथनोपकथन हुआ-

*परकिंस* - हिन्दू-धर्म सूत के धागे की न्याईं कच्चा है।

*स्वामीजी*- यह धर्म सूत के धागे की न्याईं कच्चा नहीं, बल्कि लोहे से भी अधिक पक्का है, लोहा टूट जाए तो टूट जाए, परन्तु यह कभी टूटने में नहीं आता।

*परकिंस*– आप कोई उदाहरण दें तो हमें विश्वाास आए।

*स्वामीजी*– हिन्दू-धर्म समुद्र के समान है, जैसे समुद्र में असंख्य लहरें उठती हैं, यही दशा इसकी है। देखिए इसमें ऐसे लोग भी हैं जो पानी को छान कर पीते हैं ताकि कोई अदृश्य जीव उनके उदर में न चला जाए, ऐसे लोग भी हैं जो दुग्धाहारी हैं, केवल दूध ही पीते हैं अन्य कोई वस्तु नहीं खाते-पीते और ऐसे लोग भी इसी में हैं जो वाममार्गी कहलाते हैं जो पवित्र-अपवित्र और योग्य-अयोग्य का विचार किए बिना ही जो कुछ पाते हैं, खा जाते हैं। इसमें ऐसे लोग भी हैं जो आयु भर यति रहते हैं, न तो किसी स्त्री से विवाह करते हैं और न किसी को बुरी दृष्टि से देखते हैं और ऐसे लोग भी इसी में हैं जो पराई स्त्रियों से मुँह काला करते हैं। एक वे हैं जो केवल निराकार परमात्मा की ही उपासना करते हैं और उसी का ध्यान करते हैं और एक वे हैं जो अवतारों को पूजते हैं। एक वे हैं जो केवल ज्ञानी हैं और एक वे हैं जो केवल ध्यानी हैं। इसमें वे लोग भी हैं जो छूतछात का इतना बचाव करते हैं कि अन्य धर्मी तो एक ओर शूद्रों के हाथ से न पानी पीते हैं न उनके हाथ का भोजन करते हैं और वे लोग भी इसमें ही हैं जो शूद्रों के हाथ से पानी भी पीते हैं और उनसे भोजन बनवाकर भी खाते हैं। इन सब बातों के होते हुए भी ये सबके सब हिन्दू कहलाते हैं और वास्तव में हैं भी हिन्दू ही और कोई इनका हिन्दू-धर्म से बहिष्कार नहीं करता। अत: समझना चाहिए कि हिन्दू-धर्म बहुत पक्का है, कच्चा नहीं है।

*परकिंस*– आप किस प्रकार के धर्म का प्रचार करना चाहते हैं।

*स्वामीजी*– हम केवल यह चाहते हैं कि लोग वेदों की आज्ञाओं का पालन करें और केवल निराकार, अद्वितीय परमेश्वर की ही पूजा और उपासना करें, शुभ गुणों को ग्रहण करें और अवगुणों को त्याग दें।

**मौलवी से शास्त्रार्थ का आयोजन**– १३ अगस्त सन् १८७७ ई० को अमृतसर में एक मौलवी साहब से करामात विषय पर शास्त्रार्थ होना निश्चित हुआ। स्वामीजी ने कहा कि शास्त्रार्थ-सभा में एक अरबी भाषा जानने वाले का होना आवश्यक है, क्योंकि मौलवी साहब अरबी शब्दों और प्रमाणों का प्रयोग करेंगे और हम अरबी जानते नहीं हैं, अत: लाहौर आर्यसमाज के मंत्री को पत्र भेजा गया कि वहाँ से पादरी इमामुमुद्दीन को भेज दें। परन्तु पादरी साहब समय पर न मिले और जब मिले तो उन्होंने अमृतसर जाना स्वीकार न किया, अत: यह शास्त्रार्थ न हो सका।[५४२]

---

५४२– *'दयानन्द-प्रकाश'* में उल्लेख है–

एक बाल-पाठशाला के अध्यापक ने एक दिन अपने छात्रों से कहा कि आज कथा में चलेंगे, तुम अपनी-अपनी झोलियों में ईंट-रोड़े और कंकर भरकर मेरे साथ चलना और जब मैं संकेत करूँ तो कथा कहने वालों पर ईंट-रोड़े और कंकर फेंक देना, मैं तुम्हें लड्डू दूँगा।

अबोध बालकों ने अपनी झोलियाँ ईंट-रोड़े और कंकरों से भर लीं और दुष्ट अध्यापक के साथ स्वामीजी के व्याख्यान में पहुँचे। व्याख्यान रात्रि के ८ बजे समाप्त हुआ करता था। जब कुछ-कुछ अँधेरा हो गया तो अध्यापक का संकेत पाकर बालक स्वामीजी पर ईंट-रोड़े और कंकर फेंकने लगे। सभा में हलचल मच गई, परन्तु स्वमीजी ने सबको शान्त कर दिया। पुलिस कुछ बालकों को पकड़ कर उनके सामने लाई तो बालक फूट-फूट कर रोने लगे। स्वामीजी ने उन्हें ढाढस बँधाकर उनसे ऐसे कार्य करने का कारण पूछा तो उन्होंने सारा वृत्त सच-सच कह दिया। तब स्वामीजी ने बाजार से लड्डू मँगाकर बालकों को दिए और कहा कि तुम्हारा अध्यापक शायद तुम्हें लड्डू न दे इसलिए मैं ही दिए देता हूँ।

*'दयानन्द-प्रकाश'* में ऊपर की घटना के अतिरिक्त निम्नलिखित तीन घटनाएँ और लिखी हैं –

एक दिन स्वामीजी अपने कमरे में बैठे हुए पण्डितों को वेदभाष्य लिखाते-लिखाते सहसा कमरे से बाहर आ गए और कर्मचारियों से कहा कि झटपट कमरे की सब चीजें बाहर ले आओ। कर्मचारियों ने आज्ञा का पालन तो किया परन्तु वे न समझ सके कि स्वामीजी ने ऐसी आज्ञा क्यों दी। जब सब वस्तुएँ कमरे में से हटा लीं गईं तो कमरे की छत धड़ाम से गिर पड़ी।

१५ अगस्त सन् १८७७ ई० [५४३] अर्थात् श्रावण शुक्ला ७ संवत् १९३४ वि० (बुधवार) को स्वामीजी ने अमृतसर में '*आर्योद्देश्यरत्नमाला*' पुस्तक की रचना की। इसमें इस विषय में निम्न श्लोक दिया गया है-

*वेदरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे विक्रमार्कस्य भूपतेः।*
*नभस्ये सितसप्तम्यां सौम्ये पूर्तिमगादियम्।।*

अर्थात् महाराजा विक्रमादित्य जी के १९३४ के संवत् में श्रावण महीने के शुक्लपक्ष ७ सप्तमी, बुधवार के दिन उक्त स्वामीजी ने आर्यभाषा में सब मनष्यों के हितार्थ यह '*आर्योद्देश्यरत्नमाला*' पुस्तक प्रकाशित किया।

## गुरुदासपुर (१८७७ ई०)

श्रावण शुक्ला १० संवत् १९३४ वि० अर्थात् १८ अगस्त सन् १८७७ ई० (शनिवार) को स्वामीजी शिकरम में सवार होकर सायङ्काल के ५ बजे गुरुदासपुर पहुँचे। स्वामीजी के आगमन के लिए नगर के लोग पहले से ही उत्सुक हो रहे थे, क्योंकि यह समाचार कि स्वामीजी १८ अगस्त को गुरुदासपुर पधारेंगे डॉक्टर बिहारीलाल द्वारा जिन्होंने अपने भाई बल्लभदास को उन्हें अमृतसर से लाने के लिए भेजा था नागरिकों को ज्ञात हो चुका था। नगर के अनेक सज्जन और सरकारी कर्मचारी बड़ी संख्या में नगर से एक मील दूर उनके स्वागत के लिए पहुँच गए थे। जब उस स्थान पर जहाँ यह सब लोग एकत्रित थे स्वामीजी की शिरकम पहुँची तो स्वामीजी उतर पड़े। सबने बड़े प्रेम से स्वामीजी को नमस्ते की और उन्हें गाड़ी पर बिठाकर डॉक्टर साहब के गृह पर लाकर, जिसे उन्होंने खूब सजा रखा था, ठहराया गया।

**व्याख्यान आरम्भ हो गए**- १५-२० मिनिट विश्राम के पश्चात् स्वामीजी ने स्नान किया और फिर एक व्याख्यान मूर्त्तिपूजा पर दिया। फिर तो स्वामीजी के कई व्याख्यान अवतार, ईश्वर, गोरक्षा, आवागमन, श्राद्ध, आर्यावर्त्त की पुरानी दशा, आर्यों के कर्तव्य आदि विषयों पर हुए। श्रोताओं की संख्या दो-दो सहस्र तक पहुँच जाती थी। व्याख्यान-समय के अतिरिक्त अन्य समय भी नगर के सुप्रतिष्ठित सज्जन और उच्च राजकर्मचारी तथा जनसाधारण स्वामीजी से धर्म-विषय पर बातचीत करने तथा शङ्का निवारणार्थ उनके पास आते रहते थे और वे सबकी जिज्ञासाओं का यथायोग्य उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट एवं शान्त कर दिया करते थे।

**दो मूर्त्तिपूजक रईसों की घबराहट**- स्वामीजी के आगमन के तीसरे दिन मियाँ हरिसिंह और शेरसिंह नगर के दो प्रतिष्ठित रईस जो मूर्त्तिपूजक थे और जिन्हें स्वामीजी के मूर्त्तिपूजा के खण्डन से बहुत आघात पहुँचा था, स्वामी गणेशगिरिजी के पास पहुँचे। ये एक विद्वान् और विरक्त पुरुष थे जो नगर से बाहर एकान्त स्थान में निहालशाह के तालाब पर रहा करते थे।

**विरक्त साधु से शास्त्रार्थ की प्रार्थना**- दोनों महोदयों ने उनसे प्रार्थना की कि आप स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ कीजिए। उन्होंने उत्तर दिया की हम नगर में जाते भी नहीं हैं और शास्त्रार्थ करने का हमारा नियम भी नहीं है, हम विरक्त साधु हैं, यदि आपको शास्त्रार्थ कराना है तो किसी पण्डित को बुलवाइये। इस पर दोनों महोदयों ने कहा कि यदि आप

---

एक दिन स्वामीजी का उपदेश हो रहा था कि एक प्रचण्ड आँधी उठी और धूलि से भूतलाकाश को एक करने लगी। श्रोतागण विचलित हो गए और उससे बचने के लिए इधर-उधर झाँकने लगे। महाराज ने मेज पर हाथ मारकर उच्च स्वर से कहा कि घबराइये नहीं आँधी यहाँ न आएगी और ऐसा ही हुआ भी।

एक साधारण स्थिति का मनुष्य स्वामीजी के सत्सङ्ग में आया करता था। एक दिन उसने स्वामीजी से निवेदन किया कि महाराज धनी लोग तो परोपकार और दान-पुण्य करके संसार-सागर से पार हो सकते हैं, परन्तु मुझ जैसे निर्धन का निस्तार कैसे होगा। स्वामीजी ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा कि तुम अपने हृदय से पर-उपकार और अनिष्ट-चिन्तन के भावों को निकाल दो। ऐसा करना भी संसार का उपकार है।

५४३- इसी दिनाङ्क को भारत देश ७० वर्ष बाद अँग्रेजों की दासता से मुक्त हुआ।

नगर में वा स्वामी दयानन्द के स्थान पर जाने में अपना अपमान समझते हैं तो महन्तों के बाग वा अन्य किसी स्थान में जहाँ आप चाहें, हम शास्त्रार्थ-मण्डप बना दें, आप वहाँ चलकर शास्त्रार्थ करें। इस पर गिरिजी ने कहा कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि शास्त्रार्थ से झगड़ा होता है और विरोध बढ़ता है, यदि आप हमें तङ्ग करेंगे तो हम अन्यत्र चले जाएँगे।

**शास्त्रार्थ के लिए दो पण्डितों का आगमन**- अन्त में उक्त रईसों ने दीनानगर से दो पण्डितों, पं० लक्ष्मीधर और पं० दौलतराम को शास्त्रार्थ के निमित्त बुलाया। ये साधारण कोटि के पण्डित थे और इनमें स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का सामर्थ्य न था।

**रईसों की असभ्यता**- जिस दिन ये दोनों पण्डित गुरुदासपुर में अवतीर्ण हुए उस दिन स्वामीजी का शिवपुराण के खण्डन पर व्याख्यान था। जब वे पण्डित और उनके पृष्ठपोषक सभास्थल में पहुँचे तो स्वामीजी यह कहानी सुना रहे थे कि शिवजी का लिङ्ग बढ़ा और ब्रह्मा सूकर का तथा विष्णु हँस का रूप धारण करके उसको नापने के लिए एक पाताल की ओर और दूसरा आकाश की ओर चला, इत्यादि। इस पर उपर्युक्त चारों जन कहने लगे कि यह स्वामी झूठ में यह सब बकता है। तब डॉक्टर बिहारीलाल ने उनसे निवेदन किया कि सभा का यह नियम नहीं है। पहले सब सुन लिजिए पीछे जो आक्षेप करना हो कीजिए, परन्तु वे न माने और ऊल-जलूल बकते और शोर करते रहे। यह सब देखकर स्वामीजी ने व्याख्यान देना स्थगित कर दिया और कहा जिसे आक्षेप करना हो करे। श्रोताओं को भी शास्त्रार्थ सुनने का बहुत चाव था। अत: स्वामीजी के सामने एक कुर्सी डाल दी गई और डॉक्टर बिहारीलाल ने कहा कि पण्डितों में से जो शास्त्रार्थ करना चाहे इस कुर्सी पर आकर विराज जावें, परन्तु दूसरे पक्ष की यह इच्छा थी कि सब मिलकर प्रश्नोत्तर करें। इस पर स्चमीजी ने कहा कि जो पण्डित प्रश्न करना चाहे वह सामने आ जाए। इस पर मियाँ साहबों ने कहा कि कोई पण्डित आपसे अकेला शास्त्रार्थ नहीं कर सकता, दो वा अधिक मिलकर करेंगे। स्वामीजी ने कहा कि जिसकी जैसी इच्छा हो यहाँ आकर शास्त्रार्थकर्ता को बारी-बारी से बतलाता रहे। इस पर मियाँ हरिसिंह ने कहा कि यह बन्दरकला कौन खेल सकता है। तत्पश्चात् डॉक्टर साहब ने आग्रह किया कि शास्त्रार्थ की रीति यह है कि दोनों पक्ष आमने-सामने बैठकर विचार करें, अत: पण्डितजी को स्वामीजी के सम्मुख बैठकर शास्त्रार्थ करना चाहिए। इस पर मियाँ हरिसिंह ने कहा कि यह क्या कञ्जरियों का नाच है जो बीच में आने की आवश्यकता हो? उनकी सभी असभ्य और नियम-विरुद्ध बातों को सहन किया गया और जैसे वे चाहते थे वैसे ही बातचीत आरम्भ हुई।

**शास्त्रार्थ का आरम्भ**- प्रथम मूर्त्तिपूजा पर बात चली तो विपक्ष की ओर से *'गणानां त्वा'* आदि मन्त्र प्रस्तुत करके कहा गया कि इससे गणेशजी की मूर्त्ति सिद्ध होती है। स्वामीजी ने उक्त मन्त्र का भाष्य माँगा तो पण्डितों ने कहा कि इस पर महीधर का भाष्य है। स्वामीजी ने झट महीधर का भाष्य मँगवाकर आगे रख दिया और महीधर के अश्लील अर्थ श्रोताओं को सुनाकर कहा कि न तो इससे मूर्त्तिपूजा ही सिद्ध होती है और न गणेश-पूजा ही, यह तो अत्यन्त अश्लील अनुवाद है और फिर उक्त मन्त्र के सत्य अर्थ भी करके सबको सुनाए।

**अँग्रेजी राज्य न होता तो सिर काट डालता**- यह बात मियाँ साहबों को बहुत अखरी और वे कहने लगे कि अँग्रेजी राज्य है, यदि कोई देशी राज्य होता तो कोई आपका सिर ही काट डालता। परन्तु स्वामीजी पर इन बातों का क्या प्रभाव पड़ना था, वे पूर्ववत् खण्डन करते रहे। तब मियाँ साहब और तो कुछ न कर सके, यह कहने लगे कि यहाँ मजिस्ट्रेट और पुलिस दोनों उपस्थित हैं इसका ध्यान रखना। यह डॉक्टर बिहारीलाल से सहन न हो सका और उन्होंने मियाँ साहबों को मुँह तोड़ उत्तर दिया जिस पर आपस में तेजी से बातचीत होने लगी और इस गड़बड़ में सभा विसर्जित हो गई।

**किए पर पश्चाताप**- दो मास के पश्चात् मियाँ साहबों को अपने किए पर पश्चाताप हुआ और एक मुसलमान सज्जन बीच

में पड़े जिससे मियाँ साहबों ने डॉक्टर साहब से क्षमा-याचना कर ली।

**अँग्रेज इञ्जीनियर चिढ़ गया**- एक दिन व्याख्यान में स्वामीजी ने कहा कि यद्यपि अँग्रेजों को इस देश में आए हुए इतना समय हो गया है, तथापि उनका उच्चारण अब तक भी शुद्ध नहीं हुआ है; वे तकार की जगह टकार, तुम की जगह टुम ही बोले जाते हैं। मिस्टर कॉक इञ्जीनियर भी वहाँ खड़े हुए यह सब सुन रहे थे, उन्हें यह सच्ची बात भी बुरी लगी और यह कहते हुए वहाँ से चले गए कि यदि तुम पश्चिम में पेशावर की ओर जाओ तो तुम्हारी खबर ली जाए।

मौलवी बाकरअली से स्वामीजी की आवागमन पर भी बातचीत हुई थी।

**पितरों को तिल और जौ, अपने को खीर और लड्डू**- एक दिन श्राद्ध पर व्याख्यान देते हुए स्वामीजी ने कहा था कि ब्राह्मण पितरों को तो तिल और जौ देते हैं और स्वयं खीर और लड्डू उड़ाते हैं! एक अनपढ़ ब्राह्मण की कहानी भी उन्होंने सुनाई थी कि वह तिथि का ज्ञान न रखता था। प्रतिपदा के दिन से हर तिथि को कोने में एक-एक लाठी रखता जाता था और इस प्रकार वह लोगों को तिथि बतलाया करता था।

**मुसलमानों की मूर्त्तिपूजा**- एक दिन यह भी कहा था कि हिन्दू तो छोटी-सी चुहिया की ही पूजा करते हैं परन्तु मुसलमान तो बिल्ली को पूजते हैं, अर्थात् हिन्दू तो छोटे से शालिग्राम को ही पूजते हैं और मुसलमानों का काबा तो बड़ा बुतखाना है।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया**- स्वामीजी के उपदेशों का यह परिणाम निकला कि २४ अगस्त, १८७७ ई० तदनुसार भाद्रपद कृष्णा प्रतिपदा संवत् १९३४ वि० (शुक्रवार) को गुरुदासपुर में आर्यसमाज स्थापित हो गया और स्वामीजी एक दिन और ठहर कर बटाला होते हुए पुन: अमृतसर जा विराजे।

## अमृतसर (१८७७ ई०)

गुरुदासपुर से २६ अगस्त सन् १८७७ ई० तदनुसार भाद्रपद कृष्णा द्वितीया संवत् १९३४ वि० (रविवार) को स्वामीजी पुन: अमृतसर लौट आए और २७ अगस्त से लेकर आगे १३ सितम्बर, १८७७ ई० तक वहाँ ही विराजे रहे तथा वेदभाष्य की रचना करते हुए सत्य सनातन वैदिक-धर्म के उपदेश में व्यापृत रहे।इस समय तक '*आर्योद्देश्यरत्नमाला*' भी छपकर तैयार हो गई थी। पञ्जाब सरकार की ओर से नियत जिन विद्वानों ने उनके वेदभााष्य के सम्बन्ध में विरुद्ध सम्मति प्रकट की थी उनका उत्तर छपवाकर मुम्बई भेजने तथा समाचार पत्रों में प्रकाशित कराने का उपक्रम किया।

**गुरुमन्त्र की दीक्षा**- एक दिन व्याख्यान के पश्चात् स्वामीजी के डेरे को जाते हुए मार्ग में लाला मुरलीधर ने जो पीछे आकर आर्यसमाज होशियारपुर के मन्त्री हुए, एकान्त पाकर उनसे निवेदन किया कि मुझे गुरुमन्त्र दीजिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि 'सदा सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करो' और इसी को अपना गुरुमन्त्र जानो।

**स्वामीजी के ईसाइयों के वेतन भोगी होने का प्रमाण**- एक दिन जब पादरी फोरमैन स्वामीजी से मिलने आए तभी म० कन्हैयालाल वकील भी आ गए। यह समझकर कि स्वामीजी का व्यय बहुत है और आय कुछ भी नहीं है, वे २०० रु० उनको भेंट करने के लिए लाए थे। सो वे २०० रुपये के नोट स्वामीजी के सम्मुख रखकर चले गए। इस समय तक पादरी साहब बैठे हुए स्वामीजी से वार्तालाप करते रहे। इतने में एक वणिक भी स्वामीजी के दर्शनों के लिए आ गया। उसने देखा कि एक ओर तो स्वामीजी बैठे हुए हैं और दूसरी ओर पादरी साहब तथा उनके बीच में कुछ नोट रखे हुए हैं। थोड़ी देर बैठकर वह चला गया। उसने नगर में जाकर यह जनरव फैला दिया कि स्वामी दयानन्द ईसाई हो गए हैं और पादरियों से रुपया लेते हैं। जब यह जनरव नगर में फैला तो एक अनुरागी ने स्वामीजी से आकर कहा कि नगर में ऐसी किंवदन्ती हो रही है। स्वामीजी इसे सुनकर कुछ भी विचलित नहीं हुए और कहा कि जो व्यक्ति अपने को किसी अवलम्बित कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं समझते और अपने को किसी कार्य वा कर्त्तव्य में न लगाकर संसार में व्यर्थ घूमते हैं उनकी बात ध्यान देने योग्य नहीं है।

## जालन्धर (१८७७ ई०)

१३ सितम्बर सन् १८७७ ई० तदनुसार भाद्रपद शुक्ला ६ संवत् १९३४ वि० (गुरुवार) को स्वामीजी ९-३० बजे की गाड़ी से अमृतसर से जालन्धर के लिए प्रस्थित हो गये और वहाँ २ बजे पहुँच गए।[५४४]

जालन्धर में स्वामीजी सरदार सुचेतसिंहजी की कोठी में ठहरे।[५४५]

**सरदार विक्रमसिंह व सुचेतसिंह से परिचय**– जिस समय सन् १८७४ ई० के अन्त से सन् १८७५ के आरम्भ के समय में स्वामीजी मुम्बई में थे तो सरदार विक्रमसिंह और सरदार सुचेतसिंह उनसे वहाँ मिले थे और फिर १८७७ ई० में दिल्ली दरबार में भी उन्होंने स्वामीजी के दर्शन किए थे और उन्होंने स्वामीजी से पञ्जाब प्रान्त में पधारने की प्रार्थना की थी। जब स्वामीजी ने पञ्जाब में पदार्पण किया तो वे लुधियाना से लाहौर जाते हुए एक रात के लिए वे जालन्धर में ठहरे थे और सरदार सुचेतसिंह का आतिथ्य ग्रहण किया था।

**प्रथम व्याख्यान**– जालन्धर पधारने के दूसरे दिन स्वामीजी का प्रथम व्याख्यान सरदार सुचेतसिंह के गृह पर सृष्टयुत्पत्ति पर हुआ। उसमें स्वामीजी ने कहा था कि आदि में मनुष्य युवा उत्पन्न हुए थे, यदि बालक वा वृद्ध उत्पन्न हुए होते तो वे कुछ कार्य भी न कर सकते थे।

दूसरा व्याख्यान सरदार विक्रमसिंह के गृह पर हुआ। इसमें भीड़ इतनी थी कि छत और आँगन सब खचाखच भर गए थे।

**३५ व्याख्यान, वेश्यागामी कञ्जर है**– जालन्धर में स्वामीजी के ३४ वा ३५ व्याख्यान हुए। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा कि जो राजा होकर कञ्जरी (वेश्या) रखता है वह कञ्जर ही है। सरदार साहब ने जिनमें यह अवगुण था व्याख्यान की समाप्ति पर कहा कि आज तो आप हम पर ही बरस पड़े। उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि हम तो सब को ही कहते हैं, किसी का पक्ष नहीं करते।

**ब्रह्मचारी का बल-प्रदर्शन**– एक दिन सरदार विक्रमसिंह ने स्वामीजी से कहा कि सुनते हैं ब्रह्मचर्य से बहुत बल बढ़ता है। स्वामीजी ने कहा कि यह सत्य है और शास्त्र में भी ऐसा ही लिखा है। सरदार साहब ने कहा कि शास्त्र के कथन का सत्य सिद्ध होना कठिन है। आप भी तो ब्रह्मचारी हैं, परन्तु आपमें इतना बल प्रतीत नहीं होता। सो स्वामीजी उस समय तो चुप हो रहे, परन्तु जब सरदार साहब अपनी दो घोड़ों की गाड़ी पर सवार हुए तो स्वामीजी ने चुपके से जाकर उनकी गाड़ी का पिछला पहिया पकड़ लिया। कोचवान ने घोड़ों को बढ़ाना चाहा, परन्तु वे न बढ़े। उसने फिर उनके चाबुक रसीद किए। घोड़ों ने बहुतेरा बल लगाया, परन्तु वे टस से मस न हो सके। कोचवान और सरदार साहब ने पीछे मुड़कर देखा तो स्वामीजी को गाड़ी का पहिया पकड़े हुए पाया। तब स्वामीजी ने ईषत् स्मित होकर कहा कि मैंने ब्रह्मचर्य के बल का प्रमाण दे दिया।[५४६]

**स्वामीजी की विनोदप्रियता**– स्वामीजी बड़े विनोदप्रिय थे। उनमें यह शक्ति थी कि श्रोताओं को जब चाहें हँसा दें और जब

५४४– ऋषि दयानन्द के पत्रव्यवहार पृष्ठ ७८ के पत्र सं० ३० में १२ सितम्बर का निर्देश है। वह अशुद्ध है। पत्रव्यवहार पृष्ठ ७५ में १३ तारीख का ही निर्देश है तथा शास्त्रार्थ जालन्धर में भी १३ सितम्बर को ही जालन्धर पहुँचना लिखा है। यह शास्त्रार्थ पं० लेखरामजी रचित जीवनचरित्र में अक्षरशः छपा है।

५४५– *'दयानन्द-प्रकाश'* में लिखा है कि जालन्धर में स्वामीजी सरदार विक्रमसिंह की कोठी में ठहरे थे। *–संग्रहकर्ता*

५४६– *'दयानन्द प्रकाश'* में इस घटना का उल्लेख रावलपिण्डी के वर्णन में किया है। पण्डित लेखरामकृत जीवनचरित में इस घटना का उल्लेख रावलपिण्डी के वर्णन में एक नोट में है, परन्तु उसमें यह कहीं नहीं लिखा है कि यह घटना रावलपिण्डी की है। इसका भी कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि उस समय सरदार विक्रमसिंह रावलपिण्डी थे। यह घटना जालन्धर की है। *–संग्रहकर्ता*

चाहें रुला दें। जब वे देखते थे कि श्रोता गम्भीर विषयों को सुनते-सुनते कुछ अन्यमनस्क हो गए हैं तो कोई न कोई कथानक वा चुटकला ऐसा सुना देते थे कि श्रोता खिलखिलाकर हँस पड़ते थे और फिर गम्भीर विषयों की ओर आकृष्ट हो जाते थे। जालन्धर में उन्होंने कई ऐसी कथाएँ सुनाईं जिनका पण्डित लेखरामकृत उर्दू दयानन्द-चरित में उल्लेख है। हम केवल एक ही कथा यहाँ पाठकों के विनोदार्थ उद्धृत करते हैं-

आजकल के देशी राजाओं के चरित का वर्णन करते हुए एक दिन आपने निम्नलिखित कथा सुनाई-

**मूर्ख राजा की कथा**- एक बार एक राजा दिल्ली गए। वहाँ एक धूर्त्त ने उनसे कहा कि मुझे ऐसे वस्त्र बनाने आते हैं कि वे किसी को दिखाई नहीं देते, परन्तु उस मनुष्य को दिखाई देते हैं जो जारज हो। राजा थे बुद्धि के सागर, उसके झाँसे में आ गए। वस्त्रों का मूल्य १०,००० रुपए ठहरा जिनमें से ५,००० उसने अग्रिम ले लिए। जब कई महिने हो गए और वह न आया तो राजा ने उसे बुलवाया। राजा ने कहा कि वस्त्र लाए? उसने कहा कि लाया हूँ। राजा बोले हमें तो दिखाई नहीं देते। वह धूर्त्त बोला कि यदि दिखाई देते तो बात ही क्या होती। आप अन्दर चलिए मैं आपको पहना दूँ। राजा साहब उसके साथ एक कमरे में चले गए। वहाँ जाकर उसने राजा के सब वस्त्र उतरवाकर नङ्गा कर दिया और फिर झूठमूठ राजा के शरीर पर हाथ फेर कर कहता रहा कि यह कुर्ता पहनाता हूँ, यह पगड़ी इत्यादि। राजा कपड़े पहनना स्वीकार करते रहे और उसी नग्नावस्था में कचहरी में चले आए। मन्त्री बुद्धिमान् था, वह समझ गया कि राजा ठगे गए। उसने राजा से कहा कि सब वस्त्र तो आपने दिल्ली के पहने हैं केवल एक लँगोटी देशी पहन लीजिए ताकि नग्नता बुरी न लगे। राजा ने कहा तो क्या हम नङ्गे हैं। मन्त्री ने कहा कि अवश्य, राजा को भी चेत हुआ और कहा कि उस धूर्त्त ने हमें ठग लिया है।

**श्राद्ध पर व्याख्यान, पितरों के श्राद्ध की सिद्धि**- एक दिन स्वामीजी ने मृतकश्राद्ध के खण्डन पर व्याख्यान दिया। दूसरे दिन उसी स्थान पर पण्डित रामदत्त आनरेरी मजिस्ट्रेट ने मृतक-श्राद्ध-मण्डन पर व्याख्यान दिया, परन्तु उन्होंने वेदों का कोई प्रमाण न दिया केवल गरुड़पुराण आदि के प्रमाण देते रहे। अगले दिन स्वामीजी ने वेदों व मनुस्मृति के प्रमाण देकर सिद्ध किया कि जीवित पिता आदि का ही नाम पितर है मृतक का नहीं। अग्निष्व्यात्त, अनग्निष्वात्त आदि के सत्य अर्थ किए। मनुस्मृति के प्रमाण से सिद्ध किया कि जो २४ वर्ष का ब्रह्मचर्य रखे उसका नाम 'पिता' , जो ३६ वर्ष का रखे उसकी संज्ञा 'पितामह' और जो ४८ वर्ष का रखे उसकी संज्ञा 'प्रपितामह' है। पौराणिक लोग पिण्ड की वेदी बनाते समय वेद का यह मन्त्र (*ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना०*) पढ़कर कहते हैं कि इससे भूत-प्रेत निकट नहीं आते। स्वामीजी ने कहा कि इससे मक्खी तक तो उड़ नहीं सकती, भूत-प्रेत कैसे दूर हो सकते हैं? डेरे पर पहुँचकर पण्डित शिवराम ने स्वीकार किया कि व्याकरण के अनुसार रक्षा और पालन करने वाले को 'पिता' कह सकते हैं। सो यह जीवित ही कर सकते हैं, मृत नहीं।

**तिलकाकार बीट से यम के दूत डर गए**- एक दिन पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी भी तिलक और कण्ठी धारण किए हुए सभामण्डप में उपस्थित थे। स्वामीजी ने कहा कि एक यात्री एक पेड़ के नीचे सो रहा था कि एक कौए की बीट उसके मस्तक पर गिर कर तिलकाकार हो गई। घटनावशात् वह यात्री उसी अवस्था में मर गया तब इधर तो यम के और उधर विष्णु के दूत उसे ले जाने को आए। दोनों में युद्ध हुआ। अन्त को विष्णु के दूत उसे वैकुण्ठ को ले गए। स्वामीजी ने कहा कि तिलक से पुलिस का सिपाही तक तो डरता नहीं, यम के दूत क्या डरते? अगले दिन पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी ने लाहोरियों के ठाकुरद्वारे में व्याख्यान दिया जिसमें उन्होंने कहा कि जैसे कोई ठग बच्चों को लड्डू देकर उनके आभूषण उतार लेता है ऐसे ही दयानन्द ऐसी-ऐसी बातें सुनाकर लोगों को ठगता है।

**काशी माहात्म्य आदि का खण्डन**- एक दिन काशी का माहात्म्य का खण्डन करते हुए स्वामीजी ने कहा कि पाप किसी मन्दिर में जाने वा वहाँ *'नम: शिवाय'* कहने से दूर नहीं होते, पाप तो शुद्ध सङ्कल्प, तप करने और फल भोगने से दूर होते हैं। उसी दिन गङ्गा-स्नान से पाप निवृत्त होने का भी खण्डन किया और यह भी कहा कि हमने अमृतसर की बड़ी महिमा

सुनी थी कि उसमें अमृत है, परन्तु हमने जाकर जो देखा तो उसमें स्नान करना तो दूर रहा पैर डालने को भी जी नहीं चाहता, क्योंकि दीपमालिका को सिक्ख लोग केश भी उसी में डाल देते हैं। इस पर सरदार विक्रमसिंह ने कहा कि महाराज आज हम पर भी बरसे। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हम तो सत्य कहते हैं।

**स्त्रियों को बुलाने का बिगुल**– एक दिन स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे कि सन्ध्या का समय हो गया और एक मन्दिर से शङ्ख–घड़ियाल बजने की आवाज आई। इस पर स्वामीजी ने कहा कि देखो यह स्त्रियों के बुलाने का बिगुल है। साधु पुजारी बच्चों को प्रसाद की चाट डाल देते हैं। जब शङ्ख–घड़ियाल बजते हैं तो लड़का माता से कहता है, चलो माँ आरती देखें। उसको क्या ज्ञान है कि वहाँ माँ की क्या दुर्दशा होगी।

**अथर्ववेद स्त्रियों का गीत है**– स्वामीजी के आगमन के समय पञ्जाब में वेदों के विषय में भारी अज्ञान था। पुरोहितगण अथर्ववेद को स्त्रियों के गीत बताया करते थे। स्वामीजी के उपदेशों से ही घोर अज्ञानान्धकार दूर हुआ।

**मौलवी से शास्त्रार्थ**– जालन्धर में स्वामीजी का एक व्यक्ति मौलवी अहमदहसन से २४ सितम्बर १८७७ ई० को आवागमन और विभूति (करामात) पर शास्त्रार्थ हुआ था जो छप गया था और पण्डित लेखरामकृत उर्दू दयानन्द–चरित के साथ परिशिष्ट के रूप में लगाया हुआ है।

**शास्त्रार्थ का सार**– स्वामीजी ने मौलवी साहब से प्रश्न किया कि आप *'करामात'* किसे कहते हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया कि मनुष्य के स्वभाव वा शक्ति से बाहर के काम को जो परमेश्वर अपने कृपापात्र मनुष्यों से कराता है। ऐसे कामों में कर्त्ता ईश्वर होता है मनुष्य तो उसके हाथ में कठपुतली के समान होता है। परमेश्वर अपने स्वभाव के विरुद्ध काम नहीं करता, परन्तु मनुष्य से उसके स्वभाव के विरुद्ध काम करा सकता है, सृष्टि–नियम (प्राणिमात्र के स्वभाव) के विरुद्ध भी वह काम हो सकता है। महाराज के प्रश्न करने पर मौलवी साहब ने कहा कि हजरत मुहम्मद और हजरत ईसा ने ऐसी करामात दिखाई थी जिनका प्रमाण उन लोगों के वचन हैं जिन्होंने उन्हें स्वयं अपनी आँखों से देखा था। परन्तु इस आक्षेप पर कि उनके सच्चे होने का क्या प्रमाण है, सम्भव है उन्होंने झूठ ही लिखा हो, अब भी बहुत से ढोंगिए हैं जो लोगों को ठगते फिरते हैं, इस समय कोई करामात दिखाने वाला बताइए और जब अब नहीं तो पहले भी नहीं था और आगे को भी नहीं होगा। मौलवी साहब ने कहा कि यदि हर बात का समाचार झूठा हो तो लन्दन कलकत्ता आदि के अस्तित्व और वेद के ईश्वरकृत होने को न मानना चाहिए। स्वामीजी ने इसका उत्तर दिया कि कोई लन्दन कलकत्ते के अस्तित्व को न माने तो उसे वहाँ ले जाकर दिखाया जा सकता है, ऐसे ही करामात को भी दिखाना चाहिए। वेद का ईश्वरकृत होना असम्भव नहीं क्योंकि परमेश्वर अन्तर्यामी, पूर्ण विद्वान्, दयालु, न्यायकारी है वह जीवात्मा में अन्तर्यामीरूप से अपना प्रकाश कर सकता है। ईश्वर के कामों की भी सीमा है, जैसे वह मर नहीं सकता, अज्ञानी नहीं हो सकता, अत: करामात किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। मौलवी साहब को कोई उत्तर न आया और अन्त में यही कहा कि मक्के और शाम देश में चालीस मनुष्य करामात दिखाने वाले हैं यदि किसी को सन्देह हो तो वहाँ जाकर देख ले और भी दो चार अप्रासङ्गिक बातें कहकर अपना कथन समाप्त किया। परन्तु यह न बतलाया कि उन करामात दिखाने वालों का नाम और पता क्या है और वे क्या करामात दिखाते हैं।

इसके पश्चात् आवागमन पर बातचीत हुई। मौलवी साहब ने कहा कि किसी पदार्थ का आस्तित्व बिना उसके वर्तमान रूप के सम्भव नहीं। अत: जब रूप ही सादि है तो प्रकृति भी अवश्य सादि होनी चाहिए। अत: संसार भी अनादि नहीं हो सकता जैसा कि आवागमन मानने वाले मानते हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि रूप दो प्रकार का होता है, एक इन्द्रियग्राह्य, दूसरा अतीन्द्रिय– कार्यरूप प्रकृति में वह इन्द्रियग्राह्य और कारणरूप में अतीन्द्रिय होता है। यदि कारण में रूप न हो तो कार्य में भी नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य में कारण के ही गुण आते हैं। रूप बिना वस्तु के अलग नहीं रह सकता, इससे सिद्ध है कि कारण नित्य है। इस पर मौलवी साहब का यह उत्तर था कि प्रकृति का इन्द्रिय–गोचर होना किसी अन्य

वस्तु के संयोग से हो सकता है, अत: वह वस्तु प्रकृति से पहले होगी। किसी विशेष रूप और आकृतिवाले पदार्थ के वे रूप और आकृति उससे पहले नहीं हो सकते, अत: उस रूप और आकृति के प्राग्भाव को ही नित्य कहा जाएगा। स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि कसी पदार्थ के स्वाभाविक गुण उससे पीछे नहीं हो सकते, वे साथ रहते हैं केवल निमित्त कारण के संयोग पर वे इन्द्रियग्राह्य हो जाते हैं। कार्य-जगत् प्रवाहरूप से अनादि है स्वरूप से नहीं। मौलवी साहब ने कहा कि गुणी का गुणों से प्राग्भाव होता है, जैसे प्रकृति का अपने गुणरूप से, दूसरा प्राग्भाव समय के सम्बन्ध से होता है सो यह प्रकृति में है नहीं। इससे मौलवी साहब ने यह सिद्ध करना चाहा कि जब रूप आदि के व्यक्त होने से ही प्रकृति का अस्तित्व हुआ तो प्रकृति का प्राग्भाव था। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि द्रव्य उसे कहते हैं कि जिसमें गुण, क्रिया, संयोग, वियोग होने का स्वभाव हो, परन्तु ये परिछिन्न द्रव्य में रहते हैं। जो द्रव्य विभु वा व्यापक है उनमें से किसी में केवल गुण और किसी में गुण और क्रिया दोनों होते हैं, परन्तु संयोग-वियोग से पृथक् रहते हैं, जैसे दिशा, काल, आकाश में केवल गुण है, क्रिया नहीं और परमेश्वर में गुण और क्रिया दोनों हैं। मौलवी साहब ने स्वामीजी के कथन का उत्तर तो दिया नहीं केवल यह कहा कि मानो जैद का शरीर है, वह उसके उत्पन्न होने से पहले नहीं था, उसका स्वभाव अनादि था, परमेश्वर के ज्ञान में भी वह नहीं था। रूप का ज्ञान बाह्य वस्तुओं से इन्द्रिय द्वारा होता है और जब आर्य मानते हैं कि प्रकृति कारणरूप में इन्द्रियग्राह्य नहीं थी तो इसके अर्थ हैं कि प्रकृति का अस्तित्व ही नहीं था, अत: आवागमन फिर कहाँ रहता है। कर्म आवागमन के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि कर्म गतिजन्य होते हैं और गति काल में होती है और काल का आदि मध्य और अन्त इकट्ठा नहीं रह सकता, अत: कर्म नष्ट हो गए। दूसरे, आवागमन से बहुत-सी हानियाँ होंगी, क्योंकि एक शरीर में जो योग्यता प्राप्त की थी वह नीची योनि में जाने से नष्ट हो जाएगी। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यह कहना ठीक नहीं है कि सब ज्ञान इन्द्रियजन्य ही है। जीवात्मा है, परन्तु इन्द्रियग्राह्य नहीं है। परमेश्वर, जीवात्मा और जगत् का कारण अनादि हैं और अभाव से भाव नहीं हो सकता। सुषुप्ति में जाग्रदवस्था की प्राप्ति की हुई योग्यता नहीं रहती, अत: मौलवी साहब को सोना कभी न चाहिए।

इस प्रकार यह शास्त्रार्थ समाप्त हुआ। मौलवी साहब का तर्क कितना दूषित था यह पाठक स्वयं देख सकते हैं। उनकी युक्ति स्वयं उनके ही पक्ष का खण्डन करती थी। शास्त्रार्थ की समाप्ति पर मौलवी साहब ने नासिरुद्दीन के खानकाह के द्वार पर जाकर अपनी जीत की बहुत डींग मारी और मूर्खमण्डली ने उन्हें घोड़े पर चढ़ा कर नगर में घुमाया। इसको समझदार मुसलमानों ने भी पसन्द न किया, क्योंकि यह पहले ही निश्चित हो गया था कि शास्त्रार्थ की समाप्ति पर कोई किसी की हारजीत न समझे। जब वह मुद्रित हो जाएगा तो बुद्धिमान् लोग स्वयं ही परिणाम निकाल लेंगे।

जालन्धर में स्वामीजी ने एक ईसाई को शुद्ध किया था।

## लाहौर (१८७७ ई०)

जालन्धर से स्वामीजी १७ अक्टूबर सन् १८७७ ई० तदनुसार आश्विन शुक्ला ११ संवत् १९३४ वि० (बुधवार) को लाहौर पधारे और नवाब रजाअली के उद्यान में ठहरे।[५४७]

**धन की अधिकता अवनति का कारण होती है**- इस समय कई लोगों ने स्वामीजी से प्राणायाम और उपासना की विधि सीखी। एक दिन एक पादरी और एक मिशनरी महिला स्वामीजी से मिलने आए। उनसे स्वामीजी ने कहा कि धन की अधिकता जाति की अवनति का कारण हुआ करती है, जैसी कि वह आर्य-जाति के अध:पतन का कारण हुई और उदाहरण रूप से कहा कि इसी कारण से अँग्रेजों की दिनचर्या बिगड़ती जाती है। पहले हम जब सूर्योदय से पूर्व भ्रमण करने जाया करते थे तो हम बहुत से अँग्रेज स्त्री-पुरुषों को हवाखोरी करते हुए देखते थे, परन्तु अब वे बहुत दिन चढ़े उठते हैं।

५४७- ऋषि दयानन्द के ११ अक्टूबर १८७७ ई० के पत्र में स्वामीजी के १५ अक्टूबर को जालन्धर से प्रात: ७-३० बजे की गाड़ी से चलकर १०-३० बजे अमृतसर पहुँचने और फिर वहाँ से १६ अक्टूबर को लाहौर जाने का उल्लेख है। - *संग्रहकर्त्ता*

**वेद में ऋषियों के नाम नहीं हैं**– एक दिन एक पण्डित ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि सामवेद में भारद्वाज आदि ऋषियों के नाम आए हैं, इससे सन्देह होता है कि वेद ऋषि-कृत हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि उन मन्त्रों में ये नाम ऋषियों के नहीं हैं, प्रत्युत उनके विशेष अर्थ हैं। पीछे से ऋषियों के नाम भी वेद के इन शब्दों से रख लिए गए हैं और कई एक मन्त्रों का जिनमें उक्त शब्द आये थे, अर्थ करके सुनाया।

**ऋषियों की ईश्वर का ज्ञान न था**– एक दिन एक विशप (लाट पादरी) स्वामीजी से भेंट करने आए और वार्तालाप में यह प्रसङ्ग उठाया कि वेद के ऋषियों को ईश्वर के विषय में कुछ ज्ञात न था और हिरण्यगर्भ सूक्त की ओर सङ्केत किया कि उसमें यह आता है कि हम किस देव की उपासना करें (*कस्मै देवाय हविषा विधेम*)। राय मूलराज ने उक्त सूक्त का अँग्रेजी अनुवाद स्वामीजी को सुनाया तो उन्होंने विशप साहब से कहा कि आपको अशुद्ध अनुवाद के कारण यह भ्रम हुआ है। इसके ये अर्थ नहीं हैं कि किस देव की हम उपासना करें, प्रत्युत यह है कि हम सर्वव्यापक, सुखस्वरूप परमात्मा की उपासना करते हैं। फिर विशप साहब बोले कि देखो बाइबिल का प्रताप कि वह संसार में इतने विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ है कि उसमें सूर्य अस्त नहीं होता। स्वामीजी ने कहा कि यह भी वेद का ही प्रताप है। हम लोग वैदिक धर्म को छोडकर बैठे हैं और आप लोगों में वेदोपदिष्ट गुण हैं, यथा– ब्रह्मचर्य, विद्याध्ययन, एकपत्नीव्रत, दूरदेश-यात्रा, स्वदेशप्रीति आदि। इसी से आपकी इतनी उन्नति हो रही है, बाइबिल के कारण से नहीं।

**ब्राह्मसमाज का उत्सव**– २१ अक्टूबर १८७७ ई० को ब्राह्मसमाज लाहौर का चौदहवाँ वार्षिक उत्सव था। स्वामीजी उसमें ३००, ४०० मनुष्यों के साथ पधारे। उस समय ब्राह्मसमाज के उपदेशक बाबू अघोरनाथ गुप्त उपासना कर रहे थे। उपासना के अन्त में स्वामीजी उनसे कौलम-कौली होकर मिले। उनका मन प्रफुल्ल और चित्त प्रसन्न था। उनके पधारने से उत्सव-क्षेत्र ने आर्य-ऋषियों के धर्मक्षेत्र नैमिषारण्य के समान श्री धारण कर ली थी।

**नियमों के प्रतिकूल कोई कथन न करें**– जिन दिनों स्वामीजी अमृतसर में उपदेश दे रहे थे उन्हीं दिनों में आर्यसमाज लाहौर के एक साप्ताहिक सत्सङ्ग में बाबू शारदाप्रसाद ने अपने व्याख्यान में यह कह दिया कि वेद, कुरान, बाइबिल एक-से ईश्वरीय आदेश हैं। यह कथन सभासदों को बुरा लगा और जब इस बार स्वामीजी लाहौर पधारे तो उन्होंने उनसे व्यवस्था माँगी। उन्होंने शारदाबाबू के कथन को आर्यसमाज के नियमों के प्रतिकूल बताया और कहा कि किसी को नियमों के प्रतिकूल कहने का अधिकार नहीं है और यदि कोई ऐसा करे तो हर एक सभासद को उसे रोकने का अधिकार है।

२६ अक्टूबर सन् १८७७ ई० को स्वामीजी ने फिरोजपुर के लिए प्रस्थान किया।

## फीरोजपुर (१८७७ ई०)

फीरोजपुर में स्वामीजी का आगमन २६ अक्टूबर सन् १८७७ ई० तदनुसार कार्तिक कृष्णा ४ संवत् १९३४ वि० (शुक्रवार) को हुआ। उनके पधारने से पहले ही वहाँ एक हिन्दू-सभा स्थापित थी। जब उसके सदस्यों ने स्वामीजी के उपदेशों की चर्चा सुनी तो उन्हें उनके दर्शनों की लालसा हुई और उनकी यह भी इच्छा हुई कि उक्त सभा का कार्य श्री स्वामीजी के सिद्धान्तों के अनुसार ही होना चाहिए। स्वामीजी के आगमन के लिए उक्त सभा के प्रधान म० मथुरादास इतने उत्सुक हुए कि उन्होंने एक सज्जन को स्वामीजी को फीरोजपुर लाने के लिए भेजा और वह उन्हें लिवाकर लाया। ला० मथुरादास ने उनके निवास के लिए एक गृह सुसज्जित कराया जो एकान्त स्थान में था, परन्तु स्वामीजी ने उसके नगर के भीतर होने के कारण उसमें ठहरना न चाहा। तब उन्हें नगर के बाहर एक कोठी में ठहराया गया।

**बेतुका शास्त्री**– यहाँ स्वामीजी के आठ व्याख्यान हुए। पहले व्याख्यान के आरम्भ होते ही एक जन गोपाल शास्त्री ने कुछ कहना चाहा। स्वामीजी ने कहा कि व्याख्यान की समाप्ति पर जो पूछना चाहो पूछ लेना। उसने कहा कि मुझे आप के कथन पर बहुत से आक्षेप करने हैं, स्वामीजी ने कहा कि लिखते जाओ अन्त में सब आक्षेप कर लेना। वह बोला मैं इतना नहीं

लिख सकता। इस पर लोगों ने और स्वामीजी ने भी उससे कहा कि शान्तिपूर्वक सुने जाओ, परन्तु वह महाराज के तेज से ऐसा अभिभूत हुआ कि तुतलाने लगा और विक्षिप्त-सा हो गया और यह बड़बड़ाता हुआ कि 'यह गप्पाष्टक है, जो कोई अपने माता-पिता से उत्पन्न हिन्दू हो वह इसकी बात न सुनें' सभा से चला गया। उसके साथ दस बारह मनुष्य उठकर चले गए, शेष शान्तिपूर्वक व्याख्यान सुनते रहे।

**राजा का धूर्त कोठारी**- एक दिन स्वामीजी ने एक कथा सुनाई कि एक राजा था जिसका कोठारी बहुत अधिकार सम्पन्न था। जब कोई ब्राह्मण उसके पास आता और उससे कहता कि मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ आप मेरी सहायता कीजिए, तो वह उससे अपना भाग ठहरा लेता और कह देता कि पढ़े-लिखे होने की आवश्यकता नहीं है, मुख से चाहे जो कहते रहो केवल हाथ में माला और गोमुखी होनी चाहिए। एक बार एक मूर्ख ब्राह्मण आया और कोठारी ने अपना भाग ठहराकर उसे नदी के घाट पर भेज दिया। वह घाट पर जाकर जप करने लगा, '*राजा का जप करूँ, राजा का जप करूँ।*' फिर एक दूसरा ब्राह्मण आया और वह भी कोठारी का भाग ठहराकर उसी स्थान पर जप करने लगा '*जो तू करे सो मैं करूँ, जो तू करे सो मैं करूँ।*' फिर तीसरा आया, वह विद्वान् था। वह भी घाट पर गया तो उपर्युक्त दृश्य देखकर चकित हुआ और उसने यह कहना आरम्भ किया '*यह निभेगी कब तक, यह निभेगी कब तक।*' इसी प्रकार चौथा पहुँचा वह यह जपने लगा '*जब तक निभेगी तब तक, जब तक निभेगी तब तक*'।[५४८]

यह दृष्टान्त देकर स्वामीजी ने कहा कि आजकल के ब्राह्मणों की यही दशा है, जानते हुए भी अविद्या में धकेले जा रहे हैं।

**एक क्लर्क से प्रश्नोत्तर**- एक दिन पण्डित कृपाराम क्लर्क मैगेजीन फीरोजपुर सभा में आए और स्वामीजी से प्रश्नोत्तर करने चाहे, परन्तु स्वामीजी से कहा आप तो कुर्सी पर बैठे हैं, मैं आपसे कैसे प्रश्नोत्तर करूँ। तब स्वामीजी ने उसके लिए भी कुर्सी लाने को कहा। उसमें कुछ देर हुई तो स्वामीजी ने उनसे कहा कि यदि आपको यह अखरता हो कि मैं कुर्सी पर क्यों बैठा हूँ तो मैं भी नीचे बैठ जाता हूँ, आप प्रश्न कीजिए, परन्तु इतने में ही कुर्सी आ गई। उन्होंने पूछा परमेश्वर महदूद है वा गैरमहदूद। स्वामीजी ने कहा कि मैं अरबी नहीं समझता, परन्तु आपका अभिप्राय सर्वव्यापक व एकदेशी से है तो परमेश्वर सर्वव्यापक है। इस पर पण्डित कृपाराम ने अपनी जेब से घड़ी निकाल कर मेज पर रख दी और स्वामीजी से कहा कि बताओ इसमें परमेश्वर कहाँ है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि आकाश सब जगह समाया है। सब वस्तुएँ आकाश के भीतर हैं और अपना सोटा खड़ा करके कहा कि जैसे यह मेरा सोटा आकाश से बाहर नहीं हो सकता वैसे ही आपकी घड़ी भी परमेश्वर के व्यापकत्व से पृथक् नहीं हो सकती।

**विरोधी अनुकूल हो गया**- उस समय तो पण्डित कृपाराम यह कहकर चले गए कि आपको गपोड़े हाँकने ही आते हैं, परन्तु पीछे स्वामीजी के कथन की सत्यता के सामने उन्होंने सिर झुकाया और वह आर्यसमाज के सभासद् बने।

एक दिन एक दफ्तरी ने पञ्जाबी भाषा की एक तुक महाराज को सुनाई कि-

**पञ्जाबी तुक का अर्थ**- *"ज्ञान कर ज्ञान कर, ज्ञान को खण्डन कर खेल चौगान मैदान माँही।"* वह दूसरी तुक पढ़ने को ही था कि स्वामीजी ने उससे कहा कि पहले इसी तुक का अर्थ करो। परन्तु वह न कर सका तो उन्होंने स्वयं उसका अर्थ किया कि कुछ पढ़ और भले प्रकार पढ़ फिर पढ़ा-लिखा सब भूल जा और गिल्ली डण्डा खेल।

एक दिन नगर के पण्डितों ने कुछ प्रश्न बनाकर भेजे, जिनका स्वामीजी ने तत्काल समुचित उत्तर दे दिया।

**पूजा का शत्रु पुजारी**- एक मन्दिर का पुजारी स्वामीजी के पास आया और कुछ पूछना चाहा। स्वामीजी ने उससे पूछा कि कुछ पढ़े हो कि नहीं। उसने कुछ ग्रन्थों के नाम बताए। फिर उससे पुजारी शब्द के अर्थ करने को कहा। वह न कर सका।

---

५४८- यह दृष्टान्त ऋषि दयानन्द ने अपने '*व्यवहारभानु*' ग्रन्थ में भी दिया है। देखो पृष्ठ ४२-४४। - *संग्रहकर्ता*

तब स्वामीजी ने कहा कि इसके अर्थ है पूजा का अरि (शत्रु)। उसी पुजारी के यह कहने पर कि सब शास्त्र वेद के सहारे ही बने हैं, स्वामीजी ने इसकी सत्यता स्वीकार करते हुए कहा कि जैसे थैली के रुपयों में खरा-खोटा देखना सर्राफ का काम है ऐसे ही विद्वानों का काम सत्यासत्य के निर्णय करने का है।

**भक्त से योग-चर्चा**- फीरोजपुर में एक सज्जन थे जिनका नाम स्वरूपसिंह था। उनकी जप-पाठ में बड़ी निष्ठा थी। उन्होंने बहुत देर तक स्वामीजी से योग-चर्चा की और स्वामीजी ने परम दयालुता से योग के कई बहुमूल्य रहस्य उन्हें बताए।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया**- स्वामीजी ४ नवम्बर की रात्रि को फीरोजपुर से प्रस्थित हुए और ५ नवम्बर को लाहौर पहुँच गये। स्वामीजी के चले जाने के पश्चात् फीरोजपुर में नियम-पूर्वक आर्यसमाज स्थापित हो गया।

## लाहौर (१८७७ ई०)

**मुझे सम्मति देने का अधिकार नहीं है**- ५ नवम्बर सन् १८७७ ई० तदनुसार कार्तिक अमावस्या संवत् १९३४ वि० (सोमवार) को स्वामीजी प्रातःकाल फीरोजपुर से लाहौर पहुँच गए। उसी दिन सायंकाल को आर्यसमाज में उनका व्याख्यान हुआ। ६ नवम्बर को आर्यसमाज के उपनियम स्वीकार होने थे। तदर्थ अन्तरङ्ग सभा का अधिवेशन हुआ। स्वामीजी उसमें विराजमान थे। अन्तरङ्ग-सभासदों ने स्वामीजी से सम्मति देने की प्रार्थना की, परन्तु उन्होंने स्वीकार न किया और कहा कि मैं आपकी सभा का सदस्य नहीं हूँ। मुझे सम्मति देने का कोई अधिकार नहीं है। तब उन्हें भी सभासद बनाया गया और फिर उन्होंने अपनी सम्मति दी। इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी नियमों का कितना आदर करते थे।

७ नवम्बर सन् १८७७ ई० को स्वामीजी ने रावलपिण्डी के लिए प्रस्थान किया।

## रावलपिण्डी (१८७७ ई०)

स्वामीजी की ख्याति पञ्जाब के नगर-नगर में फैल गई थी। रावलपिण्डी में भी उनके उपदेशों की चर्चा होने लगी थी। वहाँ दो खत्री जवाहर व प्रभुदयाल थे जो घी-तेल की दूकान करते थे और कुछ संस्कृत भी पढ़े थे। एक दिन रावलपिण्डी के रईस सरदार सुजानसिंह ने उनसे कहा कि स्वामी दयानन्द तीर्थ, मूर्त्तिपूजा, मृतकश्राद्ध आदि का खण्डन करते हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया कि स्वामीजी की बातें अयुक्त हैं, आप संस्कृतज्ञ नहीं हैं, इसलिए आपको उनकी विद्या अधिक जान पड़ती है। इस पर सरदार साहब ने कहा कि आप प्रमाण संग्रह करके दो हम उन्हें स्वामीजी के पास उत्तरार्थ भेज देंगे इस पर उन्होंने कुछ प्रमाण लिख कर दिए जो सरदार साहब ने स्वामीजी के पास भेज दिए। स्वामीजी ने उत्तर में लिख दिया कि आप संस्कृतज्ञ नहीं हैं, इससे उत्तर नहीं भेजते। हम स्वयं रावलपिण्डी आकर उत्तर देंगे। इसके कुछ दिन पश्चात् ही स्वामीजी रावलपिण्डी में आकर विराजमान हो गए। बाबू निराशचन्द्र वन्द्योपाध्याय हेडक्लर्क, डिप्टी कमिश्नर, सदस्य ब्राह्मसमाज उन्हें लाहौर से लिवा कर लाए थे। रावलपिण्डी में वे पारसी सौदागर जामास्पजी की कोठी में, जो नदी के तट पर थी, ठहर थे। उसी कोठी में उनके व्याख्यान होते रहे। यह व्याख्यान मूर्त्तिपूजा आदि विषयों पर ही थे। पहले ही दिन के व्याख्यान में उन्होंने मूर्त्तिपूजा का ऐसा भयानक खण्डन किया कि रावलपिण्डी के जन साधारण और विशेषकर ब्राह्मणगण विक्षिप्तप्राय हो गए। इसके पश्चात् अनेक लोगों ने उनके व्याख्यानों में जाना ही बन्द कर दिया।

**हिन्दू दूसरे मतों की पुस्तकें नहीं देखते**- एक दिन व्याख्यान के पश्चात् स्वामीजी लोगों से बातचीत कर रहे थे। प्रसङ्गवश वे हिन्दुओं की दशा पर खेद प्रकट कर रहे थे कि वे दूसरे मतों की पुस्तकें नहीं देखते और जब ईसाई वा मुसलमान मेलों में यह कहते हैं कि ब्रह्मा ने अपनी पुत्री से जार-कर्म किया तो निरुत्तर हो जाते हैं। यह कथा किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में नहीं है। परन्तु बाइबिल में यह लिखा है कि पैगम्बर लूत ने अपनी पुत्रियों से जार- कर्म किया। यदि हिन्दू पादरियों और मौलवियों को ऐसी बातें बतलावें तो वे कदापि सम्मुख न ठहर सकें। एक पादरी और मिशन स्कूल के मौलवी भी उस समय उपस्थित थे, उन्होंने आपस में मन्त्रणा की कि स्वामीजी ने यह बात झूठ कही है, कल पुस्तकें लाकर उन पर आक्षेप करना

है। स्वामीजी ने कहा पहले आपको चाहिए था कि घर में ही दिया जलाकर अपनी चारपाई की दशा जान लेते तो भरी सभा में आपको लज्जित न होना पड़ता। परन्तु वे आग्रह करते रहे कि आपका कथन असत्य है, तो स्वामीजी ने अपनी बाइबिल की पुस्तक मँगाकर उन्हें दिखाई जिस पर वे बहुत लज्जित हुए और कहने लगे कि उसने मद्य की मादकता में ऐसा किया था। इस पर एक सज्जन ने कहा कि वह जानता था कि मेरी स्त्री का देहान्त हो चुका है और वह मेरी पुत्री है, उसका पाप से छुटकारा नहीं हो सकता। इस पर वे लज्जित होकर चले गए।

**हमारी कोठी में न रहिए**– जामास्पजी अपनी कोठी में स्वामीजी को रखना नहीं चाहते थे क्योंकि विपक्षी लोगों ने उन्हें उनके विरुद्ध भड़काना आरम्भ कर दिया था। जामास्पजी ने स्वयं तो यह बात स्वामीजी से न कही, वरन् अन्य लोगों से कहलवाई। इस पर स्वामीजी के भक्तों ने सरदार सुजानसिंह से स्वामीजी को अपनी कोठी में निवासस्थान देने की प्रार्थना की जो उन्होंने सहर्ष स्वीकार की। अत: शेष जितने दिन स्वामीजी रावलपिण्डी में रहे उनकी ही कोठी में रहे। जामास्पजी की कोठी में वह केवल प्रारम्भिक ८-१० दिन ही रहे थे।

**भीड़ को आने दो**– एक दिन नगर के लगभग ५०० मनुष्य पण्डित ब्रजलाल के नेतृत्व में सरदार साहब के बाग में आए।[५४९] भाई अतरसिंह ने स्वामीजी से निवेदन किया कि नगर के लोगों की भीड़ आ रही है। स्वामीजी ने कहा आने दो, देखो क्या होता है।

**आपकी बातों का कैसे विश्वास हो**– सरदार कृपालसिंह ने कहा कि मूर्त्तिपूजा को सनातन से लोग स्थापित करते चले आते हैं और आप उसका खण्डन करते हैं, तो लोगों को कैसे विश्वास हो। स्वामीजी ने कहा यदि कोई शास्त्र द्रष्टा हो तो हम पत्र लिखते हैं, उसका वह उत्तर हमें दे, चाहे स्वामी सम्पद्गिरि से (जो कनखल की एक गद्दी के महन्त थे और उन दिनों रावलपिण्डी में ठहरे हुए थे और विद्वान् थे) सहायता ले लें अथवा काशी की विद्वन्मण्डली से, परन्तु इस पर कोई सन्नद्ध न हुआ। पण्डित ब्रजलाल ने एक श्लोक पढ़ा, परन्तु वह इतना अशुद्ध था कि स्वामीजी को कुछ आवेश आ गया और वह कड़ककर बोले कि यह बालकों की शाला नहीं है कि अशुद्ध बोलकर हमारा समय नष्ट करो। वह श्लोक का कुछ भी पता न बता सका और पण्डित ब्रजलाल को उसकी अशुद्धियाँ स्वीकार करनी पड़ी।

**जीवन की घटनाओं का वर्णन**– निज स्थान पर स्वामीजी ने अपने जीवन की अनेक घटनाएँ कई दिनों तक वर्णन कीं, परन्तु अपना पितृदत्त नाम नहीं बतलाया।

**महाराजा काश्मीर का निमन्त्रण अस्वीकृत**– महाराजा जम्मू व काश्मीर की एक पत्रिका आई थी। उस पर स्वामीजी ने काश्मीर जाने में अनिच्छा प्रकट की क्योंकि महाराजा ने वहाँ सैकड़ों मन्दिर बनवाए हैं और हम उनका वहाँ जाकर खण्डन करेंगे तो इससे वहाँ उपद्रव होने की आशङ्का है।

**मारवाड़ का एक मूर्त्ति-पूजक राजा**– इसी प्रसङ्ग में उन्होंने यह भी कहा था कि मारवाड़ का एक राजा १५ सेर रुद्राक्ष धारण किया करता और ५ सेर मिट्टी के शिवलिङ्ग प्रतिदिन बनाया करता था। उन्हें एक ब्राह्मण जल में छोड़कर बहाने जाया करता था। स्वामीजी ने उसे उपदेश दिया। ब्राह्मण ने कहा कि रुद्राक्ष गौरीशङ्कर हैं। स्वामीजी ने कहा यह तो एक वृक्ष के बीज हैं। स्वामीजी ने कहा कि वह राजा जब फिर हमें मिला तो उसने केवल एक रुद्राक्ष धारण कर रखा था। उसने प्रणाम करके कृतज्ञता प्रकट की और कहा आपके उपदेश से मेरी अविद्या दूर हुई।

**सम्पद्गिरि का वृथा प्रयास**– एक दिन स्वामी सम्पद्गिरि ने ऋग्वेद की ऋचा *'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति'* आदि लिखकर पण्डित लक्ष्मीराम द्वारा, जिनकी विद्वत्ता की रावलपिण्डी में बड़ी ख्याति थी, स्वामीजी के पास भेजी कि इसमें तीर्थों का

५४९- *'दयानन्द प्रकाश'* में लिखा है कि लोग ज्यों-त्यों करके सम्पद्गिरि को साथ लाए थे, परन्तु अन्त समय में वह किनारा कर गए और इसलिए पण्डित ब्रजलाल को ही *'गले पड़ा ढोल'* बजाना पड़ा। - *संग्रहकर्त्ता*

प्रतिपादन है, फिर आप तीर्थों का कैसे खण्डन करते हैं। उत्तर में स्वामीजी ने लिख भेजा कि उक्त मन्त्र में गङ्गा-यमुना आदि नदियों के नाम नहीं हैं, प्रत्युत शरीर की नाड़ी विशेष के नाम हैं और साथ ही में स्वामी सम्पद्गिरि की संस्कृत की अशुद्धियाँ भी लिखकर भेज दीं। स्वामी सम्पद्गिरि को फिर प्रत्युत्तर देने का साहस न हुआ।

**सम्पद्गिरि से साक्षात्**- पण्डित लेखरामकृत उर्दू *दयानन्द-चरित* में लिखा है कि एक दिन स्वामीजी भ्रमणार्थ जा रहे थे कि मार्ग में स्वामी सम्पद्गिरि मिल गए। प्रणाम और कुशल-प्रश्न के पश्चात् स्वामीजी ने उनसे पूछा कि कुछ सदुपदेश भी करते हो या नहीं। फिर दोनों परस्पर संस्कृत में भाषण करने लगे। गृह पर जाकर लोगों ने स्वामीजी का वृतान्त पूछा तो उन्होंने कहा कि वह ब्राह्मण है और बड़ा विद्वान् है, वे और हम साथ पढ़ते रहे हैं।[५५०] फिर लोगों ने कहा कि आप उनसे शास्त्रार्थ करें, तो उन्होंने उत्तर दिया कि तुम साधुओं का युद्ध देखना चाहते हो, हम ऐसा न करेंगे। इस पर लोगों ने कहा कि आप वैसा उपदेश क्यों नहीं करते तो वे बोले कि हमसे नहीं हो सकता, वह निःशङ्क है।

उसी पुस्तक में यह भी लिखा है कि पं० लक्ष्मीराम और स्वामीजी से आमने-सामने बातचीत नहीं हुई। पं० लक्ष्मीराम [५५१] ने स्वामीजी के शास्त्रार्थ के चैलेंज के उत्तर में लिखा कि मैं आपसे शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ, परन्तु उस पत्र में अशुद्धियों पर जगह-जगह हरताल लगा रखी थी। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि वह लिखना ही नहीं जानता, इतने छोटे से पत्र में ही इतनी जगह हरताल लगा रखी है। उससे कहो कि शुद्ध लिखकर भेजे, परन्तु फिर पण्डित लक्ष्मीराम सामने न आए।

**आर्यसमाज की स्थापना**- स्वामीजी के सामने ही रावलपिण्डी में आर्यसमाज स्थापित हो गया। स्वामीजी उन दिनों तम्बाकू पीते थे। लाला गोपीचन्द ने जो आर्यसमाज के सहकारी मन्त्री नियत हुए थे इस पर आक्षेप किया तो महाराज ने उत्तर दिया कि कफ-बात की निवृत्यर्थ पीता हूँ और वहीं तम्बाकू पीना त्याग दिया[५५२]। भक्त किशनचन्द समाज के मन्त्री नियत हुए थे। उनके और लाला गोपीचन्द के प्रस्ताव पर ही स्वामीजी ने *'वेदाङ्ग-प्रकाश'* प्रकाशित करना स्वीकार किया था।

३० दिसम्बर सन् १८७७ ई० को स्वामीजी ने गुजरात जाने के विचार से रावलपिण्डी से प्रस्थान किया।

## जेहलम (१८७७-७८ ई०)

३० दिसम्बर सन् १८७७ ई० तदनुसार पौष ११ संवत् १९३४ वि० (रविवार) को स्वामीजी रावलपिण्डी से गुजरात जाने के विचार से शिकरम पर सवार होकर ३१ दिसम्बर को जेहलम रेल्वे स्टेशन पर पहुँचे। साथ के लोगों को स्टेशन पर ही छोडकर आप परेड के मैदान की ओर भ्रमणार्थ चले गए, वहाँ उनकी भेंट मास्टर लछमनप्रसाद से हुई। मास्टरजी ने उन्हें देखते ही पहचान लिया, क्योंकि वे पहले लखनऊ में स्वामीजी के दर्शन कर चुके थे। उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि कुछ दिन जेहलम में ही रहकर नगर निवासियों को उपदेश से कृतार्थ करें। इस पर स्वामीजी ने कहा कि यहाँ प्रबन्ध करने वाला कोई नहीं है। तब मास्टरजी ने प्रबन्ध का समस्त भार अपने ऊपर लेकर उन्हें नदी के निकट एक बँगले में ठहरा दिया।

---

५५०- स्वामीजी और सम्पद्गिरि के सहपाठी होने का कोई प्रमाण नहीं मिला। -*संग्रहकर्ता*

५५१- ऋषि दयानन्द के पत्र व्यवहार पृष्ठ ८१ पर पं० लक्ष्मीराम का लिखा हुआ पत्र और उसका ऋषि दयानन्द कृत संशोधन छपा है। उससे विदित होता है कि स्वामीजी ने स्वामी सम्पद्गिरि को मध्यस्थ मानकर पं० लक्ष्मीराम से शास्त्रार्थ करना अङ्गीकार नहीं किया था। स्वामीजी महाराज ने उस पत्र पर नोट दिया है - "संपद्गिरिजी का मध्यस्थ होना असम्भव है, विद्या कम होने से।"

५५२- स्वामीजी दिल्ली दरबार के पश्चात् जब मेरठ गए थे तो हुक्का पीते थे, परन्तु उन्होंने एक ब्राह्मण के आक्षेप पर उसे वहीं छोड़ दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि रोग निवृत्यर्थ उन्होंने फिर हुक्का पीना आरम्भ कर दिया था। -*संग्रहकर्ता*

**पादरी शास्त्रार्थ का साहस न कर सके**- स्वामीजी का पहला व्याख्यान सराय मङ्गलसैन के निकट मैदान में हुआ, दूसरा निवास-स्थान पर। उस दिन गवर्नमेण्ट हाईस्कूल के हेडमास्टर मिस्टर शिवचरण घोष, जो ईसाई थे, अन्य कई पादरियों के साथ शास्त्रार्थ के लिए आए, परन्तु अतिकाल हो जाने के कारण उस दिन कुछ परिणाम न निकला। तब पादरी लोगों की इच्छा पर स्वामीजी के व्याख्यानों का प्रबन्ध गवर्नमेण्ट स्कूल के हॉल में हुआ और अन्त तक वहीं व्याख्यान होते रहे। दो तीन दिन तक तो पादरी लोग बड़े उत्साह से शास्त्रार्थ के लिए आते रहे, परन्तु स्वामीजी की अकाट्य युक्तियों से इतने घबराए कि रोग के मिष से शास्त्रार्थ से जी चुराने लगे। हेडमास्टर साहब तो स्वामीजी के उत्तरों और कटाक्षों से, जो बाइबिल के प्रमाणों पर अवलम्बित होते थे, ऐसे चुप हुए कि फिर उन्होंने स्वामीजी के कथन पर आक्षेप करने का साहस न किया। एक दिन एक ईसाई कुछ आक्षेप लिखकर लाया, परन्तु उसका शरीर थर-थर काँपने लगा और वह अपने आक्षेपों को पढ़ भी न सका। अन्त को वह लज्जित होकर सभास्थल से चला गया।

स्वामीजी के व्याख्यान सन्ध्या के समय हुआ करते थे। आरम्भ में वे खड़े होकर उच्च और मधुर स्वर से वेद-मन्त्रों द्वारा ईश्वर-प्रार्थना करते और फिर व्याख्यान देते थे। स्वामीजी की वक्तृता अत्यन्त सरल, सुबोध और विनोदपूर्ण होती थी।

स्वामीजी उन दिनों मध्याह्नोत्तर में ४ बजे एक ही समय भोजन किया करते थे और हुक्का पिया करते थे। दो तीन पण्डित वेदभाष्य लिखने के लिए और एक अँग्रेजी जानने वाला बाबू पत्रव्यवहार करने के लिए उनके साथ था।

ऐसा ज्ञात होता है कि रावलपिण्डी में हुक्का पीना छोड़कर पुन: कफ-वात का प्रशमन करने लिए उसे पीना आरम्भ कर दिया था।

**आर्यसमाज की स्थापना; आर्यसमाजी से ब्राह्मसमाजी; ब्राह्मसमाजी होकर मिथ्याभाषण**- स्वामीजी की उपस्थिति में ही जेहलम में आर्यसमाज स्थापित हो गया और उपर्युक्त मास्टर लछमनप्रसाद जो ब्राह्मसमाजी थे, वैदिक मतानुयायी होकर आर्यसमाज के प्रधान निर्वाचित हुए। कहते हैं कि कुछ काल के पश्चात् वह फिर ब्राह्मसमाजी बन गए और कहने लगे कि मैंने स्वामीजी के समान वेदों को ईश्वरकृत नहीं माना था और स्वामीजी भी उन्हें ईश्वरकृत नहीं मानते थे। स्वामीजी के विषय में तो ऐसा कहना सर्वथा मिथ्या है, जिसे कोई भी बुद्धिमान् नहीं मान सकता, स्वयं मास्टरजी के विषय में भी मिथ्या है, क्योंकि उन्होंने अनेक बार अपने व्याख्यानों और लेखों में वेदों का ईश्वरकृत होना स्वीकार किया था। यहाँ हम केवल एक लेख में से जो *'आर्यदर्पण'* मासिक पत्र शाहजहाँपुर के जनवरी सन् १८८० ई० के अङ्क में मुद्रित हुआ था, एक उद्धरण देते हैं जिससे मास्टरजी के कथन की असत्यता विस्पष्ट रूप में प्रकट होती है। उस लेख में उन्होंने लिखा था-

"जो ईश्वरोक्त सत् विद्याओं से युक्त ऋक्, यजु:, साम, अथर्व, चार पुस्तक हैं और जिनसे मनुष्य को सत्य-सत्य ज्ञान होता है उनको वेद कहते हैं।"

**वृद्ध महात्मा**- उस समय एक वृद्ध महात्मा नदी के तट पर रहते थे और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उनसे स्वामीजी का संस्कृत में प्रेमालाप हुआ करता था। दोनों ही संस्कृत ऐसी सरलता से बोलेते थे कि जैसे लोग अपनी मातृ-भाषा को बोलते हैं। पण्डित गुरुदत्त इन महात्मा को योगी कहा करते थे।

**गानविद्या-विशारद मेहता अमीचन्द**- आर्यसमाज में बड़े-बड़े योग्य और विद्वान् पुरुष सम्मिलित हुए। गान विद्या-विशारद मेहता अमीचन्द स्वामीजी की बहुत प्रशंसा किया करते थे और चार-पाँच वर्ष पश्चात् वह आर्यसमाज के सभासद बन गये थे।

**आर्यसमाज के प्रचार पर हर्ष**- स्वामीजी के जेहलम त्याग से एक दिन पूर्व लाला गङ्गाराम धम ने एक सज्जन से आर्यसमाज की सभासदी का आवेदन-पत्र लिखाया, वह उनकी जेब में पड़ा हुआ था। अगले दिन जब वह और अन्य लोग

स्वामीजी को स्टेशन पर पहुँचाने गए तो उन्होंने वह पत्र आर्यसमाज के मन्त्री को दिया। स्वामीजी ने पूछा कि यह कैसा कागज है, तो उन्होंने बतलाया कि एक सज्जन का सभासदी के लिए आवेदनपत्र है, स्वामीजी गाड़ी में बैठ चुके थे, परन्तु इन शब्दों को सुनकर इतने हर्षित हुए कि गाड़ी से बाहर आ गए और प्रेम से लाला गङ्गाराम को गले लगा लिया।

१३ जनवरी सन् १८७८ ई० को स्वामीजी गुजरात पहुँच गए।

## (गुजरात (१८७८ ई०)

जेहलम से स्वामीजी १३ जनवरी सन् १८७८ ई० तदनुसार पौष शुक्ला ९ संवत् १९३४ वि० (रविवार) को गुजरात पधारे और फतहसर नामी उद्यान में, जो जलालपुर जट्टाँ की सड़क पर है, ठहरे।

**सर्वत्र स्वामीजी की ही चर्चा थी**– उनके पर्दापण करने के पहले से ही गुजरात में स्वमीजी का नाम हर एक मनुष्य की जिह्वा पर था। बाजारों और गली –कूचों में उन्हीं की चर्चा थी। विपक्षियों ने यह गप्प उड़ा रखी थी कि जब अँग्रेजों को हिन्दुओं को ईसाई बनाने में सफलता नहीं हुई तो उन्होंने इस कार्य के लिए एक विद्वान् साधु स्वामी दयानन्द को नियत किया है।

**ईसाइयों का प्रचार–कार्य**– गुजरात में पादरियों का प्रचारकार्य बड़े वेग से हो रहा था। उनका एक हाईस्कूल भी था। वे नगर की बड़ी मण्डी में एक दुकान पर नित्यप्रति ईसाई मत का प्रचार किया करते थे और साथ ही हिन्दू धर्म पर मनमाने आक्षेप भी करते थे। श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण के चरित्र पर तीव्र से तीव्र कटाक्ष करते थे और उन पर अनेक मिथ्या दोषारोपण करते थे। वे कहते थे कि वेदों में अनेक प्रकार की मिथ्या कथाएँ भरी पड़ी हैं। हिन्दू चुपचाप ये सब बातें सुनते थे। वे मन में अवश्य दु:खित होते थे, परन्तु अपने में वे उन आक्षेपों के उत्तर देने की शक्ति नहीं पाते थे। ईसाइयों के प्रचार का यह फल हुआ था कि गुजरात के कई निवासी ईसाई हो गए थे।

**हिन्दू सभा**– ईसाइयों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए गुजरात निवासियों ने एक हिन्दू सभा स्थापित की हुई थी जिसमें पण्डित नन्दलाल, मुख्य संस्कृताध्यापक, गवर्नमेण्ट हाईस्कूल मनुस्मृति के श्लोकों की व्याख्या किया करते थे। पण्डित नन्दलाल संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे।

**पहला व्याख्यान**– जिस मकान में अब गवर्नमेण्ट हाईस्कूल का बोर्डिङ्ग हाउस है, जो तहसील के निकट और पुराने किले के भीतर है, स्वामीजी का पहला व्याख्यान उसी मकान में गवर्नमेण्ट हाईस्कूल के हेडमास्टर मिस्टर बुचानन की आज्ञा लेकर हुआ था।

**श्रोता का कर्त्तव्य**– उसमें उन्होंने कहा था कि जब कोई श्रोता किसी वक्ता का व्याख्यान सुने तो उसे उस पर खूब मनन करके यह जानने का यत्न करना चाहिए कि उसके कथन में कितना सत्य है और कितना असत्य, यह जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना चाहिए।

**मेरी बात यदि सत्य हो तो मानो**– उन्होंने कहा कि मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं यह नहीं चाहता कि जो कुछ मैं कहूँ आप उस पर आँखें मींचकर चलने लगें। आप उस पर विचार करें, उसे जाँचें और परखें, यदि वह आपको सत्य जान पड़े तो उस पर चलें और यदि वह असत्य जान पड़े तो उस पर कोई ध्यान न दें। यह अन्धविश्वास ही हमारे नाश का मूल है। संस्कृत पुस्तकों में ज्ञान का बृहत् कोष भरा हुआ है, उन्हें पढ़ो और देखो कि उनमें क्या है। ऐसा मत कहो कि कोई बात केवल इसलिए माननीय वा त्याज्य है कि दयानन्द सरस्वती ऐसा कहता है।

**राजा और बैंगन की कथा**– इस पर उन्होंने यह दृष्टान्त दिया था कि एक दिन एक राजा बैंगन खाकर सभा में आए, उस दिन उन्हें बैंगन बहुत स्वादिष्ट लगे थे। सभा में आकर उन्होंने कहा कि बैंगन बड़े स्वादिष्ट होते हैं, तो दरबारी कहने लगे कि महाराज बैंगन तो शाकों का राजा है, देखिए इसका वर्ण श्रीकृष्ण के वर्ण के समान है और इसके सिर पर मुकुट है। राजा

ने बैंगन अधिक खा लिए थे, रात्रि में उन्होंने विकार किया, अत: अगले दिन सभा में आकर राजा ने बैंगन की बुराई की तो चाटुकार दरबारी झट कहने लगे कि महाराज इन्हीं अवगुणों के कारण तो इसका वर्ण काला हो गया है और इसे यह दण्ड मिला है कि शाखा से नीचे लटकता रहे।[५५३]

यह दृष्टान्त देकर स्वामीजी ने श्रोताओं से कहा कि आप इन दरबारियों के समान न बनिए कि जो कुछ मैं कहूँ उसे बिना विचारे ही स्वीकार वा अस्वीकार करने लगें।

**स्वामीजी की विशाल मूर्त्ति देखकर स्तम्भित**– मेहता ज्ञानचन्द जो पीछे आकर आर्यसमाज के प्रमुख व्यक्तियों में परिगणित हुए, उन दिनों गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में पढ़ते थे। जिस दिन स्वामीजी का पहला व्याख्यान होने को था उसी दिन वे अपने कई सहपाठियों के साथ स्वामीजी के दर्शनार्थ गए। वे कहते हैं कि हम स्वामीजी की विशाल और विराट मूर्त्ति को देखकर स्तम्भित हो गए थे। उस समय स्वामीजी भगवा वस्त्र पहने हुए थे, शरीर पर पश्मीने का लाँग कोट और सिर पर रेशमी पगड़ी थी।

**मनघढ़न्त श्रुतियाँ**– पहले व्याख्यान में ही एक पण्डित होशनाकराय ने कुछ प्रश्न करने चाहे, परन्तु उन्हें रोक दिया गया कि व्याख्यान की समाप्ति पर करना। स्वामीजी ने यह कहा था कि पौराणिकों ने बहुत-सी मनगढ़न्त श्रुतियाँ बना ली हैं जैसे कि '*स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्*'। इस पर गोस्वामी शब्ददास ने कहा कि यह श्रुति है और हम इसे वेद में दिखा देंगे। महाराज ने कहा यहाँ ये चार वेद उपस्थित हैं, इनमें दिखाइए, तो वे बोले हम अपने घर से वेदों को लाकर कल दिखा देंगे।

पण्डित होशनाकराय ने कहा कि मनुस्मृति में मूर्त्तिपूजा का विधान है। स्वामीजी ने मनुस्मृति उनके सामने रखकर कहा कि दिखाइए मनुस्मृति में वह विधान कहाँ है? पण्डितजी ने कहा कि हम अपनी मनुस्मृति में लाकर दिखा देंगे। अगले दिन पण्डित होशनाकराय से स्वामीजी ने फिर कहा कि अपनी प्रतिज्ञा का पालन कीजिए तो पण्डितजी ने एक श्लोक पढ़कर कहा कि इससे मूर्त्तिपूजा सिद्ध होती है। स्वामीजी ने कहा आप झूठ कहते हैं, यह श्लोक मनुस्मृति का नहीं, यह तो विष्णुपुराण का है। इस पर पण्डितजी लज्जा के मारे पानी-पानी हो गए और एक शब्द भी आगे न कह सके।

**दूसरा व्याख्यान**– अगले दिन मूर्त्तिपूजा खण्डन पर व्याख्यान था। इसमें महमूदगजनवी के आक्रमण से देश के धन की हानि का वर्णन किया था और स्त्रियों के मन्दिरों में जाने और वहाँ उनकी दुर्दशा होने का भी वर्णन किया था। व्याख्यान में ही किसी व्यक्ति ने जो एक छत पर बैठा हुआ था प्रश्न किया कि आपने कहा है कि स्त्री पतिव्रता रहे, परन्तु किसी स्त्री का पति वेश्यागामी हो तो वह क्या करे। इसका उत्तर पण्डित लेखरामकृत उर्दू दयानन्द चरित में लिखा है कि वह भी कोई मजबूत सा आदमी रख ले। हमें विश्वास नहीं होता कि स्वामीजी जो स्वयं अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतधारी थे किसी दशा में भी किसी को व्यभिचार की आज्ञा देते। स्वामीजी विनोदप्रिय अवश्य थे और कहा जा सकता है कि उन्होंने विनोद में ऐसा कह दिया होगा; परन्तु उनका विनोद भी कभी सीमा का उल्लंघन नहीं करता था और वे विनोद में भी ऐसा नहीं कह सकते थे।

**वेद में मनगढ़न्त श्रुति न दिखा सके**– गोस्वामी शब्ददास अगले दिन आए। स्वामीजी ने उनसे कहा कि आज वेद लाए हो तो उन्होंने कहा कि वह श्रुति हमारे वेद में है। स्वामीजी ने कहा कि हमारे वेद पुस्तक में दिखाओ। गोस्वामी ने कहा कि हमें क्या ज्ञात है आपके वेदों में गालियाँ ही लिखी हों। स्वामीजी ने कहा, अपने ही वेदों में दिखाइए, परन्तु जो ग्रन्थ वह लाए थे, वे वेद न थे, अत: वे न दिखा सके।

**न्याय पर प्रश्नोत्तर**– तब पण्डित होशनाकराय ने कहा, मैं आपसे न्याय में प्रश्न करूँगा। पण्डित नन्दलाल मध्यस्थ बने। व्याप्तिवाद पर प्रश्न हुआ। स्वामीजी ने महाभाष्य के अनुसार व्याप्ति के लक्षण किए और कहा कि हम आर्य ग्रन्थों को मानते हैं, आपके लक्षण नहीं मानते, हमारे किए हुए लक्षण में अशुद्धि बताइए। परन्तु वह न बता सके और पण्डित नन्दलाल को

५५३- स्वामीजी ने अपने '*व्यवहारभानु*' ग्रन्थ में '*अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा*' के दृष्टन्त में यह बात लिखी है।

भी कहना पड़ा कि स्वामीजी ठीक कहते हैं।

**जीवन–चरित वर्णन**– एक व्याख्यान में महाराज ने अपना जीवन–वृत्तान्त सुनाया था। पण्डित नन्दलाल से उनका कई बार वार्त्तालाप हुआ। एक बार उन्होंने स्वामीजी के यह कहने पर कि *'पादस्य तले यो देश: स पाताल:'* आक्षेप किया कि आपकी यह व्युत्पत्ति ठीक नहीं है, परन्तु स्वामीजी ने उसे सिद्ध कर दिया। उन्हीं से *'सहस्रशीर्षा पुरुष:'* इत्यादि मन्त्र पर विचार हुआ था तो स्वामीजी ने यह अर्थ किए थे कि वह पुरुष सहस्र सिर वाला नहीं है, प्रत्युत उसमें सहस्रों अर्थात् असंख्यात सिर हैं। चतुरानन शब्द को भी उन्होंने सिद्ध कर दिया था कि इसके अर्थ चार मुख वाला नहीं, वरन चार वेद जिसके मुख में हों अर्थात् चतुर्वेदवक्ता है।

**मिस्टर वुचानन की ढींग**– पूर्वोक्त मिस्टर बुचानन संस्कृतज्ञ होने की बहुत ढींग मारा करते थे। स्कूल में भी स्वामीजी की ही चर्चा रहती थी। वे विद्यार्थियों से कहा करते थे कि स्वामीजी के वेदमन्त्रों के अर्थ अशुद्ध हैं। विद्यार्थियों ने एक दिन उनसे कहा कि यदि ऐसा है तो आप उनसे शास्त्रार्थ कर लें। उन्होंने स्वीकार किया। सारे दिन वह मोनियर विलियम्स की *'इण्डियन विजडम'* नामक पुस्तक देखते रहे और उसमें से एक मन्त्र निकालकर पण्डित नन्दलाल से कहा कि जब पढ़ने की बारी आए तो आप पढ़ देना और झगड़े के समय मैं खड़ा हो जाऊँगा। विद्यार्थियों ने जाकर स्वामीजी से कहा कि हमारे हेडमास्टर आपसे शास्त्रार्थ करना चाहते हैं, उन्होंने स्वीकार कर लिया।

अगले दिन मास्टर बुचानन और पण्डित नन्दलाल व्याख्यान में गए। उसमें स्वामीजी ने जयपुर के पण्डितों का वृत्तान्त सुनाया कि मैंने व्याकरण में उनसे कई प्रश्न किए जिनमें से मुझे इस समय एक याद है वह यह था *'कल्म च किं भवति'*। पण्डितों ने रात भर अनेक पुस्तक देखे, परन्तु वे उत्तर न दे सके।

**मि० बुचानन कैसे थे**– मिस्टर बुचानन किसी बात में भी सद्भावयुक्त न रहते थे, वे सदा हँसी ठट्ठा किया करते थे और अश्लील शब्दों के प्रयोग करने में भी उन्हें कोई सङ्कोच न होता था।

**मि० बुचानन से प्रश्नोत्तर**– व्याख्यान की समाप्ति पर मिस्टर बुचानन खड़े हुए और कहने लगे कि ओ बाबा! तू इन लोगों की जीविका छीनता है, उसके बदले में उन्हें क्या देता है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं इन्हें वेद देता हूँ और योगाभ्यास। फिर मिस्टर बुचानन ने कहा कि मेरे आप पर कुछ प्रश्न हैं। स्वामीजी ने कहा कि कीजिए। मि० बुचानन ने कहा कि बाबाजी आप कहते हैं कि शव को जलाना चाहिए और ऐसा करना विज्ञान के अनुकूल है और वेद भी यही आज्ञा देते हैं परन्तु देखो यह मन्त्र क्या कहता है। यह कहकर उन्होंने एक मन्त्र का कुछ भाग पढ़ा। स्वामीजी ने कहा कि पूरा मन्त्र पढ़िए। इस पर मि० बुचानन ने पण्डित नन्दलाल से जो उनके समीप ही बैठे थे मन्त्र पढ़ने को कहा। पण्डितजी ने मन्त्र पढ़ा। मिस्टर बुचानन बोले कि देखो बाबा इस मन्त्र का अनुवाद इस प्रकार है कि हे भूमि! तू अपनी भुजाएँ पसार और इसे अपने भीतर ले। इससे स्पष्ट है कि शव को गाड़ना चाहिए।

स्वामीजी उत्तर देने को ही थे कि मिस्टर बुचानन ने दूसरा प्रश्न कर दिया कि बाबाजी आप यह बताइए कि शिशु अपने मुँह में अपनी उँगलियों और अँगूठों को ही क्यों देता है, अपने उपस्थेन्द्रिय को क्यों नहीं देता?

इससे स्वामीजी समझ गऐ कि साहब बहादुर केवल ठिठोल करने आए हैं। उन्होंने उत्तर दे दिया कि उसका मुख वहाँ तक पहुँच नहीं सकता नहीं तो वह उसे भी मुख में देने में सङ्कोच नहीं करता।

अतिकाल हो जाने के कारण शास्त्रार्थ यहीं समाप्त हो गया। अगले दिन स्वामीजी ने एक अन्य मन्त्र उद्धृत करके उक्त मन्त्र का अर्थ कर दिया कि शव का भूमि खोदकर जलाना चाहिए। उस गर्त के दोनों किनारों को उसकी भुजाएँ कहा गया है। इसका अर्थ शव को गाड़ने का कदापि नहीं है। तब बुचानन साहब निरुत्तर हो गए और आगे कुछ कहने का उन्हें साहस न हुआ।

**हिन्दू छात्र विधर्मियों से तर्क करने में समर्थ हो गए**– स्वामीजी के व्याख्यानों को सुनने से पहले छात्रगण ईसाइयों और

मुसलमानों के आक्षेपों का जो वे हिन्दू धर्म पर करते थे कोई उत्तर नहीं दे सकते थे, परन्तु स्वामीजी के केवल चार व्याख्यानों के सुनने से ही सारा दृश्य बदल गया। वे इतने शक्त और समर्थ हो गए कि किसी भी ईसाई वा मुसलमान से धर्म-विषय पर तर्क करने को उद्यत होने लगे।

**तीन महत्वपूर्ण व्याख्यान**- स्वामीजी के व्याख्यानों में तीन व्याख्यान बड़े महत्वपूर्ण थे और ऐसे थे कि जिनके सुनते समय हर एक श्रोता चाहे वह किसी जाति वा मत का हो यह अनुभव करता था कि वह हृदय में आर्य है।

**वेद का महत्व**- इसमें से पहला व्याख्यान वेदों के महत्त्व और उनके सत्य-विद्या के पुस्तक होने के विषय पर था। इसमें सब धर्मों की तुलना करके वैदिक धर्म का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया गया था।

**ब्रह्मचर्य का महत्व**- दूसरा व्याख्यान ब्रह्मचर्य पर था। इसे सुनकर स्कूल के छात्र बड़ी उलझन में पड़ गए थे। उनमें से जो विवाहित थे वह सोचने लगे कि यदि हम २५ वर्ष तक स्त्री-सम्भोग न करेंगे तो हमारी स्त्रियों का चरित्र दूषित हो जाएगा। उन्होंने डरते-डरते यह शङ्का स्वामीजी से निवेदन की तो उन्होंने उत्तर दिया कि यदि तुम ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करोगे तो तुम और तुम्हारी स्त्रियाँ दोनों ही खराब होंगे और तुम्हारी जो सन्तति होगी वह ह्रस्वकाय होगी।

**सन्ध्या, मैं नमाज नहीं पढूँगा, सन्ध्या किया करूँगा**- तीसरा व्याख्यान सन्ध्या पर था उसमें स्वामीजी ने कहा कि यदि मैं केवल 'ओ३म्' शब्द की ही व्याख्या करने लगूँ तो उसे कई दिन और कई घण्टे चाहिए, अत: उन्होंने ओ३म् की संक्षिप्त व्याख्या करके सन्ध्या की विधि बतलाई और गायत्री मन्त्र की ऐसी सुन्दर व्याख्या की कि गवर्नमेण्ट स्कूल के फारसी के अध्यापक मौलवी मुहम्मद्दीन इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भरी सभा में खड़े होकर सबके सामने कहा कि यदि गायत्री के यही अर्थ हैं जो स्वामीजी ने किए हैं तो मैं आगे से नमाज पढ़ने के स्थान पर सन्ध्या ही किया करूँगा।

**गायत्री मन्त्र सबके सामने पढ़ा**- स्वामीजी ने यह पहले ही जान लिया था कि वेदमन्त्रों और विशेषकर गायत्री मन्त्र को सबके सामने पढ़ने से ब्राह्मण लोग बहुत खिजेंगे और इसलिए उन्होंने उनके भावी आक्षेपों का उत्तर व्याख्यान में ही दे दिया था। उन्होंने कहा था कि यद्यपि हमारे पास एक रत्न है जिसे संसार भर को दिखाना चाहिए, परन्तु स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ के कारण उसे छिपाते हैं। इन मूर्खों को यह ज्ञात नहीं कि यह रत्न चुराया नहीं जा सकता। मैं इसे संसार भर को दिखाऊँगा और फिर देखूँगा कि संसार में कौन है जो इसे बनावटी कहे।

**स्वामीजी छद्मवेशी ईसाई हैं**- स्वामीजी को आशङ्का थी, वह पूरी हुई। नगर के ब्राह्मण सहस्रजिह्व होकर स्वामीजी को कोसने लगे कि यह संन्यासी के वेश में छिपा हुआ ईसाई है। म्लेच्छ और शूद्रों के सम्मुख गायत्री और वेदमन्त्रों का पाठ! हरे राम! हरे राम!! ब्राह्मणगण बड़े असमंजस में पड़ गए परन्तु उन्हें कुछ करते-धरते न बन पड़ा। वे येन केन प्रकारेण स्वामीजी को परास्त करना चाहते थे। अन्त में उन्होंने एक गुप्त सभा की और उसमें स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। शास्त्रार्थ करने के लिए उन्होंने अपनी ओर से एक प्रसिद्ध पण्डित को नियत किया जो थोड़े दिन पहले ही जम्मू से आया वा बुलाया गया था।

**जम्मू का पण्डित**- व्याख्यान के अन्त में स्वामीजी आधा घण्टा शङ्का-समाधान के लिए रखा करते थे। एक दिन व्याख्यान की समाप्ति पर जम्मू के पण्डित खड़े हुए और स्वामीजी से एक प्रश्न किया। उन्होंने कहा कि पण्डितों से शास्त्रार्थ करने का मैं स्वयं बहुत इच्छुक हूँ, परन्तु यह अच्छा होगा कि शास्त्रार्थ के समय उभय पक्ष के पास वे सब ग्रन्थ हों जिनसे प्रमाण दिए जावेंगे। इस पर शास्त्रार्थ अगले दिन सायङ्काल के लिए रखा गया।

**जम्मू के पण्डित से शास्त्रार्थ**- शास्त्रार्थ के समय की लोग बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगे और नियत समय पर लोग दलबद्ध होकर शास्त्रार्थ स्थल की ओर जाने लगे और वह थोड़ी देर में मनुष्यों से भर गया। शास्त्रार्थ बोर्डिङ्ग हाउस में ही होने वाला था जहाँ पहले से स्वामीजी के व्याख्यान हुआ करते थे। उसके पूर्व की ओर के बरामदे में एक कुर्सी पर

स्वामीजी विराजमान थे और उनके सामने मेज पर बहुत-सी पुस्तकें रखी हुई थीं। मेज के दूसरे सिरे पर शास्त्रार्थकर्त्ता अपनी काँख में एक पुस्तक दबाए हुए समासीन थे।

**एक ही पुस्तक में सब कुछ है, पुस्तक कोरी भी**- स्वामीजी ने आरम्भ में ही पण्डितजी से पूछा कि क्या आप अपने ग्रन्थ लाए हैं तो उन्होंने उत्तर दिया कि हाँ, इस पर स्वामीजी ने कहा कि दिखलाइए आपके ग्रन्थ कहाँ हैं? पण्डितजी बोले कि सब कुछ इसी एक पुस्तक में विद्यमान है। इस पर स्वामीजी ने वह पुस्तक पण्डितजी से लेकर खोली तो देखा कि केवल पहले पृष्ठ पर कुछ मन्त्र लिखे हुए हैं और शेष पृष्ठ कोरे हैं। स्वामीजी ने पण्डितजी से प्रश्न किया कि क्या आर्यों की सम्पत्ति केवल ५-७ मन्त्र की ही है? इस पर पण्डितजी ने उत्तर दिया कि ये मन्त्र वेद और शास्त्रों के सारभूत हैं।

**पण्डितजी पंसारी भी हैं और पण्डित भी**- स्वामीजी ने इस पर कहा कि पण्डितजी बहुत ही बड़े मनुष्य होंगे वे पंसारी भी हैं और पण्डित भी। पण्डितजी के उत्तर की प्रतीक्षा न करके उन्होंने एक लम्बा श्वास खींचकर कहा कि आह! गुजरात का सारा नगर वेदों की एक पुस्तक भी उपस्थित नहीं कर सकता! ईसाइयों को देखो वह इञ्जील का सारी भाषाओं में अनुवाद करते हैं और इञ्जील की पुस्तक दो-दो आने में मिल सकती है।

हे ब्राह्मणो! मैं आपका शत्रु नहीं हूँ मैं तो केवल अनपढ़ ब्राह्मणों का शत्रु हूँ।

**पण्डितजी कुछ न बोले**- पण्डितजी बराबर मौन धारण किए हुए बैठे रहे। उनके मुख से एक शब्द भी न निकला और शास्त्रार्थ जिसके लिए इतना आयोजन किया गया था समाप्त हो गया। परन्तु पौराणिक दल ने फिर भी यही बात प्रसिद्ध की कि दयानन्द जम्मू के पण्डित से परास्त हो गया।

एक दिन एक सिक्ख साधु लोई ओढ़े हुए स्वामीजी के पास आया। उस समय स्वामीजी हुक्का पी रहे थे। साधु प्रारब्ध और पुरुषार्थ पर वार्त्तालाप करने लगा। स्वामीजी ने कहा कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों ही ठीक हैं। प्रारब्ध पूर्वकर्मों के भोग का नाम है। पुरुषार्थ इस जीवन में शास्त्रीय कर्म करने का नाम है सो पुरुषार्थ करना ही चाहिए, परन्तु साधु हठ ही करता रहा और यही कहता रहा कि पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है। तब स्वामीजी ने एक सेवक को आज्ञा दी कि इसकी लोई उतार कर सड़क पर फेंक दो, देखें वह बिना पुरुषार्थ के इसके पास कैसे चली आएगी। सेवक ज्यों ही उसकी लोई उतारने लगा तो उसने लोई को इस जोर से लपेट लिया कि बल लगाने पर भी सेवक लोई न उतार सका। तब साधु ने कहा कि पुरुषार्थ तो आपने सिद्ध कर दिया, परन्तु आप हुक्का क्यों पीते हैं। इसमें दूसरों की जूठन पीनी पड़ती है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं हुक्का कफ की निवृत्यर्थ पीता हूँ। मैं किसी की जूठन नहीं पीता क्योंकि अपना हुक्का न किसी को देता हूँ, न दूसरे का पीता हूँ।

**स्वामीजी के प्राणहरण का षड्यन्त्र**- स्वार्थपर ब्राह्मणोंका स्वामीजी के प्रति द्वेष सीमा को पार कर गया था। जब वे किसी उत्तम और निर्दोष उपाय से स्वामीजी की उपदेशगङ्गा के प्रवाह को न रोक सके तो उन्होंने उनके प्राण-हरण के लिए षड्यन्त्र रचा।

**अन्ही का पुत्तर, स्वामीजी को गालियाँ**- नगर में एक प्रसिद्ध बदमाश थाा जिसे लोग 'अन्ही दा पुत्तर' (अन्धी का पुत्र) कहते थे। उससे हर कोई भय खाता था। वह बाजार में खुल्लमखुल्ला कहता फिरने लगा कि मैं या तो दयानन्द को मार डालूँगा या उसकी नाक काट लूँगा। मेरे लिए छः मास वा एक वर्ष का कारागार कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु इससे हिन्दुओं की तो रक्षा हो जाएगी। देखो यह दुष्ट स्वामीजी हिन्दू देवी-देवताओं का कितना अपमान करता है। वह ब्राह्मणों को पोप कहता है, स्वयं हस्तक्रिया करता है और दूसरों को ब्रह्मचर्य का उपदेश करता है और रातभर फतहसर में नाच देखता है। गुलामहुसैन सौदागर ने छः बोतल शराब की उसके पास भेजी थी जो वह पी गया। उस रात को नगर की सारी रण्डियाँ उसके पास गईं थीं।

वह इसी प्रकार स्वामीजी के प्रति गालियाँ निकालता फिरने लगा। पुलिस ने यही नहीं कि उसे डाँटा- डपटा नहीं,

अपितु स्वामीजी की रक्षा का भी कोई प्रबन्ध नहीं किया। यह आग बढ़ गई और लोग उसकी गालियों को सुन-सुनकर प्रसन्न होने लगे।

**मुझ पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता**- मेहता ज्ञानचन्द और उनके साथियों को यह भय हुआ कि यह दुष्ट जो कुछ कहता है कर गुजरेगा, अत: वे एक दिन स्वामीजी के पास गए और उन्हें सब इतिवृत्त कह सुनाया और उनसे प्रार्थना की कि आज आप अपने स्थान से बाहर न जावें। स्वामीजी ऐसी बातों से कहाँ डरने वाले थे। अत: उन्होंने बिना किसी सङ्कोच के कहा कि मैं व्याख्यान देने आज अवश्य जाऊँगा। यह सब वृथा वाद है, मुझे कुछ भय नहीं है। तुम मेरा सोटा देखते हो, मुझ पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता। मैं अकेला ही दस-बारह मनुष्यों पर भारी हूँ। यदि मैं ऐसे डर जाया करता तो देश में वेदों का उपदेश कैसे कर सकता था। मैं अवश्यमेव जाऊँगा। स्वामीजी का उत्तर सुनकर मेहता ज्ञानचन्द आदि आश्चर्य से स्तम्भित हो गए।

**मार्ग में और व्याख्यान में ईंटों की वर्षा**- ला० परमानन्द डेण्टिस्ट (दाँतों के डॉक्टर) लाहौर वाले स्वामीजी के साथ रहा करते थे। उस दिन भी वह उनके साथ व्याख्यान-स्थल को गए। मार्ग में कुछ दुष्टों ने स्वामीजी पर पत्थर और धूलि फेंकी, परन्तु वह कुछ भय न खाते हुए बोर्डिङ्ग हाउस पहुँच गए और नियत समय पर व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। व्याख्यान के बीच में भी उनकी मेज पर ईंटें आकर गिरीं, परन्तु उन्होंने तनिक भी उनकी चिन्ता न की और न भय का ही कोई चिह्न: प्रकट किया और सदा की भाँति प्रशान्तचित्त होकर व्याख्यान देते रहे और व्याख्यान की समाप्ति पर अकुतोभयता के साथ निज स्थान को लौट आए।

**ईंट मारनेवाले को क्षमादान**- एक दिन एक मनुष्य ने स्वामीजी के ईंट मारी, परन्तु वह उनको लगी नहीं। जेल के क्लर्क एक बंगाली सज्जन ने पुलिसमैन को उसके पीछे भेजा, वह उसे पकड़ लाया। उसने ईंट फेंकने से नकार किया और स्वामीजी ने उसे क्षमा कर दिया। ऐसे अवसरों पर स्वामीजी हँसकर टाल देते थे और जो लोग ऐसे दुष्टों को धमकाना चाहते थे, उनसे कह दिया करते थे कि आप विज्ञ हैं, ऐसे पागलों को क्षमा करके उन्हें जाने दो। इनकी चिकित्सा यही है कि इन्हें सदुपदेश दिया जाए, हमारे साथ यह कोई नई बात नहीं है।

**संन्यासी मण्डली**- जिन दिनों स्वामीजी गुजरात में विराजमान थे उन्हीं दिनों एक संन्यासी-मण्डलीवाला भी वहाँ बड़ी तड़क-भड़क के साथ आया था। एक दिन उसने अपने शिष्यों को स्वामीजी के व्याख्यान में भेजकर यह प्रश्न कराया कि गङ्गा मानने के योग्य है वा नहीं। स्वामीजी ने उत्तर दे दिया कि 'वह भी और पानियों के समान पानी है। ' लोगों ने दूध के समुद्र हैं और नदियों की व्यर्थ कल्पना कर रखी है, वास्तव में न कहीं दूध का समुद्र है और न कोई दूध की नदी। हाँ यदि किसी नदी में श्वेत मृत्तिका घुल कर आती हो और उसे लोगों ने दूध की नदी मान लिया हो तो आश्चर्य नहीं।

**आप ज्ञानी है वा अज्ञानी**- एक दिन कुछ हिन्दुओं ने आपस में मन्त्रणा करके स्वामीजी से यह प्रश्न किया कि आप ज्ञानी हैं वा अज्ञानी। इससे उनका अभिप्राय यह था कि यदि वह ज्ञानी कहेंगे तो हम कहेंगे कि आप अहङ्कार करते हैं और सन्तों को अहङ्कार नहीं करना चाहिए और यदि वह अज्ञानी कहेंगे तो हम कहेंगे कि जब आप स्वयं अज्ञानी हैं तो हमें आप क्या सिखावेंगे। स्वामीजी ने उनके प्रश्न का ऐसा उत्तर दिया कि वे सब देखते ही रह गए और लज्जित होकर चले गए। स्वामीजी ने उन्हें कहा था कि 'मैं कई बातों में ज्ञानी और कई बातों में अज्ञानी भी हूँ। संस्कृत और धर्म विषय में ज्ञानी और फारसी, दुकानदारी आदि विषयों में अज्ञानी हूँ। '

**हमें चेला बना लीजिए**- एक दिन कुछ छात्र स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए और उनसे प्रार्थना की कि आप हमें अपना चेला बना लीजिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं गुरुआई की प्रथा को अच्छा नहीं समझता, परन्तु यदि तुम मेरे चेले बनना ही चाहते हो तो संस्कृत पढ़ो और जब प्राप्त-व्यस्क हो जाओ तो वैदिक सच्चाइयों का प्रचार करो। सम्प्रति तुम्हारा कर्त्तव्य

यह है कि विद्या प्राप्त करो और २५ वर्ष की आयु तक स्त्री-सङ्ग से अलग रहो।

**एक स्त्री को उपदेश**- स्वामीजी स्त्रियों को दर्शनार्थ नहीं आने दिया करते थे। फतहसर के द्वार पर एक पहरेदार बैठा रहता था। एक दिन उसने आकर कहा कि स्वामीजी एक स्त्री आपके दर्शनों की बड़ी अभिलाषिणी है। स्वामीजी ने बहुत सङ्कोच किया, परन्तु उसे अन्दर आने की आज्ञा दे दी। वह जाट जाति की स्त्री थी और साधारण वस्त्र ही पहने हुए थी। उसने आकर निवेदन किया कि स्वामीजी मुझे मारफत (ब्रह्मज्ञान) की राह बता दीजिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि वेद पढ़ो यह सुनकर वह चुप हो गई। फिर स्वामीजी ने उससे पूछा कि और कुछ पूछना है, परन्तु फिर वह कुछ न बोली और उठकर चली गई।

**विरोधी पण्डित अनुकूल**- पण्डित नन्दलाल से उनके छात्र पूछा करते थे कि क्या स्वामीजी वास्तव में बड़े विद्वान् हैं तो वह यह स्वीकार कर लिया करते थे कि स्वामीजी विद्वान् हैं। वह स्वामीजी की बुराई तो कभी नहीं करते थे, परन्तु इतना कह दिया करते थे कि यद्यपि इस समय तुम लोग श्रद्धालु हिन्दू हो परन्तु ज्यों ही तुम स्वामीजी के व्याख्यान सुनोगे त्यों ही तुम मूर्त्तियों को पूजना छोड़ दोगे। वास्तव में पण्डित नन्दलाल स्वामीजी के विरोधी थे और कई वर्ष तक उनका और आर्यसमाज का विरोध करते रहे, परन्तु अन्त को उन्हें स्वामीजी के उपदेशों की सत्यता स्वीकार करनी ही पड़ी और वे आर्यसमाज के सहायक हो गए तथा कई वर्ष तक आर्यसमाज गुजरात में अध्यापक हुए।

यही गति पण्डित होशनाकराय की भी हुई जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है और वे भी आर्यसमाज गुजरात में अध्यापक हुए।

**स्वामीजी को वेद कण्ठस्थ थे**- स्वामीजी वेदभाष्य की रचना के कार्य में व्यापृत रहते थे। वे पण्डितों को वेदभाष्य लिखाया करते थे। उनके हाथ में कोई पुस्तक नहीं रहती थी फिर भी वे इतनी शीघ्रता से भाष्य लिखाते थे कि लेखकों को लिखने से अवकाश नहीं मिलता था, उन्हें वेद कण्ठस्थ थे।

एक दिन दो उच्च राजकर्मचारी स्वामीजी से मिले और कहने लगे कि महाराज खण्डन में क्या धरा है, इससे लोग उत्तेजित होते हैं। हम तो उसी कर्म को अच्छा समझते हैं कि जिसमें अपना भला हो। परहित-चिन्तन और परोपकार तो ढकोसला है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि अपनी भलाई का काम तो गदहे और अन्य पशु पक्षी भी करते हैं। मनुष्य की मनुष्यता तो इसी में है कि दूसरों का उपकार करे।

गुजरात से २ फरवरी सन् १८७८ ई० को स्वामीजी ने वजीराबाद के लिए प्रस्थान किया और रेल में सवार होकर उसी दिन वजीराबाद पहुँच गए।

## वजीराबाद (१८७८ ई०)

स्वामीजी २ फरवरी सन् १८७८ ई० तदनुसार माघ कृष्णा अमावस्या संवत् १९३४ वि० (शनिवार) को गुजरात से रेल में सवार होकर वजीराबाद पहुँच गए। स्टेशन पर आर्यसमाज वजीराबाद के सभासद व अन्य सज्जनों ने उनका स्वागत किया और राजा फकीरुल्ला के उद्यान-गृह में उन्हें ठहराया। अगले दिन से उनके व्याख्यान आरम्भ हुए। जनता का बड़ा जमाव था। व्याख्यान के मध्य में ही एक मनुष्य ने चिल्लाकर कहा कि जो इनका व्याख्यान सुने वह हिन्दू का वीर्य नहीं। इस पर कुछ उठकर चले गए फिर भी श्रोता पर्याप्त संख्या में उपस्थित रहे और व्याख्यान शान्तिपूर्वक समाप्त हुआ।

**मुख्य पण्डित नगर छोड़ कर चले गए**- नगर के मुख्य पण्डित स्वामीजी के आगमन का समाचार सुनकर पहले ही नगर छोड़कर चले गए थे, क्योंकि उनमें स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की शक्ति नहीं थी।

**दक्षिणा-लोलुप पण्डित से विचार**- दूसरे दिन भी स्वामीजी का व्याख्यान हुआ। उसमें हिन्दू लोग वासुदेव नामक एक ब्राह्मण को १०० रु दक्षिणा देकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ के लिए ले गए और उसे उनके सामने एक कुर्सी पर बैठा दिया। उक्त

पण्डित ने एक मन्त्र प्रस्तुत करके स्वामीजी से उसका अर्थ करने को कहा। तब स्वामीजी ने उसका अर्थ कर दिया जिस पर पण्डितजी ने सन्तोष प्रकट किया और कहा कि कल वह एक मन्त्र शालिग्राम और तुलसी की पूजा की पुष्टि में प्रस्तुत करेगा। अत: उस दिन शास्त्रार्थ स्थगित रहा।

**शास्त्रार्थ**– अगले दिन पण्डित वासुदेव फिर आए और स्वामीजी के सम्मुख कुर्सी पर बैठ गए। उनके साथ नगर निवासियों की बड़ी भीड़ थी। शास्त्रार्थ के लिए यह नियम स्थिर किया गया कि दोनों शास्त्रार्थी संस्कृत में ही भाषण करें और उनके कथोपकथनों का हिन्दी अनुवाद जनता को सुना दिया जाए। पण्डित ने एक मन्त्र प्रस्तुत किया कि इससे शालिग्राम और तुलसी की पूजा सिद्ध होती है।

**यह वाक्य वेद का नहीं है**– स्वामीजी ने कहा कि यह वेद का मन्त्र नहीं है यह किसी वाक्य की टीका है। अत: उस मन्त्र को प्रस्तुत करना चाहिए जिसकी यह टीका है।

**उपद्रव की आशङ्का**– इतने में भीड़ बहुत बढ़ गई और स्वामीजी को उपद्रव की शङ्का हुई। उन्होंने पण्डित शहजादानन्दजी लाहौर निवासी से जो वजीराबाद में स्वामीजी के पधारने के समय से ही उनकी सेवा में रहते थे कई बार पुलिस का प्रबन्ध कराने को कहा, परन्तु इन्होंने उसे अनावश्यक समझा क्योंकि पण्डित रामचन्द्र आनरेरी मैजिस्ट्रेट व्याख्यान में उपस्थित थे, किन्तु थोड़ी देर के पश्चात् यह महानुभाव उठकर चले गए। उनसे बहुतेरा कहा गया कि आप ठहरें परन्तु यह कहकर कि उन्हें एक आवश्यक कार्य है, वे चले गये।

**पण्डित मन्त्र प्रस्तुत नहीं कर सका**– स्वामीजी ने बार-बार पण्डित महोदय से मन्त्र प्रस्तुत करने को कहा परन्तु उन्होंने न किया। इतने में ही एक लड़के ने कुछ शोर करना आरम्भ कर दिया। तब स्वामीजी ने कहा कि इस लड़के को चुप करा दो। इस पर ला० लब्धाराम साहनी अप्रेंटिस इञ्जीनियर ने उसके एक-दो छड़ी मार दी।

**उपद्रव आरम्भ हो गया**– पौराणिकों का पक्ष गिर रहा था, वे खिजे बैठे थे और उपद्रव करने पर तुले हुए थे। उन्हें उपद्रव का यह बहाना मिल गया और उन्होंने स्वामीजी और ला० लब्धाराम पर आक्रमण कर दिया। आर्यसमाज वजीराबाद तथा आर्यसमाज जेहलम के सभासदों ने जो वहाँ उपस्थित थे उनकी रक्षा की और ला० लब्धाराम तथा स्वामीजी को उनके निवास-स्थान पर पहुँचा दिया और उसके द्वार बन्द कर दिए गए, परन्तु भीड़ डटी खड़ी रही और शोर मचाती रही।

**स्वामीजी के हिन्दुस्तानी क्लर्क को खूब पीटा गया**– स्वामीजी के हिन्दुस्तानी क्लर्क को जो आवेश आया तो वह लाठी लेकर भीड़ में चला गया। सैकड़ों मनुष्यों के सामने अकेले मनुष्य की पार ही क्या बसाती। लोगों ने उसे खूब पीटा।

**स्वामीजी के गर्जन से भीड़ भाग गई**– जब यह वृत्त स्वामीजी को ज्ञात हुआ तो वे स्वयं लाठी लेकर बाहर निकले और इस जोर से गर्जन किया कि सब लोग भयभीत होकर भाग गए।

इसके पश्चात् भी स्वामीजी कुछ दिन वजीराबाद में ही रहे और व्याख्यान देते रहे, परन्तु इन व्याख्यानों में श्रोताओं की संख्या कम होने लगी, अत: उन्होंने वहाँ और अधिक ठहरना हितकर न समझा इसलिए वे ७ फरवरी, १८७८ ई० तदनुसार माघ शुक्ला पञ्चमी संवत् १९३४ वि० (गुरुवार) को गुजरानवाला चले गए।

## गुजरानवाला (१८७८ ई०)

ला० लब्धाराम वजीराबाद से उनके साथ थे। उन्होंने अपने कई प्रतिष्ठित मित्रों को पहले से पत्र लिख दिए थे और वे स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए आ गए थे। गुजरानवाला में उन्हें सरदार महासिंह को समाधि के विशाल भवन में ठहराया गया।

पहले दो दिन तो स्वामीजी का कोई व्याख्यान न हुआ। तीसरे दिन से व्याख्यान आरम्भ हुए। प्रतिदिन वे '*आर्योद्देश्यरत्नमाला*' में से एक उद्देश्य ले लेते थे और उसी पर अपना व्याख्यान देते थे।

**पादरियों का हिन्दुओं को स्वामीजी के विरुद्ध उत्तेजित करना**– चार-पाँच दिन बीत जाने पर कुछ पादरियों ने स्वामीजी

से उनके धार्मिक मन्तव्य पूछे तो उन्होंने *'आर्योद्देश्यरत्नमाला'* की एक प्रति उन्हें दे दी। इसके पश्चात् उन्होंने नगर के पण्डितों को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने को उकसाया और अन्य लोगों ने भी उनसे यही आग्रह किया। परन्तु नगर के कुछ पण्डित तो पहले से ही नगर छोड़कर चले गए थे।

**पण्डित विद्याधर की बुद्धिमत्ता**– एक पण्डित विद्याधरजी, जो उच्च कोटि के विद्वान् थे, वहाँ विद्यमान थे। जब लोगों ने उनसे शास्त्रार्थ का अनुरोध किया तो उन्होंने कह दिया कि स्वामी दयानन्द से जो हमारा मतभेद है, वह हमारे घर का मामला है, जिस पर हम उनसे इच्छानुसार वार्तालाप कर सकते हैं। इस समय पादरियों के उकसाने पर घर में झगड़ा खड़ा करना ठीक नहीं है। यही उत्तर पण्डित विद्याधर के सङ्केत से पादरियों को दे दिया गया। पण्डित विद्याधरजी एक दिन स्वामीजी से स्वयं मिलने आए और देर तक प्रेमालाप करके चले गए।

**शास्त्रार्थ की छेड़छाड़**– अन्त को पादरियों ने ही शास्त्रार्थ की छेड़छाड़ आरम्भ की और यह निश्चय हुआ कि शास्त्रार्थ प्रतिदिन मध्याह्नोत्तर में ४ बजे से हुआ करे और स्थान भी ईसाइयों का गिरजाघर ही नियत हुआ। अन्य समय दिन में स्वामीजी वेदभाष्य के कार्य में संलग्न रहते थे, अतः उपर्युक्त समय ही शास्त्रार्थ के लिए नियत किया गया था।

**शास्त्रार्थ–विवरण**– १९ फरवरी सन् १८७८ ई० को यह शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। ईसाइयों की ओर से कई अँग्रेज और देशी पादरी थे, उनमें से पादरी सोलफीट उपनाम लाशादेसी पादरी शास्त्रार्थ करने के लिए निर्वाचित हुए। शास्त्रार्थ में उच्च राजकर्मचारी और नगर के प्रतिष्ठित और सम्भ्रान्त पुरुष उपस्थित थे। प्रवेश के लिए टिकट लगाया गया था। परन्तु जनता शास्त्रार्थ देखने की इतनी उत्सुक थी कि एक सहस्र से ऊपर लोग शास्त्रार्थ–स्थल में उपस्थित हुए थे और वह मनुष्यों से खचाखच भर गया था।

**स्वामीजी का सद्व्यवहार**– जब स्वामीजी शास्त्रार्थ–स्थल में पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वजीराबाद के कुछ लोग जिनमें अधिकांश वहाँ के उपद्रवकारी ही थे, आँगन में टहल रहे हैं। स्वामीजी ने उनसे पूछा कि आप लोग यहाँ क्यों घूम रहे हैं। भीतर क्यों नहीं जाते, तो उन्होंने कहा कि ईसाइयों ने हमें टिकट नहीं दिया। तब उन्हें वे अपने साथ अन्दर ले गए। वे स्वामीजी के इस सद्व्यवहार से बहुत प्रभावित हुए।

**मध्यस्थ की सम्मति**– डिप्टी गोपालदास ऐक्स्ट्रा असिस्टैन्ट कमिश्नर मध्यस्थ बनाए गए। पहले पादरी साहब ने प्रश्न किया कि यदि जीव भी अनादि है तो उसमें और ईश्वर में कोई भेद नहीं रहता। दो दिन तक इसी विषय पर प्रश्नोत्तर होते रहे और स्वामीजी ने अपनी प्रबल युक्तियों से सिद्ध कर दिया कि केवल अनादि होने से ही जीव और परमेश्वर एक नहीं हो सकते। परमेश्वर के साथ जीव का सेव्य–सेवक का सम्बन्ध है।

श्रोताओं पर भी प्रकट हो गया कि स्वामीजी ने अपना पक्ष सिद्ध कर दिया है और मध्यस्थ महोदय ने भी पादरी लोगों से कह दिया कि स्वामीजी आपके प्रश्न का पर्याप्त उत्तर दे चुके हैं, यह आपका हठ है जो फिर भी नहीं मानते हैं। दोनों दिन शास्त्रार्थ ४ बजे से ८ बजे तक हुआ। दूसरे दिन के शास्त्रार्थ की समाप्ति पर यह देखकर कि गिरजाघर का स्थान बहुत संकुचित था और सैकड़ों लोगों को निराश होकर लौट जाना पड़ता था और इस विचार से कि अधिक लोग भीतर न आवें गिरजाघर के द्वार बन्द कर दिये जाते थे, जिससे लोगों का दम घुटने लगता था।

**पादरियों का मिथ्या व्यवहार**– स्वामीजी ने पादरियों से कहा कि अन्य कोई खुला हुआ स्थान नियत कीजिए। उस समय तो पादरियों ने कुछ उत्तर न दिया, परन्तु अगले दिन १२ बजे दिन के कुछ ईसाई सज्जन आए और स्वामीजी से कहा कि शास्त्रार्थ के लिए गिरजाघर में पधारिए।

स्वामीजी पादरी लोगों की इस उच्छृङ्खल कार्यवाही पर विस्मित हुए। वे कहने लगे कि आप लोग जानते है मैं वेदभाष्य के कार्य में व्यापृत रहता हूँ। समय के परिवर्तन की न मुझे सूचना है, न जनता को, मैंने कहा था कि गिरजाघर के

बदले कोई अधिक विस्तृत स्थान नियत कीजिए वह तो न किया न सही, समय कैसे बदल दिया? मैं वेदभाष्य के कार्य को छोड़कर इस समय कदापि नहीं आ सकता। शास्त्रार्थ नियत समय पर ही होगा। मध्यस्थ महोदय ने भी यही उत्तर दे दिया कि इस समय मैं नहीं आ सकता।

पादरियों ने कुछ ईसाइयों और लड़कों को गिरजाघर में इकट्ठा करके यह घोषणा कर दी कि स्वामीजी शास्त्रार्थ के लिए नहीं आए अतः वे परास्त समझे जावें।

**पादरियों की इस धूर्त्तता से सब रुष्ट हो गए**- स्वामीजी पादरियों की इस अयुक्तियुक्त कार्यवाही से बहुत विरक्त हुए और नगर के प्रतिष्ठित पुरुष भी पादरियों की इस मूर्खता पर बहुत हँसे। स्वामीजी के अनुरोध पर गिरजाघर के समीप ही उनके व्याख्यान का प्रबन्ध कर दिया गया जहाँ श्रोता सैकड़ों, सहस्रों की संख्या में उपस्थित हो गए। पादरियों को बहुत बुलाया गया परन्तु वह घर से बाहर न निकले।

**स्वामीजी का ईसाई मत खण्डन पर व्याख्यान**- स्वामीजी ने पौन घण्टा प्रतीक्षा करके ईसाई-धर्म पर ही व्याख्यान दिया और ऐसे मनोरञ्जक और युक्तियुक्त ढङ्ग से उसके सिद्धान्तों का खण्डन किया कि श्रोताओं के हृदयों पर ईसाई मत की असारता भलीभाँति अङ्कित हो गई। पादरियों के शास्त्रार्थ से जी चुराने का न केवल यह कारण था कि वे प्रकृत विषय पर निरुत्तर हो गए थे, प्रत्युत यह कारण भी था कि शास्त्रार्थ के बीच में ही स्वामीजी ने ईसामसीह के ईश्वर होने और बाइबिल के अन्य मन्तव्यों पर ऐसे प्रबल कटाक्ष कर दिए थे कि उनका पादरी कुछ भी समाधान न कर सके थे।

यह शास्त्रार्थ लिपिबद्ध हुआ था परन्तु वह असावधानी से खोया गया।

**वजीराबादी मनुष्यों की अनुरक्ति, पण्डित वासुदेव की क्षमा-प्रार्थना**- वजीराबाद के लोग स्वामीजी के सद्व्यवहार से पहले ही उनके प्रति अनुरक्त हो गए थे, परन्तु जब उन्होंने स्वधर्म-रक्षा में उनकी अकाट्य युक्तियाँ सुनीं तब तो उनको पूर्णतया विश्वास हो गया कि हिन्दू-धर्म का स्वामीजी जैसा कोई रक्षक नहीं है और उन्होंने स्वामीजी को भूल से ही हिन्दू-धर्म का विरोधी समझा था। इस पर वे मन ही मन पश्चाताप करने लगे। उनमें वासुदेव पण्डित भी था जो दक्षिणा के लोभ से वजीराबाद में उनसे शास्त्रार्थ करने उनके सम्मुखीन हुआ था। उसे तो उसकी आत्मा ने इतना धिक्कारा कि वह स्वयं ही स्वामीजी की सेवा में उपस्थित होकर क्षमाप्रार्थी हुआ। स्वामीजी ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा कि तुमने उस समय जो कुछ किया अपने पक्ष के समर्थन के लिए ही किया। हमने तो तुम्हारे कार्य से उस समय ही बुरा नहीं माना था और अब तो कोई बात ही नहीं है जिसे मैं क्षमा करूँ, तुम शान्त हो जाओ। संन्यासियों का हृदय ऐसी बातों से कलुषित नहीं होता।

**मैं द्वेष-बुद्धि से खण्डन नहीं करता**- एक दिन भ्रमण में पादरी मैकी स्वामीजी को मिल गए तो पादरी साहब ने उनसे कहा कि आप ईसाई धर्म का बड़ा कड़ा खण्डन करते हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं तो जो कुछ कहता हूँ आपकी पुस्तकों का पाठमात्र होता है। ऐसा खण्डन आप भी करते हैं मैं द्वेष-बुद्धि से कुछ नहीं कहता और न अनुचित समालोचना करता हूँ।

**स्वामीजी ज्ञान और विद्या के अथाह समुद्र**- एक दिन एक अँग्रेजी शिक्षाप्राप्त बङ्गाली दार्शनिक से स्वामीजी का वार्त्तालाप हुआ। वह स्वामीजी की दर्शन-विदग्धता पर परम सन्तुष्ट हुआ। उसने लोगों के पूछने पर स्पष्ट कह दिया कि स्वामीजी तो ज्ञान की अगाध गङ्गा और विद्या के अथाह समुद्र हैं, मैं तो उनके सामने कुछ भी नहीं जानता।

इसके पश्चात् ४ मार्च, १८७८ ई० तक स्वामीजी गुजरानवाला में रहे, परन्तु किसी ईसाई का शास्त्रार्थ करने का तो क्या उसका नाम लेने तक का भी साहस न हुआ।

**स्वामीजी का प्रभाव, विरोधी अनुगामी**- स्वामीजी का लोगों पर कैसा प्रभाव पड़ता था इसके दो बड़े उत्तम उदाहरण हमें गुजरानवाला में मिलते हैं। एक जन मुंशी नारायणकृष्ण अपने सम्बन्ध में लिखते हैं कि "मैं भी इस नगर में स्वामीजी का अद्वितीय और प्रसिद्ध विरोधी था, धार्मिक शास्त्रार्थों में मेरी बहुत मनोलग्नता थी और आरम्भ से ही स्वामीजी को

अपशब्दों से सम्बोधित करता था, परन्तु जिस समय से उस पूर्ण-ऋषि और महान् विद्वान् के सदुपदेशों को सुना और उसकी पुस्तकों को पढ़ा तबसे उस '*यथा नाम तथा गुण:*' के नाम और उसके पवित्र काम पर बलिदान होना अर्थात् उसके सदुपदेशों पर चलना सच्चे हृदय से मनुष्य जीवन का फल मानता हूँ और उसके आविर्भाव को परामात्मा का एक बड़ अनुग्रह मानता हूँ।"

**पुजारी अनुयायी, उसकी स्वामीजी से भेंट**– गुजरानवाला के एक बड़े मन्दिर के पुजारी पण्डित भगवद्दत्त को स्वामीजी के उपदेश सुनने का इतना चाव बढ़ गया था कि वह मूर्त्तियों की समय से पहले ही आरती करके व्याख्यान सुनने चले जाया करते थे। जब स्वामीजी गुजरानवाला से चलने लगे और रेल में बैठ गए तो पुजारीजी ने छिपकर मिठाई की टोकरी स्वामीजी को भेंट की। दो वर्ष तक तो वे पुजारी का काम करते रहे, परन्तु फिर उन्हें मूर्त्तिपूजा में इतनी अश्रद्धा हुई कि उन्होंने मन्दिर की नौकरी छोड़ दी और आर्यसमाज के सभासद् हो गए।

**ब्रह्मचर्य की महिमा**– एक दिन स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में कहा था कि हरिसिंह नलवा बड़ा शूरवीर था। उसका कारण सम्भवत: यही था कि वह २५-२६ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहा था। उन्होंने यह भी कहा था कि मेरी आयु इस समय ५२ वर्ष की है और मेरा ब्रह्मचर्य अखणिडत है। मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूँ कि जिस किसी को भी अपने बल का घमण्ड हो मैं उसका हाथ पकड़े लेता हूँ, छुड़ा लेवे अथवा मैं अपना हाथ खड़ा करता हूँ वह उसे झुका देवे। उस समय लगभग ५०० की उपस्थिति होगी जिनमें कई कश्मीरी पहलवान भी थे, परन्तु किसी में भी स्वामीजी के इस आह्वान के स्वीकार करने का साहस न हुआ।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया** – फाल्गुन कृष्णा अमावस्या संवत् १९३४ वि० अर्थात् ४ मार्च सन् १८७८ ई० (सोमवार) को गुजरानवाला का परित्याग करके स्वामीजी ने लाहौर में पर्दापण किया। गुजरानवाला से प्रस्थान करने से एक दिन पहले रविवार को वहाँ आर्यसमाज स्थापित हो गया था।

## लाहौर (१८७८ ई०)

लाहौर में स्वामीजी नवाब रजाअलीखाँ के ही बगीचे में ठहरे और वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे।

**इस्लाम पर व्याख्यान**– ११ मार्च सन् १८७८ ई० को उन्होंने मुसलमानी मत की आलोचना में व्याख्यान दिया। बगीचे के मालिक नवाब नवाजिशअलीखाँ पास ही टहल रहे थे और उनका व्याख्यान सुन रहे थे। व्याख्यान की समाप्ति पर किसी ने उनसे कहा कि स्वामीजी आपको न कोई हिन्दू ठहरने को स्थान देता है, न ईसाई, न मुसलमान, नवाब साहब ने कृपा करके आपको यह स्थान दिया था सो यहाँ भी आपने इस्लाम का खण्डन किया, ऐसा न हो कि नवाब साहब आपसे अप्रसन्न हो जाएँ।

**मुझे परमात्मा से भिन्न अन्य किसी का भय नहीं है**– स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं यहाँ इस्लाम वा किसी अन्य मत की प्रशंसा करने नहीं आया हूँ। मैं तो केवल वैदिक धर्म को ही सच्चा मानता हूँ और उसी का उपदेश करता हूँ। मैंने देख लिया था कि नवाब साहब सुन रहे हैं। मैं जानबूझ कर उन्हें वैदिक धर्म के गुण सुना रहा था। मुझे परामात्मा से भिन्न अन्य किसी का भी भय नहीं है। १२ मार्च सन् १८७८ ई० को स्वामीजी लाहौर से मुलतान चले गए।

## मुलतान (१८७८ ई०)

**स्वामीजी के मुलतान पधारने के लिए आयोजन**– अन्य नगरों की भाँति स्वामीजी की ख्याति मुलतान में भी पहुँच गई थी। कुछ ब्राह्मसमाजी सज्जनों और अन्य महानुभावों ने, जिनके मन मूर्त्तिपूजा से हट चुके थे, आपस में मन्त्रणा की कि स्वामीजी को मुलतान बुलाना चाहिए और उनके व्यय आदि के लिए १३८ रुपये चन्दा एकत्र करके उनकी सेवा में तार भेजा। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि अभी कुछ दिन लाहौर और ठहरेंगे तत्पश्चात् मुलतान आएँगे। तदनन्तर यह सम्मति हुई कि स्वामीजी को मुलतान लाने के लिए ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द को भेजा जाए। तद्नुसार वे लाहौर गए। वहाँ उन्होंने जाकर देखा

कि स्वामीजी के उस दिन के व्याख्यान से तुमुल आन्दोलन हो रहा था। कई लोगों ने ठाकुरों के सिंहासन रावी नदी में फेंक दिए हैं। दूसरे दिन ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द स्वामीजी को साथ लेकर ६ बजे सायंकाल के मुलतान पहुँचे जहाँ छावनी के स्टेशन पर ३० के लगभग सज्जन उनके स्वागत के लिए उपस्थित थे। स्टेशन से स्वामीजी को ब्राह्मसमाज के मन्दिर में ले जाया गया। वहाँ कुछ देर ठहरकर और जलपान करके वे नगर में गए और बेगी बाग में उन्हें ठहराया गया।

**पहला व्याख्यान**- उसी दिन स्वामीजी का व्याख्यान बेगी बाग में हुआ जिसकी सूचना डौंडी पिटवाकर जनता को दी गई। व्याख्यान सृष्ट्युत्पत्ति पर था। दो तीन दिन तक वहाँ ही व्याख्यान होते रहे। यह होलियों का समय था। होलिकाष्टक १२ मार्च से १८ मार्च सन् १८७८ ई० तक था। १८ मार्च (पूर्णिमा) की होली थी। उस दिन स्वामीजी ने गोकुलिये गोसाइयों के मत पर व्याख्यान दिया और उसकी लीलाओं का खूब खण्डन किया।

**गोपालदास गोसाईं की धूर्त्तता**- उन दिनों वहाँ गोपालदास गोसाईं बड़े प्रतिष्ठित समझे जाते थे। उन्हें स्वामीजी के इस व्याख्यान से बड़ा आवेश आया जिसका कारण अनुमानतः यह था कि मुलतान में गोकुलिये गोसाइयों के मत के अनुयायी बहुत थे और गोपालदास को भय हुआ कि स्वामीजी के उपदेश से चिड़ियाँ उसके जाल से निकल जाएँगी। वह शङ्ख-घड़ियाल बजवाता हुआ घोड़े पर सवार होकर सभास्थल में पहुँचा। प्रबन्धार्थ और उपद्रव की रोकथाम के लिए पुलिस के चार काँस्टेबिल व्याख्यान के समय वहाँ उपस्थित रहते थे। स्वामीजी ने उनसे कहकर गोपालदास को शोर करने से रुकवा दिया और स्वयं पूर्ववत् प्रशान्त भाव से व्याख्यान देते रहे।

**धूर्त्तता की पुनरावृत्ति**- दूसरे दिन गोपालदास अपने सेवक साथियों को लेकर, जिनके हाथ में लाठियाँ और छुरियाँ थीं, फिर व्याख्यान स्थल में पहुँचा तो स्वामीजी ने व्याख्यान बन्द कर दिया और वह लोग थोड़ी देर हायहुल्ला करके चले गए।

**छावनी में व्याख्यान**- इस प्रकार नगर में केवल चार व्याख्यान हुए। फिर लोगों की सम्मति हुई कि होलियों के हुल्लड़ के कारण नगर में व्याख्यान करना श्रेयस्कर नहीं है, अतः हरमुखजी पेंशनर कोतवाल मुलतान छावनी तथा दिनशाजी बहरामजी सौदागर ने स्वामीजी से छावनी में व्याख्यान देने की अभ्यर्थना की और उसके पश्चात् तीन व्याख्यान छावनी में हुए। पहला व्याख्यान यज्ञोपवीत पर, दूसरा योरोप के बसने पर और तीसरा प्राचीन काल में विवाह की रीति पर था। उसी में स्वामीजी ने बालक-बालिकाओं की पाठशालाओं, छात्रों के अध्ययन और रहन-सहन का विस्तृत वर्णन किया था।

**परसी सज्जनों की भेंट** - तीसरे व्याख्यान के अन्त में पारसी सज्जनों ने एक थाल किशमिशों का और १०० रुपये स्वामीजी को भेंट किए जिसे पारसी और अन्य सज्जनों के आग्रह पर उन्होंने स्वीकार किया। रुपया वेदभाष्य फण्ड में जमा करा दिया गया।

**वैदिक अलङ्कारों का स्पष्टीकरण**- एक व्याख्यान में गौतम अहिल्या और इन्द्र की अश्लील पौराणिक कथा का मिथ्यात्व सिद्ध करके स्वामीजी ने कहा था कि यह एक वैदिक अलङ्कार है। गौतम चन्द्रमा का, अहिल्या रात्रि का और इन्द्र सूर्य का नाम है। लोगों ने सत्य अर्थ को न समझकर यह गपोड़ा रच लिया है। इस पर एक महाब्राह्मण को बुहत क्रोध आया। वह भङ्ग भी पिए हुए था। उसने अण्ड-बण्ड बकना आरम्भ किया तो स्वामीजी ने पुलिसमैन से कहकर उसे हटवा दिया।

इस अलङ्कार का स्पष्टीकरण स्वामीजीकृत *'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'* में है। पाठक वहाँ देख सकते हैं।

**होली दीपावली का स्वरूप**- स्वामीजी ने होली के विषय में ऐसा कहा था कि प्राचीन काल में ज्ञानी आर्य लोग होली की तिथि को परस्पर आलिङ्गन करके पर्वतों को जाया करते थे, उसके उपलक्ष्य में यह उत्सव हुआ करता था और दीपावली को वे पर्वतों से लौटकर मैदानों में आते थे तो लोग उनके पथ-प्रदर्शन के लिए दीपक जलाया करते थे। तब से ही दीपावली की प्रथा चली आती है।

हमें उपर्युक्त कथन सन्देहयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि गोपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है कि होलिकोत्सव नव शस्येष्टि यज्ञ था। यथा-

*अथातश्चातुर्मस्यानां प्रयोगः फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत। मुखे वा एतत्संवत्सरस्य यत्फाल्गुनी*

*पौर्णमासी, मुखमुत्तरे फाल्गुन्यौ, पुच्छं पूर्वे तद्यथा प्रव त्तस्यान्तौ समेतौ स्याताम्, एवमेवैतत्संवत्सरस्यान्तौ समेतौ भवतः। तद्यत्फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां यच्चातुर्मास्यैर्यते, मुखत एवैतंत्सवत्सरं प्रयुङ्क्ते। अथो भैषज्ञयज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्माद्दृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते, ॠतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते।। गोपथ उत्तर प्रपा० १ ।कं० १९।।*

**अर्थ**– अब चातुर्मास्यों का प्रयोग– फाल्गुनी पूर्णिमासी में चातुर्मास्यों का प्रयोग करें। फाल्गुनी पूर्णमासी वर्ष का मुख है, उत्तराफाल्गुनी मुख और पूर्वाफाल्गुनी–पुच्छ है, जैसे वृत्त के दोनों अन्त मिल जाते हैं ऐसे ही वर्ष के दोनों अन्त मिल जाते हैं। जो फाल्गुनी पौर्णमासी में चातुर्मास्यों से यज्ञ किया जाता है तो मुख से ही वर्ष का प्रयोग किया जाता है। अथवा चातुर्मास्य भैषज्य यज्ञ है, इसीलिए ॠतु की सन्धियों में इनका प्रयोग किया जाता है। ॠतु की सन्धियों में ही रोग उत्पन्न होते हैं। (गोपथ उत्तर० प्रषा० १। कं० १९)

अतः हमें विश्वास नहीं होता कि स्वामीजी ने होलिका तथा दीपावली का उद्गम ऐसा बताया हो जैसा कि ऊपर लिखा गया है। होलिका शब्द के अर्थ ही अधभुने अन्न के हैं जिससे स्वामीजी अपरिचित नहीं हो सकते और अब होली की अग्नि में यव की बालों के भूनने की प्रथा प्रचलित है।

**स्वास्थ्य रक्षा पर व्याख्यान**– एक व्याख्यान स्वामीजी ने स्वास्थ्य–रक्षा पर दिया था। इस पर हरमुजजी पारसी ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि जब आप कहते हैं कि आर्य और पारसी एक ही पूर्वजों की सन्तति हैं तो आप हमारे साथ खानपान का व्यवहार क्यों नहीं करते? इसका उत्तर स्वामीजी ने यह दिया कि आप मुसलमान आदि के साथ ऐसा व्यवहार रखते हैं इसी से हिन्दू आपके साथ नहीं खाते–पीते। यदि आप कुछ काल तक आर्यों से मिलते रहें तो यह प्रतिबन्ध दूर हो जाएगा। फिर स्वामीजी ने उनसे प्रश्न किया कि एक साथ (एक थाली में) भोजन करने में क्या लाभ और न करने में क्या हानि है तो उन्होंने उत्तर दिया कि इससे प्रीति बढ़ती है। स्वामीजी ने प्रत्युत्तर में कहा कि एक–दूसरे का जूठा खाने में बहुत दोष हैं। कितने ही रोग ऐसे हैं जो जूठा भोजन करने, जूठा पानी पीने, साथ हुक्का पीने तथा संसर्गमात्र से एक मनुष्य से दूसरे को लग जाते हैं। डॉ० जसवन्तराय असिस्टेंट सर्जन ने स्वामीजी के कथन की पुष्टि की और कई छूत से लग जाने वाले रोगों को गिनाया। फिर स्वामीजी ने कहा कि यह भी ठीक नहीं है कि जूठा खाने से प्रीति बढ़ती है; यदि ऐसा होता तो मुसलमानों में जो एक–दूसरे की उच्छिष्ट खाते हैं बड़ा प्रेम होता, परन्तु उनमें आपस में कितने झगड़े हैं और एक दूसरे की जान के ग्राहक बने हुए हैं तथा यदि ऐसा होता तो रूस–रूम युद्ध में अमीर काबुल रूम की सहायता करने से इन्कार न करता।

'अमीर काबुल रूस के विरुद्ध रूस–रूम युद्ध में रूम की सहायता करने पर उद्यत न हुआ था' हम इस विषय में कुछ नहीं कह सकते। सम्भवतः ऐसी किवदन्ती उस समय फैली हुई होगी और उसी को सत्य मानकर स्वामीजी ने उपर्युक्त बात कही होगी।

**शिखा कब रखी जाए कब नहीं**– शिखा के सम्बन्ध में स्वामीजी ने कहा था कि हिमालय आदि शीतप्रधान देशों में सारे सिर पर केश रखने चाहिए, पञ्जाब में केवल शिखा पर्याप्त है, उष्ण देशों में यदि सिर के सब बाल मुँडवा दिये जावें तो कुछ भी हानि नहीं है।

**ईसाइयों से शास्त्रार्थ की शर्तें**– दो ईसाई व्याख्यान सुनने आया करते थे। उन्होंने स्वामीजी से कहा कि आप मिशन स्कूल में पादरियों से शास्त्रार्थ कीजिए। स्वामीजी ने गुजरानवाले का दृष्टान्त दिया कि वहाँ गिरजाघर में शास्त्रार्थ हुआ करता था, परन्तु ईसाई अपने मनुष्यों को भीतर जाने के टिकट दे दिया करते थे और हमारे सहायकों को नहीं देते थे, अतः शास्त्रार्थ करना हो तो व्याख्यान–स्थल पर ही होगा। इस पर वे ईसाई चुप हो गए।

**ब्राह्मसमाजी आर्यसमाजी होने से रुक गए**– स्वामीजी ने बा० केशवचन्द्र सेन से अपने मिलने का उल्लेख करते हुए कहा

था कि उनसे हमारी बातचीत वेदों के ईश्वरोक्त होने और षड्दर्शन पर हुई थी। तब स्वामीजी के उपदेश से प्रभावित होकर मुलतान के कुछ ब्राह्मसमाजियों ने आर्यसमाज में प्रवेश करने का विचार किया, परन्तु उनके अन्य साथियों ने उन्हें यह समझाकर कि यदि कोई अपनी युक्तियों से निरुत्तर कर दे तो भी अपने धर्म को त्यागना ठीक नहीं है। भविष्य में यदि कोई अन्य अधिक प्रबल युक्ति देने वाला आवेगा तो फिर हमें उसका धर्म स्वीकार करना होगा।

**काबुल के ब्राह्मण का उजड्डपन**- एक दिन एक काबुल निवासी ब्राह्मण आया और उसने वेद का पुस्तक उठाकर एक मन्त्र पढ़ा, परन्तु वह उसका अर्थ न कर सका। फिर इस पर बातचीत हुई कि आर्यावर्त्त की सीमाएँ कौन-सी हैं, परन्तु वह बड़ा क्रोधी और उजड्ड था, स्वामीजी उसकी अनर्गल बातों पर हँस देते थे।

**वेदान्तियों के चार महावाक्य**- एक दिन एक व्यक्ति ने नवीन वेदान्तियों के चार महावाक्यों पर बातचीत की। स्वामीजी ने कहा ये वाक्य अधूरे हैं और पूरे वाक्य पढ़कर उनके अर्थ किए और कहा कि पूरे वाक्य वेद के विरुद्ध नहीं हैं और उसी दिन नवीन वेदान्त के खण्डन और सनातन वेदान्त के मण्डन पर व्याख्यान किया।

**सन्त मत की आलोचना**- एक व्याख्यान में स्वामीजी ने सन्त मत की और दूसरे में सिक्ख मत की आलोचना की थी। एक व्याख्यान में प्राचीनकाल की प्राकृतिक उन्नति का वर्णन किया था, जिसमें कहा था कि पृथ्वी गोल है और सूर्य के चारों ओर घूमती है। ग्रहों, उपग्रहों और नक्षत्रों का भी उल्लेख किया था और यह भी कहा था कि शीघ्रगामी रथ (रेल) के सिद्धान्त भी प्राचीनों को ज्ञात थे। त्रिपुरारि के विषय में कहा था कि वह अपनी कलाभिज्ञता के कारण एक ही समय में तीन स्थानों में युद्ध करता था।

**मुसलमान परास्त**- कई मुसलमान भी स्वामीजी के पास आए और धर्मचर्चा में परास्त होकर चले गए। एक दिन उनका सब से बड़ा मौलवी भी आया था और उसकी भी वही गति हुई जो अन्यों की हुई थी।

**नास्तिक की शेखी किरकिरी**- सागरचन्द इञ्जीनियर, जो बड़ा पक्का नास्तिक था और यह डीङ्ग मारा करता था कि मैं १४०० पुस्तकें पढ़कर नास्तिक हुआ हूँ, जब वह स्वामीजी के सम्मुख आया तो सवामीजी की युक्तियों के आगे उसकी कुछ न चल सकी। तीन दिन तक उससे वार्तालाप हुआ और अन्त को उसे ईश्वर की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ी।

**स्वामीजी के महामना होने का प्रमाण**- स्वामीजी के हृदय में ईश्वर पर कितना अटल विश्वास था, स्वदेश से कितना दृढ़ प्रेम था, पारस्परिक व्यवहार में वह भ्रातृभाव के कितने इच्छुक थे और सर्वहितकारी कार्यों के लिए उनमें कितनी महदाकाँक्षा थी इसके उदाहरणार्थ हम उनके एक पत्र का जो उन्होंने मुलतान से दानापुर की हिन्दू सत्सभा के मन्त्री बाबू माधोलाल को आर्यसमाज के नियम और उप-नियमों की पुस्तक भेजते हुए १ अप्रैल सन् १८७८ ई० को लिखा था, कुछ अंश यहाँ उद्धृत करते हैं-

"इन नियमों को ठीक-ठीक समझकर वेद की आज्ञा के अनुसार सबके हित में प्रवृत्त होना चाहिए, विशेषकर के अपने आर्यावर्त्त देश के सुधारने में अत्यन्त श्रद्धा, प्रेम और भक्ति, सबके परस्पर सुख के अर्थ तथा उनके क्लेशों के मेटने में सत्य व्यवहार और उत्कण्ठा के साथ अपने ही शरीर के सुख-दु:ख के समान जानकर सर्वदा यत्न और उपाय करना चाहिए। सबके साथ हित करने ही का नाम परम धर्म है। इसी प्रकार वेद में बराबर आज्ञा पाई जाती है।"

**हमारा नाम आर्य है**- इसी पत्र में बाबू माधोलाल को स्वामीजी ने यह भी आदेश किया था कि हिन्दू सत्सभा का नाम आर्यसमाज रखना चाहिए, क्योंकि हमारा नाम आर्य और हमारे देश का नाम आर्यावर्त्त सनातन वेदोक्त है। आर्य के अर्थ श्रेष्ठ, विद्वान्, धर्मात्मा के तथा हिन्दू शब्द यवन आदि ईर्ष्यक लोगों का बिगाड़ा और बदला हुआ है, जिसके

अर्थ गुलाम, काफिर, काला आदमी आदि हैं।..... और सब सभासदों को नमस्ते कहना चाहिए, सलाम और बन्दगी नहीं।[५५४]

**यह महात्मा होनहार है**– एक वृद्ध पण्डित की स्वामीजी पर बड़ी श्रद्धा थी। वह प्रतिदिन उनके पास जाया करते थे और बहुधा कहा करते थे कि यह महात्मा होनहार है, इनका सम्प्रदाय खूब चलेगा।

स्वामीजी ने प्रसङ्ग चलने पर कहा था कि प्रात:काल मलोत्सर्ग से पूर्व अढ़ाई आचमन जल पीना गर्मी और खुशकी की निवृत्ति के लिए बहुत लाभदायक है।

**मुक्ति पर बातचीत**– एक दिन मुक्ति पर बातचीत होने पर स्वामीजी ने पण्डित बरातीलाल डेरागाजीखाँ निवासी से कहा था कि मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है, पण्डितजी का मत इसके विरुद्ध था।

**ब्राह्मणों की वर्तमान अवस्था का दृष्टान्त**– एक व्याख्यान में स्वामीजी ने ब्राह्मणों की इस समय की दशा का वर्णन करते हुए निम्नलिखित दृष्टान्त दिया था–

एक बार यात्रा में एक पठान और एक हिन्दू साहूकार का साथ हो गया। साहूकार के साथ उसका एक भृत्य भी था जो ब्राह्मण था। जब प्रात:काल होता तो साहूकार उस भृत्य को कहता, महाराज पाँव लागूँ ,जब आवश्यकता होती तो भृत्य उसके पीने, हाथ धुलाने और स्नान कराने के लिए जल लाता, उसकी रसोई बनाता और यात्रा में उसका बोझ भी उठाकर चलता। एक दिन पठान आगे निकल गया और साहूकार पीछे रह गया। पठान उसे साथ लेने के लिए ठहर गया। थोड़ी देर के पश्चात् साहूकार तो आ गया, परन्तु उसका भृत्य उसके साथ न था। यह देखकर पठान ने कहा कि कहाँ है तुम्हारा नर, पीर, बावर्ची, भिश्ती (शक्का जलवाहक), खर।

**रेशमी छाता किसी नटवे को देना**– एक दिन एक ब्राह्मण स्वामीजी के लिए एक रेशमी छाता लाया और उनके पास रख दिया, उन्होंने कहा कि यह कैसा रखा है? उसने कहा कि आपके लिए लाया हूँ। स्वामीजी ने कहा कि सुनो भाई! हम साधु हैं, यह हमारे काम का नहीं। यदि हम सरदी में जाएँ तो सरदी नहीं सताती और गरमी में जाएँ तो धूप नहीं सताती। यह तो तुम किसी नटवे को दो जो लाहौरी जोड़ा पहनकर खूब गलियों में घूमा करे। हमें ऐसी वस्तु नहीं चाहिए।

**गोमेध, अश्वमेध के सत्य अर्थ**– स्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि गोमेध में गौ और अश्वमेध में अश्व के वध करने का शास्त्र में कहीं विधान नहीं है और उनके सत्य अर्थ बतलाए थे। मदिरा-पान व माँस-भक्षण का भी बड़े प्रबल शब्दों में निषेध किया था। जिस प्रकार पिञ्जरे में पक्षी को बन्द करके उसके नीचे अग्नि जलाने से उसे कष्ट होगा उसी प्रकार उस प्राणी को कष्ट होता है जिसे खाने के लिए मारा जाता है।

**माँस-भक्षण-निषेध**– माँस में स्वयं कुछ बलवर्धक गुण नहीं है। वह अपना उदाहरण देकर कह देते थे कि देखो मैं माँस नहीं खाता परन्तु कोई माँसाहारी, जिसका जी चाहे, मेरे सामने आ जावे। माँस में स्वयं स्वाद भी नहीं है, जो कुछ स्वाद है वह घृत और मसाले का है। कन्याओं पर रुपये लेकर उनका विवाह करने की भी निन्दा करते थे और कहते थे कि यह ऐसा है जैसा कोई रुपया लेकर किसी वेश्या का प्रसङ्ग किसी से करावे।

**बिना पूछे प्रश्नों का उत्तर**– पण्डित कृष्णनारायण अपने अन्य कई मुसलमान, ईसाई मित्रों के साथ एक दिन स्वामीजी का व्याख्यान सुनने गये और सब लोग कुछ प्रश्न उनसे पूछने के लिए ले गये, परन्तु उनके आश्चर्य की कोई सीमा न रही जब स्वामीजी ने उनके हर एक प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ कर दिया और अन्त में किसी का कोई आक्षेप भी बिना उत्तर दिए शेष न रहा। उन लोगों में विश्वास हो गया कि महाराज सच्चे योगी हैं।[५५५]

---

५५४– देखो ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार पृष्ठ ९९।

५५५–*'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्'* (योगदर्शन ३/१९) की सिद्धि स्वामी दयानन्द को प्राप्त थी जिससे वे दूसरों के मनोभावों पर भी संयम का प्रयोग करके उसके मनोभावों के केन्द्रीय भाव्य और चिन्तनीय वस्तु अर्थात् अवलम्बन का ज्ञान कर लेते थे।

**माँस-भक्षण पर प्रश्नोत्तर**- पण्डित कृष्णनारायण ने एक दिन स्वामीजी से माँस-भक्षण के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर किए तो उन्होंने कहा कि माँस-भक्षण वेद-विरुद्ध है। पण्डितजी ने कहा कि माँस-भक्षण से कोई हानि होती हुई प्रतीत नहीं होती तो स्वामीजी ने कहा कि ईश्वर की आज्ञायें हमें लाभदायक हैं और उनका उल्लंघन हानिकारक। माँस-भक्षण शरीर के लिए हानिकारक यदि न भी हो, परन्तु आत्मिकोन्नति के लिए अवश्य हानिकारक है। माँसाहारी को योग-विद्या नहीं आती और उसे सिद्धि अर्थात् परमेश्वर का साक्षात् प्राप्त नहीं होता।

**पण्डित कृष्णनारायण का अनुभव**- स्वामीजी ने पण्डित कृष्णनारायण से कहा कि यदि आपको विश्वास न हो तो मैं आपको एक विधि बताता हूँ। निरामिष भोजन कीजिए और ४० दिन तक उनके कहे के अनुसार कार्य कीजिए। पण्डित कृष्णनारायण कहते हैं कि मैंने ३० दिन तक उस विधि को किया तो मेरे शरीर में बल और स्वास्थ्य बढ़ गया जिसके आनन्द को मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता और मेरा मस्तिष्क इतना प्रकाशयुक्त हो गया जैसे सूर्योदय से सब संसार हो जाता है और मुझमें भविष्य के जान लेने के चिह्न: प्रकट होने लगे। परन्तु ३१वें दिन मैंने माँस खा लिया जिससे तुरन्त ही मेरा मस्तिष्क अन्धकार-मय हो गया और जो कुछ मैंने प्राप्त किया था वह जाता रहा।

**मैक्समूलर वेद-विद्या में लड़का है**- मैक्समूलर के वेदों के ज्ञान के सम्बन्ध में स्वामीजी कहा करते थे कि वैदिक विद्या में वह एक लड़के के समान है, जब तक कोई गुरु उसे शिक्षा न देवेगा तब तक वह सायण और महीधर का अनुकरण न छोड़ेगा।

**गायत्री का महत्त्व**- स्वामीजी कहते थे कि गायत्री-मन्त्र एक ही है और उसका श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया करते थे। वे कहते थे कि आर्य ऋषि-मुनि सदा से इसी मन्त्र का जाप करते चले आए हैं, अब लोगों ने अनेक प्रकार की पूजाएँ और अनेक प्रकार के मन्त्र बना लिए हैं। मद्य-माँस का प्रचार हो गया और लोग सत्य-धर्म से पतित हो गए और इसी कारण अन्य लोग आकर यहाँ राज्य करने लगे।

स्वामीजी ने यह भी कहा था कि राजा को चाहिए कि वह ऐसा प्रबन्ध करे कि ग्राम के चारों ओर क्षेत्र हों और एक ओर गोचारण भूमि। उसी से देश की उन्नति होगी।

**३५ व्याख्यान दिए**- स्वामीजी मुलतान १२ मार्च से १६ एप्रिल सन् १८७८ ई० तक ३६ दिन रहे और ३५ व्याख्यान दिए, केवल एक दिन रुग्ण हो जाने के कारण वे व्याख्यान नहीं दे सके। व्याख्यानों में प्राय: सभी धार्मिक और लौकिक विषय आ गए थे। लोग चाहे किसी मत वा सम्प्रदाय के हों उनकी विद्या और बुद्धि के वैभव को देखकर स्तम्भित रह जाते थे।

**एक मुसलमान की सम्मति**- एक मुसलमान सज्जन की सम्मति थी कि स्वामीजी की विद्या, योग्यता और युक्तियुक्त कथन के कारण उनसे शास्त्रार्थ करना तो अलग रहा किसी का उनसे किसी बात के पूछने का भी साहस नहीं होता था।

स्वामीजी ने विज्ञापन द्वारा नगर के पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए आह्वान भी किया, परन्तु कोई सम्मुख न आया।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया; मुहम्मद साहब की तो एक स्त्री ही सहायक थी, हमारे सहायक तो सात पुरुष हैं**- ४ अप्रैल सन् १८७८ ई० तदनुसार चैत्र शुक्ला २ संवत् १९३५ वि० (गुरुवार) को मुलतान में आर्यसमाज स्थापित हुआ और तब उसके केवल ७ सभासद् ही बने। इस पर ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द ने हँसकर कहा कि केवल ७ सभासद् हैं, तो स्वामीजी ने भी हँसकर ही उत्तर दिया कि मुसलमानों के पैगम्बर की तो केवल एक स्त्री ही सहायक थी, परन्तु उसने इतनी उन्नति की और हमारे धर्म के तो अब सात सहायक हैं!

**मुझे काशी में विष दिया गया था**- मुलतान में स्वामीजी ने कलकत्ता निवासी एक बङ्गाली सज्जन बाबू शरच्चन्द्र चौधरी से कहा था कि एक बार हमें काशी में पान में विष दिया गया था। हमें ज्ञात हो गया तो हमने बार-बार जल पीकर वमन करके, कुछ देर अविश्रान्त रूप से टहल कर और प्राणायामादि करके विष की शक्ति को नष्ट कर दिया था।

१६ अप्रैल सन् १८७८ को स्वामीजी मुलतान से चले और १७ अप्रैल को लाहौर पहुँच गये।

## लाहौर (१८७८ ई०)

मुलतान से १७ अप्रैल, १८७८ ई० को लाहौर आकर स्वामीजी १४ मई सन् १८७८ ई० तक लाहौर में ही विराजे रहे और सत्य उपदेश करते रहे।

**स्वामीजी की नियमबद्धता**– ८ मई सन् १८७८ ई० को आर्यसमाज लाहौर की अन्तरङ्ग सभा का अधिवेशन था। एक सदस्य ने यह प्रस्ताव किया कि महाराज को उस अधिवेशन का प्रधान नियत किया जावे, परन्तु उन्होंने यह कहकर कि सभा के प्रधान उपस्थित हैं, उनकी उपस्थिति में मैं प्रधान नहीं बन सकता। अतः इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

**आप लोगों के हितचिन्तन ने दुबला कर दिया**– एक बार स्वामीजी ने अपने भक्तों से बातचीत करते हुए कहा था कि आप लोग मुझे बहुत हृष्ट-पुष्ट समझते हैं, परन्तु जब मैं गङ्गा-तट पर विचरण करता था उस समय की अपेक्षा अब कृश हो गया हूँ। आप लोगों की हितचिन्ता ने मुझे दुबला कर दिया है।

**चिड़चिड़ा क्लर्क**– स्वामीजी का बंगाली क्लर्क बड़े चिड़चिड़े स्वभाव का था, परन्तु वे उसके चिड़चिड़ेपन को सहन करते थे। जब वह नौकरी छोड़कर जाने लगा तो स्वामीजी ने उसके वेतन का रुपया करंसी नोटों में दिया। उसने बिगड़कर कहा– आपको अपने हस्ताक्षर भी तो करने थे। तब स्वामीजी ने अपना नाम लिख दिया। फिर उसने कहा कि मेरा नाम तो लिखा ही नहीं। उन्होंने उसका नाम वंकुबिहारी भी लिख दिया। इस पर वह और बिगड़ा और बोला कि मेरा नाम वंकुबिहारी ठठेरा तो लिखा ही नहीं। स्वामीजी ने कहा कि कुपित न हूजिए यदि आप को ठठेरा ही बनना है तो यह भी और लिखे देता हूँ।

**धर्मोपदेश में श्रोता क्यों सो जाते हैं?**– एक दिन किसी ने स्वामीजी से शङ्का की कि इसका क्या कारण है कि लोग नाच-रंग को तो सारी-सारी रात जग कर देखते रहते हैं, परन्तु धर्मोपदेश में सो जाते हैं। स्वामीजी ने कहा कि उसमें उत्तेजना होती है, अतः नींद नहीं आती और इसमें शान्ति, तो फिर वह न सोवे तो और क्या करे।

**हम एक जगह बाध्य होकर नहीं रह सकते**– जब स्वामीजी ने लाहौर से अन्य प्रान्तों में जाने का विचार किया तो लाहौर के आर्यभाइयों ने उनसे उत्कट इच्छा की कि लाहौर में कुछ काल और विराजे रहें, परन्तु उन्होंने कहा कि जैसा आप लोग हमारे यहाँ रहने की आवश्यकता समझते हैं, ऐसे ही अन्य स्थानों में भी हमारे जाने की आवश्यकता है। हम किसी एक स्थान पर बाध्य होकर नहीं रह सकते। जहाँ तक हमसे हो सकेगा सारे देश में वैदिक धर्म का प्रचार करेंगे।

## अमृतसर (१८७८ ई०)

१५ मई सन् १८७८ ई० तदनुसार वैशाख शुक्ला १४ संवत् १९३५ वि० (बुधवार) को स्वामीजी लाहौर से अमृतसर आ विराजे जहाँ सरदार भगवानसिंह का उद्यान उनके निवास के लिए स्थिर हुआ।

इस बार भी उनके व्याख्यान मलवईबुङ्गे में ही हुए, जहाँ पहली बार के आगमनकाल में होते थे।

**विद्याभिमानी पण्डित**–एक दिन एक ब्राह्मण ने यह लीला की कि व्याख्यान के मध्य में ही उसने उच्च स्वर से संस्कृत बोलना आरम्भ कर दिया। स्वामीजी ने उससे नम्र शब्दों में कहा कि आप शान्त रहिए, मैं व्याख्यान समाप्त कर लूँ तब आपसे वार्त्तालाप करूँगा, परन्तु वह चुप न हुआ। इस पर लोगों ने उसे चुप कराकर एक ओर को बिठा दिया। व्याख्यान समाप्त होने पर स्वामीजी ने आसन पर बैठकर कहा कि उन महाराज को बुलाओ। वे पास ही बैठे थे, बोले कि मैं उपस्थित हूँ। स्वामीजी ने उनसे पूछा आप कहाँ से पधारे हैं, तो उसने कहा कि मैं कुरुक्षेत्र से केवल शास्त्रार्थ करने के लिए ही यहाँ आया हूँ। फिर उनमें परस्पर निम्न प्रश्नोत्तर हुए–

*प्रश्न*– आपने वेद पढ़े हैं? उत्तर– हाँ।

*प्रश्न*– कौन-कौन से वेद पढ़े हैं? उत्तर– सारे वेद।

*प्रश्न*– व्याकरण भी देखा है? उत्तर– हाँ।

*प्रश्न*– महाभाष्य भी पढ़ा है? उत्तर– हाँ।

**पोल खुल गई**– इस पर स्वामीजी ने उनसे एक प्रश्न व्याकरण में किया, तो उन्होंने एक संस्कृत वाक्य पढ़ा और यह पूछने पर कि यह क्या है, उन्होंने कहा कि सूत्र है, स्वामीजी ने उन्हें कागज पेंसिल देकर कहा कि इस वाक्य को भी लिख दो और यह भी लिख दो कि यह सूत्र है। इस पर वह महात्मा घबरा गए और फिर बातचीत करने से कतराने लगे और अन्त को चले ही गए।

**पौराणिकों की लीला**– पहली बार जब स्वामीजी अमृतसर पधारे थे तो किसी पण्डित ने शास्त्रार्थ का नाम तक नहीं लिया था और इस बार भी एक मास तक स्वामीजी के व्याख्यान होते रहे, परन्तु किसी ने भी शास्त्रार्थ की चर्चा न की। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि स्वामीजी अमृतसर से जाने वाले हैं तो कहने लगे हम शास्त्रार्थ करेंगे। इस पर आर्यसमाज की ओर से उत्तर भेज दिया गया कि यदि शास्त्रार्थ करना है तो आर्यसमाज में आकर समय और नियमादि निश्चित कर लें परन्तु कोई भी न आया बल्कि अपनी ओर से ही बिना स्वामीजी वा आर्यसमाज की अनुमति के एक विज्ञापन छपाकर नगर में वितरित कर दिया कि १४, १५ जून सन् १८७८ ई० को घण्टाघर और तेजासिंह के शिवालय में बसन्तगिरि साधु की मध्यस्थता में शास्त्रार्थ होगा। इसका उत्तर मन्त्री आर्यसमाज ने दे दिया कि उक्त स्थानों पर ही शास्त्रार्थ करना स्वीकार है, परन्तु यदि कोई उपद्रव हुआ तो उत्तरदायित्व पौराणिकों पर होगा। मध्यस्थ यदि वेदविरुद्ध निर्णय करेगा तो वह माननीय न होगा। इस पर दूसरी ओर से अन्य स्थानों के नाम बताए गए, परन्तु मलवईमुङ्गे में, जहाँ हर प्रकार का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने पर आर्यसमाज उद्यत था, शास्त्रार्थ करने पर वे सहमत न हुए।

इस पर उत्तर दे दिया गया कि शास्त्रार्थ की तारीख १८ जून १८७८ ई० समय ६ बजे सायंकाल और स्थान सरदार भगवानसिंह का तबेला नियत किया जाता है। सभापति निर्वाचित होगा, मध्यस्थ कोई न होगा और शास्त्रार्थ लिखा जाएगा। इस पत्र को ५ आर्य सज्जन पण्डित चन्द्रभानु के पास, जिनका नाम विज्ञापन देने वालों में था, लेकर पहुँचे तो उन्होंने पत्र लेने और हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया और कहा कि मैंने विज्ञापन पर हस्ताक्षर नहीं किए थे और चिट्ठी पर भी मेरे हस्ताक्षर बलात् कराये गए हैं। उधर बसन्तगिरि ने भी कहला भेजा कि मेरा नाम मध्यस्थ के लिए बिना मेरी अनुमति के ही लिख दिया है और मुझमें स्वामीजी के शास्त्रार्थ में मध्यस्थ बनने का सामर्थ्य नहीं है।

**शास्त्रार्थ के लिए कोई न आया**– आर्यों ने अपने विज्ञापन के अनुसार १८ जून को शास्त्रार्थ का सब प्रबन्ध सरदार भगवानसिंह के तबेले में कर लिया और डिप्टी कमिश्नर से आज्ञा लेकर पुलिस का भी प्रबन्ध करा लिया। नियत समय पर स्वामीजी भी वहाँ पहुँच गए जिनके लिए एक कुर्सी डाली गई थी और एक मेज पर पुस्तकें सजाकर रखी गई थीं। इसी प्रकार एक कुर्सी और एक मेज विपक्ष के पण्डित के लिए भी रख दी गई थी। जनता इस शास्त्रार्थ को देखने के लिए इतनी उत्सुक थी कि छतें तक मनुष्यों से भरी हुई थीं। इन सब दर्शकों की संख्या ५, ६ सहस्र से कम न थी। जब कोई पण्डित शास्त्रार्थ के लिए न आया तो स्वामीजी ने अपना व्याख्यान आरम्भ किया।

**अन्ततः पण्डित लोग आए**– अभी व्याख्यान को आरम्भ हुए थोड़ा ही समय हुआ था कि बाबू मोहनलाल वकील आए और कहा कि मैं पण्डितों की ओर से वकील होकर आया हूँ, वे सभा में आना चाहते हैं, उन्हें बुलवा लिया जावे। इस पर दो–तीन प्रतिष्ठित सज्जन गए और उन्हें लिवा लाए। उनके साथ बहुत शोर होता आया और जयकारे बुलते आए तथा चार पण्डित कुर्सियों पर आकर बैठ गए। तब शास्त्रार्थ के नियम उन्हें दिए गए। उन्हें पढ़कर पण्डितजी बोले, इनका उत्तर इस समय नहीं दिया जा सकता, हम भी अपने नियम भेजेंगे और आर्यसमाज के मँगाएँगे।

**हल्ला–गुल्ला और ईंटों की वर्षा**– इतने में ही चिल्ल–पौं मचने लगी और ईंट रोड़े सभास्थल में आकर गिरने लगे। एक

रोड़ा स्वामीजी के भी मारा गया, परन्तु उनके चारों ओर मनुष्य खड़े थे अत: वे तो बच गए, परन्तु अन्य लोगों के ऊपर रोड़े गिरे और उनके चोटें भी आईं, कई एक के शरीर से रुधिर भी वह निकला। पुलिस खड़ी देखती रही, उसने न किसी को रोका न किसी को पकड़ा। बड़ी कठिनता से यह उपद्रव शान्त हुआ।

**पण्डितों ने कोई उत्तर न दिया**– दूसरे दिन बाबू मोहनलाल वकील को पत्र लिखा गया कि पण्डितों का उत्तर भेज दीजिए। उन्होंने कह दिया कि मैं तो उसी समय का वकील था, पण्डितों ने कोई उत्तर मेरे पास नहीं भेजा, वे लोग आपस में ही झगड़ रहे हैं, उत्तर कौन दे, इनका कोई विचार शास्त्रार्थ का नहीं जान पड़ता। इधर शास्त्रार्थ का सब प्रबन्ध कर लिया गया था, प्रवेश–पत्र भी छपवा लिए गए थे, परन्तु कोई परिणाम न निकला। २० जून तक प्रतीक्षा करके पब्लिक को विज्ञापन द्वारा सब घटनाओं से सूचित कर दिया गया और इस प्रकार शास्त्रार्थ का यह तमाशा समाप्त हुआ।

**निर्धन होने की चिन्ता न करो**– एक दिन स्वामीजी ने व्याख्यान में कहा था कि लोग कहते हैं कि अँग्रेज लोग धनी और देशी निर्धन होते जाते हैं। इसकी चिन्ता न करनी चाहिए, क्योंकि अँग्रेज जितने, अधिक धनी होते जाएँगे उतने ही इन्द्रियाराम होते जाएँगे। इससे वे आलसी होंगे और आलस्य से निर्बल। देशी लोग जितने ही निर्धन होंगे उतने ही परिश्रमी बनेंगे और परिश्रम से बलवान बनेंगे, इससे देशी लोग लाभ में रहेंगे।

**मुझे सत्य कहने में कोई भय नहीं है**– इस पर पण्डित बिहारीलाल ऐक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर ने स्वामीजी को यह सन्देश भेजा कि ऐसे पब्लिक अवसर पर इस प्रकार का कथन करना उचित न था। स्वामीजी ने उत्तर दे दिया कि सत्य बात के प्रकट करने में मुझे कुछ भय न था।

**भँगेड़ी ब्राह्मणों ने सोटा मारना चाहा**– एक दिन चरस–भाँग पीने वाले एक ब्राह्मण ने स्वामीजी के उपदेशों से चिढ़कर उनको सोटा मारना चाहा, तो लोगों ने उसे पकड़ लिया, परन्तु स्वामीजी ने उसे छुड़वा दिया।

**केवल साथ भोजन करने से प्रीति नहीं बढ़ती**– पादरी क्लर्क साहब और स्वामीजी से एक दिन खान–पान के विषय में बातचीत हुई थी। पादरी साहब ने स्वामीजी से कहा कि हम और आप एक मेज पर भोजन करें। स्वामीजी ने कहा इससे क्या लाभ होगा? पादरी साहब ने स्वामीजी से कहा कि इससे मित्रता बढ़ेगी। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि सुन्नी और शीया एक बर्तन में खा लेते हैं और रूसी और अँग्रेज तथा आप और रोमन कैथेलिक लोग एक मेज पर खा लेते हैं फिर भी आपस में एक–दूसरे के शत्रु हैं, इस पर पादरी निरुत्तर हो गए।

**स्वामीजी के वध के लिए सिक्ख निहंगों का षड्यन्त्र**– एक दिन स्वामीजी ने हर की पौड़ी और अमृतसर के गौण नामों का खण्डन किया। इससे सिक्खों का निहंग दल बहुत रुष्ट हुआ और कुछ निहंगों ने यहाँ तक कहा कि स्वामीजी के पास रात्रि को मनुष्य रहते हैं, कभी हम उन्हें अकेला पाएँगे तो अवश्य मार डालेंगे। यह बात स्वामीजी के किसी हितेच्छु ने उन्हें जाकर कह दी।

**देखें कोई निहंग हमारा क्या करेगा?**– स्वामीजी का परमेश्वर पर अटल विश्वास था। उन्होंने उस रात्रि को अपने पास किसी को न रहने का आदेश कर दिया और कहा जिस परमेश्वर ने हमें जगत् का उपकार करने की प्रेरणा की है हम सदा उसी के आश्रय रहते हैं, किसी मनुष्य के आश्रय नहीं। देखें कोई निहंग हमारा क्या कर सकता है, परन्तु कोई निहंग उनके पास तक न फटका।

**पौराणिक भी सबके सामने वेदमन्त्र पढ़ने लगे**– स्वामीजी के आगमन से पहले कोई ब्राह्मण भरी सभा में वेदमन्त्र नहीं पढ़ा करता था, परन्तु स्वामीजी के सामने अपनी विद्वता प्रकट करने के लिए शूद्रों और यवनों तक के सामने पण्डितराण वेदमन्त्र पढ़ने लगे।

**चालीस हिन्दू युवक ईसाई होने से बचे**– अमृतसर में लगभग चालीस हिन्दू नवयुवकों के विचार मिशन स्कूल में ईसाई

धर्म की शिक्षा पाने और ईसाइयों के संसर्ग से ईसाई-धर्म की ओर झुक गए थे। वे नाममात्र के ही हिन्दू रह गए थे और हृदय से ईसाई हो गए थे, यहाँ तक कि वे अपने को Unbaptised Christans (बपतिस्मा न पाए हुए ईसाई) कहने लगे थे और उन्होंने अपनी एक सभा भी अलग से बना ली थी जिसका नाम Prayer Meeting (उपासना सभा) रख छोड़ा था और प्रति रविवार को उसका अधिवेशन हुआ करता था। जब उन्होंने स्वामीजी के उपदेश सुने और वैदिक धर्म की सच्चाइयाँ और ईसाई धर्म के भ्रममूलक सिद्धान्त उन पर प्रकट हुए, तब वे ईसाई होने से बच गए। [५५६]

**विचित्र परिवर्तन**- एक व्यक्ति पण्डित खड्गसिंह पादरी बेरिङ्ग के उपदेश से ईसाई हुए थे और उन्हें ईसाई हुए बारह वर्ष हो चुके थे। वे ईसाई धर्म के एक स्तम्भ समझे जाते थे। पादरी साहब ने उन्हें स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए उनके ग्राम से अमृतसर बुलाया और जब वे आ गए तो पादरी साहब ने कहा कि पण्डित साहब आ गए हैं, अब अच्छी तरह से शास्त्रार्थ होगा।

पादरी साहब इधर स्वप्न देख रहे थे कि उनके दिग्गज पण्डित अजेय दयानन्द को परास्त करके ईसाइयों का सिर ऊँचा करेंगे, उधर परमेश्वर की कुछ और ही लीला हो रही थी।

पण्डित खड्गसिंह बाबू सिंही के गृह पर बाबू ज्ञानसिंह से मिले और उनसे कहा कि आप जानते हैं वह कौन है जिससे शास्त्रार्थ करने के लिए मुझे बुलाया गया है। बाबू ज्ञानसिंह ने कहा कि उनका नाम दयानन्द सरस्वती है और वह सरदार भगवानसिंह के बाग में ठहरे हुए हैं, आप अवश्य चलिए। एक दिन मध्यान्होत्तर में ४ बजे बाबू ज्ञानसिंह पण्डित खड्गसिंह को स्वामीजी के निवासस्थान पर ले गए। पण्डित खड्गसिंह प्रणाम करके स्वामीजी के समीप बैठ गए। इसके पश्चात् जो दृश्य बाबू ज्ञानसिंह ने देखा, वह अदृष्टपूर्व था। उसे देखकर वह आश्चर्य-सागर में मग्न हो गए। हुआ यह कि स्वामीजी से एक ब्राह्मण धर्म विषय पर बातचीत कर रहा था। स्वामीजी उसके प्रश्नों का उत्तर दे रहे थे, अब पण्डित खड्गसिंह उसे उत्तर देने लगे। ब्राह्मण ने कहा मैं तो स्वामीजी से बातें कर रहा हूँ आप बीच में क्यों बोलते हैं? तो पण्डितजी ने कहा कि यदि मेरे उत्तर से आपका सन्तोष न होगा तो स्वामीजी से पूछ लेना। पण्डित खड्गसिंह उसी क्षण से ईसाई नहीं रहे थे, वे स्वामीजी के पक्के अनुयायी बन गए थे। बाबू ज्ञानसिंह उन्हें अपने घर ले गए और उनका आतिथ्य-सत्कार किया। इसके पश्चात् उन्होंने वैदिक-धर्म का उपदेश देना आरम्भ कर दिया। उनकी दो कन्याएँ थीं। उनका विवाह भी उन्होंने आर्यों में ही किया।

**पादरी बहुत घबराए**- पादरी बेरिङ्ग साहब और अन्य पादरी इस घटना से बहुत घबराए और उन्होंने कलकत्ते के प्रसिद्ध पादरी के० एन० बनर्जी को शास्त्रार्थ के लिए तार द्वारा बुलाया, उनका उत्तर आया कि मैं आता हूँ। स्वामीजी अमृतसर छोड़ने वाले थे, परन्तु उनसे प्रार्थना की गई कि के० एन० बनर्जी कलकत्ते से आ रहे हैं, आप अभी न जाइए। इसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया, परन्तु जब फिर से के० एन० बनर्जी को तार दिया गया कि आप शीघ्र आवें तो उनका उत्तर आया कि मेरी पुत्री रोगग्रस्त है, मैं नहीं आ सकता। पादरी से बहुत कुछ कहा गया कि एक लड़की मर जावे तो क्या हानि है, वह मर कर मसीह की गोद में जाती है, इसमें क्या भय है। यहाँ अनेक आत्माओं (रूहों) का कल्याण है, परन्तु पादरी साहब न आए।

**कई ईसाई वैदिकधर्मी बन गए**- इसका यह परिणाम हुआ कि कई लोगों के विचार ईसाई-मत से फिर गए और वे आर्यसमाज के सभासद् बन गए।

**विश्वास पर नौकरी का बलिदान**- इसके पश्चात् एक दिन मिशन स्कूल में आवागमन पर वाद-प्रतिवाद हुआ। स्वामीजी के उपदेशों से बाबू ज्ञानसिंह का आवागमन पर दृढ़ विश्वास हो गया था। उन्होंने आवागमन का पक्ष लिया और बड़े बल के साथ उसका समर्थन किया। परिणाम यह हुआ कि उन्हें स्कूल की नौकरी से पृथक् कर दिया गया। बाबू सिंही ने उन्हें

---

५५६- '*दयानन्द-प्रकाश*' में इस घटना का उल्लेख स्वामीजी के पहली बार अमृतसर पधारने के वर्णन में है। - *संग्रहकर्ता*

पहले ही कह दिया था कि यदि आप एक जन्मवाद का समर्थन करेंगे तो ही अपने पद पर रह सकेंगे, बहुजन्मवाद का पक्ष लेकर स्कूल में नौकर न रह सकोगे। परन्तु उन्होंने इसकी कुछ परवाह न की।

बाबू सिंही के द्वारा कई हिन्दुओं को ईसाइयों बनाया गया था।

**सरदार साहब रूठ गये**- सरदार दयालसिंह मजीठिया प्रसिद्ध रईस लाहौर से स्वामीजी की वेद-विषय पर बातचीत हुई थी। वे ब्राह्मसमाजी थे और वेद को ईश्वरोक्त नहीं मानते थे। इस वार्तालाप के लिए एक विशेष दिन नियत किया गया था। सरदार साहब प्रसङ्ग से अलग हो जाते थे और इधर-उधर की बातों में अधिक समय नष्ट करते थे; अतः स्वामीजी को उनसे कहना पड़ा कि यह स्थिर हो जाना चाहिए कि इतने देर मैं बोलूँ और इतनी देर आप। परन्तु यह नियम हो जाने पर भी उन्होंने उसका व्यतिक्रम किया। स्वामीजी ने उन्हें रोका। वे रईस थे, यह उनसे सहन न हो सका और वे रुष्ट होकर चले गये। स्वामीजी ने उनसे कहा था कि आप अभी लड़के हैं। बाबू केशवचन्द्र सेन जिनके आप शिष्य हैं, अभी जीवित हैं। आप उन्हें कलकत्ते से यहाँ बुला लीजिए अथवा मुझे वहाँ ले चलिए और इस विषय में मेरी उनसे बातचीत करा दीजिए, तब आपको सन्तोष हो जाएगा कि कौन सच्चा है?

**निराश क्यों होते हो**- पण्डित पोहलोराम स्वामीजी के एक अनन्य भक्त थे। एक दिन उन्होंने नैराश्य भाव में स्वामीजी से कहा कि आर्य-समाजियों की संख्या बहुत न्यून है, इतने थोड़े से मनुष्यों से क्या हो सकेगा। स्वामीजी ने उन्हें ढ़ाढ़स बँधाते हुए कहा कि आप तो बहुत हैं, सहस्रों को अपना साथी बना सकते हैं। मैंने जब कार्य प्रारम्भ किया था, तो मैं अकेला ही था! आज परमेश्वर की कृपा से मेरे सहस्रों साथी हैं। यदि बाल शास्त्री और विशुद्धानन्द मेरा साथ देते तो हम तीनों संसार को जीत लेते, परन्तु शोक है कि वे मेरे भावों को जाने बिना ही मुझसे विरोध करने लगे।

**भक्त की भावना**- एक पण्डित पोहलोराम को किसी दाता ने एक नई कुर्ती दान दी। वे उसे लेकर स्वामीजी की सेवा में पहुँचे और भक्ति-भरित शब्दों में निवेदन किया कि यह कुर्ती आज ही मुझे दान में प्राप्त हुई है, मेरी हार्दिक इच्छा है कि इससे श्रीचरणों को पोंछकर आपके किसी सेवक को दे दूँ। स्वामीजी ऐसी बातों को व्यर्थ जानते थे। अत उन्होंने इसे स्वीकार न किया परन्तु पण्डित पोहलोराम ने उनके चरण पकड़कर कुर्ती से उन्हें झाड़ ही डाला और फिर कुर्ती स्वामीजी के एक भृत्य को दे दी।

**भक्त को उपदेश**- पण्डित पोहलोराम को स्वामीजी ने प्रतिदिन गायत्री मन्त्र जपने का आदेश किया था और उनसे यह भी कहा था कि रात्रि को शय्या पर जाकर प्रणव का जप किया करो और जप करते-करते ही सो जाओ। स्वामीजी ने उन्हें प्राणायाम की विधि भी बतलाई थी।

११ जुलाई, १८७८ ई० तक स्वामीजी का निवास अमृतसर में रहा, तत्पश्चात् उन्होंने संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध को, जो उस समय पश्चिमोत्तर प्रान्त के नाम से प्रसिद्ध था, अपने चरणों से पवित्र करने का सङ्कल्प किया। अमृतसर से स्वामीजी जालन्धर पधारे और वहाँ केवल एक दिन ठहरकर १३ जुलाई सन् १८७८ ई० को लुधियाना पहुँचकर लाला वंशीधर के बाग में ३-४ दिन ठहरे। इस बार कोई व्याख्यान नहीं दिया। लुधियाना से अम्बाला ठहरते हुए वे रुड़की चले गए। [५५७]

---

५५७- ऋषि दयानन्द के पत्रव्यवहार पत्रसंख्या ५३ पृष्ठ १०४ से विदित होता है कि वे १५ जुलाई तक अमृतसर में ही थे। यदि उसी दिन उनका अमृतसर से चलना मान लिया जावे तो वे १६ जुलाई को लुधियाना पहुँचे होंगे। - *संग्रहकर्ता*

# रुड़की (१८७८ ई०)

स्वामी दयानन्द सरस्वती की कीर्त्ति-चन्द्रिका की किरणें चारों ओर फैल रही थीं। रुड़की में जब उनकी छटा पहुँची तो वहाँ के लोगों में उनके दर्शनों की अभिलाषा जागृत हुई और पण्डित उमरावसिंह अध्यापक थाम्पसन इञ्जीनियरिङ्ग कॉलेज रुड़की तथा वहाँ के कतिपय रईसों और राजकर्मचारियों ने एक निवेदन-पत्र स्वामीजी की सेवा में रुड़की पधारने के लिए भेजा। स्वामीजी ने उन्हें उत्तर दिया कि अभी तो हमारा विचार अन्यत्र जाने का है, अत: इस समय हम नहीं कह सकते कि रुड़की कब आना होगा। जब सम्भव होगा हम सूचना देंगे। इसके थोड़े दिन पीछे ही स्वामीजी का पत्र आया कि हमने पूर्वोक्त स्थानों पर जाने का विचार अभी शिथिल कर दिया है, इसलिए यदि हमारा इस समय रुड़की आना अनुचित हो तो सूचित कीजिए, अन्यथा हम समझेंगे कि आप लोगों को हमारे अभी आने का विरोध नहीं है। इस पत्र के आते ही लोगों के हृदय-कमल विकसित हो गए और उन्होंने महाराज के निवास का लाला शम्भूनाथ दिल्ली वाले के बँगले में प्रबन्ध कर दिया। स्वामीजी रुड़की २५ जुलाई, १८७८ ई० या इससे कुछ पूर्व ही (श्रावण मास के कृष्ण पक्ष संवत् १९३५ वि०) में यहाँ पहुँच गए थे।[५५८]

**स्वामीजी का सत्सङ्ग**- स्वामीजी के पधारते ही दर्शकों का आगमन आरम्भ हो गया। उनमें अधिक संख्या थाम्पसन कॉलेज के अध्यापकों और छात्रों की ही थी, कुछ मुसलमान भी थे। स्वामीजी से वार्तालाप करके सब ही उनकी विद्या, बुद्धि को देखकर चकित रह जाते थे और प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर पाकर शान्ति लाभ करते थे।

**निज स्थान पर उपदेश**- पहिले ही दिन पण्डित उमरावसिंह के निवेदन पर उनके निज स्थान पर स्वामीजी ने ईश्वरोक्त ज्ञान के सिद्धान्त पर एक अत्यन्त हृदयग्राही वक्तृता दी, जिसे सुनकर सबने और विशेषकर मुसलमानों ने उनकी योग्यता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की।

**अमेरिका की चिट्ठी और उसका उत्तर**- उसी दिन अमेरिका से कर्नल अल्काट की एक चिट्ठी स्वामीजी के पास आई थी, जिसका उत्तर उस समय तक नहीं दिया गया था। वह चिट्ठी भी उपस्थित सज्जनों को सुनाई गई और फिर पण्डित उमरावसिंह ने उसका भाषानुवाद करके सुनाया। उसके उत्तर की पाण्डुलिपि भी पण्डित उमरावसिंह ने स्वामीजी के आदेशानुसार तैयार की[५५९] जिसमें स्वामीजी के मन्तव्यामन्तव्य का विशद विवरण था। उसे सुनकर सब लोगों को स्वामीजी के सिद्धान्तों से अभिज्ञता प्राप्त हो गई। स्वामीजी ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि अन्य धर्म और अन्य देश वालों को तो हमारे धर्म के जानने का उत्साह हो और हम इस भूमि के रहने वाले और अपने को आर्य पूर्वजों की सन्तान कहाने वाले उसकी उपेक्षा करें।

**स्वामीजी का अछूतों से प्रेम**- सफरमैना की पल्टन का एक मजहबी सिक्ख श्रोताओं के समुदाय में था और एक ओर को बैठा हुआ बड़े चाव से स्वामीजी की बातें सुन रहा था। वह श्वेत वस्त्र धारण किए हुए था। इतने में छावनी का पोस्टमैन स्वामीजी की डाक लेकर आया। वह मुसलमान था और उस सिक्ख को पहचानता था। उसे वहाँ बैठा देखकर वह आग-बबूला हो गया और उससे बोला, 'रे मनहूस नापाक! तू ऐसे बड़े बुजुर्ग और मशहूरजमाना शख्स की खिदमत में इस बे-अदबी से आ बैठा और अपनी जात से उन्हें इत्तिला न दी।' यह सुनकर वह बहुत लज्जित हुआ और अलग जा बैठा।

---

५५८- ऋषि दयानन्द ने रुड़की पहुँचकर २५ जुलाई को एक पत्र बाबू माधोलालजी को लिखा था। (देखो ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार पृष्ठ १०५) इससे विदित होता है कि वे २५ जुलाई या उससे कुछ पूर्व ही रुड़की पहुँचे थे।

५५९- कर्नल अल्काट की चिट्ठी का जो उत्तर दिया गया वह पत्र संस्कृत में है। और वह निश्चय ही स्वामीजी का अपना तैयार किया हुआ है। अत: उपर्युक्त लेख भ्रममूलक है। वह पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र व्यवहार में पृष्ठ १०५-११४ तक छपा है।

पोस्टमैन ने उसे वहाँ से भी निकालना चाहा। परन्तु अछूतोद्धारक दयानन्द को यह कब सह्य हो सकता था। स्वामीजी ने अत्यन्त कोमल शब्दों में उस पोस्टमैन से कहा, 'निस्सन्देह इस मनुष्य से थोड़ी-सी भूल हो गई थी जिसका उसे पर्याप्त दण्ड मिल गया है, अब उसके अलग बैठकर सुनने में कोई हानि नहीं है, उससे कुछ न कहना चाहिए। ' उस मनुष्य ने आँखों में अश्रु भरकर और हाथ जोड़कर कहा कि मैंने किसी की कुछ हानि नहीं की, मैं सबसे पीछे जूतियों की जगह अलग बैठा हूँ। स्वामीजी ने उस पोस्टमैन से कहा तुम्हें ऐसा कठोर व्यवहार न करना चाहिए और समझाया कि परमेश्वर की सृष्टि में सब समान हैं और उस मनुष्य से कहा कि तुम प्रतिदिन उपदेश सुनने आया करो। मुसलमानों के निकट तुम चाहे कैसे ही हो परन्तु यहाँ तुम्हें कोई घृणा की दृष्टि से नहीं देखता। स्वामीजी के इस सान्त्वना वाक्य से वह बहुत प्रसन्न हुआ और फिर प्रतिदिन उपदेश सुनने आता रहा।

**व्याख्यानों का प्रबन्ध हो गया**- दूसरे दिन प्रातःकाल से ही स्वामीजी के पास जिज्ञासुओं की भीड़ लग गई। उस दिन यह निश्चय हुआ कि स्वामीजी के व्याख्यान नगर में कराए जावें। अतः कैम्प मजिस्ट्रेट से आज्ञा प्राप्त करके आरमन स्कूल के समीप के मैदान में उनके व्याख्यानों का प्रबन्ध किया गया।

**समय का मूल्य**- पहले दिन व्याख्यान का समय ५ बजे अपराह्नः था। स्वामीजी को व्याख्यान स्थल पर भेजने के लिए बग्घी ४ बजे ही आ गई। उन्होंने घड़ी देखकर कहा कि मार्ग १५ मिनट का है। आधा घण्टा पहले जाने से क्या लाभ? मैं समय से ५ मिनट पहले वहाँ पहुँचना चाहता हूँ। अतः उन्होंने ऐसा ही किया और ठीक ५ बजे व्याख्यान आरम्भ कर दिया। व्याख्यान का विषय सत्यधर्म और वेद था।

**मैंने ऐसी प्रबल युक्तियाँ नहीं सुनी थीं**- दूसरा व्याख्यान मूर्त्तिपूजा के खण्डन और आवागमन पर हुआ। उसे सुनकर रुड़की के असिस्टेण्ट सर्जन बाबू सुरेशचन्द्र ने कहा कि मैंने अपनी सारी आयु में आवागमन के समर्थन में ऐसी प्रबल युक्तियाँ कभी नहीं सुनी थी। मेरा आवागमन पर विश्वास न था, परन्तु अब मुझे ज्ञात हो गया कि मैं भूला हुआ था।

**स्वामीजी बड़ा वाचाल है, मैं उससे शास्त्रार्थ नहीं कर सकता**- रुड़की में उस समय एक विद्वान् ब्राह्मण पण्डित त्रिलोकचन्द्र निवास करते थे जो आरमन स्कूल में संस्कृताध्यापक थे। उनसे लोगों ने जाकर कहा कि स्वामीजी के सम्मुख अपनी विद्या का परिचय दीजिए और मूर्त्तिपूजा को सिद्ध कर दीजिए, तो उन्होंने उत्तर दिया कि मूर्त्तिपूजा तो वेदप्रतिपादित है और सनातन से चली आती है उसके मण्डन की क्या आवश्यकता है और आप लोगों को उसमें सन्देह न करना चाहिए। दयानन्द बड़ा वाचाल है, उसके सामने कोई नहीं बोल सकता, अतः उससे शास्त्रार्थ करने में मैं असमर्थ हूँ, परन्तु मैं अपने घर पर व्याख्यान दे दूँगा। अतः जिस दिन स्वामीजी का तीसरा व्याख्यान था, एक हिन्दू सज्जन के गृह पर लोग एकत्र हुए और थामप्सन कॉलेज के पुस्तकालय से जर्मनी का छपा हुआ ऋग्वेद मँगाकर पण्डितजी ने सब लोगों को बार-बार दिखाया और कहा कि यह ऋग्वेद है, मेरा छपाया हुआ नहीं है, विलायत में मुद्रित हुआ है, इस पर ऋषियों का भाष्य है, मेरा अनुवाद किया हुआ नहीं है, इसे मानो, दयानन्द जो कहता है उसे मत मानो। तब एक व्यक्ति ने कहा कि यह तो बता दीजिए कि इसमें क्या लिखा है। इस पर पण्डितजी ने कहा कि देख लो, यहाँ कोई यवन तो नहीं बैठा है। वहाँ एक यवन चपरासी बैठा था, लोगों ने उसे हटा दिया तब उन्होंने '*सहस्रशीर्षा पुरुषः*' इत्यादि मन्त्र पढ़कर सुनाया और कहा कि इससे मूर्त्तिपूजा सिद्ध होती है। तब किसी ने पण्डितजी को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए कहा, तो पण्डितजी ने कहा कि मैं उसके दर्शन नहीं कर सकता। इस पर एक उपस्थित सज्जन ने कहा कि काशी में तो काशी के सब पण्डित और राजा साहब स्वामीजी के सामने मोर्चे में बैठे थे, आपने यह ढकोसला कहाँ से निकाला, ज्ञात होता है कि आप शास्त्रार्थ नहीं कर सकते। इसके पश्चात् शंख-घड़ियाल बजे और जय बोलकर सभा विसर्जित हुई। इन्हीं पण्डितजी ने मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए हकीम थानसिंह से कहा था कि यदि मेरे पिता जीवित न होते तो मैं निस्सन्देह आर्य-धर्म स्वीकार कर लेता।

**मुसलमान उत्तेजित**– तीसरे दिन स्वामीजी का व्याख्यान इञ्जील और कुरान की शिक्षा पर था। मुसलमान पहले से ही उत्तेजित हो रहे थे, कारण कि रुड़की में स्वामीजी के आगम से पहले ही एक मौलवी बाजार में खड़ा होकर हिन्दुओं और ईसाइयों के विरुद्ध प्रचार किया करता था। यह कटुभाषी और असभ्य था। हिन्दू तो उसके समाने बोलते न थे परन्तु ईसाई उससे बातचीत करने को उद्यत हो जाते थे। वह उनसे भी कठोर भाषा का प्रयोग किया करता था और इसी कारण एक बार उसका पादरी हापनर से झगड़ा हो गया था। स्वामीजी के विषय में मुसलमानों की यह धारणा हो गई थी कि उन्हें हिन्दुओं ने मुसलमानों से शास्त्रार्थ करने के लिए बुलाया है। मुसलमानों ने आरम्भ से ही स्वामीजी के व्याख्यान में विघ्न डालने की ठान ली और वह हल्ला-गुल्ला करते रहे। पुलिस व्याख्यान में उपस्थित थी, परन्तु वह भी अधिकतर मुसलमान थी, राजकर्मचारियों की भी अधिक संख्या मुसलमान ही थी। इसलिए उनमें से किसी ने भी विघ्नकारियों से कुछ न कहा।

**इस्लाम का खण्डन न कीजिए, इस्लाम पर प्रबल आक्षेप**– यह दशा देखकर किसी ने एक पर्चा स्वामीजी के पास भेजा कि दुष्ट लोगों की ओर से उपद्रव का भय है अत: इस्लाम पर अधिक न कहें, स्वामीजी ने उसे देखकर संकेत कर दिया कि उन्होंने उसे देख लिया है। वह इन बातों से डरने वाले न थे। सिंह गीदड़-भवकियों से कहीं भयभीत हो सकता है? उन्होंने उसकी सर्वथा उपेक्षा करते हुए अपने विषय को जारी रखा और ऐसा प्रबल आक्षेप इस्लाम पर किया कि लोग देखते ही रह गए, इस्लाम का फोटो खींचकर रख दिया। मुसलमान स्वामीजी के आक्षेपों को सुनते रहे और जी में कटते रहे, परन्तु कुछ कह न सके, क्योंकि स्वामीजी जो कुछ कहते थे, पते की कहते थे। उधर प्रबन्धकर्ता भी सावधान थे, उनके सुप्रबन्ध के कारण कोई उत्पात न हुआ।

**डारविन की कल्पना का खण्डन**– चौथे व्याख्यान में उपद्रव की आशङ्का से सरकारी सहायता का प्रबन्ध कर लिया गया था। उस व्याख्यान में स्वामीजी ने पाश्चात्यदर्शन, डारविन के सिद्धान्त, इस्लाम और ईसाई मत के दार्शनिक सिद्धान्तों तथा पुराणों की बुद्धि-विरुद्ध गाथाओं पर प्रकाश डाला था। डारविन की कल्पना के विरुद्ध उन्होंने यह युक्ति दी थी कि जिस समय वानर से नर उत्पन्न हुआ, कोई बन्धन इस प्रकार का नहीं लगाया गया था कि आगे को वानर उसी प्रकार का कर्म करके नर को उत्पन्न नहीं करेगा तो फिर क्या कारण है कि उस काल के पश्चात् अब तक एक नर भी वानर से उत्पन्न नहीं हुआ, जबकि वे सब नर-पशु और नारी- पशु, जिनके संयोग से नर हुआ था, पृथ्वी पर उपस्थित रहे। दूसरे यह कहा जाता है कि दो भिन्न जातियों के नर और नारी के मेल से एक नई जाति के पशु उत्पन्न हुए और फिर उनके अन्य जातियों के पशुओं से समागम करने से एक और नई जाति उत्पन्न हुई और इस प्रकार होते-होते मनुष्य का पृथ्वी पर आविर्भाव हुआ। इस पर स्वामीजी ने कहा कि दो भिन्न जातियों के पशुओं के मेल से जब अब सन्तान ही नहीं होती तो पहले भी नहीं हो सकी होगी।

**शिक्षित समुदाय आश्चर्यान्वित**– इन युक्तियों को सुनकर अँग्रेजी शिक्षित समुदाय बहुत आश्चर्यान्वित हुआ। अनेक शिक्षित लोगों ने ऐसे विषयों पर स्वामीजी से प्रश्न किए जिनके आविष्कारकर्त्ता योरोपीय विद्वान् ही माने जाते हैं जैसे कि सूर्य का न घूमना, पृथ्वी का परिभ्रमण, अमेरिका का वर्णन, मेघ आदि का वर्णन, भूकम्प आदि। परन्तु स्वामीजी ने संस्कृत ग्रन्थों के प्रमाणों से सबके समीचीन उत्तर दिए जो सर्वांश में आधुनिक विज्ञान के अनुकूल थे। आकर्षण के सिद्धान्त का आविष्कर्त्ता न्यूटन को समझा जाता है, परन्तु स्वामीजी ने वेदमन्त्रों तथा अन्य ग्रन्थों के प्रमाण से उसका प्राचीनत्व सिद्ध करके उपस्थित जन को आश्चर्य से अवाक् कर दिया था।

**मनोरञ्जक प्रश्नोत्तर**– लाला कन्हैयालाल (विद्यार्थी, इञ्जीनियरिङ्ग क्लास) ने प्रश्न किया कि नशे की दशा में ध्यान खूब जमता है और मनुष्य उसी में मग्न हो जाता है, अत: जैसा अच्छा ध्यान परमेश्वर का नशे की दशा में हो सकता है, वैसा अन्य दशा में नहीं हो सकता। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यह तो ठीक है कि नशे की अवस्था में जिस वस्तु का ध्यान आता है मनुष्य उसमें मग्न हो जाता है, परन्तु उसे उस वस्तु का तात्त्विक ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ऐसा ज्ञान एक वस्तु का दूसरी

वस्तुओं के साथ यथार्थ सम्बन्ध स्थिर करने से होता है और यह नशे की दशा में होना असम्भव है। उसमें गुणी का गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी दशा में ईश्वर का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इस उत्तर को सुनकर वह बहुत प्रसन्न और सन्तुष्ट हुए।

**कर्नल और कप्तान से वार्त्तालाप**– एक दिन कर्नल मानसल कमाण्डिङ्ग ऑफीसर रुड़की और कप्तान स्टुआर्ट, कार्टर मास्टर स्वामीजी के व्याख्यान में आए। स्वामीजी उस समय इञ्जील के विषय में कथन कर रहे थे। स्वामीजी के आक्षेपों को सुनकर वह उत्तेजित होते थे, परन्तु कुछ कहते न थे। व्याख्यान के पश्चात् उन्होंने स्वामीजी से वाद-प्रतिवाद किया। जब वे स्वामीजी की युक्तियों का उत्तर न दे पाते थे तो कुछ भड़क उठते थे। अन्त को वे सर्वथा निरुत्तर हो गए और यह कहकर चले गए कि इसका उत्तर हम कल देंगे, परन्तु अगले दिन वह न आए।

**मजिस्ट्रेट ने व्याख्यान बन्द कर दिए**– स्वामीजी के व्याख्यान चार ही हुए। उसके पश्चात् हरिद्वार के पण्डों ने मजिस्ट्रेट से शिकायत की कि स्वामी दयानन्द तीर्थों के माहात्म्य का खण्डन करते हैं जिससे हमारी हानि होती है। इस पर मजिस्ट्रेट ने स्वामीजी को धर्म सम्बन्धी व्याख्यान देने से निषेध कर दिया, परन्तु वह निज स्थान पर बराबर उपदेश करते रहे।

**मुसलमानों में शास्त्रार्थ का आयोजन**– यह हम पहले ही कह चुके हैं कि मुसलमानों में स्वामीजी के विरुद्ध उत्तेजना हो गई थी। उन्होंने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का आयोजन किया और मौलवी अहमदअली और हाफिज रहीमुल्ला शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत हुए, परन्तु मौलवी साहब तो कटुभाषी प्रसिद्ध थे और हाफिजजी अरबी से अनभिज्ञ थे, अत: स्वामीजी ने उनसे शास्त्रार्थ करना उचित न समझा। स्वामीजी ने कहा कि यदि मुसलमानों के सबसे बड़े इस्लाम के विद्वान् मौलवी मुहम्मदकासिम देवबन्द वाले आवें तो हम उनसे शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं।

८ अगस्त सन् १८७८ ई० को मौलवी मुहम्मदकासिम को मुसलमानों ने बुलाया और उन्होंने आते ही एक विज्ञापन छपवाकर वितरित किया और एक पत्र भी रजिस्ट्री कराकर स्वामीजी के पास भेजा जिस पर उनके हस्ताक्षर न थे। अत: वह पत्र मौलवी साहब के पास वापस भेजकर १० अगस्त को उनसे उस पर हस्ताक्षर कराए गए। उक्त पत्र में अप्रासङ्गिक बातें लिखकर यह लिखा था कि कोई ऐसी तिथि नियत की जाए जिस पर निकट और दूर के स्थानों के लोग आ सकें और साथ ही यह भी कि वह तिथि दूर की न हो, अन्यथा हमें ठहराना कठिन होगा। दूसरे मौलवी साहब का यह आग्रह था कि स्वामीजी उर्दू में बोलें और तीसरे यह कि जब तक एक विषय पर बातचीत समाप्त न हो जाए तब तक दूसरे विषय पर बातचीत न की जावे।

१० अगस्त को ही स्वामीजी के पक्ष की ओर से मौलवी साहब के विज्ञापन के उत्तर में विज्ञापन दे दिया गया जिसमें मौलवी साहब के विज्ञापन की सब विरुद्ध बातों का उत्तर दिया गया था। मौलवी साहब ने लिखा था कि हमने अपने मित्रों द्वारा बहुत चाहा कि शास्त्रार्थ की तिथि नियत हो जाए --------परन्तु पण्डितजी किसी प्रकार तिथि नियत करने पर सम्मत न हुए, यह बात सर्वथा मिथ्या थी। मौलवी साहब का कोई मित्र स्वामीजी के पास नहीं आया था। केवल एक मनुष्य आया था और उससे सब कुछ स्थिर हो गया था, केवल एक बात ही निर्णय के लिए रह गई थी जिसके विषय में उसने कहा था कि मौलवी साहब की सम्मति लेकर उत्तर दूँगा। परन्तु उसके पश्चात् न कोई आया, न गया।

साथ ही स्वामीजी ने एक पत्र ११ अगस्त को रजिस्ट्री कराकर मौलवी साहब के पास भेजा जिसमें उनकी सब बातों का यथावत् उत्तर था। उसमें यह भी लिखा था कि शास्त्रार्थ की तिथि और समय निश्चित हो ही गया अन्य जो नियम आप चाहें लिखकर भेजने की कृपा करें। मैं भी जो नियम उचित समझूँगा लिख भेजूँगा। इसके उत्तर में मौलवी साहब ने हाफिज रहीमुल्ला को यह लिख भेजा कि उन्हें मेरी ओर से नियम निश्चित करने का अधिकार है, परन्तु स्वामीजी ने आग्रह किया कि नियम स्वीकार करने के लिए मौलवी साहब को स्वयं आना चाहिए।

इस पर स्वामीजी और मौलवी साहब तथा ३०, ४० अन्य सज्जन तथा कर्नल मानसल और कप्तान स्टुआर्ट एक स्थान पर एकत्र हुए और सबके सामने दोनों शास्त्रार्थ-कर्त्ताओं की स्वीकृति और सहमति से निम्नलिखित नियम निश्चित हुए-

१- शास्त्रार्थ उसी कोठी में होगा जिसमें स्वामीजी उतरे हुए हैं। मौलवी साहब ने इस पर आपत्ति की तो कप्तान स्टुआर्ट ने कहा कि यदि आपत्ति है तो शास्त्रार्थ हमारे बँगले पर हो जाए, परन्तु मनुष्यों की संख्या २४ से अधिक न हो क्योंकि वहाँ अधिक स्थान नहीं है, तब मौलवी साहब ने स्वामीजी के स्थान को ही स्वीकार कर लिया।

२- उभय पक्ष के मनुष्य ४०० से अधिक न होंगे।

३- शास्त्रार्थ-स्थल में जाने के लिए चतुर और बुद्धिमान् मनुष्यों को टिकट बाँट दिए जाएँगे।

४- शास्त्रार्थ लिपिबद्ध होगा अर्थात् जो कुछ कोई बोलेगा उसे लिखाता जाएगा ताकि नकार करने का स्थान न रहे और मुद्रित होने के काम आवे।

५- शास्त्रार्थ का समय ६ बजे सायङ्काल से रात्रि के ९ बजे तक रहेगा।

६- दोनों ओर से शास्त्रार्थ में बातचीत सभ्यतापूर्वक दार्शनिक लोगों के ढङ्ग पर होगी। कोई किसी के मान्य व्यक्तियों और नेताओं के सम्बन्ध में कठोर शब्दों का प्रयोग न करेगा।

७- शास्त्रार्थ के समय स्वामी दयानन्द और मौलवी मुहम्मदकासिम के अतिरिक्त अन्य कोई शास्त्रार्थ सम्बन्धी बातचीत न करेगा।

८- स्वामीजी वेद का पक्ष लेंगे और केवल कुरान पर आक्षेप करेंगे और मौलवी साहब कुरान का पक्ष लेंगे और केवल वेद पर आक्षेप करेंगे।

९- १८ अगस्त सन् १८७८ ई० से नियत समय पर उपर्युक्त नियमों के अनुसार शास्त्रार्थ आरम्भ किया जाएगा।

इसके पश्चात् सब लोग अपने-अपने स्थानों को चले गए।

जब मौलवी साहब अपने डेरे पर पहुँचे तो उनको चिन्ता हुई कि यदि इन नियमों के अनुसार शास्त्रार्थ होगा तो बड़ी आपत्ति आएगी। शास्त्रार्थ लिखा गया तो अमिट हो जाएगा, हम यह कैसे कह सकेंगे कि हमने यह नहीं कहा था। यदि हमारी ओर से केवल दो सौ ही मनुष्य हुए तो हुल्लड़बाजी का अवसर ही न मिल सकेगा और न शास्त्रार्थ में विघ्न डालकर अपनी जीत का शोर मचा सकेंगे। अत: उन्होंने उचित-अनुचित का विचार छोड़कर १२ अगस्त को स्वामीजी को एक पत्र लिखा कि मैंने जो नियम स्वीकार किए वे आपके आग्रह पर और इस कारण से कि नमाज को देर होती थी। शास्त्रार्थ के लिखे जाने की आवश्यकता नहीं है, न ऐसी परिपाटी ही है। यहाँ सब लोग इस बात को नापसन्द करते हैं कि केवल २०० मनुष्य ही शास्त्रार्थ देखने का सौभाग्य क्यों प्राप्त करें और शेष उससे क्यों वञ्चित रहें? मौलवी साहब ने यह भी धमकी दी कि अँधेरी रात होगी, मुसलमान तो क्या हिन्दू भी आपसे फिरे हुए हैं, यदि आपके साथ कोई अनुचित व्यवहार हुआ तो सबसे पहले मैं पकड़ा जाऊँगा। समय के विषय में भी आपत्ति उठाई और स्पष्ट लिख दिया कि सब लोगों को खुली आज्ञा दीजिए और समय भी बदल दीजिए अन्यथा इन्कार कीजिए।

इसका उत्तर स्वामीजी ने १३ अगस्त को यह दिया कि दर्शकों की संख्या, शास्त्रार्थ का स्थान, शास्त्रार्थ का समय और उसका लिखा जाना कर्नल मानसल और कप्तान स्टुआर्ट के सामने निश्चित हो गए थे, अब आप इनसे असहमति प्रकट करते हैं। किसी बात का निर्णय करके उससे फिरना बुद्धिमानों का काम नहीं है। मैं निर्णीत विषय से नहीं हट सकता।

मौलवी साहब ने दो लम्बे- चौड़े पत्र एक १३ और दूसरा १४ अगस्त को लिखा, जिनमें पहली ही बातों को दुहराया और इसी बात पर आग्रह किया कि शास्त्रार्थ खुले मैदान में हो, सबको आने की आज्ञा हो, लिखा न जाए।

फिर मौलवी साहब ने यह चाल चली कि एक प्रार्थना-पत्र कुछ मुसलमानों की ओर से साहब मजिस्ट्रेट छावनी रुड़की के यहाँ दिलवाया कि हमें छावनी में सर्वसाधारण की सभा में शास्त्रार्थ करने की आज्ञा दी जावे। इस पर उन्होंने आज्ञा दी कि हम न रुड़की, न छावनी और न सिविल स्टेशन में कहीं भी ऐसे शास्त्रार्थ की आज्ञा नहीं देते। इसके अतिरिक्त १७ अगस्त को एक प्रार्थना-पत्र कर्नल मानसल को दिलवाया कि स्वामी दयानन्द ने हमसे कह-कह कर देवबन्द से मौलवी मुहम्मदकासिम को बुलवाया तो हम लोगों ने कैम्प मजिस्ट्रेट से शास्त्रार्थ के लिए एक विस्तृत मैदान की प्रार्थना की थी, परन्तु उन्होंने आज्ञा दी कि हम शास्त्रार्थ को रुड़की में (छावनी में अथवा सिविल स्टेशन में) अनुमति नहीं दे सकते। अब यत: पण्डित दयानन्द सरस्वती बार-बार आग्रह करते हैं कि मेरे स्थान पर आकर शास्त्रार्थ करो और वह स्थान आपके इलाके में है, अत: प्रार्थना है कि आप हमें पण्डित साहब के स्थान पर आम तौर से जाने की अनुमति दें ताकि मौलवी साहब भी उन्हीं के स्थान पर जाकर शास्त्रार्थ करें।

इस पर कर्नल साहब ने आज्ञा दी कि इस शास्त्रार्थ का हमारे इलाके से कुछ सम्बन्ध नहीं है। यदि शास्त्रार्थ करना है तो कहीं और करो। रुड़की वा छावनी में हम इसकी किसी प्रकार आज्ञा नहीं देते। मजिस्ट्रेट साहब के इलाके से कुछ दूर पर करना स्वीकार हो तो करो। हमारा और मजिस्ट्रेट का इलाका बहुत दूर तक नहीं है। हम इस शास्त्रार्थ का निषेध नहीं कर सकते।

इस पर उसी दिन मौलवी साहब ने स्वामीजी को लिखा कि मजिस्ट्रेट ने भी और कर्नल साहब ने भी रुड़की में शास्त्रार्थ करने की आज्ञा नहीं दी, अत: शास्त्रार्थ ईदगाह के मैदान में कर लीजिए। हम सब प्रबन्ध कर देंगे। मौलवी साहब ने स्वामीजी को उसी दिन एक और पत्र लिखा कि यदि शास्त्रार्थ लिखा गया तो मेरी वाणी का प्रवाह रुकेगा। आप से लिखा जाए तो लिख लीजिए और न हो सके तो आप जानें। --------- सहस्रों शास्त्रार्थ हुए किसी ने यह शर्त न की, आपको यह शर्त सूझी इसका कारण इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं कि आप शास्त्रार्थ से बचना चाहते हैं।

उत्तर में स्वामीजी ने मौलवी साहब को दो पत्र लिखे, जिनमें शास्त्रार्थ के लिखे जाने की युक्तियुक्तता पर बल दिया गया। यह भी लिखा कि आप यदि इस उचित नियम को भी नहीं मानते हैं तो आपका शास्त्रार्थ न करने का अभिप्राय ही ज्ञात होता है।

पण्डित उमरावसिंह ने कप्तान स्टुआर्ट को १७ अगस्त को ही एक पत्र लिखा जिसमें प्रार्थना की कि स्वामीजी के स्थान पर शास्त्रार्थ करने की अनुमति दी जावे। इसका उत्तर कप्तान साहब ने यह दिया कि कर्नल मानसल पहले ही कह चुके हैं कि यदि थोड़े से मनुष्य इकट्ठे होकर दार्शनिकों की भाँति शान्ति और नियमपूर्वक विचार करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

मैं समझता हूँ कि सब सम्बन्धित मनुष्यों मुसलमानों और आर्यों को उनकी अनुमति मान लेनी चाहिए और इस समय जैसे स्वामी के स्थान पर एकत्रित होते हैं वैसे ही एकत्र हों।

मैं अपना गृह प्रसन्नतापूर्वक दे सकता हूँ, परन्तु उसमें २४ मनुष्यों से अधिक के उपस्थित होने का स्थान नहीं है।

उपर्युक्त आज्ञा और निवेदन-पत्र की प्रतिलिपि मौलवी साहब के पास भेजकर लिखा कि ईदगाह पर कोई प्रबन्ध नहीं हो सकता और आप भी अपने अतिरिक्त दूसरों की अनियमता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकते, अत: मेरा अथवा कप्तान साहब का मकान ही उचित प्रतीत होता है।

इसका उत्तर जो आना था वही आया कि कप्तान साहब को क्या अधिकार है? अधिकार कर्नल साहब को है और वह पहले ही निषेध कर चुके हैं। मजिस्ट्रेट और कर्नल साहब की आज्ञा के पश्चात् हमें पकड़े जाने का भय है। आपके मकान में २०, २५ से अधिक व्यक्ति नहीं आ सकते। तब हमारे हिस्से में तो सम्भवत: ५ ही मनुष्य आवें शेष छावनी और नगर के होंगे। मौखिक और लेखबद्ध शास्त्रार्थ में भेद ही क्या रहा यदि मौखिक का एक-एक वाक्य लिखा गया। इससे

तो लेखबद्ध शास्त्रार्थ होना ही अच्छा है।

इस प्रकार मौलवी साहब ने शास्त्रार्थ करना किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया।

**संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान्**– जिन दिनों मौलवी साहब से शास्त्रार्थ की छेड़छाड़ हो रही थी उन्हीं दिनों एक पण्डितजी आए जिनके संस्कृत के विद्वान् होने की बड़ी ख्याति थी। वे स्वामीजी से मिलने गए तो स्वामीजी ने उन्हें सत्कारपूर्वक बिठाया। पण्डितजी ने एक व्याकरण का ग्रन्थ बनाया था जिसे वे अपने विचार में अपूर्व समझते थे। उन्होंने वह ग्रन्थ स्वामीजी को दिखाया तब स्वामीजी ने उसे ५, ७ मिनट में देखकर वापस कर दिया और कहा कि आपका संस्कृत का ज्ञान अच्छा है।

**आपका ग्रन्थ जैसा है वैसा ही है**– पण्डितजी उन दिनों बेकार थे, स्वामीजी ने उन्हें पास रखना भी चाहा परन्तु वे राजी न हुए। स्वामीजी ने कहा कि यदि आप अपना समय किसी आर्ष-ग्रन्थ के अनुवाद में लगाते तो अच्छा होता। पण्डितजी बोले, तो क्या मेरा ग्रन्थ किसी अर्थ का नहीं? स्वामीजी ने कहा, जैसा है वैसा ही है। पण्डितजी ने कहा कि मेरे व्याकरण में सब नियम आ गए हैं।

**भूलों का प्रदर्शन**– पण्डितजी के हठ करने पर स्वामीजी ने कहा कि आप अपने ग्रन्थ का कोई नियम निकालिए। उन्होंने एक नियम निकाला तो स्वामीजी ने १७, १८ वेदमन्त्र पढ़कर कहा कि आप अपने नियम को इन मन्त्रों पर घटाइए, परन्तु वह न घटा तो पण्डितजी ने कहा कि वेद का व्याकरण अलग हो सकता है। इस पर स्वामीजी ने कहा कि इससे क्या लाभ कि वेद के लिए एक ग्रन्थ पढ़ा जाए और लौकिक संस्कृत के लिए दूसरा। फिर स्वामीजी ने ३२, ३३ लौकिक संस्कृत के श्लोक पढ़े। उन पर भी पण्डितजी का नियम न घटा।

**गर्व चूर्ण हो गया**– इस पर पण्डितजी बहुत चकित हुए और स्वामीजी के पग पकड़ लिए तथा कहा कि आप समुद्र हैं। मैंने यह ग्रन्थ काशी के पण्डितों को भी दिखाया था, उन सबने इसकी प्रशंसा ही की थी। फिर स्वामीजी ने पाणिनीय-व्याकरण का एक सूत्र पढ़कर उसे सब पर घटा दिया और पण्डितजी को मन्त्रण दी कि आप आर्ष-ग्रन्थों की टीका और व्याख्या लिखने का यत्न करें जिससे संस्कृत विद्या की उन्नति हो। इस प्रकार पण्डितजी का गर्व चूर्ण हो गया और वे निष्प्रभ परन्तु अधिक बुद्धिमान् होकर विदा हो गए।

**मैं दयानन्द का मुख नहीं देख सकता**– हरिद्वार के प्रसिद्ध सतुआ स्वामी से भी लोगों ने कहा था कि स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ कीजिए। पहले तो उन्होंने हाँ कर ली, परन्तु फिर कहा कि मैं दयानन्द का मुख नहीं देख सकता। लोगों ने यह बात स्वामीजी से कही तो उन्होंने कहा कि बीच में पर्दा डालकर शास्त्रार्थ हो सकता है, परन्तु सतुआ स्वामी इस पर भी उद्यत न हुए।

**बंगाली सज्जन से प्रश्नोत्तर**– एक दिन बंगाली सज्जन मेघनाथ भट्टाचार्य्य स्वामीजी के दर्शनार्थ आए और धर्म विषय पर उनसे निम्नलिखित वार्त्तालाप हुआ–

*मेघनाथ*– जीवात्मा शारीरिक धर्म का एक अंश है कि नहीं?

*स्वामीजी*– नहीं, जीवात्मा स्वतन्त्र है।

*मेघनाथ*– यदि ऐसा है तो शारीरिक व्यतिक्रम अर्थात् अस्वथता से आत्मा व्यतिक्रम क्यों होता है?

*स्वामीजी*– जैसे जल में तरङ्ग उठने पर जल पर डाले हुए तेल में भी तरङ्ग देखी जाती है, वैसे ही जीवात्मा के स्वतन्त्र वस्तु होते हुए भी शरीर के व्यतिक्रम से जीवात्मा को व्यतिक्रम अनुभूत होता है।

*मेघनाथ*– परलोक है कि नहीं ?

*स्वामीजी*– है, जीवात्मा इस देह को त्याग कर तत्क्षण दूसरा देह धारण कर लेता है और पूर्वानुष्ठित कर्मों के फल को भोगता है।

*मेघनाथ*– यदि ऐसा है तो पुत्र-पौत्रादि द्वारा किए हुए श्राद्ध-तर्पणादि से जो परलोकगत पूर्वपुरुषों की कल्याण-कामना की

जाती है वह सङ्गत नहीं रहती।

*स्वामीजी*– जीव अपने ही किए हुए कर्मों का फल भोग सकता है, इसलिए पुत्र-पौत्रादि का किया हुआ श्राद्ध-तर्पणादि परलोकगत जीव के लिए वृथा है। इससे यदि हो सकता है तो अनुष्ठानकर्त्ता पुत्रादि का ही कल्याण हो सकता है।

*मेघनाथ*– यदि ऐसा है तो पुत्र की श्रद्धाभक्ति-समर्पण द्वारा पिता के प्रति कर्तव्य-पालन करने वा पितृ-ऋण चुकाने के पहले ही पिता का परलोक हो जाए तो पिता के सम्बन्ध में पुत्र का कर्तव्य असम्पूर्ण वा अपालित रहेगा और ऐसी दशा में पुत्र के पितृऋण-परिशोध का क्या उपाय होगा?

*स्वामीजी*– पुत्र आत्मतुष्टि के लिए ही परलोकगत पिता की स्मृति रक्षा कर सकता है, परन्तु वह परलोक के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कर सकता। पितृ-ऋण चुकाने के विषय में पुत्र अन्य जीवित गुरुजनों की सेवा द्वारा पितृभक्ति की बहुत कुछ सार्थकता कर सकता है। दूसरी बात यह है कि जब हर एक जीव अलग-अलग है तो एक के श्राद्ध द्वारा दूसरे व्यक्ति की तृप्ति वा मङ्गल-साधन कैसे सम्भव हो सकता है?

*मेघनाथ*– तो क्या हमारा श्राद्धादि-अनुष्ठान सर्वथा ही मिथ्या है?

*स्वामीजी*– हाँ, ऐसा ही है। ब्राह्मणों ने अपनी जीविका-पथ की सुगमता और सुविधा करने के लिए ही ऐसी व्यवस्था कर दी है।

*मेघनाथ*– हमारी जातिभेद की प्रथा ईश्वरसृष्ट है वा नहीं?

*स्वामीजी*– नहीं। श्रेष्ठ कर्मों के करने से ही ब्राह्मणों का श्रेष्ठत्व है।

*मेघनाथ*– तो फिर यज्ञोपवीत पहनने का क्या प्रयोजन है?

*स्वामीजी*– यह केवल लौकिक व्यवहार और उच्चवंश (वर्ण) का चिह्न: है।

*मेघनाथ*– आपकी केशवबाबू के मत के साथ कैसी सहानुभूति है?

*स्वामीजी*– मैं उनके अनेक मन्तव्यों का अनुमोदन करता हूँ। मेरा उनसे यही मतभेद है कि मैं केवल वेद का ही प्राधान्य स्वीकार करता हूँ, वह नहीं करते। वे सब शास्त्रों का सार ग्रहण करना चाहते हैं। केशवबाबू के मन्तव्यों की इस देश में प्रचरित होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि वह समाज का संशोधन न करके उसे जड़ से ही बदलना चाहते हैं।

*मेघनाथ*– तीर्थादि की प्रयोजनीयता क्या है?

*स्वामीजी*– तीर्थों की जो वर्त्तमान दशा है उसकी प्रयोजनीयता मैं कुछ नहीं देखता हूँ। यह तो केवल जीविकोपार्जन के निमित्त पण्डों ने एक ठाठ खड़ा कर रखा है।

माँस-भोजन के विषय में स्वामीजी ने उसकी अवैधता स्वीकार की थी और कहा था कि शरीर के बल सम्पादन के लिए माँसाहार की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। दाल, रोटी, शाक और दुग्ध आदि से शरीर में बल और बुद्धि दोनों का ही प्राचुर्य हो सकता है।

बंगाल के पण्डितों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि उन्होंने न्यायशास्त्र द्वारा केवल बुद्धि की तीक्ष्णता प्राप्त कर ली है, परन्तु हमने प्रकृत ज्ञान-शास्त्र की चर्चा उनमें कुछ भी नहीं देखी।

स्वामीजी ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि पहले आर्यगण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करके विद्योपार्जन करते थे, इसलिए वह बलिष्ठ और दीर्घायु होते थे। अबके मनुष्य इन्द्रिय-दोष और पान-दोष में आसक्त होकर शारीरिक और मानसिक तेज से हीन और अल्पायु हो गए हैं। तुम मुझे देखो मेरी आयु ५० वर्ष से अधिक है, परन्तु मैं आधा सेर घृत पचा सकता हूँ और तुम लोग युवा होते हुए भी मेरे हाथ को नहीं मोड़ सकते।

**तुम ब्रह्म हो तो मरी मक्खी को जिला दो**– एक दिन भोटूसिंह नामक एक नवीन वेदान्ती आया और स्वामीजी से कहने

लगा कि आप पराविद्या नहीं जानते, यदि जानते होते तो द्वैत मत का प्रचार न करते। स्वामीजी ने उससे पूछा कि क्या आप वास्तव में ब्रह्म हैं? भोटूसिंह ने उत्तर दिया कि मैं निःसन्देह ब्रह्म हूँ। तब स्वामीजी ने इधर-उधर देखा तो एक मक्खी मरी हुई पड़ी थी। उसे उठाकर उन्होंने भोटूसिंह से कहा कि यदि तुम ब्रह्म हो तो इस मक्खी में जान तो डाल दो। तब तो भोटूसिंह चकराए और बुद्धू बने हुए रह गए, उनके मुँह से एक शब्द भी न निकला।

**स्वामीजी समय का व्यातिक्रम न करते थे**- स्वामीजी नियत समय पर कार्य करने के सिद्धान्त का बड़ी कड़ाई के साथ पालन करते थे। एक दिन जब आप व्याख्यान-स्थल पर पहुँचे तो वहाँ दो ही श्रोता थे। अन्य श्रोताओं की प्रतीक्षा न करते हुए आपने व्याख्यान आरम्भ कर दिया।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया**- २० अगस्त, १८७८ ई० तदनुसार भाद्रपद कृष्णा सप्तमी संवत् १९३५ वि० (मङ्गलवार) को रुड़की में आर्यसमाज स्थापित हो गया और अगले दिन स्वामीजी ने रुड़की से विदा ले ली।

**मैं सम्मति नहीं दे सकता**- *'दयानन्दप्रकाश'* में लिखा है कि जिस कोठी में स्वामीजी ठहरे हुए थे उसी के एक कमरे में आर्यसमाज की अन्तरङ्ग सभा हो रही थी। सभासद् अभी कार्य-सञ्चालन में प्रवीण न थे, अत: उन्होंने स्वामीजी से सम्मति देने की प्रार्थना की परन्तु उन्होंने कहा कि मैं अन्तरङ्ग सभा का सदस्य नहीं हूँ, अत: सम्मति नहीं दे सकता। तब उन्हें प्रतिष्ठित सभासद् बनाया गया। स्वामीजी ने सदस्यों को बहुमूल्य उपदेश भी दिया कि सभा में बैठकर हठ और दुराग्रह नहीं करना चाहिए। बहुमतानुसार जो निश्चित हो उसके अनुसार ही चलना चाहिए और सभा की बातों को गुप्त रखना चाहिए।

यदि आर्यसमाज के स्थापित होते ही उसकी अन्तरङ्ग सभा का अधिवेशन हुआ हो तो ही यह घटना सत्य हो सकती है, क्योंकि २० अगस्त को आर्यसमाज स्थापित हुआ था और अगले दिन स्वामीजी ने रुड़की से प्रस्थान कर दिया था। अन्तरङ्ग सभा की मीटिङ्ग २१ अगस्त को हो सकती है।

## अलीगढ़ (१८७८ ई०)

२१ अगस्त १८७८ ई० को स्वामीजी ने रुड़की से प्रस्थान किया और २२ अगस्त को अलीगढ़ पहुँचकर पण्डित आफ्ताबराय के बाग में ठहरे। उसी बाग में ठाकुर मुकुन्दसिंह आदि रईस छलेसर पहले से ही आकर ठहरे हुए थे। इन सज्जनों ने स्वामीजी की खूब सेवा-शुश्रूषा की।

मुम्बई से मूलसी ठाकुरसी, हरिशचन्द्र चिन्तामणि और श्यामजी कृष्णवर्मा स्वामीजी से मिलने के लिए अलीगढ़ आए।

**सर सैयद के घर भोजन करने न गए**- २३ अगस्त १८७८ ई० को सर सैयद अहमदखाँ ने स्वामीजी तथा मुम्बई से आए हुए सज्जनों को सन्ध्या के समय अपने गृह पर भोजनार्थ निमन्त्रित किया। उन्होंने समझा था कि स्वामीजी जाति भेद नहीं मानते हैं और कहते हैं कि सबके ही हाथ का पकाया हुआ भोजन खाया जा सकता है, अत: हमारे घर पर भोजन करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी, परन्तु स्वामीजी उनके यहाँ भोजन करने नहीं गए और कहा कि यद्यपि मुसलमानों के भोजन में सम्मिलित होने और भोजन करने में कोई दोष नहीं है, परन्तु ऐसा करने से हमारे देशवासियों में हमारे प्रति अश्रद्धा का उदय होगा और हमारे उद्देश्यों की सिद्धि में बाधा पड़ेगी, परन्तु श्यामजी कृष्णवर्मा आदि भोज में सम्मिलित हुए।

**न बुराई न भलाई**- अन्य जाति व धर्मवालों के हाथ का पका वा छुआ हुआ खाने में वैदिकधर्मियों की कुछ हानि व भलाई-बुराई है वा नहीं ? यह प्रश्न कुँवर ज्वालाप्रसाद ने स्वामीजी से किया था, तो उन्होंने उत्तर में कहा था कि इसमें न कुछ बुराई है, न कुछ भलाई।

**मुसलमान सबजज ने प्रशंसा की**- इस बार स्वामीजी कुछ अस्वस्थ थे, अत: उनके व्याख्यान कम हुए। एक व्याख्यान हुआ, जिसमें सहस्रों की संख्या में लोग उपस्थित हुए। व्याख्यान सुनकर सब ही लोग प्रसन्न हुए, व्याख्यान के अन्त में मौ० फरीदुद्दीन सबजज ने खड़े होकर स्वामीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। निज स्थान पर जो लोग आते थे उनका शङ्कासमाधान

और उन्हें धर्मोपदेश तो प्रतिदिन ही होता रहता था।

२६ अगस्त १८७८ ई० को स्वामीजी अलीगढ़ से मेरठ चले गए।

## मेरठ (१८७८ ई०)

मेरठ में स्वामीजी बाबू दामोदरदास की कोठी में उतरे। स्वामीजी के आगमन की चर्चा सारे शहर व छावनी में फैल गई। एक सप्ताह तक तो स्वामीजी उसी कोठी के बरामदे में बैठकर आगुन्तकों को उपदेश करते रहे और उनका शङ्कासमाधान करते रहे। इसके पश्चात् राय गनेशीलाल अध्यक्ष *'जलवएतूर'* प्रेस की कोठी में स्वामीजी के व्याख्यान होने आरम्भ हुए जिसका विज्ञापन पहले से ही दे दिया गया था।

**व्याख्यान माला**– पहला व्याख्यान १ सितम्बर सन् १८७८ ई० को प्रारम्भिक विषयों पर हुआ जिसमें सभा में आने –जाने, प्रश्नोत्तर आदि करने के विषय में कथन किया गया और यह सूचना भी दे दी गई कि जिस किसी को कुछ प्रष्टव्य हो वह व्याख्यान समाप्त होने पर हीपूछे। सबके उत्तर अन्तिम दिन के व्याख्यान में दिए जाएँगे। दूसरा व्याख्यान धर्माधर्म के लक्षणों पर और तीसरा ईश्वर की प्रार्थना, स्तुति और उपासना विषय पर हुआ। चौथा दिन प्रश्नोत्तर के लिए रखा गया था, परन्तु जब किसी ने कोई प्रश्न नहीं किया तो स्वामीजी ने सृष्टि–उत्पत्ति विषय पर कथन किया।

**एक मुसलमान का पत्र**– और तो किसी ने कोई प्रश्न नहीं किया परन्तु एक मुसलमान ने एक पत्र दिया जिसमें लिखा था कि मुसलमान प्रश्नोत्तर करने पर उद्यत हैं, यदि स्वामीजी किसी हिन्दू रईस के उत्तरदायित्व पर स्टाम्प पर एक इकरार–नामा शास्त्रार्थ करने और मेरठ में ठहरे रहने का लिख दें। यह पत्र, यह कह कर उसे वापस कर दिया गया कि यह पत्र किसी मुसलमान रईस के हस्ताक्षरों से आना चाहिए।

**प्रश्नों के उत्तर**– ५ सितम्बर से नौ दिन तक लाला रामशरनदास के घर पर शहर में व्याख्यान हुए, अर्थात् ६ दिन तक तो विविध विषयों पर हुए और तीन दिन तक उन सब प्रश्नों के उत्तर दिए गए जो उन दिनों में लोगों ने किए थे।

**सनातन धर्मरक्षिणी सभा के प्रश्न और उनके उत्तर**– उनमें से जो प्रश्न सनातन धर्मरक्षिणी सभा मेरठ की ओर से आए थे वे बड़े ही मनोरञ्जक हैं और उनसे प्रश्नकर्त्ता की योग्यता का पूर्णतया पता चलता है, अत: हम उन्हें नीचे लिखते हैं–

१– जो कि चारधाम और सप्तपुरी आदि नगर और ग्रामों में उन्नत शिखर और मन्दिर तथा उनमें देवताओं की मूर्त्तियों का स्थापन हो रहा है और परम्परा से पूजा होती आती है। अब इसमें आपको भ्रम और सन्देह हुआ, सुना है। जो अवश्य सन्देह है तो श्रुति स्मृति के प्रमाण इसमें दीजिएगा और जो सन्देह नहीं है तो यह व्यक्त कीजिएगा।

२– गङ्गाजी सब नदियों से श्रेष्ठ और पूजनीय है। इसमें भी प्रमाण दीजिए और जो कुछ सन्देह हो तो प्रकाशित करें।

३– जो अवतार हुए ये कौन हैं और इनका बनाने वाला कौन है और इनको पराक्रम किसने दिया अथवा ये समर्थ हैं। अवतारों के सामर्थ्य किसी राजा में अथवा और मनुष्य में नहीं सुने। प्रमाण श्रुति–स्मृति से हो तो लिखिएगा।

इनके प्रश्नों के जो उत्तर स्वामीजी ने दिए उनका सारांश हम पाठकों की भेंट करते हैं–

**उत्तर प्र० १**– मुझे पाषाणादि मूर्त्तिपूजन के विषय में सन्देह वा भ्रम कदापि नहीं है, प्रत्युत पूर्णतया निश्चय है कि वह वेद विरुद्ध है। उसके करने का आदेश न किसी ऋषिमुनि के वाक्य से और न किसी शास्त्र के प्रमााण से सिद्ध है। किसी पुस्तक में देव के अर्थ पाषाणादि की मूर्त्ति के नहीं है, प्रत्युत केवल परमेश्वर, विद्वान्, वेदमन्त्र आदि के हैं, जो दिव्य गुणों से युक्त हैं।

यजुर्वेद अ० ३२ के मन्त्र ३ में स्पष्ट कहा गया है–

*न तस्य प्रतिमा ऽ अस्ति यस्य नाम महद्यश:।*

*हिरण्यगर्भ ऽ इत्येष मा मा हिँ्सीदित्येषा यस्मान्नजात ऽ इत्येष:।।*

**अर्थ**– परमेश्वर की कोई प्रतिमा, प्रतिकृति, प्रतिबिम्ब, मूर्त्ति नहीं है जिसका नाम महान् यशवाला है। उसका वर्णन इन

ऋचाओं में आया है जिनके आदि में हिरण्यगर्भ, मा मा हिँ् सि, यस्मान्नजात- इत्यादि हैं।

*हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।*

*स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। – ऋ० अ ८।अ० ७। व० ३। मं० १*

**अर्थ**- जिसके गर्भ में प्रकाशित सूर्यादिलोक हैं वहीं सारी सृष्टि से पूर्व वर्त्तमान था और वह एक ही सब उत्पन्न सृष्टि का पति है, इस पृथ्वी और द्युलोक को उसी ने धारण किया है। उसी सुखस्वरूप परमेश्वर की उपासना करनी योग्य है।

*अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।*

*ततो भूय ऽ इव ते तमो य ऽ उ सम्भूत्यां रताः।। – यजु० अ० ४०। मं० ९*

**अर्थ**- जो लोग कारणरूप प्रकृति की उपासना करते हैं वे अन्धकार में गिरते हैं और उनसे भी अधिक अन्धकार में वे गिरते हैं जो कार्यरूप प्रकृतिजन्य पदार्थों की उपासना करते हैं।

इन वैदिक प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि पाषाणादि मूर्त्ति की पूजा नहीं करनी चाहिए केवल पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिए।

युक्ति से भी मूर्त्तिपूजा ठीक सिद्ध नहीं होती।

यदि कहा जाए कि मूर्त्ति में देव की भावना की जाती है। अब वह भावना या तो सच्ची होगी या झूठी। यदि सच्ची है तो सुख की भावना करने से सुख ही सुख होना चाहिए, दुःख न होना चाहिए, परन्तु हम देखते हैं कि दुःख होता है। क्या कभी जल में दुग्ध की, मिट्टी में मिश्री की भावना सच्ची हो सकती है? यदि भावना झूठी है तो मूर्त्तिपूजा झूठी हो ही गई।

यदि कहो कि परमेश्वर सर्वव्यापक है अतः मूर्त्ति में भी है, तो वह पुष्प, चन्दन आदि में भी व्यापक हुआ। फिर यह वस्तुएँ मूर्त्ति पर क्यों चढ़ाते हो? वह तो मूर्त्ति-पूजकों के शरीर में भी व्यापक है तो अपने में ही व्यापक क्यों नहीं मानते? यदि कहो कि मूर्त्तिपूजा अज्ञानियों के लिए ब्रह्म के जानने का साधन है तो गुण उपयुक्त साधन द्वारा प्राप्त होता है, निराकार और चेतन ब्रह्म का ज्ञान साकार और जड़ पदार्थ के द्वारा कैसे हो सकता है?

यदि कहो कि प्राण-प्रतिष्ठा करने से मूर्त्ति सजीव हो जाती है सो यह बात भी मिथ्या है। किसी भी मूर्त्ति में जीव के लक्षण नहीं देखे जाते। शरीर में तो प्राण के आने जाने के लिए छिद्र भी हैं, मूर्त्ति में वह भी नहीं।

यह कहना कि मूर्त्तिपूजा परम्परा से चली आती है सर्वथा मिथ्या है। वेद अनादि हैं, जब उन्हीं में मूर्त्तिपूजा नहीं तो कैसे कहा जा सकता है कि वह परम्परा से चली आती है?

**उत्तर प्र० २** – इस प्रश्न से प्रकट है कि या तो आप गङ्गाजी को श्रेष्ठ और पूजनीय नहीं मानते और यदि मानते हैं तो उसका प्रमाण नहीं दे सकते अन्यथा मुझसे उसका प्रमाण माँगना सर्वथा व्यर्थ है। मुझे गङ्गाजी के जल के श्रेष्ठ होने और उसके मुक्तिदायक और पापमोचक न होने में कुछ भी सन्देह नहीं है। यदि गङ्गा-स्नान से ही मुक्ति मिल सकती और पाप छूट सकते हैं तो फिर सत्यधर्म और शुभ-कर्मों का अनुष्ठान तथा ईश्वराज्ञा का पालन सब व्यर्थ है। जो पाप-पुण्य किया जाता है वह रत्तीभर भी घट-बढ़ नहीं सकता। किसी वेद और धर्म-शास्त्र में गङ्गा का मुक्तिदायक होना नहीं लिखा है। मनुस्मृति अ० ५ के श्लोक १०९ में स्पष्ट लिखा है-

*अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।*

*विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।।*

अर्थात् जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

यदि कहा जाए कि गङ्गा तीर्थ है और तीर्थ शब्द वेदों और शास्त्रों में आया है तो वहाँ तीर्थ शब्द के अर्थ वेदाध्ययन, धर्मानुष्ठान, सत्यग्रहण और असत्य-त्याग के हैं, नदी आदि के नहीं। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है-

*अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः।।*

अर्थात् मन से वैरभाव छोड़कर किसी प्राणी को दुःख न देना ही तीर्थ है, अन्य तीर्थ नहीं है।

**उत्तर प्र० ३**– जिन पुरुषों को अवतार माना जाता है वे महा उत्तम पुरुष थे, सत्य धर्म और ईश्वराज्ञा का पालन करते थे। उन्हें अवतार मानना भ्रान्ति है। परमेश्वर अजर–अमर है, वह जन्म–मरण के बन्धन में नहीं आ सकता। जब परमेश्वर सब वस्तुओं में व्यापक है तो यह कैसे हो सकता है कि वह अवतार धारण करके किसी एक ही शरीर में सीमित हो जाए? परमेश्वर को जन्म लेने की आवश्यकता ही क्या है? यदि कहो कि रावण और कंस जैसे अत्याचारियों के वध के लिए वह अवतार धारण करता है, तो यह सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि जो परमेश्वर बिना शरीर धारण किए हुए ही इस महान संसार को बना, बिगाड़ और धारण कर सकता है, क्या वह ऐसे क्षुद्र जीवों को बिना शरीर धारण किए नहीं मार सकता? जिन्हें आप अवतार मानते हो उनको बनाने और पराक्रम देने वाला परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं है। जिसमें जितने गुण होते हैं उतना ही उसमें सामर्थ्य होता है। आजकल भी बहुत से ऐसे विद्वान् और ऐसे सामर्थ्य तथा पराक्रम वाले लोग हैं कि सहस्रों में भी कोई उनके पल्ले का नहीं, परन्तु क्या उन्हें अवतार कहना उचित है? बड़े शोक का स्थान है कि एक ओर तो आप श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण को परमेश्वर का अवतार मानते हो और दूसरी ओर उनकी लीला और स्वाङ्ग बनाकर उनका अपमान भी करते हो। ठाकुरजी के सम्बन्ध में पुजारी लोग कहते हैं कि शीतकाल आ गया है, उनके पास वस्त्र नहीं है, भोग के लिए सामग्री नहीं रही, वे भूखे हैं। श्रीकृष्ण को सहस्रों गोपियों से भोग करने वाला, सहस्रों रानियाँ रखने वाला, दूध माखन चुराने वाला बताकर उन पर मिथ्या दोषारोपण करते हो और फिर अपने आपको उनका भक्त भी कहते हो। देखो वेद क्या कहता है–

*स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ् शुद्धमपापविद्धम्।*

*कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।* –यजु० अ० ४० । मं० ८

**अर्थ**– वह परमेश्वर सब ओर परिपूर्ण, महा बलधारी, शरीर, फोड़े फुंसी, स्नायु, रग, पट्ठे आदि के बन्धन से रहित शुद्ध, पाप से रहित, सबका द्रष्टा, मनस्वी, सर्वव्यापक, सदा से वर्तमान है। उसने अपनी अनादि प्रजा को सत्य–सत्य बातों का उपदेश किया है। और भी–

*सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।*

*स भूमिँ् सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।* – यजु० अ० ३१। मं० १

**अर्थ**– वह सर्वव्यापक परमेश्वर सब जगत् का रचनेवाला है और इस जगत् से महान और भिन्न है। असंख्य प्राणियों के शिर, आँखें और पैर उसी में हैं।

अतः सब प्रकार से सिद्ध है कि परमेश्वर अवतार कभी नहीं लेता।

कुछ अन्य लोगों के भी प्रश्न थे, परन्तु वे इस योग्य न थे कि उनका उल्लेख यहाँ किया जाए। कई तो उनमें असभ्यतापूर्ण और निरर्थक ही थे जिनसे प्रश्नकर्त्ताओं की मूर्खता ही प्रकट होती थी। दिग्दर्शनार्थ केवल एक प्रश्न हम यहाँ उद्धृत करते हैं–

*प्रश्न*– ऐ स्वामीजी महाराज यह किस वेद में लिखा है कि स्वामीजी गुलाब जामुन और बालूशाही तथा मिठाई खाएँ और टसर भी पहिनें और आप कहते हैं कि आर्यों का नाम चार अक्षरों तक का होना चाहिए फिर आपका नाम इतना बड़ा क्यों है और यह किस वेद में लिखा है कि स्वामीजी लोटे से पानी पीवें।

**मौलवी का पत्र**– ७ सितम्बर १८७८ ई० को एक व्यक्ति अब्दुल्ला ने एक पत्र स्वामीजी की सेवा में केवल इस अभिप्राय से भेजा कि हमने भी स्वामी दयानन्द सरस्वती को शास्त्रार्थ का चैलेंज दिया था जिसमें उन्होंने निम्नलिखित नियम लिखे

थे-

१- मध्यस्थ का होना आवश्यक है।

२- जब तक शास्त्रार्थ रहे आपको कहीं जाना न होगा।

३- बातचीत मेरी और आपकी ही होगी और कोई बोलने न पावेगा।

४- परमेश्वर को साक्षी करके और हठ और अहमहमिका को दूर करके जो परास्त हो वह सत्य को स्वीकार करे।

५- किसी रईस का प्रबन्ध होना चाहिए।

इसके पश्चात् लिखा था कि समय ४ बजे से ६ बजे तक अपराह्नः में होना चाहिए और शास्त्रार्थ मौखिक हो, हम लेखबद्ध नहीं चाहते।

**पत्र का उत्तर**- स्वामीजी ने इसका उत्तर उन्हें दे दिया कि शास्त्रार्थ लेखबद्ध होगा। आप शहर व छावनी के प्रतिष्ठित रईसों द्वारा लिखत पढ़त कीजिए, मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

इसके पश्चात् मौलवी साहब ने उपर्युक्त आशय का ही एक दूसरा पत्र भी भेजा। उसे स्वामीजी ने यह समझकर कि मौलवी साहब अपनी हठ न छोड़ेंगे सभा में पढ़कर सुना दिया और कह दिया कि मुझे अन्य सब बातें स्वीकार हैं, परन्तु शास्त्रार्थ लिखा अवश्य जाएगा। सो यह मौलवी साहब काहे को मानते, उत्तर पाकर चुप हो रहे।

**सनातनधर्म-रक्षिणी सभा की शास्त्रार्थ के लिए छेड़छाड़**- तत्पश्चात् सनातनधर्म-रक्षिणी सभा मेरठ ने शास्त्रार्थ के लिए छेड़छाड़ आरम्भ की जिसका विवरण अत्यन्त मनोरञ्जक है।

सदर बाजार मेरठ में बिल्वेश्वर महादेव का एक पुराना मन्दिर है। ९ सितम्बर सन् १८७८ ई० को उसमें कुछ पण्डित और हिन्दू रईस इकट्ठे हुए और शास्त्रार्थ के विषय में उनमें कुछ परामर्श हुआ। फलस्वरूप एक चिट्ठी स्वामीजी के पास भेजी गई कि १३ सितम्बर सन् १८७८ ई० को बिल्वेश्वर महादेव में एक सभा होगी आप भी उसमें आएँ। इस चिट्ठी पर नाम तो कई पण्डितों और रईसों के थे, परन्तु हस्ताक्षर किसी के भी न थे। अतः स्वामीजी ने कह दिया कि जब तक कोई लिखित ला० किशनसहाय रईस के हस्ताक्षरयुक्त न आवेगी, मैं उस पर कोई कार्य न करूँगा और इसीलिए इस चिट्ठी का कोई उत्तर न दिया।

१२ सितम्बर को ला० किशनसहाय के सुपुत्र ला० मुन्नालाल ने स्वामीजी से आकर कहा कि पिताजी यह कहते हैं कि यदि आप शास्त्रार्थ में परास्त हो गए तो आपको मूर्त्तिपूजा का खण्डन छोड़ना पड़ेगा। इसे स्वामीजी ने तुरन्त स्वीकार कर लिया और सायङ्काल को सभा में भी यह घोषणा कर दी और कह दिया कि यदि ला० किशनसहाय शास्त्रार्थ के अभिलाषी हैं तो उन्हें चार दिन के भीतर अपने हस्ताक्षर युक्त लिखित भेजकर मुझसे शास्त्रार्थ के नियमों को स्थिर कर लें। परन्तु उन्होंने अपने हस्ताक्षरों से कोई पत्र न भेजा।

फिर एक रईस के गृह पर एक सभा हुई और बिना हस्ताक्षरों के एक चिट्ठी स्वामीजी के पास आई कि पण्डित श्रीगोपाल यहाँ उपस्थित हैं, आप उनसे शास्त्रार्थ कर लें। यह चिट्ठी सभा में पढ़ी गई तो स्वामीजी ने स्पष्ट कह दिया कि श्रीगोपाल से दो तीन बार मेरी बातचीत हो चुकी है, वे अत्यन्त क्रोधी हैं। वे मुझसे कटु भाषण कर चुके हैं और गालियाँ तक दे चुके हैं। उनसे शास्त्रार्थ करने से कोई परिणाम न निकलेगा। यही दशा दूसरे पण्डित भागीरथ की है। उन्होंने भी कई वर्ष हुए, जब मैं लेखराज के बाग में आकर ठहरा था, मुझे दुर्वचन कहे थे और तालियाँ पीटी थीं, परन्तु मैं अन्य पण्डितों से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हूँ।

स्वामीजी की स्पटवादिता के ये अर्थ लगाए गए कि वे शास्त्रार्थ से पराङ्मुख हो गए, तो कुछ आर्य सज्जनों ने

यह बात स्वामीजी से कही और साथ में यह भी कहा कि आप श्रीगोपाल से ही शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लीजिए, ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाएगा जिससे वह असभ्यता का व्यवहार न कर सके तो उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी, बल्कि यहाँ तक कह दिया कि मैं श्रीगोपाल से क्या यदि सनातन-धर्म सभा वाले किसी तुच्छ विद्यार्थी को भी भेजेंगे तो उस तक से शास्त्रार्थ कर लूँगा। यह बात लाला किशनसहाय के कानों तक भी पहुँचा दी गई, परन्तु उन्होंने कोई कार्य न किया।

१३ सितम्बर को लाला रामशरणदास के भवन पर तो व्याख्यान देने बन्द कर दिए गए और १४ सितम्बर से बाबू छेदीलाल गुमाश्ते कमसरियट की कोठी पर व्याख्यान होने लगे और २२ सितम्बर तक निरन्तर होते रहे।

१५ सितम्बर को सनातनधर्मियों की फिर एक सभा हुई और १६ सितम्बर को एक विज्ञापन दिया गया कि लाला शिब्बनलाल रईस के दीवान-खाने में सभा होगी और उसमें स्वामी दयानन्द सरस्वती शास्त्रार्थ के लिए बुलाए गए हैं और एक चिट्ठी भी स्वामीजी के पास आई कि आप आकर शास्त्रार्थ करें। इस पर भी किसी के हस्ताक्षर न थे। अत: स्वामीजी को फिर कहना पड़ा कि जब तक लाला किशनसहाय के हस्ताक्षरों से पत्र न आएगा और शास्त्रार्थ के नियम स्थिर न होंगे तब तक शास्त्रार्थ सम्भव नहीं है।

उसी दिन अर्थात् १५ सितम्बर को ही कुछ सज्जन बाबू छेदीलाल के बँगले पर आए और स्वामीजी से लाला किशनसहाय व अन्य पुरुषों के पत्रों के उत्तर न भेजने का कारण पूछा तो स्वामीजी ने कहा कि मैंने पहले ही कह दिया था जब तक मेरे पास प्रशंसित लाला साहब के हस्ताक्षरों से पत्र न आएगा तक तक मैं उत्तर न दूँगा। इस पर आगन्तुकों में से एक ने कहा कि हमें स्वयं लाला किशनसहाय ने ही भेजा है तो स्वामीजी ने उत्तर दिया कि आप सब भद्र पुरुष हैं और मैं आपको अविश्वसनीय नहीं समझता हूँ तो भी जब एक बार उक्त लाला साहब के लेख पर ही यह विषय अवलम्बित रखा गया है तब आप उनके हस्ताक्षरों से पत्र भिजवा दीजिए। इस पर वे वचन देकर कि हम कल उनके हस्ताक्षरों से पत्र भिजवा देंगे, चले गए परन्तु अगले दिन भी ऐसा कोई पत्र न आया।

इसके दूसरे दिन १६ सितम्बर को रजिस्ट्री डाक द्वारा लाला किशनसहाय आदि का एक पत्र स्वमीजी के पास आया, परन्तु उस पर भी हस्ताक्षर न थे।

तदनन्तर स्वामीजी ने एक पत्र लाला किशनसहाय के पत्रों के उत्तर में लाला शिब्बनलाल के घर पर, जहाँ सनातनधर्मियों की सभा हो रही थी, भेजा, परन्तु पत्र के पहुँचने से और नियत समय से पहले ही सभा विसर्जित हो गई थी।

१७ सितम्बर को सनातनधर्मियों की फिर एक सभा मण्डी में हुई और उसमें भी वह पत्र भेजा गया। सभा समाप्त होने को थी कि पत्र-वाहकों ने लाला किशनसहाय से कहा कि आपके पत्रों के उत्तर में हम स्वामीजी का पत्र लाए हैं, इसे सभा में सुनवा दीजिए। उस पत्र पर स्वामीजी के हस्ताक्षर न थे, अत: उन्होंने पत्र सुनवाने से निषेध कर दिया कि कल लाला बख्तावरसिंह के गृह पर आकर सब बातों का निर्णय कर लिया जाए। अत: १८ सितम्बर को स्वामीजी की ओर से पाँच सज्जन उनके प्रस्तावित तथा उनका हस्ताक्षरित पत्र लेकर लाला बख्तावरसिंह के गृह पर पहुँचे तो वे उन सज्जनों को साथ लेकर लाला किशनसहाय के गृह पर गए। उक्त लाला साहब ने नियमों की प्रतिलिपि कराकर पत्र-वाहकों से कह दिया कि उनका उत्तर परामर्श के पश्चात् कल प्रात:काल तक दे दिया जाएगा।

स्वामीजी के प्रस्तावित नियम ये थे-

१- उभय पक्ष से निम्नलिखित १२ सज्जन सभा के प्रबन्धक नियत किए जाएँ, यदि वे इसे स्वीकार करें।

(यहाँ १२ सज्जनों के नाम थे।)

२- इनमें से एक सज्जन और यदि सम्भव हो तो मातहत जज साहब प्रबन्धक सभा के सभापति नियत किए जाएँ।

३- प्रबन्धकों के अतिरिक्त उपस्थितजनों की संख्या हर एक ओर से पचास-पचास से अधिक न हो तो अच्छा है।

४- उपस्थित होने वालों की जो संख्या नियत की जावे उतने ही टिकट छपवाकर आधे-आधे हर एक पक्ष को दिए जाएँ।

५- प्रत्येक पक्ष अपनी ओर से उपस्थित मनुष्यों को नियम में रखे और सब प्रकार से उनका उत्तरदाता रहे।

६- प्रत्येक पक्ष की ओर के योग्य पण्डितों की संख्या दस-दस से अधिक न हो, कम का अधिकार है।

७- उभय पक्ष में से केवल एक ही पण्डित सभा में भाषण करे अर्थात् एक ओर से स्वामी दयानन्द सरस्वती और दूसरी ओर से पण्डित श्रीगोपाल।

८- इस सभा में हर विषय का खण्डन-मण्डन वेदों के प्रमाण से ही किया जाए।

९- वेदमन्त्रों के अर्थों के निश्चय के लिए ब्रह्माजी से जैमिनिजी तक के ग्रन्थों की, जिन्हें दोनों पक्ष मानते हैं, साक्षी देनी होगी जिनका ब्यौरा इस प्रकार है -

ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, निघण्टु, छन्द, ज्योतिष, पूर्व-मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य, वेदान्त, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, अर्थवेद आदि।

१०- विदित रहे कि ऐतरेय से लेकर अर्थवेदादि उपर्युक्त ग्रन्थ ही साक्षी और प्रमाण होंगे, परन्तु यदि इनमें भी कोई वाक्य वेदविरुद्ध होगा तो दोनों पक्ष उसे न मानेंगे।

११- उभय पक्ष को वेदों तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों, सृष्टि-क्रम और सत्य-धर्म से युक्त भाषण करना तथा मानना होगा।

१२- इस सभा में जो व्यक्ति किसी पक्ष का पक्षपात और राग प्रदर्शन करे, उसे सहस्र ब्रह्महत्या का पाप होगा।

१३- यत: बहुत बड़ी बात केवल एक पाषणादि मूर्त्तिपूजन ही है, इसलिए इस सभा में मूर्त्तिपूजन का खण्डन और मण्डन होगा और यदि वेदों की रीति से पण्डितजी पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का मण्डन कर देवें तो पण्डितजी की सब बातें भी सच्ची समझी जाएँगी और स्वामीजी मूर्त्तिपूजन का खण्डन छोड़कर मूर्त्तिपूजन करना स्वीकार कर लेंगे और जो स्वामीजी वेदों के प्रमाण से पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का खण्डन कर देवें तो स्वामीजी की और बातें भी सच्ची समझी जाएँगी और पण्डितजी उसी समय से मूर्त्तिपूजन छोड़कर मूर्त्तिपूजन का खण्डन स्वीकार कर लेवें। ऐसा ही उभय पक्ष को स्वीकार करना होगा।

१४- उभय पक्ष से प्रश्नोत्तर लिखित होने चाहिए अर्थात् हर एक प्रश्न मौखिक किया जावे और तत्क्षण लिखा दिया जाए। प्रत्युत जहाँ तक सम्भव हो वक्ता का एक-एक शब्द लिखा जावे।

हर एक प्रश्न के लिए पाँच मिनट और हर एक उत्तर के लिए पन्द्रह मिनट नियत हों और नियत समय की कमी का अधिकार है, परन्तु अधिक समय का नहीं।

१५- सभा में स्वामीजी, पण्डितजी तथा अन्य पुरुषों की ओर से आपस में कोई कठोर भाषण न हो, प्रत्युत अत्यन्त सभ्यता और नम्रता से सत्यासत्य का निश्चय करें।

१६- सभा का समय छ: बजे सायंकाल से नौ बजे रात्रि तक रहे तो उत्तम है।

१७- प्रश्नोत्तर के लिखने के लिए तीन लेखक नियत होने चाहिए और प्रत्येक लेख पर मिलान करने के पश्चात् प्रतिदिन दोनों पक्षों के हस्ताक्षर होकर एक-एक प्रति हर पक्ष को दी जावे और एक प्रति बक्स में बन्द करके उस पर उभय पक्ष और सभापति का ताला लगा कर सभापति के पास रहे ताकि लेखों में कुछ न्यूनाधिक न होने पावे और आवश्यकता के समय काम आवे।

१८- सभास्थल सब प्रबन्धकों की सम्मति के अनुसार नियत होगा।

१९- जम्मू और काशी आदि स्थानों के पण्डितों की सम्मति के ऊपर इस सभा के निर्णय का निर्भर न होना चाहिए, क्योंकि ये स्थान मूर्त्तिपूजा के घर हैं और वहाँ इस विषय में पण्डितों से शास्त्रार्थ भी हो चुका है। इसलिए उपर्युक्त वेद शास्त्रादि जिनमें प्रत्येक विषय की विशद व्याख्या की गई है मध्यस्थ और साक्षी के लिए पर्याप्त हैं। हाँ, यह अधिकार है कि यदि

दूसरे पक्ष को कुछ सन्देह वा संशय हो तो आज १७ तारीख सितम्बर सन् १८७८ ई० से दो दिन के भीतर उपर्युक्त स्थानों वा अन्य जगह से उस पण्डित से जो उसकी सम्मति में उत्तम और श्रेष्ठ हो आने-जाने के विषय में तार द्वारा बातचीत करके स्थिर कर ले वा प्रबन्ध कर ले और आज से छ: दिन के भीतर अर्थात् २२ सितम्बर (रविवार) के दिन तक उसे यहाँ बुला लेवे। यदि दूसरे पक्ष की ओर से इस अन्तर में उचित प्रबन्ध न हो वा विरुद्ध कार्यवाही हो तो उस पक्ष की सब बातें कच्ची और आधार-शून्य समझी जावेंगी और यदि स्वामीजी इस अन्तर में कहीं चले जावें वा इस लेख से बद्ध न रहें तो उनकी बात भी कच्ची और आधार-शून्य समझी जावेगी।

२०- दोनों पक्ष को सभा में वे सब पुस्तकें, जिनका वे प्रमाण दें सभा के समय अपने साथ लानी चाहिए। उभयपक्ष की बिना असली पुस्तकों के मौखिक साक्षी स्वीकार न होगी।

अन्तिम नियम लाला किशनसहाय को नहीं लिखाया गया था, परन्तु आगे को कोई कठिनता न हो, इस बात को दृष्टि में रखकर यह नियम भी सम्मिलित किया गया।

– *लिखा हुआ १७ सितम्बर सन् १८७८ ई० का।*

१८ सितम्बर को भी लाला किशनसहाय ने कोई उत्तर न भेजा, परन्तु पण्डित श्रीगोपाल की ओर से कुछ नियम इन नियमों के परिवर्तन में स्वामीजी के पास आए।

पं० श्रीगोपाल ने स्वामीजी के प्रस्तावित नियमों में निम्नलिखित परिवर्तन करके भेजे थे –

(१) प्रबन्धकों में ८ नाम और बढ़ाए जावें और उन्हें प्रबन्धक सभा और निश्चयकर्त्ता सनातनधर्म लिखना चाहिए।

(२) मध्यस्थ अवश्य होना चाहिए और साहब कलेक्टर जिला बुलन्दशहर जो, संस्कृतज्ञ हैं, मध्यस्थ हों।

(३) उपस्थित होने वाले मनुष्यों की संख्या सीमित करने और टिकट देने की कोई आवश्यकता नहीं।

(४) झूठ-सच को बिना पक्षपात प्रकट करने के लिए मध्यस्थ होना आवश्यक है जब कि आप कहते हैं कि यदि ग्रन्थों में वेद विरुद्ध वाक्य होगा तो उसका प्रमाण न माना जाएगा।

(५) समय चार बजे से सात बजे तक रहेगा। ५ मिनट प्रश्न और १५ मिनट उत्तर लिखने के लिए अपर्याप्त हैं, समय की कोई सीमा न होनी चाहिए।

(६) दो दिन में बाहर के पण्डितों का आना असम्भव है, अत: उन्हें लाने के लिए मनुष्य भेजना पड़ेगा और जब तक वह न आवें आपको यहाँ ही ठहरना होगा। यदि इसे स्वीकार न करें तो किसी वेद और उभयपक्ष स्वीकृत ग्रन्थों के जानने वाले विद्वान् को मध्यस्थ बनावें। बिना मध्यस्थ के सभा का पूरा-पूरा प्रबन्ध नहीं हो सकता।

१८ सितम्बर को स्वामीजी ने अपने हस्ताक्षरों से एक पत्र लाला किशनसहाय के पास भेजा कि यदि आप हृदय से कुछ निर्णय कराना चाहते हैं तो आप नियमों के अनुसार कार्य कीजिए, हम उनसे बद्ध हैं। इसके उत्तर में एक पत्र बिना हस्ताक्षरों के लाला किशनसहाय के नाम से आया जिसमें लिखा था कि पण्डितों की बातों से ज्ञात हुआ कि आप वेदविरुद्ध उपदेश करते हैं और कुछ अनुचित शब्द स्वामीजी के विषय में लिखे थे।

इसके उत्तर में स्वामीजी ने लिखा कि आपको वेदों से अनभिज्ञ पण्डितों के कहने से ऐसा लिखना उचित न था। उत्तम हो यदि आप उचित समझें तो मैं अपने दो विद्यार्थियों को आपके यहाँ सभा में भेज दूँ और वे यदि आप अनुमति दें तो आपके पण्डितों से वेद-विषय में कुछ प्रश्न करें, तब आपको पण्डितों की व्यवस्था ज्ञात हो जाएगी। यदि आपको यह स्वीकार न हो तो आप कृपापूर्वक मेरे निवास-स्थान पर अर्थात् बाबू छेदीलाल के गृह पर पधारें और सब शङ्काओं को निवृत्त कर लेवें। इसका उत्तर तो आया, परन्तु उस पर प्रेषकों के हस्ताक्षर न थे। उसका सार यह था कि आप वेद बिल्कुल नहीं जानते और आप मार्ग भूले हुए हैं और हमारे पण्डित विद्वान् हैं। हमें हमारे पण्डित यथा- पण्डित श्रीधर यह कहते और

लिखतें हैं कि जब तक आप अपना वर्ण और आश्रम सिद्ध न कर देंगे तब तक हमें आपके पास नहीं आना चाहिए और न पण्डितों को आपसे सम्भाषण करना चाहिए।

अब तो शास्त्रार्थ का स्पष्टरूप से नकार हो गया और सारा भाँडा फूट गया। सनातनधर्म रक्षिणी सभा ने जो शास्त्रार्थ के लिए इतना आडम्बर रचा वह दिखाने मात्र को था। भला इसके भी कोई अर्थ थे कि स्वामीजी तो बार–बार कहें कि लाला किशनसहाय के हस्ताक्षरों का पत्र लाओ, परन्तु लाला साहब हैं कि अपने नाम से पत्र तो भिजवाते हैं परन्तु उन पर हस्ताक्षर नहीं करते और अन्त तक किसी पत्र पर उन्होंने हस्ताक्षर किए ही नहीं।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया**– स्वामीजी के उपदेशों का यह फल हुआ कि २९ सितम्बर सन् १८७८ ई० तदनुसार आश्विन शुक्ला तृतीया संवत् १९३५ वि० (रविवार) को मेरठ में आर्यसमाज स्थापित हो गया, जिसके ८१ सभासद् हुए। सभासदों में नगर के लाला रामशरणदास जैसे प्रतिष्ठित रईस, उच्च शिक्षा प्राप्त सज्जन, सेठ–साहूकार, व्यापारी, राजकर्मचारी थे। सबसे हर्ष और आश्चर्य इस बात का है कि स्वयं लाला किशनसहाय के जो पौराणिक धर्म के स्तम्भ और पण्डितों के पृष्ठ–पोषक थे और जो नगर के प्रसिद्ध प्रतिष्ठित पत्थरवालों के रईस घराने के प्रधान पुरुष थे, पुत्र श्री लाला मुन्नालाल साहू आर्यसमाज के सभासद् बने और पीछे आकर उसके कोषाध्यक्ष हुए और फिर आजन्म उस पद पर सुशोभित रहे।

***'दयानन्द–प्रकाश' से संग्रहीत–***

**शारीरिक बल की परीक्षा**– एक दिन रात्रि के नौ बजे बेनीप्रसाद और उनके कुछ मित्रों ने स्वामीजी की सेवा में उपस्थित होकर कहा कि हम अपके पैर दबाना चाहते हैं। स्वामीजी जान गए कि इस मिस से वे लोग उनके बल की परीक्षा करना चाहते हैं। अतः उन्होंने कहा कि पैर तो पीछे दबाना पहले हमारे पैर को ही उठाओ। यह कहकर उन्होंने अपने पैर फैला दिए। युवकों ने बहुतेरा बल लगाया परन्तु वे स्वामीजी के पैर को न उठा सके।

**आक्रमण का आयोजन**– मेरठ छावनी का एक सेठ स्वामीजी का इतना विरोधी हो गया था कि उसने उन्हें पीटने के लिए कुछ गूजरों को तैयार कर लिया था। स्वामीजी के भक्तों को भी इसका पता चल गया। उन्होंने स्वामीजी से निवेदन किया कि आपको सावधान रहना चाहिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि आप मेरी चिन्ता न करें, हमारा रक्षक परमेश्वर है।

**गुण्डे कुछ न कर सके**– स्वामीजी के श्राद्धखण्डन के व्याख्यान से ब्राह्मण और महाब्राह्मण बहुत चिढ़ गए थे। उन दिनों स्वामीजी के व्याख्यान शहर में लाला रामशरणदास के मकान पर हुआ करते थे। उक्त मकान से आने–जाने में एक गली पड़ती थी। व्याख्यान समाप्त होते–होते रात्रि हो जाती थी। एक दिन कुछ गुण्डे उस गली में लट्ठ लेकर बैठ गए कि जब स्वामीजी व्याख्यान देकर डेरे पर जावें तो उन पर आक्रमण करें। आर्यजनों को यह बात ज्ञात हो गई। उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि स्वामीजी को बन्द गाड़ी में बिठाकर डेरे में पहुँचाया जाए। स्वामीजी के सामने जब यह प्रस्ताव रखा गया तो उन्होंने उसे तत्काल तिरस्कारपूर्वक अस्वीकार कर दिया और कहा कि आप लोग क्यों डरते हैं, मेरा कोई कुछ नहीं कर सकता और अकुतोभयता के साथ उसी गली में होकर चले गए। कुछ लोग लाठियाँ लिए हुए बैठे के बैठे रह गए और किसी का भी उन पर आक्रमण करने का साहस न हुआ। [५६०]

**आपने अच्छा न किया**– मेरठ में उन दिनों जो सब–जज थे उनका नाम बख्तावरसिंह था। एक दिन वे अपने एक षोडशवर्षीय बन्धु को साथ लेकर स्वामीजी के दर्शनार्थ गए। स्वामीजी ने उनसे कहा कि आपने अच्छा नहीं किया जो ऐसी छोटी अवस्था में इसका विवाह कर दिया। अब जो हुआ सो हुआ, परन्तु पच्चीस वर्ष की आयु से पहले द्विरागमन न करना।

**परोक्ष का ज्ञान**– मुंशी सेवाराम उन दिनों मेरठ में नहर के जिलेदार थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी से कहा कि यदि मैं नहर

---

५६०– *'दयानन्द–प्रकाश'* में इस घटना का जो उल्लेख है उसमें यह नहीं लिखा है कि उस दिन व्याख्यान लाला रामशरणदास के गृह पर हुआ था। न यह लिखा है कि स्वामीजी को बन्द गाड़ी में ले जाने का प्रस्ताव किया गया था। – *संग्रहकर्त्ता*

का डिप्टी मजिस्ट्रेट हो गया तो पहले मास का वेतन वेदभाष्य की सहायता में दूँगा। इसके कुछ काल पश्चात् उन्हें वह पद प्राप्त हो गया। अभी उन्होंने यह शुभ समाचार किसी से न कहा था कि स्वामीजी का एक पत्र उनके पास आया जिसमें उन्हें बधाई दी गई थी और उनकी प्रतिज्ञा याद दिलाई गई थी।

**ज्योतिषीजी को कुछ न मिला**– पण्डित गौरीशङ्कर ज्योतिषी एक दिन स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए और उनसे कुछ वार्तालाप करना चाहा। स्वामीजी ने कहा कि अभी तो मैं २५ मिनट के लिए निद्रा लूँगा तत्पश्चात् आपसे बात करूँगा। यह कहकर स्वामीजी तुरन्त सो गए। थोड़ी देर पीछे एक तहसीलदार मिलने आए। उनसे पण्डित गौरीशङ्कर ने कहा कि स्वामीजी सो रहे हैं, दस मिनट पश्चात् जगेंगे। इतनी देर आप प्रतीक्षा करें। ठीक दस मिनट में उनकी निद्रा भङ्ग हुई।

पण्डित गौरीशङ्कर से स्वामीजी ने आने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं ज्योतिषी हूँ, कुछ प्राप्ति की लालसा से आया हूँ। स्वमीजी ने उनसे कहा कि यदि आपके ज्योतिष ने आपको यह बतलाया है कि आपको प्राप्ति होगी तो वह मिथ्या है, क्योंकि मैं आपको कुछ न दूँगा और यदि यह बतलाया है कि प्राप्ति न होगी तो आपने आने का व्यर्थ परिश्रम किया।[५६१]

**मानस खेद**– एक दिन कुछ तिलकधारी ब्राह्मण स्वामीजी के पास बैठे थे। तभी एक सज्जन आए और नमस्ते कहकर कुशल पूछा। स्वामीजी ने कहा कि हमें कुशल कहाँ? उक्त सज्जन ने पूछा कि क्या कोई मानस खेद है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि इससे अधिक खेद क्या होगा कि ये ब्राह्मण अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करते। आडम्बर से अधिक प्यार करते हैं, धर्म के प्रचार का इन्हें ध्यान तक नहीं।

## दिल्ली (१८७८ ई०)

मेरठ में वैदिक धर्म की विजय–दुन्दुभि बजाकर और गर्वीले, हठीले पौराणिक पण्डितम्मन्यों का मान भङ्ग करके स्वामी दयानन्द ३ अक्टूबर १८७८ ई० तदनुसार आश्विन शुक्ला ८ संवत् १९३५ वि० (गुरुवार) को दिल्ली आ गए।

स्वामीजी दिल्ली आकर सब्जीमण्डी में लाला बालमुकुन्द व केसरीचन्द के बाग में विराजमान हुए।

पाँच दिन तक तो वे वहाँ ही आगन्तुकों को उपदेशामृत का पान कराते रहे। तदनन्तर विज्ञापन देकर १३ अक्टूबर सन् १८७८ ई० से मोहल्ला शाहजी के छत्ते में व्याख्यान देने आरम्भ किए।

**जयपुर से निमन्त्रण**– ठाकुर रणजीतसिंह जागीरदार अचरौल राज्य जयपुर की स्वामीजी के चरणों में अटल श्रद्धा थी जिसका वर्णन पहले हो चुका है। पूर्वावसर पर जब स्वामीजी जयपुर पधारे थे तो ठाकुर साहब ने स्वामीजी की अध्यक्षता में एक बृहद्यज्ञ करने का सङ्कल्प किया था तो स्वामीजी ने कहा था कि आप गायत्री का पुरश्चरण हमारे सामने करावें, हम ब्राह्मणों की परीक्षा करके उन्हें यज्ञ में बिठाएँगे। उस समय वह यज्ञ किसी कारणवश न हो सका था, परन्तु जब श्रावण सं० १९३५ वि० में मेरठ में स्वामीजी का पत्र उन्हें प्राप्त हुआ तो उस यज्ञ का उन्हें स्मरण हुआ और उन्होंने अपने कर्मचारी जोशी रूपराम को स्वामीजी को जयपुर लिवा लाने के लिए भेजा। वह घटनावश दिल्ली उतरा तो उसे ज्ञात हुआ कि स्वामीजी वहाँ ही विराजमान हैं, तब वह उनकी सेवा में उपस्थित हुआ और ठाकुर साहब की प्रार्थना उनके सामने रखी। वह दिल्ली दो दिन ठहरा और स्वामीजी के दो व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त करके उनसे ठाकुर साहब के पत्र का उत्तर लेकर जयपुर को लौट गया। स्वामीजी ने पुरश्चरण की सब विधि जोशीजी को लिखा दी और पत्र में लिख दिया कि हम कार्तिक में जयपुर आवेंगे।

---

५६१– पण्डित गौरीशङ्कर फलित ज्योतिष का व्यवसाय करते थे, परन्तु अपने मित्रों से स्पष्ट कह दिया करते थे कि वह मिथ्या है। संग्रहकर्त्ता से भी उन्होंने कई बार ऐसा कहा था। वे आर्यसमाजी थे, परन्तु उनका यह कार्य आर्योचित न था। उन्होंने इस व्यवसाय से पुष्कल धन इकट्ठा कर लिया था। –*संग्रहकर्ता*

**दानापुर से निमन्त्रण**– दानापुर प्रान्त बिहार के धर्मप्रेमी सज्जन स्वामीजी के दर्शन और उपदेश के लिए अत्यन्त लालायित हो रहे थे। जब उन्होंने सुना कि स्वामीजी दिल्ली में हैं, तो उन्होंने दो व्यक्तियों को वहाँ भेजा कि वे स्वामीजी से दानापुर पधारने का अनुरोध करें। उन्होंने स्वामीजी को दानापुर आर्यसमाज की स्थिति से अभिज्ञ किया जिससे वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और धर्म–सभा का भी वर्णन किया तो स्वामीजी ने कहा कि वह बहुत दिन तक नहीं रहेगी। इन लोगों ने जब दानापुर पधारने की प्रार्थना की और कहा कि कार्त्तिक में हरिहर क्षेत्र का बहुत बड़ा मेला होता है, तो स्वामीजी ने कहा कि हम जयपुर तथा अजमेर जाने का वचन दे चुके हैं, फिर हम कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार जाएँगे और पुष्कर के मेले पर भी, जहाँ प्रति वर्ष लाखों मनुष्य एकत्र होते हैं, जाएँगे, अत: इस समय हमारा दानापुर जाना सम्भव नहीं है। स्वामीजी ने उन्हें विदा करते समय कुछ प्रतियाँ पञ्चमहायज्ञविधि:, और आर्योद्देयरत्नमाला की दीं कि इन्हें आर्यसमाज द्वारा बेच देना और एक प्रति सत्यार्थप्रकाश की भी दी।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया**– स्वामीजी के निरन्तर उपदेशों से कितने ही लोगों के हृदय में वैदिकधर्म का बीज अंकुरित हुआ और ३ नवम्बर सन् १८७८ ई० तदनुसार कार्त्तिक शुक्ला ९ संवत् १९३५ वि० (रविवार) के दिन दिल्ली में आर्यसमाज स्थापित हो गया।

**जयपुर**– जोशी रूपराम के लौटने से पहले ही ठाकुर साहब रुग्ण हो गए थे। जब जोशीजी वापस आए तो ठाकुर साहब ने रुग्ण होते हुए भी यज्ञ की सामग्री एकत्रित करने की आज्ञा दी। जोशीजी ने कहा कि कार्त्तिक शुक्ला ८ का मुहूर्त्त ठीक नहीं है। वह अन्य शुभ मुहूर्त्त की टटोल में रहे, इतने में ही ठाकुर साहब का रोग बढ़ने लगा और कार्त्तिक शुक्ला दशमी संवत् १९३५ वि० अर्थात् ४ नवम्बर को ठाकुर साहब का देहपात हो गया।

जब ६ नवम्बर १८७८ ई० को स्वामीजी जयपुर रेलवे स्टेशन पर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि जोशी रूपराम तथा अन्य सेवकों के शिर मुण्डित हैं। कारण पूछने पर उन लोगों ने ठाकुर साहब के देहपात का वृत्त सुनाया जिसे सुनकर उन्होंने शोक प्रकट किया और उनसे कह दिया कि इस समय तो हम नहीं ठहरेंगे, हाँ अजमेर से लौटती वार आएँगे और उसी समय टिकट मँगाकर अजमेर चले गए।

## अजमेर (१८७८ ई०)

अजमेर में स्वामीजी के स्वागत के लिए स्टेशन पर कई भद्र–पुरुष उपस्थित थे। मुंशी समर्थदान चारण और एक अन्य सज्जन तो एक स्टेशन आगे से ही उनके स्वागत के लिए पहुँच गए थे।

स्वामीजी के अजमेर पधारने के सम्बन्ध में एक विचित्र लीला हुई थी।

**एक विद्वेषी की लीला**– कुछ धर्म–जिज्ञासुओं की यह उत्कट अभिलाषा थी कि स्वामीजी अजमेर पधारें। इसलिए मुंशी समर्थदान ने उन्हें अजमेर पधारने के लिए दिल्ली पत्र लिखा था। उसके उत्तर में स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए उन्हें लिख दिया था कि आप निवासस्थान आदि का प्रबन्ध कर लेवें हम दिल्ली के कार्य से निवृत्त होकर अजमेर आएँगे और आने से पूर्व पत्र द्वारा सूचना देंगे और रेल पर सवार होते समय तार भी देंगे। स्वामीजी का पत्र आते ही भक्तजन के मुख–कमल हर्ष से विकसित हो गए और उन्होंने सोत्साह चन्दा एकत्र किया तथा निवास–स्थानादि का प्रबन्ध करके स्वामीजी की सेवा में पत्र द्वारा निवेदन किया कि यहाँ सब तैयारी हो गई है, आप पधारें। स्वामीजी के आगमन का समाचार विदित होते ही पौराणिक वृन्द में ऐसी खलबली मची जैसे सिंह के आगमन से मृगों के झुण्ड में, अत: उनमें से एक ने स्वामीजी को अजमेर आने से रोकने और इस आने वाली आपत्ति को टालने के लिए एक लीला रची। उसने जुगलबिहारी शर्मा के कल्पित नाम से स्वामीजी को एक पत्र भेजा जो १७–१०–१८७८ का लिखा हुआ था। उसमें लिखा था कि समर्थदानजी ने प्रयत्न किया और चन्दा लिखा भी गया, परन्तु उसके प्राप्त होने की आशा नहीं है। हाँ, फाल्गुन तक

आवश्यक प्रबन्ध हो जाएगा। समर्थदान आपको यह सूचना देना नहीं चाहते, परन्तु वह यत्न कर रहे हैं। सब लोग समर्थदान से अप्रसन्न हो गए हैं और बुरा-भला कहते हैं। अब समर्थदान पछताते हैं कि आपको पहले लिख दिया सो अब आप प्रतीक्षा न करें, फाल्गुन में सब काम पक्का रखेंगे तब आप अनुग्रह करके हमारी अभिलाषा को तृप्त करना। यहाँ आर्यसमाज जारी करने का विचार है।

पत्र बड़ी चालाकी से लिखा गया था जिससे स्वामीजी को विश्वास हो जाए कि वह वास्तव में किसी वैदिकधर्म के प्रेमी ने लिखा है और वास्तविक स्थिति को प्रकट करता है। हुआ भी ऐसा ही। स्वामीजी ने सरलचित्तता से उसका विश्वास कर लिया, अजमेर जाने का सङ्कल्प स्थगित कर दिया तथा २१ अक्टूबर को मुंशी समर्थदान को पत्र लिख दिया कि आज जुगलबिहारी शर्मा की चिट्ठी आई है, जिससे जाना गया कि वहाँ चन्दे का कुछ प्रबन्ध नहीं हुआ है सो तुम कुछ चिन्ता मत करो अब मिलना न हो तो फिर कभी मिलेंगे।

स्वामीजी का पत्र पाते ही लोगों ने जान लिया कि यह सब किसी द्वेषाग्नि से दग्ध-हृदय की लीला है और तुरन्त ही उन्होंने स्वामीजी को लिख दिया कि यहाँ सब तैयारी हो गई है, यह पत्र किसी ने जुगलबिहारी के नाम से झूँठा भेज दिया है, आप अवश्य पधारें। इसके उत्तर में २८ अक्टूबर को स्वामीजी ने लिख दिया कि हम अवश्य आएँगे और हमने समझ लिया कि जुगलबिहारी शर्मा के नाम के किसी ब्राह्मण ने लीला की है, परन्तु क्या होता है, ऐसे धूर्त्त बहुत होते हैं। दिल्ली से रेल में सवार होते समय तार दिया कि हम आते हैं।

जब स्वामीजी अजमेर पहुँचे तो मुंशी समर्थदान ने वह पत्र देखा और उसके अक्षरों और लेखन-शैली को देखकर पहचान लिया कि वह नगर के एक प्रतिष्ठित पुरुष का लिखा हुआ है, परन्तु उन्हें अपकीर्त्ति से बचाने के लिए उनका नाम प्रकट नहीं किया।

स्वामीजी को अजमेर बुलाने में पण्डित शालिग्राम शास्त्री हैडपण्डित गवर्नमेण्ट कॉलेज ने भी विशेष उद्योग किया था। पण्डित शालिग्राम काशी के प्रधान विद्वान् पण्डित राजाराम शास्त्री के शिष्य और पण्डित बाल शास्त्री के सहाध्यायी थे।

अजमेर में थोड़ा सा विश्राम करके स्वामीजी पुष्कर के कार्त्तिकी के मेले में धर्म-प्रचारार्थ चले गए।

## पुष्कर (१८७८ ई०)

**विज्ञापन**- पुष्कर में स्वामीजी ने महाराजा जोधपुर के घाट पर नवनाथजी के दलीचे में निवास किया और दूसरे दिन मेले में एक विज्ञापन वितरित कराया कि जिस किसी को भी सनातन वेदोक्त-धर्म के विषय में कुछ कहना-सुनना हो वह आकर सभ्यता और प्रीतिपूर्वक हमसे वार्त्तालाप करें।

**दर्शकों की भीड़**- इस शुभ-समाचार के प्रचरित होते ही स्वामीजी के स्थान पर दर्शकों और जिज्ञासुओं का ताँता लग गया और लोग अपने प्रश्नों के पूर्ण उत्तर पाकर और श्री स्वामीजी के मुखारविन्द से वैदिक-धर्म के अश्रुत-पूर्व रहस्य जानकर शान्ति लाभ करने लगे। श्री राव बहादुसिंहजी मसूदाधिपति को, जो पीछे आकर स्वमीजी के अनन्य भक्त बने, स्वामीजी के प्रथम बार यहाँ ही दर्शन हुए थे।

**वाममार्गी साधु**- पुष्कर में कुछ वाममार्गी साधु रहते थे जिनके विषय में प्रसिद्ध था कि उन्हें मन्त्र सिद्ध हैं और मन्त्र-शक्ति द्वारा वे अलौकिक कार्य कर सकते हैं, यहाँ तक कि मनुष्य का प्राण-हरण भी कर सकते हैं।

**तुम्हारे गुरु को ही मन्त्रसिद्धि दिखाएँगे**- अजमेर के पास के एक ग्राम के कुछ नवयुवक अजमेर के गवर्नमेण्ट कॉलेज में पढ़ते थे। एक बार उन्होंने इन साधुओं के पास जाकर कहा कि तुम्हारी मन्त्रसिद्धि सब मिथ्या है। साधुओं ने कहा कि हम मन्त्रशक्ति दिखा सकते हैं। छात्रगण ने कहा कि दिखाओ तो साधुओं ने पूछा कि तुम्हारा गुरु कौन है? उन्होंने कहा स्वामी दयानन्द सरस्वती। इस पर साधु बोले कि हम उसी को दिखाएँगे। जब वह आवे उसे हमसे मिलाना।

**साधुओं को हमारे पास ले आओ**- उनमें से कुछ छात्र, एक ठाकुर, एक साधु और मुंशी समर्थदान ने एक दिन स्वामीजी से निवेदन किया कि यहाँ कुछ साधु रहते हैं, जो कहते हैं कि हम मन्त्रशक्ति से मनुष्य को मार सकते हैं, यदि आज्ञा हो तो उन्हें परीक्षार्थ आपके पास लावें। स्वामीजी ने कहा कि ले आओ हम तो आप लोगों को निश्चय कराने के लिए ऐसी बातों में उत्साह पूर्वक तत्पर रहा करते हैं। फिर लोगों ने पूछा कि आप उन साधुओं की किस प्रकार परीक्षा लेंगे तो स्वामीजी ने कहा कि हम एक मक्खी को एक शीशे में, जिसमें वायु के आने-जाने का मार्ग हो, बन्द करके उनसे कहेंगे कि मक्खी को मारो और जो वह मन्त्र को मनुष्य पर ही चलाना चाहेंगे तो हम कहेंगे कि मुझ पर मन्त्र चलाओ। इसके पश्चात् वे लोग साधुओं के पास गए और कहा कि तुम कहा करते थे कि हम अपनी मन्त्रशक्ति स्वामी दयानन्द सरस्वती को दिखाएँगे, सो अब स्वामीजी यहाँ आए हुए हैं उन्हें अपनी मन्त्रशक्ति दिखलाओ।

**जाओ, जाओ यहाँ मन्त्र कहाँ रखे हैं**- साधु लोग यह सुनकर आग बबूला हो गए और कहा कि जाओ, जाओ यहाँ मन्त्र कहाँ रखे हैं, मन्त्र क्या ऐसे दिखाए जाते हैं? उन लोगों ने स्वामीजी से सब वृत्तान्त कहा तो उन्होंने कहा कि साधुओं ने आप लोगों को बहकाने के लिए यह प्रपञ्च रच रखा है, परन्तु हमारा आना हो गया ओर उनकी कलई खुल गई अन्यथा आप लोग धोखा खा जाते। हम तो ऐसे बहुत लोगों से मिल चुके हैं, जहाँ जाते हैं ऐसे ही जाल बिछे हुए देखते हैं।

**दिनचर्या**- पुष्कर में स्वामीजी बहुत सवेरे भ्रमण करने चले जाते थे। वापस आकर दुग्ध और ब्राह्मी का स्वरस पान करते थे और वेदभाष्य लिखाने बैठ जाते थे। ग्यारह बजे तक वेदभाष्य लिखाते थे और फिर स्नान और दण्ड- मुगदर का व्यायाम करके भोजन पाते थे। रात्रि में चित्रक की छाल के साथ दुग्ध-पान करते थे।

**बूँदी का राज-पण्डित**- एक दिन बूँदी के राज-पण्डित शास्त्र-चर्चा के लिए स्वामीजी के पास आए और पद्मपुराण का एक श्लोक पढ़कर मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का यत्न किया। स्वामीजी ने तत्क्षण एक श्लोक रचकर मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया। बूँदी के पण्डित ने पूछा कि यह किस ग्रन्थ का श्लोक है, तो कहा कि पहले आप बताइए कि तुम्हारा श्लोक किस ग्रन्थ का है। पण्डित ने कहा कि पद्मपुराण का। स्वामीजी ने कहा कि हमारा श्लोक दयानन्द-पुराण का है। पण्डित ने पूछा वह पुराण कैसा है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि तुम्हारे पुराण का कर्त्ता तो अब जीवित नहीं है और दयानन्द-पुराण का कर्त्ता तुम्हारे सम्मुख ही विद्यमान है। और हमारे श्लोक के अनुकूल वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रमाण हैं, तुम्हारे श्लोक के अनुकूल वेदादि का कोई प्रमाण नहीं है। अत: पद्मपुराण की अपेक्षा दयानन्द-पुराण ही अधिक प्रामाणिक है। यह सुनकर पण्डितजी अप्रतिभ होकर चुप हो गए।

**एक और पण्डित**- एक दिन एक और पण्डित ने पूछा कि गायत्री किसे कहते हैं? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि गायत्री वेद के एक छन्द का नाम है, जैसे अनुष्टुप, त्रिष्टुप् आदि छन्द हैं, वैसे ही गायत्री भी एक छन्द है और उसमें वेद के अनेक मन्त्र हैं, परन्तु जिस गायत्री का ब्राह्मण जप करते हैं वह एक ही है। पण्डित ने कहा कि गायत्री २४ प्रकार की है। जैसे राम-गायत्री, कृष्ण-गायत्री इत्यादि। राम-गायत्री इस प्रकार है- *'दशरथाय विद्महि सीतापतये धीमहि, तन्नो राम: प्रचोदयात्।'* स्वामीजी ने हास्य भाव धारण करके कहा कि गायत्री २४००० प्रकार की है, जैसे-

*शीतलावाहनाय विद्महि लम्बकर्णाय धीमहि, तन्नो गर्दभ: प्रचोदयात्।*

इसी प्रकार जूता, छत्री आदि की गायत्री पढ़कर सुनाई। पण्डित ने पूछा आपकी गायत्रियाँ कहाँ हैं। स्वामीजी ने पण्डित से कहा तुम्हारी गायत्रियाँ कहाँ है। पण्डित ने कहा कि शास्त्रों में। स्वामीजी ने कहा कि हमारी गायत्रियाँ भी शास्त्रों में हैं। पण्डितजी फिर कुछ न बोले।

ज्ञात होता है कि स्वामीजी ने पण्डितजी को अल्पविद्य देखकर ही इस प्रकार की रङ्गभङ्गी की अवतारणा करके उन्हें परास्त करने की चेष्टा की थी।

**फिर एक और पण्डित**– एक और पण्डित एक दिन स्वामीजी के पास आए। स्वामीजी ने उनसे पूछा कि आपने क्या-क्या ग्रन्थ पढ़े हैं? पण्डित ने कहा कि भागवत। फिर उनसे निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुए–

*स्वामीजी*– पृथ्वी का आधार क्या है?

*पण्डित*– वासुकि।

*स्वामीजी*– वासुकि के पिता कौन थे?

*पण्डित*– कश्यप।

*स्वामीजी*– कश्यप के पिता कौन थे?

*पण्डित*– मरीचि।

*स्वामीजी*– मरीचि के पिता कौन थे?

पण्डित– ब्रह्मा।

*स्वामीजी*– इन तीनों के समय में पृथ्वी का आधार क्या था?

पण्डितजी इस प्रश्न का कोई उत्तर न दे सके। तब स्वामीजी ने कहा कि '*शेषाधारा भूः*' प्रलय के पश्चात् परमेश्वर ही शेष रहता है, अतः उसका नाम शेष है और परमेश्वर ही पृथ्वी का आधार है।

## अजमेर (१८७८ ई०)

पुष्कर से स्वामीजी १४ नवम्बर, १८७८ ई० तदनुसार मार्गशीर्ष कृष्णा ४ संवत् १९३५ वि० (गुरुवार) को अजमेर लौट आए और रामप्रसाद के बाग में ठहरे। १४ नवम्बर को ही स्वामीजी ने यहाँ व्याख्यान देने आरम्भ कर दिए। पहला व्याख्यान ईश्वर के एकत्व पर, दूसरा इसी विषय पर तथा वेदों के ईश्वरोक्त होने पर, तीसरा वेदों से भिन्न-भिन्न विद्याओं के होने पर, चौथा इञ्जील और कुरान की समालोचना पर हुआ। इञ्जील पर जो आक्षेप हुए उन्हें सुनकर पादरी ग्रे ने कहा कि यदि यह प्रश्न हमारे पास लिखकर भेज दिए जाएँ तो हम उनका उत्तर देवें। इस पर स्वामीजी ने कहा कि मैं इञ्जील के वाक्य-वाक्य भेज दूँगा और उन पर आपसे प्रश्न करूँगा। पाँचवाँ व्याख्यान सती आदि की कुप्रथाओं और आर्यों के देशान्तर में जाने के विषय पर, छठा जन्ममरण पर, सातवाँ आर्यों की उन्नति और अवनति पर हुआ। अवनति के कारण उन्होंने ये बतलाए कि आर्यों के पास असंख्य धन हो गया था जिससे वे भोग-विलास में पड़कर अन्याय करने लगे, अन्याय से ही राज्य में अवनति हुई और महाभारत [५६२] का युद्ध हुआ जिससे सब कुछ नष्ट हो गया।

**पादरी से शास्त्रार्थ**– २८ नवम्बर १८७८ ई० को पादरी ग्रे से स्वामीजी का शास्त्रार्थ हुआ जिनके साथ पादरी डॉक्टर हज्बैण्ड भी थे। पादरी साहब के पास स्वामीजी ने इञ्जील के ६४ वाक्य लिखकर भेजे थे, जिन पर स्वामीजी को प्रश्न करने थे।

शास्त्रार्थ की सूचना सर्वसाधारण को विज्ञापन द्वारा दी गई थी और नियत दिवस पर शास्त्रार्थ देखने के लिए लोग बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित हुए थे। दर्शकों में हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, प्रतिष्ठित पुरुष, उच्च राजकर्मचारी सब ही धर्मावलम्बी और सभी श्रेणियों के लोग थे।

नियत समय पर स्वामीजी, पादरी ग्रे और डॉक्टर हस्बैण्ड शास्त्रार्थ-स्थल में पहुँच गए। शास्त्रार्थ को लिखने के लिए दो हिन्दू और एक मुसलमान नियत हुए। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। स्वामीजी ने प्रश्न किया कि इञ्जील उत्पत्ति की

---

५६२- महाभारत ग्रन्थ का नाम है। कौरव-पाण्डवों में जो युद्ध हुआ था उसका वास्तविक नाम '*भारतयुद्ध*' है। देखो अष्टाध्यायी ४/२/५६ तथा इस पर काशिका वृत्ति। महाभारत ग्रन्थ में उसका वर्णन होने से जनसाधारण में वह युद्ध महाभारत के नाम से व्यवहृत होता है।

पुस्तक पर्व १ आयत २ में लिखा है कि पृथ्वी बेडौल थी। परमेश्वर सर्वज्ञ और सब विद्याओं में पूर्ण है, उसके रचे पदार्थ में बेडौलपन नहीं हो सकता। पादरी साहब ने उत्तर दिया कि बेडौल का यहाँ आशय उजाड़ से है। स्वामीजी ने फिर कहा कि यह अर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि बेडौल से अगला शब्द सूनी है जिसके अर्थ उजाड़ के हैं। दो समानार्थक शब्दों का एक साथ प्रयोग नहीं हो सकता। पादरी साहब ने कहा कि ऐसा होता है, इबरानी भाषा का एक उदाहरण दिया और एक फारसी के बूदोबाश शब्द का। उक्त शब्दों के स्थान में वीरान और सुनसान शब्द रखकर पादरी साहब ने कहा कि देखिए उर्दू में अर्थ ठीक हो जाता है। स्वामीजी ने फिर प्रश्न करना चाहा तो पादरी साहब ने रोक दिया कि वाक्य बहुत से हैं एक वाक्य पर दो प्रश्न और दो ही उत्तर होने चाहिए। स्वामीजी ने कहा कि कम से कम दस प्रश्न तो हों, परन्तु यह भी स्वीकार न हुआ। स्वामीजी ने कहा कि अच्छा तीन प्रश्न तो कर लेने दीजिए, परन्तु पादरी साहब ने मना कर दिया तो स्वामीजी को उनकी हठ माननी पड़ी। दूसरा प्रश्न उत्पत्ति की पुस्तक पर्व १ आयत २ के ही ऊपर था कि पहली आयत में कहा गया है कि परमेश्वर ने आकाश और पृथ्वी को रचा और इस आयत में कहा है कि परमेश्वर का आत्मा जल पर डोलता था, जब जल उत्पन्न ही नहीं हुआ था तो उस पर परमेश्वर का आत्मा कैसे डोलने लगा और पूछा कि परमेश्वर आत्मरूप है वा शरीरधारी। यदि शरीरधारी है तो वह आकाश और पृथ्वी को बना नहीं सकता और न वह व्यापक रह सकता है और जब उसका आत्मा जल पर डोलता था तो उसका शरीर कहाँ था। पादरी साहब ने उत्तर दिया– पृथ्वी की सृष्टि के अन्तर्गत जल की सृष्टि भी आ गई और परमेश्वर आत्मरूप है। स्वामीजी ने कहा कि इञ्जील में लिखा है कि परमेश्वर ने अदन की बाड़ी को बनाया, वहाँ आया, फिर ऊपर चढ़ गया, वह सनाई पर्वत पर गया, उसने मूसा और इब्राहीम की स्त्री सारह से बातें की, वह डेरे के भीतर गया, उसने याकूब से मल्लयुद्ध किया इससे तो परमेश्वर शरीरधारी प्रतीत होता है। पादरी साहब ने उत्तर दिया कि उपर्युक्त आयत से इन बातों का कोई सम्बन्ध नहीं है और यहूदी, ईसाई, मुसलमान सब परमेश्वर को आत्मरूप ही मानते हैं। फिर स्वामीजी ने प्रश्न किया कि उसी पर्व की २६वीं आयत में परमेश्वर का आदम को अपने स्वरूप में, अपने समान बनाना लिखा है इससे स्पष्ट है कि परमेश्वर का स्वरूप भी आदम के स्वरूप जैसा ही होगा। पादरी साहब ने कहा यहाँ शरीर का कुछ कथन नहीं है। परमेश्वर ने आदम को पवित्र, ज्ञानवान और आनन्दित रचा, जब आदम ने पाप किया वह पतित हो गया और विश्वासी लोग बदल कर फिर ईश्वर के स्वरूप में अर्थात् पवित्र, ज्ञानी और आनन्दमय बन जाते हैं। स्वामीजी ने फिर प्रश्न किया कि परमेश्वर के सदृश आदम के बनने से परमेश्वर का देहधारी होना सिद्ध होता है। यदि आदम पवित्र था तो उसने परमेश्वर की आज्ञा क्यों भङ्ग की। वह ज्ञानवान् भी नहीं था क्योंकि उसे ज्ञात तब हुआ जब उसने ज्ञान के पेड़ का फल खाया। यदि आदम आनन्दित होता तो उसे दुःख क्यों होता, विश्वासी भी वैसे ही पतित हो सकते हैं जैसे आदम हुआ। पादरी साहब ने कहा कि आदम पहले पवित्र था, आज्ञा भङ्ग करने से पापी हुआ। यह बात नहीं है कि उसे ज्ञान पीछे से हुआ बल्कि यह है कि फल खाने के पश्चात् पाप करने के कारण उसे लज्जा आने लगी। आदम परमेश्वर के समान बनाया गया था न कि तुल्य, परमेश्वर का रूप शरीर–जैसा नहीं है। फिर स्वामीजी ने उत्पत्ति पर्व २ आयत ३ को प्रस्तुत करके कहा कि इसमें लिखा है कि परमेश्वर ने ६ दिन में जगत् को रचकर सातवें दिन विश्राम किया। परमेश्वर जब सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और सच्चिदानन्द स्वरूप है तो उसे जगत् के रचने में परिश्रम ही क्या हो सकता है और उसे विश्राम करने की क्या आवश्यकता है?

पादरी साहब ने इसका कोई उत्तर न दिया और कहा कि समय हो गया है, हम अधिक नहीं ठहर सकते। बोलते समय लिखा जाता है इसमें बहुत देर लगती है, यदि ऐसा न किया जाए तो आगे हम शास्त्रार्थ कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। यदि स्वामीजी को प्रश्नोत्तर लिखित ही अभिलषित हैं तो वह हमारे पास प्रश्न लिखकर भेज दें हम उत्तर लिखकर भेज देंगे। यह बात स्वामीजी के मनोनीत न हुई, क्योंकि उसमें समय बहुत लगता और बहुत से लोग उन्हें सुन भी नहीं सकते, लिखे

जाने में यह लाभ है कि कोई यह नहीं कह सकता कि मैंने अमुक बात नहीं कही और न कोई यथार्थ बात छिपा सकता है।

पादरी साहब ने कहा कि प्रस्तुत रीति में लोगों के सुनने का लाभ दिखाया है सो उपस्थित मनुष्यों में से थोड़े ही हमारी बात समझे होंगे। इस पर मुसलमान लेखक तथा अन्य मुसलमान कह उठे कि हम कुछ नहीं समझे। पादरी साहब झट बोल उठे कि जब लिखने वाला ही नहीं समझा तो और कौन समझ सकता है। इस पर स्वामीजी ने दूसरे दोनों लेखकों से पूछा तो उन्होंने कहा कि हम सब कुछ समझ गए। स्वामीजी ने कहा कि दो तो समझ गए, एक ने नहीं समझा तो क्या!

फिर स्वामीजी ने कहा कि शास्त्रार्थ के तीन परत लिखे गए हैं, आप इन पर हस्ताक्षर कर दीजिए, परन्तु उन्होंने न किए और एक परत अपने साथ लेकर चले गए, शेष दो परतों पर स्वामीजी ने अपने और सरदार बहादुर अमीचन्द जज और पण्डित भागराम इञ्जीनियर के हस्ताक्षर कराकर उन्हें अपने पास रख लिया।

२९ नवम्बर को पादरी साहब ने स्वामीजी को लिखा कि यदि प्रश्नोत्तर न लिखे जाएँ तो हम आज शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत हैं, परन्तु स्वामीजी ने इसे स्वीकार न किया और शास्त्रार्थ समाप्त हो गया।

यह शास्त्रार्थ मुम्बई के *अँग्रेजी मासिक पत्र 'थियोसोफिस्ट'* के जनवरी सन् १८८० ई० के अङ्क (भाग १ अङ्क २) के पृष्ठ ९८-१०० पर छपा था।[५६३]

इस शास्त्रार्थ के विषय में कर्नल आल्काट सम्पादक 'थियोसोफिस्ट' ने अपनी सम्मति देते हुए लिखा था, उसका भाव यह था कि पादरी लोग भारतवर्ष में सर्वसाधारण की सभाओं में भारतीय विद्वानों से शास्त्रार्थ करने से बचा करते हैं और अपना प्रचार नीच और अशिक्षित लोगों में ही करते हैं। स्कूलों और कॉलेजों में यदि कोई बुद्धिमान् विद्यार्थी कोई प्रश्न करता है तो कह दिया करते हैं कि हमारे घर पर आना हम निज में समझा देंगे। यूरोप और अमेरिका के धनी लोग इन्हें धन देकर वृथा नष्ट करते हैं।

पादरी ग्रे ने भी उक्त मासिक पत्र में लिखा था कि यदि स्वामीजी अपने आक्षेपों के उत्तर उक्त मासिक द्वारा सुनना चाहें तो मैं उत्तर देने को प्रस्तुत हूँ। इसका उत्तर स्वामीजी ने दे दिया कि जब पादरी साहब ने अजमेर में दूसरे दिन शास्त्रार्थ करना स्वीकार नहीं किया तो अब मैं उनसे शास्त्रार्थ करना नहीं चाहता, हाँ यदि कोई विशेष साहब 'थियासोफिस्ट' के द्वारा शास्त्रार्थ करना चाहें तो हम उद्यत हैं।

रा० ब० श्यामसुन्दरलाल ने, जो राज्य किशनगढ़ के दीवान पद पर प्रतिष्ठित हुए देवेन्द बाबू से कहा था कि उस शास्त्रार्थ में ग्रे साहब सुनिश्चित रूप से परास्त हुए थे।

डॉ० पादरी हस्बैण्ड ने, जो इस शास्त्रार्थ में पादरी ग्रे के साथ थे, *'इण्डियन मिरर'* कलकत्ता के 'सण्डे एडीशन' ३१ अगस्त सन् १८७९ ई० के अङ्क में लिखा था-

"प्रत्येक सायंकाल को लोगों के बृहत्समूह पण्डितजी की वेद-व्याख्या सुनने के लिए एकत्र होते थे। व्याख्यान सुनकर हिन्दू स्तम्भित हुए और मुसलमान शीघ्र ही क्रूरभाव-सम्पन्न हो गए तथापि सबने यह अनुभव किया कि वे एक ऐसे मनुष्य के सम्मुख हैं, जिसकी मानसिक शक्तियाँ दुर्लभ हैं, जिसकी बुद्धि परिष्कृत, तर्क-शक्ति सूक्ष्म और प्रभावोत्पादक है।

---

५६३- *'थियोसोफिस्ट'* अँग्रेजी मासिक पत्र मुम्बई के शताब्दी समारोह (१९७९-८०) के अवसर पर इसके प्रथम वर्ष वर्ष (१८७९-८०) के सभी १२ अङ्कों का जो पुनर्मुद्रण किया गया था उसकी एक प्रति मैं १९८७ ई० में आडियार लाइब्रेरी मद्रास (चेन्नई) से १४८.८० रुपये में क्रय करके लाया था, उसमें भी इस शास्त्रार्थ का विवरण उसके वर्ष- १, अङ्क-२ के पृष्ठ ९८ से १०० तक ही वेदभाष्य के मैनेजर मुंशी समर्थदान की ओर से नवम्बर, १८७९ ई० में मुम्बई से ही प्रेषित के रूप में इस प्रकार छपा है- The contest between Swami Dayanund Saraswatiji Maharaj, and the Rev. Dr. Gray lasted from 7 P.M. to 9-30 P.M. on Thursday the 28th November 1878 (Margashirsha Vadya 4th.)

उनके व्याख्यानों ने बड़ा प्रभाव उत्पन्न किया और देशी लोग धार्मिक विषयों में ऐसे उत्तेजित हुए जैसा मैंने अपने अजमेर से सम्बन्ध रखने के समय से पहले कभी नहीं देखा था।"

मुहम्मद मुरादअली सम्पादक '*राजपूताना गजट*' पाँच बार स्वामीजी से मिले थे। उन्होंने निम्नलिखित प्रश्न उनसे किए थे-

*प्रश्न नं०* १- आत्मा क्या वस्तु है?

*प्रश्न नं०* २- बहुत से धर्म यह मानते हैं कि शुभ कर्म करने से शरीर के नष्ट होने के पश्चात् मनुष्य की मोक्ष हो जाती है, मोक्ष किस वस्तु का नाम है?

*प्रश्न नं०* ३- बार-बार जन्म लेने का क्या कारण है? यदि यह बात मानी जाए कि मनुष्य को पाप करने के कारण बार-बार जन्म लेना पड़ता है तो मेरे विचार में मनुष्य का स्वाभाविक गुण ही यही है कि जब तक ज्ञान प्राप्त न हो अवश्य पाप करता रहे। ऐसी दशा में पाया जाता है कि स्वयं परमेश्वर ही की इच्छा से मनुष्य बार-बार जन्म लेने के लिए बाध्य ठहरता है। यदि परमेश्वर की इच्छा न हो तो मनुष्य माँ के पेट से ही ऐसा उत्पन्न हो और पवित्रता प्राप्त करके आए ताकि पाप का कर्त्ता भी न हो।

*प्रश्न नं०* ४- बुराई चाहे शैतान से चाहे स्वयं परमेश्वर से उत्पन्न हुई है तो ज्ञात हुआ कि परमेश्वर के अतिरिक्त भी कोई वस्तु बुराई वा भलाई की ऐसी ही है जो स्वयं ही उत्पन्न होने की शक्ति रखती है और परमेश्वर के बस की नहीं है और जो परमेश्वर ही ने इस बुराई को उत्पन्न किया है तो बुराई का आरम्भ करने वाला भी परमेश्वर है और यत: उसकी बनाई हुई कोई वस्तु उत्तमता से शून्य नहीं है और न निरर्थक तो इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि स्वयं परमेश्वर ने मनुष्य के लिए बुराई उत्पन्न की तो फिर बुराई का दण्ड क्यों है?

मौलवी साहब कहते हैं कि स्वामीजी ने मेरे प्रश्नों का कई प्रकार से उत्तर दिया। प्रश्न नं० १ व ४ के उत्तर इतने युक्ति-सङ्गत थे कि मेरा सन्तोष हो गया और प्रश्न नं० २ व ३ के उत्तर देने का फिर वचन दिया।

उसी दिन सायङ्काल को स्वामीजी का व्याख्यान था। व्याख्यान में वह दो-दो चार वाक्यों के पश्चात् गिलास में से पानी के घूँट लेते थे। पीछे प्रशंसित मौलवी साहब ने इसका कारण पूछा तो स्वामीजी ने कहा -इसमें एक रहस्य है। कहते-कहते मन में आवेश आ जाता है, वह पानी के घूँट लेने से दब जाता है।

मौलवी साहब गो-रक्षा के समर्थक थे। इसे ज्ञात करके स्वामीजी उनसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें अपना एक फोटो दिया।

रा० ब० श्यामसुन्दरलाल आदि ने उन्हीं दिनों अजमेर में एक सभा प्रार्थना-समाज के नाम से स्थापित की थी जिसके अधिवेशन रविवार को हुआ करते थे। स्वामीजी ने कहा कि प्रार्थना-समाज नाम ही अशुद्ध है, क्योंकि समाज के अर्थ सभा के हैं फिर प्रार्थना की सभा के क्या अर्थ हो सकते हैं। रा० ब० ने इसका यह उत्तर दिया कि प्रार्थना-समाज को षष्ठीतत्पुरुष समास न लेकर चतुर्थीतत्पुरुष समास लेने से अर्थ ठीक हो सकते हैं। स्वामीजी ने यह भी कहा था कि गीत वाद्य करके ईश्वर की ध्यान-धारणा वा स्तुति-प्रार्थना करता आर्यभाव नहीं है, यूरोपीय भाव का अनुकरणमात्र है। आर्य लोग ईश्वर की ध्यान-धारणा एकान्त में करते थे।

वेद में विज्ञान के सारे तत्त्व निहित हैं, इस विषय पर बातचीत होने पर रा० ब० ने यह आक्षेप किया था कि यूरोपीय विज्ञान के सिद्धान्त स्थिर नहीं है। जो सिद्धान्त आज स्थिर किया जाता है वह दस वर्ष पीछे असत्य कहकर त्याग दिया जाता है। तब ऐसे सिद्धान्तों को वेद में बतलाना उन्हें अभ्रान्त कहना है जिन्हें यूरोप के वैज्ञानिक स्वयं अभ्रान्त नहीं मानते। यदि आज एक सिद्धान्त को आप वेद में बतलाते हैं तो उसे अभ्रान्त मानना पड़ेगा। फिर यदि कल को वह त्याज्य

सिद्ध हो तो उसकी अभ्रान्तता और साथ में वेदों की निर्भ्रान्तता भी जाती रहेगी। इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि जो वैज्ञानिक तत्त्व हमें मन्त्रों में दृष्टि पड़ते हैं, उन्हें हम अपने भाष्य में क्यों न लिखें?

इस पर हमें यह कहना है कि वैज्ञानिकों की सम्मति अन्तिम नहीं कही जा सकती, क्योंकि हम देखते हैं कि जहाँ ऐसे भी सिद्धान्त हैं जो पहले सत्य समझे जाते थे और फिर असत्य समझे जाने लगे। वहाँ हम यह भी पाते हैं कि असत्य कहकर त्यागे हुए सिद्धान्त पुन: सत्य माने जाने लगे।

रा० ब० और अन्य भी कई लोगों का विश्वास है कि स्वामीजी ने अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त मनुष्यों से विज्ञान की दो चार बातें सुन-सुनाकर उन्हें वेदों में से निकालने का यत्न किया है, परन्तु उनका यह विश्वास सर्वथा निराधार है। वेद में सब विद्याओं का बीज है, यह मन्तव्य केवल स्वामी दयानन्द का ही नहीं है। अपितु यह विश्वास सारे ही ऋषि-मुनियों का रहा है। स्वामीजी के परलोकवास को आज इतने वर्ष हो गए, परन्तु वैज्ञानिक संसार ने किसी सिद्धान्त को भी जो स्वामीजी लिख गए हैं विज्ञान-विरुद्ध वा त्याज्य सिद्ध नहीं किया है। स्वामीजी जो कुछ करते थे अपने आत्मा के अनुकूल करते थे। यदि उन्हें यही करना होता कि विज्ञान के तत्वों को बलात् वेद के मन्त्रों में से निकालें तो वे किसी वैज्ञानिक से पूछताछ करके ऐसे अनेक सूक्ष्म तत्वों का अपने वेदभाष्य में समावेश कर सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। केवल दा-चार बातें ही दिग्दर्शन के लिए लिखी हैं और कहीं-कहीं ऐसी बातों का भी उल्लेख किया है जिनका उस समय तक वैज्ञानिकों को भी पता न था। ऐसी बातों के विषय में आक्षेप्ता लोग क्या कहेंगे? वे स्वामीजी के मस्तिष्क में कहाँ से आईं जब कि वे वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में भी नहीं आई थीं। ऐसी बातें वैज्ञानिकों को स्वामीजी के वेदभाष्य रचने से वर्षों पीछे ज्ञात हुईं।

इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी पर यह दोष लगाना कि उन्होंने अपने वेदभाष्य में विज्ञान की बातें इधर-उधर से सुन-सुनाकर लिख दी हैं कितना निर्मूल है। यह बात कि वेद में वैज्ञानिक तत्त्व निहित हैं, वेद के कई स्थलों से ऐसा स्पष्ट हो जाता है कि उसके विषय में कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। डॉक्टर लोगों का यह सिद्धान्त है कि यक्ष्मा के कीटाणु गौ के दूध से मनुष्य के शरीर में पहुँचते हैं और इस कारण यूरोप में अत्यन्त सावधानी की जाती है कि किसी ऐसी गौ का दूध मनुष्यों के पीने के काम में न लाया जावे जिसके शरीर में यक्ष्मा के कीटाणु हों। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही ऐसी गौओं के लिए प्रार्थना की गई है जो अयक्ष्मा हों, जिन्हें यक्ष्मा का रोग न हो। अब क्या कहा जाएगा कि यह सिद्धान्त भी यूरोप के वैज्ञानिकों से ही उधार लिया गया है? यूरोपीय विज्ञान का एक सिद्धान्त यह है कि वनस्पति सूर्य-शक्ति को सुरक्षित रखती है (Plants conserve solar energy) हमारे समालोचक क्या कहेंगे जब हम उन्हें यह बताएँगे कि शतपथब्राह्मण में ओषधि शब्द की निरुक्ति यह की गई है कि ओषधि को ओषधि इसलिए कहते हैं कि वह ओष (गर्मी वा सूर्यशक्ति) को धारण करती है। क्या ऐसे-ऐसे स्पष्ट उदाहरणों के होते हुए भी यह कहा जाएगा कि वेदों में वैज्ञानिक तत्त्वों को दयानन्द ने बलात् ठूँसने का यत्न किया है?

एक बार रा० बहादुर श्यामसुन्दरलाल ने स्वामीजी से कहा कि आप मूर्त्तिपूजा पर इतना तीव्र आक्रमण क्यों करते हैं, उसे थोड़ा-सा नम्र कर देने से भी तो कार्य चल सकता है? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यह हम भी जानते हैं कि मूर्त्तिपूजा पर आक्रमण का वेग कुछ कम करने से अनेक लोग हमारे पक्ष में आ सकते हैं और हमारे प्रति निन्दा और अत्याचार भी कुछ कम हो जाएगा, किन्तु इससे हमारे व्रत का उद्देश्य शीघ्र ही शिथिल हो जाएगा और हमारे कार्य की स्वतन्त्रता शीघ्र ही विलुप्त हो जाएगी। मूर्त्तिपूजा पर मृदु आक्रमण करने वा उससे किसी प्रकार की सन्धि करने से हमारे सिद्धान्तों की भी वही दशा होगी, जो अन्य सिद्धान्तों की हुई है और समयान्तर में आर्यसमाज पौराणिक होकर हिन्दुओं में मिल जाएगा।

स्वामीजी ने अपने एक व्याख्यान में विभिन्न धर्म-ग्रन्थों की भ्रान्तियाँ दिखाई थीं। इस प्रकरण पर कथन करते हुए उन्होंने कहा था कि बाइबिल के अनुसार सूर्य की सृष्टि चौथे दिन हुई फिर तीन दिन किस प्रकार हुए क्योंकि सूर्य के बिना

दिन का ज्ञान वा नाम कुछ भी नहीं हो सकता। इसे सुनकर एक मुसलमान मिर्जा साहब बोले कि हमारा कुरान तो स्वर्ग से उतरा है, देखिए वह कैसा शुद्ध है! क्या आप कुरान में भी कोई भ्रान्ति दिखा सकते हैं? स्वामीजी ने कहा कि आपके कुरान में लिखा है कि जो पुरुष पाँच बार नमाज पढ़ता है वह स्वर्ग में जाएगा और उसे ७० हूरें भोग के लिए मिलेंगी। जो स्त्री ५ बार नमाज पढ़ती हो वह भी स्वर्ग में जाएगी, तो क्या उसे भी ७० पुरुष मिलेंगे? जिस पुस्तक में ऐसी-ऐसी बातें हों वह ईश्वरकृत नहीं हो सकती। यह सुनकर मिर्जा साहब चुप हो गए। इसी समय स्वामीजी का नौगजेवाले पीरजी से भी शास्त्रालाप हुआ था।

स्वामीजीके आगमन से अजमेर में घोर आन्दोलन उपस्थित हो गया था। व्याख्यानों में सहस्रों मनुष्य आते थे। अजमेर के कमिश्नर, डिप्टी कमिश्नर, यूरोपियन पादरी, प्रतिष्ठित मुसलमान प्रभृति भी आते थे। गवर्नमेण्ट कॉलेज के प्रिंसिपल ने छात्रों को व्याख्यान सुनने जाने के लिए अनुमति दे दी थी। कुएँ की पनिहारियों तक में यही चर्चा रहती थी कि एक ऐसा पण्डित आया है जो सब मतों का खण्डन करता है। मुसलमान स्त्रियाँ कहती थीं कि ऐ खुदा मुसलमानों को बचा।

मसूदाधिपति राव बहादुरसिंह स्वामीजी के बड़े अनुरक्त भक्त थे। उनके अनुरोध पर स्वामीजी मसूदा को चले गए।

## मसूदा (१८७८ ई०)

मार्गशीर्ष शुक्ला ८ संवत् १९३५ वि० अर्थात् २ दिसम्बर सन् १८७८ ई० (सोमवार) को अपने भक्त राव बहादुरसिंह से निमन्त्रित होकर स्वामीजी मसूदा पधारे और रामबाग में उतरे।

डेरे पर तो नित्यप्रति स्वामीजी आगन्तुकों को उपदेश देते ही थे, व्याख्यान द्वारा भी सर्वसाधारण की धर्म पिपासा मिटाने की उन्होंने कृपा की। एक दिन स्वामीजी दुर्ग के भीतर भी गए थे। राव बहादुरसिंह के प्रेम की यह दशा थी कि वह लगभग सारे दिन ही स्वामीजी की सेवा में उपस्थित रहते थे और धर्मालाप करते रहते थे।

एक दिन रामबाग के हनुमान के मन्दिर में रियासत की अश्वशाला का अध्यक्ष शिवराम आया। उसने हनुमान की मूर्त्ति के आगे दण्डवत् की और हनुमान की स्तुति में कुछ श्लोक पढ़े। उसने स्वामीजी को प्रणाम न किया। तब सवामीजी ने उससे कहा कि तूने हनुमान के आगे हाथ जोड़े, दण्डवत् की और श्लोक भी पढ़े, परन्तु वह तुझसे बोला तक नहीं। देख हम तुझे ब्राह्मण समझकर बिना बुलाए ही तुझसे बोलते हैं और हनुमान तेरे बुलाने पर भी नहीं बोलता। वह बोला कि हनुमानजी का बोलना हम समझते हैं और लोग नहीं समझते। स्वामीजी ने कहा कि तेरे हनुमान हमसे डरते हैं जो तुझसे गुप्त बोलते हैं। इसके पश्चात् उसने कुछ न कहा।

१० दिसम्बर सन् १८७८ ई० को स्वामीजी बग्घी पर सवार होकर नसीराबाद छावनी चले गए। विदा करते समय रावसाहब ने २०० रु० स्वामीजी को भेंट किए।

## नसीराबाद (१८७८ ई०)

नार्मल स्कूल छावनी नसीराबाद के अध्यापक पं० सुखदेवप्रसाद ने जब सुना कि श्री स्वामीजी मसूदा में विराजमान हैं, तो उन्होंने स्वामीजी की सेवा में पत्र द्वारा नसीराबाद पधारने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने उसे स्वीकार किया। अत: १० दिसम्बर सन् १८७८ ई० तदनुसार पौष कृष्णा प्रतिपदा संवत् १९३५ वि० (मङ्गलवार) को स्वामीजी राव सा० मसूदा की बग्घी में नसीराबाद पधारे। दो सवार उनकी अरदली में थे। पण्डित सुखदेवप्रसाद ने उन्हें बस्ती से एक मील दूर पर भूताखेड़ी के बागीचे में ठहरा दिया और उनके विश्रामादि का प्रबन्ध करके स्वयं उनके व्याख्यान के प्रबन्ध में लग गए।

**प्रबन्ध में विघ्न**- दूसरे दिन उन्होंने व्याख्यान के स्थानादि का निश्चय करके एक विज्ञापन लिखा और उसकी कई प्रतिलिपियाँ तैयार कराकर नगर में चिपका दीं और विशेष-विशेष व्यक्तियों को भी दे दीं। व्याख्यान के लिए शोभाराम का

मन्दिर निश्चित किया था। पण्डित सुखदेवप्रसाद ने अपने स्कूल के दो अध्यापकों से व्याख्यान के प्रबन्ध में सहायक होने की अभ्यर्थना की तो उन्होंने सहायता करनी स्वीकार कर ली। व्याख्यान का समय ७ बजे सायंकाल घोषित किया गया था। पण्डित सुखदेवप्रसाद ५ बजे के पश्चात् स्वामीजी को लिवा लाने को बग्घी लेकर उनके डेरे पर गए। उन पण्डितजी के दोनों सहायकों ने उन्हें विश्वास दिला दिया था कि आपके लौटने तक हम प्रकाश और फर्श का सब प्रबन्ध कर रखेंगे। परन्तु जब वे स्वामीजी को यथा समय लिवाकर लाए तो देखा कि न वे दोनों अध्यापक ही व्याख्यान स्थल पर हैं और न प्रकाशादि का ही कुछ प्रबन्ध है। मन्दिर के एक पुजारी के कहने से उन्हें पता लगा कि उनके सहायकों ने धूर्त्तता की और कुछ भी प्रबन्ध न किया। स्वामीजी ने कुछ विरक्त होकर उनसे कहा कि तुमने यह कैसा कच्चा प्रबन्ध किया है? तब उन्होंने सारा वृत्तान्त स्वामीजी को कह सुनाया और वे स्वामीजी को बाजार में लिवा ले गए जहाँ कुछ मित्रों की सहायता से दस मिनट की दौड़धूप के पश्चात् वह व्याख्यान के लिए एक स्थान प्राप्त करने में सफल हो गए।

**जैनियों से प्रश्नोत्तर और तीन व्याख्यान**– व्याख्यान होने ही वाला था कि दो जैनियों ने स्वामीजी से कुछ प्रश्न करने आरम्भ कर दिए, परन्तु वे १५-२० मिनटों में ही अपने प्रश्नों के उत्तर पाकर शान्त हो गए। इसके पश्चात् स्वामीजी का व्याख्यान हुआ। उस दिन श्रोताओं की संख्या ६०, ७० ही थी। व्याख्यान का विषय कर्त्तव्याकर्त्तव्य था। दूसरे और तीसरे दिन भी व्याख्यान इसी विषय पर हुआ। दूसरे व्याख्यान में श्रोताओं की संख्या १५० और तीसरे में २०० तक हो गई थी। व्याख्यानों की सबने प्रशंसा की। यद्यपि व्याख्यान तीन ही हुए परन्तु उनसे ही नगर में जागृति आ गई।

पण्डित सुखदेवप्रसाद पहले मिशन स्कूल में नौकर थे। ईसाइयों के संसर्ग से उनके विचार ईसाई धर्म की ओर झुक गए थे और वे स्वयं ईसाई होने को उद्यत हो गए थे कि सौभाग्य से उन्हें अजमेर में स्वामीजी के व्याख्यानों के सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। तब उनके विचारों में एकदम परिवर्तन हो गया और वह ईसाई न हुए। इससे पादरियों ने चिढ़कर उन्हें स्कूल से अलग कर दिया। इसके पश्चात् वह कम वेतन पर नार्मल स्कूल में अध्यापक और आर्यसमाजी हो गए तथा वैदिक धर्म का उपदेश और ईसाई और मुसलमान मतों का खण्डन करने लगे।

नसीराबाद से स्वामीजी जयपुर को रवाना हो गए।

## जयपुर (१८७८ ई०)

जयपुर में स्वामीजी १५ दिसम्बर सन् १८७८ ई० तदनुसार पौष कृष्णा ६ संवत् १९३५ वि० (रविवार) को जयपुर पहुँचे और सदासुख ढढ्ढे के बाग में साँगानेर दरवाजे के बाहर उतरे। ठाकुर रघुनाथ सिंह, कनिष्ठ पुत्र ठाकुर रणजीतसिंह ने उनसे अपने बाग में चलने के लिए प्रार्थना की, परन्तु फिर उन्हींने कहा कि यही स्थान अच्छा है।

**प्रश्नोत्तर और व्याख्यान**– कुछ दिन तक तो पण्डित लोग तथा अन्य जिज्ञासु स्वामीजी के डेरे पर आकर प्रश्नोत्तर करते रहे, फिर ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी की प्रार्थना पर उन्होंने तीन व्याख्यान उनकी हवेली पर दिए। स्वामीजी के पास राज्य के दीवान और अन्य उच्च कर्मचारी तथा सरदार जागीरदार आकर धर्मोपदेश सुनते रहे।

**विद्वेषियों की धूर्त्तता**– एक दिन ब्राह्मणों ने कुछ लड़कों को बहकाकर और उन्हें कुछ प्रश्न लिखाकर स्वामीजी के पास भेजा। स्वामीजी उनकी इस धूर्त्तता को जान गए और उन लड़कों से कह दिया कि यदि यह प्रश्न तुम्हारे बनाए हुए हैं तो हमारे शिष्यों से करो और यदि तुम्हें उनसे उत्तर न मिले तो हमारे पास आना और यदि ये प्रश्न तुम्हारे गुरुओं के हैं तो उन्हें हमारे पास ले आओ हम उन्हें उत्तर देंगे।

**उपदेश पहले से भिन्न क्यों है**– कुछ लोगों ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि इस समय आपका उपदेश पहले से भिन्न क्यों है, तो स्वामीजी ने अति सरलचित्तता से कहा कि उस समय हम अज्ञ थे।

**बन्दी होने की किवदन्ती**– मेरठ के एक गुजराती ब्राह्मण ने रुड़की जाकर यह किवन्दती फैला दी कि महाराज जयपुर

ने स्वामीजी को बन्दीगृह में डाल दिया है। उसने कहा कि मेरठ में दो-चार दिन हुए एक ब्राह्मण जयपुर से आया था, वह कहता था कि यह दुर्घटना मेरी आँखों देखी है और कारण यह बतलाता था कि स्वामीजी के भाई का अभी थोड़े दिन हुए देहान्त हो गया था और स्वामीजी श्राद्धादि का खण्डन करते थे, इससे महाराजा बहुत दुःखित हुए।

**भक्तों की चिन्ता**- यह सुनकर स्वामीजी के भक्तों को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने तुरन्त एक तार अजमेर को दिया। ५, ६ घण्टे तक कोई उत्तर न आया इससे चिन्ता और बढ़ी, फिर दूसरा जवाबी तार दिया, उसका उत्तर आया कि स्वामीजी जयपुर गए हैं। इससे चिन्ता द्विगुणित हो गई। १९ दिसम्बर को स्वयं स्वामीजी को तार दिया। उसका उत्तर आया कि हम सकुशल हैं, तब कहीं जाकर भक्तजन के जी में जी आया।

श्रीप्रसाद जयपुर में एक उच्च पदस्थ राजकर्मचारी थे; श्रीप्रसाद ने स्वामीजी की बहुत सेवा शुश्रूषा की। वे महाराजा के मन्त्री ठाकुर फतहसिंहजी के मित्र थे। उन्होंने मन्त्री महोदय से कहा कि स्वामीजी से महाराजा का वार्त्तालाप कराओ। उन्होंने महाराजा से निवेदन किया कि एक बड़े विद्वान् संन्यासी जयपुर आए हुए हैं, यदि इच्छा हो तो उनसे साक्षात् कीजिए।

इससे पूर्व ही श्राद्ध, मूर्त्तिपूजा खण्डन और ब्राह्मण के बहकाने के कारण महाराजा रुष्ट हो गए थे। अत महाराजा ने उनसे कहा कि क्या तुम्हारा आशय दयानन्द से है? यदि मुझमें शक्ति है तो मैं उसे कुत्तों से फड़वा दूँगा। मन्त्री महोदय ने यह बातें श्रीप्रसाद से कहीं और उन्होंने स्वामीजी की सेवा में आकर प्रार्थना की कि स्वामीजी! ऐसी अवस्था में आपका जयपुर में रहना उचित नहीं है, परन्तु स्वामीजी ने निर्भीकभाव से कहा कि तुम राजा के नौकर हो तुम उसकी आज्ञा मानो हम उसके नौकर नहीं है। इसके पश्चात् वे ९ दिन जयपुर और ठहरे[५६४] और यथापूर्व निर्भय होकर सत्सङ्गियों को सत्यधर्म का उपदेश करते रहे।

श्रीप्रसाद के शत्रुओं ने महाराजा से जाकर कहना आरम्भ किया कि श्रीप्रसाद दयानन्द के पास रात्रि को जाता है और उसी ने आपकी इच्छा के विरुद्ध दयानन्द को जयपुर से नहीं जाने दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि महाराजा ने किसी मिष से श्रीप्रसाद को कारागार में डलवा दिया।

२४ दिसम्बर को स्वामीजी ने प्रस्थान किया और २५ दिसम्बर को रिवाड़ी जा विराजे।

## रिवाड़ी (१८७८-७९ ई०)

जब स्वामीजी दिल्ली के दरबार में पधारे थे तो वहाँ रिवाड़ी के प्रमुख जमींदार राव युधिष्ठिरसिंह जी भी गए थे। राव महोदय बहुधा स्वामीजी की सेवा में जाया करते थे और उनके उपदेशों को सुनकर आह्लादित होते थे। वह स्वामीजी के प्रति इतने अनुरक्त हो गए थे कि उन्होंने स्वामीजी से रिवाड़ी पधारकर उन्हें सदुपदेश देने की विनयपुरस्सर प्रार्थना की। स्वामीजी ने भी परम दयालुता से यह वचन दिया कि यदि हम वैदिक धर्म में आपकी निष्ठा देखेंगे तो रिवाड़ी आवेंगे। इसके पश्चात् रावसाहब स्वामीजी से पत्र द्वारा रिवाड़ी पधारने के लिए अनुरोध करते रहे। इसलिए स्वामीजी ने वैदिकधर्म में उनकी श्रद्धा देखकर जयपुर से लौटते हुए रिवाड़ी पधारने की कृपा की।

**रावसाहब का आतिथ्य, ११ व्याख्यान**- रावसाहब ने स्वामीजी का अत्यन्त सम्मान, प्रेम और श्रद्धा से स्वागत किया और उन्हें नगर से बाहर लाला की बारहदरी नामक अपने उद्यानगृह में ठहराया। स्वामीजी ने रिवाड़ी में ११ व्याख्यान मूर्त्तिपूजा व मृतक पितृश्राद्ध खण्डन, वैदिक मुक्ति, वेदों का और गायत्री का सबको अधिकार है, नियोग, पुनर्विवाह आदि

---

५६४- इस बार स्वामीजी केवल ९ दिन जयपुर रहे थे। यहाँ के लेख से यह प्रतीत होता है उपर्युक्त घटना जयपुर में कई दिन रहने के पश्चात् घटी है। इस जीवन चरित्र के अनुसार भी स्वामीजी १५ से २४ दिसम्बर तक रहे थे। अतः सम्भव है कि यह घटना किसी अन्य वार जयपुर आने की होगी। - *संग्रहकर्त्ता*

विषयों पर दिए, जिनमें सैकड़ों मनुष्य उपस्थित होते थे। रावसाहब ने अपने बन्धुवर्गों और जाति के लोगों को दूर-दूर से स्वामीजी के उपदेश श्रवणार्थ बुलाया था।

**रावसाहब की वैदिक-धर्म में निष्ठा**- रावसाहब ने एक दिन स्वामीजी को अपने गृह पर भी निमन्त्रित किया था और वे तथा उनके भ्राता सच्चे हृदय से वैदिक धर्म के अनुयायी बन गए थे। यहाँ तक कि जब उनकी माता का देहान्त हुआ तो उन्होंने उसका अन्त्येष्टि संस्कार वैदिक रीत्यनुसार कराया और अपने अन्त्येष्टि संस्कार के विषय में भी मरते समय यह वसीयत की कि वैदिक-रीत्यनुसार किया जाए। उनका देहान्त सन् १८८९ ई० में हुआ, परन्तु उनके उत्तराधिकारियों ने उनकी वसीयत के अनुकूल कार्य नहीं किया।

**गायत्री के जाप से पाप होता है, पाप हमारा और पुण्य तुम्हारा**- एक व्यक्ति ने स्वामीजी से गायत्री मन्त्र सीखा था और स्वामीजी ने स्वयं उसका उच्चारण शुद्ध कराया था। ब्राह्मणों ने कहा कि यह ब्रह्मगायत्री नहीं है और ब्राह्मणों के अतिरिक्त दूसरे को गायत्री मन्त्र के जाप से पाप होता है। उसने यह बात स्वामीजी से कही तो आपने कहा कि जो हमारी दी हुई गायत्री को ब्रह्मागायत्री नहीं बताते उन्हें हमारे सामने लाओ और गायत्री जाप से यदि तुम्हें पाप होगा तो वह हमारा और जो पुण्य होगा तो वह तुम्हारा।

**वेदान्ती साधु निरुत्तर**- एक दिन एक नवीन वेदान्ती साधु स्वामीजी के पास आया और कहने लगा कि मैं ब्रह्म हूँ। स्वामीजी पहले तो चुप रहे फिर उससे कहा कि परमेश्वर ने सूर्य, चन्द्र, पृथिव्यादि को बनाया है, यदि तू ब्रह्म है तो एक हाथ भर भूमि आकाश में अधर रचकर दिखा दे तो हम तुझे ब्रह्म मान लेंगे। इसे सुनकर जो लोग स्वामीजी के पास बैठे थे, हँस पड़े और साधु निरुत्तर होकर चला गया।

**चार प्रकार के मनुष्य**- स्वामीजी ने एक व्याख्यान में कहा था कि जगत् में चार प्रकार के मनुष्य हैं। श्रोताओं में से एक मनुष्य पण्डित लेखराम से मिला था तो उसे चार में से दो प्रकार का ही स्मरण था। एक प्रकार के मनुष्य बकरी के समान हैं जो जल पीती है, परन्तु उसे गन्दा नहीं करती, दूसरे भैंस के समान हैं, जो उसी जल में मूतती भी है, जिसे वह पीती है और उसे गन्दा और गदला करती है।

**अभी जाकर पढ़ो**- एक पण्डित को, जो मेरठ में स्वामीजी से वार्त्तालाप कर चुका था, देखकर स्वामीजी ने उससे कहा कि तुम भी पण्डितों में पैर अड़ाने के लिए आए हो ताकि लोगों को यह ज्ञात हो जाए कि तुम हमसे संस्कृत बोलने आए हो, तुम अभी जाकर पढ़ो।

**शास्त्रार्थ करने कोई न आया**- रिवाड़ी के पण्डितों ने स्वामीजी को पत्र लिखा कि आप हनुमान के मन्दिर में आकर हमसे शास्त्रार्थ कर लें, स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हमारे निवास-स्थान पर ही आकर बातचीत कर लो, परन्तु कोई न आया। किसी पौराणिक पण्डित को उनके सामने आकर शास्त्रार्थ करने का साहस ही न हुआ।

स्वामीजी ने ९ जनवरी, १८७९ ई० को रिवाड़ी से प्रस्थान किया और उसी दिन दिल्ली पहुँच गए।

## दिल्ली (१८७९ ई०)

दिल्ली में स्वामीजी ९ जनवरी, १८७९ ई० तदनुसार माघ कृष्णा प्रतिपदा संवत् १९३५ वि० (गुरुवार) को आकर काबुली दरवाजे सब्जीमण्डी के पास बालमुकुन्द किशोरचन्द के बाग में ठहरे। इस बार आपके दो वा तीन ही व्याख्यान दिल्ली में हुए और आप केवल ६ दिन ही वहाँ ठहरे। पश्चात् वे दिल्ली से १६ जनवरी, १८७९ ई० को मेरठ पहुँच गए। आगे मेरठ से स्वामीजी संवत् १९३६ वि० के कुम्भ मेले में प्रचार करने के उद्देश्य से हरिद्वार चले गए।

**हरिद्वार**- संवत् १९३६ वि० के कुम्भ पर प्रचार करने का स्वामीजी ने पहले से ही प्रबन्ध कर लिया था। माघ वदी अमावस्या संवत् १९३५ वि० अर्थात् २२ जनवरी सन् १८७९ ई० को ही उन्होंने कई सहस्र प्रतियाँ एक विज्ञापन की मेरठ

में ही छपवा ली थीं और हरिद्वार में अपने ठहरने का स्थान भी पहले से ही निश्चित कर लिया था। इस प्रकार सब प्रबन्ध करके स्वामीजी ने मेरठ से हरिद्वार के लिए प्रस्थान किया। पहले वे सहारनपुर पहुँचे और कन्हैयालाल के शिवालय में उतरे। सहारनपुर वे केवल दो दिन ही ठहरे और दो व्याख्यान देकर एवं जो लोग आए उनसे धर्मालाप करके वे रुड़की चले गए। रुड़की में एक ही दिन रहकर [५६५] फाल्गुन कृष्णा १४ अर्थात् २० फरवरी सन् १८७९ ई० (गुरुवार) को वे ज्वालापुर पहुँचे जहाँ उन्होंने मूला मिस्त्री के उद्यान-गृह में अपना आसन जमाया।

## ज्वालापुर (१८७९ ई०)

स्वामीजी का ज्वालापुर पहुँचना था कि लोग दर्शन और उपदेश-श्रवण के लिए उनके पास आने लगे।

**गोभक्षक से गोरक्षक**- एक मुसलमान रईस राव एवजखाँ उनसे कई बार मिले और जो प्रश्न उनसे किए उनका उनसे युक्तिसङ्गत उत्तर पाकर वे बहुत सन्तुष्ट हुए। एक दिन राव एवजखाँ से स्वामीजी की गोरक्षा पर बातचीत हुई और उसकी उपयोगिता अपनी ऐसी अच्छी युक्तियों से प्रतिपादित की कि राव महोदय ने उसे निःसङ्कोचभाव से स्वीकार कर लिया और माँसाहार का परित्यगा करके मुसलमानों में गोरक्षा के प्रचार की प्रतिज्ञा कर ली।

**नित्य स्नान करना स्वास्थ्यप्रद है**- एवजखाँ ने एक दिन यह आपत्ति उठाई कि हिन्दुओं ने नित्यप्रति स्नान का नियम क्योंकर रक्खा है? इसका स्वामीजी ने यह उत्तर दिया कि ऐसा करना स्वास्थ्य के लिए बहुत हितकर है। एवजखाँ हकीम भी थे, अतः वे स्वामीजी की बात को मान गए।

## हरिद्वार (१८७९ ई०)

ज्वालापुर में स्वामीजी की २७ फरवरी, १८७९ ई० अर्थात् फाल्गुन शुक्ला ६ संवत् १९३५ वि० (गुरुवार) तक स्थिति रही। उसी दिन से वे मूला मिस्त्री के खेत में जो हरिद्वार में श्रवणानाथ के बाग के और निर्मलों की छावनी के समाने बुचानाले के पार है, डेरे लगाकर और आगन्तुकों के विश्राम के लिए छप्परों का कैम्प डालकर रहने लगे। वहीं पास में ही साहब कलेक्टर सहारनपुर का भी डेरा था।

**विज्ञापन**- हरिद्वार में पहुँचते ही स्वामीजी अपने आगमन की सूचना देने के लिए जो विज्ञापन मेरठ से छपाकर अपने साथ लाए थे उसे उन्होंने मार्गों, मन्दिरों, घाटों और पुलों पर लगवा दिया। विज्ञापन में लिखा था कि स्वामी दयानन्द सरस्वती उपर्युक्त स्थान पर ठहरे हैं, जो महाशय उनके सम्भाषण से लाभ उठाना चाहें वे उक्त स्थान पर उपस्थित होकर सभ्यता से और प्रीतिपूर्वक वार्त्तालाप करें। इसके आगे विज्ञापन में निम्नलिखित उपदेश था-

## *सब मनुष्यों के लिए वेदोक्त उपदेश*

ऐसा कौन मनुष्य होगा जो अपना, अपने बन्धुओं का हित और परमेश्वर की आज्ञा का पालन करना न चाहे। क्या कोई ऐसा भी मनुष्य है, जो परस्पर मित्रता, सदुपदेश, प्रीति, धर्मानुष्ठान, विद्या की बुद्धि, दुष्टकर्म और आलस्य के त्याग, श्रेष्ठ कामों के सेवन, परोपकार और पुरुषार्थ के बिना सर्वहित कर सके और ईश्वर प्रतिपादित वेदों के अनुसार आचरण किए बिना सुख को प्राप्त हो सके। इसलिए आर्यों के इस महा समुदाय में वेदमन्त्रों के द्वारा सब सज्जन मनुष्यों के हित के लिए ईश्वर की आज्ञा का प्रकाश संक्षेप से किया जाता है जिसको सब मनुष्य देख, सुन और विचार कर ग्रहण करें और इस मेले

---

५६५- यहाँ 'सहारनपुर में दो दिन और रुड़की में एक ही दिन ठहरे' ऐसा लिखा है वह अशुद्ध है। माघ शुक्ला दशमी अर्थात् २ फरवरी, १८७९ ई० के सहारनपुर से लिखे गए पत्र में ऋषि ने लिखा था कि 'यहाँ सहारनपुर से ता० ६ फरवरी को रुड़की को जाके वहाँ ८ वा १५ दिन रह कर हरिद्वार जाके .... । पत्र-व्यवहार पृष्ठ १४३। यद्यपि पत्र से सहारनपुर पहुँचने की तिथि का ज्ञान नहीं होता है तथापि इतना स्पष्ट है कि वे वहाँ ५, ६ दिन ठहरे थे। जीवन चरित्र में २० फरवरी को ज्वालापुर पहुँचने का उल्लेख है अतः स्वामीजी ७-२० फरवरी तक रुड़की रहे थे, यह निश्चित है।

में तन, मन और धन से आने के सत्य सुखरूप फलों को प्राप्त हों और अपने मनुष्य देहरूप वृक्ष के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चारों फलों को पाकर जन्म सफल करें और अपने सहचारी लोगों को भी उक्त फलों की प्राप्ति करावें। इस विषय में नीचे लिखे वेदमन्त्रों का प्रमाण देख लीजिए–

*ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव।। –ऋग्वेद (५/८२/५)*

*उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।*
*अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ।। –ऋग्वेद (१०/७१/५)*

*यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।।*
*यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ।। –ऋग्वेद (१०/७१/६)*

*सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।*
*किल्विषस्पृत्पितुषणिह्येषामरं हितो भवित वाजिनाय ।। –ऋग्वेद (१०/७१/१०)*

*सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।*
*अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ।। –ऋग्वेद (१०/७१/२)*

*सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।*
*तेजस्विनाधीतमस्तु मा विद्विषावहै।। तैत्तिरीयारण्यक प्र० ९। अनु० १।*

इसके पश्चात् उक्त मन्त्रों के अर्थ हैं, जिन्हें हम संक्षिप्तरूप में यहाँ देते हैं–

"हे सर्वसुखदाता, जगत् के सृष्टा और धारण करने वाले परमेश्वर! हमारे सब दुष्ट कर्मों और दुःखों को दूर कीजिए और शुभ कर्म और नित्य सुख को हमें प्राप्त कराइए।

जिस मनुष्य को विद्वान् लोग अज्ञानी कहते हैं वह साधनरूप पुष्पों और अर्थ, काम, मोक्षरूप फलों से रहित तथा सुशिक्षा, शब्द–अर्थ और सम्बन्ध के बोध से रहित वाणी को सुनकर और छल कपट आदि दुष्कर्मों से युक्त होकर चलता है। उसे विद्वान् लोग दृढ़ विद्यायुक्त करके और श्रेष्ठ कर्मयुक्त करके बढ़ाते और मित्रता के लिए प्राप्त करते हैं।

जो मनुष्य सबसे प्रेम करके सुख देने वाले मित्रों को छोड़ देता है उसका सुशिक्षित विद्या की वाणी में कोई भाग नहीं होता, जो कुछ वह सुनता है वह अर्थ प्रयोजन रहित सुनता है, वह धर्म के मार्ग को नहीं जानता।

जो मनुष्य विद्यादि की प्राप्ति करने कराने के लिए पाप या स्वार्थ करता है वह सुख नहीं पाता और जो अत्यन्त हितकारी, कीर्त्तिमान, सभा का भार उठानेवाले और उसकी उन्नति करनेवाले, सबसे प्राप्त होने योग्य मित्रों से मित्रता करते हैं, वे सब सुखी होते हैं।

जैसे सत्तू को चलनी से छानकर साफ करते हैं, ऐसे ही धार्मिक विद्वान् विज्ञान से वाणी को सुशिक्षित और विद्या–युक्त करने वाले, सुहृद्भाव से युक्त होकर, मित्रों के कर्मों और भावों को जानने वाले जिस देश, समुदाय वा सभा में होते हैं, उनकी ही वाणी में कल्याण और सुख करने वाली विद्या, शोभा, चक्रवर्ती राज्य की श्री सदा स्थित रहती है।

इसलिए हमें चाहिए कि हम एक–दूसरे की रक्षा करते, एक–दूसरे के साथ आनन्द भोगते, एक–दूसरे के बल पराक्रम को बढ़ाते रहें, हम में विद्या का पठन–पाठन अत्यन्त प्रकाशयुक्त हो और हम लोग आपस में बैर विरोध कभी न करें।"

इसके आगे यह बतलाया था कि प्राचीनकाल में आर्यावर्त्त की उन्नति का कारण वेदोक्त धर्म पर चलना था और इस समय की अवनति का कारण वेदोक्त धर्म का त्याग है। जिसका फल दुःख हो वह कभी धर्म और जिसका फल सुख हो वह कभी अधर्म नहीं हो सकता। अब भी यदि उन्नति हो सकती है तो उन्हीं कामों से हो सकती है, जिन्हें आर्यसमाज

के सभासद् करना-कराना चाहते हैं, अर्थात् संस्कृतविद्या के जानने वाले, स्वदेशियों की बढ़ती के अभिलाषी, परोपकारक, निष्कपट होके सत्यविद्या देने की इच्छायुक्त, धार्मिक, विद्वानों की उपदेशक मण्डली बना और वेदादि सत्य शास्त्रों के पढ़ाने के लिए पाठशाला स्थापित करना। आशा है कि इस बात को सुनकर सब भद्र लोग स्वीकार करके आर्योन्नति करने में तन, मन धन से प्रवृत्त होंगे।[५६६]

**मेले में स्वामीजी के आगमन की धूम मच गई**- इस विज्ञापन के प्रचारित होते ही सारे मेले में स्वामीजी के आगमन की धूम मच गई और शतशः सहस्रशः लोग उनके स्थान पर धर्मोपदेश सुनने और शङ्का-समाधान करने आने लगे। कोई प्रेमभाव से आते तो कोई द्वेषभाव से, कोई केवल दर्शन करने के लिए ही आते कि देखें दयानन्द, जो मूर्त्तिपूजादि परम्परागत बातों का खण्डन करता है, रङ्ग-ढङ्ग में, डील-डौल में, बोल-चाल में कैसा है? कोई-कोई ऐसे भी महानुभाव थे जो दयानन्द को नास्तिक कहकर उनका मुख देखना भी पाप समझते थे या कम से कम अपने को परम धार्मिक प्रसिद्ध करने के अभिप्राय से ऐसा प्रसिद्ध करते थे। पौराणिक पण्डितों को शास्त्रार्थ से बचने का यह सुलभ उपाय हाथ आ गया था। ऐसे लोग न स्वयं आते और न दूसरों को आने का परामर्श देते। इसमें यह रहस्य भी था कि कहीं ऐसा न हो कि उनका कोई शिष्य दयानन्द का उपदेश सुनकर उनके जाल से निकल जावे।

**व्याख्यानों में भीड़ का कुछ ठिकाना न रहता था**- स्वामीजी प्रातःकृत्य से निवृत्त होकर प्रातःकाल के सात बजे सभामञ्च पर विराजमान हो जाते थे और साधु संन्यासी तथा गृहस्थ सैकड़ों की संख्या में उपस्थित होकर विविध विषयों पर प्रश्न करके और उनके उत्तर पाकर सन्तुष्ट होकर चले जाते थे। ये प्रश्नोत्तर ग्यारह और कभी-कभी बारह बजे तक होते रहते थे। उसके पश्चात् स्वामीजी स्नान करते और भोजन पाते थे और थोड़ी देर विश्राम करके १ बजे फिर मञ्च पर आ विराजते और व्याख्यान देना आरम्भ कर देते थे। इस समय भीड़ का कुछ ठिकाना न रहता था, सभास्थल में तिल धरने की जगह भी न रहती थी। व्याख्यान इतने मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद होते थे कि लोग अन्त तक डटे रहते और दत्तचित्त होकर सुनते रहते थे। व्याख्यान की समाप्ति पर यदि कोई कुछ शङ्का करता तो स्वामीजी उसका समाधान करते थे। ५ बजे सभा विसर्जित हो जाती थी। केवल दो घण्टे का अवकाश लेकर ७ बजे स्वामीजी फिर उपदेश कार्य में लग जाते थे। इस समय बहुधा आर्यसामाजिक पुरुष ही एकत्र होते थे। कभी-कभी आपस में ही किसी विषय पर शास्त्रार्थ छिड़ जाता था। लोग पक्ष-विपक्ष में बैठ जाते थे और स्वामीजी मध्यस्थ का आसन ग्रहण कर लेते थे। ९ बजे तक शास्त्रार्थ और धर्मालाप होता रहता था, फिर सब लोग विश्राम के लिए अपने-अपने डेरों पर चले जाते थे। रात्रि में स्वामीजी थोड़ी देर के लिए सोया करते थे। शेष समय योगाभ्यास और भगवद्भजन में ही व्यय करते थे। मेले के अन्त तक स्वामीजी के उपदेश का यही क्रम रहा।

**निरन्तर परिश्रम का फल**- इस निरन्तर परिश्रम का यह परिणाम हुआ कि मेले की समाप्ति से पहले ही स्वामीजी को दस्तों के रोग ने आ दबाया, परन्तु उन्होंने उपदेश कार्य में कोई विघ्न न पड़ने दिया। इस रोग ने स्वामीजी को मार्च के तीसरे सप्ताह से ही कष्ट देना आरम्भ कर दिया था और प्रतिदिन १०-१२ दस्त तक आने लगे थे जिससे स्वामीजी का शरीर बहुत निर्बल हो गया था।

**कर्नल और मैडम का भारत में आगमन**- अमेरिका से कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेटस्की १५ फरवरी को ही मुम्बई पहुँच गए थे और ये लोग स्वामीजी के दर्शनों के लिए उत्सुक थे। स्वामीजी भी उनसे शीघ्र मिलना चाहते थे, परन्तु वे मेले

---

५६६- यह पूरा विज्ञापन ऋषि दयानन्द के पत्र व्यवहार में पृष्ठ १३८-१४२ तक छपा है। पं० लेखराम कृत जीवनचरित में पृष्ठ ६१६-६१८ तक देवनागरी अक्षरों में छपा है। पत्र व्यवहार में अन्तिम २ श्लोक में 'माघमासि सिते दले' पाठ छपा है वह अशुद्ध है वहाँ ''माघमासासितेदले'' पाठ चाहिए। ऐसा ही लेखरामकृत जीवनचरित में छपा है। - *संग्रहकर्त्ता*

की समाप्ति से पूर्व अपने उपदेश कार्य को न छोड़ सकते थे और रुग्ण हो जाने के कारण मुम्बई में जाकर उनसे मिल भी न सकते थे। अत: वे स्वयं कर्नल और मैडम को भी हरिद्वार से लिखते रहते थे और सान्तवना देते रहते थे तथा अन्य पुरुषों को भी लिखते रहते थे कि उन्हें विश्वास दिला दें कि हमारे शरीर की दशा अच्छी होने पर हम मुम्बई पहुँचकर उनसे अवश्य मिलेंगे।

**मेले में जनसंख्या कम थी, देहरादून जाने का सङ्कल्प**– इस बार कुम्भ पर पूर्व कुम्भों की अपेक्षा से जन–संघट कम था। २७ मार्च के एक पत्र[५६७] में स्वामीजी इसका दो लाख होने का अनुमान किया था, उसमें भी साधु, संन्यासी, बैरागी आदि ही अधिक थे, गृहस्थ कम ही थे। अत: स्वामीजी ने हरिद्वार से ही देहरादून जाने का सङ्कल्प कर लिया था। उन्हें आशा थी कि वहाँ के जलवायु से उनके स्वास्थ्य को भी लाभ होगा। इसके अतिरिक्त वे पण्डित कृपाराम को देहरादून पधारने का वचन भी दे चुके थे।[५६८]

**विशेष घटनाएँ**– अब हम कुछ विशेष घटनाओं का उल्लेख करते हैं जो हरिद्वार में हुई थीं। इन घटनाओं में पाठक पूर्वापर सम्बन्ध की आशा न रखें, क्योंकि उस समय उनका कोई लिखित विवरण नहीं रखा गया था। जो कुछ घटनाएँ लोगों से सुनकर ज्ञात हुई वही यहाँ अङ्कित की जाती हैं–

**मुसलमान बड़े बुतपरस्त**– एक दिन एक जन मुसलमान उमैदखाँ नामी ने मूला मिस्त्री के पुत्र दुर्गादत्त से कहा कि तुम बड़े बुतपरस्त हो। स्वामीजी ने इस पर उससे कहा कि यह छोटा बुतपरस्त है, परन्तु तुम बड़े बुतपरस्त हो जो तूर के पहाड़–आदम के चरणवाले पहाड़ को पूजते, सङ्गे अस्वद को चूमते, ताजिये को मानते और कब्रों से मुरादें (मनोरथ) माँगते हो।

**मुसलमान को आर्य बनाना**– एक दिन इसी उमैदखाँ और एक अन्य मुसलमान ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि हमने सुना है कि आप मुसलमानों को भी आर्य बना लेते हैं। उन्होंने उत्तर दिया कि हाँ, हम वास्तव में आर्य बना लेते हैं। आर्य के अर्थ श्रेष्ठ और सत्य मार्ग पर चलने वाले के हैं, अत: जब आप सत्य–धर्म को ग्रहण करेंगे तो आप आर्य हो जाएँगे।

**झूठा खाना निषिद्ध है**– उमैदखाँ बोले कि फिर आप हमारे साथ मिलकर खाएँगे वा नहीं? इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हमारे यहाँ झूठा खाने का निषेध है, हम एक–दूसरे के साथ एक जगह नहीं खा सकते। यवन प्रश्न–कर्त्ताओं ने कहा कि साथ खाने से प्रेम बढ़ता है, स्वामीजी ने कहा कि कुत्ते भी तो एक जगह मिलकर खाते हैं, परन्तु खाते–खाते ही आपस में लड़ने लगते हैं। इस पर वे चुप हो गए।

**एक जाट की कहानी**– स्वामीजी ने एक दिन यह कहानी सुनाई थी। एक जाट ने एक गुरु कर लिया। उसकी स्त्री ने कहा कि तूने बहुत बुरा किया, दो धड़ी अन्न का व्यर्थ व्यय बढ़ा लिया। जाट ने उत्तर दिया कि मुझे तो तू भी प्यारी है और लड़के भी प्यारे हैं और परिवार के अन्य लोग भी प्यारे हैं, इसलिए मैं उनमें से तो किसी की सौगन्ध खा नहीं सकता। मैंने तो सौगन्ध खाने के लिए गुरु किया है, तू दो चार धड़ी अन्न की चिन्ता मत कर। ( एक धड़ी पाँच सेर = लगभग पौने पाँच किलो की होती है। )

**शास्त्रार्थ से पराङ्मुख**– सतुवा स्वामी की विद्वता की बड़ी प्रसिद्धि थी। वे केवल सत्तु खाया करते थे। इसी से उन्हें लोग सतुवा स्वामी कहा करते थे। स्वामीजी ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिए आहूत किया तो उन्होंने कहा कि दयानन्द नास्तिक है मैं उसके दर्शन करना नहीं चाहता। स्वामीजी ने इसके उत्तर में कहला भेजा कि यदि वे मेरे दर्शन नहीं करना चाहते तो बीच में पर्दा डाल कर शास्त्रार्थ कर लें, परन्तु वे राजी न हुए। एक बार पहले भी जब स्वामीजी सन् १८७८ ई० में रुड़की में थे तब लोगों ने इन्हीं सतुवा स्वामी को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने को कहा था तब भी उन्होंने ऐसा ही कहा था और स्वामीजी

५६७– देखो ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार पृष्ठ १४८।

५६८– देखो ऋषि का पत्र व्यवहार पत्र संख्या ९६, पृष्ठ १४३। – *संग्रहकर्त्ता*

ने यही प्रस्ताव किया था तब भी वे शास्त्रार्थ करने पर उद्यत न हुए थे।

**तुम लकड़-पन्थी हो**- एक दिन कुछ निर्मले साधु झण्डा लिए हुए और उसको चँवर करते हुए आए। स्वामीजी ने उनसे कहा कि तुम लोग लकड़-पन्थी हो। यदि तुम में कोई वृद्ध पुरुष हो तो उसकी सेवा करो, इस प्रकार अविद्या के जाल में मत फँसो।

**अँग्रेज भारत में पहले आते तो क्या देखते?**- एक दिन कुछ अँग्रेज भी स्वामीजी के पास आए। स्वामीजी ने उनसे कहा कि आप लोग भारत की अवनति और फूट के समय में यहाँ आए हैं, यदि उसकी उन्नति के समय में यहाँ आते तो देखते कि यहाँ कैसे-कैसे शूरवीर और योद्धा विद्यमान थे और आप उनकी विद्या और बल की प्रशंसा करते।

**शरीर पर मिट्टी क्यों लगाते हो**- किसी ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि आप शरीर पर मुलतानी मिट्टी क्यों लगाते हो, तो उन्होंने उत्तर दिया कि जो कोई मक्खी हमें काटे तो उसके मुँह में मिट्टी ही जाए।

**बूढ़े ब्राह्मण का क्रोध**- एक दिन स्वामीजी का व्याख्यान सुनते-सुनते ज्वालापुर निवासी एक बूढ़े ब्राह्मण को इतना क्रोध आया कि वह खड़ा हो गया और कहने लगा- स्वामी! जी में आता है कि तेरा गला काट डालूँ और फिर अपना भी काट लूँ, तूने हमें बहुत हानि पहुँचाई है, हमारी जीविका मार दी है। स्वामीजी ने कहा कि कोई है जो इसे हटा दे। इस पर पहरेदार ने उसे हटा दिया और लोग भी उसकी ओर दौड़े परन्तु स्वामीजी ने कहा कि इतने प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं है, वह मुझसे बलवान् नहीं है, जो मुझे उससे कुछ भय हो। केवल इतनी बात है कि वह व्याख्यान में विघ्न न डाले।

**दो दण्डधारी साधु**- एक दिन दो साधु दण्डधारी आए। उनमें से एक से स्वामीजी परिचित थे। उससे उन्होंने कहा कि अरे आत्मानन्द! तूने यह दण्ड-पाखण्ड अभी तक नहीं छोड़ा। मैं तो इसे बहुत दिन तक लिए फिरता रहा, परन्तु कुछ लाभ न हुआ।

**उदासी साधु की बकवाद**- एक दिन कुछ निर्मले साधु एक प्रसिद्ध उदासी साधु को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए लाए। वह बहुत देर तक बकता-झकता रहा। अन्त में उसने कहा मेरा तो परमेश्वर में विश्वास ही हट गया है, मुझे तो कोई बात माननी ही नहीं। इस प्रकार बकवाद करके वह चला गया।

**विधवाओं और गौओं की हाय से देश नष्ट हो गया**- एक दिन स्वामीजी बैठे हुए थे कि सहसा लेट गए। लोगों को इस पर बहुत आश्चर्य हुआ। थोड़ी देर पश्चात् स्वामीजी उठे और दीर्घ श्वास खींचकर कहा कि विधवाओं और गौओं की हाय से यह देश नष्ट हो गया है।

**जटाधारी नागा**- एक दिन एक जटाधारी नागा साधु आया और स्वामीजी से बोला कि मैं आपसे पढ़ूँगा। स्वामीजी ने उससे कहा कि हमें तुम्हें पढ़ाने का अवकाश नहीं है, परन्तु वह फिर भी वहीं बैठ गया और वहीं रहा।

**बहिष्कृत आर्यसमाजी**- एक दिन एक २० वर्ष का नवयुवक स्वामीजी के पास आया और श्रीचरणों की वन्दना कर कहने लगा कि मुझे आर्यसमाज अमृतसर ने निकाल दिया है। कारण पूछने पर उसने कहा कि मुझ पर पुस्तकें चुराने का दोष आरोपित किया गया था। तब स्वामीजी ने उससे पूछा कि वह सत्य था वा मिथ्या? उसने स्पष्ट कह दिया कि दोष तो सत्य था, परन्तु मुझे हार्दिक पश्चाताप है और मैं चाहता हूँ कि मुझे फिर से आर्यसमाज में ले लिया जाए। स्वामीजी ने यह देखकर कि वह हृदय से अपने किए पर लज्जित है उसका अपराध क्षमा कर दिया और लाला रामशरणदास रईस मेरठ से कहा किया कि आर्यसमाज अमृतसर को लिख दो कि इसका अपराध हमने क्षमा कर दिया है इसे पुनः आर्यसमाज में प्रविष्ट कर लें।

**प्रारब्ध कैसे पूरा होगा**- कहते हैं कि इस प्रश्न के उत्तर में कि यदि कोई मनुष्य किसी को उस आयु के पूरा होने से पहले ही जो प्रारब्ध से नियत है मार डाले तो वह प्रारब्ध कहाँ रहा, स्वामीजी ने कहा था कि वह फिर देह धारण करके शेष आयु भोगेगा।

**उपर्युक्त की आलोचना**– हमें सन्देह है कि स्वामीजी ने ऐसा कहा होगा। स्वामीजी के ग्रन्थों से यह पता नहीं चलता कि वे यह मानते थे कि प्रत्येक मनुष्य की आयु नियत होती है जो घट–बढ़ नहीं सकती। वे यह मानते थे कि ब्रह्मचर्य तथा स्वास्थ्य के नियमों के पालन और योगाभ्यास से मनुष्य की आयु बढ़ सकती है और तद्विपरीत कार्यों से घट भी सकती है। मनुष्य की आयु साधारणतया १०० वर्ष की वेद में कही गई है, परन्तु उक्त नियमों के पालन से १०० से भी अधिक की हो सकती है जैसे कि सन्ध्या के *'तच्चक्षुर्देवहितम्'* आदि मन्त्र से स्पष्ट है। हमें इस घटना के वर्णन करने वाले का स्मृति–विभ्रम प्रतीत होता है।

**अचारज के पुत्र के प्रश्न**– एक दिन कुछ ब्राह्मणों ने एक अचारज के पुत्र को जो अभी लड़का ही था धर्मचर्चा करने के लिए स्वामीजी के पास भेजा, उसने जाकरधर्म विषय में उनसे कुछ पूछा। तब स्वामीजी ने उससे कहा कि अरे लड़के! तू क्यों पूछता है? जो वृद्ध हैं वे आकर पूछें। उसने कहा कि सब पण्डितों की मेरे लिए यही आज्ञा है। तब स्वामीजी ने कहा कि अच्छा भाई पूछ क्या पूछता है? उसने कहा धर्म किसे कहते हैं? स्वामीजी ने कहा कि वेदविहित कर्त्तव्य को धर्म कहते हैं। इस पर उसने *'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्'* तथा दो और वाक्य बोले। उन्हें सुनकर स्वामीजी हँस पड़े और पूछा कि यह किस वेद का वाक्य है तो उस युवक ने कहा कि अथर्ववेद का। तब स्वामीजी ने अथर्ववेद मँगाकर उसे देना चाहा कि इसमें से वह वाक्य निकाले, परन्तु उसने कहा कि मैं आपके पुस्तक को स्पर्श नहीं कर सकता। इस पर स्वामीजी ने समय नष्ट करना उचित न समझकर उसे फटकार दिया और वह तथा उसके साथी वहाँ से चले आए। वास्तव में उसने अथर्ववेद के पहले कभी दर्शन तक नहीं किए थे। यह बात उसने पं० लेखराम से स्वीकार की थी कि मैंने अथर्ववेद देखा तक नहीं है।

**दो नागे**– एक दिन निरञ्जनी अखाड़े के दो नागे स्वामीजी के पास आकर कहने लगे कि हम आपके पास रहकर पढ़ना चाहते हैं। महाराज ने कहा कि हमारे साथ रहकर तुम्हारा पढ़ना नहीं हो सकता है। स्वामी शङ्कराचार्य के साथ जैनी उनके शिष्य बनकर रहते थे। उन्होंने ही स्वामी शङ्कराचार्य को भोजन में विष देकर मार डाला था। इन्हीं नागों से स्वामीजी ने कढ़ी बनाने की विधि भी पूछी थी। स्वामीजी पाक क्रिया में स्वयं भी सिद्धहस्त थे। उन्हें विचित्र जड़ी बूटी और मसाले ज्ञात थे, जो दाल शाकादि को अत्यन्त स्वादिष्ट बना देते थे। स्वामीजी ने वह विधि उनसे लिख भी ली थी। नागों की कढ़ी प्रसिद्ध है, कहते हैं कि वह कई–कई मास रखी रहने पर भी नहीं बिगड़ती।

**दो और नागे**– एक दिन उसी अखाड़े दो और नागे आए और बड़ी असभ्यता के साथ स्वामीजी से बातें करने लगे, परन्तु स्वामीजी की त्यौरी पर बल तक न आया। वह हँस–हँसकर उनकी बेतुकी बातों का सभ्यतापूर्वक उत्तर देते रहे। नागों ने देखा कि किसी प्रकार भी स्वामीजी की शान्ति भङ्ग नहीं होती। इसका उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि कुछ देर के पश्चात् उनकी आत्मा ने उन्हें धिक्कारा और वे लज्जित होकर श्रीचरणों में नतमस्तक होकर अपने अपराध की क्षमा चाहने लगे। वहाँ क्या था दया का स्रोत हर समय प्रवाहित रहता था, अत: स्वामीजी ने उन्हें क्षमादान देने में पल भर की भी देर नहीं की। नागे साधुओं ने तत्काल ही अपना नागा बाना, पीतल के कड़े, माला, कफनी और जटा गङ्गा में फेंक दिया और अपने सन्देह निवृत्त करके तथा स्वामीजी की शिक्षा ग्रहण करके एवं उन्हें नमस्ते कह कर वहाँ से विदा हो गए।

**निर्मले साधु को वेदों की दर्शन**– एक दिन ईश्वरसिंह निर्मला साधु स्वामीजी के पास आया और प्रार्थना की कि मैंने आज तक वेदों के दर्शन नहीं किए हैं। आप उन्हें दिखाकर मेरी इच्छा पूर्ण कीजिए। उन्होंने तुरन्त चारों वेदों की पुस्तकें मँगाकर उसे दिखा दीं। फिर उससे स्वामीजी ने कहा कि महीधर और सायण आदि ने वेदों के अर्थों का महान् अनर्थ किया है और उनके भाष्यों की भूलों का दिग्दर्शन कराया। तत्पश्चात् ईश्वरसिंह और स्वामीजी में इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए–

*ईश्वरसिंह*– पहले तो आप जीव–ब्रह्म की एकता मानते थे।

*स्वामीजी*– उस समय हमने सारे वेद नहीं देखे थे। जब सब वेदों को पढ़ा और उन पर मनन किया तो हमें पूर्ण विश्वास

हो गया कि जीव-ब्रह्म की एकता मानना वेद-विरुद्ध है।

*ईश्वरसिंह*- जीव ब्रह्म की एकता पर तो स्वामी शङ्कराचार्य की साक्षी है, आपके मत पर किसकी साक्षी है?

*स्वामीजी*- वेदपुरुष अर्थात् परमात्मा की।

*ईश्वरसिंह*- कोई-कोई श्रुति अभेद को भी कहती है, इसका क्या उत्तर है?

*स्वामीजी*- अभेद की प्रतिपादक श्रुतियाँ भी ठीक हैं और भेद की प्रतिपादक भी। जैसे आकाश से हमारी पर्णकुटी पृथक् नहीं है, इस प्रकार अभेद ठीक है। परन्तु हमारी पर्णकुटी आकाश नहीं इस प्रकार भेद ठीक है।

**देश की धार्मिक दशा पर खेद**- एक दिन ईश्वरसिंह और एक अन्य साधु स्वामीजी के पास बैठे हुए थे। स्वामीजी ने देखा कि बहुत से साधु एक ओर को जा रहे हैं। स्वामीजी ने उस साधु से पूछा कि साधु लोग कहाँ जा रहे हैं? उसने कहा कि एक प्रसिद्ध उदासी साधु आए हैं, उन्हीं से मिलने जा रहे हैं। स्वामीजी ने इस पर खेद प्रकट करते हुए कहा कि देखो भारतवर्ष में सनातन वेद-विरुद्ध कितने मत मतान्तर चल गए हैं, कोई उदासी है तो कोई निर्मला, कोई बैरागी है तो कोई अन्य सम्प्रदाय का, मूल धर्म सबने छोड़ दिया। ईश्वरसिंह ने कहा कि स्वामीजी एक धर्म होना तो कठिन है। इस पर स्वामीजी ने कहा कि पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए, इससे बहुत कुछ मेल और एकता हो सकती है।

**तीर्थयात्रा की व्यर्थता**- एक दिन मूला मिस्त्री ने स्वामीजी से बद्रीनाथ, केदारनाथ के तीर्थों के विषय में पूछा तो स्वामीजी ने कहा कि ये तीर्थ मैंने भी देखे हैं और तुम भी देख आए हो, जो कुछ वास्तविकता तुमने देखी हो उसे बिना लोकापवाद के भय के कह दो। उसने स्पष्ट कह दिया कि मैंने व्यर्थ यात्रा की और मुझे खेद है कि मैंने इतना परिश्रम किया।

**आपका पक्ष सत्य है**- एक दिन एक मारवाड़ी पण्डित ने आकर अपनी योग्यता दर्शाने के लिए संस्कृत में बोलना आरम्भ किया। वह दो घण्टे तक बोलता रहा। स्वामीजी उसकी बातों का उत्तर देते रहे। अन्त में उसे ज्ञात हो गया कि स्वामीजी का पक्ष सत्य और उसका मिथ्या है। पण्डित था सत्यग्राही। इस निश्चय के होते ही वह स्वामीजी से क्षमा माँगने लगा कि यह मेरा बड़ा अपराध था कि मैंने वाद में आपका विरोध किया।

**आश्रम में स्त्रियाँ नहीं ठहर सकतीं**- एक दिन काठियावाड़ गुजरात की दो स्त्रियाँ अपने पुरुषों के साथ स्वामीजी के लिए मिष्ठान्न लाईं और एक ओर को बैठ गईं। ४ बजे स्वामीजी ने उन्हें कहला दिया कि हमारे यहाँ स्त्रियों के ठहरने के लिए स्थान नहीं है। तब वे चली गईं और फिर कई दिन तक वे स्त्री-पुरुष आते रहे, परन्तु ४ बजे के पश्चात् वे प्रतिदिन चले जाते रहे।

**सत्याग्राही मुसलमान तहसीलदार**- नजफअली तहसीलदार रुड़की भी कभी-कभी स्वामीजी की सेवा में आया करते थे। उनके मन में हठ न थी और युक्तियुक्त बात को स्वीकार कर लिया करते थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी से कहा कि हमारे पैगम्बर साहब ने मनुष्य को चार स्त्रियों तक से विवाह करने की आज्ञा दी है। जैसे एक राजा को कई मन्त्रियों की आवश्यकता होती है ऐसे ही एक मनुष्य को एक से अधिक स्त्रियों की आवश्यकता है। स्वामीजी ने कहा कि एक पुरुष के लिए एक ही स्त्री होनी चाहिए। अनुभव और युक्ति से भी यही बात ठीक सिद्ध होती है। देखिए एक वेश्या सैकड़ों पुरुषों को बिगाड़ती है। जब एक घर में कई स्त्रियाँ हों तो उनके लिए एक पुरुष कभी पर्याप्त नहीं हो सकता। इसीलिए वेदों के अनुसार एक पुरुष का एक ही स्त्री से विवाह होना चाहिए। तहसीलदार साहब की समझ में यह बात आ गई और उन्होंने उसकी युक्तियुक्तता स्वीकार कर ली।

**स्वामीजी वली हैं**- एक दिन तहसीलदार साहब विकारअलीबेग डिप्टी कलेक्टर को साथ लेकर आए और व्याख्यान सुनने लगे। व्याख्यान सुनकर उन्होंने कहा कि अभी तक तो कुछ सन्देह भी था, परन्तु आज पूरा निश्चय हो गया कि ब्रह्मविद्या जितनी संस्कृत भाषा में है उतनी किसी अन्य भाषा में नहीं है और डिप्टी साहब से कहा कि स्वामीजी वली लोग

(ऋषि) हैं मैं भी इनका सेवक हूँ।

**हर की नहीं हाड़ की पैड़ी है**- डिप्टी साहब ने पूछा कि यह हरिद्वार और हरकी पैड़ी क्या है? स्वामीजी ने कहा कि हर की नहीं हाड़ की पैड़ी है, क्योंकि सहस्रों मन हड्डियाँ यहाँ पड़ती हैं। फिर उन्होंने पूछा कि यदि गङ्गास्नान का ही माहात्म्य है तो यह क्यों आवश्यक है कि हर की पैड़ी पर ही नहाया जाए। स्वामीजी ने कहा कि यह तो पण्डों की लीला है, यदि लोग हर जगह गङ्गा में स्नान करने लगें तो पण्डाजी दक्षिणा कहाँ से लें। आपके यहाँ अजमेर में भी यही बात है। मुजावर कहते हैं कि न इधर चढ़ाओ और न उधर बल्कि इन ईंटों पर चढ़ाओ, मानो ख्वाजा साहब उन्हीं ईंटों में घुसे हुए हैं। फिर उन्होंने आगे कोई प्रश्न न किया।

**तीन जिज्ञासु विद्वान्**- एक दिन नदिया (बंगाल) की ओर के तीन पण्डित आए जो विद्वान् थे। उन्होंने वेदार्थ विषय पर स्वामीजी से विचार-विनिमय किया। उनका व्यवहार सर्वथा सभ्य और शिष्टोचित था। ऐसा प्रतीत होता था कि वे वास्तव में जिज्ञासु थे, कोरे वितण्डावादी न थे। स्वामीजी भी बड़ी प्रसन्नता से उनसे विचार करने लगे। यह विचार चार दिन तक ६ बजे प्रातःकाल से ११ बजे तक लगातार होता रहा, अन्त में तीनों पण्डितों की ज्ञान-पिपासा शान्त हो गई, उनके संशयों का उच्छेद हो गया। उन्होंने स्वामीजी के अगाध वैदिक पाण्डित्य और असाधारण तर्क शक्ति की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की और कहा हम बहुत से मन्त्रों के अर्थ नहीं समझे थे, अब उन्हें स्वामीजी की कृपा से समझे हैं, निःसन्देह उनके अर्थ ही ठीक हैं। फिर भी वे आठ-दस दिन तक और आते रहे, परन्तु फिर उन्होंने स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ नहीं किया, हाँ जब कभी उन्हें कोई शङ्का होती थी तो उसे उनसे निवृत्त कर लिया करते थे।

**अलीक किंवदन्ती, महाराजा काश्मीर का पत्र**- महाराजा काश्मीर से किसी ने जा कहा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती का देहान्त हो गया। उन्होंने इस पर विश्वास तो न किया परन्तु संशय में अवश्य पड़ गए। उन्होंने अपने किसी कर्मचारी को पत्र देकर भेजा और उससे कह दिया कि यदि स्वामीजी जीवित होंगे तो कुम्भ में अवश्य आएँगे। यदि वे मिल जाएँ तो उन्हें यह पत्र दे देना और उत्तर ले आना। उस पत्र में महाराजा ने स्वामीजी से यह प्रार्थना की थी कि आप एक ऐसा ग्रन्थ बना दें जिससे बिना पक्षपात और खींचातानी के यह सिद्ध हो जाए कि जो लोग वैदिक-धर्म त्याग कर अन्य धर्मावलम्बी हो गए हैं वे यदि वैदिक-धर्म में वापस आना चाहें तो आ सकते हैं और उसमें यह भी सिद्ध किया जावे कि अन्य धर्मी ईसाई, मुसलमान भी वैदिक-धर्मी हो सकते हैं और उनके साथ खान -पानादि का व्यवहार वैदिक धर्मियों के समान किया जा सकता है। स्वामीजी ने उस समय तो उस पुरुष से केवल इतना ही कह दिया कि ऐसा ग्रन्थ शास्त्रप्रमाण-पुष्ट सहज में ही बन सकता है और यह कहा कि जब आप जावें तब मुझसे मिलके जावें, मैं महाराजा के लिए पत्र दूँगा। फिर ज्ञात न हुआ कि वह मनुष्य जाते समय स्वामीजी से मिला वा नहीं और यदि मिला तो उन्होंने उसे पत्र दिया वा नहीं।

**कटुभाषी साधु अनुगत**- एक दिन एक बजे निर्मला साधु, जिसका नाम जोतसिंह था, आया और स्वामीजी से बातें करने लगा। उसके शब्द व्यंग्य और कटाक्ष से पूर्ण थे। हकीम थानसिंह रुड़की निवासी भी वहाँ बैठे हुए थे। साधु के शब्द उन्हें बुरे लगे। उन्होंने साधु से कहा कि चुप रह, अन्यथा तेरा मुँह ठीक कर दिया जाएगा। स्वामीजी ने उन्हें रोक दिया और कहा कि यह बातें मुझसे कर रहे हैं, तुम बीच में हस्तक्षेप मत करो। अन्त को साधु रुष्ट होकर वहाँ से चला गया परन्तु अगले दिन फिर आया और बातें करके चला गया। तीसरे दिन फिर आया। उस समय स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे। जब व्याख्यान से उठे तो साधु की आँखों से अश्रुधारा बह निकली और उसने स्वामीजी के चरण पकड़ लिए और कहने लगा कि जो कुछ मैंने कटूक्ति की है उसे क्षमा कीजिए और अपनी शरण में लेकर कृतार्थ कीजिए। स्वामीजी ने अपने पैरों पर से उसे उठाया और उसे सान्त्वना देकर अपने पास बिठाया तथा उसके अनुतप्त हृदय को उपदेशामृत से सींचकर शान्त किया। रात्रि को भी वह स्वामीजी के डेरे पर ही रहा और पूर्णरूप से उनका अनुगामी बन गया।

**तुम्हारी बातों से अभ्यास में विघ्न पड़ता है**- एक रात्रि को हकीम थानसिंह अपने दो साथियों के साथ एक बजे से पाँच बजे तक बातें करते रहे। प्रातःकाल जब स्वामीजी डेरे के बाहर आए तो हकीमजी ने उन्हें पानी का लोटा दिया। जब स्वामीजी शौच से निवृत्त होकर वापस आए तो उन्होंने हकीमजी से कहा कि हम रात्रि को अपने डेरे के समीप किसी को बातें नहीं करने देते हैं, परन्तु आज तुमने रात्रि भर बातें कीं जिससे मेरे कार्य में बहुत विघ्न हुआ। स्वामीजी रात्रि में योगाभ्यास किया करते थे।

**वृद्ध संन्यासी का आदर, नवीन वेदान्त पर वार्त्तालाप**- एक दिन प्रातःकाल ही एक वृद्ध संन्यासी आनन्दवन नामी अपने दस बारह शिष्यों सहित आए। स्वामीजी ने उन्हें दूर से ही देख लिया और डेरे के द्वार पर जाकर मुस्कारते हुए उनका स्वागत किया[५६९] और सम्मानपूर्वक उन्हें आसन दिया। संन्यासी महाशय की आयु ८० वर्ष के लगभग थी, परन्तु वे शरीर से स्वस्थ और फुर्तीले थे। जब वे और स्वामीजी आसन ग्रहण कर चुके तो आपस में संस्कृत में वार्त्तालाप आरम्भ हुआ। वार्त्तालाप का विषय था- नवीन वेदान्त। ११ बजे तक विचार होता रहा। ११ बजे स्वामीजी को सूचना दी गई कि भोजन तैयार है। स्वामीजी ने आगन्तुक और उनके शिष्यों को विनयभाव से भोजन के लिए कहा, परन्तु स्वामी आनन्दवन ने कहा कि जब तक मीमांस्य विषय का निर्णय न हो जाएगा हम भोजन नहीं करेंगे। उसके पश्चात् स्वामीजी ने चारों वेद और ६०-६५ अन्य ग्रन्थों में से स्वामी आनन्दवन को अपने कथन की पुष्टि में प्रमाण दिखाने आरम्भ किए। यह विचारधारा दो बजे तक प्रवाहित होती रही।

**मैंने दयानन्द का मत स्वीकार कर लिया**- अन्त में स्वामी आनन्दवन को सन्तोष हो गया कि दयानन्द जो कहते हैं वह ठीक है। तब उन्होंने खड़े होकर अपने शिष्यों को सम्बोधन करके कहा कि मैंने दयानन्द के मत को स्वीकार कर लिया। तुम भी ऐसा ही मानो। इसके पश्चात् स्वामी आनन्दवन बिना भोजन किए ही चले गए। उसके पीछे भी वे कभी-कभी सभा-मण्डप में आते रहे परन्तु कभी बैठे नहीं, मुस्कराकर थोड़ी देर वहाँ खड़े रहकर चले जाया करते थे। पहले दिन लोगों के पूछने पर स्वामीजी ने कहा था कि ये बड़े विद्वान् संन्यासी हैं। अब तक वे जीव ब्रह्म को एक मानते थे परन्तु अब हमारे समान पृथक् मानने लगे हैं।

**कुरूप और कर्कश पण्डित**- एक दिन एक पण्डित आया, वह रावलपिण्डी का रहने वाला और स्वामीजी का पूर्व परिचित था। उसकी आकृति विचित्र थी। उसे देखकर कभी न हँसने वाला भी हँसने लगता था। वह एक आँख का स्वामी था, हाथों से लुञ्जा था, उसके मुख पर शीतला ने अपने आगमन के चिह्नः अङ्कित कर दिए थे, उसका वर्ण भी कृष्ण था। मूँछे कटी हुई और दाढ़ी मुँडी हुई थी। खोपड़ी ने बालों से पूर्ण विरोध कर रखा था। उस पर एक बड़ा साफा शोभा दे रहा था। उसके साथ में दो विद्यार्थी भी थे। हकीम थानसिंह द्वार पर नियत थे। उसने आते ही हकीमजी से कर्कश स्वर में पूछा कि दयानन्द कहाँ है? हकीमजी ने पूछा- कौन दयानन्द? उसने कहा वही साधु जो दयानन्द के नाम से प्रसिद्ध है। हकीमजी ने कहा कि सभ्यता से बोलो, श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती मुख से कहो तब मैं तुम्हें बता सकता हूँ। यह बातें कहीं स्वामीजी ने भी सुन लीं और उसकी बोली पहचान ली। तब उन्होंने हकीमजी को आज्ञा दी कि उन्हें आने दो। डेरे के भीतर जाते ही उसने कहा कि तुमने जो अशुद्धियाँ मेरी चिट्ठी में बतलाई हैं उन्हें दिखाओ। वह बारम्बार यही कहता रहा और क्रोध में भरकर चिल्लाने लगा। उसका कण्ठ शुष्क हो गया और पानी माँगने लगा।

**थ्वाडे घर दा पानी कौन पिए**- हकीमजी उसके लिए जल ले आए, परन्तु उसने कहा कि मैं यह पानी नहीं पीऊँगा, गङ्गाजी से लाओ। हकीमजी ने कहा कि मैं तो प्रातःकाल गङ्गा के ठण्डे पानी में हाथ भी नहीं डालता तुम्हें पीना है तो पियो नहीं तो तुम्हारी इच्छा। स्वामीजी ने हकीमजी से कहा कि गङ्गाजी से ही ला दो, परन्तु जब वह ले आए तो वह यह बकता

५६९- स्वामी दयानन्द स्वामी आनन्दवन से अपनी नर्मदा-यात्रा (संवत् १९०५ वि०) के समय से ही परिचित थे।

हुआ चला गया थ्वाडे घर दा पानी कौन पिये! थ्वाडे घर दा पानी कौन पिये!!

**मुर्दे को आश्रम के पास मत गाड़ो**– एक रात्रि को कुछ कांस्टेबिल मशाल लिए हुए एक मुर्दे को लाए और उसे स्वामीजी के डेरे के सामने सड़क पर गाड़ने लगे। कुछ शोर सुनकर स्वामीजी ने हकीम थानसिंह को भेजा कि देखो शोर क्यों हो रहा है। उन्होंने जाकर देखा और लौटकर स्वामीजी से सारा वृत्तान्त कहा। तब स्वामीजी ने आज्ञा दी कि मुर्दे को हमारे बाड़े में मत गाड़ने दो। हकीम जी ने कांस्टेबिलों से जाकर कहा कि इसे यहाँ मत गाड़ो, परन्तु वे न माने। इतने में एक गोरा सारजेंट चक्कर लगाता हुआ वहाँ आ निकला। उसने हकीमजी से कहा कि तुम मुर्दे को क्यों नहीं गाड़ने देते? हकीमजी ने कहा कि यह स्वामी दयानन्द सरस्वती का बाड़ा है और उनकी आज्ञा है कि हमारे बाड़े में मत गाड़ने दो। उसने कहा कि क्या वह दयानन्द है जो सब को खुदा की तरफ बुलाता है। हकीमजी ने कहा कि हाँ। इस पर उसने कांस्टेबिलों का आज्ञा दी कि यहाँ मत गाड़ो। तब वह लोग उस मुर्दे को दूसरी जगह ले गए।

**कमिश्नर साहब आदि सन्तुष्ट होकर गए**– एक दिन प्रात:काल के समय जंगलात के कंजरवेटर, मेरठ के कमिश्नर, सहारनपुर के कलेक्टर और डिप्टी विकार अली बेग कई अन्य लोगों के साथ आए और व्याख्यान के डेरे के नीचे खड़े हो गए और पूछा कि स्वामीजी कहाँ है? हकीम थानसिंह ने कहा कि वे ईश्वरोपासना कर रहे हैं। उन्होंने कहा कि क्या तुम उनके पास जाकर कह सकते हो कि मेरठ के कमिश्नर साहब आए हैं। हकीमजी ने कहा कि मैं जा तो सकता हूँ पर कुछ कह नहीं सकता। इतने में बा० श्यामलाल ने कहा कि यदि आप थोड़ी देर ठहरें तो आप स्वामीजी से मिल सकते हैं। अत: वे ठहरने पर सहमत हो गए। उनके लिए कुर्सियाँ डलवा दी गईं और वे उन पर बैठ गए। थोड़ी देर में स्वामीजी भी वहाँ आ गए। स्वामीजी के आनेपर उपर्युक्त चारों महोदय खड़े हो गए और फिर उनसे प्रसन्नवदन होकर ईश्वर विषय पर बातचीत करने लगे। वे स्वामीजी के विचारों को सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए और यह कह कर चले गए कि यदि आप को किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो सूचना देने पर वह भेज दी जाएगी। उसी दिन स्वामीजी की रक्षा के लिए उन्होंने उनके डेरे पर पुलिस का पहरा लगवा दिया।

**तीन पौराणिक विद्वानों को पत्र**– जितने भी पौराणिक साधु कुम्भ पर आए थे उनमें से स्वामी विशुद्धानन्द, स्वामी जीवनगिरि और स्वामी सुखदेवगिरि को स्वामीजी विद्यावैभव सम्पन्न समझते थे। उनके विषय में वह कहा करते थे कि इन तीनों शरीरों को मैं विद्वान् जानता हूँ और इन्होंने ग्रन्थ भी गूढ़ विचार से पढ़े हैं, शेष तो सब लड्डू पूरी उड़ाने वाले हैं। एक दिन स्वामीजी ने इन तीनों विद्वानों के लिए इस आशय का एक पत्र लिखा कि मैं जो बात कर रहा हूँ उसको आप सब लोग जानते हैं कि वह सर्वथा ठीक है, परन्तु विद्वान् होते हुए भी आप उसे प्रसिद्ध क्यों नहीं करते। स्वामीजी ने वह पत्र स्वामी रत्नगिरि को दिया कि उसे प्रशंसित महानुभावों के पास ले जाओ। पत्र को देखते ही उनकी त्यौरी चढ़ गई और रत्नगिरिजी से कहने लगे कि सारी दुनिया दयानन्द के विरुद्ध है, तुम दोनों जगह जाते हो, तुम्हें यह उचित नहीं है कि यहाँ की बात वहाँ कहो और वहाँ की यहाँ, अब आगे को दयानन्द का पत्र हमारे पास न लाना।

यह पता न चल सका कि रत्नगिरिजी अन्य दो विद्वानों के पास भी उक्त पत्र को ले गए वा नहीं और यदि ले गए तो उन्होंने क्या उत्तर दिया था?

**यूरोपियन डॉक्टर से वार्त्तालाप**– एक दिन नैनीताल के एक यूरोपियन डॉक्टर स्वामीजी के पास आए। उनसे उनकी हवन पर बातचीत हुई। स्वामीजी ने उनसे पूछा कि विषूचिका के रोकने का तुमने क्या प्रबन्ध किया है। उन्होंने उत्तर दिया कि हम विष्ठा को कुछ तो गङ्गा में बहा देते हैं, कुछ को भूमि में दबा देते हैं और शेष को जलवा देते हैं। स्वामीजी ने कहा कि विष्ठा के भूमि में दबाने से विषूचिका अवश्य फैलेगी। डॉक्टर ने कहा कि कदापि नहीं फैल सकती, सरकार ने बहुत प्रबन्ध कर दिया है। स्वामीजी ने पूछा कि विष्ठा कितने दिनों से दबाया जाता है। डॉक्टर ने उत्तर दिया कि १२ दिन से।

स्वामीजी यह सुनकर थोड़ी देर तो चुप रहे, फिर बोले कि आज से तीसरे वा चौथे दिन विषूचिका फैलेगी। उनके साथ रुड़की की सेना के डॉक्टर थे। स्वामीजी की बात सुनकर वह मुस्करा दिए और चले गए। तीसरे दिन उक्त रोग से कई मनुष्य मर गए।[५७०]

**डॉक्टरों की परामर्श**- कहते हैं कि दोनों डॉक्टर सायंकाल के ७ बजे घबराये हुए स्वामीजी के पास आए और कहा कि विषूचिका के बन्द होने का उपाय बतलाइए। उन्होंने कहा कि घी और कपूर जलवाइए, विष्ठा को दूर ले जाकर ऐसे स्थान पर जलवाइए जिधर से हरिद्वार की ओर वायु न आती हो और मेले को कम करने का भी उपाय कीजिए। कहते हैं कि उसके पश्चात् विष्ठा दूर ले जाकर जलाया जाने लगा।

**मैं तो ईश्वरोक्त वेद को ही मानता हूँ**- एक दिन दो प्रतिष्ठित पंजाबी सज्जनों ने अञ्जलिबद्ध होकर स्वामीजी से पूछा कि आप ग्रन्थसाहब को मानते हैं वा नहीं, तो स्वामीजी ने उत्तर दिया कि ग्रन्थसाहब मनुष्यकृत है, मैं तो केवल ईश्वरोक्त वेदों को ही मानता हूँ।

**आत्मा की न्यूनताएँ ईश्वराराधना से पूरी होती हैं**- एक दिन एक वेदान्ती साधु रामसिंह ने स्वामीजी से कहा कि आप ज्ञानी होकर भी भिक्षुओं के समान ईश्वर से भिक्षा माँगते हैं। ऐसे कर्म तो अज्ञानियों के लिए हैं, आपके लिए नहीं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यह सत्य नहीं कि ज्ञानीजन प्रार्थना नहीं करते, आप तो अपने को पूर्ण वेदान्ती मानते हैं, फिर भी महावाक्य रटते रहते हैं। भूख-प्यास आदि शारीरिक न्यूनताएँ जैसे अन्न-जल से पूरी होती हैं वैसे ही आत्मा की न्यूनताएँ बिना ईश्वराराधना के पूरी नहीं हो सकतीं।

**स्वामीजी अपने ग्रन्थों का अनुवाद कराना नहीं चाहते थे**- एक दिन एक पुरुष ने स्वामीजी से कहा कि यदि आप अपने ग्रन्थों का भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करा दें तो जो लोग आर्यभाषा नहीं जानते उन्हें भी वैदिकधर्म के जानने में बहुत सुविधा हो। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि भारतवासियों को आर्यभाषा का सीख लेना कुछ कठिन नहीं है। जो इस देश में जन्म लेकर अपनी भाषा के सीखने का परिश्रम नहीं करता, उससे और क्या आशा की जा सकती है। स्वामीजी का विचार था कि सारे भारत की एक राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए और वह आर्यभाषा को ही राष्ट्रीय भाषा बनने के योग्य समझते थे और इसी कारण वे उसके प्रचार में इतने उद्योगी थे।

**तर्क शस्त्र छोड़ने पड़े**- पण्डित हरिसिंह एक निर्मला साधु था जिसकी विद्वत्ता की पञ्जाब में बड़ी धाक थी। उसने भी वेदान्त विषय पर स्वामीजी से शास्त्रार्थ किया था, परन्तु अन्त को उसे भी स्वामीजी के सामने अपने तर्कशास्त्र छोड़ देने पड़े थे।

**विचित्र वार्त्तालाप**- ५ अप्रैल को स्वामी की जंघा में एक छाला पड़ गया था जिससे उन्हें बहुत पीड़ा थी और दस्तों के कारण वे निर्बल भी बहुत थे। उस दिन स्वामीजी ने अपना व्याख्यान भी स्थगित कर दिया था। यह एक ऐसी बात थी जो अब तक न हुई थी, स्वामीजी के रुग्ण होने की मेले भर में खबर फैल गई। कुछ साधुओं ने इससे अनुचित लाभ उठाना चाहा। उन्होंने समझा कि आज बहुत अच्छा अवसर है। दयानन्द आज रोगी होने के कारण शास्त्रार्थ नहीं कर सकेगा। आज चल कर उससे शास्त्रार्थ करने के लिए कहना चाहिए। वह शास्त्रार्थ से नकार करेगा, तब हम प्रसिद्ध कर देंगे कि दयानन्द शास्त्रार्थ से हट गया। परन्तु इन बुद्धिमानों ने यह न समझा कि सिंह कैसी ही दीन दशा को प्राप्त हो, श्रृगालों को परास्त करना

---

५७०- पं० लेखरामकृत उर्दू '*दयानन्द-चरित* ' में लिखा है कि इस वार्त्तालाप के तीसरे दिन स्वामी आनन्दगिरि के गृह में ९ मनुष्य विषूचिका से मर गए और सायंकाल तक ३० मनुष्य मर गए। परन्तु स्वामीजी के २७ मार्च के एक पत्र में लिखा है जो उक्त पुस्तक में ही उद्धृत किया गया है कि तीन दिन में ५ मनुष्य विषूचिका से मरे हैं। अत: हमें यह घटना सन्दिग्ध सी प्रतीत होती है। - *संग्रहकर्त्ता*

उसके लिए तनिक भी कठिन नहीं। इन साधुओं का एक झुण्ड स्वामीजी के पास पहुँचा। स्वामीजी उस समय शय्या पर लेटे हुए थे। जब स्वामीजी ने उसे आते देखा तो उठकर बैठ गए और साधुओं को आदर से बिठाकर उनसे आने का कारण पूछा तो एक साधु ने आगे बढ़कर कहा कि हम आपसे शास्त्रार्थ करने आए हैं। स्वामीजी ने कहा बहुत अच्छा। इस शब्द के सुनते ही साधुओं का मुँह तनिक सा रह गया। जिस आशा को लेकर वे आए थे उस पर तुषार पड़ गया। स्वामीजी ने फिर पूछा कि किस विषय पर। साधु ने कहा कि हम वेदान्त विषय पर आपसे चर्चा करेंगे। स्वामीजी को विद्वान्–अविद्वान् की अद्‌भुत पहचान थी। वह मनुष्य की भावभङ्गी, आकार, चेष्टा आदि को देखकर तुरन्त जान जाते थे कि वह कितने पानी में है और फिर उसी ढङ्ग से उससे बातें करते थे। स्वामीजी ने समझ लिया कि प्रतिवादी कोई उच्च कोटि का विद्वान् नहीं है अत: स्वामीजी ने ऐसे ढङ्ग से प्रश्न किए जिससे वह ५–७ मिनट में ही निरुत्तर हो गया।

*स्वामीजी*– पहले आप मुझे समझा दें कि वेदान्त से आप का क्या अभिप्राय है।

*साधु*– यही कि जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य है।

*स्वामीजी*– जगत् से क्या अभिप्राय है, उसके भीतर क्या–क्या पदार्थ हैं और मिथ्या से आपका क्या अभिप्राय है?

*साधु*– परमाणु से लेकर सूर्य पर्यन्त जो कुछ है उसे जगत् कहते हैं और यह सब मिथ्या अर्थात् झूठ है।

*स्वामीजी*– आपका शरीर, बोलना, चालना, उपदेश, गुरु और पुस्तक भी उसके ही भीतर हैं वा नहीं?

*साधु*– हाँ, ये सब उसी के भीतर हैं।

*स्वामीजी*– और आपका मत भी उसी के भीतर है वा बाहर?

*साधु*– हाँ, वह भी जगत् के भीतर है।

*स्वामीजी*– जब आप स्वयं ही कहते हैं कि हम, हमारा गुरु, हमारा मत, हमारी पुस्तक, हमारा बोलना और उपदेश यह सब मिथ्या ही मिथ्या है तो हम अब आपसे क्या कहें। जब स्वयं वादी के कथन से ही उसका दावा खारिज होता हो तो साक्षी आदि की आवश्यकता ही क्या है।

साधु हक्का–बक्का सा रह गया और किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर अपनी मण्डली के साथ वहाँ से चला गया।

**गुरुजी के आदेश से ही मैंने प्रचार–कार्य आरम्भ किया है**– मुंशी मूलचन्द मुदर्रिस कनखल निवासी ने स्वामीजी का मूर्त्ति–खण्डन विषयक व्याख्यान सुनकर मूर्त्तिपूजा त्याग दी थी। एक दिन मूला मिस्त्री के प्रश्न के उत्तर में स्वामीजी ने कहा था कि प्रथम तो मुझे ही विचार हुआ था कि मूर्त्ति–पूजन केवल अविद्या अन्धकार है, परन्तु गुरुवर्य्य स्वामी विरजानन्दजी भी उसका खण्डन किया करते थे और कहा करते थे कि कोई हमारा शिष्य ऐसा हो जो इस अन्धकार को देश से दूर करे, उनके आदेश से मैंने वैदिक–धर्म प्रचार का कार्य अपने ऊपर लिया है।

**दयानन्द हमारे स्थान पर आकर शास्त्रार्थ करे नहीं तो पराजित समझा जाए**– लाला भोलानाथ वैश्य सहारनपुर निवासी पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी के बड़े भक्त थे। उन्होंने ही पण्डितजी को पंजाब से कुम्भ पर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने को बुलाया था और एक विज्ञापन पण्डितजी की ओर से छपवाकर मेले में बाँटा था कि हम स्वामी दयानन्द के विरुद्ध सनातन धर्मसभा का उपदेश करते हैं जिसे सुनना हो वह जूना अखाड़े में आ जावे। पण्डित चतुर्भुज पौराणिकराज भी कुम्भ पर पहुँच गए थे और अन्य बहुसंख्यक पौराणिक भी वहाँ उपस्थित थे। एक दिन सनातनियों में आपस में यह गोष्ठी हुई कि चलो दयानन्द से शास्त्रार्थ करें, परन्तु पण्डित श्रीधर डासना जिला मेरठ निवासी ने कहा कि दयानन्द परदेशी है और वेदज्ञ, चतुर और वाग्मी है और उसने वेद का भाष्य भी किया है। आप लोग केवल वैयाकरण हैं, आप यदि दयानन्द से शास्त्रार्थ करने जाओगे तो नीचा देखोगे। इस पर कोई न गया, परन्तु एक दिन सनातन धर्मसभा में पण्डित चतुर्भुज ने एक उर्दू लेख सभा में पढ़ा जिसका सारांश यह था कि भाइयो! इस समय यहाँ पर चारों वेद और वेदाङ्ग तथा पण्डित भी उपस्थित हैं,

दयानन्द को, जो सबसे विरुद्ध उपदेश करता है, चाहिए कि वह हमसे यहाँ आकर शास्त्रार्थ करे ताकि सत्यासत्य का निर्णय हो जावे, यदि दयानन्द यहाँ न आवे तो सबको स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिए कि वह हमसे शास्त्रार्थ नहीं कर सकता है। तद्नुसार तीस पण्डितों के हस्ताक्षरों से निम्नलिखित पत्र वैशाख वदी १ संवत् १९३६ वि० अर्थात् ७ अप्रैल, १८७९ ई० को स्वामीजी के पास भेजने के लिए लिखा गया।

**सनातनियों का पत्र**- श्री गणेशायनमः। श्री दयानन्द सरस्वती जी के प्रति निवेदन। निम्नलिखित साधु वर्ग और पण्डितजन तथा सभासद लोगों की इच्छा यह है कि तीन चार दिन से यहाँ नित्य ४ बजे से ६ बजे पर्यन्त धर्मविषयक सत्यासत्य विचार होता है और यह भी ज्ञात भया कि जब से जूना अखाड़ा मायादेवी के पास अलीगढ़ सत्य धर्मावलम्बी सभा का प्रारम्भ भया तब से इस सभा से आपके पास पत्र भेजे गए। अब यह पत्र भेजते हैं यदि इस सभा में आकर आप भी कुछ वक्तृता करें तो इसमें दो फल हमको दिखते हैं, एक यह कि एकान्त में बैठकर जो वेद शास्त्र द्वारा व्याख्यान देते रहते हो विद्वानों के सम्मुख वक्तृता करने में सबको यह ठीक निश्चित हो जाएगा कि आपका कथन वेद व शास्त्र के अनुसार है वा नहीं, दूसरा यह कि यदि आपका कहना वेद व शास्त्र के अनुसार निकला तो हम सब आपके मत प्रतिपादन में उद्यत हो जाएँगे और इस ऐक्यभाव से आर्यावर्त्त को बड़ा भारी लाभ होगा। आप कृपा करके सभा में अवश्य पधारें यदि किसी हेतु से आना न हो तो हेतु लिखिएगा।

**दयानन्द यहाँ आवे तो सिर फोड़ दो**- हस्ताक्षर करने वाले पण्डितों में से ही एक पण्डित इस पत्र को लेकर स्वामीजी के पास को चले। उनके चलते समय कुछ साधुओं ने कहा कि यदि वह यहाँ आवे तो ------ को एक पत्थर मारो, सिर फूट जावे, कुछ परवाह नहीं एक को फाँसी हो जावेगी। स्वामीजी ने यह पत्र पाकर इसका उत्तर भेज दिया जिसका भावार्थ यह था कि शास्त्रार्थ के लिए मैं हर समय उद्यत हूँ, परन्तु उसका प्रबन्धकर्त्ता कोई राजपुरुष हो, शास्त्रार्थ में पण्डितों के अतिरिक्त कोई अपठित मनुष्य न आने पावे। शास्त्रार्थ की जगह न मेरी हो न आपकी। जूना अखाड़े में आने में मुझे शारीरिक हानि पहुँचने का भय है। शरीर-पात की तो मुझे चिन्ता नहीं, परन्तु तो उपकार कार्य मैं कर रहा हूँ वह अधूरा रह जावेगा। स्वामीजी जानते थे कि पत्र लेखकों का अभिप्राय उपद्रव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इसीलिए वे चाहते थे कि सरकारी प्रबन्ध हो। इसके पश्चात् कई पत्र आए-गए, परन्तु स्वामीजी अपनी पूर्वोल्लिखित बातों पर ही जमे रहे।

**तुम दयानन्द के सामने एक अक्षर भी नहीं जानते**- सनातनियों के अन्तिम पत्र के उत्तर में स्वामीजी ने उन्हें लिखा था कि यदि स्वामी विशुद्धानन्दजी कह दें कि आप लोग मेरी अपेक्षा वेदों को अधिक समझते हैं, तो मैं शास्त्रार्थ करने को उद्यत हूँ और मैं उन्हीं को मध्यस्थ नियत करता हूँ। जब स्वामीजी की इस चिट्ठी को लेकर सनातनियों के कुछ मनुष्य स्वामी विशुद्धानन्दजी के पास गए तो उन्होंने पण्डित चतुर्भुज और श्रद्धाराम की इतनी और ऐसी अश्लील गालियाँ दीं जिनका वर्णन नहीं हो सकता और कहा कि तुम दयानन्द के सामने एक अक्षर भी नहीं जानते हो, मैं तुम्हारे शास्त्रार्थ का मध्यस्थ नहीं हो सकता और स्वामीजी को एक चिट्ठी लिख दी कि बहुत से मूर्ख और अविद्वान् उपद्रव करने के अभिप्राय से इकट्ठे हुए हैं, आप कदापि ऐसे लोगों की बात पर ध्यान न दें और मैं ऐसे लोगों के कहने से उस सभा का मध्यस्थ नहीं हो सकता जिसमें आप जैसे विद्वान् शास्त्रार्थ करें। यह चिट्ठी ३ बजे स्वामीजी के पास आई। उस समय सहस्रों मनुष्य सभा में उपस्थित थे। यह चिट्ठी स्वामीजी की आज्ञा से पण्डित भीमसेन ने उच्च स्वर से सभा में पढ़कर सुना दी जिससे सनातनियों के षड्यन्त्र का भाँडा फूट गया। इसके पश्चात् पक्षाघात के रोगी के समान सनातनी दल निष्क्रिय और निस्तब्ध हो गया तथा फिर उनकी ओर से कोई चिट्ठी न आई।

**पण्डित श्रद्धाराम की धूर्त्तता**- पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी ने कुछ साधुओं को बहकाया कि तुम लोग सभा में आकर यह कहो कि हम दयानन्द के उपदेश सुनकर अपने धर्म से पतित हो गए थे, अब हमारा प्रायश्चित कराकर हमारी पापनिवृत्ति

की जावे। इस पर यह लीला रची गई कि उनको गङ्गाजी पर ले जाकर स्नानादि कराया गया और सारे मेले में उन्हें बाज-गाजे के साथ घुमाया गया तथा यह कि उन लोगों ने दयानन्द के कथन को मिथ्या जानकर पुन: सनातन धर्म की शरण ली है, अच्छे प्रकार मेले में प्रचरित किया गया। ये साधु कभी स्वामीजी के व्याख्यानों में जाकर फटके भी न थे। पण्डित श्रद्धाराम ने इस बनावटी घटना को खूब रङ्ग देकर और उस पर झूठ की वार्निश करके १९ अप्रैल सन् १८७९ ई० के *'कोहेनूर लाहौर'* नामक समाचारपत्र में छपवाया और अपने लेख में यहाँ तक लिख दिया कि हमारी सभा के होते ही दयानन्द सरस्वती मेले को छोड़ गए।

**पं० श्रद्धाराम से घृणा**- पण्डित श्रद्धाराम के इस अलीक व्यवहार और घृणित कार्य को देखकर उनके साथी तक उनसे अलग हो गए। जो पत्र ३० पण्डितों के हस्ताक्षर से शास्त्रार्थ के लिए स्वामीजी के पास भेजा गया था उस पर हस्ताक्षर करने वालों में एक पण्डित गोपाल शास्त्री जम्मू निवासी भी थे।

**मुझे बड़ी लज्जा आई और भय लगा**- उन्होंने पण्डित लेखरामजी से शपथ खाकर कहा था कि मुझे हरिद्वार में बड़ी लज्जा और परमेश्वर का भय लगा जब मैं पण्डित श्रद्धाराम के साथ मिलकर अनुचित कार्य करता था। उनमें से एक बड़ा भारी जालसाजी का कार्य पण्डित श्रद्धाराम ने यह किया कि कुछ साधुओं को सिखलाया कि तुम सभा में आकर कहो कि हम स्वामी दयानन्द के उपदेश सुनकर बिगड़ गए थे, आप कृपा करके हमारा प्रायश्चित कराइए। तदनुसार साधुओं ने सभा में आकर यह बात सब लोगों के सामने प्रकट की और फिर सारे मेले में इस बात को प्रसिद्ध कर दिया। जब यह सब कार्य हो चुका तो मैं अपने मन में बहुत पछताया और कहने लगा कि तू बड़ा अयोग्य है जो ऐसे पाखण्डियों के साथ मिल रहा है, फिर मैंने प्रायश्चित किया और उनसे अलग हो गया।

**श्रद्धाराम का शिष्य अनुगत**- इसी प्रकार लाला भोलानाथ जो पण्डित श्रद्धाराम के मुख्य शिष्य थे और जिनका नामोल्लेख पहले हो चुका है पर्व के दिन स्वामीजी के व्याख्यान में गए और उसकी शोभा को देख और स्वामीजी के पुनीत दर्शनों से आनन्द में प्रफुल्लित हो गए। उस समय व्याख्यान समाप्ति पर था। स्वामीजी लोगों को यह चेतावनी दे रहे थे कि मेले में विषूचिका फैलने वाली है सब लोगों को शीघ्र ही अपने-अपने घरों को चला जाना चाहिए। जब भोलानाथ व्याख्यान सुनकर लौट रहे थे तो इन्होंने देखा कि एक मनुष्य को मार्ग में चलते-चलते हैजा हो गया जिससे उन्हें स्वामीजी के कथन पर पूरा विश्वास हो गया और वे तुरन्त ही सहारनपुर अपने निवास-स्थान को चले गए।

**पं० श्रद्धाराम का वास्तविक स्वरूप**- पण्डित श्रद्धाराम पञ्जाब में सनातन धर्म के बड़े भारी समर्थक और स्तम्भ समझे जाते थे। उनकी विद्या की बड़ी धाक थी, वे सुवक्ता और सभाचतुर थे। कई ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे थे। सब लोगों पर उन का आतङ्क छाया हुआ था, सैकड़ों नर-नारियों के वे गुरु थे। परन्तु जैसा उन्होंने अपने आपको प्रकट कर रखा था वास्तव में वे वैसे न थे।

**ईसाइयों से दक्षिणा लेकर ईसा का गुणगान**- सब कुछ उन का ढोंग और पाखण्ड था। उनका कोई धर्म न था। एक बार ईसाइयों से दक्षिणा लेकर उन्होंने ईसाई मत के समर्थन में पंजाबी भाषा में एक पुस्तक भी लिखी थी।

**पं० श्रद्धाराम नास्तिक थे**- वे कोरे नास्तिक थे, वेदादि शास्त्र और ईश्वर में उन्हें विश्वास न था। सारे जीवन भर वे लोगों को धोखा देते रहे। अन्त में स्वयं उन्होंने ही अपने पाखण्ड का भाँडा फोड़ा और अपने प्रकृत स्वरूप को प्रगट किया। मरने से पहले उन्होंने सत्यामृत-प्रवाह नाम की एक पुस्तक लिखी जिसमें नास्तिकता का बड़े बल के साथ समर्थन किया और यह भी लिखा कि अब मेरी मृत्यु का समय निकट है सो उचित है कि उस सत्य (नास्तिक विचार) को न छिपाऊँ जो चिरकाल से मेरे मन में भरा हुआ है।

**लोगों को चेतावनी**- पर्व-दिवस से कई दिन पहले से स्वामीजी ने लोगों से कहना आरम्भ कर दिया था कि मेले में

विषूचिका के फैलने का भय है, अत: उन्हें शीघ्रातिशीघ्र अपने-अपने घरों को चले जाना चाहिए। पर्व-दिवस से चार दिन पहले जो व्याख्यान उन्होंने दिया उसमें भी यही बात उन्होंने कही थी। उस व्याख्यान में दो पुलिस सुपरिन्टेंडेण्ट भी थे जो कई दिन से स्वामीजी के व्याख्यान सुनने आया करते थे। स्वामीजी ने उन्हें सम्बोधन करके कि आपके डॉक्टरों ने जो धारा ३४ (पुलिस एक्ट की) बनवादी है इससे प्रजा की बहुत हानि है। आपने जो मल त्याग के लिए टट्टियाँ बनवाई हैं, वे बहुत दूर हैं। अब यदि किसी को मल-त्याग की आवश्यकता हो और उसके लिए उसे डेढ़ मील उसके वेग को रोक कर जाना पड़ा तो उसके मस्तिष्क को उसकी गर्मी चढ़ जाएगी और उसके शरीर के भीतर की दशा बिगड़ जाएगी तथा उस पर बाहर की दूषित वायु का बहुत शीघ्र प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार सैकड़ों जानें आपके कानून की भेंट हो जाती हैं। स्वामीजी ने उनसे कहा कि अपने डॉक्टरों से कहिए कि वे सड़क से कुछ अन्तर पर झण्डियाँ लगवा दें। इन झण्डियों के पास ही सब लोग मल त्याग करें और गङ्गा के मैदान में भट्टे बनाकर उनमें विष्ठा जलाकर वायु को अशुद्ध न कर क्योंकि इससे मरी फैल जाएगी।

पर्व के दिन भी स्वामीजी ने लोकहित-चिन्ता से प्रेरित होकर अपने व्याख्यान में लोगों को फिर आदेश किया कि वे शीघ्र ही अपने-अपने घरों को चले जाएँ। वे स्वयं भी दूसरे दिन हरिद्वार से देहरादून चले गए।

## देहरादून (१८७९ ई०)

हरिद्वार में कुम्भ-प्रचार का कार्य समाप्त करके पण्डित कृपाराम के आग्रह पर स्वामीजी देहरादून पधारे[५७१]। कुम्भ में रात-दिन परिश्रम करने के कारण स्वामीजी को दस्त आने लगे थे। अत: वे कुछ विश्राम करना भी चाहते थे। पर्व के दूसरे दिन ही स्वामीजी ने हरिद्वार से प्रस्थान कर दिया। देहरादून पहुँचने की सूचना पण्डित कृपाराम को पूर्व से ही दे दी गई थी। अत: उन्होंने एक बँगला किराए पर उनके निवास के लिए ले लिया था।

१४ अप्रैल सन् १८७९ ई० तदनुसार वैशाख कृष्णा ८ संवत् १९३६ वि० (सोमवार) को १० बजे दिन के स्वामीजी देहरादून पहुँचे। पण्डित कृपाराम तो छुट्टी न मिलने के कारण स्वागत के लिए न जा सके, परन्तु उन्होंने अपने दो भतीजों को भेज दिया। उनके साथ स्वामीजी बँगले पर आकर ठहर गए। फिर पण्डित कृपाराम भी आ गए तो देखा कि वहाँ कतिपय ब्राह्मसमाजी बंगाली सज्जन उपस्थित हैं। स्वामीजी के आने का समाचार बात की बात में सारे नगर में फैल गया और लोग उनके दर्शन और उपदेश को सुनने के लिए उनके पास आने लगे।

**स्वामीजी की शारीरिक दशा**- स्वामीजी रोग से इतने आक्रान्त थे कि वार्तालाप करते हुए उन्हें कई-कई बार मलोत्सर्ग करने के लिए जाना पड़ता था। उनसे बहुतेरा कहा गया कि डॉक्टर को बुला लिया जाए, परन्तु वे डॉक्टर की औषधि खाने पर सहमत न हुए। दो-तीन दिन के पश्चात् उनका रोग कुछ शान्त हुआ।

**ब्राह्मसमाजियों पर भरोसा न करना चाहिए**- जब प्रथम ही बार पण्डित कृपाराम उनसे मिले और लोग चले गए तो उन्होंने पण्डित कृपाराम से पूछा कि आपने हमारे व्यर्थ चन्दा किन-किन लोगों से एकत्र किया है। पण्डितजी ने उन्हें चन्दे की सूची दिखाई तो उसमें केवल दो व्यक्तियों को छोड़कर शेष ब्राह्मसमाजी बंगाली ही थे। स्वामीजी यह ज्ञात करके कुछ क्षुण्ण हुए और कहा कि आप लोगों को इन पर भरोसा नहीं करना चाहिए। ये लोग आज आपके मित्र हैं और कल शत्रु हो जाएँगे। आपने भूल की जो ब्राह्मसमाजियों का विश्वास किया। पण्डितजी ने कहा कि आप कुछ चिन्ता न करें यदि ये लोग सहायता न करेंगे तो मैं अकेला ही आपकी सेवा के लिए उपस्थित हूँ। स्वामीजी ने कहा कि मैं किसी अकेले व्यक्ति

---

५७१- यह अन्वेषणीय है कि क्या इन पण्डित कृपाराम का कोई सम्बन्ध उस कृपाराम ब्रह्मचारी से है जिसका पहले उल्लेख संवत् १९१५ वि० में स्वामी दयानन्द द्वारा दक्षिण भारत की यात्रा पर जाने के प्रसङ्ग में पीछे पृष्ठ-१९६ की पाद-टिप्पणी क्र० ३९२ में हुआ है।

को कष्ट देना नहीं चाहता।

**व्याख्यानों का आरम्भ**– जब रोग का वेग कुछ कम हुआ तो डेरे पर ही स्वामीजी के व्याख्यानों की व्यवस्था की गई। पहला व्याख्यान ईश्वर विषय पर हुआ, दूसरा वेद के ईश्वरकृत होने पर। व्याख्यान में अँग्रेज भी उपस्थित थे जिनमें से एक पादरी मारिसन थे।

**पादरी साहब का कोप–ज्वालामुखी फट गया**– स्वामीजी ने बड़ी प्रबल युक्तियों से बाइबिल और कुरान का खण्डन किया जिसे सुनकर पादरी साहब को बहुत आवेश आया, परन्तु व्याख्यान के अन्त तक वे चुप रहे। उसके समाप्त होते ही वे एक दम उबल पड़े कि पण्डित साहब ने केवल धूल उड़ाई है और अपने वेदमत को उस धूल में छिपा लिया। यहभी कहा कि हमने आज तक किसी पण्डित को वैदिक सिद्धान्तों की व्याख्या करते नहीं सुना, क्या केवल यही जानकार हैं और बाकी सब हिन्दू अजान हैं? फिर बाइबिल के जिन मन्तव्यों का स्वामीजी ने खण्डन किया था उनका मण्डन करने लगे। स्वामीजी ने उनके क्रोध में कहे हुए अनुचित शब्दों की सर्वथा उपेक्षा करते हुए शान्ति से उनको उत्तर दिया। परन्तु पादरी साहब के क्रोध का पारा इतना बढ़ा हुआ था कि वे स्वामीजी के कथन को सुनते भी नहीं थे और क्रोधवश बीच–बीच में चिल्ला उठते थे। उनके साथी एक अँग्रेज सज्जन ने अँग्रेजी में उनसे कहा भी कि जिस सुन्दरता और विनय के साथ व्याख्यानदाता अपने पक्ष को सिद्ध करता है उसे आप अयुक्त और रोष भरे शब्दों से रोकना चाहते हैं। मेरी सम्मति में यह अच्छा नहीं है। आपको चाहिए कि जिस दृढ़ता और धैर्य के साथ वह अपने पक्ष के प्रमाणित होने में और आपके पक्ष के खण्डन में युक्ति देता है वैसे ही आप भी करें।

**पादरी अपने साथी से भी नाराज**– पादरी साहब इस सत्य–परामर्श को कैसे सुन सकते थे, चटककर बोले कि मैं बहुत उचित उत्तर दे रहा हूँ, यदि आप को यह उचित प्रतीत नहीं होता तो आप भी इनसे मिल जाएँ और यह कहकर वे सभा से उठकर चले गए, परन्तु अन्य अँग्रेज बैठे रहे। चलते–चलते भी स्वामीजी ने पादरी साहब से कहा कि कल भी पधारिएगा, परन्तु वह कुछ बड़बड़ाते हुए चले गया जिसे कोई भी न समझ सका।

**आपस में ही एक–दूसरे का खण्डन करने लगे**– इसके पश्चात् एक और विचित्र घटना हुई। दो अँग्रेज सज्जनों ने, जिनमें से एक का नाम पारमर था, जिन्होंने सत्परामर्श दिया था और दूसरे का नाम गार्टलेन, स्वामीजी से बात–चीत करनी चाही। स्वामीजी ने इसे स्वीकार किया, परन्तु बीच में मिशन स्कूल के हेडमास्टर विपिनमोहन बोस ने टाँग अड़ा दी और स्वामीजी के सामने ही बाइबिल का मण्डन करने लगे। इधर तो स्वामीजी उनका उत्तर दे ही रहे थे उधर मि० गार्टलेन ने भी उनका खण्डन करना आरम्भ कर दिया। लोगों का इस अद्‌भुत दृश्य को देखकर मनोरञ्जन भी हुआ और उन्हें आश्चर्य भी हुआ। ८ बजे से रात्रि के १० बजे तक यही दृश्य रहा।

**ब्राह्मसमाजी विरुद्ध हो गए**– इस व्याख्यान में बाइबिल और कुरान का खण्डन तो था ही, ब्राह्मसमाज भी लपेट में आ गया था। इधर ईसाई रुष्ट, उधर मुसलमान रुष्ट और तीसरी ओर ब्राह्मसमाजी भी रुष्ट। ब्राह्मसमाजियों ने तो आगे को सहायता देने से ही इन्कार कर दिया और वे सर्वथा विरुद्ध हो गए जिससे स्वामीजी का पूर्व कथन सत्य सिद्ध हो गया! इस प्रकार उस दिन १२ बजे रात्रि तक बातचीत होती रही।

अगले दिन लगभग १५० मुसलमानों की भीड़ स्वामीजी के बँगले पर आ पहुँची और कहा कि कल जो आपने हमारे धर्म पर दोषारोपण किए हैं आप उस पर शास्त्रार्थ कीजिए। स्वामीजी ने कहा कि मैं आप में से हर एक के साथ तो शास्त्रार्थ कर नहीं सकता; अत: प्रथम शास्त्रार्थ के नियम बना लीजिए फिर जो आप लोगों में सबसे अधिक विद्वान् हो वह मुझसे शास्त्रार्थ कर सकता है। यह सुनकर उन्होंने कहा कि हम नियम बनाकर लावेंगे और ऐसा स्वामीजी को कहकर वे वहाँ से चले गए।

**भक्त की चिन्ता**– मुसलमानों की भीड़ को जो स्वामीजी के बँगले पर देखा तो पण्डित कृपाराम का भतीजा दौड़ा–दौड़ा उनके पास दफ्तर पहुँचा। वे उसकी बातें सुनकर एक दम घबरा उठे और तत्क्षण अपने अफसर से छुट्टी लेकर स्वामीजी के बँगले पर पहुँचे, परन्तु उस समय वहाँ कोई नहीं था। स्वामीजी ने उन्हें सब घटना कह सुनाई जिससे वे शान्त होकर अपने कार्य पर वापस चले गए।

**मुसलमान नियम बनाकर लाए**– दूसरे दिन का व्याख्यान धर्म विषयक था। मुसलमान अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कुछ नियम बनाकर लाए और अपनी ओर से शास्त्रार्थकर्त्ता का नाम मौलाना अहमदहसन बतलाया। स्वामीजी ने मौलाना की योग्यता के विषय में पूछा और जब उन्हें बतलाया गया कि वे एक विद्वान् व्यक्ति हैं तो वे उनसे शास्त्रार्थ करने पर सहमत हो गए। मुसलमानों के बनाए हुए नियम सभा में पढ़कर सुनाए गए और स्वामीजी ने उनमें कुछ परिवर्तन करके उन्हें मुसलमानों को वापस कर दिया।

चौथा व्याख्यान पुराणों पर हुआ। पाँचवें से नवें तक व्याख्यान आर्यावर्त्त के प्राचीन इतिहास पर हुए।

**बँगला खाली कर दो**– जिस बँगले में स्वामीजी उतरे थे वह एक मेम का था जिसका नाम मिस डिक था। न जाने उसे किसी ने बहकाया था या स्वयं ही उसकी ऐसी इच्छा हुई कि उसने कहा कि मेरा बँगला शीघ्र खाली कर दो। तब दूसरे बँगले का प्रबन्ध किया गया, परन्तु इतने ही में सहारनपुर से कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्सकी का स्वामीजी को बुलाने के लिए तार आ गया और वे वहाँ जाने के लिए तैयार हो गए।

**भँगन का पकाया हुआ भोजन न खाएँगे**– देहरादून में एक उल्लेखनीय घटना और भी हुई। बाबू कालीमोहन घोष ब्राह्मसमाजी थे। उनके यहाँ भोजन बनाने पर एक भँगन नियत थी। एक दिन उन्होंने स्वामीजी से कहा कि आप कल भोजन मेरे यहाँ कीजिए। स्वामीजी ने कहा कि मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु मैंने सुना है कि आप लोग अन्त्यजों के हाथ का पका हुआ भोजन खा लेते हैं। उन्होंने इसे स्वीकार किया, परन्तु कहा कि मैं यहाँ ऐसा नहीं करता हूँ। स्वामीजी ने उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। जब यह बात पण्डित कृपाराम को ज्ञात हुई तो उन्होंने भोजन का एक थाल स्वामीजी के बँगले पर पहुँचा दिया और स्वयं भी वहाँ पहुँच गए। बाबू कालीमोहन के गृह से भी भोजन बनकर स्वामीजी के पास आ गया था, परन्तु उन्होंने खाया न था। पण्डित कृपाराम ने सब बातें स्वामीजी को बतलाकर बाबू कालीमोहन का भोजन वापस कर दिया। इस पर उन्होंने आकर स्वामीजी से कहा कि यह क्या बात है कि कल तो आपने हमारे यहाँ का भोजन करना स्वीकार कर लिया और आज उसे वापस कर दिया। महाराज ने कहा कि आपने यह कहा था कि यद्यपि हम अन्त्यज के हाथ का पकाया हुआ भोजन कर लेते हैं, परन्तु हम यहाँ ऐसा नहीं करते। अब हमें ज्ञात हुआ है कि आपके यहाँ भँगन भोजन बनाती है।

एक और उल्लेखनीय घटना इस प्रकार है–

**रईस के पुत्र ईसाई होने से बच गए**– देहरादून के एक रईस के दो पुत्र थे जो अँग्रेजी पढ़े हुए थे। उन पर ईसाइयों ने अपना रङ्ग जमा रखा था और वे ईसाई होने को तैयार थे। हिन्दुओं को तो वे तर्क में चुटकियों में परास्त कर देते थे। विवश होकर उनके पिता ने उनसे कहा कि तुम छः मास तक का विज्ञापन दो कि यदि कोई इस अन्तर में ईसाई धर्म को असत्य सिद्ध न कर सकेगा तो वे ईसाई हो जावेंगे। किसी हिन्दू धर्माभिमानी का यह साहस न हुआ कि ईसाई धर्म का निकृष्टत्व और हिन्दू धर्म का श्रेष्ठत्व सिद्ध करके हिन्दू धर्म की इन लतिकाओं की रक्षा करता। जब स्वामीजी देहरादून पधारे तो छः मास की अवधि में केवल दो–चार दिन ही शेष रह गए थे। स्वामीजी को जब यह समाचार ज्ञात हुआ तो उन्होंने उन दोनों भाइयों की अपने पास बुलाया। ईसाइमत पर बातचीत होने लगी। उन दोनों ने देखा कि जो तर्क शिला के समान दीख पड़ते थे और विपक्षियों के उठाए न उठते थे, वे स्वामीजी के तर्क–वज्र से छिन्न–भिन्न हुए जाते हैं। अन्त को उन्हें ईसाईमत का असारत्व

स्वीकार करना पड़ा और उन्होंने ईसाई होने का विचार छोड़ दिया। स्वामीजी ने उनसे बहुतेरा कहा कि पादरियों को हमारे पास लाओ, परन्तु पादरी किसी प्रकार भी स्वामीजी के सामने आने के लिए सहमत नहीं हुए। पादरियोंने फिर उन लड़कों से कई प्रकार की धमकियाँ भी दीं कि यदि तुम ईसाई न होगे तो साहब कलेक्टर तुम से रुष्ट हो जाएँगे, परन्तु वे इन धमकियों में न आए। उनके पिता ने स्वामीजी के इस उपकार के बदले में कुछ धन स्वामीजी की भेंट करना चाहा, परन्तु उन्होंने उसे स्वीकार न किया और कह दिया कि इस धन से संस्कृत की पाठशाला बना दो।

**जन्म के मुसलमान की शुद्धि**– स्वामीजी देहरादून में एक जन्म के मुसलमान मुहम्मद उमर को शुद्ध करके उसका नाम अलखधारी रखा था।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया**– २९ अप्रैल सन् १८७९ ई० तदनुसार वैशाख शुक्ला ८ संवत् १९३६ वि० (मङ्गलवार) को देहरादून में आर्यसमाज स्थापित हो गया।

३० अप्रैल सन् १८७९ ई० को स्वामीजी देहरादून से सहारनपुर के लिए सवार हो गए। देहरादून से चलते समय पण्डित कृपाराम ने स्वामीजी को ४० रु० भेंट किए, परन्तु उनके बहुत कुछ आग्रह करने पर उन्होंने केवल ३० रु० ही लिए। सहारनपुर में स्वामीजी केवल दो दिन ही ठहरे और फिर कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्सकी के साथ मेरठ को चले गए।

## सहारनपुर (१८७९ ई०)

**कर्नल और मैडम**– कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की स्वामीजी के मिलने के अत्यन्त उत्सुक थे। वे इसी अभिप्राय से सहारनपुर आ गए थे। मुम्बई से ही उन्होंने स्वामीजी को लिखा था कि हम हरिद्वार आपसे मिलने आएँ, परन्तु स्वामीजी ने यह समझकर कि उन्हें मेले में बहुत कष्ट होगा और उपदेश कार्य के कारण उन्हें पूरा समय भी न दे सकेंगे, हरिद्वार आने से निषेध कर दिया था। जब कर्नल और मैडम सहारनपुर पहुँचे तो स्वामीजी देहरादून में थे। उक्त महानुभावों ने स्वामीजी को सूचना दी कि हम देहरादून आते हैं, परन्तु स्वामीजी ने उत्तर दिया कि आप यहाँ न आएँ हम स्वयम् ही सहारनपुर आते हैं। अत: १ मई सन् १८७९ ई० को स्वामीजी सहारनपुर आ गए। सहारनपुर के आर्य बन्धुओं ने कर्नल और मैडम का हृदय से स्वागत किया और उनकी सेवा सत्कार में कोई बात उठा न रखी। स्वामीजी दो दिन सहारनपुर रहे और कर्नल और मैडम से मिले। दो दिन के पश्चात् स्वामीजी दोनों व्यक्तियों को साथ लेकर मेरठ ३ मई को पहुँचे।

## मेरठ (१८७९ ई०)

जब स्वामीजी कर्नल और मैडम को लेकर ३ मई, १८७९ ई० तदनुसार वैशाख शुक्ला १२ संवत् १९३६ वि (शनिवार) को मेरठ रेलवे स्टेशन पर पहुँचे तो मेरठ के आर्य पुरुषों ने बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया[५७२] और कर्नल तथा मैडम को एक कोठी में और स्वामीजी को दूसरी कोठी में ठहराया।

**कर्नल और मैडम का बाह्य व्यवहार**– ६ मई तक कर्नल और मैडम स्वामीजी से मिलते और अधिकतर योग विषय पर बातचीत करते रहे। इस सम्मिलन में उन्होंने अपने किसी आचार–विचार से यह प्रकट नहीं किया कि वे ईश्वर और वेद में श्रद्धा और विश्वास नहीं रखते, बल्कि क्या वचन से और क्या कर्म से उन्होंने अपने आपको वैदिक धर्मी और आर्य ही प्रकट किया। वे आर्यों के समान खानपान और व्यवहार करते रहे और क्या निज में और क्या पब्लिक में अपने को आर्य ही कहते रहे। कर्नल और मैडम के व्याख्यान भी हुए, उनमें भी उन्होंने वैदिक धर्म का महत्त्व वर्णन किया

५७२– कर्नल हेनरी एस० आल्काट ने इसका विस्तृत विवरण अपनी– "Old Diary Leaves" की Second Series 1878-83 के अध्याय–६ में विस्तार से दिया हुआ है। हमारे संग्रह में इसके दो खण्ड 1874-78 और 1878-83 विद्यमान हैं जिनमें इस कालखण्ड में घटित सभी घटनाओं का विवरण अँग्रेजी भाषा में उनके द्वारा लिपिबद्ध किया गया है।

*–आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

और ईसाई धर्म का खण्डन किया। स्वमीजी ने इन लोगों के आचार-व्यवहार को देखकर इन पर विश्वास कर लिया। इनके अमेरिका से भेजे हुए पत्रों से जो विश्वास उत्पन्न हुआ था वह दृढ़तर हो गया। यहाँ तक कि उन्होंने अपने पत्र ता० ९-५-१८७९ ई० में बाबू माधोलालजी को उनके विषय में यह शब्द लिखे- "अमरीकन साहबों ने सब लोगों के चित्त पर यह निश्चय करा दिया कि जितनी भलाई और विद्या है वे सब वेद से निकली हैं, और जितने वेदविरुद्ध मत हैं वे सब पाखण्ड रूप हैं।"[५७३]

७ मई, १८७९ ई० को कर्नल और मैडम मुम्बई चले गए।

**मुहम्मद कासिम से शास्त्रार्थ की छेड़छाड़-** देवबन्द के प्रसिद्ध मौलवी मुहम्मद कासिम मेरठ आए और उन्होंने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की जिसे स्वामीजी ने तत्काल स्वीकार कर लिया, परन्तु जो लोग मौलवी साहब का शास्त्रार्थ करने का सन्देश लेकर आए थे उनसे उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि शास्त्रार्थ लेखबद्ध होगा और दर्शकों की संख्या नियत होगी। उस समय किसी ने इस पर आक्षेप नहीं किया। १० मई को शास्त्रार्थ के नियम निर्धारणार्थ सभा हुई, परन्तु उसमें बहुत भीड़ हो गई थी, अत: यह निश्चय हुआ कि उभय पक्ष की ओर से दस-दस सज्जन एक कमरे में बैठकर नियम बना लें। ऐसा ही हुआ भी। मिस्टर कैस्पियन, हेडमास्टर गवर्नमेण्ट हाईस्कूल को भी इस उपसभा में सम्मिलित किया गया। मुसलमान पहले से ही निम्नलिखित नियम बनाकर अपने साथ लाए थे, वे सभा में पढ़े गए।

*मुसलमानों के प्रस्तावित नियम-*

१- शास्त्रार्थ की तिथि में कम-से-कम आठ दिन का अन्तर होना चाहिए ताकि शास्त्रार्थ देखने के इच्छुक दूरदेशस्थ लोग भी उससे लाभ उठा सकें और यदि पण्डितजी को जाने की शीघ्रता हो तो इससे कम अन्तर सही।

२- जैसे पण्डितजी के व्याख्यान देते समय जो धर्मों पर आक्षेप करने का समय होता है उपस्थित होने वालों की कोई संख्या नियत नहीं की, ऐसे ही शास्त्रार्थ के समय जो औरों की ओर से उत्तर देने का समय होता है, उपस्थित होने वालों की संख्या नियत न होनी चाहिए।

३- वक्तृता के समय कोई ऐसी बात न रखी जावे जो वक्ता की वक्तृता में बाधक हो। जैसे यह न हो कि वक्ता एक वाक्य कह कर चुपका हो रहे, जब लिखने वाला लिख चुके तो फिर उसे कहने की आज्ञा हो, अन्यथा फिर लेखबद्ध और मौखिक शास्त्रार्थ में क्या भेद होगा?

४- शास्त्रार्थ का समय प्रात:काल के ७ बजे से ११ बजे तक होना चाहिए ताकि मुसलमानों को नमाज आदि धार्मिक आवश्यकताओं के लिए बैचेन होने की आवश्यकता न हो।

५- वक्तृता के लिए कोई समय नियत न किया जाए, क्योंकि कौन अपनी वक्तृता को समय पर नापतौल कर लाता है और यदि बिना कारण असम्बद्ध कथन के भय के कारण लिखना ही अभीष्ट हो और हम वक्तृता के अपूर्ण रह जाने से असफल मनोरथ रह जाने की आशङ्का पर दृष्टि न भी डालें तो भी अपने धर्म के महत्त्व को वर्णन करने वाले के लिए एक घण्टा और उत्तरदाता के आक्षेप के लिए आधे घण्टे से कम न होना चाहिए।

६- मुसलमानों को तो अपने धर्म के सत्य समझाने के लिए अन्य धर्मों के नेताओं को बुरा कहने की आवश्यकता नहीं, परन्तु अन्य धर्म वालों से यह आशङ्का है। इसलिए यह निवेदन करना आवश्यक है कि श्रीमान् इस्लाम के पैगम्बर, जिन पर हा दुरूद और सलाम तथा उनके महान् अनुयायियों का अपमान न होने पावे।

७- उभय पक्ष उर्दू भाषा में बातचीत करें और यथाशक्ति ऐसे शब्दों के प्रयोग से बचें जो औरों की समझ में न आवें।

८- शास्त्रार्थ का स्थान न वह स्थान हो जहाँ पण्डितजी उतरे हैं, न वह जगह हो जहाँ मौलवी मुहम्मद कासिम साहब ठहरे

५७३- देखो ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार पृष्ठ १५६। - *संग्रहकर्ता*

हैं। यदि हो तो वह जगह हो जो शहर, लाल कुर्ती, रजवन व सदर के बीच के लगभग हो ताकि किसी को अन्तर के न्यूनाधिक होने का आक्षेप न हो।

९- शास्त्रार्थ-गृह विस्तृत हो ताकि उपस्थित होने वालों को कष्ट न हो।

१०- यदि एक प्रश्न वा आक्षेप पण्डितजी की ओर से हो तो एक प्रश्न वा आक्षेप हमारी ओर से होना चाहिए।

*उक्त नियमों पर स्वामीजी की समालोचना-*

इन नियमों के सम्बन्ध में स्वामीजी ने अपना वक्तव्य इस प्रकार प्रकट किया-

१- मैं शास्त्रार्थ की प्रतीक्षा में नहीं रह सकता। आज से तीसरे दिन बुधवार को शास्त्रार्थ आरम्भ हो जाना चाहिए। (इसे मौलवी साहब ने स्वीकार कर लिया)

२ व ३- मौखिक शास्त्रार्थ कदापि मेरे मनोनीत नहीं हो सकता। मैंने शास्त्रार्थ के सन्देशहरों से पहले ही यह बात स्वीकार करा ली थी कि शास्त्रार्थ लेखबद्ध होगा और दर्शक चुने हुए होंगे और तभी मैंने आप लोगों को कष्ट दिया था। मौखिक शास्त्रार्थ में उभयपक्ष वालों को यह कहने का अवसर मिल जाता है कि हमने अमुक बात नहीं कही थी वा अमुक बात कही थी और हर एक अपनी जीत और दूसरे की हार बतलाने लगता है। लिखी बात को कोई बदल नहीं सकता। लिखी बात के आगे किसी को यह कहने का साहस भी नहीं हो सकता कि मैं जीता और विपक्षी हारा। लेखबद्ध शास्त्रार्थ को पढ़कर सहस्रों मनुष्य जो शास्त्रार्थ में उपस्थित न हुए हों, उससे उतना ही लाभ उठा सकते हैं जितना उपस्थित हुए लोग। शास्त्रार्थ शिक्षित और बुद्धिमान् मनुष्यों के लिए होता है न कि मूर्ख, अशिक्षित ओर उजड्ड लोगों के लिए। दर्शकों की संख्या नियत न होने से ऐसे ही लोगों का बाहुल्य होगा और उपद्रव होने का भय बना रहेगा। इसके अतिरिक्त आप जो कहते हैं कि सब लोगों को शास्त्रार्थ के देखने का अवसर मिलना चाहिए सो न जाने सबसे आपका क्या अभिप्राय है। सारे भारतवर्ष के लोग तो क्या मेरठ के भी सब लोग एकत्रित नहीं हो सकते, क्योंकि कोई स्थान इतना बड़ा नहीं हो सकता जिसमें सब नगर निवासी समा सकें और यदि दस बीस सहस्र आ भी गये तो सब लोग वक्तृताओं को सुन भी नहीं सकते। मौलवी साहब ने कहा कि लिपिबद्ध होने की दशा में वक्तृता का प्रवाह रुक जाता है और बुद्धि कुण्ठित हो जाती है (इस पर केस्पियन साहब ने कहा कि जिस वक्ता की यह दशा हो उसका परमेश्वर ही रक्षक है!)। घर बैठे लिखकर शास्त्रार्थ करने से वर्षों में भी कोई परिणाम नहीं निकलता। आमने-सामने बैठकर शास्त्रार्थ करने में परिणाम शीघ्र निकल आता है क्योंकि एक पक्ष को दूसरे पक्ष के आक्षेपों का उत्तर तुरन्त देना पड़ता है और जो उत्तर नहीं दे सकता उसका पक्ष गिरा हुआ समझा जाता है। व्याख्यान और शास्त्रार्थ में भेद है। व्याख्यान से व्याख्याता अपनी सम्मति प्रकट करता है और किसी को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होता। शास्त्रार्थ में एक आक्षेप करता है और दूसरा उसका उत्तर देता है।

४- प्रातःकाल राजकर्मचारी और न्यायालय से सम्बन्ध रखने वाले उपस्थित नहीं हो सकते। रात्रि का समय ही ठीक है। मुसलमान नमाज पढ़ने जा सकते हैं, उसमें बाधा नहीं पड़ेगी।

५- यदि समय नियत न किया जाएगा तो एक ही मनुष्य सारा समय ले लेगा। शास्त्रार्थ में अपने धर्म के गुणगान का कोई अवसर ही नहीं है, वहाँ तो प्रश्न करना और उत्तर लेना है। प्रश्नकर्ता के लिए अधिक समय की आवश्यकता नहीं है, प्रश्न तो थोड़ी ही देर में किया जा सकता है, हाँ उत्तर देने में अधिक समय लगता है, अतः प्रश्नकर्ता के लिए ५ और उत्तरदाता के लिए १५ मिनट होने चाहिए।

६- किसी धर्म के नेता के लिए कोई असभ्य वाक्य न कहा जाना चाहिए, परन्तु उसके वचन और कर्म पर अवश्य आक्षेप किया जाएगा क्योंकि बिना ऐसा किए शास्त्रार्थ असम्भव है। यदि मौलवी साहब का यहाँ भी वही अभिप्राय है जो चाँदापुर में था अर्थात् यह कि यदि कोई मुहम्मद साहब को बुरा कहेगा तो वह बध्य होगा, तो शास्त्रार्थ हो लिया, क्योंकि जब विपक्षी

का वध ही कर दिया गया तो शास्त्रार्थ कौन करेगा?

७- मैं जितनी भाषा जानता हूँ स्पष्ट-स्पष्ट कहूँगा यदि किसी पक्ष को कोई शब्द दूसरे पक्ष का समझ में न आवे तो उपस्थित जन में से कोई जो दोनों भाषाएँ जानते हों समझा दिया करें।

८ व ९ - (इस उप-सभा में) उपस्थित सज्जनों को अधिकार है कि वे चाहे जौन-सा स्थान नियत करें।

१०- मैं अनुमति देता हूँ कि पहले आप ही वेद पर आक्षेप करें और मैं उत्तर दूँ और फिर मैं कुरान पर आक्षेप करूँ और आप उत्तर दें।

जब कोई बात निश्चित न हो सकी तो यह ठहरा कि पाँच पञ्च नियत किए जावें और वे निर्णय कर दें। परन्तु ये पाँचों इकट्ठे न हो सके और मौलवी साहब ने स्वामीजी की बात न मानी जो सर्वथा न्याय और युक्ति के अनुकूल थी, वे अपनी ही अड़ पर जमे रहे और यहीं शास्त्रार्थ की बातचीत समाप्त हो गई। वास्तव में मौलवी साहब को शास्त्रार्थ करना ही अभीष्ट ही न था। वे तो उपद्रव का अवसर ढूँढना चाहते थे। उन्होंने यहाँ भी वही किया जो रुड़की में किया था।

## अलीगढ़-छलेसर (१८७९ ई०)

ज्येष्ठ शुक्ला प्रतिपदा संवत् १९३६ वि० अर्थात् २२ मई सन् १८७९ ई० (गुरुवार) को स्वामीजी मेरठ से अलीगढ़ चले गए और जाते ही वहाँ रुग्ण हो गए। वहाँ से वे २८ मई को छलेसर गए जहाँ उनकी सम्यक् रूप से चिकित्सा की गई। जब कुछ रोग मुक्त हो गए तब वे ३ जुलाई, १८७९ ई० को मुरादाबाद चले गए।

## मुरादाबाद (१८७९ ई०)

३ जुलाई सन् १८७९ ई० तदनुसार आषाढ़ पूर्णिमा संवत् १९३६ वि० (गुरुवार) को स्वामीजी मुरादाबाद पधारे और राजा जयकिशनदास की उसी कोठी में ठहरे जिसमें वे पहले ठहरे थे। स्वामीजी का शरीर रुग्ण था, अत: इस बार उनके केवल तीन ही व्याख्यान हुए। उनमें से एक व्याख्यान मुरादाबाद छावनी की पीली कोठी में हुआ था। यह व्याख्यान मुरादाबाद के तत्कालीन जॉइन्ट मजिस्ट्रेट मिस्टर स्पीडिङ्ग की इच्छा और अनुरोध से हुआ था और इसका प्रबन्ध भी उन्होंने ही किया था।

**राजनीति पर व्याख्यान**- श्रोताओं के लिए टिकिट रखे गए थे जो स्वामीजी के अनुयायियों और राजकर्मचारियों, वकीलों तथा प्रतिष्ठित और सुशिक्षित लोगों को ही दिए गए थे, अत: श्रोताओं की संख्या केवल तीन सौ के लगभग ही थी। इस व्याख्यान का विषय राजनीति था।

**मन्त्रोचरण से ही लोग मुग्ध हो गए**- प्रथम स्वामीजी ने '*शन्नो मित्र: शं वरुण:*' इत्यादि मन्त्र का ऐसे मधुर और गम्भीर स्वर में उच्चारण किया कि लोग सुनकर मुग्ध हो गए और सभा-स्थल में अपूर्व शान्ति छा गई। स्वामीजी ने राजा और प्रजा के धर्म और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को ऐसी विशद युक्ति-सङ्गत रीति में वर्णन किया कि लोग सुनकर चकित रह गए। एक संन्यासी से जो केवल संस्कृत ही जानता था राजनीति के गूढ़ तत्त्वों का ऐसा उत्तम विवेचन सुनना उनके लिए सर्वथा नूतन और अप्रत्याशित अनुभव था। ऐसा विवेचन तो उन्होंने किसी अँग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति से भी न सुना था और कॉलेज के ग्रेजुएटों ने अँग्रेजी की पुस्तकों में भी न पढ़ा था। व्याख्यान कई घण्टे तक होता रहा और लोग उन्हें एकमन होकर सुनते रहे।

**ज्वाइण्ट मजिस्ट्रेट के द्वारा प्रशंसा**- व्याख्यान के अन्त में स्पीडिङ्ग साहब ने उठकर स्वामीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा कि यदि राजा और प्रजा का एक दूसरे के प्रति ऐसा ही व्यवहार हुआ होता जैसा कि विद्वान् व्याख्याता ने वर्णन किया है तो सिपाही-विद्रोह का हत्या-काण्ड ही न होता और राजा और प्रजा को वे विपत्तियाँ न सहनी पड़तीं जो उन्हें सहनी पड़ीं। तत्पश्चात् उन्होंने स्वामीजी को धन्यवाद देकर सभा विसर्जित की।

**सभा में बैठकर कैसी भाषा बोलनी चाहिए**– अभी कुछ लोग सभा में बैठे हुए थे कि बाबू कालीप्रसन्न वकील किसी से अँग्रेजी में बातचीत करने लगे। इस पर स्वामीजी ने उन्हें उपदेश दिया कि सभा में बैठकर ऐसी भाषा में बातचीत करना जिसे अन्य सभासद् न समझ सकें अनुचित और चोरी की बात है। उनसे स्वामीजी ने यह भी कहा कि आप क्या कह रहे हैं, यह मुझे तो दूसरे अँग्रेजी जानने वाले बतला देंगे, परन्तु यदि मैं संस्कृत में बोलने लगूँ तो आपको कौन बताएगा?

**पीपलपत्ते का संस्कृत भाषण**– एक दिन एक पण्डित जिसका नाम नारायणदास और उपनाम पीपलपत्ता था, स्वामीजी से संस्कृत में बातचीत कर रहा था। कहीं स्वामीजी के मुख से कोई शब्द अशुद्ध निकल गया। उसने स्वामीजी को टोका जिसे उन्होंने सरलतापूर्वक स्वीकार कर लिया। परन्तु नारायणदास को तो मानो बन्दर को सोंठ की गाँठ ही हाथ आ गई, उसने समझा कि मेरा बराबर पंसारी ही नहीं है।

**भूल स्वीकार कर ली**– वह बात–बात में स्वामीजी से कहने लगा कि आपकी भूल मैंने पकड़ ली और अपने पाण्डित्य पर घमण्ड करने लगा, तब तो स्वामीजी ने उसे फटकारा कि अरे छोकरे मुझसे यदि भूल हो गई थी तो मैंने स्वीकार कर ली, परन्तु तू उसी पर आग्रह किए जाता है, यदि मैं भी हठ और दुराग्रह करने लगूँ तो मैं उस शब्द को ठीक सिद्ध कर सकता हूँ, परन्तु मैं तो ऐसा करना अधर्म समझता हूँ। यदि तुझमें कुछ विद्या है तो विद्या की बात कर। साहू श्यामसुन्दर के लघु भ्राता साहू ब्रजरत्न भी वहाँ बैठे हुए थे। तब तक वे स्वामीजी के अनुगत नहीं हुए थे। उन्होंने भी नारायणदास से कहा कि यदि आप वेद से मूर्त्तिपूजा सिद्ध कर सकें तो कोई मन्त्र प्रस्तुत कीजिए, परन्तु वह ऐसा कोई मन्त्र न बता सका और वहाँ से उठकर चला गया।

**डॉक्टर ने फीस नहीं ली**– स्वामीजी को उन दिनों संग्रहणी रोग ने कष्ट दे रक्खा था। पहले एक वैद्य से चिकित्सा कराई गई, जब उससे कुछ लाभ न हुआ तो मुरादाबाद के सिविल सर्जन डॉक्टर डीन से चिकित्सा कराई। स्वामीजी के भक्तों ने उन्हें २०० रु० फीस के देने चाहे, परन्तु इन्होंने यह कहकर फीस लेने से इन्कार कर दिया कि स्वामीजी जगदुपकारी पुरुष हैं, मैं इनकी चिकित्सा की फीस लेना नहीं चाहता। तब मुरादाबाद की बनी हुई कुछ वस्तुएँ उन्हें भेंट में दी गई जो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लीं और कहा कि इन्हें हम विलायत के म्यूजियम में रखेंगे।

**अभिवादन पर शब्द–विचार**– मुंशी इन्द्रमणि से स्वामीजी की इस बात पर कि आर्यों में अभिवादन का क्या शब्द होना चाहिए कुछ विवाद हुआ। स्वामीजी उससे पहले से ही *'नमस्ते'* शब्द निर्धारित कर चुके थे और उसी का प्रचार करते आ रहे थे। मुंशी इन्द्रमणि चाहते थे कि जब दो आर्य परस्पर मिलें तो एक कहे *'परमात्मा जयते'* और दूसरा उत्तर दे *'जयते परमात्मा'*। बात यह थी कि मुंशीजी ने यह अभिवादन–विधि मुसलमानों के अनुकरण में निर्धारित की थी। क्योंकि जब एक मुसलमान दूसरे से मिलता है तो कहता है *'अस्सलामो अलैकुम'* (शान्ति हो तुम पर) तो दूसरा उत्तर में कहता है *'व अलेकुमस्सलाम'* (और तुम पर हो शान्ति)। इस पर स्वामीजी और मुंशीजी में निम्न प्रकार वाद–प्रतिवाद हुआ–

*मुंशीजी*– हमने पहले *'जय गोपाल'* शब्द प्रचलित करना चाहा था, फिर *'परमात्मा जयते'* प्रचलित किया। उस पर लोगों ने बहुत द्वन्द मचाया और उपहास किया, परन्तु अब विवाद ठण्डा पड़ गया है, यदि अब *'नमस्ते'* शब्द प्रचलित किया जाएगा तो पुन: द्वन्द मचेगा। इसके अतिरिक्त अभिवादन में परमेश्वर का नाम आना चाहिए। नमस्ते करने में यह बुराई भी है कि जो राजा से *'नमस्ते'* कहा जावे तो राजा भी उसके उत्तर में *'नमस्ते'* कहे, चाहे वह मनुष्य बहुत क्षुद्र कोली वा चमार ही क्यों न हो।

*स्वामीजी*– मुंशीजी बड़ा किसे कहते हैं? जिस मनुष्य ने यह अभिमान किया कि मैं बड़ा हूँ, अर्थात् राजा वा विद्वान् वा शूरवीर हूँ, तो उसकी बड़ाई में दोष आ गया। देखिये जितने महाराजाधिराज, शूरवीर और विद्वान् हुए हैं उन्होंने अपने मुख से अपने आपको कभी बड़ा नहीं कहा। नमस्ते का अर्थ मान और सत्कार का है। इससे राजा और प्रजा दोनों को आपस में

नमस्ते कहना ठीक है। अब हम आपसे यह पूछते हैं कि आप अपने अन्त:करण से सत्य-सत्य कह दीजिए कि जब कोई मनुष्य आपके गृह पर आता है वा आपसे मिलता है तो आपके मन में क्या विचार आता है? इस पर मुंशीजी चुप रहे।

तब स्वामीजी ने कहा कि कौन नहीं जानता कि प्रतिष्ठित को देखकर उसका सम्मान और छोटे को देखकर उसके साथ सद्व्यवहार का विचार उस समय उत्पन्न होता है, फिर बतलाइए ऐसे अवसर पर परमेश्वर के नाम का क्या सम्बन्ध है? मनुष्यों को चाहिए कि जो उसके मन में हो वही वह अपने मुख से कहे और यह आपका दोष है कि आपने पहले *'जयगोपाल'* और फिर *'परमात्मा जयते'* प्रचलित किया। विचार करके ऐसा शब्द क्यों न प्रचलित किया जाए जो पहले एतद्देशवासियों में प्रचलित था। अत: सर्व आर्यसामाजिकों को *'नमस्ते'* कहना ही ठीक है जैसा कि सदा से महर्षि लोगों में प्रचार था और *'नमस्ते'* शब्द वेदों में भी आया है। इसमें हम यजुर्वेद से प्रमाण दे सकते हैं, आप *'परमात्मा जयते'* का किसी ग्रन्थ से प्रमाण नहीं दे सकते।

इसके पश्चात् उसी दिन मध्याह्नोत्तर में बहुत-से प्रमाण वेदों और आर्ष ग्रन्थों से निकालकर दिखलाए, तब मुंशीजी उत्तर तो कुछ न दे सके, परन्तु अपने हठ के कारण स्वामीजी की बात को भी स्वीकार न कर सके।

इस विषय पर भी लाला जगन्नाथदास ने जो कुछ देवेन्द्रबाबू से कहा वह भी इसी उद्देश्य से कहा जिससे स्वामीजी का लघुत्व और मुंशी इन्द्रमणि का महत्त्व प्रकट हो। उनका कथन है कि मुंशीजी ने कहा कि नमस्ते शब्द अशुद्ध है, इस पर स्वामीजी ने कहा कि अब तो यह प्रचलित हो गया है, अत: अब तो इसे ही चलने दो। इसके यह अर्थ हुआ कि मानो स्वामीजी ने नमस्ते शब्द का अशुद्ध होना स्वीकार कर लिया हो। जब नमस्ते शब्द अशुद्ध है ही नहीं तो स्वामीजी उसकी अशुद्धता कैसे स्वीकार कर लेते, जब कि हम देखते हैं कि स्वामीजी की युक्तियुक्त और प्रमाणपुष्ट बातों का मुंशीजी कुछ भी उत्तर नहीं दे सके थे।

लाला जगन्नाथदास ने जो कुछ भी उपर्युक्त विषय वा जीव के अनादित्व के विषय में कहा वह द्वेष से परिचालित होकर स्वामीजी के ऊपर दोषारोपण करने के अभिप्राय से ही कहा और अयथार्थ कहा, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

**नम: के अर्थ**- स्वामीजी की मुरादाबाद के पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र से, जिन्होंने यजुर्वेद का भाषार्थ छपवाया था, यजुर्वेद के *'नमो नम:'* वाले अध्याय के सम्बन्ध में बातें हुई थीं। उस अध्याय में कुक्कुरादि के प्रति भी *'नमो नम:'* का प्रयोग किया गया है। इस पर स्वामीजी ने कहा था कि नम: के अर्थ अन्न और वज्र के भी हैं।

**शास्त्रार्थी पण्डित काँपने लगे**- एक दिन तीन पण्डित स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के विचार से उनके पास आए। परन्तु शास्त्रार्थ करना तो अलग रहा स्वामीजी को देखकर ही काँपने लगे और उनके मुँह से बात तक निकलना कठिन हो गया। स्वामीजी ने उनकी यह दशा देखकर दयापूर्ण भाव से कहा कि आप लोग घबराएँ नहीं, सावधान होकर मुझसे कहो कि क्या पूछते हो। इस पर पण्डितों में कुछ साहस आया और उन्होंने कहा कि महाराज! आपके सम्मुख बातचीत करने का हमारा क्या सामर्थ्य है और इसके अतिरिक्त हम अकेले हैं, आपके सब शिष्य ही यहाँ बैठे हैं, तब हमारी कौन मानेगा? स्वामीजी ने कहा कि आपको अधर्म की बात कहते हुए लज्जा नहीं आती। देखो! आपके सामने हमारा शिष्य जगन्नाथदास (उपर्युक्त जगन्नाथदास) हमारे कहने मात्र से किसी बात को नहीं मानता और हमसे कह रहा है कि महाराज! जब तक आप प्रमाण सहित मुझे न बतलावेंगे मैं कभी न मानूँगा, ये लोग हमारी हाँ में हाँ मिलाने वाले नहीं हैं। पण्डितों ने ढङ्ग की कोई बात नहीं कही और व्यर्थ में समय गँवाकर चले गए।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया**- उन्हीं दिनों मुरादाबाद में आर्यसमाज स्थापित करने का आयोजन हुआ। २० जुलाई १८७९ ई० तदनुसार श्रावण शुक्ला प्रतिपदा संवत् १९३६ वि० (रविवार) को राजा जयकिशनदास की कोठी पर बाग की एक रविश में हवनकुण्ड खोदा गया और पुष्कल सामग्री तथा घृत प्रस्तुत किया गया तथा मोहनभोग भी बनाया गया। परन्तु वर्षा के

कारण उस जगह पर हवन न हो सका। बहुत देर तक वर्षा के बन्द हो जाने की प्रतीक्षा की गई, परन्तु वह बन्द न हुई। तब स्वामीजी ने आज्ञा दी कि बहुत देर हो गई है और वर्षा भी बन्द नहीं हो रही है, उपस्थित लोगों में कई धनाढ्य पुरुष भी हैं जो इस समय तक अपने-अपने घरों पर भोजन कर चुके होते, अत: कमरे के भीतर ही थोड़ा-सा हवन कर लिया जाए और उपस्थित लोगों को मोहनभोग बाँट दिया जाए। अत: स्वामीजी की इस आज्ञानुसार ही कार्य किया गया और आर्यसमाज स्थापित हो गया, जिसके प्रधान मुंशी इन्द्रमणि निर्वाचित हुए।

**स्वामीजी ने मोहनभोग में थूक दिया है**- जब मोहनभोग बाँटा गया तो धूर्त्त-मण्डली ने नगर में यह प्रसिद्ध कर दिया कि जो मोहनभोग लोगों ने खाया है उसमें पहले दयानन्द ने थूक दिया था। किसी ने उसी समय नगर से आकर यह बात स्वामीजी से कह दी, तो वे बहुत हँसे और कहने लगे मूर्खों में ही ऐसी ही बातें हुआ करती हैं। परन्तु ये कोरी बातें होकर ही न रहीं, अपितु बिरादरियों में पञ्चायतें होने लगीं और आर्यसमाज के सभासदों को, जिन लोगों ने मोहनभोग खाया था, जातिच्युत करने की धमकियाँ दी जाने लगीं। इस पर जो भीरुजन थे वे तो आर्यसमाज से अलग हो बैठे, परन्तु जो दृढ़ विचार के थे वे इन गीदड़ भभकियों में न आए और आर्यसमाज के सदस्य बने रहे।

**अब मैं तुम्हारे घर भोजन करूँगा**- स्वामीजी को यह ज्ञात हो गया था कि साहू श्यामसुन्दर ने अपने सब दुराचार छोड़ दिए हैं अत: उन्होंने साहू साहब से कहा कि अब हम तुम्हारे यहाँ भोजन करेंगे। तुम अग्निहोत्र और बलिवैश्वदेव किया करो। उस दिन वह साहू साहब के घर पर भोजन करने पधारे और उनकी माता से कहा कि जिस दिन तुम्हारा पुत्र बलिवैश्वदेव न करे उसे कदापि भोजन न देना।

स्वामीजी ३१ जुलाई, १८७९ ई० को मुरादाबाद से बदायूँ के लिए प्रस्थित हो गए।

## बदायूँ (१८७९ ई०)

मुरादाबाद से प्रस्थान करके स्वामीजी ३१ जुलाई सन् १८७९ ई० की रात्रि के तीन बजे बदायूँ पहुँचे। मुरादाबाद से ही बदायूँ आर्यसमाज के कुछ सभासद् उनके साथ आए थे। समाज के अन्य सभासद भी रेलवे स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए पहुँच गए थे। उनके निवास के लिए साहू गङ्गाराम के बाग में प्रबन्ध किया गया था।

बदायूँ में आर्यसमाज स्वामी के आगमन से पूर्व मई सन् १८७९ ई० में स्थापित हो गया था। स्वामीजी के आते ही धर्मजिज्ञासु सज्जन उनके पास आकर प्रश्नोत्तर करने लगे और उस धर्मरत्नाकर में से बहुमूल्य धर्मरत्न हृदय की जेबों में भर-भरकर ले-जाने लगे।

**श्रावणी का त्यौहार**- २ अगस्त १८७९ ई० (शनिवार) को पूर्णिमा पर श्रावणी का त्यौहार था। उस दिन प्रचलित रीति के अनुसार हिन्दू हाथों में एक डोरी, जो अनेक प्रकार की होती है, बाँधते हैं जिसका नाम रक्षा है। रक्षा बँधाने की रीति को रक्षाबन्धन कहते हैं और इसी कारण से इस त्यौहार का नाम रक्षाबन्धन पड़ गया है। प्राचीनकाल में इस दिन उपाकर्म होता था अर्थात् गुरुकुल विश्वविद्यालयों के अधिवेशन हुआ करते थे, जैसे अब यूनिवर्सिटियों के हुआ करते हैं, जिनमें वर्षा के आरम्भ में स्थगित किया हुआ वेदाध्ययन फिर से आरम्भ किया जाता था, इसका नाम श्रावणी वा ऋषितर्पणी था।

उस दिन युवा-वृद्ध जो भी स्वामीजी के पास आए अपने हाथों में 'रक्षा' बाँधे हुए थे। स्वामीजी उन्हें देखकर हँसे और कहा कि आप लोगों ने 'रक्षा' क्यों बाँधी है, आप अपने देश की रीति भूल गए। आज के दिन राजा की ओर से बृहद्यज्ञ होता था और जितने विद्यार्थी शालाओं में पढ़ते थे उनके हाथ में राजा की ओर से 'रक्षा' बाँधी जाती थी, जिससे प्रजा और राजपुरुष उनकी रक्षा करें और कोई उन्हें कष्ट न दे।

**शास्त्रार्थ**- ४ अगस्त, १८७९ ई० को कुछ पण्डितों की ओर से एक पत्र स्वामीजी के पास आया जिसमें उनसे शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की गई थी। इसे स्वामीजी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। यह शास्त्रार्थ दो दिन तक होता रहा। इसका संक्षिप्त

विवरण पण्डित लेखरामकृत उर्दू दयानन्द-चरित में इस प्रकार दिया हुआ है-

*पं॰ रामप्रसाद*- ईश्वर साकार है और इसमें यजुर्वेद अध्याय ३१ का पहला मन्त्र '*सहस्रशीर्षा पुरुष:*' इत्यादि प्रमाण है, यदि ईश्वर साकार नहीं तो उसे '*सहस्रशीर्षा*' इत्यादि क्यों लिखा है?

स्वामीजी- सहस्र कहते हैं सम्पूर्ण जगत् और असंख्य को, जिसमें असंख्य शिर, आँख और पैर ठहरे हुए हैं, उसे सहस्रशीर्षा आदि कहते हैं, यह नहीं कि उसके सहस्र शिर आदि हैं।

*पण्डित रामप्रसाद*- ने अमरकोष का प्रमाण दिया।

*स्वामीजी*- वेदों (वेदार्थ) में प्रमाण अमरकोष नहीं बल्कि निरुक्त और निघण्टु आदि हैं।

*पं॰ रामप्रसाद*- हमने तो वे पढ़े ही नहीं। विष्णु की स्त्री लक्ष्मी है और वह साकार है, लक्ष्मी-सूक्त इसमें प्रमाण है-

*अश्वपूर्णा रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिताम्।*
*श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्यदेवी जुगुप्यताम्।।*

इसमें जो विशेषण दिए गए हैं उनसे उसका साकार होना प्रमाणित होता है।

*स्वामीजी*- यह संहिता का वाक्य नहीं है और जो तुम उसे विष्णु की स्त्री समझ कर बुलाते हो तो विष्णु तुम्हें अपनी स्त्री नहीं देगा और उसके माँगने से तुम पाप के भागी होगे और वह भी व्यभिचारिणी ठहरेगी। लक्ष्मी के अर्थ राजलक्ष्मी और लक्ष्मी, राज्य की सामग्री और शोभा के हैं और इसी कारण इस श्लोक में हाथी, रथ और घोड़ों का उल्लेख है।

*पं॰ रामप्रसाद*- आप कहते हैं वेदों के पढ़ने का सबको अधिकार है, यह अनुचित है; वेद पढ़ने का अधिकार केवल द्विजों को है और उनमें भी मुख्यत: ब्राह्मणों को।

*स्वामीजी*- '*यथेमां वाचं कल्याणीम्*' इत्यादि इस मन्त्र से स्पष्टरूप से सिद्ध है कि वेद पढ़ने का सबको अधिकार है।

*पं॰ रामप्रसाद*- जो रामचन्द्र और कृष्णादि हुए हैं वे साक्षात् परमेश्वर के अवतार हैं।

*स्वामीजी*- ऐसा समझना वेदविरुद्ध है, परमेश्वर कभी अवतार नहीं लेता।

पं॰ रामप्रसाद- '*इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।*' यजुर्वेद के इस मन्त्र से विष्णु का वामनावतार सिद्ध होता है।

*स्वामीजी*- इससे वामनावतार सिद्ध नहीं होता। इसके अर्थ यह है कि परमेश्वर सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापित करके धारण कर रहा है, यह नहीं कि परमेश्वर ने तीन प्रकार से पैर रखा जैसा कि तुम कहते हो।

यहाँ पण्डित रामप्रसाद तो चुप हो गए, परन्तु पण्डित वृन्दावन बोले-

*वृन्दावन*- इससे कैसे ज्ञात हुआ कि विष्णु साकार नहीं है।

*स्वामीजी*- विष्णु (शब्द) के अर्थ तो करो कि वह किस धातु से बना है।

*वृन्दावन*- '*विष्लृ व्याप्तौ*'- धातु से विष्णु बनता है, अर्थात् जो सर्वव्यापक हो वह विष्णु है।

*स्वामीजी*- फिर जो व्यापक है वह साकार कैसे हो सकता है?

*पं॰ रामप्रसाद* - '*मृगो न भीम: कुचरो गिरिष्ठा:*'- यजुर्वेद के इस मन्त्र में जो कुचर शब्द आया है इससे मत्स्य आदि अवतार सिद्ध होते हैं, क्योंकि कुचर का अर्थ है, पृथिवी पर चलने वाला।

*स्वामीजी*- कुचर (शब्द) से मत्स्य आदि अवतार सिद्ध नहीं होते। 'कु' के अर्थ वेद में कभी पृथिवी के नहीं लिए जाते।

*पं॰ रामप्रसाद*- महीधर की टीका में तो ऐसा ही लिखा है।

*स्वामीजी*- महीधर की टीका बहुधा अशुद्ध है, निरुक्त और निघण्टु आदि के बिना वेद का शुद्ध अर्थ नहीं हो सकता।

*पं॰ रामप्रसाद*- फिर आपने महीधर की टीका क्यों रखी हुई है।

*स्वामीजी*- खण्डन करने के वास्ते। और देखो '*गणानां त्वा गणपतिँ हवामहे*' इत्यादि आठ-दस मन्त्रों पर इसका कैसा

अशुद्ध अर्थ है कि यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे आदि-आदि, क्या ऐसे अर्थ प्रमाण के योग्य हैं? वेदों पर जो ऋषियों की टीकाएँ हैं वे ही प्रमाण के योग्य हैं, और अवतार का न होना यजुर्वेद के *'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्'* इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है कि सर्वव्यापक परमेश्वर कल्याणस्वरूप है, काया (शरीर), नस-नाड़ी के बन्धन से रहित है, वह शुद्धस्वरूप और पापों से न्यारा है, उसने आदि-जगत् में अपनी अनादि-प्रजा जीवों के लिए वेद-विद्या का प्रकाश किया है।

ज्ञात होता है कि इन पण्डितों में कोई दुराग्रही नहीं था, क्योंकि जिस बात का वे उत्तर नहीं दे सकते उस पर उन्हीं ने व्यर्थ का वितण्डा नहीं किया।

**इसमें भूत का आवेश है**- श्रावणी के दिन (अर्थात् २ अगस्त, १८७९ ई० को ही) जो लोग स्वामीजी से मिलने आए थे, उनमें एक वैद्य भी थे, वे अपने साथ एक नवयुवक को भी लाए थे। उसके विषय में वैद्यजी ने कहा कि इसमें भूत का आवेश है, मैंने इसकी बहुत चिकित्सा की परन्तु इसे आराम नहीं हुआ। स्वामीजी ने कहा कि आप वैद्य होकर भी ऐसे अज्ञानी हो रहे हैं और ऐसी असत्य बात को मानते हैं। भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीन काल हैं, भूत योनि कोई नहीं है। वैद्यक ग्रन्थों में ऐसे कई रोगों का वर्णन है जिनके होने से मनुष्य उलटी चेष्टा करने लगते और अण्डबण्ड बकने लगते हैं, इसने कोई मादक वस्तु खा ली है। अन्त को यह बात सत्य निकली, उसने भाँग बहुत पी ली थी और उसी का सब विकार था। स्वामीजी ने उसके लिए एक औषधि भी बताई थी।

**केवल दो ही व्याख्यान हुए**- स्वामीजी के बदायूँ में दो ही व्याख्यान हुए, पहला- २ अगस्त को सन्ध्या के समय लाला गङ्गाप्रसाद के दीवानखाने में 'ईश्वर-विषय' पर और दूसरा कोठी चुङ्गी पर ३ अगस्त को 'धर्म-विषय' पर हुआ। श्रोता सहस्रों की संख्या में उपस्थित हुए। शेष व्याख्यान स्वामीजी के स्थल पर ही होते रहे।

**शास्त्रार्थी मुसलमान**- एक दिन बदायूँ के एक मुसलमान रईस कई लोगों के साथ स्वामीजी के पास आए और शास्त्रार्थ की इच्छा प्रकट की तो स्वामीजी ने कहा कि शास्त्रार्थ करने के लिए आप एक व्यक्ति को नियत कर लें और नियम स्थिर कर लें। इस पर उक्त रईस ने कहा कि हमने मौलवी मुहम्मद कासिम को तार दिया है, वे चार-पाँच दिन में आ जावेंगे। स्वामीजी ने कहा कि मुझे स्वीकार है, मेरा उनसे चाँदापुर में साक्षात् हो चुका है। इसके पश्चात् स्वामीजी कई दिन ठहरे रहे, परन्तु न मौलवी मुहम्मद कासिम आए और न फिर मुसलमानों की ओर से ही शास्त्रार्थ की कोई चिर्चा हुई।

**अँग्रेज पादरी**- एक दिन शाहजहाँपुर के एक अँग्रेज पादरी भी आए थे। वे अत्यन्त विनीतभाव से स्वामीजी से प्रश्नोत्तर करके चले गए थे।

**श्रद्धालु भक्त**- *'दयानन्द-प्रकाश'* में लिखा है कि एक व्यक्ति रामलाल कायमगञ्ज से मुरादाबाद स्वामीजी से यज्ञोपवीत लेने आए। स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके उसे यज्ञोपवीत दिया और गायत्री मन्त्र का उपदेश किया। वह १० दिन मुरादाबाद ठहरा और स्वामीजी के सत्सङ्ग से लाभ उठाता रहा। एक दिन उसने स्वमीजी से प्रश्न किया कि क्या आपके स्वास्थ्य पर कोई आघात पहुँचा है? उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि मुझे कई बार विष दिया गया है। यद्यपि मैंने उसे वमन और वस्ति-कर्म आदि से निकाल दिया फिर भी उसका कुछ न कुछ अंश रक्त में रह ही गया। इसी से मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया है, अन्यथा मेरी आयु १०० वर्ष से अधिक होती, परन्तु अब इस शरीर के और अधिक रहने की आशा नहीं है। इस पर रामलाल ने कहा कि फिर आप अपना कोई योग्य शिष्य क्यों नहीं बनाते। इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैंने पहले वैदिक पाठशालाएँ स्थापित कीं ताकि जो लोग उनमें से विद्वान् होकर निकलें वे वैदिकधर्म का प्रचार करें, परन्तु वे लोग इन पाठशालाओं में पढ़कर भी पौराणिक ही बने रहे। योग्य शिष्य न मिलने का यह भी एक कारण है कि मैंने अपने माता-पिता की सेवा नहीं की, फिर मुझे योग्य शिष्य कैसे मिलें? परन्तु आर्यसमाज में ऐसे लोग अवश्य उत्पन्न होंगे जो मेरे उद्देश्य का पालन करेंगे।

स्वामीजी १४ अगस्त, १८७९ ई० तदनुसार भाद्रपद कृष्णा १२ संवत् १९३६ वि० (गुरुवार) को बदायूँ से बरेली चले गए।

## बरेली (१८७९ ई०)

बरेली में स्वामीजी लाला लक्ष्मीनारायण खजाञ्ची की बेगमबाग नामक कोठी में ठहरे।

**पादरी स्काट से ३ दिन तक शास्त्रार्थ**- कई दिन तक स्वामीजी अपने मनोहारी उपदेशों से श्रोताओं को कृतार्थ करते रहे जिनमें कलेक्टर साहब तथा अन्य अँग्रेज व पादरी लोग तथा नगर के धनी-मानी पुरुष उपस्थित होकर लाभ उठाते रहे। एक दिन किसी ने यह प्रस्ताव किया कि श्री स्वामीजी का पादरी टी०जी० स्काट से शास्त्रार्थ हो जाए तो अच्छा है। इस प्रस्ताव को दोनों महानुभावों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और शास्त्रार्थ का स्थान 'पुस्तकालय'[५७४] और तिथियाँ २५, २६ तथा २७ अगस्त, १८७९ ई० की नियत हो गईं। शास्त्रार्थ-सभा के सभापति लाला लक्ष्मीनारायण खजाञ्ची ही नियत हुए। एक-एक दिन एक-एक विषय पर शास्त्रार्थ हो, दोनों पक्षों के प्रश्नोत्तर लिख लिए जावें जिन्हें तीन लेखक एक स्वामीजी के, दूसरा पादरी साहब के और तीसरा सभापति के पास बैठकर लिखे और जब एक पक्ष अपना वक्तव्य समाप्त कर चुके तब वह सभा में सुना दिया जावे और तीनों पर दोनों पक्षों के हस्ताक्षर हो जाएँ।

शास्त्रार्थ के विषय निम्नलिखित निश्चित हुए-

पहले दिन- आवागमन - स्वामीजी समर्थक, पादरी साहब समीक्षक।

दूसरे दिन- ईश्वर देह धारण करता है - पादरी साहब समर्थक, स्वामीजी समीक्षक।

तीसरे दिन- ईश्वर पापों को क्षमा करता है - पादरी साहब समर्थक, स्वामीजी समीक्षक।

तीनों दिन शास्त्रार्थ अत्यन्त शान्तिपूर्वक और नियमानुकूल हुआ। पीछे वह छप गया। यह शास्त्रार्थ '*पण्डित लेखराम कृत जीवन-चरित्र*' में ज्यों का त्यों दिया गया है। हम उसका सार नीचे दे रहे हैं-

**शास्त्रार्थ का पहला दिन**- विषय- *आवागमन* - दिनाङ्क- २५ अगस्त,१८७९ ई० (सोमवार)।

प्रथम स्वामीजी ने अपने पक्ष के समर्थन में कहा कि जीव और जीव के गुण, कर्म, स्वभाव अनादि हैं और परमेश्वर के न्याय करना आदि गुण भी अनादि हैं। जीव के कर्मों का, जो प्रवाहरूप से अनादि चले आते हैं ठीक-ठीक फल देना ईश्वर का काम है और कर्मफल जीव बिना शरीर धारण किए पा नहीं सकता, अत: आवागमन सिद्ध है। जीव के हर जन्म में सञ्चित और क्रियमाण कर्म होते हैं एक जन्म का क्रियमाण कर्म ही दूसरे जन्म का सञ्चित कर्म बनता है। जो जीव की उत्पत्ति मानी जावे तो उसका नाश भी मानना पड़ेगा क्योंकि उत्पत्ति और विनाश दोनों का ही कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

पादरी साहब के मुख्य आक्षेप ये थे कि यद्यपि पुनर्जन्म का सिद्धान्त पुराना है, परन्तु सभ्य और शिक्षित जातियाँ उसे छोड़ती चली जाती हैं, हिन्दू भी ज्यों-ज्यों शिक्षित होते जाते हैं इसे छोड़ते जाते हैं। यदि कर्म के अनादि होने से पुनर्जन्म होता है तो परमेश्वर का भी पुनर्जन्म होना चाहिए। जब जीव और परमेश्वर दोनों अनादि हैं तो एक प्रकार से दो परमेश्वर हुए। यदि पुनर्जन्म केवल पापों का फल भोगने के लिए है तो हमें याद क्यों नहीं रहता कि अमुक पाप का हमें अमुक दण्ड मिला। परमेश्वर सदैव सगुण रहता है वा कभी निर्गुण भी होता है। जन्म लेना परमेश्वर के किसी विशेष सामर्थ्य से हरदम होता रहता है या किसी सृष्टि नियम से होता है। मनुष्य को शान्ति एकजन्मवाद में ही मिलती है न कि पुनर्जन्मवाद में, क्योंकि एक जन्मवाद में मनुष्य अच्छे बनने का यत्न करते हैं ताकि एक बार कष्टों से छूटकर सदा सुख में रहें, पुनर्जन्मवाद में तो कभी दु:खों से छुटकारा ही नहीं हो सकता और सदा कर्म के चक्कर में रहना पड़ता है। पुनर्जन्मवाद से पाप भी बढ़ता

---

५७४- पुस्तकालय वह स्थान है जहाँ आजकल म्यूनिसिपल बोर्ड बरेली का दफ्तर है। - *संग्रहकर्ता*

है, क्योंकि मनुष्य यह समझ लेता है कि कभी न कभी तो अच्छा जन्म मिलेगा ही। यह विश्वास इञ्जील के विरुद्ध है, जो वेद से पुरानी पुस्तक है।

**स्वामीजी ने पादरी साहब के आक्षेपों और प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया**– यह कोई युक्ति नहीं है कि सभ्य जातियाँ पुनर्जन्म के विश्वास को छोड़ती जाती हैं, न पुरानी सब बातें सच्ची हैं और न नई सब झूठी। यदि पुरानी सब झूठी हैं तो बाइबिल भी पुरानी है, अत: वह भी झूठी है। रही शिक्षित हिन्दुओं के इस सिद्धान्त को छोड़ने की बात तो बहुत से ईसाई भी बाइबिल को तिलाञ्जलि देते जाते हैं। परमेश्वर का पुनर्जन्म नहीं होता, वह सर्वव्यापक और निराकार और नित्य मुक्त है। केवल अनादि होने से जीव ईश्वर नहीं हो सकता जब तक कि उसमें सब गुण एक से न हों। पुनर्जन्म पूर्वकृत पापों और पुण्यों का बुरा और अच्छा फल भोगने के लिए होता है। हमें इसी जन्म की बचपन की बातें याद नहीं रहतीं और सुषुप्ति अवस्था में कोई भी बात याद नहीं रहती। इससे बचपन की घटनाएँ असत्य सिद्ध नहीं हो सकतीं। जैसे रोगी और चिकित्सक दोनों ही जानते हैं कि रोग किस कुपथ्य आदि का फल है चाहे उसे कुपथ्य रोगी को स्मरण भी न हो, ऐसे ही संसार में दु:ख सुख देखकर पूर्व जन्म के कर्मों का अनुमान होता है। एक जन्म में विश्वास रखने से कभी शान्ति नहीं मिल सकती क्योंकि दु:खी मनुष्य सदैव बेचैन रहता है कि उसे दु:ख क्यों दिया गया जब कि उसका कोई अपराध नहीं था। पुनर्जन्म का विश्वासी जानता है कि सुख-दु:ख उसके पूर्व कर्मों के फल हैं। आगे के लिए उसका दुखी-सुखी होना उसके अपने कर्मों पर निर्भर है। पाप तो इस विश्वास से बढ़ता है कि हम किसी की सिफारिश से पापों के दण्ड से मुक्त हो जाएँगे। संसार में दु:ख-सुख, ऊँच-नीच की अवस्था यदि परमेश्वर ने बिना किसी कारण के कर दी तो वह न्यायकारी नहीं ठहरता। पुनर्जन्मवाद यदि इञ्जील के विरुद्ध है तो उससे वह असत्य सिद्ध नहीं होता। इञ्जील में बहुत सी भ्रममूलक बातें हैं। वेद में कोई भी ऐसी बात नहीं है, वह ईश्वरोक्त है। जीव कर्म के बन्धन से कभी सर्वथा मुक्त नहीं होता। कर्म करना जीव और उसे कर्मों का फल देना ईश्वर का स्वाभाविक गुण है। स्वाभाविक गुण सदा एकसे रहते हैं, न्यूनता अधिकता केवल नैमित्तिक गुणों में हुआ करती है। संसार में वेद ही सबसे पुरानी पुस्तक है। इसे यूरोप के भी सभी विद्वान् मानते हैं। पादरी साहब इसका कोई उत्तर नहीं दे सकते कि जीव कहाँ से आए और कहाँ रहेंगे। वे कहते हैं कि हम सर्वज्ञ नहीं हैं, तो फिर वे यह कैसे कहते हैं कि पुनर्जन्म नहीं है।

**शास्त्रार्थ का दूसरा दिन**– *विषय– ईश्वर देह धारण करता है वा नहीं ? दिनाङ्क– २६ अगस्त, १८७९ ई०* [५७५]

पादरी साहब ने कहा कि परमेश्वर के विषय में हमें अत्यन्त नम्रतापूर्वक विचार करना चाहिए। यह कहना कि हम परमेश्वर का सब हाल जानते हैं, मूर्खता है। हम उसके विषय में बहुत कम जानते हैं। आज दो प्रश्न हैं, एक तो यह कि परमेश्वर का देह धारण करना सम्भव है या नहीं, दूसरा यह कि ऐसा कभी हुआ या नहीं। ईश्वर की पुस्तक (बाइबिल) में लिखा है कि परमेश्वर ने मनुष्य को अपनी (शारीरिक नहीं आत्मिक) आकृति पर बनाया। जीवात्मा और परमात्मा के बहुत से गुण आपस में मिलते हैं, दोनों में मेल हो सकता है, इसलिए यदि परमेश्वर की इच्छा हो कि वह देह में प्रकट हो तो क्या यह असम्भव है?

स्वामीजी ने कहा कि प्रश्न यह नहीं है कि परमेश्वर का देह धारण करना सम्भव है या नहीं, बल्कि यह है कि वह देह धारण करता है या नहीं। मेरा इस पर यह प्रश्न है कि परमेश्वर को देह धारण करने की क्या आवश्यकता है? इसमें उसकी इच्छा में कोई प्रतिबन्ध है ही नहीं। देह धारण करने से वह साकार और एकदेशी हो जाएगा और उसका सृष्टिकर्त्ता होना असम्भव

---

५७५- स्वामी दयानन्द सरस्वती का ५५वाँ जन्मदिन, भाद्रपद शुक्ला ९, १० संवत् १९३६ वि० (मङ्गलवार) : इसी दिन स्वामीजी ने मुम्बई के थियोसोफिस्ट नामक अँग्रेजी मासिक पत्र के लिए अपना प्रारम्भिक 'जन्मचरित्र' छ: पृष्ठों में देवनागरी में लिखाकर उस पर अपने हस्ताक्षर किए थे।

हो जाएगा, उसे सारी सृष्टि का ज्ञान भी न रहेगा। परमेश्वर देह में सर्वथा आ जाता है वा टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। जीव और ईश्वर के गुण ठीक-ठीक मिलते हैं या नहीं, यदि मिलते हैं तो दो ईश्वर हुए।

इसके उत्तर में पादरी साहब ने केवल इतना ही कहा कि ईश्वर सर्वव्यापक तो है, परन्तु हमें इसके अर्थ पूर्णतया ज्ञात नहीं। परमेश्वर सारे शरीर में आ जाता है और बाहर भी रहता है, देह धारण करने के अर्थ देह में प्रकट होने के हैं। वह अपनी इच्छा से मनुष्यों को सन्मार्ग दिखाने के लिए होता है क्योंकि मनुष्य, जब तक उसके सामने कोई आदर्श पुरुष न हो, पाप से नहीं बच सकता। परमेश्वर ने मनुष्य को अपनी आकृति पर बनाया, बन्दर आदि को नहीं। उन्हें परमेश्वर ने जैसा चाहा वैसा बनाया। परमेश्वर के देह धारण करने से उसकी महत्ता कम नहीं होती। जीव सान्त, ईश्वर अनन्त है, अतः दो परमेश्वर नहीं हो सकते।

स्वामीजी ने कहा कि परमेश्वर पहले से ही सर्वव्यापक होने से देह में था। वह सर्वशक्तिमान् है, मनुष्य का पथप्रदर्शन बिना देह धारण किए हुए भी कर सकता है, यदि नहीं कर सकता तो वह अशक्त और असमर्थ हुआ। ईश्वर का देह धारण करना सर्वथा असम्भव है। मेरे कई प्रश्नों के पादरी साहब ने उत्तर नहीं दिए।

**शास्त्रार्थ का तीसरा दिन**- *विषय- 'ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है' दिनाङ्क- २७ अगस्त, १८७९ई० (बुधवार)*[५७६]

पादरी साहब ने कहा कि ईश्वर का और हमारा, राजा-प्रजा, पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। वह पापों के लिए दण्ड अवश्य देता है, परन्तु क्षमा भी करता है। लोक में भी पिता-पुत्र को दण्ड देता है और क्षमा भी करता है। दण्ड अपराधी के सुधार और अन्यों की शिक्षा के लिए होता है, परन्तु हम यह भी कहते हैं कि दण्ड शीघ्र छूट जाना चाहिए।

स्वामीजी ने कहा कि दण्ड देना और क्षमा करना दो परस्पर विरुद्ध बातें हैं। इससे परमेश्वर न्यायकारी नहीं रहता क्योंकि न्याय के अर्थ हैं कि जो जितना और जैसा कर्म करे उसे उतना और वैसा ही फल देना। पापी को क्षमा करने से पाप बढ़ता है। पापी को पाप करने का साहस होता है। परमेश्वर का न्याय करना स्वाभाविक गुण है, वह इससे उल्टा काम नहीं कर सकता, यदि क्षमा करेगा तो न्याय के विरुद्ध होगा। फिर परमेश्वर कौन-कौन से पाप क्षमा करता है और कौन-कौन से नहीं?

पादरी साहब ने कहा कि यह तो हम नहीं कह सकते कि परमेश्वर कहाँ तक दण्ड देता है और कहाँ तक क्षमा करता है, वह उसी का काम है। वेद में भी लिखा है कि अदिति पापों को क्षमा करती है जिसका उल्लेख म्योर साहब ने किया है। यदि केवल क्षमा, क्षमा हो और दण्ड बिलकुल न हो तो अवश्य पाप बढ़ेगा, परन्तु कई दशा में क्षमा नहीं करनी चाहिए। न्याय और दया एक ही हैं। क्षमा के विषय में इञ्जील का प्रमाण है, युक्ति भी है। क्षमा से कभी-कभी बड़े अच्छे परिणाम निकलते हैं, योहन्ना रसूल ने एक डाकू को क्षमा कर दिया था और फिर वह सुधर गया। इसके पक्ष में अनुभव भी है, बहुत से लोग हैं जिनका 'तौबह' करने से पाप छूट गया और उन्हें शान्ति प्राप्त हो गई। यदि क्षमा न होनी चाहिए तो यह शब्द ही भाषा में न रहना चाहिए। परमेश्वर ने ईसामसीह द्वारा संसार में क्षमा का प्रबन्ध कर दिया है।

स्वामीजी ने कहा कि परमेश्वर जो जानता हो सो जानता हो, परन्तु जिस अंश में आप पापों का क्षमा होना मानते हैं उस अंश तक भी जानते हैं वा नहीं। यदि किसी की सिफारिश से परमेश्वर पाप क्षमा करता है तो वह खुशामदी हुआ, न्यायकारी न हुआ। अदिति के अर्थ पृथ्वी, अन्तरिक्ष, माता, पिता, ईश्वरादि हैं। वेदों में पापों का क्षमा होना कहीं भी नहीं लिखा। आश्चर्य है कि अँग्रेजी जानने वाले वेदार्थ का निर्णय करें। सांसारिक माता-पिता का दृष्टान्त भी ठीक नहीं। पिता-पुत्र के पाप करने से अप्रसन्न ही होता है। कोई पिता क्षमा करता है कोई नहीं। यदि सब पिता क्षमा करते तो दृष्टान्त

५७६- स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भाद्रपद शुक्ला ११ संवत् १९३६ वि० (बुधवार) को अपना '*जन्मचरित्र*' प्रकाशनार्थ मुम्बई में अपने वेदभाष्य के प्रबन्धकर्त्ता मुंशी समर्थदान को एक पत्र के साथ भेजा।

ठीक होता। यदि क्षमा पापी के पवित्र होने के लिए है तो ठीक नहीं, क्योंकि क्षमा से पाप की निवृत्ति संसार में देखने में नहीं आती। यदि क्षमा अपवित्र होने के लिए है तो क्षमा व्यर्थ हुई।

**नास्तिक मुंशीराम**- इन दिनों बरेली में स्वार्गीय स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्व महात्मा मुंशीराम) के पिता शहर कोतवाल थे। मुंशीराम काशी में कॉलेज में पढ़ते थे। विषूचिका के फैल जाने के कारण कॉलेज में छुट्टी हो गई थी, अत: वे अपने पिता के पास बरेली चले आए थे। इन दिनों वे घोर नास्तिक थे और उन्हें संस्कृत भाषा में अत्यन्त अश्रद्धा थी, वे समझते थे कि उसमें कोई बुद्धिमत्ता की बात हो ही नहीं सकती। वेद का तो उन्होंने नाम भी न सुना था। उनके पिता कट्टर मूर्त्तिपूजक थे जो प्रतिदिन एक घण्टे तक पूजा किया करते थे। स्वामीजी के व्याख्यानों में वह प्रबन्ध-रक्षार्थ जाया करते थे। उन्हें अपने पुत्र के नास्तिक होने का पता था। पहला व्याख्यान सुनकर जब वे आए तो उन्होंने अपने पुत्र से कहा कि मुंशीराम! एक दण्डी संन्यासी आए हैं, बड़े विद्वान् और योगी हैं। तुम्हारे संशय उनकी वक्तृता सुनकर दूर हो जाएँगे।

अगले दिन स्वामीजी का व्याख्यान ईश्वर के निज नाम '*ओम्*' पर था। पिता-पुत्र दोनों व्याख्यान में गए। पुत्र के मन में अश्रद्धा थी, अविश्वास था। वह समझता था कि एक कोरा संस्कृतज्ञ साधु कोई बुद्धि-सङ्गत बात क्या कहेगा? व्याख्यान-स्थल में जाकर स्वामीजी की भव्य और विशाल मूर्त्ति को देखने मात्र से ही मुंशीराम की अश्रद्धा घटने और श्रद्धा बढ़ने लगी और जब उन्होंने देखा कि पादरी स्काट और अन्य दो तीन अँग्रेज भी व्याख्यान सुनने के लिए बड़े उत्सुक हैं तो श्रद्धा और भी वृद्धिगत हुई। अभी व्याख्यान आरम्भ हुए १० मिनट ही हुए होंगे कि मुंशीराम स्वामीजी के कथन को सुनकर चकित हो गए और मन ही मन कहने लगे कि यह विचित्र पुरुष है जो केवल संस्कृतज्ञ होकर ऐसी युक्तियुक्त बातें कहता है जिन्हें सुनकर विद्वान् लोग भी दङ्ग रह जाएँ। इसके पश्चात् मुंशीराम किसी व्याख्यान से भी अनुपस्थित नहीं रहे, यहाँ तक कि पादरी स्काट से जो स्वामीजी का तीन दिन तक शास्त्रार्थ हुआ उसमें दो दिन तक उन्होंने स्वामीजी के पक्ष में कार्य किया। तीसरे दिन तीव्र ज्वर आ जाने के कारण वे जा ही न सके।

तीन दिन तक मुंशीराम ने श्रीसेवा में उपस्थित होकर 'ईश्वर-विषय' में प्रश्नोत्तर किए, परन्तु ५ मिनट में ही स्वामीजी ने उन्हें निरुत्तर कर दिया, अन्त में प्रतिदिन वे यही कहकर चले आते रहे कि महाराज! आपकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है, आपने मुझे निरुत्तर तो कर दिया, परन्तु मुझे विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर है। अन्तिम दिन जब मुंशीराम ने यही वाक्य फिर कहा तो स्वामीजी हँस पड़े और बोले कि देखो तुमने प्रश्न किए, मैंने उत्तर दिए। यह युक्ति की बात थी। मैंने तुमसे कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा ईश्वर पर विश्वास करा दूँगा। तुम्हारा विश्वास ईश्वर पर उस समय होगा जब कि ईश्वर तुम्हें स्वयं अपने ऊपर विश्वास कराएगा। उस समय तो मुंशीराम नास्तिक ही रहे परन्तु पीछे एक समय आया जब उन्हें स्वयमेव ईश्वर पर दृढ़ विश्वास हो गया और तब उन्हें स्वामीजी का कथन याद आया और उन्होंने कहा कि दयानन्द सच्चा ऋषि था।[५७७]

**दोष बच्चों के बच्चों का है**- एक दिन व्याख्यान की समाप्ति पर कुछ लोगों ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि कल आदित्यवार है, यदि व्याख्यान एक घण्टा पूर्व आरम्भ कर दिया जाए तो उत्तम है। स्वामीजी ने यह बात स्वीकार कर ली परन्तु कहा कि मैं तो एक घण्टा पूर्व आ जाऊँगा, परन्तु गाड़ी भी एक घण्टा पूर्व पहुँच जानी चाहिए क्योंकि मैं व्याख्यान स्थल में आने के लिए ठीक उस समय तैयार होता हूँ ,जब व्याख्यान के आरम्भ होने में १५ मिनट रह जाते हैं। लाला लक्ष्मीनारायण ने कहा कि गाड़ी नियत समय से एक घण्टा पहले पहुँच जाएगी। अत: अगले दिन अन्य दिनों की अपेक्षा से एक घण्टा पहले से ही श्रोता इकट्ठे हो गए। नियत समय बीत गया परन्तु स्वामीजी न आए। पूरा पौन घण्टा पीछे

---

५७७- स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने जीवन की इस घटना का उल्लेख अपनी आत्मकथा- 'कल्याण मार्ग का पथिक' में किया है। - *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

स्वामीजी पधारे और आते ही कहा कि मैं तो नियत समय पर आने को तैयार था, परन्तु गाड़ी न पहुँची। तब मैं प्रतीक्षा करके पैदल ही चल पड़ा। मार्ग में गाड़ी मिली। यही देरी का कारण है। सभ्य जनो! इसमें मेरा दोष नहीं है, दोष बच्चों के बच्चों का है, जो प्रतिज्ञा–पालन करना नहीं जानते। इस पर लाला लक्ष्मीनारायण बहुत लज्जित हुए और गर्दन झुकाए हुए सुनते रहे।

**इनकी लीला देखी अब उनकी देखो**– एक दिन व्याख्यान में बरेली के कलेक्टर, कमिश्नर, पादरी स्काट और कतिपय अन्य अँग्रेज उपस्थित थे। स्वामीजी पुराणों के दोषों का वर्णन कर रहे थे। वर्णन ऐसा विनोदमय था कि उसे सुनकर क्या अँग्रेज और क्या भारतीय सभी पुरुष हँस रहे थे। पौराणिकों के इस विश्वास का कि द्रौपदी, तारा, मन्दोदरी आदि कुमारी हैं, स्वामीजी ने खण्डन करते हुए पौराणिकों की बुद्धि पर खेद प्रकट किया कि ये लोग द्रौपदी के पाँच पति बतलाते हैं और फिर भी उसे कुमारी कहते हैं। स्वामीजी ने जब देखा कि अँग्रेज लोगों की हँसी बड़ी अवज्ञा और ग्लानिसूचक है, अतः इस विषय को उन्होंने समाप्त कर दिया और बोले कि यह तो हुई पुराणियों की लीला अब किरानियों की सुनो। ये कुमारी के पेट से पुत्र उत्पन्न होना बतलाते हैं और दोष सर्वज्ञ शुद्ध स्वरूप परमात्मा पर लगाते हैं और ऐसा घोर पाप करते हुए ये तनिक भी लज्जित नहीं होते। फिर क्या था अँग्रेजों की हँसी क्रोध में परिवर्त्तित हो गई। कलेक्टर और कमिश्नर के चेहरे क्रोध से तमतमा उठे। स्वामीजी ने इसकी तनिक भी परवाह न की और ईसाई धर्म की तीव्र आलोचना में कुछ भी कमी न छोड़ी।

**कमिश्नर अप्रसन्न**– कमिश्नर ने अगले दिन प्रातःकाल ही लक्ष्मीनारायण को अपने बँगले पर बुलाकर उनसे कहा कि अपने पण्डित से कह दो कि बहुत सख्ती से काम न लिया करें। हम ईसाई लोग तो सभ्य हैं, हम वाद–विवाद में सख्ती से नहीं घबराते, परन्तु यदि अशिक्षित हिन्दू और मुसलमान उत्तेजित हो गए तो तुम्हारे पण्डित के व्याख्यान बन्द हो जाएँगे।

**कमिश्नर का सन्देश कौन दे**– लाला लक्ष्मीनारायण साहब कमिश्नर को यह वचन देकर कि मैं आपकी आज्ञा स्वामीजी तक पहुँचा दूँगा, वापस आ गए। अब वह बड़े असमञ्जस में पड़े। वचन देने को तो दे आए, परन्तु स्वामीजी से कहें कैसे। उनमें इतना साहस कहाँ से आता। उन्होंने अपने अन्य मित्रों से भी स्वामीजी तक कमिश्नर का सन्देश पहुँचाने की प्रार्थना की, परन्तु सब कानों पर हाथ रख गए, अन्त को ज्यों–त्यों करके एक नास्तिक को पक्का किया। वह और लाला लक्ष्मीनारायण स्वामीजी के पास गए। नास्तिक महोदय भी लड़खड़ा गए और उन्होंने स्वामीजी से केवल इतना ही कहा कि खजाञ्ची साहब आपसे कुछ निवेदन करना चाहते हैं, इन्हें कमिश्नर साहब ने बुलाया था, अब तो सारी विपत्ति खजाञ्ची साहब के सिर पर ही आ पड़ी।

**सन्देशहर की दुर्दशा**– खजाञ्ची साहब की दशा देखते ही बनती थी, वे कभी अपना सिर खुजलाते थे, कभी खखारते थे, परन्तु उनके मुँह से एक शब्द भी न निकलता था। जब इस प्रकार कई मिनट हो गए तो स्वामीजी ने कहा कि तुम्हारा तो कोई काम करने का समय नहीं है, इसलिए तुम समय का कुछ मूल्य ही नहीं समझते, मेरा समय अमूल्य है, जो कुछ कहना है कह दो। तब खजाञ्ची साहब ने अटक–अटक कर बड़ी कठिनता से कहा कि महाराज यदि सख्ती न की जाए तो क्या हानि है, इससे प्रभाव भी अच्छा पड़ता है और अँग्रेजों को अप्रसन्न करना भी अच्छा नहीं है इत्यादि। यह सुनकर स्वामीजी हँस पड़े और बोले कि अरे! बात क्या थी, जिसके लिए इतना गिड़गिड़ाया और हमारा इतना समय नष्ट किया। साहब ने कहा होगा कि तुम्हारा पण्डित सख्त बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जाएँगे, यह होगा, वह होगा। अरे भाई मैं कोई हव्वा तो नहीं हूँ कि तुझे खा लूँगा। उसने तुझसे कहा तू मुझसे सीधा कह देता, व्यर्थ में इतना समय क्यों गँवाया?

**यह अवतार है**– एक विश्वासी पौराणिक हिन्दू भी वहाँ बैठा हुआ था। यह सब सुनकर वह बोला कि देखा, यह तो कोई अवतार हैं जो मन की बात जान लेते हैं।

**कोई अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे**– उस दिन व्याख्यान आत्मा के स्वरूप पर था। प्रसङ्गवश स्वामीजी ने सत्य

के बल पर कथन करना आरम्भ कर दिया। पादरी स्काट को छोड़कर पिछले दिन वाले सब अँग्रेज वहाँ उपस्थित थे। सब लोग चुपचाप और तन्मय होकर व्याख्यान को सुन रहे थे। स्वामीजी ने कुछ देर तक सत्य के महत्व का वर्णन करके कहा कि लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलेक्टर क्रुद्ध होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे चक्रवती राजा ही क्यों न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे। इतना कहकर स्वामीजी ने गीता का एक श्लोक पढ़ा, जिसमें कहा गया था कि आत्मा का कोई हथियार छेदन नहीं कर सकता, न उसे आग ही जला सकती है, इत्यादि और फिर गरजकर बोले कि यह शरीर तो अनित्य है, इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है, इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नष्ट कर दे और चारों ओर अपने नेत्र की ज्योति डालकर, सिंहनाद करते हुए कहा, परन्तु मुझे वह शूरवीर दिखलाओ जो यह कहता हो कि वह मेरे आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर इस संसार में दिखाई नहीं देता, तब तक मैं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं हूँ कि मैं सत्य को दबाऊँगा या नहीं। स्वामीजी के ये शब्द सुनकर सारे हॉल में सन्नाटा छा गया।

**भक्त स्काट नहीं आए**– पादरी स्काट स्वामीजी के भक्त बन गए थे। सिवाय उपर्युक्त व्याख्यान के वह अन्य किसी व्याख्यान में अनुपस्थित नहीं हुए थे। स्वामीजी इसी कारण से उन्हें भक्त स्काट के नाम से अभिहित किया करते थे। व्याख्यान की समाप्ति पर स्वामीजी ने कहा कि आज भक्त स्काट नहीं आए। इस पर किसी ने बतलाया कि आज आदित्यवार है, वे पास के गिरजे में उपदेश किया करते हैं। तब स्वामीजी ने कहा चलो आज भक्त स्काट का गिरजा देख आवें। उस समय तक अनेक श्रोता चले गए थे फिर भी ३००, ४०० उपस्थित थे। सबके सब स्वामीजी के साथ हो लिए। जब स्वामीजी गिरजे में पहुँचे तो पादरी साहब का उपदेश समाप्त ही हुआ था। १०० के लगभग श्रोता थे। पादरी साहब स्वामीजी को आता देखकर वेदी से नीचे उतर पड़े और स्वामीजी से उस पर बैठकर कुछ उपदेश करने की प्रार्थना की। परन्तु स्वामीजी ने खड़े-खड़े ही २० मिनट तक मनुष्य-पूजा का खण्डन किया जिसे सब लोग चुपचाप सुनते रहे।

**खत्री के वीर्य से वेश्या-पुत्र को क्या कहेंगे**– लाला लक्ष्मीनारायण ने एक वेश्या रखी हुई थी। स्वामीजी ने एक दिन उनसे पूछा कि आपका क्या वर्ण है। उन्होंने कहा कि आप तो वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मानुसार मानते हैं, मैं क्या उत्तर दूँ। स्वामीजी बोले कि यों तो सभी वर्णसङ्कर हैं किन्तु लोक के अनुसार तुम अपने को क्या कहते हो। उत्तर में उन्होंने कहा कि मैं खत्री हूँ। स्वामीजी बोले कि यदि खत्री के वीर्य से वेश्या के पुत्र उत्पन्न हो तो उसे क्या कहोगे। खजाञ्ची ने यह सुनकर लज्जा से अपना सिर नीचा कर लिया, तब स्वामीजी ने कहा कि सुनो भाई हम किसी का पक्षपात नहीं करते, हम तो सत्य ही कहेंगे। खजाञ्ची साहब ने उसी रात को उस वेश्या को निकाल दिया।

**तार्किक का तर्क कुण्ठित**– बाबू विष्णुलाल एम०ए० वकील बरेली को अपने दार्शनिक ज्ञान पर बड़ा घमण्ड था। वह पूर्वीय दर्शन को तुच्छ दृष्टि से देखते थे। एक दिन वे कुछ मित्रों के साथ स्वामीजी के पास गए और पूर्वीय-पश्चिमीय दर्शन पर वार्त्तालाप करने लगे। उन्होंने अपने विचार में पूर्वीय दर्शन का ऐसा खण्डन किया कि वे यह समझने लगे कि स्वामीजी उनके आक्षेपों का निराकरण न कर सकेंगे, परन्तु जब स्वामीजी ने उनके तर्कजाल को छिन्न-भिन्न करना आरम्भ किया तो वे देखते के देखते ही रह गए और उन्हें स्वयं अपनी सम्मति भ्रमयुक्त प्रतीत होने लगी तथा उन्होंने अपने मित्रों से कहा कि स्वामी पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों दर्शनों को जानते हैं। इनका तात्त्विक ज्ञान हम लोगों से बहुत बढ़ा चढ़ा है।[५७८]

---

५७८- बरेली में एक पण्डित विष्णुलाल एम०ए० वकील और भी थे जो सब-जज हो गये थे। उन्हें पक्षाघात रोग के कारण बहुत थोड़े काल सेवा करने के पश्चात् ही पेंशन लेनी पड़ी थी। वह दृढ़ आर्यसमाजी और स्वामीजी के अनन्य भक्त रहे। उपर्युक्त बाबू विष्णुलाल अग्रवाल थे और थियोसोफिस्ट हो गए थे। वे कुछ सनकी-से थे। एक बार वे लाहौर में गए और एक व्याख्यान दिया जिसमें कहा कि मुझे सिद्धियाँ प्राप्त हैं। कोई व्यक्ति मेरी उँगली नहीं काट सकता, यदि काट भी दे तो वह शीघ्र ही ठीक हो जाएगी और अपना हाथ आगे बढ़ाकर उपस्थित लोगों से कहा कि कोई आकर मेरी उँगली काट डाले। उस समय तो किसी ने यह क्रूर कार्य

*'दयानन्द प्रकाश'* में महात्मा मुंशीराम के सम्बन्ध में इतना और लिखा है-

**ध्यानावस्थित देखने की धुन**- अब महात्मा मुंशीराम को यह धुन समाई कि स्वामीजी की जीवनचर्या देखनी चाहिए। इस लग्न में मग्न वे पहली बार तो रात के ढाई बजे ही गाड़ी में बैठकर उस उद्यान के निकट जा पहुँचे जहाँ स्वामीजी का निवास था। कौपीनमात्र धारण किए महामुनि उद्यान से बाहर भ्रमणार्थ जाने लगे तो वे भी उनके पीछे-पीछे हो लिए। स्वामीजी की गति का वेग इतना तीव्र था कि महात्माजी थोड़ी देर ही पीछे चलकर हाँफने लगे और गाड़ी में बैठकर घर चले आए परन्तु अगले दिन उनकी लग्न की मात्रा फिर इतनी बढ़ गई कि वे रात के बारह बजे ही उठ बैठे और उद्यान के समीप जा खड़े हुए। इस बार वे बहुत दूर तक उनके पीछे गए। तब वे स्वामीजी को कुछ काल तक ध्यानावस्थित हुआ भी अवलोकित कर सके।[५७९]

**स्वलिखित जीवन-चरित**- बरेली से ही स्वामीजी ने स्व-लिखित जीवन-चरित का कुछ भाग थियासोफिस्ट पत्र में छपने के लिए भिजवाया, शेष पीछे किसी अन्य स्थान से भिजवाया होगा। उसका अँग्रेजी अनुवाद थियासोफिस्ट में क्रमागत रूप से प्रकाशित हुआ। जो स्वलिखित जीवन-चरित आजकल आर्य्यभाषा और उर्दू में मिलता है वह उसी अँग्रेजी अनुवाद का अनुवाद है। देवेन्द्रबाबू ने भी उसका बङ्गला अनुवाद प्रकाशित किया था। मूल लेख का कुछ पता नहीं लगा। ज्ञात नहीं कि वह थियोसोफिस्ट के कार्यालय में रहा वा अनुवादक के पास। दु:ख है कि उसकी प्रतिलिपि रखने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया।

**इस 'दयानन्द-दिवाकर' ग्रन्थ के सम्पादक का इस 'जन्मचरित्र' के सम्बन्ध में कथ्य**- भारत में आर्यसमाज की स्थापना के सवा सात महीने बाद अमेरिका के न्यूयार्क नगर में १७ नवम्बर १८७५ को **'थियोसोफिकल सोसायटी'** की स्थापना हेनरी स्टील आल्काट (१८३२-१९०७) और मैडम हेलेना पेट्रोव्ना ब्लावट्स्की (१८३१-९१) ने मिलकर की और स्वयं इस संस्था के क्रमश: प्रधान और मन्त्री बने। संस्था के तीन उद्देश्य घोषित किए गए अर्थात् (१) बिना वंश, पंथ, लिङ्ग, जाति और वर्ण विचार के मानवता के विश्‍व बन्धुत्व के एक केन्द्र का निर्माण करना, (२) विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन और दर्शन एवं विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन देना, तथा (३) प्रकृति के अज्ञात रहस्यों और मानव में छुपी हुई शक्तियों का पता लगाना।

सोसायटी की स्थापना से पूर्व मैडम एच०पी० ब्लावट्स्की १८५२ में लङ्का से कन्याकुमारी होकर भारत आईं थीं और उन्होंने भारत से तिब्बत में प्रवेश करने का प्रयास किया था, परन्तु असफल रहने से वे जावा होकर इंग्लैंड वापस लौट गईं। दुबारा जापान होकर १८५५ ई० में वे फिर भारत आईं और पूरे भारतवर्ष, काश्मीर, लद्दाख, तिब्बत के कुछ भागों और बर्मा में १८५६-५७ के मध्य घूमती रहीं एवं पुन: जावा होकर १८५८ ई० में यूरोप लौट गईं। इसलिए अपनी संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारत भूमि की अनुकूलता के प्रति उनका स्वाभाविक ही आकर्षण था। इसी बीच कर्नल एच०एस० आल्काट की १८७७ ई० में एक अमरीकी यात्री से भेंट हुई जो हाल ही में भारत की यात्रा करके अमेरिका लौटा था। उन्होंने

---

करने की निर्दयता न की, परन्तु रात्रि में कुछ लोग उनके पास गए और कहा कि हम उँगली काटने के लिए तैयार हैं, परन्तु लिख दीजिए कि आप हम पर दावा नहीं करेंगे। वकील साहब ने ऐसा ही लिख दिया और यह भी लिख दिया कि यदि उँगली कट गई तो मैं कहता हूँ कि थियोसोफिकल सोसाइटी में कोई महात्मा नहीं। इसके पश्चात् ठाकुर सिंह नामक गवर्नमेण्ट कॉलेज के एक विद्यार्थी ने वास्तव में उनकी उँगली काट डाली और उनकी तथा सोसाइटी की सब कलई खुल गई। यह घटना लेखरामकृत *'दयानन्द-चरित'* के पृष्ठ ८४६ पर अङ्कित है।

५७९- महात्मा मुंशीराम ने बरेली की स्वामीजी सम्बन्धी घटनाओं का उल्लेख पण्डित लेखरामकृत दयानन्द चरित की भूमिका में किया है, परन्तु उसमें उपर्युक्त घटना का वर्णन नहीं है। सम्भव है उन्होंने इसका वर्णन कहीं अन्यत्र किया हो वा मौखिक रूप से *'दयानन्द-प्रकाश'* के रचयिता से किया हो। - *संग्रहकर्ता*

उसे दो भारतीय व्यक्तियों के चित्र दिखाते हुए पूछा कि क्या इनमें से वह किसी को भी जानता है? तब उस यात्री ने कर्नल आल्काट को मूलजी ठाकरसी से हाल ही में मुम्बई में भेंट होने के विषय में बताया। कर्नल आल्काट ने उससे मूलजी ठाकरसी का पता लेकर उन्हें अपनी संस्था के उद्देश्यों की जानकारी देते हुए और भारत के प्रति अपना असीम प्रेम जताते हुए एक पत्र लिखा जिसके प्रत्युत्तर में मूलजी ठाकरसी ने उन्हें स्वामी दयानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व और उनके कार्यकलापों की जानकारी देते हुए एक उत्साहवर्द्धक पत्र लिखा और मुम्बई आर्यसमाज के प्रधान हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के माध्यम से स्वामी जी से पत्र-व्यवहार करने का परामर्श दिया। इसके फलस्वरूप कर्नल और स्वामी जी के मध्य पत्राचार प्रारम्भ हुआ जिससे उनका स्वामी जी के प्रति इतना आकर्षण बढ़ा कि वे भारत आने को आतुर हो उठे।

अत: कर्नल एच०एस० आल्काट एवं मैडम एच०पी० ब्लावट्स्की १७ दिसम्बर १८७८ ई० को न्यूयार्क से चलकर लन्दन होते हुए १६ फरवरी १८७९ ई० को रात्रि में १० बजे जहाज द्वारा मुम्बई पहुँचे और दूसरे दिन प्रात: जहाज से उतरकर हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के यहाँ ठहरे। भारत आकर ये लोग स्वामी जी से तत्काल मिलने के इच्छुक थे, अत: उन्होंने मुम्बई पहुँचते ही एक तार स्वामी जी को भेजा कि हम लोग आपसे तुरन्त मिलना चाहते हैं। इसके उत्तर में स्वामी जी ने उन्हें सूचित किया कि अभी तो वे हरिद्वार के कुम्भ के मेले में जा रहे हैं जहाँ आप लोग न आएँ क्योंकि वहाँ हैजा फैलने की सम्भावना है। इसलिए कुछ समय तक भारत भ्रमण करने के पश्चात् ये लोग मूलजी ठाकरसी को साथ लेकर १ मई १८७९ को स्वामी जी से सहारनपुर में मिले और उनके साथ ३ मई को मेरठ आ गए। मेरठ में उन्होंने स्वामी जी से अनेक विषयों पर चर्चा की, स्वामी जी का पूर्व-चरित्र उनमें से मुख्य था। फिर वे ७ मई १८७९ को वापस मुम्बई लौट गए।

मुम्बई से कर्नल आल्काट ने स्वामी जी को १० जून और ५ जुलाई १८७९ ई० को दो पत्र लिखे। एक पत्र मैडम एच० पी० ब्लावट्स्की ने भी ३० जून को देवनागरी में लिखवाकर भेजा। इनमें स्वामी जी से निवेदन किया गया था कि वे अपना आत्म-चरित्र लिखकर उनके पास भेज दें जिसे वे प्रकाशित करना चाहते हैं। उन्होंने स्वामी जी को यह भी सूचित किया कि वे **'थियोसोफिस्ट'** नामक एक मासिक पत्र निकालना चाहते हैं।

इन पत्रों के उत्तर में स्वामी जी ने कर्नल आल्काट को १३ जुलाई १८७९ ई० को मुरादाबाद से लिखा कि "एक मासिक पत्रिका के प्रकाशन के लिए आपका प्रस्ताव ठोस है। जो नाम आपने प्रस्तुत किये हैं, उनमें कुछ थोड़ा और जोड़ना चाहता हूँ। मेरा उद्देश्य यह है कि नाम से ग्राहक यह समझें कि पत्रिका चलाने में संयुक्त प्रयास किया जा रहा है। इससे सम्भवत: ग्राहकों की संख्या में वृद्धि हो। पत्रिका का नाम **'थियोसोफिस्ट'** अथवा **'आर्यप्रकाश'** रखें।... जहाँ तक मेरे जीवन के विषय में प्रश्न है, मैं कहूँगा कि इस समय मैं इतने लम्बे कार्य को अपने हाथ में लेने के लिये सर्वथा तैयार नहीं हूँ। कुछ समय पश्चात् मैं स्वयं अपना संक्षिप्त वृत्तान्त दूँगा, या तो यह कार्य मैं अपनी आँखों के सामने करवाऊँगा।"

फिर २१ अगस्त १८७९ ई० को बरेली से स्वामी जी ने मुंशी समर्थदान मैनेजर, वेदभाष्य, मुम्बई को लिखा कि "हमारा शरीर बहुत दिनों से बीमार है, अति दुर्बल हो गया है। सो तुम जाकर अमरीका वालों से कहना कि और कुछ न समझें। हमारा शरीर दो दिन से कुछ अच्छा है। जो ऐसा ही रहेगा तो हम उनके पत्रों का उत्तर शीघ्र भेजेंगे और अपने जन्म से लेकर दिनचर्या अभी कुछ संक्षेप से देवनागरी और अँग्रेजी में करवाकर हम उनके पास भेज देंगे। और विलायत के पत्रों का उत्तर भी शीघ्र भेजेंगे। अमरीका वाले लोग समाचार पत्र छापेंगे, सो उनको भूमिका आदि से बातें समझा देना।"

पुन: २७ अगस्त को उन्हें लिखा कि "करनैल साहब ने हमको लिखा था कि आप अपना जन्मचरित्र लिख दीजिए। प्रथम तो हमारा शरीर अच्छा नहीं रहा, इस कारण से नहीं भेज सके। अब दो-चार दिन से कुछ अच्छा है, सो आज तुम्हारे इस पत्र के साथ जन्मचरित्र लिखकर भेजते हैं[५८०]। सो तुम जिस समय पहुँचे, उस समय उनके पास पहुँचना। क्योंकि उनका

५८०- यह **'जन्मचरित्र'** ऋ० द० ने अपने जन्म-दिन भाद्रपद शुक्ला ९, संवत् १९३६ वि० (२६ अगस्त १८७९ ई०) को अपने लेखक से छ: पृष्ठों में लिखाकर भेजा था और स्वयं उसे संशोधित कर उस पर अपने हस्ताक्षर किए थे। इसके प्रथम ५ पृष्ठों में से प्रत्येक में २७ पङ्क्तियाँ और छठे पृष्ठ पर १७ पङ्क्तियाँ थीं। एक अगली पङ्क्ति में 'इसके आगे फिर लिखेंगे'

समाचार में छापने का समय आ गया है। आल्काट साहब को यह बात भी हमारी ओर से सुना देना कि हमारा यह अभिप्राय नहीं कि इस समाचार का नाम केवल **'आर्यप्रकाश'** वा **'थियोसोफिस्ट'** हो किन्तु दोनों को मिलाकर रक्खा जावे।"

इस प्रकार ऋषि दयानन्द के जन्म-चरित्र की पहली किस्त अगस्त १८७९ ई० के अन्त तक मुम्बई पहुँच गई और वह **'द थियोसोफिस्ट'** नामक मासिक समाचार पत्र के प्रवेशाङ्क (अक्टूबर, १८७९) के पृष्ठ ९-१२ पर **'आर्यप्रकाश'** स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित कर दी गई। यह प्रवेशाङ्क ३२ पृष्ठ का था और २८ सितम्बर, १८७९ ई० तक पूर्णतया छपकर ३० सितम्बर को इसकी ४०० प्रतियाँ कर्नल आल्काट को मिल चुकी थीं जिन्हें उन्होंने १ अक्टूबर को डाक से अपने सभी ग्राहकों को भेज दिया। आगे ३० अक्टूबर १८७९ ई० तक इसके ३८१ ग्राहक बन जाने के कारण अगला नवम्बर अङ्क ७५० की संख्या में छपवाने का निश्चय किया गया।

**'जन्म-चरित्र'** का यह अँग्रेजी अनुवाद किसने किया था, यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। डॉ० भवानीलाल भारतीय के अनुसार यह अनुवाद स्वयं मैडम एच० पी० ब्लावट्स्की ने किया था। किन्तु यह सही नहीं है क्योंकि ये लोग आर्यभाषा से पूर्णतया अनभिज्ञ थे। इसीलिए उन्होंने सहारनपुर, मेरठ (मई १८७९ में), काशी (दिसम्बर १८७९ में) और पुन: मेरठ में (अगस्त-सितम्बर, १८८० में) स्वामी जी से दुभाषियों के माध्यम से बातचीत की थी और परस्पर जो पत्र-व्यवहार होता था, वह भी अनुवादकों के माध्यम से ही होता था। इसी बीच एक पत्र में ऋषि दयानन्द ने मैडम एच०पी० ब्लावट्स्की को लिखा था कि "इसका मेरे वेदभाष्य में आरम्भ से ही बड़े विस्तार से वर्णन है (देखो अङ्क १, आदि) आप **इसे अपने लिए पढ़वा सकती हैं।**" तथा कर्नल आल्काट को लिखा था कि "यह सुनकर कि आपने नागरी पढ़नी आरम्भ कर दी है, बहुत प्रसन्न हुआ।" इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि **'थियोसोफिस्ट'** के प्रकाशनारम्भ तक ये लोग आर्यभाषा का अनुवाद योग्य ज्ञान नहीं रखते थे। इसीलिए स्वामी जी ने बरेली से स्वयं इसका अनुवाद कराके भेजने का २१ अगस्त १८७९ ई० के पत्र में उल्लेख किया था। अत: सम्भव है, स्वामी जी ने ही बरेली में किसी से इसका अनुवाद करवाकर भेजा हो अथवा इसका अनुवाद मुंशी समर्थदान ने किया हो क्योंकि वे ही **'थियोसोफिस्ट'** पत्रिका में अँग्रेजी में लेख लिखकर अथवा अनुवाद करके छपवाते थे[५८१]।

जो भी हो, इस जन्म-चरित्र की अगली किस्त नवम्बर १८७९ ई० के अङ्क में नहीं छप सकी; अपितु वह दिसम्बर १८७९ ई० के अङ्क के पृष्ठ ६६-६८ पर ही छप सकी। इसका आर्यभाषा में मूल लेख स्वयं दयानन्द ने दो पृष्ठों में लिखा था जिसमें से प्रथम पृष्ठ में २८ एवं द्वितीय पृष्ठ में २३ पंक्तियाँ थीं। हस्ताक्षर एक अगली पङ्क्ति में किए हुए थे। इसके सम्बन्ध में ११ अक्टूबर १८७९ ई० के पत्र में ऋषि दयानन्द ने मुंशी समर्थदान को लिखा था कि "कर्नल आल्काट साहब के पत्र आए। उसका उत्तर पीछे से तुमको नागरी में भेजेंगे। उनकी नकल अँग्रेजी में करके दे देना, तो हम सीधा भेज दिया करें।" ऋ०द० के इस पत्र से अनुमान होता है कि जन्मचरित्र की पहली किस्त उन्होंने स्वयं ही बरेली से अनुवाद कराके भेजी होगी और द्वितीय किस्त के अनुवाद का उत्तरदायित्व मुंशी समर्थदान पर ही डाल दिया होगा।

२३ अक्टूबर १८७९ ई० को जब कर्नल आल्काट ने स्वामी जी से जन्म-चरित्र लिखकर भेजने का पुन: निवेदन किया तो उन्होंने मुंशी समर्थदान को ६ नवम्बर १८७९ ई० को लिखा कि "कर्नल अलकाट को मेरे शरीर का हाल विदित

---

ऐसा उल्लेख और हस्ताक्षर थे।

५८१- ऐसा उनका एक लेख 'SWAMI versus MISSIONARY' **'थियोसोफिस्ट'** के जनवरी १८८० ई० के अङ्क के पृष्ठ ९८-१०० पर छपा था जिसमें स्वामी दयानन्द सरस्वती और रेव० डॉ० ग्रे के मध्य २८ नवम्बर १८७८ ई० को अजमेर में हुए शास्त्रार्थ का विवरण दिया गया था।

नहीं है कि दस मास तक तो दस्तों का रोग रहा। पश्चात् एक बड़ा ज्वर आने लगा सो तीन बार आकर छूट गया है। अब दोनों रोग नहीं हैं, परन्तु विचार करो कि इतने रोग के पश्चात् निर्बलता और सुस्ती कितनी हो सकती है। इसमें भी हमको कितने काम आवश्यक हैं जिनसे दम भर अवकाश नहीं मिल सकता। जो एक जन्मचरित्र के लिखने-लिखवाने का काम ही होता, तो एक बार लिख-लिखवा के भेज दिया होता।" दानापुर से लिखे कदाचित् इसी पत्र के साथ स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा की दूसरी किस्त भेजी थी, तभी वह दिसम्बर १८७९ ई० के अङ्क में छप सकी।

इसके उपरान्त बहुत समय तक स्वामी जी अपने जन्म-चरित्र की अगली किस्त नहीं लिख सके। इसी बीच स्वामी जी ने '**थियोसोफिस्ट**' के सम्पादक को एक पत्र लिखा कि "यद्यपि मैं बहुत उत्सुक हूँ कि मेरी आत्मकथा जो आप अपनी पत्रिका में छाप रहे हैं, पूर्ण हो जावे तथापि अभी उसे वाञ्छित समय नहीं दे सका। अब जितना शीघ्र हो सकेगा, आपको विवरण भेज दूँगा[५८२]।" इस आश्वासन के उपरान्त भी हम पाते हैं कि ऋ०द० के जन्मचरित्र की तीसरी किस्त नवम्बर १८८० ई० के अङ्क में ही मुद्रित हो सकी जो सम्भवत: ऋ० द० ने कर्नल आल्काट और मैडम एच०पी० ब्लावट्स्की को अपनी मेरठ में भेंट के अवसर पर (३० अगस्त से ७ सितम्बर १८८० ई० के मध्य) प्रदान की होगी, तभी वह '**थियोसोफिस्ट**' के नवम्बर १८८० ई० के अङ्क के पृष्ठ २४-२६ पर मुद्रित हो सकी। इस भेंट में ऋषि दयानन्द ने योग-विषयक जो अपने विचार प्रकट किए, वे कर्नल एच०एस०आल्काट ने '**थियोसोफिस्ट**' के दिसम्बर १८८० ई० के अङ्क में पृष्ठ ४६-४८ पर प्रकाशित किए थे। इसके अतिरिक्त इनका विवरण उन्होंने अपनी पुस्तक 'Old Diary Leaves' के द्वितीय खण्ड (१८७८-८३) के १४वें अध्याय में भी दिया है।

इसी समय कर्नल के अनुसार स्वामी जी और वे इस बात पर सहमत हुए कि 'आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी परस्पर मित्र होकर भी स्वतन्त्र हैं और हममें से कोई भी अन्य के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है।' और स्वामी जी को इन लोगों के बौद्ध और नास्तिक होने का परिज्ञान हुआ जिससे स्वामी जी के मन में जो गाँठ पड़ गई वह '**थियोसोफिस्ट**' में छपने वाली सामग्री से निरन्तर दृढ़तर ही होती गई और अन्ततोगत्वा दोनों संस्थाओं के सम्बन्ध-विच्छेद का कारण बनी। इससे ऋषि दयानन्द अपनी आत्मकथा लिखने से ही उपरत हो गए जिससे वह फिर आगे कभी नहीं छप सकी।

उपर्युक्त विवरण से प्रकट है कि इस आत्मकथा की प्रथम दो किस्तें तो मुंशी समर्थदान के माध्यम से भेजी गईं थीं, अत: उनके मूल हस्तलेख मुंशी समर्थदान के परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में विद्यमान बस्तों से सभा के उपमन्त्री डॉ० भवानीलाल भारतीय को ९६ वर्षों के बाद मिल गए जिन्हें उन्होंने '**परोपकारी**' मासिक के मार्च १९७५ ई० के अङ्क में प्रतिकृति सहित छपवा दिया। इसके उपरान्त सभा द्वारा इस आत्मकथा के दो पुस्तकाकार संस्करण (सं० २०३२ एवं २०४० वि०) भी निकाले गए हैं, उनमें तथा '**दयानन्द ग्रन्थ-माला**' (द्वितीय खण्ड, १९८३ ई०) में भी इन हस्तलेखों की प्रतिकृतियाँ दी गई हैं। हमने इन्हें वहीं से लेकर बड़ी सावधानी पूर्वक हस्तलेखों से मिलान करके अपने द्वारा सम्पादित '**अपना जन्मचरित्र**' के १९८७ ई० और २०१० ई० के संस्करणों में छापा है। इस प्रकार इसमें कुछ शब्दों का जो अशुद्ध होना प्रतीत होता है, वह मूल में भी वैसा ही होने से है। अत: इसे इस पुस्तक के प्रूफ-संशोधन की त्रुटि नहीं माना जाना चाहिए। मूल हस्तलेखों का सम्पादन करते समय हमने कुछ स्थानों पर छूटे हुए शब्द **[ ]** इस प्रकार के कोष्ठकों में बढ़ाए हैं और उनका उल्लेख पाद-टिप्पणी में कर दिया है।

---

५८२- यह सूचना '**थियोसोफिस्ट**' पत्रिका के अप्रैल १८८० ई० के अङ्क के पृष्ठ १९० पर (स्तम्भ- २ में) अँग्रेजी भाषा में अनूदित की जाकर मुद्रित की गई थी।

तीसरी किस्त का मूल हस्तलेख अद्यावधि अनुपलब्ध है, जिसका कारण सम्भवत: उनका कर्नल एच०एस० आल्काट को सीधे प्रदान किया जाना रहा क्योंकि जब वह प्रदान किया गया था, तब तक वेदभाष्य के मुम्बई से प्रकाशन का कार्य उठाकर काशी में लाया जाकर ऋषि के निज **'वैदिक यन्त्रालय'** से होना आरम्भ हो चुका था। इसीलिए ऋषि दयानन्द ने मुंशी समर्थदान को १७ जनवरी १८८० ई० के लगभग एक पत्र लिखकर (उन्हें सब काम उठाकर) काशी बुला लिया था।

अत: इस पुस्तक (मेरे द्वारा सम्पादित *'अपना जन्मचरित्र'*) में तीसरी किस्त की जो आर्यभाषा छापी गई है, वह **'थियोसोफिस्ट'** में छपी अँग्रेजी का ही पुन: हमारे द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद है। इसमें हमने यह प्रयत्न किया है कि अँग्रेजी में व्यक्त भाव हिन्दी में भी आ जाएँ। ऐसी दशा में अनुवाद का पुन: अनुवाद होने से यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह ऋषि दयानन्द द्वारा मूलरूप से भी ऐसा ही लिखा अथवा लिखाया गया होगा, परन्तु मूल की अनुपलब्धता की दशा में हमारे सामने अब अन्य कोई विकल्प भी तो नहीं है। अनुवाद करते समय हमारे द्वारा ( ) इस प्रकार के कोष्ठकों में दिया गया पाठ या तो स्पष्टीकरणार्थ हमने बढ़ाया है, अथवा वह **'थियोसोफिस्ट'** के प्रकाशित रूप में भी है।

इस प्रकार **'थियोसोफिस्ट'** पत्रिका में ऋषि दयानन्द की आत्मकथा अँग्रेजी भाषा में अनूदित की जाकर तीन किस्तों में प्रकाशित हुई, जिसमें वह भाव व्यक्त नहीं हो सका जो ऋषि दयानन्द के मूल हस्तलेख में था। इसकी तुलना पाठकगण इस पुस्तक में दिए गए आर्यभाषा के मूल लेख एवं परिशिष्ट-१ (मेरे द्वारा सम्पादित *'अपना जन्मचरित्र' का)* में दिए गए उसके प्रकाशित अनुवाद से कर सकते हैं। एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने मैडम ब्लावट्स्की को जुलाई १८७९ ई० में लिखा था कि "एक भाषा से दूसरी भाषा में ठीक-ठीक अनुवाद करना अति कठिन कार्य है और यदि सम्भव भी हो तो अनुवादक को दोनों भाषाओं पर समान अधिकार होना चाहिए। मेरा भाषानुवाद साधारण भाषा सा नहीं है। संस्कृत के शब्दों का भाषा में शब्दश: अनुवाद किया जाता है। मेरे वेदभाष्य का अनुवाद करने के लिए अँग्रेजी और संस्कृत दोनों में निपुण व्यक्ति की आवश्यकता है, यद्यपि वह भी सर्वथा ठीक नहीं कर सकता।"

इस प्रकार इस जन्म-चरित्र के **'थियोसोफिस्ट'** में प्रकाशन से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है जिसका प्रमाण उसकी समीक्षा में विरोधियों द्वारा लिखी गई अनेक पुस्तकें हैं। इनमें से एक **'दयानन्द जीवनचरित्र और समालोचना**[५८३]**'** हमें नेशनल लायब्रेरी कोलकाता में और दूसरी 'Swami Dayanand in the Light of Truth- A True and Critical Biography of the Founder of the Arya Samaj[५८४]' अडयार लायब्रेरी मद्रास(चेन्नई) में देखने को मिली थी। इनके अवलोकन से हमें इस बात का एहसास हुआ था कि यदि ऋषि दयानन्द की आर्यभाषा की आत्मकथा इनके लेखकों को देखने को मिल जाती तो अनेक आपत्तियों में से बहुत सी आपत्तियाँ तो वे कर ही नहीं पाते।

यह बात नहीं है कि त्रुटिपूर्ण अनुवाद की यह चर्चा हम ही पहली बार कर रहे हैं। वस्तुत: यह तो उसी समय से चर्चा में हैं जिस समय कि यह आत्मकथा **'थियोसोफिस्ट'** में प्रकाशित हुई थी। यही कारण है कि जब मैक्समूलर ने **'थियोसोफिस्ट'** के सम्पादक से उनके पत्र में प्रकाशित ऋषि दयानन्द की आत्मकथा प्राप्त कर उसके कुछ अंश अपनी पुस्तक 'CHIPS FROM A GERMAN WORKSHOP' के दयानन्द सरस्वती विषयक एक लेख में उद्धृत किए, तो उसने उसमें लिखा कि "There is a curious autobiographical sketch of his life, which was published some time ago in an

---

५८३- मुरादाबाद निवासी जगन्नाथ दास द्वारा संकलित एवं खेमराज श्रीकृष्णदास मुम्बई द्वारा 'श्री वेंकटेश्वर' प्रेस से संवत् १९५५ वि० में मुद्रित (पृ० संख्या १२०, आकार १८ x २२/८)

५८४- Printed and Published by Shriman Amar Singh at the Jiwan Press Lahore in May 1925 (Pages 234; Size 20x30/16)

Indian journal. Some doubts, however, have been thrown on the correctness of the English rendering of that paper, and we may hope that Dayananda's pupil, Pnadit Shyamaji Krishnavarma, now a B.A of Balliol College, will soon give us a more perfect account of that remarkable man.[५८५] इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी पुस्तक 'Indian Friends' में लिखा कि "The life of Dayananda published under the authority of the so-called Theosophists, which I accepted formerly as genuine, has been discredited, and we shall probably never have a real biography of the man, for biography in India seems to share the fate of histoy; either it tells us nothing or what it tells us is fact and fiction so mixed together that it is impossible to separate the one from the other[५८६]".

डॉ० भवानीलाल भारतीय ने अपने द्वारा सम्पादित '**महर्षि दयानन्द की आत्मकथा**' के ऐतिहासिक विवरण में लिखा है कि ''जिस समय स्वामी जी ने आत्म-वृत्तान्त को प्रकाशन के लिए '**थियोसोफिस्ट**' में भेजा, उसी समय उसकी दो प्रतिलिपियाँ दो आर्य पुरुषों ने कर ली थीं। (जिनमें से) एक प्रतिलिपि श्री मथुराप्रसाद जी मन्त्री, आर्यसमाज अजमेर तथा दूसरी पंडित छगनलाल श्रीमाली, भूतपूर्व कामदार मसूदा (जिला अजमेर) के पास थी। जब श्री महाराज की जीवनी के तथ्यों का संग्रह करते हुए पण्डित लेखराम अजमेर आए थे, तब उन्होंने उक्त दोनों प्रतियों को देखा था तथा उन्हीं के आधार पर स्वसंग्रहीत महर्षि दयानन्द के उर्दू जीवन-चरित में इस सामग्री को स्थान दिया था[५८७]।'' कालान्तर में श्री मथुराप्रसाद मन्त्री आर्यसमाज अजमेर की प्रति उनकी पत्नी श्रीमती गुलाबदेवी के भतीजे स्वर्गीय केशवदेव कपूरिया के कागजों से डॉ० भवानीलाल भारतीय को प्राप्त हो गई और आजकल उन्हीं के पास है। इसे हमने २४-२५ अप्रैल १९८३ ई० को चण्डीगढ़ में उनके पास देखा था। यह आत्मकथा की प्रथम किस्त की प्रतिलिपि है। पण्डित छगनलाल श्रीमाली की प्रति उनसे स्वामी श्रद्धानन्द जी को, स्वामी श्रद्धानन्द जी से प्रो० रामदेव जी को तथा प्रो० रामदेव जी से पं० भगवद्दत्त जी को प्राप्त हुई जिसका उपयोग पं० भगवद्दत्त जी ने अपने द्वारा सम्पादित ऋषि दयानन्द के '**जन्म-चरित्र**' में किया है[५८८]। प्रथम किस्त के इस हस्तलेख में भी यद्यपि मूल के समान छ: पृष्ठ थे और प्रथम ५ पृष्ठों में से प्रत्येक में २७ पंक्तियाँ थीं, परन्तु लेखन भिन्नता के कारण अन्तिम पृष्ठ पर १७ के स्थान पर १४ पंक्तियों में ही सारा लेख आ गया था।

इस प्रकार ऋषि दयानन्द द्वारा लिखाया गया अथवा लिखा गया यह जन्म-चरित्र अपने मूलरूप में सर्वथा प्रामाणिक है, यद्यपि यह भी अत्यन्त संक्षिप्त है और तारीय-भाषा (Telegraphic Language) में लिखा हुआ है। इसमें पूना में कथित पूर्व-चरित्र की अपेक्षा से उत्तराखण्ड और काशीपुर से नर्मदास्रोत तक की यात्राओं का विवरण अतिरिक्त उपलब्ध है। अत: ऋषि दयानन्द के जो जीवन चरित्र लिखे गए, वे सब १८७९-८० के पश्चात् ही लिखे गए होने से उनमें ऋषि दयानन्द के जीवन के प्रारम्भिक वर्षों का इतिवृत्त पूना में कथित '**पूर्व-चरित्र**' और '**थियोसोफिस्ट**' पत्रिका में प्रकाशित '**जन्म-चरित्र**' को आधार बनाकर ही विभिन्न लेखकों द्वारा लिखा गया है और अद्यावधि वही प्रचलित है। परन्तु इन दो आधारभूत आत्मचरित्रों को मिला देने पर भी नर्मदास्रोत से लेकर मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी के पास अध्ययनार्थ उपस्थित होने के मध्यवर्ती लगभग ४ वर्षों का ऋषि दयानन्द का इतिवृत्त अज्ञात रह जाता है जिसे जीवन-चरित्रों का कोई

---

५८५- New Edition, Vol II, Biographical Essays, London; Longmans, Green, and Co., And Newyork; 15 East, 16th Street, 1895, page 171.

५८६- Indian Friends; Oxford, 1899; Indian Edition 1982, pages 93-97

५८७- यह उर्दू जीवन-चरित १८९७ ई० में मुंशी गुलाबसिंह के प्रेस लाहौर में छपा था। इसका हिन्दी अनुवाद आजकल 'आर्ष प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली' छापता है।

५८८- इस '**जन्म-चरित्र**' का नवम संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत, हरियाणा) से सं० २०३४ वि० में प्रकाशित हुआ है।

भी लेखक अधिकृत रूप से पूरा नहीं कर सका है। इसीलिए वह आज तक अज्ञात और विवादास्पद बना हुआ है।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि क्या '**थियोसोफिस्ट**' पत्रिका के लिए लिखा गया यह '**जन्म–चरित्र**' अपने आप में पूर्ण है, अथवा उसमें भी कुछ भाग छूटा हुआ है? सन् १९६९–७० ई० में जब '**सार्वदेशिक**' साप्ताहिक–पत्र के माध्यम से ऋषि दयानन्द की '**अज्ञात–जीवनी**' प्रकाश में आई, तब तक तो इस ओर किसी का ध्यान जाने का कोई कारण ही नहीं था, परन्तु उसके प्रकाश में आने के पश्चात् भी किसी का इस ओर ध्यान नहीं गया, क्योंकि उसके विरोध का जो वातावरण बन गया था, उसके फलस्वरूप किसी ने भी अपनी बुद्धि को इन तीनों आत्म–चरित्रों के सङ्गतिकरण के लिए कष्ट में नहीं डाला। सम्भवत: सर्वप्रथम हमारा ही ध्यान इस समस्या के समाधान हेतु १९८२–८३ ई० में गया, जब हमने पाया कि '**थियोसोफिस्ट**' में प्रकाशित आत्मचरित्र भी दो स्थानों पर अन्तराल युक्त है। ये दो अन्तराल हैं–

(१) पहली दो किस्तों के मध्य लगभग १०–११ महीनों का प्रथम अन्तराल, जिसका उल्लेख हमने इस पुस्तक (अपने द्वारा सम्पादित '*अपना जन्मचरित्र*') के पृष्ठ २३३ एवं २४१ की पाद–टिप्पणियों क्र० ३७२ एवं ३८५ में किया है।

(२) तीसरी किस्त में रामपुर पहुँच और आगे काशीपुर से यात्रा आरम्भ करने के मध्य एक वर्ष का द्वितीय अन्तराल, जिसका उल्लेख हमने (अपने द्वारा सम्पादित '*अपना जन्मचरित्र*') पृष्ठ २८५ की पाद–टिप्पणी क्र० ४५३ में किया है।

इस प्रकार ४ वर्ष के अज्ञातकाल में से लगभग १ वर्ष १०–११ मास का विवरण नर्मदास्रोत पहुँच से पूर्व और २ वर्ष का विवरण उसके पश्चात् का अज्ञात रह गया था जिसमें से अधिकांश का विवरण हमें आगे जाकर '**कलकत्ता–कथ्य**' में उपलब्ध हो गया है। इस प्रकार '**थियोसोफिस्ट**' में प्रकाशित '**जन्म–चरित्र**' न केवल इस दृष्टि से ही अपूर्ण रहा कि तीन किस्तों के आगे वह नहीं लिखा जा सका, बल्कि इस दृष्टि से भी कि जितना कुछ उसमें लिखा और छपाया गया, उसमें भी छिपाने योग्य विवरण छिपा लिए गए थे, जो १८५७ ई० के प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य समर की तय्यारियों से सम्बन्धित थे। इनका विस्तृत विवरण इस पुस्तक (मेरे द्वारा सम्पादित '*अपना जन्मचरित्र*') के अध्याय–५ और ७ में दिया गया है और अब इस '*दयानन्द–दिवाकर*' ग्रन्थ में वह यथास्थान समाविष्ट कर दिया गया है।

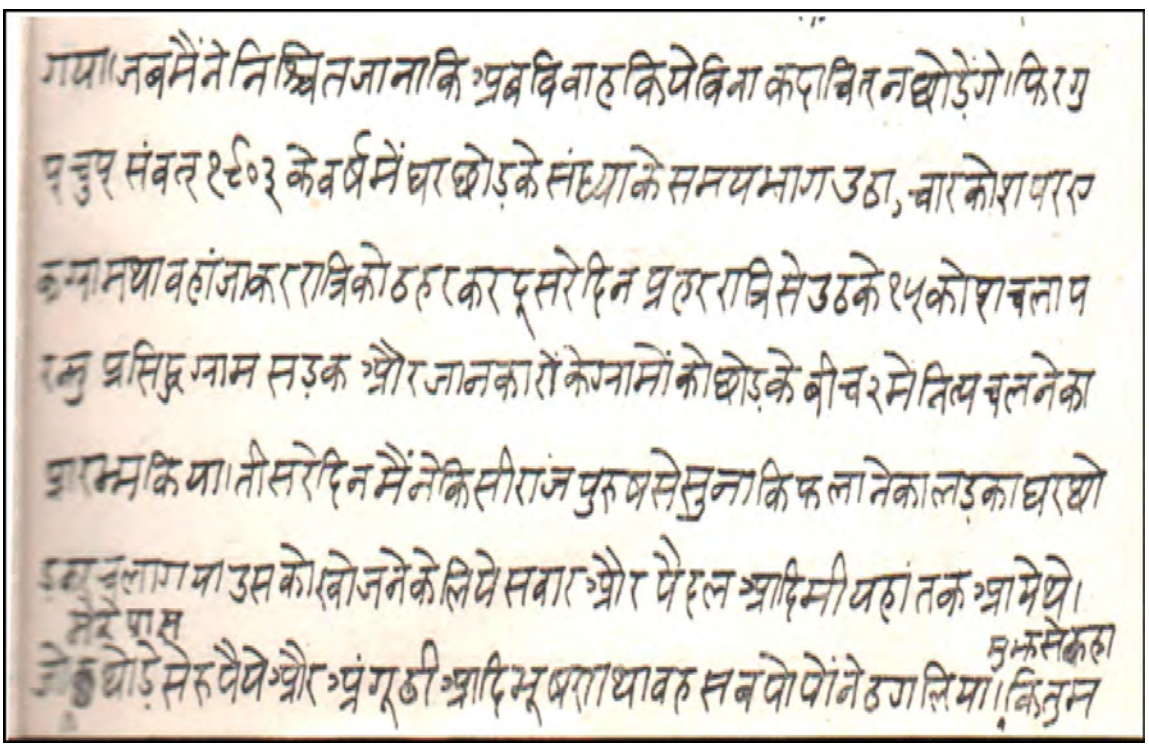
**ऋषि दयानन्द के इस स्वहस्तलिखित और हस्ताक्षरित जन्मचरित्र का भी आर्य–विद्वानों और लेखकों ने संज्ञान नहीं लिया**– स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने इस जन्मचरित्र में लिखा है कि "फिर माता–पिता ने मुझे बुला के विवाह की तैयारी कर दी। तब तक २१ इक्कीसवाँ वर्ष भी पूरा हो गया। जब मैंने निश्चित जाना कि अब विवाह किए बिना कदाचित् न छोड़ेंगे। फिर गुपचुप् संवत् १९०३ के वर्ष में घर छोड़ के सन्ध्या के समय भाग उठा।" इससे पूर्व वे अपने इसी जन्मचरित्र के आरम्भ में लिख चुके थे कि "संवत् १८८१ के वर्ष में मेरा जन्म दक्षिण गुजरात प्रान्त, देश काठियाबाड़ का मजोकठा देश, मोर्वी का राज्य, औदीच्य ब्राह्मण के घर में हुआ था।" इन दोनों लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वामीजी की २१ वर्ष की आयु जब संवत् १८८१ +२१ = १९०२ में पूरी हो गई तो उन्होंने उसके कुछ काल पश्चात् ही उस समय गृह–त्याग कर दिया था जब संवत् १९०३ आ गया था। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि प्रचलित संवत् की समाप्ति और उससे अगले संवत् के आरम्भ होने में समय का अधिक अन्तराल नहीं है अर्थात् स्वामीजी का जन्म उनकी जन्मभूमि में प्रचलित संवत् के अन्तिम भाग में ही हुआ था।

हम अपने इस ग्रन्थ '*दयानन्द–दिवाकर*' के पुणे (१८७५ ई०) के प्रकरण में यह पहले ही लिख चुके हैं कि आर्यविद्वान् पूना–प्रवचन के एक छोटे से वाक्य कि 'इस समय मेरा वय ४९–५० वर्ष का होगा' का आशय भी ठीक–ठीक

पिछले १४५ वर्षों में नहीं समझ पाए हैं, जिसमें स्वामीजी का संवत् १८८१ में जन्म होने का आशय उनकी अपनी जन्मभूमि गुजरात में कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से आरम्भ होने वाले और आश्विन अमावस्या (दीपावली) पर समाप्त होने वाले गुजराती संवत् से ही है न कि उत्तभारत में प्रचलित चैत्री संवत् से जिसका आरम्भ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से और समाप्ति आगामी चैत्र कृष्णा अमावस्या पर होती है। ईस्वी सन् की दृष्टि से इनके आरम्भ में परस्पर क्रमशः ५६ और ५७ वर्षों का अन्तर रहता है अर्थात् १८८१ संवत् में जब स्वामीजी जी का जन्म हुआ तब ईस्वी सन् १८२५ था और उसी समय चैत्री संवत् १८८२ था।

स्वामीजी ने जब गृह–त्याग किया तो वे आगामी कार्तिक पूर्णिमा पर लगने वाले सिद्धपुर के मेले में जा पहुँचे जहाँ उनके पिताजी ने उन्हें जा पकड़ा। इस प्रकार गृह–त्याग से लेकर सिद्धपुर के मेले में पहुँचने पर्यन्त गुजराती संवत् के अनुसार उन्हें अधिक से अधिक एक पक्ष (पन्द्रह दिन) का समय ही पहुँचने के लिए मिलता है और चैत्री (उत्तर भारतीय) संवत् की दृष्टि से अधिक से अधिक सात मास का समय मिलता है। अतः हम यहाँ इन्हीं कालों के स्वामीजी के यात्रा–विवरणों पर विचार करेंगे–

**गृह–त्यागोपरान्त स्वामी दयानन्द सरस्वती का स्वहस्त से संशोधित और हस्ताक्षरित विवरण–**


गया। जब मैं ने निश्चित जाना कि अब विवाह किये बिना कदाचित न छोड़ेंगे। फिर गु
प चुप संवत् १९०३ के वर्ष में घर छोड़ के संध्या के समय भाग उठा, चार कोश पर ए
क ग्राम था वहां जाकर रात्रि को ठहर कर दूसरे दिन प्रहर रात्रि से उठ के १५ कोश चला प
रन्तु प्रसिद्ध ग्राम सड़क और जानकारों के ग्रामों को छोड़ के बीच २ में नित्य चलने का
आरम्भ किया। तीसरे दिन मैं ने किसी राज पुरुष से सुना कि फलाने का लड़का घर छो
ड़ कर चला गया था उस को खोजने के लिये सवार और पैदल आदमी यहां तक आ गये थे।
मेरे पास मुझसे कहा
जो घोड़े से रु पैये और अंगूठी आदि भूषण था वह सब पोपों ने ठग लिया। किन्तु

ला

के कहने से मैंने जो कुछ था सब दे दिया। फिर ला[illegible] भगत की जगह जो कि सायले शहर में
है वहां बहुत साधुओं को सुनकर चला गया वहां एक ब्रह्मचारी मिला उसने मुझसे कहा कि
तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाओ उसने मुझको ब्रह्मचारी की दीक्षा दी और शुद्ध चैत
न्य [illegible] मेरा नाम रक्खा तथा काषाय वस्त्र भी करा दिये। जब मैं वहां से अहमदा
बाद के पास कोठ गांगड़ जो कि छोटा सा राज्य है वहां आया तब मेरे गाम के पास का जा
न पहचान वाला एक वैरागी मिला उसने पूछा कि तुम यहां कहां से आये और कहां जा
या चाहते हो। तब मैंने उससे कहा कि घर से आया और कुछ देशभ्रमण किया चाहता
हूं। उसने कहा कि तुमने काषाय वस्त्र धारण करके क्या घर छोड़ दिया [illegible] मैंने कहा कि
हां मैंने घर छोड़ दिया और कार्त्तिकी के मेले पर सिद्धपुर को जाऊंगा। फिर मैं वहां से
चलकर सिद्धपुर में आके नीलकण्ठ महादेव की जगह में ठहरा कि जहां दण्डी स्वामी
और ब्रह्मचारी ठहर रहे थे। उनका सत्संग और जो २ कोई महात्मा वा पण्डित मेले में

**स्वामी दयानन्द सरस्वती के उक्त लेख का ही थियोसोफिस्ट के अक्टूबर, १८७९ ई० के अङ्क के पृष्ठ– ११ पर प्रकाशित अँग्रेजी अनुवाद–** But while there, I was again forced into a confession of the insurmountable aversion I had for marriage. This went home again, I was summoned back at once, and found upon returning that everything bad been prepared for my marriage ceremony. I had entered upon my twenty-first year, and had no more excuses to offer. I fully realized now, that I would neither be allowed to pursue any longer my studies, nor would my parents ever make themselves consenting parties to my celibacy. It was then driven to the last extremity that I resolved to place an eternal barrier between myself and marriage.

*    *    *    *

On an evening of the year Samvat 1903, without letting any one this time into my confidence, I secretly left my home, as I hoped for ever. Passing that first night in the vicinity of a village about eight miles from my home, I arose three hours before dawn, and before night had again set in I had walked over thirty miles; carefully avoiding the public thoroughfare, villages, and localities in which I might have been recognized. These precautions proved useful to me, as on the third day after I had absconded, I learned from a Government officer that a large party of men including many horsemen, were diligently roving about in search of a young man from the town of- who had fled from his home.

I hastened further on, to meet with other adventures. A party of begging Brahmans had kindly relieved me of all the money I had on me, and made me part even with my gold and silver ornaments, rings, bracelets and other jewels, on the plea that the more I gave away in charities, the more my self-denial would benefit me in the after life. Thus, having parted with all I had, I hastened on to the place of residence of a learned scholar, a man named Lala Bhagat, of whom I had much heard on my way, from wandering Sanyasis and Bairagees (religious mendicants). He lived in the town of Sayale, where I met with a Brahmachari who advised me to join at once their holy order, which I did……………................

After initiating me into his order and conferring upon me the name of Shuddha Chaitanya, he made me exchange my clothes for the dress worn by them-a reddish-yellow garment. From thence, and in this new attire, I proceeded to the small principality of Kouthagangad, situated near Ahmedabad, where, to my misfortune I met with a Bairagi, the resident of a village in the vicinity of my native town, and well acquainted with my family. His astonishment was as great as my perplexity. Having naturally enquired how I came to be there, and in such an attire, and learned of my desire to travel and see the world, he ridiculed my dress and blamed me for leaving my home for such an object. In my embarrassment he succeeded in getting himself informed of my future intentions. I told him of my desire to join in the Mella of Kartik, held that year at Siddhpore, and that I was on my way to it. Having parted with him, I proceeded immediately to that place, and taking my abode in the temple of Mahadev at Neelkantha, where Daradi Swami and other Brahmacharis, already resided. For a time, I enjoyed their society unmolested, visiting a number of learned scholars and professors of divinity who had come to the Mella, and associating with a number of holy men.

**गृह–त्याग से लेकर सिद्धपुर के कार्तिक मेले में पहुँच पर्यन्त लगने वाला समय**– स्वामीजी द्वारा हस्ताक्षरित और लिखित तथा उसके थियोसोफिस्ट पत्र में प्रकाशित उक्त अँग्रेजी अनुवाद में ऐसी किसी समयावधि का कहीं कोई उल्लेख नहीं हुआ है जिससे उसमें एक पखवाड़े से अधिक समय लगने का कोई सङ्केत मिलता हो, इसलिए जहाँ यह प्रमाणित हो जाता है कि स्वामीजी का जन्म–वर्ष गुजराती संवत् ही है, वहाँ इसी कालखण्ड के लिए लिखित निम्न आर्यविद्वानों और लेखकों के विवरण भी गलत सिद्ध हो जाते हैं–

**स्व० डॉ० भवानीलाल भारतीय**– डॉ० भवानीलाल भारतीय ने ही सर्वप्रथम ऋषि दयानन्द के जन्मचरित्र सम्बन्धी उनके हस्तलिखित और हस्ताक्षरित विवरणों का उनके लेखन के ९६ वर्षों बाद सन् १९७५ ई० में मुंशी समर्थदान के बस्तों से खोजकर परोपकारिणी सभा अजमेर के उपमन्त्री रहते हुए उसके मासिक मुखपत्र *'परोपकारी'* में प्रकाशित कराकर उद्धार किया था और बाद में उन्होंने उनके पुस्तकाकार संस्करण भी सभा के माध्यम से प्रकाशित कराए थे। इन्हीं डॉ० भवानीलाल भारतीय ने ऋषि की बलिदान–शताब्दी, १९८३ ई० (संवत् २०४० वि०) पर अपने द्वारा लिखित स्वामीजी का जीवनचरित्र *'नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती'* के नाम से प्रकाशित कराया। इसके प्रकाशन के लिए पहले उन्होंने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली से सम्पर्क किया था, परन्तु उस सभा ने उनके इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने से मना कर दिया था। *(द्रष्टव्य– परिशिष्ट–चार )*

इस ग्रन्थ के 'महानिष्क्रमण–उत्तराखण्ड परिभ्रमण' अध्याय में उन्होंने पृष्ठ–२१–२३ पर लिखा है कि– "निश्चय ही मूलशङ्कर ने योगाभ्यास करने तथा योग की उच्चतर स्थितियों तक पहुँचने की दृष्टि से गृहत्याग किया था। वे उन योगियों की तलाश में थे जो उन्हें साधना का सही रास्ता बता सकें। उन दिनों काठियावाढ़ में लाला भक्त नाम का एक योगी की

विशेष ख्याति थी जो सायला ग्राम में रहते थे। अत: मूलशङ्कर ने सायला को ही अपना प्रथम गन्तव्य बनाया। देवेन्द्रनाथ के अनुसार मूलशङ्कर टङ्कारा के जामनगर द्वार से निकलकर पश्चिम की ओर गए। स्वकथित आत्मवृत्तान्त में दयानन्द लिखते हैं कि चार कोस चलकर वे एक ग्राम में पहुँचे और वहाँ के हनुमान मन्दिर में रात्रि निवास किया। यह ग्राम बड़ा रामपुर था। इसी ग्राम के मारुति मन्दिर में निवासादि की पूर्ण सुविधा है। दूसरे दिन प्रहर रात्रि में उठकर १५ कोस चले परन्तु चलते समय इतनी सावधानी अवश्य रक्खी कि प्रसिद्ध ग्रामों, सड़क मार्गों तथा अन्य जनस्थानों को छोड़ते गए, जहाँ उन्हें परिचितजनों के मिलने की सम्भावना थी। यह सर्वथा स्वाभाविक ही था, क्योंकि टङ्कारा जैसे बड़े ग्राम के जमेदार का पुत्र उस प्रदेश से सुपरिचित ही था। तीसरे दिन उन्हें किसी राजपुरुष से यह समाचार मिला कि अमुक व्यक्ति का पुत्र घर छोड़कर चला गया है और उसकी तलाश में अश्वारोही और पैदल आदमी वहाँ तक आए थे।

यहाँ उन्हें विचित्र अनुभव हुआ। मूलशङ्कर तो उन्हीं मूल्यवान वस्त्राभूषण सहित घर से भाग खड़े हुए थे, जिन्हें वे साधारणतया अपने घर में धारण करते थे। इस समय उनके पास इन आभूषणों के अतिरिक्त कुछ द्रव्य भी था। मार्ग में उन्हें कुछ ऐसे वैरागी मिले जो गोस्वामी तुलसीदास की-

नारि मुई घर सम्पत्ति नासी। मूँड़ मुँड़ाय भए संन्यासी।।

वाली उक्ति को सार्थक करते हुए अनावश्यक भ्रमण करते रहते हैं। इस युवा वैरागी के शरीर पर इन बहुमूल्य वस्त्रों तथा अलङ्कारों को देखकर इन वेशधारी वैरागियों का प्रलुब्ध हो जाना स्वाभाविक ही था। अत: अपनी प्रवञ्चनापूर्ण बातों से उन्होंने मूलशङ्कर को उन वस्त्रों और गहनों को त्यागने के लिए राजी कर लिया। मूलशङ्कर तो सर्वथा निस्पृह वृत्ति को धारण करके ही घर से चले थे, अत: भौतिक ऐश्वर्य के प्रतीक इन मूल्यवान् वस्तुओं को त्यागने में भला उन्हें क्या सङ्कोच होता? वे महार्घ वस्त्रालङ्कार उनके लिए तो भारस्वरूप ही थे। यदि रत्नराशि तथा वस्त्र ही उन्हें अभीष्ट होते तो वे अपने पिता के सम्पन्न घर को छोड़ते ही क्यों?

इन वञ्चकों से छुट्टी पाकर मूलशङ्कर लाला भक्त के सायला ग्राम में पहुँचे और योगसाधना सीखने लगे। यहाँ एक घटना के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'रात को एक वृक्ष के नीचे बैठ गया तो वृक्ष के ऊपर घूघू (उल्लू) बोलने लगा। उसकी आवाज सुनकर मुझे भूत का भय हुआ। मैं मठ के भीतर घुस गया।' भूतप्रेतादि के जो मिथ्या संस्कार बाल्यकाल में ही माता-पिता के अज्ञानवश बच्चों के मन पर पड़ जाते हैं, वे ही कालान्तर में भ्रमोत्पादक हो जाते हैं। मूलशङ्कर के इस अनुभव से यही बात चरितार्थ होती है। सायला ग्राम में रहते हुए उन्होंने एक अज्ञातनामा ब्रह्मचारी से ब्रह्मचर्य की दीक्षा ग्रहण की। अब वे शुद्धचैतन्य नाम से जाने गए। ब्रह्मचर्याश्रम की मर्यादा के अनुसार साधारण वस्त्रों को त्यागकर पीत वस्त्र तथा रक्त वर्ण के वस्त्रों को उन्होंने धारण किया। सायला में कुछ काल तक निवास करके श्रावण १९०३ वि० में उन्होंने कोटकाँगड़ा के लिए प्रस्थान किया। कोटकाँगड़ा अहमदाबाद के निकट है। यहाँ अनेक वैरागियों तथा साधु-संन्यासियों से उनकी भेंट हुई। इस प्रसङ्ग में उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'वहाँ बहुत से वैरागी रहते थे। एक कहीं की रानी वैरागी के फन्दें में आ गई थी। इस रानी ने मेरे साथ ठट्ठा (उपहास) किया परन्तु मैं जाल से छूट गया। इस स्थान पर वे तीन मास तक रहे। वैरागियों के उपहास के परिणामस्वरूप उन्होंने अपने किनारेदार अधोवस्त्र (धोती) उतार दिए तथा साधारण वस्त्र धारण कर लिए। इस समय उनके पास केवल तीन रुपए ही अवशिष्ट रह गए थे।

अब तक ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य को अपने निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता नहीं मिली थी। वे प्रयोजन की सिद्धि के लिए यत्र-तत्र भटक रहे थे। पता लगा कि सिद्धपुर में कार्तिक के मेले के अवसर पर बहुत से साधु और संन्यासी आते हैं। आशा की एक क्षीण रेखा उन्हें दृष्टिगोचर हुई। सम्भवत: इसी सन्त समागम में उन्हें कोई ऐसा रत्न मिल जाए जिसकी तलाश में वे इस्तत: भ्रमण कर रहे थे। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर ब्रह्मचारी जी सिद्धपुर की ओर चल पड़े।

सिद्धपुर गुजरात का का एक प्रसिद्ध शैव तीर्थ है। यहाँ प्रतिवर्ष कार्तिक मास मे मेला लगता है जिसमें सहस्रों स्त्री-पुरुष, गृहस्थ, संन्यासी, आबालवृद्ध एकत्रित होते हैं। शुद्धचैतन्य भी योगी सन्धान का लक्ष्य रखकर इस मेले में चले गए। "

**इस ग्रन्थ के सम्पादक की समीक्षा**- जब डॉ० भवानीलाल भारतीय ने अपना यह ग्रन्थ '*नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती*' १९८३ ई० में लिखा था तब वे ऋषि दयानन्द की जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ला नवमी ही मानते थे, भले ही वह सन् १८२५ ई० की न होकर सन् १८२४ ई० की रही हो। इसकी स्वीकृति में कोई बीस वर्ष बाद २१वीं शताब्दी के आरम्भ में आया हुआ उनका एक पोस्टकार्ड पत्र मुझ सम्पादक के संग्रह में विद्यमान है। सो जब दयानन्द ने गृह-त्याग अपनी २१ वर्ष की वय पूरी हो जाने के बाद ही कभी भाद्रपद मास के बाद किया था तो उन्होंने इससे पहले ही सायला से श्रावण मास संवत् १९०३ वि० में कोटकाँगड़ा के लिए कैसे प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचकर तथा तीन मास तक रहकर भी वे कार्तिकी के मेले में सिद्धपुर कैसे पहुँच गए। स्वामी दयानन्द के हस्तलिखित पूर्वोधृत जन्मचरित्र में इन स्थानों पर इतने समय तक रुकने का कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है और न वहाँ किसी रानी के वैरागियों के फन्दे में आ-जाने का ही उल्लेख है। इस प्रकार डॉ० भवानीलाल भारतीय ने ऋषि के हस्तलेख की अपने द्वारा लिखित ऋषि के जीवन चरित्र में ही सर्वथा हवहेलना की है, यह सिद्ध हो जाता है।

**डा० ज्वलन्तकुमार शास्त्री**- ६५ वर्षीय आर्य-विद्वान् और रणवीर रणञ्जय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अमेठी में संस्कृत के प्राध्यापक रहे डॉ० ज्वलन्तकुमार शास्त्री ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिध सभा नई दिल्ली द्वारा स्वामी दयानन्द सरस्वती की जन्मतिथि (फाल्गुन कृष्णा १० अर्थात् १२ फरवरी, १८२५ ई०) शनिवार मान्य कर प्रचारित कर दिए जाने के बाद इस तिथि के समर्थन में '*महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रामाणिक जन्मतिथि*' शीर्षक से संवत् २०४७ वि० में एक पुस्तक लिखकर प्रकाशित कराई थी। बहुत बाद में इसके खण्डन में मैंने भी १८ मार्च, २०१८ ई० को अपनी एक ३६ पृष्ठीय पुस्तक '*आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की वास्तविक जन्मतिथि*' शीर्षक से लिखकर प्रकाशित की जिसमें मैंने स्वामीजी की वास्तविक जन्म गुजराती संवत् १८८१ वि० के अनुसार २० सितम्बर, १८२५ ई० (भाद्रपद शुक्ला नवमी) मङ्गलवार को होना सिद्ध किया गया था।

मेरी उक्त ३६ पृष्ठीय पुस्तक और पश्चात्वर्ती एक लेख को पढ़कर डॉ० ज्वलन्तकुमार शास्त्री ने परोपकारिणी सभा अजमेर के पाक्षिक मुखपत्र '*परोपकारी*' के अप्रैल (द्वितीय), २०१९ ई० और रामलाल कपूर ट्रस्ट रेवली (सोनीपत) की मासिक पत्रिका- '*वेदवाणी*' के मई और जून, २०१९ ई० के दो अङ्कों में सार्वदेशिक सभा द्वारा मान्य ऋषि की जन्मतिथि १२ फरवरी, १८२५ ई० (फाल्गुन कृष्णा १०) के समर्थन में और मेरे द्वारा प्रचारित ऋषि की जन्मतिथि २० सितम्बर, १८२५ ई० ( भाद्रपद शुक्ला ९) के खण्डन में क्रमश: ८ और १० पृष्ठों के लम्बे-लम्बे लेख लिखे। इनमें उन्होंने लिखा-

"आदित्यमुनिजी स्वामीजी का गृह-त्याग कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से प्रारम्भ होने वाली कार्तिकी गुजराती संवत् १९०३ के कार्तिक मास के शुक्लपक्ष में मानते हैं। आदित्यमुनि के अनुसार स्वामीजी गृह-त्याग के १०-१२ दिनों के अनन्तर सिद्धपुर में कार्तिक पूर्णिमा से प्रारम्भ होने वाले कार्तिकी के मेले में जा पहुँचे, जहाँ उनकी भेंट अपने पिता से हुई। आदित्यमुनिजी का यह मिथ्या लेखन अकाण्ड ताण्डव है और इससे उत्पन्न होने वाले अनेक प्रश्नों का कोई जबाव उनके पास नहीं है। जैसे स्वामीजी अपने गाँव टङ्कारा से निकलकर कुछ दिनों बाद सायला में लाला भगत जोगी के यहाँ पहुँचे। सायला में ऋषि के निवास की अवधि एक मास रही। इसे पं० लेखराम, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, पं० भगवद्दत्त आदि सभी ऋषि-जीवनी के अनुसन्धाता विद्वान् मानते हैं। ... पं० भगवद्दत्त लिखते हैं कि कार्तिक में सिद्धपुर आए। तीन मास कोटकाँगड़ा में रहे तथा प्राय: एक मास तक लाला भक्त के ग्राम सायला में रहे।"

**इस ग्रन्थ के सम्पादक की समीक्षा**- डॉ॰ ज्वलन्तकुमार शास्त्री के उक्त प्रकार के लेख से स्पष्ट है कि इन्होंने भी स्वामीजी के थियोफिस्ट पत्र में १८७९-८० ई॰ में अँग्रेजी में प्रकाशित विवरणों और आगे ९६ वर्षों बाद परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा प्रकाशित ऋषि के अपने जीवनचरित्र के आर्यभषा के मूल हस्तलेखों को नहीं पढ़ा और समझा है इसीलिए वे पूना-प्रवचनों में १८७५ ई॰ में स्वामी जी द्वारा कहे गए अपने पूर्वचरित्र का आश्रय लेकर उनके सायला और कोटकाँगड़ा में क्रमश: एक और तीन मास ठहरने की बात लिखकर अपने द्वारा मान्य ऋषि के उत्तरभारतीय चैत्री संवत् १८८१ में जन्म लेकर और उसके अनुसार ही गृहत्याग से लेकर सिद्धपुर के मेले में पहुँच पर्यन्त उपलब्ध सात मास के अन्तराल को पाटने में लगे हुए हैं।

पूना-प्रवचनों के विषय में हमने अपने द्वारा १९८७ ई॰ में प्रकाशित *'अपना जन्मचरित्र'*, जो कलकत्ता-कथ्य, पूना-प्रवचन एवं जन्म-चरित्र का संयुक्त संस्करण था, में लिखा था कि "इसी निष्कर्ष के आधार पर हम कह सकते हैं कि अपना पूर्व-चरित्र सम्बन्धी १५वाँ ७ पृष्ठीय मुद्रित व्याख्यान भी सम्पूर्ण नहीं है अपितु वह उसका संक्षिप्त रूप ही है क्योंकि उस व्याख्यान में ऋषि दयानन्द ने अपने विषय में दो घण्टे में जो कुछ बताया था, उसके सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य बातें ही महादेव गोविन्द रानडे द्वारा नोट की जा सकीं और उसी को उन्होंने अपनी स्मृति के आधार पर दूसरे दिन लेखबद्ध करके आगाशे महोदय को मराठी में अनुवाद करने के लिए दे दिया। क्योंकि यह सम्भव ही नहीं था कि रानडे महोदय ऋषि दयानन्द के बोलने की गति से उस व्याख्यान को लेखबद्ध कर सकते।

वक्ता द्वारा व्याख्यान देते समय प्राय: आगे की बात पहले और पहले की बात स्मरण आने पर आगे कह दी जाती है और किसी-किसी कथ्य को अनावश्यक विस्तार भी मिल जाता है तथा कुछ महत्वपूर्ण कथ्य सर्वथा छूट भी जाते हैं। इसी प्रकार समय समाप्त होने लगने पर अन्तिम कथ्य अति संक्षिप्त भी हो जाता है।

अत: ये सभी तत्व इस पूर्वचरित्र में भी विद्यमान हैं।"

हमने अपने द्वारा सम्पादित और प्रकाशित संस्करण में पूना-प्रवचनों में आए ऐसे कुछ स्थान च्युत हुए विवरणों को कलकत्ता-कथ्य के आधार पर पहचान कर उन्हें आगे व्यासाश्रम से सम्बद्ध पाकर यथा-स्थान अङ्कित कर दिया था। मेरे इस ग्रन्थ को प्रकाशित हुए भी अब तक ३३ वर्ष हो गए हैं जिसे भी डॉ॰ ज्वलन्त कुमार शास्त्री ने नहीं देखा है। दरअसल एक अथवा तीन मास किसी स्थान पर ठहरने की बात हो वा किसी रानी के कुछ वैरागियों के फन्दे में आ जाने की बात हो, वे स्वामीजी के व्यासाश्रम में पहुँचने के बाद की घटनएँ हैं जो पाठक इस दयानन्द-दिवाकर ग्रन्थ में यथा स्थान पढ़ सकते हैं।

- *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

## शाहजहाँपुर (१८७९ ई०)

४ सितम्बर सन् १८७९ ई० तदनुसार आश्विन कृष्णा ४ संवत् १९३६ वि० (गुरुवार) को स्वामीजी शाहजहाँपुर पहुँचे। वहाँ आर्यसमाज स्थापित हो चुका था, अतः सभासदों ने उनके निवास आदि का प्रबन्ध कर रखा था। जब स्वामीजी शाहजहाँपुर पहुँचे तो आर्य पुरुषों ने अत्यन्त प्रेम और श्रद्धापूर्वक उनका स्वागत किया और खजाञ्ची साहब के बङ्गले में उन्हें ठहराया।

**आगमन की विज्ञप्ति**– स्वामीजी के पधारते ही मन्त्री आर्यसमाज की ओर से एक विज्ञापन छपवाकर सर्वसाधारण में बाँटा गया और नगर के प्रतिष्ठित पुरुषों और पण्डितों के पास भेजा गया।

**जिज्ञासुओं को निमन्त्रण**– विज्ञापन में जनसाधारण को स्वामीजी के पधारने और खजाञ्ची साहब के बँगले में ठहरने की सूचना देने के पश्चात् लिखा गया था कि जिन पुरुषों को स्वामीजी के दर्शन और उनसे वार्तालाप करने की इच्छा हो वे उक्त स्थान पर जाकर कर सकते हैं। स्वामीजी का व्याख्यान गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में ६, ७, ९, ११, १३ और १४ तारीख को सायङ्काल के ५ बजे से ७ बजे तक होगा। व्याख्यान के बीच में किसी को बोलने की आज्ञा न होगी, परन्तु व्याख्यान की समाप्ति पर जिसे जो कुछ पूछना हो पूछ सकेगा। यदि किसी को उनसे शास्त्रार्थ करना हो तो आर्यसमाज को सूचित करें, परन्तु शास्त्रार्थ लिखित होगा। मौखिक कदापि न होगा। शास्त्रार्थ के अन्य नियम शास्त्रार्थ करने की इच्छा की सूचना आने पर दोनों पक्षों की सम्मति से निर्धारित हो जाएँगे। चौदहवीं तारीख तक यदि कोई सूचना भेजेगा तो शास्त्रार्थ होगा, उसके पीछे किसी को यह कहने का अधिकार न होगा कि स्वामीजी चले गए, अन्यथा हम उनसे शास्त्रार्थ करते। श ष

**वेद शङ्खासुर ले गया**– पण्डित लक्ष्मण शास्त्री नामक एक पण्डित विज्ञापन को देखकर स्वामीजी से मूर्त्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करने आए। स्वामीजी ने उनसे कहा कि मूर्त्तिपूजा के समर्थन में वेद का कोई प्रमाण दीजिए। शास्त्री महोदय बोले कि वेद का प्रमाण कहाँ से दूँ, वेद तो शङ्खासुर ले गया। स्वामीजी ने उनके आगे वेद के पुस्तक रखकर कहा कि हमने आपके आलस्य और प्रमाद के शङ्खासुर का वध करके वेद जर्मनी से मँगाए हैं, इनमें से खोजकर कोई प्रमाण दीजिए।

**पौराणिक दल विकल और विह्वल**– पौराणिक दल लक्ष्मण शास्त्री की यह दशा देखकर विकल और विह्वल हो गया और स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का आयोजन करने लगा। शाहजहाँपुर में तो कोई ऐसा पण्डित था नहीं, जो स्वामीजी से मोर्चा लेता। अतः उन्होंने पीलीभीत से पण्डित अङ्गदराम शास्त्री को बुलाया जो संसार भर में अपने समान किसी को विद्वान् न समझते थे। बरेली में भी वे स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आए थे और कोलाहल मचाकर चले गए थे। एक बार जब स्वामीजी कर्णवास में विराजमान थे तब इन्हीं शास्त्रीजी ने स्वामीजी के पास एक पत्र संस्कृत में भेजा था, जिसका उत्तर उन्होंने विस्तारपूर्वक दे दिया था और उत्तर में इनके पाण्डित्य की भी खूब कलई खोली थी। आज यही पण्डित अङ्गदराम शास्त्री फिर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का दम भर रहे थे। परिणाम जो होना है उसका पाठक पहले से ही अनुमान कर सकते हैं!

**पं० अङ्गदराम का पत्र**– पण्डित अङ्गदराम शास्त्री आए और १० सितम्बर सन् १८७९ ई० को उन्होंने स्वामीजी को एक पत्र लिखा जिसका सारांश नीचे दिया जा रहा है–

मैं शास्त्रार्थ चिकीर्षु बहुत दिनों से जहाँ –तहाँ प्रथम स्थान कर्णवास श्री गङ्गाजी के तट पर, फिर अलीगढ़ गया, परन्तु आप किनारा करके चल दिए। संवत् १९३३ में बरेली में गया, आपने मुझसे शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया, परन्तु नियत समय पर जब ५००० के लगभग मनुष्य एकत्र हुए तो आपने शास्त्रार्थ करने से इन्कार कर दिया। फिर आप बरेली आए, परन्तु इतने में मैंने वहाँ जाने का अवकाश किया तो आप शाहजहाँपुर चले आए। मैं भी स्वामी प्रज्ञाचक्षुजी का ज्येष्ठ शिष्य विद्या रूपी वंश में आपके समय से पहले का हूँ अर्थात् स्वामी विरजानन्द का, कृपया निम्नलिखित नियमों को

स्वीकार करके अपनी चिट्ठी भेज दीजिए यदि आपकी सम्मति अन्य नियमों की हो तो उचित समझकर स्वीकार करूँगा।

*शास्त्रार्थ के नियम–*

(१) प्रथम तो यहाँ कोई मध्यस्त ज्ञात नहीं होता, इसलिए फारसी, अरबी, अँग्रेजी पढ़े हुए दस तथा बीस बुद्धिमान् बिठा लिए जाएँ। प्रथम शास्त्रार्थ के विषय को मैं संस्कृत में कहूँ, फिर आप उसका भाषा में अनुवाद करके जब मैं उसे ठीक होना प्रमाणित कर दूँ, आप सुना दें। इसी प्रकार मैं आपके संस्कृत–कथन का भाषानुवाद करके सुना दूँ। जिस विषय को उक्त पुरुष समझने में असमर्थ हों वह विषय लिखकर दोनों उस पर हस्ताक्षर कर दें। वह जिस पण्डित को श्रेष्ठ समझें उसे दिखाकर जय–पराजय का निश्चय करा लें।

(२) शास्त्रार्थ में किसी पक्ष को क्रोध करने, अश्लील वा कटुवाक्य कहने का अधिकार न होगा, यदि कोई ऐसा करेगा उसका पराजय समझा जाए।

(३) दस मिनट मैं विषय का उपपादन करूँ तो दस ही मिनट आप करें।

(४) मेरा यहाँ कोई मकान नहीं है अत: खजाञ्ची ब्रजकिशोर का मकान तजवीज किया है, आप कृपया एक दिन निश्चित कर दीजिए।

(५) इसके उत्तर से सूचित कीजिए।

यह पत्र स्वामीजी को ११ सितम्बर, १८७९ ई० को बाबू हरगोविन्द बनर्जी द्वारा दिन के ११–३० बजे मिला। बाबू हरगोविन्द पहले आर्यसमाज के प्रधान थे, परन्तु धर्मविरुद्ध आचरण करने के कारण अपदस्थ कर दिए गए थे। स्वामीजी के उत्तर का सारांश [५८९] निम्न प्रकार है–

**स्वामीजी का उत्तर**– यदि आपको शास्त्रार्थ करने की इच्छा होती तो सभ्यता और विनयपूर्वक शास्त्रार्थ करते, मैंने कभी ऐसे शास्त्रार्थ करने का निषेध नहीं किया और न अब करता हूँ। हाँ! जहाँ मूर्ख और असभ्य पुरुषों का हल्ला–गुल्ला होता है वहाँ मैं खड़ा भी नहीं होता। यह बात आपकी अत्यन्त झूठ है कि जहाँ–जहाँ आप जाते हैं मैं वहाँ–वहाँ से आपसे किनारा करके चला आता हूँ। आपसे मुझे किञ्चिनमात्र भी भय नहीं है, क्योंकि आपमें ऐसे गुण ही नहीं हैं जो भयप्रद हों। बरेली में भी आपके दङ्गा–बखेड़ा करने वाले मनुष्यों को साथ लाने के कारण खजाञ्ची लक्ष्मीनारायण ने आपको अपने बँगले में आने से रोक दिया था। बरेली और शाहजहाँपुर के अतिरिक्त मैंने कभी आपका आना सुना भी नहीं। आपको जितना शास्त्रार्थ करने का बल हो सो कर लीजिए। आप मथुरा में श्री दण्डीजी की पाठशाला में पढ़े होंगे, परन्तु आप यदि उनके शिष्य होते तो उनके उपदेश के विरुद्ध आचरण न करते और ज्येष्ठ, कनिष्ठ, उत्तम व नीच गुण–कर्म से होते हैं।

इस शास्त्रार्थ में निम्नलिखित नियम उभयपक्ष को मानने होंगे–

*शास्त्रार्थ के नियम–*

(१) इस शास्त्रार्थ में चारों वेद मध्यस्थ होंगे अर्थात् वेदविरुद्ध झूठा और वेदानुकूल सच्चा माना जाएगा।

(२) यदि किसी वेद मन्त्र के पद के अर्थ में विप्रतिपत्ति होगी तो उसका वही अर्थ सत्य समझा जाएगा जिसकी साक्षी में ब्रह्मा से लेकर जैमिनि–मुनि पर्यन्त के सनातन माननीय ग्रन्थों का प्रमाण मिलेगा अन्य का प्रमाण न माना जाएगा। जो वेदानुकूल, सृष्टि–क्रमानुसार, प्रत्यक्षादि प्रमाण–लक्षणलक्षित, आप्तानुचरण के अविरुद्ध और अपने आत्मा की विद्या और पवित्रता के अनुकूल, इन पाँच कसौटियों से परीक्षित होगा वही सच्चा माना जाएगा अन्यथा नहीं।

(३) एक पक्ष की ओर से शास्त्रार्थ में पचास–पचास चतुर विद्वान् पुरुष सभासद होने चाहिएँ।

(४) उक्त १०० पुरुषों को सभा में प्रवेश करने के लिए टिकट मिल जाएँगे, इनके अतिरिक्त अन्य कोई सभा में न आ सकेगा।

---

५८९– यह पूरा पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र-व्यवहार के पृष्ठ– १७१–१७३ तक छपा है। – *संग्रहकर्त्ता*

(५) हर एक अपने पक्ष को सप्रमाण लिखाकर सुना तथा समझा दिया करेगा अथवा दूसरे के द्वारा सुनवा तथा समझवा दिया करेगा।

(६) उभयपक्षवालों को अपने-अपने समय में प्रश्नोत्तर का एक-एक अक्षर लिखवाकर आगे चलना होगा।

(७) जो-जो उभय पक्ष वाले कहेंगे उसे तीन लेखक लिखते जाएँगे, प्रत्येक प्रति पर दोनों के हस्ताक्षर होंगे, एक प्रति मेरे पास, एक आपके पास रहेगी और एक सरकार में रहेगी जिससे कभी कोई घटा-बढ़ा न सके।

(८) आपने जो दस-दस मिनट प्रत्येक पक्ष के लिखे हैं उसमें प्रश्न के लिए दो मिनिट और उत्तर के लिए दस मिनट होने चाहिएँ।

(९) शास्त्रार्थ में बोलने का अधिकार केवल मुझे और आपको होगा, अन्य को नहीं।

(१०) खजाञ्ची का बँगला ही जहाँ मैं ठहरा हूँ शास्त्रार्थ के लिए निश्चित रहना चाहिए, क्योंकि यह न मेरा स्थान है न आपका।

(११) मेरा विषय वेदादि सनातन शास्त्रों की रीति से पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा और पुराण आदि के पक्षों का खण्डन होगा और आपका विषय उनका मण्डन होगा।

(१२) उभयपक्ष वालों को कुवचन, हठ, दुराग्रह, पक्षपात, भय, शङ्का, लज्जा आदि को छोड़कर सत्य का ग्रहण करना और झूठ को छोड़ना आवश्यक है, क्योंकि आप्तों का यही सिद्धान्त है।

(१३) जब तक किसी विषय का खण्डन वा मण्डन पूरा न होगा तब तक शास्त्रार्थ बन्द न होगा, किन्तु प्रतिदिन होता ही रहेगा, क्योंकि आरब्ध कर्मों के बीच में निष्फल न छोड़कर सिद्धान्तपर्यन्त पहुँचा देना विद्वानों का मुख्य सिद्धान्त है। इसी रीति से बहुत दिनों वा महीनों तक शास्त्रार्थ होने से आप की शास्त्रार्थ करने की उत्सुकता भी परिपूर्ण हो जाएगी।

(१४) उभयपक्षवालों को सरकार से पुलिस आदि का अवश्य प्रबन्ध करना होगा जिससे कोई असभ्य मनुष्य शास्त्रार्थ में विघ्न न डाल सके।

(१५) शास्त्रार्थ प्रतिदिन सन्ध्या समय ५ बजे से ८ बजे तक होगा।

(१६) एक दिन पहले मैं बोलूँगा तो दूसरे दिन आप बोलेंगे और जिस दिन जो पहले बोलेगा उस दिन वही अन्त में बोलेगा।

**पं० अङ्गदराम का प्रत्युत्तर**- इस पत्र का जो उत्तर शास्त्रीजी ने दिया उसका सारांश निम्न प्रकार है-

मैंने १० सितम्बर को आपकी सभा के मन्त्री द्वारा पत्र भेजा था उसका उत्तर आज १२ तारीख को पाँच बजे मिला। यह आपके अन्तःकरण को ही विदित होगा कि आपने शास्त्रार्थ करने से निषेध किया, मेरी इच्छा शास्त्रार्थ करने की न होती तो मैं तन, मन, धन लगाकर और विदेश-यात्रा का श्रम सहन कर अन्यत्र क्यों जाता? यहाँ मेरा आपके पास बँगले में न ठहरना शास्त्रार्थ करने की इच्छा का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। मैंने जो लिखा था कि आप जहाँ-तहाँ से शास्त्रार्थ से बचकर चले आए, उसे आप झूठ कहते हैं, आपका यह कहना झूठ है। मुझमें ऐसे भयङ्कर गुण नहीं हैं जो आपको भयप्रद हों। बरेली में जो बात शास्त्रार्थ की निश्चित हुई थी वह किसकी ओर से टूटी, वह अन्य सज्जनों के अतिरिक्त बरेली के पुलिस इंस्पेक्टर मौलवी अब्दुलहई तथा शाहजहाँपुर के जिला स्कूल के थर्ड मास्टर को भी विदित है। लाला लक्ष्मीनारायण के बागीचे में शास्त्रार्थ को रुकवा देना आपका ही कर्म था। मेरे प्रज्ञाचक्षुजी के शिष्य होने का वृत्त मथुरावासी सब श्रेष्ठ पुरुषों को विदित है, इस विषय में आपका सन्देह करना मिथ्या है। मैंने जो अपने को दण्डीजी का ज्येष्ठ शिष्य लिखा था सो वंश विषयक था। दण्डीजी नियमपूर्वक प्रतिदिन (दुर्गा) सप्तशती स्तोत्र का पाठ किया करते थे और कभी-कभी नीलकण्ठ महादेव तथा रंगनाथ महादेव के श्रद्धापूर्वक दर्शन तथा तीर्थ परिक्रमा और दान आदिक सब कर्म करते थे। कृष्ण शास्त्री से कौमुदी के अजा में षष्ठी वा सप्तमी समास है, इस विषय पर शास्त्रार्थ होने के पीछे वह भट्टोजी दीक्षित व कैयट, कौमुदी

प्रभृति ग्रन्थों का खण्डन करने लगे थे और एतदर्थ उन्होंने वाक्यमीमांसा व धूर्त्तनिराकृत व्याकरण ग्रन्थ बनाए थे। यदि यह बातें मिथ्या हों तो मैं भी उसी मत को ग्रहण कर लूँ, प्रज्ञाचक्षुजी का जो आचरण हो उसे ही सत्य मानकर ग्रहण करना चाहिए। शास्त्रार्थ का स्थान यदि खजाञ्ची (ब्रजकिशोर) का गृह अग्राह्य हो तो विश्रान्त वा अमुक अमुक बाग स्वीकार कीजिए। रविवार को २ बजे से ६ बजे तक शास्त्रार्थ होना चाहिए, रात्रि में शास्त्रार्थ का कौन अवसर है। वेदार्थ के विषय में जैमनिपर्यन्त कोई ग्रन्थ वेदार्थ प्रतिपादक है ही नहीं, सूत्रादि पद क्रम के ग्रन्थ हैं सो उनमें कोई अर्थ प्रतिपादक सायण, महीधर प्रभृति के सदृश नहीं है। यदि कोई ग्रन्थ आपके पास हो तो दिखलाइए। प्रश्न के लिए दो और उत्तर के लिए १० मिनट रखना कैसे हो सकता है क्योंकि कभी १५ और २० मिनट भी अपेक्षित होंगे, हम अपने नियम को कि दस मिनट एक पक्ष और दस मिनट ही दूसरा पक्ष अपने विषय का प्रतिपादन करे कभी न त्यागेंगे। शास्त्रार्थ में उभय पक्ष के पचास–पचास मनुष्य ही हों यह नियम विलक्षण है किसी को आने जाने का प्रतिबन्ध न होना चाहिए। शास्त्रार्थ दिन प्रतिदिन महीनों तक हो इस नियम से आपका आशय मेरी छुट्टी के दिनों को व्यर्थ खोना है, यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो पीलीभीत चलिए, वहाँ शास्त्रार्थ करूँगा।

**दण्डीजी पर मिथ्या दोषारोपण**– शास्त्रीजी ने दण्डी विरजानन्दजी के विषय में जो यह लिखा है कि वे शिवालयों में जाकर मूर्त्ति दर्शन और परिक्रमा आदि करते थे यह सर्वथा मिथ्या है, उनके विषय में केवल शास्त्रीजी ही हैं जो ऐसा अपवाद करते हैं, अन्य कोई मनुष्य भी ऐसा कहता हुआ नहीं सुना गया, दुर्गा सप्तशती का वह अवश्य पाठ किया करते थे, परन्तु कहा जाता है कि वह सप्तशती दूसरे ही प्रकार की थी।

**पण्डित अङ्गदराम का दुराग्रह**– शास्त्रीजी का स्वामीजी के निवास–स्थान पर शास्त्रार्थ करने पर सहमत न होना और अन्य स्थानों पर ही जो स्वयं उन्होंने निश्चित किए थे शास्त्रार्थ करने पर आग्रह करना, केवल एक ही दिन शास्त्रार्थ करने पर अड़ना, रात्रि के समय जब कि सब गणमान्य, राजकर्मचारी, शिक्षित वर्ग आदि सभ्यजन उपस्थित हो सकते थे शास्त्रार्थ करने पर उद्यत न होना, शास्त्रार्थ–स्थल में हर किसी को बेरोक–टोक आने देने पर हठ करना, केवल शास्त्रार्थ से बचने के उपाय थे। यदि दूसरे स्थानों पर शास्त्रार्थ होना निश्चित होता और श्रोताओं की संख्या पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाता तो शास्त्रीजी और उनके साथी उदण्ड, अशिक्षित लोगों को हुल्लड़ करने का बड़ा उत्तम अवसर मिलता और फिर सहज में ही उनका शास्त्रार्थ से छुटकारा हो जाता और अपनी विजय–दुन्दुभि बजाने का अवसर हाथ लग जाता। एक बार बरेली में शास्त्रीजी ऐसा कर भी चुके थे। इस बार स्वामीजी उन्हें यह अवसर देना नहीं चाहते थे। शास्त्रीजी का यह लिखना भी मृषा था कि उन्होंने आर्यसमाज के मन्त्री के द्वारा स्वामीजी के पास १० सितम्बर को पत्र भेजा था। हम कह चुके हैं यह पत्र उन्होंने बाबू हरगोविन्द बनर्जी द्वारा भेजा था।

**पण्डित अङ्गदराम का साक्षी उनके विरुद्ध** – बरेली की घटना के विषय में शास्त्रीजी ने साक्षी के तौर पर जिला स्कूल शाहजहाँपुर के थर्ड मास्टर का नाम लिया था। उनका नाम मौलवी नियाजअहमद था। आर्यसमाज के मन्त्री ने उन्हें निम्नलिखित पत्र लिखा था। हम मन्त्री के पत्र और मौलवी नियाजअहमद के उत्तर की, जो उर्दू में थे, ज्यों की त्यों प्रतिलिपि नीचे देते हैं–

जनाबे मन बाद तसलीम आँ कि बाज शख्स इस बात की ख्वाहिश करते हैं कि आपसे हाल शास्त्रार्थ यानी मुबाहिसे बरेली का जो दरमियान स्वामी दयानन्द सरस्वती व पण्डित अङ्गदशास्त्री होने वाला था दरियाफ्त करें। लिहाजा बराहे मेहरवानी यह लिख दीजिए कि वह मुबाहिसा किस वजह से न हो सका, किसकी तरफ से ढील हुई और वजह ढील क्या थी? जवाब इसकी पुश्त पर लिख दीजिए ताकि उनकी दिखला दिया जावे। आप यकीन है कि अच्छी तरह से कैफियत जानते होंगे। जियादा वस्सलाम। – आपका नियाजमन्द बख्तावरसिंह

*मौलवी नियाजअहमद का उत्तर –*

मुंशी साहब! मुद्दआ परदाज हूँ, मुबाहिसा इस वजह से न हुआ कि अङ्गद शास्त्री के रुफका दरपै तौहीन पण्डित दयानन्द सुरसुती के थे। अलल अमूम सुकान (?) बरेली हैं, जब उनसे कह दिया गया कि यह साहब धर्म में नई-नई बातें निकालते हैं और बुतपरस्ती को मना करते हैं, वे लोग मुश्तइल (उत्तेजित) हो गए और चाहते थे कि एक जम्मे गफीर (बहुत भीड़-भाड़) के साथ शहर से बाहर हो। इस अमर को पण्डित दयानन्द सुरसती ने पसन्द न किया और उनका मंशा (अभिप्राय) था कि खास लोगों के रूबरू किसी रईस के यहाँ जहाँ अहले इल्म (विद्वान्) हों अमूर मुतनाजआ फीह (विवादास्पद विषयों) का तसफिया (निर्णय) हो जाए।

–अर्राकिम नियाजअहमद फारूकी

मौलवी नियाजअहमद के उत्तर के पश्चात् तो इसमें कोई सन्देह ही नहीं रहता कि बरेली में शास्त्रार्थ केवल इस कारण न हुआ कि शास्त्रीजी का अभिप्राय स्वामीजी को अपमानित करना और दङ्गा-बखेड़ा करना था अन्यथा कुछ चुने हुए सभ्य पुरुषों के सामने शास्त्रार्थ करने में कौन-सी रुकावट थी। शाहजहाँपुर में भी वह इसी कारण से १०० शिक्षित और सभ्य पुरुषों की उपस्थिति में शास्त्रार्थ करने से कतराते और जी चुराते थे। यदि दर्शकों की संख्या नियत हो जाती और कोई असभ्य और उजड्ड मनुष्य शास्त्रार्थ में न आने पाता तो शास्त्री महोदय को ताली पीटने, ढेले फेंकने और शोर मचाने के लिए कौन मिलता? स्वामीजी का यह प्रतिबन्ध लगाना भी युक्तियुक्त ही था कि जब तक विषय का पूरी तरह निर्णय न हो जाए शास्त्रार्थ प्रतिदिन होता रहे चाहे इसमें कितने ही दिन वा मास ही क्यों न लग जाएँ। शास्त्रीजी पीलीभीत में गवर्नमेण्ट स्कूल में संस्कृत के अध्यापक थे और छुट्टी लेकर शाहजहाँपुर आए थे। यह उनका काम था कि यदि शास्त्रार्थ उनकी छुट्टी की अवधि के भीतर समाप्त न होता तो और छुट्टी ले लेते। अत: स्वामीजी पर उनका यह दोषारोपण करना कि स्वामीजी व्यर्थ बहाना करके उनकी छुट्टी के दिन बिताना चाहते हैं अयुक्तियुक्त और मिथ्या था। वास्तव में वह स्वयं किसी न किसी मिष से शास्त्रार्थ से बचना चाहते थे। स्वामीजी ने उनके प्रत्युत्तर के उत्तर में उन्हें निम्नलिखित पत्र भेजा–

**स्वामीजी का पत्र**– ''श्रीयुत अङ्गदशास्त्रयादि पण्डितान् प्रतीदं प्रख्यापनम्। संवत् १९३६ आश्विन कृष्ण १२ शनिवार का लिखा तुम्हारा पत्र आश्विन कृष्ण १३ रविवार को दिन के ११ बजे मेरे पास पहुँचा। पत्रस्थ लिखा अभिप्राय सब पर प्रकट हुआ। मुझको अति निश्चय है कि तुम लोग शास्त्रों का विचार कराना तो तब जनोगे जब कि तुम्हारे अनेक जन्मों के पुण्य उदित होंगे, परन्तु जो मैं तुम्हारे निश्चय किए हुए स्थानों में बातचीत करने को आऊँ तो तुमको हल्ला-गुल्ला करने को अच्छा अवसर मिल जाए। अब जो तुमको पूर्वोक्त ५० धार्मिक बुद्धिमान् रईसों के साथ यहाँ आकर कुछ कहना-सुनना हो तो मैं आने से नहीं रोकता, आगे तुम्हारी प्रसन्नता। संवत् १९३६ आश्विन कृष्ण १३ रविवार।[५९०]

शास्त्रीजी की यह चाल भी देखने योग्य है कि वह रविवार को शास्त्रार्थ करना चाहते हैं और शनैश्चर को पत्र लिखते हैं, परन्तु प्रबन्ध ऐसा करते हैं कि उनका पत्र रविवार को ११ बजे दिन के स्वामीजी को मिलता है।

स्वामीजी के पत्र का उत्तर शास्त्रीजी ने निम्नलिखित दिया–

**अङ्गदराम का पत्र**– ''श्रीयुत दयानन्द सरस्वती समीपेषु मत्कुशलपूर्वकमिदं विज्ञापनम्। आपका पत्र ३-३० बजे मेरे पास पहुँचा। पत्रस्थ लेखाशय प्रकट हुआ। आपको ऐसा नहीं चाहिए। कभी कुछ लिखना और कभी कुछ। या तो स्वामी प्रज्ञाचक्षु के मत पर होना चाहिए जिसका आप अपने पूर्व पत्र में स्वीकार कर चुके हैं, जिस परम्परा से शास्त्रार्थ होते हैं उस विधि से कीजिए, हम तैयार हैं, तीन स्थान जो निर्णीत हैं उनमें से किसी पर आ जाओ।

---

५९०– १४ सितम्बर, १८७९ ई० का यह पत्र ऋषि दयानन्द के पत्रव्यवहार पृष्ठ १७३ पर छपा है। –*संग्रहकर्त्ता*

**समालोचना**- शास्त्रीजी ने यह न बताया कि स्वामीजी के पत्रों में कौन-सी परस्पर विरुद्ध बात थी। शास्त्रार्थ का विषय यह तो न था कि प्रज्ञाचक्षुजी का किस समय क्या मत था। स्वामीजी तो उनका वह मत समझते थे जो स्वामीजी के अध्ययन काल में था और जिसके प्रचार के लिए उन्हें दण्डीजी ने आदेश दिया था। उससे पहले दण्डीजी के क्या विचार थे इस प्रश्न की मीमांसा की कोई आवश्यकता न थी। शास्त्रार्थ का विषय तो यह था कि मूर्त्तिपूजा आदि वेदानुमोदित है कि नहीं। शास्त्रीजी अपने ही निश्चित स्थानों पर शास्त्रार्थ करने के जिस अभिप्राय से इच्छुक थे वह स्वामीजी ने अपने पत्र में स्पष्ट कर दिया था। शास्त्रीजी ने अन्त तक यह न कहकर दिया कि स्वामीजी के निर्दिष्ट स्थान में शास्त्रार्थ करने में कौन-सा कारण बाधक था और उनके स्थानों में कौन-सा हेतु शास्त्रार्थ का साधक था। न ही शास्त्रीजी ने यह बताया कि शास्त्रार्थ की परम्परागत कौन-सी विधि थी। हम समझते हैं वही थी जिसका अवलम्बन काशी के पण्डितों ने काशी-शास्त्रार्थ के समय और अन्य स्थानों में अन्य पौराणिकों ने किया था और जिसका अवलम्बन वह स्वयं बरेली में कर चुके थे और शाहजहाँपुर में भी करना चाहते थे।

इस प्रकार शास्त्रार्थ का यह आयोजन समाप्त हुआ।

**सत्यधर्म की कसौटी**- एक व्याख्यान में स्वामीजी ने सत्यधर्म की कसौटी यह बताई थी कि जिस-जिस बात पर सब मत-मतान्तर वाले सहमत हों जैसे सत्य बोलना आदि वही सत्यधर्म है और जिन-जिन बातों में उनमें मतभेद है वही असत्य है।

**किराए की गाड़ी क्यों लाए**- एक दिन वह सज्जन जो स्वामीजी के लिए अपनी गाड़ी लाया करते थे, किराए की गाड़ी लेकर आए। तब स्वामीजी ने उनसे कहा कि आप किराए की गाड़ी क्यों लाए? मैं गाड़ी में बैठने का व्यसनी नहीं हूँ। मुझे तो पैदल चलने में ही आनन्द आता है। गाड़ी में केवल इसलिए बैठता हूँ कि समय की बचत हो।

**मितव्ययिता**- एक दिन पं० भीमसेन कुछ खाद्य पदार्थ बाजार से मोल लाए। स्वामीजी ने उनसे कहा कि ज्ञात होता है आपने भाव की पूछताछ नहीं की और पदार्थ भी अच्छे नहीं हैं। रुपया बड़ी सावधानी से खर्च करना चाहिए। कभी-कभी एक कौड़ी की कमी से करोड़ों की हानि हो जाती है।

**समय का मूल्य**- एक दिन कर्मचारी नियत समय से आधा घण्टा पीछे काम पर आए, स्वामीजी ने उन्हें उपदेश दिया कि हमारे देश के निवासी समय का मूल्य नहीं जानते। उसे व्यर्थ खोते हैं, यही उनकी दुरवस्था का कारण है। समय का मूल्य उस समय ज्ञात होता है जब एक मरणासन्न रोगी को देखकर वैद्य कहता है कि यदि मुझे पाँच मिनट पहले बुलाते तो यह न मरता। अब सहस्र रुपये भी व्यय करके यह नहीं बच सकता।

## लखनऊ (१८७९ ई०)

शाहजहाँपुर से स्वामीजी १७ सितम्बर सन् १८७९ ई० तदनुसार आश्विन शुक्ला प्रतिपदा संवत् १९३६ वि० (बुधवार) को लखनऊ के लिए रवाना हो गए। अगले दिन १८ सितम्बर को स्वामीजी लखनऊ में उपस्थित हुए। इस बार स्वामीजी लखनऊ में केवल छः दिन ही टिके। पुनः वे लखनऊ से २४ सितम्बर को कानपुर चले गए और वहाँ केवल एक दिन ठहरकर आगे फर्रुखाबाद को चले गए।

## फर्रुखाबाद (१८७९ ई०)

स्वामीजी का २५ सितम्बर सन् १८७९ ई० तदनुसार आश्विन शुक्ला १० संवत् १९३६ वि० (गुरुवार) को फर्रुखाबाद में पुनः आगमन हुआ। उस दिन आश्विन का दशहरा था। आपके आगमन से पूर्व ही फर्रुखाबाद में आर्यसमाज लाला मदनमोहनलाल के मकान पर श्रावण कृष्ण ९ सं० १९३६ वि० शनिवार (१२ जुलाई, १८७९ ई०) को स्थापित हो चुका था। इस बार आपको ला० मिट्ठनलाल प्रभृति ने व्याख्यान देने के लिए बुलाया था। आप इस बार फर्रुखाबाद ८

अक्टूबर सन् १८७९ ई० तक रहे और प्रतिदिन व्याख्यान देते रहे।[५९१] व्याख्यान सन्ध्या समय ५ बजे से ७ बजे तक होते थे। जेनियल साहब ज्वाइण्ट मेजिस्ट्रेट और पादरी टी०जे० स्काट साहब व्याख्यान श्रवण करने के लिए बहुधा आया करते थे। अन्य अफसर और नगर के प्रतिष्ठित पुरुष भी आते थे। पहले आपके व्याख्यान लाला गौरीलाल के बँगले पर और फिर लाला मिट्ठनलाल की कोठी पर हुए। एक दिन व्याख्यान के समय तक पादरी स्काट साहब न आए। आपने व्याख्यान आरम्भ कर दिया। कुछ लोगों ने कहा कि पादरी साहब की प्रतीक्षा कर लीजिए, परन्तु आपने इसे स्वीकार न किया।

**रोग की चिकित्सा**– इन दिनों स्वमीजी संग्रहणी रोग से आक्रान्त थे। उनकी चिकित्सा बाबू दुर्गाप्रसादजी ने अपने एक विश्वस्त मुसलमान हकीम से कराई थी। पहले तो स्वामीजी उससे चिकित्सा कराने पर सहमत न हुए, परन्तु बाबू दुर्गाप्रसाद के विश्वास दिलाने पर सहमत हो गए।

**पूजकों ने मूर्त्तिपूजा छोड़ दी**– इस बार स्वामीजी का निवास ला० कालीचरण के बाग में हुआ था। उस बाग में दो देवमूर्त्तियाँ थीं। स्वामीजी के व्याख्यानों का ऐसा प्रभाव हुआ कि लोगों ने देव मूर्त्तियों की पूजा करनी छोड़ दी।

**गोरक्षा पर व्याख्यान**– स्वामीजी का एक व्याख्यान गोरक्षा विषय पर हुआ था जिसमें आपने कहा था कि यदि एक मोटी–ताजी गौ को मारा जाए तो उसको खाने से केवल २० मनुष्यों का पेट भर सकता है वह भी तब जब कि उसके माँस में १० सेर अन्न भी मिलाया जाए। यदि उस की रक्षा की जाए तो वह दस बार जनेगी और यदि वह ५ सेर दूध प्रतिदिन एक वर्ष तक दे तो १८००० सेर (एक सेर=एक किलो से कुछ कम) दूध देगी जिसमें यदि ५ सेर प्रति मन (एक मन = लगभग ३७ किलो) चावल डालकर खीर बनाई जावे और एक मनुष्य यदि एक सेर खावे तो एक समय में २०२५० मनुष्यों का पेट भर सकता है। इसके अतिरिक्त उसकी जो बछियाएँ होंगी वे गाय बनेंगी और उनसे उत्तरोत्तर अधिक लाभ पहुँचेगा, उसके बछड़े बैल बनकर भूमि जोतकर सहस्रों मनुष्यों का अन्न से पेट भरेंगे।

**गोवध से हानि**– देश में सहस्रों गौएँ प्रतिदिन मारी जाती हैं जिनसे देश की अत्यन्त हानि हो रही है, इसी कारण यह देश दुर्दशा को प्राप्त हो रहा है। कितने शोक की बात है कि इतनी भारी क्षति को देखते हुए भी हमारे देश के शासक इस ओर ध्यान नहीं देते, परन्तु इसमें केवल शासकों का ही अपराध नहीं है, हमारा भी अपराध है। हममें एकता नहीं है और इसी कारण यह क्षति होती चली जा रही है। यदि सब मिलकर सरकार से निवेदन करें तो क्या गोवध बन्द नहीं हो सकता?

**विद्वेषियों का अपवाद**– इस व्याख्यान के सम्बन्ध में नगर के पौराणिक पण्डितों ने श्रीमहाराज की बहुत निन्दा की कि स्वामीजी गौ को पशु बताते हैं और उसके वध करने में भी कुछ दोष नहीं मानते, परन्तु ऐसी ऊट–पटाँग बातों पर किसी ने कुछ ध्यान न दिया बल्कि उल्टा उन्हीं लोगों को लज्जित होना पड़ा। गौ को स्वामीजी यदि पशु न कहते तो क्या उन्हें मनुष्यों की कोटि में रखते?

२ अक्टूबर सन् १८७९ ई० को स्वामीजी का व्याख्यान लाला जगन्नाथ के गृह पर और ५ अक्टूबर को आर्यसमाज में ला० मदनमोहनलाल के गृह पर और ८ अक्टूबर को फतेहगढ़ में मुं० गौरीलाल के बँगले पर हुआ।

**कुत्ते की दौड़ की उपमा**– ५ अक्टूबर को स्वामीजी घोड़ागाड़ी पर सवार होकर आर्यसमाज मन्दिर में व्याख्यान देने जा रहे थे। एक कुत्ता भौंकता हुआ बड़े वेग से गाड़ी के पीछे दौड़ा, परन्तु थोड़ी दूर दौड़कर ही वह रह गया। एक सज्जन गाड़ी में उनके साथ बैठे थे। उनसे स्वामीजी ने कहा कि कुत्ते में इतनी ही सामर्थ्य थी, घोड़े के बराबर कैसे दौड़ सकता था? यही दशा कपोल कल्पित ग्रन्थों के मानने वालों की है, वे भी प्राचीन वेदोक्त धर्म के मानने वालों के सम्मुख शास्त्रार्थ करने में असमर्थ रहते हैं।

५९१– आर्यसमाज फर्रुखाबाद की ओर से जो फर्रुखाबाद का इतिहास प्रकाशित हुआ है उसमें इस बार फर्रुखाबाद में केवल तीन व्याख्यान ही होने का उल्लेख है। पहला 'गोरक्षा', दूसरा 'दान का महत्त्व' और तीसरा 'धर्म' पर हुआ था। – *संग्रहकर्त्ता*

**न्यायकर्ता का कर्त्तव्य**– जब स्वामीजी आर्यसमाज मन्दिर में पहुँचे तो वहाँ बाबू दुर्गाप्रसाद बैठे हुए थे। वे आनरेरी मजिस्ट्रेट थे। स्वामीजी ने उनसे कहा कि न्यायकर्त्ता को लेशमात्र भी पक्षपात न करना चाहिए और अन्याय कभी न करना चाहिए। बाबू साहब ने निवेदन किया कि जहाँ तक हो सकता है मैं खूब अनुसन्धान कर लेता हूँ, परन्तु किसी के अन्तःकरण की बात मैं कैसे जान सकता हूँ? स्वामीजी ने कहा कि जब तक पूर्ण विद्या और विज्ञान न हो न्याय करना उचित नहीं है, तो फिर तुम न्याय क्यों करते हो? इस पर बाबू साहब चुप हो गए। तदनन्तर स्वामीजी ने व्याख्यान भी न्यायाधीश और साक्षियों के कर्त्तव्य पर ही दिया। स्वामीजी ने इसमें यह भी कहा कि म्यूनिस्पेलिटियाँ कूड़े का ढेर लगवा देती हैं, यह बहुत हानिकारक है, इससे से बहुत रोग उत्पन्न होते हैं।

**आर्यसमाज के नियमों की व्याख्या**– फतेहगढ़ में जो व्याख्यान हुआ था उसमें आपने आर्यसमाज के दस नियमों की अति सुन्दर और मनोहर व्याख्या करने के पश्चात् कहा कि इनमें एक नियम भी व्यर्थ नहीं है और न कोई उनका व्यर्थ होना सिद्ध कर सकता है, फिर ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों का बड़ी प्रबल युक्तियों से आपने खण्डन किया।

**आर्यसमाज का फण्ड**– ३ व ४ अक्टूबर को कतिपय प्रतिष्ठित और धनाढ्य आर्यसामाजिक पुरुष स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए और निवेदन किया कि आर्यसमाज को फर्रुखाबाद में दृढ़ भित्ति पर स्थापित करने के लिए एक धनराशि का होना आवश्यक है। स्वामीजी के अनुमति प्रकट करने पर उपस्थित सज्जनों ने २०० रु० से लेकर १,००० रु० तक का चन्दा लिखाया और १,००० रु० वेदभाष्य की सहायतार्थ दिया कि उस रुपए से मुद्रणालय स्थापित किया जाए।

**पौराणिकों की ईर्ष्या और कूटनीति**– जब इस प्रकार से आर्यसमाज और वेदभाष्य की आर्य रईसों ने पुष्कल धन से सहायता की तो पौराणिकों को बड़ी ईर्ष्या हुई और उन्होंने आर्यसमाज और उसके प्रवर्तक को पराभूत और अप्रतिष्ठित करने की यह चाल सोची कि स्वामीजी फर्रुखाबाद से शीघ्र ही चले जाने वाले हैं, अतः कुछ प्रश्न उनके पास भेज दिए जावें ताकि वह जाने से पहले उनका उत्तर न दे सकें और फिर यह प्रसिद्ध कर दिया जाए कि स्वामीजी से उनके उत्तर न बन पड़े। अतः उन्होंने ६ अक्टूबर को सन्ध्या के समय २५ प्रश्न लिखकर बाबू बलदेव प्रसाद बी०ए०, हैडमास्टर गवर्नमेण्ट स्कूल के नाम से स्वामीजी की सेवा में भेजे और साथ ही एक विज्ञापन भी छपाकर वितरित किया जिस पर १४ मनुष्यों के हस्ताक्षर थे। विज्ञापन में लिखा था कि यदि इन प्रश्नों का उत्तर प्रमाण सहित पत्र द्वारा न दिया जाएगा तो यह समझ लिया जाएगा कि आपने अपना मत आधुनिक मान लिया और इन प्रश्नों को आपके मतानुयायियों और अमेरिका के सज्जनों के पास भेजा जाएगा और भाषा तथा अँग्रेजी के पत्रों में मुद्रित कराया जाएगा। उन्हें उत्तर देने में क्या देर थी। उन्होंने उसी समय कहा कि उत्तर लिख लो, परन्तु लोग लिख न सके। ७ अक्टूबर को वह उत्तर लिखे गए और यह विचार हुआ कि उन्हें जब तक सब आर्य सज्जन सुन लें बाबू बलदेवप्रसाद के पास न भेजा जाए। अतः वे उत्तर पहले आर्यसमाज के अधिवेशन में पढ़कर सुनाए गए और तत्पश्चात् १२ अक्टूबर को बाबू बलदेवप्रसाद के पास भेज दिए गए।

प्रश्नोत्तर निम्न प्रकार थे–

*प्रश्न १* – आप्तग्रन्थानुसार परिव्राजकों के धर्म क्या हैं? उनको यानादि पर चढ़ना अथवा धूम्रपानादि अन्य व्यसन करना योग्य है या अयोग्य?

*उत्तर १* – वेदादि शास्त्रों में विद्वान् होकर वेद और वेदानुकूल आप्तशास्त्रोक्त रीति पक्षपात, लोकेषणा, पुत्रेषणा, अविद्या, हठ, दुराग्रह, स्वार्थ-साधनतत्परता, निन्दा, स्तुति, मानापमान, परद्रोहादि दोषों से रहित हो सुपरीक्षापूर्वक सत्यासत्य निश्चय करके सर्वत्र भ्रमणपूर्वक सर्वथा सत्य-ग्रहण, असत्य-परित्याग से सब मनुष्यों को शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के साधन, सत्य विद्या, सनातन धर्म सुपुरुषार्थयुक्त करके व्यावहारिक और पारमार्थिक सुखों से सहवर्तमान करके दुष्टाचारों से पृथक् कर देना परिव्राजकों का धर्म है। लाभ में हर्ष, अलाभ में शोकादि से रहित होके यानों पर बैठना तथा रोगादि

निवारणार्थ औषधियों का धूम्रपान करके परोपकार करने में यतियों को कुछ भी दोष नहीं, यह सब शास्त्रों में विधान है, परन्तु तुम्हें वर्त्तमान वेदादि सत्य शास्त्रों से विरोध होने के कारण भ्रम है, सो आप्तग्रन्थों से ऐसी विमुखता न होनी चाहिए।

*प्रश्न*–२– यदि आपके मत में पापों की क्षमा नहीं होती तो मन्वादिक आप्त ग्रन्थों में प्रायश्चितों का क्या फल है? वेदादि ग्रन्थों में परमेश्वर की क्षमाशीलता और दयालुता का वर्णन है, उससे क्या प्रयोजन है? यदि उससे आगन्तुक पापों की क्षमा से प्रयोजन है तो उसे क्षमा नहीं कहते और जब मनुष्य स्वतन्त्र होने से आगन्तुक पापों से बचा रहे तो उसमें परमेश्वर की क्षमाशीलता क्या काम आ सकती है?

उत्तर–२– हमारा वेदप्रतिपादित मत के सिवाय कोई कपोलकल्पित मत नहीं है और वेदों में कहीं कृत पापों की क्षमा नहीं लिखी और न कोई युक्ति से भी विद्वानों के सामने ( किए पापों की क्षमा) सिद्ध कर सकता है। क्या प्रायश्चित तुमने सुखभोग का नाम समझा है? जिस प्रकार जेलखानादि में चोरी आदि के पापों के फल का भोग होता है वैसे ही प्रायश्चित भी समझो। यहाँ क्षमा की कुछ भी कथा नहीं, क्या प्रायश्चित वहाँ पापों के दुःख रूप फल का भोग है? कदापि नहीं, परमेश्वर की क्षमा और दयालुता का यह प्रयोजन है कि बहुत से मूढ़ मनुष्य वास्तविकता से परमात्मा का अपमान और खण्डन करते तथा पुत्रादि के न होने या अकाल में मरने, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, रोग, पीड़ा और दारिद्रय के होने पर ईश्वर को गाली प्रदान भी करते हैं, तथापि परब्रह्म सहन कर कृपालुता से रहित नहीं होता; यही उसके दयालु स्वभाव का प्रयोजन है। क्या कोई न्यायाधीश कृत पापों की क्षमा करने से अन्यायकारी और पापों के आचरण का बढ़ाने वाला नहीं होता? क्या परमेश्वर कभी अपने न्यायकारी स्वभाव से विरुद्ध अन्याय कर सकता है? हाँ! जैसे न्यायाध्यक्ष राजदण्ड और अप्रतिष्ठादि करके तथा विद्या और सुशिक्षा देकर पापियों को पाप से पृथक् कर शुद्ध और सुखी कर देता है उसी भाँति परमेश्वर को भी जानो।

*प्रश्न*– ३– यदि आपके मत में तत्त्वादिकों के परमाणु नित्य हैं और कारण का गुण कार्य में रहता है तो परमाणु जो सूक्ष्म और नित्य हैं उनसे सांसारिक स्थूल और अनित्य कैसे उत्पन्न हुए?

उत्तर–३– जो परम अवधि सूक्ष्मता की है अर्थात् जिसके आगे स्थूल से सूक्ष्मता कभी नहीं हो सकती उसको परमाणु कहते हैं जिसके प्रकृति, अव्याकृति, अव्यक्त, कारण आदि नाम भी हैं और वह अनादि होने से नित्य है। हाय! लेगों की उलटी समझ पर। जो कारण के गुण समवाय–सम्बन्ध से कारण में हैं वे नित्य हैं। क्या जो गुण कारणावस्था में नित्य हैं वे कार्यावस्था में भी नित्य हैं। क्या जो गुण कारणावस्था में हैं वे कार्यावस्था में वर्तमान होकर फिर जब कारणावस्था होती है तब भी (कारण के गुण) नित्य नहीं होते? और जब परमाणु मिलकर स्थूल होते हैं वा पृथक्–पृथक् होकर कारणरूप होते हैं तब भी उनके विभाग और संयोग होने का सामर्थ्य नित्य होने से अनित्य नहीं होते। वैसे ही गुरुत्व, लघुत्व होने का सामर्थ्य भी उनमें नित्य है क्योंकि यह बात गुणगुणी–समवाय सम्बन्ध से है।

*प्रश्न*–४– मनुष्य और ईश्वर में क्या सम्बन्ध है? विद्या, ज्ञान से मनुष्य ईश्वर हो सकता है वा नहीं? जीवात्मा और परमात्मा में क्या सम्बन्ध है? और जीवात्मा और परमात्मा दोनों नित्य हैं और चेतन हैं तो जीवात्मा परमात्मा के अधीन है वा नहीं? यदि है तो क्यों?

उत्तर–४– मनुष्य और ईश्वर का राजा–प्रजा, स्वामी–सेवक आदि का सम्बन्ध है। अल्प ज्ञान होने से जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता। जीव व परमात्मा में व्याप्य व्यापक सम्बन्ध भी है। जीवात्मा सदा परमात्मा के अधीन रहता है, परन्तु कर्म करने में कभी नहीं, किन्तु पाप कर्मों के फल भोग में वह अनन्त सामर्थ्ययुक्त ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है और जीव अल्प सामर्थ्य वाला है, इसलिए उसका परमेश्वर के अधीन होना अवश्यक है।

*प्रश्न*–५– आप संसार की रचना और प्रलय को मानते हैं या नहीं ? जब प्रथम सृष्टि हुई तो आदि सृष्टि में मनुष्य एक अथवा बहुत मनुष्य उत्पन्न हुए। जब उनमें कर्म आदि की कोई विभिन्नता न थी तब परमेश्वर ने कुछ मनुष्यों ही को वेदोपदेश क्यों

किया? ऐसा करने से परमेश्वर पर पक्षपात का दोष आता है?

*उत्तर*-५- संसार की रचना और प्रलय को हम मानते हैं। सृष्टि प्रवाह से अनादि है, सादि नहीं, क्योंकि ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव अनादि और अव्याहत (बे रोकटोक) हैं। जो ऐसा नहीं मानते उनसे पूछना चाहिए कि प्रथम ईश्वर निकम्मा और उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी निकम्मेपन के थे। जैसे परमेश्वर अनादि वैसे जगत् का कारण अनादि और जीव भी अनादि हैं। क्योंकि बिना किसी वस्तु के उससे किसी कार्य का होना सम्भव नहीं; जैसे इस कल्प की सृष्टि की आदि में बहुत स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए थे, वैसे ही पूर्वकल्पान्त सृष्टि में उत्पन्न हुए और आगे की कल्पान्त सृष्टियों में भी उत्पन्न होंगे, कर्मादिक भी जीवों के अनादि हैं। चार मनुष्यों के आत्मा में वेदोपदेश करने में यह हेतु है कि उनके सदृश वा अधिक पुण्यात्मा जीव कोई भी नहीं थे। इसलिए परमेश्वर में पक्षपात कुछ भी नहीं आ सकता।

*प्रश्न*-६- आपके मत में न्यूनाधिक कर्मानुसार फल होता है तो मनुष्य स्वतन्त्र कैसे है? परमेश्वर सर्वज्ञ है तो उसको भूत, भविष्यत्, वर्तमान का ज्ञान है, अर्थात् उसको यह ज्ञान है कि अमुक पुरुष अमुक समय में अमुक काम करेगा और परमेश्वर का यह ज्ञान असत्य नहीं होता क्योंकि वह सत्य ज्ञान है, अर्थात् वह पुरुष वैसा ही कर्म करेगा जैसा कि परमेश्वर के ज्ञान में है, तो जब कर्म उसके लिए नियत हो चुका तो फिर जीव स्वतन्त्र कैसे है?

*उत्तर*-६- कर्म के फल न्यूनाधिक कभी नहीं होते क्योंकि जिसने जैसा और जितना कर्म किया है उसको वैसा और उतना ही फल मिलना न्याय कहलाता है। अधिक या न्यून होने से ईश्वर में अन्याय आता है। ईश्वर के ज्ञान में भूत, भविष्यत् काल का सम्बन्ध नहीं होता। क्या ईश्वर को ज्ञान होकर न हो और न होके होने वाला है? जैसे ईश्वर को हमारे आगामी कर्मों के होने का ज्ञान है वैसे ही मनुष्य अपने स्वाभाविक गुण कर्म साधनों के नित्य होने से सदा स्वतन्त्र है, परन्तु अनिच्छित दुःखरूप पापों का फल भोगने के लिए ईश्वर की व्यवस्था में (जीव) परतन्त्र होते हैं। जैसे कि राजा की व्यवस्था में चोर और डाकू पराधीन हो जाते हैं वैसे ही उन पाप-पुण्य के दुःख-सुख होने का ज्ञान मनुष्य को प्रथम नहीं है। क्या परमेश्वर का ज्ञान हमारे किए हुए कर्मों से उलटा है? जैसे वह अपने ज्ञान में स्वतन्त्र है वैसे ही सब जीव भी अपने-अपने कर्मों के करने में स्वतन्त्र हैं।

*प्रश्न*-७- मोक्ष क्या पदार्थ है?

*उत्तर*-७- सब दुष्ट कर्मों से छूटकर सब शुभ कर्म करना जीवन्मुक्ति और सब दुःखों से छूटकर आनन्द से परमेश्वर में रहना विदेह-मुक्ति कहलाती है।

*प्रश्न*-८- धन बढ़ाना अथवा शिल्पविद्या, वैदिकविद्या से ऐसा यन्त्र अर्थात् कला तथा ओषधि निकालना जिससे मनुष्य को इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त हो अथवा पापी मनुष्य जो रोगग्रस्त हो उसको ओषधि आदि से निरोग करना धर्म है वा अधर्म?

*उत्तर*-८- न्याय से धन बढ़ाने, शिल्पविद्या प्राप्त करने और परोपकारणी बुद्धि से यन्त्र वा ओषधि सिद्ध करने से धर्म और अन्याय द्वारा करने से अधर्म होता है। धर्म में प्रवृत्ति करने के लिए यत्न करना तथा ओषधि आदि से रोग छुड़ाने की इच्छा हो तो धर्म है, इससे विपरीत करने से अधर्म होता है।

*प्रश्न*-९- आमिष भोजन से पाप है या नहीं। यदि पाप है तो वेद और आप्त ग्रन्थों में पशुहिंसा करना यज्ञादिकों में विहित है और भक्षणार्थ हिंसा करना क्यों लिखा है?

*उत्तर*-९- माँसभक्षण में सदा दोष है। जैसे डाकू आदि दुष्ट मनुष्यों को राजा लोग मारते हैं, बन्धन वा छेदन करते हैं, क्या वैसे हानिकारक पशुओं को न मारेंगे? वेद और आप्तों ने यज्ञ के लिए पशु-हनन कहीं नहीं लिखा। भक्षणार्थ भी प्राणियों की हिंसा करना वेद वा आप्तों ने कहीं नहीं लिखा। हाँ, वाममार्गादि पन्थियों ने आप्तों के लेख में भी अपना झूठ लेख कर दिया है। जैसे '*संवत्सरं तु गव्येन*' गाय के माँस के पिण्ड प्रदान करने से पितरों की तृप्ति वर्ष भर तक होती है। इसी प्रकार भैंसा

आदि के पिण्ड भी लिखे हैं। क्या कोई भद्र पुरुष ऐसे दुष्ट वचनों को अङ्गीकार करेगा?

*प्रश्न*–१०– जीव का क्या लक्षण है?

उत्तर–१०– *'इच्छा–द्वेष–प्रयत्न–सुख–दुःख–ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्'*। यह जीव का लक्षण न्यायशास्त्रोक्त है।

*प्रश्न*–११– सूक्ष्म यन्त्रों से ज्ञात होता है कि जल में अनन्त जीव हैं तो क्या जल का पीना उचित है वा नहीं?

उत्तर–११– क्या विद्याहीन लोग अपनी मूर्खता को अपने वचनों से प्रसिद्ध नहीं करा देते? न जाने यह भूल दुनिया में कब तक रहेगी। जल–पात्र और पात्रस्थ जल अन्तवाले हों तो उसमें अनन्त जीव कैसे समा सकेंगे? छानकर वा आँख से देखकर जल का पीना सब को उचित है। जिसको शङ्का हो जल पीना छोड़ दे।

*प्रश्न*–१२– मनुष्य के लिए बहुत स्त्री करने का कहाँ निषेध है? यदि निषेध है तो धर्मशास्त्र में जो यह लिखा है कि यदि एक पुरुष के स्त्री बहुत हों उनमें एक के पुत्र होने से सब पुत्रवती हैं, यह क्यों लिखा?

उत्तर–१२– मनुष्य को अनेक स्त्रियों के करने का निषेध वेद में लिखा है। संसार में हर कोई अच्छा नहीं होता। जो अनेक अधर्मी पुरुष कामातुर होके अपने विषय–सुख के लिए बहुत सी स्त्रियाँ कर लें तो उनमें सपत्नीभाव होने से अवश्य विरोधी हो जाता है। जब एक के पुत्र होता है तो दूसरी विरोध के कारण विष प्रयोग आदि से उसको न मार डाले, इसलिए सबका पुत्रवती होना लिखा है।

*प्रश्न*–१३– आप ज्योतिष–शास्त्र के फलित ग्रन्थों को मानते हैं या नहीं? और भृगु–संहिता आप्त–ग्रन्थ है वा नहीं और उक्त शास्त्र द्वारा मनुष्यों के दुःख और सुख का ज्ञान होता है या नहीं?

उत्तर–१३– हम ज्योतिष–शास्त्र के गणित भाग को मानते हैं, फलित भाग को नहीं क्योंकि जितने ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थ हैं, उनमें फलित का लेश भी नहीं है। जो भृगु–सिद्धान्त कि जिसमें केवल गणित–विद्या है उसको हम आप्त ग्रन्थ मानते हैं, इतर को नहीं। ज्योतिष–शास्त्र में भूत, भविष्यत् कालस्थ सुख वा दुःख विदित होना कहीं नहीं लिखा। सिवाय अनाप्तोक्त ग्रन्थों के।

*प्रश्न*–१४– और ज्योतिष–शास्त्र में आप किस सिद्धान्त–ग्रन्थ को आप्तग्रन्थ समझते हैं?

उत्तर–१४– ज्योतिष–शास्त्र में जो वेदानुकूल ग्रन्थ हैं, उन सबको हम आप्तग्रन्थ मानते हैं अन्य (को) नहीं।

*प्रश्न*–१५– आप पृथ्वी पर सुख, दुःख, विद्या, धर्म और मनुष्य–संख्या की न्यूनता और अधिकता मानते हैं या नहीं, यदि मानते हैं तो पहले इनकी वृद्धि थी अब है या होगी?

उत्तर–१५– हम पृथ्वी में सुख आदिकों की वृद्धि क्षय की व्यवस्था सापेक्ष होने से अनियत मानते हैं। मध्यावस्था में बराबर जानो।

*प्रश्न*–१६– धर्म के क्या लक्षण हैं और धर्म सनातन है, परमेश्वरकृत वा मनुष्यकृत है?

उत्तर–१६– जो पक्षपातरहित न्याय कि जिसमें सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग हो वह धर्म का लक्षण कहलाता है तथा जो सनातन और ईश्वरोक्त वेदप्रतिपादित है, मनुष्य कल्पित कोई धर्म नहीं।

*प्रश्न*–१७– यदि मुहम्मदी अथवा ख्रष्टी मतानुयायी कोई आपके धर्मानुसार चले और आपके मत में दृढ़ विश्वासी हो तो आपके मतानुयायी उसको ग्रहण कर सकते हैं या नहीं और उसका पाक किया हुआ भोजन आप और आपके मतानुयायी कर सकते है या नहीं ?

उत्तर–१७– बिना वेदों के हमारा कपोलकल्पित कोई भी मत नहीं है, क्या तुमने अँधेरे में गिरकर खाना, पीना, मल–मूत्र करना, जूती, धोती, अँगरखा धारण करना, सोना, उठना, चलना धर्म मान रक्खा होगा। हाय! उन कुमति पुरुषों पर कि जिनकी बाहर और भीतर की दृष्टि पर पर्दा पड़ा हो जो कि जूता पहनना या न पहनना धर्म मानते हैं। सुनो भाइयों और आँख

खोलकर देखो! ये सब अपने देश के रीति–व्यवहार हैं।

*प्रश्न*–१८– आपके मत से बिना ज्ञान मुक्ति होती है या नहीं? यदि कोई मनुष्य आपके मतानुसार धर्म पर आरूढ़ हो और ज्ञानहीन हो तो उसकी मुक्ति हो सकती है या नहीं?

उत्तर–१८– बिना परमेश्वर सम्बन्धी ज्ञान के मुक्ति किसी की नहीं होती, सुनो भाइयो! जो धर्म पर आरूढ़ होगा क्या उसको ज्ञान का अभाव हो सकता है वा ज्ञान के बिना धर्म पर पूरी स्थिति मनुष्य कर सकता है?

*प्रश्न*–१९– श्राद्धादिक अर्थात् पिण्डदानादिक जिसमें पितृतृप्ति के अर्थ ब्राह्मण भोजनादि कराते हैं, शास्त्रीय हैं या अशास्त्रीय। यदि अशास्त्रीय हैं तो पितृकर्म का क्या अर्थ है और मन्वादिक ग्रन्थों में इनका लेख है या नहीं ?

उत्तर–१९– जीते पितरों की श्रद्धा से सेवा करना पुरुषार्थ है, उत्तम पदार्थों से उनकी तृप्ति करना श्राद्ध और तर्पण कहलाता है। वह (वेदादि) शास्त्रोक्त है। भोजनभट्ट स्वार्थियों को लड्डू आदि से पेट भराना श्राद्ध वा तर्पण शास्त्रोक्त तो नहीं, किन्तु पोपों का अनर्थकारक आडम्बर है। जो मनु आदि ग्रन्थों का लेख है सो वेदानुकूल मान्य है, अन्य कोई नहीं।

*प्रश्न*–२०– कोई मनुष्य यह समझकर कि मैं पापों से विमुक्त नहीं हो सकता, आत्मघात करे तो उसका कोई पाप है वा नहीं?

उत्तर–२०– आत्मघात करने से पाप ही होता है। पापाचरण का फल भोगे बिना कोई बचता नहीं। पापों से मुक्ति नहीं हो सकती।

*प्रश्न*–२१– जीवात्माएँ संख्यात हैं या असंख्यात। कर्म से मनुष्य पशु अथवा वृक्षादि योनि में उत्पन्न हो सकता है या नहीं?

उत्तर–२१– ईश्वर के ज्ञान में जीव संख्यात और जीव के अल्पज्ञान में असंख्यात हैं। पापादिक करने से जीव पशु वृक्षादिक योनियों में उत्पन्न होता है।

*प्रश्न*–२२– विवाह करना अनुचित है वा नहीं और सन्तानोत्पत्ति करने से किसी पुरुष को पाप होता है या नहीं, यदि है तो क्यों?

उत्तर–२२– जो पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय होकर सर्वोपकार किया चाहे उस पुरुष वा स्त्री को विवाह करना योग्य नहीं, अन्य सबको उचित है। वेदोक्त रीति से विवाह करके ऋतुगामी होकर सन्तानोत्पत्ति करने में कुछ दोष नहीं। व्यभिचारादि से सन्तान उत्पन्न करने में दोष है क्योंकि अन्यायाचरणों में दोष हुए बिना कभी नहीं रह सकता।

*प्रश्न*–२३– अपने सगोत्र में सम्बन्ध करना दूषित है या नहीं? यदि  है तो क्यों है। सृष्टि के आदि में ऐसा हुआ था वा नहीं?

उत्तर–२३– अपने सगोत्र में विवाह करने में दोष यों है कि इससे शरीर और आत्मा में प्रेम व बलादि की उन्नति यथावत् नहीं होती। इसलिए भिन्न गोत्रों में ही विवाह सम्बन्ध करना उचित है। सृष्टि के आदि में गोत्र नहीं थे फिर वृथा क्यों परिश्रम किया। हाँ, पोपलीला में दक्ष प्रजापति वा कश्यप एक ही व्यक्ति से सब सन्तान मानने से पशु व्यवहार सिद्ध होता है। इसको जो माने सो मानता रहे।

*प्रश्न*–२४– गायत्री जाप से कोई फल है या नहीं और है तो क्यों?

उत्तर–२४– गायत्री का जप जो वेदोक्त रीति से करे तो फल अच्छा होता है, क्योंकि गायत्री के अर्थानुसार आचरण करना लिखा है। पोपलीला के जप के अनर्थरूप फल होने की क्या ही कथा कहना है। कोई अच्छा वा बुरा किया हुआ कर्म निष्फल नहीं होता।

*प्रश्न*–२५– धर्माधर्म मनुष्य के अन्तरीय भाव से होता है या कर्म के परिणाम से? यदि कोई मनुष्य किसी डूबते हुए मनुष्य को बचाने को नदी में कूद पड़े और वह आप डूब जाए तो उसे आत्मघात का पाप होगा या पुण्य?

उत्तर–२५– मनुष्यों के धर्म और अधर्म भीतर और बाहर की सत्ता से होते हैं, जिनका नाम कर्म और कुकर्म भी है। जो किसी को बचाने के लिए परिश्रम करेगा और परोपकार के लिए जिसका शरीर विमुक्त हो जाएगा उसको बिना

पाप–पुण्य ही होगा।[५९२]

**सत्य का चमत्कार**– सत्य का चमत्कार देखिए कि यही बाबू बलदेवप्रसाद जिन्होंने सनातन धर्मसभा की ओर से उपर्युक्त प्रश्न भेजे थे अन्त को वैदिक धर्म की सत्यता स्वीकार करने पर बाधित हुए और आर्यसमाज फर्रुखाबाद के सभासद् बन गए।

**भीमा नहीं भूराज**– एक दिन स्वामीजी लाला कालीचरण के बाग में छत पर बैठे हुए थे कि कुछ स्त्रियों के आने की आहट उन्हें मालूम हुई तो उन्होंने तुरन्त ही अपने शरीर को बगल से पैरों तक वस्त्र से ढक लिया। स्त्रियाँ आकर प्रणाम करके बैठ गईं। उनमें से एक के साथ एक लड़का और दो लड़कियाँ थीं। आपने उससे लड़के का नाम पूछा, उसने भीमा बताया। आपने कहा कि इसका नाम भूराज अर्थात् पृथ्वी में प्रकाशवान् रक्खो और कहा कि लड़कियों को विद्या पढ़ाना, जब पढ़ जाएँ तब विवाह करना, अभी ये छोटी हैं, विवाह की जल्दी नहीं है।

**वैदिक रीत्यानुसार अन्त्येष्टि संस्कार**– स्वामीजी के फर्रुखाबाद में रहते हुए बाबू मदनमोहनलाल के परिवार में एक मृत्यु हो गई थी। उन्होंने शव का अन्त्येष्टि संस्कार स्वामीजी की प्रदर्शित रीति के अनुसार ही किया था। प्रचलित प्रथा के अनुसार क्रियाकर्म नहीं किया था। इस पर उनकी बिरादरी के लोगों ने बहुत विरोध किया, परन्तु वे विचलित नहीं हुए।

**अपने नहीं सबके मोक्ष की इच्छा है**– एक दिन प्रातःकाल स्वामीजी लेटे हुए थे और लाला मोहनलाल, सभापति गोरक्षिणी सभा उनके पैर दबा रहे थे। लाला मोहनलाल ने अत्यन्त नम्रभाव से स्वामीजी से कहा कि महाराज! जो कुछ मैंने शास्त्रों में देखा और सुना है उससे मुझे ज्ञात होता है कि आप मोक्ष के पूर्ण अधिकारी हैं। क्या आपकी इस शरीर से मोक्ष पाने की इच्छा नहीं है। स्वामीजी ने इसके उत्तर में कहा कि मैं अकेला मोक्ष पाकर क्या करूँगा, मेरी तो यह इच्छा है कि बहुत से मनुष्यों को मोक्ष मिले।

**देशप्रेम**– इससे स्पष्ट झलकता है कि स्वामीजी के हृदय में आर्यावर्त्त के लिए असीम दया भरी हुई थी। उन्होंने ब्रह्मानन्द जैसे अलभ्य आनन्द को आर्यावर्त्त के उपकारार्थ छोड़कर सांसारिक कष्ट–क्लेश में पड़ना स्वीकार किया था। आर्यावर्त्त के प्रति उनका हृदय करुणा से इतना कोमल हो गया था कि वे उसके सम्पूर्ण दुःखों को दूर करना चाहते थे। जब कभी देश की दुर्दशासूचक कोई घटना उनके सम्मुख आ जाती थी तो उन्हें मर्मान्तिक दुःख होता था।

**शवदाह के लिए ईंधन न मिला**– एक दिन ऐसा हुआ कि एक ग्रामवासिनी बुढ़िया अपने युवा पुत्र के शव को गङ्गा तट पर लाई। वह इतनी दरिद्र थी कि मृतक के दाह के लिए वह ईंधन तक भी उपस्थित न कर सकी और उसने शव को दाह किए बिना ही गङ्गा में बहा दिया।

स्वामीजी को जब यह वृत्त ज्ञात हुआ तो वह गद्गद् कण्ठ होकर करुणस्वर में बोले– 'हाय हमारा देश इतना निर्धन हो गया है कि मृतक शरीरों को काष्ठ तक भी नहीं मिल सकता।' लाला मोहनलाल कहते थे कि मैंने स्वामीजी को किसी विषय पर शोक प्रकट करते नहीं देखा था, परन्तु इस घटना से उन पर इतना प्रभाव पड़ा था कि उनके नेत्रों में अश्रु भर आए थे।

**स्वराज्य**– एक दिन स्वामीजी ने कहा कि कुछ काल से परदेशी राजाओं ने हमारे देश से इतना धन हरण कर लिया है कि अब वह सर्वथा धनहीन हो गया है, परन्तु इस देश की वसुन्धरा इतनी उपजाऊ है कि अधिकार (स्वराज्य) पाने से थोड़े ही

५९२– ये प्रश्नोत्तर '*फर्रुखाबाद का इतिहास*' नामक पुस्तक से ज्यों के त्यों उद्धृत किए गए हैं। यह इतिहास आर्यसमाज फर्रुखाबाद की ओर से १९३१ ई० में प्रकाशित किया गया था। पण्डित लेखरामकृत उर्दू *जीवन–चरित* में भी यही प्रश्नोत्तर दिए हुए हैं, परन्तु उनकी भाषा में अनेक जगह भेद है और उत्तर संख्या ९ के भाव में भी। '*दयानन्द–प्रकाश*' में भी ये प्रश्नोत्तर पं० लेखराम की पुस्तक से ही लिए गए हैं। ये प्रश्नोत्तर '*भारत सुदशा प्रवर्त्तक*' पत्र में भी छपे थे जो आर्यसमाज फर्रुखाबाद की ओर से प्रकाशित होता था। फर्रुखाबाद के इतिहास में भी उक्त पत्र से ही लिए गए हैं। अतः उनका उपर्युक्त रूप ही ग्राह्य है। – *संग्रहकर्त्ता*

काल में इस देश को पुन: धनधान्य से पूरित कर देगी।

**सच्चा आनन्द**- एक दिन सेठ निर्भयराम श्रीसेवा में उपस्थित हुए। स्वामीजी ने उनसे पूछा कि सेठजी आनन्दित हो? सेठजी ने उत्तर दिया कि हाँ महाराज! आपकी दया से पुत्र, पौत्र, धन, धान्य सब कुछ है। स्वामीजी ने कहा कि धर्म, कर्म और आत्मा-परमात्मा से भिन्न अन्य वस्तुओं में आनन्द समझना अविद्या का लक्षण है।

**मायिक दयानन्द**- एक दिन स्वामीजी ने प्रसङ्गवश कहा कि इस देश में अनेक दयानन्द उत्पन्न होंगे। ऐसे मायिक पुरुषों से वैदिक धर्म की रक्षा करना बड़ी सावधानी और बुद्धिमत्ता का काम होगा।

**कर्म-फल**- इन दिनों मिस्टर स्काट फर्रुखाबाद के मैजिस्ट्रेट थे। वे स्वामीजी के व्याख्यान सुनने आया करते थे और उन्हें बहुत पसन्द करते थे। वे एक पैर से कुछ लँगड़े थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि कर्म-फल का पता नहीं लगता। स्वामीजी ने उनसे प्रश्न किया कि आप के पैर में यह लँगड़ापन क्यों है? स्काट साहब ने कहा कि ईश्वर की इच्छा। स्वामीजी ने कहा कि ईश्वर की इच्छा नहीं, यह कर्म-फल ही है। सुख-दु:ख भोग का नाम ही कर्म-फल है। जिस भोग का कोई कारण दिखाई न दे वह पूर्व जन्म के कर्मों का फल होता है।

**मेरा काम मन्दिर को तोड़ना नहीं है**- उन दिनों बाजार की नाप हो रही थी। बीच में एक मढ़िया थी जहाँ लोग धूप-दीप दिया करते थे। बाबू मदनमोहनलाल ने स्वामीजी से कहा कि स्काट साहब आपको बहुत मानते हैं उनसे कहकर मढ़िया को हटवा दीजिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मेरा काम लोगों के मनोमन्दिरों से मूर्त्तिएँ निकलवाना है, ईंट पत्थर के मन्दिरों को तोड़ना-फोड़ना नहीं है।[५९३]

८ अक्टूबर सन् १८७९ ई० को स्वामीजी कानपुर चले गए। १२ अक्टूबर को पूर्वोक्त प्रश्नों के उत्तर आर्यसमाज में सुनाए गए और उन्हें प्रश्नकर्त्ता के पास भेज दिया गया तथा विज्ञापन का उत्तर भी यथोचित दे दिया गया।

## कानपुर (१८७९ ई०)

कानपुर में स्वामीजी १६ अक्टूबर, १८७९ ई० तदनुसार शुद्ध आश्विन शुक्ला प्रतिपदा संवत् १९३६ वि० (गुरुवार) तक रहे। इन दिनों में आपने वेदभाष्य-रचना के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं किया। कानपुर में ठाकुर मुकन्दसिंह व मुन्नासिंह छलेसर वालों को मुकद्दमों की पैरवी के लिए मुख्तारआम और मुन्शी समर्थदान आदि कतिपय व्यक्तियों को पुस्तक बेचने और मूल्य उगाहने के लिए उन्होंने अपना एजेन्ट नियत किया था। [५९४]

'*इण्डियन मिरर*' कलकत्ता के २८ दिसम्बर, १८७९ ई० के अङ्क में स्वामीजी के इस बार कानपुर पधारने के विषय में इस प्रकार लिखा था-

''*इण्डियन चर्च गजट*'' का संवाददाता कहता है कि ऐसा प्रतीत होता है कि दयानन्द सरस्वती के अनुयायी शीघ्रता से बढ़ रहे हैं। उनके वाणों का लक्ष्य मूर्त्तिपूजा, मिथ्याविश्वास और जाति भेद की सारी व्यवस्था है। उनके पिछली बार के आगमन ने जिसे लगभग एक मास हुआ बहुत हलचल और सनसनी उत्पन्न कर दी है और उनके आगमन का परिणाम कानपुर में वैदिक (आर्य) समाज की स्थापना हुई है।

---

५९३- फर्रुखाबाद की स्टेशन रोड पर उसके बीचों-बीच यह मठिया अब तक भी २१वीं शताब्दी में बनी हुई है और वहाँ यथावत अभी तक धूप-दीप दी जा रही है। - *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

५९४- ऋषि के पत्र व्यवहार के अनुसार ऋषि ने मुकुन्दसिंह व मुन्नासिंह को उक्त छलेसर रहने के समय २३ जून, १८७९ ई० या उससे पूर्व लिखकर दिया था। देखो पत्र व्यवहार पृष्ठ १५८। - *संग्रहकर्त्ता*

## प्रयाग (१८७९ ई०)

१७ अक्टूबर सन् १८७९ ई० तदनुसार शुद्ध आश्विन शुक्ला द्वितीया संवत् १९३६ वि० (शुक्रवार) को कानपुर से स्वामीजी प्रयाग आए और लाला दुर्गाप्रसाद के बाग में उतरे। इस बार प्रयाग में स्वामीजी की स्थिति केवल ६ दिन की रही। प्रयाग में स्वामीजी के तीन व्याख्यान हुए– एक सृष्ट्युत्पत्ति पर और दूसरा पुनर्जन्म तथा मृतकश्राद्ध पर तथा तीसरा नवीन वेदान्त पर। यहाँ कॉलेज के कुछ छात्रों ने उनसे कुछ प्रश्न किए थे जिनका उन्होंने सन्तोषप्रद उत्तर दिया था। उन दिनों उनको ज्वर था और संग्रहणी रोग से भी वे पूर्णतया मुक्त नहीं हुए थे। तब भी वे नित्य उषाकाल में उठकर स्नान करते थे और शरीर पर मृत्तिकालेपन करते थे। एक जन भगवानदास को स्वामीजी की योगक्रिया देखने की बड़ी इच्छा थी। एक दिन उसने छिपकर देखा कि जब वह उषाकाल में ध्यानावस्थित थे, तब उसने देखा कि स्वामीजी भूमि से छः इञ्च ऊपर शून्य में स्थित थे।[५९५] स्वामीजी का अधिक समय यहाँ वेदभाष्य की रचना करने में ही व्यतीत होता था।

## मिर्जापुर (१८७९ ई०)

२३ अक्टूबर सन् १८७९ ई० तदनुसार शुद्ध आश्विन शुक्ला नवमी संवत् १९३६ वि० (गुरुवार) को स्वामीजी प्रयाग से मिर्जापुर पधारे और सेठ रामरतन के बाग में ठहरे। यहाँ भी यद्यपि आप रुग्ण थे परन्तु परोपकार के कार्यों से आपको उपरति न थी। मिर्जापुर में इस अवस्था में भी आपने तीन व्याख्यान दिए जिनमें श्रोताओं की संख्या सहस्रों की होती थी।

**गाड़ी नहीं आई तो पैदल ही सही**– गोसाईं टोले में एक व्याख्यान सेठ रामरतन की कोठी में हुआ था। सेठजी ने व्याख्यान-स्थल में आपको पहुँचाने के लिए गाड़ी भेजने का वचन दिया था, परन्तु किसी कारणवश वे गाड़ी न भेज सके। स्वामीजी कभी नियत समय का अतिक्रमण न करते थे। अतः जब गाड़ी न आई तो आप पैदल ही चल पड़े और इस रुग्णावस्था में अपने शारीरिक कष्ट की लेशमात्र भी चिन्ता न की।

**विद्या विषय पर व्याख्यान**– नियत समय पर सभास्थाल में पहुँचकर आपने 'विद्या-विषय' पर एक अत्यन्त ओजपूर्ण वक्तृता दी जिसे सुनकर श्रोतावर्ग चकित और मुग्ध हो गया। इस व्याख्यान में आपने कहा कि जो व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करके विद्या का व्यवहार नहीं करता उसके आचार्य-ऋण का परिशोध नहीं होता। आपने हिन्दू, मुसलमान, अँग्रेज प्रभृति सब जातियों के पण्डितों के पाण्डित्य को धिक्कारा था कि ये लोग विद्या का अपमान करते हैं।

स्वामीजी की वक्तृता-शक्ति ऐसी अद्‌भुत थी कि आपकी वक्तृता को सुनकर श्रोतागण उसे सत्य मानने पर बाधित हो जाते थे। इन श्रोताओं में एक मारवाड़ी और उसका पुरोहित भी था। वक्तृता समाप्त होने पर मारवाड़ी ने पुरोहितजी से पूछा कि महाराज! वक्तृता कैसी हुई? पुरोहितजी ने कहा कि अच्छी हुई। उस पर मारवाड़ी ने कहा कि 'तो फिर आपने हमें भ्रान्ति के कुएँ में क्यों डाले रखा?'

वक्तृता सुनकर कोई यह नहीं कह सकता था कि स्वामीजी रुग्ण हैं। आपका स्वर सदा की भाँति उच्च और स्पष्ट था। आपका गर्जन सदा की भाँति ही सिंह के समान था।

**गद्दी पर बैठने में क्या दोष है?** – मिर्जापुर के एक ब्राह्मणा ने स्वामीजी पर आक्षेप किया था कि पहले आप पत्थर का तकिया लगाया करते थे और अब आप गद्दी पर बैठते और पलङ्ग पर सोते हैं। आपने इसके उत्तर में कहा था कि इसमें क्या दोष है, ब्राह्मण आगे कुछ न कह सका।

---

५९५– '*दयानन्दप्रकाश*' में इस घटना का संवत् १९३१ वि० और स्वामीजी की योग क्रिया देखने वाले का नाम ठाकुरप्रसाद दिया है। देखो उसका पृष्ठ २३३। – *संग्रहकर्त्ता*

**काशी नहीं दानापुर जाएँगे** – बाबू जनकधारीलाल आदि दानापुर निवासी प्रतिष्ठित सज्जनों ने मक्खनलाल आदि कतिपय सज्जों को अक्टूबर सन् १८७८ ई० में स्वामीजी को दानापुर लिवा लाने के लिए दिल्ली भेजा था तो स्वामीजी ने उनसे कह दिया था कि जब हम काशी की ओर जावें तब हमें संवाद देना। कानपुर पहुँचकर स्वामीजी का काशी जाने का विचार बदल गया और १२ अक्टूबर सन् १८७९ ई० को आपने दानापुर आर्यसमाज के मन्त्री बाबू माधवलाल को पत्र लिखा कि अब हम काशी न जाएँगे। पहले प्रयाग जाएँगे फिर मिर्जापुर और मिर्जापुर से सीधे दानापुर जाएँगे[५९६]। इस पत्र में दानापुर के सज्जनों को वेदभाष्य की सहायतार्थ चन्दा एकत्र करने का भी आदेश था और निवास स्थान के सम्बन्ध में लिखा था कि वह बस्ती से एक मील के अन्तर से हो जहाँ का जलवायु अच्छा हो और व्याख्यान-स्थल नगर में हो। इस पत्र में हरिहर क्षेत्र के मेले पर भी जो कार्तिक पूर्णिमा को होता है जाने का विचार प्रकट किया गया था और वहाँ के लिए डेरा- तम्बू आदि का प्रबन्ध करने को भी लिखा था। इसके पश्चात् मिर्जापुर से स्वामीजी ने दूसरा पत्र २३ अक्टूबर, १८७९ ई० को दानापुर भेजा कि यदि हमें दानापुर बुलाना अभीष्ट हो तो ६ दिन के भीतर किसी को हमारे लिवाने के लिए भेज देना। तद्नुसार दानापुर से पूर्वोक्त बाबू मक्खनलाल वा एक जन श्यामलाल स्वामीजी को लिवाने के लिए मिर्जापुर पहुँच गए। मिर्जापुर पहुँचकर इन लोगों ने स्वामीजी के आदेशानुसार दानापुर को पत्र भेज दिया कि स्वामीजी ३० अक्टूबर को दानापुर मध्याह्नोत्तर में पहुँचेंगे, उनके साथ तीन पण्डित (पं० भीमसेन, पं० देवदत्त तथा एक अन्य पण्डित), एक साधु और एक भृत्य है। उनके भोजन, निवास-स्थान आदि का सुप्रबन्ध कर दिया जाए और व्याख्यान-स्थल का भी समुचित प्रबन्ध कर दिया जाए तथा कैम्प-मजिस्ट्रेट से व्याख्यान के लिए आज्ञा ले ली जाए।

जब स्वामीजी मिर्जापुर से दानापुर गए तो किनारीदार धोती, किनारीदार दुपट्टा धारण करके और रेशमी कोट पहनकर घड़ी और चैन लगाकर गए थे।

५९६- यह पत्र ऋषि के पत्र व्यवहार पृष्ठ १७४ पर छपा है। –*संग्रहकर्त्ता*

## दानापुर(१८७९ ई०)

**'हिन्दू सत्य सभा'**– बाबू जनकधारीलाल, माधवलाल आदि कतिपय दानापुर निवासी सज्जनों की सन् १८६४ से ही मूर्त्तिपूजा में अरुचि हो गई थी और वे आपस में धर्म विषयों पर वार्त्तालाप किया करते थे। उन्होंने एक सभा भी स्थापित कर ली थी और अपने को वह 'विचारपन्थी' कहा करते थे। इसके वर्ष दो वर्ष पश्चात् मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी की पुस्तकें पढ़कर उन्होंने अपनी सभा का नाम 'हिन्दू सत्य सभा' रक्खा। इसके पश्चात् बाबू जनकधारीलाल काशी में प्रथमावृत्ति के *'सत्यार्थप्रकाश'* के ग्यारहवें समुल्लास के कुछ रद्दी प्रूफों को पढ़कर स्वामीजी के उपदेशों की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने उन प्रूफों को दानापुर में अपने मित्रों को सुनाया जिन्होंने स्वामीजी की शिक्षाओं को बहुत पसन्द किया।

**सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव**– इसके पश्चात् उक्त सभा के एक सभासद् सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति मोल ले आए, जिसे पढ़कर सभासद्गण स्वामीजी के अनुयायी हो गए और जनवरी सन् १८७८ ई० में *'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'* पढ़कर वे पूर्णतया वैदिकधर्म के सिद्धान्तों पर आरूढ़ हो गए और उनका स्वामीजी से पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया।

**सत्यसभा की जगह आर्यसमाज**– फलस्वरूप स्वामीजी के आदेशानुसार अप्रैल सन् १८७८ ई० में हिन्दू सत्यसभा का नाम ही *'आर्यसमाज'* रख दिया गया।

**स्वागत का समारोह**– जब स्वामीजी ३० अक्टूबर सन् १८७९ ई० तदनुसार शुद्ध आश्विन पूर्णिमा संवत् १९३६ वि० (गुरुवार) को सायंकाल के ६ बजे दानापुर पहुँचे तब वहाँ आर्यसमाज के सभासदों के अतिरिक्त सैकड़ों मनुष्य रेलवे स्टेशन पर आपके स्वागतार्थ पहुँच गए थे जिससे एक प्रकार का मेला सा लग गया था। बाजार में जब स्वामीजी की सवारी पहुँची तो सहस्रों मनुष्य आपके पुनीत दर्शनों से अपने नेत्रों को पवित्र और तृप्त करने के लिए उपस्थित थे। आपने बाबू माधवलाल के गृह पर विश्राम किया। वहाँ चाय पी और कुछ देर आगन्तुकों से बातचीत की।

**हमारे वचन सुई के समान अन्दर चुभ जाएँगे**– आगन्तुकों में बाबू उमाप्रसाद मुखर्जी हेडक्लर्क दफ्तर कैम्प-मैजिस्ट्रेट भी थे। उन्होंने आपसे प्रश्न किया कि यद्यपि आपका कहना ठीक है, परन्तु यदि लोग हठ से न मानेंगे तो आप क्या करेंगे? इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि हमारा काम इतना ही है कि हमारे कथन को लोग कानों में जगह दें और जब वे पूरे तौर पर सुन लेंगे तो वह सुई की तरह अन्दर चुभ जाएगा और निकालने से न निकलेगा। यदि उनका मित्र या प्यारा एकान्त में पूछेगा तो स्पष्ट कह देंगे कि ठीक है, हठ या लाभ-लालच से न कहें तो न कहें।

स्वामीजी ने तत्पश्चात् भोजन किया और फिर जोंस साहब सौदागर के बँगले पर, जो दीघालॉज कहलाता है, चले गए, क्योंकि उक्त स्थान ही आपके निवास के लिए नियत किया गया था।

**कैम्प मैजिस्ट्रेट की आज्ञा**– दानापुर कैन्टूनमेण्ट (छावनी) था, अत: स्वामीजी के व्याख्यानों के लिए कैम्प-मैजिस्ट्रेट से आज्ञा लेनी आवश्यक थी। अत: ३१ अक्टूबर को उक्त अफसर ने निम्न शब्दों में आज्ञा दी।

"इन व्याख्यानों के होने में हमको कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु लेक्चरार और उनके मतावलम्बी दूसरों के चित्त को न दुखावें जो उनसे भिन्न मति रखते हैं और मिस्टर गिलबर्ट इंस्पेक्टर पुलिस को सूचना दी जावे कि वे हल्ला-गुल्ला रोकने के लिए आवश्यक प्रबन्ध करें।"

**आगमन की सूचना**– २ नवम्बर सन् १८७९ ई० को एक विज्ञापन भी नगर में वितरित किया गया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती दानापुर में मिस्टर जोंस के दीघालॉज में ठहरे हैं, जिस किसी को उनसे मिलने की इच्छा हो वह प्रात:काल आठ बजे से साढ़े नौ बजे तक और जिस दिन व्याख्यान न हो उस दिन सन्ध्या समय पाँच बजे से दस बजे तक भी उपस्थित होकर सत्य-असत्य का निश्चय करके सत्य को ग्रहण और असत्य का त्याग करें। विज्ञापन में यह भी सूचना दी गई थी कि स्वामीजी के व्याख्यान प्रतिदिन नये कटरे में बाबू महावीरप्रसाद की दूकान के सामने हुआ करेंगे।

**व्याख्यानमाला**– तद्नुसार स्वामीजी के व्याख्यान २ नवम्बर सन् १८७९ ई० से १६ नवम्बर तक केवल १३ नवम्बर को छोड़कर हुए, जिनके विषय सृष्ट्युत्पत्ति, देशोन्नति, वैदिक धर्म, पौराणिक, ईसाई, मुसलमानाी मत–खण्डन, धर्म में एकता की आवश्यकता, ईश्वर की वाणी, शिक्षा का प्रकार, मूर्त्तिपूजन–निषेध आदि थे। प्रसङ्ग आने पर नवीन वेदान्त और ब्रह्मसमाज के मन्तव्यों की समीक्षा भी हुई।

**पण्डित चतुर्भुज पौराणिकराज**– पण्डित चतुर्भुज पौराणिकराज भी उन्हीं दिनों दानापुर पहुँच गए थे और पौराणिकों में बैठकर बहुत ही डींग मारा करते थे कि मैं स्वामीजी को कई बार शास्त्रार्थ में परास्त कर चुका हूँ। उसकी इस प्रकार की बातें स्वामीजी के कानों तक भी पहुँची तो आपने सूबेदारसिंह, सौदागरसिंह व जयराजसिंह को पण्डित चतुर्भुज के पास भेजा कि वह बताएँ कि किस विषय पर शास्त्रार्थ करेंगे, परन्तु पण्डितजी यही कहते रहे कि मैंने दयानन्द को अमुक अमुक स्थान पर हराया है और कोई ३२ स्थानों के नाम भी गिना दिए। तब नन्दलाल व रामलाल ने, जो भाई–भाई थे और जिनके गृह पर ही पण्डितजी ठहरे हुए थे, उनसे कहा कि ऐसी व्यर्थ बातों से क्या लाभ? यदि आपने स्वामीजी को इतनी बार हराया है तो एक बार और हरा दो, परन्तु वे यही रट लगाते रहे कि मैंने दयानन्द को अमुक–अमुक स्थान पर हराया है और शास्त्रार्थ के विषय में कोई उत्तर नहीं दिया।

**पौराणिकराज को निकाल दिया**– नन्दलाल रामलाल, पौराणिकराज के व्यर्थ आलाप से इतने विरक्त हुए कि उन्होंने उन्हें अपने गृह से ही निकाल दिया और तब वे थाने के पास ठाकुरबाड़े में जाकर ठहरे। स्वामीजी ने चतुर्भुज के उक्त व्यवहार को सुनकर कहा कि वह कभी हमारे सामने नहीं आएगा, दूर से ही शोर मचाता रहता है।

**पौरणिकराज की नीचता**– चतुर्भुज ने स्वामीजी को क्षति पहुँचाने के लिए मुसलमानों से मेल कर लिया था और उन्हें उनका विरोध करने के लिए उकसाया था। चतुर्भुज के पक्ष के हिन्दू और मुसलमानों ने यह षड्यन्त्र रचा कि स्वामीजी को शास्त्रार्थ के नियम निर्धारित करने के मिष से किसी स्थान पर बुलाकर पीटा जाए।

**स्वामीजी को पीटने का षड्यन्त्र**– तद्नुसार एक दिन जब व्याख्यान समाप्त हो गया तो कुछ लोगों ने स्वामीजी से कहा कि आप झारीसाह के गृह पर चलें जहाँ पण्डित चतुर्भुज भी आवेंगे और वहाँ शास्त्रार्थ के नियम निश्चित कर लें। स्वामीजी उनका विश्वास करके उस स्थान पर चले गए। आपके साथ कई पुरुष और भी गए जिनमें पूर्वोक्त तीनों व्यक्ति सूबेदारसिंह आदि भी थे। इनमें से कुछ लोग तो बाहर रह गए और कुछ स्वामीजी के साथ उस गृह के अन्दर चले गए। स्वामीजी ने वहाँ पहुँचकर कहा कि पण्डित चतुर्भुजजी कहाँ हैं सामने आवें और बात करें। वहाँ बहुत से मनुष्य हिन्दू और मुसलमान उपद्रव करने के उद्देश्य से बैठे हुए थे। स्वामीजी की बात को सुनकर गोविन्दशरण मन्त्री धर्मसभा ने उठकर कहा कि पण्डित तो यहाँ नहीं है उन्हें इस समय आँखों से कुछ कम सूझता है, आप मुझसे बातें कीजिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यदि उन्हें आँखों से नहीं सूझता है तो मौखिक प्रश्नोत्तर कर लें। गोविन्दशरण ने कहा कि वे आपके सामने नहीं आएँगे क्योंकि वे कहते हैं कि हमें स्वामीजी के दर्शनों से प्रायश्चित लगता है। स्वामीजी बोले कि वह कपड़े की आड़ से बातचीत कर लें। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि आप कौन हैं जो हम आपसे बातचीत करें। इतना सुनकर गोविन्दशरण ने दीपक बुझा दिया और सब लोग ताली बजाने लगे। यह दृश्य देखकर सूबेदारसिंह आदि ने ललकार कर कहा कि दुष्टों, हम तुम सब को मार डालेंगे। स्वामीजी के साथियों में से एक के पास लालटेन थी वह लालटेन लेकर आगे हुआ और स्वामीजी उसके पीछे। इस प्रकार वे उस गृह से बाहर निकल आए। बाहर आकर स्वामीजी को गाड़ी में बिठाकर दीघालॉज पहुँचा दिया। सूबेदारसिंह आदि पर पौराणिकों के इस दुर्व्यवहार का इतना प्रभाव पड़ा कि वे पौराणिक मत को छोड़कर वैदिक धर्म के अनुयायी और आर्यसमाज के सदस्य बन गए। फिर इन लोगों ने स्वामीजी की रक्षार्थ यह नियम कर लिया कि व्याख्यान के आदि से अन्त तक आठ दस जने पहरा देते रहें, जिससे किसी दुष्ट को कोई कुचेष्टा करने का साहस न हो।

**कैम्प–मैजिस्ट्रेट की आज्ञा**– इस घटना के पश्चात् कैम्प मैजिस्ट्रेट से सब–इंस्पैक्टर पुलिस ने रिपोर्ट कर दी कि शास्त्रार्थ से उपद्रव का भय है, तो उन्होंने बाबू दुर्गाप्रसाद, माधवलाल, महावीरप्रसाद और जनकधारीलाल के नाम १० नवम्बर १८७९ ई० को एक आज्ञापत्र भेजा कि इस समय नगर में दो पण्डित आए हुए हैं जिनके धर्म भिन्न–भिन्न हैं और बहुत से लोग दोनों के सहायक हैं। दोनों के बीच में शास्त्रार्थ की बातचीत हो रही है। शास्त्रार्थ में उपद्रव होने का भय है, यदि किसी प्रकार का झगड़ा–बखेड़ा हुआ तो उसका उत्तरदायित्व आप लोगों पर ही होगा।

**सब इंस्पेक्टर का पक्षपात**– आर्यसमाज की ओर से किसी प्रकार भी शान्तिभङ्ग की आशङ्का न हो सकती थी। आशङ्का हो सकती थी तो केवल पौराणिकों की ओर से ही हो सकती थी और वे उपद्रव करने का यत्न भी कर रहे थे। परन्तु सब इंस्पेक्टर ने रिपोर्ट की आर्यसमाज के विरुद्ध, इससे प्रतीत होता है कि सब इंस्पेक्टर ने विपक्षियों के सिखाने–पढ़ाने से ही ऐसा किया होगा।

**मौलवी का व्याख्यान**– एक दिन पौराणिकदल के सहयोग से मुसलमानों ने व्याख्यान–स्थल के बहुत ही निकट एक मौलवी को व्याख्यान देने खड़ा कर दिया। उसने इस जोर से बेहूदा बकना आरम्भ किया कि स्वामीजी के व्याख्यान में विघ्न होने लगा। तब बाबू जनकधारीलाल ने इंस्पेक्टर गिलबर्ट से शिकायत की। उसने आकर मौलवी का व्याख्यान बन्द करा दिया और स्वयम् कुर्सी डालकर वहाँ बैठ गया। वह व्याख्यान सुनकर इतना प्रसन्न हुआ कि इसके पश्चात् वह रोज ही व्याख्यान सुनने आता रहा और एक दिन एक पादरी तथा अपने कई अँग्रेज मित्रों को भी अपने साथ लाया।

**इस्लाम के विरुद्ध न कहो**– एक दिन एक सज्जन ने स्वामीजी से कहा कि आप इस्लाम के विरुद्ध न कहा करें। उस समय तो स्वामीजी ने कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु सायङ्काल को जो व्याख्यान दिया वह आदि से अन्त तक इस्लाम के सिद्धान्तों के विषय में ही दिया जिसमें उनकी तीव्र समालोचना की गई। व्याख्यान का आरम्भ ही इन शब्दों से किया कि कुछ छोकरों के छोकरे मुझसे कहते हैं कि मुसलमानी मत का खण्डन मत करो, परन्तु मैं सत्य को नहीं छिपा सकता। जब मुसलमानों की चलती थी तब वह हम लोगों का तलवार से खण्डन करते थे। अब यह अन्धेर देखो की मुझे उनका जिह्वामात्र से भी खण्डन करने से निषेध करते हैं। मैं ऐसा अच्छा राज्य पाकर भला किसी की पोल खोलने से कभी रुक सकता हूँ?

**अँग्रेजी राज्य की बड़ाई**– डेरे पर आकर स्वामीजी ने कहा कि यह समय ऐसा है कि कोई किसी को दूसरे मतों की पोल खोलने और अपने मत की श्रेष्ठता दिखाने से नहीं रोक सकता, अँग्रेजों के राज्य में यही बात बड़ाई की है। देखिए एक बार पञ्जाब के एक नगर में मैंने एक दिन ईसाई मत के खण्डन पर व्याख्यान दिया और उसका विज्ञापन पहले दे दिया था कि आज अमुक विषय पर व्याख्यान होगा। इस बात को जानकर कई देशी और विलायती पादरी उस व्याख्यान को सुनने आए और मैंने अपनी शक्ति के अनुसार प्रबल युक्तियों से ईसाई मत का खण्डन किया और बाइबल के परस्पर विरोध दिखाए।

**जङ्गी लाट के सामने ईसाईमत का खण्डन**– घटनाचक्र से जनरल राबर्ट्स भी व्याख्यान–स्थल में पहुँच गए थे। व्याख्यान की समाप्ति पर उन्होंने मुझसे हाथ मिलाया और कहा कि आप नि:सन्देह बहुत निर्भीक हैं। जब आपने हमारे सामने हमारे मत का खण्डन नि:संकोच भाव से किया तो अन्य किसी का आप क्यों भय करते होंगे?

**भूतों का भय कैसे जाए**– एक दिन ठाकुरप्रसाद सुनार ने स्वामीजी से पूछा कि महाराज मेरी सन्तानें जीवित नहीं रहतीं और मेरा विश्वास है कि उनकी मृत्यु भूतों के कारण होती है, आप कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे कि मैं भूतों के भय से रक्षित रहूँ। स्वामीजी ने उनसे कहा कि तू नित्यप्रति दोनों समय सन्ध्या हवन किया कर और हवन करते समय अपनी स्त्री को भी पास बिठा लिया कर। फिर जो सन्तान होगी वह जीवित रहेगी। कहते हैं कि उसने ऐसा ही किया। ईश्वर की ऐसी कृपा हुई कि उसके पश्चात् उसके सन्तान हुई और वह जीवित भी रही।

**एक विवाह और कर लो**– इसी ठाकुरदास ने कुछ दिन पहले ही पहली स्त्री के जीते जी दूसरा विवाह किया था।

स्वामीजी को यह ज्ञात न था। एक दिन उसने स्वामीजी से निवेदन किया कि मुझे योगाभ्यास की विधि बताइए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि एक विवाह और कर लो, तुम्हारा योग पूरा हो जाएगा। यह सुनकर वह अवाक् रह गया।

**नियम विरुद्ध कार्य के हम पक्षपाती नहीं**– यही ठाकुरदास कुछ दिन के लिए आर्यसमाज दानापुर का सदस्य भी हो गया था, परन्तु एक सभासद् को दुर्वचन कहने पर वह सदस्यता से अलग कर दिया गया था। स्वामीजी के आगमन पर उसने उनसे पुनः सदस्य बनने की इच्छा प्रकट की और जब स्वामीजी ने आर्यसमाज के अधिकारी वर्ग से उसके विषय में कहा तो उन लोगों ने कहा कि यदि आप ऐसे नियमों के विरुद्ध सभासद बनाने की आज्ञा दें तो हम उसे पालन करने पर उद्यत हैं, नहीं तो उसे अपने पूर्व अपराध की क्षमा माँगनी चाहिए और पुनः प्रविष्ट होने के लिए आवेदन पत्र देना चाहिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि आप लोग ठीक कहते हैं, नियमविरुद्ध कार्य करने के हम पक्षपाती नहीं हैं।

**सोमलता**– स्वामीजी ने ठाकुरदास से प्रसङ्ग उठने पर कहा था कि अलखनन्दा के उस पार सोमलता मिलती है और वह ११ प्रकार की है।

**चित्त भाँग पीने से एकाग्र होगा**– एक दिन एक व्यक्ति जो भाँग बहुत पिया करता था स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुआ और प्रश्न किया कि चित्त किस प्रकार एकाग्र हो सकता है। स्वामीजी ने ईषत्-स्मित भङ्गी धारण करके उत्तर दिया कि भाँग पीने से। वह इसे सुनकर विस्मित भी हुआ और लज्जित भी। स्वामीजी को उसके दुर्व्यसन का ज्ञान न था।

**फूल तोड़ा अच्छा न किया**– एक दिन एक व्यक्ति ने बाग में से एक गुलाब का फूल तोड़ लिया। स्वामीजी ने उसे देखकर कहा कि तुमने यह अच्छा नहीं किया। यदि वह वृक्ष पर लगा रहता तो कितनी वायु को सुगन्धित करता। जब स्वामीजी अन्दर जाकर बैठे तो वह चँवरी से मक्खी उड़ाने लगे। इस पर उस व्यक्ति ने आक्षेप किया कि फूल तोड़ने से तो आप निषेध करते हैं क्या आपकी चँवरी से मक्खियों को कष्ट नहीं होता? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि दुःखदायक प्राणियों के रोकने में तुम जैसे मनुष्यों ने विघ्न डाला है जिससे भारत गारत हो गया! तुम जैसे निर्बल और कायर मनुष्यों से रण-भूमि में क्या हो सकता है?

**तीन वर्ष का दर्द एक क्षण में दूर**– दानापुर में एक जन ठाकुरदास घड़ीसाज था, वह निवाजदास के पन्थ का था। निवाजदास एक साधु हुआ है जिसकी समाधि लखनऊ के जिले में बथरियागूलर नामक ग्राम में है। ये लोग उसके बनाए हुए ग्रन्थों को मानते हैं और प्रणव का जाप तथा प्राणायाम करते हैं। ठाकुरदास को प्राणायाम करते हुए एक रोग हो गया था, उसके नाभिकमल की वायु बिगड़ गई थी जिससे उसके नाभिस्थान में दर्द रहा करता था और भूख कम हो गई थी तथा वह निर्बल हो गया था। उसे तीन वर्ष से यह कष्ट था। उसने स्वामीजी से अपनी दशा कही तो उन्होंने उसे चित्त लिटाया और उसके घुटने खड़े कराकर तथा पैर जुड़वाकर अपने पैर उसके पैरों पर रखे तथा उसके सिर को दूसरे मनुष्य के हाथ का सहारा दिलाकर इस प्रकार उठाया कि उसके पैर धरती से न उठने पाएँ। ऐसा करने से उसका दर्द जाता रहा और फिर कभी न हुआ। स्वामीजी ने उससे घड़ी का खोलना और उसके पुर्जों का यथास्थान लगाना सीखा था तथा उसने स्वामीजी को एक चिमटी और पेचकश दिया था। स्वामीजी ने उसे उसका मूल्य देना चाहा परन्तु उसने न लिया।

**ईश्वर ध्यान द्वारा प्रत्यक्ष होता है**– उसने स्वामीजी से यह प्रश्न किया था कि जब ईश्वर का नाम है तो उसका कुछ रूप भी होगा। सो उसके उस रूप को किस प्रकार देखा जा सकता है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि ईश्वर सर्वव्यापक है और अरूप है, उसका साक्षात् ध्यान से होता है, जिस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म कण आकाश में उड़ते- फिरते हैं और दिखाई नहीं देते। परन्तु जब किसी कमरे में सूर्य की किरणें किसी झरोखे में होकर आती हैं तो वे कण दिखाई देने लगते हैं इसी प्रकार ईश्वर भी हर जगह है, परन्तु वह ध्यान द्वारा ही प्रत्यक्ष होता है।

**हम पण्डित चतुर्भुज को पाँच सौ रुपए देंगे**– इसी ठाकुरदास को स्वामीजी ने एक दिन पण्डित चतर्भुजजी के पास यह

कहलाकर भेजा कि यदि पण्डितजी हमारे सामने आकर मूर्त्तिपूजा को सिद्ध कर दें तो हम उन्हें ५०० रुपये भेंट करें, परन्तु पण्डितजी ने स्पष्ट कह दिया कि हम उनके सामने नहीं जाएँगे।

**हमें दिक् न कर, अन्यथा तेरा अङ्ग–भङ्ग हो जाएगा** – एक हलवाई पण्डित चतर्भुज के बहकाने–सिखाने से स्वामीजी से आकर मूर्त्तिपूजा पर व्यर्थ वितण्डावाद किया करता था और अण्ड–बण्ड बका करता था। एक दिन स्वामीजी ने उससे कहा तू रोज आकर हमें दिक् करता है और हमारा समय नष्ट करता है, ऐसा न किया कर अन्यथा तेरा अङ्ग–भङ्ग हो जाएगा, क्योंकि वेद में मूर्त्तिपूजा कदापि नहीं है, ऐसा करना महापाप है। इस पर उसने क्रोध में आकर स्वामीजी के लिए कुछ अनुचित शब्द कहे। कहते हैं कि इस घटना के दस–बारह दिन पीछे ही उसे गलित कुष्ठ हो गया और वह मर गया।

**स्वामीजी का शिष्टाचार**– एक दिन जोंस साहब सौदागर जिनके बँगले दीघालॉज में स्वामीजी ठहरे हुए थे, मिस्टर शरबियर ओवरसियर और कई पादरी मेमों को साथ लेकर उनसे मिलने को आए, तब स्वामीजी ने उठकर उनसे हाथ मिलाया और उन्हें कुर्सियों पर बिठाया। इससे अँग्रेज लोग कुछ आश्चर्यान्वित हुए।

**यूरोपियन लोगों से वार्त्तालाप**– जोंस साहब ने स्वामीजी से कहा कि आप कुछ कहें। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हम तो प्रतिदिन ही व्याख्यान देते हैं, आज हम आप लोगों से ही कुछ सुनना चाहते हैं, परन्तु उन्होंने यही आग्रह किया कि स्वामीजी ही कुछ कथन करें। इस पर उन्होंने निम्न प्रकार कथन किया–

*स्वामीजी*– देखिए ईश्वर की बनाई हुई जितनी वस्तुएँ– सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, मेघ, वायु आदि हैं वे सब मनुष्यों के लिए समान हैं ऐसे ही ईश्वरीय धर्म भी सबके लिए समान होना चाहिए वा नहीं?

*आगन्तुक सज्जन*– अवश्य, सबके लिए समान होना चाहिए।

*स्वामीजी*– कल्पना कीजिए कि सब धर्मों का जो संख्या में एक सहस्र हैं, एक मेला लगा हुआ है जिसमें हर एक धर्म का उपदेष्टा अपने–अपने धर्म को सच्चा और मुक्ति दिलाने वाला बताता है और दूसरे नौ सौ निन्यावें धर्मों को झूठा कहते हैं। अब आप ही बताएँ कि इनमें कौन–सा धर्म सच्चा है?

*आगन्तुक सज्जन*– न्याय के अनुसार तो सब ही झूठे हैं।

*स्वामीजी*– परन्तु सब सर्वथा झूठे नहीं हो सकते। हर एक में कुछ न कुछ सच्चाई अवश्य है। अब कल्पना कीजिए कि एक जिज्ञासु उस मेले में आता है और वह हर एक सम्प्रदाय के उपदेशक के पास जाकर प्रश्न करता है कि सत्य बोलना, चोरी न करना, दया करना अच्छा है वा झूठ बोलना, चोरी करना, अत्याचार करना, तो सब एक मत होकर कहते हैं कि सत्य बोलना आदि अच्छे हैं और झूठ बोलना आदि बुरे हैं। अत: वह जिज्ञासु इसी प्रकार उन सब बातों की, जिनमें सबका एकमत है, एकत्र कर लेता है और उन्हीं बातों को वह सत्य धर्म मानता है। वही धर्म ईश्वरीय धर्म है। इस धर्म में कहीं ऐसा नहीं है कि मुहम्मद का आश्रय लिए बिना वा ईसा पर विश्वास किए बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। अब आपको यदि इसमें कुछ कहना हो तो कहिए।

*जोंस साहब*– आप इस प्रकार से कथन करते हैं कि उसके विरुद्ध कुछ कहना अखरता है। परन्तु जब आप के ऐसे विचार हैं तो आप छूतछात क्यों मानते हैं? हमारे साथ खाने में आपको क्या आपत्ति है?

*स्वामीजी*– किसी के साथ खाने न खाने में हम धर्म अधर्म नहीं मानते। इन बातों का सम्बन्ध देश और जाति की रीति से है न कि धर्म से। मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आप अपनी पुत्री का विवाह किसी देशी ईसाई से करना चाहेंगे?

*जोंस साहब*– नहीं।

*स्वामीजी*– धर्माधर्म के विचार से वा अपनी जाति की रीति और आचार के विचार से?

*जोंस साहब*– जाति की रीति और आचार के विचार से।

*स्वामीजी*– इसी प्रकार हम भी देशाचार के विचार से आप लोगों के साथ खानपान नहीं करते, अन्यथा हम इसे धर्म के विरुद्ध नहीं मानते।

जोंस साहब ने स्वामीजी से पूछा कि आप रामचन्द्रजी को परमेश्वर मानते हैं कि नहीं तो आपने उत्तर दिया कि नहीं। तब जोंस ने कहा कि हिन्दू मूर्त्ति क्यों पूजते हैं? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि अविद्या के कारण, जैसे ईसाइयों में भी बहुत से लोग ईसा और मरियम की मूर्त्ति पूजते हैं। मूर्त्तिपूजा हिन्दुओं का धर्म नहीं है क्योंकि वेदादि सच्छास्त्रों में मूर्त्तिपूजा की कहीं आज्ञा नहीं है। बात यह है कि श्रद्धालु लोगों ने महापुरुषों की स्मृति में उनकी मूर्त्तियाँ बनाईं, पीछे लोग उनकी पूजा करने लगे। यह बात हिन्दुओं और ईसाइयों में एक जैसी है।

इस पर आगन्तुक निरुत्तर हो गए और स्वामीजी के वार्त्तालाप से प्रसन्न होकर चले गए।

**एक पादरी से बातचीत**– एक दिन जोंस साहब फिर एक पादरी को साथ लेकर स्वामीजी से मिलने आए। उस दिन स्वामीजी ने उनसे पूछा कि आप पुण्य किसे समझते हैं। जोंस साहब ने कहा कि आप ही बताइए। तब स्वामीजी ने कहा कि जिस कार्य से बहुत से लोगों का उपकार हो वही पुण्य है। इसे जोंस साहब ने स्वीकार किया। फिर स्वामीजी ने उन्हें समझाया कि एक गौ की रक्षा करने से सहस्रों मनुष्यों का उपकार होता है अत: उसका वध करना पाप है वा नहीं। इस पर साहब ने कहा कि हाँ सिद्ध तो ऐसा ही होता है। फिर स्वामीजी बोले कि जो सिद्ध हो जाए, उसके अनुसरर चलना भी चाहिए, अत: आप गोमाँस खाना छोड़ दें।

**साहब की प्रतिज्ञा**– साहब ने प्रतिज्ञा की कि आगे को हम गोमाँस नहीं खाएँगे, परन्तु बकरे आदि का खाएँगे। इस पर स्वामीजी ने कहा कि हम आपको बकरे आदि का माँस भी खाने की आज्ञा नहीं देते, परन्तु गोमाँस खाने का अवश्य निषेध करते हैं।

दानापुर में बाबू माधवलाल आदि कई सज्जनों ने स्वामीजी से यज्ञोपवीत लिए थे।

**दिनचर्या**– दानापुर में स्वामीजी की दिनचर्या इस प्रकार थी कि प्रात:काल वे बहुत सवेरे उठते थे, परन्तु किस समय उठते थे यह कोई नहीं जानता। उठकर और शौचादि से निवृत्त होकर भ्रमण करने जाते थे। कभी-कभी तो बाँकेपुर के पास तक भ्रमण करते चले जाते थे। भ्रमण के पश्चात् चाय पीते थे और फिर ११ बजे तक वेदभाष्य और वेदाङ्गप्रकाश लिखाते थे। तदनन्तर स्नान करके भोजन करते थे। कुछ देर विश्राम करने के पश्चात् दर्शकों से बातचीत करते रहते थे और फिर व्याख्यान देने चले जाते थे। रात्रि के दस बजे के पश्चात् किसी को अपने पास न रहने देते थे। स्वामीजी बहुत दिनों से संग्रहणी रोग से अक्रान्त थे, उसके उपशमनार्थ वह सरस्वती चूर्ण बनाकर खाया करते थे। दानापुर में उनके मसूड़ों और गले में सूजन आ गई थी। स्वामीजी व्याख्यान नियत समय पर आरम्भ कर देते थे, वे इसके लिए श्रोताओं के आने की प्रतीक्षा नहीं करते थे।

दानापुर से हरिहर क्षेत्र के मेले पर भी जाने का स्वामीजी का विचार था, परन्तु वहाँ आपके ठहरने आदि का समुचित प्रबन्ध न हो सका अत: आप वहाँ नहीं गए।

**श्रीमुख से उपदेश सुनने की इच्छा**– दुर्गा अवस्थी नामक एक जन कान्यकुब्ज ब्राह्मण की इच्छा थी कि वह स्वामीजी के व्याख्यान सुने, परन्तु अपने जाति के मनुष्यों के भय से वह व्याख्यान में प्रकट रूप से नहीं जा सकता था, यदि जाता भी तो चोर के समान बाहर ही खड़ा रहता था। स्वामीजी के मुखारविन्द से कुछ श्रवण करने की उसकी इच्छा इतनी बलबती हो उठी कि यह ज्ञात करके कि स्वामीजी रात्रि में ही तीन-चार बजे भ्रमणार्थ निकल जाते हैं वह पहले से ही उनके मार्ग में जा बैठा और जब स्वामीजी वहाँ पहुँचे तो वह उनके पीछे-पीछे हो लिया। स्वामीजी ने उससे पूछा कि तू कौन है तो उसने अपना नाम-धाम बताकर कहा कि मेरी आपके मुख से कुछ उपदेश सुनने की उत्कण्ठा है, परन्तु मैं अपनी बिरादरी के भय

से आपके व्याख्यानों मे नहीं आ सकता। बातें करता-करता वह स्वामीजी के बँगले तक पहुँच गया तो स्वामीजी ने उससे कहा कि निज स्थान पर आकर जो पूछना चाहो पूछ लेना।

**अपने चरण मेरे मस्तक पर लगा दो**- उसने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि मैं अवश्य आपकी सेवा में उपस्थित होऊँगा, परन्तु इस समय मेरी यही श्रद्धा है कि आप अपने चरण मेरे मस्तक पर लगा दें। स्वामीजी ने कहा कि इसका क्या फल होगा? यदि और कोई बात पूछनी हो तो कहो अन्यथा हम जाते हैं। उसने फिर अपनी प्रार्थना को दुहराया तब स्वामीजी ने यह कहकर कि इसका फल तो कुछ होता नहीं, परन्तु यदि तेरी यही इच्छा है तो ले, अपने पैर का अँगूठा उसके मस्तक से लगा दिया और वह अपने को धन्य समझता हुआ अपने घर को चला गया।

**देवमूर्त्ति पर पदाघात**- *'इण्डियन मिरर'* कलकत्ते के अँग्रेजी दैनिक के सम्पादक को दानापुर से किसी विद्वेषी ने लिख भेजा कि स्वामी दयानन्द ने एक दिन एक देवमूर्त्ति पर पदाघात किया और इस कारण बहुत से लोग उनसे विरक्त हो गए और उनके व्याख्यानों में ही जाना बन्द कर दिया। सम्पादक ने भी बिना अनुसन्धान किए हुए ही इस समाचार को सम्पादकीय-नोट के रूप में अपने पत्र में स्थान दे दिया। यह समाचार सर्वथा मिथ्या था। किसी व्यक्ति ने भी स्वामीजी के व्याख्यानों से असन्तुष्ट होकर जाना नहीं छोड़ा, प्रत्युत अनेक मनुष्यों ने तो मूर्त्तिपूजा ही छोड़कर वैदिक धर्म स्वीकार कर लिया और कई तो आर्यसमाज के सदस्य भी बन गए।

**दलितों की चिन्ता ने विकल कर दिया**- एक रात्रि को स्वामीजी सहसा उठकर इधर-उधर टहलने लगे। उनके पाँव की आहट सुनकर एक कर्मचारी की भी आँख खुल गई। उसने पूछा कि महाराज क्या अपाको कोई कष्ट है। उन्होंने एक लम्बी साँस खींची और बोले कि ईसाई लोग दलितों को ईसाई बनाने का भरसक यत्न कर रहे हैं और उन पर रुपया पानी की तरह बहा रहे हैं। इधर हिन्दुओं के धर्म-नेता हैं जो कुम्भकर्ण की नींद सो रहे हैं। यही चिन्ता मुझे विकल कर रही है।

**मैं साधारण विद्वान् भी न गिना जाता**- एक दिन एक सज्जन ने स्वामीजी से कहा कि आप तो ऋषि हैं। इस पर स्वामीजी ने कहा कि आजकल ऋषियों के अभाव में आप मुझे चाहे जो कह लें, परन्तु यदि मैं कणादादि के समय में हुआ होता तो मेरी गणना साधारण विद्वानों में भी कठिनता से ही होती।

दानापुर से स्वामीजी ने १९ नवम्बर सन् १८७९ ई० को काशी के लिए प्रस्थान किया।

## काशी (१८७९-८० ई०)

२० नवम्बर १८७९ ई० तदनुसार कार्त्तिक शुक्ला ७ संवत् १९३६ वि० (गुरुवार)[५९७] काशी पहुँचकर स्वामीजी विजयनगर महाराजा के आनन्द बाग में ठहरे। इन दिनों स्वामीजी का शरीर संग्रहणी रोग के कारण दुर्बल हो रहा था। काशी पहुँचकर स्वामीजी ने मार्गशीर्ष कृष्णा ३ अर्थात् १ दिसम्बर, १८७९ ई० को एक विज्ञापन छपवाकर नगर में हाट, बाजार, घाट और राजपथ पर लगवा दिया। वह विज्ञापन संस्कृत और आर्यभाषा दोनों में था। हम उसके आर्यभाषा के भाग को नीचे उद्धृत कर रहे हैं-

### विज्ञापन-पत्र

सब सज्जन लोगों को विदित किया जाता है कि इस समय पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज काशी में आकर श्रीयुत महाराजे विजयनगर के अधिपति के आनन्द बाग में जो महमूदरङ्ग के समीप है, निवास करते हैं। वह वेद

५९७- भ्रमोच्छेदन में ऋषि दयानन्द ने 'कार्तिक सुदी १४ गुरुवार सं० १९३६' को काशी पहुँचना लिखा है वह ठीक नहीं है, क्योंकि ऋषि दयानन्द के पत्र व्यवहार पृष्ठ १७९ पर २० नवम्बर का काशी से लिखा पत्र छपा है। पृष्ठ १८० पर कार्तिक सुदी ८ शुक्रवार २१ नवम्बर का दूसरा पत्र छपा है। प्रतीत होता है उस लेख में भूल से ७ के स्थान में १४ लिखा गया है। कार्तिक सुदी ७ को गुरुवार था। - *संग्रहकर्त्ता*

मत का ग्रहण करके उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं मानते। किन्तु जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदोक्त १-सृष्टिक्रम, २-प्रत्यक्षादि प्रमाण, ३-आप्तों का आचार और सिद्धान्त तथा ४-आत्मा की पवित्रता और विज्ञान से विरुद्ध होने के कारण पाषाणादि मूर्त्तिपूजा, जल और स्थल विशेष पापनिवारण करने की शक्ति, व्यास मुनि आदि के नाम से छल से प्रसिद्ध किए नवीन, व्यर्थ पुराण नामक ब्रह्मवैवर्त्तादि ग्रन्थ, परमेश्वर के अवतार व ईश्वर का पुत्र होके अपने विश्वासियों के पाप क्षमा कर मुक्ति देने हारे का मानना, उपदेश के लिए अपने मित्र पैगम्बर को पृथ्वी पर भेजना, पर्वतों का उठाना, मुर्दों का जिलाना, चन्द्रमा का खण्ड करना, कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति मानना, ईश्वर को नहीं मानना, स्वयम् ब्रह्म बनना अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त वस्तु कुछ भी न मानना, जीव-ब्रह्म को एक ही समझना, कण्ठी, तिलक और रुद्राक्षादि धारण करना और शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्यादि सम्प्रदाय आदि हैं, इन सबका खण्डन करते हैं। इससे इस विषय में जिस किसी वेदादि शास्त्रों के अर्थ जानने में कुशल, सभ्य, शिष्ट, आप्त, विद्वान् को विरुद्ध जान पड़े, अपने मत का स्थापन और दूसरे के मत का खण्डन करने में सामर्थ्य हो वह स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ करके पूर्वोक्त व्यवहारों का स्थापन करे। इससे विरुद्ध मनुष्य कभी नहीं कर सकता। इस शास्त्रार्थ में वेद मध्यस्थ रहेंगे। वेदार्थ निश्चय के लिए जो ब्रह्मा से लेके जैमिनि मुनि पर्यन्त के बनाए ऐतरय ब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त वेदानुकूल आर्ष ग्रन्थ हैं, वे वादी और प्रतिवादी उभय पक्षवालों को माननीय होने के कारण माने जावेंगे और जो इस सभा में सभासद् हो वे भी पक्षपात रहित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप तथा साधनों को ठीक-ठीक जानने, सत्य के साथ प्रीति और असत्य के साथ द्वेष रखने वाले हों, इनके विपरीत नहीं। दोनों पक्ष वाले जो कुछ कहें उसको शीघ्र लिखने वाले लेखक लिखते जाएँ। वादी और प्रतिवादी अपने-अपने लेख के अन्त में अपने-अपने लेख पर हस्ताक्षर करें। उन तीन पुस्तकों में से एक वादी, दूसरा प्रतिवादी को दिया जाए और तीसरा सब सभा की सम्मति से किसी प्रतिष्ठित राजपुरुष की सभा में रखा जाए कि जिससे कोई अन्यथा न कर सके। जो इस प्रकार होने पर भी काशी के विद्वान् लोग सत्य और असत्य का निर्णय करके औरों को न करावेंगे तो उनके लिए अत्यन्त लज्जा की बात है, क्योंकि विद्वानों का यही स्वभाव होता है जो सत्य और असत्य को ठीक-ठीक जानके सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग कर दूसरों को कराके आप आनन्द में रहना औरों को आनन्द में रखना। – *पण्डित भीमसेन शास्त्री*

इसी विज्ञापन में यह भी सूचना थी कि ६ कर्मचारियों की आवश्यकता है[५९८] और यह भी कि सन्ध्या के चार बजे से लेके रात्रि के दस बजे पर्यन्त स्वामीजी को सबसे मिलने और बातचीत करने का अवकाश प्रतिदिन रहता है।

**काशी की दशा**- इस विज्ञापन के वितरित होने के पश्चात् नगर की दशा का वर्णन काशी के समाचार पत्र *'आर्यमित्र'* ने इन शब्दों में किया था- "जब से स्वामीजी ने आकर विज्ञापन दिया है तब से सारे नगर में भूकम्प सा हो रहा है। कोई स्थान उनकी चर्चा से खाली नहीं दीख पड़ता। क्षुद्र लोगों ने भी स्वामीजी के ऊपर निरे असत्य विज्ञापन बनाकर जहाँ-तहाँ लगा दिए हैं। कोई लिखता है कि मैंने उन्हें अमुक नगर में हरा दिया था, परन्तु उसका निर्दोष पत्र नहीं छापा कि जिससे उसका लेख विश्वासयोग्य होवे। कोई कहता है कि 'मैं अब उन को हराकर पार्थिवपूजा कराऊँगा।' एक पण्डित ने लिखा है कि 'पुरानी व कुरानी व किरानी आदि के विरुद्धवादी स्वामी को हम हरावेंगे।' ----- कुछ समाचार पत्रों ने भी पक्षपात पकड़ा है और जो जी में आया बिना विचारे लिख मारा है। *'कवि वचन-सुधा'* ने तो स्वामीजी को नास्तिकाचार्य धूर्त्तशिरोमणि तक कह डाला। ८ दिसम्बर सन् १८७९ ई० के *'कवि वचन-सुधा'* ने लिखा कि बाबू प्रमदादास के सम्मुख स्वामीजी हिचक-हिचक कर बातें करते थे। इस पर *'आर्यमित्र'* ने लिखा कि यह सर्वथा निर्मूल है बल्कि उक्त बाबूजी स्वयम् अपने अभिप्राय का प्रतिपादन यथावत् नहीं कर सके। हाय न जाने ऐसी असत्य बातों को बेधड़क प्रचार करने से लोगें को क्या लाभ होता है?"

---

५९८- यह विज्ञापन ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापनग्रन्थ में पृष्ठ १८७, १८८ पर छपा है। -*संग्रहकर्त्ता*

**कर्नल और मैडम**– १५ दिसम्बर १८७९ ई० अर्थात् मार्गशीर्ष शुक्ल २ संवत् १९३६ वि० (सोमवार) को कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेटस्की मुम्बई से स्वामीजी से मिलने आए, मिस्टर सिनेट '*पायोनियर*' के सम्पादक भी उनके साथ थे और आनन्द बाग में ही एक दूसरे मकान में ठहरे। कर्नल और मैडम से स्वामीजी की बातचीत दामोदर नामक दुभाषिए के द्वारा होती थी।

**राजा शिवप्रसाद**– १६ दिसम्बर, १८७९ ई० को राजा शिवप्रसाद सी०एस०आई० कर्नल और मैडम से मिलने आए और स्वामीजी से कहा कि मैं उनसे मिलना चाहता हूँ। स्वामीजी ने एक मनुष्य को भेजकर राजा साहब के आने की सूचना उनके पास भेज दी। जब तक वे कर्नल और मैडम के पास न गए तब तक वे स्वामीजी से ही बातें करते रहे। यही राजा साहब का स्वामीजी से अन्तिम मिलन था। *(द्रष्टव्य परिशिष्ट– सात)*

**किसी को शास्त्रार्थ का साहस न हुआ**– स्वामीजी ने सब पण्डितों को शास्त्रार्थ का खुला चैलेंज दे रखा था, परन्तु काशी के किसी पण्डित ने भी उसे स्वीकार करके उनके सामने आने का साहस नहीं किया। तब स्वामीजी ने व्याख्यान देने का सङ्कल्प किया। और विज्ञापन द्वारा जन साधारण को सूचना दे दी गई कि स्वामीजी २० दिसम्बर , १८७९ ई० को बङ्गाली टोली के स्कूल में वक्तृता देंगे। इसी विज्ञापन में यह सूचना भी थी कि कर्नल आल्काट का भी उसी दिन उसी समय व्याख्यान होगा।

**मैजिस्ट्रेट के कान भरे गए**– उस सूचना को पाकर पौराणिक दल में खलबली मच गई। वे यह कब सह सकते थे कि स्वामीजी मूर्त्तिपूजा के गढ़ में ही खुले बन्दों उसका खण्डन करें। अत: कुछ सम्भ्रान्त और प्रभावान्वित हिन्दुओं ने काशी के मेजिस्ट्रेट मिस्टर बाल से जाकर कहा कि यदि स्वामी दयानन्द का व्याख्यान होगा तो उपद्रव हो जाएगा। उन्हीं दिनों मुसलमानों का मुहर्रम का त्यौहार भी था। मैजिस्ट्रेट ने बिना कोई अनुसन्धान किए हुए ही यह आज्ञा निकाल दी कि स्वामी दयानन्द काशी में किसी धार्मिक विषय पर व्याख्यान न दें। इस आज्ञा की भी सूचना स्वामीजी को पहले से नहीं दी गई।

**व्याख्यान बन्द**– जब स्वामीजी व्याख्यान-स्थल में पहुँचे और व्याख्यान देने खड़े हुए तो पुलिस के एक कर्मचारी ने मैजिस्ट्रेट का आज्ञापत्र उन्हें दिया। तब स्वामीजी व्याख्यान देने से रुक गए, परन्तु कर्नल का व्याख्यान हुआ।

**मैजिस्ट्रेट को पत्र**– २१ दिसम्बर, १८७९ ई० को स्वामीजी ने निम्नलिखित पत्र मैजिस्ट्रेट को लिखा–

श्रीमन्!

क्या आप मुझे बताने की कृपा करेंगे कि आपकी कल की आज्ञा कि मैं सम्प्रति व्याख्यान न दूँ, किन आधारों पर निहित थी। आपकी सूचनार्थ उस आज्ञा की प्रतिलिपि इस पत्र के साथ भेजी जाती है। मैं आपका उपकृत हूँगा यदि आप मुझे यह भी बताएँगे कि यह प्रतिबन्ध कितने समय तक रहेगा। आपकी सुविधानुसार आपके उत्तर का प्रतीक्षक।

*आपका प्रतिष्ठाभाव-सम्पन्न*

दयानन्द सरस्वती स्वामी [५९९]

**लाट साहब को पत्र**– इस पत्र का कोई उत्तर प्राप्त न होने पर स्वामीजी ने एक निवेदन पत्र लेफ्टिनेण्ट गवर्नर व चीफ कमिश्नर को भेजा जिसके उत्तर में सरकार के जूनियर सेक्रेटरी पी० स्मीटन साहब की सं० ४६१ तारीख २४ फरवरी सन् १८८० ई० जो सूचना स्वामीजी के पास आई, वह इस प्रकार थी–

**लाट साहब का निर्णय**– दयानन्द सरस्वती स्वामी का निवेदन पत्र पढ़ा गया जिसमें उन्होंने बनारस के मैजिस्ट्रेट की आज्ञा की कि वह बनारस में धार्मिक विषयों पर व्याख्यान न दें शिकायत की है। आज्ञा हुई कि निवेदक को सूचना दी जाए कि लेफ्टिनेण्ट गवर्नर व चीफ कमिश्नर की सम्मति में उक्त अवसर पर मैजिस्ट्रेट ने ठीक ही कार्य किया था और निवेदन अ-

५९९- यह पत्र रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर से प्रकाशित 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ में नहीं छपा है।-*संग्रहकर्त्ता*

स्वीकार किया जाता है।

**समाचार पत्रों में आन्दोलन** – मैजिस्ट्रेट की आज्ञा के विरुद्ध *'स्टार'* समाचार पत्र काशी *'पायोनियर'* के सम्पादक मिस्टर सिनेट ने १ जनवरी सन् १८८० ई० के अङ्क में लिखा था–

**पायोनियर का लेख**– "यह आशा की जाती है कि स्थानिक सरकार बनारस के कलेक्टर मिस्टर बाल से पूछेगी कि जो वक्तृता पिछले दिनों दयानन्द सरस्वती वेदान्त धर्म के विषय पर देना चाहते थे उसे बन्द कारने का बुद्धि के प्रतिकूल असाधारण कार्य क्यों किया? इस घटना का उल्लेख एक पत्र में मङ्गल के *'पायोनियर'* में हो चुका है। शुद्ध धार्मिक चिन्तन के प्रश्न पर वक्तृता की स्वतन्त्रता को दबाना ब्रिटिश राज्य की सहिष्णुता के प्राथमिक नियमों पर निस्सन्देह उद्दण्डतापूर्ण आक्रमण है। मिस्टर बाल यह कठिनता के साथ कह सकेंगे कि उनका प्रान्त उनके हाथ से इतना निकल गया है कि किसी उपद्रव के कारण, जिसे वह जिला मैजिस्ट्रेट होकर दबाने में अशक्त थे, एक हिन्दू दार्शनिक को आर्यों के प्राचीन दर्शनशास्त्र की अपनी सम्मति के अनुकूल आलोचना करने की आज्ञा नहीं दे सकते थे। ऐसा विचार तक करना लड़कपन है और भारतवासियों में भ्रमयुक्त विचारों की उत्पत्ति को, जो बहुत ही शोकजनक होगी, रोकने के निमित्त स्थानिक सरकार को तुरन्त देखना चाहिए कि बनारस पर ऐसे प्रतिबन्धों के स्थिर रखने का लाञ्छन न रहे जो ब्रिटिश राज्य की विस्तृत उदारता के अनुपयुक्त है।"

**थियोसोफिस्ट का लेख**– फरवरी सन् १८८० ई० के *'थियोसोफिस्ट'* में लिखा गया था, "स्वामी ने अपने सबसे पिछले पत्र में हमें यह लिखा है कि मैजिस्ट्रेट मिस्टर बाल ने मेरे उस पत्र का जो मैंने उनकी आज्ञा के प्रतिवाद के रूप में भेजा था और जिसमें कुछ बातें भी पूछी थीं, नोटिस तक नहीं लिया।" यदि उत्तर-पश्चिमी सरकार की यह इच्छा न हो कि यह समझ लिया जाए कि सिवाय उन लोगों के जो वेदों के एक विशेष प्रकार के अर्थ करते हैं अन्य सब लोगों को वक्तृता की स्वतन्त्रता नहीं है, तो युक्तियुक्तता के साथ हम यह आशा करते हैं कि इस विषय का अति अधिकारारूढ़ता के ढङ्ग में बहुत शीघ्र निपटारा कर दिया जाएगा। यह हम इसलिए कहते हैं कि इसमें राजनीति का कोई प्रश्न नहीं है, प्रत्युत केवल वाणी की स्वतन्त्रता का है।"

अप्रैल सन् १८८० ई० के *'थियोसोफिस्ट'* में फिर लिखा है–

**प्रतिबन्ध हटा लिया गया**– "बनारस के मैजिस्ट्रेट मिस्टर बाल ने जो मूर्खतामय प्रतिबन्ध स्वामी दयानन्द सरस्वती पर लगाया था वह अन्त को हटा लिया गया है और प्रशंसित विद्वान् और वाग्मी पण्डित २१ मार्च के सायङ्काल से अपनी व्याख्यानमाला फिर से आरम्भ करने वाले थे। इस (प्रतिबन्ध हटाने की) आज्ञा देने से पहले, जिसकी प्राप्ति के लिए स्वामी को कभी बाध्य नहीं करना चाहिए था, मिस्टर बाल ने स्वामीजी से लगभग एक घण्टे तक बातें कीं। लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के इस प्रतिबन्ध का यह कारण बताया है कि मुहर्रम की छुट्टियों में व्याख्यान देना स्वामी के लिए निरापद न होता। व्याख्यानमाला के आरम्भिक व्याख्यान का विषय 'सृष्टि' था।"

**आत्म-चरित**– जो पत्र स्वामीजी ने थियोसोफिस्ट को प्रतिबन्ध हटाने की सूचना देने के लिए भेजा था उसमें ही यह भी लिखा था कि 'यद्यपि मैं उत्सुक हूँ कि मेरा स्व-लिखित आत्म-चरित, जिसे आप प्रकाशित कर रहे हैं, पूरा जो जाए, परन्तु मैं उसे अपेक्षित समय अब तक नहीं दे सका हूँ। मैं यथासम्भव उसका विवरण शीघ्र ही आपको भेजूँगा।'

**प्रमदादास की अशिष्टता**– कर्नल आल्काट की एक वक्तृता टाउन-हॉल में हुई थी उसके सभापति बाबू प्रमदादास मित्र थे। प्रमदादास ने वक्तृता के आरम्भ होने से पहले संस्कृत में कुछ कहा। उसमें यह भी कहा कि कर्नल और मैडम अन्य देश के रहने वाले हैं। वे इस देश के समाचार भलीभाँति नहीं जानते हैं। उन्होंने स्वामी दयानन्द को अपना गुरु बनाया है और वे इस देश में धर्म-शिक्षार्थ आए हैं। दयानन्द ने शास्त्रार्थ के गौरव का नाश किया है। दयानन्द की अपेक्षा अनेक सुविज्ञ पण्डित

इस देश में विद्यमान हैं।

**कर्नल द्वारा स्वामीजी की प्रशंसा**– इसके पश्चात् कर्नल ने काशी की बनी हुई पीतलादि की अनेक वस्तुएँ अपने सामने मेज पर रखकर अपनी वक्तृता दी। उन्होंने वक्तृता में स्वामीजी की विशेष प्रशंसा की। इसे सुनकर अनेक लोग स्वामीजी के विरुद्ध उत्तेजित हो उठे और स्वामीजी को कष्ट पहुँचाने की चेष्टा करने लगे। इसे कर्नल समझ गए और स्वामीजी का हाथ अपने हाथ में लेकर गाड़ी में बैठ गए। स्वामीजी ने बाबू प्रमदादास के कथन का प्रतिवाद करना चाहा था परन्तु लोगों ने यह कहकर कि आज केवल कर्नल के व्याख्यान की ही व्यवस्था थी स्वामीजी को बोलने नहीं दिया।

**प्रेस मैनेजर की चिन्ता**– स्वामीजी के ग्रन्थ लाजरस कम्पनी के छापेखाने में छपा करते थे, परन्तु इसमें असुविधा होती थी, अत: स्वामीजी अपना छापाखाना स्थापित करना चाहते थे। यह बात जब उक्त कम्पनी के मैनेजर को ज्ञात हुई तो वह स्वामीजी के पास आया और उनसे अपना प्रेस न खोलने का अनुरोध किया। उसे स्वामीजी के प्रेस का खुलना अभिप्रेत न था क्योंकि वह इसमें अपनी कम्पनी की हानि समझता था।

**वैदिक यन्त्रालय की स्थापना**– माघ शुक्ला २ संवत् १९३६ वि० अर्थात् १२ फरवरी सन् १८८० ई० (गुरुवार) को लक्ष्मीकुण्ड पर वैदिक यन्त्रालय की स्थापना हुई। इसकी स्थापना का प्रस्ताव सबसे प्रथम आर्यसमाज मुरादाबाद ने किया था। फिर आर्यसमाज मेरठ ने अपने *'आर्य समाचार'* मासिक पत्र द्वारा उसका समर्थन किया और ४२८ रु० उसकी सहायतार्थ दिए। राजा जयकिशनदास ने भी उसकी धन से सहायता की थी। आर्यसमाज फर्रुखाबाद ने १८०० रु० एक बार और १३५० रु० दूसरी बार दिए थे।

**आज हम गृहस्थ हो गए**– जब वैदिक यन्त्रालय खुला तो स्वामीजी ने मुंशी बख्तावरसिंह को शाहजहाँपुर से बुलाकर ३० रु० मासिक पर उसका प्रबन्धकर्त्ता नियत किया। उस समय स्वामीजी ने खेद प्रकाशित करते हुए कहा कि 'आज हम पतित हो गए, आज हम गृहस्थ हो गए।'

**व्याख्यान–माला**– स्वामीजी के व्याख्यान इस वैदिक यन्त्रालय के मकान की छत पर ६ बजे सायङ्काल से ८ बजे रात्रि तक हुआ करते थे। फाल्गुन शुक्ला १० अर्थात् २१ मार्च, १८८० ई० से चैत्र कृष्णा ११ अर्थात् ५ अप्रैल, १८८० ई० तक स्वामीजी के १४ व्याख्यान हुए। ५ व्याख्यान होली से पहले और ९ पीछे हुए। अन्तिम दिवस लोगों ने स्वामीजी को उनकी कृपा के लिए अनेक धन्यवाद दिए और प्रार्थना की कि कुछ व्याख्यान देने का और अनुग्रह करें। इस पर स्वामीजी ने ६ व्याख्यान और दिए। अन्तिम व्याख्यान चैत्र शुक्ला ६ संवत् १९३७ वि० अर्थात् १५ अप्रैल सन् १८८० ई० (गुरुवार) को हुआ।

**आर्यसमाज की स्थापना**– उसी दिन काशी में आर्यसमाज स्थापित हुआ। एक व्याख्यान में स्वामीजी ने यह सिद्ध किया था कि प्राचीन काल में रेल और स्टीमर भारत में प्रचलित थे। रेल का नाम श्यामकर्ण अश्व था।

कहते हैं कि तीसरे व्याख्यान के अन्त में एक पुरुष ने जिसका वय: क्रम ४०–४५ वर्ष होगा, खड़े होकर व्याख्यान में कही हुई बातों की आद्योपान्त पुष्टि की थी और कहा था कि स्वामीजी मेरे चचरे भाई हैं। स्वामीजी जैसे महापुरुष के आविर्भाव से मेरा वंश पवित्र हो गया है। यह बात नहीं है कि विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने से ही माता–पिता का उद्धार होता है। स्वामीजी जैसी सन्तान जिन माता–पिता की हो उससे न केवल उनका ही प्रत्युत सारे कुल का ही उद्धार हो जाता है। स्वामीजी उसकी सब बातें सुनते रहे, परन्तु उन्होंने उसका प्रतिवाद नहीं किया। [६००]

---

६००– ४०–४५ वर्ष की वय वाले व्यक्ति का यह कहना सत्य हो सकता है कि स्वामीजी जी हमारे चचेरे भाई हैं क्योंकि 'कलकत्ता–कथ्य' में स्वयं स्वामीजी ने पीछे पृष्ठ–२१ की पाद टिप्पणी क्र० २१ में अपने अनेक भाई–बहिनों के होने की बात स्वीकार की है। स्वयं स्वामीजी की भी इस समय वय ५४–५५ वर्ष की थी, इसलिए उनके चचेरे भाई की वय ४०–४५ वर्ष की होना सम्भावित ही है। उनका इस विषय में मौन धारण किए रहना भी *'मौनं स्वीकृति लक्षणम्'* का ही परिचायक है। *–आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

**ब्रह्मभोज में सम्मिलित**– इन्हीं दिनों बंगाल के रईस विजयनगर के आनन्दबाग में ठहरे हुए थे। उन्होंने डेरे लगा रखे थे। एक दिन उन्होंने एक ब्रह्मभोज दिया था। उसमें अनेक पण्डित निमन्त्रित होकर आए थे जिनमें पण्डित ताराचरण भी थे। स्वामीजी भी उसमें निमन्त्रित होकर गए थे जहाँ उनका पण्डित ताराचरण के साथ वार्त्तालाप हुआ था।

**मिस्टर सिनेट का पत्र**– प्रयाग से मिस्टर सिनेट सम्पादक *'पायोनियर'* का पत्र स्वामीजी के पास आया था जिसमें उन्होंने स्वामीजी से मिलने की इच्छा प्रकट की थी। पत्र में साक्षात् करने का उद्देश्य यह लिखा था कि यदि आप मुझे योग की वह आश्चर्यजनक शक्तियाँ दिखा सकें जो हिन्दू शास्त्रों में वर्णित हैं तो मैं उनके विषय में सभ्यजगत् में तुमुल आन्दोलन उत्थापित करूँगा। सिनेट साहब ने सम्भवतः स्वामीजी के योगाचार्य होने की बात कर्नल और मैडम से सुनी थी। पत्र आने पर स्वामीजी ने एक मिनट सोचा और फिर यह उत्तर लिखाया कि आप काशी आने का कष्ट न उठावें। मैं स्वयं ही प्रयाग आकर आपसे मिलूँगा। स्वामीजी ने कहा था कि सिनेट साहब हमारे पास केवल योग की अद्‌भुत शक्ति देखने के लिए ही आना चाहते हैं अतः जब वह आकर उन्हें न देखेंगे तो हताश होकर लौट जाएँगे और मेरे प्रति भी क्षुण्ण होंगे।

**प्रयाग में सिनेट साहब से साक्षात्कार**– इस उत्तर देने के कुछ दिन पश्चात् एक दिन स्वामीजी प्रयाग जाकर सिनेट साहब से मिलकर काशी लौट आए, वापस आकर सिनेट साहब से वार्त्तालाप करने का जो वृत्तान्त उन्होंने वर्णन किया उससे प्रकट होता था कि सिनेट साहब उनसे मिल कर सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि जिन शक्तियों को वे देखना चाहते थे उन्हें स्वामीजी उन्हें नहीं दिखा सके थे। स्वामीजी और सिनेट साहब की बातचीत में रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल ने दुभाषिए का काम किया था।

**बाबू सीताराम की सम्मति**– एक दिन डिप्टी कलेक्टर और प्रसिद्ध साहित्यसेवी बाबू सीताराम स्वामीजी से मिलने आए थे। उन्होंने देवेन्द्र बाबू से कहा था कि भारत में स्वामी दयानन्द के समान कोई संस्कारक उत्पन्न नहीं हुआ। वेदप्रतिष्ठा और गोरक्षा दो ही ऐसे विषय हैं जिन पर सारे हिन्दू एक मत हो सकते हैं और स्वामीजी ने विशेषतः इन्हीं दो विषयों का अवलम्बन किया था।

**यह जल स्वामीजी के पीने योग्य नहीं है**– आनन्दबाग के कमरे में स्वामीजी कुर्सी पर और आगन्तुक लोग फर्श पर बैठा करते थे। एक दिन आगन्तुकों में एक मुसलमान भी था। स्वामीजीने कहार से पीने को जल माँगा, वह एक पात्र में जल ले आया। तब एक मनुष्य ने कहार को डाँटकर कहा कि यह जल स्वामीजी के पीने योग्य नहीं है। कहार दुबारा पात्र को माँज धोकर जल ले आया। स्वामीजी उक्त मनुष्य का अभिप्राय समझ गए थे। संयुक्त प्रान्त के पूर्वी जिलों में उस कमरे में जिसमें कोई मुसलमान बैठा हो खाने-पीने की वस्तु नहीं खाते-पीते। अतः कहार के कमरे में आने से पहले ही स्वामीजी कमरे से बाहर चल गए और वहाँ ही जल पिया। कमरे में आकर स्वामीजी ने कहा कि आपने जल को इसी कारण अपेय बताया था कि कमरे में एक मुसलमान बैठा हुआ है। यह ठीक नहीं था, इससे जल में कोई दोष नहीं आया था।

**वह स्त्री दुष्टा थी**– एक दिन एक स्त्री आकर स्वामीजी से बातें करने लगी। स्वामीजी नीची गर्दन किए हुए उससे बातें करते रहे। थोड़ी देर के पश्चात् उसकी ओर से मुख फेरकर बैठ गए। कुछ क्षण पीछे वह चली गई तब स्वामीजी ने कहा कि वह स्त्री दुष्टा थी, काशी में ऐसी अनेक स्त्रियाँ हैं जो साधु-संन्यासियों के दर्शन की अभिलाषिणी होकर धर्मनिष्ठ होने की ख्याति लाभ करना चाहती हैं। स्वामीजी इस लोकोक्ति को बहुधा दोहराया करते थे– 'राँड, साँड़, सीढ़ी, संन्यासी; इनसे बचे सो सेवे काशी।' स्वामीजी कभी स्त्रियों के मुख की ओर देखकर उनसे बातें नहीं करते थे।

**तिरस्कार के पश्चात् प्रीति**– एक दिन शिवराम वैद्य को जो कभी-कभी स्वामीजी की रसोई बनाया करता था, उन्होंने एक वस्त्राभूषणालंकृत स्त्री से बातें करते देख लिया। इस पर स्वामीजी ने शिवराम का तिरस्कार किया, उसने कहा कि वह एक ६० वर्ष की वृद्धा थी। परन्तु स्वामीजी को विश्वास न आया। थोड़ी देर पीछे वही स्त्री स्वामीजी के सामने से होकर गई तब उन्हें उसे देखकर शिवराम की बात का विश्वास आया और तब शिवराम के प्रति उन्होंने विशेष प्रीति प्रकट की।

**हमें बाबाजी न कहो**– स्वामीजी की प्रकृति में विनोदप्रियता भी बहुत थी। वह बाबाजी शब्द के अर्थ किया करते थे– 'वा (विकल्पे) वाजी–अश्व वा अश्वतर'। एक बुढ़िया स्त्री उनके बर्तन माँजने आया करती थी। वह जब अपने कार्य से निवृत्त हो जाया करती थी तो यह कहकर चली जाया करती थी कि बाबाजी मैं जाती हूँ। एक दिन स्वामीजी ने उससे कहा कि तू मुझे बाबाजी मत कहा कर। उसने कहा कि और क्या कहूँ? स्वामीजी ने कहा कि स्वामीजी कहा कर। बुढ़िया बोली यह बात मुझे याद कैसे रहेगी, बाबाजी कहने में क्या बुराई है तो स्वामीजी ने कहा कि इस शब्द के अर्थ हैं– 'घोड़ा नहीं तो खच्चर'।

**आप भी तो बच्चे के बच्चे हैं**– इस देश के निवासियों को बाल–विवाह की प्रथा प्रचलित होने के कारण बल–वीर्य हीन देखकर स्वामीजी उन्हें बच्चों के बच्चे कहा करते थे। एक दिन एक ब्राह्मण ने उनसे कहा कि यदि सब ही ऐसे हैं तो आप भी तो बच्चों के बच्चे ही हुए। इस पर स्वामीजी ने कहा नहीं जिस कन्या से हमारे पिता के विवाह की बातचीत हुई थी वह मर गई थी तब दूसरी कन्या से उनका विवाह हुआ था। जिस समय हमारा जन्म हुआ तो हमारे पिता की आयु ३०–३५ वर्ष की थी और हमारी माता भी बालिका न थी। ब्राह्मण ने व्यंग्य से कहा कि महाराज इस बात के तो आप ही साक्षी हैं। उस समय पण्डित भीमसेन भी उपस्थित थे।

**स्वयं आटा माँड़ा**– जब स्वामीजी का रसोइया चला गया था तो शिवराम ही उनका भोजन बनाया करता था। परन्तु उसका बनाया हुआ भोजन अच्छा न बनता था क्योंकि वह आटा अच्छी तरह नहीं माँड़ता था। एक दिन स्वामीजी ने स्वयम् आटा माँडा और दो–चार रोटियाँ बनाईं। शिवराम ने स्वामीजी के कहार को लक्ष्य करके कहा कि यह अच्छी रसोई बनाता है, आप इसी से बनवाया कीजिए। इसके हाथ का बना हुआ भोजन खाने में क्या आपत्ति है? स्वामीजी ने कहा कि हमें तो कोई आपत्ति नहीं परन्तु तुम हमारे पास से चले जाओगे और सब कहीं हमारी निन्दा करते फिरोगे कि स्वामीजी कृष्टान हैं। एक दिन स्वामीजी ने दाल की बटलोई में जंगल से एक घास लाकर भर दी। शिवराम को इस पर बहुत आश्चर्य हुआ, परन्तु जब दाल तैयार होने पर उसे निकालकर फेंक दिया तो दाल बहुत स्वादिष्ट सिद्ध हुई।

**आपका छुआ भोजन न खाएँगे**– एक दिन स्वामीजी कलेवा कर रहे थे कि कई अँग्रेज उनसे मिलने आए। उनमें से एक ने कहा कि यदि हम आपके भोजन को छू दें तो आप खालेंगे वा नहीं? स्वामीजी ने कहा कि नहीं खाएँगे, यद्यपि उसके खाने में कोई दोष वा पाप नहीं है, परन्तु हमारे नौकर और विद्यार्थी भाग जाएँगे और लोक में अपवाद होगा कि स्वामीजी कृष्टान हो गए हैं।

**पण्डितों का गुप्त रूप से व्याख्यान श्रवण**– स्वामीजी के व्याख्यानों में काशी के अनेक पण्डित गुप्त रूप से व्याख्यान सुनने आया करते थे। परन्तु स्वामी विशुद्धानन्द, पण्डित बाल शास्त्री, पण्डित बापूदेव शास्त्री आदि प्रमुख पण्डित नहीं आते थे। स्वामीजी को पण्डितों के इस प्रकार आने की बात ज्ञात थी। अत: वे पण्डितों को लक्ष्य करके कहा करते थे कि जो पहलवान युद्ध के लिए आहूत होने पर भी युद्ध करने के लिए सम्मुखीन नहीं होता वह कैसा पहलवान है?

**कथक्कड़ व्यासों की आलोचना**– एक दिन स्वामीजी ने कथा कहने वाले व्यासों पर तीव्र आक्रमण किया और कहा कि कथक लोग माला पहनकर और चन्दनादि लेपन करके युवतियों पर कटाक्ष–पात करते हैं, रसात्मक वाक्यों का प्रयोग करते हैं और काम से उत्तेजित होते हैं यहाँ तक कि यदि उनका वस्त्र उठाकर देखा जाए तो वह रेत:पात से चिह्नित पाया जाएगा। पीछे स्वामीजी ने अपने द्वारा ऐसा अश्लील बोलने पर बहुत पश्चात्ताप किया।

**कार्य व्यस्तता**– मिर्जापुर की पाठशाला में स्वामीजी उस विद्यार्थी को न पढ़ने देते थे जो सन्ध्या न करता था। परन्तु पीछे आकर वह पुस्तक–निर्माण, पत्र–व्यवहार और खण्डन–मण्डन में इतने व्यस्त हो गए थे कि उन्हें इस बात का ध्यान भी न आता था कि उनका कोई साथी वा कर्मचारी सन्ध्या करता है वा नहीं।

कहते हैं कि एक बार स्वामीजी कौपीन मात्र धारण किए हुए हुए रेल में आ रहे थे। उसी डब्बे में एक यूरोपियन दम्पत्ति भी थे। महाराज को नग्न देखकर साहब को बहुत रोष आया, उसने रोष और व्यंग्यपूर्ण स्वर में स्वामीजी से कहा कि क्या नङ्गा रहने से परमेश्वर प्रसन्न होता है? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि बाइबिल के अमुक स्थल में लिखा है कि परमेश्वर नग्न मनुष्यों से प्रसन्न होता है। साहब बहादुर नग्न संन्यासी के इस उत्तर से बहुत विस्मित हुए और आगे कुछ न बोल सके।[६०१]

**स्वास्थ्य चिन्ता**– स्वामीजी की स्वास्थ्य पर विशेष दृष्टि रहती थी। वह जल, भोजन, मिष्ठान्न विचार पूर्वक ही ग्रहण करते थे। वह अपने खाने का घृत ताले में बन्द करके रखा करते थे। स्वामीजी शरीर पर मुलतानी मिट्टी को चन्दन में मिलाकर लगाया करते थे और शिवराम से आग्रह के साथ कहा करते थे कि बाजार में मुलतानी मिट्टी बहुत सावधानी के साथ क्रय करके लाया करो, क्योंकि बाजार के लोग उसमें चूना आदि मिला देते हैं। स्वामीजी जब बाहर जाते थे तो दर्पण में मुख देख कर जाया करते थे। वे पलङ्ग पर सोते थे और शाल तथा रेशमी परिच्छद धारण करते थे।

**यज्ञोपवीत प्रदान**– स्वामीजी ने मुंशी बख्तावरसिंह, मुंशी समर्थदान तथा लाला शादीराम मेरठ निवासी का, जो पीछे आकर वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धकर्त्ता भी हो गए थे, अनुष्ठानपूर्वक यज्ञोपवीत कराया था। उसमें ब्रह्मभोज भी हुआ था। बख्तावरसिंह पहले यज्ञोपवीत लेने पर सहमत नहीं थे, परन्तु एक व्याख्यान में जब स्वामीजी ने यज्ञोपवीत की आवश्यकता ऐसे अच्छे प्रकार से सिद्ध की कि उसे सुनकर यज्ञोपवीत के धारण करने के विषय में उनके सब संशय निवृत्त हो गए तब उन्होंने स्वामीजी से यज्ञोपवीत लेने की स्वयं ही प्रार्थना की थी।

**स्वामीजी महापुरुष थे**– स्वामीजी में सब लक्षण महापुरुषों के थे। उनकी वाणी में वह मनो–मोहिनी शक्ति थी कि उसे सुनकर हर एक मनुष्य उनका वशवर्त्ती हो जाता था।

**योगाभ्यास**– रात्रि में स्वामीजी योगाभ्यास किया करते थे और इसी कारण वे अपने सोने के कमरे के पास रात्रि में किसी को नहीं सोने देते थे जिससे उनके कृत्य में कोई विघ्न न पड़े। परन्तु एक भृत्य स्वामीजी के शयनागार के पास सो जाता था। एक दिन स्वामीजी ने उसे पुकारा तो उसने उत्तर में कहा कि आते हैं। इस पर स्वामीजी ने पास बैठे हुए लोगों से कहा कि देखिए अपने लिए बहुवचन के सिवाय कभी एकवचन का प्रयोग नहीं करता। जब वह आया तो स्वामीजी ने उससे कहा कि तू हमारे कमरे के पास न सोया कर, रात्रि में तेरी खाँसी से हमारी उपासना में व्याघात होता है।

**हम ऐसे गन्दे अर्थों को नहीं मानते**– एक दिन स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में महीधर के वेददूषक अत्यन्त अश्लील अर्थों का खण्डन किया। उसे सुनकर व्याख्यान में आए हुए कई एक काशी के रईसों ने कहा कि हम महीधर अथवा दयानन्द को तो समझते नहीं, परन्तु हम ऐसे गन्दे अर्थों को नहीं मानते, उनका करने वाला चाहे महीधर हो वा दयानन्द वा अन्य कोई।

**गीता के श्लोक के अर्थ**– एक दिन एक नवीन वेदान्ती पण्डित का स्वामीजी से वार्त्तालाप हो रहा था। उसने गीता का श्लोक *'भ्रामयन् सर्वभूतानि'* आदि पढ़कर कहा कि देखो जो कुछ करता है ईश्वर ही करता है, जीव कुछ नहीं करता। स्वामीजी ने कहा कि इसका यह अर्थ है कि ईश्वर पृथ्वी आदि सब भूतों को घुमा रहा है। तुम व्यर्थ ही सब दोष ईश्वर के मत्थे मढ़ना चाहते हो। यह सुनकर वह पण्डित तथा अन्य पण्डित जो उस समय वहाँ उपस्थित थे चकित हो गए और सबने ही स्वामीजी के अर्थों की सत्यता स्वीकार की।

---

६०१– यह घटना पूर्व में स्वामीजी के कलकत्ता जाते हुए पटना के आगे ३ अक्टूबर, १८७२ ई० को बेगमपुर स्टेशन से मुँगेर के लिए रेल में सबार होने से पूर्व जमालपुर जंक्शन पर घटी घटना की प्रतिध्वनिमात्र प्रतीत होती है। (देखें पूर्व पृष्ठ– ३०९) कलकत्ता से वापस लौटकर तो स्वामीजी ने बाबू केशवसेन के परामर्श पर पूरे वस्त्र धारण करने आरम्भ कर दिए थे, अतः इसके और ८ वर्ष बाद उनका कौपीनमात्र पहनकर रेलयात्रा करना सम्भावित नहीं है। –*आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

**मूर्त्तिपूजा का खण्डन मैं नहीं तुम ही करते हो**– स्वामीजी मूर्त्तिपूजकों से कहा करते थे कि मूर्त्तिपूजा का खण्डन मैं नहीं करता, वरन् तुम ही करते हो। तुम देवता को घण्टा आदि दिखाकर नैवेद्य आदि स्वयं चट कर जाते हो इस कारण तुम वास्तव में पुजारी (पूजा के अरि अर्थात् शत्रु) हो। तुम देवता से कहते हो कि 'इमां घण्टां त्वं गृहाण भोजनमहं गृह्णामि' अर्थात् तू तो यह घण्टा ले, भोजन मैं लेता हूँ।

**हम दयानन्द का सिर काट लेंगे**– शिवराम के श्वसुर और चचा प्रभृति को यह भय था कि कहीं शिवराम स्वामीजी की सङ्गत में रहकर संन्यासी न हो जाए। अत: उन्होंने एक बार शिवराम को पत्र लिखा कि तुम घर लौट आओ और यदि दयानन्द तुम्हें छुट्टी न दे तो हम उसका सिर काट डालेंगे। शिवराम ने वह पत्र स्वामीजी को दिखाया। तब स्वामीजी ने उसे देखकर कहा कि सिर कटने का तो मुझे भय नहीं है, तुम्हारी इच्छा हो तो चले जाओ। उस समय स्वामीजी के पास और कोई पण्डित नहीं था।

**जन्मगत वर्णव्यवस्था**– एक दिन एक मनुष्य ने वर्णव्यवस्था को जन्मगत सिद्ध करने के उद्देश्य से महाभाष्य का यह श्लोक प्रस्तुत किया–

*विद्या तपश्च योनिश्च एतद् ब्राह्मण्यकारकम्।*
*विद्यातपोभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः।।* महा० (४।१।४८)

स्वामीजी ने इसके खण्डन में मनुस्मृति का यह श्लोक प्रस्तुत किया–

*यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।*
*यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति।।* मनु० अ० २।श्लोक १५७

**क्या आपको गद्दी पर बैठकर अभिमान नहीं होता**– एक दिन एक मनुष्य ने स्वामीजी से पूछा कि आपको गद्दी पर बैठकर अभिमान नहीं होता? इस पर स्वामीजी ने कहा कि फिर तो छिपकली को हमसे भी अधिक अभिमान होना चाहिए।

**मैडम की ऐन्द्रजालिक क्रियाएँ**– जिन दिनों कर्नल और मैडम स्वामीजी के पास ठहरे हुए थे। उन दिनों में एक साधु जवाहरदास स्वामीजी से मिलने आए। उस समय कर्नल और मैडम तथा स्वामीजी एक बन्द कमरे में बैठे हुए थे। साधु जवाहरदास से किसी ने कहा कि कर्नल और मैडम स्वामीजी को कोई अलौकिक चमत्कार दिखा रहे हैं! साधुजी ने उस कमरे के भीतर जाना चाहा परन्तु किसी ने उन्हें जाने न दिया। जब स्वामीजी थोड़ी देर के पीछे कमरे से बाहर आए और साधुजी से मिले तो उन्होंने कहा कि मैडम ने हमें कुछ ऐन्द्रजालिक क्रियाएँ दिखाई थीं, परन्तु वे उनकी योग की विभूतियाँ न थीं। स्वामीजी ने साधुजी से कहा कि किसी बाजीगर को ले आओ तो कुछ खेल साहब और मेम को दिखाए जाएँ, परन्तु वह बाजीगर को बुलाकर नहीं लाए।

स्वामीजी कहा करते थे कि देहान्त से पूर्व हम अपने माता-पितादि का नाम और पूर्व-वृत्त प्रकट कर देंगे, यदि इस समय हम ऐसा करेंगे तो गोलमाल होगा। खेद है कि वे ऐसा न कर पाए।

**भूल स्वीकार**– कहते हैं कि इन्हीं दिनों डॉक्टर थीबो भी काशी आए थे। एक दिन कुँवर ज्वालाप्रसाद स्वामीजी को साथ में लेकर थीबो साहब से मिलने गए थे। थीबो साहब उस समय वेद की एक शाखा का एक प्रूफ पढ़ रहे थे जो सम्भवत: एशियाटिक सोसाइट की ओर से प्रकाशित हो रही थी और थीबो साहब उसका सम्पादन कर रहे थे। उसके विषय में स्वामीजी की थीबो साहब से बातचीत हुई थी। थीबो साहब ने स्वामीजी से पूछा था कि यह किस वेद की शाखा है तो उन्होंने कहा कि अथर्ववेद की। इस पर थीबो साहब ने कहा कि अथर्ववेद की नहीं बल्कि ऋग्वेद की है। अपने स्थल पर आकर स्वामीजी ने अपनी भूल स्वीकार की और कहा कि वह वास्तव में ऋग्वेद की ही शाखा है।

**मुक्ति से पुनरावृत्ति**– पण्डित कृष्णराम इच्छाराम भी स्वामीजी के आनन्दबाग के निवास के समय काशी पहुँच गए थे। वे

कहते हैं कि जब वे स्वामीजी से पहली बार मुम्बई में मिले थे तो स्वामीजी मुक्ति को अनन्त मानते थे, परन्तु काशी में मिलने पर ज्ञात हुआ कि अब वे उसे सान्त मानते हैं। कारण पूछने पर स्वामीजी ने कहा कि इस विषय पर हमने बहुत विचार किया है और सांख्यशास्त्र के प्रमाणानुसार[६०२] हमें मुक्ति सान्त ही माननी पड़ेगी। जब जीव का ज्ञान परिमित है तो मुक्ति, जो उस ज्ञान का फल है, अपरिमित वा अनन्त कैसे हो सकती है?

**पण्डित बालशास्त्री और पं० बापूदेव शास्त्री की सत्यप्रियता**– पण्डित कृष्णराम इच्छाराम पण्डित बालशास्त्री, पण्डित बापूदेव शास्त्री और स्वामी विशुद्धानन्द के दर्शनों के लिए भी गए थे और जाकर उनसे इस प्रकार बातचीत की कि मानो वह कुछ जानते ही नहीं हैं। उन्होंने जब पण्डित बालशास्त्री से स्वामीजी की चर्चा की तो उन्होंने कहा कि दयानन्द विद्वान् हैं इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु मूर्त्तिपूजा का खण्डन उनके लिए सम्भव है, हमारे लिए नहीं है। इसी प्रकार स्वामीजी का प्रसङ्ग उठाने पर पण्डित बापूदेव शास्त्री ने भी उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा की।

**स्वामी विशुद्धानन्द का द्रोह**– परन्तु स्वामी विशुद्धानन्द उनके बड़े द्रोही निकले। जब पण्डितजी ने स्वामी विशुद्धानन्द के आगे स्वामी दयानन्द का प्रसङ्ग उठाया तो वे थोड़ी देर में ही जान गए कि ये पण्डितजी आर्यसमाजी हैं। पण्डितजी ने उनसे कहा कि यदि दयानन्द का पक्ष मिथ्या है तो कई वर्ष पहले जब उन्होंने अपने वेदभाष्य का नमूना आपके पास भेजा था तो आपने उसका प्रतिवाद क्यों नहीं किया?[६०३] और जब अब उन्होंने काशी में मार्ग के दोनों ओर विज्ञापन लगाए हैं और आपको शास्त्रार्थ के लिए बुलाते हैं और कहते हैं कि अब दस वर्ष के पश्चात् तो काशी के पण्डितों में कोई न कोई तैयार हो गया होगा, परन्तु आप में से फिर भी कोई शास्त्रार्थ के लिए उनके सम्मुखीन नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि आप दयानन्द के समान विद्वान् नहीं हैं। इस पर स्वामी विशुद्धानन्द ने पण्डितजी से पूछा, क्या तुम आर्यसमाजी हो? पण्डितजी ने कहा कि आर्यसमाजी न होता हुआ भी मैं स्वामी दयानन्द का मान करता हूँ। स्वामी विशुद्धानन्द ने फिर पूछा कि तुम कुछ पढ़े हो। पण्डितजी ने उत्तर दिया कि कुछ विशेष पढ़ा हुआ न होता हुआ भी मैं पढ़े हुओं की परीक्षा ले सकता हूँ। यह कहकर पण्डितजी ने '*अग्निमीळे पुरोहितम्*' इत्यादि मन्त्र पढ़ा और कहा कि जिस प्रकार स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का पदच्छेद करके प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण से अर्थ किया है आप भी वैसे ही पदच्छेद करके और उन्हीं ग्रन्थों के प्रमाण से दिखावें कि स्वामी दयानन्द का किया हुआ अर्थ भ्रमयुक्त है। इस पर स्वामी विशुद्धानन्द '**अग्नि**' शब्द पर न्याय की रीति से बहुत कुछ उलट फेर करने लगे। तब पण्डितजी ने कहा कि जिन प्रमाणों से स्वामी दयानन्द ने अर्थ किया है उन्हीं के अनुसार स्वामी दयानन्द के अर्थों का खण्डन कीजिए। इस पर स्वामी विशुद्धानन्द ने और भी क्रुद्ध होकर कहा कि राम! राम!! भाई हम मूर्ख हैं, हम मूर्ख हैं, तुम्हारा दयानन्द विद्वान् है, तुम हमारे पास से चले जाओ और सिपाहियों को कहा कि पण्डितजी को नीचे ले जाओ।

**वेद ही ईश्वर की वाणी है**– एक दिन वेङ्कटगिरि के महाराजा दो तैलिङ्गी ब्राह्मणों के साथ स्वामीजी से मिलने आए। उन्होंने स्वामीजी से कहा कि क्या प्रमाण है कि वेद ही ईश्वर की वाणी है और बाइबिल और कुरान नहीं हैं। तब स्वामीजी ने कहा कि कुरानादि में अनेक कथाएँ सृष्टिक्रम और ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के विरुद्ध हैं। कुरान में काफिरों के विनाश,

६०२- **इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः** ।।सांख्य १/ १५९।।

६०३- पण्डित लेखरामकृत उर्दू दयानन्द-चरित में लिखा है कि स्वामी विशुद्धानन्द ने बाबू पृथ्वीसिंह कम्प्यूटर से कहा कि था कि स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य विद्वत्तापूर्ण और सत्य है और विश्वसनीय है, परन्तु यदि मैं सबके सामने यह बात प्रकट कर दूँ तो हमारी सारी प्रतिष्ठा ही धूल में मिल जाए और हमारे नशे-पानी में जो अन्तराय पड़े वह इससे अलग रहा। बाबू पृथ्वीसिंह पेंशन लेकर मेरठ ही रहते हैं। उन्होंने स्वयं हमसे कई बार कहा है कि यह बात उनसे स्वामी विशुद्धानन्द ने नहीं कही थी बल्कि एक अन्य संन्यासी ने कही थी जिसका नाम परमानन्द गिरि था। - *संग्रहकर्त्ता*

स्वर्ग में सुरा, हूर आदि के रहने की बातें हैं, इसलिए वह ईश्वर की वाणी नहीं हो सकती।

**मैं दुकानदार नहीं हूँ**– इसके पश्चात् मूर्त्तिपूजा के ऊपर बात चली। स्वामीजी ने कहा कि आप महाराजा होकर किस प्रकार मूर्त्तिपूजा का पोषण करते हैं? यदि आप उसका पोषण न करें तो आपके लिए तो ऐसा नहीं है कि दरिद्र ब्राह्मण के समान आपका उदर-पोषण न हो सके। महाराजा ने कहा कि आप की बात कई अंश में ठीक है, परन्तु यदि आप अन्य बातों का प्रचार करें और मूर्त्तिपूजा की बात सबसे पीछे के लिए रखें तो आपके वेदभाष्य के लिए जितने धन की सहायता आवश्यक होगी हम देंगे। स्वामीजी ने यह सुनकर कुछ आवेश के साथ कहा कि आप इन बातों को नहीं समझते। मैं क्या कोई दुकानदार हूँ जो रुपए के कारण अपने कर्त्तव्य को आगे पीछे करूँ।

**विभु के अर्थ पत्थर के महादेव के नहीं हैं**– एक दिन एक ब्राह्मण के साथ स्वामीजी का रामायण के इस श्लोक पर– '*अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः*' इत्यादि पर शास्त्रार्थ हुआ था। स्वामीजी ने कहा कि 'विभुः' के अर्थ व्यापक महादेव के हैं, पत्थर के महादेव के नहीं हैं। ब्राह्मण ने बहुतेरा यत्न किया, परन्तु स्वामीजी ने उसे किसी प्रकार भी प्रस्तरनिर्मित महादेव सिद्ध नहीं करने दिया।

**अद्‌भुत स्मृति**– एक दिन पण्डित भगवानवल्लभ वैद्य अनूपशहर जिला बुलन्दशहर वाले जो स्वामीजी से कई वर्ष पूर्व मिले थे उनसे मिलने आए। उस समय स्वामीजी के पास कई मनुष्य बैठे हुए थे। वैद्यजी मन ही मन विचार रहे थे कि स्वामीजी हमें नहीं पहचानेंगे, परन्तु जब वे स्वामीजी के सामने पहुँचे तो स्वामीजी ने उन्हें तुरन्त पहचान लिया और सहास्यमुख उनसे बातें करने लगे। फिर दूसरे लोगों को बिदा कर स्वामीजी ने प्रेम से उन्हें अपने पास आसन पर बिठा लिया। स्वामीजी की धारणा शक्ति विलक्षण थी। वे यदि एक बार किसी मनुष्य को देख लेते थे तो बरसों पीछे मिलने पर भी वे उसे तुरन्त पहचान लेते थे। अनेक कथनोपकथनों के पश्चात् स्वामीजी ने वैद्यजी से पूछा कि काशी के पण्डित मेरे विषय में क्या कहते हैं? विश्वनाथ के दर्शनों को जाने वाले यात्री दिन प्रतिदिन कम हो रहे हैं वा बढ़ रहे हैं? परन्तु वैद्यजी इन प्रश्नों का उन्हें उत्तर न दे सके।

**वैद्यजी को नाड़ी दिखाई**– स्वामीजी ने अपनी नाड़ी भी वैद्यजी को दिखाई थी। उन्होंने ग्रहणी सञ्चार बतलाया था। उस समय भी स्वामीजी इस रोग से कष्ट पा रहे थे। स्वामीजी ने कहा था कि मुझे कई बार विष दिया गया है और यह रोग उसी का परिणाम है। वैद्यजी ने कहा कि सुश्रुत में भी ऐसा ही निर्देश किया गया है।

**वर्ण जन्मगत नहीं हैं**– एक दिन एक मनुष्य ने स्वामीजी से जातिभेद का प्रसङ्ग उठाया। स्वामीजी ने कहा कि ब्राह्मणादि वर्ण जन्मगत नहीं हो सकते। यदि ऐसा हो तो एक ब्राह्मण के दो पुत्रों में से एक ईसाई और एक मुसलमान हो जाए तो क्या फिर भी वे ब्राह्मण ही माने जाएँगे? यदि नहीं माने जाएँगे तो फिर जन्म से ब्राह्मणत्व कहाँ रहा?

**स्वामीजी के लेखक**– स्वामीजी की सरलता से अनेक दुष्टों ने अनुचित लाभ उठाया। ऐसे लोगों ने भी जिन्हें उन्होंने पढ़ा-लिखाकर पशु से मनुष्य बनाया, उन्हें ठगने में इतस्ततः नहीं किया। ऐसे ही लोगों में एक पण्डित दिनेशराम भी था। पहले इसका नाम दुलाराम था। स्वामीजी ने उसका दिनेशराम नाम रखा था। यह फर्रुखाबाद की पाठशाला में सुबोध हो गया था और उन्होंने उसे कासगंज की पाठशाला में अध्यापक नियुक्त कर दिया था, पीछे वह लेखक के कार्य पर नियत कर दिया गया था। यह था बड़ा कपटी, '*विषकुम्भं पयोमुखम्*'। वह स्वामीजी के सामने उनकी भलाई और पीछे बुराई करता था। वह कहा करता था कि मैं स्वामीजी के ग्रन्थों में इस प्रकार से वाक्य मिला दूँगा कि उन्हें उनका प्रलय तक भी पता न लगेगा। कह नहीं सकते कि उसे इस पापकर्म में कोई सफलता हुई या नहीं। स्वामीजी ने उसकी दुष्टता ताड़ ली और उसे अलग कर दिया।

**कर्मचारियों को भर्त्सना**– कर्मचारी कभी भी उनके मन्तव्यों के विरुद्ध कर देते थे और विद्यार्थी बार-बार समझाने पर भी

कभी उनकी बात न मानते थे। एक दिन उन्होंने सबको इकट्ठा करके उनकी भर्त्सना की और कहा कि तुम मेरे कहने पर विश्वास नहीं करते इसका कारण यह है कि तुममें सच्चाई के लिए आदर नहीं है, तुम मिथ्या कथाओं से प्राप्त हुए अन्न से पले हुए हो, मृतकों का आदर और जीवितों का निरादर करते हो।

**बेर क्यों तोड़ा**– एक दिन एक कर्मचारी ने बाग में से एक बेर तोड़ लिया तो स्वामीजी ने उसे डाँटा और कहा कि बाग के स्वामी की आज्ञा के बिना कोई फल नहीं तोड़ना चाहिए।

**कोतवाल की भक्ति**– काशी के कोतवाल स्वामीजी के भक्त बन गए थे। उन्होंने स्वामीजी के पाचक से कह दिया था कि जिस वस्तु की आवश्यकता हो दुकान से ले आया करो और हमारे नाम लिखा दिया करो। उन्होंने स्वामीजी के बैठने के लिए एक गद्दी भी बनवाकर उन्हें भेंट की थी। एक दिन उन्होंने स्वामीजी से बुढ़वा–मङ्गल का मेला देखने की प्रार्थना की तो स्वामीजी ने कहा कि जिस मेले में वेश्याओं का नृत्य हो वह बुढ़वा–मङ्गल नहीं भड़वा–मङ्गल है।

**मैं हित के लिए खण्डन करता हूँ**– एक दिन पण्डित हरिश्चन्द्र ने श्रीसेवा में निवेदन किया कि आपके खण्डन से बैर–विरोध बढ़ता है तो स्वामीजी ने उन्हें समझाया कि मेरा उद्देश्य सबको आपस में ऐसे मिलाना है कि जैसे दो जुड़े हुए हाथ। मैं कोल से ब्राह्मण तक में जातीयता की ज्योति जगाना चाहता हूँ। मेरा खण्डन हित और सुधार के लिए है।

**उपदेश**– एक सज्जन ने प्रश्न किया कि जहाँ आर्यसमाज नहीं वहाँ अपने धार्मिक जीवन को परिपुष्ट बनाए रखने के लिए आर्यजन क्या उपाय करें तो स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यदि कोई आर्य अकेला हो तो स्वाध्याय करे, दो हों तो आपस में प्रश्नोत्तर और सम्वाद करें और तीन वा अधिक हों तो परस्पर सत्सङ्ग और किन्हीं धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करें।

अपने काशी–त्याग से पूर्व ही स्वामीजी ने एक विज्ञापन द्वारा जनता को सूचित कर दिया था कि हम वैशाख कृष्ण ११ संवत् १९३७ वि० तदनुसार ५ मई, १८८० ई० (बुधवार) को काशी से चले जाएँगे। यदि किसी को अपना कोई संशय मिटाना हो तो वह हमारे स्थान पर आकर उसे मिटा सकता है। कई मास तक स्वामीजी काशी में रहे, चलने से पूर्व भी उन्होंने अपने प्रस्थान की तिथि घोषित कर दी, कितने ही व्याख्यान दिए, विज्ञापन द्वारा पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए आहूत भी किया, परन्तु किसी ने भी न कोई प्रश्न पूछा और न कोई शङ्का ही प्रस्तुत की, परन्तु जब प्रस्थान की तिथि और रेल पर जाने का समय आ गया तो राजा शिवप्रसाद सी०एस०आई० इंस्पेक्टर शिक्षा विभाग ने एक छपी हुई प्रश्नावली श्रीसेवा में भेजी और उनसे उसके उत्तर माँगे। न जाने अब तक राजा साहब किस नींद में सो रहे थे। स्वामीजी रेल पर जाने को तैयार थे परन्तु फिर भी रेल के समय में जितना शेष था वह रुके रहे और राजा साहब से कहला भेजा कि मैं रेल पर जाने को तैयार बैठा हूँ, समय अत्यल्प है कृपा कर शीघ्र पधारिए और अपनी शङ्काओं का समाधान सुन जाइए। परन्तु राजा साहब ने अपनी सूरत न दिखाई। समय हो जाने पर विवश होकर स्वामीजी रेलवे स्टेशन पर चले गए। इस प्रश्नावली पर स्वामी विशुद्धानन्द की सही थी। वास्तव में वह प्रश्नावली उक्त स्वामीजी की ही रची हुई थी। पीछे स्वामीजी ने उस प्रश्नावली के उत्तर में *'भ्रमोच्छेदन'* नामक अपनी पुस्तक लिखकर प्रकाशित की।

## लखनऊ (१८८० ई०)

काशी से विदा होकर स्वामीजी ५ मई सन् १८८० ई० को लखनऊ में आ विराजमान हुए और मोतीमहल में ठहरे।

**'अतप्ततनू' का अर्थ**– एक दिन पण्डित यज्ञदत्त शास्त्री से, जो उन दिनों लखनऊ में पाठकों के पूर्वपरिचित पण्डित गङ्गाधर शास्त्री के पास विद्याध्ययन करते थे, एक रामानुज मतानुयायी का *'अतप्ततनू'* वाक्य के अर्थों पर विवाद हो गया। यह वाक्य ऋग्वेद के मण्डल ९ सूक्त ८३ मन्त्र १ में आया है। पण्डित यज्ञदत्त उस वैष्णव को स्वामीजी के पास ले गए। उस समय वे भोजन पा रहे थे। भोजन के पश्चात् स्वामीजी थोड़ी देर तक टहले और कहा कि *'भोजनं कृत्वा शतपदं गच्छेत्'* अर्थात् भोजन करके सौ कदम चले। थोड़ी देर पलङ्ग पर लेटे और फिर नौकर से वेद का पुस्तक मँगवाकर उक्त मन्त्र का

अर्थ करके बतलाया कि *'तप्ततनू'* से अभिप्राय जप, तप, यम, नियम आदि से इन्द्रियों को वश में करना है, शरीर को जलाना नहीं है, सायणाचार्य भी यही अर्थ करते हैं।

**तुमसे बकरी की टेव नहीं जाती**–फिर स्वामीजी ने तरबूज काटकर सबको बाँटा। उस रामानुजी ने कहा कि तुलसी दल हो तो हम खावें। स्वामीजी ने कहा कि तुमसे बकरी का टेव नहीं जाती। उसने कहा कि यह तो अच्छा है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि रोग के लिए हितकर है न कि हर समय के लिए। ऐसा करना तो स्पष्ट पशुपन है, इसके खाने में कुछ माहात्म्य नहीं है।

स्वामीजी ने पिछली बार यहाँ सत्यप्रकाश पाठशाला भी स्थापित की थी, परन्तु वह १८७९ ई० से पहले ही बन्द हो गई थी।

**आर्यसमाज की स्थापना**– ९ मई, १८८० ई० तदनुसार वैशाख अमावस्या संवत् १९३७ वि० (रविवार) को आर्यसमाज लखनऊ स्थापित किया जिसमें उस समय ९ सभासद हुए, उनमें से एक मुसलमान भी था। {यह एक हिन्दू रईस के वीर्य से एक वेश्या के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। –*संग्रहकर्त्ता*}

स्वामीजी का एक व्याख्यान अमीनुद्दौला की कोठी (पुराने नार्मल स्कूल) में गोरक्षा पर और दूसरा सद्धर्म–समर्थन पर हुआ था। दूसरे व्याख्यान में उन्होंने पण्डित गङ्गाधर शास्त्री के किए हुए वेदमन्त्रों के अर्थ की समालोचना भी की थी। एक व्याख्यान सआदतगञ्ज में ला० कन्हईलाल के ठाकुरद्वारे में हुआ था और एक व्याख्यान याह्यागञ्ज में लाला रुग्धनलाल जैन की कोठी में। उसमें स्वामीजी ने जैन मत का भी खण्डन किया था।

**भक्त को ढाढ़स**– एक दिन पण्डित रामाधार ने स्वामीजी से कहा कि क्या अच्छा होता यदि आर्यसमाज का मन्दिर भी मोतीमहल के समान विशाल होता। स्वामीजी ने कहा कि यदि आप इसके स्वामी को आर्य बना लें तो सम्भव हो यही भवन आर्यसमाज को मिल जाए। पण्डित रामाधारजी ने निराशा भरे शब्दों में स्वामीजी से कहा कि आप इतना पुरुषार्थ करते हैं परन्तु लोग पौराणिक लीलाएँ नहीं छोड़ते। स्वामीजी ने कहा कि मैं ब्राह्मसमाजियों की भाँति समाज के जातीय जीवन से अलग होना नहीं चाहता, क्योंकि समाज में रहकर ही उसका संशोधन करना श्रेयस्कर है।

**देश–दशा पर खेद**– एक दिन व्याख्यान देकर स्वामीजी अपने आसन को जा रहे थे। कई आर्यसज्जन उनके साथ थे। मार्ग में एक अत्यन्त जराजर्जरित बुढ़िया उन्हें मिली। उसने कातर स्वर में स्वामीजी से कहा कि बाबाजी मैं भूखी हूँ, आज का अन्न दिला दें। स्वामीजी ने उसे कुछ पैसे दिला दिए। उसे देखकर स्वामीजी की आँखों में आँसू डबडबा आए और अत्यन्त करुणा भरे शब्दों में उन्होंने कहा कि इस स्वर्णमय भूमि की कितनी हीन दशा हो गई है कि आज इस क्षुधार्त्त बुढ़िया को यह भी विवेक नहीं रहा कि वह जिससे अन्न माँगती है वह स्वयं माँगकर ही खाता है।

## कानपुर (१८८० ई०)

स्वामीजी लखनऊ से चलकर १९ मई को कानपुर पहुँचे। वहाँ से वे अगले दिन ही फर्रुखाबाद के लिए रवाना हो गए। इस बार स्वामीजी का कानपुर में कोई व्याख्यान नहीं हुआ।

## फर्रुखाबाद (१८८० ई०)

कानपुर से चलकर स्वामीजी २० मई सन् १८८० ई० तदनुसार वैशाख शुक्ला ११ संवत् १९३७ वि० (गुरुवार) को फर्रुखाबाद पधारे और लाला कालीचरण रामचरण रईस के बाग में ठहरे। २३ मई को स्वामीजी के व्याख्यानों का विज्ञापन नगर में प्रसिद्ध किया गया और २४ मई से २८ मई तक उनके पाँच व्याख्यान सेठ माधोलाल जी के बाड़े में हुए। व्याख्यानों में श्रोताओं की इतनी भीड़ होती थी कि कुछ लोगों को स्थानाभाव के कारण लौट जाना पड़ जाता था।

**मैं किसी मत को नहीं मानता**– मुंशी गौरीलाल वकील फतेहगढ़ यह कहा करते थे कि मैं किसी मत को नहीं मानता। इस पर स्वामीजी और उनमें निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुए थे–

*स्वामीजी*– आपका यह कहना ही कि मैं किसी मत को नहीं मानता यह अर्थ रखता है कि यही आपका मत है। आप किसी भी मत को क्यों नहीं मानते?

*मुंशीजी*– सारे मत अक्सर नामाकूल बातों से भरे हुए हैं।

*स्वामीजी*– यदि कोई मत आपको माकूल जान पड़े तो उसके मानने में आपको द्विधा न होनी चाहिए।

*मुंशीजी*– माकूल होने पर मैं उसे मानने को तैयार हूँ।

इसके पश्चात् कुछ देर तक स्वामीजी ने वैदिक धर्म का महत्त्व ऐसे ढङ्ग से समझाया कि उसे उन्हें स्वीकार करते ही बना।

यह घटना उस समय की है जब स्वामीजी संवत् १९३६ वि० में फर्रुखाबाद पधारे थे।

**आर्यसमाज की स्थापना**– २९ मई सन् १८८० ई० तदनुसार ज्येष्ठ कृष्णा ६ संवत् १९३७ वि० (शनिवार) को स्वामीजी ने एक व्याख्यान उपर्युक्त मुंशीजी के स्थान पर दिया। इसका प्रभाव इतना हुआ कि उसी दिन और उसी स्थान पर आर्यसमाज स्थापित हो गया। आश्चर्य की बात यह हुई कि वही मुंशी गौरीलाल जो कभी सारे धर्मों को ही नामाकूल बातों से भरा हुआ कहा करते थे आर्यसमाज के मन्त्री निर्वाचित हुए।

**योग पर व्याख्यान**– पाँच जून को स्वामीजी का व्याख्यान योगशास्त्र पर बड़ा प्रभावशाली हुआ जिसे सुनकर क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी चकित हो गए। उस व्याख्यान में स्वामीजी ने योग की सिद्धियों को भी सविस्तार वर्णन किया था। मिस्टर स्काट साहब, मैजिस्ट्रेट जिला और मिस्टर डानिसटन जॉइण्ट मैजिस्ट्रेट भी व्याख्यान में उपस्थित थे। व्याख्यान की समाप्ति पर मिस्टर डानिसटन ने स्वामीजी से पूछा कि यदि हम लोग योगसाधना करें तो हम उसके लाभ प्राप्त कर सकते हैं वा नहीं? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि आप मद्य–माँस का सेवन करते हुए योगाभ्यास का सेवन नहीं कर सकते। यदि आप इन वस्तुओं का त्याग कर दें और नियम पालन करते हुए योगाभ्यास करें तो सफल हो सकते हैं।

**मैजिस्ट्रेट से वार्त्तालाप**– स्काट साहब की तो संवत् १९३६ वि० से ही स्वामीजी में श्रद्धा थी और वे उनके व्याख्यानों में उपस्थित हुआ करते थे। इस बार भी वे स्वामीजी के व्याख्यानों में आते रहे।

जून मास में स्वामीजी के कितने ही व्याख्यान हुए। १३ जून को इस विषय पर व्याख्यान हुआ कि 'वेद–प्रतिपादित सृष्टिक्रम ग्राह्य और तद्–विरुद्ध अग्राह्य है।' उसमें स्वामीजी ने पार्वती के हिमालय पर्वत की कन्या होने, गणेशजी की पार्वतीजी के मैल से उत्पत्ति होने और शिवजी के उनके मारने और फिर हाथी का सिर रखकर उन्हें जिलाने के पौराणिक गपोड़ों की बड़ी मनोरञ्जक आलोचना की।

**बिना सूँड़ का गणेश**– श्रोताओं में पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा, सम्पादक '*भारत सुदशाप्रवर्तक*' भी थे। स्वामीजी ने उन्हें खड़ा होने के लिए कहा और जब वे खड़े हो गए तो उनकी ओर सङ्केत करके स्वामीजी बोले कि देखो यह पुरुष जो आपके सामने खड़ा है इसका नाम गणेश है, परन्तु इसके सूँड नहीं है और न यह ईश्वर है और न अजन्मा। इसे सुनकर सब लोग हँस पड़े। इसी प्रकार लोक में मनुष्यों के नाम होते हैं, हिमाचल, पार्वती, गणेश आदि मनुष्यों के नाम होंगे।

**वेद का अपौरुषेयत्व**– २७ जून सन् १८८० ई० को स्वामीजी का अन्तिम व्याख्यान वेदविद्या विषय पर हुआ; उसमें स्वामीजी ने स्वयम् वेद के प्रमाणों से तथा शतपथ ब्राह्मण, षड्दर्शन की साक्षी से वेदों का ईश्वरोक्त होना और उनका सम्पूर्ण विद्याओं के भण्डार होना सिद्ध किया था और यह भी कहा था कि वेदों का शुद्ध भाष्य शीघ्र होना चाहिए, क्योंकि महीधरादि ने अशुद्ध अर्थ करके देश में भ्रान्ति फैला रखी है।

**वेदभाष्य की सहायता**– इसके पश्चात् मुंशी हरनारायण मित्र बाबू दुर्गाप्रसाद रईस ने प्रस्ताव किया कि स्वामीजी के अतिरिक्त अन्य कोई विद्वान् वेदों का शुद्ध भाष्य करने की योग्यता नहीं रखता है। स्वामीजी की अवस्था अब ५६ वर्ष[६०४] की है और शरीर अनित्य है, अत: स्वामीजी को वेदभाष्य के कार्य में पर्याप्त आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। इस प्रस्ताव को सबने स्वीकार किया और उसी समय २७० रुपये वार्षिक के हिसाब से पाँच वर्ष के लिए १३५० रु० का चन्दा हो गया और ११ वेदभाष्य के ग्राहक बने। इसके पश्चात् बाबू दुर्गाप्रसादजी के प्रस्ताव पर एक धर्मार्थ कोष भी स्थापित हुआ जिसमें ५०० रु० बाबू दुर्गाप्रसादजी ने स्वयं दिए और अन्य लोगों ने भी सहायता दी।

**एक आर्यसमाजी के पीटने वाले को दण्ड**– फर्रुखाबाद में पुत्तूलाल शुक्ल पहलवान और नारायण दुबे आर्यसमाजियों से बहुत चिढ़ते थे। जब स्वामीजी संवत् १९३६ वि० में फर्रुखाबाद आए थे तो उनके चले जाने के पश्चात् कुछ दिन तक पौराणिक उत्तेजित रहे। एक दिन उपर्युक्त शुक्ल और दुबे को चौबे तोताराम जो आर्यसामाजिक थे मार्ग में मिल गए। दोनों व्यक्तियों ने उन्हें चिढ़ाना आरम्भ किया। जब उन्होंने ईंट का उत्तर पत्थर से दिया तो दोनों ने मिलकर उन्हें पीटा। उन्होंने दोनों पर स्काट साहब के इजलास में अभियोग चलाया, जिसका यह परिणाम हुआ कि शुक्लजी पर २० रु० अर्थदण्ड और दुबेजी को तीन मास का कारावास हुआ और दोनों को दो-दो सौ रुपयों के मुचलके और जमानत दो साल तक नेक चलन रहने की देनी पड़ी।

**स्वामीजी की अप्रसन्नता**– जब स्वामीजी इस बार आए तो स्काट साहब ने उनसे कहा कि आपके एक सेवक को पीटने पर दो लोगों को पर्याप्त दण्ड मिल गया है। स्वामीजी ने स्काट साहब की बात पर कोई प्रसन्नता प्रकट न की जिसकी उन्हें आशा थी और उनसे यह कहा कि संन्यासी तो अपने घातक को पीड़ा पहुँचती देखकर प्रसन्न नहीं होते और आर्यसमाजियों से असन्तोष प्रकट करते हुए कहा कि यदि तुम लोग इस प्रकार मुकद्दमेबाजी करोगे तो धर्म और देश का क्या सुधार कर सकोगे? जिन्हें सन्मार्ग पर लाना है उन्हें कैद में पहुँचाना सुधार की शैली से बाहर है। घूँसे का बदला घूँसा नहीं है। यदि पौराणिक भाई तुम पर कोई अत्याचार करें तो उचित सीमा तक उसे सहना चाहिए, जब उन्हें ज्ञान होगा तब वे स्वयम् इसका पश्चाताप करेंगे और तुमसे प्रेम प्रकट करेंगे।

**धर्म विषय पर प्रश्नोत्तर**– २५ मई सन् १८८० ई० को मुंशी नारायणदास मुख्तार ने स्वामीजी से धर्म-विषयक कुछ प्रश्न किए थे जो उत्तर सहित नीचे दिये जाते हैं-

*प्रश्न*– मनुष्य पाप क्यों करता है?

*स्वामीजी का उत्तर*– लोभादि के वशवर्त्ती होकर, बुद्धि के वैचाल्य से, मादक द्रव्य के सेवन से, दुष्ट पुरुषों के सङ्ग से और मिथ्या ज्ञान से पाप में प्रवृत्ति होती है।

*प्रश्न*– सत्पुरुषों की कसौटी क्या है? और उनसे मिलना कैसे हो सकता है?

*स्वामीजी का उत्तर*– न्यायप्रियता, स्वार्थत्याग, पराए हित में योग देना आदि उत्तम गुण सत्पुरुषों की कसौटी हैं। ऐसे पुरुष अपने उत्तम गुण और स्वभाव से पहचाने जाते हैं। वे सत्यभाषण, परोपकार, उदारता, न्यायकर्त्तृत्व, ईश्वर-भक्ति और दयालुता आदि गुणों से युक्त होते हैं। तलाश करने वाले को सब कुछ मिल जाता है। जो ढूँढता है सो पाता है। विद्या व सत्सङ्ग से प्रत्येक मनुष्य सत्पुरुष बन सकता है।

*प्रश्न*-- स्वार्थ किसे कहते हैं?

---

६०४- जून १८८० ई० में लोगों को स्वामीजी का केवल संवत् १८८१ वि० में जन्म हुआ होना ही ज्ञात था, अत: पहले तो इन उत्तर भारतीय वक्ताओं ने अपनी स्थानीय संवत् परम्परा के अनुसार इसमें से ५७ वर्ष घटाकर अर्थात् १८८१-५७ = १८२४ ई० का स्वामीजी का जन्म का सन् बनाया , फिर १८८० में से १८२४ घटाकर स्वामीजी जी का उस समय वय ५६ वर्ष होना कह दिया।

*स्वामीजी का उत्तर*- धर्मपूर्वक उपायों से अपनी उन्नति अर्थात् सुख की वृद्धि करना स्वार्थ कहलाता है। परन्तु इस समय लोग येन-केन-प्रकारेण धर्माधर्म व विवेकरहित उपायों से अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं और परहानि व परदु:ख का कुछ भी विचार नहीं करते, इस प्रकार स्वार्थान्ध हैं। परार्थ वा परोपकार वह है जिसके आचरण से मनुष्यों के दु:ख की निवृत्ति हो।

**स्वामीजी का आतिथ्य**- स्वामीजी अपने आतिथ्य-धर्म का बड़ी दृढ़ता से पालन करते थे। एक दिन पण्डित गणेशप्रसाद, सम्पादक '*भारत सुदशा प्रवर्त्तक*'को स्वामीजी के पास सामाजिक कार्य करते हुए रात्रि के ९ बज गए तब स्वामीजी ने यह जानकर कुछ फल और मिष्टान्न उन्हें खाने के लिए प्रस्तुत किए। पण्डितजी ने इस पर आपत्ति की कि हम गृहस्थों को आप जैसे महात्माओं की सेवा करनी चाहिए न कि आपकी खाद्य सामग्री को स्वयं ग्रहण करना। इस पर स्वामीजी ने कहा कि यह सामग्री गृहस्थ लोगों के घर से ही आई है और मेरी आवश्यकता से अधिक है। श्री रामचन्द्र तक ने वनस्थ मुनियों के कन्द मूल फलादि ग्रहण किए थे, अत: आपको सङ्कोच न होना चाहिए और आग्रहपूर्वक पण्डितजी को फल और मिष्टान्न खिलाए।

एक दिन मेरठ से एक सज्जन ठीक उसी समय स्वामीजी के पास उपस्थित हुए जब कि वे स्वयं भोजन करने जा रहे थे। स्वामीजी ने उन्हें देखकर पहले उन्हें भोजन कराया और फिर आपने आप भोजन किया। स्वामीजी अतिथियों को भोजन कराए बिना स्वयं भोजन न किया करते थे।

स्वामीजी सोंठ का एक अत्यन्त स्वादिष्ट जल बनाया करते थे।

**एक सदाशय विद्वान् से धर्मालाप**- गोस्वामी नारायणदास एक सरलचेता, सदाशय विद्वान् थे, वे पौराणिकों के अपवाद के कारण श्री स्वामीजी के पास जाते हुए घबराते थे। एक दिन लाला जगन्नाथप्रसाद आग्रह से उन्हें रात्रि के समय स्वामीजी के पास ले गए। उन्होंने यज्ञ में माँस-विधान का पक्ष लेकर स्वामीजी से वार्त्तालाप किया। स्वामीजी ने उनका प्रबल युक्ति और प्रमाणों से खण्डन करके उन्हें सन्तुष्ट कर दिया कि यज्ञ में माँस-विधान वेदविरुद्ध है, यज्ञ का नाम ही अध्वर-हिंसारहित कर्म है। अन्त में गोस्वामीजी ने स्वीकार कर लिया कि माँस-विधान मेरा पक्ष नहीं था। मैं तो केवल शास्त्र के वचनों को देखकर ही उसका समर्थन करता था।

**वार्त्तालाप का प्रभाव**- फिर इस विषय पर बात चली कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद हैं या नहीं, परन्तु वह समाप्त न हो सकी। अत: अगले दिन इस विषय पर पुन:विचार हुआ। पण्डितजी अपने पक्ष की पुष्टि में कात्यायन के सिवाय और कोई प्रमाण प्रस्तुत न कर सके। स्वामीजी ने कहा कि अन्य कोई ऋषि-मुनि ब्राह्मणों को वेद नहीं मानता। अत: कात्यायन का वचन अग्राह्य है। और अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि वेद संहितामात्र ही का नाम है। गोस्वामीजी सन्तुष्ट होकर अपने घर चले गए और उसके पश्चात् आर्यसमाज का उन्होंने कभी विरोध नहीं किया, प्रत्युत वे सदा समाज के कार्यों में सहायता ही करते रहे।

## मैनपुरी (१८८० ई०)

स्वामीजी ३० जून सन् १८८० ई० को फर्रुखाबाद से चले और १ जुलाई सन् १८८० ई० तदनुसार आषाढ़ कृष्णा ९ संवत् १९३७ वि० (गुरुवार) को प्रात:काल मैनपुरी पहुँचे तथा वहाँ करमल दरवाजे के बाहर थानसिंह सोहिया के बाग में ठहरे।

**ऋषि-मुनियों के समागम का आनन्द आ गया**- स्वामीजी के शुभागमन का समाचार नगर में फैलते ही शतश: लोग उनके दर्शनार्थ आने लगे और यह दशा हुई कि कोई समय ऐसा न होता था जब कि सौ, सवा-सौ मनुष्य उन्हें घेरे हुए न बैठे रहते हों। प्रात:काल से रात्रि के १०-११ बजे तक यह लोकप्रवाह अनवरतरूप से प्रवाहित रहता था। जो जिसके मन में आता अपनी विद्या और बुद्धि के अनुसार उनसे प्रश्न करता और स्वामीजी उसका प्रेमपूर्वक उत्तर देकर उसे सन्तुष्ट कर देते थे।। उनके दर्शन करके जो भी आता वह यही कहता आता था कि ऋषि-मुनियों के समागम का जैसा आनन्द हम पहले से सुनते आते थे वही आज हमने प्रत्यक्ष में अनुभव कर लिया है। इस अपूर्व मूर्त्ति को धन्य है। दो दिन तक स्वामीजी इसी प्रकार लोगों को उपदेशामृत चखाते रहे।

**अपूर्व व्याख्यान**- ३ जुलाई १८८० ई० को आकटगञ्ज की विस्तृत भूमि में कनात और शामियाने लगाकर स्वामीजी के व्याख्यान का प्रबन्ध किया गया। इस दिन आकाश कुछ मेघाच्छादित था तो भी एक सहस्र मनुष्य उनके व्याख्यान के श्रवणार्थ उपस्थित हुए। नगर के सभी प्रतिष्ठित और शिक्षित लोग इस व्याख्यान में आए। इस व्याख्यान में स्वामीजी ने धर्म के स्वरूप और उसके गूढ़ तत्वों का ऐसी सुन्दरता से वर्णन किया कि लोग सुनकर दङ्ग रह गए। ४ जुलाई को फिर एक व्याख्यान इसी स्थान पर ईश्वर विषय पर हुआ जिसमें ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन, उसके गुणों का कीर्तन कुछ ऐसे ढङ्ग से किया गया था कि बड़े-बड़े नास्तिकों के मस्तक भी झुक गए। तीसरे दिन ५ जुलाई को स्वामीजी ने लोगों को सन्देह-निवृत्ति का अवसर दिया।

**घोर नास्तिकों से प्रश्नोत्तर**- एक अँग्रेज डॉक्टर ने घोर नास्तिकों का पक्ष लेकर, जो आत्मा-परमात्मा जैसी किसी वस्तु को भी नहीं मानते थे, कुछ प्रश्न किए जिनके उत्तर पाकर वह निरुत्तर हो गया। साहब कलेक्टर और साहब जज तीनों दिन व्याख्यानों में आरम्भ से समाप्ति पर्यन्त उपस्थित रहे और उन्हें ध्यानपूर्वक सुनते रहे।

**निष्पक्ष मुसलमान**- व्याख्यानों की समाप्ति पर मिर्जा अहमदअली बेग ने अनेकश: धन्यवाद दिए और कहा कि जब इस देश में स्वामीजी जैसे विद्वान् हुए होंगे तब अवश्य ही दूर देशों से लोग यहाँ विद्योपार्जन के लिए आया करते होंगे जैसा कि स्वामीजी ने कहा है।

*'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'* इत्यादि मन्त्र में तीन प्रकार के पद रखने का अभिप्राय स्वामीजी ने यह बतलाया था कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में परमेश्वर परिपूर्ण है। इस प्रश्न के उत्तर में कि कोई पवित्र भूमि है वा नहीं स्वामीजी ने कहा था कि यदि कोई हिमालय पर भी पाप करेगा तो उसका फल अवश्य भोगेगा।

लोगों ने बहुत कुछ आग्रह किया कि स्वामीजी कुछ दिन मैनपुरी और विराजमान रहकर उनकी धर्मपिपासा को शान्त करें, परन्तु वे अवकाशाभाव के कारण अधिक न ठहर सके और ६ जुलाई को घोड़ागाड़ी में सवार होकर भारौल चले गए और वहाँ एक दिन ठहरकर ८ जुलाई को मेरठ पहुँच गए।

**आर्यसमाज स्थापित हो गया**- स्वामीजी के चले जाने के पश्चात् ११ जुलाई सन् १८८० ई० तदनुसार आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी संवत् १९३७ वि० (रविवार) को मैनपुरी में आर्यसमाज स्थापित हो गया।

## मेरठ (१८८० ई०)

स्वामीजी ८ जुलाई सन् १८८० ई० तदनुसार आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा संवत् १९३७ वि०(गुरुवार) को

आर्यसमाज मेरठ के निमन्त्रण पर मैनपुरी से मेरठ पधारे और लाला रामशरणदास की कोठी पर मेरठ छावनी में ठहरे। मेरठ में वे अपने निज स्थान पर ही जिज्ञासुओं के सन्देहों का निवारण करते रहे और सप्ताह में दो व्याख्यान विविध विषयों पर देकर लोगों के भ्रमजाल को छिन्न-भिन्न करते तथा वैदिक-धर्म के सत्य-सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे।

**पण्डिता रमाबाई**- आर्यसमाज मेरठ की कन्या पाठशाला के लिए एक सुयोग्य अध्यापिका की आवश्यकता थी। रमाबाई एक सुशिक्षित संस्कृतज्ञ महाराष्ट्रियन महिला का उन्हें पता लगा। वह उस समय कलकत्ते में थी। स्वामीजी ने उसे पत्र लिखा और कई पत्र उभय पक्ष के आए-गए जिससे रमाबाई मेरठ आने पर सहमत हो गई। यह परस्पर पत्र-व्यवहार संस्कृत में हुआ था।

**पण्डिता रमाबाई का आगमन**- स्वामीजी ने पण्डित देवदत्त शास्त्री को रमाबाई को मेरठ लिवा लाने के लिए कलकत्ता भेजा था, परन्तु वह शास्त्रीजी को वहाँ नहीं मिली जिससे वह मेरठ वापस लौट आए। रमाबाई उनके वापस आने से पहले ही दो भृत्यों के साथ, जिनमें एक स्त्री और एक पुरुष था, मेरठ पहुँच गई थी। उन्हें बाबू छेदीलाल गुमास्ते कमसरियट के बँगले पर ठहराया जहाँ कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की पहले से ही ठहरे हुए थे। रमाबाई के आने के पश्चात् उसका एक बंगाली मित्र भी मेरठ आ गया और उन्हीं के साथ ठहर गया। उनका नाम बाबू विपिनबिहारी एम०ए०बी०एल० था। रमाबाई के चार या पाँच व्याख्यान स्त्रीशिक्षा आदि विषयों पर हुए। पहला व्याख्यान बाबू छेदीलाल की कोठी पर और शेष आर्यसमाज में हुए। स्वामीजी रमाबाई के व्याख्यानों में नहीं जाते थे। वे पण्डित ज्वालादत्त को उनमें भेज दिया करते थे ताकि वह उनका सार लिख लावे और उन्हें सुना दिया करे। रमाबाई सायङ्काल को स्वामीजी से वैशेषिक दर्शन पढ़ा करती थी। उस समय स्वामीजी की विशेष आज्ञा से पण्डित भीमसेन, पण्डित ज्वालादत्त और आर्यसमाज मेरठ के सभासद् पण्डित पालीराम तथा बाबू ज्योति:स्वरूप उपस्थित रहते थे। स्वामीजी यह चाहते थे कि रमाबाई ब्रह्मचारिणी रहकर स्त्री जाति में शिक्षा और वैदिक धर्म का प्रचार करे, परन्तु उसने ऐसा करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। उसका स्वामीजी के पास आने का मुख्य प्रयोजन यह था कि स्वामीजी बस उसके बंगाली युवक के साथ विवाह को शास्त्रसम्मत स्वीकार कर लें। रमाबाई महाराष्ट्रियन ब्राह्मण-ललना और विपिन बिहारी बंगाली कायस्थ थे।

**रमाबाई का प्रचार कार्य करने से नकार**- रमाबाई जानती थी कि ऐसे विवाह को केवल स्वामीजी ही शास्त्रसम्मत बता सकते हैं, क्योंकि वे यह मानते थे कि प्राचीन भारत में वर्णव्यवस्था गुण, कर्म, स्वभाव पर निर्भर थी। स्वामीजी ने उसके विवाह की अनुमति नहीं दी और रमाबाई से कहा कि तुम अपना जीवन स्त्रियों की शिक्षा और उद्धार में लगाओ। रमाबाई ने यह बात स्वीकार नहीं की। इस पर स्वामीजी बहुत हताश हुए और उन्होंने कहा कि यदि हम जानते कि रमाबाई स्वदेश के पुनरुद्धार के लिए कार्य करना स्वीकार नहीं करेगी तो हम कदापि अपने नियम के विरुद्ध उसे अपने सामने बिठाने और शास्त्र पढ़ाने पर उद्यत न होते। रमाबाई ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि मुझे साथ रहने की आज्ञा दी जाए और मुझे अन्य शास्त्र भी पढ़ाइये, परन्तु स्वामीजी ने उससे कह दिया कि आज से मेरा तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका उद्देश्य केवल इतना ही था कि रमाबाई प्राचीन ऋषिकाओं की भाँति भारतवर्ष में अपनी बहिनों की भलाई के लिए कार्य करे और जब उन्होंने वह उद्देश्य पूरा होता न देखा तो उन्हें रमाबाई से उपरति हो गई। स्वामीजी को उसके चरित्र के सम्बन्ध में भी सन्देह हो गया था और इस कारण उन्होंने आर्यसमाज मेरठ के कार्यकर्त्ताओं से कह दिया था कि उसके चरित्र पर दृष्टि रखें। उन लोगों ने भी उसके विषय में अच्छी सम्मति प्रकट नहीं की थी। रमाबाई ने यह भी कहा था कि वह अध्यापन और उपदेश कार्य तब कर सकती है जब उसके पिता का ऋण चुका दिया जाए जिसकी मात्रा उसने तब साठ-सत्तर हजार रुपए बताई थी।

**रमाबाई को विदा कर दिया गया**- इसके पश्चात् रमाबाई का मेरठ ठहरना व्यर्थ था, अत: उसे विदा करने का निश्चय

किया गया। स्वामीजी ने आर्यसमाज के कार्यकर्त्ताओं से कह दिया कि जिस सम्मान के साथ रमाबाई को लाया गया है उसी सम्मान के साथ उसे विदा किया जाए। अत: रमाबाई को विदा करने के उपलक्ष्य में एक सभा की गई।

**सम्मान–प्रदर्शन**– उसमें पण्डित पालीराम ने कहा कि पण्डिता रमाबाई को अपनी दृष्टि और उद्देश्य उच्च रखने चाहिए तथा स्वामी दयानन्द की भाँति स्त्रीजाति का उपदेश द्वारा उपकार करना चाहिए। विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करना उनके लिए उचित नहीं है। रमाबाई ने इसके उत्तर में स्वामीजी की बहुत प्रशंसा की। उन्हें बृहस्पति की उपमा दी और कहा कि वह प्रस्तावित कार्य करने में अक्षम है, ऐसे कार्य तो स्वामीजी सरीखे उत्तम कोटि के मनुष्य ही कर सकते हैं। स्त्री होने के कारण उसके लिए सर्वत्र घूमना असम्भव है। विदा करते समय आर्यसमाज मेरठ की ओर से उसे १२५ रु० नकद और एक थान १० रु० मूल्य का भेंट किया गया और स्वामीजी ने उसे संस्कारविधि:, सत्यार्थप्रकाश, पञ्चमहायज्ञविधि:, आर्याभिविनय: आदि ग्रन्थ दिए।

**रमाबाई ईसाई**– रमाबाई पीछे आकर ईसाई हो गई और उसने पूना में शारदासदन के नाम से एक विधवा आश्रम स्थापित किया और सैकड़ों हिन्दू विधवाओं को विधर्मी बनाया।

**रमाबाई की स्वामीजी के विषय में सम्मति** – देवेन्द्रबाबू ने रमाबाई को एक पत्र लिखा था जिसमें रमाबाई से स्वामीजी के विषय में उसकी सम्मति और भाव पूछे थे। उस पत्र का उत्तर रमाबाई ने १३ नवम्बर सन् १९०३ ई० को दिया था। उसमें रमाबाई ने लिखा था कि "मैं मेरठ में आर्यसमाज के एक सभासद् के गृह पर ठहरी थी। मैं उस समय स्वामीजी की विशेष शिक्षाओं से सर्वथा अनभिज्ञ थी। मैं मेरठ में तीन सप्ताह से अधिक रही और इस कारण मुझे आर्यसमाज के मुख्य मन्तव्यों को स्वयं उसके प्रवर्त्तक से सीखने का अवसर मिला। स्वामीजी के सम्बन्ध में जो भाव मेरे मन पर अङ्कित हैं वे वास्तव में बहुत उत्तम हैं। वे सर्वभावेन दयास्वरूप थे। उनका मेरे साथ वर्त्ताव कृपापूर्ण और पितृतुल्य था।वे प्रांशु–विशाल–दर्शन, भद्र पुरुष थे। वे सच्चे और शुद्ध भावयुक्त पितृ प्रकृति के पुरुष थे। वे शुद्ध भाषा प्रभावोत्पादक स्वर में बोलते थे। वे कभी हिन्दी और कभी संस्कृत में बातें किया करते थे, परन्तु संस्कृत उनकी प्यारी भाषा थी। हिन्दुओं के छहों दर्शनों में से वे वैशेषिक दर्शन को सबसे अधिक पसन्द करते थे। उनकी शिक्षा अद्वैत वेदान्त से भिन्न थी और उस समय मैं केवल एक इसी बात में उनसे सहमत थी। -----उन्होंने मुझसे यह कहा था कि मैं चाहता हूँ कि तुम आर्यसमाज में सम्मिलित हो जाओ, मैं तुम्हें शिक्षा दूँगा तथा तुम्हें आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए तैयार करूँगा। मैं धार्मिक विषयों में अव्यवस्थित थी, अत: मैंने उनके इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया था।"

**स्त्रियों को वेदाधिकार**– उसी पत्र में एक जगह रमाबाई लिखती हैं कि स्वामी दयानन्द स्त्रियों के लिए धर्म की आवश्यकता स्वीकार करते थे। वे कहते थे कि स्त्रियाँ वेद पढ़ सकती हैं जिसकी कि हिन्दू धर्म आज्ञा नहीं देता था। इस कारण से कि हिन्दू धर्म स्त्रियों और शूद्रों से द्वेष करता था, मेरी आत्मा उसकी विद्रोही बन गई थी। जहाँ तक उनकी शिक्षा का स्त्रियों को वेद, दर्शन और धर्म शास्त्रों के पढ़ने का अधिकार देने से सम्बन्ध था, वहाँ तक मैं उससे प्रसन्न थी।

**कर्नल और मैडम का रंग बदला**– कर्नल और मैडम शिमला जाते हुए मेरठ में स्वामीजी से मिलने के लिए ठहर गए थे। उनके विषय में उस समय तक स्वामीजी का यही विश्वास था कि वे आर्यसमाज के सिद्धान्तों को मानते हैं और इसी कारण से वे थियोसोफिकल सोसाइटी को आर्यसमाज की शाखा बनाने पर सम्मत हो गए थे। इस बार जो कर्नल और मैडम मेरठ आए तो उन्होंने और ही रंग दिखाया अर्थात् उनकी बातचीत से यह पता लगा कि उनका न वेदों में ही विश्वास है और न ईश्वर में ही। इस विषय में रमाबाई ने अपने उसी पत्र में इस प्रकार लिखा था– "मैडम ब्लैवैट्स्की और कर्नल आल्काट वाइसराय लार्ड रिपन से मिलने शिमला जा रहे थे। मैंने इन लोगों को यह कहते हुआ सुना था कि वे गवर्नर जनरल के निमन्त्रण पर उन्हें अपनी गुप्त विद्या–शक्ति दिखाने और उनके समाने यह सिद्ध करने को जा रहे हैं कि अदृष्ट आत्माएँ उनसे

बातचीत करती हैं और मैडम ब्लैवेट्स्की परलोकगत आत्माओं के लोक से वाइसराय के लिए कुछ वस्तुएँ मँगाकर अलौकिक घटना (miracle) का प्रदर्शन करेंगी।

**मैडम के विचार**– "मैं बाबू छेदीलाल के गृह पर ठहरी हुई थी, जहाँ कर्नल और मैडम अतिथि थे। मैडम मुझसे दुभाषिए के द्वारा बातें किया करती थीं क्योंकि मैं उस समय अँग्रेजी नहीं जानती थी। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं किसी वैयक्तिक (Personal) ईश्वर में विश्वास नहीं करती, किन्तु सत्त्व, रजस्, तमस् की सम्मिलित एक महान् शक्ति में विश्वास करती हूँ। वह अपनी अँगुली में एक अँगूठी पहनती थीं जिसमें तीन रत्न जड़े हुए थे। उन्होंने वह मुझे दिखाई और कहा कि ये तीनों रत्न उन तीनों शक्तियों के प्रतिनिधि स्वरूप हैं, जो इस महान् विश्व में कार्य और उसका शासन कर रही हैं। एक दिन सायङ्काल को स्वामी दयानन्द थियोसोफी के इन नेताओं से मिलने आए। उन्होंने स्वामीजी को थियोसोफिकल सोसाइट का मुख्य सभासद् बनाना चाहा, परन्तु स्वामी दयानन्द सोसाइटी का सभासद् बनने की स्वीकारी देने से पहले थियोसोफी के सिद्धान्तों को समझना चाहते थे। इस पर उन्होंने एक दुभाषिए के द्वारा स्वामीजी के साथ अपने विशेष सिद्धान्तों पर विचार किया।

**वेद, ईश्वर में अविश्वास**– यदि मुझे ठीक स्मरण है तो मैंने मैडम ब्लैवेट्स्की और कर्नल आल्काट दोनों को यह कहते हुए सुना था कि उनका विश्वास उपर्युक्त तीनों शक्तियों में है और वे वैयक्तिक ईश्वर और वेदों के अपौरुषेयत्व में विश्वास नहीं रखते हैं।

**अविश्वासियों से सम्बन्ध नहीं रखेंगे**– यह आर्यसमाज के जीवनमूल सिद्धान्तों के विरुद्ध था और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रकट कर दिया था कि वे उन लोगों से जो ईश्वर में विश्वास नहीं रखते, कोई सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे, वह थियोसोफिकल सोसाइटी के सभासद् नहीं बनेंगे और न थियोसोफिस्टों को अपने समाज का सभासद बनाएँगे और इस पर बात समाप्त हो गई। मैं नहीं जानती कि पीछे क्या हुआ, परन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है स्वामी दयानन्द उस समय थियोसोफिस्ट नहीं हुए थे।"

कर्नल और मैडम सायङ्काल को स्वामीजी से बाबू छेदीलाल के बँगले पर मिला करते और उनसे वार्त्तालाप किया करते थे। इस वार्त्तालाप का अंश '*थियोसोफिस्ट*' समाचार पत्र में छप चुका है, परन्तु नीचे लिखी बात उसमें नहीं छपीं–

**योग की शक्ति**– एक दिन कर्नल ने स्वामीजी से कहा कि उन्हें और मैडम को इस बात में शङ्का है कि स्वामी शङ्कराचार्य ने अपने आत्मा को एक राजा के शरीर में, जो उसी दिन मरा था, प्रविष्ट कर दिया था। स्वामीजी ने कहा कि यह विचित्र बात है कि मैडम के समान योगप्रवीण व्यक्ति को इस विषय में सन्देह हो। उन्होंने फिर कहा कि मैं प्रथम कोटि का योगी नहीं हूँ, केवल मध्यम कोटि का हूँ, परन्तु मैं अपनी चेतन शक्ति को शरीर के किसी भाग में केन्द्रित कर सकता हूँ, अर्थात् उस भाग को छोड़कर मेरे शरीर के अन्य सब भाग मृतवत् हो जाएँगे। यदि आप यह दृष्य देखना चाहे तो मैं आपको दिखा सकता हूँ। जब कि मैं एक मध्यम कोटि का योगी इतना कर सकता हूँ तो यह सम्भव है कि एक उच्च कोटि का योगी इससे एक पग आगे बढ कर अपने आत्मा को दूसरे शरीर में प्रविष्ट कर सके।

**सन्ध्या कैसी? उपासना किसकी?**– एक दिन बाबू ज्योति:स्वरूप और कुछ अन्य सज्जन कर्नल और मैडम से मिलने गए थे। सायङ्काल का समय था। जब सन्ध्या का अन्धकार छाने लगा तो पण्डित पालीराम ने उनसे विदा माँगी कि सन्ध्या करने का समय निकट है। इस पर मैडम ने मुस्कराकर कहा कि क्या आप सचमुच उपासना करते हैं और करते हैं तो किसकी? पण्डित पालीराम ने कहा कि आप भी तो सन्ध्या और परमेश्वर की उपासना करती हैं।

**मैं ईश्वर को नहीं मानती**– तो मैडम ने कहा कि मैं सन्ध्या के केवल उस भाग में विश्वास करती हूँ जहाँ तक वह योगाभ्यास का अङ्ग है, परन्तु जहाँ तक ईश्वरोपासना का सम्बन्ध है मेरा उसमें विश्वास नहीं है। मैं किसी ईश्वर में विश्वास

नहीं रखती क्योंकि ईश्वर है ही नहीं और अधिक प्रश्न करने पर मैडम ने कहा कि हम लोग बौद्ध हैं।

**ईश्वर विषय पर विचार** – पण्डित पालीराम आदि ने यह बात स्वामीजी से कही और जब उन्होंने कर्नल और मैडम से पूछा कि क्या यह सत्य है कि आपके विश्वास में ईश्वर का अस्तित्व नहीं है? तो उन्होंने कहा कि यह सत्य है। इस पर स्वामीजी ने कहा कि इस विषय पर विचार हो जाना चाहिए। कर्नल ने कहा कि गुरु–शिष्य में कोई विवाद नहीं हो सकता। स्वामीजी ने कहा कि आस्तिक और नास्तिक में गुरु–शिष्य का सम्बन्ध नहीं हो सकता। कर्नल विचार करने से नकार और स्वमीजी उस पर आग्रह करते रहे। स्वामीजी ने कहा कि दो विद्वान् पुरुष जिन्हें सत्य की खोज हो, विचार करके अवश्य ही किसी निश्चित परिणाम पर पहुँच सकते हैं। यदि आपका पक्ष प्रबल रहे तो मैं ईश्वर में विश्वास रखना छोड़ दूँगा नहीं तो आपको ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करना होगा। अन्यथा मैं आपसे सब सम्बन्ध तोड़ दूँगा। इस पर कर्नल ज्यों–त्यों करके राजी हुए। यह विचार तीन दिन तक सन्ध्या समय से रात्रि के १०–११ बजे तक होता रहा। पहले दो दिन पण्डित बलदेवप्रसाद हेडमास्टर नार्मल स्कूल मेरठ ने दुभाषिए का काम किया, तीसरे दिन बाबू ज्वालाप्रसाद अनुवादक अदालत जजी मेरठ ने। चौथे दिन कर्नल ने स्वामीजी को कहलाकर भेजा कि विचार आज समाप्त हो जाना चाहिए नहीं तो वे अमृतसर चले जाएँगे। स्वामीजी ने भी उत्तर में कर्नल को कहला भेजा कि अन्तिम निर्णय अब कुछ दूर नहीं है। हम में से एक को पराजय स्वीकार करना होगा, यदि आप विचार समाप्त किए बिना ही चले जाएँगे तो मेरा और आपका सम्बन्ध समाप्त हो जाएगा।

**सम्बन्ध–विच्छेद की घोषणा**– कर्नल और मैडम उसी दिन मेरठ से चले गए और स्वामीजी ने उसी दिन एक साधारण सभा में, जो लाला रामशरणदास के गृह पर हुई थी, यह घोषणा कर दी कि मेरा और थियोसोफिकल सोसाइटी का कोई सम्बन्ध नहीं रहा है।

**पालिसी से घृणा**– स्वामीजी धर्मप्रचार के विषय में पालिसी से काम लेने के अत्यन्त विरुद्ध थे। एक दिन उन्होंने अत्यन्त शोक प्रकट करते हुए कहा था कि सत्यार्थप्रकाश में मृत पितरों का श्राद्ध और यज्ञ में माँस–विधान राजा जयकिशनदास ने लिखवा दिया क्योंकि उन्होंने ही उसे अपने व्यय से छपवाया था।

**पहले सत्यार्थप्रकाश का प्रामाण्य अस्वीकार**– हम समझते हैं कि यह बात स्वामीजी ने कभी न कही होगी। यदि उनका ऐसा विश्वास होता तो जिस विज्ञापन में उन्होंने यह घोषित किया कि यह बातें सत्यार्थप्रकाश में लेखकों के दोष से सन्निविष्ट हुईं उसमें वह स्पष्ट लिख देते कि वह राजा जयकिशनदास की अनुमति से सन्निविष्ट हुईं। स्वयम् राजा जयकिशनदास की यह सम्मति थी कि उन बातों को लेखकों ने लिख दिया। ठाकुर महावीरसिंह की भी यह निश्चित सम्मति थी कि उक्त बातों के लिए लेखक ही दोषी है। 'जहाँ–जहाँ श्राद्ध नहीं करना चाहिए' ऐसा होना चाहिए था वहाँ–वहाँ लेखकों ने ऐसा लिख दिया कि 'होना चाहिए'। ज्यों ही स्वामीजी को यह ज्ञात हुआ कि सत्यार्थप्रकाश में ऐसा छप गया है त्यों ही उन्होंने निम्नलिखित विज्ञापन निकाल दिया और सत्यार्थप्रकाश का प्रामाण्य अस्वीकार कर दिया। यह विज्ञापन ऋग्वेद भाष्य के प्रकट अङ्क के टाइटिल पेज पर संवत् १९३५ में छपा था। – *संग्रहकर्ता*

## विज्ञापनम्

"सबको विदित हो कि जो–जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं उनको मैं मानता हूँ, विरुद्ध बातों का नहीं। इससे जो–जो मेरे बनाए सत्यार्थप्रकाश व संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र व मनुस्मृति पुस्तकों के वचन बहुत से लिखे हैं वह उन–उन ग्रन्थों के मतों के जानने के लिए लिखे हैं। उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्रमाण मानता हूँ। जो–जो बात वेदार्थ से निकलती है, उन सबका प्रमाण करता हूँ, क्योंकि वेद ईश्वरवाक्य होने से मुझे सर्वथा मान्य हैं और जो–जो ब्रह्माजी से लेकर जैमिनि पर्यन्त महात्माओं के बनाए वेदार्थ–अनुकूल ग्रन्थ हैं उनको मैं भी साक्षी

के समान मानता हूँ और जो सत्यार्थप्रकाश के ४२ पृष्ठ और २६-२७ पंक्ति में 'पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करें' और 'जितने मर गए हों उनका तो अवश्य करे' तथा पृष्ठ ४७ पंक्ति २१ में 'मरे भए पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है' इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में छापा गया है सो लिखने और शोधने वालों की भूल से छप गया है। इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि 'जीवतों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादि का परम धर्म है' और 'जो-जो मर गए हों उनका नहीं करना', क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि के दिए हुए पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है, अन्य का नहीं। इस विषय में वेदमन्त्रादि का प्रमाण भूमिका के ११ अङ्क के पृष्ठ २२१ से लेकर १२ अङ्क के २६७ पृष्ठ तक छपा है वहाँ देख लेना।"

**पालसी से हानि**- धर्म सम्बन्धी विषयों में पालिसी से काम लेने की हानि का एक दृष्टान्त स्वामीजी ने यह दिया था कि हमने जयपुर में वैष्णव-मत के विरुद्ध शैव-मत के पक्ष का अवलम्बन करके पण्डित हरिश्चन्द्र की सहायता की थी जिससे हमारा अभिप्राय यह था कि महाराजा वैष्णव धर्म को त्याग कर शैव मत को स्वीकार कर लेंगे। तत्पश्चात् उन्हें वैदिक सिद्धान्तों की ओर झुकाना सहज होगा। महाराजा ने शैव मत को स्वीकार कर लिया, परन्तु हमारा उद्देश्य पूरा न हुआ। हम जब कभी जयपुर गए लोगों ने हमारे उपदेश को न सुना और कहा कि क्या यह वही रुद्राक्ष नहीं है जिनके पहनने से आपने हमें मोक्ष के मिलने का विश्वास दिलाया था? अब हम कैसे मानें कि पहला उपदेश असत्य था और आपका अब का उपदेश सत्य है। स्वामीजी इस पर कहते थे कि लोगों के इस कहने में कुछ युक्तियुक्तता अवश्य थी।

**पहला स्वीकार-पत्र**- स्वामीजी ने अपना पहला स्वीकार-पत्र १६ अगस्त सन् १८८० ई० तदनुसार श्रावण शुक्ला ११ संवत् १९३७ वि० (सोमवार) को मेरठ में लिखा था और १८ अगस्त सन् १८८० ई० को उसकी रजिस्ट्री हुई थी। उसके द्वारा जो परोपकारिणी सभा स्थापित की गई थी उसका प्रधान राय मूलराज एम०ए० को बनाया था और रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल, कर्नल आल्काट, मैडम ब्लैवेट्स्की आदि १४ सभासद् नियत किए गए थे।[६०५]

---

६०५- अपनी आयु के ५५ वर्ष बीत चुकने से कुछ पहले ही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपना जो यह स्वीकार पत्र लिखा वह 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ में पृष्ठ ५२८ से ५३२ तक छपा है। उसमें १८ सदस्यों के नाम लिखे हैं १४ के नहीं।
- *संग्रहकर्त्ता*

अध्याय- नौ

# दिवाकर का अस्ताञ्चल की ओर प्रस्थान

## [ आश्विन (कृष्णपक्ष) १९३७ वि० से कार्तिक (कृष्ण पक्ष) सं० १९४० वि० पर्यन्त ]

मेरठ में स्वामी दयानन्द सरस्वती का अपना पहला स्वीकार-पत्र १६ अगस्त, १८८० ई० को लिखकर उसकी १८ अगस्त, १८८० ई० को रजिस्ट्री कराना इस बात का द्योतक माना जा सकता है कि उन्हें अपने आसन्न देहपात का आभास हो गया था। इसकी सम्भावना भी उन्होंने एक प्रश्नकर्त्ता के एक प्रश्न के उत्तर में कुछ काल पूर्व ही व्यक्त कर दी थी। अतः इस अन्तिम अध्याय में हम उनकी मेरठ से लेकर आगे उनके अजमेर में हुए देहावसान पर्यन्त तक की गई यात्राओं का विवरण और उनके द्वारा किए गए कार्यों का विवरण ही प्रस्तुत करेंगे-

### मुजफ्फरनगर (१८८० ई०)

१६ सितम्बर सन् १८८० ई० अर्थात् भाद्रपद शुक्ला १३ संवत् १९३७ वि० (गुरुवार) को स्वामीजी मुजफ्फरनगर पधारे[६०६] और वहाँ के प्रसिद्ध रईस रायबहादुर लाला निहालचन्द के बँगले में ठहरे। उन दिनों पितृपक्ष का आरम्भ होने वाला था। नगर के कुछ पण्डित लाला निहालचन्द के पास गए और उनसे कहा कि स्वामीजी से हमारा शास्त्रार्थ करा दीजिए, परन्तु पण्डितगण लाला निहालचन्द के ही प्रश्नों का उत्तर न दे सके, अतः वे पण्डितों के प्रस्ताव से सहमत न हुए।

**मृतक श्राद्ध पर बातचीत**- लाला निहालचन्द ने स्वामीजी से मृतक-श्राद्ध के विषय में स्वयं ही जिज्ञासा की तो उन्होंने कहा कि मृतक-श्राद्ध निष्फल है, क्योंकि मृतक को अपने ही कर्मों का फल मिलता है, दूसरे के कर्मों का नहीं और श्राद्ध उसका कर्म नहीं है और यदि श्राद्ध का पुण्य उसे मिलता है तो पुत्र के पाप कर्म का, जो वह उसके नाम से करे वा जो अपव्यय उसके उपार्जित धन से करे उसका फल भी उसे ही मिलना चाहिए। इस पर लाला साहब ने कहा कि मृतक के पापों की दण्डव्यवस्था तो एक बार ही हो जाती है, उसमें घटत-बढ़त नहीं हो सकती, जैसा हम लोक में भी देखते हैं कि अपराधी को उसके अपराध का दण्ड एक बार ही मिलता है फिर वह न्यूनाधिक नहीं हो सकता; परन्तु श्राद्ध एक पुण्य कर्म है, उसका फल उसे अवश्य मिलना चाहिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यह ठीक है कि दण्ड न्यूनाधिक नहीं हो सकता, तब पुत्र के किए हुए श्राद्ध से उसका दण्ड तो कम होगा नहीं तो मृतक को उससे क्या लाभ होगा? यदि यह माना जाए कि मृतक को दूसरे के पुण्य कर्म का फल मिलता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि दूसरे के पाप कर्म का फल भी उसे मिलता है। फिर यह भी है कि जो लोग धन एकत्रित करके मर जाते हैं उनकी सन्तान बहुधा दुश्चरित्र हो जाती है, इसका फल भी उन्हें मिलना चाहिए, अतः यह सिद्धान्त बहुत बुरा प्रभाव उत्पन्न करने वाला है।

लाला निहालचन्द को कार्यवश जाना था, अतः आगे बातचीत न हो सकी। स्वामीजी न्याय की मूर्त्ति थे। अतः उन्होंने लाला साहब से स्वयं कह दिया कि अभी इस बात का पूरा निर्णय नहीं हुआ है। इससे उनके चित्त में स्वामीजी के लिए प्रेम द्विगुणित हो गया।

---

६०६- ऋषि दयानन्द ने भाद्र सुदी १२ संवत् १९३७ वि० (१५ सितम्बर १८८० ई०) के पत्र में लिखा है कि "हम कल ४ बजे की रेल में बैठकर मुजफ्फरनगर जाएँगे।" ऋषि का पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २३८। श्री पं० महेशप्रसादजी ने भी *'ऋषि दयानन्द कब और कहाँ?'* ग्रन्थ में १५ सितम्बर, १८८० ई०अर्थात् भाद्रपद शुक्ला १२ संवत् १९३७ वि० की तिथि ही लिखी है वह ठीक नहीं है। - *संग्रहकर्ता*

**स्त्री–शिक्षा पर आक्षेप**– एक और सज्जन के आक्षेप पर स्वामीजी ने कहा कि स्त्रियाँ लिखने–पढ़ने के कारण से कुटिला नहीं होंगी। यह तो प्रकृति और सङ्गति पर निर्भर है। कितने लिखे पढ़े मनुष्य भी चरित्रहीन होते हैं।

**सुख–दु:ख की मीमांसा**– एक और जिज्ञासु के प्रश्नों का उत्तर देते हुए स्वामीजी ने कहा कि सुख दो प्रकार का होता है एक अविद्याजन्य, दूसरा विद्याजन्य। विद्याजन्य सुख को ही सुख कहते हैं; अविद्याजन्य सुख ऐसा होता है जैसा पशु आदि को। अज्ञान की निवृत्ति बिना ज्ञान के नहीं होती।

**ज्ञान और अज्ञान**– जीव अल्पज्ञ है, अत: किन्हीं विषयों में उसे ज्ञान होता है और किन्हीं में अज्ञान। व्यापक वस्तु व्याप्य से भिन्न होती है, जैसे आकाश सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों में व्यापक है, परन्तु न वह द्रव्य आकाश है और न आकाश मूर्त्तिमान् द्रव्य है। जो सूक्ष्म होता है वह व्यापक और जो स्थूल होता वह व्याप्य होता है। परमात्मा सबसे सूक्ष्म है अत: सबमें व्यापक है। त्रसरेण  का साठवाँ भाग परमाणु है, परमात्मा उससे भी सूक्ष्म है, इसीलिए वह परमाणुओं का संयोग–वियोग कर सकता है।

**ढेले आए**– एक दिन स्वामीजी श्राद्ध–खण्डन पर व्याख्यान दे रहे थे कि कुछ दुष्टों ने उन पर ढेले फेंके, परन्तु स्वामीजी तनिक भी विचलित न हुए और व्याख्यान देते रहे।

**मुसलमान नवयुवक की अशिष्टता**– एक दिन एक मुसलमान नवयुवक ने आकर एक प्रश्न किया और साथ ही वह अण्ड–बण्ड बकने लगा। स्वामीजी ने उसके प्रश्न का शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, परन्तु वह फिर भी बकता ही रहा। स्वामीजी को इस पर भी उस पर तनिक क्रोध न आया।

**साँप मरवा दिया**– जिस गृह में स्वामीजी ठहरे हुए थे, उसमें एक दिन एक सर्प निकल आया, उन्होंने उसे विद्यार्थियों से मरवा डाला।

**स्वामीजी पर कृष्ण सर्प फेंका गया**– मैडम ब्लैवेट्सकी ने अपनी पुस्तक *'फ्रॉम दि केव्ज एण्ड जंगल्स ऑफ हिन्दुस्तान'* में लिखा है कि एक समय स्वामीजी बँगाल के एक छोटे से ग्राम में बलपूर्वक खण्डन कर रहे थे कि एक मतान्ध शैव ने एक कृष्ण सर्प उनकी विवस्त्र टाँगों पर फेंक कर कहा कि अब वासुकी देवता स्वयं ही प्रकट कर देगा कि हममें से कौन सच्चाई पर है। सर्प उन की टाँग से लिपट गया था। उन्होंने एक झटके से ही उसे अलग फेंककर अपनी एड़ी से उसके सिर को कुचल डाला और बड़ी शान्ति से उस शैव को उत्तर दिया कि अच्छा इसे ही निर्णय करने दो। तुम्हारा देवता तो बहुत शिथिल रहा, मैंने ही इस विवाद का निर्णय कर दिया और श्रोताओं को सम्बोधन करके कहा कि अब जाओ और सबसे कह दो कि कैसी आसानी से झूठे देवता नष्ट हो जाते हैं।

इस घटना में कितना तथ्य है, हम नहीं कह सकते। इसमें असम्भव बात तो कोई प्रतीत नहीं होती। यदि यह सत्य हो तो यह उस समय की हो सकती है जब स्वामीजी ने गङ्गोत्री से गङ्गासङ्गम तक विचरण किया था, परन्तु उन दिनों तो वह खण्डन–मण्डन करते सुने नहीं गए।[६०७]

मुजफ्फरनगर में स्वामीजी के लगभग दस व्याख्यान हुए।

---

६०७– इस घटना के इस ग्रन्थ– *'दयानन्द–दिवाकर'* के पृष्ठ–१७५ पर पाद–टिप्पणी क्र० ३५० द्वारा स्वामी दयानन्द के पूर्वोत्तर भारत व नेपाल–भ्रमण के दौरान दार्जिलिङ्ग की भुटिया बस्ती में घटित होने की सम्भावना व्यक्त की गई है। यह घटना मैडम ब्लेवट्स्की के भारत में १९८३ ई० में प्रकाशित हुए उनके ग्रन्थ 'From The Caves And Jungles of Hindostan' के पृष्ठ–२१ पर दी हुई है। – *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

## मेरठ (१८८० ई०)

मुजफ्फरनगर से स्वामीजी मेरठ पुनः आए और आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव[६०८] को सुशोभित किया। उत्सव के दोनों दिन अपने मनोहर व्याख्यानों से श्रोतृवर्ग को अलभ्य लाभ पहुँचाया।

**सम्बन्ध-विच्छेद का सूत्रपात**- स्वामीजी ने अपने एक व्याख्यान में आर्यसमाज और थियासोफिकल सोसाइटी के सम्बन्ध में भी कथन किया और कर्नल और मैडम के असद् व्यवहार की निन्दा की। उन्होंने आर्यपुरुषों को सावधान किया कि उक्त सोसाइटी के सभासद् न बनें। चलते समय कर्नल और मैडम ने यह वचन दिया था कि वे आगे को किसी आर्यसमाज के सभासद् को सोसाइटी का सदस्य बनने के लिए नहीं कहेंगे, परन्तु उन्होंने अपनी इस प्रतिज्ञा का पालन नहीं किया। स्वामीजी ने जो कुछ सोसाइटी के विषय में कहा उससे कर्नल और मैडम स्वामीजी से अप्रसन्न हो गए। इधर स्वामीजी भी उनसे असन्तुष्ट हो गए और इस प्रकार आर्यसमाज और थियासोफिकल सोसाइटी के सम्बन्ध-विच्छेद का सूत्रपात हो गया।

**जीवन की कुछ घटनाएँ**- मेरठ में अपने भक्तों से प्रेमालाप करते हुए स्वामीजी ने अपने जीवन की कुछ घटनाएँ भी सुनाई थीं। उन्होंने कहा कि एक स्थान पर मेरा व्याख्यान सुनकर कलेक्टर ने कहा था कि यदि सब लोग आपके कथन के अनुसार चलने लगें तो हमें भारत छोड़ना पड़ेगा। इसका उत्तर मैंने उन्हें यह दिया कि आप मेरा अभिप्राय नहीं समझे। मेरा तात्पर्य यह है कि मूर्ख और विद्वान् का मेल नहीं हो सकता। जब तक भारत के मनुष्य आपके समान सुशिक्षादि गुणों से अलंकृत न हो जाएँ तब तक परस्पर के मेल से सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता। आप इस समय आश्चर्य करते हैं कि मैं इतनी दूर तक वायु सेवन के लिए जाता हूँ, परन्तु अवधूत दशा में चालीस-चालीस मील चलना मेरे लिए कोई बात न थी। मैं एक बार गङ्गोत्री से चलकर गङ्गासागर तक और एक बार गङ्गोत्री से रामेश्वर तक गया था।[६०९] बद्रीनाथ में रहकर मैंने गायत्री का जपानुष्ठान किया था। रात्रि में जब तेल न रहता था तो मैं बाजार के दीपकों के प्रकाश में पढ़ा करता था। मैं लगातार कई दिन तक मध्याह्नः में तप्त-रेणु में पड़ा रहा हूँ और हिमाच्छादित पर्वतों में और गङ्गा तट पर नग्न और निराहार सोया हूँ।

**क्या तुमने सर्प देखा**- शिवलाल रस्तोगी स्वामीजी के बड़े भक्त थे। एक दिन वे उनके पास जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक सर्प मिला। जब वह श्रीसेवा में पहुँचे तो पहला प्रश्न स्वामीजी ने उनसे यही किया कि क्या मार्ग में तुमने सर्प देखा था?[६१०]

**छाता ले लिया होता**- जब वे चलने लगे तो स्वामीजी ने कहा छाता ले लिया होता वर्षा होने पर भीगने से तो बच जाते। उस समय शिवलाल को वर्षा के कोई चिह्नः दिखाई न देते थे, परन्तु मार्ग में इतनी वर्षा हुई कि घर पहुँचते-पहुँचते वे खूब भीग गए।[६१०,६११]

---

६०८- स्वामीजी ७ अक्टूबर को देहरादून पहुँचे थे। उनके अगले वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि वे सहारनपुर रेलवे स्टेशन पर कुछ समय ठहरे थे। अतः वे मेरठ से ६ अक्टूबर तद्नुसार आश्विन शुक्ला ३ को रवाना हुए होंगे। मेरठ आर्यसमाज का उत्सव ३ अक्टूबर, १८८० ई० से था। देखो ऋषि दयानन्द का पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २४२ *-संग्रहकर्ता*

६०९- अभी तक ऋषि दयानन्द के जितने भी जीवन-चरित्र लिखे गए हैं उनमें ऐसी किन्हीं यात्राओं का कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता है। मेरे द्वारा सम्पादित यह - *'दयानन्द-दिवाकर'* ही इसका प्रथम अपवाद है जिसमें सर्वप्रथम इन यात्राओं का विवरण भी उसके अध्याय- चार और छः में स्वामीजी द्वारा कलकत्ते में २२ से ३१ मार्च, १८७३ ई०के मध्य लिखाए गए आत्मचरित्र के आधार पर लिखा हुआ उपलब्ध है। - *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

६१०- हम यह पहले ही बता चुके हैं कि स्वामीजी एक योगसिद्ध पुरुष थे, अतः वे परोक्ष में घटित हुई वा भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास कर लेते थे।

६११- यह घटना *'दयानन्द-प्रकाश'* में लिखी है। लाला शिवलाल हमारे मोहल्ले के ही रहने वाले थे और हम उनसे खूब परिचित

## सहारनपुर (१८८० ई०)

मेरठ से देहरादून जाते हुए स्वामीजी कुछ काल के लिए सहारनपुर के स्टेशन पर पहुँचे। जब उनके आगमन का समाचार भक्तजन को ज्ञात हुआ तो वे स्टेशन पर ही श्रीसेवा में उपस्थित हुए।

**फलित ज्योतिष ढकोसला है**– उनमें ही एक ज्योतिषी भी थे। वे स्वामीजी से बोले कि मैं फलित ज्योतिष के अनुसार प्रश्नों के उत्तर देता हूँ और वे ठीक होते हैं। स्वामीजी ने उनसे कहा कि आपके कुछ उत्तर दैवयोग से ठीक हो जाते होंगे, यदि गणना से सच्चे होते तो उनमें कभी भूल नहीं होती क्योंकि गणित के नियम सब सत्य हैं।

**बालक–जन्म पर सूतक**– एक सज्जन ने प्रश्न किया कि जन्म के समय दस दिन का जो सूतक माना जाता है वह शास्त्रानुकूल है वा नहीं, तो स्वामीजी ने उत्तर दिया कि केवल बालक की माता को एक रात का सूतक होता है। सूतक का बखेड़ा वैसे ही खड़ा कर लिया है। लोग उसमें सन्ध्या–हवन आदि शुभ कर्म तक करना छोड़ देते हैं, परन्तु असत्य–भाषण आदि अशुभ कर्म करना कोई नहीं छोड़ता।

## देहरादून (१८८० ई०)

स्वामीजी ७ अक्टूबर सन् १८८० ई० तदनुसार आश्विन शुक्ला ४ संवत् १९३७ वि० (गुरुवार) को देहरादून पहुँचे। उनके पूर्व परिचित पण्डित कृपाराम ने उनकी सेवा शुश्रूषा में कोई बात न उठा रखी। स्वामीजी के आते ही एक विज्ञापन द्वारा जन साधारण को यह सूचना दे दी गई की स्वामीजी केवल वैदिक धर्म को मानते हैं और अन्य धर्मों में जो त्रुटियाँ हैं, उन्हें युक्तिपूर्वक सब को दर्शाते हैं। यदि किसी अन्य धर्मावलम्बी को उनसे शास्त्रार्थ करना अभीष्ट हो तो वह लिपिबद्ध शास्त्रार्थ कर ले, साथ ही शास्त्रार्थ के नियम भी विज्ञापन में लिख दिए गए।

**पौराणिकों की छोड़–छाड़**– शास्त्रार्थ के लिए प्रथम पौराणिकों ने छेड़–छाड़ की और यह प्रसिद्ध कर दिया कि आज दो बजे पण्डित लोग मिशन स्कूल में स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए उद्यत हैं। इसका उत्तर स्वामीजी ने उनके पास भेज दिया कि मैं अभ्यागत हूँ, आपको मेरे स्थान पर आकर शास्त्रार्थ करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। मैं इस बात का उत्तरदायित्व लेता हूँ कि कोई उपद्रव आदि न होगा और यदि आप मुझे ही अपने स्थान पर बुलाना चाहते हैं तो साहब मैजिस्ट्रेट की ओर से प्रबन्ध होना चाहिए, क्योंकि जहाँ कहीं भी मैं पौराणिकों के स्थान पर गया हूँ, वहाँ उपद्रव हुए बिना नहीं रहा। पौराणिकों की ओर से इसका उत्तर नहीं आया।

**मुसलमान भी आए**– इसके पश्चात् मुसलमानों की ओर से एक पत्र आया जिसमें लिखा था कि हम वेद पर आक्षेप करेंगे और जब तक आपके उत्तरों से हमारा सन्तोष न हो जाएगा तब तक हम किसी की न सुनेंगे। स्वामीजी ने इसके उत्तर में कहा कि आप वेद पर अवश्य आक्षेप करें, मैं उत्तर दूँगा, फिर मैं कुरान पर आक्षेप करूँगा आप उत्तर दें। इस पर मुसलमान भी चुप हो गए।

**पादरी भी राजी नहीं हुए** – एक दिन एक पादरी, जिनका नाम गिलबर्ट और उपनाम मेकमासर था, कई ईसाइयों के साथ आए और बोले कि आपके पास वेद के ईश्वरोक्त होने में क्या युक्ति है? स्वामीजी उनके ढङ्ग से जान गए कि वास्तव में वह शास्त्रार्थी नहीं है केवल दिखावे के लिए प्रश्न करते हैं, अत: उन्होंने पादरी साहब से यह प्रश्न कर दिया कि आपके पास बाइबल के ईश्वरोक्त होने में क्या युक्ति है? इस पर पादरी साहब बोले कि प्रथम प्रश्न तो मेरा है। स्वामीजी ने कहा कि मुझे भी तो प्रथम उत्तर लेने का अधिकार है। इस पर जब पादरी साहब उठकर चलने लगे तो स्वामीजी ने कहा आप भागते क्यों

---

थे, परन्तु उन्होंने इस घटना का हमसे कभी उल्लेख नहीं किया। सम्भव है, स्वामी सत्यानन्दजी ने उनसे ही वा अन्य किसी से सुनकर यह बात लिखी हो। – *संग्रहकर्ता*

है, पहले आप ही वेद पर एक, दो, तीन आक्षेप कर लीजिए मैं उत्तर दूँगा, फिर मैं बाइबिल पर आक्षेप करूँगा जिनके उत्तर आपको देने होंगे, परन्तु पादरी साहब जब फिर चलने को हुए तो स्वामीजी ने कहा कि आप वेद पर दस तक आक्षेप कर लीजिए, परन्तु मुझे भी तो बाइबिल पर आक्षेप करने की आज्ञा दीजिए, परन्तु पादरी साहब बोले कि जब तक आप हमारे प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर न देंगे और हमसे अपने उत्तरों की सत्यता स्वीकार न करा लेंगे हम आपको बाइबिल पर आक्षेप न करने देंगे और इतना कहकर वे सभास्थल से चले गए।

**महात्मा अलखधारी पूर्व मुहम्मद उमर**– मुंशी मुहम्मद उमर को स्वामीजी ने पहले आगमन के अवसर पर शुद्ध करके उनका नाम अलखधारी रखा था। एक दिन मुसलमान दलबद्ध होकर उनके पास पहुँचे और उनसे कहा कि तेरी मुक्ति असम्भव है और तू कठोर यातना के योग्य है। महात्मा अलखधारी ने कहा कि आपका खुदा मुसलमानों का पालन करता है वा मनुष्यमात्र का। यदि पहली बात ठीक है तो आपको मेरे उद्धार की विशेष चिन्ता करनी व्यर्थ है और यदि दूसरी ठीक है तो फिर मुझमें और आपमें कोई भेद नहीं। उत्तम तो यही है कि आप भी पवित्र वेदों के विश्वासी बनें और सत्य धर्म को ही सत्य जानें अन्यथा छुटकारा कठिन है। ऐसा युक्तियुक्त उत्तर को पाकर इस्लामी दल वापस चला गया।

देहरादून में स्वामीजी २० नवम्बर सन् १८८० ई० तक रहे और धर्मपिपासुओं की पिपासा शान्त करते रहे। देहरादून से वे मेरठ चले गए। देहरादून में स्वामीजी का एक फोटो भी लिया गया था।

## मेरठ (१८८० ई०)

मेरठ में स्वमीजी की उपस्थिति केवल २१ से २६ नवम्बर, १८८० ई तक पाँच दिन ही रही। इस अवधि में यहाँ उनका कोई व्याख्यान नहीं हुआ।

## आगरा (१८८०-८१ ई०)

स्वामीजी को आगरे के पण्डित लक्ष्मणप्रसाद महोपाध्याय और अन्य कतिपय सज्जनों ने निमन्त्रित किया था और उन्होंने उनके निवास के लिए नगर से बाहर एक स्थान भी निश्चित कर दिया था, परन्तु ये लोग किसी कारण से रेल्वे स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए न पहुँच सके। मुंशी गिरधरलाल भार्गव आगरे के सुप्रसिद्ध वकील को स्वामीजी के आगमन की किसी प्रकार सूचना मिल गई थी और वे स्टेशन पर चले गये अत: वे स्वामीजी को अपने गृह पर लिवा लाए। प्रात:काल पण्डित लक्ष्मणप्रसाद आदि भी श्रीसेवा में उपस्थित हुए और उनके स्वागतार्थ रेल पर न पहुँच पाने के लिए क्षमा-प्रार्थना की और उनसे पूर्व निश्चित स्थान पर ही पधारने के लिए निवेदन किया, परन्तु उन्होंने मुंशी गिरधरलाल से कहा कि आपका मकान हमें रुचिकर है, यदि आपको कुछ कष्ट न हो तो हम यहाँ रहना अधिक पसन्द करते हैं। मुंशी गिरधरलाल ने इसे अपना सौभाग्य समझा जो स्वामीजी ने उनके गृह को अपने चरण कमलों से सुशोभित करने की इच्छा प्रकट की और स्वामीजी से आतिथ्य स्वीकार करने की प्रार्थना की, ऐसी ही प्रार्थना सेठ सूनीलालजी ने भी की, परन्तु स्वामीजी ने कहा कि पाचक और कहार हमारे साथ हैं, भोजन सामग्री का भी प्रबन्ध है और हमें अधिक दिन ठहरना है, अत: हम किसी एक व्यक्ति पर भार डालना नहीं चाहते, यदि किसी वस्तु की आवश्यकता होगी तो कह दिया जाएगा। स्वामीजी के व्याख्यानों का मुफीद-ए-आम-स्कूल पीपल मण्डी में प्रबन्ध किया गया।

**पहली व्याख्यानमाला** – २७ नवम्बर १८८० ई० से व्याख्यान होने आरम्भ हुए और लगातार २५ व्याख्यान हुए।

हम नहीं कह सकते इन व्याख्यानों में किन-किन अपूर्व रहस्यों का उद्‌घाटन किया गया होगा और क्या-क्या अमूल्य उपदेश दिए गए होंगे। यदि इनका विवरण उसी समय कोई लिख लेता जैसा कि पूना के व्याख्यानों का लिख लिया गया था तो उससे लोगों को कितना लाभ होता?

**दस दिन में शङ्का मिटा लो**– व्याख्यानों की समाप्ति पर स्वामीजी ने घोषित कर दिया कि जिस किसी को मुझसे शास्त्रार्थ

करने की इच्छा हो वा मेरे कथन में कोई शङ्का हो, वा किसी को मुझसे कुछ प्रष्टव्य हो वह दस दिनों के भीतर पूछ सकता है। शास्त्रार्थ करने की डीङ्ग तो कई पण्डित मारते रहे, परन्तु शास्त्रार्थ करने कोई न आया, घर बैठे ही दून की लेते रहे। हाँ, शङ्का-समाधान करने बहुत से लोग आए, जिनमें कुछ तो सच्चे जिज्ञासु भाव से और कुछ यों ही अपना और स्वामीजी का समय नष्ट करने के लिए आए, परन्तु स्वामीजी ने उत्तर सबके प्रश्नों के ही दिए और अनेक लोगों का संशयोच्छेदन किया।

**आर्यसमाज की स्थापना**- इन सारगर्भित उपदेशों का फल यह हुआ कि पौष कृष्णा ९ संवत् १९३७ वि० अर्थात् २६ दिसम्बर सन् १८८० ई० (रविवार) को आगरा नगर में आर्यसमाज स्थापित हो गया।

**तीन बालकों का यज्ञोपवीत**- ९ दिसम्बर, १८८० ई० को स्वामीजी ने वजीरपुरे के ठाकुर श्यामलाल सिंह के गृह पर पधारकर उनके तीन पुत्रों का विधिवत् उपनयन संस्कार कराया। इस संस्कार को देखने एक यूरोपियन महिला भी आई थी जो सम्भवत: रोमन-कैथोलिक मिशनरी थी।

**गिरजा-दर्शन और बिशप से वार्त्तालाप**- आगरे में रोमन-कैथोलिक ईसाइयों का बड़ा भारी गिरजा है जिसका नाम सेंटपीटर्स चर्च है। वह भारतवर्ष के गिरजाओं में दर्शनीय समझा जाता है और वहाँ बिशप (लाट पादरी) भी रहता है। बिशप साहब ने स्वामीजी के पास एक मनुष्य भेजकर उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की तो स्वामीजी १२ दिसम्बर, १८८० ई० को कतिपय सुप्रतिष्ठित सज्जनों के साथ उनसे मिलने गए। बिशप साहब स्वामीजी से प्रेम और सम्मान प्रदर्शन पूर्वक मिले और बहुत देर तक धर्मविषय पर बातचीत करते रहे। बिशप महोदय से स्वामीजी ने कहा कि यदि हम और आप तथा अन्य धर्मों के बुद्धिमान् नेता केवल उन बातों का प्रचार करें जिन्हें सब मानते हैं तो एकता स्थापित हो सकती है और फिर मुकाबले पर नास्तिक ही रह जाएँगे। बिशप साहब ने कहा कि यह दुष्कर है, मुसलमान और ईसाई माँस खाना कभी न छोड़ेंगे, फिर कहा कि जिस प्रकार राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया बिना अपने प्रतिनिधि वायसराय के भारतवर्ष का शासन नहीं कर सकती, उसी प्रकार परमेश्वर भी बिना प्रभु ईसामसीह के मनुष्यों के धार्मिक शासन और मुक्ति का प्रबन्ध नहीं कर सकता। इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि जो उदाहरण आपने दिया है वह ठीक नहीं है, महारानी विक्टोरिया एकदेशी और अल्पज्ञ हैं, उनकी ईश्वर से क्या तुलना हो सकती है, परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्व-शक्तिमान् सत्ता है वह किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं रखता। यदि यह भी माना जावे कि ईसा एक महात्मा पुरुष थे तो भी यह नहीं हो सकता कि परमेश्वर उनकी सिफारिश से अन्याय करे और पापी को पाप का फल न दे, वह न्यायकारी है जो जैसा कर्म करेगा उसे वैसा फल अवश्य देगा।

बिशप साहब के प्रश्न करने पर स्वामीजी ने कहा कि परमेश्वर ने अपने अनन्त ज्ञान से सृष्टि के आदि में अपने अनन्त ज्ञान से चार ऋषियों द्वारा वेदों के रूप में अपना ज्ञान दिया। बिशप साहब ने पूछा उनके प्रतिनिधि अब कौन हैं? स्वामीजी ने कहा कि ब्राह्मण, उपनिषद्, षड्दर्शन के कर्त्ता तथा लाखों ऋषि-मुनि उनके प्रतिनिधि हैं, परन्तु आप तो बतलाइए कि ईसा मसीह का प्रतिनिधि कौन है, तब बिशप साहब ने कहा कि पोप पृथ्वी पर परमेश्वर का प्रतिनिधि है, जो भूल वा अपराध हम लोगों से होते हैं वे उनका संशोधन कर देते हैं। इस पर स्वामीजी ने कहा कि जो भूल वा अपराध पोप से होता है उसका संशोधन कौन करता है। इसका कोई सन्तोषप्रद उत्तर बिशप महोदय न दे सके। बिशप साहब ने वेदों के विषय में भी कुछ पूछा था जिसका युक्तियुक्त उत्तर स्वामीजी ने दे दिया था।

**गिरजा बिना देखे वापस**- बिशप महोदय से अनुमति लेकर स्वामीजी गिरजा देखने गए। वहाँ जो मनुष्य नियत था उसने कहा कि गिरजा के भीतर आप पगड़ी उतार कर जा सकते हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हमारी रीति के अनुसार पगड़ी पहनना प्रतिष्ठा सूचक है, तुम कहो तो हम जूता उतार सकते हैं। उस मनुष्य ने कहा कि आपको पगड़ी और जूता दोनों उतारने चाहिए। इसे स्वामीजी ने स्वीकार नहीं किया और वह बरामदे में से ही गिरजा के भीतर रखी हुई मूर्त्तियों

को देखकर चले आए।

**मुसलमान कोतवाल से धर्मालाप** – एक दिन मौलवी तुफैलअहमद ने, जो नगर के कोतवाल थे, पुनर्जन्म पर यह आक्षेप किया कि इस सिद्धान्त से ईश्वर पर कई दोष आते हैं। परमेश्वर अन्यायकारी नहीं है कि जो जीवों को बार-बार जन्म धारण कराकर उनसे ऐसे पाप करावे कि एक जन्म में जो एक मनुष्य की पुत्री है वही दूसरे जन्म में उसकी स्त्री बने। इसका उत्तर स्वामीजी ने यह दिया कि पिता और पुत्री का सम्बन्ध देह का है, जीव का नहीं, जीवों का आपस में कोई सम्बन्ध (नातेदारी) नहीं है। इस पर मौलवी साहब आगे और कुछ न बोल सके।

**अग्नि शब्द के अर्थ परमेश्वर**– एक दिन एक पादरी स्वामीजी के पास आए और बातों-बातों में यह भी कहा कि आपने अपने वेद-भाष्य में अग्नि का अर्थ परमेश्वर किया है, वह नहीं बन सकता। स्वामीजी ने अग्नि शब्द का व्याकरण से अर्थ करके उसे समझा दिया कि अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति से जिन-जिन गुणों का वह वाचक है, वे गुण परमेश्वर में हैं, अत: अग्नि परमेश्वर का वाचक है।[६१२] इस पर पादरी ने कोई आपत्ति न की। उन्होंने स्वामीजी से विदा होते समय कहा कि यदि आप कभी पहाड़ पर आवें तो मैं आपसे बहुत-सी बातें पूछना चाहता हूँ। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं पहाड़ पर विश्राम के लिए तो नहीं, प्रत्युत धार्मिक कार्य के लिए ही जा सकता हूँ। पादरी सम्भवत: मंसूरी वा नैनीताल का रहने वाला था।

**दूसरी व्याख्यानमाला**– २३ जनवरी सन् १८८१ ई० से स्वामीजी के व्याख्यानों का दूसरा प्रवाह चला जो आगे २९ जनवरी तक चलता रहा। इसमें उनके सात व्याख्यान हुए। इसके पश्चात् उनके प्रति रविवार को आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्सङ्ग में व्याख्यान होते रहे। एक व्याख्यान २७ फरवरी को और एक ६ मार्च, १८८१ ई० को हुआ था।

होली (१५ मार्च, १८८१ ई०) के दिनों में होली के हुल्लड़ के कारण एक वा दो व्याख्यान मुंशी गिरधरलाल के गृह पर भी हुए थे।

**मुंशी इन्द्रमणि से बातचीत**– इन्हीं दिनों पाठकों के पूर्वपरिचित मुंशी इन्द्रमणि मुरादाबादी आगरा आकर स्वामीजी से मिले और उन्होंने जीव के मुक्ति से वापस आने पर आपत्ति की। स्वामीजी ने इसके समाधान में कहा कि मुक्ति का नित्य होना असम्भव है और जीव का परमेश्वर में मिल जाना भी असम्भव है; जीव अल्पज्ञ है और परमेश्वर सर्वज्ञ। दोनों के गुण पृथक्-पृथक् हैं, अत: दोनों एक दूसरे में मिलकर एक नहीं हो सकते।

**दो काल सन्ध्या**– सेंट जॉन्स कॉलेज के पण्डित कालीदासजी और उनके मित्र पण्डित छेतूजी भी स्वामीजी से मिलने आया करते थे। ये स्वामीजी के पूर्वपरिचित थे। जब स्वामीजी शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् आगरे में सेठ गुल्लामल के बाग में ठहरे थे तो ये उनसे मिलने आया करते थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि सन्ध्या तो तीन काल की है, आप दो काल की कैसे बताते हैं? तब स्वामीजी ने उन्हें उत्तर दिया कि प्रथम तो किसी प्रमाणिक ग्रन्थ में त्रिकाल सन्ध्या का विधान नहीं पाया जाता; दूसरे, सन्ध्या के अर्थों से भी सिद्ध होता है कि दो ही काल करनी चाहिए। यदि मध्याह्न: की सन्ध्या भी मानी जावे तो फिर अर्द्ध रात्रि की चौथी भी माननी चाहिए और फिर प्रहर-प्रहर, घड़ी-घड़ी की भी माननी भी उचित होगी; इस प्रकार तो कोई समय रहता ही नहीं है, तो क्या हर समय सन्ध्या ही करते रहना चाहिए, सन्ध्या दो ही समय की है और यही ऋषि-मुनियों का सिद्धान्त है। एक दिन पण्डित कालीदास ने स्वामीजी से वेदान्त विषय में भी बातचीत की थी। स्वामीजी ने उन्हें एक प्रति संस्कारविधि: की उपहार में दी थी।

**राधास्वामी साधु**– एक दिन राधास्वामी मत के कुछ अनपढ़ साधु (स्त्री और पुरुष) जो पंजाब के रहने वाले थे स्वामीजी के पास आए और कहा कि गुरु की सहायता और उपदेश के बिना कोई मनुष्य संसार-सागर से पार नहीं हो सकता।

---

६१२- श्री स्वामी शङ्कराचार्य ने भी वेदान्तभाष्य १/२/२९ में निरुक्त के प्रमाण से अग्निशब्द का अर्थ परमात्मा किया है- *'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मा विषय एव भविष्यति।' - संग्रहकर्ता*

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि गुरु की शिक्षा तो आवश्यक है, परन्तु जब तक शिष्य अपना आचरण ठीक न करे तब तक कुछ नहीं हो सकता। पुन: साधुओं ने प्रश्न किया कि ईश्वर के दर्शन किस प्रकार हो सकते हैं? तब स्वामीजी ने उत्तर दिया कि इस प्रकार नहीं हो सकते जिस प्रकार तुम लोग मूर्खता से करना चाहते हो। साधु फिर बोले कि ईश्वर तो भक्त के अधीन है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि ईश्वर अधीन किसी के नहीं। उसकी भक्ति तो अवश्य करनी चाहिए, परन्तु पहले यह तो समझ लो कि भक्ति है क्या वस्तु? जिस प्रकार से तुम लोग भक्ति करना चाहते हो, वह तो साम्प्रदायिक है, ऐसे-ऐसे तो बहुत से सम्प्रदाय लोगों को बिगाड़ने वाले हुए हैं, इनसे इस लोक वा परलोक का कोई लाभ नहीं है। बिना पुरुषार्थ किए कोई वस्तु अपने आप प्राप्त नहीं हो सकती। मूर्त्तिपूजा का उल्लेख करके साधुओं ने कहा हम और हिन्दुओं से अच्छे हैं। इस पर स्वामीजी ने कहा कि नहीं, हिन्दू तो राम और कृष्ण को ईश्वर का अवतार ही मानते हैं, तुम तो गुरु को भी परमेश्वर से बड़ा मानते हो।[६१३] साधुओं ने कहा कि वेद के पढ़ने में बहुत समय नष्ट होता है, परन्तु उससे भक्ति की उपलब्धि नहीं होती। स्वामीजी ने कहा कि जो कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता और भिक्षा माँगकर ही अपना पेट पालना चाहता है, उसके लिए वेद का पढ़ना कठिन है, फिर उसे भक्ति की प्राप्ति ही कैसे हो सकती है?

**मकान से निकाल देने का जनरव**- एक दिन स्वामीजी से किसी ने आकर कह दिया कि नगर में ऐसी चर्चा है कि यत: आप सब मतों का खण्डन करते हैं, अत: मैजिस्ट्रेट जिला ने आपको मुंशी गिरधरलाल के मकान से निकल जाने की आज्ञा दे दी है। स्वामीजी ने यह बात सुनकर मुंशी गिरधरलाल से कहा कि यदि आपको कुछ भय हो तो हम अन्यत्र रहने का प्रबन्ध कर लें। मुंशीजी ने कहा कि प्रथम तो मैं किसी का नौकर नहीं, दूसरे आप कोई बात कानून वा सरकार के विरुद्ध नहीं कहते, अत: मुझे कोई भय नहीं है। यह जनरव सर्वथा निराधार था और ऐसा अनुमान है कि सेठ लोगों वा पादरियों ने फैलाया होगा, क्योंकि इसके थोड़े ही दिनों के पश्चात् सेठ लक्ष्मणदास मथुरा वाले के गुमाश्ते नारायणदास ने आकर मुंशी गिरधरलाल से कहा कि आपने दयानन्द को अपने मकान पर ठहरा रखा है और ये हमारे मत की निन्दा करते हैं आप इन्हें अपने मकान से निकाल दीजिए। नारायणदास को इस बात के कहने का साहस इसलिए हुआ कि सेठ लक्ष्मणदास मुंशीजी के मुवक्किल थे। नारायणदास ने समझा था कि मुंशीजी इस भय से कि कहीं सेठजी रुष्ट होकर अपने मुकद्दमों में उन्हें अपना वकील करना छोड़ दें और उन्हें आर्थिक क्षति पहुँचे, स्वामीजी को अपने मकान में न रहने देंगे। परन्तु नारायणदास की यह दुराशा पूरी न हुई। उन्होंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि यदि किसी भले मानस के यहाँ कोई निम्न कोटि का मनुष्य भी ठहरा हुआ हो तो वह उससे ऐसा अशिष्ट व्यवहार नहीं कर सकता और स्वामीजी तो एक महात्मा हैं, मैं ऐसा नीच कर्म कभी नहीं कर सकता।

**स्वामीजी मथुरा चलकर शास्त्रार्थ करें**- नारायणदास ने इस घटना के पश्चात् मुंशी गिरधरलाल से यह भी कहा था कि स्वामीजी को मथुरा चलकर शास्त्रार्थ करना चाहिए। इस पर मुंशीजी ने उत्तर दिया था कि वहाँ मध्यस्थ कौन होगा और प्रबन्ध कौन करेगा? अच्छा तो यह है कि जो कोई शास्त्रार्थ करना चाहे वह अपना वक्तव्य लिखकर स्वामीजी के पास भेज दे और स्वामीजी अपना लिखित उत्तर उसके पास भेज दें और इसी प्रकार लिखित उत्तर-प्रत्युत्तर होते रहें। अन्त में सब शास्त्रार्थ मुद्रित करा दिया जाए ताकि पण्डित लोग स्वयम् निर्णय कर लें कि किसका कथन सत्य और किस का असत्य है।

**कलकत्ते की सभा**- इसके पश्चात् नारायणदास ने कलकत्ते जाकर एक सभा एकत्रित की जिसमें बहुत से पौराणिक पण्डित इकट्ठे हुए और उन्होंने एकतरफा व्यवस्था दे दी कि जो कुछ स्वामीजी कहते हैं वह वेदानुमोदित नहीं है। इस सभा का वृत्त

---

६१३- यह वास्तव में ठीक है, जो लोग गुरुडम के गर्त्त में पतित हो जाते हैं, उनकी विवेकशक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। राधास्वामी मत के अनुयायी एक एम०ए०, एल-एल० बी० उपाधिधारी को हमने अपने कानों से यह कहते सुना है कि हमारा गुरु हमारा परमेश्वर है। (Our guru is our god) - *संग्रहकर्ता*

निम्न प्रकार है–

## कलकत्ते की सभा

मथुरा के सेठ नारायणदास ने विशेष उद्योग करके कलकत्ते के सेनेट हॉल में २२-१-१८८१ ई० को '*आर्य-सन्मार्ग-दर्शिनी*' सभा के नाम से एक सभा बुलाई थी जिसमें भाटापाड़ा, नवद्वीप, काशी प्रभृति के पण्डितों को निमन्त्रित किया था। कहते हैं कि उसमें उन्होंने १०,००० रुपया व्यय किया था और समागत पण्डितों को विदायगी भी दी थी। सेठ लक्ष्मणदास इस पर उनसे कुछ अप्रसन्न भी हुए थे कि इतना रुपया व्यर्थ में व्यय किया। इससे दोनों के मनों में कुछ अन्तर पड़ गया था और नारायणदास ने रङ्गजी के मन्दिर से अपना सम्बन्ध त्याग दिया था।

इस सभा के बुलाने का कारण सम्भवत: यह था कि जब स्वामीजी आगरे में थे तो कुम्भकोणम् निवासी पण्डित रामसूबा शास्त्री उन्हीं दिनों वृन्दावन ठहरे हुए थे और स्वामीजी के विरुद्ध व्याख्यान दे रहे थे। नारायणदास ने आगरे जाकर स्वामीजी से कहा था कि वृन्दावन चलकर रामसूबा शास्त्री से शास्त्रार्थ कीजिए। स्वामीजी ने वृन्दावन जाकर शास्त्रार्थ करने में असम्मति प्रकट की। नारायणदास ने इसी बात से असन्तुष्ट होकर उक्त सभा द्वारा स्वामीजी के पक्ष को असिद्ध करना चाहा था।

पण्डित रामसूबा ने एक पुस्तक '*दयानन्दकण्टकोद्धारक*' नाम की स्वामीजी के विरुद्ध लिखी थी। उस समय वह पाण्डुलिपि के रूप में ही थी, मुद्रित नहीं हुई थी। उक्त सभा में वही पुस्तक सब को पढ़कर सुनाई गई थी और सब पण्डितों ने, जिनकी संख्या ३०० बताई जाती है, एक मुख होकर उसे स्वीकार किया था।

इस सभा का वृत्तान्त २७-१-१८८१ ई० के '*इण्डियन मिरर*' कलकत्ते में प्रकाशित हुआ था।

इस सभा के नेता पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न थे, जो कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के प्रिंसिपल और बङ्गाल के प्रमुख पण्डितों में थे। सभा में जिन प्रश्नों का उत्तर माँगा गया था और उनके जो उत्तर दिए गए थे वे निम्न प्रकार थे–

*प्रश्न* १– ब्राह्मण भाग और संहिता भाग एक जैसे प्रामाणिक हैं वा नहीं?

उत्तर– एक जैसे प्रामाणिक हैं।

*प्रश्न* २– विष्णु, शिव, दुर्गा आदि की मूर्त्ति की पूजा, श्राद्ध, तीर्थयात्रा और जातकर्म आदि संस्कार शास्त्रोक्त हैं वा नहीं?

उत्तर– हैं।

प्रश्न ३– '*अग्निमीडे पुरोहितम्*' आदि वेदमन्त्रों में '*अग्नि*' शब्द ईश्वर के लिए है अथवा आग के लिए?

उत्तर– आग के लिए।

*प्रश्न* ४– यज्ञ जल-वायु की शुद्धि के लिए किए जाते हैं अथवा स्वर्ग-प्राप्ति के लिए?

उत्तर– स्वर्ग-प्राप्ति के लिए।

आर्यसमाज की ओर से इन सब प्रश्नों का उत्तर युक्ति और प्रमाण द्वारा दिया गया था जो पण्डित लेखराम कृत जीवन-चरित्र में सविस्तार छपा है।

**गोकरुणानिधि की रचना**– स्वामीजी ने आगरे में '*गोकरुणानिधि*' नामक पुस्तक रची थी और वह छपकर आगरे में ही स्वामीजी के पास आ गई थी, रामरतन नामक एक पुजारी ने उद्योग करके उसकी ६७ रुपये की प्रतियाँ बेंची थीं। इस पुस्तक की रचना (प्रकाशन) के सम्बन्ध में स्वामीजी ने उसमें निम्न श्लोक लिखा है–

*मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे सहस्यस्यासिते दले।*
*दशम्यां गुरुवारेऽलंकृतोऽयं कामधेनुप:।।*

अर्थात् संवत् १९३७ फाल्गुन वदि १० गुरुवार (= २४ फरवरी, १८८१ ई०) के दिन यह ग्रन्थ तैयार (मुद्रित) हुआ।

एक बार स्वामीजी से प्रार्थना की गई कि एक व्याख्यान स्त्रियों में देने की कृपा कीजिए। पहले तो उन्होंने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली, परन्तु पीछे से कुछ सोचकर उन्होंने कहा कि हम स्त्रियों में व्याख्यान देना पसन्द नहीं करते। उनके पति आदि हमारा व्याख्यान सुन जावें और उन्हें जाकर बतला देवें।

**मन्दिर के ट्रस्टी क्यों नहीं बन जाते**– एक मन्दिर के स्वामी ने मुंशी गिरधरलाल को उसकी सम्पत्ति का जो उसने मन्दिर को पुण्य करके दी थी, ट्रस्टी बनाना चाहा, परन्तु उन्होंने अस्वीकार किया। जब स्वामीजी से इसका जिक्र हुआ तो उन्होंने मुंशीजी से कहा कि आपने बुरा किया, यदि आप ट्रस्टी बन जाते तो उस सम्पत्ति से बहुत कुछ धर्मकार्य हो सकता था। मन्दिराध्यक्ष ने मुंशीजी की अस्वीकृति होते हुए भी उन्हें ट्रस्टी बना ही दिया।

**भविष्यवाणी पूरी हुई**– जब पण्डित लेखरामजी स्वामीजी की जीवनी सम्बन्धी घटनाओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान करते हुए मुंशी गिरधरलाल के पास पहुँचे तो उन्होंने कहा था कि स्वामीजी का यह कथन सत्य ही सिद्ध हुआ क्योंकि ट्रस्टियों ने मन्दिर की सम्पत्ति की आय से एक स्कूल स्थापित कर दिया, यदि वह ट्रस्टी न होते तो सब आय पण्डे पुजारियों के ही उदर में जाती।

**गो–रक्षिणी–सभा**– एक दिन स्वामीजी का व्याख्यान मुंशी गिरधरलाल के गृह पर गोरक्षा पर हुआ था। व्याख्यान के अन्त में '*गो–कृष्यादि–रक्षिणी सभा*' भी स्थापित हुई थी जिसके मन्त्री मुंशी गिरधरलाल वकील निर्वाचित हुए थे। उसी समय १,१०० रु० उक्त सभा के लिए चन्दा एकत्रित हो गया था। चन्दा देने वालों में कई मुसलमान भी थे। इस व्याख्यान में स्वामीजी ने गो–वध की हानियाँ दर्शाई थीं। गो–वध शब्द स्वामीजी के मुख से सुनकर एक ब्राह्मण बहुत बिगड़ा और कुवचन कहने लगा। जब उससे पूछा गया कि इतना क्यों बिगड़ते हो तो उसने कहा कि आपने गो–वध शब्द क्यों बोला। महाराज ने कहा ताकि लोग गोहत्या की हानियाँ जान कर गो–रक्षा करने लगें और गोहत्या छोड़ दें। वह फिर भी बकता ही रहा और सभा से चला गया।

**दयानन्द शास्त्रार्थ में हार गया**– एक दिन स्वामीजी तकिये के सहारे बैठे हुए दर्शकों से सम्भाषण कर रहे थे कि इतने में अछनेरा निवासी पण्डित रघुनाथ आए और स्वामीजी से अड़कर बैठ गए। स्वामीजी के दोनों ओर सामने दर्शक बैठे हुए थे। लोगों को पण्डित रघुनाथ का यह अशिष्ट व्यवहार बुरा लगा और उन्होंने उसका प्रतिवाद किया तो श्रीमान् महोदय ने मुखारविन्द से यों पुष्पवृष्टि की कि क्या हम स्वामीजी की अपेक्षा कम विद्वान् हैं? लोगों ने इनके इस प्रकार के वचन सुनकर समझ लिया कि ये उन्मत्तप्राय और उद्धत व्यक्ति हैं, उनके मुँह न लगना चाहिए। अत: वे चुप हो रहे। थोड़ी देर के पश्चात् पण्डितजी नेस्वामीजी से कहा कि मैं आपसे शास्त्रार्थ करने आया हूँ।

**अपनी स्त्री से कह दो दयानन्द हार गया**– स्वामीजी विनोदप्रिय तो थे ही, उन्होंने हँसते–हँसते उत्तर दिया कि शास्त्रार्थ करके क्या कीजिएगा, अपनी स्त्री से जाकर कह दीजिए कि मैं दयानन्द को परास्त करके आया हूँ। इतनी बात सुनकर रघुनाथप्रसाद वहाँ से उठकर चले गए और एक वैश्य से उनकी घोड़ा–गाड़ी माँगी और अपने गले में फूलों की माला डालकर गाड़ी पर सवार होकर नगर भर के बाजारों में कहते फिरे कि मैं दयानन्द को परास्त करके आया हूँ।

**तुम नास्तिक से बातचीत कर रहे हो**– एक दिन (१६ दिसम्बर, १८८० ई० को) चन्द्रग्रहण पड़ रहा था, स्वामीजी चन्द्र–ग्रहण क्या है और कैसे पड़ता है, इस विषय पर पीपल मण्डी में व्याख्यान दे रहे थे कि यही पण्डित रघुनाथजी व्याख्यान में पधारे और गुल मचाकर श्रोताओं से कहने लगे कि देखो ग्रहण पड़ रहा है और तुम लोग इस नास्तिक की बातें सुन रहे हो, यह महापाप है। परन्तु श्रोताओं ने कुछ परवाह न की और दत्तचित्त होकर स्वामीजी का व्याख्यान सुनते रहे। थोड़ी देर इस प्रकार बक–झक करके पण्डित रघुनाथप्रसाद महोदय अपना–सा मुँह लेकर वहाँ से चले गए।

**चतुर्भुज पौराणिकराज**– स्वामीजी आगरे में ही थे कि काशी–निवासी पण्डित चतुर्भुज, जो अपने को पण्डितराज पौराणिक

लिखा करते थे, आगरा आए। इन्होंने स्वामीजी के विरुद्ध बोलना एक प्रकार से अपना व्यवसाय ही बना रक्खा था। आर्यसमाज और दयानन्द को गाली देने से आगरा की मूर्ख-मण्डली बहुत प्रसन्न होती थी और पण्डितजी की खूब भेंट-पूजा करती थी।

पण्डित चतुर्भुज ने पहला व्याख्यान ३० दिसम्बर सन् १८८० ई० को बेलनगंज में और दूसरा १ जनवरी सन् १८८१ ई० को विक्टोरिया स्कूल में दिया, उनका अन्तिम व्याख्यान १५ जनवरी १८८१ ई० को हुआ। व्याख्यान की शैली वही हाथ नचा-नचाकर कथा बाँचने की थी। व्याख्यान क्या होते थे दुर्गन्ध की नाली होते थे, जिसमें स्वामीजी और आर्यसमाजियों के प्रति गालियों और अश्लील वाक्यों का प्रवाह बहता था, जिससे सज्जन तो नाक पर रूमाल रखने पर विवश होते थे और दुर्जन मोरी के कीड़ों के समान प्रसन्न होते थे। पण्डितजी व्याख्यान के आरम्भ में ही उच्च स्वर से कह दिया करते थे कि यदि कोई आर्यसमाज का सभासद् उपस्थित हो तो वह यहाँ से चला जाए क्योंकि न हम उसे अपना व्याख्यान सुनाना चाहते हैं और न हमें अपनी सूरत ही उसे दिखानी और न उसकी सूरत ही हम देखना चाहते हैं। इसमें भी एक रहस्य था क्योंकि यदि कोई आर्यसमाजी वहाँ हुआ तो वह पण्डितजी की अण्ड-बण्ड बातों पर उन्हें टोके बिना न रहेगा और उनका अभिप्राय जो अज्ञ लोगों को झूठी-सच्ची बातें बनाकर अपने जाल में फँसाने का था वह सिद्ध न हो सकेगा। अत: वह कब चाह सकते थे कि कोई भी आर्यसमाजी उनके व्याख्यान में उपस्थित रहे। उनके व्याख्यानों का सारांश यही होता था कि दयानन्द ने अवतारों, देवताओं और पुराणों की निन्दा और मूर्त्तिपूजा का खण्डन करके ब्राह्मणों को बहुत हानि पहुँचाई है, जो इस प्रकार पुराणादि की निन्दा करता हो वह साधु नहीं हो सकता और जो बस्ती में ठहरता है वह संन्यासी नहीं हो सकता, गोकुलिए-गोसाइयों को सम्बोधित करके वे कहते थे कि यदि तुम लोग अपने को दयानन्द के आक्रमणों से बचाने का कुछ उपाय न करोगे तो तुम्हारी जीविका ही जाती रहेगी, अत: आप लोगों को दयानन्द पर न्यायालय में अभियोग चलाना चाहिए और अन्त में पण्डितजी के व्याख्यानों की तान इस पर टूटती थी कि हम सनातन धर्म की रक्षा के निमित्त घर छोड़कर यहाँ आए हैं, और इतना व्यय और कष्ट सहन कर रहे हैं, अत: आप लोगों को हमारी धन से सहायता करनी चाहिए।

**चतुर्भुज की दो लीलाएँ**- आगरे में पण्डितजी ने दो लीलाएँ रचीं। पहली तो यह कि एक कायस्थ था जिसने स्वामीजी के व्याख्यान सुनकर अपनी कण्ठी तोड़ डाली थी। उसे कोई पट्टन दे-दिलाकर इस बात पर उद्यत किया कि वह यह घोषणा कर दे कि मैं दयानन्द की बातों में आकर धर्म से पतित हो गया था, अब मैंने पण्डितराज के उपदेश से प्रायश्चित कर लिया है। एक दिन उस कायस्थ को बाजे-गाजे के साथ नगर में घुमवाया और उससे घोषणा कराई कि मैंने प्रायश्चित कर लिया है। दूसरी लीला यह थी कि एक ब्राह्मण था जो एक आर्यसमाजी के यहाँ बच्चों को देवनागरी पढ़ाने पर ६, ७ रुपये पर नौकर था। उससे एक विज्ञापन दिलवाया कि मैं आर्यसमाज आगरे का पण्डित हूँ और आर्यसमाज आगरे के अमुक-अमुक सभासदों को पढ़ाता हूँ। अब तक मैं आर्यसमाज और दयानन्द के उपदेशों को बहुत अच्छा समझता था, परन्तु अब मुझे पण्डितराजजी के सदुपदेशों से ज्ञात हुआ है कि मैं धोखे में था और अधर्म करता था, अब मैं आर्यसमाज से अलग होता हूँ और आर्यसमाजियों से प्रार्थना करता हूँ कि वे होश में आएँ और आर्यसमाज के जाल से अपने को बचाएँ, इत्यादि।

बहुत से लोग इस ब्राह्मण को जानते थे क्योंकि वह जीविकार्थ बाजारों में फटे हालों फिरा करता था। वह न आर्यसमाज का सभासद था और न उपदेशक। उपदेशक बनने की तो उसमें योग्यता ही न थी। लोगों पर पण्डितराज की इस लीला का उल्टा ही प्रभाव पड़ा और अनेक लोग उनकी चाल को जानकर उनसे ग्लानि करने लगे। वह ब्राह्मण भी अपनी करतूत पर बहुत लज्जित हुआ और अन्त को आगरा छोड़कर चला गया।

पण्डित युगलकिशोर आगरे के एक सुबोध पण्डित थे। वे स्वामीजी के व्याख्यानों से इतने आकृष्ट हुए थे कि उनके

पास आया करते थे और सत्सङ्ग में उपस्थित रहते थे। एक दिन वह भी पण्डितराज का व्याख्यान सुनने चले गए। जिस समय वह व्याख्यान-स्थल में पहुँचे पण्डितराज ने गृह्यसूत्र का वाक्य कि '*अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्*' (ब्राह्मण के बालक का आठ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार करो) पढ़ा, परन्तु इसके आगे का वाक्य '*अथ सर्वेषां गायत्री*' उन्होंने न पढ़ा। इस पर पण्डित युगलकिशोर ने आक्षेप किया तो एक ब्राह्मण ने पण्डितराज से कहा कि महाराज यह बेलनगंज में सबको गायत्री मन्त्र देते हैं। पण्डित युगलकिशोर ने कहा कि हम शास्त्रानुकूल देते हैं, यदि शास्त्र-विरुद्ध देते हों तो बतलाओ। इस पर कई लोग उनसे कहने लगे कि तुम चतुर्भुजजी से बोलते हो। उन्होंने कहा तुम्हें चतुर्भुज दिखाई देते होंगे, हमें तो द्विभुज दीखते हैं और दो भुजाओं में से अब तो एक ही भुजा दिख रही है जिसे वह उछाल रहे हैं। इस पर पण्डितराज बोले कि मैं दयानन्दी से बात नहीं करता। पण्डित युगलकिशोर ने कहा कि मैं दयानन्दी नहीं, सत्यावलम्बी हूँ। पण्डितराज बोले यदि शास्त्रार्थ करना हो तो घर पर आओ। पण्डित युगलकिशोर एक मित्र को साथ लेकर उनके घर पर पहुँचे तो पण्डितराज ने उन्हें और उनके मित्र को आध-आध सेर पेड़े और एक-एक रुपया देकर कहा कि कृपा करके आप अपने घर जाएँ, मेरा माथा धमकता है। इस प्रकार पण्डितराज ने शास्त्रार्थ से अपनी जान बचाई।

**जनसंख्या सम्बन्धी आदेश**- स्वामीजी को आर्यों की उन्नति और हित का सर्वदा ध्यान रहता था। स्वामीजी यह चाहते थे कि लोग अपने को हिन्दू न कहकर आर्य और वैदिक धर्मी ही कहें, क्योंकि उनकी दृष्टि में हिन्दू नाम विदेशियों का दिया हुआ और कलङ्कसूचक था। फारसी में हिन्दू शब्द के अर्थ चोर, डाकू काला आदि हैं। अतः जब सन् १८८१ ई० की जनसंख्या होने का उपक्रम हुआ तो उन्होंने ३१ दिसम्बर १८८० ई० को मास्टर दयाराम वर्मा, मन्त्री आर्यसमाज मुल्तान को नीचे लिखा पत्र भेजा था-

"मास्टर दयारामजी ! आनन्दित रहो,

विदित हो कि आपका पत्र आया, हाल मालूम हुआ, आपने जो नक्शा मर्दुमशुमारी का लिखा सो उसकी खानापुरी इस प्रकार करो-

| | | | |
|---|---|---|---|
| मजहब-फिरके-मजहबी | ------- | -------- | -------वैदिक |
| असल कौम | ------- | -------- | -------आर्य |
| जात या फिरका | ------- | -------- | ------- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य |
| गोत्र या शाखा | ------- | -------- | ------- जो अपना गोत्र हो |

और जिसको अपना गोत्र याद न हो वह अपना काश्यप या पाराशर गोत्र लिखा दे और यह सब समाजों को तथा पंजाब भर में इसी प्रकार से लिख भेजें और यहाँ सब प्रकार से आनन्द में हैं।" [६१४]

स्वामीजी व्याख्यान तख्त पर बैठकर दिया करते थे। व्याख्यान समाप्ति पर तख्त से उतरकर नीचे बैठ जाते थे जिससे कि यदि किसी अन्य व्यक्ति को कुछ कहना हो तो वह तख्त पर बैठकर कह सके।

**दिनचर्या**- स्वामीजी प्रातःकाल ३, ४ बजे के बीच में नगर से बाहर घूमने चले जाते थे और प्रातःकृत्य से निवृत्त होकर जब वापस आते थे तो दुग्धपान करके वेद-भाष्य लिखाने बैठ जाते थे। फिर ११, १२ के बीच भोजन करते थे और तत्पश्चात् सायङ्काल तक दर्शकों से बातचीत करते रहते थे।

**मुंशी बख्तावरसिंह की वैदिक-यन्त्रालय के हिसाब में गड़बड़**- मुंशी बख्तावरसिंह वैदिक-यन्त्रालय के प्रबन्धकर्ता थे। उन्होंने यन्त्रालय के हिसाब में बहुत गड़बड़ की थी। उन्हें वैदिक-यन्त्रालय से सन् १८८० ई० में अलग कर दिया था, यन्त्रालय के हिसाब के कागज देखने से स्वामीजी को इसका पता लगा तो उन्होंने लाला कालीचरण रईस फर्रुखाबाद को

---

६१४- यह पत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ में पृष्ठ २३४ पर छपा है। - *संग्रहकर्ता*

१० जनवरी सन् १८८१ ई० के पत्र में आगरे से लिखा कि "हमने अब वहाँ सब असल कागज और रजिस्टर बख्तावरसिंह के दस्तखती काशी से मँगाकर देखे, उनमें बहुत कुछ फर्क है। यही भली प्रकार से साबित होता है, है, इसलिए तुमको लिखते हैं कि यहाँ आकर आप भी देखें और बख्तावरसिंह को भी बुला लें और एक रजिस्ट्री चिट्ठी बख्तावरसिंह के पास भेज दो कि इस चिट्ठी के देखते ही आगरे में स्वामीजी के पास जाकर हिसाब समझा दो और हम भी वहीं होंगे।[६१५] स्वामीजी की हार्दिक इच्छा थी कि मामला आपस में ही निपट जावे इसलिए उन्होंने २२ फरवरी सन् १८८१ ई० के पत्र में सेठ निर्भयराम रईस फर्रुखाबाद को लिखा कि 'प्रथम तो पंचायत में निपट जाए तो बहुत ही अच्छा है, दूसरे नहीं तो उस पर हिसाब-फहमी की नालिश और जो तब भी न माने तो फौजदारी वा दीवानी में दावा किया जावे और जो तुम इसका प्रबन्ध कुछ न करोगे तो ऐसी लूट-मार से हमारे पास के पुस्तकादि भी कोई लूट लेगा फिर तो हम अपने समीप कुछ न रख सकेंगे और वेद-भाष्य आदि सब काम छोड़ देंगे केवल एक लँगोटी लगा आनन्द में विचरेंगे।'[६१६]

**मैं चुप नहीं रह सकता**- २५ फरवरी सन् १८८१ ई० को मुंशी बख्तावरसिंह स्वामीजी के पास आगरा गए। स्वामीजी ने उनसे कहा कि मेरा निजी सम्बन्ध होता तो मैं चुप हो जाता, परन्तु यह दूसरों की परोपकारार्थ दी हुई सम्पत्ति का मामला है, मैं चुप नहीं रह सकता। मुंशीजी आपस में निबटारा करने का वचन देकर शाहजहाँपुर लौट गए।

**पञ्चायत में टालमटोल और फिर जाना**- शाहजहाँपुर जाकर वे इकरारनामा पञ्चायत में लिखने से टालमटोल करते रहे। अन्त को बहुत कहने-सुनने से वह मामला पञ्चायत के सुपुर्द करने पर राजी हुए, परन्तु इकरारनामा पञ्चायत में लिखकर उससे भी फिर गया।

**दावा दायर किया गया, परन्तु खारिज हो गया**- तब सब-जज शाहजहाँपुर की अदालत में दावा दायर किया गया कि मुंशी बख्तावरसिंह को हुक्म दिया जाए कि वह पञ्चों से फैसला करावें। मुंशी बख्तावरसिंह ने जवाबदेही की। ९ फरवरी सन् १८८१ ई० को सब-जज ने स्वामीजी का दावा खारिज कर दिया। उसके पश्चात् हाईकोर्ट में निगरानी दायर करने की सम्मति हुई, परन्तु किन्हीं कारणों से निगरानी दायर की नहीं की गई और न नम्बरी नालिश ही दायर की गई और इस प्रकार मुंशी बख्तावरसिंह वैदिक-यन्त्रालय का बहुत सा रुपया हज्म करके बैठ गए।

**स्वामीजी न्यायालय क्यों गये?**- समय की विचित्र गति है कि स्वामीजी न्यायालय में जाने के अत्यन्त विरुद्ध थे, परन्तु अनन्योपाय होकर उन्हें अदालत में जाना ही पड़ा। इसका एकमात्र कारण यह था कि वे यन्त्रालय के धन को अपना नहीं, बल्कि पब्लिक का समझते थे और उन्हें यह सह्य न हुआ कि कोई पब्लिक का रुपया इस प्रकार खाकर बैठ जाए।

**स्वामीजी की द्रुतगति**- स्वामीजी बहुत जल्दी चलते थे। वे आगरे में जब प्रथम बार आकर सेठ गुल्लामल के बाग में ठहरे थे तो एक से अधिक बार आगरे से मथुरा १८ कोस तीन घण्टे में पहुँच गए थे।

**बङ्गाली नास्तिक**- एक दिन एक बङ्गाली, जो नास्तिक था, बड़े गर्व के साथ स्वामीजी से ईश्वरवाद पर प्रश्नोत्तर करने आया। उसे अपनी तर्कनाशक्ति पर बड़ा घमण्ड था, वह उन्हें अकाट्य समझता था। लोग भी उसे बड़ा तार्किक मानते थे। जब वह स्वामीजी से वाग्-युद्ध में प्रवृत्त हुआ तो लोगों ने मन में कहा कि स्वामीजी के लिए उसे परास्त करना टेढ़ी खीर है। परन्तु उनके आश्चर्य की सीमा न रही जब तर्काभिमानी बङ्गाली दो चार उत्तरों के पश्चात् ही सब सिट्टी-पिट्टी भूल गया, उसके मुख में झाग आ गया और उसके मुँह से शब्दों का निकलना तक कठिन हो गया।

**मैं शास्त्रार्थ नहीं करूँगा**- पण्डित कालिदास को पण्डितों ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए बहुतेरा उकसाया, परन्तु उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मुझमें स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का सामर्थ्य नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि मैं भी दण्डी

६१५- इसका मूल पत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ में पृष्ठ २६८ पर छपा है।

६१६- यह दूसरा पत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' में पृष्ठ २८३, २८४ पर छपा है। - *संग्रहकर्ता*

विरजानन्द से कुछ दिन पढ़ा हूँ। उन्हीं दिनों दयानन्द भी दण्डीजी से पढ़ा करते थे। वह कभी कभी ऐसे तर्क उपस्थित करते थे कि दण्डीजी भी तत्क्षण उनका उत्तर न दे सकते थे और कह दिया करते थे कि उनका उत्तर कल देंगे। ऐसे तार्किक के साथ मैं शास्त्रार्थ कैसे कर सकता हूँ?

१० मार्च सन् १८८१ ई० को आगरा से भरतपुर जाने के लिए स्वामीजी रेल पर सवार हो गए। विदा के समय आर्यसमाज आगरा ने उनकी सेवा में अभिनन्दन पत्र प्रस्तुत किया जो उन्होंने हर्षपूर्वक ग्रहण किया।

## भरतपुर (१८८१ ई०)

आगरे से प्रस्थान करके स्वामीजी फाल्गुन शुक्ला १० संवत् १९३७ वि० अर्थात् १० मार्च सन् १८८१ ई० (गुरुवार) को भरतपुर पधारे और रेल्वे स्टेशन के समीप एक रईस के बाग में ठहरे। यहाँ उनका कोई व्याख्यान नहीं हुआ।[६१७] जो लोग स्वामीजी के दर्शनों के लिए आते रहे उन्हें सदुपदेश अवश्य करते रहे। भरतपुर में स्वामीजी १० दिन तक टिके रहे। चैत्र कृष्णा ५ संवत् १९३७ वि० अर्थात् २० मार्च सन् १८८१ ई० (रविवार) को वे जयपुर चले गए।

## जयपुर (१८८१ ई०)

चैत्र कृष्णा ५ संवत् १९३७ वि० अर्थात् २० मार्च सन् १८८१ ई० (रविवार) को स्वामीजी ने भरतपुर से आकर जयपुर में गङ्गापोल के बाहर मदनपुरे में अचरौल के ठाकुर के उद्यान में डेरा किया।

**केवल एक व्याख्यान**– इस बार स्वामीजी का केवल एक व्याख्यान अचरौल के ठाकुर की हवेली में हुआ। उसके अन्त में ठाकुर रघुनाथसिंह ने अद्वैत विषय पर उनसे एक प्रश्न किया जिसके उत्तर में स्वामीजी ने दो घड़ी रात गए तक नवीन वेदान्त की विशद समालोचना करके प्रश्नकर्ता की सन्तुष्टि की। अन्य जिज्ञासुजन भी उनके डेरे पर आते और अपनी जिज्ञासाओं के पूर्ण उत्तर पाकर लाभ उठाते रहे।

**आर्यसमाज का अंकुर**– इसी समय जयपुर में आर्यसमाज का बीज आरोपित हुआ। अंकुरित होने पर उसका नामकरण *'वैदिक धर्म–सभा'* किया गया जो पीछे आकर आर्यसमाज नाम से विभूषित किया गया।

## अजमेर (१८८१ ई०)

**आगमन की सूचना**– अजमेर में स्वामीजी के आगमन से पहले ही १३ फरवरी सन् १८८१ ई० को आर्यसमाज स्थापित हो गया था। ५ मई सन् १८८१ ई० तदनुसार वैशाख शुक्ला ७ संवत् १९३८ वि० (गुरुवार) को स्वामीजी जयपुर से अजमेर पधारे। उन्हें सेठ फतहमल के उद्यान–गृह में ठहराया गया। स्वामीजी के आगमन से आर्यों के हृदय कमल विकसित हो गए। वैसे तो उनके आते ही नगर में उनके आने की धूम मच गई थी, परन्तु लोगों ने यह उचित समझा कि स्वामीजी के व्याख्यान–स्थल और समय की सूचना विज्ञापन द्वारा नगरवासियों को दे दी जाए, अत: ७ मई को ही विज्ञापन वितरित कर दिया गया कि स्वामीजी के व्याख्यान प्रतिदिन ८ मई के सन्ध्या के ७ बजे से ९ बजे तक सेठ गजमल की हवेली में हुआ करेंगे। यह ज्ञात होते ही सैकड़ों मनुष्य बड़े चाव से जैसे प्यासा कुएँ की ओर दौड़ता है व्याख्यान सुनने आने लगे। स्वामीजी के व्याख्यान इतने सरस होते थे कि श्रोता उनमें तन्मय हो जाते थे। उनको समय की गति का भी ज्ञान नहीं रहता था। ९ बजते ही स्वामीजी अपना व्याख्यान समाप्त कर देते थे परन्तु लोगों की यही इच्छा बनी रहती थी कि व्याख्यान अभी कुछ देर और होता रहता तो अच्छा था।

**२६ व्याख्यान**– उक्त स्थान पर ३० मई १८८१ ई० तक स्वमीजी के २२ व्याख्यान हुए और चार रविवारों को चार व्याख्यान आर्यसमाज में भी हुए (अर्थात् अजमेर में उनके कुल २६ व्याख्यान हुए)।

**पं० लेखराम का आगमन**– वैदिक धर्म पर बलिदान होने वाले, अनेक ग्रन्थों के रचयिता और स्वामीजी के जीवन–चरित

---

६१७– *'दयानन्द प्रकाश'* में लिखा है कि भरतपुर में स्वामीजी के दस व्याख्यान हुए। यह घटना के विरुद्ध है। – *संग्रहकर्ता*

के आदि लेखक पण्डित लेखराम आर्यमुसाफिर उन दिनों पेशावर में थे। उनको स्वामीजी के दर्शनों की बड़ी लालसा थी जो अब तक पूरी न हो सकी थी। दूरस्थ पेशावर से वह ११ मई को केवल स्वामीजी के दर्शनों के लिए चले और पाँच दिन के पश्चात् १६ मई को रात्रि में अजमेर पहुँचे। रात तो उन्होंने ज्यों-त्यों करके एक सराय में काटी। प्रातः होते ही वे स्वामीजी की सेवा में पहुँचे और उनके मुखचन्द्र के दर्शन से अपने चक्षु-चकोरों को तृप्त किया।

**शङ्का समाधान**- जयपुर में जब एक बंगाली ने पण्डितजी से प्रश्न किया था कि जब आकाश भी व्यापक है और ब्रह्म भी व्यापक है तो दो व्यापक इकट्ठे कैसे रह सकते हैं? तो इसका पण्डितजी से उत्तर न बन आया था। अतः स्वामीजी के सम्मुख पहला प्रश्न उन्होंने यही रखा। स्वामीजी ने अनायास ही सूक्ष्म और स्थूल वस्तुओं के उदाहरण देकर समझा दिया कि जो वस्तु जिससे सूक्ष्म होती है वह उसमें व्यापक हो सकती है। परमेश्वर आकाश से सूक्ष्म है अतः उसमें व्यापक है। फिर स्वामीजी ने उनसे कहा कि जो शङ्काएँ तुम्हारे मन में हों उन्हें निवृत्त कर लो। तब पण्डितजी ने बहुत सोचकर दस प्रश्न स्वामीजी से किए थे परन्तु बहुतों को वे स्वामीजी का जीवन-चरित लिखते समय भूल गये थे, केवल निम्नलिखित प्रश्नोत्तर ही उन्हें स्मरण रह गये थे-

*पण्डितजी*- जीव ब्रह्म के पृथकत्व में वेद का कोई प्रमाण दीजिए।

*स्वामीजी*- यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय का अध्याय पृथकत्व का प्रतिपादक है।

*पण्डितजी*- अन्य धर्मावलम्बियों को शुद्ध करना चाहिए वा नहीं।

*स्वामीजी*- अवश्य शुद्ध करना चाहिए।

*पण्डितजी*- विद्युत क्या पदार्थ है और कैसे उत्पन्न होती है?

*स्वामीजी*- विद्युत हर जगह है और रगड़ से प्रकट होती है। बादलों की विद्युत भी बादलों और वायु की रगड़ से प्रकट होती है। फिर स्वामीजी ने पण्डितजी को आदेश किया कि २५ वर्ष की आयु से पहले विवाह न करना।

**अपना कोई चिह्नः दीजिए**- २४ मई १८८१ ई० को पण्डितजी ने वापस जाने का विचार किया। तब वे स्वामीजी की सेवा में गए और प्रार्थना की कि मुझे अपना कोई चिह्नः प्रदान करने की कृपा कीजिए तो स्वामीजी ने उन्हें अष्टाध्यायी की एक प्रति प्रदान की और वे स्वामीजी के चरण स्पर्श करके पेशावर के लिए प्रस्थित हो गए।

**हिन्दू युवक ईसाई न हुआ**- एक हिन्दू नवयुवक ईसाई मत की ओर झुका हुआ था, परन्तु उसके सौभाग्य से स्वामीजी अजमेर पहुँच गए थे। उसे भी धर्म की जिज्ञासा थी। जो-जो सन्देह हिन्दू-धर्म के विषय में ईसाइयों ने उसके मन में उत्पन्न कर दिए थे उनकी निवृत्ति के लिए वह स्वामीजी के पास आने लगा। कई दिन के निरन्तर शङ्का-समाधान के पश्चात् उसकी शान्ति हो गई और वह वैदिक-धर्म का अनुयायी बन गया।

**चतुर्भुज पौराणिकराज**- अजमेर का तो कोई व्यक्ति किसी मत वा सम्प्रदाय का, धर्म चर्चा करने के लिए स्वामीजी के सम्मुखीन हुआ नहीं, हाँ पण्डित चतुर्भुज पौराणिक ने, जिनसे पाठक आगरे में परिचय प्राप्त कर चुके हैं, किसी सेठ के गुमाश्ते को काशी से लिखा कि मुझे अजमेर बुलाओ, मैं स्वामीजी से शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त करूँगा। पण्डित भागमल जज स्वामीजी के बड़े भक्त थे, वही उनके व्याख्यानों में प्रबन्ध स्थिर रखते थे और आदि से अन्त तक व्याख्यानों में उपस्थित रहते थे। अतः पौराणिक पण्डित चतुर्भुज का पत्र लेकर पण्डित भागमल के पास गए और उनसे जाकर साभिमान कहा कि हम स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने को पण्डित चतुर्भुज को बुलाते हैं, आप स्वामीजी को सूचित कर दीजिए। पण्डित भागमल ने वह पत्र मन्त्री आर्यसमाज को दे दिया कि इसे स्वामीजी को दिखा दीजिए। स्वामीजी ने उसे देखकर कहा कि मैं तो सत्यासत्य का निर्णय करने को फिरता ही हूँ। पण्डित चतुर्भुज यदि यहाँ आवें तो मैं उनसे शास्त्रार्थ करने को उद्यत हूँ, परन्तु शास्त्रार्थ प्रबन्ध और नियमों के साथ होना चाहिए। इस पर पण्डित भागमल ने पौराणिक पण्डितों को बुलाकर कह

दिया कि तुम पण्डित चतुर्भुज को अवश्य बुला लो परन्तु शास्त्रार्थ के निम्नलिखित नियम रहेंगे–

*शास्त्रार्थ के नियम–*

१– सभा का स्थान मेरी सम्मति के अनुसार होगा।

२– इस सभा में मैं प्रधान की रीति से सम्पूर्ण अधिकार रखूँगा जिससे दोनों पक्ष वालों के न्याय–अन्याय पर ध्यान रहे।

३– शास्त्रार्थ लेखबद्ध होगा।

४– शास्त्रीजी को प्रश्नोत्तर स्वामीजी के सम्मुख बैठकर करने होंगे।

५– यदि कोई पुरुष मूर्खता वा किसी प्रकार से असभ्य भाषण करेगा तो वह तुरन्त सभा से निकाल दिया जाएगा।

**नियम सुनकर सब गर्व जाता रहा**– जब पण्डित भागमल ने यह नियम पौराणिक पण्डितों को सुनाए तो उनका सारा अभिमान उड़ गया और वे बिना किसी शब्द के कहे हुए ही वापस चले गए। वास्तव में उनका अभिप्राय तो यह था कि सभा में धींगा–धाँगी करके और हल्ला–गुल्ला मचाकर प्रसिद्ध कर देंगे कि स्वामीजी हार गए। परन्तु जब उन्होंने देखा कि शास्त्रार्थ का सब प्रबन्ध जज साहब के हाथ में रहेगा तो उनके असत्य–प्रयोजन के फलीभूत होने की कोई आशा न रही और उन्हें चुप होकर ही बैठ जाना पड़ा।

**स्वामीजी की मितव्ययता**– स्वामीजी मितव्ययता की ओर भी बहुत ध्यान रखते थे। अजमेर में मच्छर बहुत थे। उनके कष्ट से बचने के लिए एक दर्जी से स्वामीजी ने एक मच्छरदानी सिलवाई थी। जब दर्जी उसे सीकर लाया तो स्वामीजी ने उसकी उससे सिलाई पूछी। दर्जी ने छः आना (लगभग ३७ नए पैसे) माँगे। स्वामीजी ने कहा यह नहीं हो सकता कि तुम्हारी मजदूरी तो हो छः आना रोज हो और हमारे पण्डित की हो आठ आना (५० पैसे) रोज। तुम्हारी मजदूरी अधिक से अधिक दो आना (१२ पैसे) वा तीन आना (१९ पैसे) हो सकती है। परन्तु दर्जी तीन आना लेने पर और स्वामीजी छः आना देने पर राजी न हुए। अन्त में दर्जी की मजदूरी के निर्णय करने का भार पण्डित भागमल जज पर रखा गया। परन्तु यह ज्ञान न हो सका कि जज ने इसका क्या निर्णय किया।

**पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता निरुत्तर**– एक दिन पश्चिमी विज्ञान के एक पण्डित ने योग की सिद्धियों की सत्यता में शङ्का की। स्वामीजी ने पहले तो युक्ति–प्रमाण द्वारा उनकी सत्यता निरूपित की और अन्त में यह कहा कि क्या आप समझते हैं कि हम इतना बड़ा कार्य योगसिद्धि के बिना ही कर रहे हैं। इस पर वह शान्त हो गया।

**सिर कटाने के लिए गर्दन झुका दी**– एक बार स्वामीजी ने मौलवी इमदादहुसैन से कहा था कि एक दिन मैं शौच करने बैठा हुआ था कि एक मनुष्य नङ्गी तलवार लिए मेरे पीछे आ खड़ा हुआ। मैंने उससे कहा कि मैं शौच से निवृत्त हो लूँ तब मेरा सिर काट डालना। इस पर वह राजी हो गया। जब मैं निवृत्त हो चुका तब मैंने अपनी गर्दन उसके आगे झुका दी। इससे वह ऐसा प्रभावित हुआ कि बिना कुछ कहे ही मुझे छोड़कर चला गया।

मसूदा के रईस ठाकुर बहादुरसिंह स्वामीजी के अनन्य भक्त थे। उन्होंने जब सुना कि स्वामीजी अजमेर में विराजमान हैं तो उनके दर्शनों की अभिलाषा उनके हृदय में जागृत हो गई और उन्होंने अपने एक कर्मचारी को निमन्त्रण पत्र देकर स्वामीजी की सेवा में भेजा। स्वामीजी ने अपने इस भक्त के अनुरोध की रक्षा की और अजमेर के कार्य से निवृत्त होने के पश्चात् मसूदा आने का उसे वचन दिया।

## मसूदा (१८८१ ई०)

आषाढ़ कृष्णा १२ संवत् १९३८ वि० तदनुसार २३ जून, १८८१ ई० (गुरुवार) को स्वामीजी ने अजमेर से प्रयाण किया। वे तब नसीराबाद तक रेल में गए। पुनः वहाँ से ठाकुर साहब के रथ पर सवार होकर रात्रि के ९ बजे मसूदा जा पहुँचे। रावसाहब ने उनके निवास के लिए रामबाग की बारहदरी को पहले से ही सुसज्जित कर रखा था और छोलदारी

लगाकर चौकी-पहरे का प्रबन्ध कर दिया था। अतः स्वामीजी ने वहीं निवास किया।

अगले ही दिन से महलों में व्याख्यान होने आरम्भ हो गए और नगर के गण्यमान्य पुरुष स्वामीजी की सेवा में प्रतिदिन उपस्थित होकर धर्मोपदेश सुनते रहे।

**पादरी शूलब्रेड ने शास्त्रार्थ न किया**- रावसाहब ने व्यावर उपनाम नयानगर से पादरी शूलब्रेड को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए बुलाया। वह २८ जून सन् १८८१ ई० को आए और एक देशी ईसाई बिहारीलाल को अपने साथ लाए।[६१८] स्वामीजी ने उनसे ईसाई मत पर प्रश्न करने चाहे परन्तु पादरी साहब ने कहा कि मैं आपसे शास्त्रार्थ करने नहीं आया प्रत्युत आपके व्याख्यान सुनने की अभिलाषा से आया हूँ। इस पर स्वामीजी ने थोड़ी देर राजनीति विषय पर कुछ कथन किया। पुनः अपने व्याख्यान को संक्षिप्त इसलिए किया कि पादरी साहब ने कहा था कि मैं २० मिनट से अधिक नहीं ठहर सकता।

**पाप क्यों होता है**- तत्पश्चात् पादरी साहब ने स्वामीजी से पूछा कि पाप क्यों अधिक होता है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि काम क्रोधादि के प्राबल्य से। पादरी साहब ने कहा कि मैं यह नहीं पूछता, मैं तो यह पूछता हूँ कि पाप कौन लोग अधिक करते हैं। स्वामीजी ने कहा कि किरानी, कुरानी, पुराणी और जैनी, क्योंकि किरानियों के अनुसार रात्रि के पाप प्रातःकाल की प्रार्थना से और दिन के पाप सायङ्काल की प्रार्थना से दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार कुरानियों के अनुसार छोटे-छोटे पाप 'तौबह-तौबह' कहने से और बड़े पाप 'बिस्मिल्ला उर्रहमानुर्रहीम' कहने से नष्ट हो जाते हैं। पुराणियों के अनुसार -

*'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे विनश्यति। काश्यामेव कृतं पापं पंचक्रोश्यां विनश्यति।।'*

अर्थात् अन्य स्थानों में किया हुआ पाप काशी में और काशी में किया हुआ पाप पञ्चकोशी में नष्ट हो जाता है और जैनियों के अनुसार तो 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्'[६१९] आदि मन्त्र से पाप नष्ट हो जाते हैं।

यह सुनकर पादरी साहब थोड़ी देर चुप रहे। फिर उन्होंने पूछा कि आप इन चारों में से कौन हैं तो स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं इनमें से कोई नहीं हूँ, मैं तो वैदिक धर्मानुयायी हूँ और वेदानुकूल ग्रन्थों को मानता हूँ। फिर पादरी साहब के पूछने पर कि वेदों में गोमेध और अश्वमेध (गौ वा अश्व को मारकर यज्ञ करना) है वा नहीं, तो स्वामीजी ने उत्तर दिया कि नहीं है और चारों वेद उनके सम्मुख रखकर कहा कि यदि है तो इनमें दिखा दीजिए। परन्तु पादरी साहब बोले कि मेरी पुस्तकें नयानगर में हैं। स्वामीजी ने कहा कि किसी मनुष्य को भेजकर मँगवा लीजिए। परन्तु पादरी साहब ने कहा कि हमें इसके लिए अवकाश नहीं है।

**बिहारीलाल ईसाई**- बिहारीलाल देसी ईसाई ने स्वामीजी से कहा कि आप राजाओं को ही उपदेश करते हैं, साधारण मनुष्यों को नहीं करते, यह कहाँ लिखा है? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि प्रथम तो मेरे व्याख्यानों में किसी को आने का निषेध नहीं है, फिर मैं तो हर जगह घूमता हूँ, सब आकर सुन सकते हैं। मैं यथाशक्ति राजा, प्रजा सब ही को उपदेश करता हूँ।

इसके पश्चात् दोनों पादरी चले गए।

**जैनियों से शास्त्रार्थ का प्रस्ताव**- ५ जुलाई सन् १८८१ ई० को रावसाहब ने नगर के प्रतिष्ठित जैनियों को बुलाकर कहा कि आप आपने किसी विद्वान् पण्डित को बुलाइए ताकि उनका स्वामीजी से शास्त्रार्थ कराया जाए। इस पर जैनियों ने उत्तर दिया कि साधु सिद्धकरणजी अच्छे विद्वान् हैं और व्याकरण के पठित हैं वे स्वामीजी से शास्त्रार्थ करेंगे। परन्तु वे आजकल सरवाड़ राज्य कृष्णगढ़ में हैं। राव साहब ने कहा कि सवारी ले जाओ और उन्हें लिवा लाओ। जैनियों ने उत्तर दिया कि

६१८- *'दयानन्द प्रकाश'* में लिखा है कि जब पादरी साहब आए तो उनके बैठने को कुर्सी लाई गई और उसे फर्श पर रखा जाने लगा। इस पर स्वामीजी ने कहा कि फर्श उलट कर कुर्सी रखो। यह असभ्यता की बात है कि जिस फर्श पर अन्य लोग बैठे हैं उसी पर कोई जूता पहने कुर्सी पर बैठे। तब ऐसा ही किया गया। -*संग्रहकर्ता*

६१९- यह मन्तव्य जैनियों का नहीं है, चार्वाकों का है। - *संग्रहकर्ता*

वह सवारी पर नहीं चढ़ते। उनका चातुर्मास्य यहाँ ही होगा और आशा है वे कल यहाँ आ जाएँगे। अगले दिन साधु सिद्धकरणजी आ गए तो राव साहब ने स्वामीजी से कहा कि साधु सिद्धकरणजी से धर्म–चर्चा करनी चाहिए।

**धर्म–चर्चा के लिए उद्यत हूँ**– स्वामीजी ने इसे स्वीकार करते हुए कहा कि साधुजी से स्थान और समय नियत करा दीजिए। रावसाहब ने कहा कि हम अपने कर्मचारियों को उनके पास भेजकर स्थान और समय का निर्णय करा देंगे परन्तु उस दिन वर्षा होने लगी और स्वामीजी का स्थान जिस वाटिका में था उसके पास का सरोवर जल से भर गया और लोगों को स्वामीजी के दर्शनों को आन–जाने में कष्ट होने लगा। अतः यह स्थिर हुआ कि वाटिका के दक्षिण में सोहन नगरी पहाड़ी पर, जहाँ रावसाहब ने एक बँगला बनवाया था, स्वामीजी निवास करें। तद्नुसार स्वामीजी वहाँ चले गए।

**स्वामीजी और जैन साधु की भेंट**– ९ जुलाई, १८८१ ई० को स्वामीजी तो प्रातःकाल भ्रमण को जा रहे थे और साधुजी सिद्धकरणजी शौच से निवृत्त होकर नगर को आ रहे थे, मार्ग में स्वामीजी से उनकी भेंट हो गई और आपस में इस प्रकार बातचीत होने लगी–

*साधुजी*– आपका क्या नाम है और कहाँ से पधारना हुआ?

*स्वामीजी* – मेरा नाम दयानन्द सरस्वती है और अजमेर से आया हूँ। आपका क्या नाम है और कहाँ से आना हुआ?

*साधुजी*– मेरा नाम सिद्धकरण है और सरवाड़ राज्य किशनगढ़ से आया हूँ और चार मास यहीं रहूँगा।

स्वामीजी– आप यहाँ कहाँ पर ठहरे हैं?

*साधुजी*– एक उपासरे में।

*स्वामीजी*– क्या आप ही को जैनियों ने बुलाया है?

*साधुजी*– हाँ! मुझे ही बुलाया है। आपका पेट तो बहुत मोटा है। क्या इसमें ज्ञान भरा है? आप तवा बाँध लीजिए, नहीं तो फट जाएगा। आपको ज्ञान–अजीर्ण हो रहा है।

**मैं धर्म–चर्चा पर उद्यत हूँ**– स्वामीजी ने इन असभ्य शब्दों का कोई उत्तर न देकर साधुजी से पूछा कि क्या आप धर्म–चर्चा करने पर सन्नद्ध हैं, तो साधुजी ने उत्तर दिया कि हाँ मैं उद्यत हूँ, यदि आप मेरे स्थान पर आएँ। स्वामीजी ने कहा कि क्या साधुओं का भी स्थान होता है तो साधुजी ने कहा कि मेरा स्थान तो नहीं है, परन्तु नगर के जैनियों ने साधुओं के लिए बना रखा है।

**राव साहब भी आ पहुँचे**– राव साहब अपने महल की छत पर दूरवीक्षण यन्त्र (Opera Glasses) से देखा करते थे कि स्वामीजी भ्रमणार्थ कहाँ जाया करते हैं। उन्होंने देखा कि कोई मनुष्य स्वामीजी से बातें कर रहा है। वह चट घोड़े पर सवार होकर साधुजी और स्वामीजी के निकट जा पहुँचे।

**मुख पर पट्टी क्यों बाँधते हो ?**– स्वामीजी ने साधुजी से यह प्रश्न किया था कि आप मुख पर पट्टी क्यों बाँधते हो और गर्म–जल क्यों पीते हो? साधुजी ने उत्तर में कहा था कि यदि आप भी मुख पर पट्टी बाँध लें तो मैं इसका उत्तर दूँ। यह वाद–प्रतिवाद हो ही रहा था कि रावसाहब आ पहुँचे। रावसाहब को देखकर साधुजी चलने लगे। तब रावसाहब ने साधुजी से कहा कि प्रश्नोत्तर कीजिए, क्यों जाते हैं? परन्तु साधुजी नहीं रुके और चले ही गए।

**जैन साधु को शास्त्रार्थ का आह्वान**– तत्पश्चात् राव साहब ने नगर के पाँच प्रतिष्ठित जैनियों, राजमन्त्री, ज्योतिषी, कोठारी को साधुओं के पास भेजा और पूछा कि यदि आपकी इच्छा धर्मचर्चा की हो तो स्थान और समय नियत कर दीजिए। साधुजी ने उत्तर दिया कि यदि स्वामीजी अपने मुख पर पट्टी बाँधकर प्रश्नोत्तर करेंगे तो मैं धर्मचर्चा के लिए उद्यत हूँ। जब यह वृत्तान्त स्वामीजी से कहा गया तो उन्होंने कोठारी चाँदमल को पुनः साधुजी के पास भोजकर कहलाया कि शास्त्रार्थ में जो पराजित होगा उसे विजेता का धर्म स्वीकार करना होगा अर्थात् यदि स्वामीजी पराजित हो जाएँगे तो वे

अवश्य मुख पर पट्टी बाँध लेंगे और यदि साधुजी परास्त होंगे तो उन्हें अपने मुख पर पट्टी तोड़नी पड़ेगी। साधुजी को धर्मचर्चा अवश्य करनी चाहिए ताकि सत्यासत्य का निर्णय हो जाए। उन्हें ऐसी हठ न करनी चाहिए। परन्तु साधुजी ने अपनी हठ न छोड़ी और यही उत्तर दिया कि मुख पर पट्टी बाँधे बिना हमारे सूत्रों में प्रश्नोत्तर करना नहीं लिखा है।

**पट्टी**– जब यह बात कोठारी पञ्चायत ने स्वामीजी से आकर कही तो उन्होंने कोठारीजी को फिर साधुजी के पास भेजा कि उनसे पूछकर आओ कि मुख पर पट्टी बाँधे बिना प्रश्नोत्तर न करना उनके किस सूत्र में लिखा है। परन्तु साधुजी ने इसका भी कोई उत्तर न दिया।

**तीन प्रश्न**– १३ जुलाई सन् १८८१ ई० अर्थात् श्रावण कृष्णा २ संवत् १९३८ वि० (बुधवार) को स्वामीजी ने निम्नलिखित तीन प्रश्न साधुजी के पास लिखकर भेजे कि उनका उत्तर दें क्योंकि जब वे मौखिक शास्त्रार्थ नहीं करना चाहते तो लिखित में ही कर लें। स्वामीजी के लेख का सारांश नीचे दिया जा रहा है–

*प्रश्न नं० १*– मुख पर पट्टी क्यों बाँधते हो?

*प्रश्न नं० २*– उष्ण जल क्यों पीते हो?

*प्रश्न नं० ३*– जल की एक बूँद में, जिसका अन्त है उसमें अनन्त जीव कैसे बतलाते हो?

प्रश्नों के साथ ही उनके क्या उत्तर साधुजी देंगे उन्हें उठाकर उनका भी निराकरण किया गया था।

**अपनी ही ओर से उत्तर–प्रत्युत्तर**– प्रश्न १ के उत्तर में यदि यह कहा जाए कि पट्टी बाँधने से जीव कम मरेंगे तो यह ठीक नहीं क्योंकि जीव अमर है। (२) यदि कहो कि ऐसा करने से जीवों को कष्ट कम होगा तो यह भी नहीं बनता क्योंकि मुख पर पट्टी बाँधने से मुख के भीतर का वायु अधिक उष्ण होकर उन्हें अधिक कष्ट पहुँचाएगा। जैसे गृहद्वार बन्द करने से अन्दर का वायु अधिक गर्म हो जाता है। (३) मुख का उष्ण वायु रुककर नासिका द्वारा अधिक वेग से बाहर निकलेगा और इससे जीवों को अधिक पीड़ा होगी। नलकी द्वारा फूँक लगाने से वायु अधिक वेग से बाहर निकलता है। (४) उच्चारण में भी दोष आता है, निरनुनासिक अक्षर सानुनासिक हो जाते हैं। (५) अन्दर का वायु अधिक दुर्गन्धियुक्त हो जाता है। मुख पर पट्टी बाँधने और मुख–प्रक्षालन न करने, दन्तधावन और स्नान कम करने से दुर्गन्ध अधिक बढ़ती है और उससे रोग की उत्पत्ति होती है जिससे बुद्धि और पुरुषार्थ नष्ट होते हैं। अत: दुर्गन्धि बढ़ाने वाला अधिक पापी होता है।

**दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में**– ठण्डे जल को गर्म करने में जीव रँधकर जल में घुल जाते हैं, अत: गर्म जल से जीव अधिक कष्ट पाते हैं। यदि तुम कहो कि हम जल स्वयं गर्म नहीं करते, दूसरे गर्म करते हैं, अत: हम पापी नहीं। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि आप गर्म जल न पिएँ तो वे जल क्यों गर्म करें? फिर जल गर्म करने के लिए अग्नि जलाने और उससे भाप उड़ने से भी जीव मरते हैं।

**तीसरे प्रश्न के सम्बन्ध में**– बूँद चाहे पैसा बराबर बड़ा हो वा अधिक, उसका अन्त होता है, फिर उसमें अनन्त जीव कैसे रह सकते हैं? यह सर्वथा बुद्धि के विरुद्ध है।

**साधुजी का प्रश्न–पत्र पाकर अन्दर चले गए**– जब यह प्रश्न लेकर स्वामीजी की ओर के पुरुष साधुजी की सेवा में पहुँचे तो वे स्त्री–पुरुषों को उपदेश कर रहे थे। उपदेश की समाप्ति पर प्रश्न पढ़कर सबको सुना दिए गए, साधुजी से उनका उत्तर माँगा गया। साधुजी ने फिर वही बात कही कि यदि आप लोग मुख पर पट्टी बाँधें तो मैं उत्तर दूँ। उन पुरुषों ने कहा हम ऐसा करने को पाप समझते हैं, यदि आप पट्टी बाँधना सिद्ध कर देंगे तो हम मुख पर पट्टी बाँध लेंगे। साधुजी ने कहा कि मैं उत्तर नहीं दे सकता और वे उठकर अन्दर चले गए।

**साधु के उत्तर**– १६ जुलाई, १८८१ ई० को साधुजी ने स्वामीजी के प्रश्नों के उत्तर निम्न प्रकार दिए–

*प्रश्न*– मुँह बाँधने में क्या धर्म है, हमें तो पाप जान पड़ता है इत्यादि।

*उत्तर*– (सारांश) यदि किसी घर में अग्नि जलाई जावे तो जो शीतल वायु बाहर से भीतर जाएगी उसके जीव अन्दर की उष्ण वायु के संयोग से मर जाएँगे, परन्तु यदि द्वार बन्द कर दिया जाए वा हाथ वा कपड़े की ओट कर दी जाए तो अग्नि का तेज मन्द हो जाएगा और उष्णता के कारण जीव न मरेंगे। जीव अजर, अमर है, परन्तु वायु जीव का शरीर है, बिना शरीर के जीव नहीं रह सकता। खुला मुख रहने में बोलते समय थूक उड़ता है और मुँह की दुर्गन्ध भी दूसरे तक पहुँचती है, अत: बड़े मनुष्यों से बातें करते समय लोग मुँह के पल्ला लगा लेते हैं। आप भी जब खुले मुँह से वेद को बाँचते होंगे तो क्या आपका थूक उस पर न गिरता होगा और आपके श्वास की दुर्गन्ध उस तक न पहुँचती होगी।

*प्रत्युत्तर*– स्वामीजी ने भी इसका तुरन्त ही प्रत्युत्तर भेज दिया जिसका सारांश यह था–

बाहर का वायु ही सब प्राणियों का जीवन हेतु है और बिना उसके अग्नि भी नहीं जल सकती। ओट करने से यह दूसरे मार्ग से अति वेग से निकलकर प्राणियों से संयुक्त होगा और प्राणी कष्ट पाएँगे और ओट करने से तो उष्णता बढ़ेगी ही, घटेगी नहीं। यदि चारों ओर से खुला होगा तो शीघ्र ठण्डी हो जाएगी। यदि किसी बरतन में जल गर्म किया जाए और उसे बिल्कुल बन्द कर दिया जाए तो भाप बड़े जोर से निकलकर बरतन को तोड़ डालेगी। ऐसे ही उसे आधा वा चौथाई बन्द करने से गर्मी अधिक बढ़ती है। यदि अग्नि से ही जीव मरते हैं तो विद्युत रूप अग्नि से जो सर्वत्र फैली हुई है जीव क्यों नहीं मर जाते? आप जीवों को अजर–अमर भी मानते हैं और फिर उनका मरना भी मानते हैं। बड़े मनुष्यों से बातें करते समय मुँह पर पल्ला लगाने का वह प्रयोजन नहीं जो आप लिखते हैं। उसका प्रयोजन तो यह है कि बहुधा उनसे ऐसी बातें करनी होती हैं जिन्हें गुप्त रखना अभीष्ट होता है। अत: मुख पर पल्ला इसलिए लगाते हैं कि शब्द फैले नहीं और उसे दूसरे न सुन सकें तथा यह भी कि खुले मुख बातें करने से शब्द फैलकर ठीक–ठीक सुनाई भी न देगा। यदि आपका हेतु ठीक है तो फिर केवल बड़े मनुष्यों से बातें करते समय ही आपको मुख पर पल्ला लगाना चाहिए, छोटे मनुष्यों के सम्मुख मुँह पर पट्टी क्यों बाँधे रहते हो तथा अपने शिष्यों के सम्मुख भी ऐसा क्यों करते हो? फिर बड़े मनुष्य भी क्यों पल्ला लगाकर बातें नहीं करते? क्या उनका थूक छोटे मनुष्यों पर पड़ता वा उन तक श्वास की दुर्गन्धि पहुँचना अच्छा समझते हो? क्या बड़े मनुष्य के मुँह में कस्तूरी घुली होती है? हम कागज–स्याही को वेद नहीं समझते, वे तो जड़ वस्तुएँ हैं। जिन्हें सुगन्ध–दुर्गन्ध, आर्द्र–शुष्क का भी कुछ ज्ञान नहीं। हम तो शब्दार्थ–सम्बन्ध को वेद समझते हैं। क्या जैनियों के धर्म–पुस्तक बनाने वालों ने उन्हें मुख पर पट्टी बाँधकर लिखा था? हम तो वेदों का खुले मुख से उच्चारण करना उत्तम समझते हैं क्योंकि इससे उच्चारण स्पष्ट और शुद्ध होता है और मुख पर पट्टी बाँधने से अस्पष्ट और अशुद्ध, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं। जब आपसे नगर के बाहर भेंट हुई थी तब तो आपने हमसे नि:संकोच बातें की थीं, यद्यपि हम मुँह पर पट्टी वा पल्ला नहीं लगाए हुए थे। फिर शास्त्रार्थ करने में ही आपने यह अड़चन क्यों लगाई है कि जब तक हम मुख पर पट्टी न बाँधेंगे तब तक आप हमसे शास्त्र–विचार ही न करेंगे।

पाठकों ने यह देख लिया होगा कि साधुजी ने स्वामीजी के केवल पहले प्रश्न का कि मुख पर पट्टी क्यों बाँधी जाती है उत्तर देने का यत्न किया था, शेष दो प्रश्नों के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा था, अत: स्वामीजी ने अपने प्रत्युत्तर में उन प्रश्नों का उल्लेख नहीं किया।

**हमसे उत्तर नहीं बन आता**– जब स्वामीजी के प्रत्युत्तर को लेकर कुछ सज्जन साधुजी के पास गए तो उसे सुनकर वे बहुत घबराए और जब लोगों ने साधुजी से उत्तर देने पर आग्रह किया तो पहले तो वे चुप रहे, परन्तु अन्त में उन्होंने स्पष्ट कह ही दिया कि हमारे से तो कोई उत्तर नहीं बन आता, आपाँ ते साधु हाँ।

यह बात सुनकर लोगों ने कहा कि जब साधुजी ने अपने मुख से ही हार मान ली है तो अब विशेष कुछ कहना उचित नहीं है और सब लोग लौट आए। इस प्रकार धर्म–चर्चा की यह चर्चा समाप्त हुई।

**किले में व्याख्यान**– आषाढ़ शुक्ला १५ (अर्थात् ११ जुलाई, १८८१ ई०) से स्वमीजी के व्याख्यानों का किले में प्रबन्ध किया गया। जिस दिन व्याख्यान होने को होता था उससे पहले दिन डौण्डी द्वारा उसकी सूचना नगर के निवासियों को दे दी जाती थी। प्रतिदिन ४००, ५०० मनुष्य स्वामीजी के अपूर्व व्याख्यान को श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सुनकर ज्ञान और धर्म का उपार्जन करते थे। राव साहब भी इन व्याख्यानों में उपस्थित रहते थे। आषाढ़ शुक्ला १५ से श्रावण शुक्ला १५ (अर्थात् ९ अगस्त, १८८१ ई०) तक २२ व्याख्यान हुए जिन्हें सुनकर लोग परम सन्तुष्ट हुए और स्वामीजी को शतशः धन्यवाद दिए। अस्सी-अस्सी, नब्बे-नब्बे वर्ष के वृद्ध कहते थे कि ऐसा ज्ञानी पण्डित और महात्मा उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। स्वामीजी के व्याख्यानों में एक अद्भुत बात यह भी होती थी कि श्रोताओं के मन में जो शङ्काएँ उठा करती थीं स्वामीजी उन्हें स्वयं ही उठाकर उनका निराकरण कर दिया करते थे।

**जैनियों का वैदिक धर्म में प्रवेश**– साधु सिद्धकरणजी के शास्त्रार्थ न करने और स्वामीजी के व्याख्यानों का यह प्रभाव हुआ कि अनेक हिन्दू और जैनी वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट हो गए और उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि हमें यज्ञोपवीत धारण कराइए। तदनुसार स्वामीजी ने राव साहब से एक बृहद्-यज्ञ का आयोजन करने के लिए कहा जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। इसके लिए मसूदा और अजमेर से हवन-सामग्री एकत्रित की गई, चाँदी के चमसे बनवाए, घृत और समिधाएँ मँगाई गईं, सोहननगरी पर ही सुन्दर यज्ञशाला बनवाई गई, उसे पुष्प-पत्र से सजाया गया। एक ओर तख्त पर स्वामीजी का आसन लगा, उनके सामने राव साहब बैठे। पहली आहुति राव साहब ने ही दी, तत्पश्चात् चार अन्य होताओं ने आहुति देनी आरम्भ की। दो घण्टे तक हवन हुआ फिर स्वामीजी ने ३२ मनुष्यों को स्वयं अपने कर-कमलों से यज्ञोपवीत धारण कराया। इनमें आधे से अधिक जैनी ही थे। राव साहब के कोठारी चाँदमलजी, जो जैनी थे, स्वयं यज्ञोपवीत लेने वालों में थे। यज्ञ-भूमि में ५०० के लगभग दर्शक थे। सबके सब यज्ञ को देखकर कह रहे थे कि ऐसा यज्ञ हमने कभी नहीं देखा था और न वेदमन्त्रों का ऐसा सुन्दर, सुमधुर उच्चारण ही सुना था।

उस दिन कुछ मनुष्य यज्ञोपवीत लेने से रह गए थे, अतः भादपद्र कृष्णा ५ तदनुसार १४ अगस्त, १८८१ ई०, रविवार) को दूसरा यज्ञ हुआ जिसमें स्वामीजी ने १६ मनुष्यों को यज्ञोपवीत दिए। इनमें भी जैनियों की ही संख्या अधिक थी।

**एक लज्जापद प्रथा**– मसूदा में मुसलमान बादशाहों के राज्य में कुछ हिन्दू मुसलमान हो गए थे, परन्तु उनकी जाति के हिन्दू उनसे अपनी पुत्रियों का विवाह करते आ रहे थे। स्वामीजी को जब यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने ऐसे हिन्दुओं को बुलाकर समझाया कि ऐसा अनर्थ क्यों करते हो और विधर्मियों से सम्बन्ध क्यों करते हो? स्वामीजी के सदुपदेश से उन्होंने आगे को ऐसा न करने का प्रण किया जिससे यह अनिष्टकर प्रथा बन्द हो गई। इस प्रकार स्वामीजी ने असंख्य हिन्दू स्त्रियों को विधर्मी होने से बचा लिया। संसार भर में यदि कोई जाति अपना अनिष्ट आप ही करने वाली है तो वह हिन्दू जाति ही है। जिन हिन्दुओं में उपर्युक्त घातक व्यवहार था उनमें लज्जा और स्वसम्मान का भाव सर्वथा नष्ट हो गया था। उनमें धर्माधर्म का विचार नाम तक को भी न रह गया था। हिन्दू धर्माध्यक्षों ने ऐसी कोई चेष्टा इससे पहले कभी न की थी कि वे इस कुप्रथा को रोकते। इससे अधिक सर्वनाश के लक्षण और क्या हो सकते हैं?

**बिहारीलाल ईसाई फिर आए**– श्रावण शुक्ला ४ संवत् १९३८ वि० अर्थात् ३० जुलाई सन् १८८१ ई० (शनिवार) को पूर्वोक्त बाबू बिहारीलाल ईसाई पुनः स्वामीजी से मिलने आए। थोड़ी देर बातचीत होने के पश्चात् धर्म-विषय में उनसे स्वामीजी का वार्तालाप होने लगा। इस पर राव साहब ने उनसे कहा कि आप पादरी शूलब्रेड के शिष्य हैं और मैं स्वामीजी महाराज का, आज मेरा और आपका संवाद होगा। इसे बिहारीलाल ने स्वीकार किया।

**वैदिक धर्मी शिष्य का ईसाई शिष्य से शास्त्रार्थ**– राव साहब ने उनसे प्रश्न किया कि बाइबिल में लिखा है कि ईसामसीह

ने एक बार उपदेश में कहा कि यदि आप लोगों में राई बराबर भी विश्वास होवे तो इस पहाड़ को चलायमान कर सकते हो अत: यदि आप का विश्वास पूरा है तो इस (सोहननगरी) पहाड़ को अपनी जगह से हटा दो। पादरी साहब इसका कुछ उत्तर न दे सके और अन्त में उन्होंने यह कहकर पीछा छुड़ाया कि इसका उत्तर मैं अब नहीं दे सकता, पादरी शूलब्रेड से पूछकर उत्तर दूँगा।

**सम्मान प्रदर्शन**– रियासत रायपुर से स्वामीजी के बुलाने के लिए दो पत्र आ चुके थे, परन्तु राव साहब का प्रेम उन्हें मसूदा से जाने नहीं देता था। जब वहाँ से तीसरा पत्र भी आ गया तो स्वामीजी ने राव साहब से कहा कि अब मुझे रायपुर जाना आवश्यक है, इसलिए आप मुझे प्रसन्नतापूर्वक विदा कीजिए। राव साहब ने कहा कि मेरी तो प्रार्थना यह थी कि आप यहीं विराजते और यहीं से वेदभाष्य की सहायता का प्रबन्ध कर दिया जाता। स्वामीजी ने इसका उत्तर दिया कि आप क्षत्रिय हैं, आपका धर्म और नीति ऐसी ही होनी चाहिए, परन्तु मैं साधु हूँ, मेरा एक स्थान पर रहना उचित नहीं है, मेरा काम सब स्थानों में घूमकर उपदेश करना है। अत: भाद्रपद कृष्णा ९ (अर्थात् १८ अगस्त, १८८१ ई०) का दिन स्वामीजी के प्रस्थान के लिए स्थिर किया गया। उस दिन उनका अन्तिम व्याख्यान राजा–प्रजा धर्म पर किले के भीतर ही हुआ। अन्त में राव साहब ने धन्यवाद–पत्र स्वामीजी के अर्पण किया और दोनों ने एक दूसरे के गले में पुष्पमालाएँ पहनाईं। राव साहब ने स्वामीजी को ४०० रु० वेदभाष्य की सहायता में दिए। १० रु० रामानन्द ब्रह्मचारी को, ५ रु० स्वामीजी के कहार को भी दिए। इसके पश्चात् स्वामीजी बग्घी पर सवार हुए। राजमन्त्री, राज्य के सदरदार, कर्मचारी और नगर के अन्य लगभग ४०० मनुष्य आध कोस तक उनके साथ गए, परन्तु फिर स्वामीजी ने उन्हें उपदेश देकर लौटा दिया। राव साहब तो स्वामीजी के साथ ५ मील दूर तक गए।

## रायपुर (१८८१ ई०)

भाद्रपद कृष्णा ९ संवत् १९३८ वि० (अर्थात् १८ अगस्त, १८८१ ई०) को दोपहर के पश्चात् ३ बजे स्वामीजी ने मसूदा से प्रस्थान किया और ७ बजे ब्यावर पहुँचकर रेलवे स्टेशन के पास की सराय में डेरा किया, जहाँ ब्यावर के प्रतिष्ठित पुरुषों ने जिनमें बाबू बिहारीलाल ईसाई भी थे उनके विश्राम का सब प्रबन्ध कर दिया। ब्यावर वालों ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि कुछ दिन ब्यावर रहकर उपदेश देने की कृपा करें, परन्तु स्वामीजी ने कहा कि इस समय तो मैं रायपुर जा रहा हूँ वहाँ से लौटते समय ब्यावर ठहरूँगा।

**स्वामीजी के चोट आ गई**– रात्रि के १० बजे रेल में सवार होकर स्वामीजी ३ बजे हरीपुर स्टेशन पर जो रायपुर से दो मील के अन्तर पर है, उतरे। रात्रि में अँधेरा था, कुछ कुछ बूँदें भी पड़ रही थीं और गाड़ी प्लेटफार्म से कुछ दूर जाकर खड़ी हुई थी। अत: गाड़ी से उतरते समय स्वामीजी का पाँव एक पत्थर पर पड़ा जिस पर पाँव के रखने से वह पत्थर लुढ़क गया और स्वामीजी गिर पड़े। भूमि पर सहारा लेने पर हाथ की हथेली में कङ्कड़ भी घुस गए, परन्तु परमात्मा की कृपा से अधिक चोट न आई। स्वामीजी तुरन्त उठ खड़े हुए और जिस डिब्बे में उनके साथी बैठ हुए थे और सामान रक्खा हुआ था उस पर पहुँचकर अपने साथियों को उतारा तथा सामान उठाकर सड़क पर रखवा दिया।

**रायपुराधीश के आदर्श नौकर**– राव हरिसिंह रायपुराधीश ने स्वामीजी के लिए एक रथ और दो गाड़ियाँ स्टेशन पर भेज दी थीं परन्तु उनके हाँकने वाले ऐसे बेसुध होकर सोए कि बहुत पुकारने पर भी उनका पता न लगा। रेल के कर्मचारियों ने स्वामीजी को कष्ट में देखकर उनके लिए एक कमरा खोल दिया और उनका बड़ा आदर–सत्कार किया। उसमें स्वामीजी और उनके साथी सुखपूर्वक सोए। प्रात:काल रथ और गाड़ी वालों का जब पता लगा तब स्वामीजी रथ पर सवार होकर और गाड़ियों में अपना सामान लदवाकर १९ अगस्त, १८८१ ई० को ८ बजे रायपुर पहुँचे और माधोदास की वाटिका के पास के महल में ठहरे।?

**स्वामीजी और राव की भेंट**– जब ठाकुर हरिसिंह को स्वामीजी के आने का समाचार विदित हुआ तो वे अपने बन्धुवर्ग और राजकर्मचारियों सहित स्वामीजी से मिलने आए और एक स्वर्णमुद्रा तथा पाँच रुपए उन्हें भेंट किए। कुशल–प्रश्न के पश्चात् जब सब लोग यथास्थान बैठ गए, तब स्वामीजी ने ठाकुर साहब से प्रश्न किया कि आपके यहाँ राजमन्त्री कौन है तो उन्होंने उत्तर दिया कि शेख इलाहीबख्श हैं, परन्तु वे इस समय जोधपुर गए हुए हैं उनके पीछे उनके भतीजे करीमबख्श (जो वहाँ उपस्थित थे) सब काम देखते हैं। यह सुनकर स्वामीजी ने कहा कि आर्य पुरुषों को उचित है कि यवनों को अपना राजमन्त्री न बनाएँ, ये तो दासी पुत्र हैं। इसे सुनकर करीमबख्श और अन्य ५–७ मुसलमान, जो वहाँ बैठे हुए थे, क्रोध में भर गए और थोड़ी देर पीछे सब वहाँ से चले गए।

**स्वामीजी को पीटने का षड्यन्त्र**– उस समय तो मुसलमानों ने कुछ न कहा परन्तु घर पहुँचकर वे स्वामीजी को पीटने का षड्यन्त्र रचने लगे। उनमें से एक मुसलमान समझदार भी था उसने कहा अभी कुछ मत करो, ५–७ दिन में काजीजी आएँगे तब उनके स्वामीजी से प्रश्नोत्तर कराना। यदि वे झूठे सिद्ध होंगे तो जैसा विचार कर रहे हो वैसा ही करना, यह सम्मति सबने स्वीकार की।

**रायपुराधीश की उदासीनता**– रायपुर आए हुए स्वामीजी को ५–७ दिन हो गए, परन्तु न तो किले में उनके व्याख्यान ही हुए और न यज्ञ ही हुआ जिसके करने के लिए चारण हरिदानजी ने ठाकुर साहब से कहकर स्वामीजी को रायपुर बुलाया था। ठाकुर साहब नित्यप्रति स्वामीजी के व्याख्यान सुनने आते थे, परन्तु यज्ञ की चर्चा न करते थे। एक दिन स्वामीजी ने ठाकुर साहब को इस बात का उपालम्भ दिया तो उन्होंने कहा मुझे भी इसका ध्यान है, परन्तु हरिदानजी अपने धाम को चले गए हैं, इसलिए उनकी ही प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

**काजीजी से वार्तालाप**– २७ अगस्त सन् १८८१ ई० अर्थात् भाद्रपद शुक्ला ३ संवत् १८३८ वि० को मुसलमानों की ईदुलफितर (रोजों की ईद) थी। काजीजी भी आ गए थे। २८ अगस्त को स्वामीजी प्रातःकाल ८ बजे भ्रमण करके लौटे ही थे कि उन्होंने यवनों का एक झुण्ड अपने निवास–स्थान की ओर आते हुए देखा। उन्होंने चाँदमल कोठारी राज्य मसूदा को, जो उनके साथ मसूदा से आए थे, बुलाया और कहा कि देखो क्या बात है, ये लोग क्यों आ रहे हैं, तब वे नीचे आ गए और यवन समुदाय के नेता से वृत्त ज्ञात करके स्वामीजी से कहा। स्वामीजी ने कहा कि उन्हें ऊपर बुला लो। तब स्वामीजी कुर्सी पर बैठ गए और वे लोग भी फर्श पर बैठ गए। उनके आते ही काजीजी से स्वामीजी निम्न प्रश्नोत्तर हुए–

*काजीजी*– आप हमें दासी पुत्र कैसे बतलाते हैं?

*स्वामीजी*– अपनी कुरानशरीफ को देखो। इब्राहीम की दो स्त्रियाँ थीं एक विवाहिता सारा, दूसरी दासी हाजिरा जिसे उन्होंने घर में डाल लिया था––––– अतः आपके दासी–पुत्र होने में क्या सन्देह है।

*काजीजी*– कुरान में ऐसा नहीं लिखा है।

*स्वामीजी*– (रामानन्द ब्रह्मचारी से कुरान की पुस्तक मँगाकर) देखिए सूरा अनकबूत में लिखा है कि उसी साल (खुदा ने) उसे (इब्राहीम को) हाजिरा (के गर्भ) से जो सारा की दासी थी, इस्माईल प्रदान किया।

*काजीजी*– वह दासी तो थी, परन्तु निकाह कर लिया था।

*स्वामीजी*– फिर भी वह वास्तव में दासी ही तो थी फिर आपके दासीपुत्र होने में क्या सन्देह है?

इस पर काजीजी निरुत्तर हो गए और मुसलमान देखते के देखते रह गए।

**कुरान का अपमान क्यों किया**– स्वामीजी ने काजीजी को दिखाकर कुरान को फर्श पर रख दिया। काजीजी ने कहा कि यह आपने क्या किया कुरान को पैरों में रख दिया? स्वामीजी ने कहा आपने क्या किया कुरान को पैरों में रख दिया? स्वामीजी ने कहा आप विचारिए तो सही कागज और स्याही किस प्रकार बनती है और छापेखाने में किस प्रकार छपती है

और कलम क्या वस्तु है और कहाँ उत्पन्न होता है। इस पर काजीजी और उनके साथी निरुत्तर होकर उठकर चले गए।
**राव साहब की रानी का देहान्त**– ४ सितम्बर, १८८१ ई० अर्थात् भाद्रपद शुक्ला ११संवत् १९३८ वि० (रविवार) तक न चारण हरिदान आए और न यज्ञ ही हुआ। ५ सितम्बर को तार आया कि ठाकुर साहब की ठाकुरानी शेखावट वाली का, जो उस समय जयपुर में थी, देहान्त हो गया और ठाकुर साहब शोकातुर होकर गरुड़पुराण सुनने लगे। तब स्वामीजी ने ७ सितम्बर को ठाकुर साहब से कहलाया कि मुझे विदा कर दीजिए तो उन्होंने कहा कि कल विदा कर देंगे। कोठारी चाँदमल और बाबू रूपसिंह ने कहा कि आप ठाकुर साहब से शोक–सहानुभूति प्रकट करने किले में पधारें तो स्वामीजी ने उत्तर दिया कि भाई मैंने तो सब संसार से सम्बन्ध त्याग दिया है किसी का मरना और जीना मेरे लिए एकसा है, मैं किसी से शोक वा हर्ष नहीं करता, न मेरा कुछ सम्बन्ध है। मेरा सम्बन्ध तो केवल उपदेश और धर्म से है, शेष किसी वस्तु से नहीं। अगले दिन स्वामीजी के लिए सवारी का प्रबन्ध हो गया। चलते समय ठाकुर साहब ने अपने पिता और मन्त्री आदि को स्वामीजी की सेवा में भेजा। उन्होंने ४० रु० ठाकुर साहब की ओर से वेदभाष्य की सहायता में भेंट किए और विनयपूर्वक कहा कि ठाकुर साहब ने क्षमायाचना की है कि शोकातुर होने के कारण वे सेवा में उपस्थित न हो सके, उन्हें आप अपना शिष्य जानें और वे शीघ्र ही आपको पुन: बुलाएँगे। मध्याह्नोत्तर ५ बजे स्वामीजी रेलवे स्टेशन पर पहुँच गए और रेल–कर्मचारियों को उपदेश देकर रात्रि के दस बजे ब्यावर के लिए रेल पर सवार हो गए। पुन: १२ बजे ब्यावर पहुँचकर रात्रि को सराय में ठहरे और प्रात:काल वहाँ के डाक बँगले में चले गए।

बाबू रूपसिंहजी जिनका नाम ऊपर आया है कोहाट में ट्रेजरी–क्लर्क थे। वह देशाटन करते हुए स्वामीजी के दर्शनों के लिए रायपुर पहुँचे थे। उन्होंने भी १० रु० वेदभाष्य की सहायतार्थ स्वामीजी की भेंट किए थे। उन्होंने स्वामीजी से निवेदन किया कि पञ्जाब पर तो आप कृपा कर चुके हैं, सीमाप्रान्त में भी पधारिए तो स्वामीजी ने कहा, इस समय तो राजस्थान में उपदेश की अधिक आवश्यकता है।

## ब्यावर (१८८१ ई०)

९ सितम्बर सन् १८८१ ई० के प्रात:काल से ही लोग स्वामीजी के दर्शनों के लिए आने लगे। बाबू बिहारीलाल ईसाई ने भी स्वामीजी की बड़ी शुश्रूषा की।

स्वामीजी के यहाँ कई व्याख्यान हुए जिन्हें सुनकर श्रोतागण परम सन्तुष्ट हुए। पादरी शूलब्रेड और बाबू बिहारीलाल से भी कई दिन तक स्वामीजी का धर्मविषय पर प्रेमालाप हुआ। एक श्रीमाली ब्राह्मण जोशी सूरजमल किशनगढ़ निवासी ने अपने पुत्र को स्वामीजी से ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश कराया। स्वामीजी ने उसका नाम गुरुनन्द रखा।

आश्विन कृष्णा १३ अर्थात् २१ सितम्बर सन् १८८१ ई० (बुधवार) को स्वामीजी मसूदा चले गए।

## मूसदा (१८८१ ई०)

स्वामीजी के उपदेशों से इसी समय आर्यसमाज का बीज बोया गया जो पीछे आकर अंकुरित हुआ और ब्यावर में आर्यसमाज स्थापित हो गया।

ब्यावर से स्वामीजी मसूदा लौट आए और वहाँ के रामबाग में उतरकर १५ दिन ठहरे।

**कबीरपन्थी साधु से बातचीत**– एक दिन एक कबीरपन्थी साधु जो पढ़ा–लिखा प्रतीत न होता था स्वामीजी से धर्मचर्चा करने आया जिससे अन्य प्रश्नोत्तरों के अतिरिक्त स्वामीजी से निम्नलिखित प्रश्नोत्तर भी हुए–

*स्वामीजी*– तुम्हारे मत के कितने ग्रन्थ हैं?

*साधुजी*– हमारे २४ करोड़ पुस्तक हैं।

*स्वामीजी*– यह बात मिथ्या है। इतनी संख्या के ग्रन्थों को रखने के लिए ही कितना स्थान चाहिए।

*स्वामीजी*– तुम्हारे कबीर कौन थे? तुम गुरु की प्रसादी अर्थात् उसका उच्छिष्ठ खाते हो या नहीं।
*साधुजी*– खाते हैं। कबीर का जन्म नहीं हुआ था, वे अजन्मा थे।
*स्वामीजी*– नवजात कबीर को उनकी माता ने मार्ग में फेंक दिया था। उन्हें एक मुसलमान जुलाहे ने उठा लिया और पुत्र के समान उन्हें पाला था फिर कैसे कहते हो वे अजन्मा थे। इस पर साधु फिर कुछ न बोला।

## बनेड़ा (१८८१ ई०)

आश्विन शुक्ला १४ संवत् १९३८ वि० अर्थात् ६ अक्टूबर, १८८१ ई० (गुरुवार) को स्वामीजी ने मसूदा से प्रस्थान किया और रात्रि में वहाँ से ९ कोस पर हुरड़े में पहुँचकर ६-७ घण्टे विश्राम करने के पश्चात् वे रूपाहेली पहुँचे और नगर के बाहर एक वाटिका में ठहरे। रूपाहेली के रईस ठाकुर लालसिंहजी स्वामीजी के पास आए और नवीन वेदान्त पर बातचीत करके चले गए। वहाँ से चलकर वे एक दिन राटेरा रहे और १० अक्टूबर सन् १८८१ ई० को प्रातःकाल बनेड़ा पहुँच गए।

**सुपठित राजा**– बनेड़ा के राजा गोविन्दसिंह मसूदाधीश के मातुल थे। वे सुपठित थे, इसी से मसूदाधीश की यह इच्छा थी कि स्वामीजी का और उनके मातुल का समागम हो। अतः उन्होंने राजा गोविन्दसिंह को लिखा था कि स्वामी दयानन्द वेदों के अद्वितीय पण्डित हैं आप उनसे अवश्य मिलिए। राजा गोविन्दसिंह यह पत्र पाकर बहुत प्रसन्न हुए और पत्र के उत्तर में लिख दिया कि स्वामीजी अवश्यमेव बनेड़ा पधारने की कृपा करें। जब स्वामीजी बनेड़ा पहुँचे तो राजा गोविन्दसिंह ने उनका प्रेमपूर्वक स्वागत किया और झामरा मन्दिर के कुएँ पर उनके लिए दो डेरे लगवा दिए, एक स्वयम् स्वामीजी के लिए और दूसरा उनके साथियों तथा सामान के लिए और उनके खान-पानादि का भी सुप्रबन्ध कर दिया।

**शक्ति हो तो स्वामीजी से प्रश्न किया जाए**– राजा गोविन्दसिंह ने अपने पण्डित राजगुरु बहादुरजी से मन्त्रणा की कि तीन चार दिन तक तो स्वामीजी से कोई प्रश्नोत्तर न किया जाए, पीछे यदि अपने में शक्ति देखी जाए तो शास्त्रालाप किया जाए।

उसी दिन अपराह्नः में राजा साहब स्वामीजी के दर्शनों के लिए आए। उस समय स्वामीजी कौपीन लगाए कृष्ण वर्ण के आसन पर बैठे हुए थे। राजा उनकी भव्य और विशाल मूर्त्ति को देखकर चकित और आह्लादित हो गए। उस समय स्वामीजी के पास ३०० के लगभग मनुष्य बैठे हुए थे। राजा साहब ने स्वामीजी का अभिवादन किया और स्वामीजी के पास एक आसन पर बैठ गए। कुशल प्रश्नानन्तर स्वामीजी ने उनसे कहा कि हमसे कोई प्रश्न कीजिए। प्रथम तो राजा साहब प्रश्न करने पर सहमत न हुए परन्तु स्वामीजी के आग्रह पर उनमें परस्पर निम्न प्रश्नोत्तर हुए–

***राजा से प्रश्नोत्तर***–

*प्रश्न*– जीव, आत्मा और परमात्मा क्या हैं और इनमें क्या भेद है?
उत्तर– जीव और आत्मा को तो हम एक ही मानते हैं और परमात्मा जीवात्मा से पृथक् है।
प्रश्न– *द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।*
*क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।१६।।*
*उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।*
*यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्त्यव्यय ईश्वरः ।।१७।।* भगवद्गीता अ० १६ ।श्लो० १६-१७।।

***अर्थ***– लोक में ये दो पुरुष हैं– एक नाशवान् दूसरा अविनाशी। सारे भूत (प्राणी) नाशवान् हैं, जो कूटस्थ है वह अविनाशी है। जो उत्तम पुरुष है उसे परमात्मा कहते हैं जो अविकारी ईश्वर है और जो तीनों लोकों में प्रवेश करके उन का भरण कर रहा है।

उत्तर– हम गीता का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते। आप वेद का पाठ करते हैं और आपके यहाँ वेद की खूब चर्चा है, आप वेद का प्रमाण दीजिए।

राजा साहब ने कोई प्रमाण न दिया।

**चारों वेदों के दर्शन**– अगले दिन राजा साहब ने स्वामीजी से कहा कि हमें चारों वेदों के दर्शन कराइए क्योंकि हमारे यहाँ केवल यजुर्वेद की ही चर्चा है। स्वामीजी ने उन्हें ऋग्वेद का पहला मन्त्र सस्वर सुनाया और सुनाते समय उँगली खड़ी कर ली जो उदात्त का चिह्न: है। राजा साहब ने स्वामीजी से कहा कि यह तो अनुदात्त है आपको उँगली खड़ी न करनी चाहिए थी। परन्तु स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हम उँगली खड़ी करने वा हिलाने का प्रमाण नहीं करते हमने तो केवल सङ्केतमात्र किया था।

**राजगुरु से बातचीत**– चार पाँच दिन तक आने के पश्चात् एक दिन राजा साहब और राजगुरु पण्डित बहादुरजी आए और स्वामीजी रचित संस्कारविधि: आदि उनके ग्रन्थों के ऊपर कई प्रश्न लिखकर अपने साथ लाए और साथ में महीधर का यजुर्वेद भाष्य भी लाए। इस पर महीधर का स्वामीजी ने प्रबल खण्डन किया। राजगुरु स्वामीजी की तीव्र आलोचना का कुछ उत्तर न दे सके, उन्होंने केवल इतना ही कहा कि महीधर अब उपस्थित नहीं है, आप उसकी अनुपस्थिति में उसका खण्डन करते हैं। ऐसे ही कोई आपकी अनुपस्थिति में आपका भी खण्डन करेगा।

**पुस्तकालय का उपयोग**– उस समय स्वामीजी के पास ऋक्, यजु:, साम के पुस्तक तो स्वर सहित थे परन्तु अथर्ववेद के पुस्तक पर स्वर नहीं लगे हुए थे। बनेड़े में महाराज ने सरस्वती–भण्डार नामक राजपुस्तकालय के निघण्टु से अपने निघण्टु का मिलान करके उसे ठीक किया था और यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य शिक्षा की प्रतिलिपि कराई थी।

**सस्वर–वेदपाठी राजकुमार**– राजा गोविन्दसिंह के दो राजकुमार थे जिन्हें उन्होंने सस्वर वेदपाठ करना सिखाया था। उनकी स्वामीजी ने वेद का जटा, पद, क्रम पाठ में परीक्षा ली थी और उनका सामगान सुना था और प्रसन्न होकर राजकुमारों को वर्णोच्चारण शिक्षा की पुस्तक दी थी।

**किले में उपदेश**– एक दिन स्वामीजी को राजा गोविन्दसिंह हाथी पर सवार कराकर किले में भी ले गए थे और वहाँ उनका धर्मोपदेश कराया था।

**पहले प्रश्न का उत्तर**– पहले दिन जो प्रश्न राजा गोविन्दसिंह ने जीवात्मा व परमात्मा के एकत्व के विषय में किया था उसका उत्तर राजा साहब के दुबारा पूछने पर स्वामीजी ने इस प्रकार दिया था कि जैसे मन्दिर और आकाश न एक हैं न पृथक् और पृथक् भी हैं, ऐसे ही जीव–ब्रह्म व्याप्य–व्यापक होने से एक नहीं हैं, प्रथक् ही हैं और ब्रह्म के सर्वव्यापक होने से वह पृथक् भी नहीं है, अत: दोनों पृथक्–पृथक् हैं।

**चक्राङ्कितों की मुक्ति का उपाय**– एक दिन चक्राङ्कितों के विषय में स्वामीजी ने कहा था कि यदि शरीर दग्ध करने से मुक्ति होती है तो इन लोगों को भड़भूजे के भाड़ में गिर जाना चाहिए ताकि सबकी एकदम मुक्ति हो जाए। स्वामीजी कहते थे कि चाण्डाल तक को वेद पढ़ने का अधिकार है।

२६ अक्टूबर, १८८१ ई० को स्वामीजी ने चित्तौड़गढ़ के लिए प्रस्थान किया।

## चित्तौड़ (१८८१ ई०)

**महाराणा सज्जनसिंह का चरित्र**– महाराणा सज्जनसिंह मेवाड़ाधिपति का चित्त नास्तिकता की ओर झुकने लगा था और उनके चरित्र में वेश्या रखने का दोष भी आ गया था। एक दो मुसलमानों से महाराणा बहुत प्रसन्न थे और वे उन्हें अपने वशवर्त्ती करने का उद्योग करते रहते थे। उदयपुर का राजधर्म शैव था। महाराणा भी ऊपर से शैवमत के प्रति अनुराग प्रकाशित करते थे। परन्तु उनके भीतर नास्तिकता और धर्मापहीनता का अंकुर प्ररोहित हो गया था। ऐसी अवस्था देखकर

पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या और कविराज श्यामलदास मन में बहुत दु:खित रहते थे और उन्हें यह चिन्ता रहती थी कि किस प्रकार महाराणा का मन धर्म की ओर आकृष्ट करें और इसके लिए वे सदा यत्न पर रहते थे। अत: वे जब महाराणा की सेवा में जाते तो रामायणादि धर्मग्रन्थ अपने साथ ले जाते और वहाँ जाकर उन ग्रन्थों को इस प्रकार रखते थे कि जिससे महाराणा की उन पर दृष्टि पड़े। महाराणा उन पुस्तकों को देखकर कभी-कभी पूछते थे कि वे क्या ग्रन्थ हैं और इस मिष से इन लोगों को धर्म की बातें महाराणा के कानों में डाल देने का अवसर प्राप्त हो जाता था।

**स्वामीजी के समाचार सुनने में महाराणा की रुचि**- उन दिनों समाचार पत्रों में स्वामीजी की बहुत चर्चा रहती थी और उनके व्याख्यानों और शास्त्रार्थों के वृतान्त भी उनमें प्रकाशित हुआ करते थे। पण्ड्याजी और कविराजजी समाचार पत्रों में से अन्य समाचारों के साथ-साथ स्वामीजी के समाचार भी महाराणा को सुना दिया करते थे जिन्हें वे रुचिपूर्वक सुना करते थे। राजदरबार में सभी लोग राजा को प्रसन्न करने का यत्न किया करते हैं और जिस विषय की ओर उसकी रुचि देखते हैं उसके अनुकूल ही कार्य करने का उद्योग करते हैं। महाराणा के चित्त में स्वामीजी के प्रति प्रीति का सञ्चार देखकर महाराणा के कृपापात्र मुसलमान कर्मचारी भी उर्दू समाचार पत्रों में से स्वामीजी सम्बन्धी समाचार उन्हें सुनाया करते थे।

**स्वामीजी के दर्शनों की इच्छा**- इस प्रकार महाराणा के हृदय में स्वमीजी के प्रति श्रद्धा और जिज्ञासा का उदय हुआ और वे स्वामीजी के दर्शनों की इच्छा करने लगे। अत: पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने स्वामीजी को पत्र लिखा कि यदि कभी आपका सङ्कल्प राजस्थान की ओर आने का हो तो मुझे सूचना देवें। कविराज श्यामलदासजी से भी स्वामीजी का पत्र-व्यवहार था।

**महाराणा ने सत्यार्थप्रकाश पढ़ा**- पण्ड्याजी सत्यार्थप्रकाश महाराणा के पास ले गए। महाराणा ने उसे ध्यानपूर्वक पढ़ा और पढ़कर उनका अनुराग स्वामीजी में और भी बढ़ गया जिससे उनमें उनके दर्शनों की इच्छा बलबती हो गई, परन्तु दोनों के मिलने में एक अड़चन थी।

**महाराजा और स्वामीजी के मिलने का सुयोग**- महाराणा को यह स्वीकार न था कि अपने राज्य से बाहर जाकर वे स्वामीजी से भेंट करें और स्वामीजी बिना निमन्त्रित हुए किसी राजा के पास जाने को उद्यत न थे। इतने में ही एक घटना उपस्थित हो गई जिससे दोनों के सम्मिलन का अवसर प्राप्त हो गया। चित्तौड़ से खण्डवे तक रेलवे लाइन बनकर तैयार हो गई थी। रेलवे वालों ने उसे खोलने के लिए भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड रिपन से प्रार्थना की। लार्ड रिपन भी चित्तौड़ देखने के लिए उत्सुक थे। महाराणा को जी०सी०एस०आई० की उपाधि भी दी जाने वाली थी और महाराणा उदयपुर राज्य से बाहर जाकर उसे ग्रहण करने पर सहमत न थे। अत: यह निश्चित हुआ कि लार्ड रिपन स्वयं चित्तौड़ आकर महाराणा को उस उपाधि से अलंकृत करें। अत: इसके लिए चित्तौड़ में लार्ड रिपन के दरबार का आयोजन होने लगा। महाराणा भी चित्तौड़ पहुँच गए।

**स्वामीजी का चित्तौड़ जाने का सङ्कल्प**- इधर स्वामीजी के जी में भी चित्तौड़ जाने की इच्छा हुई क्योंकि उन्होंने समझा कि इस अवसर पर राज्य के सभी गण्य-मान्य सरदार तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति आएँगे और उनमें धर्म प्रचार का सुअवसर प्राप्त होगा। अत: उन्होंने चित्तौड़ जाने का सङ्कल्प कर लिया। बनेड़े से ही उन्होंने कविराज श्यामलदास को पत्र लिखा कि हम २७ अक्टूबर को चित्तौड़ पहुँच जाएँगे, आप स्थान आदि का प्रबन्ध कर दें। कविराजजी उन दिनों रुग्ण थे, अत: वे पहले से कोई प्रबन्ध न कर सके। स्वामीजी बनेड़े से भीलवाड़ा और सोनियारा होते हुए चित्तौड़ पहुँचे और गम्भीरी नदी के पश्चिमी तट पर रुण्डेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरे। कविराजजी को जब स्वमीजी के आगमन का समाचर मिला तो उन्होंने महाराणा से आज्ञा लेकर स्वामीजी के लिए नदी तट पर एक डेरा लगवा दिया और भील कम्पनी के एक गार्ड का पहरा लगवा दिया और अन्य सब प्रबन्ध भी करा दिया।

स्वामीजी के पधारने का समाचार बात की बात में सर्वत्र फैल गया और अनेक लोग उनके दर्शन और उनसे धर्मालाप करने के लिए उनके पास आने लगे।

**तैलिङ्गी शास्त्री**– कविराजजी का रोग जब शान्त हुआ तो वे भी स्वामीजी की सेवा में रहने लगे। उनके साथ एक तैलिङ्गी शास्त्री भी आया करते थे और दार्शनिक विषयों पर बातचीत किया करते थे, परन्तु वे स्वामीजी की युक्तियों का उत्तर न दे सकते थे। शास्त्रार्थ इसी बात पर था कि पदार्थ छः हैं वा सात। स्वामीजी अभाव की गणना पदार्थों में नहीं करते थे।

**शाहपुराधीश**– कविराजजी की प्रेरणा से राज्य के सभी बड़े–बड़े जागीरदार, सरदार स्वामीजी के दर्शनों को आए। उन्हीं में राजाधिराज सर नाहरसिंहजी शाहपुराधीश भी थे जो स्वमीजी के अनन्य भक्त बन गए और आजन्म उनकी शिक्षाओं को मानते रहे।

**निर्भय वाणी**– दरबार की समाप्ति के पश्चात् एक दिन महाराणा ने स्वामीजी को अपने पास बुलाया, तब स्वामीजी उनके पास गए और उन्हें राजनीति का कुछ उपदेश करके तथा राजाओं के चरित्र में वेश्यागमन के दोष दिखाकर लौट आए थे। स्वामीजी की निर्भय–वाणी का महाराणा के चित्त पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने अमात्यवर्ग और सरदारों से स्वामीजी की भूरि–भूरि प्रशंसा की और कहा कि केवल एक यही मनुष्य है जो बिना लाग लपेट के सदुपदेश करता है।

**महाराणा स्वामीजी के आसन पर पधारे**– ४ दिसम्बर सन् १८८१ ई० को स्वयं महाराणा स्वामीजी के डेरे पर पधारे। स्वामीजी से वार्त्तालाप करके वह परम सन्तुष्ट हुए और उनके हृदय में स्वामीजी के प्रति श्रद्धा–भक्ति का जो अंकुर पहले से उगा हुआ था वह पल्लवित और प्रवर्द्धित हो गया। स्वामीजी ने महाराणा से कहा कि हमारी धारणा थी कि भारत के इस समय के राजागण प्रायः अकर्मण्य होते हैं परन्तु आपसे मिलकर विश्वास हो गया कि आप बहुत योग्य हैं। हमें पण्डित मोहनलाल ने लिखा था कि आप कर्मवीर और 'यथा नाम तथा गुणः' हैं। हमने आप को वैसा ही पाया।

स्वमीजी के अनुरोध पर महाराणा ने पण्डित मोहनलाल को उदयपुर से बुलवाया वे आकर स्वामीजी से मिले। स्वामीजी ने महाराणा से पण्डितजी की प्रशंसा की और इससे वे महाराणा के और भी विश्वासपात्र बन गए।

**चित्तौड़ की सैर**– एक दिन महाराणा साहब स्वामीजी के डेरे पर पधारें और स्वामीजी को अपने साथ सवार कराकर दरबार के स्थान पर ले गए और चित्तौड़ के अनेक स्थान उन्हें दिखाए तथा उनसे प्रार्थना की कि जब हम उदयपुर जाएँ तब आप भी हमारे साथ वहाँ चलने की कृपा करें। स्वामीजी ने कहा कि इसका उत्तर हम पीछे से देंगे। इसके पश्चात् स्वमीजी ने महाराणा को कहला दिया कि इस समय तो हम मुम्बई जा रहे हैं वहाँ से लौटते समय यदि महाराणा की ऐसी इच्छा होगी तो हम उदयपुर आ जाएँगे, हम खण्डवा पहुँचकर इसकी सूचना देंगे। यदि निर्दिष्ट दिनों के भीतर हमारे पास महाराणा का उत्तर पहुँच जाएगा तो हम उदयपुर आ जाएँगे, नहीं तो अन्यत्र चले जाएँगे।

**जीवनगिरि का द्वेष**– उन दिनों चित्तौड़ में स्वामी कैलाशपर्वत के शिष्य जीवनगिरि और आत्मानन्दगिरि भी ठहरे हुए थे। महाराणा स्वामी कैलाशपर्वत और जीवनगिरि का मान करते थे। स्वामीजी के चित्तौड़ पधारने पर जीवनगिरि ने उनके विरुद्ध बहुत कुछ कहा सुना और एक दिन स्वयं महाराणा से प्रस्ताव किया कि हमारा स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ होना चाहिए, परन्तु महाराणा ने कहा कि आप दोनों ही हमारी श्रद्धा के पात्र हैं, हम इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हैं। जीवनगिरि को यह देखकर कि महाराणा स्वामीजी का इतना मान करते हैं, स्वमीजी से ईर्ष्या हो गई थी और इससे वे बहुत दुःखित थे।

**सम्मान प्रदर्शन**– जब महाराणा चित्तौड़ से उदयपुर जाने लगे तो उन्होंने सम्मान–प्रदर्शनार्थ ५०० रु० स्वामीजी को भेंट किए और २०० रु० अन्य दरबारियों ने भी उन्हें दिए। जब यह बात जीवनगिरि को ज्ञात हुई तो उनके रोष का ठिकाना न रहा और ऊल–जलूल बकने लगे। महाराणा ने उन्हें शान्त करने के लिए ५०० रुपये उनके पास भी

भिजवाए थे, परन्तु वे इतने जले-भुने हुए बैठे थे कि रुपए न लिए और चित्तौड़ से ही चले गए [६२०]।

**मातृ शक्ति को प्रणाम**- कहते हैं कि एक दिन स्वामीजी कई राजाओं और राजकर्मचारियों के साथ भ्रमण को जा रहे थे। मार्ग में एक देवालय आ गया। वहाँ छोटे-छोटे बालक खेल रहे थे। उन्हीं में एक चार वर्ष की कन्या भी थी जो वस्त्र पहिने हुए न थी। स्वामीजी ने उसे देखकर सिर झुका दिया। साथ के लोगों ने कहा कि आप मूर्त्तिपूजा का कितना ही खण्डन करें, परन्तु देव-बल का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देवालय के सामने आपका मस्तक अपने आप झुक गया। स्वामीजी तत्काल खड़े हो गए और कहा 'देखते नहीं हो, यह मातृशक्ति है जिसने हम सबको जन्म दिया है।'

स्वामीजी २७ अक्टूबर १८८१ ई० से २० दिसम्बर सन् १८८१ ई० तक चित्तौड़ में रहे, फिर वहाँ से मुम्बई की ओर चले गए।

## इन्दौर (१८८१ ई०)

२१ दिसम्बर सन् १८८१ ई० तदनुसार पौष अमावस्या संवत् १९३८ वि० (बुधवार) को स्वामीजी इन्दौर पहुँचे। वहाँ पहुँचकर ज्ञात हुआ कि महाराजा इन्दौर से बाहर हैं। पण्डित श्रीनिवास जज ने स्वामीजी को बड़ी श्रद्धा और सम्मान से ठहराया। इस बार स्वामीजी इन्दौर में ७ दिन रहे और लोगों को अपने उपदेश से कृतार्थ करते रहे। २७ दिसम्बर, १८८१ ई० को स्वामीजी इन्दौर से मुम्बई चले गए।

---

६२०- '*दयानन्दप्रकाश*' में लिखा है कि पहले महाराणा ने कतिपय विश्वस्त जन को स्वामीजी के रहन-सहन आदि को देखने के लिए भेजा। जब उन लोगों ने लौटकर स्वामीजी की प्रशंसा की तब एक दिन महाराणा स्वामीजी के डेरे पर प्रच्छन्न रूप से आए और एक पटड़े पर बैठ गए। स्वामीजी ने उनकी ओर संकेत करके कहा कि आपका साक्षात्कार तो पहले कभी हुआ नहीं दिखता। इस पर शाहपुराधीश ने कहा कि आप ही श्री महाराणा हैं। इस पर स्वामीजी ने कहा कि श्रीमानों को इस प्रकार साधारण आसन पर बैठना शोभा नहीं देता। महाराणा ने उत्तर दिया कि सन्तों के पास साधारण आसन पर बैठने में ही गृहस्थों की शोभा है। अन्यत्र सर्वत्र तो हमें राजसी ठाठबाठ के साथ जाना ही पड़ता है, यदि संन्यासियों के सत्सङ्ग में भी उसी ठाठबाठ से आएँ तो उससे विशेषता ही क्या हुई। यह घटना सम्भव हो सकती है। ऊपर लिखित घटना से इसमें कुछ विशेष है। विरोध इतना ही है कि उपर्युक्त घटना में पहले स्वामीजी को महाराणा के पास जाना लिखा है और इसमें महाराणा का उनके पास आना। परन्तु यदि '*दयानन्दप्रकाश*' की घटना सत्य हो तो यह मानना ही पड़ेगा कि पहले महाराणा ही स्वामीजी के पास आए थे। -*संग्रहकर्ता*

# मुम्बई (१८८१-८२ ई०)

३० दिसम्बर सन् १८८१ ई० तदनुसार पौष शुक्ला १० संवत् १९३८ वि० (शुक्रवार) को स्वामीजी मुम्बई पहुँचे। उनके स्वागत के लिए रेलवे स्टेशन पर कर्नल आल्काट और आर्यसमाज मुम्बई के सभासद् उपस्थित थे। जब स्वामीजी गाड़ी से उतरे तो सबने बड़े प्रेम से उन्हें 'नमस्ते' कहा। स्वामीजी ने भी वैसे ही प्रेम से सबका प्रत्यभिवादन किया। कर्नल आल्काट आग्रह करके उन्हें बालकेश्वर के गोशाला स्थान पर ले गए जहाँ वे स्वयं ठहरे हुए थे।

इस बार स्वामीजी ने मुम्बई में निम्नलिखित व्याख्यान दिए-

**ठाकुर साहब मोर्वी व्याख्यान में पधारे**- फरवरी को एक वक्तृता महाजन बाड़ी में हुई थी उसमें सेठ लछमनदास खेमजी के साथ ठाकुर साहब मोर्वी भी पधारे थे। वक्तृता की समाप्ति पर जब ठाकुर साहब सभा-स्थल से जाने लगे तो स्वामीजी ने उनके पास जाकर कहा कि ठाकुर साहब आप जाने में इतनी शीघ्रता क्यों करते हैं। जो कुछ व्याख्यान में आपने सुना वह सब आपका ही है।

**वक्ता आपके राज्य का ही निवासी है**- ठाकुर साहब इस बात को न समझ सके तब स्वामीजी ने उनसे स्पष्ट शब्दों में कहा कि वक्तृता देने वाला आपके ही राज्य का रहने वाला है।

मुम्बई समाचार नामक पत्र में स्वामीजी की वक्तृताओं की रिपोर्ट प्रकाशित हुआ करती थी।

**प्राचीन काल में दूध-दही की बहुतायत**- ३ जून की वक्तृता के सम्बन्ध में उसमें छपा था कि आज वृष्टि के कारण अधिक लोग एकत्रित नहीं हुए थे फिर भी प्रायः २५० मनुष्य उपस्थित थे। स्वामीजी ने उसमें कहा था कि आजकल दूध ा-घी बहुत महँगा हो गया है, बहुत से लोग इस समय इन वस्तुओं को नहीं खा सकते। गुजरात के ग्रामों में अनेक लोग दूध-दही को मुँह में नहीं दे सकते। यदि किसी के घर में पुराने बही-खाते हों तो उनके देखने से ज्ञात हो सकता है कि पुराने समय की अपेक्षा इस समय ये वस्तुएँ कितनी महार्घ हो गई हैं।

**हमें व्यापार में प्रवृत्त होना चाहिए**- देशोन्नति के विषय में उन्होंने कहा था कि इस समय हमारे देशवासियों को वाणिज्य-व्यापार में प्रवृत्त होना चाहिए और इतर देशों में जाकर वाणिज्य करना चाहिए। कनौजिये ब्राह्मण पलटनों में भर्ती होकर काबुल आदि देशों में जाते हैं परन्तु वाणिज्य के उद्देश्य से देशान्तर में नहीं जाते। इस देशवालों को उचित है कि अपनी कन्याओं के विवाह अपेक्षाकृत दूरतर देशों में करें। इससे धीरे-धीरे उन देशों के साथ हमारा सम्बन्ध निबद्ध हो जाएगा।

**वेद में मूर्त्तिपूजा नहीं है**- ११ जून की वक्तृता के सम्बन्ध में लिखा था कि स्वामीजी ने कहा था कि वेद में मूर्त्तिपूजा नहीं है। उत्तर काल में ब्राह्मणों ने इसे प्रचलित कर दिया। वेद में जीवित पिता, माता, आचार्य और अतिथि रूपों मूर्त्तियों की पूजा का विधान है।

**मन्त्र शब्द का अर्थ**- मन्त्र शब्द आजकल अन्यथा-अर्थों में प्रचलित हो गया है। दुष्ट लोग हनुमान्, काली आदि के मन्त्र द्वारा कुसंस्कारापन्न लोगों का धनहरण करते हैं। मन्त्र शब्द का प्रकृत अर्थ विचार है, इसी कारण विचारशील वा विचारपटु मनुष्य ही मन्त्री पद पर आरूढ़ होते हैं। यन्त्र शब्द से कला प्रभृति का ग्रहण होना चाहिए परन्तु मन्त्र शब्द के समान यन्त्र शब्द भी विकृत अर्थों में व्यवहृत होने लगा है। लोक में मारण, उच्चाटन आदि अर्थों में ही मन्त्र, यन्त्र शब्दों का प्रयोग होता है।

**श्राद्ध की अप्रामाणिकता**- 'पितृ' शब्द के ऊपर कहा था कि पूर्वज, पूर्व पुरुष ही पितृ लोग हैं। कोई नहीं जानता कि मृत पितर मरने के पीछे किस स्थान में रहते हैं। इसका किसी प्राचीन ग्रन्थ में प्रमाण नहीं है कि मृत पितर श्राद्ध से सन्तुष्ट और तृप्त होते हैं।

**मैं वेद से मूर्त्तिपूजा सिद्ध करूँगा**- १३ जून को एक पण्डित व्यङ्कटेश्वराचार्य ने मुम्बई समाचार में लिखा था कि स्वामी

दयानन्द कहते हैं कि वेद में मूर्त्तिपूजा नहीं है, पर मैं सिद्ध करूँगा कि है। इसके लिए विद्वानों की एक कमेटी होनी चाहिए।
**स्वामीजी मेरे सामने आने से डरते हैं**– व्यङ्कटाचार्य को मिस्टर रामदास छबीलदास बैरिस्टर के चचा देवीभक्त ने ही स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत किया था और उन्हें कुछ रुपया भी दिया था। व्यङ्कटाचार्य ने यह भी लिखा था कि स्वामी दयानन्द भीरुता के कारण मेरे सम्मुख आने से डरते हैं। व्यङ्कटाचार्य के लेख का उत्तर मिस्टर रामदास छबीलदास ने संस्कृत में श्लोकबद्ध दिया था। उस पर स्वामीजी ने हस्ताक्षर किए और वह व्यङ्कटाचार्य के पास भेजा गया था। उन श्लोकों में से केवल आधा श्लोक ही मिस्टर रामदास छबीलदास को जब देवेन्द्र बाबू उनसे मिले थे, तब याद था। वह इस प्रकार था –

*'भीत: कदा नाम मृगेन्द्रशावो दीनं मुखं वीक्ष्य मृगाङ्गनाया:।'* अर्थात् सिंह का बच्चा हरिणी के दीन मुख को देखकर कब डर सकता है।

**दूर से ढोल पीटते रहे**– व्यङ्कटाचार्य दूर ही से शास्त्रार्थ का चैलेञ्ज देते रहे, परन्तु स्वामीजी के सम्मुख आकर शास्त्रार्थ करने का उन्हें कभी साहस भी न हुआ।

**वेद से मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने वाले को पाँच हजार रुपए का पुरस्कार**– आर्यसमाज मुम्बई के एक प्रतिष्ठित और धनाढ्य सभासद् सेठ मथुरादास लौजी ने एक विज्ञापन दिया था कि जो कोई मनुष्य मूर्त्तिपूजन के वेदविहित होने का निश्चय करा देगा उस मैं ५,००० रुपए पारितोषिक दूँगा। यह विज्ञापन उन्होंने मई सन् १८८२ ई० की किसी तारीख को दिया था। परन्तु न तो व्यङ्कटाचार्य ही और न कोई अन्य पण्डित ही मूर्त्तिपूजा को वेदविहित सिद्ध करने में प्रयत्नशील हुआ।

**गोरक्षा का समर्थन**– ११ जून को अहिंसा पर बोलते हुए स्वामीजी ने गोरक्षा का बड़ा प्रबल समर्थन किया था। उसके पश्चात् मूलजी जेठा मार्केट में ही उन्होंने इसी विषय पर एक प्रबल भाषण दिया। भाटिया लोग प्राय: स्वामीजी के विरुद्ध थे, परन्तु इन भाषणों को सुनकर उन्होंने विरोध का परित्याग कर दिया था और स्वामीजी के गोरक्षा मेमोरियल पर लोगों के हस्ताक्षर कराने के लिए बहुत कुछ उद्योग किया और अपनी कोठियों पर गोरक्षा विषय पर स्वामीजी के व्याख्यान भी कराए।

**ठाकुरदास जैन का नोटिस**– ठाकुरदास जैन ने १३ जून को मुम्बई के सालिसिटर स्मिथ और फायर के द्वारा स्वामीजी को नोटिस दिया था कि आपने *'सत्यार्थप्रकाश'* के पृष्ठ ४०२ और ४०३ पर जैन-धर्म के सम्बन्ध में जो श्लोक उद्धृत किए हैं वे झूठे हैं, आप अपना अपराध स्वीकार कीजिए और उन श्लोकों को सत्यार्थप्रकाश से निकाल दीजिए अन्यथा आप पर अभियोग चलाया जाएगा। स्वामीजी ने इस नोटिस का उत्तर १९ जून को पेन गिल्वर्ट अटारनी के द्वारा दिया था कि मैंने जो कुछ लिखा है देखभाल कर और विचार करके ही लिखा है, यदि मुझे मेरी भूल दिखा दी जाएगी तो दूसरे संस्करण में उसे दूर कर दूँगा।

जैनियों को सत्यार्थप्रकाश पर आक्षेप करने की उसके छपने के कई वर्ष बाद सूझी। उन्होंने किसी विद्वान् से तो आक्षेप कराए नहीं, जो स्वामीजी उनका यथोचित उत्तर देते। एक अर्द्धशिक्षित जैनी ठाकुरदास गुजराँवाले को आगे कर दिया जो भाषा के चार अक्षर भी शुद्ध नहीं लिख सकता था। वह आरम्भ से यही कहता रहा कि या तो बताओ कि जो प्रमाण सत्यार्थप्रकाश में दिए हैं वह जैनियों के किस ग्रन्थ के हैं, नहीं तो क्षमा माँगो, अन्यथा हम नालिश करेंगे। उसके पत्रों का उत्तर आर्यसमाज मेरठ और गुजराँवाले के मन्त्रियों की ओर से दिए गए। अन्त में जैनियों के गुरु श्री पूज्य आत्माराम[६२१] को लिखा गया कि यदि आप सत्याऽसत्य का निर्णय चाहते हैं तो स्वयं सामने आकर शास्त्रार्थ कीजिए अथवा किसी अन्य विद्वान् को

---

६२१- ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन में इनका नाम आत्माराम लिखा है। देखो ऋषि का पत्र व्यवहार पृष्ठ २५०, २५३ इत्यादि। – *संग्रहकर्ता*

शास्त्रार्थ के लिए सन्नद्ध कीजिए। इस पर उन्होंने कुछ आक्षेप स्वामीजी के पास लिखकर भेजे जिनका प्रमाणों के पते सहित उत्तर भेज दिया गया[६२२] जिसके प्रत्युत्तर में उन्होंने कुछ न लिखा। परन्तु ठाकुरदास बराबर आन्दोलन करता रहा और जैनियों को स्वामीजी के ऊपर अभियोग चलाने के लिए उकसाता रहा। इसी का फल ऊपर का नोटिस था। स्वामीजी का नोटिस पाकर ठाकुरदास और जैन समुदाय शान्त हो गया।

यहाँ एक बात हमें अवश्य कह देनी चाहिए कि जिन ग्रन्थों के प्रमाण सत्यार्थप्रकाश में दिए गए थे वे चार्वाक आदि सम्प्रदायों के थे, जो बौद्ध सम्प्रदाय के समझे जाते हैं। परन्तु उन दिनों जैन और बौद्ध का एक ही उद्‌गम माना जाता था। उन दिनों के जैन विद्वान् राजा शिवप्रसाद सी०एस०आई० ने अपने ग्रन्थ इतिहास-तिमिर-नाशक में इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया था। इन्हीं आधारों पर स्वामीजी ने उक्त आक्षेप किए थे। अब अनेक विद्वानों की सम्मति है कि जैन और बौद्ध एक दूसरे से स्वतन्त्र मत हैं यद्यपि दोनों की बहुत सी बातें आपस में मिलती हैं यह विषय अब भी विवादास्पद ही है।

**प्रचार में परिवर्तन**- इस समय स्वामीजी पूर्व की भाँति मूर्त्तिपूजा के खण्डन पर विशेष बल नहीं देते थे। इस समय वे गोरक्षा के आन्दोलन में लगे हुए थे। उसी पर उन्होंने कई वक्तृताएँ दी थीं। इस बार प्राय: सभी लोग श्रद्धान्वित चित्त होकर उनके पास आते-जाते थे। जिन्होंने पहली बार उनसे शत्रुता की थी इस बार वे लोग भी प्रीति के साथ उनके दर्शन को आते थे।

**मुसलमान वेदान्ती का वैर-त्याग**- खोजा सम्प्रदाय के एक मुसलमान वेदान्ती ने पहली बार उनका विरोध किया था, इस बार उसका विरोध भी शान्त हो गया था। एक दिन वह स्वामीजी के पास आया और उसने कहा कि मैंने पहली बार आपका विरोध किया था। उसका कारण यह था कि आपके शत्रुओं ने मुझे आपके विरुद्ध उकसाया था। मैं अपने उस अपराध के लिए आपसे क्षमा प्रार्थना करता हूँ, आप यथार्थ में महापुरुष हैं।

**राणडे महोदय से भी न मिले**- इस बार स्वामीजी वेदभाष्य के कार्य में बहुत व्यापृत थे। उन्होंने विज्ञापन दे दिया था कि वे प्रात:काल के ८ बजे से सायङ्काल के ५ बजे तक किसी से न मिलेंगे। ५ बजे से रात्रिपर्यन्त ही मिल सकेंगे। एक दिन श्रीमान् गोविन्द महादेव रानडे स्वामीजी से मिलने आए और एक घण्टे तक प्रतीक्षा करते रहे। स्वामीजी ने उनको कहला दिया कि आप क्षमा करें इस समय मैं आप से अधिक देर तक बातें नहीं कर सकूँगा। यह सुनकर वे चले गए और फिर ५ बजे सायङ्काल आकर उनसे मिले। महामना रानडे स्वामीजी को गुरुभाव से मानते थे और एक बार उन्होंने प्रयाग की सोशल कान्फ्रेंस में वक्तृता देते हुए स्वामीजी को अपना गुरु बतलाया था।

**विलक्षण धारणाशक्ति**- स्वामीजी की धारणा-शक्ति विलक्षण थी। वह एक बार जिस मनुष्य को देख लेते थे उसे बहुत कम भूलते थे। दानापुर से बा० जनकधारीलाल, रामनारायणलाल और पं० आदित्यनारायण आर्यसमाज मुम्बई के दर्शनार्थ और विशेषत: स्वामीजी से मिलने के लिए मुम्बई आए थे। तब उन्हें दूर से ही देखकर स्वामीजी ने उन्हें पहचान लिया और कहा कि दानापुर वाले सज्जनवृन्द आ रहे हैं। परन्तु इन आगन्तुकों ने स्वामीजी को न पहचाना। कारण यह था कि जब स्वामीजी दानापुर गये थे तब बहुत दिनों तक रोगी रहने के कारण उनका शरीर कृश हो रहा था और इस समय वह हृष्ट-पुष्ट थे। जब स्वामीजी ने उनका नमस्ते कहकर स्वागत किया तब बोली से उन्होंने पहचाना। उस समय स्वामीजी आर्यसमाज के उत्सव में जाने को तैयार थे। उन्होंने आगन्तुकों से कहा कि आर्यसमाज में इस समय हवन होने वाला है आप शीघ्र ही स्नान करके चलने के लिए तैयार हो जाइए। इस पर वे शीघ्र ही निवृत्त होकर स्वामी के साथ उत्सव में गए।

---

६२१- ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन में पं० आत्माराम और ठाकुरदास के नाम अनेक पत्र छपे हैं। देखो पृष्ठ २१०, २३४, २५०, २७२, ३४२। - *संग्रहकर्ता*

**चतुर्मुख ब्रह्मा**– वहाँ एक ब्राह्मण ऐसा था जिसे चारों वेद सस्वर कण्ठ थे। स्वामीजी ने दानापुरवालों से कहा कि तुम लोग सुनते रहे हो कि ब्रह्मा के चार मुख हैं सो यही चतुर्मुखी ब्रह्मा हैं। उसी को यज्ञ में ब्रह्मा का आसन दिया गया था।

**मनोहर सामगान**– सायंकाल को स्वामीजी ने वेद–विषय पर व्याख्यान दिया। उससे पहले एक दक्षिणी ब्राह्मण ने तानपूरे पर सामवेद का गान किया, जिसे सुनकर लोग मुग्ध हो गए। उसने एक समाँ बाँध दिया। इस समय डाकखाने का एक बड़ा अफसर भी अपने परिवार सहित उपस्थित था। वह भी सुनकर चकित रह गया। उत्सव में स्वामीजी का एक व्याख्यान संस्कृत में भी हुआ था। उसमें उन्होंने कहा था कि मनु का दण्ड–विधान आजकल के दण्ड–विधान से अच्छा था। उससे चोर आगे चोरी करने से डरता था, अब तो वह उससे प्रेम करता है, उसे जेल में घर से भी अच्छा भोजन मिलता है।

**स्वयमेव शङ्का–समाधान हो गया**– बाबू जनकधारीलाल वास्तव में स्वामीजी से अपनी उन शङ्काओं के निवारण करने के लिए ही मुम्बई गए थे जो उनके मन में समय–समय पर उठती रही थीं। उन्होंने अपने मुम्बई आने का उद्देश्य स्वामीजी से प्रकट न किया था परन्तु स्वामीजी ने उनसे स्वयं ही कहा कि आप कुछ प्रश्न पूछने के लिए आए हैं।[६२३] उन प्रश्नों को आप एक कागज पर लिख लें ताकि ऐसा न हो कि फिर आप उन्हें भूल जाएँ। अत: वे प्रश्न लिखने बैठे परन्तु जो प्रश्न वे लिखते थे उसका उत्तर तत्काल ही उन्हें भासित हो जाता था। अन्त को एक प्रश्न भी ऐसा न रहा जिसका उत्तर उन्हें भासित न हो गया हो।

**उपासनाा की रीति**– जब स्वामीजी ने पूछा कि कहिए क्या पूछना है तो उन्होंने केवल यही कहा कि परमेश्वर की उपासना किस रीति से करनी चाहिए।स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हमने वह रीति आपको और आपके साथियों को दानापुर में जोंस साहब के बँगले पर बताई थी। उन्होंने कहा जैसी रीति आपने बताई थी मैं उसी के अनुसार करता हूँ। स्वामीजी ने कहा कि तुम नहीं करते, हमारे सामने करके दिखलाओ। उन्होंने प्राणायाम किया तो मस्वामीजी ने कहा कि जब तुम भीतर की वायु को बाहर फेंकते हो तो तुम्हारा मूलाधार ऊपर को उठ जाना चाहिए सो तुमसे नहीं बनता। अच्छा तुम जैसे करते हो वैसे ही करते रहो।

**मन की एकाग्रता का उपाय**– फिर उन्होंने पूछा कि मन स्थिर नहीं होता। स्वामीजी ने कहा कि उसे एक जगह ठहरा लो। बाबू जनकधारीलाल ने कहा कि नहीं ठहरता, क्या इसके लिए किसी वस्तु का ध्यान करने की आवश्यकता है। स्वामीजी ने कहा कि नहीं और यदि यह तुम से नहीं हो सकता तो अपने भीतर किसी तिल वा सुई की नोक के बराबर किसी वस्तु की कल्पना कर लो और उस पर ध्यान जमाओ, फिर उसके टुकड़े करके एक टुकड़े पर ध्यान जमाओ। ऐसे ही टुकड़े करते चले जाओ यहाँ तक कि अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म टुकड़ा रह जाए। फिर उसे भी उड़ा दो। तब तुम्हारी धारणा हो जाएगी। स्वामीजी समाधि के विषय में भी कहना चाहते थे परन्तु बाबू जनकधारीलाल ने कहा कि अब इतना ही पर्याप्त है, जब इतना अभ्यास हो जाएगा तब आगे को पत्र द्वारा पूछ लूँगा। स्वामीजी ने कहा कि मैं पत्र का उत्तर न दे सकूँगा, तो बाबू जनकधारीलाल ने कहा कि जब आप दानापुर के निकट आएँगे तब मिलकर पूछ लूँगा।

**यम–नियम का सेवन करो**– पं० आदित्यनारायण ने भी स्वामीजी से उपासना में मन लगाने की विधि पूछी। स्वामीजी ने उनसे कहा कि यम–नियम का सेवन करो। उन्होंने दूसरी और तीसरी बार भी इसी प्रश्न को किया और स्वामीजी ने हर बार यही उत्तर दिया। पण्डितजी इस पर कुछ चिढ़े कि हमारा आना व्यर्थ हुआ, कुछ भी पल्ले न पड़ा।

**एक मुकद्दमे में झूठी साक्षी देकर आए थे**– फिर उन्होंने सोचा कि स्वामीजी के इस उत्तर का क्या कारण है तो उन्हें स्पष्ट ज्ञात हो गया। वे एक मुकद्दमे में झूठी साक्षी देकर आए थे और फिर भी देने वाले थे। बस यही कारण स्वामीजी के

६२३–'*प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्*' (योगदर्शन ३/१९) की सिद्धि स्वामी दयानन्द को प्राप्त थी जिससे वे दूसरों के मनोभावों पर भी संयम का प्रयोग करके उसके मनोभावों के केन्द्रीय भाव्य और चिन्तनीय वस्तु अर्थात् अवलम्बन का ज्ञान कर लेते थे।

यम-नियम पर इतना बल देने का था। स्वामीजी यह वृत्त अपनी योग-विभूति से जान गए थे।

**सेठ के लज्जालु पुत्र को उपदेश**- एक दिन एक सेठजी आए। उनका दशवर्षीय पुत्र भी उनके साथ था। वह अत्यन्त लज्जालु था। किसी प्रकार स्वामीजी ने उसे अपने पास बुलाया था और उसे कहा कि तुम नित्य सबेरे उठकर और मुँह-हाथ धोकर अपने माता-पिता को नमस्ते किया करो और पाठशाला जाते हुए अपनी पुस्तकें स्वयं ले जाया करो, नौकर से मत लिवा जाया करो। यदि मार्ग में कोई स्त्री तुम्हें मिल जाए तो उसकी ओर दृष्टि जमाकर मत देखो, अपनी दृष्टि नीची कर लो, नहीं तो उस स्त्री की आकृति तुम्हारे मन में घुसकर एक प्रकार की उष्णता उत्पन्न करेगी और तुम्हें धातुक्षीणता का रोग हो जाएगा जिससे तुम्हारा बहुत अनिष्ट होगा।

**पेंशनर ब्राह्मण को उपदेश**- एक दिन एक ब्राह्मण आया। उससे पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह सरकारी सेवा में था और उस समय पेंशन पाता था। वह कुछ संस्कृत भी जानता था। स्वामीजी ने उससे कहा कि देखो तुमने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है तुम्हें इस अवस्था में जगत् का उपकार करना चाहिए। आजकल ईसाई पादरी कोल-भीलादि को ईसाई बना रहे हैं, तुम्हें उन्हें ईसाई होने से बचाना चाहिए। परन्तु वह उद्यत न हुआ और यही कहता रहा कि पुत्र कलत्र की चिन्ता के कारण वह उपदेश-कार्य नहीं कर सकता। स्वामीजी ने यह भी कहा कि तुम्हारी पेंशन तुम्हारे पुत्र-कलत्र के भरण पोषण के लिए पर्याप्त है, परन्तु स्वामीजी के उपदेश का बीज उसकी ऊसर-हृदय भूमि में अंकुरित न हुआ।

ऐसी-ऐसी घटनाओं से विदित होता है कि स्वामीजी को देशहित की कितनी चिन्ता थी। वे जब कोई अवसर लोगों को देशहित साधन के लिए प्रेरित करने का देखते थे तो उसे अपने हाथ से न जाने देते थे।

आर्यसमाज के सभासदों को कुछ काल से आर्यमन्दिर बनाने की चिन्ता थी। इसके लिए उन्होंने १००० गज भूमि भी क्रय कर ली थी। स्वामीजी यदि चाहते तो मन्दिर के लिए बहुत कुछ धन एकत्र हो सकता था, परन्तु स्वामीजी समझते थे कि एक धर्मोपदेशक की स्थिति से उनका यह काम नहीं है।

**१००० रुपये में से ९०० रुपये वापस कर दिए**- एक दिन एक मारवाड़ी जो उनसे बहुत अनुरक्त था उनके पास आया। वह दलाली का व्यवसाय करता था। उसने कहा कि मैं इस सत्कार्य के लिए कुछ रुपया देना चाहता हूँ। स्वामीजी ने पूछा कि कितना, तो उसने १००० का एक नोट निकालकर स्वामीजी के सामने रख दिया। स्वामीजी ने उसके मुख की ओर देखकर और उसके वेशादि से उसकी अवस्था का अनुमान करके उससे कहा कि तुम्हारे पुत्र कलत्र भी होंगे और अन्य व्यय भी होंगे अत: तुम ९०० रु० ले जाओ और १०० रु० ही दो। उसने १००० रु० देने पर आग्रह भी किया परन्तु स्वामीजी ने १०० रु० ही रखे और ९०० रु० उसे वापस कर दिए। वह स्वामीजी की सहृदयता और न्यायपरायणता के कारण स्वामीजी के प्रति और भी अनुरक्त हो गया और स्वामीजी की मन ही मन प्रशंसा करता हुआ चला गया।[६२४]

**आर्यसमाज के नियमों में परिवर्तन**- इसी बार आर्यसमाज मुम्बई के पुराने नियमों में परिवर्तन किया गया। पहली बार जो नियम बनाए गए थे वे बहुत विस्तृत थे। जब आर्यसमाज लाहौर स्थापित हुआ तो उन नियमों की जगह आर्यसमाज के प्रचलित नियमोपनियम बनाए गए। वे समस्त आर्यसमाजों के लिए थे। इस बार जब स्वामीजी मुम्बई पधारे तो उन्होंने पुराने नियमों के स्थान में आर्यसमाज मुम्बई में भी उन्हीं नियमोपनियमों को प्रचरित करने का प्रस्ताव किया। आर्यसमाज मुम्बई की अन्तरङ्ग सभा ने तो उक्त प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया परन्तु साधारण सभा से भी उसकी स्वीकारी उचित समझी गई। उक्त सभा ने भी उसे स्वीकार कर लिया, परन्तु यह निश्चय किया कि यदि आर्यसमाज मुम्बई की विशेष अवस्था को दृष्टि में रखते हुए उक्त उपनियमों में किसी परिवर्तन की आवश्यकता हो तो वह कर लिया जाए और इसके

---

६२४- स्वामी सत्यानन्द कृत '*दयानन्दप्रकाश*' में भी इस घटना का उल्लेख है, परन्तु उसमें १००० रु० की जगह १०,००० रु० और १०० की जगह १,००० रु० हैं। -*संग्रहकर्ता*

लिए ५ सज्जनों की एक कमेटी नियत कर दी गई जिसने देशकाल की अवस्था के अनुसार उपनियमों में कुछ परिवर्तन कर दिए। नियम वही रहे जो सब समाजों के लिए बनाए गए थे।

**पादरी जोजेफ कुक को शास्त्रार्थ के लिए आह्वान**- जोजेफ कुक नामक एक पादरी ने थियोसोफी और वैदिक धर्म पर अपने एक व्याख्यान में कुछ आक्षेप किए थे। इस पर १८ जनवरी सन् १८८२ ई० को स्वामीजी ने पादरी साहब को एक पत्र अँग्रेजी में लिखाया था।[६२५] जोजेफ कुक ने अपने व्याख्यान में कहा था कि क्रिश्चैनिटी ईश्वरमूलक-धर्म है, क्रिश्चैनिटी की नियति यह है कि सारे संसार में फैले हुआ अन्य कोई धर्म भी ईश्वरमूलक नहीं है। इस पर उक्त पत्र द्वारा स्वामीजी ने पादरी साहब को लिखा था कि मैं आगामी रविवार (२२ जनवरी, १८८२ ई०) को फ्रामजी काऊसी हाल में व्याख्यान दूँगा आप उसमें आकर मुझसे शास्त्रार्थ कर लीजिए। अन्त में लिखा था कि सब (शास्त्रार्थ) पुस्तकाकार हो जाएगा ताकि सर्व साधारण यह निर्णय कर सकें कि कौन-सा धर्म ईश्वरमूलक है।[६२६]

**पादरी साहब ने कोई उत्तर न दिया**- इस पत्र का कोई उत्तर न देकर पादरी साहब २० जनवरी १८८२ ई० को ही पूना चले गए। स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में क्रिश्चनिटी का खण्डन करके वैदिक धर्म का ईश्वरोक्त होना सिद्ध किया था। २० जनवरी, १८८२ ई० को कर्नल आल्काट ने अपने व्याख्यान में जोजेफ कुक के उन आक्षेपों का उत्तर दिया था जो उन्होंने थियोसोफी पर किए थे। स्वामीजी भी उनके इस व्याख्यान में गए थे।

**विचित्र किंवदन्ती**-एक बार एक संन्यासी मङ्गलगिरि ने मुम्बई में कहा था कि जब स्वामी दयानन्दजी मथुरा में अध्ययन कर रहे थे तो एक दिन वे गोकुल गए थे और वहाँ वल्लभ-सम्प्रदाय के एक मन्दिर में उन्होंने प्रवेश करना चाहा था परन्तु मन्दिर के अधिकारियों ने उन्हें मन्दिर में घुसने नहीं दिया था और यह कहा था कि इस मन्दिर में केवल गृहस्थ लोग ही प्रवेश कर सकते हैं, संन्यासी नहीं जा सकते। इस पर दयानन्द सरस्वती अत्यन्त रुष्ट होकर चले आए थे और इसी बात से खीजकर उन्होंने मूर्त्तिपूजा और विशेषत: वल्लभ-सम्प्रदाय के मत का खण्डन करना आरम्भ कर दिया था।

**समालोचना**- यह घटना सत्य हो सकती है परन्तु इससे यह परिणाम निकालना कि इसी घटना के कारण उन्होंने मूर्त्तिपूजा और वल्लभमत के विरुद्ध शस्त्र धारण किए किसी अंश में भी ठीक नहीं हो सकता। मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध तो स्वामीजी के हृदय में अंकुर उसी स्मरणीय शिवरात्रि को उत्पन्न हो गया था, जब उन्होंने शिवमूर्त्ति पर मूषक को नैवेद्य खाते हुए देखा था और पीछे आकर शास्त्रालोचन से यह अंकुर पल्लवित और वृद्धिगत ही होता गया। किसी मन्दिर के अधिकारियों का दुर्व्यवहार उनका मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध युद्ध का कारण नहीं हो सकता। यदि स्वामीजी मूर्त्तिपूजा को सत्य समझते तो वे उसके प्रचार में कभी भी कुण्ठित न होते चाहे किसी मन्दिराध्यक्ष ने उनके साथ कितना ही दुर्व्यवहार और अत्याचार किया होता।

---

६२५- यह पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन ग्रन्थ में पृष्ठ ३१२ पर छपा है। श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी (मुंशीराम) द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार' ग्रन्थ में पृष्ठ ३००-३०३ भाषानुवाद सहित प्रकाशित हुआ है।

६२६- उक्त पत्र के अन्तिम वाक्य में स्वामीजी यह लिखाना चाहते थे कि 'ताकि सर्व साधारण यह निर्णय कर सकें कि कौन-सा धर्म ईश्वरमूलक (Which religion is of divine origin) है। परन्तु कर्नल आल्काट ने इन शब्दों के स्थान में यह लिख दिया कि कौन-सा धर्म सबसे अधिक ईश्वरीय भावसम्पन्न है। (Which religion is most divine) जब स्वामीजी को दूसरे सज्जन से पत्र का आशय ज्ञात हुआ तो उन्होंने कर्नल के प्रति विरक्ति प्रकट की और फिर पत्र के उस अंश को ठीक कराया। (देखो ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ३२९)। - *संग्रहकर्ता*

**उपकार के बदले प्रत्युपकार करो**– स्वामीजी का जीवन बड़ा पुरुषार्थमय था। वे आलस्य और अकर्मण्यता के परम शत्रु थे। दूसरों को भी वे यही उपदेश देते रहते थे कि निकम्मे और ठाली न पड़ा रहना चाहिए। दूसरे के उपकार के बदले प्रत्युपकार करना चाहिए, दानभोजी व्यक्तियों को वे सदैव कहते रहते थे कि जिन लोगों ने दान से तुम पुष्ट होते हो उनके हित के लिए तुम्हें सदा यत्नशील रहना चाहिए।

**ठाली रहकर मत खाओ**– एक पञ्जाबी स्वामीजी के दर्शनार्थ मुम्बई पहुँचा, स्वामीजी ने सत्कारपूर्वक उसे अपने पास ठहराया। वह कई दिन ठहरा रहा, उसका काम यह था कि दिन भर नगर में घूम आना और रात्रि में वापस आकर आनन्द से सो जाना। स्वामीजी ने जब उसकी यह दशा देखी तो एक दिन उससे कहा कि आलसी होकर दूसरे का अन्न खाते रहना और व्यर्थ में समय खोना मेरे सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। आप जब तक यहाँ रहें कम से कम इतना तो किया कीजिए कि मुझे अँग्रेजी समाचार पत्र ही पढ़कर सुना दिया कीजिए।

**शिष्टाचार की शिक्षा**– एक दिन एक बंगाली सज्जन स्वामीजी के दर्शनों को आया, उसके दाढ़ी थी। गुजरात में हिन्दू दाढ़ी नहीं रखते, वह सज्जन स्वामीजी से बातचीत करता रहा। थोड़ी देर के पश्चात् उसने जल पीने की इच्छा प्रकट की तो स्वामीजी ने अपने एक गुजराती शिष्य को जल लाने के लिए कहा। शिष्य ने समझा कि आगन्तुक कोई मुसलमान है इसलिए उसने आगन्तुक को दोने में पानी पिलाया। जब वह चला गया तो स्वामीजी ने अपने इस गुजराती शिष्य को बहुत झिड़का कि तुम्हें अभी तक सभ्यता के साधारण नियम भी ज्ञात नहीं, तुमने उस अतिथि को ग्लास में जल क्यों नहीं पिलाया? शिष्य ने कहा कि स्वामीजी मैं एक मुसलमान को बर्तन में पानी कैसे पिलाता। स्वामीजी बोले कि वैसे तो वह मुसलमान नहीं था, प्रत्युत एक बड़ा भारी जमींदार था। मेरे पास मुसलमान और ईसाई सभी आते हैं तुम्हें सबका ही आदर करना चाहिए, भविष्य में जब कोई अतिथि जल माँगे तो उसे ग्लास मे ही पानी दिया करो चाहे वह किसी मत का भी मानने वाला हो।

**श्यामजीकृष्ण वर्मा**– श्यामजीकृष्ण वर्मा एक अत्यन्त होनहार और कुशाग्र-बुद्धि का नवयुवक था और संस्कृत में उसकी बड़ी अच्छी प्रगति थी। वह अपने कॉलेज में सबसे अच्छा समझा जाता था। जब कभी कोई सम्भ्रान्त व्यक्ति कॉलेज का निरीक्षण करने आता था तो प्रिंसिपल श्यामजीकृष्ण वर्मा को उसके सामने अवश्य पेश करते थे और वह अपने उत्तरों से सबको चकित कर देता था। वह किसी समृद्ध व्यक्ति का पुत्र न था। स्वामीजी उसके चातुर्य को देखकर बड़े प्रसन्न हुए। वह स्वामीजी के पास आने-जाने लगा और उन्हें अपना गुरु मानने लगा। स्वामीजी को उससे यह आशा हुई कि यदि उसे शिक्षणार्थ विलायत भेजा जाए तो उससे वैदिक धर्म के प्रचार-कार्य में बड़ी सहायता मिलेगी। इसी विचार से प्रयत्न करके उसे उन्होंने विलायत भिजवाया।

**स्वामीजी का संस्कृत-पत्र** - वहाँ जाकर उसने बहुत दिनों तक स्वामीजी को कोई पत्र नहीं लिखा, तब स्वामीजी ने उसे मेरठ से संस्कृत में एक पत्र लिखा[६२७] जिसमें अन्य प्रश्नों के अतिरिक्त ये प्रश्न भी उससे पूछे कि इसका क्या कारण है कि धर्मोपदेश करने में अभी तक इङ्गलिस्तान में तुम्हारी प्रसिद्धि नहीं फैली। इसका या तो यह कारण हो कि मैं दूर हूँ और तुम्हारी ख्याति मुझे ज्ञात न हुई हो या यह कि तुम्हें इस काम के लिए अवकाश ही न मिलता हो। हमारे मित्र प्रोफेसर मोनियर विलियम्स की और मैक्समूलर साहब की सम्प्रति वेदशास्त्र के सम्बन्ध में क्या सम्मति है? और इनकी तथा औरों की वेदभाष्य के सम्बन्ध में, जो मैं इन दिनों कर रहा हूँ, क्या सम्मति है?

**संस्कृत-पत्र पर मोनियर विलियम्स मुग्ध**– श्यामजीकृष्ण वर्मा ने वह चिट्ठी प्रोफेसर मोनियर विलियम्स को दिखाई जिसकी सरल, सुबोध और ललित संस्कृत को देखकर वे इतने मोहित हुए कि उन्होंने उसका अँग्रेजी अनुवाद एथिनियम

६२७- यह पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २३९-२४२ तक छपा है। - *संग्रहकर्ता*

नाम के पत्र के २३ अक्टूबर सन् १८८२ ई० के अङ्क में प्रकाशित कराया और इस चिट्ठी को आदर्श मानते हुए लिखा कि संस्कृत भाषा अभी तक आर्यावर्त्त के पत्र-व्यवहार और दैनिक बोलचाल की भाषा है। आर्यावर्त्त भर में शिक्षित मनुष्यों के बीच में यही भाषा विचार-विनियम का माध्यम है। आर्यावर्त्त में लगभग २०० भाषाएँ बोली जाती हैं। यदि यह माध्यम न होता तो एक प्रान्त के मनुष्य को दूसरे प्रान्त के मनुष्य से बातचीत करने में अत्यन्त कठिनता होती। ऐसी दशा में जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत भाषा अप्रयुक्त और अवनत दशा में है वह भूल करते हैं।

**मोनियर विलियम्स द्वारा स्वामीजी की प्रशंसा**- श्यामजीकृष्ण वर्मा का परिचय देते हुए मोनियर विलियम्स ने लिखा था कि उसने ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति से शिक्षा पाई है जो केवल प्राचीन संस्कृत भाषा के ही विद्वान् नहीं अपितु जिन्होंने मूर्त्तिपूजा आदि का खण्डन और एक ईश्वर की पूजा का समर्थन करके सारे धर्म-सम्प्रदायों में बड़ी हलचल डाल दी है। स्वामीजी शुद्ध एकेश्वरवाद के मानने वाले हैं और अपने धार्मिक सिद्धान्तों को वेद पर निर्भर करते हैं। इस प्रगति-समर्थक देशोद्धारक का नाम *'दयानन्द सरस्वती स्वामी'* है जिनके भाषण के लालित्य और लेख की गम्भीरता का मैं स्वयं साक्षी हूँ, क्योंकि जब मैं मुम्बई में था तो मैंने प्रशंसित स्वामीजी को आर्यसमाज के उत्सव में धर्म विषय पर उपदेश देते हुए सुना था।

**श्यामजीकृष्ण वर्मा की अकृतज्ञता**- श्यामजीकृष्ण वर्मा शिक्षा समाप्त करके और बैरिस्टरी पास करके भारत वापस आ गए। वे उदयपुर, रतलाम आदि कई देशी राज्यों में उच्च पदों पर रहे। उन्होंने पुष्कल धन-संग्रह किया, परन्तु आर्यसमाज के कार्यों में न कभी सहयोग दिया, न कभी किसी प्रकार की सहायता ही की। अन्त में वे विलायत चले गए। वहाँ जाकर उन्होंने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करना आरम्भ कर दिया और वह क्रान्तिकारीदल के नेता समझे जाने लगे, जिससे ब्रिटिश सरकार की उन पर कड़ी दृष्टि रहने लगी; तब वह पकड़े जाने के भय से पेरिस चले गए। अन्त को यूरोप के किसी नगर में ही उनका देहान्त हो गया।

**दयानन्द-प्रकाश**- *'दयानन्द-प्रकाश'* में ऐसा लिखा है कि एक दिन मोनियर विलियम्स स्वामीजी से मिले और उनसे बातचीत करके बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने स्वामीजी से कहा कि आपके विचारों का प्रचार यूरोप में भी होना चाहिए। यदि आप यूरोप जाने का सङ्कल्प करें तो आपका व्यय-भार मैं अपने ऊपर लेता हूँ। इसके उत्तर में स्वामीजी ने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा कि भारत में अविद्यान्धकार फैला हुआ है, यहाँ सुधार की परम आवश्यकता है। फिर बिना अँग्रेजी सीखे वहाँ जाना व्यर्थ है और इसमें बहुत समय लगेगा। पुनः आयु भी अधिक शेष नहीं है। इन कारणों से अब मेरा यूरोप जाना नहीं बन सकता।

**भ्रम संशोधन**- *'दयानन्द-प्रकाश'* का यह लेख भ्रमोत्पादक है। मोनियर विलियम्स इन दिनों भारत में थे ही नहीं , यह ऊपर लिखा जा चुका है कि अक्टूबर सन् १८८२ ई० में उन्होंने स्वामीजी के संस्कृत-पत्र का जो स्वामीजी ने श्यामजीकृष्ण वर्मा को लिखा था अनुवाद एथिनियम पत्र में छपवाया था। उनका स्वामीजी से साक्षात् केवल एक बार ही हुआ था जब सन् १८७४-७५ ई० में स्वामीजी प्रथम बार मुम्बई गए थे। इसका विवरण पहले आ चुका है। मोनियर विलियम्स ने स्वयं इस मिलन का उल्लेख अपने उस लेख में किया है जो उन्होंने स्वामीजी के पूर्वोक्त पत्र के साथ उक्त समाचार पत्र में छपाया था।

स्वामीजी का सुधार-कार्य सर्वग्राही था। उसमें धार्मिक, सामाजिक, शारीरिक, आर्थिक, नीतिक, शिक्षा सम्बन्धी सब प्रकार का सुधार सम्मिलित था। वे चाहते थे कि आर्य जाति सब प्रकार से समुन्नत हो। वे समाज के देह में से सब प्रकार के रोगों को दूर करना चाहते थे, वे समाज के मस्तिष्क को सब विकारों से मुक्त करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने आर्यसमाज का एक नियम यह रखा था कि संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् आत्मिक, सामाजिक और शारीरिक उन्नति करना।

**स्वामीजी और गोरक्षा**– उन्होंने देखा कि गोरक्षा आर्यावर्त्त की उन्नति का मूल है। गोवध से देश की भयङ्कर हानि हो रही है। दूध, घी दिन प्रतिदिन महँगा हो रहा है और पर्याप्त मात्रा में लोगों को खाने को नहीं मिलता। इसी से उनके शरीर दुर्बल और निर्बल होते चले जा रहे हैं, अनेक प्रकार के रोग उन्हें घेर रहे हैं। कृषि के लिए बलवान् और पुष्ट बैल नहीं मिलते, उनकी संख्या भी कम हो रही है और किसान लोग भूखों मर रहे हैं।

**गोवध रोकने का यत्न**– अतः उन्होंने गोरक्षा को भी अपने सुधार–कार्य का एक प्रधान अङ्ग बना लिया था। गोरक्षा पर उन्होंने स्थान–स्थान पर व्याख्यान दिए। *'गोकरुणानिधिः'*नामक पुस्तक लिखी। राजपूताने के एजेण्ट से, पश्चिमोत्तर प्रान्त के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर म्योर साहब से गोवध बन्द करने का अनुरोध किया था। उनके व्याख्यानों को सुनकर बीसियों मुसलमान और ईसाई गोरक्षा के समर्थक हो गए थे। स्वामीजी ने अन्त को यह विचार किया कि यदि तीन करोड़ भारतवासियों के हस्ताक्षरों से एक निवेदन–पत्र भारतेश्वरी महाराणी विक्टोरिया की सेवा में भेजा जाए तो सम्भव है कि गोवध बन्द हो जाए। इसी विचार से उन्होंने चैत्र कृष्णा ९ सं० १९३८ वि० तदनुसार १४ मार्च, १८८२ ई० (मङ्गलवार) को एक विज्ञापन मुम्बई से गोरक्षा के लाभ और गोवध की हानियाँ दिखाते हुए और निवेदन पत्र के लिए हस्ताक्षर करने के लिए प्रचरित किया[६२८] और उसे सब आर्यसमाजों में तथा देश के राजों, महाराजों और सम्भ्रान्त व्यक्तियों के पास भेजा और बड़े बल से यह कार्यारम्भ किया।

**मेमोरियल स्वयं लेकर जाएँगे**– कहते हैं कि स्वामीजी का यह विचार था कि वे विलायत जाकर स्वयं उस निवेदन–पत्र को महाराणी की सेवा में प्रस्तुत करेंगे।

निवेदन–पत्र के लिए आर्यसामाजिक पुरुषों ने बड़े उत्साह से कार्य किया। लाखों हस्ताक्षर कराए, परन्तु स्वामीजी का आगे ३० अक्टूबर सन् १८८३ ई० में देहान्त हो गया, अतः वह निवेदन–पत्र न भेजा जा सका और सारा श्रम विफल रहा [६२९]।

**गोकृषि–रक्षिणी सभाएँ**– स्वामीजी ने अनेक स्थानों पर गोकृषिरक्षिणी सभाएँ स्थापित की थीं जिनका काम कुछ दिन तक बहुत अच्छी तरह से चला परन्तु फिर शिथिल पड़ गया।

**राष्ट्रभाषा–प्रचार**– स्वामीजी की दिव्य दृष्टि ने देख लिया था कि सारे भारतवर्ष में एक भाषा का प्रचार होना चाहिए क्योंकि ऐसा हुए बिना न धर्म–प्रचार का ही कार्य सुगमता से हो सकता है और न जातीयता के भावों का सञ्चार ही हो सकता है। उन्होंने देखा कि भारतवर्ष की राष्ट्र–भाषा होने की केवल हिन्दी (आर्यभाषा) में ही योग्यता है। इसी विचार से स्वयं गुजराती होते हुए भी उन्होंने अपने ग्रन्थ आर्यभाषा में ही लिखे, व्याख्यान भी इसी भाषा में दिए, अपना पत्र–व्यवहार भी उन्होंने इसी भाषा में किया। आर्यसमाजियों को उसके लिखने की रुचि दिलाई। स्वामीजी और उनके अनुयायियों के द्वारा आर्यभाषा का जो प्रचार और विस्तार हुआ है उसके लिए देश उनका सदैव ऋणी रहेगा। पंजाब जैसे उर्दू–आक्रान्त प्रदेश में आर्यभाषा के प्रचार का सेहरा सदा के लिए आर्यसमाजियों के सिर ही रहेगा। जहाँ पहले यह दशा थी कि यदि किसी पत्र का पता नागराक्षरों में लिखा होता था तो वह वापस डेडलेटर आफिस चला जाता था वहाँ आज आर्यभाषा में समाचार–पत्र और पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगी हैं और आर्य–भाषा जानने वालों की संख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ती चली जा रही है।

---

६२८– देखो ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन का पृष्ठ ३१९, ३२०। – *संग्रहकर्ता*

६२९– यह पंक्ति हमने ३० अक्टूबर के दिन ही वर्ष २०२० ई० में लिखी है। – *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

## खण्डवा (१८८२ ई०)

स्वामी दयानन्द सरस्वती श्रीमान् खण्डेराव पाण्डुरङ्ग का० क्लर्क आफिस कोर्ट (खण्डवा) के निमन्त्रण पर २४ जून, १८८२ ई० तदनुसार आषाढ़ शक्ला ८ संवत् १९३९ वि० (शनिवार) को मुम्बई से प्रस्थान कर रेल में बैठकर इसी दिन खण्डवा पधारे और ३ जुलाई, १८८२ ई० तक सदाशिव लक्ष्मण नाम्नी श्रीमान् रा० रा० भाऊ दादाजी के तुलसी बाग के नाम से प्रसिद्ध एक उद्यान (रेलवे ओवरब्रिज के पीछे आम्रकुञ्ज) में ठहरकर खण्डवा की जनता को अपना वेदोपदेश से उपकृत किया। यह उद्यान उस समय साढ़े बारह एकड़ भूमि में स्थित था। इस बगीचे में एक बाबड़ी और कुँआ भी था। इसके साथ ही एक बँगला भी बना हुआ था जो सिन्धिया सरकार व इन्दौर के राजे-रजबाड़ों को ठहरने के उपयोग में आता था। इसी बँगले (कोठी) में स्वामी दयानन्द को भी ठहराया गया था। खण्डवा में स्वामीजी के आतिथ्य की सम्पूर्ण व्यवस्था इन्हीं सदाशिव लक्ष्मण भाऊ दादा ने की थी जो एक धर्मपरायण, मितभाषी और प्रभावी व्यक्तित्व वाले व्यक्ति थे। वे प्रतिदिन १२ बजे अपने दो नौकरों को नगर में भेजकर यह पता लगाते थे कि यदि कोई ब्राह्मण या अन्य कोई व्यक्ति खाना-खाने से बचा हो तो उसे ले आओ। वे अपने ऐसे अतिथियों को पहले भोजन कराके ही बाद में स्वयं भोजन ग्रहण करते थे।

## इन्दौर (१८८२ ई०)

खण्डवा से स्वामीजी ३ जुलाई, १८८२ ई० को सायंकाल चलकर इन्दौर पहुँचे। इन्दौर में वे एक दिन ही रुके क्योंकि उनकी वहाँ महाराजा होल्कर से भेंट नहीं हो सकी जो कार्यवशात् बाहर गए हुए थे। अतः स्वामीजी ५ जुलाई को सायंकाल रात की गाड़ी से रतलाम के लिए प्रस्थित हो गए।

## रतलाम / जावरा / चित्तौड़ (१८८२ ई०)

६ जुलाई, १८८२ ई० (गुरुवार) को प्रातःकाल स्वामीजी रतलाम पहुँचे। पुनः रतलाम में तीन दिन ठहरकर वे ८ जुलाई को जावरा पहुँचे और वहाँ २५ जुलाई तक रहे। तत्पश्चात् वे चित्तौड़ जाकर वहाँ २५ जुलाई से ९ अगस्त, १८८२ ई० (बुधवार) तक रहे।

## उदयपुर (१८८२-८३ ई०)

स्वामीजी मुम्बई से जब लौटे तो खण्डवा, इन्दौर होते हुए रतलाम आए। वहाँ से उन्होंने महाराणा सज्जनसिंह को सूचना दी कि हम उदयपुर आते हैं। महाराणा ने तत्काल स्वामीजी को यह उत्तर भेज दिया कि हमारे राज्य में किसी स्थान पर भी पहुँचने की सूचना देने से उनके लिए राज्य की ओर से सवारी आदि का प्रबन्ध हो जाएगा। रतलाम से जावरा होते हुए रेल में सवार होकर २५ जुलाई सन् १८८२ ई० को स्वामीजी चित्तौड़ पहुँच गए। वहाँ के हाकिम ठाकुर जगन्नाथ ने उनका प्रेम और श्रद्धापूर्वक आतिथ्य किया। चित्तौड़ से स्वामीजी ने अपने आगमन का समाचार महाराणा के पास भेज दिया और उन्होंने मार्ग के सब कर्मचारियों को आज्ञा दे दी कि स्वामीजी को मार्ग में कोई कष्ट न होने पाए। स्वामीजी चित्तौड़ से रेल पर सवार होकर नींबाहेड़ा पहुँचे। महाराणा ने नींबाहेड़ा पर सवारी भेजने का प्रबन्ध कर दिया था, परन्तु श्रावण का महीना था, वर्षा भी हो रही थी, इस कारण सवारी के पहुँचने में कुछ विलम्ब हुआ।

**बोझ से पालकी टूट गई**- नींबाहेडा के राजकर्मचारियों ने स्वमीजी के लिए पालकी का प्रबन्ध कर दिया। स्वामीजी शरीर से हृष्ट-पुष्ट थे, पालकी उनका भार सहन न कर सकी और थोड़ी दूर चलकर ही टूट गई। अतः स्वामीजी को कई कोस पैदल ही चलना पड़ा। फिर हाथी और बग्घी, जो उदयपुर से स्वामीजी के लिए भेजे गए थे, मिल गए और स्वामीजी उन पर सवार होकर ११ अगस्त, १८८२ ई० तदनुसार अधिक श्रवाण कृष्णा १३ संवत् १९३९ वि० (शुक्रवार) को सकुशल उदयपुर पहुँच गए। महाराणा की ओर से उनका समारोहपूर्वक स्वागत किया गया और उन्हें नौलखा बाग में जो उस समय

सज्जन निवास के नाम से अभिहित था, उतारा गया। महाराणा ने स्वामीजी की सेवा–शुश्रूषा का भार अपनी धर्मसभा को सौंप दिया था जिसके सभापति ने सब प्रबन्ध कर दिया था। थोड़े दिन रहने के पश्चात् स्वामीजी ने अन्यत्र जाने की इच्छा प्रकट की, परन्तु महाराजा ने उनसे उदयपुर में ही चातुर्मास करने का अनुरोध किया जिससे उन्होंने भी महाराणाजी के अनुरोध की रक्षा करना ही उचित समझा।

**महाराणा का अनुराग**– जिस दिन स्वामीजी उदयपुर पहुँचे उससे अगले दिन महाराणा अपने परिषद्वर्ग के साथ स्वामीजी की अभ्यर्थना को आए और कुछ दिन पीछे एक बार प्रातःकाल और एक बार सायंकाल के पश्चात् श्रीसेवा में उपस्थित होने लगे। स्वामीजी प्रतिदिन प्रातःकाल गोवर्धन–विलास पर्वत की ओर घूमने जाया करते थे। भ्रमण करके जब वे लौटते थे तो बाग के गोल चबूतरे पर बैठकर कुछ देर तक ध्यानावस्थित हो जाते थे। यदि किसी दिन महाराणा अधिक सवेरे आ जाते थे तो वे स्वामीजी के ध्यान भङ्ग होने तक बाग में टहलते रहते थे। जब स्वामीजी ध्यान से उठते तो महाराणा उनके पास पहुँचकर बातचीत करते थे। किसी–किसी दिन स्वामीजी को अपने साथ गाड़ी में सवार कराकर वे बाग में घूमते और वार्त्तालाप करते रहते थे। महाराणा के चले जाने के पश्चात् स्वामीजी महल में जाकर ब्राह्मीपाक खाते और दुग्धपान करके वेदभाष्य के कार्य में संलग्न हो जाते थे।

**महाराणा का पठन**– पं० मोहनलाल के एक साथी थे जिनका नाम जगन्नाथ झारखण्डी था। इन पण्डितजी और उनके साथी ने स्वामीजी से रात्रि में दर्शनशास्त्र पढ़ने आरम्भ किए। इन्हें देखकर महाराणा की भी इच्छा संस्कृत पढ़ने की हुई। जब उन्होंने इसे स्वामीजी से प्रकट किया तो स्वामीजी ने उन्हें पढ़ाना सहर्ष स्वीकार कर लिया। स्वामीजी ने उन्हें मनुस्मृति के ७, ८, ९ अध्याय पढ़ाए। महाराणा संस्कृत नहीं जानते थे इसलिए स्वमीजी श्लोकों का पदच्छेद और सन्धि आदि स्लेट पर लिखा दिया करते थे। इस प्रकार दो तीन मास में ही महाराणा को संस्कृत का साधारण ज्ञान हो गया था और वे संस्कृत के सरल श्लोक, कविता आदि समझने में समर्थ हो गए थे। महाराणा ने मनुस्मृति के उपर्युक्त तीनों अध्यायों के अतिरिक्त महाभारत के उद्योग और वनपर्व के वे अंश जिनका सम्बन्ध चरित्रगठन और राजनीति से है तथा षड्दर्शन के संगृहीत अंश और विदुर प्रजागरादि नीति और राजनीति के मर्म स्वामीजी से पढ़े।

**दशहरे का उत्सव**– ऐसा निरन्तर करते हुए २२ अक्टूबर, १८८२ ई० को दशहरे का उत्सव आ गया। महाराणा की यह रीति थी कि दशहरे के उत्सव में प्रतिदिन नवीन वस्त्र पहनकर जाया करते थे और उत्सव से लौटते समय स्वामीजी के पास आया करते थे। एक दिन स्वामीजी भी उत्सव देखने पधारे थे। स्वामीजी महाराणा को पुराने ढङ्ग के वस्त्र पहने हुए देखकर बहुत प्रसन्न होते थे क्योंकि उनकी पुरानी बातों में बहुत आस्था थी। स्वामीजी महाराणा से वस्त्रों के नाम पूछा करते थे।

**निरीह पशुओं की वकालत**– उदयपुर में दशहरे के अवसर पर सैकड़ों भैंसे और बकरे मारे जाते थे। स्वामीजी इस हिंसाकार्य को देखकर चित्त में बहुत दुखी थे। एक दिन जब महाराणा उत्सव से लौटते हुए स्वामीजी के पास आए तो स्वामीजी ने हँसी का भाव धारण करके उनसे कहा कि आप राजा हैं, न्यायाधीश हैं, मैं बकरे आदि पशुओं का वकील बनकर एक मुकद्दमा आपके सामने रखता हूँ। इनका मारना अन्याय है और इससे पाप के सिवाय और कोई लाभ नहीं। महाराणा ने स्वामीजी की बात मान ली, परन्तु यह कहा कि एकदम पशुहत्या बन्द करने से कोलाहल मच जाएगा, अत इसे धीरे–धीरे ही बन्द करना होगा। ऐसा करने पर भी हम उसे कहाँ तक कम कर सकेंगे यह नहीं कहा जा सकता। इसके पश्चात् स्वामीजी से परामर्श करके महाराणा ने पशुहत्या किसी अंश तक कम कर दी।

**बृहद् हवन**– स्वामीजी ने महाराणा से एक बृहद् हवन कराने की इच्छा प्रकट की तो उन्होंने उसके लिए सामग्री, घृत आदि का प्रबन्ध करा दिया और सुपठित ब्राह्मणों को उसके करने के लिए नियत कर दिया। यह हवन नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर के निकट कई दिन तक होता रहा था और उसकी पूर्णाहुति स्वामीजी ने महाराणा के हाथ से दिलवाई थी। स्वामीजी ने

महाराणा के महल में भी प्रतिदिन हवन होने की व्यवस्था कर दी थी और इसके लिए महाराणा ने एक ब्राह्मण को को नियत कर दिया था। परन्तु महाराणा की असमय मृत्यु हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी को यह समझाकर कि गृह्यहोम से ही महाराणा सज्जनसिंह की मृत्यु हुई है, उसे बाद में बन्द करा दिया गया।

**राजकुमार का जन्म**– महाराणी उस समय गर्भवती थीं। एक दिन स्वामीजी ने मौज में आकर महाराणा से कहा कि पुत्र होगा। महाराणा ने कहा कि यदि पुत्र न हुआ तो आप यहाँ से जाने न पाएँगे। परमेश्वर का ऐसा अनुग्रह हुआ कि पुत्र ही हुआ। इस पर महाराणा ने आनन्द–प्रकाशपूर्वक स्वयं अपने हाथ से स्वामीजी को पत्र लिखा और एक मोहर उनकी सेवा में भेजी। स्वामीजी ने उस मोहर का रुपया और उसमें कुछ रुपये अपनी ओर से मिलाकर गरीबों में बाँट दिया।

**महलों में वेश्या का नृत्य**– महाराणा के महल में प्राय: वेश्याओं का नृत्य हुआ करता था। स्वामीजी एकान्त में उन्हें वेश्याओं के दोष समझाया करते थे। स्वामीजी महाराणा से कहा करते थे कि यदि संगीत की पिपासा है तो वह दूसरे प्रकार से भी मिट सकती है। स्वामीजी ने उनसे कहा कि वेदगान कराया कीजिए, हम उसकी शिक्षा देने का उद्यत हैं। इस पर महाराणा ने अपने वेतनभोगी गायक इनायतखाँ को वेदगान सीखने का आदेश किया, परन्तु वह न सीख सका। पण्ड्या मोहनलाल ने कुछ वेदगान स्वामीजी से अवश्य सीखा था।

**कार्यक्रम**– स्वामीजी प्रतिदिन १२ बजे तक वेदभाष्य लिखाने में व्यस्त रहते थे, पुन: १२ बजे उठकर स्नान और भोजन करने के पश्चात् लेटते और दो–चार करवटें लेकर उठ बैठते तथा चिट्ठियों के उत्तर लिखते और अपने मुद्रणाधीन ग्रन्थों[६३०] के प्रूफ देखते थे। तत्पश्चात् चार बजे तक चबूतरे पर फर्श बिछ जाता था और लोग उपदेश श्रवणार्थ आने लगते थे। थोड़ी देर में ही जब भीड़ लग जाती थी तो प्राय: सभी धार्मिक सम्प्रदायों के मनुष्य आते और स्वामीजी से प्रश्नोत्तर करते थे। व्याख्यान भी उसी चबूतरे पर होते थे। महाराणा भी प्राय: व्याख्यानों में उपस्थित होते थे। दीपक जलने के समय तक सभा रहती थी।

**अमूर्त का ध्यान कैसे करें?**– एक दिन जब स्वामीजी प्रात:काल ध्यान से उठे तो महाराणा ने उनसे पूछा कि जब आप किसी मूर्तिमान् (उपास्य देव) को मानते ही नहीं हैं तो ध्यान किसका करें? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि किसी मूर्तिमान् पदार्थ को मानकर ध्यान नहीं करना चाहिए। ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वसृष्टि का कर्त्ता, सृष्टि को एक क्रम में चलाने वाला, नेता, पालनकर्त्ता और ऐसे ही अनेक ब्रह्माण्डों का स्वामी है, उसका स्मरण करके उसकी महिमा को ध्यान करना चाहिए परमेश्वर के गुणों का चिन्तन, उसकी महिमा का वर्णन, संसार के उपकार में चित्तवृत्ति लगाने की प्रार्थना करना यही ध्यान है।

**आप मन्दिर के महन्त बन जाएँ**– एक दिन महाराणा ने एकान्त में अत्यन्त विनम्रभाव से निवेदन किया कि राजनीति के सिद्धान्त के अनुसार आपको मूर्त्तिपूजा का खण्डन न करना चाहिए। यह तो आप जानते हैं कि यह राज्य एकलिङ्ग महादेव के अधीन है। आप एकलिङ्ग के मन्दिर के महन्त बन जाएँ। कई लाख रुपयों पर आपका अधिकार हो जाएगा और एक अर्थ में यह राज्य भी आपके अधीन रहेगा। स्वामीजी बड़े शान्त प्रकृति के थे और उन्हें क्रोध बहुत कम आता था। परन्तु महाराणा के इस प्रस्ताव को सुनकर उन्हें आवेश आ गया और कड़ककर बोले कि आप लोभ देकर मुझसे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की आज्ञा भङ्ग कराना चाहते हैं। यह छोटा–सा राज्य और उसके मन्दिर जिससे मैं एक दौड़ में बाहर हो सकता हूँ, मुझे कभी भी वेद और ईश्वर की आज्ञा भङ्ग करने पर उतारू नहीं कर सकते। मैं कदापि सत्य को छोड़ वा छिपा नहीं सकता। आगे से आप विचार कर बात कहा करें। महाराणा स्वामीजी के वचनों को सुनकर एकदम स्तम्भित हो गए, उन्हें

---

६३०– इन दिनों स्वामीजी अपने प्रमुख ग्रन्थ– *'सत्यार्थप्रकाश'* के संशोधित द्वितीय संस्करण का लेखन भी कर रहे थे। इसकी भूमिका उन्होंने महाराणाजी के उदयपुर में ही बैठकर अपने जन्मपक्ष (भाद्रपद शुक्लपक्ष) संवत् १९३९ वि० में अर्थात् १३ से २७ सितम्बर, १८८२ ई० के मध्य में लिखी थी। इस समय तक वे ५७ वर्ष के हो चुके थे। – *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

कदापि ऐसे वचनों की आशा न थी। अन्त को महाराणा को यही कहते बना कि मैंने यह सब यह देखने के लिए कहा था कि आप इसके खण्डन पर कितने दृढ़ हैं। मुझे ज्ञात न था कि आप अपने विचारों पर इतने दृढ़ हैं। अब मुझे आपके दृढ़ विश्वास का पूर्व की अपेक्षा अधिक निश्चय हो गया है।

**मैं सत्य को नहीं छोड़ सकता**– इससे पूर्व भी महाराणा ने स्वामीजी से कहा था कि आप मूर्त्तिपूजा का खण्डन न करें इससे जन साधारण आपके विरुद्ध हो जाते हैं, आप नीति का अवलम्बन करके अन्य विषयों का उपदेश करें ताकि लोग शीघ्र आपकी बात को मान लें। इसका स्वामीजी ने यह उत्तर दिया था कि मैं सत्य को नहीं छोड़ सकता और न छिपा सकता हूँ चाहे कोई कितना ही विरोधी क्यों न हो जाए।

**स्वदेशी चिकित्सा और स्वदेशी वस्त्र**– स्वामीजी कहा करते थे कि अपने देश के वैद्यों से चिकित्सा करानी चाहिए और स्वदेशी वस्त्र पहनने चाहिए।

**आपका स्मारक चिह्न: बनना चाहिए**– एक दिन कविराज श्यामलदास ने स्वामीजी से कहा कि आपका कोई स्मारक चिह्न: बनना चाहिए तो उन्होंने उत्तर दिया कि ऐसा न करना, बल्कि मेरे शव की भस्म किसी खेत में डाल देना, काम आएगी, स्मारक न बनाना, ऐसा न हो कि कालान्तर में मेरी ही मूर्त्ति का पूजन होने लगे।

**वीर्य का नाश आयु का नाश है**– वीर्य के विषय में स्वामीजी कहा करते थे कि वीर्य का नाश आयु का नाश है, यह वीर्य बड़ा रत्न है। यदि मार्ग में कोई स्त्री आ जाती तो स्वामीजी उसकी ओर पीठ कर लिया करते थे। स्वामी गणेशपुरी एक साधु थे जो स्त्रियों को पढ़ाया और रागरङ्ग कराया करते थे। उसके विषय में स्वामीजी ने कहा था कि यह उसका ढोंग और व्यभिचार है। साधु को चाहिए कि स्त्री को आँख से भी न देखे क्योंकि यह ब्रह्मचारी की आँख में घुस जाती है।

**हमें भडुएपन की बातें नहीं रुचतीं**– एक दिन एक मुसलमान वकील स्वामीजी से बातें कर रहे थे। बीच में उन्होंने एक बार स्वामीजी से प्रश्न किया कि यह जो अच्छे–अच्छे घरानों की सुन्दर–सुन्दर स्त्रियाँ वेश्या बन जाती हैं इसका क्या कारण है? स्वामीजी ने कुछ क्रुद्ध होकर कहा कि हमें ऐसे भडुएपन की बातें नहीं रुचतीं, किसी अन्य से पूछना।

**धर्म के कारण जागीर जाने दो**– महाराणा को मनुस्मृति पढ़ाते हुए स्वामीजी ने कहा कि अपने स्वामी की वह आज्ञा ही माननी चाहिए जो धर्मानुकूल हो, अधर्म के अनुकूल आज्ञा कभी नहीं माननी चाहिए। इस पर ठा० मनोहरसिंह जागीरदार सरदारगढ़ ने कहा कि महाराणा हमारे स्वामी हैं, यदि हम उनकी धर्म के प्रतिकूल आज्ञा को न मानें तो वे हमारी जागीर ही छीन लें। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि कुछ चिन्ता नहीं। यदि धर्म के कारण धन वा जागीर चली जाए, अधर्म करने और अधर्म का खाने से तो भीख माँगकर खाना अच्छा है!

**हैं, हैं यह क्या उत्तर है?**– एक दिन स्वामीजी किसी से बातें कर रहे थे कि एक देशी ईसाई बीच में आकर कहने लगा कि मेरे प्रश्नों का उत्तर दो। स्वामीजी ने कहा कि जब हम बात कर चुकें तब तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देंगे, परन्तु वह न माना और यही कहता रहा कि मेरे प्रश्नों का उत्तर दीजिए। तब स्वामीजी ने उपस्थित सज्जनों से कहा कि आप थोड़ी देर धैर्य रखें, पहले इसके ही प्रश्नों का उत्तर दे दूँ। फिर उससे कहा कि बोलो तुम्हारे क्या प्रश्न हैं? उसने कहा कि हम कहाँ से आए हैं; कहाँ हैं और कहाँ जाएँगे? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि तुम पोल में से आए हो, पोल में हो और पोल में ही जाओगे। वह कहने लगा कि हैं, हैं यह क्या उत्तर है? स्वामीजी ने कहा कि अलग बैठकर सोचो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर मिल गया। (ईसाई विश्वास के अनुकूल तो यह उत्तर समीचीन ही था – *संग्रहकर्ता*)।

**विद्यार्थियों की परीक्षा**– स्वामीजी ने चारण पाठशाला के विद्यार्थियों की एक दिन परीक्षा ली और उन्हें भोजन खिलाया और उपदेश दिया कि वेद–वेदाङ्ग पढ़ने का यत्न करना चाहिए।

**सरदार–पाठशाला**– स्वामीजी ने यह भी प्रस्ताव किया था कि राज्य के सरदारों के पुत्रों की शिक्षा के लिए एक पाठशाला होनी चाहिए जिसमें शस्त्र और शास्त्र दोनों की शिक्षा दी जाए। यह प्रस्ताव महाराणा ने स्वीकार भी कर लिया था और पाठशाला के भवन का चित्र भी बन गया था, परन्तु आगे महाराणा के रोगग्रस्त हो जाने के कारण इस पर कुछ कार्य न हो सका।

**पाठ्यक्रम निर्माण**– स्वमीजी ने सरकारी पाठशालाओं के लिए श्रेणीवार पाठ्यक्रम भी बनाया था और उसे महाराणा ने प्रचलित कर दिया था।

**नागराक्षर प्रचार**– स्वामीजी का यह भी प्रस्ताव था कि राज्य के न्यायालयों में सब कार्य देवनागरी लिपि में हो [६३१] और जिससे इसमें सुगमता हो। उन्होंने अरबी भाषा के शब्दों के, जो न्यायालयों में उस समय प्रचलित थे, संस्कृत के पर्यायवाची शब्द बतला दिए थे।

**महाराणा के लिए दिनचर्या**– स्वामीजी ने महाराणा को निम्न प्रकार दिनचर्या का उपदेश किया था [६३२]–

रात्रि के ३ बजे– शय्यात्याग, शौचादि से निवृत्त होकर एक प्याला ठण्डे जल का पीना वा रात्रि को चित्रक की छाल जल में भिगोकर प्रातःकाल उस जल को पीना। फिर एक घड़ी तक परमेश्वर की उपासना करना।

तत्पश्चात् पैदल वा घोड़े पर भ्रमण करना। पैदल भ्रमण करना अधिक अच्छा है। मार्ग में सब वस्तुओं को ध्यानपूर्वक देखना। हर वस्तु को ध्यानपूर्वक देखने की बान सारी आयु भर रखना अच्छा है।

**दैनिक होम**– भ्रमण से लौटकर दिन को जिस राजप्रसाद में रहें उसमें घृत का हवन करना। हवन से न केवल वायु ही शुद्ध होती है प्रत्युत वृष्टि भी होती है। हवन से वहाँ की ही वायु शुद्ध नहीं होती जहाँ हवन होता है, अपितु उससे सब नगर को लाभ पहुँचता है और महान उपकार होता है।

९ बजे तक– राज्य का आवश्यक कार्य करना।

११ बजे तक– भोजन और मनोविनोद।

१२ बजे तक– विश्राम यदि इच्छा हो।

४ बजे तक– न्यायकार्य।

तत्पश्चात् शौचादि से निवृत्त होकर अश्वादि पर सवार होकर सेना, उद्यान, प्रासाद, नगर, सड़क आदि का निरीक्षण सूर्यास्त तक।

सूर्यास्त पर– महल में आकर ग्रन्थादि पढ़ना, ईश्वराराधन वा विद्या–विज्ञान की बातें सुनना, विद्वानों से सत्सङ्ग वा उनसे वार्त्तालाप करना, इतिहास का सुनना।

तत्पश्चात् भोजन करके आधे घण्टे तक टहलना और फिर टहलते हुए गाना सुनना परन्तु इस ओर अधिक न झुकना चाहिए। कविता सुनना भी अच्छा है, परन्तु वह श्रृङ्गार रस की न हो।

फिर निश्चिन्त होकर पूरे छः घण्टे सोना। स्त्रियों के साथ न सोना। रति के लिए भी सप्ताह वा पक्ष का नियम रखना।

दिनचर्य्या का उपदेश देकर स्वामीजी ने महाराणा से पूछा कि आप इसके अनुकूल कार्य करेंगे वा नहीं तो उन्होंने कहा कि अवश्य करूँगा और अगले ही दिन से उन्होंने तदनुकूल आचरण करना आरम्भ कर दिया।

---

६३१– देखो 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ ३६८–३६९। – *संग्रहकर्ता*

६३२– ऋषि का वास्तविक पत्र उनके पत्र व्यवहार पृष्ठ ४२७– ४३४ तक छपा है। –*संग्रहकर्ता*

**वेश्यागमन का त्याग**– स्वामीजी के उपदेश से महाराणा ने वेश्यागमन का कुव्यसन त्याग दिया था, बहुविवाह से भी उन्हें घृणा हो गई थी। उन्हीं दिनों एक स्थान से उनके विवाह का प्रस्ताव हुआ था, परन्तु महाराणा ने उसे तुरन्त ही अस्वीकार कर दिया था।

**हमें ऐसे धन्धों से क्या काम**– एक दिन जब महाराणा से मिलकर स्वामीजी चलने लगे तो कोई पचास कदम ही चले होंगे कि कुछ पटेल लोग स्वामीजी से आकर मिले और उनसे अपने मुकद्दमे के सम्बन्ध में, जो न्यायालय में चल रहा था, कुछ कहा। स्वामीजी ने भी उनके उत्तर में उन्हें कुछ कहा और हाथ के सङ्केत से उन्हें चले जाने के लिए कहा, इस घटनाक्रम को महाराणा भी कुछ अन्तर पर खड़े होकर देख रहे थे। मौलवी अब्दुर्रहमान जज उनके साथ थे। महाराणा ने मौलवी को पटेलों के पास भेजा कि उनसे पूछो कि उनकी स्वामीजी से क्या बातचीत हुई थी। वे गए तो पटेलों ने कहा कि हमने स्वामीजी से अपने मुकद्दमे के विषय में कहा था, परन्तु उन्होंने कहा कि हम साधु हैं, हमें राजदरबार के कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है, महाराणाजी से ही कहो। मौलवी साहब ने यह सब बातें महाराणा से आकर कहीं तो महाराणा ने कहा कि मैंने क्या कहा था। मौलवी, तुमने सांसारिक धन्धों से सर्वथा पृथक् रहनेवाला ऐसा पुरुष कोई देखा है? ऐसा होना कठिन है।

**ब्राह्मणों की जागीरें जब्त कर लो और उन्हें जूते पहना दो**– एक दिन महाराणा के सामने एक धर्मपुस्तक का कुछ अंश पढ़ा गया जिसका अभिप्राय यह था कि यदि कोई किसी ब्राह्मण को एक जोड़ी जूता पहना देवे तो उसे सारी पृथ्वी के दान करने का पुण्य होता है। स्वामीजी भी उस समय उपस्थित थे। स्वामीजी ने महाराणा से कहा कि यदि यह सच है तो आपने जो लाखों रुपये की जागीरें ब्राह्मणों को दे रखी हैं उन्हें स्वायत्त कर लीजिए और एक ब्राह्मण को जूते पहना दीजिए आपको सारी पृथ्वी के दान करने का पुण्य प्राप्त हो जाएगा।

**माला–जाप व्यर्थ है**– स्वामीजी माला जपने को भी व्यर्थ बतलाते थे और कहते थे कि यदि कोई राज्य–सेवा छोड़कर दरबार के नाम की माला जपने लगे तो दरबार उसे व्यर्थ समझेंगे या नहीं। राम–राम के लगातार कहने से शब्द और अर्थ दोनों बिगड़ जाते हैं (वे मरा–मरा हो जाते हैं!) अतः मनुष्य को परमेश्वर के ध्यान और ज्ञान से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए।

**मूर्त्तिपूजा का खण्डन**– एक दिन प्रातःकाल महाराणा स्वामीजी के पास आए और उन्हें अपने साथ बग्घी में बिठाकर महलों को ले गए। मार्ग में एक शीतला का मन्दिर पड़ता था। वहाँ कुछ स्त्री–पुरुष एकत्र थे। स्वामीजी ने उनके इकट्ठे होने का कारण पूछा तो उन्हें बताया गया कि ये लोग शीतला की पूजा करने आए हैं। इस पर स्वामीजी ने जो कुछ कहा उसका सार यह था कि जब कोई शिल्पी किसी वस्तु को बनाता है तो उससे उसकी कलाकुशलता तो अवश्य प्रकट होती है, परन्तु उसके ये अर्थ नहीं है कि शिल्पी स्वयं वा अन्य लोग उसकी पूजा करने लगें। जो वस्तु जिस कार्य के लिए बनाई जाए उससे वही कार्य लेना चाहिए। ये मूर्त्तियाँ पाषाण की हैं इनमें चैतन्य शक्ति का समावेश कैसे हो सकता है? खेद है कि दरबार ने इन्हें कैसे होने दिया। इस पर महाराणा ने कहा कि मैं आपका अभिप्राय समझ गया, आपका यह उपदेश समय पाकर उत्तम फल देगा, परन्तु यदि मैं इसे अभी बन्द कर दूँ तो बहुत बखेड़ा हो जाएगा। फिर शम्भु–निवास महल में पधारकर स्वामीजी ने दो घण्टे तक मूर्त्तिपूजा के विषय में वक्तृता दी।

**आप तो अवतार के भी अवतार हैं!**– एक दिन महाराणा ने स्वामीजी से पूछा कि रामचन्द्रजी पूर्णावतार थे कि नहीं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यदि वह अवतार थे तो आप तो अवतार के भी अवतार हुए, क्योंकि ऐसा प्रसिद्ध है कि उदयपुर का राजवंश लव के वंश में है। फिर महाराणा ने पूछा कि इसकी मीमांसा कैसे हो सकती है? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि रामायण द्वारा ही इसकी मीमांसा हो सकती है। इस पर स्वामीजी ने वाल्मीकीय रामायण मँगवाकर उसका वह अंश पढ़ने को कहा जिसमें नारद का वाल्मीकि के साथ रामचरित के सम्बन्ध में कथनोपकथन हुआ है। महाराणा उस अंश को निकाल

कर धीरे-धीरे पढ़ने लगे। तब स्वामीजी ने पण्ड्या मोहनलाल से उसे पढ़ने को कहा और कई श्लोकों को महाराणा से स्लेट पर लिखवाकर और उनका पदच्छेद कराकर महाराणा को दिखा दिया कि वाल्मीकि महाराजा रामचन्द्र को मनुष्य ही मानते थे। केवल टीकाकारों की माया से ही उन्हें ईश्वर का अवतार बना दिया गया है।

**स्वामीजी गोरक्षा के घोर पक्षपाती थे**- स्वामीजी गोरक्षा के परम पक्षपाती थे। उनकी इच्छा थी कि भारत के राजाओं, महाराजाओं, रईस और प्रजावर्ग के तीन करोड़ हस्ताक्षर कराकर गोवध बन्द करने के लिए एक मेमोरियल महाराणी विक्टोरिया को सेवा में भेजा जाए। महाराणा सज्जनसिंह तथा महाराजा जोधपुर और बूँदी ने भी इस ज्ञापन पर हस्ताक्षर कर दिए थे। कहते हैं कि महाराजा जयपुर के हस्ताक्षर कराने के लिए महाराणा स्वयं जयपुर गए थे।

**अँग्रेजी पढ़ने का उद्योग**- पण्ड्या मोहनलाल ने एक दिन स्वामीजी को Heley's Grammar पढ़ते देखा था। पण्ड्याजी का कथन है कि स्वामीजी ने अँग्रेजी अक्षर लिखने भी सीख लिए थे और वे लिफाफों पर स्थान का नाम अँग्रेजी के रोमन अक्षरों में ही अपने हाथ से लिखने लगे थे।

**अन्धे साधु की कृतघ्नता**- गिरानन्द एक अन्धा साधु सम्भवत: मसूदा से ही स्वामीजी के साथ था। स्वामीजी ने उसे अपने साथ इसीलिए रखा था कि उसे कुछ शिक्षा देकर वे उसे किसी योग्य बना दें ताकि वह उपदेशक का कार्य करके स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध कर सके। परन्तु उसकी प्रकृति नीच थी। उसने स्वामीजी की दया का यह बदला दिया कि एक दिन वह पुलिस में यह रिपोर्ट करने चला गया कि स्वामीजी मुझे मेरे देश को नहीं जाने देते हैं। पुलिस ने ऐसी अनर्गल रिपोर्ट लिखने से इन्कार कर दिया। जब उसकी इस दुष्टता का वृत्त स्वामीजी को पता चला तो उन्होंने उसे निकाल दिया।

**संन्यास-प्रार्थी**- एक दिन स्वामीजी नौलखा बाग में चबूतरे पर पद्मासन लगाए ध्यान में बैठे हुए थे। इतने में एक संन्यासी वेषधारी उधर आ निकला। स्वामीजी की दिव्य-मूर्त्ति के दर्शन कर वह वहीं ठिठक रहा। उसने अनुमान से ही जान लिया कि यही दयानन्द सरस्वती हैं। जब स्वामीजी का ध्यान खुला तो उसने हाथ जोड़कर स्वामीजी से निवेदन किया कि मैं बिहार देशनिवासी ब्राह्मण हूँ, मैंने दर्शन-शास्त्र का अनुशीलन किया है, विशेषत: वेदान्त शास्त्र का। मैंने वैराग्य के कारण संसार त्याग दिया है, मैंने संन्यासी का वेष धारण कर लिया है और नाम भी संन्यासियों जैसा ही रख लिया है, मेरा नाम सहजानन्द है। परन्तु मैंने विधिपूर्वक संन्यास किसी से नहीं लिया है। आपकी ख्याति मुझे श्रीचरणों तक लाई है। आप संन्यास देकर मुझे कृतार्थ कीजिए। स्वामीजी ने उन्हें कुछ दिन प्रतीक्षा करने की आज्ञा दी और फिर उन्हें योग्य और सुपठित समझकर संन्यासाश्रम में दीक्षित कर दिया।

**जल पर ध्यानावस्थित**- नौलखा बाग के समीप ही एक बृहत् सरोवर है। स्वामीजी गोवर्द्धन पर्वत को उसी के तीर तीर जाया करते थे। एक दिन सहजानन्द ने देखा कि स्वामीजी पद्मासन लगाए हुए जल पर ध्यानावस्थित हैं। सहजानन्द यह देखकर विस्मित हुए, परन्तु साथ ही गुरुदेव की योगविद्या में निपुणता उनके हृदय पर अङ्कित हो गई और श्रीचरणों में उनका अगाध प्रेम हो गया।

**लम्बी समाधि**- कभी-कभी स्वामीजी लम्बी समाधि भी लगाया करते थे। जब ऐसा करते थे तो एक दिन पूर्व ही सबसे कह दिया करते थे कि कल हमारी कोठरी के पास कोई न आए और न कोई द्वार खटखटाए। परन्तु सहजानन्द इतने दयापात्र हो गए थे कि उन्हें खिड़की में से स्वामीजी को योगारूढ़ अवस्था में देखने की आज्ञा दे दी जाती थी। ऐसी अवस्था में उनकी श्वास-प्रश्वास की गति रुक जाती थी और स्वामीजी का शरीर सर्वथा निष्कम्प हो जाता था। उनके मुखमण्डल पर दिव्य आभा खेलने लगती थी। सहजानन्द को एक से अधिक बार इस अनुपम दृष्य से अपने नेत्रों को तृप्त और पवित्र करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कहते हैं कि स्वामीजी २४ घण्टे तक असम्प्रज्ञात समाधि लगा सकते थे।

सहजानन्द को स्वामीजी ने संन्यास-धर्म और योग विषय की शिक्षा देकर प्रचार के लिए बाहर भेज दिया।

**परोक्षदर्शन**– एक दिन महाराणा तथा सहजानन्दादि श्रीसेवा में उपस्थित थे और विविध विषयों पर वार्त्तालाप हो रहा था कि स्वामीजी ने कहा कि पं० सुन्दरलालजी आ रहे हैं, यदि पहले से सूचना दे देते तो यान का उचित प्रबन्ध हो जाता। महाराणा ने इस पर कहा कि यान का प्रबन्ध अब भी हो सकता है, परन्तु स्वामीजी बोले कि अब तो वे बैलगाड़ी में आ रहे हैं। उसका एक बैल श्वेत है और एक के शरीर पर लाल धब्बे हैं, वह कल यहाँ पहुँच जाएँगे। अगले दिन पण्डित सुन्दरलाल उदयपुर पहुँच गए और स्वामीजी का कथन अक्षरशः सत्य निकला।

**अनधिकारियों को उपदेश न दिया करें**– एक दिन दो साधु स्वामीजी से मिलने आए और अनेक विषयों पर उनसे कथनोपकथन हुआ। जब वे चलने लगे तो स्वामीजी से बोले कि आप अधिकारी लोगों को ही उपदेश दिया करें। जो लोग आपके व्याख्यानों में आते हैं वे सब ही तो अधिकारी नहीं होते। इसका स्वामीजी ने जो उत्तर दिया उसका अभिप्राय यह था कि धर्म के विषय में अधिकारानधिकार का प्रश्न उठाना सर्वथा व्यर्थ है। धर्मोपदेश सुनने का मनुष्यमात्र को अधिकार है। आपकी जाति और धर्म के सैकड़ों और सहस्रों मनुष्य विधर्मी हो रहे हैं और आप अधिकारानधिकार का पचड़ा लिए बैठे हैं। पहले उन्हें तो बचाइए, अधिकारानधिकार का विचार पीछे होता रहेगा।

**अधिकारानधिकार का पचड़ा**– स्वामीजी का यह उत्तर कितना महत्वपूर्ण था और इससे उनकी उदारता कैसी विशद रूप में झलकती है, यह मनन करने योग्य है। इसी अधिकारानधिकार के प्रश्न ने तो स्त्रीजाति और शूद्रों को सदा के लिए विद्या से वञ्चित किया और इसी ने धर्म के महन्तों और ठेकेदारों की गद्दियाँ स्थापित कीं, जिन्होंने जनता के मस्तिष्कों पर ताले लगाकर देश को रसातल में पहुँचा दिया। दयानन्द तो आया ही इसलिए था कि वह इन तालों को तोड़कर मनुष्यों को मानसिक दासता से छुड़ाए और आज दयानन्द से कहा जाता है कि उन तालों को न तोड़ो, बल्कि उन पर अपने ताले और लगा दो। इसे दयानन्द क्यों मानने लगा था।

एक दिन पण्ड्या मोहनलाल ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति कब होगी?

**जातीय उन्नति के साधन**– स्वामीजी ने जो उत्तर दिया उसका सार यह था कि एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए बिना ऐसा होना दुष्कर है। इसीलिए मैं चाहता हूँ कि देश के नृपगण अपने-अपने राज्य में धर्म, भाषा और भाव में एकता उत्पन्न करें। पं० मोहनलाल ने इस पर आपत्ति की कि जब आप का उद्देश्य एकता उत्पन्न करने का है तो आप मतमतान्तरों का खण्डन क्यों करते हैं, इससे तो अनैक्य बढ़ता है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि धर्माचार्यों और नेताओं की असावधानी और प्रमाद से जाति के आचार-विचार, रहन-सहन दूषित हो जाते हैं और भाव एक नहीं रहते। आर्य जाति की यही दशा हुई और यदि इसे सँभाला न गया तो यह नष्ट हो जाएगी। धर्माचार्यों के प्रमाद के कारण करोड़ों मुसलमान हो गए और अब ईसाई हो रहे हैं। यदि जाति को कडुए उपदेशों के कोड़े से न जगाया गया और कुरीतियों और कुनीतियों को नष्ट न किया गया तो इसकी मृत्यु में सन्देह ही क्या है। मैं यह काम किसी स्वार्थ से तो नहीं कर रहा हूँ। इसके कारण मैं अनेकों कष्ट ही सहता हूँ, गालियाँ और ईंट-पत्थर भी खाता हूँ, विष तक भी मुझे दिया जा चुका है, परन्तु जाति और धर्म के लिए मैं सब कुछ सहन करता हूँ।

**यदि दो-चार दयानन्द होते**– स्वामीजी के वचन को सुनकर पण्ड्या मोहनलाल गद्गद हो गए और भक्ति-रस में सने हुए शब्दों में कहा कि यदि दो चार धर्माचार्य भी आपके विचार के हो जाएँ तो स्वल्प समय में ही आर्यजाति का बेड़ा पार हो सकता है।

**मुसलमान जज से शास्त्रार्थ**– उदयपुर के मुसलमान जज मौलवी अब्दुर्रहमान से स्वामीजी का धर्म विषय में वार्त्तालाप हुआ था। उसका सार हम पाठकों की भेंट करते हैं। यह शास्त्रार्थ ११ सितम्बर सन् १८८२ ई० अर्थात् भाद्रपद कृष्णा १४ संवत् १९३९ वि० (सोमवार) को आरम्भ हुआ और १७ सितम्बर, १८८२ ई० (सोमवार) को समाप्त हुआ। निम्नलिखित

७ प्रश्न मौलवी साहब ने किए थे। एक-एक प्रश्न पर एक-एक दिन कथनोपकथन होता था। सारा शास्त्रार्थ लिखा गया था और अविकलरूप से पं० लेखराम कृत दयानन्द-चरित उर्दू में छपा है। अन्तिम दिवस महाराणा भी शास्त्रार्थ में आए थे और उन्होंने कहा था कि स्वामीजी जो कहते हैं वह ठीक है। मौलवी साहब व्यर्थ में दुराग्रह करते हैं।

*मौलवी साहब के सात प्रश्नों के उत्तर-*

*प्रश्न नं० १-* भिन्न-भिन्न धर्मों की भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न पुस्तकें हैं इससे सिद्ध होता है कि उनमें से प्रत्येक उस-उस देश के रहने वालों और एक ही भाषा बोलने वालों के लिए बनी हैं। कोई ऐसी भी पुस्तक है जो सब मनुष्यों की भाषाओं पर अधिकार रखती हो और सृष्टि-क्रम के अनुकूल हो?

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि ऐसी पुस्तक वेद है। वह किसी सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं बल्कि ज्ञान का ग्रन्थ है, साम्प्रदायिक ग्रन्थ पक्षपात से भरे होते हैं और जिसमें पक्षपात हो वही सम्प्रदाय है। वेद की भाषा किसी देश वा जाति विशेष की भाषा नहीं है। ऐसी ही भाषा व्यापक हो सकती है न कि किसी एक देश की भाषा, जैसे आकाश किसी देश विशेष का नहीं है इसी से सब देशों में व्यापक है। वेद की भाषा विद्या की भाषा है और उसका बोलने वाला परब्रह्म और सुनने वाले अग्नि, वायु, आदित्य, और अङ्गिरा चार ऋषि थे। इन्हीं ऋषियों ने परमेश्वर से वेद को सुनकर दूसरों को सुनाया। इनको वेद इस कारण दिया था कि वे ही पुण्यात्मा और सर्वोत्तम थे, परमेश्वर ने उन्हें वेद की भाषा का भी ज्ञान दे दिया था। इसका प्रमाण यह है कि बिना कारण के कार्य नहीं होता, ब्रह्मादिक अनेक ऋषियों की इसमें साक्षी है और वेद स्वत: प्रमाण हैं।

*मौलवी-* ऐसी बातें तो सब मतों वाले अपनी-अपनी पुस्तकों के विषय में कहते हैं।

*स्वामीजी-* ऐसी बात दूसरे मत की पुस्तकों में नहीं है और न वे इसे सिद्ध ही कर सकते हैं।

*मौलवी* - सब किताब वाले सिद्ध कर सकते हैं।

स्वामीजी- मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मत वाले ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते और यदि कर सकते हैं तो बतलाइए कि मुहम्मद साहब के पास कुरान कैसे पहुँचा।

मौलवी- जैसे चार ऋषियों के पास वेद आया था।

मौलवी साहब ने बिना सोचे ही ऐसा कह दिया। कुरान के मुहम्मद साहब के पास पहुँचने की तो विचित्र गाथा है। वह मुहम्मद साहब के हृदय में प्रकाशित नहीं हुआ जैसे वेद चार ऋषियों के हृदय में वेद प्रकाशित हुए थे। कुरान की आयतों को तो जिब्राईल फरिश्ता उनके पास लाया करता था और इसे सब ही मुसलमान मानते हैं।

*प्रश्न नं० २-* सारी दुनिया के मनुष्य एक ही वंश के हैं वा पृथक्-पृथ्क वंशों के।

*उत्तर-* एक वंश के नहीं, पृथक्-पृथक् वंश के हैं। सृष्टि के आदि में उतने ही जीव मनुष्य का शरीर धारण करते हैं जितने गर्भ सृष्टि में इस योग्य होते हैं और वे अनेक होते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि अब भी सब अनेक माँ-बाप की सन्तान हैं। यह बात प्रत्यक्षादि ८ प्रमाणों से भी सिद्ध है।

मौलवी साहब ने आठों प्रमाणों के लक्षण पूछे जो उन्हें बता दिए गए। फिर अन्य प्रश्नों के उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि मनुष्यों के मुखादि अवयव एक से हैं, परन्तु उनके रंगों और शरीर की लम्बाई आदि में भेद है। यह भेद एक ही माँ-बाप की सन्तानों में भी पाए जाते हैं। एक ही देश और जाति में भी पाए जाते हैं।

*मौलवी-* कई जातियाँ जैसे हिन्दी, हब्शी, चीनी आदि एक-दूसरे से भिन्न हैं। उनकी आकृति भी एक दूसरे से नहीं मिलती। चीनियों के दाढ़ी नहीं होती और वे तिकोने मुँह के होते हैं।

*स्वामीजी-* उनमें भी भेद है। देश, काल, माता-पिता के शरीर, रज-वीर्य और वात, पित्त, कफ के संयोग-वियोग के कारण भी भेद हो जाते हैं।

*मौलवी*– संसार में तीन प्रकार की जातियाँ पाई जाती हैं। एक वे जिनके दाढ़ी होती है जैसे हिन्दी, फिरङ्गी, दूसरे वे जिनके दाढ़ी नहीं होती जैसे चीनी, तीसरे वे जिनके बाल घूँघरवाले होते हैं, जैसे हब्शी तो फिर मनुष्यों के तीन ही भेद हुए।
*स्वामीजी*– भूटियों को किस में रखोगे, वे इन तीनों में से किसी से नहीं मिलते।
*मौलवी*– जैसा भेद इन तीनों में है वैसा इनमें नहीं। इसका कारण भिन्न-भिन्न जातियों का सम्मिश्रण हो सकता है।
*प्रश्न नं०* ३– मनुष्य की उत्पत्ति कब से है और अन्त कब होगा?
उत्तर– १ अरब ९६ करोड़ कई लाख वर्ष मनुष्य की उत्पत्ति को हुए हो गए हैं और २ अरब वर्ष से कुछ ऊपर यह और रहेगी। इसका प्रमाण विद्या और ज्योतिशास्त्र से है और विस्तारपूर्वक मेरी *बनाई 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'* में लिखा है।
*प्रश्न नं०* ४– आप धर्म के नेता हैं वा ज्ञान के, अर्थात् आप किसी मत को मानते हैं वा नहीं?
*स्वामीजी*– जो धर्म ज्ञान से सिद्ध हो उसे मानता हूँ।
*मौलवीजी*– आप ने कैसे जाना कि परमेश्वर ने चारों ऋषियों को वेद पढ़ाया?
*स्वामीजी*– वेदों को देखने और आप्त पुरुषों की साक्षी से जो उनके ग्रन्थों और परम्परा से हम तक पहुँची है।
*मौलवीजी*– परसों यह निश्चय हो गया था कि उत्तर युक्तिपूर्वक होंगे न कि ग्रन्थों के प्रमाणों के आधार पर, फिर आप ग्रन्थों का उल्लेख क्यों करते हैं?
*स्वामीजी*– युक्तिसङ्गत बात चाहे मौखिक हो चाहे लिखित। इसे सब बुद्धिमान् मानते हैं और आप भी मानते होंगे।
*मौलवीजी*– परमेश्वर का चार ऋषियों को वेदों की शिक्षा देना युक्ति या बुद्धि से कैसे सिद्ध होता है?
*स्वामीजी*– बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। अतः ज्ञान का भी कोई कारण होना चाहिए और वह अनादि तथा अनन्त होना चाहिए। ऐसा कारण परमेश्वर ही हो सकता है। जैसे परमेश्वर जगत् का निमित्तकारण है उसी प्रकार वह ज्ञान का भी कारण है। यदि वह ऋषियों को वेद का ज्ञान जो सृष्टिक्रम के अनुकूल है, न देता तो वह आगे को न चलता। परमेश्वर ने एक-एक ऋषि को एक-एक वेद को अलग-अलग और क्रमशः पढ़ाया क्योंकि एक ही समय में वे सारे वेद नहीं पढ़ सकते थे, उनकी बुद्धि परिमित शक्तिवाली थी। जितना समय उनकी बुद्धि की शक्ति के अनुसार अपेक्षित था उतने समय में ही पढ़ाया। वेद का प्रकाश शब्दार्थ-सम्बन्धपूर्वक ऋषियों के हृदय में परमेश्वर ने किया। उसके लिए सर्वव्यापक होने से जिह्वा आदि उपकरणों की आवश्यकता न थी। परमेश्वर ऋषियों के आत्मा में भी था। अतः उसने उसके आत्मा में शब्द और उनके अर्थों का ज्ञान दिया। यदि परमेश्वर उनके आत्मा से पृथक् होता तो शब्दों को बोलने और सुनाने की आवश्यकता होती। वेदों के चार ब्राह्मण ही वास्तव में पुराण हैं जो वेद के अनुकूल होने की सीमा तक ही माननीय हैं। आधुनिक पुराण ग्रन्थ भागवतादि साम्प्रदायिक मतवाद के ग्रन्थ होने से अप्रमाणिक हैं। धर्म वह है जो पक्षपातरहित, न्याययुक्त, सत्यसन्ध और असत्य से पृथक् हो। वेद ऐसे ही धर्म का उपदेश करता है और यही आर्यों का धर्म है।
*मौलवीजी*– पक्षपात आप किसे कहते हैं?
*स्वामीजी*– जो अज्ञानवश वा काम, क्रोध, लोभ, मोह, कुसङ्गति से अपने स्वार्थ के कारण सत्य और न्याय को छोड़कर अङ्गीकर किया जाए, उसी का नाम पक्षपात है।
*मौलवीजी*– यदि कोई पक्षपात से रहित हो और आर्य न हो तो आर्य उसके साथ खान-पान व विवाह का सम्बन्ध उसी प्रकार करेंगे वा नहीं जिस प्रकार वे आपस में करते हैं।
*स्वामीजी* – खान-पान, विवाह आदि का सम्बन्ध धर्म वा अधर्म से नहीं है, यह तो देशाचार और जाति के व्यवहार से है। परन्तु दूसरे धर्मवालों से ऐसा बर्ताव करना हानिकारक ही होता है। यदि कोई विद्वान् ऐसा करे भी तो उसकी जाति के लोग उससे घृणा करने लगेंगे और फिर जाति उस लाभ से वञ्चित रह जाएगी जो उसकी विद्या से उसे पहुँचता।

*प्रश्न नं० ५*– जैसे अन्य मत वाले अपनी–अपनी धर्म–पुस्तक और उसकी भाषा को सर्वोत्तम बताते हैं और जिस प्रकार की युक्ति देते हैं आपने भी वेदों के विषय में ऐसा ही किया, वेदों की कोई विशेषता प्रकट न की।

*स्वामीजी*– हम इसका उत्तर पहले ही दे चुके हैं कि वही पुस्तक सर्वज्ञ ईश्वरोक्त हो सकती है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध और सृष्टिक्रम के अनुकूल हो। ऐसी पुस्तक केवल वेद ही है। मुख्य मत ये हैं- पौराणिक, जैन, यहूदी, ईसाई और कुरानी। इन सबमें ही असम्भव बातें हैं। पौराणिक एक शरीरधारी व्यक्ति से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, परन्तु शरीर बहुत सी वस्तुओं के संयोग से बनता है और स्वयं सृष्ट पदार्थ है वह जगत् का सृष्टा कैसे हो सकता है, जैनी जगत् का न आदि मानते हैं न अन्त, परन्तु जगत् एक संयुक्त पदार्थ है, अत: उसकी उत्पत्ति भी है और विनाश भी। यहूदी, ईसाई और मुसलमान अभाव से भाव मानते हैं जो कभी हो नहीं सकता।

*प्रश्न नं० ६*– आप किन–किन वस्तुओं को अनादि मानते हैं?

*स्वामीजी*– परमात्मा, जीव और जगत् के उपादान कारण प्रकृति को, साधारणकारण काल व आकाश तथा समवायी कारण को। परमात्मा जगत् का निमित्तकारण है। कोई ऐसी ज्ञात वस्तु नहीं जिसके ये चारों कारण न हों।

*मौलवी साहब*– सम्भव है कि जगत् का (उपादान) कारण जिसे आप अनादि कहते हैं कि किसी अन्य कारण का कार्य हो।

*स्वामीजी*– अनादि कारण उसी का नाम है जो किसी का कार्य न हो। सब वैज्ञानिक मानते हैं कि जहाँ तक किसी वस्तु की अवस्था परिवर्तित हो सकती है या जहाँ तक उसका विभाग हो सकता है, उससे आगे की दशा को कारण कहते हैं।

*प्रश्न नं० ७*– यदि वेद ईश्वरोक्त होते तो इनका लाभ संसार के सब मनुष्यों को पहुँचना चाहिए था जैसे सूर्य, जल, वायु का लाभ सबको पहुँचता है।

*स्वामीजी*– सूर्यादि की भाँति वेदों का लाभ भी सबको पहुँचता है, क्योंकि धर्म और विद्या के ग्रन्थों का आदिकारण वेद है। अन्य सब पुस्तकें वेदों से पीछे बनी हैं। वेदों में किसी का खण्डन–मण्डन नहीं है। जैसे वैज्ञानिक सूर्यादि से अधिक उपकार लेते हैं वैसे ही वेद के पढ़नेवाले वेदों से अधिक उपकार लेते हैं। वेदों से अधिक प्राचीन कोई पुस्तक संसार भर में नहीं है। वेदों की भाषा सब भाषाओं का मूल[६३३] है। जब बाइबिल, कुरान आदि नहीं बने थे तब वेदों के अतिरिक्त अन्य कोई पुस्तक मानने योग्य थी ही नहीं। वेद सृष्टि के आदि में ऋषियों को दिए गए थे । अत: यह कहना नहीं बन सकता कि कोई समय ऐसा नहीं था जब सब मनुष्यों ने वेदों को न माना हो।

यह धर्मालाप यहीं समाप्त हो गया।

उदयपुर से स्वामीजी ने बाबू दुर्गाप्रसाद रईस फर्रुखाबाद को मार्गशीर्ष वदी १४ संवत् १९३९ वि० तदनुसार ९ दिसम्बर, १८८२ ई० (शनिवार) को नाटक के विषय में अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की थी (आर्यसमाज फर्रुखाबाद के मासिक पत्र '*भारत सुदशा प्रवर्त्तक*' में) नाटक का विषय तो नाममात्र भी नहीं आना चाहिए, जो अच्छा विषय भी लिखना हो तो वह प्रश्नोत्तर व अन्य प्रकार से लिखा जाए। नाटक नाम तमाशे का है क्योंकि तुम्हारे नाटक को देखकर लखनऊ के समाज में नाटक का व्याख्यान ही होने लगा। जब हमने मना किया तो कहने लगे कि अपने फर्रुखाबाद समाज के पत्र में नाटक क्यों छपता है। यह नाटक से बिगाड़ का उदाहरण है।[६३४]

एक दूसरे पत्र में स्वामीजी ने लाला कालीचरण रईस फर्रुखाबाद को लिखा था कि तुम आर्यसमाज के पत्र में नाटक का विषय मत छापो, यह अनुचित बात है। यह आर्यसमाज है भडुआ समाज नहीं जो तुम नाटक का विषय छापते

---

६३३– वेद भाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है। सत्यार्थप्रकाश समु० ७, शताब्दी संस्क० भा० १, पृष्ठ १६। तथा देखो "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" भाग १ पृष्ठ १–१३। – *युधिष्ठिर मीमांसक*

६३४– यह पूरा पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन में पृष्ठ ३८५ छपा है।

हो। ऐसा करना भड़ुआपन की बात है। [६३५]

स्वामीजी ने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया था कि राष्ट्र–निर्माण के लिए एक लिपि और एक भाषा का होना परम आवश्यक है, इसके लिए वे देवनागरी लिपि और आर्यभाषा (हिन्दी) को ही उपयुक्त समझते थे, इस कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ इस आर्यभाषा में ही लिखे। सन् १८८२ ई० में सरकार ने एक कमीशन नियत किया था कि सरकारी दफ्तरों में कौन–सी लिपि रखी जाए। स्वामीजी ने भी इसके लिए यत्न किया था। एक पत्र में उन्होंने बाबू दुर्गाप्रसाद रईस फर्रुखाबाद को उदयपुर से शुद्ध श्रावण सुदी ३ संवत् १९३९ वि० (१७ अगस्त, १८८२ ई०) को निम्न प्रकार लिखा था कि "आजकल सर्वत्र अपनी आर्यभाषा के राजकार्य में प्रवृत्ति होने के अर्थ (भाषा के प्रचारार्थ जो कमीशन हुआ है उसमें) पञ्जाब आदि अहातों से मेमोरियल भेजे गए हैं, परन्तु मध्यप्रान्त फर्रुखाबाद, कानपुर, बनारस आदि स्थानों से नहीं भेजे गए। ऐसा ज्ञात हुआ है और गत दिवस नैनीताल की सभा की ओर से एक इसी विषय में पत्र आया था। उसके अवलोकन से निश्चय हुआ कि पश्चिमोत्तर देश से मेमोरियल नहीं गए और हमको लिखा है कि आप इस विषय में प्रयत्न कीजिए। अब कहिए हम अकेले सर्वत्र कैसे घूम सकते हैं। जो यही एक काम हो तो कुछ चिन्ता नहीं है, इसीलिए आपको अति उचित है कि मध्यदेश में सर्वत्र पत्र भेजकर बनारस आदि स्थानों से और जहाँ–जहाँ परिचय हो सब नगर व ग्रामों से मेमोरियल भिजवाइए। यह काम एक के करने का नहीं और अवसर चूके वह अवसर आना दुर्लभ है। जो यह कार्य सिद्ध हुआ तो आशा है कि मुख्य सुधार की एक नींव पड़ जाएगी।" [६३६]

स्वामीजी कभी–कभी अपने अनुयायियों की अकर्मण्यता पर खिन्न भी हो उठते थे। ऐसी ही अकर्मण्यता के ऊपर लाला कालीचरणजी के विषय में उन्होंने बाबू दुर्गाप्रसाद को उपर्युक्त पत्र में लिखा था कि "बड़े आश्चर्य का विषय है कि पुकारते तो हैं हमारी उन्नति हो, परन्तु जब उन्नतिकारक विषय आ पड़ता है तब ऐसे निरुत्साही और भयातुर होकर चुपचाप बैठे रहते हैं। क्या ऐसी ही बातों से उन्नति होने की आशा करते हैं! देखिए लाला कालीचरणजी ने प्रथम चिट्ठी पर चिट्ठी भेजी और बड़ी शीघ्रता के साथ लिखा कि (मुरादाबाद वाले जगन्नाथदास निर्मित प्रश्नोत्तरी का) विस्तारपूर्वक उत्तर प्रमाणों के साथ भेजिए। जब हमने वेदभाष्य के काम को छोड़ प्रमाणसहित उत्तर लिख रजिस्ट्री कराके भेज दिया और उसके साथ एक पत्र भेजा कि शीघ्र छपवाकर प्रसिद्ध कर दो। उस शीघ्रता का फल यह हुआ कि अब दो महिने व्यतीत हुए एक अक्षर भी नहीं छपवाया। लिखा कि प्रेस एक्ट होने वाला है उसको देखने के पश्चात् छपवाएँगे। यह उनको केवल किसी के बहकाने से भ्रममात्र हुआ है क्योंकि जो ऐसा होता तो '*भारतमित्र*' आदि में अवश्य छपता, अथवा अन्य पुरुषों के द्वारा भी सुनने में आता, सो केवल प्रेस एक्ट के भ्रम होने से डर गए हैं। भला ऐसे–ऐसे सद्यःकर्त्तव्य कर्मों के करने में भ्रममात्र से डरकर निरुत्साही हो जाना अवनति का कारण नहीं तो क्या है?" [६३६]

**स्वीकारपत्र लिखने की चिन्ता**– हम नहीं कह सकते कि क्या कारण था जिससे स्वामीजी को अपना स्वीकारपत्र लिखने की बड़ी चिन्ता थी। जब स्वामीजी जुलाई–सितम्बर सन् १८८० ई० में मेरठ में थे तब भी उन्होंने '*परोपकारिणी सभा*' को स्थापित करना सोचा था और उसके नियमादि की पाण्डुलिपि भी तैयार की गई थी, परन्तु उस समय उसकी रजिस्ट्री नहीं हो सकी थी [६३७]। स्वामीजी का यह सङ्कल्प अब भी शिथिल नहीं हुआ थाजिससे वह उनका लक्ष्य बन रहा था। अतः जब

---

६३५– यह पत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ में पृष्ठ ३८१ पर छपा है। – *संग्रहकर्त्ता*

६३६– यह पूरा पत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ में पृष्ठ ३६८ पर छपा है।

६३७– यह ठीक नहीं है। मेरठ में १६ अगस्त १८८० ई० में स्वीकार पत्र की रजिस्ट्री हो गई थी। यह स्वीकार पत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ में पृष्ठ ५२८–५३२ पर छपा है तथा इसी जीवन चरित्र में भी रजिस्ट्री हो जाने का उल्लेख है। – *संग्रहकर्त्ता*

वे उदयपुर में विराज रहे थे तब उन्होंने और अधिक विलम्ब करना उचित न समझा और फाल्गुन कृष्ण [६३८] ५ सं० १९३९ वि० तदनुसार २७ फरवरी सन् १८८३ ई० (मङ्गलवार) को अपना ***'स्वीकार–पत्र'*** लिखकर राज्यनियम के अनुसार उसे रजिस्ट्री करा दिया। हो सकता है कि स्वामीजी को यह ज्ञात हो गया हो कि उनका शरीर अब अधिक दिन रहने वाला नहीं है। मैडम ब्लैवैटस्की ने उनके परम पदप्राप्ति के पश्चात् लिखा था कि स्वामीजी ने उनसे कहा था कि मैं सन् १८८३ ई० का अन्त न देखूँगा। अन्यथा यह समझ में नहीं आता कि ऐसे समय जबकि वे स्वस्थ थे, इतने दिन पहले से उन्हें यह चिन्ता क्यों थी? यदि वे रुग्ण होते तो हमें इस चिन्ता का कारण ढूँढ़ने की आवश्यकता न होती।

## स्वीकार–पत्र

मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित नियमों के अनुसार तेईस सज्जन आर्य पुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूँ और उसको परोपकार–सुकार्य में लगाने के लिए अध्यक्ष बनाकर यह *'स्वीकार–पत्र'* लिखे देता हूँ कि समय पर काम आए।

इस सभा का नाम परोपकारिणी सभा है और निम्नलिखित तेईस महाशय इसके सभासद् हैं–

१– श्रीमान् महाराजाधिराज महिमहेन्द्र यावदार्य–कुलकमलदिवाकर महाराणाजी श्री १०८ सज्जनसिंहजी वर्मा जी०सी०एस०आई० उदयपुराधीश राज मेवाड़, *सभापति*।

२– लाला मूलराज साहब एम०ए० एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर प्रधान आर्यसमाज लाहौर, *उपसभापति*।

३– श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी, राज मेवाड़ *मन्त्री* (१)

४– लाला रामशरणदास रईस व उपप्रधान आर्यसमाज, मेरठ *मन्त्री* (२)

५– पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलालजी शर्मा उदयपुर, जन्मस्थान मथुरा, *उपमन्त्री*।

६– श्रीमन्महाराजाधिराज श्री नाहरसिंहजी वर्मा शाहपुराधीश, *सभासद्*।

७– श्री राव तख्तसिंहजी बेदले, राज मेवाड़; *सभासद्*।

८– श्रीमद्राजराणा श्री फतहसिंहजी वर्मा, भीलवाड़ा; *सभासद्*।

९– श्री मद्रावत श्री अर्जुनसिंह जी वर्मा, आसीन्द; *सभासद्*।

१०– श्रीमन्महाराज गजसिंहजी वर्मा, उदयपुर; *सभासद्*।

११– श्रीमद्रावत बहादुरसिंहजी वर्मा, मसूदा जिला अजमेर; *सभासद्*।

१२– राव बहादुर पं० सुन्दरलाल सुप्रिटेंडेण्ट वर्कशाप अलीगढ़, आगरा; *सभासद्*।

१३– राजा जयकृष्णदास सी०एस०आई० डिप्टी कलेक्टर बिजनौर, मुरादाबाद; *सभासद्*।

१४– साहू दुर्गाप्रसाद, कोषाध्यक्ष आर्यसमाज फर्रुखाबाद; *सभासद्*।

१५– साहू जगन्नाथप्रसाद फर्रुखाबाद; *सभासद्*।

१६– सेठ निर्भयराम प्रधान आर्यसमाज फर्रुखाबाद, ब्यावर राजपूताना; *सभासद्*।

१७– लाला कालीचरण रामचरण मन्त्री आर्यसमाज फर्रुखाबाद; *सभासद्*।

१८– बाबू छेदीलाल गुमाश्ते कमसरियट छावनी मुरार ग्वालियर; *सभासद्*।

१९– लाला साईंदास मन्त्री आर्यसमाज लाहौर; *सभासद्*।

२०– बाबू माधवदास मन्त्री आर्यसमाज दानापुर; *सभासद्*।

---

६३८– परोपकारिणी सभा अजमेर की ओर से जो स्वीकार पत्र छपता है उसमें कृष्ण के स्थान में शुक्ल पाठ है। वह अशुद्ध है, कृष्ण ही होना चाहिए। – *संग्रहकर्ता*

२१- रावबहादुर राजागल राजेश्वरी पं० गोपालराव हरिदेशमुख मेम्बर कौंसिल गवर्नर मुम्बई व प्रधान आर्यसमाज मुम्बई, पूना; *सभासद्*।

२२- रावबहादुर महादेव गोविन्द रनाडे जज पूना; *सभासद्*।

२३- पण्डित श्यामजीकृष्ण वर्मा प्रोफेसर संस्कृत, यूनिवर्सिटी आक्सफोर्ड लन्दन, मुम्बई; *सभासद्*।

## *स्वीकार-पत्र के नियम*

१- उक्त सभा जैसे कि मेरी जीवितावस्था में मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा करके निम्नलिखित परोपकार के कामों में लगाने का अधिकार रखती है वैसे ही मेरे पीछे अर्थात् मरने के पश्चात् भी लगाया करे-

(क) वेद और वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने- कराने, पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने, छापने-छपवाने आदि में।

(ख) वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशक मण्डली नियत करके देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग आदि में।

(ग) आर्यावर्त्त के अनाथ और दीन जनों की शिक्षा और पालन में खर्च करे और करावे।

२- जैसे मेरी उपस्थिति में यह सभा सब प्रबन्ध करती है वैसे ही मेरे पीछे तीसरे या छठे महीने किसी सभासद् को वैदिक यन्त्रालय का हिसाब-किताब समझने और पड़तालने के लिए भेजा करे और वह सभासद् वहाँ जाकर कुल आमदनी और खर्च की जाँच-पड़ताल किया करे और उसके नीचे अपने हस्ताक्षर करे और इस परताल की एक-एक प्रति प्रत्येक सभासद् के पास भेजे और यदि यन्त्रालय के प्रबन्ध में कुछ त्रुटि देखे तो उसके सुधार के लिए अपनी सम्मति लिखकर प्रत्येक सभासद् के पास भेज देवे और प्रत्येक सभासद् को उचित है कि अपनी-अपनी सम्मति सभापति के पास लिख भेजे और सभापति सबकी सम्मति से यथोचित प्रबन्ध करे, इस कार्य में कोई सभासद् आलस्य या अनुचित व्यवहार न करे।

३- इस सभा को उचित है कि जैसा यह परम धर्म और परमार्थ का काम है वैसा ही उसको उत्साह, पुरुषार्थ, गम्भीरता और उदारता से करे।

४- प्रागुक्त तेईस आर्यसज्जनों की सभा मेरे पीछे सब प्रकार मेरी स्थानापन्न समझी जावे अर्थात् जो अधिकार मुझे अपने सर्वस्व का है वही अधिकार सभा को है और होगा। यदि उक्त सभासदों में से कोई सभासद् स्वार्थ में पड़कर इन नियमों के विरुद्ध काम करे या कोई अन्य मनुष्य हस्तक्षेप करे तो वह सर्वथा झूठा समझा जाए।

५- जैसे इस सभा को वर्तमान समय में मेरी और मेरे सब पदार्थों की यथाशक्ति रक्षा और उन्नति करने का भी अधिकर है वैसे ही मेरे मृतक शरीर के संस्कार का भी अधिकार है। अर्थात् जब मेरा शरीर छूटे तो न उसको गाड़े, न जल में बहावे, न जंगल में फेंके, सिर्फ चन्दन की चिता बनवावे और जो यह सम्भव न हो तो दो मन चन्दन, चार मन घी, पाँच सेर कपूर, अढ़ाई मन अगर, तगर और दस मन काष्ठ लेकर वेद के अनुसार जैसा कि संस्कारविधि पुस्तक में लिखा है वेदि बनाकर वेद मन्त्रों से जो उसमें लिखे हैं भस्म करें। इसके सिवाय और कुछ वेद के विरुद्ध न करें और जो उस समय इस सभा का कोई सभासद् उपस्थित न हो तो जो कोई उस समय उपस्थित हो वही यह काम करे और जितना धन इसमें लगे उतना सभा से ले लेवे और सभा उसको दे देवे।

६- अपने जीवन में मैं और मेरे पीछे यह सभा इस बात का अधिकार रखती है कि जिस सभासद् को चाहे पृथक् करके किसी और योग्य सामाजिक आर्य पुरुष को उसका स्थानापन्न नियत कर दे। परन्तु कोई सभासद् सभा से तब तक पृथक् न किया जाएगा, जब तक उसके काम में कोई अनुचित चेष्टा न पाई जाए।

७- मेरे सदृश यह सभा सदा स्वीकार-पत्र की व्याख्या या उसके नियमों का पालन या किसी सभासद् के पृथक् करने और उसके स्थान में अन्य सभासद् को नियत करने या मेरे आपत्काल के निवारण करने के उपाय और यत्न में वह उद्योग करे, जो सब सभासदों की सम्मति से निश्चय और निर्णय हो या होवें और यदि सभासदों की सम्मति में विरोध रहे तो बहुसम्मति के अनुसार काम करें और सभापति की सम्मति को सदा द्विगुण समझें।

८- किसी दशा में भी यह सभा तीन से अधिक सभासदों को अपराध के सिद्ध होने पर भी पृथक् न कर सकेगी जब तक कि उनकी जगह में और सभासदों को नियत न कर ले।

९- यदि किसी सभासद् का देहान्त हो जाए या वेदोक्त धर्म को छोड़कर उक्त नियमों के विरुद्ध चलने लगे तो सभापति को उचित है कि सब सभासदों की सम्मति से उसको पृथक् करके उसकी जगह में किसी और योग्य वेदोक्त धर्मयुक्त आर्यपुरुष को नियत करे, परन्तु उस समय तक साधारण कामों के अतिरिक्त कोई नया काम न छेड़ा जाए।

१०- इस सभा को अधिकार है कि सब प्रकार का प्रबन्ध करे और नये उपाय सोचे। परन्तु यदि सभा को अपने परामर्श और विचार पर पूरा-पूरा निश्चय और विश्वास न हो तो समय का निर्धारण करके लेख द्वारा सम्पूर्ण आर्यसमाजों से सम्मति ले और बहुपक्षानुसार उचित प्रबन्ध करे।

११- प्रबन्ध का घटाना-बढ़ाना या स्वीकार या अस्वीकार करना या किसी सभासद् को पृथक् वा नियत करना या आमदनी व खर्च की जाँच-पड़ताल करना या अन्य हानि-लाभ सम्बन्धी विषयों को सभापति वर्ष भर में या छः महीने में छपवाकर चिट्ठी के द्वारा सब सभासदों में प्रचारित करे।

१२- यदि इस स्वीकार-पत्र के विषय में कोई झगड़ा उठे तो उसको राजगृह में न ले जाना चाहिए किन्तु जहाँ तक हो सके यह सभा अपने आप उसका निर्णय करे। यदि आपस में किसी प्रकार निर्णय न हो सके तो फिर न्यायालय से निर्णय होना चाहिए।

१३- यदि मैं अपने जीते जी किसी योग्य आर्य पुरुष को पारितोषिक देना चाहूँ और उसकी लिखत-पढ़त कराकर रजिस्ट्री करा दूँ तो सभा को चाहिए कि उसको माने और दे।

१४- मुझे और मेरे पीछे सभा को सदा अधिकार है और रहेगा कि उक्त नियमों के देश के किसी विशेष लाभ और परोपकार के लिए न्यूनाधिक करे।

हस्ताक्षर - *दयानन्द सरस्वती*

**महाराणा का पुत्र-जन्म पर दान**- पुत्र-जन्म के हर्ष में महाराणा ने ५०० रु० अनाथालय आर्यसमाज फीरोजपुर को और इसके अतिरिक्त १०० रु० उक्त अनाथालय की सूई का काम करने वाली कन्याओं को दान दिए थे। १२०० रु० वेदभाष्य की सहायता में और एक बढ़िया दुशाला चादर स्वामीजी को और १०० रु० तथा एक साधारण दुशाला रामानन्द ब्रह्मचारी को दिया था। इसका उल्लेख स्वामीजी ने अपने ४ मार्च सन् १८८३ ई० के पत्र में, जो उन्होंने चित्तौड़ से राजा दुर्गाप्रसाद रईस फर्रुखाबाद को लिखा था, किया है[६३९]। उसमें महाराणा के स्वामीजी से मनुस्मृति आदि पढ़ने, स्वीकार-पत्र के लिखे जाने, महाराणा को दिनचर्या का उपदेश करने तथा महाराणा के उपरोक्त दान का वर्णन करने के पश्चात् अन्त में स्वामीजी ने लिखा है कि "वैदिक धर्म की प्रथम ही रुचि थी अब विशेष कर हुई। जैसे श्रीमान् आर्यकुल दिवाकर सुशीलता, कृतज्ञता, सुसभ्यता, प्रसन्नता, ज्ञान आदि शुभगुण-कर्म स्वभाव युक्त मैंने देखे वैसे बहुत विरले होंगे।" [६३९]

**विदा-समय सम्मान**- जब स्वामीजी ने महाराणा से विदा लेनी चाही तो महाराणा ने २००० रु० स्वामीजी की भेंट किए, परन्तु स्वामीजी उनके स्वीकार करने पर सहमत न हुए। महाराणा ने कहा कि हम तो इन्हें आपकी सेवा में भेंट करने का

६३९- यह पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन ग्रन्थ में पृष्ठ ४०० पर छपा है। - *संग्रहकर्ता*

सङ्कल्प कर चुके हैं। तब महाराणा के आग्रह पर स्वामीजी ने कहा कि यह रुपया परोपकारिणी सभा को दे दिया जाए। उस समय तक उक्त सभा की कोई निधि न थी। अत: यह निश्चय हुआ कि एक निधि वैदिकनिधि के नाम से स्थापित की जाए और उसी में यह रुपया जमा किया जाए, सुतराम, ऐसा ही किया गया। वह रुपया राजकोष में उक्त निधि के नाम से जमा कर दिया गया। पीछे आकर और रुपया भी जो अन्यत्र जमा था इसी कोष में जमा कर दिया गया।

**महाराणा का विद्या प्रेम**– उदयपुर से चलते समय महाराणा ने कहा कि यदि आप षड्–दर्शन का भाष्य करें तो उसकी सहायता में २०,००० रुपया मुझसे मँगा लें, परन्तु स्वामीजी ने उत्तर दिया कि पहले तो हमें वेदों का भाष्य ही करना है।

**मान–पत्र**– चलते समय महाराणा ने एक मानपत्र स्वहस्ताक्षरयुक्त स्वामीजी को दिया जो इस प्रकार था–

*स्वस्ति श्री सर्वोपकारार्थ कारुणिक परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य श्री ५ श्रीमद्दयानन्द सरस्वती यतिवर्येषु इतो महाराणा सज्जनसिंहस्य नतिततय: समुल्लसन्तु।*

इदन्तु, आपका अठै सात मास का निवास सूं चित्त अत्यन्त आनन्द मैं रह्यो, क्योंकि आपकी शिक्षा को प्रकार श्रेष्ठ और उन्नतिदायक है और आपका संयोग सूं ही न्याय, धर्मादि शारीरिक कार्य में निस्सन्देह लाभ प्राप्त होवा की म्हां का सभ्य जनासहित दृढ़ आशा हुई कारण कि शिक्षा और उपदेश वाँ का श्रेष्ठ पुरुषों का दृढ़ होवै है जो स्वकीय आचरण भी प्रतिकूल नहीं राखै, सो आप में यथार्थ मिल्यो, अब म्हे आपका वियोग का संयोग तो नहीं चाँवाँ हाँ, परन्तु आपका शरीर अनेक पुरुषों कै उपकारक है जीसूँ अवरोध करणो अनुचित है, तथापि पुनरागमन सूँ आप भी म्हाँ का चित्त ने शीघ्र अनुमोदित करैगा इत्यलम्।

संवत् १९३९ फाल्गुन कृष्ण ५ भौमे
हस्ताक्षर *महाराणा सज्जनसिंहस्य*

महाराणा ने स्वामीजी को अतिसम्मानपूर्वक विदा किया। महाराज १ मार्च को नींबाहेड़ा पहुँचे और वहाँ से चित्तौड़ पधारे। चित्तौड़ में आपका निवास सात मार्च सन् १८८३ ई० तक रहा। इतने में राजधिराज शाहपुरे का पत्र लेकर उनके भेजे हुए पुरुष स्वामीजी को शाहपुरा लिवा ले जाने के लिए आ गए और आप उनके साथ शाहपुरा के लिए चल पड़े।

## शाहपुरा (१८८३ ई०)

राजाधिराज श्री नाहरसिंहजी शाहपुराधीश ने स्वामीजी के दर्शन चित्तौड़ में किए थे जब कि वहाँ लार्ड रिपन का दरबार हुआ था। उसी समय वे स्वामीजी के श्रद्धालु भक्त बन गए थे और उसी समय उन्होंने स्वामीजी से शाहपुरा पधारने की प्रार्थना की थी। स्वामीजी ने उसे स्वीकार करते हुए कह दिया था कि अवसर प्राप्त होने पर आएँगे। अत: जब राजाधिराज को यह सूचना मिली की स्वामीजी उदयपुर से विदा होकर चित्तौड़ में विराजमान हैं, तो उन्होंने तुरन्त ही अपने विश्वस्त कर्मचारियों को उनको लिवा लाने के लिए भेजा और एक लिखित प्रार्थनापत्र भी श्रीसेवा में प्रेषित किया। स्वामीजी पहले ही शाहपुरा पधारना स्वीकार कर चुके थे, अत: राजाधिराज की भक्ति और प्रेम देखकर वे उनके कर्मचारियों के साथ शाहपुरा के लिए चल पड़े। रूपाहेली स्टेशन तक तो रेल में गए और वहाँ से राजाधिराज के भेजे हुए यान पर फाल्गुन अमावस्या संवत् १९३९ वि० अर्थात् ९ मार्च १८८३ ई० (शुक्रवार) को शाहपुरा पहुँच गए। राजाधिराज ने स्वामीजी के निवास के लिए राजकीय बाग में समुचित प्रबन्ध कर रक्खा था और डेरे आदि लगवा दिए थे, स्वामीजी वहीं ठहर गए। सायंकाल को राजाधिराज भी परिषद्वर्ग सहित श्रीसेवा में उपस्थित हुए। अन्य प्रतिष्ठित नागरिक भी दर्शनों को आए। उस दिन दो घण्टे तक स्वामीजी और राजाधिराज का प्रेमालाप होता रहा। पाँच दिन तक इसी प्रकार परस्पर वार्तालाप होता रहा। फिर यह निश्चय हुआ कि राजाधिराज सायंकाल के ६ बजे से रात्रि के ९ बजे तक श्रीसेवा में उपस्थित रहा करें जिसमें एक घण्टे तक तो धर्मविषय पर प्रश्नोत्तर और दो घण्टों तक पढ़ना हुआ करे। तदनुसार राजाधिराज ने श्रीचरणों में बैठकर मनुस्मृति (प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर) तथा पातञ्जल योगशास्त्र तथा वैशेषिक दर्शन का कुछ भाग पढ़ा। प्रात:काल जब स्वामीजी भ्रमण को जाया करते थे तो कभी-कभी राजाधिराज भी उनके साथ चले जाते थे और उनसे एकान्त में प्राणायाम-विधि सीखा करते थे।

**ब्राह्मणकुमार को संन्यास-दान**- स्वामीजी ने एक होनहार ब्राह्मण कुमार को संन्यास दिया था और उसका नाम ईश्वरानन्द रखा था और उसी समय उसे विद्योपार्जन के लिए प्रयाग भेज दिया था और वैदिक यन्त्रालय के मैनेजर को लिख दिया था कि जब तक वह पढ़ता रहे उसे ५ रु० मासिक मिलता रहे।[५४०]

**निद्रा पर अधिकार**- स्वामीजी का यह नियम था कि मध्याह्न: के भोजन के पश्चात् ग्रीष्मकाल में १६ मिनट और शीतकाल में १४ मिनट निद्रा लिया करते थे। निद्रा उनके इतनी वशवर्तिनी थी कि लेटने के कुछ क्षण पश्चात् ही वे गाढ़ निद्रा से अभिभूत हो जाते थे और घड़ी की सुई के १६ मिनट पर पहुँचते ही १७वें मिनट में अँगड़ाई लेकर उठ बैठते थे और २-३ मिनट में हाथ मुँह धोकर वेदभाष्य के कार्य में लग जाते थे। भृत्य लोग भी स्वामीजी के नियत समय पर शय्या-त्याग करने से परिचित हो गये थे और वे घड़ी की सुई के १६ मिनट पर पहुँचते ही मुँह हाथ धुलाने का जल ठीक करके रख देते थे।

**हमें शास्त्रार्थ से क्या काम**- एक दिन कुछ लोग स्वामीजी के पास आए और कहने लगे कि यहाँ रामसनेहियों के महन्त हिम्मतराम रहते हैं, आपका यदि उनसे शास्त्रार्थ हो जाए तो उत्तम है। स्वामीजी ने कहा कि हम शास्त्रार्थ के लिए उद्यत हैं, उन्हें हमारे पास लिवा लाओ। लोग हिम्मतराम के पास गए और उनसे अपना मनोभाव प्रकट किया, परन्तु महन्तजी ने कहा कि भाई हम तो पानी छान कर पीते हैं और राम-राम कहते हैं, हमें शास्त्रार्थ से क्या काम?

**रामसनेहियों से भेंट**- उन्हीं दिनों में शाहपुरा में रामसनेहियों का एक मेला था। उसमें ब्यावर के कुछ रामसनेही वैश्य आए हुए थे। एक दिन वे स्वामीजी का व्याख्यान सुनने के लिए आए। उस समय तक व्याख्यान आरम्भ नहीं हुआ था, वे स्वामीजी को '**राम-राम**' करके बैठ गए। स्वामीजी ने उसका उत्तर '*नमस्ते*' शब्द से दिया। थोड़ी देर पश्चात् स्वामीजी

५४०- मैनेजर वैदिक यन्त्रालय के नाम लिखा इस विषय का पत्र उपलब्ध नहीं हुआ। परन्तु इस बात का वर्णन ईश्वरानन्द के नाम लिखे पत्र में भी मिलता है। देखो ऋषि के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४४२-४४३। -*संग्रहकर्ता*

ने उनसे पूछा कि तुम लोग इतने दिन से 'राम-राम' जपते हो, इससे क्या लाभ है? उन्होंने कहा पहले नाम पीछे नामी, जैसे हमने पहले आपका नाम सुना और पीछे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आपको पा लिया, जैसे पहले काशी कहते-कहते और पीछे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मनुष्य काशी पहुँच जाता है, ऐसे ही 'राम-राम' कहते-कहते मनुष्य पीछे राम को पा लेता है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैंने तो कभी पहले तुम्हारा नाम जपा नहीं, परन्तु फिर भी मैंने तुम्हें अपने सम्मुख बैठे हुए कैसे पा लिया? केवल नाम लेने से ही परमेश्वर नहीं मिल सकता। उसके लिए साधन करना आवश्यक है। केवल लड्डू-लड्डू कहने से ही लड्डू नहीं मिल सकता, उसके लिए उपयुक्त साधन करना होता है।

**बाबाजी ! स्वामीजी सच कहते हैं**- यह बातें हो ही रही थीं कि पाँच-पाँच छः-छः वर्ष के बालक जो उन वैश्यों की गोद में बैठे हुए थे, हठात् उठकर कहने लगे बाबाजी, स्वामीजी सच कहते हैं। लड्डू-लड्डू कहने से क्या लड्डू मिल सकते हैं? यह सुनकर सब लोग विस्मित हो गए तब स्वामीजी ने कहा कि ये बालक पक्षपाती नहीं हैं, इन्होंने किसी के कहने से ऐसा नहीं कहा। अब इन बालकों की सरलोक्तिपूर्ण मध्यस्थता से हमारे तुम्हारे शास्त्रार्थ की सुन्दर मीमांसा हो गई।

**राजपुरोहित से वार्तालाप**- रविवार को स्वामीजी वेदभाष्य का कार्य नहीं किया करते थे। एक रविवार को राजपुरोहित छबिमल व्यास स्वामीजी के पास आए और *'नमो नारायण'* कहकर बैठ गए। स्वामीजी ने उनका *'नमस्ते'* शब्द से अभिवादन किया और कहा कि आइए आज हमारी छुट्टी है और आपसे शास्त्रचर्चा करने की सुविधा है। व्यासजी ने कहा कि छुट्टी-मुक्ति तो हमारे लिए हो सकती है क्योंकि हम संसार-बन्धन में बद्ध हैं। आप तो संसार-बन्धन में हैं नहीं, फिर आपकी छुट्टी वा मुक्ति कैसी? स्वामीजी ने कहा कि हमारी वेदभाष्य के कार्य से छुट्टी है। व्यासजी ने कहा कि वेदभाष्य धर्मकार्य से छुट्टी कैसी? स्वामीजी ने कहा कि धर्मकार्य से नहीं, वेदभाष्य के कार्य से छुट्टी है। फिर स्वामीजी ने कहा कि कोई शङ्का-सन्देह हो तो कहिए। व्यासजी ने उत्तर दिया कि हम तो निःसन्देह हैं, हम किसी शङ्का-सन्देह के निवारण करने के लिए आपके पास नहीं आए, हम तो केवल आपसे मिलने के लिए आए हैं। स्वामीजी ने कहा कि निस्सन्देह तो दो ही प्रकार के लोग हो सकते हैं-

*यश्च मूढतमो लोको यश्च बुद्धेः पराङ्गतः।*
*द्वौ हीमौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः।।*

***अर्थ***- दो ही प्रकार के लोग सुख भोगते हैं एक तो वे जो अत्यन्त मूढ़ हों, दूसरे वे जो परम बुद्धिमान् हों, इन दोनों के बीच के लोग क्लेश पाते हैं।

आप इन दोनों में से कौन हैं? व्यासजी ने इस प्रश्न का कोई उत्तर न दिया, परन्तु थोड़ी देर पीछे कहा कि आप जो समझें, आप तो बुद्धिमान् ही हैं।

**विद्यार्थी के प्रश्नों का उत्तर**- बिहारीलाल नामक एक विद्यार्थी था। उसने स्वामीजी से तीन प्रश्न किए-

*प्रश्न* १- पाणिनि की अष्टाध्यायी के तीसरे अध्याय के दूसरे पाद के १७७ वें सूत्र *'भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः क्विप'* में ग्राव-स्तुति अर्थात् पत्थर की स्तुति प्रतिपादित की गई है।

*प्रश्न* २- पाणिनि के सूत्र [६४१] का उल्लेख करके कहा कि इससे शिव, स्कन्द, विष्णु प्रभृति की मूर्त्ति सिद्ध होती है।

*प्रश्न* ३- ईश्वर सर्वव्यापक है वा नहीं?

स्वामीजी ने इन प्रश्नों के उत्तर क्रमशः इस प्रकार दिए-

उत्तर १- स्तुति अनेक वस्तुओं की होती है। जैसे कारीगर कहते हैं कि यह पत्थर उत्तम है, यह काष्ठ उत्तम है। ग्रावा के अर्थ पत्थर अवश्य हैं, परन्तु इससे पत्थर की मूर्त्ति की सिद्धि नहीं होती।

६४१- जीविकार्थे चाऽपण्ये। अष्टा० ५।३।९९।। - *संग्रहकर्त्ता*

उत्तर २– उस समय शिव, विष्णु आदि मनुष्यों के नाम होते थे। विदेश आदि जाने पर मूर्त्तियाँ रखी जाती थीं, परन्तु इससे शिव, विष्णु आदि की पूजा सिद्ध नहीं होती।[६४२]

उत्तर ३– परमेश्वर सर्वव्यापक है।

इस पर बिहारीलाल ने कहा कि तो फिर मैं प्रस्तरादि में ईश्वर को व्यापक समझकर उसकी पूजा कर सकता हूँ।

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि तुम्हारी झाँझ, घण्टे आदि और तुम्हारी वाणी, गले आदि में भी ईश्वर है। तो तुम ईश्वर के एक अंश को आहत करके (घण्टा घड़ियाल बजाकर) उसके दूसरे अंश (प्रस्तरादि) की पूजा करते हो, यह क्या बात है? और यदि तुम पत्थर में यथार्थ रूप से ईश्वर-बुद्धि करके पत्थर को ईश्वर कर सकते हो तो बालू को शर्करा समझकर भोजन क्यों नहीं करते?

बिहारीलाल ने स्वामीजी की इस प्रकार की युक्तियाँ सुनकर मूर्त्तिपूजन करना त्याग दिया और वह शुद्ध चित्त से स्वामीजीका अनुयायी हो गया।

**विचित्र ज्ञानेन्द्रिय-प्रकाश**– शाहपुरा में स्वामीजी खस की टट्टी के कमरे में पंखे के नीचे बैठकर वेदभाष्य किया करते थे। टट्टी पर जल छिड़कने के लिए एक हौज था जिसमें प्रतिदिन कुएँ से जल भर दिया जाता था और उसमें से जल लेकर घीसालाल बोळा ब्राह्मण टट्टी पर छिड़का करता था। हौज प्रतिदिन साफ कर दिया जाता था और उसमें ताजा जल भर दिया जाता था। एक दिन भृत्य ने असावधानी वा प्रमाद से हौज को साफ न किया और उसमें कुछ वासी जल पड़ा रह गया और उसी में ताजा जल भरकर टट्टी पर छिड़क दिया। इसके कुछ ही देर पश्चात् स्वामीजी ने यह बात जान ली। उन्होंने तत्क्षण वेदभाष्य का कार्य बन्द कर दिया और कहा कि उस जल को फेंक दो और हौज को साफ करके उसमें ताजा जल भरो। इस प्रकार जब तक हौज साफ करके उसमें ताजा जल भरकर टट्टी पर न छिड़का गया वेदभाष्य का कार्य न किया। इस घटना को देखकर घीसालाल चकित हो गया। उसने कहा कि स्वामीजी में कैसी अद्भुत शक्ति है, ऐसी बातों के जानने की राजा महाराजाओं में भी शक्ति नहीं होती।

**पत्थर पर चढ़े बताशे**– स्वामीजी के दुग्ध में बताशे पड़ा करते थे। एक दिन उनके दुग्ध में बताशे डाले जा रहे थे कि उन्होंने देखा कि एक बताशे पर सिन्दूर का सूक्ष्म सा दाग लगा हुआ है। उन्होंने भृत्य से कहा कि यह बताशे पत्थर पर चढ़ाए हुए हैं, मैं इन्हें दुग्ध में नहीं डलवाऊँगा, तुम ये बताशे हलवाई को लौटा आओ और फिर कभी उसकी दुकान से बताशे मत लाना।

स्वामीजी की ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति अति प्रबल थी और हर एक वस्तु को ध्यान से देखना उनका स्वभाव हो गया था। ये दोनों घटनाएँ इसके समुज्जवल दृष्टान्त हैं।

**नैयायिक से विनोद-वार्ता** – एक दिन एक नैयायिक स्वामीजी की ओर आ निकले और लगे न्याय छौंकने। स्वामीजी विनोदप्रिय तो थे ही। उन्होंने भी उनसे दो घड़ी मन बहलाने की ठान ली। स्वामीजी ने इन नैयायिक महाशय से कहा कि '*देवदत्तो ग्रामं गच्छति*' इसका नव्य-न्याय की रीति से अर्थ कीजिए। फिर क्या था, उन्होंने अवछेदकावच्छिन्न की झड़ी लगा दी और लगे फक्किका पर फक्किका झाड़ने। आधे घण्टे तक स्वामीजी उसे सुनकर मन ही मन हँसते और उनके व्यर्थ समय नष्ट करने पर खेद करते रहे। अन्त में स्वामीजी ने गम्भीरतापूर्वक उनसे कहा कि भाई इसका सीधा अर्थ तो यह है कि 'देवदत्त ग्राम को जाता है', परन्तु आपने इसे ऐसा जटिल बना दिया है कि कोई इससे कुछ भी न समझे और उन्हें उपदेश किया कि पहले दर्शनों को समझ लो और फिर दार्शनिक बातचीत करो।

---

६४२– इसकी विशद व्याख्या स्त्रैणताद्धित सूत्राङ्क ८११ की व्याख्या में देखना चाहिए। –*संग्रहकर्ता*

**चौके-चूल्हे का पाखण्ड**- स्वामीजी कच्ची-पक्की, निखरी-सिखरी रसोई के पचड़े को नहीं मानते थे। एक दिन एक संन्यासी, जो उनके पास अध्ययन करता था, चौके के प्रश्न पर रसोइया से बिगड़ बैठा तो स्वामीजी ने उसकी भर्त्सना की कि संन्यासी होकर भी तुम चौके-चूल्हे के पाखण्ड से नहीं छूटे। तुम्हें तो चारों वर्णों के परस्पर के भेदभाव को मिटाकर सार्वजनिक बन्धुत्व स्थापित करना चाहिए, परन्तु तुम स्वयं ही इस बखेड़े में पड़े हुए हो।

**स्वामीजी की सत्यप्रियता**- जिन दिनों स्वामीजी शाहपुरे में थे उन्हीं दिनों फर्रुखाबाद के पण्डित गोपालराव हरि उनका जीवन-वृत्तान्त '*भारत सुदशाप्रवर्तक*' में लिखा करते थे। उन्होंने स्वामीजी के प्रथम बार चित्तौड़ पधारने के वृत्तान्त में लिख दिया था कि महाराणा स्वामीजी से प्रतिदिन दो बार मिला करते थे। यह बात सत्य न थी। इस वृत्तान्त के विषय में एक नवीन वेदान्ती साधु अमृतराम ने स्वामीजी को शाहपुरे में पत्र भेजा कि गोपालरावहरि ने आपके सम्बन्ध में ऐसा मिथ्या लिखा है। स्वामीजी सत्य को सर्वोच्च स्थान देते थे और असत्य से उन्हें अत्यन्त घृणा थी। स्वामीजी ने उस साधु का पत्र पण्डित गोपालरावहरि को भेजकर लिख दिया कि उस समय उदयपुराधीश से मेरा समागम केवल तीन बार ही हुआ था। उनको यह भी चेतावनी दी थी कि 'जब आपको मेरा ठीक-ठीक वृत्तान्त विदित ही नहीं है तो इसके लिखने का साहस कभी न कीजिए। थोड़ा सा भी असत्य मिल जाने से सम्पूर्ण निर्दोष कृत्य भी बिगड़ जाता है। ऐसा ही निश्चय रखो।'

**लेटते ही सो जाते थे**- रात्रि को दस का पहला घण्टा बजते ही पलङ्ग पर लेट जाते थे और लेटते ही गहरी नींद में सो जाते थे। स्वामीजी का अपनी निद्रा पर ऐसा अधिकार देखकर सबको ही आश्चर्य होता था।

जब स्वामीजी उदयपुर में ही थे तब ही जोधपुर से महाराज प्रतापसिंह और रावराजा तेजसिंह के पत्र श्रीसेवा में आए थे जिनमें उनसे जोधपुर पधारने की विनीत प्रार्थना की गई थी। स्वामीजी ने उसी समय शाहपुरा से लौटकर जोधपुर जाने का उन्हें वचन दे दिया था। अत: जब शाहपुरा में महाराजा जसवन्तसिंहजी जोधपुराधीश का निमन्त्रण आया तो स्वामीजी ने जोधपुर की मरुभूमि को अपने अमृतोपम उपदेश की वर्षा से सिञ्चित करने का सङ्कल्प कर लिया। रावराजा तेजसिंह और कर्नल सर प्रतापसिंह दीर्घकाल से स्वामीजी के दर्शनों की आकांक्षा और उत्कण्ठा रखते थे और कई बार पत्र द्वारा श्रीचरणों में प्रार्थना कर चुके थे। उन्होंने यह प्रार्थना महाराजा जसवन्तसिंह के परामर्श से ही की थी। उनकी ऐसी भक्ति और आग्रह को देखकर स्वामीजी में भक्त-वात्सल्य और परोपकार का भाव उमड़ आया और उनके अनुग्रह-मेघ ने बरसने का सङ्कल्प कर लिया और ज्येष्ठ वदी ४ संवत् १९४० वि० तदनुसार २६ मई, १८८३ ई० (शनिवार) की तिथि अपने शाहपुरा से प्रस्थान के लिए नियत कर दी।

**शाहपुराधीश की चेतावनी**- जोधपुराधीश एक वेश्या नन्हीं भगतन पर बुरी तरह आसक्त थे और यह बात सब कोई जानता था। शाहपुराधीश को जब यह ज्ञात हुआ कि स्वामीजी जोधपुर अवश्य जाएँगे तो उन्हें एक बात की चिन्ता हुई। वह यह कि स्वामीजी जोधपुर जाकर भी इस पाप-कर्म की भी भरपूर निन्दा करेंगे, कहीं ऐसा न हो कि स्वामीजी को कुछ हानि पहुँच जाए। अत: उन्होंने प्रेम से विह्वल होकर स्वामीजी को एक हल्की सी चेतावनी देना अपना कर्तव्य समझा और उनसे निवेदन किया कि जहाँ आप जा रहे हैं वहाँ वेश्याओं का अधिक खण्डन न कीजिए।

**चेतावनी का परिणाम**- स्वामीजी तलवारों की छाँह और तोप के मुँह पर भी सत्य बात के कहने और अपना कर्तव्य पालन करने से चूकने वाले व्यक्ति न थे। उनके हितेच्छुओं ने खटके के अवसरों पर कितनी बार ऐसी चेतावनियाँ उन्हें दी थीं और कितनी बार उन्होंने उनकी अवहेलना नहीं की थी। इस चेतावनी का भी वही परिणाम हुआ जो ऐसी अनेक चेतावानियों का अनेक बार इससे पहले भी हो चुका था। स्वामीजी ने कड़ककर उत्तर दिया कि में बड़े-बड़े कंटीले वृक्षों को मैं नहुरने से नहीं काटा करता। उनके लिए तो मुझे अति तीक्ष्ण शस्त्रों की आवश्यकता होगी।

**सम्मान प्रदर्शन**- विदा के समय शाहुपराधीश ने २५० रु० वेदभाष्य की सहायतार्थ दिए और वेद-धर्म-प्रचारार्थ

एक उपदेशक ३० रु० मासिक पर रखने का वचन दे दिया तथा निम्नलिखित मानपत्र श्रीसेवा में अर्पित किया–

**मानपत्र**– स्वस्ति श्री सर्वोपकारणार्थ-कारुणिक परमहंस–परिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीजी महाराज के चरणारविन्दों में महाराजाधिराज शाहपुरेश की वारम्वार नमस्तेऽस्तु।

अपरं च, यहाँ आपका विराजना सार्द्धद्वयमास हुआ, तथापि आपके सत्य धर्मोपदेश के श्रवण से मेरी आत्मा तृप्त न हुई। आशा थी कि आप ग्रीष्मान्त अत्र स्थित होते, परन्तु जोधपुराधीशों की ओर से दर्शनों की और वेदोक्तधर्म उपदेश ग्रहण, पुन: सत्याचरण, असत्य का त्याग और आपके मुखारविन्द से श्रवण की अभिलाषा देखके आपने वहाँ पधारना स्वीकार किया और भवच्छरीर भी करोड़ों मनुष्यों के उपकारार्थ प्रकट हुआ है, मेरी भी सम्मति यही हुई कि आपका पधारना ही उत्तम है।

यही समझकर यहाँ विराजने की प्रार्थना नहीं की। आशा है कि कृतकृत्य करने के निमित्त पुनरागमन करेंगे।

संवत् १९४० मिति ज्येष्ठ कृष्णा ४ हस्ताक्षर– *नाहरसिंहस्य*

नियत तिथि ज्येष्ठ कृष्णा ४ अर्थात् २६ मई सन् १८८३ ई० को स्वामीजी शाहपुरा को विदा हुए। शाहपुराधीश ने अतिसम्मानपूर्वक उन्हें विदा किया और बहुत दूर तक उनके साथ बग्घी में सवार होकर गए।

## अजमेर (१८८३ ई०)

२७ मई सन् १८८३ ई० को स्वामीजी अजमेर पहुँचकर सेठ फतहमल की कोठी में उतरे। अजमेर में स्वामीजी केवल एक ही दिन ठहरे, परन्तु उस दिन भी उपदेश और शङ्का-समाधान का कार्य करते रहे। स्वामीजी के आगमन की सूचना पाते ही लोग उनके पास इकट्ठे हो जाते थे।

**जैन सेठ से वार्तालाप**– उस दिन एक सेठजी आए जो जैन थे। उन्होंने कहा कि संसार में त्याग ही मुख्य बात है। स्वामीजी ने कहा कि यह असम्भव है। सेठजी से स्वामीजी ने संसार का लक्षण पूछा परन्तु वे न बतला सके। फिर धर्म-अधर्म पर बातचीत हुई। भूत-प्रेत का प्रसङ्ग आया जिसे स्वामीजी ने ढकोसला बताया। स्वामीजी के सुप्रसिद्ध शिष्य राव बहादुर गोपालरावहरि देशमुख जज पूना के पुत्र लक्ष्मणरावजी असिस्टेण्ट कलेक्टर खानदेश स्वामीजी से योगाभ्यास सीखने के लिए अजमेर आए हुए थे।

**मूलासुर के देश में न जाइए**– अजमेर में लोग जोधपुर की स्थिति को जानते थे कि महाराजा एक वेश्या के फन्दे में हैं और यह स्पष्ट ही था कि स्वामीजी उनके इस दुराचार के विरुद्ध खुले शब्दों में उपदेश किए बिना नहीं रहेंगे और इसलिए स्वामीजी के हितचिन्तक अनिष्ट की शङ्का करते थे, वैसे भी लोग यह भूमि को न केवल प्राकृतिक दृष्टि से ही वरन् धार्मिक दृष्टि से भी ऊसर समझते थे। अत: कुछ भक्तों ने भावी विपत्ति के भय से स्वामीजी से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि भगवन् वह मूल राक्षस का देश है वहाँ न जाइए। परन्तु स्वामीजी धुन के धनी थे और एक बार वचन देकर उसे लौटाना जानते ही न थे, उन्होंने हितेच्छुओं के हृदय से निकले हुए वचनों पर कर्णापात न किया और इतना ही कहा कि यदि लोग हमारी उँगलियों की बत्तियाँ बनाकर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहाँ जाकर अवश्य सत्योपदेश करूँगा।

## जोधपुर (१८८३ ई०)

स्वामीजी २९ मई सन् १८८३ ई० को १२ बजे अजमेर से सवार हुए और पाली स्टेशन पर पहुँचे। इस समय पाली तक ही रेल थी और वहाँ ही स्वामीजी के लिए यानादि का जोधपुर राज्य की ओर से प्रबन्ध था। म० लक्ष्मणरावजी भी स्वामीजी के साथ थे। पाली पर चारण नवलदान और मुंशी दामोदरदास यानादि लिए हुए उपस्थित थे। एक हाथी, तीन रथ, एक सेज-गाड़ी, तीन ऊँट और चार सवार उनके साथ थे। पाली में स्वामीजी अग्रवालों के बाग में उतरे और वहाँ का हाकिम भी स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुआ।

**जोधपुर के मार्ग में कष्ट**– दूसरे दिन स्वामीजी ने प्रात:काल ही जोधपुर के लिए प्रस्थान कर दिया। पाली से जोधपुर १८ कोस है, मार्ग में स्वामीजी और उनके साथियों को बहुत कष्ट हुआ। बड़े जोर की वर्षा होने लगी जिससे सब लोग और सारा सामान भीग गया। झंझावात से रथ आदि की छत तक उड़ गई। उस दिन सबने रोपट में डेरा किया। वहाँ के जागीरदार ठाकुर गिरधारीसिंह ने बड़े उत्साह से स्वामीजी का आतिथ्य किया और वे स्वामीजी के अनुयायी हो गए। वहाँ से रात्रि में ही स्वामीजी ने कूच कर दिया।

**जोधपुर में स्वागत**– प्रात:काल ३१ मई १८८३ ई० को जब जोधपुर दो कोस ही दूर रह गया तो स्वामीजी वायुसेवनार्थ यान से उतर पड़े और पैदल ही चलने लगे। अन्य साथियों ने भी स्वामीजी का अनुकरण किया। राज्य की ओर से राव राजा जवानसिंह ने कुछ दूर बढ़कर स्वामीजी का स्वागत किया। जोधपुर में उन्हें नजरबाग के सामने भैया फैजुल्लाखाँ की कोठी में ठहराया गया। स्वामीजी के पहुँचते ही सर कर्नल प्रतापसिंह महाराजा के लघु सहोदर और राव राजा तेजसिंह स्वामीजी के स्वागत के लिए आए। सर प्रतापसिंह ने नमस्ते करके २५ रु० नकद और एक मोहर स्वामीजी को भेंट की। स्वामीजी की सेवा के लिए उन्होंने समुचित प्रबन्ध कर दिया, उनके लिए सवत्सा दुग्धवती गौ भेज दी, उनके भोजन, शयनादि की सुव्यवस्था भी कर दी और एक गार्ड जिसमें ६ सिपाही और एक हवलदार था उनकी रक्षा और चार सेवक उनकी सेवा के लिए नियत कर दिए। इस प्रकार सर प्रतापसिंह और राव राजा तेजसिंह ने स्वामीजी की सुख और सुविधा के उपकरण प्रस्तुत करने में कोई त्रुटि नहीं की। महाराजा जसवन्तसिंह के गले में पीड़ा थी अत: वे स्वामीजी के स्वागत के लिए स्वयं न पधार सके थे।

**महाराजा दर्शनों को आए**– स्वामीजी के जोधपुर पहुँचने के सत्रह दिन के पश्चात् महाराजा उनके दर्शनों को आए और आते ही नम्र नमस्कारपूर्वक १०० रु० और ५ मोहरें श्रीचरणों में भेंट कीं। स्वामीजी कुर्सी पर विराजमान थे। महाराजा ने उनके सामने कुर्सी पर बैठना शिष्टसम्मत न समझा, अत: वेजब फर्श पर ही बैठने लगे, तब स्वामीजी ने उन्हें कुर्सी पर बैठने को कहा परन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि आप हमारे स्वामी और हम आपके सेवक हैं। तब स्वामीजी ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें कुर्सी पर बिठलाया।

**उपदेश गङ्गा**– कुशल-प्रश्नानन्तर स्वामीजी ने उनसे पूछा कि कहिए क्या इच्छा है तो उन्होंने उत्तर में कहा कि मैं श्रीचरणों में शिक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा से उपस्थित हुआ हूँ। यह सुनकर स्वामीजी ने अपना उपदेश-भण्डार खोल दिया और उन्हें सुधर्म, सुकर्म और राजनीति के अनर्घ रत्नों से निहाल कर दिया। स्वामीजी ने उनके पूर्वज जयचन्द के दृष्टान्त से आरम्भ करके स्वदेश-द्रोह और फूट के दोष दिखाते हुए ऐक्य और स्वदेश-प्रेम के गुण बतलाए, मनुस्मृति के अनुसार राजा-प्रजा के धर्म वर्णन किए, राजनीति के गूढ़ तत्त्व समझाए। स्वामीजी ने लगभग तीन घण्टे तक अपने उपदेश की अटूट धारा-प्रवाह को प्रवाहित रखा। महाराजा ने आयु भर में ऐसा सारगर्भित, ऐसा मर्मस्पृक् उपदेश कभी न सुना था। उसे सुनकर उन्हें असीम आनन्द हुआ। इस प्रकार का यह पहला सम्मिलन बड़ी प्रसन्नता और प्रीति के साथ समाप्त हुआ। स्वामीजी से विदा होते हुए महाराजा ने निवेदन किया कि आपका यहाँ पधारना दुर्लभ है, आप जब तक यहाँ रहें, तब तक अपने उपदेश से जनता को कृतार्थ करते रहें।

**व्याख्याना-माला**– इसके दूसरे दिन से ही स्वामीजी के मध्याह्नोत्तर में ४ बजे से ६ बजे तक फैजुल्लखाँ की कोठी के सदन में विविध विषयों पर व्याख्यान होने लगे जिससे सैकड़ों लोग उनके व्याख्यान सुनने आने लगे। लोगों ने पहले कभी ऐसे व्याख्यान नहीं सुने थे। श्रोताओं की आँखें खुलने लगीं, जिन बातों को वह ब्रह्मा का वाक्य समझ रहे थे वे स्वामीजी के उपदेश के प्रकाश में भ्रममूलक दिखाई पड़ने लगे। उन्हें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हुआ, मनुष्य जन्म के उद्देश्य का ध्यान हुआ। स्वामीजी के व्याख्यानों में उन्हें नित्य नया आत्मिक भोजन मिलता था जिसे पहले चखना तो दूर, जिसकी गन्ध भी उनके

नासापुटों तक न पहुँची थी। स्वामीजी के सदुपदेशों को सुनकर हर एक श्रोता यह अनुभव करता था कि वह ज्ञान और आनन्द की गङ्गा में स्नान कर रहा है।

**आप मुझसे झूठ बुलाना चाहते हैं**– स्वामीजी अपने व्याख्यानों में क्षत्रियों के चरित्र–संशोधन और गोरक्षा पर बहुत बल देते थे। वे यह जानते थे कि महाराजा का नन्हीं भगतन वेश्या से विशेष सम्बन्ध है और इसी भय से कि कहीं स्वामीजी उनके इस दुष्कर्म की सभा में निन्दा न कर बैठें पहले व्याख्यान से पूर्व ही रावराजा तेजसिंह ने डरते–डरते स्वामीजी से निवेदन कर दिया था कि भगवन्! आप महाराजा के चरित्र के विषय में कुछ न कहें। स्वामीजी को यह बात बहुत अखरी और उन्होंने आवेश के साथ उनसे कहा कि आप मुझसे झूठ बुलवाना चाहते हैं, मैं जो कुछ कहूँगा सत्य ही कहूँगा। मैं जो कुछ कहता हूँ वह असभ्यतासूचक वा किसी व्यक्ति के नाम निर्देश पूर्वक नहीं होता।

**वेश्या–गमन की निन्दा**– स्वामीजी ने भी सभा में वेश्यागमन के दोषों को दिखाने और वेश्या–गामियों को फटकारने में तनिक भी सङ्कोच नहीं किया और इस सम्बन्ध में वही शब्द कहे जो वे सदा कहा करते थे अर्थात् क्षत्रिय सिंह हैं और वेश्या कुतिया है।

**मिथ्या किवदन्ती**– लोक में यह किवदन्ती प्रसिद्ध है कि यही बात स्वामीजी ने महाराजा जसवन्तसिंह से कही थी। यह घटना इस प्रकार बताई जाती है कि एक दिन स्वामीजी महाराजा के बँगले पर पधारे थे। उस समय महाराजा के पास नन्हीभगतन बैठी हुई थी। स्वामीजी के आगमन की सूचना मिलते ही महाराजा ने कहारों को आज्ञा दी कि नन्हीं भगतन की पालकी उठाकर ले जाओ। पालकी उठाते हुए उसका एक ओर का कन्धा कुछ झुक गया तो महाराजा ने उसे अपने कन्धे वा हाथ का सहारा दे दिया। इतने में ही स्वामीजी भी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने महाराजा को पालकी को सहारा देते हुए देख लिया। यह दृश्य देखकर स्वामीजी को बहुत क्रोध आया और उन्होंने महाराजा से कहा कि राजपुरुष सिंह के समान और वेश्यायें कुतिया के समान हैं। सिंहों को कदापि न चाहिए कि वे कुतियाओं से समागम करें। कुतियों पर आसक्त होना कुत्तों का ही काम है, न कि अच्छे मनुष्यों का और लड़कों पर मोहित होने वाले तो शूकर और कौए ही होते हैं। सहस्रों धिक्कार है ऐसे जीवों पर!

देवेन्द्रबाबू ने जो अनुसन्धान जोधपुर जाकर किया उसमें इस घटना का उन्हें कोई प्रमाण नहीं मिला, हाँ इतना अवश्य सिद्ध हुआ कि स्वामीजी ने एक बार महाराजा के भ्राता महाराज किशोरसिंह से कुचामन के ठाकुर के पुत्र कुँवर शेरसिंह के सामने यही बात अवश्य कही थी, जिसे वह नीची ग्रीवा किए हुए सुनते रहे, परन्तु मन में वह स्वामीजी से अप्रसन्न हो गए। ऐसे विरले ही मनुष्य होते हैं जो हितेच्छु उपदेष्टा से अपने दोषों को सुनकर उनके त्यागने का यत्न करते हों। अधिकतर तो ऐसे ही होते हैं, जो दोषों को सुनकर चिढ़ जाते हैं और उपदेष्टा से ही द्रोह करने लगते हैं। सच है–

*अप्रियस्य तु तथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।*

अर्थात्– अप्रिय सत्य को कहने और सुनने वाले दोनों ही दुर्लभ हैं।

**राजाओं को फटकार**– एक दिन स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में भी राजाओं के व्यभिचार का बड़े कड़े शब्दों में खण्डन किया और कहा कि ये लोग वेश्याओं के पीछे कुत्ते के समान फिरते हैं।

**सर प्रतापसिंह को पत्र**– इतना ही नहीं सर प्रतापसिंह को निम्नलिखित पत्र लिखकर उन्हें और महाराजा को चरित्र–संशोधन के विषय में सचेत किया–

श्रीयुत मान्यवर शूरवीर महाराजा प्रतापसिंहजी, आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा साहब को भी दृष्टिगोचर करा दीजिए।

मुझको इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्यादि में वर्तमान– आप और बाबा साहब

रोगयुक्त शरीर वाले हैं। अब कहिए इस राज्य का कि जिसमें १६ लाख से कुछ ऊपर मनुष्य बसते हैं, उनकी रक्षा और कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं, सुधार और बिगाड़ भी आप ही तीनों महाशयों पर निर्भर है, तथापि आप लोग अपने शरीर का आरोग्य संरक्षण और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत कम ध्यान देते हैं, यह कितनी बड़ी शोचनीय बात है! मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुनकर सुधार लेवें जिससे मारवाड़ को क्या अपने आर्यावर्त्त देशभर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत कम जन्मते हैं और जन्म के भी बहुत कम चिरञ्जीव, दीर्घायु होते हैं। इसके हुए बिना देश का सुधार कभी नहीं होता। उत्तम पुरुष जितना अधिक जीवे उतनी ही देश की उन्नति होती है। इस पर ध्यान आप लोगों को अवश्य देना चाहिए। आगे जैसी आप लोगों की इच्छा हो वैसा कीजिएगा।[६४३] आषाढ़ वदी ३ शनिवार संवत् १९४० वि० तदनुसार २३ जून,१८८३ ई० (शनिवार)।

**नन्हीं भगतन शत्रु हो गई**– इन बातों से नन्हीं भगतन बहुत घबराई। उसे भय हुआ कि स्वामीजी के उपदेश से कहीं महाराजा उसका परित्याग न कर दें। इस कारण वह स्वामीजी की पक्की शत्रु बन गई।

**शत्रुओं का दल बन गया**– अन्य लोगों में भी कुछ लोग स्वामीजी के विरुद्ध हो गए। भैया फैजुल्लाखाँ मुसाहिब–आला की उन दिनों जोधपुर में तूती बोल रही थी। वह एक प्रकार से राज्य के कर्ता–धर्ता बने हुए थे। महाराजा पर उनका प्रभाव था या नन्हीं भगतन का। बड़े–बड़े जागीरदार और सरदार भी उनका मुँह तकते रहते थे। फैजुल्लाखाँ भी ३ बार स्वामीजी से मिलने आए थे। धर्म–विषय पर उन्होंने स्वामीजी से बातचीत भी की थी। स्वामीजी तो सत्य कहने में किसी से लचते न थे।

**मुसलमान नवयुवक आपे से बाहर**– अपने एक व्याख्यान में स्वामीजी ईसाईमत की आलोचना कर रहे थे कि भय्या फैजुल्लाखाँ मुसाहिब–आला का भतीजा मोहम्मद हुसैन एक तलवार की मूठ पर हाथ रखकर खड़ा हो गया और स्वामीजी से बोला कि आप हमारे मत के विषय में कुछ भी न कहें। स्वामीजी ने उसे तो इस प्रकार के वचन कहकर कि तुम अभी अनुभवशून्य हो, खड्ग पर केवल हाथ धरना ही जानते हो उसे कोश से निकाल नहीं सकते, मैं ऐसी गीदड़ भबकियों से डरने वाला नहीं हूँ, शान्त कर दिया और वह लज्जित होकर बैठ गया इसके पश्चात् स्वामीजी ने इस्लामधर्म की खूब कड़ी आलोचना की जिससे फैजुल्लाखाँ और अन्य मुसलमान भी उनके शत्रु बन गए।

**मुस्लिम राज्य में जीते न बचते**– एक दिन जब वे स्वामीजी से मिले तो उन्होंने अपने क्रोध को इन शब्दों में प्रकट किया कि यदि मुसलमानों का राज्य होता तो लोग आपको जीवित न छोड़ते और उस समय आप ऐसा भाषण भी न कर सकते। स्वामीजी ने कहा कि मैं भी उस समय ऐसा ही कार्य करता, दो राजपूतों की पीठ थपेड़ देता और वे आपकी अच्छी तरह खबर ले लेते।

**मुझे मनुष्य की रक्षा की आवश्यकता नहीं**– जिस पहाड़ की ओर स्वामीजी प्रातःकाल हवा खाने जाया करते थे उस पर हिंस्र पशु बहुत रहते थे। दरबार साहब ने स्वामीजी से कहा कि आपका अँधेरे में अकेले उस ओर जाना ठीक नहीं है, परन्तु स्वामीजी ने इस पर कोई कर्णपात न किया। तब दरबार ने राव राजा तेजसिंह से कहा कि स्वामीजी की रक्षार्थ रिसाले का एक सवार नियत करा दो कि जब स्वामीजी टहलने जाया करें तो वह कुछ दूर उनके पीछे–पीछे रहा करे। जब स्वामीजी को यह ज्ञान हुआ तो उन्होंने सवार को अपने साथ रहने से रोक दिया और कहा कि जो परमात्मा सब प्राणियों की रक्षा करता है वही मेरी भी रक्षा करेगा।

**चक्राङ्कितों की समालोचना**– एक दिन स्वामीजी ने चक्राङ्कितों की भी अपने व्याख्यान में कड़ी समालोचना की जिससे चक्राङ्कित लोग भी स्वामीजी से चिढ़ गए। उनके मत का एक पण्डित श्रीराम पार्वतीय जोधपुर आया हुआ था और अपने

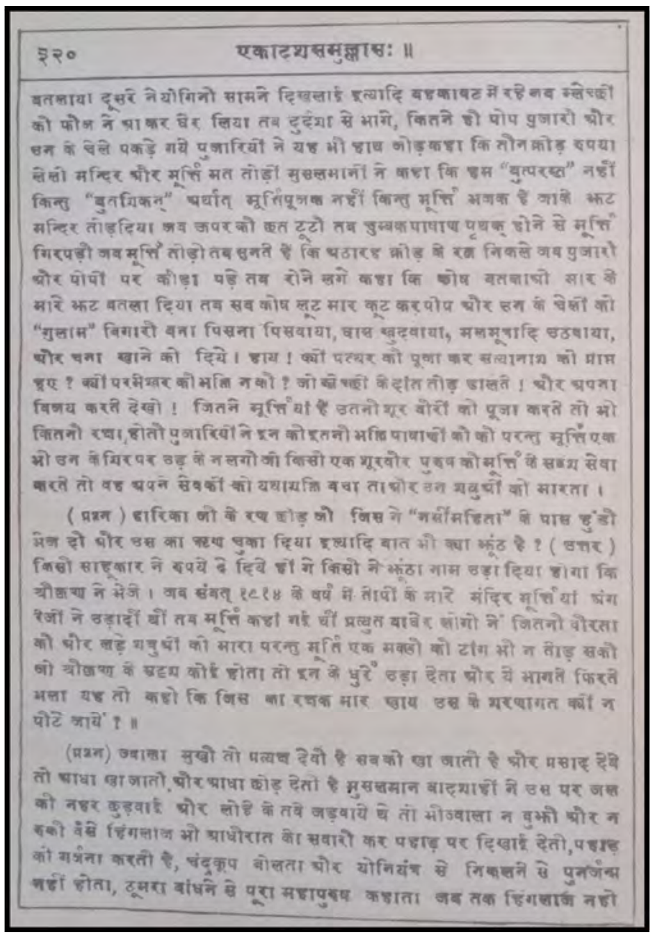
---

६४३– यहाँ पत्र अधूरा छपा है। पूरे पत्र के लिए देखो ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार पृष्ठ ४५४–४५६।

शिष्य मेहता विजयसिंह के मन्दिर में ठहरा हुआ था, उसने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने को कहा, परन्तु प्रतिबन्ध यह लगाया कि मेहताजी शास्त्रार्थ के मध्यस्थ हों। स्वामीजी ने कहा कि जिस दिन शास्त्रार्थ करना हो हमारे स्थान पर आ जाओ या हमें लिखो तो हम आपके स्थान पर आ जाएँ, परन्तु मेहताजी को मध्यस्थ नहीं कर सकते क्योंकि प्रथम तो वे आपके शिष्य और आपके मतानुयायी हैं, दूसरे वे संस्कृत नहीं जानते। श्रीराम अपनी इस हठ से न टला जिससे यह शास्त्रार्थ न हो सका।

**चक्राङ्कित मत पर बातचीत**– एक दिन मेहता विजयसिंह एक पण्डित को साथ लेकर स्वामीजी के पास आए और चक्राङ्कित मत पर बातचीत आरम्भ की। पण्डित ने वह *'तप्ततनू'* वाला मन्त्र, जिस पर उक्त मन्त्र वाले अपने मत को वेदमूलक बतलाते हैं, प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने उसके शुद्ध अर्थ करके बतला दिया कि इससे शरीर को दग्ध करना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। मेहता विजयसिंह और उनके साथी पण्डित को इसका कुछ उत्तर न बन आया परन्तु वे मन ही मन बहुत कुढ़े।

**सत्यार्थप्रकाश के संशोधित द्वितीय संस्करण का मुद्रण**– इन दिनों स्वामीजी के वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में मुंशी समर्थदान के प्रबन्धकत्व में उनके द्वारा उदयपुर में संशोधित किए गए *'सत्यार्थप्रकाश'* ग्रन्थ के (पूर्णरूप से सन् १८८४ ई० में ही मुद्रित होकर प्रकाशित हो सकने वाले) द्वितीय संस्करण का मुद्रणकार्य चल रहा था। इसी बीच २७ अगस्त, १८८३ ई० को वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धकर्त्ता मुंशी समर्थदान ने स्वामीजी को जोधपुर में पत्र द्वारा सूचित किया कि 'सत्यार्थप्रकाश ३२० पृष्ठ तक छप चुका है।' इससे एक सप्ताह पूर्व ही अर्थात् २० अगस्त, १८८३ ई० के पत्र में उन्होंने लिखा था कि 'सत्यार्थप्रकाश भी बीच-बीच में छपता है। कुल ३८ फार्म (अर्थात् ३०४ पृष्ठ) छपे हैं। ११वाँ समुल्लास छप रहा है। ऐसा अधूरा छपा सत्यार्थप्रकाश भी स्वामीजी से जोधपुर में ठाकुर गिरधारीसिंह के नाम से उन्हें ५ पाँच रुपए मूल्य देकर खरीद लिया गया जबकि पूर्णतया छप जाने पर उसका मूल्य मात्र ढाई रुपए ही (डाक-व्यय सहित) रक्खा गया था। इस सम्बन्ध में पण्डित लेखरामकृत स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनचरित्र के पृष्ठ ८३५ (प्रकाशक आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली-७, प्रथम संस्करण संवत् २०३४ वि०) पर लिखा है कि "मैंने स्वामीजी से नया सत्यार्थप्रकाश जो उस समय ३६४ पृष्ठ तक छप चुका था- ठाकुर गिरधारीसिंहजी रईस के लिए मोल लिया था और पाँच रुपया उसका मूल्य दिया था।"



३२०　　एकादशसमुल्लासः ॥

बतलाया। दूसरे ने योगिनी सामने दिखलाई इत्यादि बहकावट में रहे तब म्लेच्छों को फौज ने आ कर घेर लिया तब दुर्दशा से भागे, कितने ही पोप पुजारी और उन के चेले पकड़े गये पुजारियों ने यह भी हाथ जोड़ कहा कि तीन क्रोड़ रुपया लेलो मन्दिर और मूर्त्ति मत तोड़ो मुसलमानों ने कहा कि हम "बुत्परस्त" नहीं किन्तु "बुतशिकन्" अर्थात् मूर्त्तिपूजक नहीं किन्तु मूर्त्ति भंजक हैं जाके झट मन्दिर तोड़दिया जब ऊपर की छत टूटी तब चुम्बकपाषाण पृथक् होने से मूर्त्ति गिरपड़ी जब मूर्त्ति तोड़ी तब सुनते हैं कि अठारह क्रोड़ के रत्न निकले जब पुजारी और पोपों पर कोड़ा पड़े तब रोने लगे कहा कि कोष बतलाओ मार के मारे झट बतला दिया तब सब कोष लूट मार कूट कर पोप और उन के चेलों को "गुलाम" बिगारी बना पिसना पिसवाया, घास खुदवाया, मलमूत्रादि उठवाया, और चना खाने को दिये। हाय! क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए? क्यों परमेश्वर की भक्ति न की? जो म्लेच्छों के दांत तोड़ डालते! और अपना विजय करते देखो! जितनी मूर्त्तियां हैं उतनी शूर वीरों की पूजा करते तो भी कितनी रक्षा होती पुजारियों ने इन की इतनी भक्ति पाषाणों की की परन्तु मूर्त्ति एक भी उन के शिर पर उड़ के न लगी जो किसी एक शूरवीर पुरुष की मूर्त्ति के सदृश सेवा करते तो वह अपने सेवकों को यथाशक्ति बचाता और उन शत्रुओं को मारता।

(प्रश्न) द्वारिका जी के रणछोड़ जी जिस ने "नर्सीमहिता" के पास हुंडी भेज दी और उस का ऋण चुका दिया इत्यादि बात भी क्या झूठ है? (उत्तर) किसी साहूकार ने रुपये दे दिये होंगे किसी ने झूठा नाम उड़ा दिया होगा कि श्रीकृष्ण ने भेजे। जब संवत् १८१४ के वर्ष में तोपों के मारे मंदिर मूर्त्तियां अंगरेजों ने उड़ादी थीं तब मूर्त्ति कहां गई थीं प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े शत्रुओं को मारा परन्तु मूर्त्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ सकी जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इन के धुरें उड़ा देता और ये भागते फिरते भला यह तो कहो कि जिस का रक्षक मार खाय उस के शरणागत क्यों न पीटे जायें? ॥

(प्रश्न) ज्वाला मुखी तो प्रत्यक्ष देवी है सब को खा जाती है और प्रसाद देवे तो आधा खा जाती और आधा छोड़ देती है मुसलमान बादशाहों ने उस पर जल की नहर छुड़वाई और लोहे के तवे जड़वाये थे तो भी ज्वाला न बुझी और न रुकी वैसे हिंगलाज भी आधीरात को सवारी कर पहाड़ पर दिखाई देती, पहाड़ को गर्जना करती है, चंद्रकूप बोलता और योनियंत्र से निकलने से पुनर्जन्म नहीं होता, ठूमरा बांधने से पूरा महापुरुष कहाता जब तक हिंगलाज न हो

*सत्यार्थप्रकाश के संशोधित द्वितीय संस्करण के पृष्ठ ३२० का छायाचित्र*

स्पष्ट है कि यह अधूरा छपा हुआ सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ किसी सद्–उद्देश्य से तो अधिक मूल्य देकर किसी दूसरे व्यक्ति के नाम से नहीं खरीदा गया था। इसके पीछे इसके पृष्ठ ३२० पर ही उल्लिखित १८५७ ई० के प्रथम भारतीय स्वाधीनता संग्राम विषयक स्वामीजी का एक संस्मरण को तत्कालीन अँग्रेजी सरकार की दृष्टि में लाना रहा था जिसके लिए १० वर्ष पूर्व से ही कलकत्ता में सन् १८७३ ई० के आरम्भ में स्वामीजी की तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड नार्थ ब्रुक से हुई भेंट के समय उनके द्वारा 'इस बागी फकीर पर निगरानी रखने' का निर्देश कार्य कर रहा था।

**स्वामीजी के इस संस्मरण के कथ्य का आशय**– सत्यार्थप्रकाश के इस द्वितीय संस्करण के पृष्ठ ३२० पर प्रथमवार ही उद्घोषित हुए इस कथ्य का (क्योंकि वह उसके १८७५ ई० वाले प्रथम संस्करण में नहीं था) आशय यह था कि "जब संवत् १९१४ (अर्थात् सन् १८५७ ई०) के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर, मूर्तियाँ अँग्रेजों ने उड़ा दी थीं तब मूर्तियाँ कहाँ गई थीं? प्रत्युत वाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं (अर्थात् अँग्रेजों) को मारा परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश्य कोई होता तो इनके (अर्थात् अँग्रेजों के) धुर्रे उड़ा देता और ये (अर्थात् अँग्रेज) भागते फिरते (अर्थात् भारतवर्ष छोड़कर इँग्लैण्ड चले गए होते)। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक (अर्थात् द्वारिका के रणछोड़ जी) ही मार खाए, उसके शरणागत (अर्थात् उनके भारतीय भक्तजन) क्यों न पीटे जाएँ?" इससे तत्कालीन अँग्रेज सरकार को स्वामीजी के एक बागी फकीर होने में कोई सन्देह नहीं रह गया था।

इस प्रकार जोधपुर का सारा वातावरण ही स्वामीजी के विरुद्ध हो गया था। उच्च पदस्थ क्षत्रिय तो इस कारण से रुष्ट थे कि वह भरी सभा में उनके दुराचारों के लिए उन्हें फटकारते थे। मुसलमान भी इस्लाम की कड़ी आलोचना के कारण उनसे द्वेष करने लगे थे। चक्राङ्कित लोग उनसे अलग जलते थे। पौराणिक ब्राह्मणों का उनसे विरोध करना तो स्वाभाविक ही था क्योंकि वह समझते थे कि मूर्त्तिपूजा, श्राद्धदि के खण्डन से स्वामीजी उनकी जीविका ही छीनना चाहते हैं। नन्हीं भगतन यह समझती थी कि वह उसका सर्वस्व ही हरण करना चाहते हैं। वह उनका अनिष्ट करने में क्यों चूकने वाली थी। अँग्रेजी राज्य भी उन्हें बागी फकीर समझ चुका था।

**महाराजा और स्वामीजी का मिलन**– स्वामीजी को जोधपुर आए हुए चार मास व्यतीत हो गए। इस बीच में महाराजा तीन बार फैजुल्लाखाँ के बाग में स्वामीजी के दर्शनार्थ आए और कई–कई घण्टे उपस्थित रहकर उनके सत्य और हितकर उपदेशों से लाभ उठाते रहे। स्वामीजी भी तीन बार राई के बाग में, जहाँ महाराजा निवास करते थे, पधारे और अपनी सत्य शिक्षा से महाराजा को कृतकृत्य किया।

**महाराजा पर उपदेश का प्रभाव**– महाराजा पर स्वामीजी के सत्सङ्ग और उपदेश का इतना प्रभाव तो पड़ा कि वे उनके उपदेश को स्वीकार करने लगे और जहाँ तक बुद्धि का सम्बन्ध है वहाँ तक उनके उपदेशों की युक्तियुक्तता के आगे उन्होंने सिर झुका दिया तथा हृदय से उनका सम्मान भी करने लगे। इसका प्रमाण एक घटना से मिलता है जो स्वामीजी की मृत्यु के आठ–नौ वर्ष पीछे की है। एक दिन रात्रि के समय भाटी अर्जुनसिंह और नन्हीं भगतन में कुछ बातें हो रही थीं। किसी प्रसङ्ग में स्वामीजी के विषय में भी कुछ बातचीत होने लगी। उन्होंने स्वामीजी का उल्लेख कुछ अपमानजनक शब्दों में किया। महाराज ने उसे सुन लिया। उन्होंने अति क्रुद्ध होकर कहा कि तुम उनके महत्त्व को क्या जानते हो, मैं जानता हूँ और सत्य कहता हूँ कि यदि मैं महाराजा तख्तसिंह का पेशाब हूँ और यदि स्वामीजी इस समय जीवित होते तो मैं राज्य छोड़कर संन्यास लेकर उनके साथ चला जाता।

**मुझे वैदिक–धर्मी लिखाओ**– महाराजा के विश्वासों पर स्वामीजी के उपदेशों का पूर्ण प्रभाव पड़ा था और वे वैदिक सिद्धान्तों के पूर्ण विश्वासी बन गए थे। सन् १८९१ ई० में जब जनसंख्या हुई तो मुंशी हरदयाल सिंह ने जो उस समय जोधपुर में बड़े उच्च पद पर स्थित थे, नन्हीं भगतन से कहा कि महाराजा से पूछकर बताओ कि उनका धर्म क्या लिखा जाए। नन्हीं

भगतन ने स्वयं ही कह दिया कि वैष्णव लिख दो। परन्तु सर प्रतापसिंह ने कहा कि नहीं, उन्हें वैदिकधर्मी लिखो नहीं तो स्वयं दरबार से पूछ लो। इस पर उनसे पूछा गया तो उन्होंने कहा कि मेरा मत वैदिक है।

**चरित्र पर प्रभाव न पड़ा**– यह सब कुछ होते हुए भी महाराजा के चरित्र पर स्वामीजी के उपदेशों का कोई प्रभाव पड़ा हुआ प्रतीत नहीं होता। न तो उन्होंने नन्हीं भगतन का ही परित्याग किया और न मद्यपान ही छोड़ा, माँसभक्षण को तो वे पाप ही नहीं समझते थे। सर प्रतापसिंह ने देवेन्द्रबाबू से कहा था कि दरबार ने एक बार स्वामीजी से स्पष्ट शब्दों में कहा था कि मैं मदिरा पीता हूँ और समझता हूँ कि मैं बहुत बुरा करता हूँ, किन्तु माँस खाते हुए यह मेरे मन में कभी नहीं आता कि मैं पाप करता हूँ। मैं माँस खाना कभी नहीं छोड़ूँगा। क्षत्रियों के लिए उसे छोड़ना युक्तियुक्त और सम्भव भी नहीं है, इस पर आप चाहे जो कहें।

**स्वामीजी को दिनचर्य्या**– जोधपुर में स्वामीजी की दिनचर्य्या इस प्रकार थी कि प्रातःकाल के चार बजे उठकर कुल्ला-दातुन करके थोड़ी सी सौंफ फाँक कर दो-चार घूँट जल पीते थे और फिर ४, ५ करवटें लेकर ५ बजे भ्रमण करने चले जाते। भ्रमणार्थ वे लगभग दो कोस जाते थे। जाते हुए कुछ मन्द गति से और लौटते हुए इतनी द्रुत गति से चलते थे कि डेरे पर पहुँचते-पहुँचते पसीने में तर हो जाते थे। डेरे पर आकर पसीने को कपड़े से पोंछते न थे, वरन् उस पर रेत लगा देते थे। जंगल में शौच से निवृत्त होकर किसी वृक्ष के नीचे बैठकर आध घण्टे के लगभग ध्यानावस्थित हो जाते थे। जूता बहुत मजबूत पहनते थे और भ्रमण को जाते समय हाथ में एक मोटा सोटा रखते थे। भ्रमण से लौटकर १५-२० मिनट कुर्सी पर बैठकर हवा लेते थे और एक ग्लास जल मिश्रित दुग्धपान करते थे। ८ बजे से वेद-भाष्य का लिखाना आरम्भ करते और ग्यारह बजे तक उसमें व्यस्त रहते थे। उसके पश्चात् स्नान करके थोड़ी देर एक कोठरी में जाकर और उसके द्वार बन्द करके व्यायाम करते थे। बारह बजे भोजन करते और एक पान खाकर आधा या पौन घण्टा पलङ्ग पर लेट जाते, परन्तु सोते न थे। फिर उठकर थोड़ा-सा जल पीते और दो-चार मिनट बैठे रहते। तत्पश्चात् *सत्यार्थप्रकाश* और *संस्कारविधि* के प्रूफ शोधते और पत्रों के उत्तर लिखाते। तीन बजे फिर स्नान करके सारे शरीर पर मुल्तानी मिट्टी लगाते और मस्तक, भुजा और वक्षःस्थल पर चन्दन लगाते, चार बजे जब वे व्याख्यान स्थल में पधारते उस समय एक रेशमी धोती पहने होते थे। सिर पर पगड़ी होती थी और एक चादर शरीर पर डाल लेते थे। ६ बजे तक व्याख्यान देकर ८ बजे तक जो कोई कुछ पूछता तो उसको उत्तर देते। इस प्रकार १० बजे तक बैठे रहते और समाचार पत्रादि सुनते। १० बजते ही वे सो जाते थे। उस समय यदि कोई वहाँ बैठा होता तो उससे स्पष्ट कह देते थे कि अब मेरे सोने का समय हो गया है, शेष बात कल कीजिएगा। भोजन वे केवल एक ही समय किया करते थे। रात्रि में सोने से पहले दुग्धपान किया करते थे। स्वामीजी का आम बड़ा प्यारा फल था।[६४४] आम चूसकर दूध पिया करते थे। उस समय जो भी उनके पास बैठे होते उन्हें भी वे आम खिलाते और तदुपरान्त दूध भी पिलाते थे। कभी-कभी आमरस और दही का श्रीखण्ड भी बनवाते थे।

**स्वामीजी सहसा घबरा उठे**– फैजुल्लाखाँ के बाग के द्वार में दोनों ओर दुमञ्जिले मकान हैं। उन्हीं दिनों (यह घटना आषाढ़ मास की है) द्वार के ऊपर के कमरे में कोई पण्डितजी ठहरे हुए थे। उनके लिए बड़ी महाराणी ने कुछ फलादि ४-५ खवासिनों के हाथ भेजे थे। वे जब द्वार पर आईं और पण्डितजी को पूछा कि कहाँ हैं तो किसी ने यह समझकर कि वे स्वामीजी को ही पूछती हैं, वहाँ उनसे कह दिया कि बाग के बीच के बँगले में हैं, वहाँ पहुँचकर उन्होंने पहरेदारों से पूछा। उन मूर्खों ने भी यही समझा कि पण्डितजी से उनका अभिप्राय स्वामीजी से ही है और इसलिए कह दिया कि ऊपर हैं जिससे वे बेधड़क होकर ऊपर चली गईं। पहरेदारों ने उन्हें न रोका। उस समय स्वामीजी पलङ्ग पर लेटे हुए थे। उन्होंने जो करवट ली तो बरामदे में वे स्त्रियाँ खड़ी हुई दिखाई दीं। उन्हें देखकर वह सहसा उठकर जोर से चिल्लाए। चारण नवलदान साथ

६४४- 'इस ऋतु के श्रेष्ठ फल अर्थात् आम'। देखो पत्रव्यवहार पृष्ठ २९३। - *संग्रहकर्ता*

की कोठरी में लेटा हुआ था। वह यह शोर सुनकर घबरा गया, उसे भय हुआ कि किसी घातक ने स्वामीजी पर आक्रमण किया है। वह नङ्गे सिर और नङ्गे पैर भागता हुआ स्वामीजी के कमरे में गया। स्वामीजी ने रोषपूर्ण शब्दों में उससे कहा कि यह कैसा अन्याय है कि स्त्रियाँ हमारे सामने आ गईं। यह तुम्हारे प्रबन्ध की त्रुटि है, इन्हें यहाँ से तत्काल निकाल दो। तब उसने उन स्त्रियों को तो नीचे उतार दिया और स्वामीजी से निवेदन किया कि पहरेवालों के प्रमाद से ऐसा हुआ है। स्वामीजी ने कहा कि इन्हें बदलवा दो। इस पर उन्हें बदल दिया गया। नये पहरेदार जो आए उनसे कह दिया गया कि किसी स्त्री व लड़की को बँगले के पास न आने दो।

**सन्ध्या शब्द की सिद्धि**- काशी के एक पण्डित महाराजा किशोरसिंह के कुँवर अर्जुनसिंह को पढ़ाया करते थे। उनसे स्वामीजी का 'सन्ध्या' शब्द की सिद्धि पर विचार हुआ था, यह विचार तीन दिन तक होता रहा। अन्त को पण्डितजी को स्वीकार करना ही पड़ा कि स्वामीजी का पक्ष ही सत्य है।

**मैं स्वामीजी से शास्त्रार्थ करके के योग्य नहीं हूँ**- गणेशपुरी नामक एक साधु जोधपुर से २० कोस के अन्तर पर रहा करता था, उसकी विद्वता की बड़ी ख्याति थी। एक दिन राव राजा जवानसिंह ने उन्हें जोधपुर बुलाया और उनसे कहा कि स्वामीजी से शास्त्रार्थ कीजिए। दो तीन दिन तक तो वे टालते रहे, परन्तु अन्त को उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मैं स्वामीजी से परिचित हूँ और मैंने उनके ग्रन्थ भी देखे हैं, मैं उनसे शास्त्रार्थ करने के योग्य नहीं हूँ। वे जो कुछ कहते हैं सत्य है, मैं शास्त्रार्थ करने उनके सम्मुख नहीं जाऊँगा।

**आपके पूर्व पुरुष कितने वीर थे**- एक दिन स्वामीजी सर प्रतापसिंह के साथ जोधपुर का दुर्ग देखने गए। वहाँ उन्होंने उनके पूर्वज महाराजा प्रतापसिंह का हाथ का बना एक चित्र देखकर सर प्रतापसिंह से कहा कि देखिए आपके पूर्व पुरुष कैसे शूरवीर थे।

**नवीन वेदान्त पर वार्तालाप**- एक दिन राव राजा सोहनसिंह श्रीसेवा में आए और निश्चलदास का प्रवृत्ति-रत्नाकर ग्रन्थ साथ लाए और जीव-ब्रह्म की एकता पर बातचीत करने लगे। उन्होंने नवीन वेदान्तियों के चार महावाक्य प्रस्तुत करके कहा कि देखिए ये वेद के वाक्य हैं, इनसे जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध होती है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि प्रथम तो ये वेद के वचन नहीं हैं, दूसरे इनके अर्थ वह नहीं है जो नवीन वेदान्ती करते हैं। फिर उन वाक्यों के ठीक अर्थ करके बतलाए। राव राजा दो-तीन दिन तक स्वामीजी से इस विषय पर विचार करते रहे। अन्त में उन्हें निरुत्तर होना पड़ा। राव राजा ने इसी बातचीत के बीच में स्वामीजी से प्रश्न किया कि आप जीव हैं वा ब्रह्म? तो स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं जीव हूँ। राव राजा ने कहा कि मैं तो ब्रह्म हूँ, क्योंकि पण्डित का यही लक्षण है कि समदर्शी हो और चर-अचर में ब्रह्म को ही देखे। स्वामीजी ने कहा कि यदि आप ब्रह्म हैं तो ब्रह्म के गुण भी आपमें होने चाहिए जो हम आपमें नहीं देखते हैं और कई वेदमन्त्रों को उद्धृत करके ब्रह्म के गुण वर्णन किए। इस पर राव राजा बोले कि यदि मैं चाहूँ तो सब कुछ जान सकता हूँ। जब मैं शुद्ध हो जाऊँगा तो ब्रह्म हो जाऊँगा। स्वामीजी ने कहा कि ब्रह्म में अशुद्धता कहाँ से आई और यदि आई तो आप शुद्ध क्यों नहीं हो जाते। इसका राव राजा कोई उत्तर न दे सके। राव राजा ने इस वार्तालाप के पीछे स्वामीजी से इस विषय पर कोई प्रश्नोत्तर न किए। वैसे वह श्रीसेवा में निरन्तर आते रहे और श्रीचरणों में प्रीति-प्रदर्शन करते रहे।

**शाक्त मत पर वार्तालाप करने में अरुचि**- एक दिन उक्त राव राजा के भाई राव राजा शिवनाथसिंह, जो संस्कृतज्ञ थे, स्वामीजी के दर्शनों को आए और शाक्त मत के विषय में कुछ पूछने लगे, परन्तु स्वामीजी ने इस विषय पर बातचीत करने में अरुचि प्रकट की और उनसे केवल इतना ही कहा, आप तो स्वयं पण्डित हैं। स्वामीजी की अरुचि का कारण यही प्रतीत होता है कि इस विषय पर विचार करने में अश्लील बातें आए बिना नहीं रह सकती थीं जिनसे स्वामीजी बचना चाहते थे।

**महाराजा के प्राइवेट सेक्रेटरी**- महाराजा के प्राइवेट सेक्रेटरी पण्डित शिवनारायण भी स्वामीजी से मिलने आया करते थे। परन्तु वे कोई विवादग्रस्त बातें न करते थे, वे सदा स्वामीजी की प्रशंसा ही किया करते थे और उन्हें अपने समय का अद्वितीय तत्वदर्शी विद्वान् समझते थे।

**जैनी के प्रश्नों का उत्तर**- एक दिन एक जैनी और एक वेदान्ती गृहस्थ स्वामीजी के दर्शनों को आए और दोनों नें पाँच-पाँच रुपये स्वामीजी को भेंट किए। उनके साथ एक पण्डितजी भी थे जो प्रश्नों की एक तालिका बनाकर अपने साथ लाए थे। स्वामीजी ने उनके सब प्रश्नों का उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट कर दिया।

**साधु का शङ्कासमाधान**- एक दिन एक साधु दस-बीस मनुष्यों की मण्डली के साथ स्वामीजी के पास आया। उसने जीव-ब्रह्म की एकता पर प्रश्न किए। स्वामीजी ने उनके उत्तर दे दिए। उन्हें सुनकर वह कहने लगा कि आप चाहे दोनों को एक मानें वा पृथक्-पृथक् आपको अधिकार है। स्वामीजी ने कहा कि यदि कोई शङ्का शेष हो तो उसका समाधान कर लो, परन्तु उसने कहा कि हम तो साधु हैं, हमें इससे क्या और चला गया।

**नवाब से बातचीत**- नवाब मुहम्मदखाँ विलायती भी कभी-कभी स्वामीजी के दर्शनों को आया करते थे, परन्तु वे धर्म-विषय पर बातचीत न करते थे। एक दिन स्वामीजी ने उनसे कहा कि कुरान में लिखा है कि (कयामत के दिन) खुदा अर्श (तख्त) पर बैठेगा और अपनी पिण्डली दिखाएगा। यह कैसी बात है, परन्तु उन्होंने कहा कि हम शीआ हैं, ऐसी बातों को नहीं मानते।

**बेड़ा कभी का डूब जाता**- स्वामीजी कहा करते थे कि हिन्दू राजाओं की दुराचार के कारण बहुत बुरी दशा है। उनके राज्य कभी के नष्ट हो जाते, वे यदि अब तक अवशिष्ट हैं तो यह उनकी रानियों के पतिव्रत-धर्म की सत्ता है। अन्यथा राजाओं के कुकर्म तो ऐसे हैं कि उनसे बेड़ा कभी का डूब जाता।

स्वामीजी अपने अधीन पुरुषों के हित का कितना ध्यान रखते थे, यह नीचे के उदाहरण से प्रकट होता है-

**परहित-चिन्ता**- रामानन्द ब्रह्मचारी स्वामीजी के साथ जोधपुर में था, उसकी माता वृद्ध और रुग्ण थी, उसके जीवन की आशा न थी, इसलिए स्वामीजी को यह चिन्ता थी कि उसका देहपात होने की दशा में उसके दाहकर्म में कोई विघ्न न पड़े। अत: उन्होंने ज्येष्ठ शुक्ला ९ संवत् १९४० वि० (१४ जून,१८८३ ई०) को जोधपुर से मन्त्री आर्यसमाज फर्रुखाबाद को लिखा कि जब कभी उसका शरीर छूट जाए तो उसके अन्त्येष्टि कर्म के लिए ५० रु० लाला निर्भयरामजी की कोठी से ले लेना और हमारे हिसाब में लिखा देना और उन रुपयों से घृत और सुगन्ध्यादि पदार्थों को लेकर जैसा विधान षोडश-संस्कारविधि की पुस्तक में लिखा है, उसके अनुसार मृतक कर्म करा देना और इस काम के कराने में किसी प्रकार का आलस्य न करना और इस बात को प्रत्येक सभासद को विदित कर देना जिससे समय पर सहायक होवें।[६४५]

**पहलवान का मद चूर्ण**- कहते हैं कि किसी नगर में एक पहलवान रहता था जिसे अपने बल पर बड़ा घमण्ड था। वह अकेला ही रहट को चलाकर अपने स्नान करने के लिए एक हौज भरा करता था। वह और अन्य लोग भी यह समझते थे कि अन्य कोई इस प्रकार से हौज को नहीं भर सकता। घटनावश स्वामीजी ने भी उसी नगर में पदार्पण किया। स्वामीजी का यह नियम ही था कि वे प्रात:काल भ्रमणार्थ नगर से बाहर जाया करते थे। एक दिन स्वामीजी ने भी उसको हौज भरते देख लिया। उसके पश्चात् एक दिन वायु सेवन के लिए वे उस ओर से होकर गुजरे तो उनके भी जी में आया कि हौज को भरें। अत: रहट को चलाकर स्वामीजी ने हौज भर दिया और वायु सेवनार्थ आगे चले गए। जब पहलवान आया और उसने हौज भरा हुआ पाया तो उसके आश्चर्य का कुछ ठिकाना न रहा। उसे यह सोच हुआ कि आज मेरे समकक्ष कौन उत्पन्न हो गया है। उसने वहाँ के रहने वालों से पूछताछ की तो उन्होंने कहा कि एक साधु अभी-अभी हौज भरकर आगे को गया है।

६४५- यह पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४५३ पर छपा है। -*संग्रहकर्ता*

पहलवान इस साधु के दर्शन करने की प्रतीक्षा में वहीं बैठा रहा। थोड़ी देर में स्वामीजी बड़ी द्रुतगति से उधर को आते हुए दिखाई दिए। पहलवान ने दौड़कर उनका आगा रोक लिया और उनसे पूछा कि बाबाजी हौज तुमने भरा है? स्वामीजी ने कहा कि हाँ। फिर उसने कहा कि हौज भरकर तुम थके नहीं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि थकना तो दूर, हमारा व्यायाम तक भी पूरा न हुआ और इसीलिए हमें टहलने के लिए आगे जाना पड़ा। पहलवान यह सुनकर हक्का-बक्का रह गया और स्वामीजी अपने आसन को लौट आए।

**पिता-पुत्र ठाकुर की भक्ति**- कुचामन के ठाकुर केसरीसिंहजी जोधपुर के बड़े जागीरदारों में से थे। उन्होंने स्वामीजी के जयपुर में दर्शन किए थे और तभी से वे स्वामीजी के प्रति अनुरक्त हो गए थे। उनके पुत्र कुँवर शेरसिंह एक सदाशय नवयुवक थे और अपेक्षाकृत उनमें मद्य-माँस का व्यसन भी कम था। उनकी श्रीचरणों में बड़ी भक्ति थी और स्वामीजी भी उनसे बहुत प्रसन्न थे। वे आजन्म स्वामीजी के अनुयायी बने रहे।

**राव राजा पर प्रभाव**- राव राजा तेजसिंह के चरित्र पर स्वामीजी का विशेष प्रभाव पड़ा था। स्वामीजी को जाधपुर बुलाने में उन्होंने विशेष उद्योग किया था और उनके जोधपुर आने पर राज-परिवार में सबसे अधिक सेवा भी उन्होंने ही की थी। कभी-कभी उन्हें स्वामीजी के चरण दबाने का भी सौभाग्य प्राप्त होता था। स्वामीजी का शरीर इतना सुदृढ़ और सुसङ्गठित था कि पिण्डलियों को बलपूर्वक दबाने पर भी उनमें उँगली न गड़ती थी। किसी अङ्ग पर झुर्री वा ढीलने का चिह्न: न था। राव राजा तेजसिंह भी अपने जीवन के अन्तिम दिवस तक स्वामीजी के भक्त बने रहे।

**सर प्रतापसिंह**- महाराजा सर प्रतापसिंह ने देवेन्द्रबाबू से कहा था कि स्वामीजी के समागम से पहले प्रचलित पौराणिक धर्म के विषय में विशेषत: ब्राह्मणों के अयथार्थ और तर्कशून्य आधिपत्य के सम्बन्ध में हमारे मन में अनेक संशय उठते और उनसे कभी-कभी हमारा चित्त भी आन्दोलित हो उठता था। जब स्वामीजी जोधपुर पधारे तो उनसे बातचीत करके और उनके व्याख्यान सुनकर हमारे सब संशय एक-एक करके दूर हो गए और वैदिक धर्म में हमारा विश्वास पूर्ण रूप से दृढ़ और परिपक्व हो गया।

**न्याय से मोक्ष**- एक दिन सर प्रतापसिंह ने स्वामीजी से पूछा कि क्या किसी प्रकार हमारी भी मोक्ष हो सकती है तो स्वामीजी ने उत्तर दिया कि आपके लिए एक ही मोक्ष-मार्ग है और वह है निष्पक्षता पूर्वक न्याय करना।

**सभी आर्यसमाजी मेरे शिष्य हैं**- एक दिन राव राजा जवानसिंह ने स्वामीजी से निवेदन किया कि आप अपना कोई सुयोग्य शिष्य बनाइए जिससे आपका कार्य बीच में ही न रुक जाए। स्वामीजी ने कहा कि न तो कोई ऐसा सुयोग्य पुरुष है जिसे मैं अपना शिष्य बनाऊँ और न मुझे किसी ऐसे शिष्य से कोई आशा ही है। इसलिए सभी आर्यसमाजी पुरुष ही मेरे शिष्य हैं और उन्हीं पर ही मुझे पूरा भरोसा है।

**जोधपुर जाने का उद्देश्य** - कोई-कोई यह कहते हैं कि स्वामीजी का जोधपुर जाने में यह अभिप्राय था कि गोरक्षा के आन्दोलन में महाराजा जसवन्तसिंह की सहायता प्राप्त करें और उनसे गोरक्षा के मेमोरियल पर हस्ताक्षर करावें। परन्तु राव राजा तेजसिंह ने देवेन्द्रबाबू के सम्मुख इसका खण्डन किया और कहा कि स्वामीजी को जोधपुर केवल उपदेश के लिए ही बुलाया गया था। गोरक्षा के मेमोरियल पर तो दरबार ने स्वामीजी के यहाँ पधारने से पहले ही हस्ताक्षर कर दिए थे। वह मेमोरियल महाराणा उदयपुर ने दरबार के पास भेजा था और दरबार ने उस पर महाराणा के अनुरोध से ही हस्ताक्षर किए थे। जान पड़ता है कि महाराजा जयपुर को छोड़कर राजपूताने के प्राय: सभी राजगण ने उक्त मेमोरियल पर हस्ताक्षर कर दिए थे।

यह सत्य है कि उदयपुर से कविराज श्यामलदास ने जोधपुर के चारण मुरारदान को पत्र लिखा था कि दरबार से उक्त मेमोरियल पर हस्ताक्षर करने का निवेदन करें परन्तु यह बात उसी समय की होगी जिस समय महाराणा उदयपुर ने

जोधपुर दरबार से हस्ताक्षर करने के लिए अनुरोध किया था। इस पत्र के आने पर जब मुरारदान ने दरबार से स्वामीजी के गोरक्षा के आन्दोलन में सहायक होने की प्रार्थना की थी तो दरबार ने प्रसन्नतापूर्वक उसके अनुकूल सम्मति प्रकट की थी और कहा था कि इस कार्य में स्वामीजी की सहायता करना हमारा एकान्त (एकमात्र) कर्त्तव्य है।

**स्वामीजी आम बहुत खाते थे**– जिस समय स्वामीजी जोधपुर पहुँचे थे उस समय जोधपुर में (मलेरिया) शीत-ज्वर का प्रकोप था। स्वामीजी कोठी के ऊपर के कमरे में सब खिड़की और द्वार खोलकर एकान्त में सोया करते थे। उन दिनों आमों की ऋतु थी और स्वामीजी आम अधिक मात्रा में खाया करते थे।

**कहार ने चोरी कर ली**– जोधपुर निवास के चार महीने के लगभग सुखपूर्वक स्वामीजी के व्यतीत हो गए। सितम्बर के अन्तिम सप्ताह के आरम्भ में २५ वा २६ तारीख की रात्रि में उनका कल्लू नामक कहार ६००-७०० रुपए का माल (रुपए और मोहर) कमरे में से चुराकर खिड़की की राह से भाग गया। यह कहार बड़े परिश्रम और प्रेम से स्वामीजी की सेवा किया करता था और स्वामीजी को भी उस पर पूरा विश्वास था। रामानन्द ब्रह्मचारी को स्वामीजी की आज्ञा थी कि वह खिड़की के पास ही सोया करे। उस रात्रि को वह भी वहाँ न सोया। पहरेवालों ने भी अपने कार्य में प्रमाद किया। प्रातःकाल होते ही इस चोरी की सर्वत्र चर्चा फैल गई। पुलिस में रिपोर्ट की गई। कर्नल मुहैयुद्दीनखाँ कोतवाल और पुलिसवालों ने स्वामीजी से बहुतेरा पूछा कि आपका किस पर सन्देह है, परन्तु उन्होंने कोई उत्तर न दिया। पुलिसवालों ने पकड़-धकड़ भी की परन्तु चोर का पता न लगा। कल्लू किस प्रकार गायब हो गया किसी की समझ में न आया। सम्भव है वह पहले ही स्वामीजी के किसी शत्रु से गठ गया हो और जोधपुर में ही किसी जगह छिपा रहा हो और सुयोग पाकर जोधपुर से चला गया हो, अन्यथा समझ में नहीं आता कि ढूँढ-भाल होने पर भी उसका पता न चला। यह भी सम्भव है पुलिसवालों ने भी केवल दिखावे मात्र के लिए ही अनुसन्धान किया हो।

**धूर्त्त सेवक**– कोतवाल ने रामानन्द को हवालात में बन्द करने की चेष्टा की परन्तु स्वामीजी ने इसका विरोध किया। इस चोरी के सम्बन्ध में वे किसी को भी कष्ट देना नहीं चाहते थे। जितने सेवक उनके पास थे वे सभी धूर्त्त थे। जब किसी अपराध पर स्वामीजी उन्हें डाँटते थे तो वे हाथ जोड़ते और जो हुकुम, जो हुकुम कहते थे, परन्तु स्वामीजी के पीछे उनकी बातों पर वे हँसते थे। ऐसी बातें देखकर स्वामीजी को अपने जोधपुरवास से ग्लानि हो गई थी और जोधपुर के मनुष्यों के ऊपर से उनका विश्वास उठ गया था तथा उन्होंने वहाँ से चले जाने का सङ्कल्प कर लिया था।

**रोग का आक्रमण**– २७ सितम्बर, १८८३ ई० (आश्विन कृष्णा ११ संवत् १९४० वि०, गुरुवार) को उन्हें प्रतिश्याय हो गया, २८ सितम्बर को भी शरीर ठीक न हुआ। २९ सितम्बर, १८८३ ई० (आश्विन कृष्णा १३ संवत् १९४० वि०, शनिवार) की रात्रि को यथानियम उन्होंने दुग्ध पिया जिसे धौळ मिश्र[६४६] रसोइए ने पिलाया। यह रसोइया शाहपुरे से ही स्वामीजी के साथ आया था। स्वामीजी दुग्ध पीकर सो गए परन्तु बीच में ही उदरशूल के कारण उनकी निद्रा भङ्ग हो गई। उनका जी मिचलाने लगा और उन्हें तीन बार वमन हुई। परन्तु उन्होंने किसी को जगाया नहीं। स्वयं ही कुल्ला करके पलङ्ग पर लेट जाते थे। ३० सितम्बर के प्रातःकाल स्वामीजी देर से उठे और उठते ही एक वमन

---

६४६– मार्ग में स्वामीजी ने इसका नामकरण धौळमिश्र से जगन्नाथ मिश्र के रूप में कर लिया था क्योंकि उसका पूर्ववर्ती नाम धौळमिश्र (धूल=मिट्टी) का प्रतीक था। ऐसा शाहपुरा के ही स्थायी निवासी श्री सोहनलाल शारदा ने बहुत वर्षों बाद स्वामीजी की बलिदान-शताब्दी के अवसर पर अपने एक लेख में व्यक्त किया था। – *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

और हुई।

**विष का सन्देह**– स्वामीजी को सन्देह हुआ कि उन्हें कोई विषाक्त पदार्थ खिलाया गया है अत: उन्होंने उसे निकालने के लिए जल पीकर एक वमन स्वयं कर डाली। पहले भी उन्हें कई बार विष दिया गया था और वमन करके उन्होंने एक बार उसे शरीर से निकालने में सफलता भी प्राप्त की थी। इस बार भी विष-प्रयोग का सन्देह होने पर उन्होंने उसी रीति का अवलम्बन किया, परन्तु कुछ लाभ न हुआ। वमन करने के पश्चात् उन्होंने कहा कि हमारा जी उलटा आता (मचलाता) है शीघ्र अग्निकुण्ड में धूप डालकर सुगन्धि फैला दो और दुर्गन्धि को बाहर निकाल दो। उनकी आज्ञा का तत्काल पालन किया गया। वमन करने में उन्हें बहुत कष्ट होता था इससे उनकी अन्तड़ियों और यकृत् पर शोथ आ गया था, छाती और उदर में बड़ा तीव्र शूल चलता था। स्वामीजी ने राव राजा तेजसिंह को बुलवाया और उनसे सब हाल कहा। यह स्थिर हुआ कि चिकित्सा के लिए किसी हिन्दू चिकित्सक को बुलाया जाए। अत: डॉ० सूरजमल को, जिनकी नियुक्ति कारागार पर थी, बुलाना निश्चित हुआ। राव राजा तेजसिंह के आने से पहले ही स्वामीजी ने शूल के उपशमनार्थ अजवायन का क्वाथ पकवाकर पी लिया था जिससे शूल तो कम न हुआ दस्त और अधिक होने लगे। यह शूल इतना बढ़ा कि वह उनके सारे शरीर में प्रविष्ट हो गया और श्वास के साथ बड़े वेग से उठता था। स्वामीजी को असीम कष्ट था परन्तु न तो वे कभी कराहे और न कभी हाय आदि का शब्द उनके मुख से निकला। डॉक्टर सूरजमल से स्वामीजी ने कहा कि शूल बहुत तीव्र है और प्यास भी है। डॉक्टर ने नाड़ी देखी तो स्वामीजी को कुछ ज्वर भी था। उन्होंने उसके उतारने के लिए Diaphoretic mixture दिया और छाती और उदर को गरम जल की बोतल से सिकवाया। उससे ज्वर तो जाता रहा परन्तु उदर-शूल और यकृत का शोथ ज्यों का त्यों बना रहा तथा अन्तर्दाह में भी कुछ कमी न हुई।

**डॉक्टर अलीमरदानखाँ का परिचय**– महाराजा प्रतापसिंह को जब स्वामीजी के रोगी हो जाने का समाचार मिला तो उन्होंने डॉक्टर अलीमरदानखाँ को राव राजा तेजसिंह के साथ उनकी चिकित्सा के लिए भेजा। वह एक तीसरे दर्जे का हास्पिटल असिस्टेण्ट था, परन्तु पहले दर्जे का खुशामदी और कपटी था। उसने दरबार की चापलूसी करके उन्हें प्रसन्न कर लिया था और धन भी बहुत कुछ संग्रह कर लिया था जिससे वह जोधपुर के प्रख्यात डॉक्टरों में गिना जाने लगा था।

**इन्हें चौगुनी मात्रा दो**– डॉक्टर अलीमरदानखाँ ने आकर एक पट्टी तो स्वामीजी के पेट पर बँधवाई और यकृत् और अन्तड़ियों की सूजन दूर करने के लिए उसने सैलेवेशन पिल्स (salvation pills) देने को कहा, उसने डॉक्टर सूरजमल से कहा कि स्वामीजी बहुत बलवान् हैं, इन्हें चार मनुष्यों के बराबर औषधि देनी चाहिए। एक salvation pills में ३ ग्रेन केलोमल (calomel) और एक चौथाई ग्रेन अफीम होती है। डॉक्टर अलीमरदानखाँ ने स्वामीजी के लिए शहर के अस्पताल से ६ गोलियाँ बनवाकर भेज दीं। जब गोलियाँ आईं तो स्वामीजी ने डॉक्टर सूरजमल से पूछा कि मैं इन्हें खाऊँ वा नहीं। डॉक्टर सूरजमल ने कहा कि खा सकते हैं। उक्त डॉक्टर ने देवेन्द्रबाबू से कहा था कि मेरा अन्त:करण डॉक्टर अलीमरदानखाँ की दवा खिलाने को नहीं करता था, परन्तु एक तो मैं दूसरे डॉक्टर की चिकित्सा में हस्तक्षेप करना नहीं चाहता था, दूसरे मेरी स्त्री संग्रहणी रोग से बहुत पीड़ित थी, तीसरे जेल के काम से बहुत कम छुट्टी मिलती थी और मैं स्वयं मनोयोग से स्वामीजी की चिकित्सा नहीं कर सकता था, इसलिए मैंने स्वामीजी को अलीमरदानखाँ की दवा खाने का निषेध नहीं किया।

**डॉक्टर सूरजमल का अपराध**– हम समझते हैं कि डॉक्टर सूरजमल जब हृदय से अलीमरदानखाँ की दवा पिलाना नहीं चाहते थे तो उनका कर्त्तव्य था कि वे स्वामीजी को अपनी सम्मति स्पष्टरूप से बतला देते क्योंकि स्वामीजी को उन पर एक हिन्दू डाक्टर होने के नाते पूर्ण विश्वास था। इस विश्वास की उन्हें रक्षा करनी चाहिए थी। यदि वे कह देते कि अलीमरदानखाँ की दवा न खाइए तो निश्चय ही स्वामीजी उसे न खाते। यदि ऐसा होता तो कौन जाने सम्भवत: स्वामीजी

का शरीर बच ही जाता। ऐसी दशा में हम डॉक्टर सूरजमल को किसी प्रकार भी इस अपराध से मुक्त नहीं कर सकते। यदि हम उनके विषय में यह विचार करें कि इस कारण से कि पहले उनकी चिकित्सा आरम्भ करके फिर अलीमरदानखाँ की चिकित्सा कराई गई जो उनसे योग्यता और दर्जे में कम था वह रुष्ट हो गए और क्रोध के वशीभूत होकर ही जानबूझकर उन्होंने स्वामीजी को अलीमरदानखाँ की दवा खाने का निषेध नहीं किया तो अधिक अनुचित न होगा। अस्तु, स्वामीजी ने वे गोलियाँ खालीं, परन्तु उनके खाने से उदरशूल में कुछ भी अन्तर न पड़ा। १ अक्टूबर, १८८३ ई० को अलीमरदानखाँ ने स्वामीजी के ग्लास भी लगाए, उससे वह पीड़ा तो बन्द हो गई जो खाँसने के साथ होती थी परन्तु और किसी रोग में कमी न हुई। २ अक्टूबर, १८८३ ई० को अलीमरदानखाँ ने[६४७] पेट साफ करने के लिए जुलाब (रेचक) देने का प्रस्ताव किया। स्वामीजी ने उसे स्वीकार कर लिया और कहा कि जिससे रोग निवृत्त हो वैसा कीजिए। स्वामीजी ने अलीमरदानखाँ से पूछा कि कितने दस्त आएँगे तो उसने कहा कि ६-७ दस्त से अधिक नहीं आएँगे। उसने डॉक्टर सूरजमल से फिर यही बात कही कि स्वामीजी हृष्ट-पुष्ट हैं, इन्हें जुलाब भी चौगुनी मात्रा में देना चाहिए। स्वामीजी ने डॉक्टर सूरजमल से फिर पूछा कि क्या रेचक ले लेवें? इस पर भी उन्होंने यथापूर्व ही कह दिया कि ले सकते हैं। अत: स्वामीजी ने जुलाब ले लिया। तब तीसरी तारीख (३ अक्टूबर, १८८३ ई०) के ९ बजे तक कोई दस्त न आया। स्वामीजी ने जब उससे कहा कि अभी तक तो एक भी दस्त नहीं आया तो उसने कहा जुलाब बहुत हल्का है जब मल फूल जाएगा तब दस्त आवेंगे।

**रोग की वृद्धि**- दस बजे से दस्त आने आरम्भ हुए। ४ अक्टूबर, १८८३ ई० के प्रात:काल तक ४० के लगभग दस्त आए। ४ तारीख को ही जब अलीमरदानखाँ आया तो स्वामीजी ने उससे कहा कि आप तो कहते थे कि ६-७ दस्त आवेंगे, मुझे तो अब तक तीस से अधिक दस्त हो गए हैं। यह सुनकर अलीमरदानखाँ चुप रह गया। उस दिन दिनभर दस्त आते रहे और सायङ्काल को स्वामीजी यह दशा हो गई कि दस्त आने पर उन्हें मूर्छा होने लगी। यह जुलाब कम्पाउण्ड जलाप पाउडर (Compound Jalap powder) का था। साधारणत: उसमें ३-४ ग्रेन केलोमल (Calomel) दिया जाता है, परन्तु अलीमरदानखाँ ने आठ ग्रेन दिया। इस प्रकार स्वामीजी के शरीर में १८ ग्रेन तो salvation pills में और ८ ग्रेन जुलाब में कुल २६ ग्रेन (Calomel) पहुँचा दिया गया। डॉक्टर सूरजमल ने देवेन्द्रबाबू से कहा था कि स्वामीजी का शरीर बहुत बलिष्ठ था अत: वे उसे सहन कर गए। यदि किसी साधारण मनुष्य को इतना (Calomel) दिया गया होता और उसे इतने दस्त आ गए होते तो निश्चय ही उसका प्राणान्त हो गया होता। ५ तारीख तक दस्तों की यही दशा रही जिससे स्वामीजी इतने निर्बल हो गए कि ४-५ मनुष्यों की सहायता के बिना उनका करवट लेना वा उठना-बैठना भी असम्भव हो गया। तब स्वामीजी ने अलीमरदानखाँ से कहा कि अब तो दस्त बन्द हो जाने चाहिए तो उसने यह उत्तर दिया कि दस्तों को दवा से बन्द करने में रोग के बढ़ जाने का भय है, दस्तों का अपने आप बन्द होना ही अच्छा है। Calomel के अधिक मात्रा में खाने का दूसरा परिणाम यह हुआ कि स्वामीजी के गले, जिह्वा, तालू, सिर और मस्तिष्क पर आँवले पड़ गए जिसके कारण बातचीत करने में भी उन्हें अत्यन्त कष्ट होने लगा। शूल, दस्त, उदर-शूल के कष्ट तो पहले से ही थे अब उन्हें हिचकियाँ भी आने लगी थीं। १६ अक्टूबर, १८८३ ई० तक अलीमरदानखाँ की ऐसी चिकित्सा चलती रही जिससे उनके रोग में कुछ कमी न हुई, दस-पन्द्रह दस्त प्रतिदिन ही आते रहे, शूल का तो मुख्य रोग था ही, अब आँवलों और हिचकियों का रोग भी और बढ़ गया था। जब दस्त किसी तरह भी बन्द न हुए तो अलीमरदानखाँ ने बिस्मत (Bismutha) और डोनर की एस्ट्रिजेंट पिल्स (Doner's astringent pills) बनवाकर दीं। स्वामीजी इन गोलियों को भी खाते रहे और दही तथा मठा

६४७- पण्डित लेखरामकृत उर्दू दयानन्द-चरित में लिखा है कि रेचक लेने का प्रस्ताव स्वामीजी ने स्वयं ही किया था। परन्तु यदि अलीमरदानखाँ उनकी चिकित्सा में जानबूझकर गड़बड़ कर रहा था जैसा कि स्पष्टतया ज्ञात होता है तो यही मानना होगा कि रेचक देने का प्रस्ताव उसने ही किया था। -*संग्रहकर्ता*

भी पीते रहे। पहले जब कभी उनकें उदर में कुछ गड़बड़ होती थी तो दही और मठा पीने से वह दूर हो जाती थी। उन्होंने अपने इस पूर्व अनुभव के कारण ही दही और मठा भी पीना आरम्भ किया, परन्तु किसी प्रकार भी दस्त बन्द होने में न आए।

**स्वामीजी के रोगी होने की प्रथम सूचना**– आश्विन शुक्ला ११ संवत् १९४० वि० अर्थात् १२ अक्टूबर सन् १८८३ ई० (शुक्रवार) तक जोधपुर से बाहर किसी को यह पता तक न चला कि स्वामीजी रुग्ण हैं और उनके रोग ने ऐसा भयङ्कर रूप धारण कर लिया है। उक्त तारीख को *'राजपूताना गजट'* में उनके रोगी होने का समाचार छपा जो आर्यसमाज अजमेर के एक सभासद् की दृष्टि में पड़ गया। तब उसने आर्यसमाज के अन्य सभासदों को बताया। पहले तो सबके मन में यह बात आई कि यह बात मिथ्या है और स्वामीजी के किसी शत्रु ने गजट में छपा दी है। यदि यह बात सच्ची होती तो अवश्य ही कोई पत्र वा तार आता। परन्तु फिर मन न माना और सोचा कि सम्भव है कि बात सच्ची ही हो। तब एक सभासद् लाला जेठमल को जोधपुर भेजा गया।

**यह तो शरीर का धर्म ही है**– वे जब जोधपुर पहुँचे तो स्वामीजी की दशा को देखकर शोक में निमग्न हो गए। उन्होंने स्वामीजी से कहा कि भगवन्! यह क्या हुआ और अधिक शोक की बात यह है कि आपने किसी समाज को सूचित भी नहीं किया। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि रोग की दशा को क्या लिखता, यह तो शरीर का धर्म ही है। उसमें सुख–दु:ख होते ही रहते हैं, मैं सूचना देकर करता ही क्या? इसके अतिरिक्त आप लोगों को भी क्लेश होता।

**आर्यसमाज अजमेर को सूचना**– लाला जेठमल ने आर्यसमाज अजमेर को स्वामीजी की विपन्न दशा की सूचना दी और उसने मुम्बई, फर्रुखाबाद, मेरठ, लाहौर आदि आर्यसमाजों को तार द्वारा सूचित किया जिससे सामाजिक जगत् में एकदम कोलाहल मच गया। तार पर तार आने लगे। सामाजिक पुरुष खबर के लिए दौड़ पड़े।

**दो योग्य डॉक्टरों के होते हुए भी अयोग्य की चिकित्सा**– उस समय जोधपुर में दो सुयोग्य डॉक्टर उपस्थित थे। एक डॉ० रोडम्स जो रेजिडेंसी सर्जन थे, दूसरे डॉक्टर नवीनचन्द्र गुप्त। अत्यन्त आश्चर्य है कि इनके होते हुए भी स्वामीजी को उन्हें नहीं दिखाया गया और उन्हें १५, १६ दिन तक अलीमरदानखाँ जैसे अयोग्य और निम्न कोटि के चिकित्सक के हाथों में ही रहने दिया गया।

**राव राजा तेजसिंह का अपराध**– राव राजा तेजसिंह आदि को भी यह न सूझी कि जब अलीमरदानखाँ की दवा से कोई लाभ नहीं हो रहा है और दिन–प्रतिदिन रोगी की दशा बिगड़ती जाती है तो उसकी चिकित्सा बन्द करके किसी अन्य की आरम्भ की जाए। सर प्रतापसिंह और महाराजा जसवन्त सिंह ने इतनी भी परवाह नहीं की कि एक बार आकर स्वामीजी को देख तो जाएँ। इसका एक कारण यह हो सकता है कि अलीमरदानखाँ उन्हें विश्वास दिलाता रहा हो कि रोगी की दशा अच्छी है और कोई चिन्ता की बात नहीं है। परन्तु राव राजा तेजसिंह तो कई बार आए और अपनी आँखों से स्वामीजी के घोर कष्ट को देखकर भी उन्हें चिकित्सा बदलने की चिन्ता न हुई।

**हिन्दू से मुसलमान डॉक्टर के हाथों में**– उनसे तो पहले ही स्वामीजी ने कह दिया था कि किसी हिन्दू डॉक्टर को बुलाना चाहिए और इसी कारण सबसे प्रथम डॉक्टर सूरजमल को बुलाया गया था। ऐसा होते हुए भी अलीमरदानखाँ की चिकित्सा क्यों कराई गई और राव राजा ने दरबार वा सर प्रतापसिंह से क्यों न कहा कि स्वामीजी मुसलमान डॉक्टर से चिकित्सा कराना नहीं चाहते हैं। फिर जब उसकी चिकित्सा दिन–प्रतिदिन हानिकर हो रही थी तो उस समय तो राव राजा को यह समझ आनी चाहिए थी और उसकी चिकित्सा तुरन्त ही बन्द कर देनी चाहिए थी।

**अलीमरदानखाँ का असद्भाव**– यह विश्वास नहीं होता कि अलीमरदानखाँ ने स्वामीजी की चिकित्सा सद्भाव से की हो। यह असम्भव नहीं है कि वह नन्हीं भगतन के षड्यन्त्र में सम्मिलित हो। यदि वह उच्च चरित्र का व्यक्ति होता तो उस पर कोई सन्देह न भी होता, परन्तु वह एक क्षुद्राशय व्यक्ति था, इससे उसका इस षड्यन्त्र में भाग लेना ऐसी बात नहीं है

जिसका विश्वास न हो सके। स्वामीजी के प्रति मुसलमानों के जो भाव थे उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अत: यह सन्देह होता है कि अलीमरदानखाँ ने उन्हीं दुर्भावों से प्रेरित होकर स्वामीजी के रोग को बढ़ाने का प्रयत्न किया। कुछ भी हो, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है कि उसने यह चिकित्सा बड़ी अयोग्यता से की। स्वामीजी के साथ कोई विचक्षण पुरुष नहीं था, जो थे वे अल्पानुभवयुक्त थे, अत: वे तो स्वयं इस चिकित्सा के सम्बन्ध में कोई सम्मति दे ही नहीं सकते थे और देते भी तो वह ग्राह्य ही न होती। हमें तो शोक राव राजा तेजसिंह और सर प्रतापसिंह पर है जिन्होंने इस ओर दृष्टिपात तक न किया और स्वामीजी को मृत्यु की ओर अग्रसर होने दिया।

**जगन्नाथ रसोइया कौन था**– लोक में यह किंवदन्ती है कि स्वामीजी को उनके रसोइया ने दुग्ध में पिसा हुआ काँच दिया था। उस रसोइये का नाम जगन्नाथ बताया जाता है। परन्तु जोधपुर में जितने मनुष्यों से देवेन्द्रबाबू ने पूछा उनमें से किसी ने भी जगन्नाथ का नाम नहीं लिया। पण्डित लेखरामकृत उर्दू जीवनचरित में लिखा है कि उस रात्रि को धौळ मिश्र ने ही स्वामीजी को दुग्ध पिलाया था। (इस सम्बन्ध में पूर्व पाद टिप्पणी क्रमाङ्क ६४६ पठितव्य है।)

**मनगढ़न्त गाथा?**–जगन्नाथ नाम का कोई रसोइया स्वामीजी के साथ था इसका प्रमाण भी कहीं नहीं मिलता। कोई नहीं बतला सकता कि वह कौन था, कहाँ का रहने वाला था और कब से स्वामीजी के साथ था? लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि स्वामीजी को यह ज्ञात हो गया था कि उन्हें जगन्नाथ ने ही विष दिया है और जगन्नाथ ने उनसे स्वीकार भी कर लिया था कि मैंने यह पाप किया है। इस पर स्वामीजी ने उसे कुछ भी न कहा बल्कि उसे कुछ रुपये मार्ग–व्यय के लिए देकर कह दिया तू नेपाल भाग जा, अन्यथा पकड़ा जाएगा जिससे वह तुरन्त भाग गया। कोई–कोई तो यहाँ तक कहते हैं कि कुछ वर्षों के पश्चात् लोगों ने जगन्नाथ को गङ्गा तट पर राजघाट जिला अलीगढ़ में देखा था और वह तब विक्षिप्त अवस्था में था। हमें तो यह सारी गाथा कल्पित और मनगढ़न्त प्रतीत होती है। न जाने यह किसके मस्तिष्क की उपज है। किसी ने यह बात प्रचलित की और श्रद्धालु जनों ने इस कारण कि उससे स्वामीजी की दया से अपार होने का प्रमाण मिलता है उसे झट सत्य मान लिया। पण्डित लेखरामकृत उर्दू जीवन–चरित में कहीं भी जगन्नाथ का नाम और इस घटना का उल्लेख नहीं है। उसका उल्लेख केवल एक नोट में है जो प्रकरण से अलग दिया हुआ है और ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त जीवन–चरित के छपते छपते मास्टर आत्मारामजी को कहीं से इस कथा का पता लगा और उन्होंने एक जगह उसे नोट के रूप में लिख दिया।{इस सम्बन्ध में पूर्व पाद टिप्पणी क्रमाङ्क ६४६ के अनुसार तो धौळमिश्र का ही अपरनाम जगन्नाथ था जो उसे स्वयं स्वामीजी ने ही प्रदान किया था, इसलिए एकमात्र वे ही उसके इस नाम से परिचित थे। तभी स्वामी हौलस मस्करी ने लिखा था कि–

दानी जन जग बहुत जो देत दीन हित दान।
घातक हित केवल अहो! दयानन्द का दान।।
दयानन्द का दान स्व–पच–कर गरल पिया था।
प्राणदान दे ताहि अमित धन–दान दिया था।।
कह 'हौलस' लो ढूँढ़ि पृष्ठ इति–वृत्त कहानी।
प्राप्त कहाँ पर दयानन्द ऋषिवर सा दानी।।

**राव राजा तेजसिंह का मिथ्या विचार**– राव राजा तेजसिंह तथा अन्य लोगों ने देवेन्द्रबाबू से कहा था कि हमारा विश्वास है कि उस रात्रि को कल्लू कहार ने ही महाराज को दूध पिलाया था। उससे पहली रात्रि को ही चोरी हुई थी। कल्लू ने ही कोई विषैली वस्तु दूध में मिलाकर दी होगी। यदि ऐसा हुआ हो तो इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि उसने यह पाप कर्म नन्हीं भगतन से मिलकर ही किया होगा। परन्तु हमारी धारणा यह नहीं है कि कल्लू ने चोरी भी की और विष भी दिया।

चोरी जिस रात्रि को हुई उससे अगली रात्रि को ही विष नहीं दिया गया। बल्कि उसके एक-दो दिन बाद दिया गया।

**पिसे हुए काँच के चिह्न: न थे**- डॉक्टर सूरजमल ने देवेन्द्रबाबू से कहा था कि जो चिह्न: स्वामीजी के शरीर में प्रकट हुए वे पिसे हुए काँच के नहीं थे। इसमें तो सन्देह नहीं कि स्वामीजी को विष दिया गया था। पिसा हुआ काँच हो वा सँखिया। मैंने मेरठ के एक प्रसिद्ध और अनुभवी डॉक्टर से पूछा था तो उन्होंने कहा था कि पिसे हुए काँच और सँखिया के चिह्न: लगभग एक से हैं। दोनों में तीव्र उदर-शूल और अन्तर्दाह होता है, वमन और दस्त होते हैं, परन्तु पिसे हुए काँच से दस्तों में रक्त आने लगता है। यह चिह्न: स्वामीजी के रोग में नहीं था, इसलिए यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उन्हें पिसा हुआ काँच ही दिया गया था। अधिक सम्भव यह है कि उन्हें सँखिया ही दिया गया हो। अजमेर के हकीम पीरजी से जब स्वामीजी के रोग का हाल कहा गया तो उनकी भी यही सम्मति हुई थी कि स्वामीजी को सँखिया ही दिया गया है।[६४८]

अब प्रश्न यह है कि विष किसने दिया। पण्डित नानूराम ब्रह्मभट्ट का, जो शाहपुरा से स्वामीजी को जाधपुर लिवाने के लिए गए थे, कथन है कि कलिया नामी व्यक्ति ने एक माली से मिलकर नन्हीं भगतन के प्रोत्साहन से दूध में विष मिलाकर स्वामीजी को पिला दिया। इस कलिया का नाम ही जगन्नाथ कहा जाता है। मुंशी देवीप्रसादजी राजपूताने के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ का विश्वास है कि नन्हीं भगतन ने एक माली को लालच देकर स्वामीजी के रसोइए कलिया को बहकवाकर दूध में विष घुलवा दिया था। राव राजा तेजसिंह ने दयानन्द जन्म-शताब्दी पर यह कहा था कि स्वामीजी के पास एक कल्लू रसोइया (कहार?) रहता था उसने दो अशर्फी और एक दुशाला चुराया था। उस पर स्वामीजी ने मेरे सामने उसे उसके पाप के लिए बहुत ताड़ना की। इसके पश्चात् उसने कुछ दुरात्माओं से मिलकर न मालूम खाने के अन्दर या दूध में कुछ चीज दी कि सबेरे उठते ही बहुत जोरों के साथ स्वामीजी को जुकाम की शिकायत हुई। उनको मालूम हो गया कि मुझको कोई जहर दिया गया है। तब वे पानी में नमक मिलाकर कै करने लगे, किन्तु इससे कोई फायदा न हुआ और पसली में शूल शुरू हो गया। तब मुझको बुलाया और कहा कि श्री दरबार को अर्ज करो कि मेरी पसली में बहुत जोर का शूल चलता है और मेरी बीमारी सुनकर बहुत से आर्य लोग यहाँ आएँगे जिससे उनको कष्ट होगा इसलिए अब मेरा अजमेर जाना ठीक है। राव राजा के अनुसार इसकी सूचना देने पर दरबार स्वामीजी के पास आए और उन्हें आबू भेज दिया गया। (देखो बाबू पूर्णचन्द्रकृत 'दिव्य दयानन्द' पृष्ठ ३७ व ३८)

इस कथन में राव राजा साहब ने सत्य को सर्वथा दबा दिया है। उनके कथन से यह ज्ञात होता है कि जैसे ही स्वामीजी पर रोग का आक्रमण हुआ वैसे ही उन्हें आबू भेज दिया गया। १५-१६ दिन तक स्वामीजी जोधपुर में घोर कष्ट पाते रहे, परन्तु राव राजा इसकी ओर सङ्केत तक नहीं करते। इससे अधिक असत्य क्या होगा कि उन्होंने देवेन्द बाबू से यहाँ तक कह दिया कि जहाँ तक मुझे मालूम है डॉक्टर अलीमरदानखाँ ने स्वामीजी को कोई औषधि नहीं दी थी। विष देने वाले धौळ मिश्र हों वा जगन्नाथ उपनाम कल्ली या कलिया, परन्तु यह बात सत्य नहीं मालूम होती कि स्वामीजी ने यह जानते हुए कि मुझे जगन्नाथ ने विष दिया है उसे रुपये देकर जोधपुर से भगा दिया हो।

**मलेरिया का विष या आमों का विकार ?**- डॉक्टर सूरजमल ने देवेन्द्रबाबू से कहा था कि रात्रि में वमन का हो जाना मलेरिया के विषाक्त स्पर्श से असम्भव नहीं है और आमों के अधिक मात्रा में खाने से यकृत् का बिगड़ जाना भी सम्भव हो सकता है। परन्तु हमें इन दोनों सम्मतियों में सार दिखाई नहीं देता क्योंकि मलेरिया का यदि प्रकोप होता तो ज्वर का होना

---

६४८- इस प्रसङ्ग में काँच का अर्थ Glass लिया जा रहा है जबकि राजस्थान में काँच सँखिया को भी कहते हैं। ऐसा मुझे आर्यजगत् साप्ताहिक पत्र , नई दिल्ली के सम्पादक स्व० पं० क्षितीशजी वेदालङ्कार ने स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रथम बलिदान शताब्दी के अवसर पर १९८३ ई० में बताया था। *-आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

अवश्यम्भावी था। स्वामीजी को आरम्भ में ही थोड़ा सा ज्वर हुआ था और वह भी डायाफोरेटिक मिक्शचर (Diaphoratic mixture) के देने से जाता रहा था आमों के अधिक मात्रा में खाने से यकृत् में इतना विकार नहीं हो सकता था और अँतड़ियों के शोथ और शूल के तो आम कारण हो ही नहीं सकते थे।

**रोगवृद्धि का मुख्य कारण**– डॉक्टर सूरजमल ने यह निश्चित सम्मति प्रकट की थी कि दस्तों की संख्या और छालों का मुख्य कारण Calomel का अत्यधिक मात्रा में देना ही था। यह सम्मति उनकी वास्तव में ठीक है।

**एक और सन्देह**– स्वामीजी को दूध के साथ कोई विष या विषैली वस्तु दी गई हो स्वामीजी को यह सन्देह अवश्य हो गया था कि उन्हें विष दिया गया है और इसी कारण उन्होंने जल पीकर स्वयं ही वमन कर डाली थी। परन्तु साथ ही यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि स्वामीजी ने इस बात को प्रकट क्यों नहीं किया। यदि जो उपचार किए गए उनसे रोग शान्त हो जाता और फिर वे इस बात को प्रकट न करते तो कुछ बात न थी, परन्तु जब उनकी पीड़ा बढ़ती ही गई और कोई उपचार सफल न हुआ तो उन्हें अपना सन्देह प्रकट कर ही देना चाहिए था ताकि रोग का ठीक निदान होकर उसका उपयुक्त उपचार किया जाता। ऐसा न करके उन्होंने चिकित्सकों को उनकी चिकित्सा में कोई सहायता न की और चिकित्सकों से यह आशा रखी कि वे आँख पर पट्टी बाँधकर लक्ष्य भेद कर लेंगे। इसके हमारी समझ में दो ही कारण हो सकते हैं। या तो स्वामीजी को यह निश्चय हो गया था कि उनका शरीर अब बचने वाला नहीं है और या उन्होंने अपनी परम दयालुता के कारण अपना सन्देह प्रकट न किया हो क्योंकि यदि वे प्रकट कर देते तो अवश्य ही उनके आसपास रहने वाले मनुष्यों और भृत्यों पर आपत्ति आती, जो उन्हें कभी अभीष्ट न हो सकती थी।

**इस राक्षस–भूमि में क्यों आ गए?** – प्रथम बार ही जब डॉक्टर सूरजमल स्वामीजी को देखने गए थे तो डॉक्टर महोदय ने उनसे कहा था कि आप ऋषितुल्य लोग हैं, आप इस राक्षस भूमि में क्यों आ गए? अन्त को डॉक्टर सूरजमल ने जोधपुर की अवस्था और स्वामीजी के शरीर की इतनी भयावह दशा को देखकर लाला जेठमल से कहा कि जितना शीघ्र हो सके सके उतना शीघ्र स्वामीजी को जोधपुर से अन्यत्र ले जाना चाहिए।

**आबू भेजने का प्रस्ताव**– १५ अक्टूबर, १८८३ ई० को अलीमरदानखाँ भी स्वामीजी की दशा को देखकर डर गया और उसने यह प्रस्ताव किया कि स्वामीजी के शरीर में गर्मी बहुत है, इन्हें आबू भेज देना चाहिए। वहाँ के ठण्डे जलवायु से उनके स्वास्थ्य को लाभ पहुँचने की अधिक सम्भावना है। उसने सोचा होगा कि यदि जोधपुर में ही स्वामीजी का देहपात हो गया तो सारा कलङ्क उसी के माथे पर रहेगा। उस दिन रेजिडेंसी सर्जन डॉक्टर रोडम को भी बुलाकर स्वामीजी को दिखाया गया जिसमें उनकी भी यही सम्मति हुई। तदनुसार स्वामीजी के आबू भेजने का उपक्रम होने लगा। आबू पर जोधपुर राज्य के बँगले को सुसज्जित करने को लिख दिया गया। १६ अक्टूबर, १८८३ ई० को तीसरे प्रहर महाराजा जसवन्तसिंह और सर प्रतापसिंह स्वामीजी को विदा करने आए। जोधपुराधीश ने स्वामीजी से कहा कि ऐसी दशा में आपके मेरे राज्य से पधारने में मेरी अपकीर्ति ही है, परन्तु आपकी यह दशा देखकर मैं कुछ और कह भी नहीं सकता हूँ।

**जोधपुराधीश का सद्व्यवहार और सम्मान प्रदर्शन**– तत्पश्चात् उन्होंने २,५०० रुपए और दो दोशाले स्वामीजी को भेंट किए। जब यात्रा की सब तैयारी हो गई तब दरबार ने अपनी फलालेन की पेटी अपने हाथ से महाराज के बाँध दी ताकि उन्हें लेटने में कोई कष्ट न हो। साथ ही यह समझकर कि स्वामीजी का शरीर विशाल है, उनकी पालकी में ३२ कहार लगाए गए ताकि १६, १६ कहार बारी–बारी से पालकी को ले जावें। खस के दो डेरे और एक पलङ्ग, कुली और परिचारक तथा रक्षक भी साथ कर दिए गए। डॉक्टर सूरजमल, चारण नवलदान और मुरारदान को आबूरोड रेलवे स्टेशन तक स्वामीजी के साथ जाने की आज्ञा हुई। स्वामीजी को हाथों के सहारे कई मनुष्यों ने ऊपर के कमरे से धीरे–धीरे उतार कर पालकी में लिटाया। उस समय जोधपुराधीश महाराजा जसवन्तसिंह, कर्नल सर प्रतापसिंह, राव राजा तेजसिंह तथा राज्य के अन्य

सुप्रतिष्ठित लोग उपस्थित थे। जब स्वामीजी की पालकी उठाई गई तो सम्मान प्रदर्शनार्थ दरबार ने स्वयं उसमें कन्धा दिया और स्वामीजी के अपने राज्य में विपदग्रस्त होने पर अत्यन्त दु:ख प्रकाशित करते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रों और वाष्पावरुद्ध कण्ठ से पुन: जोधपुर पधारने की प्रार्थना की और बाग के दरवाजे तक पैदल पालकी के पीछे-पीछे आए। अन्य बहुसंख्यक लोग भी बहुत दूर तक पालकी के साथ गए।

**पालकी का फर्श टूट गया**- थोड़ी दूर चलकर स्वामीजी के शरीर-भार से पालकी का बेंत का फर्श टूट गया, अत: उसके नीचे बाँस बाँधे गए। डॉक्टर सूरजमल प्रत्येक दस्त के पश्चात् एस्ट्रिंजेण्ट पाउडर (Astringent Powder) देते थे जिसे वह अपने साथ ले गए थे। रात्रि भर चलकर प्रात:काल १७ अक्टूबर, १८८३ ई० को रोहट पहुँचे। रोहट में एक दिन और एक रात रुके रहे।

**रोग का भयङ्कर रूप**- स्वामीजी को मार्ग में भी और रोहट में भी ४-५ दस्त हुए। स्वामीजी को गर्मी बहुत लगती थी। रात्रि में भी यात्रा में आठ तह का भीगा कपड़ा सिर पर रखा रहा और सिर पर पंखा होता रहा, परन्तु फिर भी गर्मी कम न हुई। हिचकी भी आती रही थी। दिन में कई-कई बार मूर्छा हो जाती थी।

**दो ब्राह्मणों को दान**- जब रोहट में सब लोग ठहरे हुए थे और वहाँ स्वामीजी लेटे हुए थे तो रामानन्द ब्रह्मचारी हवन कर रहा था कि इतने में दो ब्राह्मण आए। उन्होंने दो वेदमन्त्र पढ़े। स्वामीजी ने उन्हें सुनकर दोनों को एक-एक रुपया दिलवाया। ग्राम में ब्राह्मणों को जब यह ज्ञात हुआ कि एक साधु ब्राह्मणों को रुपये बाँट रहा है तो वे एकादशी माहात्म्यादि लेकर आए, परन्तु स्वामीजी ने कहा कि ये धूर्त हैं, इन्हें निकाल दो। स्वामीजी रोहट में झील के किनारे संन्यासियों के मन्दिर के पास ठहरे थे। जब वहाँ के संन्यासी आकर स्वामीजी के पैर छूने लगे तो उन्होंने कहा, यहाँ मलमूत्र पड़ने से इन्हें कष्ट होगा अत: हमें अन्यत्र ले चलो। तद्नुसार उन्हें दूसरे स्थान पर ले गए। १८ अक्टूबर, १८८३ ई० को स्वामीजी पाली पहुँच गए। जोधपुर से पाली तक स्वामीजी को बहुत धीरे-धीरे ले जाया गया क्योंकि उनके यकृत् और अँतड़ियों में शोथ था जिससे जल्दी-जल्दी चलने से उनके उदर में पीड़ा हो जाती थी और अँतड़ियों पर भी जोर पड़ता था। अत: बीच-बीच में कहारों को धीरे-धीरे चलने के लिए सावधान करना पड़ता था।

## आबू (१८८३ ई०)

**आबू की चढ़ाई का प्रबन्ध**- पाली पहुँचकर मुंशी हरनामदास ओवरसियर को आबू तार दिया गया कि स्वामीजी बीमार होकर आबू आ रहे हैं और जोधपुर के बँगले में ठहरेंगे। उन्होंने आबू रोड पर पालकी का प्रबन्ध कर दिया। पाली में स्वामीजी दो दिन ठहरे और जो दशा थी वह बनी रही। पाली से जेठमल स्वामीजी के लिए दवाई लेने अजमेर चले गए। वहाँ उन्होंने सब सभासदों को स्वामीजी की दशा से परिचित किया तो सबकी यह सम्मति हुई कि वहाँ के पीरजी नामक प्रसिद्ध हकीम से औषधि लेनी चाहिए। पीरजी ने सब हाल सुनकर कहा था कि स्वामीजी को संखिया दिया गया है। अत: उसकी औषधि लेकर जेठमल मारवाड़ जंक्शन पर, जिसे साधारणतया लोग खारची स्टेशन कहते हैं, आ गए। उधर पाली से रेल में सवार होकर स्वामीजी भी खराची पहुँच गए और जेठमल उनसे मिल गए। यद्यपि डॉक्टर सूरजमल को आबूरोड तक स्वामीजी के साथ जाने की आज्ञा थी परन्तु स्वामीजी ने उन्हें पाली से ही वापस लौटा दिया क्योंकि वे जानते थे कि उनकी स्त्री पीड़ित है, अत: अपने स्वाभाविक दयाभाव से उन्होंने डॉक्टर को अधिक कष्ट देना न चाहा।

**विपन्न दशा**- पीरजी की दवा से प्यास और हिचकी में कुछ शान्ति रही। खारची तक स्वामीजी पत्रादि पर अपने हस्ताक्षर करते रहे, यद्यपि हस्ताक्षर करने में उनका हाथ काँपता था। खारची पर जब गाड़ी पहुँची तो स्वामीजी ने गाड़ी से स्वयं उतरने का उद्योग किया परन्तु मुख पर धूप पड़ने से मूर्छा आ गई। तब लोगों ने हाथों में लेकर उन्हें उतारा और स्टेशन के बरामदे में पलङ्ग पर लिटा दिया। खारची से रामानन्द ब्रह्मचारी को ६ रु० देकर विदा कर दिया गया और उससे कह दिया कि अब

तू हमारे पास पढ़ने के योग्य नहीं रहा। जेठमल खारची से अजमेर चले गए और स्वामीजी आबूरोड के लिए रेल पर सवार हो गए। जिला अलीगढ़ के ठाकुर भूपालसिंह स्वामीजी के अनन्य भक्त थे। वे मसूदा और शाहपुरा होते हुए खारची पर ही स्वामीजी से आ मिले थे और वहीं से उनके साथ हो लिए थे। २१ अक्टूबर, १८८३ ई० को प्रातःकाल के पाँच बजे स्वामीजी आबूरोड पर पहुँचे। वहाँ मुंशी हरनामदास ने उनके लिए पालकी का प्रबन्ध कर रखा था। वहाँ उन्हें पालकी में लिटा दिया गया जिससे आबू पर्वत की चढ़ाई आरम्भ हुई। मार्ग में कोई दो मील चलकर कहारों ने पालकी को सड़क के किनारे रख दिया और स्वयं विश्राम करने लगे।

**डॉक्टर लछमनदास का मिलना**– आबू से डॉक्टर लछमनदास, जो मीरा जिला शाहपुरा पञ्जाब के रहने वाले थे, अजमेर जा रहे थे। वे आबू पर नियत थे। उनकी बदली अजमेर को हो गई थी, वे घोड़ी पर सवार थे। जब वे स्वामीजी की पालकी के पास पहुँचे तो उन्होंने देखा कि उसमें एक भगवा वस्त्रधारी संन्यासी लेटा हुआ है। उन्हें उसका परिचय पाने की जिज्ञासा हुई। उन्होंने पूछा तो उन्हें बताया गया कि ये प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी दयानन्द हैं और भयङ्कर रोगग्रस्त होने के कारण आबू जा रहे हैं। उस समय स्वामीजी को हिचकियाँ लग रही थीं और वे संज्ञारहित अवस्था में थे। इसी अवस्था में उनका दस्त निकल जाता था।

**मुझे किसी ने अमृत दिया है**– डॉक्टर लछमनदास ने अपने पास से एमोनिया की शीशी निकालकर उसमें से थोड़ा सा एमोनिया पानी में घोलकर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में तीन बार स्वामीजी को दिया। उससे स्वामीजी ने आँखे खोल दीं और कहा मुझे किसी ने अमृत दिया है जिससे मेरी अचेतनता भी दूर हो गई और मेरी जिह्वा भी खुल गई है। तब स्वामीजी के एक साथी ने उनसे कहा कि ये एक पंजाबी डॉक्टर हैं जो आपकी इस अवस्था को देखकर रुदन कर रहे हैं। इन्होंने ही श्वेत रङ्ग की कोई औषधि पानी में मिलाकर तीन बार आपको पिलाई है जिससे आपको कुछ आराम मालूम देता है। स्वामीजी ने प्रेमभरी दृष्टि से डॉक्टर लछमनदास की ओर निहारा, परन्तु वे फिर अचेत हो गए।

**आबू पहुँच गए**– डॉक्टर लछमनदास ने उसी समय निश्चय कर लिया कि उनकी नौकरी रहे या जाए, वे स्वामीजी के साथ आबू जाकर उनकी सेवा और चिकित्सा करेंगे। रात्रि के ८ बजे वे स्वामीजी के साथ आबू पर जोधपुर राज्य के बँगले पर पहुँचे, जिसे सर प्रतापसिंह ने पहले से ही स्वामीजी के लिए सुसज्जित करा दिया था। दो-तीन सेवक भी वहाँ स्वामीजी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

**डॉक्टर लछमनदास का प्रेम और परिश्रम**– डॉक्टर लछमनदास ने स्वामीजी को आराम से पलङ्ग पर लिटा दिया और उसी समय डॉक्टर गुरुचरणदास से, जो अस्पताल के इन्चार्ज थे, अस्पताल की चाबियाँ लेकर किसी अनुभूत औषधि की २४ मात्राएँ बनाकर लाए और रात्रि में तीन-तीन घण्टे पीछे एक-एक मात्रा स्वामीजी को दी। आबू पहुँचने से पहले स्वामीजी को दिन-रात में ४०० दस्त आए थे, ऐसा डॉक्टर लछमनदास ने देवेन्द्रबाबू को अपने पत्र में लिखा था। परन्तु हमें यह ठीक प्रतीत नहीं होता। जोधपुर में पहले-पहले दस्तों की संख्या ३०-४० से अधिक न थी। सम्भव है जोधपुर से आबू पहुँचते-पहुँचते उस संख्या में कुछ वृद्धि हो गई हो। डॉक्टर लछमनदास का यह अनुमानमात्र है और दूसरों से सुना हुआ है। जिसने उनसे ऐसा कहा होगा उसने भी दस्तों को गिना थोड़े ही होगा, अनुमान ही कर लिया होगा। रोगी से सम्वेदना रखने वाले मित्र रोगी की दशा बताने में अत्युक्ति भी कर ही दिया करते हैं।

**दशा सुधरने लगी**– रात्रि में केवल तीन ही दस्त हुए। प्रातःकाल डॉक्टर ने दूध में अरारोट पकाकर दो-दो घण्टे के अन्तर से स्वामीजी को दिया। १० बजे स्वामीजी भी सचेत हो गए और उनकी हिचकियाँ भी बन्द हो गईं। उस दिन सारे दिन में एक और रात्रि में एक केवल दो दस्त हुए। दूसरे दिन अर्थात् २३ अक्टूबर, १८८३ ई० को दिन भर में दस बारह बार करके दो सेर दूध का अरारोट स्वामीजी को पिला दिया गया। रात्रि में उन्हें पाँच घण्टे निद्रा भी आई। तीसरे दिन २४ घण्टे में केवल

एक ही दस्त हुआ और उन्हें तीन सेर दूध का अरारोट पिला दिया गया। उस दिन स्वामीजी को पीड़ा न हुई। इन तीन दिनों में १८-२० तार प्रतिदिन स्वामीजी का स्वास्थ्य पूछने के लिए आए जिनका उत्तर भी डॉक्टर लछमनदास को ही देना पड़ा और अँग्रेजी की चिट्ठियों का उत्तर भी वही लिखते थे क्योंकि स्वामीजी के पास उनके अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति अँग्रेजी जानने वाला न था। चौथे दिन डॉक्टर लछमनदास आबू के प्रधान मेडिकल आफिसर के पास इस विचार से गए ताकि उनसे एक-दो मास का बिना वेतन का अवकाश लेकर स्वामीजी की चिकित्सा निश्चिन्त होकर कर सकें। डॉक्टर स्पेन्सर ने उन्हें देखकर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया और कहा हमने तुम्हें अजमेर जाने की आज्ञा दी थी, तुम वहाँ क्यों नहीं गये? वहाँ के सिविल सर्जन के दो तार आ चुके हैं कि तुम चार दिन से बेपता हो। हमने समझा था कि या तो तुम किसी खड्ड में गिर गए या तुम्हें सिंह आदि कोई हिसंक पशु खा गया! इस पर डॉक्टर लछमनदास ने सब वृत्तान्त उनसे कहा और अपनी छुट्टी की याचना की तथा कहा कि स्वामीजी हमारे धार्मिक और जातीय नेता हैं, उनकी सेवा करना हमारा परम कर्त्तव्य है।

**डॉक्टर लछमनदास को छुट्टी न मिली**- बहुत कुछ अनुनय-विनय करने पर भी उसका हृदय न पसीजा और उसने छुट्टी देनी स्वीकार न की और यह कहा कि हम और डॉक्टर गुरुचरण स्वामीजी की चिकित्सा भली प्रकार कर लेंगे।

**स्वामीजी ने त्यागपत्र फाड़ डाला**- डॉक्टर लछमनदास ने जोधपुर के बँगले पर आकर अपना त्यागपत्र लिखकर एक भृत्य को डॉक्टर स्पेंसर के पास पहुँचाने के लिए दिया, परन्तु स्वामीजी ने उसे देख लिया और स्वयं अपने हाथ से उसे फाड़ डाला। क्या ठिकाना है स्वामीजी के परहित चिन्तन का! मृत्यु के मुख में पड़े हुए भी जबकि डॉक्टर लछमनदास के रहने से मृत्यु का कवल होने से बचने की कुछ आशा थी उन्हें यह सहन नहीं हुआ कि उनके कारण डॉक्टर को कुछ क्षति पहुँचे।

**त्यागपत्र दिया पर अस्वीकार**- अगले दिन २५ अक्टूबर, १८८३ ई० को डॉक्टर ने दूसरा त्यागपत्र लिखकर डॉक्टर स्पेंसर को दिया, परन्तु उसने उसे अस्वीकार कर दिया। उस दिन कर्नल सर प्रतापसिंह भी आबू पहुँच गए थे। उनके द्वारा डॉक्टर स्पेंसर ने स्वामीजी को कहला भेजा कि आप डॉक्टर लछमनदास को अजमेर जाने दें हम स्वयं आपकी चिकित्सा करेंगे। इस पर स्वामीजी ने तथा अन्य लोगों ने भी डॉक्टर लछमनदास को समझाया और उन्हें अजमेर जाने पर बाध्य किया। डॉक्टर साहब अगले दो-तीन दिनों की चिकित्सा के लिए औषधि लिख गए।

डॉक्टर लछमनदास ने विदा होते समय स्वामीजी से प्रार्थना की कि यदि फिर आपको कुछ पीड़ा हो तो आप अजमेर चले आवें और मुझे पण्डित भागमल साहब जज के बँगले से बुलवा लेवें। इतना कहकर वे विदा हुए। विदा होते समय उनके तथा स्वामीजी के नेत्र अश्रुपूर्ण थे।

कर्नल सर प्रतापसिंह ने स्वामीजी से बहुत पूछा कि यदि अलीमरदानखाँ ने आपको विष दिया हो तो आप कह दें, हम उस पर अभियोग चलावें। परन्तु स्वामीजी ने कोई उत्तर न दिया।

**रोग का पुन: आक्रमण**- उनके चले जाने के बाद डॉ० स्पेंसर की चिकित्सा आरम्भ हुई परन्तु वह आरम्भ से ही प्रतिकूल पड़ी और दस्त फिर आने लगे। २४ घण्टे में ७, ८ दस्त आ गए। तब लोगों ने स्वामीजी से अजमेर चलने की प्रार्थना की परन्तु वे राजी न हुए। जब बहुत कुछ कहा गया तो उन्होंने कहा कि २० दिन के पश्चात् चलेंगे। विशेष आग्रह करने पर स्वामीजी ने कहा हमारी इच्छा तो अजमेर जाने की है नहीं, परन्तु आप लोगों का आग्रह है तो हम अजमेर चले जाएँगे।

**भक्तों का समूह**- मेरठ से मुंशी लक्ष्मणस्वरूप, फर्रुखाबाद से पं० लक्ष्मीदत्त, बाबू शिवदयालसिंह तथा मुम्बई से सेवकलाल कर्सनदास २३ अक्टूबर, १८८३ ई० को ही आबू पहुँच गए थे। ठाकुर भूपालसिंह तो मार्ग से ही स्वामीजी के साथ आबू आए थे।

**भक्त भूपालसिंह की सेवा**- जिस सहृदयता से ठाकुर भूपालसिंह ने स्वामीजी की सेवा की उस सहृदयता से तो कोई पुत्र भी अपने पिता की नहीं करेगा। वे ही स्वामीजी का मल-मूत्र उठाते थे और मल से सने हुए वस्त्र धोते थे, परन्तु तनिक

भी घृणा वा ग्लानि नहीं करते थे। इस सेवा के लिए आर्यसमाज उनका सदा आभारी रहेगा। उस समय स्वामीजी की यह दशा थी कि निर्बलता सीमा को पहुँच गई थी, बोला बहुत कम जाता था, मुख, जिह्वा, कण्ठ, सिर पर आँवले पड़े पड़े हुए थे। बिना दूसरों की सहायता के न उठ-बैठ सकते थे और न करवट ही ले सकते थे, हाथ-पाँव बहुत ठण्डे थे, पानी तक कण्ठ से नीचे कठिनता से उतरता था, अन्तर्दाह भी अधिक था, परन्तु होश-हवास ठीक थे।

## अजमेर (१८८३ ई०)

**रात्रि में दही खाया**- अन्त को २६ अक्टूबर, १८८३ ई० को स्वामीजी आबू से अजमेर के लिए रवाना हो गए। अन्तर्दाह के उपशमनार्थ वे दही खाना चाहते थे, परन्तु मार्ग में किसी स्टेशन पर दही न मिला, आबूरोड पर भी न मिला, यद्यपि एक सेर का १ रुपया भी देना चाहा। आबूरोड से मन्त्री आर्यसमाज नानान को तार दिया कि स्वामीजी अजमेर जा रहे हैं, तुम स्टेशन पर दही लेकर उपस्थित रहो। जब गाड़ी नानान पहुँची तो मन्त्री दही लेकर उपस्थित थे। स्वामीजी ने २, ३ अञ्जलि भरकर दही खाया। रात्रि के ९ बजे के समय दही का खाना विष होकर लगा। गाड़ी ४ बजे रात्रि में अजमेर पहुँची। कितने ही प्रेमी जन स्टेशन पर स्वामीजी के दर्शनों के लिए आए हुए थे। उन्होंने देखा कि स्वामीजी फर्स्ट क्लास के दर्जे में लेटे हुए हैं और दो-तीन आर्यपुरुष उनके पास बैठे हैं।

**सब लोग घबरा गए**- स्वामीजी की दशा देखते ही सब लोग घबरा गए। चार मनुष्यों ने स्वामीजी को गाड़ी से उतारा, परन्तु उतरते ही वे मूर्छित हो गए। फिर उन्हें पालकी में अत्यन्त सावधानी से लिटाकर बहुत धीरे-धीरे मसूदे के ठाकुर साहब के बँगले पर ले गए और उन्हें एक कमरे में पलङ्ग पर लिटा दिया। उस समय भी स्वामीजी गर्मी-गर्मी चिल्ला रहे थे यद्यपि यह समय सर्दी का था और अन्य लोगों को सर्दी मालूम भी हो रही थी। इस पर कमरे के सब द्वार खोल दिए गए, परन्तु फिर भी स्वामीजी गर्मी-गर्मी ही कहते रहे। स्टेशन से ही एक मनुष्य को डॉक्टर लछमनदास को बुलाने के लिए पण्डित भागमल की कोठी पर भेज दिया गया था। उसने जाकर डॉक्टर लछमनदास को जगाया और वे उठकर तुरन्त ही मसूदा की कोठी पर पहुँच गए। उन्होंने जाकर स्वामीजी को देखा तो उन्हें निमोनिया के पञ्जे में पाया। उन्होंने झल्लाकर कहा कि स्वामीजी ने कोई अपथ्य किया है। इस समय उन्हें यह ज्ञात न हुआ कि उन्होंने क्या अपथ्य किया है, फिर उन्होंने नियमपूर्वक निमोनिया की चिकित्सा आरम्भ कर दी। ९ बजे उन्हें ज्ञात हुआ कि मार्ग में आते हुए रात्रि में स्वामीजी ने दही खाया था। वह राय भागमल की कोठी से मसूदा की कोठी पर चले आए ताकि हर समय स्वामीजी के पास रहकर उनकी चिकित्सा कर सकें।

**दशा कुछ सुधरी**- उन्होंने देवेन्द्रबाबू को लिखा था कि दिन-रात परिश्रम करने से स्वामीजी की दशा कुछ सुधरी। उन्होंने स्वामीजी के कमरे में अग्नि सुलगवाकर उसे गर्म कर रक्खा था। उन्हें थोड़ी देर के लिए कहीं जाना पड़ा।

**स्वामीजी का अपथ्य**- उनके पीछे स्वामीजी ने आग्रह करके अपना पलङ्ग दरवाजे के पास डलवा लिया जहाँ शीतल वायु आ रही थी। जब डॉक्टर साहब वापस आए तो उन्होंने स्वामीजी का पलङ्ग दरवाजे के पास पड़ा देखा। इस पर वे सेवा करने वालों पर बहुत बिगड़े तो उन्होंने कहा कि कि हम क्या करें, स्वामीजी ने ही हमें ऐसा करने पर बाध्य कर दिया था। इस कुपथ्य से रोग का पुन: आक्रमण हो गया।

**डॉ० लछमनदास ने पुरस्कार न लिया**- रोग का पुन: आक्रमण होने पर स्वामीजी ने अपने स्वीकारपत्र की प्रतियाँ सब लोगों में बँटवाईं और कई शाल जिनका मूल्य १,००० या १,२०० रुपए होगा, डॉ० लछमनदास के सामने रखवाए और उन्हें देने चाहे। डॉक्टर साहब ने कहा कि स्वामीजी यदि मेरे पास धन होता तो मैं इतना धन आपके एक-एक रोम पर निछावर कर देता। इस पर स्वामीजी ने कहा कि सच्चे आर्य और आर्यावर्त्त के सपूत ऐसे ही होते हैं। यह कहते हुए स्वामीजी के नेत्रों में आँसू डबडबा आए तथा डॉक्टर साहब के नेत्रों से भी अश्रुधारा बह निकली।

**डॉक्टर लछमनदास के प्रति कृतज्ञता**– अजमेर पहुँचने के दूसरे दिन राय भगतराम जज और सरदार भगतसिंह एक्जी–क्यूटिव इञ्जीनियर स्वामीजी को देखने आए तो उन्होंने डॉक्टर लछमनदास की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि इन्होंने मेरी सेवा बड़े प्रेम से की है और जो भी औषधि मुझे इन्होंने दी उसका तात्कालिक फल हुआ है। यदि मैं इनके साथ ही अजमेर चला आता तो बहुत अच्छा होता। दोनों महानुभावों ने स्वामीजी को सान्त्वना दी कि अब भी परमेश्वर आपको शीघ्र निरोग कर देंगे।

**औषधि में विष**– स्वामीजी ने उनसे यवनों के छल का वर्णन किया। इससे प्रतीत होता है कि उन्हें सन्देह था कि अलीमरदानखाँ ने उन्हें औषधि में विष दिया है। दोनों महानुभाव थोड़ी देर बैठकर कचहरी चले गए। तब स्वामीजी ने कहा कि हमें मसूदा ले चलो। परिचर्या करने वालों ने कहा कि ऐसी दशा में कैसे ले चलें, जब आपको आराम हो जाएगा तब ले चलेंगे तो स्वामीजी ने कहा कि दो दिन में हमें आराम हो जाएगा।

**पण्डित गुरुदत्त का अजमेर में आगमन**– २९ अक्टूबर, १८८३ ई० को लाहौर से पण्डित गुरुदत्त और लाला जीवनदास आ गए और उदयपुर से पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या भी आ पहुँचे जिन्हें महाराणा सज्जनसिंह ने स्वामीजी के स्वास्थ्य का समाचार लाने और चिकित्सा में सहायता करने के लिए भेजा था।

**महाराणा की चिन्ता**– महाराणा ने उनसे यह भी कह दिया था कि यदि स्वामीजी का देहपात हो जाए तो हमें सूचित करना और हमारे अजमेर पहुँचने तक शव का दाह न होने देना ताकि हम भी श्री स्वामीजी के अन्तिम दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें।

**एक और किंवदन्ती**– डॉक्टर लछमनदास कहते हैं कि स्वामीजी ने अलीमरदानखाँ से कहा था कि हमें कोष्ठबद्धता है, आप हमें जुलाब दे दीजिए और उससे अँग्रेजी रेचक औषधियों के नाम और गुण भी पूछे थे। अलीमरदानखाँ ने और रेचकों के साथ क्रोटन ऑइल (Croton oil) का भी उल्लेख किया था और उसका यह गुण बताया था कि जिह्वा पर उसकी एक बूँद रखते ही दस्त आने लगते हैं। साथ ही उसने उसके दोष भी बता दिए थे, परन्तु स्वामीजी ने उसे ही खाना पसन्द किया। प्रथम उन्होंने उसकी दो बूँदें ही खाईं जिससे दस्त नहीं आए। फिर दो बूँदें और खाईं परन्तु फिर भी कोई दस्त न हुआ, तब दो बूँदें और खाईं जिनके खाते ही दस्त जारी हो गए और उनकी संख्या ६०० तक पहुँच गई।

हमें यह बात अलीक प्रतीत होती है। डॉक्टर लछमनदास ने तो यह बात किसी से सुनी ही होगी, वे स्वयं तो जोधपुर में थे ही नहीं। डॉक्टर सूरजमल जो रोग के आरम्भ से स्वामीजी को देखते रहे और जोधपुर से पाली तक उनके साथ रहे क्रोटन ऑइल (Croton oil) का जिक्र तक नहीं करते और न दस्तों की संख्या छः सौ बताते हैं। अतः डॉक्टर सूरजमल का ही कथन अधिक विश्वसनीय है।

**रोग फिर कम हुआ**– डॉक्टर लछमनदास ने फिर परिश्रम किया और निरन्तर प्रयत्न करने से वे फिर स्वामीजी को निरोगता की ओर ले आए। जब उन्होंने स्वामीजी के शरीर की अवस्था कुछ सँभली हुई देखी तो वे राय भागमल के यहाँ भोजन करने चले गए और स्वामीजी के सेवकों से कह गए कि अब ऐसा न होने पाए कि स्वामीजी फिर शीतल वायु लगा बैठें।

**पुनः कुपथ्य**– परन्तु शोक है कि उनके चले जाने के बाद स्वामीजी ने फिर अपना पलङ्ग बाहर बरामदे में निकालवाने का आग्रह किया और उसे बाहर निकलवाकर ही छोड़ा। दो तीन घण्टे के पश्चात् जब डॉक्टर साहब वापस आए तो क्या देखते हैं कि स्वामीजी का पलङ्ग बरामदे में पड़ा हुआ है और उनके पास पण्ड्या मोहनलाल और एक–दो पुरुष और बैठे हुए हैं और स्वामीजी उनसे शुद्ध वायु की प्रशंसा कर रहे हैं। जब ये लोग चले गये तो डॉक्टर साहब ने स्वामीजी का पलङ्ग पुनः कमरे के भीतर डलवाया और पण्डित गुरुदत्त से कहा कि स्वामीजी को आज फिर रोग का आक्रमण होगा और तीव्र

आक्रमण होगा।

**मुमूर्षु दशा**– रात्रि में डॉक्टर लछमनदास और पण्डित गुरुदत्त बारी–बारी से जागते रहे। ११ बजे के समीप डॉक्टर साहब सो गए और पण्डित गुरुदत्त जागते रहे। अभी बारह भी बजने नहीं पाए थे कि पण्डित गुरुदत्त ने डॉक्टर साहब को जगाकर कहा कि स्वामीजी का श्वास चलता हुआ प्रतीत नहीं होता और नाड़ी भी नहीं मिलती। डॉक्टर साहब तुरन्त ही उठे और उन्होंने ग्लास लगाकर कुछ रुधिर फेफड़ों में से निकाला जिससे श्वास की गति भी ठीक हो गई और नाड़ी भी धीमी–धीमी और बारीक चलने लगी। इससे थोड़ी देर में ही दशा पुनः सँभल गई।

**भ्रान्त सम्मति**– पं० लेखरामकृत उर्दू दयानन्द–चरित में जो चिकित्सा डॉक्टर लछमनदास ने की उसके विषय में केवल इतना ही लिखा है कि डॉक्टर साहब ने बहुत प्रयत्न किया और अनेक दवाएँ दीं परन्तु उनसे लेशमात्र भी लाभ न हुआ। हम डॉक्टर लछमनदास के कथन को ही सत्य मानते हैं। उक्त दयानन्द–चरित्र में २९ अक्टूबर, १८८३ ई० की दशा का जो वर्णन है उससे भी डॉक्टर लछमनदास के कथन का समर्थन होता है। उसमें लिखा है कि स्वामीजी का चित्त घबराने लगा, उन्होंने कहा कि हमें बिठा दो। जब बिठा दिया तो कहा कि छोड़ दो हम बैठे रहेंगे।

**रात्रि को घबराहट**– सो स्वामीजी बिना सहारे अच्छे प्रकार बैठे रहे। -----परन्तु श्वास शीघ्र–शीघ्र चलता था जिसे स्वामीजी रोक–रोक कर फिर शीघ्र ही बलपूर्वक बाहर निकाल देते थे और कुछ ईश्वर का ध्यान भी करते थे। इतने में सन्ध्या हो गई। -----जब अर्द्धरात्रि का समय आया तब स्वामीजी को बहुत घबराहट होने लगी।

**डॉक्टर लछमनदास का वर्णन सत्य है**– स्वामीजी के पलङ्ग का बाहर बरामदे में डालने का ऊपर के वर्णन में उल्लेख नहीं है परन्तु उनका पलङ्ग पर बिना सहारे बैठे रहना वास्तव में उसी कुपथ्य को प्रकट करता है जिसका उल्लेख डॉक्टर लछमनदास करते हैं और उर्दू दयानन्द–चरित का यह लेख कि अर्द्धरात्रि को स्वामीजी को बहुत घबराहट हुई, डॉक्टर लछमनदास के उस कथन की पुष्टि करता है कि उन्होंने पण्डित गुरुदत्त से कह दिया था कि आज रात्रि में रोग का तीव्र आक्रमण होगा।

**अब चिकित्सा न करूँगा**– ३० अक्टूबर, १८८३ ई० को दीपमालिका का त्यौहार था। उस दिन डॉ० लछमनदास ने प्रातःकाल होते ही लोगों से कहा कि अब जब तक कोई दूसरा डॉक्टर चिकित्सा में योग न देगा तब तक मैं चिकित्सा नहीं करूँगा। लोगों ने उत्तर दिया कि स्वामीजी की सेवा आपके सिवाय न कोई डॉक्टर ही कर सकता है और न कोई अन्य मनुष्य ही। डॉक्टर साहब ने कहा कि अब स्वामीजी का अन्त समय मालूम होता है क्योंकि जब ही स्वामीजी के आराम होने की सूरत होती है तब ही वे कोई न कोई कुपथ्य कर बैठते हैं। यदि स्वामीजी का देहपात हो गया तो लोग मुझे मूर्ख बताएँगे। जब डॉक्टर साहब ने बहुत आग्रह किया तो लोगों ने कहा कि यदि आपकी यही सम्मति है तो आप जिस डॉक्टर की सम्मति अपनी सम्मति से मिलानी चाहें उसे ले आवें।

**अँग्रेज सिविल सर्जन का परामर्श**– इस पर डॉक्टर साहब अजमेर के सिविल सर्जन डॉक्टर न्यूमैन को लिवा लाए। डॉक्टर न्यूमैन ने जब स्वामीजी को आकर देखा तो आश्चर्य से कहने लगे कि रोगी अत्यन्त विशालकाय, सुदृढ़, वीर और रोग को सहने वाला है। इसकी आकृति से ही ज्ञात होता है कि इसका रोग असह्य है, परन्तु यह अपने को दुखी नहीं मानता। यही है जो ऐसे उग्र रोग में भी अपने को सँभाल रहा है और अभी तक जीवित है।

**डॉक्टर न्यूमैन का आश्चर्य**– इस पर डॉक्टर लछमनदास ने उनसे कहा कि ये स्वामी दयानन्द सरस्वती हैं जिनका नाम आपने सम्भवतः सुना होगा। डॉक्टर न्यूमैन ने यह बात सुनकर शोक प्रकट किया और स्वामीजी के धैर्य की प्रशंसा की। उस समय स्वामीजी के कण्ठ में कफ की बड़ी प्रबलता थी जिसके कारण वे बोल नहीं सकते थे और डॉक्टर न्यूमैन के प्रश्नों का उत्तर सङ्केतमात्र से देते थे, परन्तु सुनने और समझने की शक्ति अक्षुण्ण थी। पहले तो डॉ० न्यूमैन ने स्वामीजी के

ब्रह्मचर्य-रक्षित शरीर को देखकर कहा कि इन्हें निमोनिया नहीं है, परन्तु जब डॉक्टर लछमनदास के कहने पर स्टैथस्कोप यन्त्र लगाकर देखा तो डॉक्टर लछमनदास की सम्मति का कि स्वामीजी को एक्यूट डबल निमोनिया है समर्थन किया। जब डॉक्टर न्यूमैन ने देखा कि स्वामीजी को कफ बहुत सता रहा है तो उनके मुख में थोड़ा-सा गौ का दुग्ध डाला, परन्तु उससे कोई लाभ न हुआ। डॉक्टर लछमनदास ने अपने सब नुस्खे जो वे स्वामीजी को देते रहे थे डॉक्टर न्यूमैन को दिखाए। इन्हें देखकर डॉक्टर साहब ने कहा कि निमोनिया के लिए ये बहुत अच्छे हैं, यदि चाहो तो इन औषधियों में डिकाक्शन ऑफ सेनेगा और बढ़ा दो, नहीं तो उसकी कुछ अधिक आवश्यकता नहीं है। बाह्य उपचार के विषय में डॉक्टर लछमनदास ने कहा कि टिरपन तेल मलकर रुई बाँधी जाती है।

**डॉक्टरों में मतभेद**- डॉक्टर न्यूमैन ने कहा, मैं ऐसे रोगी के राई को पुलटिस बँधवाता हूँ। इस पर डॉ० लछमनदास ने कहा कि मैंने यूरोपियन लोगों की चिकित्सा में राई की पुलटिस को लाभकारक पाया है परन्तु भारतीय लोगों की चिकित्सा में नहीं। यह कहकर डॉक्टर न्यूमैन चले गए। उक्त उर्दू दयानन्द-चरित में लिखा है कि डॉक्टर न्यूमैन ने ३, ४ सेर अलसी को दूध में पकाकर उसकी पुल्टिस बाँधने को कहा था। डॉक्टर लछमनदास कहते हैं कि राई की पुल्टिस बताई थी।

**डॉक्टर न्यूमैन से परामर्श**- दस बजे ३, ४ आर्य पुरुष डॉक्टर न्यूमैन के बँगले पर गए और उनसे कहा कि जब आरम्भ में आपने कहा था कि स्वामीजी को निमोनिया नहीं है तो हम लोग बहुत प्रसन्न हुए थे। इस पर डॉक्टर न्यूमैन ने कहा कि स्टैथस्कोप लगाने पर ज्ञात हुआ कि डॉक्टर लछमनदास का निदान ठीक है। स्वामीजी को एक्यूट डबल निमोनिया है। फिर आर्य पुरुषों ने पूछा कि डॉक्टर लछमनदास की चिकित्सा कैसी है तो उन्होंने कहा कि यदि दस अँग्रेज डॉक्टर भी मिलकर चिकित्सा करते तो वे इससे बढ़कर न कर सकते थे। मेरा उनसे मतभेद केवल बाह्य उपचार के विषय में है सो यह अपने-अपने अनुभव की बात है।

**मरना-जीना दोनों सम्भव हैं**- डॉक्टर लछमनदास बहुत अनुभवी चिकित्सक हैं। फिर आर्य पुरुषों ने पूछा कि अन्तिम परिणाम क्या होगा तो डॉक्टर न्यूमैन ने कहा कि सम्भव है कि ऐसे रोगी का थोड़े घण्टों में ही प्राणान्त हो जाए और यह भी सम्भव है कि बच जाए। इस पर आर्य्य पुरुषों ने पूछा कि अब क्या चिकित्सा होनी चाहिए? तो डॉक्टर न्यूमैन ने कहा कि वही जो डॉक्टर लछमनदास कर रहे हैं। आर्य पुरुषों का अन्तिम प्रश्न यह था कि पुल्टिस लगाई जाए या नहीं। इसका उत्तर डॉक्टर न्यूमैन ने यह दिया कि मेरे अनुभव में पुल्टिस लाभदायक सिद्ध हुई है। इसके पश्चात् आर्य पुरुष वापस लौट आए

**राई की खूब गर्म पुल्टिस**- वापस आकर उन्होंने राई की खूब गर्म-गर्म पुल्टिस पीठ पर लगानी आरम्भ कर दी। इस पर डॉक्टर लछमनदास ने पण्डित गुरुदत्त से कहा कि वैसे तो स्वामीजी दो-चार दिन और जीवित रह जाते परन्तु अब शीघ्र ही उनका शरीरपात हो जाएगा। सम्भव है कि आज सन्ध्या तक ही उनका शरीर न रहे। परन्तु लोग ५, ६ घण्टे तक पुल्टिस लगाते ही रहे। परिणाम यह हुआ कि स्वामीजी की पीठ पर छाले पड़ गए। उक्त उर्दू दयानन्द चरित में लिखा है कि पुल्टिस केवल आधी घड़ी तक ही लगाई गई थी और फिर स्वयं स्वामीजी ने ही यह कह कर कि इससे क्या होता है, उसका लगाना बन्द करा दिया था और कहा कि अब हमारा अन्त समय है, सब उपचार छोड़ दो। अतः दवा आदि देना बन्द कर दिया गया था। ११ बजे स्वामीजी की श्वास की गति बढ़ने लगी और कुछ कुछ बोलने भी लगे। उन्होंने कहा कि हम शौच जाएँगे। अतः लोगों ने उन्हें शौच की चौकी पर बिठाया। शौच के पश्चात् स्वामीजी ने स्वयं पानी लिया, हाथ धोए और दातून भी की, फिर उन्होंने कहा कि हमें पलङ्ग पर ले चलो। पलङ्ग पर वे कुछ देर बैठकर लेट गए। इस समय श्वास बड़े वेग से चल रहा था और ऐसा प्रतीत होता था कि स्वामीजी श्वास रोककर ईश्वर का ध्यान करते हैं।

**आज आराम का दिवस है**- किसी ने उस समय उनसे पूछा कि आपका चित्त कैसा है तो कहा कि अच्छा है, एक मास

के पश्चात् आज आराम का दिवस है! लाला जीवनदास ने उनसे पूछा, आप कहाँ है तो कहा कि ईश्वरेच्छा में।

**शिष्य से प्रश्न, शिष्य का उत्तर**– चार बजे स्वामीजी ने आत्मानन्द को बुलाया। वे आकर सम्मुख खड़े हो गए। स्वामीजी ने उनसे कहा कि या तो पीछे खड़े हो जाओ या सिरहाने बैठ जाओ। तब स्वामीजी ने उनसे पूछा कि आत्मानन्द क्या चाहते हो? उन्होंने कहा कि हम ईश्वर से यही चाहते हैं कि आप अच्छे हो जाएँ। इस पर कुछ देर ठहरकर स्वामीजी बोले कि यह देह है इसका अच्छा क्या होगा? फिर आत्मानन्द के शिर पर हाथ रखकर बोले कि आनन्द से रहना।

**संन्यासी से भी वही प्रश्न**– एक संन्यासी गोपालगिरि काशी से स्वामीजी को देखने आए थे उनसे भी स्वामीजी ने वही प्रश्न किया जो आत्मानन्द से किया था और उन्होंने भी वही उत्तर दिया जो आत्मानन्द ने दिया था। तब उनसे भी स्वामीजी ने यही कहा कि गोपालगिरि अच्छे प्रकार से रहना। स्वामीजी ने दो दुशाले और २०० रुपए मँगवाए और कहा कि आधे-आधे आत्मानन्द और पण्डित भीमसेन को दे दो, परन्तु उन्होंने न लिए।

चार बजे के समय बाहर से आए हुए आर्य पुरुष स्वामीजी के समीप गए और उनके सामने खड़े हो गए। स्वामीजी ने सबको ऐसी कृपादृष्टि से देखा कि उसका वर्णन नहीं हो सकता, मानो वे सबसे यही कह रहे थे कि उदास क्यों होते हो, सबको धैर्य धारण करना चाहिए।

**मृत्यु-सान्निध्य में अपूर्व सावधानी**– उस समय स्वामीजी के मुख पर किसी प्रकार के शोक व घबराहट के चिह्न: न थे। अपने घोरतम कष्ट को इस प्रकार सहन करते थे कि मुख से एक बार भी हाय या अन्य कष्टसूचक शब्द न निकलता था। स्वामीजी बड़ी सावधानी से रहे और बातचीत करते रहे। इतने में पाँच बज गए।

**तेज और अन्धकार का भाव है!**– स्वामीजी से किसी ने पूछा कि स्वामीजी आप श्रीमानों का चित्त कैसा है तो कहा कि अच्छा है, तेज और अन्धकार का भाव है! इस बात को लोग कुछ न समझे। जब साढ़े पाँच बजे तो स्वामीजी ने कहा कि जो लोग हमारे साथ हैं तथा दूरस्थ स्थानों से आए हैं उन्हें बुलाकर हमारे पीछे खड़ा कर दो, सामने कोई खड़ा न हो। जब सब लोग आ गए तो स्वामीजी ने कहा कि चारों ओर के द्वार खोल दो और छत के दो रोशनदान भी खुलवा दिए और पूछा कि कौन-सा पक्ष, क्या तिथि और क्या वार है? किसी ने उत्तर दिया कि कृष्ण पक्ष का अन्त और शुक्ल का आदि अमावस्या और मङ्गलवार [६४९] है।

**वेदपाठ और ईश्वर-स्तुति**– यह सुनकर छत और दीवारों की ओर दृष्टि की फिर कई वेदमन्त्र पढ़े। तत्पश्चात् संस्कृत में ईश्वरोपसना की और भाषा में ईश्वर का गुण-कीर्त्तन किया तथा फिर बड़ी प्रसन्नता और हर्षपूर्वक गायत्री मन्त्र का पाठ करने लगे और कुछ देर तक समाधिस्थ रहकर आँखें खोल दीं और यों कहने लगे कि–

**तेरी यही इच्छा है**– *'हे दयामय! हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर! तेरी यही इच्छा है, तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो, आहा!!! तैने अच्छी लीला की।'* स्वामीजी उस समय सीधे लेट रहे थे, ये शब्द कहकर उन्होंने स्वयं ही करवट ली और एक प्रकार से श्वास को रोककर एकदम बाहर निकाल दिया। स्वामीजी की मानवी लीला समाप्त हुई और उनका आत्मा नश्वर देह को छोड़कर जगत्-जननी की प्रेममयी गोद में जा विराजा। स्वामीजी के शरीर छूटने के समय छ: बजे थे।

**मृत्यु-दृश्य ने नास्तिक को आस्तिक बना दिया!**– स्वामीजी के मृत्यु-दृश्य को पण्डित गुरुदत्त चुपचाप खड़े हुए देख रहे थे। वे यद्यपि आर्यसमाज के सभासद् थे; परन्तु ईश्वर के अस्तित्व में उनको सन्देह था। उन्होंने देखा कि एक योगी और

---

६४९- मङ्गलवार (२० सितम्बर, १८२५ ई०, भाद्रपद शुक्ला ९ संवत् १८८१ गुजराती और १८८२ उत्तर भारतीय संवत्) को स्वामीजी का जन्म ब्राह्ममुहूर्त में ३-३० बजे हुआ था। काशी शस्त्रार्थ भी मङ्गलवार (१६ नवम्बर, १८६९ ई०) को ही हुआ था और इसी दिन का चयन स्वामीजी ने अपने परलोक गमन के लिए भी किया था जिस दिन कि ३० अक्टूबर, १८८३ ई०, आश्विन अमावस्या गुजराती संवत् १९३९ वा उत्तर भारतीय चैत्री संवत् १९४० वि ० की कार्तिक अमावस्या की तिथि तथा सायंकाल ६ बजे का समय था। – *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

ईश्वर का सच्चा विश्वासी मृत्यु पर कैसे विजय पा सकता है। इस दृश्य को देखकर उनके सारे सन्देह दूर हो गए जो उस समय तक उनके किसी युक्ति से भी दूर न हुए थे और वे सच्चे आस्तिक बन गए।

**हम शव को गाड़ेंगे**– उनके परलोक गमन का समाचार सुनकर दो संन्यासी आए और कहने लगे हम उनके शरीर को संन्यासियों की प्रचलित रीति के अनुसार गाड़ेंगे, जलाने नहीं देंगे। आर्य पुरुषों ने उन्हें समझा दिया कि श्रीस्वामीजी पहले से अपने शव की अन्त्येष्टि के विषय में सब कुछ लिख गए हैं, उसी के अनुसार कार्य होगा। इस पर वे यह कहते हुए चले गए कि यद्यपि स्वामीजी हमारे प्रतिपक्षी थे, परन्तु फिर भी थे तो हमारे ही। यदि हमारी मण्डली यहाँ होती तो हम शव को बलात् छीनकर ले जाते, परन्तु क्या करें हम केवल दो ही हैं।

**पण्डित सुन्दरलाल आ गए**– मरने से कुछ ही देर पहले स्वामीजी ने कहा था कि पण्डित सुन्दरलाल [६५०] को बुलाओ। इस पर लोगों ने कहा कि वे नहीं आए। तब स्वामीजी ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि नहीं वे आ गए हैं। लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही जब उन्होंने देखा कि स्वामीजी की मृत्यु के पश्चात् ही वे आ गए। अजमेर में प्रातःकाल स्वामीजी उठकर बैठ जाया करते थे और ईश्वरोपसना किया करते थे। ईश्वर तेरी यही इच्छा है, बहुधा वे यह वाक्य कहा करते थे और '*अग्ने नय सुपथा राये॰*' इत्यादि मन्त्र पढ़ा करते थे।

**नाई को ५ रुपए**– मरने से एक दो दिन पहले स्वामीजी ने एक नाई से क्षौर कराया तो उपस्थित पुरुषों से उन्होंने कहा कि इसे ५ रुपए दे दो। लोगों ने उसे १ रुपया ही दिया। तब वह स्वामीजी के पास गया और कहा कि मुझे १ रुपया ही मिला है। इस पर उन्होंने उसे ४ रुपए और दिलवाए।

**जो इच्छा हो वह भोजन बनाओ**– मृत्यु के दिन भी स्वामीजी ने क्षौर कराया था। उनकी इच्छा स्नान करने की थी परन्तु लोगों ने स्नान न करने दिया। तब उन्होंने भीगे कपड़े से सिर पोंछा। उस रोज स्वामीजी ने यह भी कहा था कि जो इच्छा हो वही भोजन बनाओ। जब भोजन बन गया तो उसे एक थाल में सजाकर स्वामीजी के सामने लाया गया। स्वामीजी ने उसे एक दृष्टि से देखकर कहा कि ले जाओ परन्तु लोगों ने आग्रह किया कि आप भी कुछ खाइये इस पर उन्होंने चनों के पानी की एक चमची ले ली।

**दो सुधारक एक ही समय में रुग्ण**– जिन दिनों स्वामीजी अजमेर में रोग–शय्या पर पड़े हुए थे, उन्हीं दिनों नवविधान ब्राह्मसमाज के प्रवर्त्तक बाबू केशवचन्द्र सेन भी रोग से पीड़ित थे। एक पत्र प्रेरक का २८/१०/१८८३ ई॰ का लिखा हुआ एक लेख '*स्टेट्समैन*' कलकत्ता के १/११/१८८३ ई॰ के अङ्क में प्रकाशित हुआ था जिसमें लिखा था कि 'यह भारत का दुर्भाग्य है कि उसके सबसे बड़े दो सुधारक केशवचन्द्र और दयानन्द एक ही समय में रोगाक्रान्त हैं।'

**महाराणा की अन्तिम दर्शन की कामना**– यह हम पहले ही कह चुके हैं कि महाराणा सज्जनसिंह की यह प्रबल इच्छा थी कि यदि स्वामीजी का देहान्त हो जाए तो उनकी अन्त्येष्टि क्रिया ४, ५ दिन तक न की जाए ताकि हम उनके अन्तिम दर्शन कर सकें। परन्तु लोगों ने ऐसा करना उचित न समझा और ३१ अक्टूबर, १८८३ ई॰ को ही उनकी अन्त्येष्टि क्रिया कर दी गई।

**शवदाह की तैयारी**– अर्थी तैयार की गई, उस पर चारों ओर केले के पत्ते और पुष्पादि लगाए गए। स्वामीजी के शव को स्नान कराकर चन्दननादि से चर्चित करके और नवीन वस्त्र पहनाकर उस पर रखा गया। तब सब लोग उसके चारों ओर खड़े हो गए और आधा घण्टे तक वेदमन्त्र पढ़ते रहे। तत्पश्चात् अर्थी उठाई गई। उसके आगे रामानन्द ब्रह्मचारी,

---

६५०– पं॰ सुन्दरलाल से स्वामीजी का प्रथम परिचय मथुरा से आगरा आने पर १८६३ ई॰ में हुआ था जब उन्हें ही उन्होंने अपना एक परिवारीजनवत् स्वीकार कर लिया था तथा बाद में अपनी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा का एक सभासद भी मनोनीत किया था। अपने ऐसे आत्मीय व्यक्ति का स्वामीजी द्वारा अपने अन्तिम समय में स्मरण करना स्वाभाविक ही था।

गोपालगिरि संन्यासी, पं० वृद्धिचन्द्र और मुन्नालाल नङ्गे पैर वेदमन्त्र पढ़ते जाते थे। उसके पीछे आर्य पुरुषों, हिन्दुस्तानियों, पंजबियों , बंगालियों, महाराष्ट्रों का बृहत् समूह था। राय भागमल जज, पण्डित सुन्दरलाल सुपरिन्टेन्डेण्ट पोस्टल वर्कशाप अलीगढ़, बाबू शरदचन्द्र मजूमदार, प्रधान ब्राह्मसमाज अजमेर तथा अन्य प्रतिष्ठित पुरुष थे।

**श्मशान यात्रा**– श्मशान यात्रा अजमेर के आगरा दरवाजे, नया बाजार, अनाज मण्डी, दरगाह बाजार, डिग्गी बाजार होती हुई नगर के दक्षिण भाग में पहुँची। स्वामीजी की आज्ञा थी कि उनके शव का नगर के दक्षिण में दाह किया जाए। वहाँ अर्थी उतारी गई और संस्कारविधि: के अनुसार वेदी बनाई गई। जब तक वेदी तैयार हुई, राय भागमल ने अत्यन्त मर्मस्पृक शब्दों में स्वामीजी के गुण वर्णन किए, फिर पण्डित सुन्दरलाल ने कुछ कहना आरम्भ किया, परन्तु थोड़ा-सा कथन करने के पश्चात् ही उनका जी भर आया और वे आगे कुछ न कह सके।

**अन्त्येष्टि क्रिया**– जब वेदी तैयार हो गई तो उसमें चन्दन आदि काष्ठ चयन करके उस पर स्वामीजी के शव को रक्खा और उस पर चन्दन, काष्ठ, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्य रखकर रामानन्द और आत्मानन्द ने अग्नि प्रवेश कराई और संस्काविधि: में लिखित वेदमन्त्रों से घृत की आहुतियाँ देकर शव को भस्मीभूत किया गया। उस समय सायङ्काल के छ: बजे थे। जब लोग इस कार्य से निवृत्त हुए तत्पश्चात् सब लोग स्नान करके अपने-अपने घरों को चले गए।

अगले दिन पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने स्वामीजी के धन और वस्तुओं की सूची बनाकर और उस पर प्रतिष्ठित पुरुषों के हस्ताक्षर कराकर परोपकारिणी सभा के मन्त्री की स्थिति से अपने अधिकार में ले लिए।

**दाह-संस्कार की सामग्री**– स्वामीजी के शवदाह में निम्नलिखित सामग्री का प्रयोग हुआ था–

| *सामग्री* | *मूल्य* |
|---|---|
| १– घृत तीन मन तीस सेर | ८४ रुपए छ: आने अर्थात् ८४.३७५ रुपए |
| २– चन्दन दो मन दो सेर एक पाव | * |
| ३– केशर चालीस तोला | २१ रुपए आठ आने अर्थात् २१.५० रुपए |
| ४– कपूर ५ सेर | ५ रुपए |
| ५– कस्तूरी नौ माशा | ९ रुपए |
| ६– अगर चार सेर | १ रुपया |
| ७– चीनी तीन सेर चार छटाँक | १ रुपया |
| ८– शरीराच्छादन | ९ रुपए सात पैसे अर्थात् ९.११ रुपए |
| ९– एक दुशाला | ५० रुपए |
| १०– पलाशादि काष्ठ सोलह मन | ८ रुपए |
| ११– रथी निर्माण तख्ता | २ रुपए बारह आने अर्थात् २.७५ रुपए |
| १२– खदिर का स्रुवा | १ रुपया |
| १३– वस्तुओं के लाने की मजदूरी | २ रुपए |

**पण्डित गट्टूलाल की संवेदना**– स्वामीजी की मृत्यु का संवाद सारे भारतवर्ष में फैल गया। विद्वन्मण्डली में हाहाकार मच गया। उनके कट्टर विरोधियों ने भी शोक प्रकट किया। पण्डित गट्टूलाल शास्त्री सरीखे विपक्षी ने भी कहा कि दयानन्द से हमारा अनेक विषयों पर मतभेद होते हुए भी हम यह बात मुक्तकण्ठ से स्वीकार करेंगे कि दयानन्द ने इस देश में वेद सम्बन्धी चर्चा और जिज्ञासा का उदय किया है और गोरक्षा के आन्दोलन का सूत्रपात करके सारे भारत को एकता के सूत्र

* देवेन्द्रबाबू के नोट में चन्दन के मूल्य की रकम कट-फट गई थी, अत: पढ़ी नहीं जा सकी। – *संग्रहकर्ता*

में बाँधने का उद्योग किया है।

**सर्वत्र शोक की घटा**– सारे हिन्दूजगत् पर शोक की घटा छा गई। नगर–नगर में शोक सभाएँ हुईं। देशभर में शायद ही कोई ऐसा समाचार–पत्र होगा जिसमें उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट न किया गया हो। बहुत से पत्रों में तो लम्बे–लम्बे अग्रलेख लिखकर उनका गुणकीर्तन और उनके कार्य की प्रशंसा की गई थी। हम यहाँ उन्हें उद्धृत करके इस ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाना नहीं चाहते।

**शोकोद्‌गार**– श्री महाराणा सज्जनसिंह वर्मा उदयपुराधीश और कविराज श्यामलाल, मन्त्री राज मेवाड़ ने अपने शोक–सन्तप्त हृदय के उद्‌गार निम्नलिखित कवित्तों द्वारा प्रकट किए थे–

**दोहा**

नभ[०] चव[४] ग्रह[९] शशि[१] दीप–दिन, दयानन्द सहसत्व।
वय त्रेसठ [६५१] वत्सर विचे, भयो सुतन पञ्चत्व।।

**कवित्त**

जाके जीह जोर[*१] ते प्रपञ्च फिलासिन[*२] को अस्त,
सो समस्त आर्य मण्डल तें मान्यो मैं।
वेद के विरुद्धी–बुद्धी, सत्य के निरुद्धी सदा;
मन्द–जम्बुकादिन पै सिंह अनुमान्यो मैं।।
ज्ञाता षट्–शास्त्रन को,वेदन को त्राता आजु,
आर्य विद्या–अर्क गत अस्ताञ्चल जान्यो मैं।
स्वामी दयानन्द जू के विष्णु–पद प्राप्त हूते,
परिजात को सो अजु पतन प्रमान्यों मैं।।

– *महाराणा सज्जनसिंह वर्मा*

नीर क्षीर रस औरु अनारस मिलन भये,
पूरन परीक्षा–पार कौन भिन्न करतो।
विधि से विवेकी बुध संशय विथा के बीच–
धार धँसि परहित में कौन धाय धरतो।।
चारवाक हिंसक चवाय चापि चंगुल में;
द्वन्द, फन्द दयानन्द कबहुँ न परतो।
रहते धरे न मोती–मन्त्र वेद–वारिधि के,
'*कविराज*' राज–हंस–मण्डल न तरतो।।

– *कविराज श्यामलाल*

---

६५१– स्वामीजी का जन्म संवत् १८८१ (गुजराती) और देहान्त संवत् १९४० (उत्तर भारतीय चैत्री) था, अतः मृत्यु के समय उनका वय ५८ वर्ष ४१ दिन (२१,२२५ दिन) का था, त्रेसठ का नहीं। यह भ्रान्ति स्वामीजी का उस समय तक ठीक–ठीक जन्म–दिनाङ्क न जानने के कारण महाराणाजी को हुई थी। उनका वास्तविक जन्म दिनाङ्क २० सितम्बर, १८२५ ई० का और देहावसान दिनाङ्क ३० अक्टूबर, १८८३ ई० का है। – *आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

*१– जीह-जोर = वाणी की शक्ति ; *२– फिलासिन = दार्शनिकों

# एक मर्मस्पृक् ललित उद्‌गार

भारतवर्ष के प्रत्येक प्रतिष्ठित समाचारपत्र तथा नेताओं में यहाँ तक कि विरोधियों ने भी ऋषि दयानन्द की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए और उनका गुणगान तथा धर्म और जाति की जो सेवाएँ उन्होंने की थीं उनका वर्णन किया। यदि हम उन सब लेखों का संग्रह करें तो बड़ा भारी ग्रन्थ ही बन जाएगा, इसलिए हम उन सबका उल्लेख न करके केवल एक संस्कृत कविता, जो अत्यन्त ललित और मर्मस्पृक् है, उद्धृत करने पर ही सन्तोष करते हैं। यह कविता कविवर रामदास छबीलदासजी वर्मा ने केम्ब्रिज से भेजी थी। जहाँ वह ऋषि के देहावसान के समय विद्याध्ययन कर रहे थे।

**अहो नितान्तं हृदय विदूयते निशम्य लोकान्तरमुन्नताशयम्।**
**सम्प्रस्थितं वेदविदामनुत्तमं श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीं कविम्।।१।।**

वेदों के जाननेवालों में सर्वोत्तम, मेधावी, उन्नताशय श्री दयानन्द सरस्वती के परलोक-गमन को सुनकर हृदय को अत्यन्त दु:ख होता है।

**दीपपंक्तिचितभूतले सति व्योम्नि तारकगणैस्समुज्जवले।**
**शोकजालतिमिराकुले तु सत्युत्ससर्ज स शरीरबन्धम्।।२।।**

पृथ्वी पर दीपकों की पंक्ति के जलने पर, तारागणों से आकाश के प्रकाशित होने पर और शोकरूपी अन्धकार के फैलने पर उसने शरीर के बन्धन को छोड़ दिया।

**नि:शेषपीताखिलशास्त्रसार: पूतान्तरात्मा निगमाग्निजालै:।**
**ज्ञानोत्तमैकाञ्जनलिप्तनेत्रो ब्रह्मैकनिध्यानविशुद्धचेता:।।३।।**
**स्वकीयदेशोन्नतिमात्रलग्न: स्वप्नेऽपि न प्राप्तनिजार्थबुद्धि:।**
**त्यक्त्वा समस्तं तु कथन्नु कार्यं गन्तुं द्युलोकं स मनश्चकार।।४।।**

जिसने शास्त्रों के समस्त सार को पी लिया था, वेद की अग्नि से जिसका अन्तरात्मा पवित्र हो गया था, जिसने अपने नेत्रों में उत्तम ज्ञान का अञ्जन लगाया था, जिसका चित्त ब्रह्म का ध्यान करने से शुद्ध हो गया था, जो अपने देश की उन्नति में सर्वदा संलग्न था, जिसके स्वप्न में भी स्वार्थबुद्धि नहीं आई थी, उसने इस सब कार्य को छोड़कर द्युलोक जाने का क्यों विचार किया?

**विज्ञाय तस्याद्भुतचारुवृत्तं दिवौकसो जातकुतूहला: किम्।**
**तद्दर्शनायात्मनिकेतनं तमजूहवन्दिव्यगुणैरुपेतम्।।५।।**

क्या कहीं स्वर्ग के देवताओं ने उसके अद्‌भुत और सुन्दर चरित्र को सुनकर कुतूहलवश उस दिव्यगुणों से युक्त पुरुष को अपने गृह पर दर्शन करने के लिए तो नहीं बुला लिया?

**कृतयुगोचित एष जन: किल न चिरमर्हति वस्तुमसौ मयि।**
**मनसि संकलितं कलिनेति किं स च हृतोऽखिलसाधुमनोरथै:।।६।।**

क्या कहीं कलयुग ने यह सोचकर कि यह पुरुष सत्ययुग के उपयुक्त गुणों से युक्त है और अधिक काल तक मुझमें रहने के योग्य नहीं है, सब शुभ मनोरथों से तो उसे नहीं हर लिया?

**गुणानपेक्षेण निजप्रभुत्वं कालेन किं दर्शयितुं हृत: स:।**
**न देहभाक् प्राक्तनकर्मयोगात् पुन: प्रपन्न: प्रकृतिं निजां वा।।७।।**

क्या कहीं काल ने, जो गुणों की अपेक्षा नहीं करता, अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए तो उसे नहीं हर लिया? क्या कहीं वह अपने पूर्वकालीन कर्मों के योग से मनुष्य शरीर को पाकर फिर अपनी प्रकृति को तो प्राप्त नहीं हो गया?

**सन्देहदोलामधिरूढमेवं मनो न निश्चेतुमलं मदीयम्।**
**चित्रं निगूढ़ं चरितं विधातुर्वेत्तुं क्षमः को वद मानुषोऽस्ति।।८।।**

इस प्रकार सन्देह के हिंडोले पर आरूढ़ मेरा मन कुछ भी निश्चय नहीं कर सकता। विधाता का चरित्र विचित्र और अत्यन्त गूढ़ है उसे जानने को कौन मनुष्य समर्थ है?

**दिनानि पूर्वं कतिभिद्य आसीदसंह्वतास्मन्नयनोत्सवाय।**
**स्मृतेस्स पन्थानभितोऽधुना तत् कथं विधेः स्याल्लषितं प्रमेयम्।।९।।**

कुछ दिन पहले तो हमारे नेत्रों को आनन्द देने वाला था वह अब यहाँ से स्मृति के पथ में पहुँच गया। विधाता की इच्छा क्योंकर जानी जा सकती है?

**तातगेहवसतिर्विमानिता संश्रितश्चरम एव चाश्रयः।**
**धर्मतत्त्वपरिबोधने रतस्तेन सोढमपि दुर्वचो नृणाम्।।१०।।**

उसने पिता के घर की अवहेलना करके संन्यासाश्रम का आश्रय लिया, वह धर्म के तत्व को जनाने में लगा रहता, उसने मनुष्यों के दुर्वचनों को भी सहन किया।

**स्वं विहाय मुहुरुच्छितं दं वारिदः श्रयति वाहिनीतटम्।**
**केवलं परहिते कृतश्रमा लाघवं न गणयन्ति सज्जनाः।।११।।**

जैसे मेघ अपने ऊँचे पद को छोड़कर बार-बार नदी के तट का आश्रय लेता है ऐसे ही परहित के लिए परिश्रम करने वाले सज्जन अपने अपमान का विचार नहीं करते।

**यः पाखण्डमतैकखण्डनरतो वैदाख्यशस्त्रैः शुभैः,**
**शास्त्राणां बलवद्बलेन सततं संसेव्यमानो युधि।**
**सत्पक्षः परिषच्छलेन विजयस्तम्भान् समारोपयद्,**
**दिक्ष्वन्यः पुरुषो हि तेन सदृशो लभ्येत कुत्राधुना।।१२।।**

जो वेद नामक शुभ शास्त्रों से पाखण्ड मतों के खण्डन में निरन्तर लगा हुआ था, जिसकी युद्ध में शास्त्रों की बलवती सेना सेवा करती थी, जिसने सत्पक्ष और सभाओं के मिष से दिशाओं में विजय का स्तम्भ स्थापित किया था, अब उसके समान पुरुष कहाँ मिल सकता है?

**एक एव खलु पद्मिनीपतिरेक एव दिवि शीतदीधितिः।**
**एक एव च स वेदविद्भुवि द्वित्वमत्र न कदा श्रुतं मया।।१३।।**

पद्मिनी का पति (सूर्य) एक ही है, आकाश में एक ही चन्द्रमा है। ऐसे ही पृथ्वी पर वेद के जानने वालों में वह अकेला था, मैंने इस विषय में दूसरे के अस्तित्व को कभी नहीं सुना।

**स्यात्पुनस्तरणिरक्षिगोचरो दृश्यते नभसि चन्द्रमाः पुनः।**
**यात एष तु सकृत्सदग्रणीर्बोभवीति विषयो न नेत्रयोः।।१४।।**

सूर्य भी फिर दृष्टिगोचर होता है, आकाश में चन्द्रमा भी फिर दिखाई देता है परन्तु यह सत्पुरुषों का अग्रणी एक बार जाकर फिर नेत्रों का विषय नहीं होगा।

**इन्द्रियार्थोद्भवं ज्ञानं सर्वथा न प्रमात्मकम्।**
**तच्च्युतस्स महात्मातः स्मृतावेव निधीयताम्।।१५।।**

इन्द्रिय और अर्थों से उत्पन्न ज्ञान सर्वथा प्रमाणिक नहीं होता, इसीलिए वह महात्मा उससे पृथक् हो गया, अब उसे स्मृति में ही रखिए।

**संस्कृता भारती येन वृद्धिं यायादन्तरतम्।**
**तस्य नामामरं च स्यादित्येतद् यवसीयताम्।।१६।।**

जिससे संस्कृत वाणी निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो और उसका नाम अमर हो, ऐसा यत्न करना चाहिए।

**ऋषय: कवयो नष्टा विद्वांसोऽपि तथैव च।**
**साधूनां मरणात्पश्चादभिधानं तु जीवति।।१७।।**

ऋषि, कवि और विद्वान् सब लुप्त हो गए, साधुओं की मृत्यु के पीछे उनका नाम ही जीवित रहता है।

**को नाम श्रीदयानन्दात्साधीयान् दृश्यते जन:।**
**उज्जीवितार्षविद्या येनास्माभिर्निरपेक्षिता।।१८।।**

श्री दयानन्द के समान साधु पुरुष कौन दिखता है, जिसने हमसे उपेक्षा की गई आर्षविद्या को पुनर्जीवित किया।

**सैवैषा नीयतां पुष्टिं स्वकीयहितवृद्धये।**
**शास्त्रतत्त्वावबोधेन यूनां संस्क्रियतां च धी:।।१९।।**

उस आर्षविद्या की अपने हित की वृद्धि के लिए पुष्टि करो, शास्त्र के तत्वज्ञान से युवकों की बुद्धि संस्कृत करो।

**क: पद्मिनीनां वद तिग्मदीधिति-**
**धर्म: पर: क: कवि वाचि क: स्थित:।**
**का कण्ठभूषा न यमाद्बिभेति क:,**
**स्वामी दयानन्द सरस्वती यमी।।२०।।**

१- सूर्य पद्मिनी का कौन है ? २- परम धर्म कौन-सा है? ३- कवि की वाणी में कौन स्थित है? ४- कण्ठ का भूषण क्या है? ५- यम से कौन नहीं डरता?

इनके उत्तर क्रमश: ये हैं। १- स्वामी, २-दया, ३-आनन्द, ४-सरस्वती, ५-यमी।

ऋषि के कुछ वस्त्र आदि आर्यसमाज मेरठ शहर में थे। खेद है कि उक्त आर्यसमाज ने उन्हें बेच दिया। उनका जूते का जोड़ा और एक हुलासदानी पड़ी रह गई थी। जूते का जोड़ा तो असावधानी से गुम हो गया,

हुलासदानी जन्म-शताब्दी पर प्रदर्शिनी में रखी गई थी।

<u>**परिशिष्ट–एक**</u>

# स्वामी दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **'थियोसोफिस्ट'** पत्रिका के लिए अपनी जो आत्मकथा लिखी थी उसके आरम्भ में उन्होंने *'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, अथ योगानुशासनम्, अथ शब्दानुशासनम्'* की तरह ही यह प्रतिज्ञावाक्य लिखा था कि *''मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती* ***संक्षेप से*** *अपना जन्मचरित्र लिखता हूँ। ''* लेकिन संक्षेप से लिखे जाने वाले इस जन्मचरित्र के अन्त में उन्होंने जो कुछ लिखा था, उसका विवरण इस ग्रन्थ के पृष्ठ–१९६ (**फिर उन्हें जिसकी खोज थी**–––) से पृष्ठ–१९९ (–––**अपनी अगली यात्रा पर चल पड़े।**) तक देखा जा सकता है।

सो कोई भी विचारशील पाठक इन विवरणों को पढ़कर यह स्वीकार नहीं करेगा कि ये विवरण संक्षिप्तता के प्रतीक हैं जब तक कि इन विवरणों का कोई अन्य आशय भी न हो कि जिसके द्वारा हृदय में छिपी हुई किसी पीड़ा को अभिव्यक्त करने का प्रयास ऋषि दयानन्द ने किया हो। इसीलिए हमने आर्य विद्वानों को मई, १९८३ में भेजे गए अपने शोधपत्र **'ऋषि दयानन्द के हरद्वार से मथुरा तक के साढ़े पाँच वर्ष'** के पृष्ठ–१८ पर दी गई एक टिप्पणी क्र० २५ द्वारा यह सङ्केत दिया था कि ''नर्मदा स्रोत की यात्रा का यह विवरण आलङ्कारिक भी प्रतीत होता है जिसमें यात्रा विवरण के साथ–साथ देश की उस समय की अवस्था का चित्रण भी किया गया लगता है। ''

सो ऐसी सम्भावना व्यक्त करने वाला मैं ही पहला व्यक्ति नहीं हूँ अपितु जब मेरे पास १९८३ में प्रकाशित डॉ० गङ्गाराम गर्ग द्वारा सम्पादित पुस्तक 'World Perspectives on Swami Dayananda Saraswati' आई तो मैंने उसमें पाया कि तब से लगभग सौ वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द के समकालीन एक विदेशी विद्वान् प्रो० मैक्समूलर[१] ने भी अपने ग्रन्थ 'Indian Friends' (आक्सफोर्ड १८९९, भारतीय संस्करण १९८२, पृ० ९३–९७) में लिखा था कि ''The life of Dayananda published under the authority of the so-called Theosophists, which I accepted formerly as genuine, has been discredited, and we shall probably never have a real biography of the man, for biography in India seems to share the fate of history; either it tells us nothing or what it tells us is fact and fiction so mixed together that it is impossible to separate the one from the other अर्थात् तथाकथित थियोसोफिस्टों के प्राधिकार से प्रकाशित दयानन्द की जीवनी जिसे मैंने पहले यथार्थ समझ लिया था, अविश्वसनीय है और सम्भवत: हमें उस व्यक्ति की वास्तविक जीवनी कभी प्राप्त नहीं हो सकेगी क्योंकि भारत में उसकी जीवनी इतिहास की नियति की भागीदार प्रतीत होती है जिससे या तो वह हमें कुछ भी नहीं बताती अथवा जो कुछ वह हमें बताती है, वह वास्तविकता और कल्पना का ऐसा मिश्रण है जिन्हें एक दूसरे से अलग करना असम्भव है। ''

सो भारतीय इतिहास की उस समय की नियति १८५७ की क्रान्ति और उसकी असफलता के सिवाय और क्या हो सकती है, जिसके विषय में ऋषि दयानन्द ने अपनी आत्मकथा में चुप्पी सी साध ली है या पहेलियाँ सी बुझाईं हैं?

दरअसल इस विषय में ऋषि दयानन्द अँग्रेजी राज्य के अन्तर्गत जो कुछ सुविधापूर्वक और संक्षेप से लिखा सकते थे, वह उन्होंने अपनी उक्त आत्मकथा के इस अन्तिम अंश के रूप में लिखा ही दिया है जिसका अभिप्राय कुछ ऐसे समझा जा सकता है–

१–स्वामी जी लिखते हैं कि ''दुर्भाग्य से यहाँ मुझे भाँग पीने की लत लग गई थी जिसके प्रभाव से कभी–कभी

---

१– वह व्यक्ति जिसने भारतवर्षीय आर्यसमाजों के सहयोग से स्वामी दयानन्द का जीवन–चरित्र लिखने का निश्चय किया था किन्तु वह कृतकार्य न हो सका।

मैं सर्वथा बेसुध हो जाता था। इसी अवस्था में एक दिन मन्दिर से निकलकर मैं चण्डालगढ़ के निकट एक गाँव में आया जहाँ मेरी भेंट मेरे एक पुराने नौकर से हुई। वहाँ गाँव के दूसरी ओर कुछ दूरी पर एक शिवालय था, जिसमें मैं रात्रि व्यतीत करने के निमित्त गया। भाँग के नशे में मैं वहाँ गाढ़ निद्रा में निमग्न हुआ और उस रात एक स्वप्न देखा। मुझे लगा मैंने महादेव और उनकी पत्नी पार्वती को देखा। वे परस्पर वार्तालाप कर रहे थे और उनकी चर्चा का पात्र मैं था। पार्वती महादेव से कह रही थीं कि मेरा विवाह अवश्य हो जाना चाहिए, परन्तु शिवजी उनसे सहमत नहीं थे। पार्वती ने भाँग की ओर सङ्केत किया।'' जबकि पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री का इस सम्बन्ध में यह कहना था कि ''इस रूप में '**थियोसोफिस्ट**' में स्वामी जी की आत्मकथा द्वारा उनके अभ्यास और मनोभाव को विकृत रूप से वर्णित करके स्वामी जी के प्रति विद्वेष प्रचार किया था। उनका आचरण और मनोभाव कितना पवित्र था, वे नशे के कितने विरोधी थे और अपने विवाह की चर्चा के कितने विरोधी थे, यह कलकत्ते में कही हुई आत्मकथा में वर्णित है।''

इस प्रसङ्ग में स्वामी जी का यह लिखना कि 'एक दिन मन्दिर से निकलकर मैं चण्डालगढ़ के निकट एक गाँव में आया जहाँ मेरी भेंट मेरे एक पुराने नौकर से हुई।' उनके अपने पूना-प्रवचन में कहे गए इस कथन के भी विरुद्ध पड़ता है जिसमें उन्होंने कहा था कि ''इसके अनन्तर (अर्थात् सिद्धपुर के मेले में पिता जी द्वारा पकड़े जाने के पश्चात्) एक बार प्रयाग में मेरे गाँव के कुछ लोग मुझे मिले, परन्तु मैंने उन्हें परिचय नहीं दिया। तब से आज तक (अर्थात् ४ अगस्त १८७५ तक) किसी से भेंट नहीं हुई।''

इस प्रकार इस पुराने नौकर के विषय में आगे-पीछे और कुछ भी न लिखने से यह स्पष्ट नहीं होता है कि यह वाक्य किसलिए लिखा गया है? कहीं यह अपने जीवन की पिछली घटनाओं का सिंहावलोकन प्रारम्भ करने का सङ्केत तो नहीं है?

२- जब स्वामी जी भाँग के नशे में गाढ़ निद्रा में निमग्न थे तो उन्हें स्वप्न कैसे आया? गाढ़ निद्रा में तो किसी को भी स्वप्न नहीं आता? फिर उन्हें यह कैसे लगा कि उन्होंने महादेव और उनकी पत्नी पार्वती को देखा। इसमें लगने जैसी तो कोई बात ही नहीं थी क्योंकि देखा तो देखा ही होना चाहिए था। इस स्वप्न में भी उन्हें उनके विवाह का प्रसङ्ग ही दीख पड़ा जबकि वे घर से उसकी पूरी तैयारियाँ छोड़कर ही भागे थे। एक बार जब उनसे पूछा गया कि आपको कामवासना नहीं सताती? तो उन्होंने किञ्चित विचार कर कहा था कि 'मेरे जीवन में ऐसा कोई क्षण नहीं आया जब मुझे स्वप्न में भी ऐसा विचार आया हो।' लेकिन इस स्वप्न में उन्हें विवाह का विचार क्यों आया? और यदि आया भी था तो क्या यह इतनी महत्वपूर्ण बात थी कि संक्षिप्तरूप से लिखी जाने वाली इस आत्मकथा में भी उसके उल्लेख की आवश्यकता हो? मेरा विचार है कि इस उल्लेख से ऋषि दयानन्द यह जतलाना चाहते हैं कि उन्होंने संन्यासी के धर्म से हटकर १८५७ की क्रान्ति में गृहस्थियों जैसे व्यक्ति के धर्म का पालन किया। जैसा कि उन्होंने 'वैदिक यन्त्रालय' की स्थापना के अवसर पर कहा था कि 'आज हम पतित हो गए, आज हम गृहस्थ हो गए।'

३- चण्डालगढ़ के निकटवर्ती गाँव के शिवालय में जहाँ ऋषि को उपर्युक्त स्वप्न आया वहाँ उन्होंने वृषभेश्वर नन्दी की विशाल प्रतिमा देखी जो अन्दर से खोखली थी और जिसमें एक व्यक्ति छुपा हुआ था। क्या किसी जीवनी लेखक ने अभी तक वहाँ जाकर ऐसे विशाल नन्दी की मूर्ति देखी वा सुनी है जो अन्दर से खोखली रही हो और जिसमें किसी व्यक्ति के छिपने लायक गुञ्जाइश हो। मैंने रामेश्वरम् के मन्दिर में एवं बेंगळूरु में ऐसे बैठे हुए नन्दी अवश्य देखे हैं जो काफी बड़े हैं किन्तु पोले वे भी नहीं हैं। हमने भी चुनारगढ़ क्षेत्र में जाकर ११ मई, १९८५ को ऐसे मन्दिर की बहुत खोज की परन्तु कृतकार्य न हो सका। ऐसे में स्वामी जी इस बहाने से यह तो नहीं कहना चाह रहे हैं कि घर से जिस शिव की

खोज में वे निकले थे, उसे उन्होंने पोला अर्थात् मिथ्या पाया और आर्यावर्त्त रूपी विशाल नन्दी में विदेशी अँग्रेज लोग आकर कब्जा कर चुके हैं जिन्हें भगाने के लिए उन्होंने भी १८५७ की क्रान्ति में हाथ बढ़ाया अर्थात् भाग लिया था। इस नन्दी की पीठ पर वस्त्र (गेरुए वस्त्र) और पुस्तकादि रखकर (अर्थात् कुछ काल के लिए विद्याध्ययन का विचार त्यागकर) श्वेत वस्त्रों में उसके पीछे बैठ गए अर्थात् स्वदेश को स्वतन्त्र कराने में जुट गए।

४- जब प्रात:काल एक वृद्धा आई तो वह इतनी भोली निकली कि वह एक जीवित मनुष्य और नन्दी की स्थिर मूर्ति में भी अन्तर नहीं कर सकी और मूर्ति (जो कुछ खाती पीती नहीं) के भ्रम में दयानन्द को ही खट्टा दही और मीठा गुड़ खिलाती रही। कहीं यह भोली और वृद्धा माता भारतमाता ही तो नहीं थी जिसने दयानन्द को उनकी ३१-३२ वर्ष की अल्पायु में ही खट्टे-मीठे अनुभवों का सेवन करा दिया जिससे उनकी मादकता दूर हो गई अर्थात् देश को स्वतन्त्र कराने के दुस्साहसिक इरादों पर पानी फिर गया और उन्हें देश की वास्तविक शक्ति और सामर्थ्य का पता चल गया।

५- पुन: दयानन्द नर्मदा स्रोत की ओर यात्रा करते हैं तो अनेक कष्ट उठाते हैं जिनका वर्णन उन्होंने अपनी लेखनी से स्वयं ही एक रोचक एवं हृदयग्राही शैली में किया है। सो क्या यह कष्टप्रद यात्रा १८५७ के युद्ध के सम्बन्ध में किए गए पुरुषार्थ और भोगी गई यन्त्रणाओं की ओर ही तो सङ्केत नहीं करती? और नर्मदा स्रोत यात्रा का यह रूपक कहीं आर्यावर्त्त को स्वाधीनता दिलाकर उसके खोए हुए प्राचीन वैभव को पुन: दिलाने के कृत प्रयासों की ओर ही तो सङ्केत नहीं करता?

६- उस दिन जब तक कि संसार में चारों ओर अन्धकार नहीं छा गया तब तक स्वामी जी बराबर यात्रा करते चले गए अर्थात् जब तक १८५७ के इस युद्ध में पूर्ण पराजय नहीं हो गई, वे उसमें जुटे रहे। उन्हें मार्ग में जो वस्तुएँ मिलीं वे वृक्ष थे जिन्हें मस्त हाथियों ने तोड़ और उखाड़ कर फेंक दिया था। कोई मनुष्य जाति आँखों में नहीं आई अर्थात् गाँव के गाँव उजड़ गए थे और वे मनुष्य विहीन हो गए थे।[२]

७- आगे स्वामी जी को विशाल विकट वन दिखाई दिया जिसमें प्रवेश करना भी कठिन था। प्रथम तो उन्हें उसके भीतर से निकलना असम्भव ही दिखाई दिया, परन्तु पीछे पेट के बल और जानू के सहारे शनै:-शनै: सर्पवत् वे उन वृक्षों से निकले और इस प्रकार उस बाधा और कठिनाई पर विजय प्राप्त की। इस दिग्विजय को प्राप्त करने में उन्हें अपने शरीर के माँस को भी भेंट करना पड़ा। इस वर्णन से यह आशय प्रतीत होता है कि स्वामी जी युद्ध में पराजय के बाद लुकते-छिपते किसी प्रकार दक्षिण देश में सुरक्षित पहुँचने में सफल हो गए। इस समय वे घायल और अधमरे जैसे थे। देश में उस समय सर्वत्र घोर निराशा रूपी अन्धकार के अतिरिक्त किसी को भी कुछ दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। देश में ठहराव सा आ गया था तथापि स्वामी जी ने हिम्मत नहीं हारी और उन्होंने निरन्तर आगे बढ़ते रहने का सङ्कल्प बनाए रक्खा क्योंकि वे इस आशा में थे कि कहीं कोई मार्ग निकल ही आएगा। इसलिए वे निरन्तर आगे ही आगे चलते चले गए, बढ़ते चले गए। अन्ततोगत्वा उन्हें भारत की गरीब और निरीह प्रजा के बीच आशा का एक दीपक टिमटिमाता दिखाई पड़ा जो उन्हें (जाते हुए पथिक को) स्वागत और बधायी के शब्द सुनाता हुआ प्रतीत हुआ। दयानन्द ने वह निराशा-निशा एक विशाल वृक्ष (भारत देश) के नीचे एक झोपड़ी (लङ्का) में व्यतीत की। प्रात: उठकर वे अपने क्षत हाथ-पाँव और दण्ड को नदी में धोकर (अर्थात् समुद्र यात्रा करके) सन्ध्या व प्रार्थना के लिए (कन्याकुमारी में) बैठने को ही थे कि-

---

२- फतेहपुर (कानपुर-प्रयाग का मध्यवर्ती नगर) के मार्ग पर अँग्रेजों ने कितने अत्याचार किए, इसका वर्णन मजिस्ट्रेट शेरार के शब्दों में सुनिए- ''रास्ते में हमें जितने गाँव मिले, वे सब जलकर राख हो गए थे। चारों ओर सन्नाटा था। कहीं भी कोई दिखाई न देता था। जहाँ सुन्दर घर थे, बड़ी-बड़ी इमारतें थीं, वहाँ अब राख के ढेर लगे हुए थे। मनुष्य का तो कहीं नाम ही न था। चारों ओर श्मशान सा दिखाई देता था। दिन में मेंढकों की बोली तथा रात को बोलने वाले पक्षियों के स्वर सुनाई देते थे। हवा चलने पर शवों की दुर्गन्ध असह्य हो उठती थी। यह दृश्य कभी न भूल सकूँगा।''

(अ) **कलकत्ता-कथ्य के शब्दों में**- ''एक दिन भारत महासागर की ओर मुख करके एकान्त में बैठे हुए हम भारत के धर्म और स्वतन्त्रता की विराट् समस्या के बारे में आँखें बन्द करके सोच-विचार कर रहे थे। तभी अचानक पीछे से शब्द आया- 'हम योगमाया मन्दिर से समाचार लाये हैं।' मुख पीछे की ओर घुमाकर देखा-तीन मुण्डित मस्तक, गैरिक वस्त्रों से सज्जित और कमण्डलधारी संन्यासी आ रहे हैं। उनमें से एक को शिवाजी के सतारा सिंहासन के उत्तराधिकारी नाना साहब को पहचान लिया। शेष दोनों अपरिचित थे। तीनों प्रणिपात करके बैठ गए और तीनों ही सजल दृष्टि से अवाक् से रहे थे।

मैंने कहा- 'युद्ध-पराजय और नेपाल के जंगल में प्रवेश तक मुझे सब मालूम हो गया है। इसमें हताश या निराश होने का कोई कारण नहीं है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए युद्ध में जय या पराजय दोनों ही लाभदायक हैं। आप लोग भविष्यत् भारत के लिए त्याग, साहस, शूरता और निर्भीकता तथा स्वतन्त्रता के लिए प्रेरणा देंगे।'

नाना साहब ने दोनों आगन्तुकों का परिचय दिया- 'एक तात्याटोपे और दूसरे मेरे साथी दुर्जयराव हैं। हम लोग इसी गुप्त वेश में आपको योगमाया मन्दिर के निर्देशानुसार ढूँढते हुए यहाँ तक पहुँचे हैं। ----हमारे इस उपदेश को तीनों ने ही समान रूप से ग्रहण किया और तीनों के वहाँ से चलने से पहले मैंने नाना साहब को संन्यास देकर उनका नाम दिव्यानन्द स्वामी रख दिया। शेष दोनों ने संन्यास लेने का साहस नहीं किया।''

(ब) **इस घटना की झलक जन्मचरित्र के शब्दों में**- ''मेरा उत्तर सुनकर वे सब मुझे सन्ध्या करने हेतु अकेला छोड़कर चले गये। फिर आधा घण्टे पश्चात् उनका एक मुखिया अपने दो पहाड़ी पुरुषों के साथ मेरे पास आकर बैठ गया। वह मुझे प्रतिनिधि बनकर अपने झोपड़ों में बुलाने के लिए आया था, परन्तु मैंने उनका निमन्त्रण ठुकरा दिया (क्योंकि वे सब मूर्तिपूजक थे)। तब उसने मेरे पास अग्नि प्रज्वलित करने और उन दो पुरुषों को रात भर मेरी सुरक्षा करते रहने का निर्देश दिया। यह जानकर कि मैं भोजन में केवल दूध लेता हूँ, उस दयावान् मुखिया ने मुझसे मेरा कमण्डलु माँगा और उसे दूध से भरकर वापस ले आया जिसमें से थोड़ा मैंने उस रात पी लिया। तब वह मुझे उन प्रहरियों की सुरक्षा में छोड़कर चला गया। फिर मैं उस रात सबेरे तक गहरी नींद सोया। फिर उठकर सन्ध्यादि करके अपनी अगली यात्रा पर चल पड़ा।'' अर्थात् सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषायी तथा आर्थिक दृष्टि से देश को एकताबद्ध करने का निश्चय कर वे स्वामी विरजानन्द सरस्वती के पास पढ़ने के लिए मथुरा पहुँचे।

८- उपर्युक्त विवरण से पूर्व ऋषि लिखते हैं कि ''कुछ देर बाद मैंने किसी रात्रिकालीन धार्मिक उत्सव की तैयारी हेतु घरों से निकलते हुए पुरुषों, महिलाओं एवं बच्चों को तथा उनका अनुगमन करती हुई गायों एवं बकरियों के एक समूह को देखा। तब मुझ अपरिचित को वहाँ पाकर वे सब मेरे चारों ओर इकट्ठे हो गए।''

मेरे शोधपत्र के अनुसार ऋषि की नर्मदा स्रोत की यह यात्रा अक्टूबर, १८५८ के मध्य में आरम्भ होती है और **'धर्मयुग'** मुम्बई के ९ मई, १९७६ के अङ्क में बालूनाना (सम्भवतः नाना साहब के भाई बाला साहब) का कार्तिक शुक्ला ७, शनिवार संवत् १९१५ वि० (१३ नवम्बर, १८५८) का एक पत्र मराठी भाषा में छपा है जिसमें कहा गया है कि ''मुल्के आजम फिरंगियों का कैदी बन गया है, दिल्ली गिर गई है। नाली के रास्ते किले में प्रवेश करने वाला पहला सैनिक कैप्टन निकोलस था। मैंने खुद ही उसे मार डाला। घमासान युद्ध हुआ। जसवन्त सिंह ने धोका दिया और अपना बारूद का भण्डार उड़ा दिया। कैप्टन हेंडरसन ने दोनों शहजादों को हुमाऊँ के मकबरे पर जा पकड़ा। उन्हें छुड़ाने के लिए हमने जबरदस्त हमला किया। इसलिए उन्होंने उसे गोलियों से मार डाला। लखनऊ और कानपुर की बात सुनने योग्य नहीं है। भयङ्कर युद्ध हुआ। बिठूर का बाड़ा, रंगमहल, कचहरी जला डाली गई। मैंने अपने वेश में मोरोपन्त फड़के को उत्तर में भेजा है।

फिलहाल हम लोग तीर्थ यात्रियों के वेश में भोपाल से इटारसी होकर २५ कोश दूर माछना नदी पर बैतूल गाँव (आजकल जिला मुख्यालय) के पास जंगल में पड़ाव डाले हुए हैं। तुम्हारा भाई कल्याण जी साथ है। आश्रय के लिए प्रयत्न किया किन्तु निजाम, गायकवाड़, छत्तीसगढ़, भोर जमखण्डी, कोल्हापुर भोंसले तैयार नहीं हैं। अपना खजाना बदनूर में मोड़ीराम के पास सुरक्षित है। नागपुर के श्रीमन्त बुटी हर तरह की सहायता करने के लिए तैयार हैं पर यहाँ के गोंड़ सरदार का भरोसा नहीं किया जा सकता। **हमारी मण्डली में तीर्थ यात्रियों के वेश में १०२ मनुष्य, ५२ घोड़े और ४० बैल हैं। सरदार बलदेव, सूबेदार रामभाऊ, खान-खान, यकीनशाह, कोकतालशाह मुख्य हैं।** सर सेनापति तात्या साहब का कोई पता नहीं। बरार की तरफ उसका पदरव सुनाई पड़ रहा है।''

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी की नर्मदा स्रोत जाते हुए इसी जनसमूह से भेंट हुई होगी जो ही बाद में रीवा, सागर, भोपाल होकर १३ नवम्बर, १८५८ को बैतूल गाँव पहुँचा होगा। इस समूह ने रात्रि में (भारत की पराधीनता में) सम्पन्न किसी धार्मिक त्योहार (स्वतन्त्रता की लड़ाई) में भाग लिया था और उसकी रस्में पूरी करने के लिए (अर्थात् पराजय के उपरान्त अज्ञातवास में सीहोर, गुजरात जाने के लिए) वे अपनी झोपड़ी या घर (अर्थात् अपना बिठूर छोड़कर) निकले थे।

९- '**थियोसोफिस्ट**' पत्रिका में प्रकाशित इन विवरणों में एक विरोधाभास यह भी है कि मूर्तिपूजक वृद्धा का खट्टा दही और मीठा गुड़ तो खा लिया और विभिन्न मन्दिरों में ठहरते हुए ही स्वामी जी नर्मदा स्रोत की ओर आए किन्तु इन मूर्तिपूजकों के साथ जाने से क्यों मना कर दिया?

## उपसंहार

जो लोग यह कहते हैं कि स्वामी जी निर्भीक और मुँहफट थे, इसलिए यदि उन्होंने १८५७ की क्रान्ति में भाग लिया होता तो वे यह बात कहीं न कहीं अवश्य ही लिख देते, उनके सन्तोष के लिए इस ग्रन्थ में ऐसे काफी प्रमाण जुटाए गए हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वामी जी ने १८५७ की क्रान्ति की विफलता के बाद अगले २५ वर्षों तक अपनी लेखनी को काफी संयत रक्खा और कोई ऐसी बात नहीं लिखी जिससे अँग्रेजों के मन में जरा सी भी शङ्का उत्पन्न हो। लेकिन २५ वर्षों में जब उन्होंने सामाजिक सुधार एवं धार्मिक क्रान्ति करके एक अच्छी भूमि तैयार कर ली तभी उन्होंने अपनी जीवन-सन्ध्या के समय '**सत्यार्थप्रकाश**' एवं '**आर्याभिविनय**' के संशोधित संस्करणों में स्वतन्त्रता का बीजारोपण करना प्रारम्भ किया जिसकी कीमत उन्हें अपने प्राणों की आहुति देकर शीघ्र ही चुकानी पड़ी।

इस प्रकार स्वामी जी ने अपनी जो संक्षिप्त आत्मकथा थियोसोफिस्ट पत्रिका में छपवाई थी उसमें भी उनके १८५७ की क्रान्ति में भाग लेने के सङ्केत मौजूद हैं क्योंकि अपनी आत्मकथा के अन्तिमांश में उन्होंने अन्योक्ति अलङ्कार से काम लिया था जिसमें कहा किसी से जाता है और घटित दूसरे पर होता है।

परिशिष्ट–दो

## स्वामी दयानन्द सरस्वती की जन्मपत्री का फलादेश

एक फलित ज्योतिष के जानकार आर्य ज्योतिषी ने इस ग्रन्थ के आरम्भ में प्रकाशित स्वामी दयानन्द की जन्मकुण्डली का अध्ययन करके हमें बताया है कि "स्वामी दयानन्द सरस्वती की जन्मतिथि सोम/मङ्गलवार, २० सितम्बर, १८२५ ई० (भाद्रपद शुक्ल पक्ष नवमी तिथि) जन्म प्रातः ३:३० बजे के लिए सायन कुण्डली के अनुसार सिंह लग्न और लग्न में मङ्गल एवं शुक्र, कन्या राशि में बृहस्पति, सूर्य और बुध, धनुराशि में चन्द्रमा और मिशुन राशि में शनि एवं केतु। मेष वृषभ, कर्क, तुला, वृश्चिक कुम्भ और मीन राशि में कोई ग्रह नहीं है। यह महान शिक्षक, धर्म–मार्ग प्रदर्शक, उदार हृदय और बलिष्ठ एवं आकर्षक पुरुष का जन्मचक्र है। **कोदण्ड राहु** होने से गुरु को राहु का भी दोष नहीं पहुँचा रहा है। अष्टम भाव, राहु, शनि और भौम के संयुक्त प्रभाव में होने के कारण मध्यायु सिद्ध होती है।

कुण्डली के अति विशेष योग इस प्रकार हैं–

**पहला**– केन्द्र और त्रिकोण का स्वामी **(योगकारक)** मङ्गल लग्न में **दशमेश शुक्र** के साथ है।

**दूसरा**– यही योग **(एकत्रित मङ्गल और शुक्र)** दशमेश (केन्द्रेश) और नवमेश (त्रिकोणेश) की युति होने का भी है। जो एक बहुत बड़ा **राजयोग** है। और स्वामी दयानन्द को यह प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

**तीसरा**– एक भी ग्रह बृहस्पति ग्रह के साथ अशुभ–षडाष्टक नहीं है। बृहस्पति पूरी तौर पर **षड्बल से सबल** है।

**चौथा**– प्रबल धनात्मक (धनेश और एकादशेश) और **वाणी और वाक् कौशल** का विशेष **बुध** सबल और स्वगृही है।

**पाञ्चवाँ**– शनि एवं केतु की तृतीय भवन में स्थिति खासकर जबकि **शनि, चन्द्र लग्नेश** भी हैं। और अन्तिम–

**छठा**– कार्मिक नियन्त्रण के ग्रह बृहस्पति और बुध एक साथ हैं, यानी पारस्परिक केन्द्रीय स्थिति में हैं। तीनों लग्नेशों के रूप में **बुध, बृहस्पति और शनि** की परस्पर सम्बद्धता में होना, सोने में सुगन्ध का काम कर रहा है।

इस प्रकार उक्त सभी छः बिन्दुओं के अन्तर्गत यह जन्माङ्क बहुत ही विशिष्ट, अत्यधिक विरल और एक बहुत बड़े युग–पुरुष का सिद्ध करता है।"

उन्हीं ज्योतिषी महोदय ने मुझे लिखा है कि–

### कण्टकेनैव कण्टकम्

हमारा फलित ज्योतिष में निजी तौर पर कोई विश्वास नहीं है किन्तु ऐसा भी नहीं है कि हम फलित की आकलन–विधा को जानते ही नहीं हैं। हमारे सामने महर्षि की गलत जन्मतिथि (१२ फरवरी, १८२५ ई०) के समर्थन में फलित ज्योतिषीय तर्क रखे गए थे। अतः हमारे लिए यह आवश्यक हो गया था कि हम फलित ज्योतिष के तर्कों का फलित ज्योतिष के तर्कों से ही उत्तर दें। *–उक्त फलादेशकर्ता का कथन*

<u>परिशिष्ट–तीन</u>

## स्वामी दयानन्द सरस्वती की अज्ञात–जीवनी (कलकत्ता–कथ्य) की पृष्ठ–भूमि

सन् १९२३ में आर्यसमाज कलकत्ता के दीपावली उत्सव के सभापति पद से भाषण देते हुए श्री विपिनचन्द्र पाल (बंग–भंग आन्दोलन और स्वदेशी आन्दोलन के नेता, सुप्रसिद्ध राजनीतिक वक्ता और ब्राह्मसमाज के विशिष्ट पुरुष) ने घोषणा की थी–''महर्षि दयानन्द सरस्वती वर्तमान युग के अनन्य श्रेष्ठ महापुरुष थे। बहुत ही खेद की बात है कि उनकी अज्ञात–जीवनी का उद्धार आज तक भी नहीं हुआ। यह उत्तरदायित्व विशेष रूप से आर्यसमाज का है। इसके लिए भगीरथ प्रयत्न होना चाहिए।''

श्री रामानन्द चटर्जी एम०ए० ('Modern Review' एवं 'प्रवासी' पत्रों के सम्पादक और साधारण ब्राह्मसमाज के आचार्य) ने कहा था–''महर्षि दयानन्द बंगाल में आकर पूरे चार महीने (१६ दिसम्बर १८७२ से १६ अप्रैल १८७३ तक) रहे। काशी–शास्त्रार्थ (१८६९) के विजयी वीर महर्षि दयानन्द के दर्शन के लिए बंगाल के सुप्रसिद्ध समाज–सुधारक, धर्म–संस्कारक, साहित्यिक, कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक और चिन्तनशील मनीषी लोग उनके रहने के स्थान महाराजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर के वराहनगरस्थ नाईवान नामक प्रमोद कानन में प्रतिदिन अधिक संख्या में आते–जाते थे। विशिष्ट पुरुषों से उनका विचार विनिमय, वार्तालाप, आलोचना और शंका–समाधान भी होता था। बहुतों के साथ उनका प्रेम–प्रीति और सौहार्द भी पैदा हो गया था। उनकी मुख नि:सृत और संस्कृत भाषा में कथित वाणियों को लिपि–बद्ध करने के लिए महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और ब्रह्मानन्द श्री केशवचन्द्रसेन ने कुछ एक विद्वान् लेखकों की नियुक्ति की थी। संस्कृत में लिखित वे सब विवरण आज कहाँ हैं? 'दयानन्द–चरित' के लेखक श्री देवेन्द्रनाथ मुखर्जी को इनका पता नहीं चला था। आज अगर वह अमूल्य सम्पद् मिल जाय तो धर्म–जगत् के लिये बहुत ही उपकार होगा। आर्यसमाज कलकत्ता का इनके उद्धार के लिये पूर्ण प्रयत्न परम कर्त्तव्य है।''

पं० श्री रसिकमोहन विद्याभूषण (वैष्णव दार्शनिक और शताधिक वर्ष–जीवी पुरुष) ने कहा–'उस समय तक महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन के करीब ५० वर्षों की प्रधान–प्रधान घटनाओं को सुनाया था, केवल पिता का नाम और जन्म–स्थान का परिचय नहीं बताया। शर्त भी थी कि उनकी मृत्यु से पूर्व यह विवरण मुद्रित न होने पावे। सम्भवत: यह विवरण ब्राह्मसमाज के नेताओं के पास ही रह गये और उन पर उनका ध्यान ही नहीं रहा।''

पं० श्यामलाल जी गोस्वामी–(बंगाल के सुप्रसिद्ध धर्मवक्ता) ने कहा–''उस समय से १० वर्ष बाद महर्षि दयानन्द की मृत्यु हुई थी। इन दस वर्षों के अन्दर ब्राह्मसमाजी–आदि, नव विधान और साधारण–इन तीन नामों में विभक्त होकर परस्पर प्रतियोगिता करते रहे और महर्षि दयानन्द जब राजकोट, बम्बई, पूना, लाहौर, अहमदाबाद आदि स्थानों में आर्यसमाज की स्थापना करने लगे तब वहाँ के प्रार्थना–समाजों (ब्राह्मसमाज) के साथ आर्यसमाजों की प्रतिद्वन्द्विता शुरू हो गई थी। इस स्थिति में महर्षि दयानन्द की मृत्यु १८८३ में हो गई। उस लिपिबद्ध विवरण के प्रति ब्राह्मसमाज स्वाभाविक रूप से ही उदासीन हो गया था। श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी (बंगदर्शन पत्र के सम्पादक), श्री नगेन्द्रनाथ चटर्जी ('महात्मा दयानन्देर संक्षिप्त जीवनी' के लेखक) और श्री देवेन्द्रनाथ मुखर्जी ('दयानन्द चरित' के लेखक) को भी उस लिखित विवरण का पता नहीं मिला था। आर्य समाज और ब्राह्म समाज के अन्दर वैमनस्य भी इसके लिए एक कारण था। सन् १८७३ से आज १९२३ है–यह तो ५० वर्ष की बातें हैं। महर्षि दयानन्द की मृत्यु (१८८३) के बाद भी आज ४० वर्ष चले गये। वह लिखित विवरण मिल जाये तो अच्छा

ही है। लेकिन भगवान् ही जानते हैं, उसका उद्धार कैसे होगा।''

पं० शंकरनाथ (भवानीपुर कलकत्ता ब्राह्मसमाज के सभापति और कलकत्ता हाईकोर्ट के विचारपति पं० शम्भुनाथ के सुपुत्र और आर्यसमाज कलकत्ता के सभापति) ने कहा-''आजकल ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज के अन्दर कोई वैमनस्य नहीं है। बहुत पहले महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने आदि ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज को एकत्र करने के लिए कोशिश भी की थी। श्री वलयेन्द्रनाथ ठाकुर को इन्होंने इस उद्देश्य से लाहौर आर्यसमाज तक भेजा था। उनके प्रबल आग्रह से हमने आर्यसमाज के पं० अच्युत मिश्र को बोलपुर के शान्ति निकेतन में दैनिक होम करने के लिए भेजा था। जब तक देवेन्द्रनाथ ठाकुर जीवित रहे तब तक वहाँ दैनिक होम चालू रहा। पंजाब के विशिष्ट आर्यसमाजी श्री रामभजदत्त चौधरी के साथ महर्षि देवेन्द्रनाथ की दौहित्री श्रीमती सरलादेवी का विवाह हुआ था और उस विवाह का अनुष्ठान मेरे घर पर ही हुआ था। आजकल आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज के अन्दर सामाजिक और व्यावहारिक वैमनस्य कुछ भी नहीं है। दोनों समाजों के विशिष्ट सदस्य लोग परस्पर दोनों के वार्षिक उत्सवों में शामिल होते हैं। महर्षि दयानन्द की अज्ञात-जीवनी के उपादान जिनके हाथों में हों, वे अवश्य देने की कृपा करें।''

वर्तमान लेखक ने कहा-''दोनों समाजों में वेद की मान्यता के सम्बन्ध में वैषम्य अवश्य है। ब्राह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहनराय वेद को अभ्रान्त और अपौरुषेय नहीं मानते थे। आज भी आर्यसमाज के उत्सवकालीन यज्ञों में आदि ब्राह्मसमाज के आचार्य पं० श्री सुरेशचन्द्र सांख्य-वेदान्ततीर्थ, नवविधान ब्राह्मसमाज के आचार्य श्री द्विजदास दत्त (अध्यक्ष शिवपुर इञ्जीनियरिंग कालेज और अलीपुर षड्यन्त्र मामले में आसामी श्री उल्लासकर दत्त के पिता) और साधारण ब्राह्मसमाज के आचार्य श्री अनाथकृष्ण शील सम्मिलित होते हैं। मैं भी ब्राह्मसमाज के आमन्त्रणानुसार चितपुर रोड के आदि ब्राह्मसमाज की बेहाला की और उल्टा डांगा साधारण ब्राह्मसमाज की वेदी से शास्त्र-पाठ करता हूँ। अगर ब्राह्मसमाज वेद को अपौरुषेय और अभ्रान्त मान लेता तो महर्षि दयानन्द कभी आर्यसमाज नाम से कोई नई धर्म-संस्था स्थापित नहीं करते। जो कुछ हो, अगर महर्षि की कथित आत्म-जीवनी, वार्तालाप, शंका-समाधान और आलोचना-प्रसंगों की पांडुलिपि (Manuscript) विनष्ट न हो गई हो, तो उसका पुनरुद्धार हम लोग जरूर करेंगे।''

उस सभा में थियोसोफिस्ट (Theosophist) नेता श्री हीरेन्द्र नाथ दत्त वेदान्तरत्न एम०ए०, पी० आर-एच, धर्मवक्ता पं० कुलदाप्रसाद मल्लिक आदि वक्ताओं ने अपने-अपने व्याख्यानों में हर्ष प्रकट किया था। आर्यसमाज कलकत्ता के विशिष्ट पुरुष श्रीमान् सेठ दीपचन्द जी पोद्दार, श्री हरगोविन्द गुप्त, सेठ श्री छाजुराम जी चौधरी, श्री तुलसीदास जी दत्त और श्री वलाई चन्द जी मलिक (प्रथम भारतीय डिप्टी मजिस्ट्रेट श्री रसिककृष्ण मल्लिक के पुत्र और ''Hindu Patriot'' पत्र के सम्पादक श्रीकृष्णदास पाल के भानजे), आदि व्यक्तियों ने इस जीवनी-उद्धार-कार्य के लिए योजना भी बनाई थी। कृष्ण कुमार मित्र ('संजीवनी' पत्र के सम्पादक, बंग-भंग आन्दोलन के नेता और योगिराज अरविन्द घोष के मौसे) ने कहा-''महर्षि दयानन्द की अज्ञात-जीवनी का उद्धार हो जाय तो मैं अपने पत्र 'संजीवनी' में उसको धारावाहिक प्रकाशित करूँगा।''

वर्तमान लेखक तब (सन् १९२३) से ही अब तक ४५ वर्ष से इस कार्य में लगा हुआ है। आशाजनक फल भी मिलने लगे। इसके दो वर्ष बाद (सन् १९२५ में) मथुरा की श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर आर्य नेताओं ने इस अज्ञात-जीवनी के बारे में मुझसे विचार-विमर्श किया था। सब ही ने उत्साह प्रकट किया था। सन्

१९२६ में टंकारा में श्रीमद्दयानन्द शताब्दी उत्सव में भी मैंने आये हुए आर्य नेताओं को इस अनुसन्धान कार्य की सम्भाव्य सफलता के बारे में सूचना दी थी जिनसे अपूर्व प्रोत्साहन मिला था। सन् १९३३ में अजमेर में श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण अर्ध शताब्दी उत्सव के चौथे दिन खुले पंडाल में महर्षि की अज्ञात-जीवनी के अनुसन्धान कार्यों की सफलता के बारे में मैंने भाषण दिया था। प्रो० इन्द्रजी विद्यावाचस्पति ने अपने 'आर्यसमाज का इतिहास' नामक ग्रन्थ में उस व्याख्यान के बारे में उल्लेख किया है। महर्षि दयानन्द के भक्त श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती (आदि ब्राह्मसमाज के उपाचार्य) की दिन-पंजी से महर्षि के बंगाल में चार महीने की दैनन्दिन कर्म-सूची 'दयानन्द-प्रसंग' नाम से मिल गई थी। आर्य समाज कलकत्ता ने महाशय श्री रघुनन्दनलाल जी की प्रेरणा पर उस कर्म-सूची को 'दयानन्द-प्रसंग' नाम से ही प्रकाशित किया था। पूज्य स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी महाराज ने '*दयानन्द-प्रसंग*' का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया था। प्रो० इन्द्रजी विद्यावाचस्पति ने अपने '*आर्यसमाज का इतिहास*' ग्रन्थ में 'दयानन्द-प्रसंग' का उल्लेख करके हर्ष प्रकट किया था। पं० भगवद्दत्तजी बी०ए०, पं० घासीराम जी एडवोकेट और दीवान हरविलास जी शारदा से और कलकत्ता के महाशय रघुनन्दन लाल जी और पं० मिहिरचन्द जी धीमान से बहुत ही उत्साह मिला है।

आज तक भी इस विषय का अनुसन्धान-कार्य बन्द नहीं हुआ है। कलकत्ता से बाहर भी मुख्य-मुख्य जीवित जाग्रत ब्राह्मसमाजों के पुराने दफ्तर, कागजात, फाइलें, खाते, पत्र, नाम-पते जो मैंने महर्षि दयानन्द के बारे में खोज किये, उस समय के पुराने समाचार-पत्रों की फाइलों से और जिस-जिस घर में महर्षि के उपदेश हुए थे, प्रवचन हुए थे या वार्तालाप हुए थे, वहाँ के अतिवृद्ध नर-नारियों के मुखों से ग्रहणीय बातें कुछ-न-कुछ श्रवण की गई थीं। उन सब स्थानों के जनप्रवाद और कहानियाँ महर्षि के बारे में सुनीं। जहाँ-जहाँ महर्षि का आना-जाना होता था, वहाँ-वहाँ के लोग उनके भक्त, प्रशंसक, अनुयायी या विरोधी बन गए थे। सभी जगह उपादान-संग्रह के लिए मैं गया था। कभी-कभी एक ही स्थान पर कुछ न कुछ मिलने की आशा से घण्टों, दिन, मास मुझे घूमना पड़ा। कभी आशा सफल हुई, कभी विफल भी हुई। किसी-किसी सज्जन ने मुझको 'दयानन्द का दीवाना' या 'विकृत मस्तिष्क' का खिताब दिया था। मैंने प्रसन्नता से सब कुछ शिरोधार्य किया।

महर्षि दयानन्द के बंगाल पधारने के समय से आज ९५ वाँ वर्ष बीत रहा है। आज से २५ वर्ष पहले भी बहुत वृद्ध पुरुष मिलते थे, जिन्होंने महर्षि के दर्शन किये थे। आज उन सबों का अभाव हो गया है। महर्षि के बारे में कागज के कुछ पुराने टुकड़े पुरानी बंग-लिपि या संस्कृत-भाषा में लिखे हुए ढूँढता था, पर उनको भी बहुत आदमी पूर्वजों की धरोहर समझकर देना या दिखाना भी नहीं चाहते हैं। इस रूप में उपादान-संग्रह करके महर्षि की अज्ञात-जीवनी का प्रकाशित करना असम्भव ही मालूम पड़ा था। लेकिन भगवान् की कृपा से इस कार्य में आशा की किरण दीख पड़ी है। जो-जो पुरुष महर्षि की जीवनी की सारी बातें संस्कृत में कही हुई सुनकर लिखने के लिए नियुक्त हुए थे उन सबके बंगलिपि में बंग भाषा में लिखे हुए विवरण मिल गए हैं। भविष्य में और भी कुछ मिलने की आशा है। उन सब अंशों को क्रमानुसार रखकर लेखों का विन्यास किया गया है। जिन्होंने लिखा था उनके नाम, लिखने की तारीख और मेरे द्वारा उसकी प्रतिलिपि करने की तारीख और विवरण किस रूप से प्राप्त हुए हैं आदि उल्लेखनीय बातें दी जायेंगी।

## अज्ञात-जीवनी की सूचनाएँ

(१) पं० सत्यव्रत सामश्रमी के गृह से प्राप्त लिखित विवरण से महर्षि दयानन्द के बाल्य-जीवन की

बहुत-सी घटनाएँ मिली हैं, जो कि बहुत ही विस्मयकर और चित्ताकर्षक हैं। नमूने के रूप में एक घटना दी जाती है। उसमें लिखा है कि दयाराम (दयानन्द) को बहुमूल्य आभूषणों के साथ चोर चुराकर ले गये थे। दो दिन के बाद लड़के के मिल जाने से लड़के के शरीर के भार के समान सोने-चाँदी से तुलादान और देवताओं का पूजा-पाठ और ब्राह्मण भोजन हुआ था, इत्यादि[१]। इस अंश के लेखक थे श्री त्रैलोक्यनाथ भट्टाचार्य विद्याभूषण।

(२) ऐतिहासिक श्री रमेशचन्द्र दत्त आई०सी०एस० के गृह से महर्षि दयानन्द के बाल्य-जीवन के वैराग्य की वर्णना प्राप्त हुई है। अपनी बहन और चाचा की मृत्यु से इहलोक और परलोक के बारे में शंका पैदा हो गई थी। उसमें उल्लेख है कि उनके घर में साधु, संन्यासी, भिक्षुक आदि जो कोई आते थे उन सबसे दयाराम (दयानन्द) पूछते थे कि ''मनुष्य-पशु-पक्षी मरकर कहाँ जाते हैं?'' मृत्यु के बाद की हालत जानने के लिए दयाराम कभी-कभी मरने के लिए भी तैयार हो जाते थे, इत्यादि[२]। इस अंश के लेखक थे श्री नृत्यगोपाल चौधरी स्मृतिरत्न।

(३) रिषिड़ा (हुगली) के पं० श्री सत्याचरण शास्त्री के गृह से जो विवरण मिला है, उसमें है-दयाराम (दयानन्द) गृह से भागकर चार वर्ष तक योगी-साधु-संन्यासी-तपस्वियों की खोज में नाना स्थान घूमे थे। उस समय उनको देवता के सम्मुख बलिदान देने के लिए ताँत्रिक साधु पकड़ कर ले गये थे। मरहठी फौज के सिपाहियों के वहाँ आने से उनके जीवन की रक्षा हो गई थी, इत्यादि[३]। इस अंश के लेखक थे श्री नवीनचन्द्र अधिकारी व्याकरण शास्त्री।

(४) साधारण ब्राह्मसमाज के आचार्य श्री अनाथकृष्ण शील के गृह से जो विवरण मिला है, उससे जाना जाता है कि दयाराम (दयानन्द) ने साधु- संन्यासी-तपस्वियों के अन्दर संगठन के लिये प्रयत्न किया था। देश की बुरी हालत मिटाने के लिए साधुओं को तैयार करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने सिपाही-विद्रोह (Sepoy Mutiny)

---

१- एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता ने डॉ० वेदव्रत 'आलोक' (नई दिल्ली) को १९८१ में (१५ से २२ दिसम्बर के मध्य) पं० सत्यव्रत सामश्रमी के वंशजों का निवास-स्थान घोष लेन, श्याम बाजार (मानिकतला मार्केट के पास) बताया था, जहाँ उनके द्वारा पूछताछ करने पर वहाँ पिछले ३५ वर्षों से रह रहे व्यक्तियों ने सामश्रमी परिवार के बारे में उनसे अज्ञता प्रकट की थी।

२- रवीन्द्र भारती, कलकत्ता के क्यूरेटर श्री समर भौमिक ने डॉ० वेदव्रत 'आलोक' को श्री रमेशचन्द्रदत्त, आई० सी० एस० के विषय में बताया था कि उनके वंशज इधर-उधर बिखर गए हैं और उनका एक हिस्सा ईसाई बन गया है और जो शेष रहे, वे भी ब्राह्मसमाजी नहीं रहे। श्री भौमिक के अनुसार उनके वंशज रामबागान, बीडन पार्क के पीछे, चितपुर रोड, कलकत्ता में रह रहे थे, जहाँ पर उनका कोई पता नहीं चल सका। सम्पर्क का दूसरा सूत्र 'मोनी बागची, ९०, बागवती रोड, साउथ डमडम रोड, कलकत्ता-२८' बताया गया था जहाँ डॉ० वेदव्रत जी द्वारा सम्पर्क नहीं किया जा सका।

३- पं० सत्याचरण शास्त्री के विषय में डॉ० वेदव्रत 'आलोक' को मात्र इतनी जानकारी मिल सकी कि इनके पुत्र श्री बृजेश्वर राय के दो पुत्र श्री गौरीशंकर राय एवं श्री ताराशंकर राय हुए जिनमें से श्री ताराशंकर राय कोणनगर में रहते हैं और गौरीशंकर राय 'फारन बुक्स पब्लिकेशन' का कार्य करते हैं।

४- आचार्य अनाथ कृष्णशील के वंशजों का पता ३८, वीडन रो, कलकत्ता-६ है। इनके पुत्र श्री ब्रह्मानन्द शील (आयु ५६ वर्ष) तथा दामाद श्री डी० बी० बोस (आयु ८५ वर्ष) से डॉ० वेदव्रत 'आलोक' की भेंट हुई थी। श्री ब्रह्मानन्द शील का कहना था कि उन्हें इस विषय में कोई जानकारी नहीं है। पं० दीनबन्धु जी यद्यपि इनके १९४८ तक किराएदार रहे थे किन्तु उन्होंने उन्हें कभी भी धार्मिक विषयों की चर्चा या ऐतिहासिक विचार-विनिमय करते हुए (उनके पिताजी के साथ) नहीं देखा था। डॉ० वेदव्रत के विचार से वे इस विषय की कोई चर्चा करने में उपेक्षाभाव रखते हैं।

आन्दोलन के साथ भी सम्पर्क स्थापित किया था, मराठी नेता नाना साहब भी महर्षि दयानन्द से विचार-विमर्श करने के लिये आये थे, इत्यादि[४]। इस अंश के लेखक थे-श्री अवन्ती कान्त चक्रवर्ती न्यायरत्न।

(५) महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के प्रपौत्र श्री क्षेमेन्द्रनाथ ठाकुर के गृह से विवरण मिलता है कि दयानन्द ने ५ वर्ष तक अवधूत के रूप से गंगोत्तरी से गंगासागर (बंगाल), गंगोत्तरी से सेतुबन्ध रामेश्वर, लंका और सेतुबन्ध रामेश्वर से देश के नाना स्थानों में भ्रमण किया। प्रधान-प्रधान सैन्यावासों में भी आया-जाया करते थे। बैरकपुर सैन्यावास (बंगाल) में भी आये थे। मंगल पांडे नामक सैनिक ने उनसे आशीर्वाद माँगा था। दयानन्द इसके बाद मथुरा में स्वामी विरजानन्द के पास वेदादि ग्रन्थ पढ़ने के लिए आए थे, इत्यादि[५]। इस अंश के लेखक थे-श्री शिवचन्द्र राय विद्यार्णव।

(६) श्री बलाई चन्द जी मल्लिक के गृह से जो विवरण मिला है, उससे मालूम हो जाता है कि दयानन्द गुरु विरजानन्द से आशीर्वाद लेकर वेद प्रचारार्थ देश-भ्रमण से पहले साधना में निमग्न हुए थे। इस साधना की वर्णना इस विवरण में मिलती है, इत्यादि[६]। इस अंश के लेखक थे-श्री नलिनीकान्त भट्टाचार्य विद्याविनोद।

(७) उल्टा डांगा साधारण ब्राह्मसमाज के आचार्य अध्यापक श्री हृदय कृष्ण दे एम०ए० के गृह से जो विवरण मिला है, उससे जाना जाता है कि महर्षि दयानन्द 'वेद विद्यालय' की स्थापना के लिए भारत के नाना स्थानों में भ्रमण कर रहे हैं, इत्यादि[७]। इस अंश के लेखक थे-श्री मधु सूदन आचार्य वाचस्पति।

(८) वेहाला आदि ब्राह्मसमाज के आचार्य श्री बेचाराम चटर्जी के वंशधर श्री हेमेन्द्र नाथ चटर्जी के गृह से जो विवरण मिला है, उससे काशी शास्त्रार्थ का पूरा विवरण मिल जाता है, इत्यादि[८]। इस अंश के लेखक थे श्री प्रफुल्लचन्द्र मुखर्जी तर्कालंकार।

---

५- श्री क्षेमेन्द्रनाथ ठाकुर के विषय में डॉ० वेदव्रत 'आलोक' को पता चला था कि इनके पुत्र का देहान्त १९७८ में हो चुका है और पुत्रवधू श्रीमती मेनका ठाकुर (३४/१, वीडन स्ट्रीट, कलकत्ता-६) को इस विषय में कोई जानकारी नहीं है। उन्होंने (पुत्रवधू ने) इस विषय में श्री सोमेन्द्रनाथ बोस (४, एलगिन रोड, कलकत्ता-२०) से पता लगाने को कहा था, परन्तु इनसे डॉ० वेदव्रत सम्पर्क नहीं कर सके।

६- श्री बलाईचन्द्र मल्लिक (बंगाब्द १२६१-१३३७ अर्थात् १८५४-१९३० ई०) के गृह से प्राप्त विवरण को पं० दीनबन्धु जी वेदशास्त्री ने कलकत्ता-कथ्य (अज्ञात जीवनी) में नहीं दिया है। इनके पौत्र श्री विश्वेश्वरनाथ मल्लिक (जन्म १९१८ ई०, पता-४५ वीडन स्ट्रीट, कलकत्ता-६) से हमने डॉ० वेदव्रत 'आलोक' के साथ २४ अप्रैल १९८५ को भेंट की थी। तब उन्होंने बताया था कि पं० दीनबन्धु जी उनके पितामह के पास आया-जाया करते थे। उन्होंने यह भी बताया था कि उनके घर में जो पुराना रिकार्ड था, वह अब सब नष्ट हो गया है, यहाँ तक कि अब उनके पिताजी द्वारा लिखी गई पुस्तकें भी उपलब्ध नहीं हैं।

७- श्री हृदयकृष्ण दे, एम०ए० के विषय में डॉ० वेदव्रत 'आलोक' को श्री डी० बी० बोस (आयु ८५ वर्ष) से पता चला था कि इनके बड़े पुत्र तो अफ्रीका जाकर बस गए हैं और छोटे पुत्र सुभाष डे, २३, रमाकान्त लेन 'उल्टा डांगा' कलकत्ता में रह रहे हैं जिनसे भेंट करने का अवसर डॉ० वेदव्रत को नहीं मिल सका।

८- यह विवरण आत्म-कथ्यात्मक न होने से पं० दीनबन्धु जी ने इसे कलकत्ता-कथ्य (अज्ञात जीवनी) में संग्रहीत नहीं किया है। श्री हेमेन्द्रनाथ चटर्जी के विषय में डॉ० वेदव्रत आलोक को पता चला था कि उनकी मृत्यु बहुत पहले ही हो चुकी है और उनके वंशजों का कुछ पता नहीं है।

(९) वराहनगरवासी आचार्य श्री शशिपद बनर्जी के दौहित्र, अध्यापक श्री देवव्रत चक्रवर्ती के गृह से जो विस्तृत विवरण मिला है, उसके लेखक स्वयं श्री शशिपद बनर्जी थे। उसमें महर्षि दयानन्द के रहने के स्थान वराह नगर (कलकत्ता) के नाईबान प्रमोद कानन में कलकत्ता के प्रधान-प्रधान व्यक्ति और महर्षि दयानन्द के साथ जो कुछ वार्तालाप, शंका समाधान हुए थे, सब कुछ लिपिबद्ध है, इत्यादि[९]।

(१०) आदि ब्राह्मसमाज के आचार्य श्री सुरेशचन्द्र सांख्य-वेदान्ततीर्थ के गृह से जो विवरण का अंश मिला है, उसमें महर्षि दयानन्द और पं० ताराचरण तर्करत्न से हुगली में जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसका पूरा विवरण है, इत्यादि[१०]। इस अंश के लेखक थे-श्री सतीशचन्द्र सान्याल विद्यालंकार। इसे श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती, ऋषि के योग-शिष्य से प्राप्त किया।

(११) आदि ब्राह्मसमाज के आचार्य श्री क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर के गृह से जो विवरण का अंश मिला है, उसमें महर्षि दयानन्द प्रदत्त योग-साधन विषयक उपदेश हैं। वह विवरण आदि ब्राह्मसमाज के उपाचार्य श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती का लिखा हुआ है। हेमचन्द्र महर्षि से योग विद्या सीखते थे और अधिकांश समय महर्षि के साथ-साथ ही रहते थे। यह आपने स्वयं लिखा है[११]।

(१२) साधारण ब्राह्मसमाज के आचार्य पं० श्री सीतानाथ तत्त्वभूषण के गृह से जो विवरण का अंश मिला है, उससे जाना जाता है कि महर्षि दयानन्द प्रत्यक्ष रूप से कभी किसी स्त्री को उपदेश नहीं देते थे। एक दिन वराहनगर में आचार्य शशिपद बनर्जी के आश्रम में महर्षि दयानन्द के उपदेश का प्रबन्ध हुआ था। उपदेश शुरू होने के बाद उस स्थान पर अगल-बगल गाँवों की स्त्रियाँ धीरे-धीरे शताधिक हो गई थीं। महर्षि के उपदेश के बाद सब

---

९- यह विवरण भी कलकत्ता-कथ्य (अज्ञात जीवनी) का अंग नहीं हैं। श्री देवव्रत चक्रवर्ती के विषय में डॉ० वेदव्रत 'आलोक' को पता चला था कि ये अविवाहित रहे और मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। इनके कागजात प्रो० दिलीपकुमार विश्वास द्वारा देखे गए हैं जिन्होंने उन्हें बताया था कि उन्हें उनमें १८७२-७३ से सम्बन्धित ऐसे कोई कागज नहीं मिले हैं जिनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती का उल्लेख हो। आस्ट्रेलियायी राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, कैनबरा के प्रोफेसर डॉ० जे०टी०एफ० जोर्डंस का निष्कर्ष केवल इन्हीं के कथन पर आधारित है, जबकि सम्बन्धित विवरण कलकत्ता-कथ्य (अज्ञात-जीवनी) का अंग ही नहीं है। हो सकता है कि श्री देवव्रत चक्रवर्ती ने मूल सामग्री ही पं० दीनबन्धु जी को दे दी हो जिससे उनके कागजों में बाद में उसके मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता।

१०- यह विवरण भी कलकत्ता-कथ्य (अज्ञात जीवनी) का भाग नहीं है। डॉ० डी०बी० बोस (आयु ८५ वर्ष) एवं श्री दिलीपकुमार विश्वास से डॉ० वेदव्रत 'आलोक' को पता चला था कि श्री सुरेशचन्द्र सांख्य-वेदान्ततीर्थ नि:सन्तान ही मृत्यु को प्राप्त हो गए थे। अत: अब इनका कोई वंशज नहीं है।

११- श्री क्षितीन्द्र नाथ ठाकुर के धेवते श्री अमृतमय मुखर्जी (३३/१/२, कुनकुलिया रोड, कलकत्ता-१९) ने डॉ० वेदव्रत 'आलोक' को बताया था कि ''पं० दीनबन्धु कलकत्ता के विद्वत् समाज में एक प्रतिष्ठित पुरुष थे। मैंने उन्हें बचपन में देखा था जब वे मेरे नाना जी के पास ३०वें दशक के प्रारम्भ में आते थे। वे प्राय: ही उनके पास आते रहते थे। कदाचित् उन्होंने 'तत्वबोधिनी' में कुछ लेख भी लिखे थे। एक बार मैं उन्हें अपनी घोड़ागाड़ी से आर्यसमाज छोड़ने गया था।'' श्री क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर की डायरियाँ उनके पास थीं जिनके आधार पर ये उनकी जीवनी लिख रहे थे। अन्य पुस्तकालयीन रिकार्ड रवीन्द्र भारती (ठाकुर बाड़ी) को १९६१ में सौंपा जा चुका था, जिसमें प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री की लगभग दो दर्जन अलमारियाँ थीं, जो तब धूल खा रही थीं।

१२- यह विवरण भी कलकत्ता-कथ्य (अज्ञात-जीवनी) का अंग नहीं है। श्री सीतानाथ तत्वभूषण के दामाद श्री

स्त्रियों ने एकत्र होकर उनको प्रणाम करना शुरू कर दिया। महर्षि ने मना किया, किन्तु किसी ने भी नहीं सुना। महर्षि निरुपाय होकर आँखें बन्द करके प्रार्थना करने लगे। फिर स्त्रियों के शान्त होकर बैठ जाने पर महर्षि ने स्त्रियों के लिए विशेष धर्म पर उपदेश दिया था। इस उपदेश के लेखक थे-श्री धरणीधर मैत्र विद्यारत्न[१२]।

अब तक उपरिलिखित भिन्न-भिन्न स्थानों से प्राप्त महर्षि दयानन्द के मुख से निःसृत आत्म-जीवनी के जो आभास मिल पाए हैं, उन सबको धारावाहिक रूप से हिन्दी में अनुवाद किया गया है। बाल्य-जीवन, वैराग्य, गृह-त्याग, साधुसंग, देशभ्रमण, वेदविद्यालय, प्रचार, वेदविद्यालय-स्थापन, शास्त्रार्थ शंका-समाधान आदि नामों से महर्षि की अपनी जीवनी के बारे में अपने मुख से निःसृत वाणियाँ रखी गई हैं, जो कि क्रमानुसार, यहाँ प्रकाशित की जा रही हैं[१३]।

**-दीनबन्धु वेदशास्त्री**

दिसम्बर, १९६८ ई०

आचार्य, आर्यसमाज कलकत्ता

---

प्रभातकुमार मुखर्जी (आयु ९० वर्ष) 'भुवनगर पो०-बोलपुर, जिला-वीरभूमि' में रह रहे हैं। इनसे डॉ० वेदव्रत 'आलोक' सम्पर्क नहीं कर सके।

१३- यह भूमिका पं० दीनबन्धु जी वेदशास्त्री ने ऋषि दयानन्द की अज्ञात-जीवनी के **'सार्वदेशिक'** साप्ताहिक पत्र में प्रकाशनार्थ लिखी थी जो उसके ५ जनवरी १९६९ से लेकर ८ नवम्बर १९७० तक के ६६ अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुई थी।

**परिशिष्ट–चार**

# सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली का पत्र

स्थापित १९०८
रजिस्टर्ड १९१४

।। ओ३म् ।।

तार—सार्वदेशिक (Sarvdeshik)
फोन : 274771

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
SARVADESHIK ARYA PRATINIDHI SABHA
*(International Aryan League)*
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान
नई दिल्ली-११०००२

संख्या

RECEIVED
21 OCT 1383

दिनांक ......१७।१०।८३ १९८

मान्यवर श्री आदित्यपालसिंह जी,

सादर नमस्ते ।

आपका १४।१०।८३ का पत्र मिला । मैंने आपके विस्तृत पत्र को पढ़ा और आपके विचारों से अवगत हुआ । तदर्थ धन्यवाद ।

स्वामी जी के जीवन के विषय में सब की अपनी अपनी मान्यताएं हैं । इसी प्रकार श्री काशीनाथ शास्त्री का भी लेख उनका निजी मत व्यक्त करता है और उधर डा० भवानीलाल भारतीय ने महर्षि जीवन के जिस महत्वपूर्ण कार्य से सहमति प्रकट नहीं की उसे उनकी जीवनी में नहीं जोड़ा, जिस कारण सभा ने वह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं किया ।

यह सारे मामले बड़े विस्तृत हैं । आप जब कभी दिल्ली आवें, यहां आकर मिलने का कष्ट करें, ताकि इस संबंध में बातचीत की जा सके ।

भवदीय
[signature]
( रामगोपाल शालवाले)
प्रधान

डा० आदित्यपालसिंह आर्य
एफ० ५।५२ चार इमली, भोपाल

परिशिष्ट-पाँच

# स्वामी दयानन्द सरस्वती का स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश:

सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आए, मानते हैं और मानेंगे भी इसीलिए उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मतवाले के भ्रमाए हुए जन जिसको अन्यथा जानें वा मानें उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते, किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यकारी, परोपकारक पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं वही सबको मन्तव्य और जिसको नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से उसका प्रमाण के योग्य नहीं होता। अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूँ, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ।

मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में एकसा सबको मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है उसका छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता किन्तु जो-जो आर्यावर्त्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चाल-चलन है उसका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ क्योंकि ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहि: है।

मनुष्य उसी को कहना कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दु:ख और हानि लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्व-सामर्थ्य से धर्मात्माओं को चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित हों- उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवती, सनाथ, महा बलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे, इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दु:ख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें। परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इसमें श्रीमान् महाराजे भर्तृहरि, व्यासजी और मनु ने श्लोक लिखे हैं, उनका लिखना उपयुक्त समझकर लिखता हूँ-

**निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,**
**लक्ष्मी: समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।**
**अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,**
**न्याय्यात्पथ: प्रविचलन्ति पदं न धीरा: ।। १ ।।** -भर्तृहरिशतक।।
**न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्,**
**धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो:।**
**धर्मो नित्य: सुख दु:खे त्वनित्ये,**
**जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य: ।। २ ।।** -महाभारत ।।
**एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति य:।**
**शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ।। ३ ।।** -मनुस्मृति ।।
**सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयान:।**
**येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।। ४ ।।** -मुण्डकोपनिषद्।।

**नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।**
**नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत् ।। ५ ।।** –उपनिषदि।।

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सबको निश्चय रखना योग्य है। अब मैं जिन–जिन पदार्थों को जैसा–जैसा मानता हूँ उन–उन का वर्णन संक्षेप से यहाँ करता हूँ कि जिनका विशेष व्याख्यान सत्यार्थ प्रकाश में अपने–अपने प्रकरण में कर दिया है। इनमें से प्रथम–

१– **'ईश्वर'** कि जिसको ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम से कहते हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य–न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूँ।।

२– चारों **'वेदों'** को विद्या धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्रभाग को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूँ, अर्थात् जो स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा न हो, जैसे सूर्य वा प्रदीप स्वयं अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं और वेदों के चार ब्राह्मण, छः अङ्ग, छः उपाङ्ग, चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाए ग्रन्थ हैं उनको परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूँ।

३– जो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको **'धर्म'** और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञाभङ्ग वेदविरुद्ध है उसको **'अधर्म'** मानता हूँ।

४– जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को **'जीव'** मानता हूँ।

५– जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य–व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य–व्यापक, उपास्य–उपासक और पिता–पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूँ।।

६– **'अनादि पदार्थ'** तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं, जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं।।

७– **'प्रवाह से अनादि'** जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उनमें अनादि है और उससे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी, इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूँ।।

८– **'सृष्टि'** उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल होकर नाना रूप बनना।।

९– **'सृष्टि का प्रयोजन'** यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि निमित्त गुण, कर्म स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी न किसी से पूछा कि नेत्र किसलिए हैं? उसने कहा देखने के लिए। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना आदि भी।

१०– **'सृष्टि सकर्तृक'** है, इसका कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का **'कर्त्ता'** अवश्य है।

११– **'बन्ध'** सनिमित्तक अर्थात् अविद्यादि निमित्त से है। जो–जो पाप कर्म ईश्वर भिन्नोपासना, अज्ञानादि ये सब दुःख फल करने वाले हैं। इसलिए यह 'बन्ध' है कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है।

१२– **'मुक्ति'** अर्थात् सब दुःखों से छूटकर बन्धरहित, सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना।

१३- **'मुक्ति के साधन'** ईश्वरोपसना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का सङ्ग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।।

१४- **'अर्थ'** वह है कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाए और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको **'अनर्थ'** कहते हैं।

१५- **'काम'** वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाए।

१६- **'वर्णाश्रम'** गुण कर्मों की योग से मानता हूँ।

१७- **'राजा'** उसी को कहते हैं जो शुभ गुण, कर्म, स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपात रहित न्यायधर्म का सेवी, प्रजा में पितृवत् वर्त्ते और उनको पुत्रवत् मान के उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे।

१८- **'प्रजा'** उसको कहते हैं जो पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करके पक्षपातरहित न्यायधर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राजविद्रोह रहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्ते।

१९- जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावें और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपने आत्मा के समान सबका सुख चाहे उसको **'न्यायकारी'** मानता हूँ।।

२०- **'देव'** विद्वानों को और अविद्वानों को **'असुर'**, पापियों को **'राक्षस'**, अनाचारियों को **'पिशाच'** मानता हूँ।

२१- उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना **'देवपूजा'** कहलाती है, इससे विपरीत अदेवपूजा, इनकी मूर्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़ मूर्त्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूँ।

२२- **'शिक्षा'** जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं।

२३- **'पुराण'** जो ब्रह्मादि के बनाए ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूँ, अन्य भागवतादि को नहीं।

२४- **'तीर्थ'** जिससे दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्सङ्ग, यमादि, योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादानादि शुभ कर्म हैं उन्हीं की तीर्थ समझता हूँ, इतर जलस्थलादि को नहीं।।

२५- **'पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा'** इसलिए है कि जिससे सञ्चित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं। इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।

२६- **'मनुष्य'** को सबसे यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, दुःख, हानि, लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूँ।

२७- **'संस्कार'** उसको कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवें। वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है, इसको कर्त्तव्य समझता हूँ और दाह के पश्चात् मृतक के लिए कुछ भी न करना चाहिए।

२८- **'यज्ञ'** उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थविद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ।

२९- जैसे **'आर्य'** श्रेष्ठ और **'दस्यु'** दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं वैसे ही मैं भी मानता हूँ।

३०- **'आर्यावर्त'** देश इस भूमि का नाम इसलिए है कि इसमें आदि सृष्टि से आर्य लोग निवास करते हैं, परन्तु इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है उसको आर्यावर्त्त कहते और जो इसमें सदा से रहते हैं उनको भी आर्य कहते हैं।

३१- जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह **'आचार्य'**

कहलाता है।

३२- **'शिष्य'**- उसको कहते हैं कि जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला है।

३३- **'गुरु'** - माता, पिता और जो सत्य को ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी **'गुरु'** कहाता है।

३४- **'पुरोहित'** जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे।

३५- **'उपाध्याय'** जो वेदों का एकदेश वा अङ्गों को पढ़ाता हो।

३६- **'शिष्टाचार'** जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार और जो इसको करता है वह **'शिष्ट'** कहलाता है।

३७ - प्रत्यक्षादि आठ **'प्रमाणों'** को मानता हूँ।

३८- **'आप्त'** कि जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिए प्रयत्न करता है उसी को **'आप्त'** कहता हूँ।

३९- **'परीक्षा'** पाँच प्रकार की है इसमें से प्रथम जो ईश्वर उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पाँचवीं अपने आत्मा की पवित्रता, विद्या, इन पाँच परीक्षाओं से सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिए।

४०- **'परोपकार'** जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़ें, उसके करने को परोपकार कहता हूँ।

४१- **'स्वतन्त्र', 'परतन्त्र'**- जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है।

४२- **'स्वर्ग'**- नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

४३- 'नरक'- जो दुःखविशेष भोग और उसकी सामग्री को प्राप्त होना है।

४४- **'जन्म'**- जो शरीर धारण कर प्रकट होना सो पूर्व, पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूँ।

४५- शरीर के संयोग का नाम **'जन्म'** और वियोग मात्र को **'मृत्यु'** कहते हैं।

४६- **'विवाह'**- जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा करके पणिग्रहण करना वह **'विवाह'** कहाता है।

४७- **'नियोग'**- विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि के वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा पुरुष आपत्काल में स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना।

४८- **'स्तुति'**- गुणकीर्त्तन, श्रवण और ज्ञान होना इसका फल प्रीति आदि होते हैं।

४९- **'प्रार्थना'**- अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं उनके लिए ईश्वर से याचना करना और इसका फल निरभिमान आदि होता है।

५०- **'उपासना'** - जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना, ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है, ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना उपासना कहलाती है। इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है।

५१- **'सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना'** जो-जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त और जो-जो गुण नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना सगुणनिर्गुणस्तुति कहाती है और शुभ गुणों के ग्रहण की इच्छा और दोष छुड़ाने के लिए परमात्मा का सहाय चाहना सगुणनिर्गुणप्रार्थना और सब दोषों से रहित सब गुणों से सहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना निर्गुणसगुणोपासना कहाती है।

ये संक्षेप से स्वसिद्धान्त दिखला दिए हैं। इनकी विशेष व्याख्या '*सत्यार्थप्रकाश*' के प्रकरण-प्रकरण में है तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में भी लिखी है। अर्थात् जो-जो बात सबके सामने माननीय है, उसको मानता अर्थात् जैसा कि सत्य बोलना सबके सामने अच्छा, और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ और जो मत-मतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न नहीं करता क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसा के परस्पर शत्रु बना दिए हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्यमत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़प्रीतियुक्त करा के सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे और जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।

*अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्य्येषु।*

ओ३म्। शन्नो मित्रः शं वरुणः। शन्नो भवत्वर्य्यमा। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः। शन्नो विष्णुरुरुक्रमः।। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

**इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वती-**
**स्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचितः**
**स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः सम्पूर्त्तिमगमत्।।**

परिशिष्ट–छ:

# स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

**(१) ऋग्वेद भाष्य**– इसमें मूलमन्त्र, पदपाठ, संस्कृत में पदार्थभाष्य, अन्वय और भावार्थ देकर पुनः आर्य्यभाषा में अन्वयानुसार अर्थ और भावार्थ दे दिया गया है। महर्षि ने तो केवल संस्कृत भाष्य की रचना की थी। उसकी भाषा पण्डितों ने बनाई है। यह भाष्य केवल मण्डल ७। सूक्त ६१। मन्त्र २ तक ही हुआ है। ऋषि दयानन्द अपने जीवनकाल में इसे समाप्त नहीं कर सके।

**(२) यजुर्वेद भाष्य**– इसमें ऋग्वेद के समान ही मूल मन्त्र, पदपाठ, पदार्थभाष्य, अन्वय, भावार्थ संस्कृत में और आर्य्य भाषा में अन्वयानुसार अर्थ और भावार्थ दिए गए हैं।

**(३) यजुर्वेद भाषा–भाष्य**– इसमें ऋषि दयानन्द रचित संस्कृत भाग को हटाकर केवल भाषा में अन्वयानुसारी पदार्थ और भावार्थ सङ्कलित किया गया है।

**(४) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**– ऋषि दयानन्द जिस वेदभाष्य की रचना कर रहे थे उसकी यह भूमिका है। यह सम्पूर्ण संस्कृत में है और इसका अनुवाद आर्य्यभाषा में भी किया गया है। वेद की उत्पत्ति, रचना, प्रामाण्य–अप्रामाण्य, वेदोक्त धर्म आदि अनेक विषयों पर स्पष्ट विचार किया गया है। इसमें पूर्व के वेदभाष्यकारों के अनेक अनार्ष मतों का विवेचन करके सप्रमाण वैदिक आर्य्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया गया है। वेद के सिद्धान्तों को समझाने के लिए यह ग्रन्थ अपूर्व है।

**(५) सत्यार्थप्रकाश**– इस ग्रन्थ में १४ समुल्लास हैं। प्रथम १० समुल्लासों में आर्य वैदिक सिद्धान्तों का युक्ति, तर्क और वेद, शास्त्र, दर्शनों और स्मृति के आधार पर मण्डन किया गया है और पिछले ४ समुल्लासों में आर्यावर्त्तीय मतों और बाइबिल तथा कुरान के मतों की समीक्षा की गई है। यह एक युगान्तकारी पुस्तक है। इसने भारतवर्ष में जनता की विचारधारा को ही परिवर्तित कर दिया है।

**(६) संस्कारविधि**– इसमें गृह्य सूत्रों के अनुसार गर्भाधान से अन्त्येष्टि कर्म तक १६ संस्कारों को वैदिक रीति के अनुसार करने की पद्धति और वर्णों तथा आश्रमों के नित्य धर्म–कर्मों का विधान किया गया है।

**(७) आर्य्याभिविनय**– इस ग्रन्थ में ऋषि ने ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना के लिए चारों वेदों से कुछ मन्त्रों का संग्रह करके उनको अर्थ सहित दिया है।

**(८) पञ्चमहायज्ञविधि**– इसमें ऋषि ने सन्ध्या (ब्रह्मयज्ञ), अग्निहोत्र (देवयज्ञ), बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ), पितृ यज्ञ और अतिथियज्ञ इन पाँचों के करने की विधि और मन्त्रों पर संस्कृत भाष्य और सरल अनुवाद भी दिया है।

**(९) संस्कृत–वाक्यप्रबोध**– संस्कृत की आरम्भिक शिक्षा के लिए व्यावहारिक विषयों पर सरल संस्कृत वाक्यों द्वारा बालकों को शिक्षा दी गई है। इससे संस्कृत वाक्यों का सुगमता से बोध हो जाता है।

**(१०) व्यवहारभानु**– बालकों को शिष्ट बनाने, आर्यव्यवहार की शिक्षा देने और अज्ञान की कुशिक्षा का निवारण करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना हुई है।

**(११) शास्त्रार्थ–काशी**– इसमें काशी में १६ नवम्बर, १८६९ ई० को जो श्री विशुद्धानन्दादि २७ पण्डितों के साथ ऋषि दयानन्द का शास्त्रार्थ हुआ था, उसका विवरण दिया गया है। यह इस 'दयानन्द–दिवाकर' ग्रन्थ में भी यथास्थान वर्णित हुआ है। यह ग्रन्थ संस्कृत में है परन्तु इसका भाषानुवाद भी साथ में ही दे दिया गया है।

**(१२) वेदविरुद्धमतखण्डनम्**– इस ग्रन्थ में वल्लभ आदि मतों के प्रति प्रश्न और उनका खण्डन किया गया है। यह गृन्थ संस्कृत में है और इसका अनुवाद हिन्दी में पण्डित भीमसेन शर्मा ने किया है।

**(१३) शिक्षा–पत्रीध्वान्त–निवारणम्**– इस ग्रन्थ में सहजानन्द आदि के मतों का खण्डन किया गया है। यह ग्रन्थ भी संस्कृत में है। इसका हिन्दी अनुवाद *'स्वामी नारायणमत–खण्डन'* के नाम से प्रसिद्ध है।

**(१४) भ्रमोच्छेदन**– इस ग्रन्थ में बनारस के राजा शिवप्रसादजी की ओर से श्री स्वामी विशुद्धानन्द की प्रश्नावली के कारण उत्पन्न हुए भ्रम को दूर किया गया है। उक्त भ्रमोच्छेदन के उत्तर में राजाजी के दूसरे निवेदन के उत्तर में पण्डित भीमसेन का उत्तर

*'अनुभ्रमोच्छेदन'* नाम से छपा है।

**(१५) भ्रान्ति-निवारण**- इस ग्रन्थ में ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य पर पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न (आफिशियेटिङ्ग प्रिंसिपल संस्कृत कॉलेज कलकत्ता) के किए भ्रान्तियुक्त आक्षेपों का खण्डन किया है। यह ग्रन्थ संस्कृत में है, साथ ही उसका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है।

**(१६) वेदान्तिध्वान्त-निवारणम्**- इस ग्रन्थ में नवीन वेदान्त के मत का अच्छी प्रकार विवेचन किया गया है।

**( १७ ) सत्य धर्मविचार (मेला चाँदापुर)**- चाँदापुर के मेले के अवसर पर धर्म्म-चर्चा करने के लिए जो आर्य, ईसाई और मुसलमानों के बड़े-बड़े विद्वान् सत्य निर्णय करने के लिए एकत्रित हुए थे उसका विस्तृत विवरण इस दयानन्द-दिवाकर ग्रन्थ में यथा-स्थान दिया गया है। यह अलग से भी पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है।

**(१८) आर्योद्देश्यरत्नमाला**- इस ग्रन्थ में आर्यों के १०० उद्देश्यों का संग्रह किया गया है।

**(१९) गोकरुणानिधि**- इस ग्रन्थ में स्वामीजी ने गौ आदि उपकारी पशुओं का वध बन्द करने और उनके पालने पर बल दिया है। यह एक प्रकार से गौ आदि पशुओं की ओर से एक मर्मस्पर्शी अपील है। इसके अन्त में गो-कृष्याादि-रक्षिणी सभा की योजना भी सम्मिलित की गई है।

**(२०) वेदाङ्ग-प्रकाश**- पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-भाग को स्पष्ट करने के लिए लौकिक और वैदिक व्याकरण के अंशों को एक साथ लेकर भाषा में व्याकरण के विषय को अति सुगम कर दिया है। इसमें सिद्धान्त कौमुदी आदि अनार्ष ग्रन्थों के भीतर से आई अनेक अवैदिक अनार्ष बातों को दूर करके व्याकरण को स्वच्छ कर दिया गया है और भट्टोजी दीक्षित आदि की अनेक त्रुटियों को भी दर्शाया गया है।

वेदाङ्ग-प्रकाश में वेदार्थ को स्पष्ट करने वाले निम्न ग्रन्थों का समावेश है-

| | |
|---|---|
| १ वर्णोच्चारण शिक्षा | |
| २ नामिक | ९ स्त्रैणताद्धित |
| ३ सन्धि विषय | १० धातुपाठ |
| ४ कारकीय | ११ अव्ययार्थ |
| ५ सामासिक | १२ गणपाठ |
| ६ सौवर | १३ उणादिकोष |
| ७ आख्यातिक | १४ निघण्टु |
| ८ पारिभाषिक | १५ निरुक्तम् |

इन खण्डों में पठन-पाठन विषय में एक विशेष क्रम है, उस क्रम से पढ़ने से व्याकरण और संस्कृत विद्या तथा वेदविद्या का विशेष रूप से बोध हो जाता है।

**(२१) अष्टाध्यायी-भाष्यम्**- पाणिनीय अष्टाध्यायी के ऊपर सूत्र क्रमानुसार ऋषि दयानन्द का यह अति उत्तम भाष्य है। इसका प्रकाशन उनके जीवन काल में न हो सका। लाहौर के श्री डॉ० पण्डित रघुवीर एम०ए० (डी० लिट्) द्वारा सम्पादित कराकर श्रीमती परोपकारिणी सभा ने इसको दो भागों में प्रकाशित किया है। यह भाष्य स्थान-स्थान पर खण्डित है। बड़े खेद से लिखना पड़ता है कि ऋषि दयानन्द के इस अमूल्य ग्रन्थ की रक्षा यत्नपूर्वक नहीं की गई। इस भाष्य में ही दीक्षित और काशिकाकार जयादित्य आदि की व्याकरण विषयक अनेक त्रुटियाँ दर्शाई गई हैं। संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में यह एक अद्भुत पुस्तक है।

**(२२) इनके अतिरिक्त**- स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश सत्यार्थप्रकाश के अन्त में तथा पृथक् भी प्रकाशित होता है।इसी प्रकार *'स्वीकार-पत्र' 'आर्यसमाज के नियम'* भी पृथक् से छपे हैं।

श्रीमती परोपकारिणी सभा ने वेदभाष्य को छोड़कर अन्य समस्त ग्रन्थों को सङ्कलित करके श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर (संवत् १९८१ वि० अर्थात् सन् १९२५ ई०) पर दो भागों में प्रकाशित किया था।

**अन्य ग्रन्थ**- उक्त विवरण में स्वामी दयानन्द सरस्वती के निम्न ग्रन्थों का उल्लेख होना किसी कारण से छूट गया है। ये हैं-

**सन्ध्या**-स्वामीजी ने स्वामी विरजानन्द से विद्याग्रहण करके आगरा में अपने रहते हुए सर्वप्रथम *'सन्ध्या'* नामक एक पुस्तक लिखकर प्रकाशित की। इसकी उस समय ३०,००० प्रतियाँ पं० रूपलाल के १,५०० रु० के आर्थिक सहयोग से छपवाकर तब के एक आने (अब के सवा छः पैसे) के मूल्य पर बेंची और वितरित की गईं थीं। इसके अन्त में लक्ष्मीसूक्त भी था। बाद में इसको काशी से राजा जयकिशनदास ने भी पुनः प्रकाशित किया था। अब यह पुस्तक प्रचलन में नहीं है। इसका ग्रहणीय भाग *'पञ्चमहायाविधिः'* और *'संस्कारविधिः'* में समाहित कर दिया गया है।

**भागवत-खण्डनम्**- संवत् १९२३ वि० के आरम्भ में स्वामीजी ने आगरा से भागवत-खण्डन नाम की एक दूसरी पुस्तक लिखकर प्रकाशित कराई जो 'श्रीमद्भागवत' नामक पुराण के खण्डन में है। सात-आठ पृष्ठों की यह पुस्तक संस्कृत में लिखकर सहस्रों की संख्या में छपवाई और उसे हरिद्वार के संवत् १९२४ वि० के कुम्भ के मेले में वितरित कराया। अब इसे भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान अजमेर ने (पं० युधिष्ठिर मीमांसक के सम्पादन में) संवत् २०१८ वि० में आर्यभाषार्थ सहित पुनः प्रकाशित कर दिया है।

**अद्वैत-मत खण्डन**- तीसरी बार काशी पधााने पर स्वामीजी ने सं० १९२७ वि० में 'अद्वैत-मत खण्डन' नाम की एक पुस्तक लिखकर वहाँ के *'कविवचन-सुधा'* नामक हिन्दी मासिकपत्र में संस्कृत भाषा में भाषानुवाद सहित छपवाया। यह ट्रैक्ट नवीन वेदान्त के दुर्ग को तोड़ने के लिए सैनिक बल से अधिक बलवान् है।

**चतुर्वेद-विषय-सूची**- स्वामीजी ने वेदभाष्य करने से पूर्व चारों वेदों का गहन अध्ययन करके उनमें प्रतिपाद्य विषयों की एक सूची तैयार की थी जिसमें प्रत्येक वर्ग दशति सूक्त वा अध्यायस्थ विषयों का क्रमशः सङ्कलन किया गया था। यही सङ्कलन 'चतुर्वेद-विषय-सूची' के नाम से ऋषि दयानन्द के हस्तलिखित ग्रन्थों में विद्यमान था। इसे परोपकारिणी सभा अजमेर ने ऋषि के देहावसान के बाद ८८ वर्षों बाद संवत् २०२८ वि० में प्रकाशित कर दिया है।

**अपना जन्मचरित्र**- स्वामीजी ने कलकत्ते में २२ मार्च से ३१ मार्च, १८७३ ई० तक एकान्त में बैठकर वहाँ के कतिपय लेखकों को संस्कृत में बोलकर अपना आत्मचरित्र लिखाया था जिसे उन लेखकों ने समझकर अपनी बँगला भाषा में लिख लिया था। स्वामीजी ने इन लेखकों को यह निर्देश दिया था कि यह आत्मचरित्र उनके अपने जीवनकाल में प्रकाशित न हो। अतः इसे पर्याप्त परिश्रम से कलकत्ता के ही पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री ने उन लेखकों के परिवारों से प्राप्त करके सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली के साप्ताहिक मुखपत्र - *'सार्वदेशिक'* के ५ जनवरी, १९६९ ई० से लेकर ८ नवम्बर, १९७० ई० तक के ६६ अङ्कों में धारावाहकि रूप में आर्यभाषा (हिन्दी) में अनुवादित करके प्रकाशित कराया।

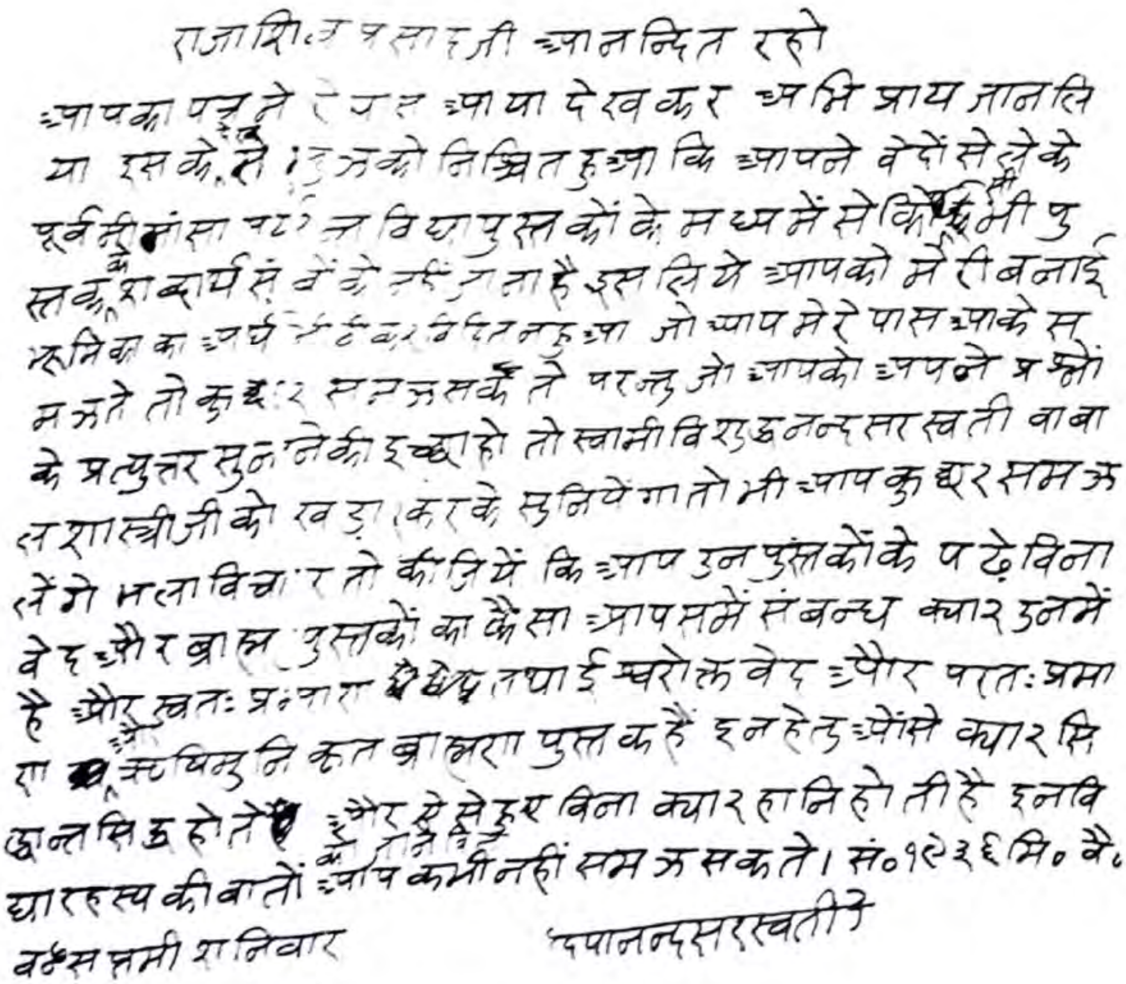
इसी प्रकार स्वामीजी ने १८७५ ई० में पूना में पहुँचकर वहाँ ४ अगस्त, १८७५ ई० को अपना पूर्व चरित्र सम्बन्धी आर्यभाषा में एक दो घण्टे का प्रवचन दिया जिसे वहाँ के मराठी भाषी लेखकों ने सुनकर और समझकर अपनी मराठी भाषा में अपनी स्मृति के आधार पर संक्षेप में लिपिबद्ध कर लिया और उसे तभी प्रकाशित भी करा दिया। बाद में इसी प्रकाशित ७ पृष्ठीय प्रवचन को स्व० पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने बड़े परिश्रम से पूना से प्राप्त करके और उसका पुनः आर्यभाषा में अनुवाद करके १९८२ ई० में अपने 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित कर दिया।

स्वामीजी ने कर्नल आल्काट और मैडम ब्लेवटस्की के निवेदन पर वर्ष १८७९-८० ई० में आर्यभाषा में हस्तलिखित अपना जन्मचरित्र भी उनके मासिक अँग्रेजी पत्र - 'थियोसोफिस्ट' में प्रकाशनार्थ भेजा था। यह उस पत्र में अँग्रेजी भाषा में अनूदित होकर उसके अक्टूबर, दिसम्बर, १८७९ ई० और नवम्बर, १८८० ई० के तीन अङ्कों में प्रकाशित हुआ था। स्वामीजी का हस्तलिखित यह जन्मचरित्र आगे ९६ वर्षों तक अनुपलब्ध ही बना रहा।पश्चात् इसकी प्रथम दो किस्तों का हस्तलेख मुंशी समर्थदान के बस्तों में सभा के उपमन्त्री डॉ० भवानीलाल भारतीय को प्राप्त हो गए जिसे उन्होंने सभा के ही मासिक पत्र 'परोपकारी' के मार्च, १९७५ ई० के अङ्क में प्रकाशित कर दिया।

हमने उक्त तीनों आमचरित्रों का ही एक संयुक्त संस्करण स्वामीजी के जन्मदिवस पर २ सितम्बर, १९८७ ई० को 'अपना जन्मचरित्र' शीर्षक से प्रकाशित कर दिया। इसका द्वितीय संस्करण भी आगे दीपावली २०१० ई० पर प्रकाशित हो चुका है।

परिशिष्ट–सात

## स्वामी दयानन्द सरस्वती का हस्तलेख एवं हस्ताक्षर



राजा शिवप्रसाद जी आनन्दित रहो
आपका पत्र ले के जब आया देखकर अभिप्राय जान लि
या इसके देखने से मुझको निश्चित हुआ कि आपने वेदों से ले के
पूर्वमीमांसा पर्यन्त विद्यापुस्तकों के मध्य में से किसी भी पु
स्तक के शब्दार्थ संबंधों को नहीं जाना है इसलिये आपको मेरी बनाई
भूमिका का अर्थ भी ठीक २ विदित न हुआ जो आप मेरे पास आके स
मझते तो कुछ २ समझ सकते परन्तु जो आपको अपने प्रश्नों
के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो तो स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती बा
लशास्त्री जी को खड़ा करके सुनियेगा तो भी आप कुछ २ समझ
लेंगे भला विचार तो कीजिये कि आप उन पुस्तकों के पढ़े विना
वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपस में संबन्ध क्या २ उनमें
है और स्वतः प्रमाण ईश्वरोक्त वेद और परतः प्रमा
ण ऋषिमुनिकृत ब्राह्मण पुस्तक हैं इन हेतुओं से क्या २ सि
द्धान्त सिद्ध होते हैं और ऐसे हुए विना क्या २ हानि होती है इन वि
द्यारहस्य की बातों को आप कभी नहीं समझ सकते। सं० १९३६ मि० वै०
वदी सप्तमी शनिवार
दयानन्द सरस्वती

परिशिष्ट–आठ

# स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनी विषयक हमारे अन्य प्रकाशन

## १– ऋषि दयानन्द के हरद्वार से मथुरा तक के साढ़े पाँच वर्ष

१ मई, १९८३ ई० को हमने ३६ पृष्ठीय उक्त विषयक अपना एक शोधपत्र लिखकर और मुद्रित कराकराकर आर्यसमाज के उस समय के सभी विद्वानों और आर्यपत्रों के सम्पादकों को भेजा था।

मेरे इस शोध–प्रबन्ध पर लखनऊ के साप्ताहिक पत्र *'आर्यमित्र'* ने अपने १९ जून, १९८३ ई० के अङ्क में *'अनुशीलयन्त भद्रा:'* शीर्षक से एक सम्पादकीय लेख लिखा। इसमें सम्पादक आचार्य रमेशचन्द्र जी , एम० ए० ने लिखा था कि "क्रान्तिदर्शी ऋषि स्वतन्त्रता संग्राम के ६ वर्षों की अवधि में कहाँ, कैसे और कब गए तथा रहे, इस पर जो मतभेद है, उसका निराकरण तर्कपूर्ण रीति से प्रस्तुत किया है विद्वान् शोधकर्ता मनीषी श्री आदित्यपाल सिंह आर्य ने। अपने शोधपत्र *'ऋषि दयानन्द के हरद्वार से मथुरा तक के ५।। वर्ष'* शीर्षक निबन्ध में। श्री आदित्यपाल सिंह जी ने इस अवधि को संवत् विक्रम ज्येष्ठ १९१२ से लेकर कार्तिक संवत् १९१७ के मध्य अर्थात् जून १८५५ से लेकर नवम्बर १८६० तक दर्शाया है। इस शोध निबन्ध से बहुत सी भ्रान्तियों का निवारण हो जाता है। यात्रा–विवरण और तिथियों का तारतम्य भी तर्क सम्मत है तथा बहुत सी घटनाओं की जानकारी भी होती है। इत्यादि"

कलकत्ता की प्रमुख विधान सरणी आर्यसमाज के मासिक मुखपत्र *'आर्यसंसार'* ने भी मेरा यह सम्पूर्ण शोधपत्र अपने जनवरी–जून, १९८३ के संयुक्ताङ्क में प्रकाशित करके उसके सम्पादक प्रो० उमाकान्त उपाध्याय ने लिखा था कि "श्री आदित्यपाल सिंह जी ने जिस परिश्रम और सूझ–बूझ से विसङ्गतियों को हटाया ही नहीं, बल्कि दोनों–तीनों जीवनियों को परिपूरक रूप से प्रस्तुत किया है, यह सन्तोषजनक ही नहीं वे साधुवाद की पात्रता रखते हैं। आपातत: कोई त्रुटि–विच्युति ध्यान में नहीं आती और विसङ्गतियाँ सङ्गति सम्पन्न हो जाती हैं। हम उन्हें इस परिश्रम के लिए धन्यवाद देते हैं।"

अन्य विद्वानों से प्राप्त उनकी सम्मतियाँ हमने अपने सम्पादन में तब प्रकाशित होने वाले *'वैदिक शिक्षा सन्देश'* नामक त्रैमासिक पत्र में प्रकाशित कर दी थीं।

## २– ऋषि दयानन्द ने १८५७ के प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य समर में सक्रिय भाग लिया था

३० अक्टूबर, १९८३ ई० को अपनी १६ पृष्ठीय उक्त शीर्षक एक पुस्तिका २०X३०/८ आकार में १००० की संख्या में छपवाकर महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रथम बलिदान शताब्दी समारोह (३ से ६ नवम्बर, १९८३ ई० में) अजमेर में निर्वाण शताब्दी रहस्योद्घाटन के रूप में उसमें आगन्तुक महानुभावों में वितरित की थी।

३– महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा तीन बार में कहा और लिखाया गया – **अपना जन्मचरित्र**

इसका विवरण पिछले परिशिष्ट– छ: में दिया जा चुका है।

इसके सम्बन्ध में डॉ० सत्यकेतु विद्यालङ्कार डी० लिट् (पेरिस) कुलाधिपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ने लिखा था कि " यह एक ऐसी पुस्तक है जिसके द्वारा उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग के ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी के लिए नई सामग्री प्रस्तुत होती है। 'सन् १८५७ का विस्फोट 'सिपाही–विद्रोह–मात्र न होकर भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम था' इस मन्तव्य की पुष्टि के लिए यह आत्मचरित्र एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है।

श्री दीनबनधु वेदशास्त्री द्वारा सङ्कलित हस्तलेखों के साथ–साथ *'पुणे के व्याख्यान'* एवं *'थियोसोफिस्ट'* की लेखमाला के वे सभी अंश इसमें दिए गए हैं, जो महर्षि के जीवन की एक ही समय की घटना पर प्रकाश डालते हैं। अन्तर केवल इतना है कि हिमालय एवं नर्मदा–क्षेत्र आदि में महर्षि के पर्यटन का विवरण *'आत्मचरित्र'* में अधिक विस्तार से है, और सन् १८५६ से १८६० तक के वर्षों के सम्बन्ध में भी प्रकाश पड़ता है।

महर्षि दयानन्द की जीवनी के सम्बन्ध में जो साहित्य अब तक प्रकाशित हुआ है, उसमें महर्षि का *'अपना जन्मचरित्र'*

एक महत्वपूर्ण वृद्धि है। इसके सम्पादन तथा प्रकाशन के लिए और इसे युक्ति–सङ्गत रूप में प्रस्तुत करने के लिए जो अधिक परिश्रम श्रीयुत आदित्यपाल सिंह एवं डॉ० वेदव्रत जी ने किया है, उसके लिए इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाए, कम है। मेरा आशीर्वाद है कि ये दोनों इसी प्रकार निरन्तर प्रयत्न करते रहें ताकि महर्षि के व्यक्तित्व का यथार्थ स्वरूप जनता के समक्ष उपस्थित हो सके।"

पं० क्षितीश वेदालङ्कार, सम्पादक, आर्यजगत्, नई दिल्ली ने लिखा था कि "स्वाभाव से वैज्ञानिक और गणितीय मानस–सम्पन्न होने के कारण श्री आदित्यपाल सिंह हरेक चीज की गहराई तक जाने का प्रयत्न करते हैं। *'अपना जन्मचरित्र'* नाम से उन्होंने अब यह ऋषि दयानन्द का जन्मचरित्र समायोजित किया है, जिसमें कहने के लिए उनका अपना कुछ नहीं है, परन्तु प्रत्येक अनुच्छेद और प्रत्येक पृष्ठ पर उनकी अनुसन्धान–प्रियता की छाप है। ऋषि की *'अज्ञात जीवनी'* के सम्बन्ध में कुछ पूर्वाग्रहों के कारण विद्वानों में जो मतभेद थे, इस पुस्तक में उनके निराकरण में बहुत सहायता मिलेगी।

अनेक वर्षों के परिश्रम के परिणाम स्वरूप प्रस्तुत यह ग्रन्थ राष्ट्रवादी दयानन्द के जिस तेजस्वी स्वरूप को प्रकट करता है, वह अभी तक उनके अधिकांश अनुयायियों की दृष्टि से भी ओझल रहा है। यह ग्रन्थ जिज्ञासुओं के साथ–साथ जनसाधारण के लिए भी अत्यन्त प्रेरणाप्रद सिद्ध होगा, यह विश्वास है। राजनीतिक दूरदर्शिता, दासता के पाश से मुक्त कर देश को पुन: गौरव के पद पर आसीन करने की आतुरता, ऋषि को राजनीतिक नेताओं में भी अग्रगण्य ठहराती है। भविष्य के लिए ऋषि का यह रूप दिशा–निर्देशक सिद्ध होगा।"

१६०० की संख्या में १९८७ ई० में प्रकाशित *'अपना जन्मचरित्र'* का यह संस्करण समाप्त हो जाने पर इसका २०१० ई० में द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित किया गया है। यह २३ X३६/१६ आकार के ४९६ पृष्ठों का सजिल्द ग्रन्थ है। मूल्य डाक–व्यय सहित मात्र २०० रुपया है और अभी भी उपलब्ध है।

**४– ऋषि दयानन्द के अज्ञात जीवन की समस्या और उसका समाधान**

१९८७ ई० में प्रकाशित मेरा यह ग्रन्थ तीसरी बार आर्यसेवक मासिक पत्र, नागपुर के शताब्दी समारोह के अवसर पर २००३ ई० में ११०० की संख्या में प्रकाशित हुआ था जो अब तक उपलब्ध है। इसकी पृष्ठ संख्या आवरण पृष्ठों सहित ७६ है और आकार २३ X३६/१६ तथा मूल्य साधारण डाक–व्यय सहित मात्र २५ रु० है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के अब तक लिखे गए सभी जीवन चरितों में उनके लेखकों की दृष्टि में जिस कालखण्ड का उनका जीवन उन्हें अज्ञात रहा था, उसका समाधान एतद्विषयक उनकी सभी आपत्तियों और शङ्काओं का समाधान करते हुए मैंने अपने इस ग्रन्थ में तर्क और प्रमाण पूर्वक प्रस्तावित कर दिया है। मेरा वर्त्तमान यह *'दयानन्द–दिवाकर'* ग्रन्थ इसी का कार्यरूप ग्रन्थ है।

**५– दयानन्द जीवनकाल पञ्चाङ्ग** (संवत् १८८१ वि० से १९४० वि० पर्यन्त)

संस्कृत भाषा एवं वैदिक वाङ्मय के उद्भट विद्वान् महामहोपाध्याय स्व० पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की प्रेरणा और आर्थिक सहयोग से हमने ३१ दिसम्बर, १९९० ई० को इस ४०४ पृष्ठीय सजिल्द ग्रन्थ की मात्र ३०० प्रतियाँ (आकार २० X३०/८) प्रकाशित करके उन सभी इच्छिुक महानुभावों को उपलब्ध करा दिया था जो ऋषि के जीवन चरित्रों के अध्येता वा प्रणेता रहे थे। इसे हमने एक पूर्व प्रकाशित २०० वर्षीय (१८०० से १९९९ ई० तक के) दीवान बहादुर एल०डी० स्वामी कन्नूपिल्लई के पञ्चाङ्ग का नागरीकरण करके तैयार किया था।

इसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता के विषय में पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने स्वयं लिखा था कि "आर्यसमाज वा इतर क्षेत्र का जो भी व्यक्ति ऋषि दयानन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर शोध–कार्य करता है, उसे ऋषि दयानन्द के जीवनकाल (संवत् १८८१–१९४०) के साठ वर्षों के पञ्चाङ्गों की अनुपलब्धि बहुत खटकती है, क्योंकि इन वर्षों के पञ्चाङ्गों के अभाव में उसका शोधकार्य यथावत् रूप से सम्पन्न नहीं हो पाता। उसे पूर्व मुद्रित जीवन चरितों में दी गई तिथि वा तारीखों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। किसी भी जीवन चरित में तिथि वा तारीखों के निर्देश में एकरूपता नहीं है। कहीं विक्रम संवत् के मास और उनकी तिथियों का निर्देश है तो कहीं ईस्वी सन् के महिने वा तारीखों का। इन निर्दिष्ट तिथि वा तारीखों की शुद्धि–अशुद्धि का भी कोई साधन नहीं होने

से शोधकर्त्ता को जीवन चरितों में दी गई तिथि वा तारीखों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। उनकी अशुद्धियों के कारण अनेक बार शोधकर्त्ता के निष्कर्ष भी शङ्कास्पद ही रहते हैं।

भोपाल के प्रसिद्ध आर्य विद्वान् श्री आदित्यपाल सिंह जी आर्य ने लगभग ८-१० मास पूर्व २०० वर्षों के पञ्चाङ्गों की उपलब्धि की सूचना दी। जीवन के सन्ध्याकाल में इस सूचना को प्राप्त कर मुझे असीम आनन्द की अनुभूति हुई। अत: मैंने श्री आर्यजी से ही ऋषि दयानन्द के जीवनकाल के साठ वर्षों के पञ्चाङ्गों का सम्पादन और प्रकाशन करने का अनुरोध किया। आपने मेरा यह अनुरोध स्वीकार किया। इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ।"

**६- आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की वास्तविक जन्मतिथि**

पूना में ४ अगस्त, १८७५ ई० को ऋषि दयानन्द ने अपना वय सम्बन्धी एक वाक्य यह कहा था कि 'इस समय मेरा वय ४९-५० वर्ष का होगा।' इसका आशय आर्य विद्वान् पिछले १४५ वर्षों में भी ठीक-ठीक नहीं जान पाए हैं। वस्तुत: इसका आशय तो यही था कि उनका जन्म ४ अगस्त, १८२५ ई० और ४ अगस्त, १८२६ ई० के मध्य किसी दिनाङ्क पर हुआ था। इन दोनों ही दिनाङ्कों पर क्रमश: गुजराती संवत् १८८१ और १८८२ तथा उत्तर भारतीय चैत्री संवत् क्रमश: १८८२ और १८८३ था। स्वामीजी ने अपने हस्तलिखित जन्मचरित्र में अपना जन्म संवत् १८८१ में होना भी लिखा है जो उक्तानुसार केवल गुजराती संवत् ही हो सकता था न कि उत्तर भारतीय चैत्री संवत् १८८१वि०। इससे यह सिद्ध होता है कि ऋषि का जन्म दिनाङ्क ४ अगस्त, १८२५ ई० के दिनाङ्क के निकट का ही था जब उस समय गुजराती संवत् १८८१ वि० भी विद्यमान था। ४ अगस्त, १८२६ ई० के दिनाङ्क पर तो वह कतई नहीं था। इसलिए आर्यजगत् ने वर्त्तमान में जो ऋषि का जन्म दिनाङ्क १२ फरवरी, १८२५ ई० (फाल्गुन कृष्णा १० उत्तर भारतीय चैत्री संवत् १८८१ वि०) मान रक्खा है, वह सर्वथा अशुद्ध है।

हमने इस २३ X३६/१६ आकार की ३६ पृष्ठीय पुस्तक में ऋषि दयानन्द का जन्म-दिनाङ्क उनकी प्राप्त एक जन्मपत्री के आधार पर २० सितम्बर, १८२५ ई० (भाद्रपद शुक्ला ९ संवत् १८८१ गुजराती) होना सिद्ध किया है जिससे ऋषि का वय सम्बन्धी पूना-प्रवचन का उक्त कथन भी सार्थक हो जाता है, क्योंकि यही दिनाङ्क ४ अगस्त, १८२५ ई० के सन्निकट हैऔर इससे ४ अगस्त, १८७५ ई० को उनका वय भी ४९ वर्ष १० मास और १५ दिन का होता है।

१८ मार्च, २०१८ ई० को प्रकाशित इस ग्रन्थ में दी गई ऋषि की जन्मतिथि को स्वीकार कर और पूर्व में उनके द्वारा स्वीकार कर ली गई १२ फरवरी, १८२५ ई० की तिथि को अस्वीकार कर 'श्री मोहनकृति आर्ष पत्रकम्' के सपादक आचार्य दार्शनेय लोकेश (ग्रेटर नोएडा) ने इसे अपने संवत् २०७६ और २०७७ के पञ्चाङ्गों में देना आरम्भ कर दिया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने इन पञ्चाङ्गों में लिखा है कि "इं० आदित्यमुनि वानप्रस्थ, भोपाल (म० प्र०) द्वारा लिखित पुस्तक- '*आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की वास्तविक जन्मतिथि*' संवत् २०७५ की एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक घटना है जिसका महत्व कालान्तर में समूचा आर्यसमाज अनुभव करेगा। एक ज्योतिर्विद होने के नाते उक्त पुस्तक में वर्णित जन्मतिथि को ज्योतिषीय कालगणना से प्रमाणिकता प्रदान करना मेरा भी सौभाग्य रहा है।

संवत् २०७५ तक हम मई २०१३ को '*वैदिक संसार*' इन्दौर में श्री शिवनारायण उपाध्याय के स्वामीजी के जन्मतिथि विषयक लेख का संज्ञान लेते हुए १२ फरवरी सन् १८२५ को स्वामीजी जन्मतिथि मानकर प्रकाशित करते आ रहे थे। हमारा यह कथन कि 'यदि कोई विद्वान् हमको अन्यथा प्रमाण नहीं देता है तो हम इसी तिथि को अर्थात् वैदिक पञ्चाङ्ग के अनुसार माघ कृष्ण दशमी को ऋषिवर की जन्मतिथि के रूप में प्रकाशित करते रहेंगे' हमें सदैव सत्यान्वेषण हेतु प्रेरित बनाए हुए था।

स्वामीजी का जन्मनाम मूलशङ्कर/ धनेश त्रिवेदी था। यह तथ्य २० सितम्बर, १८२५ ई० के ब्राह्ममुहूर्त में तत्कालीन अवैदिक पञ्चाङ्ग के अनुसार मूल नक्षत्र और धनुराशि के क्रम में ली गई पौराणिक परम्परा के अनुरूप है। मूलशङ्कर नाम रखने के पीछे मूल नक्षत्र का विचार है न कि मूल संज्ञक ज्येष्ठा, मघाादि। इसी प्रकार धनेश नाम के पीछे भी धनु राशि का विचार ही है। स्वामीजी की जन्मतिथि के रूप में पूर्व में कही गई १२ फरवरी, १८२५ ई० शनिवार को ब्राह्ममुहूर्त में उन्हीं पञ्चाङ्गों के अनुसार ज्येष्ठा नक्षत्र था न कि मूल। इत्यादि"

यह २५ रु० मूल्य का अल्पकाय ग्रन्थ अब महर्षि दयानन्द सरस्वती के पूर्वोक्त *'जन्म चरित्र'* के साथ ही पञ्जीकृत डाक से भेजा जा रहा है, क्योंकि साधारण डाक से भेजने पर वह लोगों को आजकल मिलता नहीं है।

**७- आदित्यप्रकाश (एकादश एवं द्वादश किरण)**

चैत्र शुक्ला प्रदिपदा संवत् २०७५ वि० को जब हमने 'आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की वास्तविक जन्मतिथि' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित करके आर्यसमाज के सभी विद्वानों, आर्यपत्रों के सम्पादकों और उसकी कुछ अन्य संस्थाओं को भी नि:शुल्क ही प्रेषित कर दी तो कोटा के आर्यविद्वान् पं० शिवनारायण उपाध्याय तथा अमेठी के आर्य विद्वान् डॉ० ज्वलन्तकुमार शास्त्री ने अजमेर के पाक्षिक पत्र *'परोपकारी'* और रेवली (सोनीपत) की मासिक *'वेदवाणी'* तथा हिण्डौन सिटी के मासिक पत्र *'वैदिक-पथ'* के सितम्बर, २०१८ ई० से लेकर जून, २०१९ ई० तक के कतिपय अङ्कों में मेरे द्वारा निर्धारित की गई ऋषि दयानन्द की जन्मतिथि २० सितम्बर, १८२५ ई० (भाद्रपद शुक्ला ९ संवत् १८८१ वि० गुजराती) के खण्डन में तथा उनके अपने द्वारा मान्य जन्मतिथि १२ फरवरी, १८२५ ई० (फाल्गुन कृष्णा १० संवत् १८८१ वि० (उत्तर भारतीय चैत्री संवत्) के समर्थन में लम्बे-लम्बे लेख प्रकाशित किए। इन आर्यपत्रों ने हमें इन विद्वानों के लेखों का उत्तर देने का अवसर ही प्रदान नहीं किया और न ही पंजीकृत डाक से उन्हें भेजे गए मेरे लेख ही प्रकाशित किए तो हमने अपनी ओर से ही प्रभूत व्यय करके उन्हें अपने ही नाम के एक अनियमित कालीन पत्र *'आदित्यप्रकाश* (एकादश एवं द्वादश किरणों) के रूप में ५००-५०० की संख्या में २३X३६/१६ आकार के ५२ और २८ पृष्ठों में प्रकाशित करके मई और जुलाई, २०१९ ई० में उक्त दोनों महानुभावों तथा अन्यों को भी पंजीकृत डाक वा साधारण डाक से भेज दिए।

इनमें मैंने इस *'दयानन्द-दिवाकर'* ग्रन्थ के पूना (१८७५ ई०) और बरेली (१८७९ ई०) के प्रकरणों में प्रस्तुत किए गए अपने निष्कर्षों के अनुरूप ही इन्हें उत्तर देकर ऐसा मौन कर दिया कि तब से अब तक बीते पिछले एक-डेढ़ वर्ष में भी उनका एतद्विषयक कोई प्रतिक्रियात्मक लेख मुझे कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसका यही आशय हुआ कि उन्हें अपनी पिछले १४५ वर्षों से की जा रही भूल का एहसास हो गया है और अब उन्हें कुछ और कहना शेष नहीं बचा है।

दरअसल मैंने तो ऋषि दयानन्द द्वारा पूना में ४ अगस्त, १८७५ ई० को कहे गए एक छोटे से वाक्य कि 'इस समय मेरा वय ४९-५० वर्ष का होगा।' से ही यह सिद्ध कर दिया था कि उनका जन्मवर्ष १८८१ वि० (गुजराती संवत्) ही है और उसके आधार पर निर्धारित की गई उनकी वास्तविक जन्मतिथि २० सितम्बर, १८२५ ई० भाद्रपद शुक्ला ९) ही सही हो सकती है, १२ फरवरी, १८२५ ई० (फाल्गुन कृष्णा १०) कदापि नहीं क्योंकि पहली जन्मतिथि के अनुसार ४ अगस्त, १८७५ ई० को ऋषि का वय ४९ वर्ष १० मास और १५ दिन का होता है जो ऋषि के पूना में कहे गए कथन के अनुरूप (उनपचास अर्थात् ५० वर्ष से कुछ कम) ही है जबकि उत्तर भारतीय चैत्री संवत् १८८१ वि० (१२ फरवरी, १८२५ ई० की जन्मतिथि) मानने से तो उनका वय ४ अगस्त, १८७५ ई० को ५० वर्ष से भी अधिक अर्थात् ५० वर्ष ५ मास और २४ दिन का हो जाता है।

सम्भवत: अब आर्यसमाज ने अपने चौथे नियम कि 'सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सदैव उद्यत रहना चाहिए' को तिलाञ्जलि दे रखी है इसीलिए वह मेरे द्वारा ऋषि की जन्म-कुण्डली के आधार पर निर्धारित की गई वास्तविक जन्मतिथि को पिछले दो वर्षों में भी स्वीकार नहीं कर पाया है।

– ***आदित्यमुनि वानप्रस्थ***